विश्व ज्ञान संहिता

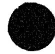


विश्व ज्ञान संहिता

①

सामाजिकविज्ञान

(मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, मानवविज्ञान तथा शिक्षाविज्ञान)



हिंदी विकास समिति

मद्रास—नई दिल्ली

हिंदी विकास समिति
7, फर्स्ट क्रिसेंट रोड, अडयार, मद्रास-600020
द्वारा प्रकाशित

थॉमसन प्रेस (इण्डिया) लिमिटेड
फरीदाबाद (हरियाणा)
में मुद्रित

मूल्य : रु० 125

VISWA GYANA SAMHITA

Subjectwise Hindi Encyclopaedia in 12 Volumes
Volume I.
SOCIAL SCIENCES
(Psychology, Sociology, Anthropology and Education)
HINDI VIKAS SAMITI
Madras – New Delhi.

Price: Rs. 125

आभार

तेलुगु भाषा समिति, मद्रास-हैदराबाद; प्रोग्रेस पब्लिशर्ज़, मास्को; रूसी दूतावास, नई दिल्ली; श्री डी० एस० मधुकर, नई दिल्ली; डा० आई० पी० सिंह, नई दिल्ली; श्री ओमकार काचरू, नई दिल्ली के प्रति हिंदी विकास समिति हार्दिक आभार प्रदर्शित करती है जिन्हों ने इस जिल्द में प्रकाशित रंगीन व सादे चित्र तथा रेखाचित्र आदि देने की कृपा की है।

विश्व ज्ञान संहिता

पहली जिल्द

सामाजिकविज्ञान

प्रधान संपादक

मोटूरि सत्यनारायण

सलाहकार समिति

डा० कुप्पुस्वामी
राजेंद्रपाल सिंह
इंद्रपाल सिंह
डी० एस० मधुकर

संपादक मंडल

डा० बी० गोपाल रेड्डी
डा० सर्वपल्लि गोपाल
डा० मूनिस रज़ा
डा० धर्मवीर भारती
कमलेश्वर
रामलाल पारीख



संपादक

इब्राहीम शरीफ

प्रकाशक

हिंदी विकास समिति

मद्रास – नई दिल्ली

अपनी ओर से

आजादी के बाद, भारतीय संविधान ने हिंदी को राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार किया। तब तक हालांकि हिंदी भारत के बहुसंख्यक लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी थी, फिर भी उसके आधुनिक रूप का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया था। संविधान की स्वीकृति के बाद, खासकर हिंदी प्रांतों में और सीमित रूप में अहिंदी प्रांतों में भी, आधुनिक हिंदी के विकास-प्रचार का महत्वपूर्ण काम शुरू हुआ और बहुत हद तक हिंदी अपने स्वरूप तथा शक्ति को फैलाने-बढ़ाने लगी। लेकिन भाषा के वास्तविक और चौतरफा विकास के लिए जरूरी उसके प्रयोजनमूलक (फंक्शनल) स्वरूप को पुष्ट करने का काम अब तक वांछित तेजी के साथ संपन्न नहीं हो सका है।

हिंदी के इसी स्वरूप की पुष्टि और विकास को ध्यान में रखकर सन् 1967 में हिंदी विकास समिति (पंजीकृत) की स्थापना की गयी। समिति की स्थापना के मूल में यह भावना काम कर रही थी कि दरअसल हिंदी भारत के कुछ प्रांतों की ही नहीं बल्कि समस्त देश की भाषा है और इसीलिए, उसके विकास और प्रचार के काम का जिम्मा जितना हिंदी भाषी प्रांतों पर है उसमे किसी भी अर्थ में कम उन प्रांतों पर नहीं है जहाँ हिंदी से इतर भाषाए बोली जाती हैं। यही कारण है कि कुछ उत्साही हिंदी प्रेमियों ने हिंदी विकास समिती को दक्षिण भारत के बहुभाषी नगर मद्रास में स्थापित किया। समिति हिंदी भाषा और साहित्य के प्रयोजनमूलक तथा सर्वांगीण विकास के संदर्भ में कई योजनाओं को रूपायित करने की दिशा में प्रयत्नशील है। हिंदी विश्वकोश के संपादन-प्रकाशन की योजना चूँकि कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, इसलिए सर्वप्रथम इसी को पूर्ण करने का समिति ने संकल्प किया और हमें प्रसन्नता है कि 'विश्व ज्ञान संहिता' का यह पहला खंड इसी संकल्प की पूर्ति का प्रथम चरण है।

जैसा कि 'विश्व ज्ञान संहिता' के इस खंड से स्पष्ट है, यह हिंदी का अपने ढंग का पहला प्रकाशन है। इसका विषय प्रतिपादन और प्रस्तुतीकरण खास तौर से इस बात को ध्यान में रखकर किया गया है कि विद्यार्थियों तथा विषय के जिज्ञासुओं के लिए यह संदर्भ ग्रंथ के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके। चूँकि स्नातक स्तर के विद्यार्थियों की उपयोगिता की सार्थकता हमारा मुख्य ध्येय रहा है, इसलिए, हमने इसे परंपरागत विश्वकोश का रूप न देकर विषयानुसार बनाया है। इससे, इसकी उपयोगिता इस रूप में बढ़ जाती है कि जो विद्यार्थी या विद्वान केवल अपनी ही रुचि के विषय से संबंधित प्रविष्टियां देखना चाहेंगे, उनके लिए मात्र उन विषयों वाले खंड को देखना पर्याप्त होगा और इस तरह विश्व-कोश का प्रत्येक खंड अपने-आप में एक संपूर्ण खंड होगा। यदि यह ऐसा न होकर केवल अकारादिक्रम में होता तो किसी एक विषय की तमाम प्रविष्टियों को प्राप्त करने के लिए इसके सभी खंड देखना जरूरी हो जाता जो आम तौर पर साधारण जिज्ञासु के लिए सुविधाजनक नहीं होता और न उसके लिए यह भी संभव होता कि किसी समानरूपी शब्द या प्रविष्टि का उपयोग किस जिल्द में और किस संदर्भ में हुआ है, इसका आसानी से पता लगायें। विषयानुसार होने की वजह से इसका प्रत्येक खंड विश्वकोश ही नहीं, ज्ञान संहिता के रूप में भी काम में लाया जा सकता है।

हमें यह स्वीकार करते हुए हर्ष हो रहा है कि 'विश्व ज्ञान संहिता' की प्रेरणा हमें तेलुगु भाषा समिति, मद्रास-हैदराबाद द्वारा पिछले पचीस वर्षों के अथक परिश्रम से प्रकाशित 'विज्ञान सर्वस्वम्' नामक तेलुगु विश्वकोश के सोलह खंडों से मिली है जो अब तक प्रकासित संपूर्ण भारतीय भाषाओं के समस्त विश्वकोशों से कई दृष्टियों में भिन्न और अनूठे हैं। तेलुगु भाषा समिति ने हमें जो सहयोग और मार्गदर्शन दिया है, उसके लिए हम उसके प्रति हृदय से आभारी हैं। खासकर, दक्षिण भारतीय

जातियों तथा जनजातियों की जो प्रविष्टियां इस जिल्द के समाजविज्ञान तथा मानवविज्ञान उप-खंडों में प्रस्तुत हैं उनको आधिकारिक रूप देने में हमने विज्ञान सर्वस्वम् से पर्याप्त सहायता ली है। हमारी प्रार्थना पर तेलुगु भाषा समिति ने हमें इस बात की अनुमति देकर हमारा जो उत्साह बढ़ाया उसके लिए हम कृतज्ञ हैं।

आधुनिक विज्ञान संबंधी वांगमय इस समय जो अंग्रेजी में प्राप्त है उसे उसी रूप में सहज-सरल भाषा में उपलब्ध कराना अब तक भी हमारी भाषाओं के लिए आसान काम नहीं है। इसके लिए न हमारी भाषाएं पर्याप्त रूप में संपन्न हैं न हमारे पाठक इसके लिए तैयार हैं। भारतीय भाषाओं के इस विकास युग में मौलिक लेखन के साथ-साथ अनूदित सामग्री का भी संकलन अनिवार्य हो जाता है। हमारा यह प्रयत्न रहा है कि इस खंड की अधिकाधिक सामग्री मौलिक रूप से हिंदी में लिखवाकर प्रस्तुत करें। फिर भी, विवशता के कारण अनूदित सामग्री भी देनी पड़ी है। हम आशा करते हैं कि अगले खंडों के लिए यह आवश्यकता कम होती जायेगी।

हिंदी विकास समिति की इस योजना के आरंभिक काम में एक वर्ष तक, श्री पोलि विजयराघव रेड्डी से सहायता ली गई थी। उसके बाद, समिति की एक शाखा दिल्ली में खोली गई जिसका काम स्व० प्रो० चंद्रहासन एक साल तक देखते रहे। उनकी दुखद मृत्यु के बाद श्रीमती पद्मिनी मेनोन, सर्वश्री वी० रवींद्रन, गौरीशंकर कपूर तथा रमेश उपाध्याय का बहुत समय तक समिति को सहयोग प्राप्त होता रहा। खास तौर से श्री रवींद्रन ने इस खंड के संपादन-प्रकाशन में मूल्यवान सहयोग दिया। इन सब लोगों ने हमें जो सहयोग और सहायता दी थी उसके लिए हम कृतज्ञता का अनुभव करते रहेंगे।

एक बात और। इतनी बड़ी योजना को कार्यान्वित करने के लिए परिश्रम के साथ-साथ आर्थिक साधनों की भी बेहद आवश्यकता होती है। हमारी प्रार्थना पर, इस योजना को सफल बनाने के सदुद्देश्य से हमें आवश्यक धन बिना ब्याज के ऋण के रूप में देने की डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड ने उदारता दिखाई है। इस अमूल्य सहायता का संपूर्ण श्रेय प्रसिद्ध हिंदी-प्रेमी और देशभक्त श्री जयदयालजी डालमिया को जाता है, जिनकी सदाशयता और सहयोग के बिना यह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकती थी। इस उदार सहायता के लिए हम डालमिया सिमेंट (भारत) लिमिटेड तथा श्री जयदयालजी डालमिया के प्रति अत्यंत आभारी हैं।

थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड के प्रति भी हम आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिसने 'विश्व ज्ञान संहिता' के इस खंड को पूरे मनोयोग और आकर्षक ढंग से छापा है।

अंत में पाठक बंधुओं और विद्वानों से प्रार्थना है कि वे अपनी सलाह और सहयोग देकर हमें अपने इस कार्य में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते रहें।

इब्राहीम शरीफ
संपादक

मोटूरि सत्यनारायण
प्रधान संपादक

मनोविज्ञान : एक परिचय

सामान्य मनोविज्ञान

उन्नीसवीं सदी के अंतिम ढाई दशकों में प्रयोगशाला में विभिन्न संवेदनों और गतियों का अध्ययन करके मनुष्यों के अनुभव और व्यवहार पर खोज की गयी। ये अध्ययन सामान्य प्रौढ़ मनुष्यों पर किये गये। मनोविज्ञान में विचारों और स्मृतियों के विषय में मननात्मक विश्लेषण से आगे जाकर प्रयोगशाला में नियंत्रित स्थितियों में अलग-अलग लोगों के अनुभवों और व्यवहार का अध्ययन किया जाने लगा। यह विश्वास किया जाता था कि सारी मानसिक घटनाओं को संवेदनों, प्रतिमाओं और अनुभूतियों के स्तर पर लाया जा सकता है और सामान्य प्रौढ़ मनुष्यों के सारे जटिल अनुभवों और कार्यकलापों की व्याख्या इन्हीं संवेदनों, प्रतिमाओं और अनुभूतियों का संश्लेष करके की जा सकती है। इस प्रकार यह अध्ययन काफी हद तक अंतर्निरीक्षण पर आधारित था। परिणामस्वरूप यह अध्ययन काफी सीमित रहा। किंतु पिछली सदी के अंतिम दशक में पशुओं के व्यवहार और नवजात शिशुओं और बच्चों के व्यवहार के विकास का अध्ययन किया गया। यह अध्ययन अंतर्निरीक्षण प्रणाली का सहारा लिये बिना ही किया गया। मनोविज्ञानियों ने अब यह अनुभव किया कि व्यवहार के अध्ययन की इस वस्तुनिष्ठ प्रणाली को प्रौढ़ मनुष्य पर भी लागू किया जाना चाहिए।

इसके परिणामस्वरूप मनोविज्ञान का पूरा दृष्टिकोण ही बदल गया। उन उद्दीपनों का पता लगाने की कोशिश की गयी, जिनके कारण व्यक्ति व्यवहार करता है। इस प्रकार इस सदी के आरंभ में मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय चेतना न रहकर लोगों की क्रियाएं या उनका व्यवहार बन गया। यह दृष्टिकोण बहुत सफल रहा है और इससे हमारे ज्ञान में काफी वृद्धि हुई है।

आवश्यकताओं को, विगत अनुभवों की स्मृतियों को और उद्दीपन तथा प्रतिक्रिया के बीच में आने वाली अन्य संज्ञानात्मक क्रियाओं को मान्यता देना आधुनिक विकास का एक और महत्त्वपूर्ण चरण है। आजकल लक्ष्यप्राप्ति को व्यवहार का प्रमुख गुण माना जाता है। जब हमें कोई आवश्यकता होती है, तो तनाव पैदा होता है और व्यवहार करने से वह तनाव घटता है। उदाहरण के लिए, बच्चा जब भूखा होता है, या पेशाब कर देता है, तो रोता है। उसके रोने से उसकी मां उसके पास आकर या तो उसे खाना देती है, या उसके कपड़े बदल देती है। इस प्रकार रोना मां को बुलाकर तनाव घटाने की क्रिया है।

प्राणी की प्रतिक्रियाएं या तो स्थानिक हो सकती हैं, जो अंग के किसी एक भाग को ही प्रभावित करती हैं, या फिर वे व्यापक हो सकती हैं, जो पूरे शरीर को प्रभावित करती हैं। इन स्थानिक प्रतिक्रियाओं में प्रतिवर्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। तंत्रि-पेशीय संरचना और उसके संबंधों पर निर्भर ये प्रतिवर्त जन्मजात होते हैं। शिशु के व्यवहार में स्थानिक प्रतिवर्त क्रियाएं जैसे छींकना, खांसना इत्यादि और व्यापक प्रतिक्रियाएं जैसे चौंकना, हाथ-पैर या शरीर के अन्य भागों को फैंकना आदि उसके पैदा होने के पहले ही दिन देखने को मिलते हैं। प्रतिवर्त क्रियाओं का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वे नींद या उसी जैसी अवस्था में होती हैं। प्रतिवर्त क्रियाएं मेरुरज्जु और मस्तिष्क के निम्न केंद्रों पर निर्भर होती हैं। इसीलिए हम उन्हें नहीं जान पाते।

हमारा व्यवहार मुख्य रूप से आंतरिक आवश्यकताओं और अंतर्नोदों पर निर्भर होता है। भूख, प्यास, तापक्रम का नियमन, विश्राम, काम और इसी प्रकार के अन्य

अंतर्नोद बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये सभी अंतर्नोद तनाव उत्पन्न करते हैं। ये दुखदायी होते हैं और शरीर उनके द्वारा उत्पन्न विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ये शारीरिक आवश्यकताएं चाक्रिक होती हैं। खाना, तन ढंकना और रहने के लिए मकान की चाह मनुष्य के प्रमुख काम हैं। ये सभी काम शरीर की मूल आवश्यकताओं पर आधारित हैं। व्यक्ति के निजी और सामाजिक व्यवहार में 'कामभाव' के महत्त्व पर कुछ ज्यादा कहना आवश्यक नहीं है। वास्तव में महान मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने मनुष्य के व्यवहार और सामाजिक संगठन के पीछे 'कामभाव' को अत्यंत मूलभूत आवेग माना है।

शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न इन अंतर्नोदों के अतिरिक्त हमारी कुछ बुनियादी सामाजिक आवश्यकताएं भी होती हैं। पशुओं और मनुष्यों, दोनों में हम दो बुनियादी सामाजिक अंतर्नोद या सामाजिक अभिप्रेरक देख सकते हैं। सबसे पहले तो स्नेह की आवश्यकता है, स्नेह पाने के साथ-साथ स्नेह देने की आवश्यकता। मां जब बच्चे से स्नेह करती है, तो उससे बच्चे में सुरक्षा की भावना आती है। दूसरी ओर अगर बच्चे को मां से पर्याप्त स्नेह न मिले, तो उसमें अरक्षा की भावना पैदा हो जाती है, जिसके परिणाम उसके प्रौढ़ बनने पर भयंकर हो सकते हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक अभिप्रेरक हैं—सत्ता और प्रतिष्ठा की आवश्यकता। स्वाग्रह और आत्मसमर्पण सामाजिक जीवन के आधार हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि घर में, जीविकोपार्जन में और मनोरंजन में हमारा जीवन सत्ता और प्रतिष्ठा की इसी आवश्यकता से काफी प्रभावित होता है। मनुष्य जितना शिक्षित होता है, उसका पद भी उतना ही उच्च होता है। पद की उच्चता वेतन से जुड़ी होती है। चूंकि वह ज्यादा कमाता है, इसलिए वह बड़े मकान में रहता है, उसके पास मोटरगाड़ी और रेडियो इत्यादि होते हैं। इनके होने से उसे ज्यादा प्रतिष्ठा मिलती है। वह दूसरों से आगे बढ़ जाने के लिए कड़ा परिश्रम करता है, दूसरों से ज्यादा कमाता है और उसे अपनी सफलता से संतुष्टि मिलती है।

अनुभूतियां और संवेग

अंतर्नोदों की तरह संवेगात्मक अनुभव और अनुभूतियां भी व्यवहार को प्रेरित करती हैं। हम सभी यह जानते हैं कि बेहद डरा हुआ व्यक्ति कैसी ऊंची जगह से कूद जाता है या कैसे सिर पर पांव रखकर भागता है। यह सभी जानते हैं कि बच्चों और प्रौढ़ों के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए मां-बाप, राज्य और धर्म भय दिखाते हैं। क्रोध से भरे व्यक्तियों में बड़ी शक्ति आ जाती है। वे ऐसे उग्र ढंग से बोलते और व्यवहार करते हैं, जिसे वे सामान्य रूप से नहीं करेंगे।

इसी प्रकार हमारे व्यवहार पर हमारी प्रसन्नता और अप्रसन्नता का प्रभाव पड़ता है। हम प्रसन्न करनेवाली वस्तु की ओर आकृष्ट होते हैं और अप्रसन्न करनेवाली वस्तु या व्यक्ति से बचते हैं। प्रसन्नता देनेवाले कामों को बार-बार किया जाता है, जबकि अप्रसन्न करनेवाले कामों को बार-बार नहीं किया जाता।

संवेग की अवस्था में हमारे अंदर एक तीव्र उत्तेजना होती है। संवेगात्मक रूप से उत्तेजित व्यक्ति के शरीर में अनेक परिवर्तन होते हैं, जैसे सांस लेने और रक्तचाप में। वह सिसकियां भर सकता है, रो सकता है, शर्म से लाल हो सकता है और कांप सकता है। संवेग से अभिभूत होना शीघ्र क्रिया करने की तैयारी है। यह क्रिया आवेगमय और उद्देश्यरहित होती है। उस पर बौद्धिक नियंत्रण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अंतर्नोदों और संवेगों से प्रेरित व्यवहार में बड़ा भेद होता है। अंतर्नोदों से प्रेरित व्यवहार में ऐसे उद्दीपन की खोज की जाती है, जिससे किसी लक्ष्य की प्राप्ति होती हो। दूसरी ओर, संवेग से प्रेरित होने पर व्यक्ति में व्यापक आंतरिक क्षोभ होता है और व्यक्ति या तो उद्दीपन पर हमला करता है, या उससे दूर भागता है। संवेग से अभिभूत व्यक्ति विवेक खो बैठेगा और स्थिति का या स्वयं अपना मूल्यांकन करने का धैर्य नहीं रख पायेगा।

संवेग के दौरान शरीर में जो उथल-पुथल होती है, वह स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र के कार्य पर आधारित है, जिससे शरीर के अंगों—जैसे पेशियों और ग्रंथियों में परिवर्तन होते हैं। इसीलिए जब हम संवेगात्मक रूप से उत्तेजित होते हैं, तो उसका प्रभाव हमारे सांस लेने, रक्त संचार, पाचन क्रिया और मलमूत्र त्यागने पर पड़ता है। संवेग का मुख्य काम शरीर की पूरी शक्ति को या तो स्थिति से लड़कर या उससे बचने के लिए भागकर जीवन-रक्षा के संघर्ष में लगाना होता है। इसी कारण सुव्यवस्थित समाज में

संवेग का वह पुराना महत्त्व नहीं रहा है और संवेगों से क्षुब्ध मनुष्य अपने संवेगों को मुक्त रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाता; क्योंकि इसके लिए समाज द्वारा अनुमोदन नहीं मिलता। किंतु जब संवेग अभिव्यक्त नहीं हो पाते, शरीर में शक्ति की अधिकता बनी रहती है, जिसके कारण शरीर में ऐसे विभिन्न विकार पैदा हो जाते हैं, जिन्हें मनोजन्य विकार कहा जाता है।

कुंठा और समायोजन-प्रक्रिया

जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, अंतर्नोद शरीर में एक तनाव उत्पन्न करता है, जो किसी क्रिया से मिटता है। किंतु हमारा सामाजिक परिवेश हमें अपने सभी अंतर्नोदों, प्रेरकों और संवेगों को तुष्ट नहीं करने देता। अंतर्नोद के गतिरोध से कुंठा पैदा होती है। मोटे तौर पर हम अपने अंतर्नोदों की तुष्टि की बाधा का सामना समायोजन से कर सकते हैं। समायोजन का एक पुराना रूप है हमला करना या भागना। जब कोई बच्चे से खिलौना छीन लेता है, तो बच्चा रोता-चिल्लाता है, या उस पर हमला करता है। यदि खिलौना ठीक काम न दे, तो बच्चा खिलौने को तोड़ देता है। वयस्क लोग भी इसी तरह का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार प्रकट या तात्कालिक समायोजन प्राय: आवेगपूर्ण और अबौद्धिक होता है। वह समाज की दृष्टि से अनुमोदित और अस्वीकार्य होता है। जब पूरा राष्ट्र विफल होता है, तो वह दूसरे देश से युद्ध कर सकता है। बाधा का सामना करने का दूसरा प्रकार समायोजन का एक आंतरिक रूप है। इससे द्वंद्व व्यक्ति के अंदर होगा। उदाहरण के लिए, भूखे बच्चे के मन में खाने की इच्छा और समाज का अनुमोदन पाने की इच्छा के बीच आंतरिक द्वंद्व हो सकता है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि समाजीकरण से व्यक्तियों का आपसी द्वंद्व उनका आंतरिक द्वंद्व बन जाता है।

विफल होने पर कोई भी अंतर्नोद और भी तीव्र हो जाता है और व्यक्ति में बेचैनी पैदा करता है। व्यक्ति क्रुद्ध हो जाता है और आक्रामक व्यवहार करने लगता है, नहीं तो वह भीरु और भयभीत बन सकता है। वह अपनी कुंठा के कारण सभी सामाजिक संपर्कों से बच सकता है। ये दोनों कुंठा के प्रति की गयी संतोषप्रद प्रतिक्रियाएं नहीं हैं। कुंठा के प्रति की गयी प्रतिक्रिया का एक अन्य रूप है दिवास्वप्न देखना या अपनी विफलता के लिए दूसरों पर दोषारोपण करना। किसी व्यक्ति में किसी प्रकार का रोग भी पैदा हो सकता है, जैसे हिस्टीरिया। कुछ लोग अपना गम गलत करने के लिए शराब पीते हैं, या दवाएं खाने की आदत डाल लेते हैं। कुछ लोग स्थिति का सामना न करने के लिए भाग जाते हैं या आत्महत्या कर लेते हैं।

कुंठा का सामना करने का उपयुक्त तरीका है उदात्तीकरण। जो लड़का पढ़ने में अच्छा न हो, वह अच्छा खिलाड़ी या विद्यालय संघ का सचिव बन सकता है। उसके अंतर्नोद की तुष्टि लक्ष्य बदल देने से हो जाती है। कोई व्यक्ति अपनी शक्ति को चित्रकला या संगीत या कहानी लिखना सीखने के लिए नयी कुशलता प्राप्त करने में लगा सकता है। कुंठा का सामना करने का बहुत ही व्यावहारिक तरीका है अपनी विफलता के कारणों को जानना और अपने ज्ञान और कुशलता को बढ़ाना। इस तरह हम अपने को ज्यादा दक्ष बना सकते हैं। सुसमायोजित व्यक्ति वह होता है जो समाज में अन्य लोगों के प्रति, अपने काम के प्रति और अपनी बीबी-बच्चों के प्रति सही अभिवृत्ति बना लेता है।

प्रत्यक्ष और भ्रम

हमें बाह्य जगत का ज्ञान अपनी ज्ञानेंद्रियों से होता है। आंख, कान और अन्य ज्ञानेंद्रियों से तंत्रिका-आवेग मस्तिष्क में जाते हैं और संवेदन पैदा करते हैं। मस्तिष्क के कुछ क्षेत्रों के उद्दीप्त होने पर संवेदन होते हैं और कुछ अन्य क्षेत्रों के उद्दीप्त होने पर शरीर के विभिन्न अंगों में गति उत्पन्न होती है। उच्चतर पशुओं और मनुष्यों के मस्तिष्क में यही मुख्य अंतर होता है कि कुत्ते या बंदर के मस्तिष्क के अधिकांश भाग में संवेदी और प्रेरक क्षेत्र ही होते हैं, जबकि मनुष्य के मस्तिष्क में इससे अलग कुछ और होता है। मानव-मस्तिष्क में विभिन्न संवेदी और प्रेरक क्षेत्रों को अलग करने और उनके बीच आनेवाले ऐसे क्षेत्र होते हैं, जिन्हें साहचर्य क्षेत्र कहा जाता है। जब हम किसी वस्तु, जैसे नारंगी, को देखते हैं, तो हमें उसके रंग और आकार का संवेदन मात्र न होकर उसके गुण और उद्देश्य का प्रत्यक्ष भी होता है। हमारा प्रत्यक्ष किसी क्षेत्र में संवेदन मात्र होने पर ही निर्भर न होकर किसी वस्तु से

संबंधित पुराने अनुभवों के पुनः स्मरण पर भी निर्भर होता है। यह पुनः स्मरण मानव-मस्तिष्क के साहचर्य क्षेत्रों के कार्य पर निर्भर है। इन साहचर्य क्षेत्रों को चोट पहुंचने से प्रत्यक्ष शक्ति में गड़बड़ हो जाती है; जबकि संवेदनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस हालत में व्यक्ति वस्तुओं को देख तो सकता है, किंतु उनके अर्थ को नहीं समझ पाता। इसी प्रकार प्रेरक साहचर्य क्षेत्रों को चोट पहुंचने से गति को क्रमबद्ध और समन्वित करने की योग्यता नहीं रह जाती। इस प्रकार ये साहचर्य क्षेत्र हमें जगत का प्रत्यक्ष कराते हैं और साथ ही अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली हमारी प्रतिक्रिया में सहायक होते हैं।

प्रत्यक्ष पर हमारी इच्छाओं और अभिप्रेरणाओं का प्रभाव भी पड़ता है। डरा हुआ व्यक्ति रस्सी को सांप या पेड़ के ठूंठ को भूत समझ बैठता है। प्रत्यक्ष हमारी प्रत्यशा से भी प्रभावित होते है। उदाहरण के लिए, किसी वस्तु के आकार को देखकर हम अनुमान करते हैं कि इसका वजन इतना होगा। इसलिए हम देखने में भारी लगनेवाली चीज को उठाने पर यदि वह हल्की हो, तो आश्चर्य में पड़ जाते हैं।

किसी वस्तु का अन्य वस्तुओं से संबंध होता है और यह संबंध वस्तुओं को देखने के हमारे ढंग को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, आकाश के तारे, जैसे सप्तर्षि इत्यादि, हमें तारापुंज के रूप में अपनी समीपता के कारण दिखायी पड़ते हैं। वस्तुओं के रंग को बदल देने पर उनका प्रत्यक्ष करना भी बदल जाता है। युद्ध के समय यह छलावरण द्वारा किया जाता है। बंजर जमीन पर बने मकानों को कत्थई रंग से और घाटियों में बने मकानों को हरे रंग से रंग दिया जाता है, जिससे शत्रु उस क्षेत्र में मकानों के होने का पता नहीं लगा सकता।

अब हम कुछ चाक्षुष भ्रमों का उदाहरण दे सकते हैं। भवन निर्माण करने वाले ऊपर की मंजिलों को नीचे की मंजिल की अपेक्षा छोटा बनाते हैं; क्योंकि एक ही लंबाई की खड़ी और पड़ी रेखाओं में खड़ी रेखा जरा ज्यादा लंबी लगती है। इसी प्रकार यद्यपि दो आदमियों की लंबाई बराबर हो सकती है, किंतु उनसे हट्टा-कट्टा आदमी कम लंबा और दुबला-पतला आदमी ज्यादा लंबा लगता है।

अवधान

हम परिवेश की हर चीज का प्रत्यक्ष नहीं करते। हम कुछ चीजों को चुनते हैं और शेष को छोड़ देते हैं। यह अवधान की प्रक्रिया के कारण होता है। अवधान कुछ चुनी हुई चीजों का प्रत्यक्ष करने की दिशा है। इसके अतिरिक्त अवधान में प्रेरकीय प्रतिक्रिया भी होती है, जिससे वस्तु ज्यादा से ज्यादा केंद्र में आ जाती है। पशु और मनुष्य दोनों ही ध्वनि सुनने या देखने के लिए अपना सिर उसके स्रोत की ओर मोड़ लेते हैं। जब हम किसी उद्दीपन को देखते हैं तो हममें तनाव आ जाता है। हमारी सारी फ़ालतू गतिविधियां रुक जाती हैं। इसीलिए किसी व्याख्यानकक्ष में अगर श्रोता रुचि ले रहे हों और ध्यान दे रहे हों, तो पूर्ण शांति रहती है। इस प्रकार अवधान से हमारे व्यवहार का नियंत्रण होता है। हम दूसरों का ध्यान आकर्षित कर उनके व्यवहार का भी नियंत्रण कर सकते हैं। उदाहरण के लिए सपेरा बीन बजाकर लोगों को जमा करता है।

अवधान पर बाह्य उद्दीपनों के अतिरिक्त आंतरिक स्थिति, जैसे अभिरुचि और इच्छाओं का भी प्रभाव पड़ता है। अब हम अवधान को निर्धारित करनेवाले कुछ बाह्य कारकों का वर्णन कर सकते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, हमारा ध्यान प्रत्येक तीव्र उद्दीपन के प्रति खिंच जाता है। विज्ञापनदाता सूचनापट्टों या विज्ञापनों को रंगीन और चमकीला बनाकर इसका उपयोग करते हैं। अपरिवर्तनीय उद्दीपन की अपेक्षा परिवर्तनीय उद्दीपन ध्यान ज्यादा आकर्षित करता है। हम घड़ी की टिकटिक पर उतना ध्यान नहीं देते जितना टिकटिक के बंद हो जाने पर देते हैं। स्थिर वस्तु की अपेक्षा गतिशील वस्तु हमारा ध्यान ज्यादा खींचती है। इसी प्रकार बार-बार सामने आने वाले उद्दीपन पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है जबकि बार-बार सामने न आनेवाले उद्दीपन पर उतना नहीं। निश्चित आकार और रूपरेखा की वस्तुएं अस्पष्ट और अनिश्चित वस्तुओं की अपेक्षा ध्यान ज्यादा आकर्षित करती हैं। विज्ञापनदाता हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिए इन सब बातों का प्रयोग करते हैं।

कुछ ऐसी आंतरिक बातें भी होती हैं, जिनके कारण हम अपने परिवेश की कुछ वस्तुओं पर ध्यान देते हैं। यह सर्वविदित है कि हम उन उद्दीपनों पर ध्यान देते हैं,

जो कार्य की प्रगति से संबंधित होते हैं। हम उन वस्तुओं पर भी ध्यान देते हैं, जो हमारे अंतर्नोदों और अभिप्रेरकों को छूती हैं। इसी से साबुनविक्रेता साबुन के विज्ञापन में सुंदर फिल्मी तारिका का चित्र देते हैं। मंजनविक्रेता हमें दंत रोगों की चेतावनी देता है। इसी प्रकार संवेग भी हमारे अवधान की दिशा निर्धारित करते हैं। प्रेम में पड़ा नौजवान अपनी प्रेमिका की अच्छी बातों पर ही ध्यान देता है।

दूसरी ओर जब हम किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध होते हैं, या उससे घृणा करते हैं, तो हम उसके व्यवहार की कमियां ही देखते हैं। अवधान को निर्धारित करने में रुचि का भी महत्त्व है। फूल को वनस्पतिविज्ञानी, कलाकार और उद्यान-पंडित अलग-अलग दृष्टि से देखते हैं। अवधानक्रिया पर सामान्य मनोदशा का प्रभाव भी पड़ता है। निराशा-वादी व्यक्ति घटनाक्रम के किसी भी मोड़ को संकटमय समझता है और आशावादी उसमें गौरवमय संभावनाओं को देखता है। सामाजिक शक्तियां भी हमारे अवधान की दिशा का निर्धारण करती हैं। इसी कारण न केवल वेशभूषा में ही, वरन् हमारी सरकार और हमारा दर्शन किस तरह का हो, इसमें भी फैशन चल जाते हैं। हम ध्यान देने की आदत भी डाल सकते हैं, जिससे हम निश्चित प्रकार की वस्तुओं पर ही ध्यान देकर अन्य वस्तुओं की उपेक्षा कर सकते हैं।

सीखना और याद रखना

मानवीय व्यवहार में सीखने और याद रखने के महत्त्व पर जोर देना आवश्यक नहीं है। मोटे तौर पर, अनुभव के परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन आना ही सीखना है। हम चलने, साइकिल चलाने, टाइप करने आदि जैसी प्रेरकीय कुशलताओं को सीखते हैं। हम मौखिक सामग्री को भी सीखते हैं जैसे कविता याद करना। हम दूसरे लोगों, अपने काम, मनोरंजन आदि के प्रति अभिवृत्ति बनाना भी सीखते हैं।

रूसी शरीरक्रिया विज्ञानी पावलोव ने यह सिद्ध किया है कि हमें अपने सीखने का ज्ञान नहीं होता। उसने इस प्रक्रिया को अनुबंधन कहा है। कुत्ता खाने का बर्तन देखने पर लार टपकाने लगता है। पावलोव ने जानना चाहा कि ऐसा क्यों होता है। वह एक घंटी बजाता था और उसने देखा कि घंटी की ध्वनि और लार बहने में कोई संबंध नहीं है। इसके बाद उसने अनेक बार घंटी बजायी और कुत्ते को खाना दिया। बाद में उसने देखा कि घंटी बजने पर कुत्ते की लार टपकने लगती थी। इस प्रकार लार टपकने की क्रिया घंटी की आवाज़ से अनुबंधित हो गयी। पावलोव ने यह भी पता लगाया कि अनुबंधन पुनर्बलन से होता है। कुछ ही दिनों का बच्चा इसी प्रकार रो-रोकर अपनी मां का ध्यान आकर्षित करना सीख जाता है। अनुबंधन की प्रक्रिया से बच्चा बहुत-सी क्रियाएं सीखता है। उदाहरण के लिए, खाने का समय, पेशाब करने का समय और स्थान आदि को बच्चा अनुबंधन से ही सीखता है। इसी प्रकार बहुत से डर भी अनुबंधन से ही पैदा होते हैं।

अमरीकी मनोविज्ञानी थार्नडाइक ने पशुओं की सीखने की समस्या का अध्ययन किया। जब भूखी बिल्ली को एक समस्या-बक्स में रखा गया, तो उसने बहुत उछल-कूद की और संयोगवश सही काम कर डाला। तब उसे बक्स से बाहर निकालकर खाना दिया गया। अनेक बार दुहराने पर गलतियां कम होती गयीं, जिससे बाद में बिल्ली ने बिना कोई गलती किये बक्स से बाहर निकलना सीख लिया। इसलिए थार्नडाइक ने यह कहा कि सीखना प्रयत्न और त्रुटि द्वारा संभव होता है। यह ठीक है कि मनुष्य भी बहुत-सी बातें प्रयत्न और त्रुटि द्वारा ही सीखता है।

जर्मन मनोविज्ञानी कीलर ने अध्ययन किया कि चिंपैंजी अपनी समस्या का समाधान किस तरह करते हैं। उसने पिंजड़े के बाहर चिंपैंजी की पहुंच से दूर केला रख दिया। पास ही उसने एक छड़ी रख दी। काफी समय तक चिंपैंजी ने केले को पाने के लिए निष्फल प्रयत्न किये। तब वह निराश होकर बैठ गया। सहसा वह उठा और उसने छड़ी हाथ में लेकर उससे केले को अपने पास सरका लिया। यह देखा गया कि बाद में चिंपैंजी ने छड़ी का प्रयोग ही किया। इस प्रकार कीलर ने यह सिद्ध किया कि सीखना अंतर्दृष्टि द्वारा संभव होता है और पशु भी प्रयत्न या त्रुटि किये बिना अंतर्दृष्टि द्वारा सीखते हैं।

ये तीनों प्रयोग यह दिखाते हैं कि हमारे व्यवहार में किन-किन विभिन्न तरीकों से परिवर्तन होता है। व्यवहार में परिवर्तन अनुबंधन से, प्रयत्न और त्रुटि से या अंतर्दृष्टि से हो सकता है। सीखने से संबंधित अनेक समस्याओं

का प्रयोगशाला में बड़ी सावधानी से अध्ययन किया गया है और ऐसे ज्ञान-वक्र खींचे गये हैं, जिनसे यह अध्ययन किया जा सके कि अभ्यास से किस तरह पूर्णता आती है और सिद्धांत को जानना समस्या पर काबू पाने में कहाँ तक सहायक होता है।

हम याद ही नहीं रखते, अक्सर भूलते भी हैं। हम भूलते क्यों हैं? जर्मन मनोविज्ञानी एबिंगहाउस ने इस पर कुछ प्रयोग किये और यह देखा कि हम शुरू-शुरू में ज्यादा भूलते हैं, किंतु इसके बाद भूलना बहुत कम हो जाता है। उसने यह भी देखा कि ज्यादा सीखने पर भूलना बहुत कम हो जाता है। संगीतज्ञ और टाइपकार बहुत ज्यादा सीखते हैं। वे बराबर अभ्यास करते रहते हैं और इसीलिए वे अपनी कुशलताओं को नहीं भूलते। अगर सीखने की सामग्री सार्थक हो, तो वह ज्यादा अच्छी तरह याद रहती है। यही कारण है कि हमारे साथ जो घटित होता है, उसमें से बहुत कुछ हमें स्पष्ट रूप से याद रहता है। प्रयोगों से यह पता चलता है कि वास्तव में हम कुछ भी नहीं भूलते। कुछ वर्षों पहले सीखे गये निरर्थक अक्षरों को भी दुबारा आसानी से सीखा जा सकता है। वृद्ध लोग अपने बचपन की बहुत-सी घटनाओं का पुनः स्मरण करते हैं। सम्मोहन या मनोविश्लेषण द्वारा बहुत पहले भुला दिये गये अनुभवों को भी याद किया जा सकता है। लेकिन हम भूलते क्यों हैं? प्रयोगों से यह पता चला है कि हम इसलिए भूलते हैं कि नयी बातें सीखते रहने से पुरानी बातों का पुनरावर्तन करने में बाधा पड़ती है। इसी कारण जागते और सक्रिय रहने की हालत की अपेक्षा सो लेने के बाद हम ज्यादा अच्छी तरह याद रख सकते हैं। भूलने का दूसरा कारण संवेगात्मक रोधन है। यह सर्व-विदित है कि परीक्षा देते समय लड़का उन बहुत-सी बातों को भूल जाता है, जो उसे परीक्षा-भवन से निकलते ही याद आने लगती हैं। हम सभी जानते हैं कि कभी-कभी नाम हमारी जुबान तक आता तो जरूर है, किंतु हम उसे याद नहीं कर पाते। फ्रायड ने यह सिद्ध किया है कि संवेगात्मक कठिनाई दूर हो जाने पर हम पुनरावर्तन कर सकते हैं। इसी कारण फ्रायड ने बहुत पहले भुला दी गयी बातों को, जो हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं और अपसामान्यताएं पैदा करती हैं, याद कराने के लिए साहचर्य प्रविधि का प्रयोग किया। किंतु एक महत्त्वपूर्ण बात, जिसे हमें याद रखना चाहिए, यह है कि बहुत कुछ इसलिए भुला दिया जाता है कि उसे ठीक से सीखा नहीं जाता। लोग अक्सर यह शिकायत करते हैं कि वे नाम या नंबर याद नहीं रख सकते। खोजों से यह पता चला है कि ऐसे लोग जब कोई नाम सुनते हैं, तो उस पर पर्याप्त ध्यान नहीं देते। दूसरे शब्दों में वे नाम को सीखने की कोशिश नहीं करते। स्पष्ट है कि हम उसे याद नहीं रख सकते, जिसे हमने सीखा न हो।

अहं और व्यवहार

हम देख चुके हैं कि मनुष्यों पर बाह्य और आंतरिक दोनों शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। आंतरिक शक्तियों में अंतर्नोदों संवेगों और कुंठा की अनुभूति से निश्चय ही हमारा व्यवहार बदल जाता है। अब हम सावधानी से यह अध्ययन करें कि ये आंतरिक शक्तियां, जैसे हमारे विचार, अभिवृत्तियां और अपने प्रति हमारे स्थायी भाव हमारे व्यवहार को किस तरह प्रभावित करते हैं।

यह कहना ठीक है कि हममें से प्रत्येक के अपने-अपने बारे में कुछ विचार और अनुभूतियां होती हैं। यह भी सभी को मालूम है कि हम अपने बारे में जो कुछ सोचते हैं और अनुभव करते हैं, उसे बड़ा महत्त्व देते हैं। व्यक्ति के अपने बारे में यह सोचने को कि वह कैसा व्यक्ति है और कैसा नहीं है उसका अहं-चित्र कहा जा सकता है। निस्संदेह अपने बारे में बनाया गया यह अहं-चित्र ठीक भी हो सकता है और गलत भी। किंतु इसका दूसरों के प्रति व्यवहार करने और अपनी आशाओं और आकांक्षाओं को बनाने और उनको पूरा करने की योजना बनाने पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। जब कोई हमारा मजाक उड़ाता है, तो हमें बहुत बुरा लगता है। हम अपना बचाव करते हैं। हम उस व्यक्ति को मार सकते हैं, या उसकी बुराई कर सकते हैं। हम ऐसा इसलिए करते हैं कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे बारे में अच्छे विचार रखें। रास्ते में अगर हमें किसी का धक्का लग जाये और वह हमसे क्षमा याचना न करे, तो हम उसके व्यवहार को अभद्र समझते हैं। इसका कारण धक्का लगना नहीं है। यह हमारी इस धारणा पर आधारित है कि हम जिस क्षण जिस जगह होते हैं, वह हमारी अपनी है और किसी और को बिना हमारी आज्ञा के वहां नहीं आना चाहिए। इस तरह हम अपने,

अपने शरीर और अपने स्थान के प्रति काफी सजग रहते हैं।

हर मनुष्य के अपनी योग्यताओं और चरित्र के बारे में कुछ विचार होते हैं। वह सोचता है कि वह अमुक-अमुक काम कर सकता है और अमुक-अमुक काम नहीं कर सकता। कभी-कभी हम यह सोच सकते हैं कि हम जितना कर सके, उससे भी ज्यादा कर सकते थे और अपनी विफलता के लिए औरों पर दोषारोपण कर सकते हैं। हमारे माता-पिता और परिवार के अन्य बुजुर्ग और हमारे शिक्षक हमारे बारे में जो कहते हैं, हमारा अहं-चित्र बहुत कुछ उसी आधार पर बनता है। बहुत-से मां-बाप अपने बच्चों के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। इसी कारण हममें से बहुत लोग अपने को बहुत योग्य समझने लगते हैं। इसी प्रकार हम अपने चरित्र को भी बड़ा ऊंचा समझ सकते हैं। हर आदमी यह समझता है कि उसका व्यवहार बड़ा उदार और औचित्यपूर्ण है। जब ऐसा विश्वास करने का आधार न हो, तो वह किसी अवसर पर उचित व्यवहार न करने का बहाना ढूंढ़ लेगा। दूसरे शब्दों में वह अपने को अच्छा आदमी ही नहीं समझता, वरन् वह अपने आचरण को दूसरों और खुद अपनी नजर में उचित ठहराने की कोशिश भी करता है। हम भी यह समझते हैं कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह समाज के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कितना ही छोटा काम क्यों न कर रहा हो, अपने को बड़ी हैसियतवाला समझता है। दफ्तर में मुख्य चपरासी अपने आपको अन्य चपरासियों से श्रेष्ठ समझता है। अन्य चपरासी भी अपने को उन लोगों से श्रेष्ठ समझते हैं, जिनकी उनकी तरह कोई बंधी मासिक आमदनी नहीं होती। हैसियत संबंधी इन विचारों की हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, चाहे समाज में हमारी हैसियत कुछ भी क्यों न हो। इन सबसे ही अहं-चित्र बनता है। हमें तब बड़ी चोट लगती है, जब कोई हमारे इस अहं-चित्र को चुनौती-सी देता है।

किंतु यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अहं-चित्र ही हमारा संपूर्ण अहं होता है। अहं में केवल अहं-चित्र ही न होकर बहुत-सी अचेतन बातें भी होती हैं। फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकों ने हमारे अहं के उन अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जिन्हें हम कभी नहीं जान पाते। ये पहलू व्यवहार को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

हमारा अपनी चीजों, जैसे कपड़े, संपत्ति आदि से तादात्म्य होता है। इसके अतिरिक्त हमारा तादात्म्य अपने परिजनों, अपनी जाति और देश के लोगों आदि से भी होता है। इसी प्रकार हम अपना तादात्म्य उन संस्थाओं से भी स्थापित करते हैं, जिनसे हमारा संबंध होता है, जैसे कोई संघ या राजनैतिक दल या आर्थिक समूह। इसीलिए हम अपनी संपत्ति, अपने परिजनों, अपने देश, अपने दल और अपनी संस्था की रक्षा करते हैं। जब कोई इनके बारे में अपशब्द कहता है, या उन पर प्रहार करता है, तो हमें क्रोध आता है। हमें तब बड़ी खुशी होती है, जब उनकी प्रशंसा की जाती है, या उन्हें कोई सफलता मिलती है। अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों और संस्थाओं से तदात्मीकरण की इस प्रक्रिया को अहं-आवेष्टन कहा जाता है। अहं के आविष्ट होने पर किसी व्यक्ति या संस्था की सफलता या विफलता को हम अपनी सफलता समझने लगते हैं। इस प्रकार अहं की धारणा में हमारे विश्वास, अभिवृत्तियां, अपना भविष्य और हित ही शामिल न होकर ऐसी बातें भी शामिल होती हैं, जिनके प्रति हम अचेतन रहते हैं। अहं में वह सब कुछ शामिल होता है जिससे हमारा अहं आवेष्टित होता है।

हम यह देख सकते हैं कि अपने को ठीक से समझना कितना कठिन काम है; क्योंकि हम अपने बहुत से अभिप्रेरकों और अनुभूतियों को नहीं जानते। इसके अतिरिक्त हम अपने, और जिन संस्थाओं से हमारा संबंध है, उनके प्रति कोई अप्रिय या प्रतिकूल बात सहना पसंद नहीं करते। इसीलिए अपने और अपने अभिप्रेरकों को समझना बड़ा कठिन है। हम प्रायः बड़े उच्च उद्देश्य से किये गये किसी काम या विचार के प्रति बड़े भावुक होते हैं। इसी कारण बहुत-से लोग जीवन में समायोजित रहते हैं। ऐसे लोग दूसरों को बराबर यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि वे कभी-कभी यह नहीं होते, जो वे दिखते हैं। कोई व्यक्ति पूरे विश्वास के साथ आत्मरत दिखायी पड़ सकता है, किंतु अंदर से वह बहुत असुरक्षा की भावना से ग्रस्त हो सकता है। ऊपर से दिखायी पड़नेवाली सुरक्षा आंतरिक असुरक्षा के लिए एक पर्दा मात्र हो सकती है। इसी प्रकार कोई झगड़ालू व्यक्ति, जो दूसरों पर प्रहार करता है, वस्तुतः कायर हो सकता है। या जो व्यक्ति बहुत उदार लगता है, वह वास्तव में बड़ा स्वार्थी हो सकता है, जो अपनी

आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए उदारता दिखाता है।

जिस प्रकार कुछ लोग अपने को, जो खुद वे वास्तव में होते हैं, उससे अच्छा समझते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग वास्तव में जैसे होते हैं, उससे अपने को बुरा समझ सकते हैं। कुछ लोग अपने को नकार देते हैं। वे अपना बचाव नहीं करते। वे यह समझ सकते हैं कि उनमें कुछ भी प्रशंसनीय नहीं है। ऐसे लोग अपनी सामर्थ्य को कार्यान्वित नहीं कर पाते। वे सदा अपने दोषों की ओर देखते रहने से अपने को कम आंकते हैं। अपने को नकारने के कारण ऐसे लोग अपनी पूरी संभावनाओं को विकसित नहीं कर पाते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोग लगातार या तो अपना बचाव करने का या अपने को बढ़ाने का प्रयत्न करते रह सकते हैं। कुसमायोजित व्यक्तियों का सावधानी से अध्ययन करने से आत्मरक्षा और आत्म-उन्नयन की अनेक प्रविधियों का पता चला है। निस्संदेह हर भाषा में आत्म-रक्षा और आत्म-उन्नयन की इन प्रविधियों से संबंधित अनेक कहावतें हैं।

किंतु आत्म-रक्षा और आत्म-उन्नयन की इन प्रविधियों से अपना उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता और अपने गुण-दोषों का सच्चा अनुमान नहीं लगाया जा सकता। दूसरे शब्दों में सुसमायोजित व्यक्ति वह व्यक्ति होता है, जो अपने को न तो कम आंके और न ही ज्यादा। उसे अपनी योग्यताओं और दोषों को वास्तविक ढंग से आंकना चाहिए। किंतु यह बहुत ही कठिन काम है। इसे या तो उचित आत्म-परीक्षा से, या किसी परामर्श की सहायता से, या फिर अपने मित्रों और शत्रुओं पर पूरा ध्यान देकर और अपने बारे में उनके अनुमान को समझकर किया जा सकता है। हमारे मित्र और शत्रु यदि हमारे दोषों की ओर संकेत करें, तो हमें नाराज नहीं होना चाहिए और न ही अपने को उनसे हीन समझना चाहिए। दूसरे हमें किस तरह से देखते हैं, हमें इसे समझकर अपने को ठीक करना चाहिए। व्यक्ति के विकास में दूसरी सहायक प्रविधि यह है कि वह जो काम करता है, उसे उसी से तुष्टि मिलनी चाहिए और प्रतिष्ठा पाने की दृष्टि से काम नहीं करना चाहिए। प्राचीन धर्म के साथ-साथ आधुनिक मनोविज्ञान और मनश्चिकित्सा में इस बुनियादी बात पर जोर दिया गया है कि हमें यह जानना चाहिए कि हर व्यक्ति प्यार करना और प्यार पाना चाहता है। दूसरे हमसे तभी प्यार करेंगे जब हम उन्हें प्यार करेंगे। कोई कितना ही बड़ा, शक्तिशाली या धनवान क्यों न हो, वह हमेशा दूसरों का प्यार पाना चाहता है। व्यक्ति को नैतिक शक्ति अपनी सुरक्षा की भावना को विकसित करके ही मिलती है; क्योंकि उसे दूसरों की अपेक्षा होती है और दूसरों को उसकी। इस भावना के और ज्यादा विकास से मनुष्य को दूसरों के प्यार की जरूरत नहीं रह सकती है। सच्चा संन्यासी, जो भारतीय समाज का सर्वोत्तम आर्दश है, हर व्यक्ति को उसके धन या जाति-पांति का खयाल किये बिना प्यार करता है और हर व्यक्ति को यह अनुभूति कराता है कि वह उससे प्यार करता है।

2. पशु-मनोविज्ञान

डार्विन के विकासवाद के साथ मनुष्य और पशुओं के व्यवहार के बीच जो खाई थी, उसे पाटने का प्रयत्न किया गया। चूहों, बिल्लियों और कुत्तों का अध्ययन यह जानने के लिए किया गया कि वे किन स्थितियों में सीखते हैं।

पशुओं पर थार्नडाइक द्वारा किये गये विख्यात प्रयोग से पता चला कि जब किसी भूखी बिल्ली को समस्या-बक्स में रखकर बक्स के बाहर खाना रखा जाता है, तो वह बक्स से बाहर निकलने के लिए तरह-तरह से कोशिश करती है। संयोगवश उससे बक्स का एक बटन दब जाता है जिससे दरवाजा खुल जाता है और वह बाहर आकर खाना खा लेती है। थार्नडाइक ने यह देखा कि बार-बार दुहराने से गलतियां धीरे-धीरे कम होती गयीं और ठीक प्रयत्न ज्यादा जल्दी से किये जाने लगे जिससे कुछ ही प्रयत्नों के बाद बिल्ली बटन दबाकर बाहर निकलने लग गयी। इस प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि पशु बिना किसी तर्क के सीखते हैं और उनका सीखना प्रयत्न और त्रुटि द्वारा होता है।

एक जर्मन मनोविज्ञानी कीलर ने थार्नडाइक की इस मान्यता का कि पशु प्रयत्न और त्रुटि द्वारा सीखते हैं, परीक्षण करने की कोशिश की। उसने चिंपैंजी कैसे सीखते हैं, इसका अध्ययन किया। उसने चिंपैंजी को एक पिंजड़े में रखकर पिंजड़े के बाहर एक केला रख दिया। पिंजड़े में उसने एक छड़ी भी रख दी। चिंपैंजी ने केले को पाने

के लिए तरह-तरह की हरकतें कीं, किंतु उसे सफलता न मिली। वह उदास होकर एक कोने में बैठ गया। अकस्मात् चिंपैंजी उठा और उसने छड़ी उठाकर उससे केले को अपने पास सरकाकर खा लिया। कीलर ने कहा कि चिंपैंजी ने यह व्यवहार इसलिए किया कि वह अंतर्दृष्टि द्वारा केले और छड़ी के संबंध को समझ गया था। उसने छड़ी को एक साधन की तरह प्रयुक्त करना सीख लिया। समस्या का यह समाधान प्रयत्न और त्रुटि का परिणाम नहीं था। बाद में कीलर ने देखा कि चिंपैंजी बिना कोई गलती किये छड़ी से केले को सरकाकर खा लेता था।

रूस के प्रसिद्ध शरीरक्रिया विज्ञानी पावलोव ने यह देखा कि जब कुत्ते के सामने से खाना हटाया जाता है, तो वह कूदने लगता है और उसकी लार टपकने लगती है। इस समस्या का अध्ययन करने के लिए पावलोव ने एक प्रयोग किया। उसने एक भूखे कुत्ते को एक घंटी बजाने के बाद खाना दिया। घंटी बजाने और खाना दिये जाने को कई बार दुहराने पर यह देखा गया कि घंटी की आवाज सुनते ही कुत्ते की लार टपकने लगती थी, जबकि उसे खाना नहीं दिया जाता था। पावलोव ने इसे अनुबंधित प्रतिवर्त कहा। इस प्रकार पावलोव ने यह सिद्ध किया कि अंतर्दृष्टि या प्रयत्न और त्रुटि के न होने पर भी सीखना सम्भव है।

इस प्रकार पशुओं पर सावधानी से प्रयोग करके सीखने से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान किया जा चुका है। इन प्रयोगों से उस पुरानी प्रणाली का खंडन हो गया जिसके अनुसार मनोविज्ञान की समस्याओं को चेतना और चिंतन के आधार पर सुलझाया जाता था। इसलिए 1912 में अमरीकी मनोविज्ञानी वाट्सन ने अंतर्निरीक्षण का खंडन करते हुए आग्रह किया कि इन प्रणालियों से मनुष्यों का अध्ययन भी किया जा सकता है। इस प्रकार पशुओं के इस अध्ययन का पूरे मनोविज्ञान की वृद्धि पर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

व्यवहार पर आनुवंशिकता और परिवेश का क्या सापेक्ष प्रभाव पड़ता है, इसे जानने के लिए पशुओं के व्यवहार का अध्ययन किया गया। हम एक दृष्टांत दे सकते हैं। चूजा अंडे से बाहर निकलते ही दाना चुनने लगता है। किंतु सावधानी से देखने पर पता चला कि पहले दिन ठीक से चोंच न मार सकने के कारण चूजा 20 प्रतिशत दानों को चुग पाता है। दूसरे दिन 50 प्रतिशत चुग लेता है। चौथे दिन 75 प्रतिशत और दस दिन के बाद 90 प्रतिशत तक। इस प्रकार चूजे की चुगने की क्रिया में सुधार होता जाता है। यह सुधार सीखने के कारण या ज्ञानेंद्रियों और पेशियों के परिपक्वन के कारण होता है। इस समस्या का अध्ययन करने के लिए चूजे अंधेरे में पैदा करवाये गये। उन्हें खिलाया गया, जिससे वे चुग न सकें। तीन-चार दिन बाद उन्हें उजाले में लाया गया और उन्हें चुगने का मौका दिया गया। यह देखा गया कि तीन चार-दिन के होने पर भी वे 20 प्रतिशत दाने ही चुग सके। यह भी देखा गया कि अभ्यास से उनमें बहुत जल्दी सुधार हुआ। इस प्रयोग से पता चला कि अंधेरे कमरे में रखे जाने की अवधि में चूजे में जो परिपक्व आया था, उससे अभ्यास शुरू करने के बाद सुधार तेजी से होने में सहायता मिली।

केलाग नामक एक अमरीकी मनोविज्ञानी ने अपने दस महीने के लड़के के साथ ही साढ़े सात महीने के एक चिंपैंजी का लालन-पालन भी किया। दोनों को एक ही तरह का खाना दिया गया और उन्हें चम्मच से खाना और गिलास से पीना सिखाया गया। उन्हें एक ही तरह के कपड़े पहनाये गये और रोज नहलाया गया। यह देखा गया कि चिंपैंजी बच्चे से ज्यादा शक्तिशाली और चपल था, किंतु वह बोलना नहीं सीख सका। यह भी देखा गया कि कोई नयी चीज दिये जाने पर बच्चा तो उसे बड़े गौर से देखता था, किंतु चिंपैंजी झुंझलाकर थोड़ी देर बाद उसे फेंक देता था। इस अध्ययन से यह पता चलता है कि प्रशिक्षण कहां तक उपादेय है और उसकी सीमाएं क्या हैं। मनुष्य और कपियों में अमूर्तीकरण, सामान्यीकरण और मौखिकीकरण का बड़ा भेद होता है। इसीलिए अत्यंत आदिम कबीलों की भी संस्कृति होती है, किंतु कपियों की कोई संस्कृति नहीं होती।

3. बच्चे का विकास

उन्नीसवीं सदी में मनोविज्ञानियों ने केवल अंतर्निरीक्षण का ही प्रयोग नहीं किया था, वे संवेदी अनुभव का भी अध्ययन करते थे। इसलिए उन्होंने बच्चों के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया। बच्चों के विकास का सावधानी

से अध्ययन मनोविज्ञान में जीवविज्ञान और शिक्षाशास्त्र के क्षेत्रों से आया। महान जीवविज्ञानी डार्विन ने नवजात शिशु के व्यवहार का अध्ययन पशु और मनुष्य की टूटी कड़ी का पता लगाने के लिए किया था। डार्विन ने अपने लड़के के विकास का विवरण रखा। इससे और लोग भी बच्चों के विकास का विवरण रखने लगे। जर्मनी के विलियम प्रेयर ने अपने बच्चे के पहले तीन वर्षों के व्यवहार के विकास की वृद्धि का विवरण रखा और उसे 1881 में प्रकाशित किया। प्रेयर को प्रायः बाल मनोविज्ञान का जनक कहा जाता है। वह शरीरविज्ञानी और भ्रूणविज्ञानी था और चूजों, खरगोशों और गिनीपिगों के भ्रूण-विकास का अध्ययन करता था। प्रेयर का अनुकरण करते हुए अनेक विज्ञानियों ने अपने-अपने बच्चों के विकास के लेखे को प्रकाशित किया। किंतु ये अध्ययन पर्याप्त नहीं थे; क्योंकि वे प्रेक्षकों के अपने बच्चों का अध्ययन थे। किंतु इसमें अमरीका में गेसेल ने और जर्मनी में चार्लेट बीलर ने सैकड़ों बच्चों का सावधानी से अध्ययन किया जिससे बच्चों के विकास के अध्ययन की वैज्ञानिक नींव पड़ सकी।

उन्नीसवीं सदी में यूरोप और अमरीका में व्यापक शिक्षा के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बाल-उद्यानों की स्थापना की गयी थी, जिससे बच्चे जल्दी से जल्दी शिक्षा का लाभ उठा सकें। किंतु जल्दी ही पता चल गया कि सभी बच्चों को शिक्षा से प्रत्याशित लाभ नहीं मिला।

पेरिस के मनोविज्ञानी अल्फ्रेड बिने ने यह जानने की कोशिश की कि पेरिस के सभी विद्यालयों के बच्चे शिक्षा से बराबर लाभ क्यों नहीं उठा पाते। बिने ने बच्चों की मानसिक आयु का निर्धारण करने के लिए और बच्चों और प्रौढ़ों दोनों की बुद्धि मापने और व्यक्तिगत भेदों को जानने के लिए एक मापनी बनायी।

उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक में फ्रायड द्वारा मानसिक अपसामान्यताओं के अध्ययन से बच्चों की वृद्धि के अध्ययन को नयी दिशा मिली। फ्रायड के अनुसार तंत्रिकाताप बचपन में दोषपूर्ण विकास के कारण होते हैं। इसी प्रकार आस्ट्रिया के मनश्चिकित्सक एडलर ने मानवीय वृद्धि में बचपन के महत्त्व को सिद्ध किया और शिशुनिर्देशन-गृह स्थापित करने में सहायता दी। इन शिशुनिर्देशन-शालाओं में फ्रायड की नैदानिक पद्धति और बिने की बुद्धि-परीक्षण पद्धति का प्रयोग कर बच्चों की कठिन समस्याओं का हल ढूंढ़ने में सहायता की जाती थी।

अमरीका के वाट्सन ने भी, जिसने अंतर्निरीक्षण प्रणाली पर आपत्ति की, बच्चों के विकास के अध्ययन में सहायता दी। उसने आग्रह किया कि मनोविज्ञानियों को प्रसूति अस्पतालों में जाकर शिशुओं के व्यवहार के विकास का अध्ययन करना चाहिए। उसने पता लगाया कि शिशुओं में केवल तीन प्रमुख संवेग होते हैं, क्रोध, डर और प्रेम। किसी आकस्मिक तेज आवाज या सहसा छोड़ दिये जाने पर शिशु को क्रोध आता है। दुलराए जाने पर वह प्रेम प्रदर्शित करता है। वाट्सन ने यह भी दिखाया कि बच्चे के संवेगों को अनुबंधित किया जा सकता है। उसने एक प्रयोग किया, जो आज एक क्लासिकी प्रयोग बन गया है। उसने एक साल के बच्चे अल्बर्ट का अध्ययन किया, जो पशुओं से खेला करता था। जब बच्चा खरगोश के साथ खेल रहा था तो वाट्सन ने एक जोर की आवाज पैदा की। यह देखा गया कि अल्बर्ट तब से खरगोश से डरने लग गया। यह भी देखा गया कि वह अन्य पशुओं और झबरी चीजों से डरने लगा। इस प्रकार वाट्सन ने यह सिद्ध किया कि बच्चों और प्रौढ़ों के बहुत से डर उनके प्रारंभिक जीवन में हुए ऐसे ही अनुबंधनों से होते हैं।

पैदा होते ही बच्चे में ऐसे बहुत से जटिल प्रतिवर्त होते हैं, जिनके कारण वह सांस लेता है, दूध पीता है और मलमूत्र त्यागता है। वह हाथ-पैर भी हिलाता और फेंकता है, जो बिल्कुल असमन्वित होता है। ये क्रियाएं न तो बच्चे को संतोष देती हैं और न ही उसके परिवेश का नियंत्रण करने में सहायक होती हैं। दस दिन का होने पर बच्चा अपनी आंखों और गर्दन की पेशियों पर नियंत्रण कर लेता है। वह किसी भी चमकीली चीज को टकटकी बांध कर देख सकता है। वह स्तन पाने के लिए अपनी गर्दन घुमा सकता है। अगर उसे पेट के बल लिटा दिया जाये, तो वह सांस लेने के लिए अपनी दबी हुई नाक को अपना सिर घुमाकर निकाल सकता है। कुछ ही हफ्तों बाद वह अपनी ठोड़ी और बाद में छाती को उठा सकता है। तीन महीने तक वह अपनी आंख और गर्दन की पेशियों पर काफी नियंत्रण कर लेता है और वह झुककर अपने पैर की उंगलियों को पकड़ सकता है। वह दूध की बोतल भी पकड़ सकता है और उसे अपने

मुंह के पास ला सकता है। बच्चा पहले अपने मुंह से ज्ञान प्राप्त करता है। छठे महीने तक वह किसी चीज को एक हाथ से दूसरे हाथ में ले सकता है। कुर्सी या गोद में बिठाये जाने पर वह आराम से बैठ सकता है। वह हाथों और धड़ की पेशियों पर काबू पा लेता है। नवें महीने तक वह अपना अंगूठा पकड़कर उससे खेल सकता है। वह अकेला बैठ सकता है और हिलडुल सकता है। खड़े किये जाने पर वह अपने पैर मज़बूती से जमा सकता है। बाद में वह फर्श पर अपने पैरों और घुटनों के सहारे चल सकता है। एक साल का होने पर वह अपने-आप खड़ा हो सकता है और अठारह महीने का होने पर वह चलकर इधर-उधर जा सकता है। इस प्रकार बच्चे का सिर से पैर तक का पेशीय विकास एक नियमित ढंग से होता है।

संवेगात्मक विकास की दृष्टि से बच्चे में शुरू-शुरू में जो सांवेगिक अभिव्यक्ति पायी जाती है, वह असुविधा होने पर रोने और लात मारने के रूप में होती है। आकस्मिक तेज आवाज सुनकर या सहसा छोड़ दिये जाने पर वह चौंकता भी है। क्रोध के संवेग की पहली अभिव्यक्ति होती है परोक्ष रूप से लात मारना और रोना। एक साल का होने पर बच्चा अपने को तंग करनेवाले को काटता या मारता है। दो साल का होते-होते जब वह भाषा जान लेता है, तो मारने या काटने के साथ बोलकर विरोध भी करता है। इस प्रकार सांवेगिक विकास पेशीय अभिव्यक्ति के स्थान पर मौखिक और प्रतीकात्मक बन जाता है। बच्चे के सांवेगिक विकास का एक पहलू है डेढ़ और ढाई साल के बीच उसका जिद्दी बनना या उल्टा काम करना और मचलना।

बच्चे में सामाजिक जीवन और खेलकूद का विकास भी क्रमबद्ध ढंग से होता है। बच्चा पहले उस व्यक्ति की ओर, जो उसकी देखभाल करता है, टकटकी लगाकर देखता है। उसके मुस्कराने पर बच्चा भी मुस्कराता है। बच्चा जब अपनी बांहों और उंगलियों पर नियंत्रण कर लेता है, तो वह अपनी मां के बालों से खेलता है। नौ महीने का होने पर बच्चे को अनेक खेल सिखाये जा सकते हैं। एक साल तक बच्चा प्रौढ़ों या बड़े बच्चों के साथ ही खेलता है। दो साल का होने पर वह प्रायः अकेला ही खेलता है। तीन साल का हो जाने पर वह अपनी ही उम्र के दो बच्चों के साथ खेलता है, जो अपने-अपने खिलौनों से एक साथ खेलते हैं। चार-पांच साल का होने पर बच्चा अन्य बच्चों के साथ मिलकर व्यवस्थित ढंग से खेल सकता है। इसी समय बच्चा खेल-खेल में तरह-तरह की भूमिकाएं अदा करता है, जैसे, दुकानदार की, पिता की, मां की इत्यादि।

शिशु पैदा होते ही पहले रोता है। पहले कुछ सप्ताहों तक वह केवल खांस या छींक ही सकता है। तीन महीने का होने पर जब मां उससे बातें करे, तो हूं-हूं कर सकता है और बुदबुदा लेता है। पांच-छह महीने का होने पर यदि कोई उससे बात करे या गाये तो वह अपना सिर उसकी तरफ घुमा सकता है। वह अपनी मां का ध्यान आकर्षित करने के लिए आवाजें भी निकालता है। सात-आठ महीने के बाद वह मम्मी, दादा आदि शब्द बोल सकता है। नवें महीने बाद वह अपना नाम लेनेवाले की तरफ देखने लगता है। एक साल तक वह कुछ शब्द सीख लेता है। खोजों से पता चला है कि डेढ़ साल का बच्चा लगभग बीस शब्द, दो साल का होने पर लगभग दो सौ शब्द, तीन साल तक नौ सौ शब्द और पांच साल तक लगभग पांच हजार शब्द बोल सकता है। इस प्रकार एक सामान्य बच्चा पांच साल का होने तक अपनी मातृभाषा को सही ढंग से और प्रवाहपूर्वक बोलना सीख लेता है।

हाल में किये गये अध्ययनों से यह पता चला है कि बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में मां-बाप की उसके प्रति अभिवृत्ति का बड़ा महत्त्व है। मां के प्यार के अभाव का बच्चे की वृद्धि पर विटामिनों की कमी से भी ज्यादा हानिकर प्रभाव पड़ता है। मां का प्यार पाने पर ही बच्चे को सुख मिलता है, नहीं तो वह स्नेह का भूखा रह जाता है, जिसका प्रभाव उसकी आगे होनेवाली वृद्धि पर पड़ता है। बच्चे को अतिसंरक्षण देना भी बहुत बुरा है। तब बच्चा आत्मनिर्भरता और पहल करने की क्षमता का विकास नहीं कर पाता। बड़े होने पर वह औरों का संरक्षण पाने की आशा करता है और उसके न मिलने पर वह कुंठित हो जाता है। बच्चे को कभी प्यार करना और कभी उसे प्यार न करना एक और दोष है। ऐसे बच्चे में भी असुरक्षा की भावना विकसित हो जाती है। लालन-पालन की इन्हीं गलतियों से बच्चे के व्यवहार की अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं, जैसे अंगूठा चूसना, बिस्तर पर पेशाब करना, ज्यादा खाना या बिल्कुल न खाना, नाखून चबाना, जिद्दी होना, उल्टे काम करना, हकलाना इत्यादि। किशोरावस्था

के प्रारंभिक वर्षों में बच्चा अपचारी बन सकता है और झूठ बोल सकता है, चोरी कर सकता है, यहां तक कि आग लगा सकता है और हत्या भी कर सकता है। बाद में प्रौढ़ होने पर उसमें विभिन्न प्रकार के मानसिक विकार पैदा हो सकते हैं। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि माता-पिता की अभिवृत्ति एक-दूसरे के प्रति, संबंधियों और पड़ोसियों के प्रति, बच्चे के प्रति और जीवन के प्रति अच्छी होनी चाहिए। तभी उनका बच्चा बढ़कर एक सुरक्षित और सुसमायोजित व्यक्ति बन सकता है।

4. समाज-मनोविज्ञान

केवल मनुष्य ही नहीं, बहुत से कीड़े, चिड़ियां और पशु भी समूह में रहते हैं। बच्चा भी एक परिवार में जन्म लेता है और परिवार के लोग उसका लालन-पालन करते हैं। इसलिए बच्चा कैसा है और उसका विकास कैसा होगा—यह उसके परिवार पर निर्भर करता है। इसलिए व्यक्तियों की वृद्धि और उनके व्यवहार को समझने के लिए सामाजिक परस्पर-क्रिया के पीछे जो बातें होती हैं, उनका विश्लेषण करना जरूरी है। यह क्षेत्र समाज-मनोविज्ञान का है। इसमें मनुष्यों और अन्य प्राणियों के समूह-जीवन का अध्ययन किया जाता है।

मनुष्य के अन्य मनुष्यों से संबंध को समझने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि मानवीय समूह किस प्रकार के होते हैं। बहुत समय पहले समाजविज्ञानी कूली ने प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के भेद पर जोर दिया था। प्राथमिक समूह में, जैसे परिवार या गांव में सब लोगों का एक-दूसरे से प्रत्यक्ष संबंध होता है। किंतु शहरों में लोगों का संबंध इतना व्यक्तिगत नहीं होता। शहरों में लोग अपने पड़ोसियों के बारे में ज्यादा नहीं जानते। कुछ स्थानों पर जैसे डाकघर, दुकान या कारखाने आदि में प्रत्यक्ष संपर्क भी होता है, लेकिन वहां भी संबंध द्वितीयक ही रहता है। हम दुकानदार को तो जानते हैं, किंतु हम उसके परिवार आदि के बारे में कुछ नहीं जानते। उससे हमारा संबंध निर्वैयक्तिक होता है। संबंध के एक और रूप को साधारणतया 'हमारा-उनका' संबंध कहा जा सकता है। एक ही परिवार के लोग अपनी ही जाति या पड़ोस के अन्य परिवार को अपने से अलग समझते हैं। किसी सामाजिक संकट के समय एक ही जाति या पड़ोस या देश के लोग किसी दूसरे समूह के विरोध में अपने को एक ही समूह का समझ सकते हैं। इस तरह धर्म, जाति या राष्ट्रीयता आदि के आधार पर बने समूह-संबंध वर्ग-संघर्ष के समय समूह में एकता लाने के लिए बड़े शक्तिशाली होते हैं।

स्थूल रूप से हम मनुष्यों को तीन प्रकार के समूहों में बांट सकते हैं। पहले प्रकार का समूह तो वह होता है, जिसमें एक-साथ रहा जाता है। उदाहरण के लिए, बाजार में रहनेवाले एक साथ रहते हैं, क्योंकि उनके रहने का क्षेत्र बड़ा सीमित होता है। यहां कुछ न कुछ पारस्परिक प्रभाव पड़ता है, किंतु वह बड़ा कृत्रिम होता है। प्रयोगों से पता चला है कि दूसरों की उपस्थिति का हमारे व्यवहार पर काफी प्रभाव पड़ता है। एक मामूली दृष्टांत दिया जा सकता है। साइकिल चलाते समय कोई व्यक्ति किसी दूसरे साइकिल चलानेवाले से आगे जाने की कोशिश करता है, यद्यपि वह व्यक्ति उसे नहीं जानता और न ही उसके आगे जाने की कोई परवाह करता है। दूसरे प्रकार का व्यवहार सामूहिक होता है। स्थूल रूप से हम भीड़ और श्रोतागण में भेद कर सकते हैं। भीड़ सक्रिय होती है जबकि श्रोतागण निष्क्रिय होते हैं। दोनों में ही व्यक्ति एक-दूसरे को नहीं जानते और उनका समूह आकस्मिक, अस्थायी और अव्यवस्थित होता है। श्रोतागण या तो जानकारी पाने के लिए जमा होते हैं, जैसे किसी व्याख्यानकक्ष में, या मनोरंजन के लिए जमा होते हैं, जैसे सिनेमाघर में। इसके विपरीत भीड़ बड़ी सक्रिय होती है और कभी-कभी आक्रामक भी। वह अन्य लोगों पर या उनकी संपत्ति पर हमला भी कर सकती है। डर जाने पर भीड़ पलायक भी हो सकती है, जो स्थिति से बचने के लिए भागती है, जैसे किसी जगह आग लग जाने पर। भीड़ अभिव्यंजक भी हो सकती है, जैसे गणतंत्र दिवस या राष्ट्रीय उत्सवों पर। भीड़ श्रोता भी बन सकती है और श्रोतागण भीड़ बन सकते हैं। उदाहरण के लिए क्रुद्ध या आतंकित भीड़ किसी बड़े नेता के आने पर उसका भाषण सुनने के लिए श्रोता बन सकती है। इसी प्रकार किसी सिनेमाघर के श्रोता सिनेमा पसंद न आने पर भीड़ बन सकते हैं। इसी संभावना को ध्यान में रखकर जहां लोगों का भारी जमाव होता है, वहां पुलिस तैनात कर दी जाती है।

यह पता लगाने के लिए पिछले दिनों काफी अध्ययन किया गया है कि समूह कैसे बनते हैं। किसी सड़क पर या बाजार में अनेक लड़के आपस में मिलते हैं, तो एक अनौपचारिक समूह बन जाता है, किंतु समूह सामाजिक अंतर्क्रिया का परिणाम होता है। यह भी देखा गया है कि ऐसे अनौपचारिक समूह तभी बने रह पाते हैं जब उनके पास सबकी रुचि का कोई काम हो, जैसे, कोई खेल खेलना या साहसिक काम करना। ऐसे समूह के संबंध भी सोपानवत् होते हैं और उनमें नेता-अनुयायी का संबंध होता है। इस प्रकार औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही समूहों में काफी समानता होती है। औपचारिक समूहों में तो संगठन और अन्य कार्य निश्चित, स्थापित नियमों के अनुसार होते ही हैं, किंतु अनौपचारिक समूह भी कुछ नियमों को मान लेता है।

जब कई लोग मिलते हैं, तो वे विभिन्न प्रकार की सामाजिक अन्तर्क्रिया करते हैं। दूसरों की उपस्थिति में हम ज्यादा सक्रिय और बातूनी हो सकते हैं, जैसे किसी चाय या डिनर पार्टी में लोग एक-दूसरे से खूब बातें करते हैं और अक्सर हंसते हैं। किंतु दूसरों की उपस्थिति में अपने को दबाया भी जा सकता है। किसी अपरिचित के आ जाने पर हम कुछ देर के लिए बातचीत करना बंद कर देते हैं। इसके अलावा अनुकरण भी किया जाता है। हमारे कपड़े पहनने, व्यक्तिगत आदतों और विचारों पर प्रचलित फैशन का प्रभाव पड़ता है। भीड़ के व्यवहार पर भी अनुकरण का भारी प्रभाव पड़ता है। भीड़ में अगर कोई चिल्लाने लगे, तो सभी चिल्लाने लगते हैं। सामाजिक अंतर्क्रिया पर संसूचन का भी प्रभाव पड़ता है। वक्ता अगर लोगों की सामान्य शिकायतों के बारे में बोल रहा हो, तो भीड़ उसकी बातों को बिना आलोचना किये स्वीकार कर लेती है। विज्ञापनदाता इसी युक्ति का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि अमुक चीज का प्रयोग चूंकि सभी कर रहे हैं, इसलिए आपको भी करना चाहिए। अगर किसी बैंक का दिवाला निकलने की अफवाह फैल जाये, तो सभी अपना पैसा निकालने को दौड़ पड़ते हैं और इससे अच्छा बैंक भी खतरे में पड़ जाता है। जिस प्रकार हम दूसरों के कामों का अनुकरण करते हैं, उसी प्रकार उनके विचारों का भी करते हैं। इसे सहानुभूति कहा जाता है। अनुभूतियां छूत की तरह बन सकती हैं। दूसरे जो अनुभव कर रहे हैं, उसकी अनुभूति न करना बड़ा कठिन है।

सामाजिक व्यवहार को समझने में हमें एक और प्रत्यय से सहायता मिलती है और वह है समाजीकरण का प्रत्यय। जैसा कि हम जानते हैं, नवजात बच्चों के भेद शारीरिक होते हैं जैसे वजन या रंग के। किंतु 5 से 10 साल तक की आयु होने पर बच्चे किसी समूह के विशिष्ट अंग बन जाते हैं। वे समूह के तौर-तरीकों को सीख जाते हैं। उनका सीखना बहुत-कुछ अनुबंधन के स्तर पर होता है। वे अपने समूह की भाषा सीखकर उसे इस प्रकार बोलते हैं, मानो उन्होंने अपनी मातृभाषा 'सीखी' ही न हो। किसी दूसरी भाषा को सीखने पर ही हमें यह लगता है हम भाषा 'सीख' रहे हैं। बचपन में और उसके बाद हमारी बहुत-सी अभिवृत्तियां बनती हैं, जिनके कारण हम अपने समूह के विशिष्ट सदस्य बनते हैं। हमारी अभिवृत्तियां अपने परिवार और देश के बारे में ही न बनकर उच्च मूल्यों जैसे सत्य, शिव और सुंदर के प्रति भी बनती हैं और इनका बनना उस विशिष्ट समूह पर निर्भर होता है, जिसमें हम पैदा होते हैं और पाले-पोसे जाते हैं।

सामाजिक व्यवहार में जो एकरूपता होती है, वह बहुत हद तक मत-निर्माण के लिए जनसंपर्क साधनों के कारण होती है। समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा आदि जनसंपर्क के साधन हैं और व्यवहार में एकरूपता लाने में उनका बड़ा महत्त्व है।

5. अपसामान्य व्यवहार

हम देख चुके हैं कि पशुओं और मनुष्यों के सामान्य व्यवहार का अध्ययन किस प्रकार किया जाता है। यह भी देखा जा चुका है कि पशु और बच्चे के व्यवहार में मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं किस साधारण ढंग की होती हैं। जिस प्रकार साधारण व्यवहार से व्यवहार के ज्यादा जटिल पक्ष को समझने में सहायता मिलती है, उसी प्रकार व्यवहार की अपसामान्यताओं को समझ लेने से सामान्य व्यवहार के सिद्धांतों पर भी काफी प्रकाश पड़ता है।

व्यवहार की अपसामान्यताएं अनेक प्रकार की होती हैं। उदाहरण के लिए, हमने कभी-कभी किसी व्यक्ति को फटे चीथड़े पहने बगल में कागजों का गट्ठर दबाये

जाते देखा होगा। अगर उससे पूछा जाये कि इस गट्ठर में क्या है, तो वह कह सकता है कि गट्ठर में उसकी जायदाद से संबंधित कागजात हैं, जिसे उसके शत्रुओं ने हड़प लिया है और वह अपनी जायदाद वापस लेने की कोशिश कर रहा है। इसी प्रकार कोई दूसरा यह कह सकता है कि सभी मंत्रियों, पुलिस के लोगों और नागरिकों ने उसको पकड़वाने की गहरी चाल चल रखी है। हमने ऐसे लोगों को भी देखा है, जो बड़े सक्रिय और जोशीले होते हैं और सड़क पर गाते या शोर मचाते चलते हैं, या जो नहीं बोलते और बोलने पर भी जवाब नहीं देते। इस प्रकार हम व्यवहार की अपसामान्यताओं के अनेक प्रकार देखते हैं। ऐसे व्यवहार का अध्ययन करना और उसकी विशेषताओं और कारणों का पता लगाना अपसामान्य मनोविज्ञान का काम है।

हम व्यवहार की अपसामान्यता के दो पहलुओं में भेद कर सकते हैं। अपसामान्य शब्द का अर्थ किसी मानक या औसत से विचलन है। हम उस व्यवहार को अपसामान्य कहते हैं, जो दुनिया के अन्य बहुत-से लोगों के व्यवहार की तरह नहीं होता। यह ठीक है कि व्यवहार में परिवर्तनशीलता होती है, किंतु व्यवहार को अपसामान्य तब कहा जाता है जब विचलन बहुत ज्यादा होता है। इसके अतिरिक्त अपसामान्य व्यवहार में समायोजन की भी कमी होती है। सामान्य व्यवहार सुसमायोजित व्यवहार होता है, किंतु जब व्यक्ति अपना समायोजन ठीक से नहीं कर पाता, तो हम उसके व्यवहार को कुसमायोजित या अपसामान्य कहते हैं। जिस व्यक्ति को भ्रांतियां होती हैं, जो समाज से दूर भागता है, जिसकी मनोवैज्ञानिक क्रियाएं गड़बड़ होती हैं, जो अत्यधिक उल्लसित या अत्यधिक अवसादमय रहता है उसे अपसामान्य समझा जाता है। ऐसा व्यक्ति सक्रिय सामाजिक समायोजन नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त वह जीवन के प्रयोजन को भी प्राप्त नहीं कर पाता। इन मनोवैज्ञानिक विकारों में आचरण की, प्रत्यक्ष करने की, विचार करने और समायोजन करने की अपसामान्यताएं होती हैं। अपसामान्यता तंत्रिकातंत्र या मस्तिष्क के किसी विकार या कमी के कारण हो सकती है, या वह उनके सामान्य रहते हुए भी ठीक से कार्य न करने के कारण हो सकती है।

सन् 1880 के आसपास आस्ट्रिया के दो मनश्चिकित्सक ब्रायर और फ्रायड हिस्टीरिया के एक रोगी का इलाज कर रहे थे। उन्होंने देखा कि रोगी के व्यवहार की अपसामान्यता का कारण कोई शारीरिक दोष न होकर कार्यात्मक था। फ्रायड ने मनोविश्लेषण का विकास किया, जो अपसामान्य व्यवहार का निदान और चिकित्सा करने की एक विशेष प्रणाली है। अपसामान्य व्यवहार के बारे में आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि अपसामान्यता व्यक्ति ने क्या सीखा है और वह क्या नहीं सीख पाया है—पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में अपसामान्य व्यवहार के कारण को सीखने में ढूंढ़ा जा सकता है। खोजों से पता चला है कि प्रौढ़ों की अनेक अपसामान्यताएँ बचपन और बाद में पर्याप्त समायोजन न कर सकने के कारण उत्पन्न होती हैं। नवजात शिशु अधिकांश समय सोता ही रहता है। जब वह भूखा होता है, तो तब तक रोता रहता है जब तक मां आकर उसकी भूख को शांत न कर दे। अच्छे मानसिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है खाने की आदतों में संयम। मां यह संयम जीवन के पहले महीने से ही शुरू कर देती है। इसलिए छोटे बच्चे को भी कुंठित करनेवाले अनेक अनुभव होते हैं। फ्रायड और एडलर ने यह सिद्ध किया है कि छोटा बच्चा अपने द्वंद्वों और कुंठाओं का जिस ढंग से सामना करता है, वह उसके बाद के व्यवहार को प्रभावित करता है। मानसिक द्वंद्व हमेशा बहुत विक्षुब्धकारी होता है। उससे सांवेगिक तनाव, चिड़चिड़ापन, दुश्चिंता, अवसाद आदि पैदा होते हैं। एक सुविकसित व्यक्ति अपने द्वंद्व का समाधान स्थिति पर और अपने बारे में विचार करने के बाद कोई उचित निर्णय लेकर कर सकता है; किंतु वह उस स्थिति में अपनी आवश्यकताओं को कैसे संतुष्ट कर सकता है, जिसमें वह अपने को असहाय पाता हो। हम जिन साधनों से अपने मानसिक द्वंद्वों का समाधान करते हैं, उन्हें फ्रायड ने रक्षा-युक्तियां कहा है। ये रक्षा युक्तियां हमारे द्वारा सीखी गई समायोजी आदतें होती हैं। जब किसी विफलता के कारण कुंठा होती है, तो हीनता की भावना का होना अनिवार्य है। किंतु बहुत-से लोग समस्या और कुंठा दोनों को वस्तुपरक ढंग से नहीं देख पाते। स्थूल रूप से रक्षा-युक्तियों का वर्गीकरण आक्रामक युक्तियों और समाहारी युक्तियों में किया जा सकता है। अपनी शारीरिक योग्यताओं के बारे में हीनता-भावना रखने वाला लड़का कक्षा में

शरारत और खेल के मैदान में दूसरों को तंग कर सकता है। वह यह दिखाने के लिए कि उसे कोई पकड़ नहीं सकता, चोरी भी कर सकता है, या वह अपनी विफलताओं की प्रतिपूर्ति के लिए अपनी हाबियां या अन्य कामों में रुचि बना सकता है। कोई और व्यक्ति बड़े लोगों और बड़े संगठनों से संपर्क बनाकर अपने को संतुष्ट कर सकता है, या वह अपने को इस भ्रांति में डाल सकता है कि वह कोई राजा या ईश्वर है। जो लोग कुछ इच्छाओं को स्वयं नहीं अपनाना चाहते, उन्हें दूसरों में देखते हैं। यह प्रक्षेपण है। धोखेबाज आदमी अन्य लोगों को धोखेबाज समझता है। कुंठित व्यक्ति सामाजिक समायोजन के सभी प्रयत्नों को छोड़कर, दूसरों के साथ न रहकर अकेला रहना पसंद कर सकता है। मनोविदलता (विभक्त मनस्कता) रोग में बहुत ज्यादा पाया जाने वाला और बहुत ही गम्भीर मनोविकार वह होता है, जिसमें रोगी किसी भी तरह का सामाजिक संपर्क नहीं रखता। ऐसा व्यक्ति महीनों तक कुछ नहीं बोलता और अपने से मिलने वालों की अवहेलना करता है।

मानसिक द्वंद्वों का समाधान कभी-कभी विघटन द्वारा होता है। सामान्य व्यवहार में व्यवहार की एकता होती है। हिस्टीरिया के रोगी में विघटन होता है और उसके व्यक्तित्व का कोई खंड उसके शेष व्यक्तित्व से विच्छेदित हो जाता है। उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, जिससे उसे यह याद नहीं रहता कि उसने हिस्टीरिया की स्थिति में क्या किया था।

फ्रायड ने यह सिद्ध किया है कि व्यवहार की अपसामान्यताओं का कारण बचपन की कुंठाओं से पैदा होनेवाले मानसिक द्वंद्वों में होता है। बच्चे के संवेग बड़े प्रबल होते हैं। इन संवेगों का दमन हो जाता है, जिससे हम उनके प्रति अचेतन रहते हैं। ये अचेतन प्रवृत्तियां हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। मनोविश्लेषण द्वारा जब इन दमित स्मृतियों और अनुभूतियों को याद कराया जाता है, तो व्यक्ति अपने को फिर समेट लेता है और सामान्य ढंग से समायोजन कर सकता है।

6. विभेदक मनोविज्ञान

जीवन की सबसे प्रभावशाली बात है व्यक्तिगत भेदों का होना। कुछ भारतीय भाषाओं में यह कहावत है कि पांचों उंगलियां बराबर नहीं होतीं, जिसका उद्धरण व्यक्तिगत भेदों को बताने के लिए किया जाता है। भारत में न केवल विद्वान वरन् जनसाधारण भी व्यक्तिगत भेदों के महत्त्व को बहुत पहले से स्वीकार करते रहे हैं, चाहे वे भेद शारीरिक विशेषताओं के हों, जैसे डील-डौल, चेहरे-मोहरे आदि के, या मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के। हिंदू सामाजिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है वर्ण-व्यवस्था। और यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक भेदों को ही आधार मानकर नहीं बनायी गयी थी, बल्कि इन वैयक्तिक भेदों की निरंतरता को ध्यान में रखकर इस विश्वास पर बनायी गयी थी कि ये व्यक्तिगत भेद विभिन्न वर्णों में आनुवंशिक कारणों से होते हैं। इसी प्रकार यूनानी विचारक प्लेटो ने व्यक्तिगत भेदों की समस्या पर चर्चा की थी और उन लोगों को छांटने के लिए एक प्रकार के अभिक्षमता-परीक्षण का सुझाव भी दिया था, जो सैनिक बनने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हों।

वर्तमान सदी में मानवीय व्यवहार के अनेक पहलुओं के संदर्भ में व्यक्तिगत भेदों को मापने के लिए अनेक प्रकार के परीक्षण किये जाने लगे हैं।

पिछली सदी में खगोलवेत्ताओं ने पाया कि किसी घटना का सही समय नोट करने की गति प्रत्येक व्यक्ति की अलग होती है और उन्होंने इसे 'वैयक्तिक समीकरण' का नाम दिया। यह कहा जा सकता है कि खगोल-प्रयोगशाला में होने वाली त्रुटि की इस खोज से ही व्यक्तिगत भेदों को मापने का प्रयत्न आरंभ हुआ। 1880 के बाद इंग्लैंड और जर्मनी में संवेदनों, अवधान, स्मृति और प्रतिक्रिया काल पर जो काम किया गया, उससे व्यक्तिगत भेदों को मान्यता मिली।

'मानसिक परीक्षण' शब्द का प्रयोग वास्तव में सबसे पहले अमरीकी मनोविज्ञानी कैटेल ने किया था। उसने लोगों की संवेदी और योग्यताओं को मापने के लिए अनेक परीक्षणों का प्रयोग किया। किंतु यह देखा गया कि परीक्षण द्वारा मापी गयी योग्यताओं में और शिक्षकों द्वारा छात्रों की अनुमानित सामान्य योग्यता में कोई संबंध नहीं है। 1895 में फ्रांस के बिने ने उस समय प्रचलित परीक्षणों का विश्लेषण किया और यह दिखाया कि उन सभी में संवेदी और प्रेरकीय पक्ष की माप पर जोर दिया

जाता है और कल्पना तथा समझ जैसी जटिल प्रक्रियाओं के परीक्षण की चेष्टा नहीं की जाती। 1897 में जर्मनी के एबिंगहाउस ने बुद्धि विषयक यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि बुद्धि विभिन्न अनुभवों का समाकलन करने की योग्यता है और उसने इस योग्यता को मापने के लिए वाक्य-पूर्ति का परीक्षण शुरू किया। उसने देखा कि उम्र बढ़ने और स्कूल में ग्रेड पाने के साथ-साथ बच्चों के प्राप्तांक भी नियमित रूप से बढ़ते हैं। इस प्रकार उसने बिने की इस मान्यता का समर्थन किया कि जटिल प्रक्रियाओं से व्यक्तिगत भेद अधिक स्पष्टता से सामने आते हैं। 1904 में फ्रांस के शिक्षामंत्री ने फ्रांस के स्कूलों के बच्चों में भेद होने का कारण पता लगाने के लिए एक समिति नियुक्त की। इसके परिणामस्वरूप बिने ने 1905 में बुद्धि मापने के लिए अपनी मापनी बनायी। इसमें 80 समस्याएं थीं और उनका क्रम उनकी कठिनता के अनुसार रखा गया था। 1908 में बिने ने मापनी में सुधार किया और परीक्षण का वर्गीकरण आयु-स्तर के अनुरूप कर मानसिक आयु की धारणा को विकसित किया। तब से संसार के विभिन्न देशों में इन परीक्षणों का सुधार, अनुवाद और रूपांतरण होता रहा है। भारत में पंजाब के डाक्टर राइस ने 1929 में बिने-मापनी का प्रकाशन हिंदी में किया। डाक्टर कामथ ने अपनी बिने-मापनी का प्रकाशन मराठी और कन्नड़ में 1935 में किया।

जल्दी यह मालूम हो गया कि बिने के ढंग के परीक्षण बहुत कुछ भाषाज्ञान पर निर्भर हैं और इसलिए अनपढ़ों, वाग्विकारी लोगों, बहरे लोगों आदि के परीक्षण के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसलिए ऐसे परीक्षण बनाने की चेष्टा की गयी, जिनमें भाषा के प्रयोग की आवश्यकता न हो। ऐसे परीक्षणों को आजकल निष्पादन परीक्षण कहा जाता है। इन परीक्षणों में गुटकों, ज्यामितीय रूपों, साधारण चीजों के चित्रों आदि का प्रयोग किया जाता है। सबसे पहले मानकीकृत निष्पादन-मापनी पिंटनर-पैटर्सन ने 1917 में बनायी थी।

अनेक लोगों के व्यक्तिगत भेदों का अध्ययन एक साथ कर सकने के लिए बुद्धि के सामूहिक परीक्षण बनाने के भी प्रयत्न किये गये। 1917 में जब अमरीका पहले विश्वयुद्ध में कूदा, तो बुद्धि के सामूहिक परीक्षण की समस्या बड़े गंभीर रूप में सामने आयी। अमरीकियों को कम से कम समय में पंद्रह लाख से ज्यादा लोगों को सेना में भर्ती करना था। इसलिए उन्हें सेना के विभिन्न कामों के लिए लोगों का त्वरित वर्गीकरण करने के लिए किसी न किसी उपाय की जरूरत थी। वे मानसिक दृष्टि से अपर्याप्त लोगों का पता लगाना और उन्हें निकालना भी चाहते थे। इससे दो समूह-मापनियां बनीं—एक तो 'सेना अल्फा मापनी', जिसमें भाषा का प्रयोग था, और दूसरी 'सेना बीटा मापनी', जो अशाब्दिक थी। युद्ध के बाद इन समूह परीक्षणों का प्रयोग स्कूल और कालेजों में प्रबंध की दृष्टि से और समायोजन में पिछड़ेपन के कारणों का पता लगाने के लिए प्रचुरता से किया गया।

मौखिक, आंकिक, देशिक, यांत्रिक आदि विशेष अभिवृत्तियों की माप करने के लिए भी परीक्षण बनाये गये।

इसी प्रकार व्यक्तित्व के भेदों की माप करने के लिए परीक्षण बनाये गये। सबसे पहले बनाये गये परीक्षणों में एक था 'मुक्त साहचर्य परीक्षण', जिसमें व्यक्ति से किसी शब्द को सुनने पर उसके मन में जो कुछ आता था, उसे कह डालने को कहा जाता था। जैसा कि पहले देखा जा चुका है, फ्रायड ने व्यवहार की अपसामान्यताओं का अध्ययन करने के लिए इस प्रणाली का प्रयोग किया था। युंग ने सौ शब्दों की एक सूची बनायी और लोगों से कहा कि वे प्रत्येक शब्द को सुनें और सुनने पर उनके मन में जो पहला शब्द आये, उसे बतायें। उसने प्रत्युत्तर देने में लगे समय को लिखा, और प्रत्युत्तर कैसा था, इसका विश्लेषण किया। उसने इस परीक्षण का प्रयोग तंत्रिका-तापी व्यक्तियों की मनोग्रंथियों का और अपराध का पता लगाने के लिए किया। व्यक्तित्व का अध्ययन करने की एक और प्रणाली है लोगों से एक ही प्रकार के प्रश्न पूछकर उनके उत्तरों के आधार पर व्यक्तिगत भेदों का पता लगाना। एक और प्रणाली है उदारता, नेतृत्व, उद्यमशीलता, सांवेगिक नियंत्रण आदि व्यक्तिगत विभिन्न विशेषकों पर विचार करना। किसी व्यक्ति में कोई विशेषक कितना है, इसे जानने के लिए अन्य व्यक्तियों से यह पूछकर कि वे उसका कैसा निर्धारण करते हैं, निर्धारण-मापनियों का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग आत्मनिर्धारण के लिए भी किया जा सकता है। इस प्रणाली में अनेक दोषों के होते हुए भी यह अपने-आप को और दूसरों को समझने में बड़ा सहायक है।

स्विट्जरलैंड के मनोचिकित्सक रोर्शाक ने व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए मस्याकृतियों (स्याही के धब्बों) का परीक्षण किया। प्रत्येक व्यक्ति से मस्याकृति के कार्ड को देखकर अपनी प्रतिक्रिया बताने को कहा जाता है। यह देखा गया है कि इस प्रणाली से लोगों के विचारों, उनकी चिंताओं, डरों और अभिवृत्तियों का अध्ययन करना संभव है। व्यक्ति कार्ड में जो कुछ देखता है, उसे बताने के बहाने वह वास्तव में अपने बारे में बताता है। अमरीकी मनोविज्ञानी मरे ने लोगों को विभिन्न परिवेश में दिखाते हुए कई चित्र तैयार किये और लोगों से प्रत्येक चित्र को देखकर कोई कहानी बनाने को कहा। इसे कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण कहा जाता है। एक और परीक्षण वाक्य-पूर्ति-परीक्षण है जिसमें अधूरे वाक्य को पूरा करने को कहा जाता है। बच्चों की सांवेगिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए खेल का सहारा लिया जाता है। बच्चों को खिलौने, गुड़िया आदि देकर उनसे खेलने को कहा जाता है। बच्चे के खेलने का अध्ययन करके उसकी आवश्यकताओं और द्वंद्वों को समझ लेना संभव है। इसी प्रकार बच्चों के साथ वयस्कों के व्यक्तित्व की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए आरेखण करने और चित्र बनवाने का सहारा भी लिया जाता है। इस प्रकार की सभी प्रविधियों को 'प्रक्षेपी प्रविधियां' कहा जाता है; क्योंकि जब व्यक्ति इन अस्पष्ट स्थितियों या चित्रों के प्रति प्रतिक्रिया करता है, तो वह अपने विचारों, डरों और अभिवृत्तियों का प्रक्षेपण करता है।

व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए वस्तुनिष्ठ प्रणालियां भी बनायी गयी हैं। प्रयोगशाला में विभिन्न स्थितियों का सामना करने पर व्यक्ति जो विशिष्ट प्रतिक्रियाएं करते हैं, उनको समझने के लिए शरीर-क्रियात्मक परिवर्तनों, जैसे रक्तचाप, श्वसन, विद्युतत्वक्-अनुक्रिया का सहारा लिया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सैनिक अफसर बनने के इच्छुक उम्मीदवारों के नेतृत्व के गुणों का अध्ययन करने के लिए स्थितिक परीक्षण बनाये गये थे।

इन सब विभिन्न प्रकार के परीक्षणों के अतिरिक्त किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की समस्याओं को समझने के लिए साक्षात्कार प्रणाली को बहुत उपयोगी पाया गया है। महान मनोविज्ञानी फ्रायड ने इसी तकनीक का प्रयोग किया था और मानव-व्यक्तित्व के बारे में गंभीर तथ्यों का पता लगाया था।

पिछले कुछ वर्षों में योग्यता और व्यक्तित्व के आयामों को समझने के लिए आदर्श बनाने की कोशिश की गयी है। योग्यता-परीक्षणों और व्यक्तित्व-परीक्षणों का विश्लेषण करने के लिए सांख्यिकीय प्रविधियों का प्रयोग किया गया है और ऐसी संरचना की गयी है, जिससे इन समस्याओं को समझने में सहायता मिले। अब आम तौर से यह माना जाता है कि विभिन्न योग्यता-परीक्षणों में एक सामान्य कारक मौजूद रहता है। इसके अतिरिक्त दो बड़े समूह-कारक भी होते हैं: (क) शाब्दिक, आंकिक और शैक्षणिक तथा (ख) व्यावहारिक, यांत्रिक और दैशिक। ये दो बड़े समूह-कारक और भी छोटे समूह-कारकों में उपविभाजित होते हैं, जिससे अंत में कई विशिष्ट-कारक बन जाते हैं। व्यक्तित्व के प्रसंग में अब यह माना जाता है कि उसके दो आयाम होते हैं, जो परस्पर समकोणी होते हैं: (क) विश्वसनीय आग्रही, स्थायी बनाम अविश्वसनीय, अनाग्रही और अस्थायी, (ख) बहिर्मुखी सामाजिक बनाम अंतर्मुखी, असामाजिक। अब यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में व्यक्तित्व के इन दो बड़े गुणों का विशिष्ट मिश्रण होता है और इन विशेषकों को मापकर उसकी स्थिति को समझ लेना संभव है।

निस्संदेह यह नहीं भूलना चाहिए कि योग्यता और व्यक्तित्व के विशेषकों को जानने के ये प्रयत्न अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं। यह संभव है कि सतत प्रयत्न से हम आगे चलकर मानवीय योग्यताओं और मानवीय व्यक्तित्व की संरचना और उनके अंतर्संबंध को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकें।

—डा० बी० कुप्पुस्वामी

समाजविज्ञान : एक परिचय

समाजविज्ञान या समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञानों के परिवार में एक नया और महत्त्वपूर्ण सदस्य है। इस विज्ञान को आरंभ हुए केवल एक सौ तीस वर्ष ही हुए हैं, फिर भी इसकी ख्याति तथा उपयोगिता केवल विकसित देशों में ही नहीं, अपितु विकासोन्मुख देशों में भी बहुत तीव्रता से फैल चुकी है। विभिन्न मानव समाजों के विविध पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला यह नूतन विज्ञान मानव के ज्ञान की अभिवृद्धि में बहुत सहायक सिद्ध हो रहा है। यही कारण है कि न केवल समाजविज्ञानी, अपितु अन्य सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों के विद्वान तथा विद्यार्थी भी इसके विविध संप्रत्ययों, सिद्धांतों, विचारों और व्याख्याओं में रुचि लेने लगे हैं। पिछले पचास वर्षों में मानव सभ्यता के विकास-क्रम में कई रोचक और गंभीर परिवर्तन हुए हैं। विश्वयुद्ध, देशों के आपसी लड़ाई-झगड़े, आर्थिक उतार-चढ़ाव, वैज्ञानिक आविष्कार, संचार साधनों का प्रसार, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि, प्रजातंत्र के युग का आरंभ, नैतिकता तथा आचार-विचार के क्षेत्रों में अनेकानेक परिवर्तन, मानव मूल्यों में संघर्ष, आधुनिकीकरण, अशांति, चंद्रमा तथा मानव यात्रा व हाल में ही परख नली में निर्मित मानव शिशु, मानव शुक्र-जीवाणु को प्रयोगशाला में निर्मित करने में वैज्ञानिकों की सफलता आदि घटनाएं निस्संदेह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाएं हैं। इनके फलस्वरूप विभिन्न मानव समाजों में अनेकानेक सुखद और दुखद परिणाम और चुनौतीपूर्ण समस्याएं उत्पन्न हुई हैं, जिनके अध्ययन में समाज विज्ञानियों ने जिज्ञासा और धैर्य का परिचय दिया है और अब भी दे रहे हैं।

समाजविज्ञान के अस्तित्व, प्रसार व सही मूल्यांकन के लिए कुछ अवस्थाएं नितांत आवश्यक हैं। सब से पहले स्वतंत्रता की आवश्यकता है। बिना स्वतंत्रता के न तो कोई समाजविज्ञानी अपने अध्ययन के विषय में संबंधित मूल सामग्री तक पहुंच ही सकता है, और न उसका भली-भांति विश्लेषण करके उसे साहसपूर्वक विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत ही कर सकता है। वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों के पीछे कितना कुछ खोया और कितना कष्ट, विरोध और अपमान सहा है, यह मानव सभ्यता की कहानी जाननेवाले सभी व्यक्ति भली-भांति जानते ही हैं। समाजविज्ञानियों के लिए ऐसे महान अन्वेषक या खोजकर्ता प्रेरणा का स्रोत रहे हैं। अमरीका तथा इंग्लैंड में ऐसे सैकड़ों समाज-विज्ञानी हैं, जो अनेक विषयों पर निर्भय होकर शोध कर रहे हैं और जिन्हें वहां की सरकारें, प्रमुख राजनैतिक दल अथवा प्रभावशाली व्यक्ति पसंद नहीं करते हैं, लेकिन प्रजातंत्र के वातावरण में वे केवल अपना काम ही नहीं कर रहे हैं, अपितु यथोचित प्रेरणा व सहायता भी प्राप्त कर रहे हैं।

समाजविज्ञान के अध्ययनों की सार्थकता के लिए दूसरी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है संबंधित वैज्ञानिक को उसके विषय की सामग्री के बारे में व्यक्तिगत जानकारी का होना। कोई भी समाजविज्ञानी सुनी-सुनायी या व्यक्तिगत साधनों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही अपना अध्ययन संपन्न करना उचित नहीं मानता। लेकिन वस्तुत: उसकी तीव्र उत्कंठा तो यही होती है कि वह मूल सामग्री तक पहुंच सके, उसे भली-भांति समझ सके और एकत्र कर उसका वांछित उपयोग कर सके। जो वैज्ञानिक अपने विषय संबंधी मूल जानकारी को जितनी निकटता और घनिष्ठता से प्राप्त करता है, उसकी उस विषय

पर उतनी ही गहरी और दृढ़ पकड़ होती है, तथा उसकी देन समाजविज्ञान को उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है। इसलिए समाजविज्ञान में अनुभवाश्रित शोध बहुत प्रचलित रहा है।

कर्मविषयकता अथवा निष्पक्षता के बिना समाजविज्ञान का कोई भी अध्ययन सार्थक नहीं होता। समाजविज्ञानियों से न केवल यह आशा की जाती है, अपितु उनको इस आदर्श और परंपरा में ही समाजीकृत और प्रशिक्षित किया जाता है कि वे अपने अध्ययनों के सभी कार्यों में अधिकाधिक निष्पक्ष हों। मानव होने के नाते उनमें भी राग, द्वेष, स्नेह, घृणा, सरल-कठिन आदि आधारों पर कार्य करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। लेकिन उनको इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाता है कि वे यथासंभव इस प्रकार की अभिनीतियों या द्वेषों से बच सकें और वे अपने निष्कर्षों को साहसपूर्वक प्रस्तुत कर सकें। समाजविज्ञान उनसे यही आशा रखता है, और निस्संदेह यह आशा बहुत सीमा तक पूरी भी हुई है।

समाजविज्ञान की शक्ति का रहस्य यह है कि वह संकुचित होकर स्वयं में ही समाया हुआ नहीं रहता, अपितु अन्य ज्ञान-विज्ञानों की सहायता लेकर भी अपने सम्मुख प्रस्तुत समस्याओं के अध्ययन में लगा रहता है। समाजविज्ञान के कई सिद्धांत, संप्रत्यय और प्राक्कल्पनाएं (हाईपोथिसेज) प्राकृतिक विज्ञानों और अन्य सामाजिक विज्ञानों से निस्संकोच ली गयी हैं। एक समाजविज्ञानी अपने विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों के विषय में भी अधिक जानकारी रखता है। उसका ज्ञान मानव-समुदायों के ऐतिहासिक तथा तत्कालीन स्वरूपों की तुलना पर आधारित होने के फलस्वरूप अपेक्षाकृत गहरा और महत्त्वपूर्ण होता है। इस विशेषता ने समाजविज्ञान को सदैव जीवित और विस्तृत होते रहनेवाला विज्ञान बनाया है।

समाजविज्ञान का विकास

यह सत्य है कि हमें विभिन्न देशों के प्राचीन दार्शनिकों, धर्म-गुरुओं, राजनीतिज्ञों तथा अन्य विद्वानों की रचनाओं में ऐसे कई विचार, संप्रत्यय और पद देखने को मिलते हैं, जिनमें आधुनिक समाजविज्ञानियों की रुचि हो सकती है। लेकिन याज्ञवल्क्य, कौटिल्य, कान्फ्यूशियस, प्लेटो और उन जैसे अन्य प्राचीन विद्वानों को समाजविज्ञानी कहना कठिन होगा। कम से कम उन अर्थों में, जिनमें कि आजकल औपचारिक प्रशिक्षण और शोध कार्य के द्वारा समाजविज्ञानी बनते हैं।

अठाहरवीं शताब्दी के फ्रांसीसी और जर्मन दार्शनिकों और इतिहासकारों, जैसे, ऐबे-डी सैंट पीयेरे, ग्यांबेटीस्टा विको, मोंटेस्क्यू, वाल्टेयर, हर्डर, फलगूशन तथा उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों जैसे हीगेल, सेंट हाइमन, अगस्त काम्ते आदि ने समाजविज्ञान की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इंग्लैंड, फ्रांस और अमरीका में सामाजिक सर्वे अप आंदोलन के प्रमुख नेताओं, जैसे चार्ल्स बूथ, लीप्ले, उपटोन सिनक्लेयर और अन्य लोगों ने भी इस विज्ञान की उत्पत्ति और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। फ्रांस में अगस्त काम्ते व एमाइल दुर्खीम, जर्मनी में टोनिज़, सिमैल, मेक्स वेबर, इंग्लैंड में स्पेंसर तथा अमरीका में बार्ड आदि समाजविज्ञानियों ने इस नये विषय में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

औपचारिक रूप से समाजविज्ञान की उत्पत्ति का श्रेय सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक अगस्त काम्ते (1798-1857) को ही जाता है। अपने देश के तत्कालीन दार्शनिक सैंट साइमन की रुचि विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों का समुचित वर्गीकरण करने में थी। अपनी योजनाओं में उन्होंने सर्वप्रथम स्थान एक ऐसे विज्ञान को देना उचित समझा था, जिसका लक्ष्य समाज का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना हो। उनका मूल उद्देश्य यह था कि सामाजिक प्रगति को संभव बनाने के लिए मानव समाज में पुनर्गठन की एक समुचित वैज्ञानिक योजना बनायी जाये। उन्होंने अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान करते हुए सामाजिक भौतिकी (सोशियल फिजिक्स) नामक एक नये विषय की रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसके दो प्रमुख अंग थे—सामाजिक स्थितिकी (सोशियल स्टेटिक्स) तथा सामाजिक गतिकी (सोशियल डायनेमिक्स)। प्रथम अंग के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था के भागों की क्रिया-प्रतिक्रिया के नियमों की खोज करने का प्रयास किये जाने की व्यवस्था थी तथा द्वितीय अंग के अंतर्गत मानव समाज में विकास अथवा प्रगति का अध्ययन किये जाने की व्यवस्था की गयी थी। 1838 में सुविधा हेतु काम्ते ने सामाजिक भौतिकी के बदले दूसरा नाम समाजविज्ञान (सोशियोलजी)

प्रयुक्त किया। उसका तात्पर्य समाजविज्ञान को मानव समाज का एक वैज्ञानिक अध्ययन बनाना था, जिसके नियम प्राकृतिक जगत के नियमों की भांति यथासंभव अधिकाधिक विश्वसनीय तथा स्थायी महत्त्व के हों। उन्होंने प्रत्यक्षवादी दर्शन (पाजिटिव फिलासफी) को प्रसारित किया था, जिसकी सहायता से समाजविज्ञान की रूपरेखा निर्मित की गयी थी। काम्ते के ग्रंथों में 'प्रत्यक्षवादी दर्शन का पाठ्यक्रम' (छह खंड) तथा 'प्रत्यक्षवादी नीति की प्रणालियां' विशेष उल्लेखनीय हैं।

सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ दार्शनिक एवं समाजविज्ञानी हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने समाजविज्ञान विषय की प्रथम पाठ्य पुस्तक 'समाजविज्ञान के सिद्धांत' की रचना की थी। वे समाजविज्ञान के क्षेत्र में परिवार, राजनीति, धर्म, सामाजिक नियंत्रण, उद्योग, संघ समुदाय, विज्ञान आदि सब चीजों का समावेश करने पर बल देते थे। वे समाज की कल्पना एक जीवित प्राणी के शरीर से करते थे तथा यह मानते थे कि सामाजिक शरीर के विभिन्न तंतुओं के मध्य परस्पर स्थायी संबंध होता है। उनकी कृतियों ने समाजविज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

समाजविज्ञान सदैव फ्रांसीसी समाजविज्ञानी एमाइल दुर्खीम (1858-1917) का ऋणी रहेगा। उन्होंने समाज में श्रम-विभाजन, समाजशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति, आत्महत्या, धर्म, शिक्षा, नैतिक शिक्षा, समाजविज्ञान और दर्शनशास्त्र तथा आचारशास्त्र आदि विषयों पर आधिकारिक पुस्तकें लिखी थीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक तथ्य, सामूहिक प्रतिनिधित्व, सामाजिक एकता, प्रतिमानहीनता आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि किस प्रकार सामाजिक तथ्य वस्तुओं की भांति ठोस व स्थायी महत्त्व के होते हैं। उन्होंने क्षेत्रीय अध्ययन पद्धति तथा तुलनात्मक अध्ययन पद्धति के उपयुक्त प्रयोग किये थे। उनके कार्यों ने समाजविज्ञानियों को अत्यंत प्रेरणा और बल प्रदान किया है।

जर्मन समाजविज्ञानी मैक्स वेबर (1864-1920) ने समाजविज्ञान को एक ऐसा विज्ञान माना था, जो "सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध करने का प्रयास करता है, जिससे सामाजिक क्रिया की गतिविधियों और परिणामों की तर्कसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की जा सके।" उन्होंने आर्थिक जीवन, धर्म, नौकरशाही व सामाजिक वर्ग के क्षेत्रों में विशेष उल्लेखनीय कार्य किया था। उनके अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथों में हैं : 'प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद की भावना', 'हिंदू समाज व्यवस्था', 'चीन का धर्म', 'यहूदीवाद का मूल्यांकन', 'मेक्स वेबर : समाजविज्ञान पर निबंध', 'मेक्स वेबर : समाज विज्ञान की विधियां', 'आदर्श पुरुष', 'सामाजिक क्रिया', 'सत्ता' आदि।

इटली में विल्फ्रेडो पारेटो (1848-1923) नामक अर्थशास्त्री और समाजविज्ञानी ने उल्लेखनीय कार्य किया। वे समाजविज्ञान को 'तार्किक-प्रयोगात्मक विज्ञान' बनाना चाहते थे, जिसमें प्रत्यक्ष निरीक्षण वैषयिक अनुभवों तथा उनके आधारों पर तर्कसम्मत निष्कर्षों के निरूपण पर बल दिया जाता था। उनके ग्रंथों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है—'मन और समाज' (चार खंड)। उनकी मान्यता थी कि समाजविज्ञान का प्रमुख कार्य यही है कि वह सामाजिक घटनाओं का निष्पक्ष ढंग से वर्णन करे तथा उनमें दृष्टिगत होने वाली समानताओं के आधार पर सामाजिक नियमों की खोज करे। उन्होंने 'नयी संगत व अतर्कसंगत क्रियाओं तथा कारकों के सिद्धांत', 'विशिष्ट चालकों की अवधारणा', 'भ्रांत तर्कों की अवधारणा', 'अभिजात वर्ग के परिभ्रमण की धारणा', 'सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धांत' आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के संप्रत्ययों द्वारा समाजविज्ञान को समृद्ध बनाया था।

आधुनिक समाज विज्ञान का विकास मूलतः अमरीका में हुआ है। विगत शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों में कई वैज्ञानिकों और सामाजिक सर्वेक्षकों ने जनता और सरकार का ध्यान सामाजिक कुरीतियों को दूर करने की ओर आकृष्ट किया था। उनमें जेकोव रीज, लिंकन स्टिपेंस, उपटोन सिनक्लेयर, चार्ल्स डंडरमन, पाल केलाग, शेल्बी हैरीसन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अमरीका में समाजविज्ञान का शिक्षण सर्वप्रथम एल्बियन डब्लू० स्माल के नेतृत्व में शिकागो विश्वविद्यालय में हुआ था। स्माल समाजविज्ञान को मानव के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करने वाला एक सुसंगठित विज्ञान मानते थे। उनकी प्रमुख रचना 'सामान्य समाजशास्त्र' थी। वे रुचि को व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का केंद्रीय संप्रत्यय मानते थे। यद्यपि उन्होंने अमरीका में

समाजविज्ञान को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, तथापि उनकी सैद्धांतिक देन को कोई विशेष ख्याति प्राप्त नहीं हो पायी है। उनके प्रयास से ही 'दी अमेरीकन जरनल आफ सोशयलोजी' नामक विश्वविख्यात पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ था।

स्माल की भांति अन्य कई अमरीकी समाजविज्ञानियों ने समाज विज्ञान के विकास में योगदान किया। आरंभिक समाजविज्ञानियों में जोर्ज विन्सेंट, एडवर्ड हेज और जोन गिलिन ने ग्रामीण तथा धार्मिक संदर्भों में सामाजिक घटनाक्रमों का अध्ययन किया। लिस्टर बार्ड, थोमस, फ्लोरियन जिनेनकी, एडवर्ड हेज तथा एडवर्ड रोस भी प्रारंभिक समाजविज्ञानियों में से थे, जिनका आज भी बहुत मान है। बार्ड सामाजिक प्रगति के लिए समाजविज्ञान को एक महत्त्वपूर्ण यंत्र बनाना चाहते थे। स्टुअर्ट, चैमिन, विलियम आगबर्न, स्टुअर्ट राइस, जोन गिलिन आदि सामाजिक-समूहों को उनके प्राकृतिक अथवा वास्तविक परिवेशों में ही अध्ययन करने पर ही बल देते थे। विलियम आगबर्न का नाम सामाजिक परिवर्तन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत 'सामाजिक विलंबन सिद्धांत' की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। वे सांस्कृतिक तथ्यों की अंतर्वस्तु तथा शक्ति के अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग पर अत्यधिक बल देते थे। एल्सबर्थ फेरिस, लूथर बरनार्ड आदि ने समाज-मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्तियों के सिद्धांतों के आधार पर समाजविज्ञान का अध्ययन करने पर बल दिया। रीड बैन तथा रिंबाल ने 'वैयक्तिक अध्ययन पद्धति' तथा 'सांख्यिकी पद्धति' के प्रयोग पर बल दिया था। स्टुअर्ट राइस व हेनरी फेयर चाइल्ड ने इस बात पर बल दिया कि समाजविज्ञानियों को निरपेक्ष होकर कार्य करना चाहिए। फेयर चाइल्ड ने 'डिक्शनरी आफ सोशियोलजी' (समाजविज्ञान कोश) का संपादन किया, जो अभी तक प्राय: सभी समाजविज्ञानियों का सहायक ग्रंथ बना हुआ है। 1930 तक अधिकतर अमरीकी समाजविज्ञानियों ने निरपेक्ष रूप से समाजशास्त्रीय अध्ययन करने पर बल दिया।

चार्ल्स बेलै, जोर्ज हरबर्ट मोड, विलियम थोमस आदि ने समाजविज्ञान में सामाजिक अंतर्क्रिया (सोशल इंटर ऐक्शन) का दृष्टिकोण विकसित किया था और शिकागो विश्वविद्यालय में राबर्ट पार्क की अध्यक्षता में कई विद्यार्थियों ने 'सामाजिक संरचना और सामुदायिक संगठनों से संबंधित अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्ययन संपन्न किये थे।

शनैः शनैः आर्थिक तनावों एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप अमरीकी समाजविज्ञानी यह सोचने को प्रेरित हुए कि उन्हें समाजविज्ञान को केवल दुरूह सैद्धांतिक विषय बनाने के बदले सामाजिक प्रयोजनशील विज्ञान बनाने का प्रयास करना चाहिए। अत: अनेकानेक नये क्षेत्रों का विकास हुआ, तथा नागरिक समाजविज्ञान, संदेश वाहन का समाजविज्ञान, शिक्षा समाजविज्ञान, विज्ञान का समाजविज्ञान, लघु समूहों का समाजविज्ञान, जनमत का समाजविज्ञान आदि। 1818-1935 की अवधि में अंतर-अनुशासनीय अध्ययन पद्धति के प्रयोगों के युग का भी सूत्रपात हुआ।

1935-1966 की अवधि के अधिकतर अमरीकी समाजविज्ञानी इस विषय को उपयोगी बनाने का प्रयास करते रहे। कई समाजविज्ञानियों ने इस अवधि में विदेशी समाजविज्ञानियों तथा दुर्खीम, मैक्स वेबर, पारेटो और आस्ट्रियाई मनोविश्लेषक फ्रायड से प्रेरणा प्राप्त की। 1945 में अनेक अमरीकी समाजविज्ञानियों का ध्यान सांख्यिकी पद्धति पर आधारित समाजशास्त्रीय अध्ययनों की ओर आकर्षित करने का श्रेय जोर्ज लुंडबर्ग और उनके कुछ साथियों को दिया जाता है।

आधुनिक अमरीकी समाजविज्ञानियों में फ्लोरियन जिनेनकी, रोबर्ट मैकआइवर, होयार्ड बेकर, टालकोट पारसंस, रोबर्ट मर्टन, पिट्रीम सोरोकिन, एडवर्ड शिल्क, डेविस, जार्ज थामर्स, हेंसगर्थ सीराइट मिल्स, स्टुअर्ट चांपिन, ऐविन विलियम जूनियर, मेरियन जे० लेवी, हेरी जोनसन, एलेक्स इकेलीज, एस० एम० लिपसिग आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। राबर्ट मैकआइवर और चार्ल्स एच० पेज का ग्रंथ "समाज" (सोसाइटी) आज भी समाजविज्ञान के विद्यार्थियों का मुख्य ग्रंथ है; क्योंकि उसमें अनेक विषयों की व्याख्या की गयी है। हैरी, एम० जोनसन की पाठ्य पुस्तक 'समाजशास्त्र: एक विधिवत परिचय' एलेम इकेलीन की लघु पुस्तिका 'समाजविज्ञान क्या है ? पेशे और अनुशासन का परिचय', ग्रीन की पुस्तक 'समाजविज्ञान : आधुनिक समाज के जीवन का विश्लेषण' तथा नील जे० स्मेलर द्वारा संपादित

तथा 1967 में प्रकाशित पाठ्यपुस्तक 'समाजविज्ञान : एक परिचय' इस विषय में आज प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, जिनका उपयोग विश्वभर में समाजविज्ञानी और विद्यार्थी करते हैं।

सोरोकिन, पारसंस, मर्टन, डेविस, शिल्स आदि को आधुनिक समाजविज्ञानियों में सैद्धांतिक विचारकों के रूप में अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई है। उनकी रचनाओं में आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का सार मिलता है। राबर्ट मर्टन ने एक समाजशास्त्रीय अध्ययन-योजना का निर्माण किया है, जिसके अनुसार चलकर कोई भी समाजविज्ञानी किसी भी सामाजिक घटना का संतोषप्रद, संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक अध्ययन कर सकता है। समाजविज्ञान के विविध सिद्धांतों तथा पदों अथवा संप्रत्ययों का परिचय करानेवाली पुस्तकों में से कुछ विशेष उल्लेखनीय हैं, चार्ल्स पी० लूमिस व जोना के० लूमिस की पुस्तक 'आधुनिक समाज सिद्धांत', निकालेस एस० टिमाशेफ की 'समाजशास्त्रीय सिद्धांत', राबर्ट के० मर्टन की 'समाजशास्त्रीय सिद्धांत एवं सामाजिक ढांचा', टालकोट पारसंस की 'समाजशास्त्रीय सिद्धांत पर सामाजिक निबंध', लेवोलिन गोस की 'समाजशास्त्रीय सिद्धांत', 'अन्वेषण एवं प्रतिमान' आदि। हाल के कुछ वर्षों में अनेक अमरीकी प्रकाशकों ने इन पुस्तकों का प्रकाशन किया है। इन पुस्तकों के सस्ते भारतीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें टालकोट पारसंस की 'समाज : विकासवादी एवं तुलनात्मक परिदृश्य', एस० एन० आइजन स्टेड की 'आधुनिकीकरण : विरोध एवं परिवर्तन', थियोडोर एम० मिल्स की 'लघु समूहों का समाजविज्ञान', एमीटाई एटजोइनी की 'आधुनिक संगठन', मेलविन एम० ट्यूमियन की 'सामाजिक स्तर-विन्यास', विलबर्ड मूर की 'सामाजिक परिवर्तन', नील जे० स्मेंसर की 'आर्थिक जीवन का समाजशास्त्र' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनसे संबंधित अध्ययन-क्षेत्रों की उत्तम एवं आधुनिकतम जानकारी प्राप्त होती है।

अमरीका के अतिरिक्त इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, हालैंड, रूस, जापान, भारत, बेलजियम, पोलैंड, लातिन अमरीका, कनाडा आदि देशों में असंख्य समाजविज्ञानी हैं, जो समाजशास्त्र विषय को नित नये क्षितिज प्रदान करने में लगे रहते हैं। ब्रिटिश समाजविज्ञानियों में कार्ल मेनहीम, मोरिस जिसबर्ग, टी० बी० बोटोमोर, एफ० जी० बेली, ए० एच० हेल्स आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कार्ल मेनहीम को ज्ञान के समाजशास्त्र और विचार धाराओं के समाजशास्त्र के प्रमुख विद्वान के रूप में माना जाता है। मोरिस जिसबर्ग की पुस्तकें समाजशास्त्र की व्याख्या तथा सामाजिक मनोविज्ञान का परिचय देती हैं। टी० बी० बोटोमोर की 'समाजशास्त्र समस्याओं में पथ प्रदर्शक' में भारत में समाजशास्त्र की प्रगति तथा समस्याओं का एक उत्तम सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। एफ० जी० बेली ने भारत में आकर दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण शोधग्रंथों 'जाति एवं आर्थिक सीमांत' तथा 'जाति, उपजाति एवं राष्ट्र' के लिए शोध अध्ययन किया था।

समाजविज्ञान के प्रसार में अमरीकी सोशियोलोजीकल एसोशिएशन, सोशियोलोजिकल इंस्टीट्यूट इंग्लैंड, तथा देश-विदेशों में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाएं यथा 'अमरीकी जर्नल आफ सोशियोलोजी', 'ब्रिटिश जर्नल आफ सोशियोलोजी', 'यूरोपीयन जर्नल आफ सोशियोलोजी', 'अमेरिकन सोशियोलोजीकल रिव्यू', 'सोशियोलोजी एंड सोशियल रिसर्च', 'सोशियल फोर्सेज़', 'इंटरनेशनल जर्नल आफ सोशियल साइंसज', 'एशियन सर्वे', कंपरेटिव सोशियोलोजी', 'सोशियोलोजीकल बुलेटिन (भारत), इंडियन जर्नल आफ सोशियोलोजी', 'इंडियन जर्नल आफ सोशियोलोजीकल रिसर्च' आदि ने समाजविज्ञान को एक समृद्ध अध्ययन-क्षेत्र बनाने में बहुत योग दिया है। यूनेस्को, रसेल सेज फाउंडेशन, फोर्ड फाउंडेशन, अमेरिकन सोशियोलोजीकल एसोशियेशन आदि संस्थाओं ने भी इस विषय की प्रगति में सहायता प्रदान की है। विकासोन्मुख देशों की सरकारों और विश्वविद्यालयों ने इस विषय के अध्ययन में दिलचस्पी ली है। समाजविज्ञान में अब कई-कई शाखाएं तेजी से पनपती जा रही हैं, यथा आधुनिकीकरण का समाज विज्ञान, शांति का समाजविज्ञान, अहिंसा का समाजविज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का समाजविज्ञान, स्वचालित यंत्रों का समाजविज्ञान, राजनीति का समाजविज्ञान, परिवार-नियोजन का समाजविज्ञान आदि।

भारत में समाजविज्ञान का विकास

हमारे देश में समाज विज्ञान का इतिहास केवल पचास वर्षों का ही है। 1919 में यह विषय सर्वप्रथम बंबई विश्वविद्यालय में सर पेट्रिक गेडीज़ ने नागरिकशास्त्र

के साथ पढ़ाना आरंभ किया था। 1924 में जी० एस० धुरिये उनके उत्तराधिकारी और इस विषय के प्रथम भारतीय प्राध्यापक बने। धुरिये के बाद उनके शिष्य के० एम० कापडिया और ए० आर० देसाई क्रमशः उनके उत्तराधिकारी हुए। लखनऊ विश्वविद्यालय में 1921 से यह विषय आरंभ हुआ। ए० आर० वाडिया ने दर्शनशास्त्र के साथ 1928 में मैसूर विश्वविद्यालय में इस विषय को पढ़ाना आरंभ किया था। 1962 में वहां इसका पृथक् विभाग बन गया। अन्नामलाई विश्व-विद्यालय में 1953 में, एम० एस० विश्वविद्यालय बड़ौदा में 1951 में, दिल्ली विश्वविद्यालय में 1959 में, गुजरात विश्वविद्यालय में 1964 में, पटना विश्वविद्यालय में 1951 में, आगरा विश्वविद्यालय में 1956 में, तथा राजस्थान विश्वविद्यालय में 1961 में इस विषय का अध्यापन आरंभ किया गया। आजकल यह विषय उपर्युक्त विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त उदयपुर, जोधपुर, रायपुर, सागर, जबलपुर, पंजाब, वाराणसी, गोरखपुर, उत्कल, बंगलौर, आंध्र, सौराष्ट्र, अहमदाबाद, सूरत, मेरठ, कानपुर, आदि विश्वविद्यालयों तथा भारतीय औद्योगिक संस्थानों, कानपुर, दिल्ली, बंबई, मद्रास और पिलानी तथा रांची के औद्योगिक संस्थानों और कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना, कलकत्ता के स्टेटिस्टीकल इंस्टीट्यूट और सामुदायिक योजना और जन प्रशासन संस्थाओं आदि में भी पढ़ाया जाने लगा है। मेडिकल कालेजों, नर्सिंग कालेजों और शिक्षक प्रशिक्षणालयों में भी इसका शिक्षण आरंभ होने लगा है। भारत में समाजविज्ञान के सक्रिय प्राध्यापकों तथा शोधकर्ताओं की संख्या लगभग 500 तथा विद्यार्थियों की संख्या लगभग दस हजार होने का अनुमान है। भारतीय समाजविज्ञानियों में से कई सामाजिक मानवशास्त्री भी हैं।

कम अवधि, सुयोग्य पथ-प्रदर्शकों के अभाव तथा रोजगार के अवसरों के अभाव के फलस्वरूप हमारे देश में समाजशास्त्रीय शोध-अध्ययनों की मात्रा बहुत कम है तथा उनका स्तर प्रायः अच्छा नहीं हैं। लेकिन फिर भी जो कार्य हुआ है, उसका संक्षिप्त सर्वेक्षण करना आवश्यक है।

हमारे देश में समाजशास्त्रीय शोध की पांच परंपराएं विकसित हुई हैं।

(1) तुलनात्मक ऐतिहासिक उपागम : जी० एस० धुरिये, के० एम० कापडिया, ए० आर० देसाई आदि ने इसको विकसित करने में योगदान दिया है।

(2) दार्शनिक समाज-वैज्ञानिक उपागम : लखनऊ विश्वविद्यालय के डी० पी० मुखर्जी, राधाकमल मुखर्जी, एस० के० सरन, तथा अन्नामलाई विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्राध्यापक केवल मोटवानी, कलकत्ता स्थित इंडियन स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट में राम कृष्ण मुखर्जी इसके प्रमुख स्तंभ रहे हैं।

(3) तार्किक दार्शनिक उपागम : ए० के० सरन ही इसके प्रमुख प्रणेता हैं।

(4) संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम : इसका प्रयोग पूना विश्वविद्यालय के प्राध्यापक वाई० बी० दामले, जोधपुर विश्वविद्यालय के योगेंद्र सिंह, दिल्ली विश्व-विद्यालय के एम० एन० श्रीनिवास, सागर विश्वविद्यालय के एस० सी० दुबे और अन्य समाजविज्ञानियों ने किया है।

(5) सांख्यिकी प्रत्यक्षवादी उपागम : आर० एन० सक्सेना, आई पी० देसाई, मारग्रेट कारेमेक, एम० एस० गोरे, आर० के० मुखर्जी तथा अगणित भारतीय समाज-विज्ञानियों ने इसी उपागम के अनुपालन में विशेष रुचि दिखलायी है।

जहां तक अध्ययन के विषयों का संबंध है, भारतीय समाजविज्ञानियों ने ग्रामीण, नागरिक, परिवार, शिक्षा, परिवार-नियोजन, औद्योगीकरण, जनसंख्या, सामाजिक विघटन, समाज कल्याण, आयोजन, राजनीति, धर्म, चिकित्सा, सामुदायिक विकास, जाति, भारतीय सांस्कृतिक संस्थाएं, जन-जाति, लोक साहित्य आदि क्षेत्रों में अनेकानेक अध्ययन किये हैं। प्रशासन, नये सामाजिक वर्गों, अहिंसा, शांति, गांधीवादी विचारधारा, आर्थिक संस्थाओं आदि पर भी हाल ही में कुछ अध्ययन संपन्न हुए हैं। इन सभी क्षेत्रों में तथा अन्य क्षेत्रों में, यथा, विज्ञान, कला, सौंदर्यशास्त्र, संगीत, आधुनिकीकरण, प्रसारण, राष्ट्रीय एकता, जन सहयोग, ऐच्छिक सहयोग, उच्च उपलब्धि, प्राप्ति प्रेरणा, ज्ञान आदि में समाजशास्त्रीय अध्ययन करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

समाजविज्ञान का अर्थ

समाजविज्ञान के विकास के उपर्युक्त विवरण से यह

प्रकट होता है कि यह नवीन विज्ञान विस्तृत रूप से समाज के विविध अंगों, संस्थाओं और पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास करता है। इस विषय की अनेक विद्वानों ने परिभाषाएं दी हैं। किंतु उनमें साम्य नहीं पाया जाता और मोटे रूप से छह प्रमुख प्रकार देखने में आते हैं। प्रथम प्रकार की परिभाषाएं समाजविज्ञान को समाज का वैज्ञानिक अध्ययन ही मानती हैं। ये परिभाषाएं काम्ते, बार्ड, ब्लैकमार, गिलिस, शिडिंज तथा अन्य कई समाज-विज्ञानियों ने प्रस्तुत की थीं। द्वितीय प्रकार की परिभाषाएं, जो मैकआइवर और पेज, ऐबल तथा अन्य समाजविज्ञानियों ने दी हैं, समाजविज्ञान को मानव के सामाजिक संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन बतलाती है। तृतीय प्रकार की परिभाषाएं वे हैं, जिन्हें किबालयंग और अन्य सामाजिक मनोविज्ञानियों ने प्रस्तुत किया है। ये परिभाषाएं समाज-विज्ञान को समूहों में मानव व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन कहती हैं। चतुर्थ प्रकार की परिभाषाएं सोरोकिन, ग्रीन, बेनेट ट्यूमिन और अन्य लोगों द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं। ये विद्वान समाजविज्ञान को सामाजिक संरचना तथा सामाजिक घटनाक्रम का वैज्ञानिक अध्ययन मानते हैं। पांचवीं प्रकार की परिभाषाएं मैक्स वेबर, वोन विजे, वीरकाल, टोजीन, रोस, पार्क, वरगैस, स्टेमलर आदि ने प्रस्तुत की हैं। इनमें समाजविज्ञान को मानव-अंतः संबंधों के विविध रूपों का अध्ययन माना गया है। छठी प्रकार की परिभाषाएं टालकोट पारसंस, मार्टन, स्मेलसर, इंकेलीज आदि जैसे आधुनिक समाजविज्ञानियों द्वारा दी गयी हैं। इनमें समाजविज्ञान को सामाजिक कार्य अथवा सामाजिक क्रिया का अध्ययन कहा गया है।

वस्तुतः समाजविज्ञान की परिभाषा करते समय यदि हम पुनः उन विषयों, पक्षों और बिंदुओं की ओर भी दृष्टिपात करें, जिनमें समाजवादी विज्ञानियों की रुचि रही है, तो यह सुगमतापूर्वक जान सकते हैं कि समाजविज्ञान सामाजिक जीवन की इकाइयों, संस्थाओं, प्रक्रियाओं का एक वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक अध्ययन है।

समाजविज्ञान की प्रकृति

प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के कई विद्वान यह स्वीकार नहीं करते कि समाजविज्ञान एक विज्ञान ही है। वे इसके संबंध में अनेक प्रकार की आपत्तियां उठाते रहे हैं, यथा, इसमें वैज्ञानिक तटस्थता नहीं होती, यह सामाजिक घटनाओं को भली-भांति नहीं जान सकता, इसमें प्रयोगशालाएं नहीं होतीं, इसके नियम पूर्णतया सत्य नहीं होते तथा यह भविष्यवाणी करने में असमर्थ होता है।

वस्तुतः ये आपत्तियां सारहीन हैं। स्वयं समाज के एक सदस्य होने के नाते प्रत्येक समाजविज्ञानी भी मानवीय रागद्वेषों, विचारों, मूल्यों आदि से जुड़ा रहता है और यह संभव हो सकता है कि वह जाने व अनजाने में उनसे अपने अध्ययनों को प्रभावित होने दे। लेकिन यह कहना उचित नहीं है कि वे निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता से अपने अध्ययन कर ही नहीं सकते। यदि वे सावधानी बरतें, तो अवश्य ही सही प्रकार से वस्तुनिष्ठ रहते हुए अपने अध्ययन पूर्ण कर सकते हैं। उनके प्रशिक्षण में इस बात पर बहुत बल दिया जाता है। समाजविज्ञान में कई अध्ययन पद्धतियों, प्रतिदर्श-ग्रहण की विधियों और यंत्रों का प्रयोग होता है, जिनसे पक्षपात या अभिनति को रोका जाता है। जहां तक दूसरी आपत्ति का संबंध है, निस्संदेह एक समाजविज्ञानी के लिए सामाजिक घटनाओं की गंभीरता और सामाजिक प्रक्रियाओं की गति को पैमाने, तापमापक यंत्र, माइक्रोमीटर आदि से पूर्णतया सही रूप में नापना तो संभव नहीं हो सकता। लेकिन वह अवश्य ही यथाशक्ति उनके परिमाण को मापने का प्रयास करता है और उसके लिए कई प्रकार के मानकों और तालिकाओं का प्रयोग करता है। इस प्रकार समाज-विज्ञानियों के पास प्राकृतिक वैज्ञानिकों की भांति प्रयोग-शालाएं, रसायन, परखनली आदि तो नहीं होतीं, लेकिन अवलोकन, साक्षात्कार और विश्लेषण करने के लिए उनके पास आवश्यक स्थान और उपकरण और सुविधाएं होती हैं। क्षेत्रीय अध्ययन करते समय वे टेपरिकार्डर, कैमरा आदि काम में लाते हैं तथा उनके पास प्रश्नावलियां, साक्षात्कार-अनुसूचियां, सारणियां, तालिकाएं, संदर्भ ग्रंथ आदि होते हैं। समाजविज्ञानियों की प्रयोगशाला विस्तृत समाज होती है, अतः भौतिकी या रसायनविज्ञान की भांति एक कक्ष में ही समायी हुई प्रयोगशाला से वे संतुष्ट नहीं होते। समाजविज्ञान के नियमों की अधिकता के विषय में उठायी गयी आपत्ति भी असंगत है, क्योंकि न तो प्राकृतिक विज्ञानों में ही सभी नियम सार्वभौमिक रूप से सत्य सिद्ध

होते हैं और न समाजविज्ञान के सभी नियम निरर्थक होते हैं। वस्तुतः जिस क्षेत्र में कोई समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है, उसके निष्कर्ष वहां के लिए सत्य होते हैं। समाजविज्ञान के अधिकतर नियम वास्तविक क्षेत्रीय कार्य के आधार पर बनाये जाते हैं तथा उनके निर्माण में देश, काल, वातावरण आदि विविध कारकों को ध्यान में रखा जाता है। अतः उसके निष्कर्षों में पर्याप्त सच्चाई होती है। लेकिन चूंकि विभिन्न समाजों और विभिन्न कालों में परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, अतः जो नियम एक स्थान पर सही सिद्ध हों, वे अन्य स्थानों पर भी पूर्णतया वैसे ही सही सिद्ध हो, ऐसा संभव नहीं होता। समाजशास्त्रीय नियमों की भविष्यवाणी करने की क्षमता में संदेह करना भी अनुचित है; क्योंकि जिन क्षेत्रों में अथवा जिन विषयों पर समाजविज्ञानी गहराई से अध्ययन करते हैं, उनके विषय में वे अवश्य ही सार्थक भविष्यवाणी कर सकते हैं तथा उसमें समाज सुधार या स्थिति-परिवर्तन के लिए उपयुक्त सुझाव दे सकते हैं।

समाजविज्ञान की अध्ययन पद्धतियां

समाजविज्ञान की विषय वस्तु के अंतर्गत आजकल विविध प्रकार के सामाजिक घटनाक्रम आते जा रहे हैं। उनकी जटिल पद्धति तथा बहुमुखी विशेषताओं को भली-भांति समझ पाने के लिए समाजविज्ञान में विविध प्रकार की अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग किया जाने लगा है। समाजविज्ञान ने कई पद्धतियों का निर्माण किया है और शेष कुछ पद्धतियां अन्य सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों से ली गयी हैं। इन विविध पद्धतियों में से सबसे अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण पद्धति है अवलोकन अथवा प्रेक्षण। किसी संस्था, घटना या समुदाय का अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्ता स्वयं क्षेत्र में जाकर व्यक्तिगत रूप से प्रकट होनेवाले तथ्यों का अनुभव करता है तथा उनको अंकित करता है। अवलोकन सहभागिक, असहभागिक अथवा अर्धसहभागिक, तीन प्रकार का हो सकता है। सहभागिक अवलोकन में अध्ययनकर्ता समुदाय के व्यक्तियों में घुल-मिल जाता है और लंबे समय तक उनके मध्य रहते हुए ही अध्ययन करता है। असहभागिक अवलोकन में वह ऐसा नहीं करता, अपितु बाह्य व्यक्ति अथवा निरीक्षक की भांति ही आता है और जो कुछ भी दिखायी देता है, उसे अंकित कर लेता है। अर्ध-सहभागिक अवलोकन में अध्ययनकर्ता पहले तो समुदाय के जीवन में सहभागिक प्रेक्षक की भांति ही रहता है, लेकिन कुछ विशेष अवसरों पर वह बाह्य व्यक्ति की भांति व्यवहार करता है, जिससे समूह का वास्तविक व्यवहार देखा जा सके।

साक्षात्कार पद्धति समाजविज्ञान की द्वितीय महत्त्वपूर्ण अध्ययन विधि है। इसके अंतर्गत विविध व्यक्तियों से मिलकर प्रश्न किये जाते हैं, जो दी हुई घटना और परिस्थिति से वाकिफ होते हैं तथा उनके प्रत्युत्तरों को वहीं या बाद में अंकित कर लिया जाता है। साक्षात्कार व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी रूप में हो सकता है। इसी प्रकार साक्षात्कार में पूछे जानेवाले प्रश्नों की एक सूची, जिसे प्रश्नावली कहते हैं, के प्रयोग द्वारा अथवा उसका प्रयोग किये बिना भी साक्षात्कार किये जा सकते हैं। ऐसे साक्षात्कार क्रमशः संरचित साक्षात्कार और असंरचित साक्षात्कार कहलाते हैं। किसी घटना विशेष का पूर्व परिचय देकर उसी पर सविस्तार साक्षात्कार करने को केंद्रित साक्षात्कार कहते हैं। साक्षात्कार की विधि का सफल प्रयोग साक्षात्कार की कुशलता पर भी बहुत अधिक निर्भर है।

वैयक्तिक अध्ययन विधि (केस स्टडी मैथड) अथवा एकल विषय अध्ययन पद्धति किसी सामाजिक इकाई, व्यक्ति, परिवार, संस्था, सांस्कृतिक वर्ग, अथवा संपूर्ण समूह और जाति के जीवन की खोज और विवेचना करने के लिए होती है। इसमें दी गयी सामाजिक इकाई अथवा विषय से संबंधित जानकारी को विविध स्रोतों या अध्ययनों से एकत्र किया जाता है तथा उसका निष्पक्ष विश्लेषण किया जाता है। वह विधि एक प्रकार से सामाजिक सूक्ष्मदर्शी यंत्र का सा काम करती है।

सामाजिक अनुसंधान में ऐतिहासिक पद्धति अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है। सामाजिक घटनाएं सामाजिक शून्य में नहीं होती, अतः उनके भूत और वर्तमान का कहीं क्रमबद्ध लेखा अवश्य ही होना चाहिए। इस पद्धति के प्रयोग के लिए प्रलेखों, मूल सामग्री को एकत्र करना, तथा अति सरलता, सामान्यीकरण, कल्पना तथा बुद्धिमत्तापूर्वक महत्त्वपूर्ण और सामान्य में भेद न कर पाने के दोषों से बचना आवश्यक है।

पुस्तकालयीय अध्ययन-पद्धति लिखित सामग्री के अध्ययन-मनन से ही संबंधित होती है। यह ऐतिहासिक, तुलनात्मक, सामग्री-विश्लेषण अथवा सामान्य विश्लेषण में से कोई स्वरूप ग्रहण कर सकती है। इस पद्धति में अध्ययन-विषय तथा उपयुक्त अध्ययन सामग्री का चुनाव करने में जितनी सावधानी बरतनी होती है, उससे भी अधिक सावधानी उस सामग्री का सार अंकित करने तथा उसका विश्लेषण करने में बरतनी पड़ती है।

आदर्श प्रकार की विश्लेषण पद्धति (आइडियल टाइप ऐनेलिसिस मैथड) में संबंधित व्यवस्था का एक आदर्श स्वरूप निर्मित कर लिया जाता है और उसके बाद वास्तविक व्यवस्था की उस सैद्धांतिक और काल्पनिक आदर्श स्वरूप से तुलना की जाती है।

समाजविज्ञान में प्रयोगात्मक विधि भी अपनायी जाती है। यद्यपि समाजविज्ञान संबंधी प्रयोगों की संख्या प्रायः कम ही रहती है तथापि ऐसे प्रयोग अवश्य होते हैं। ये प्रयोग अथवा परीक्षण तीन प्रकार के ही हो सकते हैं। पश्चात् परीक्षण (दी आफ्टर ओनली-एक्सपेरीमेंट्स) पूर्व पश्चात् परीक्षण (दी बिफोर आफ्टर एक्सपेरीमेंट्स) तथा कार्यांतर परीक्षण (दी एक्सपोस्टफेक्टो एक्सपेरीमेंट्स)। सामाजिक परीक्षणों को बहुत सावधानी से तथा कई सीमाओं में संपन्न करना होता है, अन्यथा मानव समुदायों के लिए उनके कई भयंकर परिणाम भी निकलने का भय रहता है।

समाजविज्ञान में समाजमिति पद्धति का भी प्रचलन हो चला है। उसके अंतर्गत पारस्परिक मित्रता, ईर्ष्या-द्वेष, सहयोग, पारस्परिक तनाव, ऊंच-नीच की भावना आदि को निकटता और दूरी के आधारों पर रेखागणित की भांति ही जानने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। इस पद्धति के आविष्कारक आस्ट्रियाई मनोविज्ञानी जे० एल० मोरेनो ने इसका प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध के कुछ शरणार्थी शिविरों की व्यवस्था करने में किया था।

आधुनिक समाजविज्ञान में सांख्यिकी पद्धति का विशेष स्थान है। सांख्यिकी विज्ञान उस प्रणाली से संबंधित है, जिसमें प्राकृतिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन सामूहिक रूप में अथवा अनुमान के आधार पर संबंधित अंकों की विवेचना द्वारा किया जाता है। इस पद्धति में नापतोल, जन्म-दर, मृत्यु-दर, माध्यम, आय के आंकड़े आदि का प्रयोग होता है। आजकल इस पद्धति का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है तथा समाजविज्ञान गुणात्मक रूप धारण करता जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजकल समाजविज्ञान में अनेक प्रकार की पद्धतियों का प्रचलन बढ़ रहा है, जिनके द्वारा सभी प्रकार के सामाजिक घटनाक्रमों का अध्ययन करना संभव होता जा रहा है।

समाजविज्ञान और अन्य विज्ञान

समाजविज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है। अतः उसका अन्य सामाजिक विज्ञानों से कुछ न कुछ संबंध होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार चूंकि यह वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करता है, अतः इसका कुछ प्राकृतिक विज्ञानों से भी संबंध देखने में आता है।

इन संबंधों का संक्षिप्त विवरण देने से पूर्व यह सूचित करना आवश्यक है कि समाजविज्ञान की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण दो प्रकार की बातें की जाने लगी हैं। एक ओर अन्य कई विज्ञानों के विद्वानों का यह कहना है कि समाजविज्ञान में अपना कुछ नहीं है, यह तो अन्य विज्ञानों से ही अपनी सामग्री जुटाता है। यह एक प्रकार का भिक्षा-पात्र है, जिसमें विभिन्न विषयों से थोड़ा-थोड़ा ज्ञान लेकर डाला गया है। यह आलोचना की जाती है कि समाजविज्ञान का अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है और न इसकी अपनी विशिष्ट पद्धतियां हैं। अतः इसका स्तर एक दास या भिखारी के स्तर जैसा है।

दूसरी ओर यह देखने में आता है कि समाजविज्ञान के कुछ विद्वान और विद्यार्थी अपने विज्ञान को इतना नया, अद्वितीय तथा महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि वे इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों का स्वामी या मुखिया कहते हैं।

वस्तुतः ये दोनों ही बातें गलत हैं। न तो समाजविज्ञान अन्य विज्ञानों का स्वामी माना जाता है और न दास ही। वस्तुतः इसका भी सामाजिक विज्ञानों के समान स्थान है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से समाज का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र समाज का आर्थिक दृष्टिकोण से और राजनीतिशास्त्र समाज का राजनैतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। ठीक इसी प्रकार समाजविज्ञान का भी अपना एक विशेष अध्ययन

संबंधी दृष्टिकोण और एक विशेष अध्ययन-क्षेत्र है। इसकी गहराई सामाजिक संबंधों और सामाजिक क्रिया पर ही केंद्रित होती है। अतः समाजविज्ञान को अन्य सामाजिक विज्ञानों से भिन्न या उच्च स्तर देने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सत्य है कि समाजविज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों या प्राकृतिक विज्ञानों से अपनी विषय वस्तु एकत्र करता है। लेकिन ऐसा करने के फलस्वरूप इसे दास का स्तर देना असंगत होगा। इसके दो कारण है: एक तो यह कि कोई भी विज्ञान अन्य विज्ञानों की सहायता के बिना नहीं चल सकता। दूसरे, यद्यपि समाज-विज्ञान विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों से अपनी विषयवस्तु का चयन करता है, तथापि इन सब स्रोतों से प्राप्त की गयी सामग्री को वह गोदाम में रखे गये सामान की भांति ही संकलित नहीं करता। वह उससे एक नयी तथा स्वतंत्र व्यक्तित्ववाली सामग्री बना लेता है, ठीक उसी प्रकार जैसे पीले और नीले रंग के मिलने से एक नया रंग (हरा) बन जाता है।

समाजविज्ञान तथा मानवविज्ञान

मानवविज्ञान अथवा नृतत्वशास्त्र मानव जीवन के विकास, मानव संस्कृतियों के प्रकारों, उनके वर्तमान रूपों और मानव जातियों का अध्ययन होता है। इसकी तीन प्रमुख शाखाएं हैं: प्राकृतिक मानवविज्ञान, सामाजिक मानवविज्ञान तथा सांस्कृतिक मानवविज्ञान। प्राकृतिक मानवविज्ञान मानव की उत्पत्ति, मानव नस्लों के प्रकार, विशेषताओं तथा फैलाव का अध्ययन करता है। सामाजिक मानवविज्ञान विशेषकर आदिम अथवा जनजातीय समुदायों की संस्कृतियों का अध्ययन करता है। सांस्कृतिक मानव-विज्ञान को अमरीकी विद्वान सामाजिक मानवविज्ञान ही मानते हैं, जब कि अंग्रेज विद्वान उससे भिन्न मान कर उसे मानव सांस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन कहते हैं।

मानवविज्ञान और विशेषतः सामाजिक मानवविज्ञान समाजविज्ञान के अत्यंत निकट आता हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि मानव संस्कृति और मानव समाज में परस्पर बहुत समानता और घनिष्ठता होती है। दोनों विषयों में आजकल प्रायः एक सी ही पद्धतियों का प्रचलन है। भारतवर्ष में प्रोफेसर जी० एस० धुरिये, प्रोफेसर एम० एन० श्रीनिवास, प्रोफेसर एस० सी० दुबे, प्रोफ़ेसर आर० एन० सक्सेना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण समाज-विज्ञानियों का, जो कि स्वयं सामाजिक मानवविज्ञानी भी रहे हैं, यह मत है कि समाजविज्ञान और सामाजिक मानवविज्ञान का अंतर समाप्त कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि इनमें अत्यधिक घनिष्ठता है। लेकिन कई समाज-विज्ञानी यह अनुभव करते हैं कि वस्तुतः इन दोनों विषयों में बहुत अंतर है। ब्रिटिश समाजविज्ञानी टी० बी० बोटोमोर के अनुसार यदि कोई व्यक्ति मूल पदों, अध्ययन और विश्लेषण की पद्धतियों और विज्ञानों की रुचि की दिशाओं की जांच करे, तो शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह दोनों विषय अब तक बहुत दूर-दूर हैं। मानवविज्ञान समाज अथवा संस्कृति विशेष का अध्ययन उसे पूर्ण ईकाई मानते हुए करता है, जबकि समाजविज्ञान एक विशेषज्ञ की भांति विशेष समस्याओं का अध्ययन करता है। दोनों विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों में एक स्पष्ट अंतर भी है। मानवविज्ञान में प्रेक्षण, साक्षात्कार वैयक्तिक अध्ययन आदि क्षेत्रीय अध्ययन की विविध पद्धतियों का अधिक प्रयोग होता है, जब कि समाजविज्ञान में प्रश्नोत्तरी, आंकड़ों तथा पुस्तकीय पद्धतियों का अधिक प्रयोग होता है। कई विद्वान अभी भी इसी स्थिति पर डटे हुए हैं कि सामाजिक मानवविज्ञान आदिम जातियों का अध्ययन है, जबकि समाजविज्ञान सभ्य समुदायों का अध्ययन करता है। वस्तुतः यह अंतर अब समाप्त हो रहा है; क्योंकि अनेक देशों के अनेक सामाजिक मानवविज्ञानी अब सभ्य समुदायों की समस्याओं का भी अध्ययन करने लगे हैं। वस्तुतः इन दोनों विज्ञानों में परस्पर घनिष्ठता है, अतः इनको एक दूसरे से बहुत अधिक दूर समझना अनुचित ही होगा।

समाजविज्ञान और अर्थशास्त्र

"अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियाओं और व्यवहारों का अध्ययन करता है, जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए या भौतिक साधन प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं।" इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत वस्तुओं और धन का उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उससे संबंधित अन्य कार्य सम्मिलित होते हैं। अर्थशास्त्र और समाजविज्ञान का संबंध बतलाते हुए मैकआइवर और पेज ने स्पष्टतया लिखा है कि "आर्थिक घटनाएं सदैव सामाजिक आवश्यकताओं और क्रियाओं

के समस्त स्वरूपों द्वारा निश्चित होती हैं, और वे (आर्थिक क्रियाएं) सदैव प्रत्येक प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं और क्रियाओं को निश्चित, निर्मित, स्वरूपीकृत एवं परिवर्तित करती हैं।" यह बात बहुत सही है, लेकिन यह भी देखने में आता है कि कई स्थितियों में आर्थिक कारक सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित और निर्धारित करते हैं। जौनसार बावर (उ० प्र०) में बहुपति प्रथा को आर्थिक कारक ने ही जन्म दिया है। आर्थिक कारक ही प्रायः सामाजिक नैतिकता के कारकों को निर्धारित करता है। मार्क्स, वेबलन आदि सामाजिक विचारकों की विचारधारा भी इसी बात का समर्थन करती है।

अर्थशास्त्र और समाजविज्ञान के मध्य जो अंतर है, वे भी स्पष्ट ही है। समाजविज्ञान सामाजिक संरचना और सामाजिक संबंधों का व्यापक रूप से अध्ययन करता है, जबकि अर्थशास्त्र की रुचि मानव संबंधों और क्रियाओं का केवल आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने में ही होती है। अर्थशास्त्र में निगमन और आगमन पद्धतियों पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि समाजविज्ञान में कई अन्य पद्धतियों को काम में लाया जाता है। समाजविज्ञान और अर्थशास्त्र के मिश्रण में आर्थिक समाजविज्ञान नामक एक नये क्षेत्र का आजकल विकास हो रहा है।

समाजविज्ञान और इतिहास

समाज की प्राचीन घटनाओं का अध्ययन इतिहास के अंतर्गत किया जाता है। ये घटनाएं प्रायः शासकों की विजयों और पराजयों तथा उनके वैभव और अत्याचारों से ही संबंधित रही हैं। अब कई वर्षों से यह अनुभव किया जाने लगा है कि वास्तविक इतिहास में शासकों के क्रिया-कलापों का उल्लेख मात्र न होकर जन साधारण की संस्कृति और जीवन की गतिविधियों का निष्पक्ष लेखा-जोखा होना चाहिए। टायनबी, रोसटोटजेब, कोल्टन और जेकोब वरखाइट जैसे आधुनिक इतिहासकारों की यह धारणा है कि नये इतिहास में मानवीय संबंधों, सामाजिक, प्रतिमानों, लोकरीतियों, प्रथाओं और अन्य सामाजिक संस्थाओं का विवेचन होना चाहिए।

समाजविज्ञान इतिहास के इस नये रूप में बहुत रुचि लेता है। समाजविज्ञानी भूतकालीन सभ्यताओं के सामाजिक पक्षों की जानकारी को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं; क्योंकि वे वर्तमान सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या करने में सहायक सिद्ध होती हैं। राइट नामक समाजविज्ञानी ने लिखा है—"किसी सीमा तक समाजविज्ञानी और इतिहासकार के क्षेत्र समान हैं।" इतिहास मनुष्य के अतीत पर विचार करता है और समाजविज्ञानी इतिहासकार से इस प्रकार प्राप्त किये गये ज्ञान को वर्तमान और भविष्य की रचनाओं के विश्लेषण से संबंधित करके इतिहासकार के कार्यों को आगे बढ़ाता है।

समाजविज्ञान और इतिहास इतने निकट होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। समाजविज्ञानी बीयरस्टेंड के अनुसार यद्यपि यह कथन अत्यंत सरल प्रतीत होता है, तथापि कार्यवाहक रूप में यह कहा जा सकता है कि इतिहास समान घटनाओं में विभिन्नता का अध्ययन है, जबकि समाजविज्ञान विभिन्न घटनाओं में समानता का अध्ययन। यद्यपि इतिहास की घटनाओं, अर्थात् भूतकालीन घटनाओं में समाजविज्ञान की रुचि होती है, तथापि मूलतः इसका ध्यान वर्तमान घटनाओं पर ही केंद्रित रहता है। बीयरस्टेंड के अनुसार "यदि अतीत को, जो शताब्दियों से खुलता जा रहा है; एक वस्त्र मान लिया जाये तो इतिहास की रुचि उन विशेष तानों-बानों में होगी, जो उस वस्त्र को बनाते हैं, जबकि समाजविज्ञान की रुचि उस वस्त्र में उभरे नमूने या प्रतिमान में होगी।" इसके अतिरिक्त समाजविज्ञान विश्लेषण के साथ ही साथ सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए भी कई बार सुझाव देता है, जबकि इतिहास केवल वास्तविक घटनाओं का विवरण ही प्रदान करता है, कोई सुझाव नहीं दे पाता। कुछ अंतरों के बावजूद इतिहास और समाजविज्ञान आजकल परस्पर निकट आते जा रहे हैं, तथा ऐतिहासिक समाजविज्ञान नामक क्षेत्र का सिगमंड, डायमंड, नोरमन बिरहाम, रोबर्ट बेल्लाह आदि द्वारा विकास किया जा रहा है।

समाजविज्ञान और राजनीतिविज्ञान

राजनीतिविज्ञान राज्य तथा उससे संबंधित राजनैतिक संस्थाओं व्यवस्थाओं और व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन है। समाजविज्ञान और राजनीतिविज्ञान का परस्पर घनिष्ठ संबंध तो इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य और समाज की एक दूसरे से पृथक् कल्पना करना ही असंगत हैं। समाजविज्ञानी प्रो० गिडिंग्स के अनुसार समाज-

विज्ञान के प्रारंभिक सिद्धांतों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को राज्य के सिद्धांतों को पढ़ाना ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार न्यूटन की गति के सिद्धांत से अनभिज्ञ व्यक्तियों को खगोल अथवा ऊष्म विज्ञान पढ़ाना।

वस्तुतः ये दोनों विज्ञान एक दूसरे के अत्यंत निकट हैं। समाज का पूर्ण अध्ययन राज्य के अध्ययन को अपने अंतर्गत सम्मिलित करता है। राज्य द्वारा लागू किये गये नियंत्रण के साधन अथवा तरीके सामाजिक नियंत्रण के साधनों में ही सम्मिलित होते हैं। आधुनिक विश्व में प्रजातंत्र का युग चल रहा है। अब यदि कोई राजनीतिविज्ञान का विद्वान कहे कि उसे तो केवल यही बतलाने से सरोकार है कि किस प्रकार मतदान द्वारा सरकार का निर्माण होता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा बतलायी गयी जानकारी पर्याप्त और ठीक है; क्योंकि आजकल मत देने की प्रक्रिया पर जातिवाद, समूहवाद, आर्थिक लोभ, पारस्परिक राग-द्वेष आदि विभिन्न व्यक्तिगत और सामाजिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। इन कारकों के अध्ययन के बिना राजनीतिविज्ञान द्वारा दिया गया राजनैतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली का ज्ञान अधूरा और बेकार ही रहता है। इसलिए आजकल टालकोट पारसंस, नील स्मेलसर, रोबर्ट मर्टन, ओलीवर गारसीय, एलेक्स इंकलीज जैसे समाजविज्ञानियों तथा राबर्ट डाइल क्रेविल, आलमंड, आर० एम० मैकआइवर जैसे राजनीतिविज्ञानियों ने राजनैतिक समाजविज्ञान नामक क्षेत्र को विकसित करने पर बहुत बल दिया है।

इन दोनों विषयों के अंतर के बारे में तो यही कहना पर्याप्त होगा कि अब तक राजनीतिविज्ञान की रुचि भूतकाल के समाजों में ही रही है, जबकि समाजविज्ञान की रुचि वर्तमान समाजों के अध्ययन में रही है, तथा राजनीतिविज्ञान में विश्लेषण का स्तर समाजविज्ञान में विश्लेषण के स्तर से पर्याप्त निम्न ही रहा है।

समाजविज्ञान और दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र ज्ञान की प्राचीनतम शाखाओं में से एक है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसका अध्ययन-क्षेत्र बहुत विस्तृत है, जिसमें मूल्यों आदर्शों, और गंभीर लौकिक-अलौकिक प्रसंगों से संबंधित विषय आते हैं। मानव समुदायों की प्रगति अथवा उत्पत्ति के प्रश्न दार्शनिकों को सदैव से ही झकझोरते रहे हैं। समाजविज्ञान की उत्पत्ति भी वस्तुतः दर्शनशास्त्र से ही हुई है; क्योंकि फ्रांसीसी समाजविज्ञानी अगस्त काम्ते ने ही इस विषय की प्रारंभिक रूपरेखा प्रस्तुत की थी। यद्यपि आधुनिक समाजविज्ञान अगस्त काम्ते के समाजविज्ञान से कहीं भिन्न है, तथापि सामाजिक मूल्य, व्यक्ति की प्रेरणा, सामाजिक आदर्श और प्रतिमान जैसे प्रसंगों में समाजविज्ञान की उतनी ही गंभीर रुचि है, जितनी की दर्शनशास्त्र की। कई भारतीय समाजविज्ञानियों ने हाल के कुछ वर्षों में यह अनुभव किया है कि भारतीय समाज की व्यवस्था तथा नवीन गतिविधियों, सफलताओं और असफलताओं को भली भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय समाज के दार्शनिक तत्त्वों का भली-भांति अध्ययन किया जाये।

जिस प्रकार दर्शनशास्त्र से समाजविज्ञान को प्रेरणा और शक्ति मिलती है, उसी प्रकार समाजविज्ञान से दर्शनशास्त्र को भी बल मिल सकता है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमाइल दुर्खीम का विश्वास था कि "अब किसी भी विज्ञान की अपेक्षा समाजविज्ञान दार्शनिक प्रश्नों की पुनर्जागृति में अधिक योग दे सकता है।" धर्म पर किये हुए अपने शोध द्वारा उन्होंने इस विश्वास को वस्तुतः प्रकट कर दिखाया है कि दार्शनिक चिंतन और समाजशास्त्रीय चिंतन किस प्रकार साथ-साथ चलते हैं।

समाजविज्ञान और मनोविज्ञान

मनोविज्ञानी आइलैस ने मनोविज्ञान को "मानव अनुभव एवं व्यवहार के यथार्थ विज्ञान" के रूप में परिभाषित किया है। मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार और मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन से संबंधित है। समाजविज्ञान समूहों में मानव व्यवहार के अध्ययन में रुचि रखता है, जबकि मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यवहार और अंतर्मन में रुचि रखता है। समाजविज्ञान और मनोविज्ञान की अध्ययन-पद्धतियों में भी पर्याप्त अंतर देखने में आते हैं। मनोविज्ञान अधिकतर प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग करता है, जबकि समाजविज्ञान सांख्यिकी और कहीं अन्य कई विधियों का प्रयोग करता है। इन अंतरों के होने पर भी इन दोनों विधियों में परस्पर घनिष्ठता है। प्रोफेसर अकोलकर ने ठीक ही लिखा है कि "मानवीय

प्रकृति एवं व्यवहार की संतोषप्रद व्याख्या के लिए हमें समाज के ढांचे, संगठन तथा संस्कृतियों को समझना चाहिए, जिनसे व्यक्ति संबंधित है।'' इन दोनों विज्ञानों के परस्पर मेल के फलस्वरूप ही सामाजिक मनोविज्ञान का विकास हो पाया है, जिसका संबंध सामूहिक स्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार से है। जनक्रांति, दंगा, सीखना, समाजीकरण आदि प्रसंगों के अध्ययन में समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनों का पारस्परिक संबंध स्पष्ट प्रकट होता है।

अन्य विषयों से संबंध

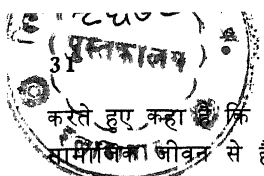
समाजविज्ञान का भूगोल, धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र, भाषा, गणित आदि से ही नहीं, अपितु प्राकृतिक विज्ञानों तथा भौतिक शास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि से कुछ न कुछ संबंध अवश्य दर्शाया जा सकता है। यह संबंध प्रत्यक्ष रूप से दिखायी नहीं देता है। भौगोलिक कारणों का समाज की रचना, घटनाओं, लोगों की आदतों और विविध क्रियाओं पर कितना अधिक प्रभाव पड़ता है, उसका उल्लेख हंटिग्टन, रटजल, सेवरिन, ओडम, बूहन्स आदि अनेक विद्वानों ने अपनी रचनाओं में किया है। उनकी परिकल्पनाओं और सिद्धांतों को आजकल विशेष सम्मान तो प्राप्त नहीं है, तथापि उनको पूर्णतया निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता। धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र समाज में व्यक्ति के आचरण या व्यवहार का नियंत्रण एवं अध्ययन करते हैं। इसलिए इनसे संबंधित लोकरीतियों और व्यवहार प्रतिमानों में समाजविज्ञान की रुचि होना स्वाभाविक है। गणित समाजविज्ञान में गुणात्मक अध्ययन पद्धति के मूल में विद्यमान रहता है। प्राकृतिक विज्ञान के कई सिद्धांत, दृष्टांत और परिकल्पनाएं समाजविज्ञानियों को प्रेरणा देती रही हैं और अभी भी दे रही हैं। काम्ते, स्पेंसर, पारेटो आदि कई समाजविज्ञानियों ने उनके आधार पर समाजविज्ञान के सिद्धांतों को निर्मित करने का प्रयास किया था। आज भी कई समाजविज्ञानी इस प्रकार का प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि समाजविज्ञान विविध ज्ञान-विज्ञानों से परस्पर संपर्क बनाये रखता है, तथा अपनी विषय-सामग्री और अध्ययन-दृष्टिकोण को स्वस्थ समृद्ध तथा प्रभावपूर्ण बनाये रखने का सतत् प्रयास करता रहता है।

प्रमुख समाजशास्त्रीय पद या संप्रत्यय

समाज: मानव समाज का अर्थ व्यक्तियों का झुंड या दल मात्र ही नहीं है, अपितु सामाजिक संबंधों का जाल है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्यों को एक दूसरे के साथ समुचित व्यवहार करने की विधियों को सीखना आवश्यक होता है। उन्हें रीति-रिवाजों, लोकरीतियों, रूढ़ियों, संस्थाओं आदि का अनुपालन करना होता है। सामाजिक कार्य संपादन की व्यवस्थाओं अर्थात् संस्थाओं के अनुसार उन्हें व्यवहार और कार्य करना होता है, जिससे शांति सरलता और सहयोग बना रहता है। सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए विवाह, परिवार, कानून, राजनैतिक दल, नौकरशाही, प्रचार आदि कार्य हैं। सहयोग आदि के लिए मनुष्य विभिन्न प्रकार के व्यवहार करते हैं। वे किसी सीमा तक स्वाधीनतापूर्वक रहते हैं और कार्य करना भी चाहते हैं। इस प्रकार समाज, जैसे कि मैकआइवर और पेज ने ठीक ही परिभाषित किया है, ''व्यवहारों और प्रक्रियाओं की, अधिकार एवं पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और भागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रण एवं स्वाधीनताओं की व्यवस्था है।''

समूह: दो या दो से अधिक मनुष्यों के ऐसे संगठन को समूह कहते हैं, जिनमें परस्पर मनोवैज्ञानिक अंतर्क्रिया होती है। समूह कई प्रकार के होते हैं। प्राथमिक समूह छोटे होते हैं। उनमें आमने-सामने के प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध होते हैं। द्वितीयक समूहों में सदस्य संख्या अधिक होती है तथा विभिन्न सदस्यों के मध्य एक जटिल स्तरण और विभाजन देखने में आता है। पारस्परिक संबंध अप्रत्यक्ष तथा किसी निश्चित व्यवस्था के अनुसार होता है। औपचारिकता का ऐसे समूहों में विशेष प्रभुत्व रहता है। शक्ति-समूहों (प्रेशर-ग्रुप्स) का तात्पर्य उन समूहों से है, जो कुछ नेताओं अथवा प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा बना लिये जाते हैं तथा अन्य समूहों या किसी विस्तृत संगठन की नीतियों या कार्यप्रणालियों को प्रभावित करते हैं। समूह संगठित या असंगठित, अस्थायी या स्थायी, स्थानीय या अन्य स्थान पर स्थित, अल्प संख्यक या बहुसंख्यक हो सकते हैं। समूह रक्तसंबंधों पर भी आधारित हो सकता है तो कोई ऐसे संबंधों के बिना भी हो सकता है।

समुदाय: जी० डी० एच० कोल ने समुदाय की परिभाषा



करते हुए कहा है कि "समुदाय से तात्पर्य एक जटिल सामाजिक जीवन से है, एक ऐसी जटिलता, जिसमें परिवर्तनशील समाज रूढ़ियों, प्रभाव तथा परंपराओं द्वारा परस्पर संबद्ध है, और जिसमें किसी सीमा तक सामान्य सामाजिक लक्ष्यों और हितों के प्रति चेतन सामाजिक संबंधों की व्यवस्थाओं के साथ-साथ रहने वाले मानव-प्राणी होते हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि एक समुदाय में कई विशेषताओं का होना आवश्यक होता है। ये विशेषताएं निश्चित भू-भाग, मनुष्यों का समूह, सामुदायिक भावना, समानताएं, स्वाभाविकता, विशेष नाम, सामाजिक आत्म-निर्भरता, लक्ष्यों की व्यापकता आदि है। यद्यपि समुदाय के लिए निश्चित भूभाग में आवास करना आवश्यक माना जाता है, लेकिन घुमंतू जातियों या जनजातियों के समुदायों के लिए इस प्रकार की आवश्यकता देखने में नहीं आती। एक समुदाय में प्रायः समान भाषा, समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, पारस्परिक स्नेह व सहयोग आदि के फलस्वरूप संगठित व्यवस्था देखने में आती है। समान त्योहारों, रीति-रिवाजों, जन-रीतियों, लोक साहित्य, मेल-मिलाप, नातेदारी आदि के फलस्वरूप एक समुदाय में यह भावना भी देखने में आती है, जो उन्हें अपना जीवन व्यवस्थित रूप से चलाने में सहायक होती है।

जाति: जाति एक बंद प्रकार का (क्लोज़्ड टाइप) समूह होती है, जिसमें व्यक्ति की सदस्यता उनके जन्म द्वारा निर्धारित होती है तथा वह जीवनपर्यंत बनी रहती है। जाति के साथ सामाजिक स्तरण अथवा ऊंच-नीच की भावना आबद्ध है, कोई जातियां किसी जाति-विशेष से उच्च या निम्न हो सकती हैं। परंपरागत रूप से एक जाति के सदस्यों का जीवन, खान-पान, रहन-सहन, व्यवसाय आदि में समानता होती है तथा उनमें परस्पर आदान-प्रदान की भावना अर्थात् 'हम' की भावना होती है। इन दो कसौटियों से ही हम जाति को अवश्य ही समुदाय कह सकते हैं। वस्तुतः न तो एक जाति के सभी सदस्य एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहते हैं, न एक साथ खानपान एवं पहनावा रखते हैं, न एक-सा व्यवसाय करते हैं और न ही परस्पर एकता, भाई-चारा, सहयोग रखते हैं। अतः जाति को सही अर्थों में समुदाय कहना अनुचित है।

एक जाति के सदस्यों में अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों का पक्ष लेने व उनकी राजनीति, व्यवसाय, शिक्षा व अन्य लाभप्रद अवसरों पर येन-केन-प्रकारेण सहायता करने की जो भावना देखने में आती है, उसे जातिवाद कहा जाता है। जातिवाद भारतीय संविधान की भावना के विपरीत है तथा आधुनिक सामाजिक मूल्य उसका विरोध करते हैं।

वर्ग: वर्ग से तात्पर्य व्यक्तियों के एक ऐसे समूह या संगठन से होता है जिसकी समान विशेषताएं होती हैं, जिसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति तथा रहन-सहन का ढंग तथा स्तर अन्य समूह अर्थात् वर्गों से भिन्न होता है। एक वर्ग अपने को दूसरे वर्ग से भिन्न या उच्च अनुभव करता है तथा अपने रहन-सहन के तरीकों के द्वारा इस भावना को प्रकट करता है। एक वर्ग के सदस्य अपने वर्ग की जन-रीतियों, व्यवस्थाओं तथा स्तर के अनुसार ही व्यवहार करते हैं। अपने वर्ग के सदस्यों के साथ ही उठना-बैठना, वैवाहिक या अन्य संबंध स्थापित करना चाहते हैं। वर्गों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, शोषण की प्रवृत्ति तथा तनाव देखने में आते हैं। प्रमुख रूप से तीन वर्ग विभिन्न समाजों में देखने में आते हैं। उच्च वर्ग, मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग। उच्च वर्ग में अत्यंत धनी, उद्योगपति, व्यवसायी, उच्च सरकारी अफसर तथा राजनीतिज्ञ शामिल होते हैं। मध्य वर्ग में सामान्यतया धनी व्यापारी, जमींदार, सफेदपोश लोग, राजनीतिज्ञ तथा छोटे व्यवसायी आते हैं। निम्न वर्ग में श्रमिक, कृषक व अन्य भूमि व साधन-विहीन व्यक्ति आते हैं। कार्ल मार्क्स एवं उनके अनुयायियों ने इस वर्ग-संघर्ष पर प्रकाश डाला है तथा बतलाया है कि किस प्रकार औद्योगीकरण के फलस्वरूप उच्च वर्ग (पूंजीपति वर्ग) व निम्न वर्ग (श्रमिक वर्ग) में परस्पर संघर्ष रहता है।

संस्थान: समाजशास्त्रीय भाषा में संस्थान का अर्थ समाज के ऐसे ढांचे से होता है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है। संस्थान में एक संप्रत्यय (जो किसी विचार, धारणा, मत या हित के रूप में हो सकता है) तथा एक संरचना होती है। एक संस्थान के अंतर्गत किसी प्रकार का निश्चित सामाजिक ढांचा या कार्यप्रणाली सम्मिलित होती है जिसके द्वारा मनुष्यों का कोई संगठन कार्य करता है। इस में कुछ विशेष प्रकार की रीतियों, जनरीतियों, परंपराओं, औपचारिक नियमों, अधिकारों,

कर्तव्यों आदि की व्यवस्था भी सम्मिलित होती है। पाठशाला में शिक्षा व्यवस्था का संगठन, रोजगार के दफ्तर में नौकरी दिलवाने की व्यवस्था आदि इसके उदाहरण हैं।

संगठन : समाजविज्ञानी जिन्सबर्ग के शब्दों में "संगठन एक दूसरे से संबंधित उन सामाजिक प्राणियों का एक समूह होता है, जो किसी निश्चित उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक समान संगठन बना लेते हैं।" संगठन की प्रमुख विशेषताएं हैं समान हित या हितों का होना, मूर्त स्वरूप होना, ऐच्छिक सदस्यता होना, सहकारिता की भावना होना, कुछ निश्चित कार्य-व्यवस्था होना, नियम और आदान-प्रदान की रीतियां या नियम होना, तथा अल्प अथवा दीर्घ जीवन-अवधि होना। संस्थान के अंतर्गत प्रायः संगठन का पक्ष विद्यमान रहता है, जैसे पाठशाला नामक संस्थान में एक ओर तो कुछ निश्चित कार्य-व्यवस्था, नियम आदि होते हैं, और दूसरी ओर शिक्षकों, विद्यार्थियों आदि के संगठन का पक्ष अवश्य होता है।

लोकरीतियां : कार्य करने की वे रीतियां, जो एक समाज या समूह में सामान्य होती हैं और एक पीढ़ी से दूसरी को परम्परागत रूप से प्राप्त होती रहती हैं, लोकरीतियां कहलाती हैं। लोकरीतियां जनता द्वारा स्वीकृत पद्धतियां होती हैं। वे सामाजिक विरासत का एक महत्त्वपूर्ण तथा जनता के आचरण का अभिन्न अंग होती हैं। वे मनुष्यों के पूर्व-चिंतन से संपन्न नहीं होतीं। वे मनुष्यों के विवेक का परिणाम नहीं होतीं। उनमें असंख्य आदतें सम्मिलित होती हैं। लोकरीतियों के असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। हिंदू हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं, अंग्रेज हाथ मिला कर, फ्रांसीसी चूम कर, लैप परस्पर नाक रगड़ कर, पोलिनीशियन अधोवस्त्र उतार कर, अंडमानवासी परस्पर आलिंगन कर रोने के द्वारा नमस्कार करते हैं। इसी प्रकार की असंख्य लोकरीतियां विवाह, जन्म-उत्सव, मृत्य-संस्कार, यौन व्यवहार, ज्ञान, शिक्षा, नातेदारी, वेश्यावृत्ति, धर्म, गंदगी, बुरे विचार, सामाजिक आचार-विचार आदि के विषय में विभिन्न समुदायों में देखने में आती हैं। प्रोफेसर समनर का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'लोकरीतियां' ऐसी असंख्य लोकरीतियों का वर्णन करता है।

संस्कृति : संस्कृति की अनेक परिभाषाएं दी गयी हैं। तत्वशास्त्री टाइलर ने इसके अंतर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, विधि, प्रथा और समाजोचित आदतें आदि सम्मिलित की थीं। लिन्टन उसे जीवन चलाने का एक ढंग या तरीका मानते थे। एम० जे० हरस्कोविल्स ने उसे "मानव निर्मित पर्यावरण" कहा है। मालिनोवस्की ने उसे मानव आवश्यकताओं का प्रत्युत्तर बतलाया है। समाजविज्ञानिक टालकोट पारसंस और उसके समर्थकों ने संस्कृति को सांकेतिक और मूल्यांकन संबंधी व्यवस्था कहा है। वे सांस्कृतिक परंपरा, विचारों अथवा विश्वासों, प्रकट संकेतों अथवा मूल्य प्रतिमानों को संस्कृति का अभिन्न अंग मानते हैं।

संस्कृति से संबंधित कुछ विशेष संप्रत्ययों का सामाजिक मानवविज्ञान तथा समाजविज्ञान में विशेष प्रचलन है। सांस्कृतिक तत्त्व संस्कृति विशेष में वह सबसे छोटी पहचानने योग्य इकाई होती है, जिसका और अधिक विभाजन नहीं हो सकता। यह किसी वस्तु, व्यवस्था, रीति-रिवाज और व्यवहार के प्रतिमान के रूप में हो सकती है। संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह होती है, जो किसी अर्थपूर्ण संबंध में परस्पर गुंथे हुए होते हैं। उदाहरणार्थ एक भारतीय विवाहिता के सौंदर्य-संकुल में सिंदूर, मांग, बिंदी, लाली, नाखून, मेंहदी, पाउडर, तेल, सुरमा, गहने, कपड़े, आदि का समावेश होता है। संस्कृति प्रतिमान किसी दी गयी संपूर्ण संस्कृति के ढांचे में एक विशेष ढंग या क्रम से सजे हुए संस्कृति संकुलों के मिश्रित रूपों को कहते हैं। जब कोई प्रथा, रीति-रिवाज या व्यवहार का ढंग एक-दो ही व्यक्तियों में ही नहीं अपितु समाज के अधिकतर व्यक्तियों में देखने में आता है तो उसे सांस्कृतिक प्रतिमान कहा जाता है। सांस्कृतिक लय एक वह स्वयंसिद्ध सिद्धांत अथवा स्थिति है जो कि प्रायः व्यवहार को नियंत्रित करती है, या क्रिया की प्रेरणा प्रदान करती है और जो एक समाज में स्वयं मान्य और स्वतंत्र रूप से विकसित हुई होती है। सांस्कृतिक लय के उदाहरण के रूप में भारत में भाग्यवादिता और जातिवाद को देखा जा सकता है। सांस्कृतिक क्षेत्र से तात्पर्य एक ऐसे भौगोलिक क्षेत्र से होता है जिसमें रहने वाली संस्कृतियों की विशेषताएं अथवा लक्षण परस्पर समान या संबंधित दिखलायी पड़ते हैं। संस्कृतीकरण यह प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा

बालक को अपनी संस्कृति सीखने को मिलती है। यह क्रिया प्रौढ़ावस्था में भी चलती रहती है, लेकिन तब वह दोहराने या पुनः सीखने के रूप में होती है। समाजीकरण की प्रक्रिया संस्कृतीकरण के बाद और उससे अपेक्षाकृत बड़े रूप में होती है। इन दोनों प्रक्रियाओं के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन-काल में अपने समूह की परंपराओं तथा उसके कार्यों तथा लक्षणों को ग्रहण करते हैं।

संस्कृति का विकास तथा परिवर्तन कैसे होता है, इसको बतलाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांत प्रचलित हैं। सांस्कृतिक विकासवाद यह बतलाता है कि किसी निश्चित क्रम से संस्कृतियों का विकास होता है। सांस्कृतिक प्रसार का माध्यम एक स्थान से दूसरे स्थान पर संस्कृति के किन्हीं लक्ष्यों या प्रतिमानों के प्रसार और फैलाव का वर्णन करता है। पर-संस्कृतीकरण में वे घटनाएं सम्मिलित होती हैं जो दो विभिन्न संस्कृतियों के एक-दूसरे के घनिष्ठ संपर्क में आने पर घटती हैं, तथा जिनसे एक या दोनों संस्कृतियों के भौतिक सांस्कृतिक प्रतिमानों में अंतर आ जाते हैं। अमरीका में रेड इंडियनों के समुदाय, भारत में संथाल, टोडा आदि समुदाय व अफ्रीका के कई जनजातीय समुदाय पर-संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत आये हैं और परिवर्तित हुए हैं। सांस्कृतिक सापेक्षता-वाद-के द्वारा समाज में विद्यमान विविध जीवन के ढंगों की तुलनात्मक रूप से समालोचना, अंतर या मूल्यांकन करने का प्रयास किया जाता है।

सांस्कृतिक परिवर्तन को समझाने के लिए बतलाये गये सिद्धांतों में प्रोफेसर आगबर्न का सांस्कृतिक विलंबन का सिद्धांत पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति के दो भाग होते हैं, भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति में मानव निर्मित मूर्त पदार्थ और उत्पादन सम्मिलित होते हैं, जबकि अभौतिक संस्कृति में आदर्श विचार, परंपराएं रीति-रिवाज, सावधानियां, हिदायतें आदि सम्मिलित होती हैं। प्रायः देखने में आता है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्रता से आ जाता है, लेकिन अभौतिक संस्कृति के तत्त्वों में वैसी ही गति से परिवर्तन नहीं आ पाता। इससे एक प्रकार का सांस्कृतिक पिछड़ापन या विलंबन उत्पन्न हो जाता है, जो सामाजिक विघटन या चिंताजनक समस्याओं को उत्पन्न करता है।

सामाजिक व्यवस्था : सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति है, जिसमें समाज की विभिन्न क्रियाशील इकाइयां आपस में तथा समग्र समाज के साथ एक अर्थपूर्ण ढंग से संबंधित होती हैं। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था सांस्कृतिक रूप से संरचित और स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था होती है, जिसमें एक से अधिक परस्पर संबंध बनाये रखते हैं। यह अंतः संबंध ऐसी परिस्थिति में होता है, जिसका एक से अधिक प्राकृतिक या सामाजिक वातावरण संबंधी पक्ष अवश्य होता है। कर्ताओं में अपनी इच्छाओं की पूर्ति आदर्श या उचित ढंग से करने की प्रवृत्ति देखने में आती है। सामाजिक व्यवस्था में विश्वास, ज्ञान, भावनाएं, आवश्यकताएं, लक्ष्य और उद्देश्य, आदर्श, कार्यशक्ति, मानवता, सुविधा आदि कारक अवश्य होते हैं। सामाजिक व्यवस्थाओं के कई वर्गीकरण उपलब्ध हैं। सामाजिक मानवविज्ञानी मोर्गन के अनुसार जंगली, असभ्य व सभ्य तीन प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएं होती हैं। फ्रांसीसी समाजविज्ञानी प्रोफेसर दुर्खीम के अनुसार सामाजिक व्यवस्था यांत्रिक एवं जीवात्मक दो प्रकार की होती है। प्रोफेसर सोरोकिन के अनुसार चेतनात्मक, आदर्शात्मक और भावनात्मक सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाएं देखने में आती हैं।

सामाजिक संरचना : किसी भी समाज की संरचना से तात्पर्य परस्पर संबंधित संस्थाओं, स्रोतों, सामाजिक प्रतिमानों, स्तरों, पदों और कार्यों की अमूर्त या भाववाचक व्यवस्था से होता है। इस प्रकार की व्यवस्था में निरंतरता, पुनरावृत्ति, स्थायित्व, स्थानीयता व विशिष्टता आदि गुण अवश्य होते हैं। प्रत्येक सामाजिक संरचना के सांस्कृतिक उद्देश्य और संस्थात्मक उद्देश्य अलग-अलग होते हैं।

सामाजिक क्रिया : किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर अन्य व्यक्तियों से संबंधित या उनसे प्रभावित होते हुए सामाजिक परिस्थितियों में एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्य को ही सामाजिक क्रिया कहते हैं। जर्मन समाजविज्ञानी मैक्स वेबर ने चार प्रकार की सामाजिक क्रियाएं बतलायी थीं––तार्किक, मूल्यांकनात्मक, प्रभावा-त्मक, और परंपरागत। सुप्रसिद्ध अमरीकी समाजविज्ञानी टालकोट पारसंस ने इतालवी समाजविज्ञानी पारेटो, जर्मन समाजविज्ञानी मैक्स वेबर तथा फ्रांसीसी समाज-विज्ञानी दुर्खीम के विचारों को मिलाते हुए सामाजिक

क्रिया का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। वे वंश परंपरा, तथा पर्यावरण, साधन और उद्देश्य, शाश्वत मूल्य और उत्साह तथा प्रयास को सामाजिक कार्य के प्रमुख तत्त्व मानते हैं। किसी भी सामाजिक कार्य में कर्ता, स्थिति और प्रेरणा आवश्यक आधार होते हैं। पारसंस की दृढ़ मान्यता है कि व्यक्तित्व, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था किसी भी सामाजिक कार्य के अनिवार्य पक्ष या आधार होते हैं।

मानव का विकास

मानव जीवन पर किसका अधिक प्रभाव पड़ता है। वंशपरंपरा का या उसके पर्यावरण का? यह प्रश्न बहुत समय से चला आ रहा है। पर्यावरणवादी पहले यह कहा करते थे कि पर्यावरण ही व्यक्ति के विकास को निर्धारित करता है। वाट्सन यह कहा करता था, "मुझे सामान्य अवस्थाओं का कोई भी बालक दे दो और साथ ही उपयुक्त वातावरण, मैं उसे जैसा आप कहेंगे, वैसा ही मनुष्य बना दूंगा।" पर्यावरणवादियों की इस गर्वोक्ति के विरोध में वंशपरंपरावादियों ने यह कहा था कि केवल वंशपरंपरा ही व्यक्ति के विकास की सीमा निर्धारित करती है। वुडवर्थ ने लिखा था, "यदि उनको (पर्यावरणवादियों को) किसी बच्चे का उत्तरदायित्व सौंपा जाये और कहा जाये कि इसे एक महान कलाकार या वैज्ञानिक या राजनीतिज्ञ बना डालें, तो वे शीघ्र ही यह मान लेंगे कि पर्यावरण संबंधी तत्त्वों का महत्त्व उनके ज्ञान की गुरुता और महत्त्व को देखते हुए बहुत ही कम है।" लेकिन आजकल सभी विद्वान इस प्रकार के विचारों को अनुचित मानते हैं।

आधुनिक विचारधारा के अनुसार मैकआइवर तथा पेज ने लिखा है कि "हम इस प्रकार के गलत प्रश्न कि दोनों में से किसका कितना प्रभाव पड़ता है, पूछकर बेकार अपना समय नष्ट करते हैं।" वुडवर्थ नामक विख्यात मनोविज्ञानी ने भी ऐसा ही लिखा है, "ऐसे प्रश्न पूछना तो ऐसे ही हुआ कि एक मोटर कार के लिए इंजन का अधिक महत्त्व है या पेट्रोल का या एक पत्तागोभी उगाने के लिए बीज का अधिक महत्त्व है या जमीन का?" वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए मैकआइवर व पेज ने लिखा है कि "जीवन की प्रत्येक घटना दोनों का फल होती है और उनमें से एक परिणाम के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी की दूसरी। कोई भी न तो कभी हटायी जा सकती है और न कभी अलग ही की जा सकती है।" आल्टेनबर्ग के शब्दों में "प्रत्येक लक्ष्य को अपने विकास के लिए वंशानुक्रम और पर्यावरण दोनों की आवश्यकता होती है।" मिचूरिन ने लिखा है कि "आत्मसात की क्रिया द्वारा वंश परंपरा और पर्यावरण, दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।" लुंबे के अनुसार प्रश्न यह नहीं है कि "वंशपरंपरा हो या पर्यावरण, बल्कि यह है कि वंशपरंपरा और पर्यावरण मिलकर क्या करते हैं।" लेंडिस और लेंडिस ने लिखा है कि "वंशपरंपरा हमें कार्यशील पूंजी देती है और पर्यावरण हमें उस पूंजी को काम में लाने के अवसर देता है।"

वास्तव में यह सभी विचार ठीक हैं; क्योंकि वंशपरंपरा और पर्यावरण को एक दूसरे से अलग करना कठिन है। दोनों के समन्वय के बिना काम चल ही नहीं सकता। पर्यावरण के पक्ष के कुछ विद्वान यह कहा करते हैं कि वे पर्यावरण द्वारा व्यक्ति को जैसा रूप देना चाहें, दे सकते हैं। परंतु यह दावा कितना आधारहीन सिद्ध हो जाता है, जब एक जन्मजात रूप से मंद बुद्धि बालक को वे लाख यत्न करने पर भी आइंस्टीन या जवाहरलाल नेहरू नहीं बना सकते। यदि बालक जन्मजात रूप से ही प्रतिभावान है और उसे उत्तम पर्यावरण भी मिल जाता है, तो उसका विकास अवश्य ही प्रशंसनीय ढंग से होगा। यह देखने में आया है कि कई जन्मजात रूप से प्रतिभावान व्यक्ति उचित पर्यावरण के न मिलने के ही कारण अपना विकास नहीं कर पाये हैं तथा अशिक्षा, गरीबी, बुरी सोहबत आदि में पड़कर सदा के लिए पिछड़े रह गये हैं। ख्रुश्चेव, कैनेडी, पटेल, जगजीवन राम, अंबेडकर आदि अनेक नेताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्होंने जन्मजात रूप से उत्तम बुद्धि पायी थी और बाद में सौभाग्य से उन्हें अच्छा पर्यावरण भी मिला। इसलिए उन्होंने समुचित प्रगति कर ली थी। अतः इस ध्रुव सत्य को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि जब तक वंशपरंपरा की मौलिक विशेषताएं किसी व्यक्ति में विद्यमान नहीं होंगी, उत्तम वातावरण तनिक भी अर्थपूर्ण नहीं रह जायेगा—दोनों का संयोग होने से ही कुछ बन सकता है।

प्रोफेसर ग्रीन तो इससे भी आगे की बात कहते हैं।

उनके विचार से केवल वंशपरंपरा और पर्यावरण के समन्वय से ही काम नहीं चलता, इसके अतिरिक्त विकास करने की इच्छा भी होनी चाहिए।

पेस्कल जिसवर्ट ने भी इसी विचार को एक रोचक उपमापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "कलाकार और ब्रुश चित्र नहीं बनाते, अपितु कलाकार ब्रुश की सहायता से चित्र बनाता है, वह कार्य उसकी प्रेरणा व कुशलता का ही आवश्यकीय परिणाम होता है। लेकिन अन्य बातें द्वितीयक भूमिका ही अदा करती हैं, जो उससे भिन्न होती हैं।"

वंशपरंपरा और पर्यावरण संबंधी नियंत्रित परीक्षणों का समाजविज्ञान में बहुत महत्त्व है। नियंत्रित परीक्षणों से तात्पर्य उन परीक्षणों से है, जिनमें वंशपरंपरा और पर्यावरण में से किसी एक तत्त्व को नियंत्रित करके दूसरे तत्त्व के कार्य अथवा प्रभाव को जानने का प्रयास किया गया हो। ऐसे परीक्षण वस्तुत: परीक्षणों या प्रयोगों की भांति ही होते हैं, जिनमें प्रयोगशाला की नियंत्रित अवस्थाओं में रखकर होनेवाले परिवर्तनों को जानने का प्रयास किया जाता है। ऐसे प्रयोगों की दो श्रेणियां हैं:

(1) वंशपरंपरा को स्थायी अथवा नियंत्रित रखकर किये गये प्रयोग।

(2) पर्यावरण को स्थायी अथवा नियंत्रित रखकर किये गये प्रयोग।

वंशपरंपरा को नियंत्रित रखकर किये गये प्रयोग

(1) 28 मई 1934 को कनाडा में ओंटारियो फार्म पर एक स्त्री के एक साथ पांच लड़कियां जुड़वीं संतानों के रूप में उत्पन्न हुई थीं, जिन्हें डाईने सिस्टर्स कह कर पुकारा जाता है। वे एक ही अंडकोश के विभाजन होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। इस प्रकार उनकी वंशपरंपरा बिलकुल समान ही थी और यह कारक नियंत्रित था।

तीन वर्ष की आयु में मनोविज्ञानियों द्वारा किये गये उनके अध्ययन से उनकी सामाजिक सफलता, लोक-प्रियता, रुचि आदि में पर्याप्त अंतर देखे गये। साढ़े दस वर्ष की आयु में उनके व्यापारिक प्रबंधक कैथ मुनरो ने उनके स्वभाव एवं रुचियों में बहुत गंभीर अंतर बतलाये थे। वे प्रभाव संभवत: पर्यावरण के कारण रहे होंगे, ऐसा सोचा जा सकता है; लेकिन ऐसा कहने में भी एक गंभीर कठिनाई यह है कि उनका बचपन का वातावरण भी एक-सा ही रहा, क्योंकि उनका पालन-पोषण एक ही घर में हुआ था। वस्तुत: इस प्रयोग से गुत्थी सुलझने के स्थान पर और उलझ गयी है।

(2) प्राणिविज्ञानी, मनोविज्ञानी और सांख्यिकी-वेत्ता होलजिगर ने 19 समान जुड़वें बालकों को लिया। लेकिन इन बालकों को अलग-अलग घरों में रखकर पाला गया। बाद में अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि उनमें मानसिक और सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न हुए। निस्संदेह यह पर्यावरण की भिन्नता के कारण उत्पन्न हुए होंगे; क्योंकि उनकी वंशपरंपरा तो एक सी ही थी।

पर्यावरण को नियंत्रित रखकर किये गये प्रयोग

(1) कुमारी बर्क्स ने एक अध्ययन किया जिसमें विभिन्न माता-पिताओं से उत्पन्न कई बालकों को एक ही वातावरण में रखकर पाला गया था। इसके आधार पर उन्होंने यह घोषित किया था कि वंशपरंपरा का लगभग 80 प्रतिशत प्रभाव पड़ता है, जब कि पर्यावरण का 20 प्रतिशत प्रभाव पड़ता है।

(2) स्कीलर ने 150 अवैध बालकों को, जिनकी वंशपरंपरा का कुछ भी पता नहीं था, 6 मास की आयु से एक अनाथालय में पाला था। समय-समय पर उनकी बुद्धि-परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि उनमें से 16 बच्चों की बुद्धि-लब्धि दो वर्षों के बाद 116 तक पहुंच गयी, जब कि उनकी माताओं की औसत बुद्धिलब्धि 71 निकली। ढाई साल बाद उन बच्चों की औसत बुद्धिलब्धि 108 पायी गयी। इससे यह स्पष्ट हुआ कि पर्यावरण का मानसिक लक्षणों पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

इन परीक्षणों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि किस प्रकार पर्यावरण और वंशपरंपरा प्रभाव डालते हैं। परंतु इन प्रयोगों को कोई विशेष सम्मान नहीं दिया जाता; क्योंकि इन से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता। प्रो० जेनिंग्ज ने इन से यह निष्कर्ष निकाला है कि "जो कुछ वंश-परंपरा कर सकती है, वह पर्यावरण भी कर सकता है।" वास्तव में तथ्य यही है कि वंशपरंपरा और पर्यावरण मिलकर ही व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं।

महत्त्वपूर्ण वंशों के अध्ययन

मानव जीवन को विशिष्टता प्रदान करने में वंशानुक्रम का कितना प्रभाव पड़ता है, इसके प्रमाण प्रस्तुत करते हुए वंशानुक्रमवादियों ने कुछ विख्यात और कुख्यात वंशों का उल्लेख किया है। विख्यात परिवार में सब से अधिक प्रसिद्धि एडवर्ड्स परिवार को मिली है और कुख्यात वंशों में सब से अधिक बदनामी ज्यूक और कालीकाक वंशों को मिली है। अत : उनके संबंध में कुछ विस्तार से उल्लेख करना उचित होगा।

एडवर्ड वंश : अमरीका में एक धनी, संपन्न और प्रतिष्ठावान वंश के रूप में एडवर्ड वंश का अध्ययन किया गया। सन् 1900 में सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि उस वंश के लगभग 1394 व्यक्ति उस समय जीवित थे, जो एडवर्ड्स नामक एक योग्य पूर्वज की संतानें बतलाये जाते थे। उनकी सामाजिक सफलता के विषय में निम्नांकित तथ्य प्राप्त हुए थे :

(अ) 295 व्यक्ति ग्रेजुएट थे।
(आ) 13 व्यक्ति विश्वविद्यालयों या कालेजों के अध्यक्ष थे।
(इ) 50 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति व्यापार और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए व अत्यंत सफल थे। शेष व्यक्ति भी सम्मानित पदों पर थे।
(ई) एक व्यक्ति अमरीका का उपाध्यक्ष था।

यह अध्ययन बिनशिप ने किया था।

ज्यूक वंश : 1720 में उत्पन्न हुए ज्यूक नामक एक शराबी और बदमाश ज्यूक के वंश के 1200 लोगों का एक सर्वेक्षण 1877 में किया गया था। अध्ययन से निम्नांकित तथ्य प्राप्त हुए थे :

(अ) 440 शारीरिक रोगों से ग्रस्त थे।
(आ) 310 निर्धन थे।
(इ) 300 रुग्णावस्था में ही मरे थे।
(ई) 130 अपराधी थे, जिनमें से 7 हत्यारे थे।
(उ) 50 प्रतिशत से अधिक स्त्रियां वेश्याएं थीं।

1915 में पुन : इस वंश के लोगों का सर्वेक्षण करने पर यह ज्ञात हुआ था कि उस समय 2820 वंशज थे, जिनमें 600 मानसिक रूप से रोगी पाये गये।

यह अध्ययन डुग्डैल और स्ट्राब्रुक ने किया था।

गोडार्ड ने कालीकाक वंश का अध्ययन किया था। कालीकाक अमरीकी क्रांति के समय एक सिपाही था। उसने दो स्त्रियों से विवाह किया था। उसकी पहली स्त्री मंदबुद्धि, दुराचारी और नीच कुल की थी। दूसरी स्त्री भली और उच्च कुल की थी। पहली स्त्री की संतान से जन्मी 480 संतानों में कोई भी उल्लेखनीय सामाजिक सफलता प्राप्त नहीं कर सका। इस तथ्य की पुष्टि में उसके ये आंकड़े प्रस्तुत किये :

(अ) 143 व्यक्ति बेवकूफ थे।
(आ) 46 सामान्य बुद्धि वाले थे।
(इ) 36 अवैध संतानें थीं।
(ई) 33 दुराचारी थे।
(उ) 24 शराबी थे।
(ऊ) 3 पक्षाघात से पीड़ित थे।
(ए) 8 वेश्यालयों के मालिक थे।

दूसरी स्त्री की संतानों से जन्मी 496 संतानों में से कई व्यक्ति डाक्टर, अध्यापक, प्रोफेसर, व्यापारी और वकील थे।

इन उदाहरणों के द्वारा वंशपरंपरावादियों ने, जिनमें प्रमुख कैडोल, कार्ल पीयर्सन, बुड्स, डुग्डैल, स्ट्राब्रुक, गोडार्ड और बिनशिप हैं, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जो व्यक्ति जैसा होता है, वंशपरंपरा के द्वारा उसके गुण अथवा अवगुण उसकी संतानों में आ जाते हैं और इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण में वंशपरंपरा का ही प्रभाव पड़ता है, और पर्यावरण का नहीं। उनके अनुसार ज्यूक और कालीकाक के वंशज अयोग्य इसीलिए निकले कि वे एवं उनकी पत्नियां अयोग्य थीं। एडवर्ड्स वंश के लोग सामाजिक रूप से अत्यंत सफल इसीलिए हुए कि उनका पूर्वज एडवर्ड्स बहुत योग्य व्यक्ति था। गाल्टन ने अपनी पुस्तक 'हेरीडीटेरी जीनियस' (1869) में इस पक्ष पर बहुत बल दिया है और वंशानुक्रम के कारक की महत्ता पर बहुत प्रकाश डाला है।

ये अध्ययन वास्तव में बहुत ही रोचक और उपयोगी प्रतीत होते हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि ये वंशानुक्रम का महत्त्व पर्यावरण की तुलना में कहीं अधिक ठहराने में बहुत ही सफल होते हैं। लेकिन इनके विरुद्ध कुछ ठोस आलोचनाएं भी हैं, जिनसे इनकी बहुत सारी चमक समाप्त हो जाती है।

आलोचनाएं

(1) प्राय: विवाह करनेवाले स्त्री-पुरुष भिन्न-भिन्न वंशों के होते हैं, और इस प्रकार पीढ़ी में वाहकाणुओं का नया मिश्रण होता रहता है। अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि जो वाहकाणु एडवर्ड्स, ज्यूक या कालीकाक के थे, वे भी उसी रूप में कई पीढ़ियों के बाद भी उनके वंशजों में विद्यमान रहे? क्या उनमें कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ? इस वैज्ञानिक कसौटी पर ये उदाहरण बेकार सिद्ध हो जाते हैं।

(2) जिसबर्ट ने ठीक ही लिखा है कि क्योंकि इन परिवारों के कुछ वंशजों की संख्या ज्ञात नहीं है, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि सभी एडवर्ड्स अच्छे थे और ज्यूक बुरे थे।

(3) कथित अच्छे और बुरे वंशों का अंतर उनके पर्यावरण के कारण हो सकता है। स्वयं वंशानुक्रमवादी इस बात से इनकार नहीं करते कि उनके पर्यावरण में अंतर रहा था। इस संबंध में प्रोफेसर मैकआइवर और पेज ने बहुत ही उपयुक्त आलोचना की है, "हम ज्यूक सदस्यों के लिये पागलखानों और निर्धन घरों में खोज करते हैं और अनेक ज्यूक सदस्यों को वहां पा लेते हैं, जबकि एडवर्ड्स सदस्यों के लिए सफल रूप से महत्त्वपूर्ण सेवा-केंद्रों में खोज करते हैं और उन्हें वहां पा लेते हैं। हम यह नहीं भूल सकते कि ज्यूक सदस्यों को एक प्रतिकूल सामाजिक वातावरण मिला था, जबकि एडवर्ड्स सदस्यों को अनुकूल वातावरण मिला था। यह दावा करना विषय का पूर्व-निर्णय करना होगा कि समूह वातावरण को अपेक्षाकृत अधिक निश्चित करता है, न कि वातावरण समूह को। उपर्युक्त कुख्यात परिवार परंपराओं के अध्ययनों में इसी प्रकार का पूर्व-निर्णय स्पष्ट दिखायी देता है।"

(4) जिसबर्ट के अनुसार एडवर्ड्स वंश के बारे में बाद में एक और अध्ययन किया गया था, जिससे यह ज्ञात हुआ कि वास्तव में यह वंश इतना अच्छा नहीं था जितना कि इसके पूर्व अध्ययन में बतलाया गया था। सर्वेक्षण के दौरान यह ज्ञात हुआ कि जोनाथन एडवर्ड की दादी एलिजाबेथ टटल एक व्यभिचारिणी थी और उसकी बहन ने अपने ही पुत्र को जान से मार डाला था और उसके भाई ने उसकी बहन की हत्या की थी। एलिजाबेथ टटल की शाखा में लगभग 90 हजार वंशज जनमे। इनकी संख्या में एडवर्ड के उल्लिखित सामाजिक रूप से सफल वंशजों की संख्या बहुत कम है। जे० एच० लैडमैन ने ठीक ही कहा है कि यह जानना बहुत ही रोचक होगा कि कितने हजार एडवर्ड प्रोफेसर, डाक्टर या वकील नहीं बने, और उस वंश के वंशजों में से कितने चोर और मूर्खों को छोड़ दिया गया है।

(5) वालिस ने इन वंशजों के पृथक्-पृथक् पर्यावरणों की स्त्रियों को ही इनकी दशा का कारण माना है। उसके अनुसार यह बिलकुल संभव है कि यदि ज्यूक्स को एक अच्छे वातावरण में पाला जाता, तो वह असभ्य एडवर्ड के लिए मिशनरी कार्य करते।

निष्कर्ष

इन आलोचनाओं के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ओसबर्न का यह कहना बिलकुल ठीक है कि "ये अध्ययन समाजशास्त्रीय अध्ययनों के रूप में तो रोचक हैं, लेकिन वंशपरंपरा के रूप में आजकल उन्हें कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है।" ऐसा ही विचार लेसेलोट होगबेन का है—"यदि सामाजिक जीवविज्ञान कभी एक निश्चित विज्ञान बनता है, तो ज्यूक्स के नीरस इतिहास को उसी दृष्टि से देखा जायेगा, जिससे आज हम रसविद्या (कीमियागीरी) को देखते हैं।

समाज पर भौगोलिक प्रभाव

मानव समाज पर भौगोलिक परिस्थितियां बहुत प्रभाव डालती हैं। यह प्रभाव विभिन्न पक्षों में होता है। ज़लवायु, भूमि, खनिज, समुद्र, नदियों और अन्य भौगोलिक कारकों का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

1. जनसंख्या पर प्रभाव

भौगोलिक परिस्थितियां जनसंख्या को प्रभावित करती हैं और जहां भौगोलिक परिस्थितियां खराब होती हैं, वहां आबादी कम होती है। साइबेरिया, सहारा और ऐमेज़न के जंगलों में विपरीत भौगोलिक परिस्थितियों के कारण बहुत कम लोग निवास करते हैं। गंगा-सिंधु के

उपजाऊ मैदान में देश की कुल आबादी के 39 प्रतिशत से अधिक लोग रहते हैं, जब कि इसके समान क्षेत्रफल के हिमालय क्षेत्र में केवल लगभग 2 करोड़ व्यक्ति ही रहते हैं। लेकिन केवल भौगोलिक परिस्थितियां ही मनुष्य के जीवन को प्रभावित नहीं करतीं। औद्योगिक एवं राजनैतिक कारण भी बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ भिलाई पहले एक गांव ही था, परंतु वहां इस्पात का कारखाना बन जाने से अब बहुत अधिक आबादी हो गयी है। राजस्थान की राजधानी बनने के बाद जयपुर की आबादी बहुत अधिक बढ़ गयी है।

2. भोजन पर प्रभाव

तामिलनाडु, केरल और बंगाल के लोग चावल अधिक खाते हैं; क्योंकि उनके प्रदेश में चावल ही अधिक उत्पन्न होता है। मैदानों और नगरों के लोग गेहूं, समुद्र-तीर के लोग मछली, पहाड़ों के लोग मांस, फल, आलू आदि अधिक खाते हैं। फ्रांस और इटली में अंगूर की अधिक पैदावार होने के कारण उसकी खपत अधिक है। लेकिन आजकल आवागमन के साधनों के विकास के फलस्वरूप अब मनुष्य इतना अधिक प्रकृति पर निर्भर नहीं रहा कि अपने क्षेत्र में उत्पन्न वस्तुओं को ही खाये। अब दूर देशों से खाद्य पदार्थ मंगाये जाते हैं और उनका उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त फैशन, दिखावे और संस्कृति का भी प्रभाव भोजन पर पड़ता है। यह भी देखा जाता है कि एक ही भौगोलिक क्षेत्र में गरीब और अमीर लोगों के भोजन में अंतर होता है।

3. कपड़ों पर प्रभाव

प्रायः यह देखा जाता है कि एक भौगोलिक क्षेत्र में जो वस्तु अधिक उत्पन्न होती है, उसके ही वस्त्र बनाये जाते हैं। ठंडे प्रदेशों के लोग ऊनी मोटा कोट, ऊनी लबादे, ऊनी पाजामे और कानों को ढकनेवाली टोपियां पहनते हैं; क्योंकि ऊन वहां बहुत पैदा होती है और साथ ही वहां की अधिक सर्दी से बचने के लिए इसका उपयोग करना अनिवार्य होता है। गर्म प्रदेश के लोग सूती वस्त्र पहनते हैं। बहुत अधिक गर्म मुल्कों के लोग सिर को भयंकर धूप से बचाने के लिए सफेद सूती साफे या टोपियां पहनते हैं। लेकिन आज-कल विश्व के किसी भी भाग में बनाये जाने वाले वस्त्र दूसरे किसी भाग में भेजा जा सकता है। रेशम, टेरिलीन और नाइलोन के बने कपड़े संसार भर में पहने जाते हैं, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में बनाये जाते हों या नहीं। इसके अतिरिक्त एक ही जलवायु और भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले गरीब-अमीरों तथा विभिन्न व्यवसायों के लोगों के वस्त्रों में अंतर होता है।

4. मकानों पर प्रभाव

जहां लकड़ी अधिक पैदा होती है वहां लकड़ी के मकान बनाये जाते हैं। बिहार, उड़ीसा आदि क्षेत्रों में बांस की पैदावार खूब होती है, अतः वहां बांस के मकान अधिक बनाये जाते हैं। मैदानी भागों में पत्थर के अभाव के कारण ईंटों के मकान बनाये जाते हैं। जापान में भूकंपों के फलस्वरूप हल्के लकड़ी के मकान बनाये जाते हैं। टुंड्रा प्रदेश में बर्फ के मकान बनाये जाते हैं; क्योंकि वहां बर्फ ही होती है, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि नहीं होती।

आजकल मकान बनाने का सामान ट्रकों और रेलों द्वारा किसी भी स्थान पर सुगमता से पहुंचाया जा सकता है। एक ही भौगोलिक क्षेत्र पश्चिमी अरिजोना में निवास करनेवाली दो अमरीकी जन-जातियां होपी और नवाहो साथ-साथ रहती हैं। लेकिन होपी चौकोर मकान बनाते हैं, जबकि नवाहो मिट्टी की तिकोनी झोंपड़ी बनाते हैं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि एक ही भौगोलिक क्षेत्र में निवास करनेवाले गरीब लोग झोंपड़ी ही बनाते हैं, जबकि अमीर और मध्यम श्रेणी के लोग पत्थर या ईंट के भवन बनाते हैं।

5. व्यवसाय पर प्रभाव

मैदानों में चरागाह अधिक होते हैं, अतः वहां दुधारू पशु अधिक पाले जाते हैं। पहाड़ों के लोग भेड़ अधिक पालते हैं। समुद्र के तटीय क्षेत्रों के लोग मछली अधिक पकड़ते हैं। जहां जंगल अधिक होते हैं, वहां के लोग अधिकतर लकड़ी काटने और शिकार का व्यवसाय अपनाते हैं, जैसे अफ्रीका के पिग्मी, बांसवाड़ा के भील, कोटा क्षेत्र के कथौडिया। जहां खानें अधिक होती हैं, वहां खानों में काम करना प्रमुख व्यवसाय बन जाता है। अहमदाबाद में कपड़े की मिलें, हिमाचल प्रदेश में लकड़ी चीरने के कारखाने और मैसूर में चंदन के तेल और

साबुन बनाने के कारखाने अधिक होने का कारण भौगोलिक ही है।

केवल भौगोलिक परिस्थिति से ही व्यवसाय और सभ्यता प्रभावित नहीं होती। न्यूजीलैंड और तिब्बत की जलवायु लगभग एक सी है परंतु दोनों देशों के व्यवसायों में बहुत अंतर है।

6. अपराधों पर प्रभाव

अनेक विद्वानों का मत है कि जलवायु का अपराधों के प्रकारों पर प्रभाव पड़ता है। गर्म मुल्कों में अधिक गर्मी के दिनों और सर्द मुल्कों में अधिक सर्दी के दिनों में आत्महत्याएं अधिक होती हैं। जो स्थान बहुत कम उपजाऊ होता है, तथा जहां के लोगों को खाने-पीने की तकलीफ रहती है, वहां चोरी, डकैती आदि अधिक होती है। अरब के रेगिस्तान, थार के रेगिस्तान व चंबल घाटी में डाकू अधिक पाये जाने का कारण भौगोलिक पर्यावरण ही है। परंतु आधुनिक समाजशास्त्रीय अध्ययनों के फलस्वरूप अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि वास्तव में भौगोलिक परिस्थितियों का अपराधों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। आत्महत्या और कत्ल के कारण सामाजिक अधिक होते हैं। अनेक भारतीय परिवारों में पति-पत्नी के बीच भली प्रकार सामंजस्य न होने के कारण स्त्रियों में आत्महत्या की प्रवृत्ति देखी जाती है। सामाजिक और आर्थिक विषमताएं अपराधों के लिए अधिक उत्तरदायी होती हैं, न कि भौगोलिक अवस्थाएं।

7. धर्म पर प्रभाव

भौगोलिक परिस्थितियां धार्मिक भावनाओं, रीति-रिवाजों और उससे संबंधित संकेतों और उत्पादनों को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। मिस्र में नील नदी की तथा भारत में गंगा, यमुना, नर्मदा आदि नदियों की पूजा होती है। मिस्र और सहारा में गर्म रेत के झुलसानेवाले तूफान आते हैं, अतः तूफानों का देवता एक शैतान माना जाता है। भारत में वर्षा की अनिश्चितता के कारण वरुण और सूर्य की पूजा की जाती है। जो भौगोलिक पर्यावरण एक प्रदेश के निवासियों को कष्ट देता है वह नरक की कल्पना का आधार बन जाता है। जो पर्यावरण लोगों को सुखदायी होता है, उसे वह स्वर्ग की कल्पना का आधार बना लेते हैं। अरब और भारत के लोग स्वर्ग में शीतल जलवायु और नदी-नाले होने की तथा नरक में धूलभरी झुलसाने वाली आंधी के तूफानों की कल्पना करते हैं। इसके विपरीत नार्वे और अन्य पश्चिमी पहाड़ी मुल्कों के लोगों की कल्पना में स्वर्ग गर्म होता है और नरक में घना कोहरा और हाड़ कंपा देने वाली सर्दी होती है।

भारत के मैदानों में पीपल और बड़ की अधिक पूजा होती है। आसाम में बांस की पूजा होती है। इटली में वहां के ज्वालामुखी पूजे जाते हैं, तिब्बत में ऐवरेस्ट की चोटी की पूजा विशेष महत्त्व रखती है—इन सबका आधार भौगोलिक ही है। जनजातियों के टोटम (दे० गोत्रचिह्न, मानवविज्ञान खंड) प्रायः उनके भौगोलिक क्षेत्र में पाये जाने वाले जीव और निर्जीव पदार्थ ही होते हैं।

ऐसा भौगोलिक प्रभाव अधिकतर जनजातियों के धर्म पर ही पड़ता है, जिनका सांस्कृतिक स्तर बहुत निम्न होता है। शिक्षितों पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। मानव ने विज्ञान के माध्यम से कई भौगोलिक कारकों पर अधिकार कर लिया है। अब वह पहले की भांति भौगोलिक परिस्थितियों पर उतना निर्भर नहीं है, जितना पहले था। इसीलिए आजकल वरुण, सूर्य और अग्नि की अधिक पूजा नहीं होती। ईसाई धर्म संसार की विभिन्न प्रकार की जलवायुओं और भौगोलिक क्षेत्रों में फैला हुआ है। हिंदू धर्म भारत के प्रत्येक प्रदेश में माना जाता है, चाहे वहां की भौगोलिक परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों। जहां तक टोटम का प्रश्न है, संसार की बहुत ही कम जातियों में वे पाये जाते हैं।

8. विवाह-प्रणाली पर प्रभाव

अनेक समूहों में विवाह की प्रणाली भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है। भारत में हिंदू विवाह का प्रमुख उद्देश्य अधिकाधिक संतानों की उत्पत्ति माना गया है; क्योंकि हमारा देश आरंभ से ही कृषि प्रधान रहा है। यह देखा गया है कि जिन प्रदेशों में भौगोलिक वातावरण बहुत निम्न स्तर का होता है, वहां वर-पक्ष वधू-पक्ष को बहुत सा धन कन्या-मूल्य के रूप में देता है। दक्षिणी अफ्रीका की थोंगो जनजाति में, घाना और कांगो की कई अफ्रीकी जनजातियों और राजस्थान की कई

जनजातियों में यह प्रथा पायी जाती है। पहाड़ी प्रदेशों में जहां जीवन बहुत कठिन है, सेवा विवाह की प्रथा पायी जाती है, जिसमें होनेवाले दामाद को अपने ससुर के घर रहकर कुछ अवधि तक उसकी सेवा करनी होती है। देहरादून क्षेत्र की खस जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। मणिपुर की पुरुप और कूकी जनजातियों में भी यह प्रथा है। भीलों में गोल-गथेड़ी विवाह की जो प्रथा पहले प्रचलित थी, उसका आधार भी भौगोलिक बतलाया जाता है। भारत में पहले खूब धन-धान्य पैदा होता था। अतः हमारे यहां बारात को कम से कम तीन दिन (और अधिक भी) ठहराने का रिवाज था, जबकि पहाड़ी प्रदेशों में बारात बहुत कम समय बाद ही प्रायः दूसरे दिन ही विदा कर दी जाती है।

विवाह के प्रकारों और रीति-रिवाजों पर इस प्रकार के कुछ भौगोलिक प्रभाव हो सकते हैं, परंतु वास्तव में सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराएं अधिक प्रभाव डालती हैं। एक ही भौगोलिक वातावरण में कई प्रकार के विवाह होते हैं। सभ्य और शिक्षित लोगों की विवाह-प्रणाली पर भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत ही कम अथवा नगण्य सा प्रभाव पड़ता है।

अप्रत्यक्ष प्रभाव

मानव जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से ही पड़ता है। शरीर के लक्षण, शरीर का ढांचा और प्रजाति की विशेषताओं पर ऐसा ही प्रभाव देखा जा सकता है। उष्ण कटिबंध के लोगों की खाल का रंग धूप के कारण काला हो जाता है। जिन प्रदेशों में चावल अधिक खाया जाता है, वहां के लोगों के शरीर में कैलशियम की कमी हो जाती है और वे दुबले-पतले होते हैं। एस्कीमो लोगों के नाक के नथुने छोटे, तिरछे और सिकुड़े हुए होते हैं, जिससे ठंडी हवा एकदम नाक में प्रवेश न कर सके। आइसलैंड, सार्डनिया आदि ठंडे मुल्कों में बौने कद के कमजोर घोड़े पाये जाते हैं; क्योंकि उनके लिए वहां पोषक भोजन का अभाव होता है। जब उन्हीं घोड़ों को अमरीका ले जाया जाता है, तो उनके कद में अंतर पड़ने लगता है। पहाड़ी लोगों में अधिक ताकत देखी जाती है, जब कि मैदानी लोगों में अधिक आलस्य। मनुष्य की बुद्धि पर भी भौगोलिक प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। कहते हैं कि इंग्लैंड, अमरीका भारत आदि देशों में विशेष प्रतिभावान व्यक्ति अधिक पैदा हुए हैं, अफ्रीका में बहुत कम। इन बातों की आलोचना से यह कहना होगा कि भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव आरंभ में मानव के लक्षणों पर पड़ा होगा, लेकिन अब यह प्रभाव काफी कम हो गया है। एक ही भौगोलिक वातावरण में भिन्न-भिन्न नस्लों और भिन्न-भिन्न कदों के लोग देखे जाते हैं। विशेष प्रतिभावान लोगों का वितरण भौगोलिक परिस्थितियां नहीं करतीं। कहा जाता है कि सरकार की प्रकृति भी भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है, लेकिन यह बात निराधार और हास्यास्पद है।

इस विवरण से यह प्रकट होता है कि जनजातियों के जीवन-स्तर पर भौगोलिक परिस्थितियों का भले ही काफी प्रभाव पड़ता हो, लेकिन सभ्य और विकसित समाजों के जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। शिक्षा और विज्ञान से अब मनुष्यों ने भौगोलिक शक्तियों पर बहुत सीमा तक अधिकार कर लिया है, अतः अब वह उनके हाथ की कठपुतली मात्र ही नहीं रह गया।

भौगोलिक निर्णायकवाद

भौगोलिक निर्णायकवाद अथवा भौगोलिकवाद के संप्रदाय का तात्पर्य विद्वानों के उस संप्रदाय से है, जो मानव-जीवन के निर्धारण में भौगोलिक अवस्थाओं का बहुत अधिक प्रभाव मानते हैं। इस संप्रदाय के विद्वानों का मत है कि भौगोलिक परिस्थितियां ही मानव-जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण गतिविधियों को निर्धारित करती हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए इन विद्वानों ने अनेक तर्क दिये हैं। जैसे :

रटजल का कहना है कि "मानव-प्रकृति शुद्ध आकाश में अपना सिर चाहे कितना ही ऊंचा उठा ले, परंतु उसके पैर सदैव धरती पर ही टिके रहेंगे और धूल-धूल ही में मिल जायेगी।" थामस हेवुड कहते हैं, "संसार एक नाटक शाला है और पृथ्वी रंगमंच, जिस पर ईश्वर और प्रकृति अभिनेताओं के काम करते हैं।" सेवरिन का कथन है,

"मुझे बता दो कि तुम क्या खाते हो, और मैं तुम्हें बता दूंगा कि तुम क्या हो ?"

सबसे अधिक जोरदार शब्दों में कहा है विक्टर कजिन ने, "हां, महोदय, उस देश का मानचित्र, उसकी रचना, उसकी जलवायु तथा उसके समस्त भौतिक भूगोल को मुझे दीजिए, मुझे उसके प्राकृतिक उत्पादन, वनस्पति तथा भूगर्भशास्त्र से परिचित कराइये, मैं आपको यह बताने की प्रतिज्ञा करता हूं कि उस देश के मनुष्य कैसे होंगे और वह देश इतिहास में, घटना में नहीं, आवश्यकता से, एक युग-विशेष में नहीं समस्त युगों में क्या भूमिका प्रदान करेगा।" इसी प्रकार ओडम ने कहा था कि "मनुष्य पृथ्वी की संतान है। उसे पृथक् नहीं किया जा सकता।" और ब्रुहन्स ने कहा कि "मनुष्य पृथ्वी पर निर्भर है; क्योंकि वह पृथ्वी पर रहता है।"

भूगोलवेत्ता डा० हंटिंगटन ने कई रोचक सिद्धांत बनाये हैं, जिनके द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भौगोलिक परिस्थितियां मानव-जीवन को बहुत प्रभावित करती हैं। उनके कुछ सिद्धांत इस प्रकार हैं :

1. जब तापक्रम सामान्य से बढ़ जाता है, तो सर्दियों में मृत्यु दर कम हो जाती है और गर्मियों में बढ़ जाती है।

2. जहां की जलवायु अच्छी होती है, वहां विशेष प्रतिभावान व्यक्ति अधिक पैदा होते हैं।

3. जलवायु ही सभ्यताओं के वितरण, विकास और पतन को निर्धारित करती है।

4. जलवायु अच्छी होने पर या उसके परिवर्तनों के फलस्वरूप लोगों का स्वास्थ्य सुधरता है और उससे उनकी आर्थिक समृद्धि होती है।

5. जलवायु प्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य और शक्ति को प्रभावित करती है और यह परिणामस्वरूप सभ्यता को प्रभावित करती है।

6. मौसमों का कुछ ऐसा प्रभाव होता है कि कुछ मौसमों में लड़कियां अधिक पैदा होती हैं और कुछ में लड़के अधिक। कुछ मौसमों में पैदा होनेवाले बालक अधिकतर अपंग होते हैं।

7. खनिज पदार्थों का भौगोलिक वितरण अंतर्राष्ट्रीय कलह और युद्ध के प्रमुख कारणों में से एक है।

8. सभी महान सभ्यताएं नदियों की घाटियों में उत्पन्न होती हैं।

आलोचना

भौगोलिक संप्रदाय के विद्वानों की उपर्युक्त कुछ उक्तियों और कथनों के संबंध में यह कहना उचित होगा कि ये बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। मानव-जीवन पर भौगोलिक वातावरण का प्रभाव पड़ता अवश्य है, लेकिन वह इतना अधिक नहीं होता कि मनुष्य को पूरी तरह अपने नियंत्रण में ले ले। पशु-जगत और जनजातीय मानव समुदाय को प्रकृति बहुत अधिक प्रभावित करती है, लेकिन मानव ने सभ्यता के बल से प्रकृति पर स्वयं बहुत कुछ अधिकार पाना सीख लिया है। अनेक अविष्कारों के द्वारा मानव की प्रकृति पर निर्भरता बहुत कम हो गयी है।

भौगोलिक निर्णायकवाद की विचारधारा और विशेषतया हंटिंगटन के विचारों में अतिशयोक्ति की मात्रा बहुत अधिक है। उन्होंने तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि ऊपर से देखने पर तो वे बहुत रोचक और विद्वत्तापूर्ण प्रतीत होते हैं, लेकिन गहराई से देखने पर उनका खोखलापन प्रतीत हो जाता है। जन्म-दर, प्रतिभावान व्यक्तियों की उत्पत्ति, सभ्यता का विकास और वितरण, आर्थिक दशा, पुत्र या पुत्री के जन्म, अपराध आदि को जलवायु पूरी तरह से निर्धारित नहीं कर सकती, वह अधिक से अधिक एक कारक हो सकती है। मानव की वृद्धि, प्रयास तथा अध्यवसाय उसके जीवन पर काफी प्रभाव डालते हैं। उनके अतिरिक्त फैशन, नये आविष्कार और संस्कृति-प्रसार आदि भी उसके जीवन को बनाने में और बदलने में काफी योगदान करते हैं।

भौगोलिक निर्णायकवादियों की विचारधारा की आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों ने निम्नांकित विचार प्रस्तुत किये हैं :

1. संस्कृति के स्वरूप जितने जटिल होते हैं, उतना ही तुलनात्मक दृष्टि से भौगोलिक परिस्थितियों और सामाजिक घटनाओं में संबंध कम उल्लेखनीय, अनिश्चित और अस्पष्ट रहता है।

—सोरोकिन

2. मनुष्य दक्षिणी ध्रुव पर आरामदेह और प्रकाशमय नगर बना सकता है और शिक्षा, रंगमंच, खेल-कूदों की व्यवस्था कर सकता है, अथवा वह पनामा नहरों के खोदने

में जो खर्च लगाता है उतना खर्च करके सहारा में ऐसे कृत्रिम पर्वतों का निर्माण कर सकता है, जो वर्षा होने को विवश कर दें।

—बोवमैन

3. पर्यावरण पशु को परिवर्तित करता है, परंतु मनुष्य पर्यावरण को परिवर्तित करता है।

—वार्ड

4. यह कल्पना ठीक नहीं है कि प्रकृति के रंगमंच पर मनुष्य एक निष्क्रिय कारक है, वस्तुतः वह एक सक्रिय कारक है।

—हैवुड

5. इन सिद्धांतों के अध्ययन के आरंभ में व्यक्ति उनकी चमक और मौलिकता से प्रभावित होता है। अध्ययन जारी रखते हुए वह उनके परस्पर विरोधों और अस्पष्टता से उद्विग्न और चकित होता है, और अंत में वह इन सिद्धांतों के सागर में यह न जानते हुए कि इसमें क्या सत्य, क्या गलत और क्या संदिग्ध है, खोता चला जाता है।

—सोरोकिन

6. पर्यावरण सांस्कृतिक ढांचों को बनानेवालों के लिए ईंट और चूना जुटाता है, किंतु यह शिल्पकार की योजना नहीं देता।

—लोबी

7. प्रकृति केवल सामग्री देती है, मनुष्य की आवश्यकताएं उसकी बुद्धि और योग्यता मनुष्य को उसे अपने कार्यों के लिए प्रयोग करने के लिए बाध्य करती है।

—दस्तूर

8. जैसे-जैसे मनुष्य का नियंत्रण बढ़ता है वह अपने निकटतम पर्यावरण पर, जिसमें वह रहता है, प्रत्यक्ष रूप से उतना ही कम निर्भर रहता है और उतना ही कम प्रभावित होता है।

—मैकआइवर और पेज

निष्कर्ष यह है कि जैसे-जैसे सांस्कृतिक विरासत बढ़ती जाती है, पर्यावरण का और भी अधिक भाग उपयोगी और अर्थपूर्ण बन जाता है। एक प्रदेश की प्राकृतिक अवस्थाएं संस्कृति और औद्योगिक कुशलता के बढ़ने के साथ व्यर्थ होने के स्थान पर यथार्थ रूप में और भी अधिक बढ़ जाती हैं।

समाजविज्ञान की प्रमुख शाखाएं

समाजविज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत कई शाखाएं या उपक्षेत्र पनप गये हैं। उनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है :

धर्म का समाजविज्ञान

धर्म का समाजविज्ञान धर्म और सामाजिक संरचना तथा धर्म और सामाजिक प्रक्रियाओं के मध्य विद्यमान महत्त्वपूर्ण संबंधों का अध्ययन है। इसका संबंध उन अलौकिक विश्वासों की सार्थकता या सत्य से नहीं होता, जिन पर धर्म आधारित होता है। प्रमुख संबंध ऐसे विश्वासों के प्रभाव से होता है, जो मनुष्य के ऐतिहासिक अनुभव और समुदायों के विकास में समाविष्ट होते हैं।

धार्मिक समाजविज्ञान के प्रथम और प्रमुख विचारक फ्रांसीसी समाजविज्ञानी एमाइल दुर्खीम रहे हैं। 'धार्मिक जीवन के प्रारंभिक रूप' नामक ग्रंथ में उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार धर्म सामाजिक विश्वासों, रीति-रिवाजों तथा परंपराओं का सामूहिक प्रतिनिधित्व करनेवाला प्रतीक होता है। धार्मिक रीति-रिवाज समाज की महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्रकट करते हैं। दुर्खीम, मालिनोवस्की, रैडक्लिफ ब्राउन आदि ने प्रकार्यात्मक विचारधारा को जन्म दिया। यह विचारधारा इस पर जोर देती है कि धर्म संस्कृति की व्यवस्था को क्या देता है। यह सिद्धांत यह देखने का प्रयास करता है कि आकस्मिक घटना, शक्तिहीनता तथा अभाव के कारकों से धर्म किस प्रकार मनुष्यों को सामंजस्य करने में सहायता देता है। धर्म विस्तृत वास्तविकता से भी ऊपर उठकर एक अलौकिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। जादू को भी इस उद्देश्य से धर्म के पुजारी, पुरोहित या शेमन लोग अपनाया करते हैं।

सुप्रसिद्ध जर्मन समाजविज्ञानी मैक्स वेबर ने अपने विख्यात ग्रंथ 'प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवादी भावना' में बताया है कि धर्म का आर्थिक विकास से भी संबंध हो सकता है। उनके अनुसार कैथोलिक धर्म में ऐसे मूल्य और विशेषताएं थीं, जो कैथोलिक व्यक्तियों को अधिक आर्थिक उत्पादन करने से हतोत्साहित करती थीं, जब कि प्रोटेस्टेंट धर्म आर्थिक उत्पादन को प्रोत्साहित करता है।

उन्होंने हिंदू-धर्म को भी आर्थिक विकास में बाधक

बतलाया था। आधुनिक अमरीकी समाजविज्ञानी किंग्ले डेविस, दुर्खीम के धर्म के सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार पवित्र पदार्थ या वस्तुएं समाज के प्रतीक होने के स्थान पर अदृश्य संसार के प्रतीक होती हैं। उन प्रतीकों से एककर्ता को अपने सामूहिक उद्देश्यों के लिए स्रोत तथा तर्क मिलता है। "धर्म सुदूर भूतकाल और असीम भविष्य के साथ मनुष्य का मेल करवाता है। वह विश्व के लिए उसकी आत्मा को और उसकी आत्मा के लिए विश्व को महत्त्वपूर्ण बना कर उसके अहम् को विस्तृत करता है।" धर्म व्यक्ति को गंभीर अथवा परिपक्व बनाता है। अमरीकी समाजविज्ञानी जे० मिल्टन ने प्रकार्यात्मक सिद्धांत की सीमाएं बताते हुए कहा है कि धर्म गड़बड़ी और क्रांति उत्पन्न करनेवाला कारक हो सकता है। आधुनिक उथल-पुथल के युग में धर्म वह कार्य नहीं कर सकता जो वह आदिम जातियों, पिछड़े समुदायों या परंपरागत समुदायों में करता रहा है। धार्मिक समाजविज्ञान में धर्म का संबंध विविध सामाजिक संस्थाओं से होता है तथा धर्म के प्रचारकों, पुरोहितों, धर्मावलंबियों के कार्यों तथा स्थिति का अध्ययन होता है। भारत में प्रोफेसर जी० एस० धुरिये, प्रोफेसर के० एस० कापडिया, एम० एन० श्रीनिवास आदि ने इस क्षेत्र में रुचि ली है।

कार्ल मार्क्स धर्म को अफीम मानते थे, अतः मार्क्सवादी विचारधारा धर्म को पूंजीपतियों द्वारा गरीबों के शोषण का एक साधन मानती है।

2. ज्ञान का समाजविज्ञान

ज्ञान के समाजविज्ञान का संबंध ज्ञान की उत्पत्ति और प्रसार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक निर्धारकों के वैज्ञानिक अध्ययन से होता है। समाजविज्ञान के पुराने किंतु रोचक क्षेत्र के विकास में विभिन्न देशों के विद्वानों ने योगदान किया था। फ्रांसीसी विज्ञानी एमाइल दुर्खीम की मान्यता थी कि एक समुदाय के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा नृतत्वशास्त्रीय आधारों पर उसका ज्ञान आधारित होता है। उन्होंने सामूहिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत द्वारा इसे पुष्ट करने का प्रयास किया था। उनकी विचारधारा के समर्थकों में मार्शल जिनेट, मार्शल मास, लेवी ब्रूहल, हंस कैल्सन आदि प्रमुख रहे हैं। कारडीनर तथा लिंटन नामक मनोविज्ञानियों ने सांस्कृतिक विकास के संबंध में व्यक्तित्व का अध्ययन करके यह अनुभव किया था कि जिसे किसी विषय-वस्तु का ज्ञान कहा जा सकता है, वह दी गयी संस्कृति में प्राथमिक संस्थात्मक अनुभवों का परिणाम ही होती है। बोगल का विचार था कि मानव के तार्किक विचार सामाजिक परिणाम भी होते हैं। मोरिस हालवाक के अनुसार केवल एक ऐसे समूह में ही व्यक्ति की स्मृति का विकास होता है, जिसमें वह घनिष्ठता का अनुभव करता है।

मैक्स लर्नर, सैटर्स एवं एमीसैंक, ड्यूई, सोरोकिन आदि ज्ञान के समाजविज्ञान की अमरीकी विचारधारा के प्रमुख स्तंभ रहे हैं। मैक्स लर्नर के अनुसार बीसवीं शताब्दी में मानव के कार्यों की प्रेरणा के पीछे कई अतार्किक तथ्य होते हैं। प्रचार तथा अत्यधिक प्रचलित होनेवाली धारणाओं और भावनाओं के फलस्वरूप व्यक्ति के स्वयं के कोई विचार नहीं रह जाते। सैटर्स और एमीसैंक के अनुसार यह देखने में आता है कि व्यापारी वर्ग के सदस्यों में श्रमिकों की तुलना में कहीं अधिक परंपरागत विचार देखने में आते हैं। सी० राइट मिल्स के अनुसार छोटे व्यापारियों और सफेदपोश श्रमिकों के विचार उनके वर्गों के हितों के अनुरूप नहीं पाये जाते। शिल्ज ने किसी भी ज्ञान को रखनेवाले व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में बांटा था : विशेषज्ञ, साधारण व्यक्ति तथा प्रबुद्ध नागरिक। बोसार्ड, वारनर, डेविस आदि ने पता लगाया कि बालकों के पालन-पोषण व समाजीकरण में प्रौढ़ों के दृष्टिकोण व ज्ञान की विभिन्न व्यवस्थाएं परिलक्षित होती हैं। ड्यूई व सोरोकिन के अनुसार एक समाज में विद्यमान सांस्कृतिक परिस्थितियां ही यह निर्णय करती हैं कि किस वस्तु को सत्य अथवा असत्य, वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक, कानूनी या गैरकानूनी, सुंदर अथवा असुंदर कहा जाये। सोरोकिन के अनुसार तीन प्रकार की संस्कृतियां होती हैं : भावनाप्रधान, चेतनाप्रधान और आदर्शात्मक संस्कृति। इन तीनों संस्कृतियों की अलग-अलग विशेषताएं होती हैं, जिनका प्रभाव ज्ञान उत्पन्न करने के उद्देश्यों और विधियों पर पड़ता है। मर्टन और लैजर्सफेल्ड नामक आधुनिक अमरीकी समाजविज्ञानी भी इस क्षेत्र में सक्रिय रूप से लगे हुए हैं।

कार्ल मार्क्स की विचारधारा ने भी ज्ञान के समाजविज्ञान के क्षेत्र को समृद्ध किया। अरनेस्ट ग्रुनवाल्ड ने

इस विचारधारा के समर्थकों के कार्यों की एक उत्तम विवेचना की है। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी विचारक विभिन्न वर्गों के आधार पर ज्ञान के स्तरों और प्रकारों में भेद मानते हैं। पाल स्नेंडे के अनुसार व्यक्ति अपनी इंद्रियों के प्रयोग से जो अनुभव करता है, वही ज्ञान वास्तव में सत्य होता है। बोगडेलोव का विचार था कि जैसी जिस व्यक्ति की सामाजिक स्थिति या अस्तित्व की दशा होगी, वैसी ही स्थिति उसके ज्ञान की भी होगी। ओटाबोर के अनुसार मनुष्य के राजनैतिक विचार समाज की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। मार्क्सवादी विचारक योगारासी के अनुसार सामाजिक परिस्थितियां ही श्रमिक वर्ग और पूंजीपति वर्ग के विचारों को निर्धारित करती हैं।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश समाजशास्त्री कार्ल मेनहीम ने ज्ञान के समाजविज्ञान में महान योगदान किया। उन्होंने विचारधाराओं का विशुद्ध विश्लेषण किया था। वे मूलत: मार्क्सवादी विचार को आदर्श मानते हैं। वे केवल उसी विचार को स्वीकार करते हैं, जो व्यक्ति को उसके वर्तमान के साथ सामंजस्य करने में योगदान देता है। भारत में प्रो० जी० एस० धुरिये, ऐ० के० सरन और प्रो० ए० आर० देसाई ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

3. शिक्षा का समाजविज्ञान

किसी भी समाज की विभिन्न संस्थाओं में शिक्षा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्था होती है। यह औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की हो सकती है। केवल शिक्षण संस्थाएं ही शिक्षा प्रदान नहीं करतीं, बल्कि समाज की विभिन्न संस्थाएं-संगठन और समूह तथा परिवार, पड़ोस, धर्म, राजनैतिक-संगठन, मनोरंजन के साधन, संचार आदि भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति को शिक्षा प्रदान करते हैं। शिक्षा के उद्देश्यों, विषय-वस्तु अथवा पाठ्यक्रमों, शिक्षण-विधियों आदि के विषय में आज के युग में शिक्षक स्वतंत्र नहीं होता, बल्कि उसे समाज की विभिन्न संस्थाओं से प्रभावित होते हुए कार्य करना पड़ता है, जिनमें राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संस्थाएं प्रमुख भूमिका अदा करती हैं। आज किसी भी समाज में दी जाने वाली शिक्षा को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके विविध निर्धारकों को सदैव ध्यान में रखा जाये। शिक्षा का समाजविज्ञान, शिक्षा के विविध सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक निर्धारकों और कारकों का एक व्यवस्थित अध्ययन है। यद्यपि अनेक शिक्षाविज्ञानियों, राजनीति-विज्ञानियों और साहित्यकारों ने प्राचीन भारत, यूनान आदि में शिक्षा और समाज के संबंध पर बल दिया था, लेकिन औपचारिक रूप से इस संबंध पर वैज्ञानिक अध्ययन में रुचि का आरंभ लगभग 1895 से ही हुआ था। अमरीका में 1895 में मिनीसोटा नोरमल ट्रेनिंग स्कूलों में समाजविज्ञान से प्रभावित शिक्षा-पाठ्यक्रमों का अध्ययन आरंभ किया गया था। तब से लेकर 1947 तक अर्थात् लगभग 52 वर्षों तक, शैक्षिक समाजविज्ञान नामक विषय का बहुत विकास हुआ, जिसमें वार्ड, एलवुड, किनेमैन, स्नेडन, पीटर्स, क्लिमेट्स, स्मिथ, जोरबाग, कालप, जेलने, पैनी, क्राउन वाल्टर, विल्मन, कुक आदि कई शिक्षाशास्त्रियों तथा समाजविज्ञानियों ने अपना-अपना मत प्रसारित करने का प्रयास किया। उक्त विषय में महत्त्वपूर्ण समाज-वैज्ञानिक सिद्धांतों, परिकल्पनाओं, विधियों आदि का प्रयोग नहीं होता था, बस केवल शिक्षकों की प्रशिक्षण-शालाओं में उत्पन्न होनेवाली गंभीर और तुरंत ध्यान आकर्षित करनेवाली समस्याओं के हल के लिए कुछ शिक्षाविज्ञानियों और समाजविज्ञान की कुछ सामग्री की सहायता लेने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। 1947 में अमरीका में नीलग्रोस, ब्रूकओवर, ओरविल ब्रिम जूनियर, एडसरन पाल कैली, रोबर्ट बेल, वेस्टबी गिबसन, मार्टिन ट्रो, चार्ल्स एच० पेज आदि समाजविज्ञानियों के प्रयास के फलस्वरूप शैक्षिक समाजविज्ञान का विकास समाप्त हो गया है और उसके स्थान पर शिक्षा-समाजविज्ञान का विकास आरंभ हुआ। यह नया विषय समाजविज्ञान के सिद्धांतों, संप्रत्ययों और विधियों का प्रयोग करता है तथा पाठशालाओं में ही गंभीर समस्याओं के अध्ययन के स्थान पर एक सामाजिक संस्था के रूप में शिक्षा-व्यवस्था और औपचारिक तथा उच्चस्तरीय अध्ययन करता है।

सुप्रसिद्ध अमरीकी दार्शनिक ड्यूई, फ्रांसीसी समाज-विज्ञानी एमाइल दुर्खीम, व ब्रिटिश शिक्षा-समाजविज्ञानी कार्ल मेनहीम ने शिक्षा के समाजविज्ञान के इस सही स्वरूप की रूपरेखा अपनी रचनाओं में प्रस्तुत की थी।

आजकल ब्रिटेन में जीन फलाउड, ए० एच० हेल्से, पी० डब्ल्यू मुसग्रेव, विलियम टेलर आदि तथा भारत में एम० एस० गोरे, वाई बी० डामले, बी० बी० शाह, एस० पी० रुहेला आदि समाजशास्त्री शिक्षा-समाजविज्ञान के प्रमुख विद्वान माने जाते हैं। अमरीका में 'शिक्षा का समाजविज्ञान' नामक पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है। भारत में 'कंट्रीब्यूशंस टु सोशियोलोजी ऑफ एजूकेशन इन इंडिया' नामक चार-वार्षिक ग्रंथमाला का संपादन डा० सत्यपाल रुहेला कर रहे हैं। भारत में शिक्षा-समाजविज्ञान के क्षेत्र में प्रकाशित कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं :

आई० पी० देसाई—'हाई स्कूल स्टूडेंट्स इन पूना'; बी० बी० शाह—'गुजरात स्टूडेंट्स एंड सोशल चैंज' तथा 'दी रोल ऑफ दी सेकेंडरी टीचर'; एम० एस० गोरे आदि द्वारा संपादित 'पेपर्स इन सोशियोलोजी ऑफ एजूकेशन इन इंडिया' तथा 'स्टडीज इन सोशियोलोजी ऑफ एजूकेशन'; तथा एस० पी० रुहेला द्वारा संपादित 'दी सोशियोलोजी ऑफ टीचिंग', 'सोशल डिटरमिनैंट्स ऑफ एजुकेबिलिटी इन इंडिया', 'सोशियोलोजिकल डाइमेंशन्स ऑफ एजूकेशन' आदि। भारत में शिक्षा समाजविज्ञान के क्षेत्र का विकास अब तीव्रता से हो रहा है।

4. शांति का समाजविज्ञान

युद्ध और शांति मानव सभ्यता की दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण और बार-बार होनेवाली घटनाएं हैं। कुछ समाजविज्ञानियों ने पिछले कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान देना शुरू किया है। पुगवाश नामक एक आंदोलन में कुछ समाजविज्ञानियों ने सक्रिय भाग लिया है और आज भी ले रहे हैं। इसका उद्देश्य विश्व में शांति स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान करना है। हालैंड में ग्रोनेगन विश्वविद्यालय में बार्ट लेंडीर नामक एक शांति के समाजविज्ञानी कार्य कर रहे हैं। अमरीका में सोरोकिन और टालकोट पारसंस ने इस दिशा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भारत में यूनेस्को की सहायता से राजस्थान विश्वविद्यालय में अहिंसा और शांति से संबंधित एक सर्वेक्षण भारत, नेपाल और लंका में कुछ वर्षों में पूरा किया गया था। भारत में गांधीजी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के हथियार तथा विश्वशांति संबंधी विचारों को न केवल भारतीय समाजविज्ञानी अपितु विदेशों के कई समाजविज्ञानी भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा उन पर विभिन्न शोध-अध्ययन हुए हैं। शांति के समाजविज्ञान की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है; क्योंकि शांति अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव तथा सामाजिक और राजनैतिक कटुता का निराकरण आज प्रायः सभी देशों के व्यक्ति चाहते हैं तथा इन विषयों पर निष्पक्ष रूप से शोधजनित विचार पाना चाहते हैं। पाश्चात्य देशों की औद्योगिक, नागरीय हिंसा तथा वर्ग-संघर्ष की विभीषिकाओं से त्रस्त पश्चिमी समाज के अनेक प्रबुद्ध नागरिक अब भारत जैसे प्राचीन धर्म तथा शांति और सद्भाव की संस्कृति का आश्रय पाने को लालायित हो उठे हैं, लेकिन हमारे देश के विश्वविद्यालयों में अभी तक शांति के समाजविज्ञान के शिक्षण और शोध की कोई व्यवस्था नहीं है।

5. विज्ञान का समाजविज्ञान

समाजविज्ञान की एक नयी और रोचक शाखा विज्ञान का समाजविज्ञान है। यह एक सामाजिक घटनाक्रम के रूप में विज्ञान का अध्ययन करती है। वैज्ञानिक ज्ञान की चार प्रमुख विशेषताएं होती हैं : अनुभवात्मक सार्थकता, तार्किक स्पष्टता, तार्किक समरूपता और सम्मिलित किये गये सिद्धांतों का समाजीकरण। इन विशेषताओं से युक्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए वैज्ञानिकों को कई प्रकार की बाधाओं का सामना करना होता है। ये बाधाएं अथवा प्रेरणाएं विविध प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारकों से संबंधित होती हैं; अतः विज्ञान के समाजविज्ञान का विद्यार्थी इन कारकों और विज्ञान की प्रणाली अथवा संस्था के परस्पर संबंध में रुचि रखता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विज्ञान का समाजविज्ञान विज्ञान और समाजविज्ञान के पारस्परिक संबंध का अध्ययन करता है। विज्ञान के संख्यात्मक और संघात्मक पक्षों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता है। उसके संख्यात्मक पक्ष के अंतर्गत कई तत्त्व आते हैं, यथा साधारण जनता के हृदय में विज्ञान के प्रति आदर भावना, जनता में विज्ञान की जानकारी, विज्ञान को सहायता प्रदान करने की भावना, उसके प्रति विशालहृदयता रखना, जनता, सरकार, धार्मिक व सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा वैज्ञानिक खोजों

के प्रति रखे गये दृष्टिकोण, विज्ञानियों का विरोध या विद्रोह, वैज्ञानिक खोजों के आगे जनता व सरकार का झुक जाना आदि। विज्ञान के संघात्मक पक्ष के अंतर्गत विज्ञानियों, वैज्ञानिक संस्थाओं के प्रबंधकों, वैज्ञानिक नीति-निर्धारकों, विज्ञान की खोजों को प्रोत्साहित या नियंत्रित करनेवाले कारकों, उनसे लाभान्वित, प्रभावित या शंकित होनेवाले व्यक्तियों के समूहों, विज्ञानियों के पद या स्थिति तथा उनके सम्मान, ज्ञान और कल्याण में परस्पर संबंध, उनके मूल्य तथा व्यवहार तथा पृष्ठभूमियों के प्रतिमान आदि। बरनार्ड बार्बर की पुस्तक 'दी सोशियोलोजी ऑफ साईंस' तथा इस विषय से संबंधित अन्य कई पुस्तकों से विज्ञान के क्षेत्र के बारे में हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इस विषय के अधिकारी विद्वानों के नाम हैं: टालकोट पारसंस, रोबर्ट के० मर्टन, पी० ए० सोरोकिन, बरनार्ड बार्बर, एडवर्ड मिल्स, ओक, लावेज, नेप, होलेंड, कुबी, मीड, हिर्स्क, बेकर, कार्पर, पेत्तस, कोट्रेल, ग्रे सायरे विदे आदि।

भारत में भी विज्ञान के समाजविज्ञान की ओर समाजविज्ञानियों की रुचि बढ़ती जा रही है। सी० एस० आई० आर० तथा अनेक विश्वविद्यालयों के कुछ समाजविज्ञानी विविध प्रकार के अध्ययन कर रहे हैं।

6. सामाजिक मानवविज्ञान

सामाजिक मानवविज्ञान का विकास विश्व भर में बहुत अधिक रुचि के साथ हुआ है। इसे मानवविज्ञान और समाजविज्ञान दोनों का ही अंग माना जाता है। इसका परंपरागत अर्थ है मानवविज्ञान की वह शाखा, जो आदिम जातियों और जन-जातियों, पिछड़े समुदायों आदि की संस्कृतियों से संबंधित है। लेकिन रोबर्ट रेडफील्ड, होवेस, कीसीग, जी० एस० धुरिये, एम० एन० श्रीनिवास, एस० सी० दुबे, आर० एन० समनर आदि यह मानते रहे हैं कि सामाजिक मानवविज्ञान और समाजविज्ञान के मध्य भेद करना अनुचित है; क्योंकि सामाजिक मानवविज्ञान की अध्ययन-पद्धतियों का उपयोग अब अधिकाधिक समाजविज्ञानी करने लगे हैं। सामाजिक मानवविज्ञानी भी समाजविज्ञानियों की भांति ही नागरिक और औद्योगिक प्रतिष्ठानों के जीवन की समस्याओं के अध्ययन में रुचि लेने लगे हैं। अब क्रमशः इसे मानव के शरीर और संस्कृति का अध्ययन करनेवाला विज्ञान माना जाने लगा है। इसके अंतर्गत उतने ही विभाग और उपविभाग आ सकते हैं, जितने विभिन्न मानव क्रिया-कलाप होते हैं। मानव के भूत, वर्तमान और भविष्य के विषय में इस शास्त्र की बहुत रुचि रही है। महान समाजविज्ञानी मार्ग्रेट मीड के शब्दों में, "हमारी विषय वस्तु मानव मात्र है, जैसे भी वह रहा हो, जैसा भी वह है तथा जैसा भी वह होगा यदि उसका अस्तित्व बना रहा।"

सामाजिक मानवविज्ञान के सिद्धांतों और ज्ञान का प्रयोग औपनिवेशिक प्रशासन चलाने, प्रजातीय मामलों को हल करने, उद्योगों, औषधिशास्त्र, युद्ध, ग्रामोत्थान, अपराधविज्ञान तथा शिक्षा सामुदायिक आयोजन, परिवार नियोजन आदि में किया जाता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि समाजविज्ञान की समृद्धि तथा बढ़ती हुई लोकप्रियता के पीछे सामाजिक मानवविज्ञान के संबंध में हुए अनगिनत शोध-अध्ययन और प्रकाशन रहे हैं।

सामाजिक मानवविज्ञान को अब तो प्रायः समाजविज्ञान का ही अंग मान लिया गया है। उसमें संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन होता है, जिसमें अवलोकन या प्रेक्षण प्रमुख पद्धति होती है। ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञानी बी० वी० मालिनोवस्की ने सामाजिक मानवविज्ञान का प्रकार्यात्मक पद्धति को विकसित किया था। उन्होंने 'दी आर्गोनोट्स ऑफ दी वेस्टर्न पेसेफिक' नामक अपने शोध-अध्ययन में इस पद्धति का विस्तृत परिचय दिया है। उन्होंने बतलाया है कि एक सामाजिक मानवविज्ञानी को अनिवार्यतः एक क्षेत्रीय प्रेक्षक (फील्ड इनवेस्टीगेटर) होना चाहिए। उसे क्षेत्र के व्यावसायिक उत्तरदाताओं की सेवाओं का कम से कम उपयोग करना चाहिए तथा स्वयं सभी प्रकारों के व्यक्तियों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित करना चाहिए। उसे अध्ययन-स्थल पर पर्याप्त समय तक रहना चाहिए या समुदाय के लोगों के परिवार के सदस्य के रूप में ही रहना चाहिए तथा प्रत्येक क्षण अपने चारों ओर होनेवाली घटनाओं, बातों, परंपराओं आदि का विस्तृत प्रेक्षण और लेखन करते रहना चाहिए। उसे समूह के सदस्यों के प्रत्येक वार्तालाप, शब्द, भाव, अभिव्यक्ति, कलाकार्य आदि में रुचि लेनी चाहिए तथा उसके वास्तविक जीवन को पकड़ने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। उनके द्वारा बतलाये गये इन विभिन्न

क्षेत्रीय कार्य संबंधी निर्देशों के मूल में उनकी यही मान्यता थी कि एक संस्कृति के सभी तत्त्व वस्तुतः परस्पर संबंधित होते हैं तथा उनमें से कोई भी कभी निरर्थक नहीं होता। उनकी यह दृढ़ धारणा तथा पद्धति असंख्य सामाजिक मानवविज्ञानियों तथा समाजविज्ञानियों को प्रेरणा देती रही है और आज भी दे रही है। लेकिन रेडक्लिफ ब्राउन, ए० आर० लीच, इवाइन्स प्रिटचड आदि विद्वान उनकी पद्धतियों व विशेषकर उनके उपागम (एप्रोच) से सहमत नहीं हैं। उन्होंने मालिनोवस्की की प्रकार्यात्मक पद्धति को एक प्रकार का धार्मिक अंधविश्वास बतलाया है। रेडक्लिफ ब्राउन सामाजिक मानवविज्ञान को तुलनात्मक समाजशास्त्र ही मानते थे जो मानव व्यवहार को नियंत्रित करने वाले सार्वभौमिक नियमों की खोज करने का प्रयत्न करता है। वे चाहते थे कि यह विज्ञान सामाजिक संरचना का ही अध्ययन बने तथा इसके अंतर्गत तुलनात्मक अध्ययन-पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग हो। उनके अध्ययन उपागम के अनुसार अध्ययनकर्ता को यह जानने का भरसक प्रयास करना चाहिए कि एक समाज में विभिन्न व्यक्ति किस प्रकार अपने विभिन्न संस्थात्मक कार्यों व परस्पर संबंधों से व्यवस्थाएं बनाये हुए हैं। वे सामाजिक संस्था को मानव व्यवहार का एक औपचारिक रूप ही मानते हैं। इस विचारधारा को अब प्रायः सभी देशों में गंभीरतापूर्वक स्वीकार किया जाने लगा है।

सामाजिक मानवविज्ञान के अंतर्गत किसी भी समुदाय की परंपरागत संस्कृति तथा उसमें आनेवाले सामाजिक परिवर्तन और उसके द्वारा उत्पन्न अन्य संस्कृतियों पर प्रभाव सम्मिलित होते हैं। परंपरागत संस्कृति के संगठन को समझने के लिए लिंग-भेद, धन, नातेदारी, सामाजिक स्थिति, राजनैतिक सत्ता, व्यवसाय, धर्म और जादू तथा ऐच्छिक संगठनों की जानकारी एकत्र करनी पड़ती है। सामाजिक परिवर्तन, संस्कृति-प्रसार और पर-संस्कृतीकरण का अध्ययन आधुनिक युग में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गया है। विश्व की आदिम जातियां और परंपरागत रीति-रिवाज, व्यवसाय आदि अब शीघ्रतापूर्वक समाप्त होते जा रहे हैं। अतः सामाजिक मानवशास्त्री उनके अध्ययनों में अभी भी विशेष रुचि ले रहे हैं।

भारत में सन् 1811 में सामाजिक मानववैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ था। डाल्टन, इबैटसन, रिसले, ब्रुक, रैडगर, थर्स्टन, ग्रेस, फ्लेचर, होडसन, हंटन, मिल्स आदि अंग्रेजों ने, जिनमें से कई भारतीय प्रशासनिक अधिकारी थे, कई संस्कृतियों के रोचक विवरण प्रकाशित किये थे। भारतीय शोधकर्ताओं में एल० के० ए० अय्यर का कोचीन की जातियों व जनजातियों का अध्ययन, एस० पी० मजुमदार का अंगामी नागाओं का अध्ययन, एस० सी० राम का मुंडा, ओरांव, बिरहोर तथा पहाड़ी भोटियों का अध्ययन, टी० सी० दास का बनमाली रवारिया समुदाय का अध्ययन, ए० अय्यप्पन का नामाडियो का अध्ययन, जी० एस० घुरिये का महादेव कोलियो का अध्ययन, पी० सी० विश्वास और एन० दत्ता मजुमदार के द्वारा संथालों का अध्ययन, एन० के० बोस द्वारा बुना, नोलुआ और पारोई समुदायों का अध्ययन, श्रीनिवास का दुर्ग-वासियों का अध्ययन आदि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हुए अध्ययनों में अत्यंत उल्लेखनीय रहे हैं। वैरियर एलविन ने गोंड, मुरिया, नागा आदि जन-जातियों के अध्ययनों में ही अपना संपूर्ण जीवन बिताया था। एस० सी० दुबे ने कमारों का, आर० एन० सक्सेना ने जौनसार बावर का, एस० के० श्रीवास्तव ने थारू समुदाय का, पी० सी० विश्वास ने संथालों का, इरावती कार्वे ने नातेदारी का, के० के० लुवा ने असुर लोहारों का, सत्यपाल रुहेला ने गाडल्या लोहारों का, सच्चिदानन्द ने मुंडा और ओरांवों का, टी० एस० मदान ने कश्मीरी पंडितों का तथा अनेकानेक विदेशी विद्वानों, यथा एफ० जी० बेली, कैथलीन गफ, मैक्किम मेरियट, गिटेल स्टीड, बैसमैन आदि ने कई भारतीय समुदायों का अध्ययन किया है।

विदेशों के कुछ जिप्सीयोलोजिस्ट (खानाबदोशविद्या-विदों) जैसे जानकोखेनोवोस्की तथा मिलेना हिब्समनोवा आदि ने भारतीय घुमंतू खानाबदोश जनजातियों के रीति-रिवाजों तथा बोलियों का अध्ययन उस समय तक भारत में आकर किया है। कई मानव भूगोलवेत्ता, राजनीतिविज्ञानी, भाषाविज्ञानी, तथा अर्थशास्त्री भी भारतीय समुदायों का सामाजिक मानववैज्ञानिक पद्धतियों से अध्ययन करने के लिए आते रहे हैं। भारत में सामाजिक मानवविज्ञानी ग्रामों, नगरों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों, सामु-दायिक आयोजना, परिवार नियोजन, स्वास्थ्य, आवास आदि क्षेत्रों में अब सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। यद्यपि आजकल समुदायों के अध्ययन का जोर कम पड़ता जा

रहा है और तुलनात्मक पद्धति अभी भी अल्पावस्था में ही है, तथापि निस्संदेह सामाजिक मानवविज्ञान का भविष्य भारत जैसे विकासशील देशों में तो अत्यंत उज्ज्वल है।

7. व्याधि (बीमारी) का समाजविज्ञान

व्याधि का समाजविज्ञान या बीमारी का समाजविज्ञान, समाजविज्ञान का एक नया व रोचक अंग है, जिसका तीव्रतापूर्वक विकास न केवल पाश्चात्य देशों में, अपितु भारत में भी अब हो रहा है। इसका संबंध बीमारी से संबंधित व्यक्तियों, रोगी और चिकित्सक के पदों या स्तरों तथा कार्यों के समाजशास्त्रीय अध्ययन से होता है। इसके अंतर्गत यह जानकारी प्राप्त करने का भरसक प्रयास किया जाता है कि सामाजिक संरचना का बीमारी और उससे संबंधित व्यक्तियों, रोगियों और चिकित्सकों तथा उनके संदर्भ-समूहों से क्या गतिशील या स्थायी प्रकार का संबंध होता है।

यद्यपि बीमारी एक अत्यंत प्राचीन सामाजिक समस्या है, क्योंकि इसका संबंध प्रत्येक व्यक्ति और जीवित प्राणी से रहा है, तथा इसका धर्म, जादू, शिक्षा, लोकवार्ता आदि से घनिष्ठ संबंध पहले से असभ्य और सभ्य दोनों प्रकार के समाजों में रहा है, तथापि आधुनिक काल में इसकी चिकित्सा-प्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। आज न तो किसी भी बीमारी के उपचार को अत्यंत सरल माना जाता है और न ही असंभव। आज बीमारी के उपचार के दो प्रकारों—औपचारिक चिकित्सा तथा अनौपचारिक चिकित्सा—में से औपचारिक चिकित्सा पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अनौपचारिक चिकित्सा के अंतर्गत झाड़ा, जादू, टोटम, अंधविश्वास की परंपराएं, दान, भोज आदि करते हैं।

आधुनिक चिकित्सक या डाक्टर पहले के चिकित्सकों की भांति धर्म, दर्शन, और जादू की सहायता नहीं लेता। वह प्राचीन काल के चिकित्सकों की बुद्धिमत्ता के स्थान पर एक विशेषज्ञ की कुशलता रखता है। आवश्यक नहीं है कि वह अनिवार्य रूप से किसी उच्च जाति, वंश या समुदाय का व्यक्ति हो। वह अब किसी भी जाति, वंश या समुदाय का व्यक्ति हो सकता है। अब यह कार्य व्यवसाय का रूप धारण कर रहा है और उसमें स्त्रियों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। चिकित्सक का व्यवसाय सफेद-पोश व्यवसायों में अत्यंत उच्च माना जाता है। उसके कार्य के संबंध में भी कई रोचक समाजशास्त्रीय तत्त्व ढूंढे जा सकते हैं। उसके कार्य का निर्धारण एक व्यक्ति नहीं करता, व्यक्तियों का समुदाय या समाज करता है। उसका कार्य एक व्यक्ति से ही संबंधित नहीं होता, वह व्यक्तियों में एक ऐसे समूह से संबंधित होता है, जिसकी सदस्यता के बारे में उसे पूर्वसूचना नहीं होती। न जाने कहां और कौन सा रोग उसके सामने उपस्थित हो जाये। उसका दृष्टिकोण कर्मविषयक, पक्षपातहीन तथा वैज्ञानिक होना चाहिए। उसमें स्वार्थ-भावना या लोभ की प्रवृत्ति का होना अनुचित माना जाता है; क्योंकि उससे यह आशा की जाती है कि वह रोगी का कल्याण अपना सर्वोपरि उत्तरदायित्व मानेगा। यद्यपि उसे रोगी की चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान देना होता है, तथापि उसे उपचार का पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिए आर्थिक मामलों को भी तय करना पड़ता है। उसमें उसे एक उच्च स्तर का नैतिकतापूर्ण आचरण करना चाहिए, ताकि उसका व्यवहार व्यापारिक मनोवृत्ति का परिचायक न बन पाये। समाज-विज्ञानी पहले प्रायः रोगों में सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे, लेकिन अब इस ओर भी उनकी रुचि बढ़ती जा रही है। आज यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि ग्रामीण समाजों, बाल-विवाहों, पर्दा, खानपान की आदतों, टोटम आदि का बीमारियों और चिकित्सा से क्या संबंध है ?

रोगी की सामाजिक स्थिति और कार्य बीमारी के समाजविज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग है। कोई भी व्यक्ति रोगी हो सकता है। अधिकांश व्यक्ति अल्प या अस्थायी अवधि के लिए ही रोगी होते हैं। रोगी किसी भी सामाजिक वर्ग, समुदाय या व्यवसाय से संबंधित नहीं हो सकता। बीमारी को सभी बुरा समझते हैं। बीमारी होने पर कई सामाजिक और प्राकृतिक सुख-सुविधाओं से वंचित होना पड़ता है, लेकिन बीमारों को कई विशेष सुविधाएं भी दी जाती हैं।

8. सामाजिक विघटन

सामाजिक विघटन समाजविज्ञान की वह शाखा है, जिसका कार्य समूह में स्थापित व्यवहार प्रतिमानों, संस्थाओं, या नियंत्रणों के क्रमभंग या सुचारु रूप से कार्य

न करने की प्रक्रियाओं और अवस्थाओं का अध्ययन करना होता है। सामाजिक विघटन की परिभाषा करते हुए इलियट और मेरिल ने लिखा है कि यह एक प्रकार की ऐसी प्रक्रिया होती है, जिससे मनुष्यों के पारस्परिक संबंध टूटते या नष्ट हो जाते हैं। सामाजिक विघटन सामाजिक संगठन का विरोधी अथवा विकृत स्वरूप होता है। इसके कई लक्षण देखने में आते हैं, जैसे रूढ़ियों और संस्थाओं में संघर्ष, एक समूह से दूसरों के कार्यों का हस्तांतरण, व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बल, दिखावा, पवित्र और आदर्श विचारों का ह्रास, सुख संबंधी व्यवहार चाहना, पारस्परिक अविश्वास, घृणा, अशांति, असामंजस्य का स्थापित हो जाना आदि। सामाजिक असामंजस्य अथवा विघटन कई क्षेत्रों में पाया जा सकता है, जैसे, आर्थिक व्यावसायिक विघटन, सरकार में विघटन, परिवार में विघटन, शैक्षिक प्रणाली में विघटन, धार्मिक संगठन में विघटन, नीतियों, आचार-विचारों आदि में विघटन। लेकिन इन्हें मोटे रूप मे दो प्रकार के विघटनों में ही विभक्त किया जाता है—व्यक्तिगत विघटन और सामाजिक विघटन।

व्यक्तिगत विघटन परिवारों में अथवा किसी भी संस्था या समूह में व्यक्ति विशेष का विघटन होता है, जबकि सामाजिक विघटन समाज या संस्कृति के विविध क्षेत्रों, पक्षों और अंगों में होनेवाले विघटन का नाम है। सामाजिक विघटन क्यों उत्पन्न होता है, इस संबंध में अनेक स्पष्टीकरण या सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं, जैसे, धर्मशास्त्र संबंधी सिद्धांत, आध्यात्मिक विद्या संबंधी व्याख्या, सामाजिक समस्या सिद्धांत, मनोजैविकीय सिद्धांत, भौगोलिक सिद्धांत तथा सांस्कृतिक सिद्धांत। सामाजिक संकट जैसे युद्ध, क्रांति आदि भी सामाजिक और व्यक्तिगत विघटन कर देते हैं। आर्थिक परिस्थितियां सामाजिक विघटन को उत्पन्न करने और उन्हें विकसित करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक विघटन के अनेक रूप देखने में आते हैं, यथा बेकारी, गरीबी, बाल-अपराध, भिक्षावृत्ति, अपराध, क्रांति, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या, मद्यपान, मादक व्यसन, पारिवारिक विघटन, कमजोर स्वास्थ्य और बेकारी, वर्ग संघर्ष, बेईमानी आदि

सामाजिक विघटनशास्त्र इस प्रकार की सामाजिक समस्याओं के उत्पन्न होने के कारणों, प्रसार, प्रभावों आदि का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। इनको दूर करने के विविध उपायों, संस्थागत उपचारों आदि की ओर भी इसका ध्यान जाता है। उदाहरणार्थ, अपराधियों को सुधारने, दंडित करने और उनको पुनः अच्छे नागरिक जीवन में व्यवस्थित करने के लिए आजकल प्रायः सभी सभ्य समाजों में प्रोबेशन, पेरोल, खुले कारागार, बाल न्यायालय आदि की व्यवस्थाएं चल रही हैं। इनकी व्यवस्थाओं के गुण-दोषों का विश्लेषण करने के लिए 'आदर्शहीनता' (ऐनोमी) तथा 'पृथकत्व' (एलिअनेशन) जैसे महत्त्वपूर्ण संप्रत्ययों को प्रस्तुत किया गया है। फ्रांसीसी समाजविज्ञानी एमाइल दुर्खीम तथा उनके बाद अमरीकी समाजविज्ञानी रोबर्ट के० मर्टन ने 'आदर्शहीनता' की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा बतलाया है कि किस प्रकार इसका प्रयोग सामाजिक विघटन को समझाने में किया जा सकता है। पृथक्करण के कई रूप समाज में प्रचलित होते हैं, जिनमें आदर्शहीनता भी एक होता है। इसके अन्य रूपों में शक्तिहीनता, अर्थहीनता आदि आते हैं। सामाजिक विघटनशास्त्र के क्षेत्र में प्रसिद्ध लेखक और विचारक हैं: एडविन एम० लोमार्ट, मार्शल बी० क्लीनार्ड, एडविन एच० सदरलैंड, डोनाल्ड क्रेसी, नारमन जोन स्टोन, मारविन ई० बुलफोग, एमाइल दुर्खीम, रोबर्ट मर्टन, रिचर्ड ए० क्लोवार्ड, एरविंग गोफमैन, होवार्ड एस० बेकर, फ्रेंक टेनन बाम, फ्रेंच एलेक्जेंडर, एलबर्ट के० कोहन आदि। भारत में सेठना, राम आहूजा आदि ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण लेखन कार्य किया है।

9. पारिवारिक समाजविज्ञान

मानव समाज की संस्थाओं में परिवार एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्था है। परिवार की व्यवस्था, आकार, रचना, सीमाओं, कठिनाइयों आदि पर सामाजिक संरचना, संस्कृति, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और अन्य कारकों का प्रभाव पड़ता है। परिवार में बच्चों के लालन-पालन अथवा समाजीकरण, वयस्क सदस्यों के परस्पर संबंधों, विभाजन, स्त्री-पुरुषों की स्थिति, और कार्यों, विवाह तथा विवाह-विच्छेद, पारिवारिक मनोरंजन, पारिवारिक सहयोग, संघर्ष, प्रतिद्वंद्विता, व्यवसाय और पारिवारिक संरचना, पारिवारिक संस्कृति, नैतिकता आदि अनेक पक्षों की ओर पारिवारिक समाजविज्ञान के विद्यार्थी

की रुचि होती है। औद्योगीकरण और नगरीकरण, जो आधुनिकीकरण के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं, के अंतर्गत आजकल आधुनिक परिवारों में परिवर्तन के कई संकेत दृष्टिगत होने लगे हैं। पारिवारिक समाजविज्ञान के प्रमुख विद्वानों में जोर्ज पी० मुरडोक, रोबर्ट एच० विन्च, पाल सी० ग्लिक, टालकोट पारसंस, एफ० इवाननाई, डेविड एम० स्नीडर, विलियम जे० गुड, जैसी वोसार्ड, सी० सी० हेरिस, नील जे० स्मेलसर, विलियम एन० स्टीफेंस आदि हैं। भारत में प्रो० जी० एस० धुरिये, के० एम० कापडिया, टी० एन० मदान, एलिन डी० रोस, एम० एस० गोरे आदि ने पारिवारिक समाजविज्ञान के क्षेत्र में शोध कार्य किया है। भारतीय-परिवार पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, संस्कृतीकरण आदि प्रक्रियाओं के फलस्वरूप तेजी से बदल रहा है। विवाहों के प्रकारों, पारिवारिक संगठन, नातेदारी, पति-पत्नी के महत्त्व और स्थिति तथा कार्यों आदि में अनेक परिवर्तन आ रहे हैं। सामाजिक वर्ग और जातीय स्थिति का भी परिवारों के आकार, स्थिति, शांति आदि पर प्रभाव पड़ता है। परिवार का समाजविज्ञान इन सभी पक्षों के अध्ययन में अत्यंत रुचि लेता है। जनजातियों, पिछड़ी जातियों और अन्य दलित जातियों की संस्कृति का अध्ययन करनेवाले अनेक सामाजिक मानवविज्ञानियों ने भी परिवारों की व्यवस्था और परिवर्तन के विषयों पर महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित की है। शिक्षा का समाजविज्ञान, सामाजिक विघटन का समाजविज्ञान तथा धर्म का समाजविज्ञान जैसे अध्ययन-क्षेत्रों में भी पारिवारिक समाजविज्ञान के सिद्धांतों, नातेदारी, विवाह-व्यवस्था आदि से संबंधित सामग्री का बहुत प्रयोग किया जाता है। समाज के प्राथमिक समूहों में अत्यधिक महत्त्व का संगठन होने के कारण परिवार का अध्ययन समाजविज्ञान के क्षेत्र में अत्यंत आवश्यक होता है।

10. कानून का समाजविज्ञान

समाजविज्ञान की विभिन्न शाखाओं में से एक अत्यंत रोचक और महत्त्वपूर्ण शाखा है कानून का समाजविज्ञान। कानून के अंतर्गत जो संप्रत्यय या अवधारणाएं प्रयुक्त की जाती हैं, उनके पीछे प्रायः सदैव कोई न कोई आदर्शात्मक बोध या भावना रहती है, किसी कार्य या व्यवहार को तो समाज में प्रचलित कानून की दृष्टि में हानिकर और दंडनीय माना जाता है और किसी को अहानिकर। लेकिन समाजविज्ञान मूल रूप से आदर्शों से प्रभावित होने वाला विज्ञान (नॉरमेटिव साइंस) नहीं है। वह यथासंभव सामाजिक कारकों, अवस्थाओं, अथवा परिस्थितियों आदि का अध्ययन मूल्यमुक्त (वेल्यूफ़्री) सामाजिक घटनाक्रम समझते हुए करने का प्रयास करता है। कानून का समाजविज्ञान कानून के वर्णनशास्त्र (एथनोग्राफी ऑफ लॉ) से भिन्न है। कानून के वर्णनशास्त्र में मूलरूप से बल केवल इसी बात पर दिया जाता है कि कानून के प्रकारों और दंड विधान का अधिक से अधिक विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाये। लेकिन विज्ञान में इन व्यवस्थाओं के विस्तृत और सजीव वर्णन प्रस्तुत करने के स्थान पर कानून का एक सामाजिक संस्था के रूप में विश्लेषण किया जाता है। समाजविज्ञान उन मूल्यों, प्राथमिकताओं और मूल्यांकनों से संबंधित होता है, जो एक समाज में संरचनात्मक व्यवस्थाक्रम के मूलाधार होते हैं। इनमें से कई मूल्यों की नींव कानून में ही होती है। दुर्खीम ने इस पक्ष पर बहुत ही बल दिया है। उसने कानून और समाज के परस्पर संबंध की विशद व्याख्या की है। लेकिन मूल्यों का अध्ययन तो कानून के समाजविज्ञान का केवल एक ही भाग है। आरनाल्ड ने बतलाया है कि किस प्रकार कानूनी संप्रत्यय सरकार के संकेत-चिह्न के रूप में कार्य करते हैं, जिन्हें प्रत्येक को कम से कम दिखावे के लिए तो मानना ही पड़ता है। ये व्यक्तियों के वास्तविक व्यवहार नहीं होते। इस प्रकार विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि कानून की तह में स्वार्थों का संघर्ष चलता रहता है। कानून एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में कार्य करता रहता है, जो एक समाज में मूल-नियमितताओं, भेदों और खंडों को बनाये रखने में सहायक होता है। इसका अर्थ यही हुआ कि समाज की संरचना को, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, कानून स्थायित्व प्रदान करने या रक्षित करने का प्रयास करता रहता है। इसके अतिरिक्त कानून के भविष्य के व्यवहार और सामाजिक रूपों को बनाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह जनता को दिखलाता है कि किस अवसर पर कैसा व्यवहार उसे करना चाहिए। आधुनिक काल में सामाजिक इंजीनियरी अथवा पुनर्निर्माण में जनता की बहुत रुचि है। इस कार्य में भी कानून की सहायता लेना

प्रायः आवश्यक हो जाता है। कानून संबंधी संस्थाओं के क्षेत्र से बाहर भी कई सामाजिक प्रक्रियाएं चलती रहती हैं, जिनका अध्ययन करने की आवश्यकता कानून के समाजविज्ञानी को पड़ती है। निर्णय लेने की प्रक्रिया जटिलताओं से भरे हुए आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण होती है। इसमें भी दक्षता प्राप्त करने के लिए कानून के समाजविज्ञान के मूल-सिद्धांतों को समझना बहुत आवश्यक होता है। व्यक्ति के विभिन्न कार्यों, उत्तरदायित्वों या भूमिका को पारिभाषित करते समय उसके समाज की परंपराओं, प्रचलित आदर्शों, राजनैतिक और नैतिक विचारधाराओं, व्यवस्थाओं, कानूनों आदि को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। कानून के समाजशास्त्र के प्रमुख विचारक एमाइल दुर्खीम, हैनरी मैन, ओ० कोहन, फ़्रेअंड, कार्ल रेनर, थरमैन डब्ल्यू० आरनोल्ड, हैरी सी० ब्रीडेमीयर, ए० बी० डायसी, येहेजकेलड्रोर जान गोरेकी, विलहेम औबर्ट, माइकिल बेंटन, एडम पोडगोरेकी, मैक्स वेबर, मेक्स ग्लुमेन, टोरस्टेन एकोफ, टेकेयोशी कावाशीमा, स्टीवर्ट मेकाले, ग्लेंडोन स्कूबर्ट, रोजर डुड, जूलियस स्टोन, रेल्फ डेहोनडोर्फ, एजियों मोरिओडो, एब्राहम एम० ब्लुमबर्ग, जेरोम ई० कारलिन आदि हैं। भारत में अभी तक समाजविज्ञानियों ने इस क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय रुचि नहीं दिखलायी है।

11. कला का समाजविज्ञान

समाजविज्ञान की विविध शाखाओं में कला का समाजविज्ञान बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसके क्षेत्र के विषय में अब तक बहुत अस्पष्ट विचार प्रचलित रहे हैं। यूनेस्को द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'इंटरनेशनल सोशल साइंस जरनल' के खंड 20, संख्या 4, वर्ष 1968 में प्रकाशित प्रो० एल्फोंस सिलवरमैन के लेख 'ए डेफीनीशन ऑफ दी सोशियोलोजी ऑफ आर्ट' में इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रायः यह कहा जाता रहा है कि कला का समाजविज्ञान कला और समाज के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करता है। वस्तुतः ऐसा कहने से कोई स्पष्ट रूपरेखा हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होती। कला के अंतर्गत क्या-क्या निपुणताएं, कुशलताएं, प्रशिक्षण या अनुभव कार्य सम्मिलित किये जायें, यह भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रायः संगीत, चित्रकारी, साहित्य, स्थापत्य, अभिनय आदि को कला में सम्मिलित किया जाता है। कला के समाजशास्त्र के कुछ प्रारंभिक विद्वानों ने कला के इतिहास और कला के दर्शन और समाज के मध्य परस्पर संबंध को खोजने का प्रयास किया था। यह प्रवृत्ति भी वस्तुतः इस नयी शाखा को स्पष्टतया समझने में कोई विशेष सहायक सिद्ध नहीं हुई है। कला के समाजविज्ञान को ज्ञान के समाजविज्ञान का ही अंग मानकर समझने के प्रयास भी हुए हैं। कार्ल मैनहीम ने इस दिशा में कुछ कार्य किया था, लेकिन उसने कला-संबंध का एक असंतोषजनक सिद्धांत प्रस्तुत किया था। इसे संस्कृति के समाजविज्ञान के अंग के रूप में भी देखने का प्रयास जान बोबमैन आदि ने किया है और ऐसा करने में वे दर्शन, धर्म और ऐतिहासिक परंपरा से अधिक प्रभावित हुए हैं, न कि उसके वर्तमान समाजविज्ञानीय व्यक्तित्व से।

वर्तमान काल में कला के समाजविज्ञान के दो प्रमुख उद्देश्य समझे जाते हैं—एक तो मानव व्यवहार, और उसमें भी विशेष रूप से व्यवहार-प्रतिमानों और परिवर्तन का विश्लेषण करना, तथा दूसरा, आदर्शों को इस भांति परिभाषित करना कि उनसे व्यावहारिक व क्रियात्मक कार्य करना संभव हो सके। कला के समाजविज्ञान के अंतर्गत कला के प्रभाव के विविध क्षेत्र आते हैं। इस प्रकार देखने से कला का समाजविज्ञान कलाओं के सामाजिक इतिहास या समाजविज्ञानीय सौंदर्यशास्त्र से बढ़कर प्रतीत होता है।

इस शाखा को सही रूप से विकसित करने वाले प्रारंभिक विद्वानों में जर्मन समाजविज्ञानी जार्ज सिमेल तथा अमरीकी समाजविज्ञानी पी० ए० सोरोकिन विशेष उल्लेखनीय रहे हैं। सिमेल संगीत को व्यक्तियों के परस्पर संबंधों तथा उनके मध्य के संदेशवाहन के प्रारूपों का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानता था। सोरोकिन ने अपने विख्यात ग्रंथ 'सोसाइटी, कल्चर एंड पर्सनेलिटी' में इस बात पर विशेष बल दिया है कि कला से संबंधित सामाजिक प्रक्रियाओं और कला की अंतर्निर्भरता तथा रचनात्मक प्रक्रिया पर सामाजिक वातावरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। अमरीकी दर्शनशास्त्री और शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूई ने 'आर्ट एंड एक्सपेरिमेंट्स' में बतलाया है कि केवल वही वस्तु या विचार सामाजिक होता है, जो संदेशवाहन

के रूप में व्यक्त हो सके। इस प्रकार कला के समाजविज्ञानी का ध्यान अब कलाकारों और उनके कार्यों के समाज-विज्ञानीय विश्लेषणों पर होता है। उनके द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि कलाकार की मूल प्रवृत्तिगत विशेषताओं तथा उनके व्यक्तित्व के सामाजिक निखार में क्या अंतर है। मैक्स वेबर ने भी संगीत के समाजविज्ञान पर प्रकाश डाला है। परंतु उन्होंने संगीतज्ञों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमियों पर कोई विचार प्रकट नहीं किया।

कला के समाजविज्ञान के आधुनिक विद्वानों में चार्ल्स लाली, रेमंड वायरे तथा थामस सुनरो, बिस्कर, शैलिग आदि के नाम प्रमुख हैं। अब यह माना जाता है कि वस्तुतः 'कला का अनुभव' कला के समाजविज्ञान की मूल आत्मा है। कलाकार और उसकी कला के उपभोक्ता क्यों, किन परिस्थितियों में, और किन-किन आदर्शों, स्तरों, प्रतिमानों, विचारों, परंपराओं, व्यवहारों, संस्थागत व्यवहारों से प्रभावित होकर व्यवहार करते हैं, यह सब कुछ मूलतः कला के अनुभव पर ही निर्भर है। समाज के कौन-कौन से पक्ष, अंग, कारण, व्यक्ति, व्यवहार आदि कला के अनुभव की सम्यक प्राप्ति में असहायक और बाधक बनते हैं और कौन सहायक, इनकी खोज करना भी कला के समाजविज्ञानी का उत्तरदायित्व हो जाता है। कलाकार कला की प्रक्रिया तथा कला का उपयोग करने वाली या उससे प्रभावित होने वाली या उसे प्रभावित करने वाली जनता की सामाजिक पृष्ठभूमियों, व्यवहारों, आकांक्षाओं, मूल्यों, दृष्टिकोणों, तथा विचारों आदि का वैज्ञानिक ज्ञान प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व वस्तुतः कला के समाजविज्ञान के नूतन व तीव्रतापूर्वक विकसित होने वाले अध्ययन क्षेत्र का ही है।

12. राजनैतिक समाजविज्ञान

राजनैतिक समाजविज्ञान को समाज और राजनीति तथा सामाजिक संरचनाओं और राजनैतिक संस्थाओं के मध्य अंतःसंबंधों के अध्ययन के रूप में पारिभाषित किया गया है। इस परिभाषा के अनुसार राजनैतिक समाजविज्ञान को राजनैतिक व्यवस्था को प्रभावित करनेवाले सामाजिक कारकों का अध्ययन ही नहीं माना जाना चाहिए; क्योंकि राजनैतिक संस्थाएं भी स्वतंत्र सामाजिक संरचनाओं की भांति कई बार कार्य करती हैं। इस क्षेत्र के अंतर्गत कई कारकों, संस्थाओं, परिस्थितियों का अध्ययन सम्मिलित होता है। मानव समाजों में वैधानिकता के तीन प्रकार देखने में आते हैं—परंपरा, तर्क और कानून। आर्थिक विकास और राजनैतिक व्यवस्थाओं के मध्य जो परस्पर संबंध है, उस पर मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स और जोसेफ स्कुमपीटर ने बहुत चिंतन किया था। राजनैतिक चुनावों में परंपरागत मूल्य, सांस्कृतिक परंपराएं आदि कितना और किस प्रकार का प्रभाव डालती है, यह महत्त्वपूर्ण पक्ष भी राजनैतिक समाजविज्ञान की विषयवस्तु है। वर्ग, धर्म और जाति का इसमें क्या स्थान है, यह जानने को प्रत्येक राजनैतिक समाजविज्ञानी लालायित रहता है। वर्ग और राजनैतिक के विविध संदर्भों की ओर अधिकतर लेखकों ने ध्यान दिया है। शासन चलाने वाले बहुसंख्यक शक्तिसंपन्न उच्च व्यक्तियों की पृष्ठभूमियों, रुचियों, प्रवृत्तियों, मूल्यों आदि को इस क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। कई विद्वानों ने नये सामाजिक आंदोलनों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी अवस्थाओं का अध्ययन करने में रुचि ली है। इस अभिरुचि के विद्यार्थियों ने विविध प्रकार की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर जनता के विभिन्न वर्गों के जनमत जानने का प्रयास किया है। हाल के कुछ वर्षों में राजनैतिक तत्वों का विद्यार्थियों या नवयुवकों में प्रवेश होने के फलस्वरूप विभिन्न देशों में नयी-नयी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियां उत्पन्न होने लगी हैं। राजनैतिक समाजविज्ञान के लेखकों और अनुसंधानकर्ताओं में अत्यंत उल्लेखनीय नाम हैं: एलबर्ट लेपावस्की, एल्बियन स्माल, ई० ई० स्केटमीमीडर, मैक्स वेबर, सी० डब्ल्यू० मिल्स, मार्टिन सी० नीडल, एम० एस० लिपसिट, कार्ल मार्क्स, जी० एच स्मिथ, पीटर एम० ब्लाऊ, डेविड लरनर, माइरन बेनर, बरनार्ड वेरलसन, टी० एच० मार्शल, जे० स्कुमपीटर, गोरहार्ड, लेन्सकी, जोर्ज एम० काहिन, चार्ल्स गुलिक, वेंटन जोनसन, ए० आर देसाई आदि।

13. आर्थिक समाजविज्ञान

आर्थिक समाजविज्ञान सामाजिक जीवन के आर्थिक और अन्य पक्षों के संबंधों का अध्ययन है। इसका विकास शनैः-शनैः विभिन्न क्षेत्रों, अवस्थाओं और देशों में

हुआ है। इसको न केवल समाजविज्ञानियों ने, अपितु मानवविज्ञानियों, अर्थशास्त्रियों, श्रमिक संबंध विशेषज्ञों, औद्योगिक मनोविज्ञानियों ने विकसित करने में अमूल्य योग दिया है। यह कार्य के समाजविज्ञान, व्यवसायों के समाजविज्ञान, औपचारिक संगठनों के समाजविज्ञान, आर्थिक विकास के समाजविज्ञान तथा रिक्त समय के समाजविज्ञान में रुचि लेने वाले विद्वानों द्वारा विकसित किया गया है। इसकी विषय वस्तु के अंतर्गत प्रायः निम्नांकित प्रमुख पक्ष आते हैं। समाजविज्ञान और अर्थशास्त्र का संबंध, समाज की उपसामाजिक व्यवस्था के रूप में अर्थव्यवस्था, आर्थिक प्रक्रियाओं पर सामाजिक और अन्य कारकों का प्रभाव, सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक व्यवस्थाएं और कारक। इस क्षेत्र के प्रमुख विद्वानों को प्रायः राजनैतिक और आर्थिक मतों जैसे पूंजीवाद, साम्यवाद आदि से प्रभावित देखा जाता है। इसके प्रमुख विचारक और शोधकर्ता हैं: एडम स्मिथ, कार्ल मार्क्स, जोन मेनहार्ड केमनीज, एमाइल दुर्खीम, कार्ल पोलयानी, एम० जेहस्कोवित्स, एफ० जे० रोइथलिस, वर्गर, एल्टन, मेथो, विल्बर्ट मूर, बर्ट एफ० हैजलिट, लाइले बी० शेनान, रेनहार्ड बेनडेक्स आदि। भारत में प्रो० नाग, ए० आर० देसाई आदि ने भी इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

14. ग्रामीण समाजविज्ञान

ग्रामीण समाजविज्ञान के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों की जनता की सामाजिक संरचना, संस्थाओं, संघों, मूल्यों, परंपराओं, व्यवस्थाओं, शक्तिसंपन्न समूहों के द्वारा उत्पन्न की गयी खिंचाव और तनाव की परिस्थितियों तथा सामाजिक परिवर्तन के विविध क्षितिजों का सुनियोजित अथवा क्रमबद्ध अध्ययन होता है। वस्तुतः इस प्रकार की अध्ययन शाखा अनुभवाश्रित ही है, क्योंकि इसकी अधिकतर सामग्री क्षेत्रीय सर्वेक्षणों द्वारा ही उपलब्ध की गयी है। अमरीका में ग्रामीण समाजविज्ञान का बहुत विकास हुआ है। भारत में भी समाजविज्ञान के अंतर्गत इस विविध क्षेत्र को प्रो० एम० एन० श्रीनिवास, प्रो० एम० सी० दुबे, प्रो० मैकीम सेरिमट, प्रो० मिल्टन सिंगर, प्रो० ब्रजराज चौहान आदि अनेक समाजविज्ञानियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों के प्रयासों से बहुत प्रेरणा मिली है। ग्रामीण सामाजिक अध्ययनों में प्रायः सामाजिक मानवविज्ञानीय अध्ययन पद्धतियों को ही प्रयोग में लाया गया है। भारतवर्ष में ग्रामीण समाजविज्ञानीय अध्ययनों की भरमार रही है, और अभी भी यह अत्यंत लोकप्रिय क्षेत्र बना हुआ है। जनगणना विभाग ने भी भारतीय ग्रामों पर सैकड़ों की संख्या पर शोध ग्रंथ आदि प्रकाशित किये हैं।

15. नागरिक समाजविज्ञान

समाजविज्ञान की विभिन्न शाखाओं में नागरिक समाजविज्ञान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि नगर पुरानी सभ्यताओं से लेकर आज तक अत्यंत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक इकाइयों के रूप में बनते रहे हैं और आधुनिक युग में तो इनका विकास अत्यंत तीव्रतापूर्वक हो रहा है। नगरों की जनसंख्या की सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमियां, संरचनाएं, शिक्षा, राजनीति, मूल्य, दृष्टिकोण, संस्कृति, परिवर्तन के आयाम, रिक्त समय की क्रियाएं, नागरिक संस्थाओं और संघों में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास यह सभी पक्ष एक नागरिक समाजविज्ञानी के लिए अत्यंत रोचक होते हैं। विदेशों में—विशेषकर अमरीका और इग्लैंड में इस क्षेत्र में बहुत शोध और लेखन कार्य हुआ है। भारत में भी इस दिशा में जो कार्य हुआ है और अभी हो रहा है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। प्रो० डी० एन० मजुमदार, प्रो० बोपागमग, प्रो० एम० एस० ए० रथ, प्रो० सोवनी, आदि अनेक समाजविज्ञानियों ने अपनी रचनाओं से इस क्षेत्र को समृद्ध किया है। योजना आयोग की प्रेरणा से भी इस क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण अध्ययन हुए हैं। टाउन प्लानिंग इंस्टीट्यूट, नयी दिल्ली तथा उद्योग मंत्रालय, नयी दिल्ली की प्रेरणा से भी इस क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययन हुए हैं।

16. सामाजिक मनोविज्ञान

समाजविज्ञान और मनोविज्ञान के प्रश्न पर संबंध को व्यक्त करने वाली अध्ययन-शाखा सामाजिक मनोविज्ञान के नाम से जानी जाती है। समाजविज्ञानी किंबाल यंग के शब्दों में सामाजिक मनोविज्ञान मानव की अंतर्क्रिया से संबंधित प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। यह अंतर्क्रिया व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और समूह-समूह

के मध्य हो सकती है। इस विज्ञान को आरंभ करने वालों में जे० मार्क बाल्डविन, चार्ल्स एच० कूली, जोर्ज एच० मीड, विलियम मैकडूगल तथा किंबाल यंग आदि प्रमुख रहे हैं। इस शाखा के अंतर्गत सामाजिक सीख और अंतर्क्रिया, व्यक्तित्व के सामाजिक-सांस्कृतिक आधार, भाषा, अहं का विकास और कार्य, व्यक्तित्व तथा संस्कृति का संबंध, विश्वासों की व्यवस्थाओं की प्रकृति और कार्य, मानव समूह की संरचना, नेता और उनके अनुयायी, भीड़ों का व्यवहार, फैशन, उच्च उपलब्धि की प्रेरणा, जनमत, संदेशवाहन के साधनों की प्रभाव प्रणाली, अभिरुचियां, प्रचार, जातीय और प्रजातीय अभिनीतियां, क्रांति, युद्ध का मनोविज्ञान आदि आते हैं। विदेशों में इस क्षेत्र में बहुत विकास हुआ है। परंतु भारत में यह क्षेत्र प्रायः अल्प विकसित रहा है। भारत में प्रो० पी० एच० प्रभु, अकोलकर, प्रो० रथ, प्रो० बी, कुप्पुस्वामी, प्रो० उदय पारीक आदि ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

17. श्रम का समाजविज्ञान

औद्योगीकरण के फलस्वरूप सारे संसार में श्रमिक संबंधी अनेक समस्याओं का जन्म हो गया है। श्रमिकों और मिल-मालिकों के झगड़ों, श्रमिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, मनोरंजन, प्रशिक्षण, परस्पर सामंजस्य, वेतन, पेंशन, कार्य के प्रति लगन, उपलब्धि की प्रेरणा आदि अनेकानेक पक्षों की ओर आजकल समाजविज्ञानियों ने ध्यान दिया है; क्योंकि आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रियाओं में श्रमिक प्रमुख अंग हैं। दूसरा कारण यह है कि प्रजातंत्रीय और लोककल्याणकारी देशों की आजकल प्रचुरता है। भारत भी एक ऐसा ही देश है। अतः हमारे यहां श्रम के समाजविज्ञान का विकास होना अत्यंत आवश्यक और स्वाभाविक ही है। श्रम के समाजविज्ञान को दुर्खीम, मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, वेबलन आदि महान समाजविज्ञानियों की रचनाओं से प्रेरणा मिली है। भारत के वर्तमान राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि, प्रो० सी० बी० ममोरिया, प्रो० आर० सी० सक्सेना, प्रो० आर० एन सक्सेना आदि अनेक विद्वानों ने इस क्षेत्र को विकसित करने में योग दिया है। आजकल प्रायः प्रत्येक राज्य में श्रम-विकास और समाज-कल्याण-विभाग विद्यमान है, जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र की समस्याओं के अध्ययन और समाधान में महत्त्वपूर्ण योग मिल रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक औद्योगिक संस्थान में श्रम-कल्याण अधिकारी आदि रखे जाते हैं, जिन्हें श्रम के समाजविज्ञान का उत्तम प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। कई विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान तथा सामाजिक कार्य विषयों के अंतर्गत श्रम के समाजविज्ञान की भी शिक्षा प्रदान की जाती है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस विज्ञान की समस्याओं को सुलझाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

18. परिवार नियोजन का समाजविज्ञान

विश्व में बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए परिवार नियोजन के विविध कार्यक्रम आजकल चल रहे हैं। चूंकि पारिवारिक क्रिया कलाप (विवाह, यौन क्रिया, संतानोत्पत्ति तथा बालकों का पालन-पोषण आदि) प्रायः व्यक्तिगत मामले माने जाते रहे हैं, अतः विभिन्न समुदायों में प्रायः अनेकानेक प्रकार के मूल्यों, परंपराओं, दृष्टिकोणों, अभिनीतियों और झुकावों का पाया जाना स्वाभाविक ही है। किस प्रकार ऐसे परंपरागत विचारों, मूल्यों, व्यवस्थाओं आदि को बदला जाये, यही महत्त्वपूर्ण प्रश्न परिवार नियोजन के समाजविज्ञान के लिए चुनौती के रूप में सदैव उपस्थित रहता है। भारत में जाति, धर्म, वर्ग, शिक्षा, सामाजिक और आर्थिक स्थिति, क्षेत्रीय आवास आदि अनेक कारक परिवार नियोजन के मार्ग में विभिन्न रूपों में बाधक बन रहे हैं। अतः समाजविज्ञानियों की सहायता से उनके परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनशील मूल्यों, दृष्टिकोणों आदि के अध्ययन किये जाते हैं। परिवार नियोजन की नयी पद्धतियों को कैसे अपनाया जाये कि जनता उन्हें सुगमतापूर्वक स्वीकार कर ले, यह भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसकी ओर केंद्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मंत्रालय और उससे संबंधित अनेक संस्थाएं कार्यरत हैं। भारत में जनसंख्या को 1975 तक 10 हजार व्यक्तियों के पीछे 25 व्यक्ति कम करने का संकल्प किया गया है। यह ज्ञात हुआ है कि यहां भारतीय जनता का 70 प्रतिशत भाग परिवार नियोजन के महत्त्व को समझने लगा है, वहां केवल 16 प्रतिशत ही उसके किसी साधन को अपनाता है। (हिंदुस्तान टाइम्स, दिनांक 16, सितंबर, 1970) ये आंकड़े समस्या की

गंभीरता को व्यक्त करते हैं। अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक समूह अभी भी परंपरागत धार्मिक, जातीय और ऐसे ही कारकों से परिवार नियोजन के कार्यक्रमों में रुचि नहीं लेते हैं।

—डा० सत्यपाल रुहेला



मानवविज्ञान : एक परिचय

मानव प्रारंभ से ही स्वयं को समझने का प्रयत्न करता आया है। कुछ प्रश्न ऐसे थे, जिन्होंने सदैव उसको अपनी ओर आकृष्ट किया। वह कब, कहां और कैसे उत्पन्न हुआ? इस प्रश्न का उत्तर मानव आदि काल से खोज रहा है। क्या मनुष्य आदि काल में आज जैसे ही रूप में था? क्या उसका रहन-सहन ऐसा ही था, या उसमें कुछ अंतर था? क्या उसकी भाषा आज ही के समान थी? परिवार में पिता तथा अन्य सदस्यों का क्या स्थान था? क्या उस समय बहुविवाह प्रचलित था? कुछ जनसमूहों पर राजा मुख्य शासक था, कुछ जनजातियों में प्रौढ़ मनुष्य शासन किया करते थे, एवं कुछ जातियों में विद्वान अथवा शूरवीर पुरुष। कुछ जातियों में शासन की बागडोर एक विशिष्ट कुल को सौंप दी जाती थी, जिसमें पिता के पश्चात पुत्र को शासक बनाने की परंपरा थी। मानव के शारीरिक विकास पर परिस्थिति का क्या प्रभाव था? इन समस्त प्रश्नों के उत्तर की खोज में मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहा है। इसके साथ ही साथ वह तकनीकी संस्कृति के विकास का भी अध्ययन करता रहा। इन सबका अध्ययन मानवविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है।

मानवविज्ञान का अर्थ मानव का अध्ययन है। हम कह सकते हैं कि मानवविज्ञान मनुष्य का विस्तृत एवं पूर्ण अध्ययन है। अर्थात् अन्य शब्दों में इसमें वे सब विषय समाविष्ट हैं; जो मानव एवं उसके वातावरण और परिस्थिति से संबंधित हैं। करोड़ों वर्ष पहले मनुष्य की उत्पत्ति हुई, तब से लेकर आधुनिक विकसित मानव तक का अध्ययन मानवविज्ञान है। मानव-विकास के सहस्त्रों वर्ष का इतिहास हमारे पास है। मनुष्य के विकास-काल में अनेक परिवर्तन पिछले पंद्रह लाख वर्षों में हुए हैं। इस काल को भूविज्ञानी अत्यंत नूतन युग (प्लीस्टोसीन) कहते हैं। पुरातत्वविज्ञानी उस काल के पाये गये अस्थि-जीवाश्म, एवं तकनीकी अवशेषों का अध्ययन करते रहे। उस काल के पुरातात्विक आंकड़ों से आज की उन जनजातियों के अध्ययन में सफलता मिली, जिनके जीवन का आधार खाद्य-पदार्थों को इकट्ठा करना एवं शिकार खेलना था। मनुष्य का वानरों के साथ निकटतम संपर्क होने के कारण उनके आचरण के अध्ययन को भी मानव-विज्ञानी ने महत्त्वपूर्ण जाना एवं इसका भी अध्ययन मानवविज्ञान के अंतर्गत किया जाने लगा। मनुष्य शारीरिक एवं भौतिक रूप से एक प्राणी है, जिसे पशु भी कहा जा सकता है, किंतु अन्य पशुओं से केवल एक भेद यह है कि वह पशु होने के साथ ही साथ एक समाज की संस्कृति का सदस्य भी है और इस संस्कृति का निर्माता वह स्वयं है। शारीरिक अध्ययन को शारीरिक मानवविज्ञान तथा उसकी संस्कृति के अध्ययन को सांस्कृतिक मानवविज्ञान कहते हैं। शारीरिक मानवविज्ञान के अध्ययन में प्रमुख दृष्टिकोण निम्न जाति के प्राणियों से मानव तक के विकास के अध्ययन का होता है। उसके लिए प्रमुख रूप से तुलनात्मक अस्थि-विज्ञान की सहायता ली जाती है। तुलनात्मक अस्थि-विज्ञान की सहायता से 'होमो-सेपियन्स' (मनुष्य) तथा उसके निकटतम संबंधियों अर्थात् वानर, एवं कपि का अध्ययन किया जाता है। गोरिल्ला, वनमानुष, ओरांगउटांग, गिब्बन इत्यादि में कुछ समानताओं एवं विषमताओं का अध्ययन मानव-विज्ञान ही करता है। नर-वानरगणों का विशेष रूप से अध्ययन होता है। जीवाश्म प्रमाण इन अध्ययनों में

विशेष रूप से सफल हुए हैं। इनमें जावा-मानव, नियांडर्थल मानव तथा अन्य जीवाश्म की अस्थियों का अध्ययन होता है, जो लाखों-करोड़ों वर्षों पूर्व जीवित अवस्था में निवास करते थे। इन अस्थियों के साथ ही साथ उनके व्यवहार एवं आचरण का भी पता लगाया जाता है।

मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही साथ विश्व में उसका वितरण तथा इन समस्त समूहों, जातियों, प्रजातियों, उपजातियों की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन भी मानवविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। होमो-सेपियन्स अर्थात् मानव को तीन प्रमुख प्रजातियों एवं अनेक उप-प्रजातियों में बांटा गया। ये तीन प्रमुख प्रजातियां हैं : (अ) श्वेत कल्प, (ब) मंगोल कल्प, (स) नीग्रो कल्प। इस वर्गीकरण का आधार कुछ विशिष्ट वंशागत विशेषक हैं। उदाहरणार्थ केश-वर्ण, शीर्ष-सूचकांक, नासा-सूचकांक, त्वचा-वर्ण, दैहिक उच्चता इत्यादि। जीनविज्ञान में हुए आधुनिक अन्वेषणों ने भी इन प्रमुख प्रजातियों के अध्ययन में अधिक स्पष्ट रूप से योगदान दिया एवं इनको जानने में सहायता दी। जीनविज्ञान के आधुनिक अन्वेषण, जैसे रुधिर वर्ग (ए, बी एवं ओ इत्यादि), चर्मरेखाविज्ञान इत्यादि ने विभिन्न प्रजातियों में इनके वितरण का पता लगाया तथा इनके वर्गीकरण में सहायता दी। रोगों एवं रुधिर-वर्ग के पारिस्परिक संबंधों का अध्ययन भी सहायक सिद्ध हुआ। विभिन्न परिस्थितियों (जलवायु तथा वातावरण) में जैविक रूपांतरों का अध्ययन भी इस वर्गीकरण का आधार बना। काल एवं समय के अध्ययन के साथ ही साथ मानवविज्ञान मनुष्य की संरचना का भी अध्ययन करता है, जिसमें शरीर-रचना पर भोजन के प्रभाव, मानव-शरीर की वृद्धि पर खाद्य-पदार्थों के प्रभाव तथा अन्य उपापचयी विशेषकों का भी अध्ययन किया जा रहा है। इन सबका अध्ययन करने के लिए हम भेषजविज्ञान की सहायता लेते हैं।

पुरातत्वविज्ञान मनुष्य की उस संस्कृति का अध्ययन है, जिसके अवशेष आद्य आवासगृहों, भवनों, कलात्मक वस्तुओं, औजारों, शस्त्रों तथा अन्य रूपों में प्राप्य हैं। पुरातत्वविज्ञानी आद्य इतिहास की खोज में लगे हुए हैं। उनका उद्देश्य मध्य-पूर्व (मिडिलईस्ट), अफ़्रीका, अमरीका एवं एशिया में इतिहास की खोज करना है। पुरातत्वविज्ञान को हम तीन मुख्य शाखाओं में बांट सकते हैं : प्रागैतिहासिक, क्लासिकल, और आधुनिक पुरातत्वविज्ञान। प्रागैतिहासिक पुरातत्वविज्ञान मानवविज्ञान के अंतर्गत आता है। जो प्रागैतिहासिक प्रमाण मिले हैं, वे हैं पत्थर के औजार, गुफाओं में मिले कलात्मक नमूने, तथा अन्य प्रमाण, जो मानव-जीवन की उपस्थिति को सिद्ध करते हैं। ये समस्त प्रमाण हिमयुग के हैं। पाषाण-युग को पुरापाषाण, मध्यपाषाण एवं नवपाषाण-युग—इन तीन उप-कालों में विभाजित किया गया है। पुरापाषाण-युग में औजार एवं शस्त्र पत्थर के बने हुए होते थे और अपने विकृत तथा आद्य रूप में थे। उदाहरणार्थ, शूलियन, अशूलियन एवं प्रीशूलियन प्रकार के औजार। मध्यपाषाण-युग में छोटे एवं कलात्मक ढंग से पालिश करके चमकाये हुए अच्छे औजारों का निर्माण हुआ। इसी काल में कृषि और पशुपालन का भी विकास हुआ। कांस्य एवं लौह युग के भी प्रमाण मिले हैं, जो अधिक स्पष्ट हैं। सिंधु-घाटी की सभ्यता (हड़प्पा संस्कृति) के चिह्न न केवल सिंध (पश्चिमी पाकिस्तान) अपितु भारत के अनेक स्थानों पर भी मिले हैं। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर मनुष्य मानव-संस्कृति का इतिहास जानने में सफल हुआ है। इन सबका तुलनात्मक अध्ययन मानव के सामाजिक इतिहास पर प्रकाश डालता है। पुरातत्वविज्ञानी न केवल मानव के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का पता लगाने में सफल हुए हैं, अपितु इन समस्त प्रमाणों के आधार पर उस काल में मानव के रूप को जानने में भी सफल हुए हैं। भूविज्ञानियों, जीवाश्मविज्ञानियों और फासिल-वनस्पति-विज्ञानियों ने पुरातत्वविज्ञानियों को अध्ययन में सहायता दी। आधुनिक पुरातत्वविज्ञान केवल औजारों, हथियारों आदि के प्रकारों का ही अध्ययन नहीं करता, अपितु पाये गये औजार के काल में मानव की संस्कृति एवं सभ्यता का भी पता लगाता है।

मानवविज्ञानी मानव की संस्कृति का भी अध्ययन करते हैं। कहा जाता है कि मानवविज्ञान केवल उन आद्य, बर्बर, एवं असभ्य जन-जातियों तथा गण-जातियों (कबीलों) के मनुष्यों का अध्ययन है, जो अब विरल रूप से मिलती हैं। किंतु ऐसा कहना अब उचित नहीं है। मानवविज्ञान आद्य और आधुनिक दोनों प्रकार की संस्कृतियों का अध्ययन करता है। मनुष्यों के आचार-विचार, रहन-सहन, क्रिया-कलाप तथा जीवन के अन्य

पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जाता है। मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार, आचरण इत्यादि में जो विभिन्नताएं पायी जाती हैं, उनका अध्ययन भी मानवविज्ञान में किया जाता है। उदाहरण के लिए, उत्तरी ध्रुव के निवासी एस्कीमो लोगों का जीवन, रहन-सहन, खान-पान आदि अन्य प्रजातियों से भिन्न है। उनमें मांस-मछली अधिक प्रचलित है, जबकि मैदान में रहनेवाली प्रजातियों एवं समूहों में इसका इतना प्रचलन नहीं है। उनकी वेषभूषा, साज-सज्जा और आभूषणों में भी अंतर पाया जाता है। वे लोग कानों में चांदी एवं हड्डी के बने बाले पहनते हैं। इस संदर्भ में मानव के मानव से पारस्परिक संबंध, मानव के वातावरण (परिस्थिति) से संबंध एवं मनुष्य के अलौकिक संसार से संबंध का अध्ययन किया जाता है।

मानव के मानव से जो पारस्परिक संबंध होते हैं, उनमें भी विभिन्नताएं पायी जाती हैं, जैसे खासी गण-जाति (कबीला) में स्त्री को परिवार एवं समाज में उच्च स्थान प्राप्त है, जबकि अन्य गण-जातियों (कबीलों) एवं जातियों में यही उच्च स्थान पुरुष को प्राप्त है। कई जातियों में रक्त-संबद्ध विवाह भी होते हैं। मनुष्य अन्य प्राणियों के समान संगठित समूहों में ही रहता है, जिन्हें हम समाज कहते हैं। प्रत्येक मानवीय समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है, जैसे जौनसारी में वस्त्र तथा बहुपतित्व, रहने के मकान, रोगों के निदान के लिए जादू-टोनेवाले उपाय इत्यादि।

संस्कृति का मनुष्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है, अन्यथा मनुष्य पशु ही रहता। मनुष्य विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार के विवाह करते हैं। वे भाषा के माध्यम से एक-दूसरे से बातचीत तो करते ही हैं, साथ ही एक-दूसरे को निकट से जानने और अन्य संस्कृतियों को जानने-समझने का भी प्रयत्न करते हैं। संस्कृति समस्त मानव जाति के सामाजिक प्रयत्नों का परिणाम है। संस्कृति मनुष्य पर अपना विशेष प्रभाव डालती है तथा मनुष्यों के आचरण, व्यवहार आदि का निर्धारण करती है। समाज मनुष्यों की एक सामूहिक, संघटित संस्था है, सामाजिक संरचना है। परिवार, गोत्र, गण-जाति, जाति, प्रदेश, देश आदि समाज के परस्पर संबंधित सदस्यों के समूह हैं। समाज एवं संस्कृति का पारस्परिक अटूट संबंध है।

भाषाविज्ञान मनुष्य की एक अत्यंत विस्तीर्ण कार्य-प्रणाली है। मानवविज्ञान का एक दृष्टिकोण भाषाविज्ञान भी है। भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। अनेक विभिन्न भाषाएं एक-दूसरे से भिन्न हैं, किंतु उनकी संरचना का रूप एक ही है। उदाहरण के लिए, यूरोपीय एवं भारतीय भाषाएं। इन भाषाओं का उद्गम एक ही है। भाषाविज्ञानी के समक्ष भी यह प्रश्न है कि विशिष्ट समाज में किसी विशिष्ट भाषा का अध्ययन किस प्रकार किया जा सकता है। सामाजिक प्रणाली में विभिन्न भाषाओं में समानताएं एवं असमानताएं किस प्रकार दर्शायी जा सकती हैं, यह भी भाषाविज्ञानी के लिए एक गूढ़ प्रश्न था। भाषाविज्ञानी भाषा का अध्ययन भाषा के ही संदर्भ में करता है, जबकि दूसरी ओर मानवविज्ञानी भाषा का अध्ययन मानव के संदर्भ में करता है।

वैज्ञानिकों का विचार है कि मानव-संस्कृति को समझने के लिए मानव के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का अध्ययन आवश्यक है। मनुष्य के पारस्परिक संबंध एवं उनकी सांस्कृतिक संस्थाओं को समझने के लिए उसके मस्तिष्क को समझना अत्यंत आवश्यक है कि वह क्या चिंतन करता है, उसकी अनुभूतियां क्या हैं इत्यादि। व्यक्तित्व का अध्ययन मनोविज्ञानी भी करता है, किंतु मानवविज्ञानी उसका अध्ययन एक भिन्न दृष्टिकोण से करता है। मानव-विज्ञानी लाक्षणिक (क्लीनिकल) कार्य नहीं करते हैं, अपितु वे संस्कृति की खोज में लगे रहते हैं। परिस्थितिविज्ञान मानवता पर प्राकृतिक तत्वों की यांत्रिक क्रियाओं का अध्ययन है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि परिस्थिति मनुष्य के रहन-सहन तथा व्यवहार को अधिक प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, पत्थर के बने आवासगृह वहां पाये जाते हैं, जहां की भूमि अत्यधिक पथरीली है। परंतु कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि मनुष्य अपनी परिस्थिति अथवा वातावरण में उन वस्तुओं का चुनाव करता है, जो उसके कार्य में सहायक या अनुकूल हों। जितनी संस्कृतियां अधिक विकसित हुईं, उतनी ही प्राकृतिक परिस्थिति पर उनकी निर्भरता कम होने लगी। यह कहा जा सकता है कि कुछ विकासशील संस्कृतियां अपने मार्ग का स्वयं निर्देशन करने लगीं, किंतु परिस्थितियां दो प्रकार की होती हैं—प्राकृतिक और सामाजिक। आज, जबकि समस्त संस्कृतियां एक बृहद् विश्व-संस्कृति का अंग बन रही हैं, यह स्वाभाविक ही है कि एक समाज दूसरे समाज

	पूर्व इतिहास (शातवाहन)	शातवाहन, रोमन सिक्के; गाढ़े लाल रंग के चमड़े की वस्तुएं; कौड़ियां जड़े हुए बर्तन।
	पूर्व इतिहास (बृहत प्रस्तर)	लोहा, बृहत प्रस्तर युग से संबंधित खनन संबंधी वस्तुएं। (लाल और काली)
	प्रोटोहिस्टारिक कांस्य युग	नवीन प्रस्तर युग में धीरे-धीरे प्रवेश, रंगीन चित्रों धीरे प्रवेश, रंगीन चित्रों से युक्त बर्तनों, तांबे, कांस्य की वस्तुओं के द्वारा।
	उत्तर प्रस्तर युग	घिस कर चमकाई हुई प्रस्तर की वस्तुएं-पहला कृषि समाज, पर्यटक समाज।
	नवीन प्रस्तर युग	सूक्ष्म प्रस्तर संबंधी काम (रूपरेखा वाला और बिना रूपरेखा वाला) कामिडे श्रेणी-IV
	मध्य प्रस्तर युग	ब्लेड, स्क्रेपर वाले कारखाने-कामिडे श्रेणी-III
	पूर्व प्रस्तर युग	हाथ से बनी हुई वस्तुएं कामिडे श्रेणी-I & II

संकृतिः विकास क्रम

पर अधिक से अधिक निर्भर हो। किसी भी संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से पृथक् करके समझना असंभव है। जब एक समाज का इतिहास अन्य सभी समाजों के इतिहास का अंग बन जाता है, तब हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम संस्कृतियों की विवेचना उनके बाहरी वातावरण तथा अंतःमूल्यों के आधार पर करें।

आजकल मानवविज्ञानी विभिन्न प्रकार की राजनीतिक पद्धतियों को समझने के लिए, सरल समाज, पुरातन शासित प्रदेश तथा आधुनिक राजनीतिक समस्याओं से सहायता ले रहे हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम यह ज्ञात करना चाहें कि पारस्परिक संबंधों का सामाजिक नियंत्रण कैसे होता है, तो हमें उपर्युक्त विषयों का अध्ययन करना पड़ेगा। यदि हम ऐसे समाज को समझना चाहें, जो विकसित समाज का अंग बन गया हो और जिसमें संवैधानिक नियम तथा विशिष्ट न्यायप्रणाली हो, तो भी हमें इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर अध्ययन करना होगा। राज्य की उत्पत्ति केवल पांच हजार वर्ष ईसा पूर्व हुई। सत्ता की बागडोर किन हाथों में थी, इसका भी अध्ययन मानव-विज्ञानियों ने किया। उदाहरण के लिए, शासक, राजा अथवा पुजारी—प्रत्येक मनुष्य में सत्ता के अधिकार की भावना एवं इच्छा होती है। किंतु विभिन्न संस्कृतियों में इस अधिकार को प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न साधन हैं, जैसे कुछ समाजों में परिवार में पिता ही नेता माना जाता है और वही अन्य स्थानों में परिवार का प्रतिनिधित्व करता है तथा कई दूसरे समाजों में नेता का स्थान स्त्री को मिलता है और उनके परिवारों में स्त्री प्रधान होती है। इसी प्रकार शासन को प्राप्त करने के विभिन्न साधनों का अध्ययन भी मानवविज्ञानी का कार्य है।

आरंभ से ही मानवविज्ञानी धर्म के विकास में रुचि रखते आये हैं। मानव तथा उसके अलौकिक विश्व का तथा प्राचीन संस्कृतियों से आधुनिक संस्कृतियों के संबंधों का अध्ययन भी मानवविज्ञानी करते रहे हैं। इसी सिलसिले में जादू-टोना एवं मानव-जीवन पर उनके प्रभाव का भी अध्ययन किया गया। आजकल मानव-समाज में धर्म की कार्यपद्धति पर विचार किया जा रहा है। मनुष्य प्रारंभ से ही धर्म की उत्पत्ति की खोज में संलग्न रहा है। सब धर्मों में विभिन्नताएं होते हुए भी कुछ समानताएं इतनी अधिक हैं कि उनका अध्ययन करना आवश्यक हो गया। अतः मानवविज्ञान तुलनात्मक अध्ययन की ओर अधिक ध्यान दे रहा है। भविष्य में इसी प्रकार के अध्ययन के आधार पर धर्म की उत्पत्ति की शायद कोई नूतन धारणा विकसित होगी। धर्मज्ञानी केवल धर्म की उत्पत्ति एवं उसका दार्शनिक दृष्टिकोण से ही अध्ययन करते हैं जबकि मानव-विज्ञानी संस्कृति को सामने रखकर धर्म का अध्ययन करते हैं।

मानवविज्ञान विश्वव्यापी संस्कृतियों के अध्ययन में लगा हुआ है। उदाहरण के लिए, अफ़्रीका के निवासी एवं उनकी संस्कृति, ओशेनिया का मानव-जाति-विज्ञान, भारत की जातियां जैसे नागा, संथाल, खासी इत्यादि। हम मनुष्य की प्रकृति एवं उसके व्यवहार को समझने के लिए उसकी संस्कृति का अध्ययन करते हैं। मानव-जातियों का अध्ययन करने के लिए कभी-कभी उनकी शारीरिक विशेषताओं, आभूषणों आदि का वर्णन किया जाता है। इस अध्ययन को मानव-जाति-वर्णन कहते हैं। परंतु जब इस प्रकार के वर्णन से प्राप्त आंकड़ों का सामाजिक पद्धति के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया, तो उसे 'मानव-जाति-विज्ञान' कहा गया। और जब विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में रहनेवाले मनुष्यों का सांस्कृतिक अध्ययन किया गया, तो उसे 'सांस्कृतिक मानवविज्ञान' का नाम दिया गया। इसके अंतर्गत प्रजातियों की उत्पत्ति का पता लगाया गया। साथ ही साथ उनकी सामाजिक परंपराओं का भी अध्ययन किया गया। अब इसमें धर्म, अर्थ, न्याय, एवं लोककथाओं तथा प्राचीन कला का तुलनात्मक अध्ययन किया जा रहा है। मानव-संगीतशास्त्र भी इसी के अंतर्गत आता है।

मानवविज्ञान उन समस्त विभिन्न छात्रों को, जो कि मानव का अध्ययन करते हैं, एक सूत्र में बांध देता है। अन्य वैज्ञानिकों के समान मानवविज्ञानी भी यह मानते हैं कि उनका मुख्य उद्देश्य ज्ञान की खोज करना है। परंतु इसके साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि मानव के विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान विश्व के प्रत्येक मानव को होना चाहिए।

मानवविज्ञान कई क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप से भी उपयोगी है। औपनिवेशिक प्रशासन में इसका उपयोग किया जाता रहा है। अंग्रेज, डच तथा फ़्रांसीसी शासक मानवविज्ञान की शिक्षा को औपनिवेशिक प्रशासकों

के लिए आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण मानते थे। विशेषतः आदिवासी कानून, सामाजिक संरचना, राष्ट्रीय नेतृत्व आदि की जानकारी के लिए। प्रशासन औपनिवेशिक हो अथवा लोकतांत्रिक, मानवविज्ञान दोनों के लिए सहायक होता है। मानवविज्ञान केवल प्रशासन में ही सहायक नहीं है, अपितु सामाजिक सुधार, शिक्षा, लोक स्वास्थ्य आदि में भी सहायक सिद्ध हुआ है। कुछ मानवविज्ञानी संग्रहालयों, शोध संस्थाओं और विश्वविद्यालयों में भी कार्य करते हैं। मानवविज्ञानी मानव का विभिन्न दृष्टि-कोणों से अध्ययन करता है तथा उसका दृष्टिकोण अन्य वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से भिन्न होता है, किंतु ये समस्त वैज्ञानिक मनुष्य को एक पूर्ण इकाई मानकर उसका अध्ययन करते हैं।

पुरातत्वविज्ञानी प्राचीन काल के निवासियों की संस्कृति एवं उनके व्यवहार का अध्ययन करते हैं, जबकि मानवजातिविज्ञानी आधुनिक काल की संस्कृतियों का अध्ययन कर रहे हैं। विभिन्न देशों की मानव-संस्कृतियों में कुछ समानताएं एवं कुछ असमानताएं पायी जाती हैं। जो संस्कृतियां पूर्ण रूप से एक-दूसरे से पृथक् हैं, उनमें भी कुछ समानताएं पायी जाती हैं। आज मानवविज्ञानी एवं मानवजातिविज्ञानी मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

भारत सरकार ने भी मानवविज्ञान के विशेष ज्ञान का उपयोग पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों के लिए किया है। यह कहा जा सकता है कि जहां-जहां मानव-विज्ञानीय पद्धतियां तथा कार्यप्रणालियां प्रयोग में लायी गयीं, वहां-वहां का प्रशासन अधिक प्रभावशाली एवं संतोषप्रद रहा है। आधुनिक काल में मानवविज्ञानियों तथा मानवविज्ञान की पद्धतियों का व्यावहारिक प्रयोग किया जा रहा है। उदाहरण के लिए, उद्योग में मजदूर-मालिक वाद-विवादों का निपटारा, सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में मानवविज्ञान का योगदान रहा है।

मलेरिया-उन्मूलन अथवा चेचक-उन्मूलन जैसे कार्य-क्रमों में भी लोक-स्वास्थ्य-विभाग मानवविज्ञान का सहयोग प्राप्त कर रहा है। कृषक वर्ग एवं पिछड़ी जातियों के विकास एवं सुधार के कार्यक्रमों में भी सहायता ली जा रही है। मानवविज्ञान न केवल मानव-संस्कृतियों का ही अध्ययन कर रहा है, अपितु आधुनिक, विकसित सभ्य समाज की नूतन परंपराओं का भी अध्ययन कर रहा है। साथ ही साथ वह सामाजिक संस्थाओं का भी अध्ययन करने में लगा है। युद्धों में भी मानवविज्ञान ने अपना योगदान दिया है। जब अमरीकी सेनाएं एशिया में पिछड़े हुए स्थानों के संपर्क में आयीं, तो मानवविज्ञानी ही वे लोग थे, जिन्होंने उनकी संस्कृतियों एवं भाषाओं का अध्ययन करके उनसे संपर्क स्थापित किया।

शारीरिक मानवविज्ञान भी कई प्रकार से उपयोगी सिद्ध हुआ है। मनुष्यों के लिए सुविधा और सुरक्षाजनक मशीनें बनाने में इसकी सहायता ली गयी है। विशेष रूप से हवाई जहाज, टैंक, आधुनिक शस्त्रास्त्र, पोशाक आदि बनाने में। सेवा, रेलवे, डाकतार विभाग तथा अन्य बड़ी संस्थाओं में कार्य करनेवाले कर्मचारियों के लिए विशेष यूनिफार्म के उत्पादन में तथा अन्य सिले-सिलाये वस्त्रों के उत्पादन में मानक आकार (स्टैंडर्ड साइज) की आवश्यकता मिल एवं फैक्टरियों को होती। है। यह मानक आकार मानवविज्ञानी के ही ज्ञान की देन है। इसी प्रकार लकड़ी का सामान (कुर्सी, मेज, अल्मारी, स्टूल, खाट इत्यादि), विद्यालयों में प्रयोग में लाये जानेवाले वैज्ञानिक उपकरण, छोटी मशीनें तथा मोटरकार, मोटरसाइकिल, साइकिल, धुलाई की मशीनें इत्यादि मनुष्य के उपयोग की वस्तुओं के नमूने तैयार करने में भी मानवविज्ञान की उपयोगिता है।

वृद्धि एवं विकास परिवर्तनशील हैं। दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन दोनों पौष्टिक आहार एवं जीन-विज्ञान पर निर्भर हैं। इनकी विभिन्नता को ज्ञात करने के लिए तथा अन्य चिकित्सा संबंधी समस्याओं के लिए, जन-स्वास्थ्य के लिए मानवविज्ञान का प्रयोग किया जा रहा है। युग्मज के अध्ययन से यह पता लगाया जा सकता है कि किसी शारीरिक विशेषता अथवा लक्षण के विकास में वंशागति और परिस्थिति कितना-कितना योगदान करती हैं। खेलकूद में भी इसका प्रयोग किया जा रहा है। हाकी, फुटबाल, क्रिकेट, बल्ला, गेंद, जाली इत्यादि के निर्माण में भी मानवविज्ञान का सहयोग होता है। आधुनिक शारीरिक विज्ञान में जीन विज्ञान का अत्यधिक महत्त्व है। औषधियों एवं वैधिक समस्याओं के समाधान में इसका प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, कुछ ऐसे रोग

हैं जो वंशपरंपरागत होते हैं। यदि ऐसा रोग ज्ञात हो जाये एवं उसको समाप्त करना हो, तो जीनविज्ञानी की सहायता ली जा सकती है। रोगियों की सलाह दी जा सकती है। कि वे किस प्रकार विवाह करें और उन्हें यह भी बताया जा सकता है कि उनके द्वारा उत्पन्न शिशु में उस रोग के कीटाणुओं के पाये जाने की कितनी संभावना होगी इत्यादि। आज जीन-विज्ञान में दो हजार विशेषकों की वंशागत प्रणाली ज्ञात हो चुकी है। कभी-कभी एक शिशु के लिए दो पिता आपस में लड़ते हैं। जब विवाद न्यायालय में जाता है, तो विवादास्पद शिशु के असली पिता का पता लगाने में मानवविज्ञानी वंशागत विशेषकों की सहायता से इस गंभीर समस्या को सुलझा सकता है। यदि कोई मृत शरीर किसी स्थान पर मिले और यह पता लगाना हो कि कौन था, तो मानवविज्ञानी विश्वव्यापी शारीरिक लक्षणों एवं विशेषताओं के आधार पर पता लगा सकते हैं।

आधुनिक मानवविज्ञान की आयु केवल एक शताब्दी की ही है, लेकिन इसमें बहुत विविध एवं विस्तीर्ण काल का अध्ययन किया गया है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि कम समय के बावजूद मनुष्य ने अन्य मानव-जातियों एवं समूहों का अध्ययन किसी पक्षपात के बिना किया एवं यह समझ कर किया कि समस्त विश्व के मनुष्य, होमोसेपियन्स कहलाने के योग्य हैं एवं यह उनका अधिकार है। केवल कुछ जातियां ही मानव जाति की अग्रणी नहीं हैं। शारीरिक मानवविज्ञानी ने मानव की विभिन्न प्रजातियों का प्रगाढ़ अध्ययन किया एवं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कोई भी प्रजाति जैविक रूप से शुद्ध एवं उच्च नहीं है, अंतर्जातीय मिश्रण हानिकारक नहीं है, तथा एक मानव-समूह किसी भी अन्य मानव-समूह के जैविक, सांस्कृतिक व्यवहार को ग्रहण कर सकता है।

मनुष्य के सांस्कृतिक व्यवहारों को समझने के लिए भी मानवविज्ञान ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। प्रागैतिहासिक-विज्ञान के विशेषज्ञों ने यह सिद्ध किया कि मनुष्य प्राचीन काल से ही संस्कृति का विकास करता आया है। उन्होंने उस विकास के समस्त चरण दर्शाये हैं। उन्होंने सांस्कृतिक वृद्धि का विश्वव्यापी विधान बनाया है, जो प्रत्येक स्थान की संस्कृति पर लागू होता है। सांस्कृतिक मानवविज्ञानी ने मानव की संस्कृति एवं अन्य विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि आद्य संस्कृतियों पर भी वही विधान लागू होता है, जो विकसित समाजों पर लागू है। उन्होंने किसी भी संस्कृति को अच्छा अथवा बुरा नहीं माना है। आज, जबकि मानवता विश्व-संस्कृति की ओर अग्रसर है, मानवविज्ञानी ही समस्त विभिन्न एवं पृथक् संस्कृतियों को एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता है, जो संपूर्ण मानवता के लिए आवश्यक है। मानवविज्ञान ने इस बात को अधिक महत्त्व दिया कि मनुष्य एवं उसके रहन-सहन की पद्धतियों का अध्ययन पूर्ण रूप से करना चाहिए, जिसमें प्रत्येक पक्ष न केवल दूसरों के साथ सम्मिलित है, अपितु एक-दूसरे को प्रभावित भी करता है। कुछ वैज्ञानिकों का पहले यह मत था कि मानव के शारीरिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करना चाहिए तथा ऐसा किया भी जा सकता है, किंतु आज यह सिद्ध हो गया है कि ऐसा करना असंभव है। मनुष्य का प्रत्येक आचरण एवं व्यावहारिक क्रिया उसकी शारीरिक विशेषताओं तथा संस्कृति द्वारा नियंत्रित है। एक स्वस्थ स्त्री अपने वैवाहिक जीवन में पंद्रह-बीस शिशुओं को जन्म दे सकती है, किंतु इतने शिशुओं को प्रत्येक स्त्री कम ही जन्म देती है। इसका कारण कोई शारीरिक रोग नहीं, अपितु सांस्कृतिक सीमाएं हैं। मनुष्यों की किसी भी गतिविधि का नियंत्रण जीनी विशेषकों एवं सांस्कृतिक विशेषकों द्वारा होता है एवं आपस में दोनों का प्रभाव बराबर होता है। उदाहरण के लिए, मनुष्य चाहे पत्थर के औजार बनाये या औद्योगिक उत्पादन करे, कच्चे फल खाये या उन कच्चे फलों का स्वादिष्ट भोजन तैयार करे, कृषि करे या कार चलाये या फैक्टरी में कार्य करे––उसकी ये समस्त क्रियाएं कुछ जैविक वंशागत तत्त्वों पर और कुछ सांस्कृतिक व्यवहारों पर आधारित हैं। अतः आजकल मानवविज्ञान जैव-सांस्कृतिक आचरण का अध्ययन करने में संलग्न है।

ऐतिहासिक भूमिका

मनुष्यों की समस्त जातियों में मानव तथा उसकी संस्कृति में कुछ न कुछ अभिरुचि पायी जाती है, चाहे वह आद्य, अविकसित, विकासशील अथवा पूर्ण विकसित हो। इस अभिरुचि का कारण केवल यह है कि मनुष्य को

अपनी उत्पत्ति तथा विकास को जानने की प्रबल इच्छा रही है। अनपढ़ जातियों की लोक-कथाएं एवं लघु-कथाएं मानव की उत्पत्ति तथा उसके रहन-सहन की विधियों पर प्रकाश डालती हैं। उनमें संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंशों का भी वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए, अग्नि का आविष्कार, औजारों एवं कलाकृतियों का निर्माण, खाद्य वस्तुओं के उत्पादन की प्रविधियां, वस्त्र-उत्पादन की कार्यप्रणाली, आवास स्थान का निर्माण, आखेट की प्रणाली इत्यादि। प्राचीन काल में शिक्षित मनुष्यों द्वारा छोड़े गये इस कोष की सहायता से हम उस समय की संस्कृति का अनुमान लगा सकते हैं, जब उसने परिस्थिति पर निर्भरता छोड़ दी तथा वह अपनी उत्पत्ति आदि के बारे में जानने के लिए इच्छुक हुआ। मिस्र की सभ्यता से पूर्व के ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि उस समय भी विश्व में विभिन्न संस्कृतियां विद्यमान थीं। लगभग 3500 वर्ष पूर्व की निर्मित मूर्तियों में विभिन्न जातियों का प्रदर्शन किया गया है। नारले राजवंश (1350 वर्ष ई० पू०) में मनुष्य का निश्चित रूप से वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण त्वचा के वर्ण पर आधारित था। श्याम वर्ण के लोग नीग्रो, पीत वर्ण के मनुष्य एशियाई, श्वेत वर्ण वाले यूरोपीय तथा लाल वर्ण के मनुष्य मिस्र निवासी कहे गये। चौदहवीं शताब्दी के पश्चात क्रीट के विनो वंश की भी आकृतियां पायी गयी हैं। इसके पश्चात मध्य एशिया से लाये गये बंदियों के भी चित्र पाये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन मिस्र-निवासियों ने विभिन्न प्रजातीयों के मनुष्यों को पहचानना सीखा। किंतु उन्होंने इस कार्य में अधिक अभिरुचि का प्रदर्शन नहीं किया। वे कभी अपने देश के बाहर भ्रमण करने नहीं गये तथा उन्हीं मनुष्यों के अध्ययन में संलग्न रहे जो या तो उसी देश के वासी थे, या बाहर से उस देश में आये।

यूनानवासियों ने आसपास के देशों की यात्राएं कीं तथा उन देशों का वर्णन भी किया। किंतु कदाचित सर्व-प्रथम अन्य देशों की यात्रा करने वाले यात्री (फ्रांस और स्विट्जरलैंड की र्‌होन नदी के आसपास रहनेवाले लोग) र्‌होनीशियन थे। परंतु उनकी अभिरुचि केवल व्यापार तक ही सीमित थी। मनुष्यों के संदर्भ में उनके लिखे विवरण बहुत कम हैं। यूनानी यात्रियों ने न केवल तटीय प्रदेशों के निवासियों का वर्णन किया है, अपितु जटिल एवं दुर्गम भूमि तथा भूमध्यसागरीय प्रदेश एवं कृष्णसागर के तट के निवासियों का भी वर्णन किया। यूनानियों का आगमन लगभग 9वीं शताब्दी में आरंभ हुआ। वे न केवल व्यापारी ही थे, बल्कि अनेक विद्वान, चिकित्सक, शिक्षक, वास्तुकार, कवि भी थे जो व्यापारिक जलपोतों में सुदूर-पूर्व के देशों में इन व्यापारियों के साथ जाते थे। इन यात्राओं में जो भी इकट्ठा होता था, उसमें व्यापारी वर्ग एवं अन्य मनुष्यों की भी अभिरुचि होती थी। परंतु यूनानवासियों में कुछ ऐसे भी थे, जो तात्कालिक आवश्यकताओं के साथ ही साथ दूरदर्शिता से भी काम लेते थे। विश्व की आवश्यक-ताओं की जिज्ञासा के साथ ही साथ उनमें से कुछ मानव की प्रवृत्तियों को समझने में भी अभिरुचि रखते थे। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे किसी भी संस्कृति से प्रभावित नहीं थे। जैसा हमें ज्ञात है, यूनान ही वह देश है, जहां चिंतन की स्वतंत्रता ने सर्वप्रथम जन्म लिया। उसी देश का दर्शन-शास्त्र एवं विज्ञान आधुनिक सभ्यता का आधार है। उन लोगों ने अपनी यात्राओं एवं साहसिक तथा रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन किया है। हानो के भ्रमण का वर्णन मानवविज्ञानी के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। यह भ्रमण एक हजार वर्ष ई० पू० का है। इस यात्रा में जिब्राल्टर के निकट के जंगलियों का भी वर्णन है, जिन्हें गोरिल्ला कहा गया है।

हीरोडूटस (480 से 425 वर्ष ई० पू०) को विश्व का सर्वप्रथम मानवविज्ञानी कहा जा सकता है। उसने छठी एवं 7वीं शताब्दी की यात्राओं के वर्णन का संकलन किया और स्वयं भी अनेक देशों की यात्रा की। उसने लीबिया, मिस्र, यूनान, एशिया माइनर, इथोपिया तथा सीरिया के निवासियों का भी वर्णन किया है। उसकी लिखित पुस्तकों में विकसित एवं अविकसित सभ्यताओं का वर्णन मिला है। उसने कहा कि मिस्र के निवासियों का सिर ईरानी लोगों के सिर की तुलना में अधिक मोटा है। यह अंतर परिस्थिति के कारण हो सकता है। हीरो-डूटस के विचार में राष्ट्र की परिभाषा "एक रक्त, एक भाषा, एक ईश्वर तथा समान रहन-सहन" पर आधारित है। ईरान के राजवैद्य स्टैशियस (404-358 ई० पू०) ने भारत के निवासियों का वर्णन किया है। उसने भारतीयों को नाटे कद, लंबे केश, श्याम-वर्णी त्वचा एवं चिपटी नाकवाले कहा है। इस प्रकार के लोगों को क्वाटर फूजिस

ने उन्नीसवीं शताब्दी में नीग्रोटोज़ के नाम से पुकारा। हिप्पोक्रेट (462-372 ई० पू०) हीरोडूटस का समकालीन था। उसने सर्वप्रथम चिकित्सा को जादू टोने से पृथक् किया। उसने प्रभाव के प्राकृतिक कारणों की खोज की। हीरोडूटस का विचार था कि शारीरिक तथा मानसिक विशेषक जलवायु एवं वातावरण पर निर्भर हैं। वह इस निश्चय पर पहुंचा कि पर्वतों में रहनेवाले लंबे कद के तथा क्रियाशील होते हैं और घाटियों में रहनेवाले छोटे, मोटे एवं श्याम केशवाले होते हैं।

अरस्तू (384-320 ई० पू०) ने प्लेटो के समान अपना संपूर्ण जीवन राज्य एवं मानव के दर्शनशास्त्र को समझने में लगा दिया। वह विश्वविजेता सिकंदर का गुरु था। सिकंदर एवं उसके अधिकारियों ने जिन-जिन देशों, प्रदेशों पर आक्रमण किये, वहां के निवासियों, वनस्पतियों एवं प्राणियों इत्यादि के ब्यौरे लाकर दिये। उसने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें कुछ प्राणियों के शरीर के भाग, उनके प्रजनन तथा उनके इतिहास के बारे में है। वह लीनियस से पूर्व का प्रथम जीवविज्ञानी कहा जा सकता है। उसने सर्वप्रथम कहा कि मानव का अन्य प्राणियों के समान वर्गीकरण किया जाना चाहिए। उसे प्राकृतिक वरण का कुछ ज्ञान था। उसने कहा कि मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित प्राणी है, उसका मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बड़ा है और वह द्विपद है।

323 वर्ष ई० पू० में अलैकजेंडर विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम मानव के मृत शरीर का विच्छेदन किया गया। एरासस ट्रेटस (320-257 ई० पू०) तथा हीसोफीलस (335-280 ई० पू०) ने इसके आधार पर शरीर-रचना लिखी। इनकी मृत्यु के पश्चात 400 वर्ष तक कोई ऐसा अध्ययन नहीं किया गया; क्योंकि मानव-शरीर का विच्छेदन कानून द्वारा वर्जित कर दिया गया और आज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को कड़ा दंड दिया जाता था। उस समय के शरीरशास्त्री केवल अन्य पशुओं तथा वानरों का ही विच्छेदन कर सकते थे। गैलन (131-200 ई० पू०) का कहना था कि वानर ही मनुष्य के अधिक समानुरूप है। गैलन के पश्चात के समय को अंधकार-युग (डार्क एजेज़) के नाम से पुकारा जाता है। यूनान में मानव के अध्ययन में रुचि कम होने लगी एवं नैतिक समस्याओं में अधिक अभिरुचि दिखायी देने लगी। यह कहा जा सकता है कि इस समय से 15वीं शताब्दी तक मानव के अध्ययन पर कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। रोमनों ने अन्य देशों का भ्रमण किया, लेकिन उन्होंने वहां के निवासियों तथा उनके रहन-सहन पर कोई अधिक ध्यान नहीं दिया। टैसीटस (119 ई० पू०) ने मध्य तथा उत्तर-पश्चिमी यूरोप के निवासियों का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शारीरिक वर्णन किया। डालीमी ने 120 ई० पू० में मानव पर कुछ निरीक्षण किये, किंतु उसके पश्चात जैसे-जैसे रोमन सभ्यता का क्षय होता गया, वैसे-वैसे ईसाई धर्म का उदय होता गया। मानव-जाति का अध्ययन पाप समझा जाने लगा। यह अध्ययन धार्मिक विचारों के अनुकूल नहीं था। धीरे-धीरे रोम के प्रभुत्व का प्रभाव कम होता गया एवं ईसाई धर्म की जड़ें मजबूत होती गयीं। अधिकार प्राप्त शासन की उपस्थिति के कारण मानव के अध्ययन में अनेक कठिनाइयां आती गयीं। इसी कारण इस काल को मानव-इतिहास का अंधकारमय युग कहा जाता है।

15वीं शताब्दी में योरोप में फिर स्थिरता आयी एवं नव-जागृति इटली से प्रारंभ होकर समस्त महाद्वीप में फैल गयी। तीन महान घटनाओं ने पश्चिमी सभ्यता को एक नयी दिशा दी। ये तीन घटनाएं थीं——मुद्रण का आविष्कार तथा 1446 में कागज का आविष्कार, कांस्टैन-टिनोपल का पतन और 1492-93 में कोलंबस द्वारा अमरीका की खोज। इस काल में यूनानी तथा रोमन क्रियाकलापों को पुनः खोजा गया और योरोपीय लोग यूनान के विचारों की स्वतंत्रता से प्रभावित हुए एवं विश्व के अन्य भागों में बसनेवालों तथा अन्य स्थानों की खोज में दृढ़तापूर्वक संलग्न हो गये। इसके पश्चात 300 वर्ष तक योरोप के निवासी, जिन्हें साहसिक यात्राओं में अभिरुचि थी, विश्व के नूतन देशों की खोज में यात्राएं करने लगे। 16वीं शताब्दी तक मानव का अध्ययन एक आदरसूचक कार्य बन गया। अमरीका की खोज के पश्चात यह संदेह उत्पन्न हुआ कि मानव की उत्पत्ति एक ही काल एवं एक ही स्थान पर हुई या नहीं। धार्मिक विचारों के पुराने मानव-जाति-विज्ञानी संपूर्ण मानव-सृष्टि को आदम की संतान मानते थे और तीन पूर्वजों के आधार पर पूरे विश्व को शैम, हैम और जेल्फिट के रूप में विभाजित करते थे।

इस प्रकार शैम एशिया, हैम अफ्रीका एवं जेल्फिट यूरोप कहलाया। अर्थात् संपूर्ण मानव-जाति आदम से ही उत्पन्न हुई। परंतु अमरीका की खोज ने इन सब धारणाओं को उलट-पलट कर दिया। अब प्रश्न यह था कि अमरीका के निवासी किससे उत्पन्न हुए ? यही समय था, जब विकसित मानव का भी अध्ययन होने लगा।

दीर्घदृष्टि युग

लीनियस से डारविन तक के काल को दृष्टि-काल या 'एज ऑफ विजन' कहते हैं। लीनियस ने 1735 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सिस्तम नातूरी' का प्रकाशन किया, जिसमें उसने अन्य प्राणियों के साथ मानव को भी वर्गीकृत किया। उसने मानव को 'क्वाडरपीडिया' वर्ग में 'एंथ्रोपोमार्फा' गण के अंतर्गत रखा। नर-वानर गणों के अंतर्गत मानव, कपि, लीमर एवं चमगादड़ को रखा। उसने मानव-जाति को सात भागों में विभाजित किया अर्थात् (क) होमो-सेपियन्स, (ख) होमो-फीलस, (ग) होमो-अमेरिकन्स, (घ) होमो-योरोपियन्स, (ङ) होमो-एशियाटिकन्स, (च) होमो-आकर, (छ) होमो-मस्टायसिस। होमो-फीलस में योरोप में देखे गये अनेक जगंली मानव होते हैं, एवं होमो-मस्टायसिस में बौने एवं भीमकाय तथा कृत्रिम रूप से विकृत मनुष्य होते हैं। चमगादड़ तथा वन्य-मानव को अब इस वर्गीकरण में से निकाल दिया गया है एवं आज मानव की वही स्थिति है, जो लीनियस ने प्रदान की थी।

बूफान के विचार में आधुनिक प्राणियों के पूर्वज एक हैं। उसने अपनी पुस्तक 'वेराइटी ह्यूमेन' में केश, त्वचा, वर्ण, दैहिक उच्चता, एवं अन्य शारीरिक लक्षणों का वर्णन किया है। उसने जलवायु, आहार एवं प्रकृति के प्रभाव की विवेचना भी की। उसने केश-वर्ण, दैहिक संरचना, एवं विशेषतः करोटि के आकार पर अधिक ध्यान दिया एवं इनका उपयोग अपने वर्गीकरण में किया। डाक्टर लाइटफुट (1606-1675) ने मानव के संदर्भ में घोषणा की कि प्रथम मानव का 23 अक्टूबर 4004 वर्ष ई० पू० को 9 बजे प्रातःकाल निर्माण हुआ। ब्लूमैन बाख (1752-1840) को करोटिविज्ञान का संस्थापक कहा जाता है। उसने मानव की करोटि का अध्ययन करके पुस्तकें लिखीं। उसने मानव जाति को पांच वर्गों में विभाजित किया (क) काकेशियन, (ख) मंगोलियन, (ग) इथियोपियन, (घ) अमेरिकन (ङ) मलायन। किंतु ये समस्त मानव एक ही जाति के थे। उसका विचार था कि 'काकोसाइड' प्रकार अत्यंत विकसित है तथा अन्य जातियां उससे बिगड़कर बनी हैं। ब्लूमैन बाख ने मंगोल की करोटि को वर्गाकार, नीग्रो की करोटि को दीर्घ एवं संकीर्ण तथा काकेशियन को मध्यक बताया। उसका अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था—होमो-फीलस का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन। जैसा कि हम इसके पूर्व लिख चुके हैं, एरियन्स ने योरोप में रहने वाले समस्त वन्य-मानव को इसमें सम्मिलित किया था। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि यह सत्य नहीं है। इसी काल में पीटर कैंपर ने नर-वानर गणों के अध्ययन के लिए मानव के परिच्छेदिका-कोण की खोज की। इसी समय इस सत्य के अनेक प्रमाण मिले कि मनुष्य का विकास अत्यंत प्राचीन है। प्रस्तर-उपकरणों एवं अन्य वस्तुओं ने यह प्रमाणित किया कि मानव अत्यधिक आद्य रूप में था। सैफाक (इंग्लैंड) में जान फेरेरे ने सर्वप्रथम सुदूर पूर्वजों का दावा किया। उनका यह विचार विलुप्त प्राणियों की अस्थियों के साथ पाये गये 'फ्लिट' से निर्मित उपकरणों पर आधारित था। पैगिल ने भी फ्लिट उपकरणों के साथ रीनोसिरास के दांत खोज निकाले। बूखर-दी-थीस ने फ्रांस में एबेवैली नामक स्थल से इसी प्रकार की खोज की। भूविज्ञानियों की सहायता से यह घोषणा की गयी कि ये उपकरण पांच लाख वर्ष पूर्व के हैं। रोगोलेट ने ऐसे ही उपकरणों की खोज सेंट अशूल की गुफाओं से की, किंतु उन्हें ये उपकरण किसी मानवीय अवशेष के साथ नहीं प्राप्त हुए। 1857 में नियांडर्थल घाटी में सर्वप्रथम मानव के अवशेष प्राप्त हुए। शिफ हाउससैन ने इसकी करोटि को बड़ा, संकीर्ण, निम्न ललाट एवं चिपटे तथा स्थूल भ्रूकटक वाला बताया। विरशो के अनुसार यह व्याधिविज्ञान का एक प्रतिदर्श था। उसने यहां तक कहा कि यह करोटि किसी उन्मत्त मनुष्य की है।

इस काल की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना 'बीगल की यात्रा' थी। 1835 में चार्ल्स डारविन ने इस जलपोत में गैलपगोस की यात्रा की। दक्षिण अमरीका से ये द्वीप लगभग 600 मील की दूरी पर हैं। उन्होंने प्रत्येक द्वीप में विभिन्न प्राणियों का अवलोकन किया, जबकि समस्त

	काकसाइड	नीग्रोइड	मंगोलाइड
आंख			
नाक			
होंठ			
सिर			
त्वचा			

प्रमुख मानव वर्ग लक्षण

द्वीपों की प्राणिसंख्या में काफी समानता पायी गयी। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि समस्त मानव जातियों का मूल स्रोत भी समान हो सकता है। 'औरीजिन ऑफ स्पीशीज' नामक पुस्तक का सन् 1859 में प्रकाशन हुआ। आदिवासियों के मध्य कार्य करनेवाले वैज्ञानिकों के लिए एक विस्तृत प्रश्नावली बनायी गयी, जिसकी सहायता आज भी मानवविज्ञान संबंधी जिज्ञासाओं में ली जाती है।

मानवविज्ञान संबंधी आंकड़े एकत्र करने में सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग सबसे पहले रेडक्लिफ ने किया। रेड्सज्यूस ने 1840 में कपाल-सूचकांक का आविष्कार किया। उन्होंने करोटियों (कपालों) को दीर्घशिरस्क तथा लघुशिरस्क में विभाजित किया। उसी समय में टीडमैन ने करोटि के आयतन को प्राप्त करने के लिए व्रीहिमेद (मिलेट) के बीजों का प्रयोग किया। विचर्ड ने विभिन्न प्रजातियों में वर्ण, केश, दैहिक उच्चता एवं शरीर-निर्माण का अध्ययन किया। उसके विचार में प्राचीन जातियां काले वर्ण की थीं और कालांतर में वे श्वेत वर्ण में परिवर्तित हो गयीं। इस परिवर्तन का मुख्य कारण जलवायु मानी गयी। उन्होंने विभिन्न जातियों से जो भी प्राप्त हो सकता था, उसे एकत्र किया। अर्थात् उन्होंने अपनी पुस्तक 'नेचुरल हिस्ट्री ऑफ मैन' में शारिरिक, शरीरक्रियात्मक, मनोविज्ञानीय एवं मानवजातिविज्ञानीय आंकड़ों को एकत्र किया।

उस काल में भूगोलविज्ञानियों ने भी मानव-जाति के अध्ययन में योगदान किया। इनमें से मुख्य हैं बाकल, डिटर एवं होमबोल्ट। एबेड हुबाई की पुस्तक 'कैरेक्टर, मैनर एंड कस्ट्मस ऑफ इण्डिया' सर्वप्रथम लंदन में 1817 में प्रकाशित हुई। 1858 में अध्ययन में तीव्रता आयी एवं उन विषयों का प्रगाढ़ रूप से अध्ययन किया जाने लगा, जिनका मानवविज्ञान से निकट संबंध था। उसी वर्ष पुरातत्वविज्ञानियों को प्राचीन काल के उपकरण, अस्थियों के साथ मिले एवं भूवैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया कि मनुष्य का विकास कुछ सहस्र वर्ष पूर्व नहीं, अपितु अरबों वर्ष पूर्व हुआ। चार्ल्स डारविन ने इन समस्त विज्ञानियों अर्थात् भूविज्ञानियों, समाज-विज्ञानियों और प्रकृति-विज्ञानियों के सामूहिक प्रयत्नों को एकत्र करके अपनी पुस्तक 'ओरीजिन ऑफ स्पीशीज' में प्रकृति के विकासीय दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत के लिए समाजविज्ञान तथा जीवविज्ञान के अध्ययन के सह-संबंध की आवश्यकता थी। डारविन की उपर्युक्त पुस्तक ने ही मानवविज्ञान की यथार्थता का परिचय दिया। उसके विचार में स्पीशी (जाति) का निर्माण अचानक नहीं हुआ था, अपितु वे छोटी-छोटी स्पीशी (जाति) से विकसित होकर बनी थीं। कुछ जातियां (स्पीशी), प्राकृतिक वरण द्वारा विरल होकर समाप्त हो गयीं। यह सिद्धांत उसके अन्य सिद्धांतों में से एक था। टी० एच० हक्सले (1825-1895) डारविन तथा उसके सिद्धांत का पक्का अनुयायी था। हक्सले ने भ्रूण-विज्ञान, मस्तिष्क एवं अन्य अंगों, अस्थियों तथा सामान्य शारीरिक रचना का तुलनात्मक अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि किसी भी कार्य के अंगों की पद्धति का अध्ययन किया जाये तो यही सिद्ध होता है कि मानव तथा गोरिल्ला में संरचनात्मक अंतर गोरिल्ला एवं निम्न कपियों की तुलना में कम पाये जाते हैं। उसने नियांडर्थल मानव की आधुनिक आदिवासियों से भी तुलना की। उसका कहना था कि विकासीय क्रम में एक छोर पर नियांडर्थल करोटि को रखा जा सकता है एवं दूसरे छोर पर मानव की करोटि को। उसने मानव जाति का विवरण केश एवं त्वचा के आधार पर किया एवं चार प्रजातियों में बांटा: (1) आस्ट्रेलाइड, (2) नीग्रोइड, (3) जैंथोलाइड, (4) मंगोलाइड।

इसी काल में मानवविज्ञान का अध्ययन प्रयोगशालाओं में प्रारंभ हुआ। विरसा (1829-1902) ने सन् 1856 में कोशिकीय व्याधि-विज्ञान का सिद्धांत प्रस्तुत किया एवं कहा कि व्याधि-विज्ञान में कोशिकाएं परिस्थिति की अंतर्क्रियाओं से निर्मित होती हैं। उसके जीवनकाल में फ्रांस के मानवविज्ञानी क्वार्तर-फ्यूजिस ने कहा कि जर्मनी के व्यक्ति नृशंस (बर्बर) हैं। वे न तो स्वयं सभ्य हैं और न संस्कृति को समझते हैं; क्योंकि उन्होंने पेरिस के प्रसिद्ध संग्रहालय पर गोले बरसाकर उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया। 1876 में उसके कथन से प्रभावित होकर जर्मनी निवासियों ने छह लाख विद्यार्थियों के केश, त्वचा, वर्ण इत्यादि का अध्ययन किया। सर विलियम गल तथा बान शेपर्ड ने अंत:स्राव-विज्ञान (अंतस्राविकी) का संस्थापन किया। उनके विचार में शरीर तथा मस्तिष्क में

कुछ परिवर्तन हुए जिनका कारण थाइराइड ग्रंथि (अवटु-ग्रंथि) थी। इसी प्रकार शरीर की अन्य क्रियाएं विभिन्न ग्रंथियों पर निर्भर हैं।

फ़्रांस में पाल ब्रोका (1824-1880) ने पेरिस में 'मानवविज्ञानी समिति' (एंथ्रोपोलोजिकल सोसाइटी) का निर्माण किया तथा मानवविज्ञान का एक विद्यालय खोला। उसने अनेक मानवविज्ञानी उपकरण निर्मित किये, जिनमें कोणमापी इत्यादि प्रमुख हैं। उसने निर्दिष्ट बिंदुओं की परिभाषा की तथा मापन की विधि एवं उनको मापने में प्रयोग में आने वाले उपकरण बनाये। फ़्रांसीसी, इतालवी, स्पेनी तथा बेल्जियम के मानवविज्ञानियों ने उसकी विधियों का अनुसरण किया। उसी समय जर्मन भाषा बोलनेवाले विज्ञानियों ने फ़्रेंकफुर्ट में एक सम्मेलन का आयोजन करके मापन की विधियों का मानकीकरण किया। इन्हें 'फ़्रेंकफुर्ट समभौते' का नाम दिया। ब्रोका के 47 तथा फ़्रेंकफुर्ट समभौते के 39 निर्णयों में से केवल 8 में पूर्ण समानता पायी। इटली के सर जी इन विधियों से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि करोटि के आकार पर अधिक बल देना चाहिए।

डारविन के काल से ही बहुत-से संग्रहालयों तथा संस्थानों में मानवविज्ञान का अध्ययन प्रारंभ हुआ। अमरीका की सरकार ने मानवजातिविज्ञान का एक विभाग प्रारंभ किया और मेजर पावेल उसके प्रथम अध्यक्ष हुए। मानवजातिविज्ञानी विश्व में निवास करनेवाली विभिन्न प्रजातियों के शारीरिक लक्षणों तथा परंपराओं एवं संस्कारों का अध्ययन कर रहे थे। फ़्रांस में जोसफ डैनिकर ने विश्व की विभिन्न प्रजातियों की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन किया। उसने कहा कि किसी भी प्रजाति के वर्गीकरण में केवल एक लक्षण को आधार नहीं बनाया जा सकता। उसने अपने वर्गीकरण को अनेक प्रकार के लक्षणों पर आधारित बताया। उसने हक्सले के इस विचार का समर्थन किया, कि मनुष्य एवं कपि में वानर की तुलना में अधिक संरचनात्मक अंतर पाये जाते हैं। उसने यह बताया कि विश्व में उनतीस प्रजातीय तत्वों का वितरण पाया जाता है। रिपले ने भी अनेक लक्षणों पर आधारित प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उसकी पुस्तक 'रेस आफ यूरोप' 1900 में न्यूयार्क एवं लंदन में प्रकाशित हुई। उसने कपाल सूचकांक, वर्णक रंजकता, दैहिक उच्चता इत्यादि का मानचित्रों में भौगोलिक वितरण दर्शाया।

हैडन ने 1898 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडी आफ मैन' प्रकाशित की। उसका कथन था कि मानवविज्ञान 'मनुष्य का संपूर्ण अध्ययन है। मानवजाति वर्णन (एथनोग्राफी) कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का अध्ययन एवं वर्णन है तथा मानवजातिविज्ञान मानव समूहों का तुलनात्मक अध्ययन है। समाजविज्ञान, प्रविधि, धर्म, भाषाविज्ञान आदि मानवजातिविज्ञान की शाखाएं हैं। उन्होंने 'टारेट स्ट्रेट अभियान' का आयोजन किया, जिसमें मार्यसन, सेलिग्मन, रिवर्ज, तथा बिल्किन सम्मिलित हुए।

इटली में सर जी ने मानवविज्ञान के अध्ययन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके विचार में नियांडर्थल मानव के पश्चात् यूरोप के आद्य मानव की उत्पत्ति अफ्रीका में हुई एवं नवपाषाण युग के मानव इसी प्रकार के थे। इस मुख्य अफ्रीकन स्रोत से तीन प्रजातियों का विकास हुआ, जिनमें प्रथम नीग्रोइड, द्वितीय मैडीटेरेनियन एवं तृतीय नार्डिक थीं। आर्य प्रजाति के मनुष्य यूरो-एशियाटिक प्रजाति से विकसित हुए।

बैलजियम के वैज्ञानिक क्वेटलेट ने सर्वप्रथम अपने आंकड़ों को सांख्यिकीय उपचार दिया, एवं आलेख (ग्राफ) भी बनाये। उनको मानवविज्ञानीय आंकड़ों के गणितीय अध्ययन का आधार देने वाला माना जाता है। औसत तथा मानक विचलन (स्टैंडर्ड डैवियेशन) का प्रयोग किया गया, जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हमारा समूह सजातीय है कि नहीं।

गाल्टन तथा पियर्सन ने सह-संबंध सारणी का आविष्कार किया। उदाहरण के लिए, फीमर एवं दैहिक उच्चता के मध्य सह-संबंध का पता लगाया जा सकता है। यदि फीमर के आकार एवं दैहिक उच्चता में कोई सीधा संबंध है, तो सह-संबंध गुणंक 9 होगा, यदि नहीं तो 9 से कम। गाल्टन की विशेष रुचि वंशागति एवं मनोविज्ञान में अधिक थी। उसके विचार में मनुष्य शारीरिक एवं मनोविज्ञानीय लक्षणों में एक-दूसरे से भिन्न एवं असमान है। उनके विचार में कोटि-प्रवीणता (ग्रेड-एबीलिटी) अत्यंत कम होती है, एवं मध्य स्तर के मनुष्य कम पाये जाते हैं। यह अंतर वातावरण एवं वंशागति पर आधारित है। वह सुजननिकी विज्ञान के निर्माता थे। उनके विचार में

जो मनुष्य शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक रूप से अच्छे हैं, उनको अधिक शिशु उत्पन्न करने के लिए उत्साहित करना चाहिए एवं दूसरी ओर जो शेष मनुष्य रह जाते हैं, उनकी प्रजनन क्रिया में बाधा उत्पन्न करनी चाहिए।

उस समय कुछ विज्ञानी तो वंशागति को ही अन्य विभिन्नताओं का आधार मानते थे तथा अनेक अन्य वैज्ञानिक परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास का मूल आधार मानते थे। सन् 1900 में मैंडेल के खोजे हुए वंशागतित्व नियम पर पुनः शोध कार्य किया गया एवं तभी से जीनविज्ञान के अध्ययन को उत्साहित किया गया। आज जीन का संश्लेषण किया जा सकता है एवं जीव-रासायनिक जीनविज्ञान और जनसंख्या-जीनविज्ञान में अधिक उन्नति हो रही है।

इसी काल (1900-1918) में सामाजिक मानवविज्ञान का विकास हुआ। मार्गन, टायलर तथा स्पैंसर आदि विकासवादियों ने गौण जातियों के मानवजातिविज्ञान के अध्ययन में विशेष योगदान दिया तथा ऐतिहासिक विकासीय सिद्धांत प्रारंभ किया। वे तुलनात्मक विधि का प्रयोग करते थे। इस काल में अनेक मानवजातिविज्ञानी संग्रहालय खोले गये, जिनमें अनेक गौण जातियों की भौतिक संस्कृति का प्रदर्शन किया गया तथा विचार एवं विकास का अनुक्रम दर्शाया गया। इन संग्रहालयों में बर्लिन, आक्सफोर्ड, पेरिस एवं हारवर्ड के संग्रहालय उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के अध्ययन की कर्मसमितियों का निर्माण हुआ जिनमें वैज्ञानिक आपस में विचार-विमर्श कर सकते थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन हुआ करता था।

पिछले कुछ वर्षों से मानवजातिविज्ञान के अध्ययन में क्षेत्र-कार्य आवश्यक हो गया है। जो संस्कृतियां धीरे-धीरे विलीन हो रही हैं, उन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। बोआस ने अमरीका में मानवविज्ञान तथा आद्यमानव के अध्ययन पर अधिक जोर दिया। उसने एस्किमो तथा ब्रिटिश कोलंबिया में रहनेवाली गौण जातियों का अध्ययन किया और गौण-जातियों एवं जनसमुदायों के अध्ययन पर विशेष बल दिया। वह मानवविज्ञान के विकास का उत्तरदायी है। एक वैज्ञानिक ने उसका अभिनंदन करते हुए कहा है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्व काल को बोआस का युग कहा जा सकता है। इसी काल में रीति-विज्ञान का मानकीकरण हुआ। सपीक ने समय-नेत्र-दृश्य तथा विजिलर ने सांस्कृतिक क्षेत्र के सिद्धांत का विकास किया। इस समय यह अनुभव किया गया कि केवल आंकड़े इकट्ठे करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु अच्छे विश्लेषण का होना भी बहुत आवश्यक है। इस समय मानव-जाति वर्णन के स्थान पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानवविज्ञान को महत्त्व प्राप्त होने लगा। मालिनोवस्की, रेडक्लिफ ब्राउन, लैबीस्ट्राफ इत्यादि ने इसमें विशेष योगदान दिया।

प्राणी-जगत में मानव की स्थिति

मानव प्राणी-जगत का एक सदस्य है। इस प्राणी-जगत को दो भागों में विभाजित किया गया है (अ) प्रोटोजोआ (ब) मेटाजोआ। मनुष्य मेटाजोआ के अंतर्गत आता है, क्योंकि इसका शरीर एक से अधिक कोशिकाओं से निर्मित है। वह कशेरुकी (वर्टेब्रेट) है, क्योंकि उसमें कशेरुका-दंड (मेरुदंड) होता है। कशेरुकी के पांच वर्ग होते हैं—मत्स्य, जलचर, थलचर, सरीसृप और स्तनपोषी। मानव इनमें स्तनपोषी वर्ग के अंतर्गत आता है। स्तनधारी प्राणी हवा में सांस लेने वाले प्राणी हैं। प्रायः ये अंडे नहीं देते। इनका भ्रूण जन्म से पूर्व माता की रुधिर-प्रणाली से आहार ग्रहण करता है एवं जन्म के पश्चात् माता के स्तन से दुग्धपान करता है। इनमें दो प्रकार के दांत पाये जाते हैं—पाती दंत एवं स्थायी दंत। दांत अपने आकारों के आधार पर विभिन्न प्रकार के होते हैं। दीर्घ अस्थियों में दो अधिप्रवर्ध एवं एक कांड होता है। हृदय में चार कक्ष (कोष्ठ) होते हैं एवं वे दो भागों में विभाजित होते हैं। एक को विलय एवं दूसरे को अलिंद कहते हैं।

स्तनधारी प्राणियों को दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है—प्रथम प्रोटोथीरिया तथा द्वितीय मेटाथीरिया। प्रोटोथीरिया आद्य प्रकार के स्तनधारी हैं एवं अंडे देते हैं, उनको स्वयं सेते हैं तथा नवजात शिशुओं को अपने स्तन से दुग्धपान कराते हैं। यह अवस्था सरीसृप एवं स्तनपोषियों के बीच की अवस्था है। इसके उदाहरण हैं—शल्य-वम्राद (स्पाइनी आंट-ईटर) तथा कारंड-चंचु (डक-बिल) जैसे पशु। थीरिया के दो उप-भाग हैं—मैटाथीरिया एवं यूथीरिया। मैटाथीरिया में अपरा या तो अनुपस्थित होता है या कुछ समय तक कार्य करता है। कंगारू

तथा आपोसम पशु इसके अंतर्गत आते हैं। इनकी मादाओं में कोष्ठ होता है, जिसमें वे शिशुओं को रखती हैं। यूथीरिया एवं अपरास्तनी में 9 गण (आर्डर) होते हैं––एरिडेटा, सीटेसी, सीरेनिया, अंगूलेटा, कार्निवोरा, इनसेक्टिवोरा, शीरापटेरा, गेडेंशिया तथा प्राइमेट। मानव प्राइमेट (नरवानर) गण के अंतर्गत आता है। नरवानर गण के अंग परिग्राही होते हैं। उनका निवासस्थान वृक्ष है। इनके अंगुष्ठ एवं पादांगुष्ठ में अभिमुखचारिता पायी जाती है। इनके नख चपटे होते हैं। इनके जत्रुक अधिक विकसित होते हैं। नेत्र-कोटर अस्थि के बने होते हैं। इनके दंत शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों आहारों के लिए उपयुक्त होते हैं। नरवानर गण में तीन उपगण होते हैं: (1) लेमराइडी, (2) टारसीआइडी, (3) एंथ्रोपाइडी।

एगले मांटेग्यु ने नरवानर गण को प्राजीमियन और एंथ्रोपाइडी नामक दो उपगणों में विभाजित किया है। प्राजीमियन के अंतर्गत लीमराइड, मैडागास्कर में पाये जाने वाले टारसीआइड, अफ्रीका एवं एशिया में पाये जानेवाले लीमर, मलय तथा फिलीपीन में पाये जानेवाले टारसीफार्म आते हैं। एंथ्रोपाइडी को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है––नवलोकवानर, एवं प्राचीन लोकवानर। पहली श्रेणी में उच्च कुल सीबाइडी हैं एवं द्वितीय में दो उच्च कुल हैं––सरकोपिथिसिडी एवं होमोनिडी, जिनमें कपि एवं मानव होते हैं।

लीमराइडी एवं एंथ्रोपाइडी में अनेक विशिष्ट लक्षण पाये जाते हैं। लीमराइडी में पश्चनेत्रकोटर-भित्ति नहीं होती, जबकि एंथ्रोपाइडी में उपस्थिति होती है। लीमराइडी में नेत्र बाहर की ओर निकले होते हैं एवं एंथ्रोपाइडी में आगे की ओर। इन विशिष्ट लक्षणों के आधार पर एवं दंत-विन्यास के कारण मानव को लीमराइडी का सदस्य नहीं मान सकते। वह एंथ्रोपाइडिया का सदस्य है, जो दो भागों में विभाजित है––प्लैटीरिनी एवं केटेरिनी। मानव को प्लैटीरिनी वर्ग में न रखने का कारण है इसका दंत-विन्यास।

कैटेरिनी में तीन कुल हैं: सारकोपिथिक्वाइडिया (प्राचीन लोकवानर), सीबाइडी (एंथ्रोपाइड कपि) एवं होमोनिडी (आधुनिक मानव)। एंथ्रोपाइड कपि (मानव-समान कपि) भी चार प्रकार के होते हैं: गिब्बन, ओरांग-उटांग, वनमानुष एवं गोरिल्ला। ये चपटी छाती, लंबी भुजाओं एवं बड़े मस्तिष्क वाले प्राणी हैं। इनमें दो उपकुल हैं––हाइलोबेटिनी एवं सीबाइडी। प्रथम उपकुल में गिब्बन, द्वितीय में ओरांगउटांग, बनमानुष एवं गोरिल्ला रखे जाते हैं। मानव में अग्र ऊर्ध्व हनु अस्थि नहीं पायी जाती। इसका मस्तिष्क अधिक विकसित होता है। इसके शरीर पर कम रोम होते हैं। इसको चिबुक होता है। यह न केवल सीधा खड़ा हो सकता है, अपितु अपने दो पैरों पर चल भी सकता है। इसका वयस्क शरीर-भार समस्त प्राणियों से अधिक होता है। पैर भुजाओं की अपेक्षा लंबे होते हैं। पंजा चापित होता है। पादांगुष्ठ में प्रतिरोध्यता नहीं पायी जाती, किंतु अंगुष्ठ में पायी जाती है। कपाल बड़ा होता है, आनन छोटा होता है। नासास्थि बड़ी एवं चौड़ी होती है तथा उनमें अन्तःनासा सीवन पायी जाती है। बाह्यकर्ण-कुहर छोटा होता है। महारंध्र मध्य में पाया जाता है। चिबुकास्थि प्रक्षेप नहीं होता है। रदनक छोटे आकार के होते हैं। दंतावकाश नहीं होता। इन सब लक्षणों के कारण मनुष्य को न तो हम सरको-पिथिक्वाइडिया का सदस्य मान सकते हैं और न ही एंथ्रोपाइड कपियों का। वह एक पृथक् कुल का सदस्य है, जिसे होमोनिडी कहते हैं और उसका एक जीनस (वंश) होमो है एवं एक स्पीशी (जाति) सेपियन्स है।

मानव के सामाजिक जीवन-विकास की महत्त्वपूर्ण घटनाएं पिछले 15 लाख वर्षों में घटी हैं। इन्हें भूविज्ञानी अत्यंत नूतन युग (प्लीस्टोसीन) काल के अंतर्गत मानते हैं। इस युग में उत्तरी गोलार्द्ध के कई भागों को हिम ने ढंक दिया। मानव-विकास की इस वृहत्-गाथा को अंकित करना लगभग असंभव है, परंतु निम्नलिखित तीन प्रमाणों का योगदान महत्त्वपूर्ण है:

(अ) पुरातत्वविज्ञानियों ने प्रागैतिहासिक मानव के निवास स्थल खोजे। इन स्थलों में अनेक अस्थि-अवशेष तथा उनके उपकरण एवं खाद्य सामग्री भी प्राप्त हुई।

(ब) इनके समकालीन संग्रहण एवं आखेट के जीवन का अध्ययन पुरातत्वविज्ञान के आंकड़ों की व्याख्या में सहायक सिद्ध हुआ। 5 लाख वर्षों में इनके अर्थ, आधार तथा परिस्थिति के प्रति अनुकूलनों में कोई अंतर नहीं पड़ा है।

(स) वानर एवं कपि के प्राकृतिक इतिहास के अध्ययनों में से कपि के व्यवहार का अध्ययन, मानव के व्यवहार

के अध्ययन में अधिक सहायक सिद्ध हुआ है, क्योंकि मानव तथा वानर एवं कपि के मध्य विशिष्ट जैविक समानताएं पायी जाती हैं।

पिछली अनेक शताब्दियों में लगभग पचास वैज्ञानिक नरवानर-गणों के व्यवहार का अध्ययन कर चुके हैं। जैसा व्यावहारिक जीवन इनमें (वानर, कपि एवं मानव में) पाया जाता है, वैसा व्यावहारिक जीवन प्राक् कपि-वानरीय (प्रोजीमियन) में नहीं पाया जाता है। लीमर, लोरिस, एवं टारसियर प्राक् कपि-वानरीय हैं। नरवानर-गणों का जीवन एक सामूहिक जीवन है। नरवानर-गणों का समूह काफी बड़ा होता है। उसमें लगभग बीस सदस्य होते हैं। समूह की सदस्यता स्थायी होती है एवं अन्य स्तनपोषियों के समान प्रत्येक ऋतु में परिवर्तन नहीं होते। इनका समूह अत्यंत सुगठित होता है। इस समूह में दोनों लिंगों की सदस्यता पायी जाती है तथा इसमें सभी आयु के सदस्य होते हैं। विभिन्न आयु एवं लिंग के सदस्यों के लिए विभिन्न सिद्धांत होते हैं। नरवानर-गणों के शिशुओं का शैशवकाल दीर्घ होता है एवं प्रारंभ से ही शिशुओं का पालन-पोषण एक सामूहिक कार्य माना जाता है। ये अन्य पशुओं से भिन्न हैं, जिनमें मादा प्रसव के पश्चात शिशुओं के साथ समूह से पृथक् कर दी जाती है। समूह में रहनेवाले स्तनपोषी प्राणियों में समूह के सदस्य केवल मादा और बच्चे होते हैं तथा कभी-कभी एक वयस्क नर उनके साथ रहता है। लेकिन स्तनपोषी प्राणियों में मादा कभी अपने शिशुओं के साथ समूह से पृथक् नहीं होती, अपितु सबके साथ रहती है एवं वयस्क नर शिशुओं की रक्षा करते हैं।

स्तनपोषी प्राणियों के समूहों में केवल गिब्बन का ही एक ऐसा समूह है, जिसमें परिवार होता है। इसके सदस्य वयस्क नर-मादा युगल एवं उनके शिशु होते हैं। परंतु इनका परिवार मानव-परिवार से भिन्न है, क्योंकि उनके माता-पिता केवल शिशुओं के वयस्क होने तक ही उनके साथ रहते हैं, उसके पश्चात न केवल उनसे पृथक् हो जाते हैं, अपितु उनके प्रति आक्रमणात्मक रुख भी अपना लेते हैं तथा पृथक् होकर एक नया समूह बना लेते हैं। उनके समूह पक्षियों के समान भिन्न-भिन्न होते हैं। गिब्बन वृक्षवासी होते हैं और उनमें तथा मानव के सामाजिक जीवन में न्यूनतम समानता पायी जाती है। इनके समूह का आकार, मानव के आखेट-समूह से मिलता जुलता है अर्थात् उनमें लगभग 50 सदस्य पाये जाते हैं। हां, इनमें मानव के समान श्रम का लैंगिक विभाजन पाया जाता है।

बैबून-समूह के वयस्क नर के रदनक लंबे होते हैं, मांसपेशियां शक्तिशाली होती हैं, शारीरिक भार मादा से दुगना होता है, वह स्वयं अपने समूह की रक्षा करता है तथा मादाएं शिशुओं को उत्पन्न करके उनका पालन-पोषण करती हैं। श्रम का यह लैंगिक विभाजन धरती पर निवास करनेवाले वानरों एवं कपियों में अधिक पाया जाता है और वृक्षवासियों में कम। मानव-व्यवहार (आचरण) इससे भिन्न है। मानव-परिवार एक नूतन जीवी-पद्धति पर आधारित है। प्रारंभिक मानव में अधिकार की भावना, विजातीय विवाह, सहकारिता, गृह-आधार में आखेट एवं संग्रहण से प्राप्त आहार का बंटवारा आदि विशिष्ट लक्षण हैं। इस व्यवहार से आधुनिक मानव-व्यवहार तक के विकास में दो चरण हैं। पहले चरण में आस्ट्रेलोपिथिसिन सीधे खड़े होकर दो पांवों पर चलते थे, किंतु उनका मस्तिष्क अधिक विकसित नहीं था। दूसरे चरण में आस्ट्रेलोपिथिसिन के लंबे एवं बड़े मस्तिष्क होते थे तथा उनका सामाजिक जीवन वानर एवं कपि से विशेष अधिक भिन्न नहीं था। उनके कपाल का आयतन समकालीन कपियों से अधिक नहीं था। पहले के आस्ट्रेलोपिथिसिन शाकाहारी थे एवं उनके महत्त्वपूर्ण अस्त्र-शस्त्र आखेट की अपेक्षा साग-भाजियों के संग्रह में अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। बैबून के समान वे समूह में एकत्रित होकर रहते थे एवं खाद्य-सामग्री संग्रह करते थे, लेकिन शायद उनका कोई परिवार नहीं था। किंतु यदि यह सत्य है, तो आस्ट्रेलोपिथिसिन का व्यवहार (आचरण) वनमानुष से केवल कुछ ही अधिक विकसित था। अभी कुछ ही समय पूर्व वनमानुष को भूमि से डंडे की सहायता से कीट निकालते हुए देखा गया है तथा अनेक बार बैबून के समान वे छोटे पशुओं को भी मारकर अपना आहार कर लेते थे।

आस्ट्रेलोपिथिसिन के रदनक-दंत का मानवीय आकार का होना यह प्रमाणित करता है कि वे अस्त्रों एवं शस्त्रों का उपयोग अपनी रक्षा तथा आखेट में करते थे।

इसके बाद के चरण में मानव ने दीर्घ मस्तिष्क एवं मानव-जीवन का विकास किया। उसके उपकरण एवं शस्त्र अधिक जटिल थे तथा वह बड़े पशुओं का शिकार करने

लगा। 5 लाख वर्ष तक मनुष्य ने आखेट एवं संग्रहण को अपने जीवन-निर्वाह का साधन बनाये रखा। इसके पश्चात कृषि का आविष्कार किया गया और स्थायी समुदाय प्रारंभ हुए। यह कथन असत्य नहीं होगा कि आज से 90,000 वर्ष पूर्व तक संपूर्ण मानव-जाति आखेटक एवं खाद्य-संग्राहक थी।

जीवाश्मविज्ञानियों, शरीरविज्ञानियों एवं शरीरक्रिया-विज्ञानियों के विचार में मानव का उद्विकास एक अटूट जैविक प्रवर्ध है। वे मानव को एक विशिष्ट प्रकार का प्राणी मानते हैं। मनोविज्ञानी, समाजविज्ञानी एवं राजनीतिविज्ञानी यह तो मानते हैं कि मानव एक प्राणी (पशु) है, किंतु उसे एक विशिष्ट प्रकार का पशु कहते हैं, जो अन्य पशुओं से न केवल तुलनात्मक दृष्टि से अपितु वस्तुरूप में भिन्न है। मानव उपकरण-निर्माता, भाषा बोलनेवाला एवं प्रतीकात्मक निरूपण की क्षमता रखनेवाला पशु है। केवल वही एक ऐसा पशु है, जो हंस सकता है और रो सकता है। केवल उसे ही यह ज्ञात है कि वह मृत्यु को प्राप्त होगा, एवं वही अपनी माता एवं भगिनी से विवाह नहीं कर सकता। वही धर्म एवं कला का निर्माता है। वह संस्कृतिवादी है।

मानवविज्ञानियों ने मानव के उद्विकास एवं उसकी संस्कृति के दृष्टिकोणों के मध्य संबंध स्थापित किया। क्रोबर ने इसे 'काष्ठा-बिंदु सिद्धांत' का नाम दिया। मानव के विकास में किसी एक विशेष समय में नरवानर-गण की एक शाखा में कोई छोटा जीनी या शारीरिक परिवर्तन हुआ, जिसके फलस्वरूप वे उन कार्यों को करने योग्य हो गये, जो उनके पूर्वज नहीं कर सकते थे। जिन पशुओं में सीखने एवं कार्य करने की क्षमता आयी, उन्हीं से संस्कृति का विकास हुआ। इस दृष्टिकोण के तीन प्रमुख कारण हो सकते हैं: (क) मानव तथा उसके निकटतम प्राणी (वनमानुष, गोरिल्ला इत्यादि) के कपाल-आयतन में अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। (ख) मानव वार्तालाप करने में समर्थ है एवं शब्दों के माध्यम से उसे समझा सकता है। वह लिपि का ज्ञाता है तथा संकेत चिह्नों को लिख सकता है। (ग) वह उपकरणों का निर्माण कर सकता है। अन्य आधुनिक प्राणी ऐसा करने में असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए, एक जीवाश्मविज्ञानी युगल ने एक वनमानुष का अपने परिवार में अभिग्रहण किया एवं उसे अपनी पुत्री के साथ एक जैसी शिक्षा दी। वनमानुष ने कुछ असामान्य बातें तो सीख लीं, किंतु बोलना नहीं सीख पाया एवं इसी कारण वह अपनी मानवीय-भगिनि से बहुत पीछे रह गया।

भाषा और सभ्यता या तो उपस्थित होती है या अनुपस्थित। या तो आप बोल सकते हैं या नहीं। या तो आप भूत एवं देवात्मा की कल्पना कर सकते हैं या नहीं। या तो अस्त्र बना सकते हैं या नहीं। या तो आप कला की कल्पना कर सकते हैं या नहीं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो उपर्युक्त कार्यों को करने में पूर्णतः समर्थ है। इन दोनों कार्यों के मध्य कोई मध्यम चरण नहीं है। आधुनिक मानव प्रजातियों के मध्य चिंतन-क्रिया की प्रकृति में कोई अंतर नहीं है। यह अंतर प्रजातियों के उद्विकास के पूर्व ही आया होगा।

जीवाश्म-विज्ञान

यह विज्ञान प्राचीन अस्थियों का अध्ययन करता है। मानव के विकास के जीवाश्म-अवशेषों की खोज तथा उनके विश्लेषण पर आधारित मानव-उद्विकास के अध्ययन से मानव तथा अन्य प्राणियों के मध्य विभाजन रेखा खींचना अधिक कठिन हो गया; क्योंकि 1891 से लेकर दुबाई के द्वारा जावा में पिथिकेंथ्रेपस-इरेक्टस की खोज किये जाने तक मानव के जीवाश्म-अवशेष इतने अधिक मिले हैं कि यह कहना कठिन हो गया कि कौन मानव है एवं कौन नहीं। इनमें सबसे अधिक जीवाश्म-अवशेष आस्ट्रेलोपिथिसिन के हैं जिनको मानवकपि कहा गया। पश्चिम तथा पूर्वी अफ़्रीका में इनके अनेक प्रमाण मिले हैं। इनकी आसनास्थि तथा पाद-अस्थियां आधुनिक मानव के समान हैं। किंतु इनका मस्तिष्क आधुनिक कपियों से दीर्घ नहीं है। यह लगभग आठ लाख वर्षों से 18 लाख वर्षों पूर्व पाया जाता था। संभवतः ये मानव सीधे चल सकते थे एवं अपने हाथों से उपकरणों का निर्माण कर सकते थे तथा इन उपकरणों की सहायता से छोटे पशुओं का शिकार करते थे। किंतु वे हमारी तरह भाषा नहीं बोल सकते थे। यह कहना ठीक होगा कि जिस प्रकार मानव का शारीरिक रूप से धीरे-धीरे विकास हुआ, उसी प्रकार दीर्घ काल में धीरे-धीरे संस्कृति का भी विकास हुआ। यदि इस कथन को स्वीकार कर लिया जाये, तो

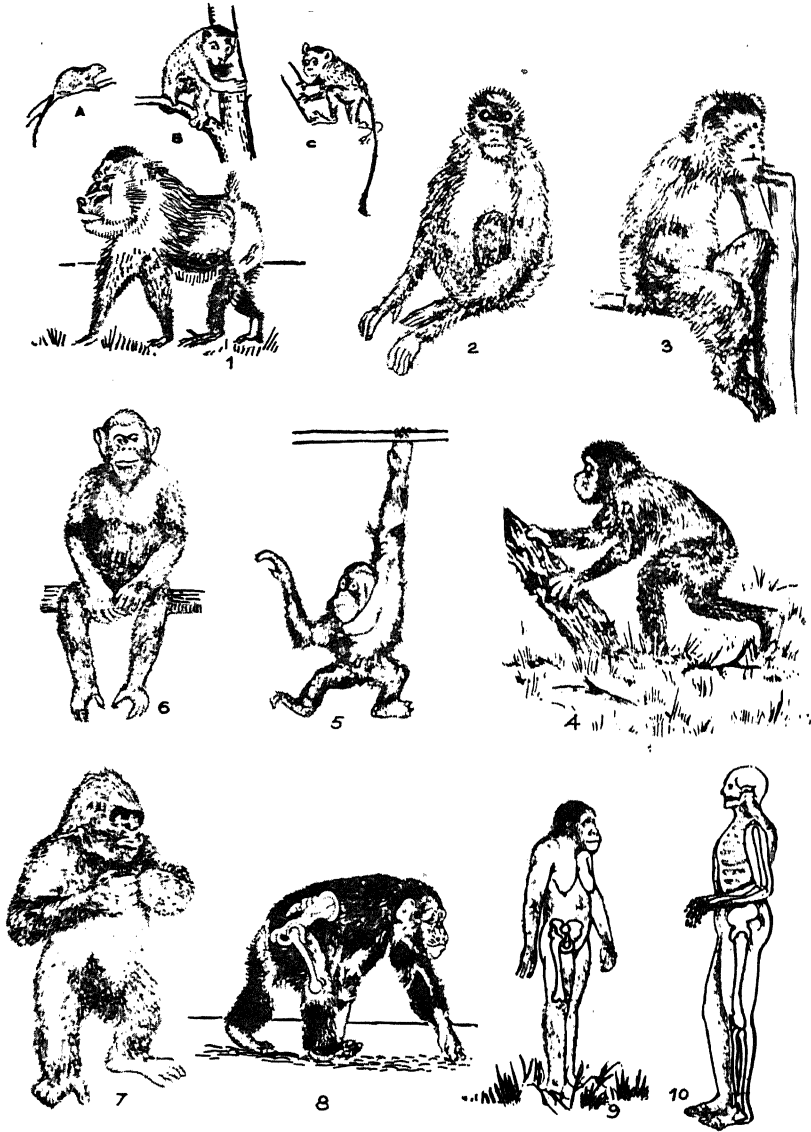
इसका अर्थ यह होगा कि आधुनिक मानव की तुलना में उसका एक-तिहाई मस्तिष्क रखनेवाले मानव में भी संस्कृति का प्रारंभ हो चुका था, अर्थात् मानव के मस्तिष्क का विकास संस्कृति के विकास के पश्चात् हुआ। यह संभव है कि आस्ट्रेलोपिथिसिन में भी वे लोग, जो मस्तिष्क में कुछ अधिक विकसित थे, दूसरों की तुलना में अधिक लाभदायक स्थिति में थे। वे अपनी रक्षा कर सकते थे, आखेट कर सकते थे एवं उपकरणों का निर्माण कर सकते थे तथा इसी कारण प्राकृतिक वरण ने भी उनका पक्ष लिया। किंतु यह सब परिकल्पना है। हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

नरवानर गण का अध्ययन अभी हाल ही में आरंभ हुआ है। इन जीवाश्म-अभिलेखों की मदद से अनेक सत्य प्रकाश में लाये जा रहे हैं। तिथि ज्ञात करने की विधि (डेटिंग विधि) में भी परिवर्तन कर उसे अच्छा एवं उपयोगी बनाया जा रहा है। अत: अभी किसी ठोस विचार का उल्लेख करना ठीक न होगा। परंतु यह कहना ठीक होगा कि मानव-विकास केवल शारीरिक विशेषताओं पर ही निर्भर नहीं है, अपितु वह संस्कृति तथा शारीरिक विशेषताओं, दोनों का ही उत्पाद है। हिमयुग में अनेक शीघ्रतम जलवायु-परिवर्तन हुए। उसी काल में मानव का शीघ्रता से विकास हुआ। यह वह काल था, जिसमें कहीं भूमि थी तो कहीं जल। इसी समय सांस्कृतिक वातावरण ने भी प्राकृतिक वातावरण के साथ-साथ मानव के विकास की गति को तीव्र किया। इस काल में मानव के न केवल शारीरिक परिवर्तन में वृद्धि हुई, अपितु उसके तंत्रिका-तंत्र, सामाजिक संरचना एवं चिह्न तथा भाषा के निर्माण एवं प्रयोग करने की क्षमता में भी वृद्धि हुई।

हम यह कह सकते हैं कि मानव का मस्तिष्क ही कोई विशेष लक्षण नहीं है, अपितु यह पचास से दो सौ पचास लाख वर्ष पूर्व होमोनिड जाति (स्पीशी) के सदस्यों का विशिष्ट लक्षण था। इस जाति में कई ऐसे पशु भी थे, जो अब लुप्त हो चुके हैं एवं वे मानव के निकटतम किसी भी जीवित कपि की तुलना में अधिक निकट हैं। यह हो सकता है कि कपि मानव के निकटतम हों, किंतु ये कम से कम पचास लाख वर्ष पूर्व के हैं, जिसे भूविज्ञानी अत्यंत नूतन युग कहते हैं। आधुनिक मानव प्रजातियां केवल पचास हजार वर्ष पूर्व की हैं। इनकी त्वचा, वर्ण, शीर्षाकार, दैहिक उच्चता आदि में जो विविधता पायी जाती है, वह जलवायु के कारण है एवं यह विविधता हिमनदन काल के अंत में आरंभ हुई। आधारभूत अंतर अत्यंत प्राचीन हैं एवं ये अंतर नवीन हैं। आधार रूप से मानव जाति एक है, किंतु हिमयुग के पश्चात जो परिवर्तन आये, वे परिवर्तन आज भी प्रजातियों में विद्यमान है। उपकरण, आखेट, परिवार-संस्थान, कला, धर्म, विज्ञान सभी ने मानव के शारीरिक विकास पर प्रभाव डाला। यदि यह सत्य है कि मानव की अनुपस्थिति में संस्कृति का विकास नहीं हो सकता, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संस्कृति की अनुपस्थिति में मानव का भी विकास नहीं हो सकता था। मानव के विकास की विशिष्ट मौलिक विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

(क) दंत-विन्यास का विभिन्न एवं छोटा होना।
(ख) कंकाली एवं मांस-पेशीय परिवर्तन, जिन्होंने उसे सीधा खड़े होने में एवं दोनों पैरों पर चलने में सहायता दी।
(ग) अपेक्षाकृत दीर्घ मस्तिष्क।
(घ) स्थल पर प्राकृतवास के प्रति समायोजन।
(ङ) प्रेरक प्रकृतियों का विकास, जो अस्त्र-निर्माण में सहायक सिद्ध हुईं।
(च) मांस का नवप्रवर्तन।

आज से पांच या दस लाख वर्ष पूर्व होमोनिड उस संभाग से बाहर गये, जहां पर आस्ट्रेलोपिथिसिन निवास करते थे एवं लगभग एक लाख वर्ष पूर्व होमा वंश के सदस्य यूरोप तथा एशिया में सर्वत्र फैल गये। यह प्रथम अवसर था, जब मानव को उस नवीन वातावरण में रहना पड़ा, जहां दीर्घ शीतऋतुएं थीं। इससे पूर्व वह उष्ण प्रदेश में ही रहता था। सांस्कृतिक तथा शरीर-क्रियात्मक अनुकूलन के कारण वह इस नूतन वातावरण में रहने में समर्थ हुआ। नितंब, जांघ एवं पैरों में ऐसे परिवर्तन हुए कि मानव पर्याप्त समय तक सरलतापूर्वक सीधा खड़ा हो सकता था एवं लंबी यात्राएं कर सकता था। आज से पांच या छह लाख वर्ष पूर्व के एवं आधुनिक काल के मानव के निम्नपादों में शारीरिक रूप से कोई भिन्नता नहीं है। मस्तिष्क का आकार आज के होमोसेपियन्स के मस्तिष्क का दो-तिहाई था। चर्वणक दंत आकार में छोटा था एवं इसका प्रभाव



शरीर—क्रियात्मक अनुकूलन : मानव विकास

ए: ट्री-शू; बी: लोरिस; सी: स्पेक्ट्रलटार्सियर; 1. भूचर बबून बंदर; 2. स्पाइडर बंदर (मैक्सिको से अमेजान); 3. बर्बरी-एप (जिब्राल्टर, एशिया, मलेशिया, अफ्रीका); 4. अनुमानत: पूर्वी अफ्रीका में किसी समय रहने वाले पूर्व मायोसिन युग का बानर; 5. पेड़ की टहनियों को आधार बनाकर जीवन यापन करने वाले बानर; 6. अफ्रीका चिंपांजी; 7. अफ्रीका गोरिल्ला (मादा); 8, 9, 10. चिंपांजी, आस्ट्रलोपितसिन मानव, आज का मानव।

आनन एवं अधोहनु पर भी पड़ा। इनका आहार शिकार किये गये प्रत्येक प्रकार के स्तनधारी प्राणी थे। इस काल के आखेटकों के निवासस्थानों के अवशेष पूर्वी अफ़्रीका एवं यूरोप के अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। उनमें शिकार हुए प्राणियों के अवशेष भी सम्मिलित पाये गये।

पूर्व एशिया में चाऊ-काऊ-टीन की गुफा से जो अवशेष प्राप्त हुए, उनमें से 60 प्रतिशत मृग के हैं। पूर्वी अफ़्रीका की भी पांच लाख वर्ष प्राचीन गुफाओं से अनेक प्रकार के स्तनपोषियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें रीनोपिग, वानर, हाथी, भेड़, बैल, जिराफ, घोड़ा, हरिण एवं मूषिका प्रमुख हैं। यूरोप में भी ऐसे ही प्रमाण प्राप्त हुए हैं। होवेल को स्पेन में केवल पांच प्रकार के स्तनपोषियों की जातियों (स्पीशी) के अवशेष मिले, जिनमें जंगली हाथी एवं घोड़े की संख्या अधिक पायी गयी। रोम के निकट पाये गये अवशेषों में घोड़े के अवशेषों की संख्या अधिक थी। उपकरण-निर्माण की क्षमता में वृद्धि हो रही थी, जिससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन मानव हस्त-कार्य में अधिक उन्नति कर चुका था। नूतन शस्त्र अधिक संख्या में निर्मित हो रहे थे और नूतन प्रविधियां भी विकसित हो रही थीं। नूतन पदार्थों का उपयोग किया जा रहा था। उदाहरणार्थ, तीव्र धारवाले उपकरण इस सत्य को प्रमाणित करते हैं। काष्ठ से बनाये गये उपकरण भी पाये गये हैं। भाले का प्रयोग भी एक औजार के रूप में किया जाने लगा था। इसी काल में अग्नि का प्रयोग भी शुरू हुआ।

आखेटक जीवन के विकास का मानव की जैविक संरचना एवं संस्कृति पर अधिक प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ परिवर्तन मानव जीवन के विशेषक कहलाये। ये निम्नांकित हैं:

(क) स्थल के आकार में वृद्धि हुई। अपने उपयोग के लिए उसकी रक्षा करना आवश्यक था।

(ख) सामूहिक संगठन हुआ, जिसमें मानव-समूहों के आकार को छोटा करके संगठित किया गया।

(ग) परिवार-समूह बने, जिनमें भाई-बहिन एवं इस प्रकार के अन्य विवाहों को निषिद्ध समझा गया तथा अन्य कबीलों में विवाह आदि करके बंधुता पर आधारित उप-समूह बनाये गये।

(घ) श्रम का लैंगिक विभाजन हुआ।

(ङ) आहार का बंटवारा, पारस्परिक सहायता एवं सहयोग प्रारंभ हुआ।

(च) भाषा पर आधारित समूहों का निर्माण हुआ।

सन् 1900 मैंडेल के सिद्धांत का तीन वैज्ञानिकों ने पुनः शोधन किया, जिससे मानव के अध्ययन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। डारविन के सिद्धांत ने विविधता को एक सत्य स्वीकार किया था, किंतु विविधता के कारणों पर इस सिद्धांत ने कोई प्रकाश नहीं डाला। लामार्क ने यह कहा कि विविधता (परिवर्तनशीलता) जीव एवं परिस्थिति के मध्य अंतःक्रियाओं का परिणाम है। वैज्ञानिक अनुकूलित विशेषताओं की आनुवंशिकता के सिद्धांत में विश्वास करते थे, परंतु वाइजमैन ने 32 वंशों तक मूषक की पूंछ को काटकर यह सिद्ध कर दिया कि अनुकूलित विशेषताएं आनुवंशिक नहीं होतीं। उनका कहना था कि मानव में दो प्रकार के प्लाज्मा (जीव-द्रव्य) होते हैं––जर्मप्लाज्म एवं सोमेटोप्लाज्म। जर्मप्लाज्म प्रजनन के लिए होता है एवं अमर होता है, जबकि सोमेटोप्लाज्म शरीर कोशिकाओं का निर्माण करता है एवं शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। उसने यह सिद्ध किया कि जो भी परिवर्तन सोमेटोप्लाज्म (शरीर-द्रव्य) में होते हैं वे आनुवंशिक नहीं होते एवं जर्मप्लाज्म में होनेवाले परिवर्तन ही माता-पिता से पुत्र-पुत्रियों में वंशागत होते हैं। डेबरीज का कथन है कि अनेक बार जर्मप्लाज्म में कुछ ऐसे परिवर्तन आ जाते हैं, जिनका कोई विशेष कारण नहीं होता, और जो माता-पिता से संतानों में वंशागत हो जाते हैं। इन परिवर्तनों को उत्परिवर्तन कहते हैं।

उत्परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं––गुणसूत्रीय एवं जीनी। अर्थात् या तो गुण सूत्रों की संख्या में या संरचना में परिवर्तन होते हैं या जीन में परिवर्तन हो जाते हैं। गुणसूत्रीय-परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं, मंगोल तथा क्लाइनाफेल्टस एवं टर्नर्स सिंड्रोम। जीन उत्परिवर्तन का अर्थ है एक नवीन जीन का विकसित होना, परंतु इसकी दर अत्यंत कम है अर्थात् एक लाख में एक जीन। प्रकृति में पायी जानेवाली समस्त विविधताओं को केवल इसी आधार पर नहीं समझाया जा सकता।

आजकल मानव के विकास को जीन के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है; क्योंकि आधुनिक विचार यह है कि उद्विकास, जीनी रचना एवं जनसमुदाय में जीन की बारंबारता में एक परिवर्तन है। जीवित जनसंख्या का भी अध्ययन जीन-बारंबारता के आधार

पर किया गया। इसके पूर्व जीन-बारंबारताओं का अध्ययन व्यक्ति-विशेष पर किया जाता था, किंतु आज हम मानव के विभिन्न समूहों में विभिन्न बारंबारताओं का अध्ययन करते हैं। अर्थात् हम किसी भी मनुष्य का ए, बी, ओ रुधिर-वर्ग ज्ञात कर सकते हैं। किंतु हम आज यह ज्ञात करना चाहते हैं कि विभिन्न ए, बी, या ए बी, ओ वर्ग विश्व की विभिन्न मानव जनसंख्या में किस संख्या में पाये जाते हैं। हीमोग्लोबिन एवं अन्य मानव-प्रोटीन भी विभिन्न संख्या में विभिन्न समूहों में पाये जाते हैं। हीमोग्लोबिन के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि 'सिकिल सैल जीन' नीग्रोकल्प जाति में अधिक पाया जाता है। किंतु अब यह पता लगा है कि यह जीन, पुर्तगाल, ग्रीस, टर्की, अरब, कुवैत एवं भारत के निवासियों में भी पाया जाता है।

विभिन्न मानव समूहों की मानव युग्मविकल्पी बारंबारताओं में जो विभिन्नता पायी जाती है, वह प्राकृतिक वरण का जीन-पूल पर प्रभाव है। यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि होमो-सेपियन्स पर प्राकृतिक वरण का प्रभाव होता है, जैसे कुछ जीनों का लाभकारी होना। रुधिर-वर्ग पद्धति तथा हीमोग्लोबिन में कोई युग्मविकल्पी एक वातावरण में तो लाभदायक होता है एवं दूसरे वातावरण में हानिकारक। जैविक योग्यता वरण एवं अन्य कारणों पर निर्भर है, जिनमें एक कारण है जीनी भार, अर्थात् किसी भी प्रजाति में हानिकारक विशेषकों का अधिक संख्या में उपस्थित होना। इसे हम औसत योग्यता के अधिक या कम होने में माप सकते हैं। जीनी भार अनेक कारणों पर निर्भर है, जैसे, उत्परिवर्तन, हानिकारक या घातक उत्परिवर्तन, अप्रभावी उत्परिवर्तन इत्यादि। कभी-कभी तो एक ही जीन पूर्ण घातक प्रभाव करता है और कभी कुछ जीन मिलकर प्रभाव करते हैं। मानव में अधिक जीनी भार होता है, परंतु वह अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक नहीं है।

संस्कृति तथा तकनीकी विकास के कारण मानव पर वातावरण का प्रभाव अत्यंत कम हो गया है। अनेक प्रकार के अप्रभावी समयुग्मजी मानव, जो प्राचीन काल में समाप्त हो चुके थे, आज की तकनीकी उन्नतिशीलता के कारण न केवल जीवित रहते हैं, अपितु प्रजनन भी करते हैं। मलेरिया, पीत-ज्वर, पोलियो, मोतीझरा तथा अन्य रोगों से अनेक मृत्युएं होती थीं, वे शल्यविज्ञान तथा जनस्वास्थ्य कल्याण के साधनों द्वारा लगभग समाप्त कर लिये गये हैं। इसका प्रमाण मनुष्य की द्रुत गति से बढ़ती हुई जनसंख्या से मिलता है। मानव के जीवन की आयु आज अधिक है। नियेंडर्थल की आयु 29.4 वर्ष थी एवं ग्रीस तथा रोम के निवासियों की आयु 35 वर्ष। पंद्रहवीं शताब्दी तक इंगलैंड में मानव की आयु 38 वर्ष थी, किंतु अब अमरीका में औसत आयु 70 वर्ष है। भारत के निवासियों की औसत आयु आज 53 वर्ष है, दस वर्ष पूर्व वह 34 वर्ष थी। यह सब शल्यविज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप हुआ है।

सांस्कृतिक मानवविज्ञान

सांस्कृतिक मानवविज्ञान मानव के आचरण एवं मानव के दैनिक व्यवहार की पद्धति अथवा विधि का विशेष रूप से अध्ययन करता है। मानव को छोड़ अन्य प्राणियों (नरवानर भी इसमें सम्मिलित हैं) का, अर्थात् एक ही जाति (स्पीशी) के समस्त सदस्यों का, आचरण लगभग एक जैसा होता है। किंतु इसके विपरीत मानव जाति के समस्त सदस्यों के मध्य अनेक प्रकार के आचरण पाये जाते हैं। यह सत्य है कि उनकी (मानव) शारीरिक संरचना, जैविक संरचना एवं मनोवैज्ञानिक संरचना एक ही प्रकार की होती है, किंतु उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक आचरण में अधिक विभिन्नताएं पायी जाती हैं। इस विभिन्नता को मानव की प्रत्येक गतिविधि में देखा जा सकता है। आहार-प्रकृति भी परिवर्तनशील है और यह विभिन्न प्रजातियों के सदस्यों में विभिन्न होती है। उदाहरण के लिए, कुछ मनुष्य मांसाहारी हैं, तो कुछ जातियों के सदस्य शाकाहारी होते हैं। कुछ मनुष्य वस्त्र धारण करते हैं तथा कुछ वृक्ष के पत्तों को ही अपना वस्त्र मानकर पहनते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सिर से पैर तक स्वयं को वस्त्रों से ढंक लेते हैं। जहां तक आभूषणों के पहनने का सवाल है, अनेक मनुष्य सिर, नाक, कान, हाथ-पैर तथा बाहों को भी आभूषणों से अलंकृत करते हैं। इनमें से अधिकतर भूषण सोने अथवा चांदी से निर्मित होते हैं, लेकिन अनेक स्थानों के निवासी काठ, बांस अथवा धातुओं से बने आभूषणों का भी प्रयोग करते हैं। कुछ मनुष्य अपने शरीर पर रंगलेप से पशुओं इत्यादि के चित्र

बनाते हैं, जिसे त्वचोत्किरण कहते हैं। मानव का पारस्परिक आचरण विभिन्न समाजों में विभिन्न होता है। कुछ समुदायों में पिता अपने शिशुओं के पालन-पोषण का उत्तरदायी होता है तथा अन्य समुदायों में यह उत्तरदायित्व माता का होता है। कुछ समुदाय ऐसे भी हैं, जिनमें कुछ विशिष्ट संबंधियों के साथ परिहास किया जा सकता है तथा कुछ अन्य संबंधियों के साथ आदरपूर्ण व्यवहार किया जाना आवश्यक माना जाता है। किसी जाति में बहुपत्नी विवाह प्रचलित है तथा अन्य अनेक जातियों में बहुपति विवाह। किसी जाति में एक स्त्री पति के दो या दो से अधिक भाइयों के साथ विवाह कर सकती है और यदि वह ऐसा करती है, तो भाइयों की संख्या जितनी अधिक होगी, समाज में उसका सम्मान एवं आदर उतना ही अधिक होगा। अंततः यह कहना उचित होगा कि मानव के आचरण में अनेक विविधताएं हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि एक ही जाति (स्पीशी) का होने के बावजूद मानव-आचरण में विभिन्नता क्यों है ?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है : मनुष्य अपने समाज के अन्य वरिष्ठ सदस्यों से सीखता है कि वह किस प्रकार का आचरण करे। मानव एक असहाय प्राणी के रूप में जन्म लेता है। उस समय उसे किसी भी प्रकार के आचरण अथवा व्यवहार का ज्ञान नहीं होता। उसे कुछ नहीं मालूम होता कि वह किस प्रकार भोजन करे, कैसी भाषा बोले, किस प्रकार सीधा खड़ा होकर चले, बीमार होने पर अपने उपचार के लिए किससे परामर्श ले, आत्मरक्षा के लिए किस प्रकार से आवासगृह निर्मित करे, किस प्रकार के अस्त्र-शस्त्र का उपयोग करना सीखे अथवा अन्य सुरक्षात्मक उपाय करे। ये सब बातें वह अपने समाज के अन्य सदस्यों से ही सीखता है। मानव अन्य प्राणियों के समान संगठित समूहों में रहता है, जिन्हें हम समाज का नाम देते हैं। प्रत्येक समाज के सदस्यों के आचरण की कुछ विशिष्ट प्रणालियां होती हैं, जिन्हें संस्कृति का नाम दिया जाता है। टाइलर ने उन विश्वास, विचार, परंपराओं, संस्कारों, आदेशों, आदर्शों, कला तथा अन्य क्षमताओं एवं निपुणताओं को संस्कृति कहा है, जो समाज का सदस्य होने के रूप में मानव धारण करता है। दूसरे शब्दों में संस्कृति एक सामाजिक पैतृक संपत्ति है। मालिनोवस्की ने सामाजिक पैतृक-संपत्ति को दो भागों में विभाजित किया है—भौतिक एवं अभौतिक। संस्कृति जीवन-निर्वाह की पद्धतियों एवं मानसिक, सामाजिक तथा भौतिक यंत्रों का कुल योग है, अर्थात् सामाजिक एवं भौतिक संस्कृतियों का योग। बिडनी ने संस्कृति को संवर्धन, उद्योग, समाज-संगठन, भाषा, धर्म तथा कला का उत्पाद कहा है।

संस्कृति शब्द की निष्पत्ति संस्कार शब्द से हुई है। जन्म से प्रारंभ होकर मृत्यु तक मानव अनेक प्रकार के कल्प-अनुष्ठानों से गुजरता है तथा इन समस्त संस्कारों का पालन करने के पश्चात् ही मानव को सभ्य कहा जा सकता है। सामान्य रूप से लोगों का विचार है कि सभ्य का अर्थ ऐसा मनुष्य है, जो विद्वान हो एवं किसी विशेष क्षेत्र जैसे कला, संगीत, या साहित्य में निपुण हो तथा उसमें अच्छे व्यवहार की क्षमता हो। जो मनुष्य अधिक शिक्षित नहीं होते और जिनका व्यवहार कठोर होता है, उन्हें जंगली या असभ्य कहा जाता है। किंतु मानवविज्ञानी सभ्य का यह अर्थ नहीं ग्रहण करते। उनके समक्ष तो मानव का संपूर्ण व्यवहार एवं आचरण ही संस्कृति है तथा इस शब्द में सभ्यता भी सम्मिलित है। मानवविज्ञानी सभ्य एवं असभ्य में कोई अंतर नहीं मानता। प्राचीन सभ्यता एवं आधुनिक सभ्यता में भिन्नता केवल मात्रा में है, गुण में नहीं। दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, लंदन, पेरिस, न्यूयार्क जैसे महानगरों में भी संस्कृति पायी जाती है और बनों में निवास करनेवाले आदिवासियों में भी।

मारेट ने संस्कृति को एक संचारी प्रज्ञान कहा है। रेडफील्ड ने इसे चिह्नों (संकेत चिह्न) तथा सामाजिक संरचना जैसे रूढ़ अर्थों का समस्त योग माना है। मालिनोवस्की के विचार में संस्कृति जीवन के प्रकार का ऐसा योग है, जिससे मानव की शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। राडक्लिफ ब्राउन उस परंपरा के निर्माण एवं कार्य रूप में परिणत होने को, जिससे समाज की प्रगति होती है, संस्कृति कहते हैं। लिटन, वलकहान तथा क्रोबर जैसे अनेक मानवविज्ञानियों ने भी संस्कृति की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है।

सांस्कृतिक मानवविज्ञानी प्रारंभ से ही संस्कृति की उत्पत्ति और विकास के प्रश्न का उत्तर देने में लगे रहे हैं। उन्होंने एक विकास-सारणी तैयार की, जिसमें यह दर्शाया गया कि किस प्रकार विभिन्न स्थानों में संस्कृति का विकास

हुआ तथा इसका अन्य स्थानों में प्रसरण हुआ। इसे प्रसारी संप्रदाय (डिफ्यूजन स्कूल) के नाम से पुकारते हैं। ये विद्वान संस्कृति-वृद्धि का अध्ययन महासंस्कृति (मेक्रो-कल्चर) की प्रणाली से करते थे, जिसमें किसी विशिष्ट संस्कृति का अध्ययन करने के बजाय सामान्य रूप से संस्कृति के विकास का अध्ययन किया जाता है। प्रतिष्ठित विकासवादी, विकासीय संस्कृति के एकरैखिक क्रम में विश्वास रखते हैं। उनके विचार में संस्कृति समस्त मानव जातियों में आद्य रूप में आरंभ हुई तथा संपूर्ण विश्व में एक ही जैसे चरणों द्वारा विकसित हुई।

उनके विचार में मानव-समाज का विकास जंगलीपन की अवस्था से आरंभ हुआ। जंगलीपन में मानव की तीन अवस्थाएं रहीं—निम्न, मध्यम और उच्च। जंगलीपन की मध्यम अवस्था में आस्ट्रेलिया के आदिवासी आते हैं और उच्च अवस्था में पोलिनीशिया के निवासी। जंगलीपन के बाद की अवस्था थी बर्बरता की। इसके निम्न प्रक्रम में इरूकाई, मध्य प्रक्रम में जूनी और उच्च प्रक्रम में ग्रीक आते हैं। तीसरी अवस्था सभ्यता की है, जो उस संस्कृति के प्रारंभ की अवस्था है, जो आज दिखायी देती है।

इसी प्रकार उन्होंने विवाह को निम्नलिखित प्रक्रमों (अवस्थाओं) में विभाजित किया :

(क) निर्विशिष्टता, (ख) समूह-विवाह, (ग) बहु-पुरुष विवाह, (घ) बहु-स्त्री विवाह, (ङ) एक विवाह।

परिवार के विकास को निम्नलिखित पांच प्रक्रमों (अवस्थाओं) में विकसित माना गया है :

(क) निर्विशिष्ट संव्यवहार, (ख) रक्तसंबद्ध विवाह, (ग) मातृशासित गोत्र, (घ) पितृशासित गोत्र, (ङ) एक वैवाहिक परिवार।

इसी धर्म को तीन मुख्य चरणों में विकसित हुआ माना गया है। वे हैं : (क) जड़ात्मकवाद, (ख) बहुदेववाद, (ग) एकदेववाद।

संस्कृति के विकासवादी दृष्टिकोण को सिद्ध करने के लिए विश्व के विभिन्न प्रदेशों में निवास करनेवाली विभिन्न प्रजातियों के अध्ययन पर ध्यान दिया जाने लगा तथा आदिम समाजों तथा उनके संबंध में उपलब्ध आधुनिक प्रमाणों से सिद्ध हुआ है कि प्रारंभ में जो कुछ भी इन वैज्ञानिकों ने कहा, वह पर्याप्त रूप से सत्य है। किंतु ज्ञान के विकास के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन होना आवश्यक था; क्योंकि यह तो ठीक है कि मानव केवल कुछ सीमा तक ही मानव-खोज कर सकता है, किंतु वह दूसरों द्वारा खोजी गयी वस्तुओं को ग्रहण करने की क्षमता रखता है। इजिप्ट (मिस्र) में संस्कृति अधिक विकसित होकर वहां से समस्त विश्व में फैल गयी—इसे सिद्ध करने में प्रसारी संप्रदाय (डिफ्यूजन स्कूल) असमर्थ था। यह उसका एक दोष है। इस संप्रदाय का यह कथन असत्य था कि कुछ सभ्यताएं या तो संस्कृति देती हैं या ग्रहण करती हैं। प्रसारण केवल एक यांत्रिक क्रिया है।

गार्डन चाइल्ड, जूलियन स्टीवार्ड तथा लैसले व्हाइट ने विकासवादी सिद्धांत के रूपांतरित प्रारूप को प्रस्तुत किया है। इन्हें नव-विकासवादी कहा जाता है। गार्डन चाइल्ड ने संस्कृति-विकास को प्रागैतिहासिक अवशेषों के आधार पर चार कालों में विभाजित किया है : (क) पुरापाषाणकाल, (ख) नव-पाषाणकाल, (ग) कांस्ययुग, तथा (घ) लौहयुग। उसके विचार में प्रत्येक स्तर पर एक प्रौद्योगीय क्रांतिकारी स्तर है। जूलियन स्टीवर्ड ने इस सिद्धांत को बहुरेखीय विकास का नाम दिया है। उसने पीलू, मीसो, अमरीका, मेसोपोटेमिया, मिस्र तथा चीन की संस्कृतियों के अध्ययन के आधार पर संस्कृति के उद्भव को पांच युगों में विभाजित किया है :

(क) पूर्व-कृषि युग

(ख) निम्नस्तरीय कृषि का युग।

(ग) आधारिक प्रौद्योग (तकनीकी) एवं लोक-संस्कृति निर्माण का युग।

(घ) प्रादेशिक विकास एवं प्रसार।

(ङ) चक्रीय संजातियों का युग।

व्हाइट ने संस्कृति के विकास को मानव द्वारा विकसित ऊर्जा के विकास पर आधारित किया है। उसके सांस्कृतिक विकास का सिद्धांत इस प्रकार है : संस्कृति उस समय विकसित होती है, जब प्रौद्योगीय वस्तुओं में तथा उनके उत्पादन में ऊर्जा के प्रयोग में वृद्धि होती है अथवा दोनों मूल कारकों में एक साथ वृद्धि होती है। उनके विचार में संस्कृति की प्रत्येक विकसित अवस्था ऊर्जा के वर्धित नियंत्रण एवं उपयोग पर आधारित है।

इसी प्रकार प्रसारी संप्रदाय में भी कुछ परिवर्तन आये एवं वैज्ञानिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों को आंकड़ों पर आधारित कर नूतन सिद्धांत प्रस्तुत करने

लगे। वियेना का सांस्कृतिक-ऐतिहासिक संप्रदाय 'कुल्तूअल क्राइस्ट' (सांस्कृतिक क्षेत्र) पर आधारित है। प्राचीन काल में अनेक बार प्राचीन लोक में भी कुछ सांस्कृतिक तत्व विकसित हुए तथा कालांतर में अनेक स्थानों में फैल गये। इसी प्रसार के कारण कई स्थानों में संस्कृति विकसित हुई।

संस्कृति-क्षेत्र को प्रमाणित करना कठिन है, किंतु यदि समान सांस्कृतिक लक्षण विभिन्न स्थानों में पाये जायें, तो कहा जा सकता है कि संभवतः एक ही स्थान से प्रसारित हुए हैं। अमरीकी मानवविज्ञानियों ने अनेक संस्कृति-क्षेत्रों के मानचित्र बनाये एवं इनके लक्षणों को वर्गीकृत किया। विजलैट ने ऐतिहासिक क्षेत्र का भी प्रयोग किया। उनके विचार में प्रारंभ में सांस्कृतिक विशेषक समस्त दिशाओं में एक-जैसे ही प्रसारित होते हैं। जो लक्षण (विशेषक) प्राचीन हैं, वे अधिक क्षेत्रों में पाये जाते हैं एवं जो केवल कुछ क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं, वे अभी नये-नये ही विकसित हुए हैं।

अंग्रेज मानवविज्ञानियों ने समाज की संरचना के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया और उन्होंने संरचना के विभिन्न तत्त्वों के कार्यों का विश्लेषण किया। उन्होंने इतिहास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, किंतु आजकल मानवविज्ञान तथा इतिहास के संबंध पर पुनर्विचार किया जा रहा है। इससे पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के आचरण किस प्रकार एक-दूसरे से संबंधित हैं तथा समाज-पद्धति को सुचारु रूप से चलाने के उत्तरदायी हैं। मालिनोवस्की ने अपने सिद्धांत को आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार पर बनाया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि किस प्रकार संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

राडक्लिफ ब्राउन के विचार में समाज संरचना के किसी भी तत्त्व का मुख्य कार्य सामाजिक तत्त्वों को प्रस्तुत करना है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि किस प्रकार प्रत्येक सामाजिक संस्था या इसके तत्त्वों ने समाज की निरंतरता को बनाये रखने में कितना योगदान दिया। परिवर्तन संस्कृति के परस्पर संबंध के कारण होता है। परंतु वह देखा गया है कि प्रत्येक परिवर्तन केवल पारस्परिक संबंधों से ही नहीं समझाया जा सकता। प्रत्येक समाज में, चाहे वह कितना ही सुसंगठित हो, उसमें भी विरोध पाया जाता है। इसमें एक ही प्रकार के व्यक्ति दोनों सिद्धांतों के युद्ध में भाग लेते हैं और उसके लिए संरचनात्मक परिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं। फर्थ ने समाज-संरचना तथा समाज-संस्था में भिन्नता बतायी। समाज-संरचना तो एक आदर्श स्थिति है जो समाज के सदस्यों को यह बताती है कि वे किस प्रकार से पारस्परिक व्यवहार करें। परंतु समाज-संस्था दैनिक व्यवहार का वर्णन है, जिसमें समस्त संभावनाओं में से कुछ को चुना जाता है एवं उनका अनुसरण किया जाता है। कई बार तो समाज-संरचना एवं समाज-संस्था में बहुत अधिक विभिन्नता पायी जाती है। विजलैट ने सांस्कृतिक इतिहास की पुनर्रचना की।

लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्येक स्थान पर सांस्कृतिक लक्षण अथवा विशेषताएं एक ही प्रकार से प्रसारित हुईं? क्या ये लक्षण भौगोलिक एवं सांस्कृतिक अवरोधों से भी प्रभावित हुए। जब ये नूतन सभ्यता में मिल गये, तो क्या अपना मौलिक रूप खोने लगे? व्यावहारिक मानवविज्ञान में प्रसारी-शोधकार्य पर अधिक महत्त्व दिया गया है। जो वस्तुएं ग्रहण की जाती हैं, उनके तर्क एवं विचारशीलता को महत्त्व दिया जाता है। विकास एवं प्रसार हमें किसी विशिष्ट समाज में परिवर्तन के सूक्ष्म सांस्कृतिक विश्लेषण में सहायता प्रदान करते हैं।

ब्रिटिश मानवविज्ञानियों ने भी समाज की संरचना पर प्रकाश डाला है। उन्होंने संरचना के तत्त्वों की क्रियाओं का अध्ययन किया। आरंभ में उन्होंने इतिहास के महत्त्व को अस्वीकार कर दिया था, किंतु कुछ वर्षों से वे मानव-विज्ञान एवं इतिहास के पारस्परिक संबंधों को भी महत्त्व देने लगे हैं। कार्यात्मकता यह सिद्ध करती है कि व्यवहार की विभिन्न प्रणालियां, जो एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती हैं, वास्तव में आपस में संबंधित हैं। इस सिद्धांत के अनुयायी यह अध्ययन करते हैं कि संस्कृति की प्रत्येक इकाई किस प्रकार अपना कार्य-भाग प्रस्तुत कराती है। मालिनोवस्की ने सिद्ध किया कि आवश्यकताएं संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों से किस प्रकार संतुष्टि पाती हैं। उसने शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर अधिक जोर दिया; क्योंकि वह इनको जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। राडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक जीवन के महत्त्व को सर्वोपरि माना। उनके विचार में सामाजिक-

संरचना के किसी भी तत्त्व का मुख्य कार्य सामाजिक एकता को बनाये रखना है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार संस्था तथा उसके तत्त्वों ने समाज के सातत्य में सहायता दी। उसने स्थिरता, सभ्यता, एवं एकीकरण को समाज एवं संस्कृति का मूल आधार माना। उसके विचार में परिवर्तन विभिन्न संस्कृति के सदस्यों के पारस्परिक संबंधों के कारण हुआ। सम्राटों, व्यापारियों, प्रचारकों, चिकित्सकों इत्यादि के प्रभाव के कारण नूतन आवश्यकताओं का जन्म हुआ तथा इनके कारण ही परिवर्तन भी आये। किंतु परिवर्तन का विश्लेषण करने पर यह प्रमाणित हुआ कि केवल बाहरी प्रभाव ही इसका मुख्य कारण नहीं है, अपितु समस्त समाजों में स्थिरता अपने पूर्ण रूप में विद्यमान नहीं होती। ग्लैकमैन ने तो संघर्ष को समाज का एक आवश्यक तत्त्व माना है।

गाडफ़्रे तथा मलिकाविन्सन ने विरोध का सिद्धांत प्रस्तुत किया। वे विरोध को दो प्रकार से मानते हैं (अ) साधारण तथा (ब) मूल। साधारण विरोध को संभालने के लिए प्रत्येक समाज में 'बिल्ट-इन मैकेनिज्म' होता है। परंतु मूल विरोध को निर्धारित करने के लिए संरचना में परिवर्तन लाने पड़ते हैं।

फर्थ संरचनात्मक एवं संगठनात्मक परिवर्तन में विभेद बताता है। उनके विचार में सामाजिक-संरचना तो मूल तत्त्वों का वह समूह है, जो समाज के लिए आवश्यक है तथा संगठन समाज का दैनिक व्यवहार है। यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन समाज के आदर्श व्यवहार का सामान्य व्यवहार है। कई बार संरचना एवं संगठन में बहुत अधिक अंतर पाया जाता है।

भविष्य में आविष्कार अर्थात् नवप्रवर्तन तथा संगठन के गूढ़ विश्लेषण पर अनेक मानवविज्ञानियों ने ध्यान दिया है। बोरनैट के विचार में कोई भी संस्कृति किसी समय पर स्थिर प्रतीत होती है, परंतु नवप्रवर्तन के कारण इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। नवप्रवर्तन मौलिक रूप से एक विचार है। यह प्रत्येक समाज में होता है, चाहे वह प्राचीन हो अथवा आधुनिक। कुछ संस्कृतियों में परिवर्तन शीघ्र ही अपना लिये जाते हैं एवं अनेक में कुछ समय के पश्चात्। बोरनैट के विचार में सांस्कृतिक आविष्कार, आकार एवं जटिलता इस ओर इंगित करती है कि नवप्रवर्तन उस समाज में शीघ्र लाये जा सकते हैं, जिस समाज के ऐसे मनुष्यों की अधिक संख्या हो, जिनमें किसी भी विषय पर विचारों का समाहार पाया जाता हो।

आवश्यकताएं भी नवप्रवर्तन का मूल आधार हैं। बोरनैट ने कई प्रकार की आवश्यकताओं में विभिन्नता दर्शायी है, जैसे आवश्यकताएं, आश्रित आवश्यकताएं एवं स्वैच्छिक आवश्यकताएं।

नवप्रवर्तन को स्वीकार या अस्वीकार करना तीन प्रमुख कारकों पर आधारित है:

(अ) परिवर्तन के समर्थक कौन हैं एवं विरोध करनेवाले कौन हैं?

(ब) नवप्रवर्तन की क्या विशेषताएं हैं?

(स) नवप्रवर्तन के संभाव्य स्वीकर्ताओं की क्या विशेषताएं हैं?

कुछ नवप्रवर्तनों में कोई समर्थक नहीं होते, जैसे व्यक्ति की जिज्ञासाएं स्वयं नवप्रवर्तन बन जाती हैं। समर्थक समाज के ही अथवा समाज की प्रभावशीलता समाज में उसके स्थान, एवं व्यक्तित्व तथा संभाव्य स्वीकर्ताओं के साथ उसके संबंधों पर आधारित है। किंतु नवप्रवर्तन को स्वीकार करने के लिए समर्थक की विशेषताएं ही पर्याप्त नहीं हैं, अपितु उसके अपने गुण भी आवश्यक हैं।

—डा० इंद्रपाल सिंह

शिक्षाविज्ञान : एक परिचय

मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता और अन्य प्राणियों से उसकी भिन्नता कदाचित् यह है कि वह सहज ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसे संचित भी रख लेता है। आज जब हम प्रत्येक दिशा में प्रगति कर चुके हैं, और निरंतर करते जा रहे हैं, तो हमें शिक्षा का एक ही स्वरूप दिखायी देता है और वह है—स्कूली शिक्षा, अर्थात् विशिष्ट ज्ञान। किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शिक्षा परंपरा के रूप में भी आती है। वातावरण से घुली-मिली होने के कारण उसे पहचान पाना काफी कठिन काम है। वास्तव में यही शिक्षा, जिसे अनौपचारिक शिक्षा भी कहा जाता है, हमारे जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। इसी शिक्षा में रहना-सहना, वाक्-चातुर्य तथा सामाजिक स्तर के अनुकूल अन्य बातें आती हैं। यही शिक्षा हमारे भविष्य के बनने और बिगड़ने में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है और यही शिक्षा मनुष्य के जीवन की पर्याय भी है।

विद्वानों का कथन है कि स्कूली शिक्षा और अपने-अपने सामाजिक स्तर के अनुकूल मिली घरेलू शिक्षा ही मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व की पहचान होती है। यहां शायद यह बता देना आवश्यक है कि स्कूली शिक्षा स्वयं अपने में पूर्णतया स्वतंत्र इकाई नहीं है। अध्यापक द्वारा पढ़ाये गये पाठ में अध्यापक के व्यक्तित्व का जो सार छात्र तक आता है, उसका समस्त प्रभाव गहरा या हल्का करने वाले छात्र के साथी होते हैं और स्कूल का अपना वातावरण। अच्छे से अच्छा अध्यापक अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता, यदि छात्र के साथी, उसका परिवार तथा स्कूल के अन्य विशिष्ट अंग उसका साथ न दें। इन्हीं समस्त औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रभावों से बने समूह को शिक्षा कहते हैं और ये स्वतंत्र किंतु परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए घटक ही शिक्षा को स्वरूप प्रदान करते हैं।

शिक्षा की परिभाषा

शिक्षा एक ऐसा विषय है, जिसकी परिभाषा सबसे कठिन है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि शिक्षा के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण भिन्न होता है और यही भिन्नता शिक्षा की परिभाषा बदलती रहती है। दूसरे, स्कूली शिक्षा से प्रत्येक समाज की भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं होती हैं और इसीलिए वे उसे अलग-अलग प्रकार से परिभाषित भी करते हैं। तीसरे, धार्मिक या राजनैतिक कारणों से शिक्षा की परिभाषा में विभेद उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे स्पेन की तथा चीन की शिक्षा की परिभाषाएं इसी कारण भिन्न होंगी। चौथे, अवसर के अनुरूप शिक्षा की परिभाषा स्वयं एक व्यक्ति भी अलग-अलग सोच सकता है, जैसे किसी दुकानदार का लड़का यदि पब्लिक स्कूल में जाता है, तो उसकी शिक्षा की परिभाषाएं एक नहीं दो होंगी। इसका कारण यह है कि वह एक परिभाषा अपने व्यक्तिगत, जातिगत, व्यावसायिक प्रभावों के कारण देगा और दूसरी वह पब्लिक स्कूल द्वारा प्राप्त होने वाले सामाजिक तथा मानसिक स्तर को सामने रख कर देगा। ये दोनों परिभाषाएं भिन्न-भिन्न भी हो सकती हैं और एक भी। यह स्वयं अपने में असाधारण कारणों से जन्मी अवस्था का परिणाम होगा। पांचवां कारण यह है कि विषयगत विशेषताओं से भी शैक्षिक परिभाषाएं भिन्न हो जाती हैं, जैसे, एक अर्थशास्त्री को अच्छी शिक्षा से व्यक्ति की उत्पादन-शक्ति में बढ़ोतरी

ही प्रिय होगी , समाजशास्त्री को शिक्षा द्वारा सामाजिकता तथा समाज की ओर अपने कर्तव्यों का पालन भला लगेगा। इन कठिनाइयों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि शिक्षा उस प्रक्रिया का पंजीकृत स्वरूप है, जिससे समाज अपने को जीवित रखने के लिए परंपराओं तथा संस्थाओं द्वारा भावी पीढ़ी को तैयार करता है। स्पष्ट है कि शिक्षा और ज्ञान मात्र (जानकारी) में काफी अंतर है।

शिक्षाविज्ञान

शिक्षाविज्ञान से अभिप्राय शिक्षा के विज्ञान जैसे गुणों से है। लेकिन प्रश्न उठता है, क्या शिक्षा विज्ञान है? जैसा हम सभी जानते हैं, विज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता उसके प्रयोग की होती है और उसमें बात सिद्ध कर पाने की अपनी मान्यताएं होती हैं। उसके सिद्धांतों द्वारा एक ही प्रयोग एक ही परिणाम देगा, चाहे वह प्रयोग कहीं भी किया जाये।

यदि शिक्षाविज्ञान से यह अपेक्षा हो, तो निस्संदेह निराशा ही हाथ लगेगी। शिक्षा में विज्ञानत्व बहुत कम है। यद्यपि हाल ही में शिक्षण-प्रणाली में भाषा, विज्ञान, गणित आदि पढ़ाने के लिए अनेक सुधार हुए हैं, परंतु उनके परिणामों के विषय में किसी प्रकार की कोई गारंटी नहीं है। इसके उद्देश्यों की भिन्नता के विषय में हम देख चुके हैं कि इसमें अंतर्निहित कारणों की वजह से अनेक भेद हैं। हां, यदि हम 'साइंस ऑफ एजूकेशन' की बात कर रहे हैं, तो यह भी अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है कि उसमें कितनी वैज्ञानिकता संभव है।

वैसे हमें यह समझ लेना चाहिए कि सामाजिक विज्ञानों में इस प्रकार का आरोपण सर्वथा नया है और यह दूसरे विश्वयुद्ध (1939-45) के बाद की उपज है। इसमें सांख्यिकी, वैज्ञानिक मॉडल आदि तैयार करके किये गये शोध-कार्यों से भी बहुत अधिक सफलता नहीं मिली।

शिक्षा और समाज

हम पहले भी देख आये हैं कि प्रत्येक समाज अपने भावी नागरिकों को अपनी परंपराओं की जानकारी तथा प्रगति के लिए औपचारिक संस्थाओं और अनौपचारिक प्रभावों द्वारा तैयार करता है। यह बात विश्व के उन्नत तथा पिछड़े देशों पर समान रूप से लागू होती है। जो देश जितना उन्नत है, वह उतना ही साधन-संपन्न भी है और जीवंत नागरिकों पर उतना ही आश्रित ही है। पर गरीब कबीलों में साधन-नैर्धन्य के अतिरिक्त अधिक उन्नत होने के लिए इच्छा की भी कमी होती है। ऐसा समाज शिक्षा द्वारा अपने को पुनर्जीवित करता रहता है।

स्पष्ट है कि शिक्षा पर समाज की इन आशाओं को पूर्ण करने का बड़ा भारी दायित्व है। यहां एक प्रश्न प्रायः उठाया जाता है कि क्या शिक्षा समाज में परिवर्तन ला सकती है? क्या समाज शिक्षा से ऐसी अपेक्षा भी करता है? इन प्रश्नों के उत्तर सीधे-सादे नहीं हैं। औपचारिक शिक्षा समाज में परिवर्तन नहीं ला सकती। वह तो 'जैसा है वैसा रहे' वाले सिद्धांत का पालन ही कर सकती है। और शायद समाज भी शिक्षा से यही अपेक्षा करता है। परंतु अनौपचारिक तरीकों से अर्थात् भाषणों, पुस्तकों एवं राजनैतिक प्रभावों द्वारा शिक्षित व्यक्ति अवश्य इस दिशा में योगदान देते रहे हैं। और हां, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समाज के अपने जीवित रहने के लिए भी यह सब बहुत आवश्यक है। और फिर राजनीति, सरकार आदि स्वयं समाज का अंग हैं, और एक का प्रभाव दूसरे पर बिना पड़े नहीं रह सकता।

जिस प्रकार हम समाज के बिना शिक्षा की कल्पना नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार शिक्षा को समाज के सभी घटकों से अलग रख कर, प्रभावहीन स्थिति में उसके विषय में सोच पाना भी संभव नहीं है।

शिक्षा के प्रयोजन

शिक्षा के प्रयोजन से तात्पर्य शिक्षा द्वारा वह कार्य करवा पाना है, जो व्यक्ति सुरक्षा से, स्वतंत्रता को मूल में जानते हुए, करता है। इसका प्रमुख स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि यह प्रयोजन व्यक्ति द्वारा स्वयं चुने हुए हो। यदि वह निर्देशित होगा तो प्रयोजन अपूर्ण रहेगा। प्रयोजन स्वयं में क्या है? प्रत्येक के काम में एक प्रयोजन स्पष्ट होता है और दूसरा अस्पष्ट। अस्पष्ट प्रयोजन हमारे अपने बुद्धि-कौशल पर आधारित होता है तथा हमारी अपनी योग्यता या क्षमता द्वारा ही प्राप्त किया

जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम भोजन क्यों खाते हैं? इसका एक स्पष्ट प्रयोजन हमको जीवित रखना है पर अस्पष्ट प्रयोजन हमें स्वाद देना है, पाक-कौशल का परिचय देना, हमारे आर्थिक स्तर का परिचय देना आदि अनेक हो सकते हैं। परंतु इनमें से पहला प्रयोजन हमारा अपना चुना हुआ नहीं है। वह तो परिस्थितियों में निहित एक वास्तविकता है। दूसरा प्रयोजन हमारा अपना उत्पन्न किया हुआ हो सकता है।

शिक्षा का प्रयोजन हमारी अपनी समाजगत विशेषता पर निर्भर करता है, पर जो प्रयोजन हम स्वयं उसमें जोड़ते हैं, वह काफी हद तक हमारी स्वेच्छा और जीवन की पकड़ पर निर्भर करता है। ये प्रयोजन ऐसे होते हैं, जिनके विषय में पूर्वानुमान लगाना प्रायः कठिन कार्य होता है।

शिक्षा में 'वाद'

शिक्षा में वादों का जन्म कैसे होता है? हम शिक्षा को वादों के मानदंड से क्यों आंकना चाहते हैं? क्या शिक्षा प्रणाली किसी भी वाद से पूरी तरह बतायी जा सकती है? क्या स्वयं वाद की परिभाषा एक सी होगी? यदि हम इस कारण को समझ जायें, तो हमारी 'शिक्षा' की पकड़ अच्छी हो सकती है। हम इन सभी प्रश्नों के उत्तर क्रम से देंगे।

1. (क) शिक्षा में वादों का जन्म मनुष्य के दृष्टिकोण में निहित भिन्नता के कारण होता है।
   (ख) वाद स्वयं मनुष्य की सामाजिक तथा आर्थिक दशाओं की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होते हैं।
   (ग) एक वाद दूसरे वाद के विरोध या पूरक के रूप में पैदा होता है।
2. शिक्षा में वाद इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा अपने-आप को बाह्य प्रभावों से मुक्त नहीं रख सकती।
3. किसी शिक्षा-प्रणाली की पूर्णरूप से व्याख्या भी वाद में संभव नहीं है। जैसे अमरीकी शिक्षा-प्रणाली को फलवाद की व्याख्या से समझ पाना कठिन है।
4. किसी भी वाद की एक ही परिभाषा या व्याख्या संभव नहीं है। जैसे मार्क्सवाद की कई व्याख्याएं या रूप हैं, या जैसे आदर्शवाद के अनेक प्रचलित रूप देखने में आते हैं। वैसे वादों के जन्मदाताओं ने स्वयं अपने दर्शन को किसी वाद में नहीं ढाला, बल्कि अनेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं कि अपने वाद को किसी दार्शनिक ने स्वयं ही नकार दिया; क्योंकि उसमें अन्य कई लोग घुस आये और उन्होंने उस वाद का अर्थ ही बदल दिया। उदाहरण के लिए चार्ल्स पीयर्स ने फलवाद से अपना नाता तोड़ लिया। मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर, इन तीनों के आपसी संबंधों की व्याख्या या उनमें से किसी एक से, या दो से, या फिर इन तीनों से ही इस विश्व की रचना के प्रयोजन को जानने की जिज्ञासा दर्शन को जन्म देती है और शिक्षा उसमें निमित्त बन कर हमारे सामने आती है।

यथार्थवाद : इसमें प्रकृति के मूल की वास्तविकता को ही सत्य माना जाता है। जो कुछ दिखायी देता है, वह तो सत्य है ही, दिखायी देनेवाली चीजों के पीछे छिपा हुआ और किन्हीं कारणों से दृष्टिगोचर न होनेवाला सत्य भी सत्य ही है और इंद्रियजन्य ज्ञान उस सत्य के दर्शन करा सकता है। यथार्थवाद की मान्यता है कि वास्तविकता अज्ञेय नहीं है, जानी जा सकती है। यह दर्शन मिस्र की सभ्यता से प्रारंभ होकर यूनान तथा मध्ययुगीन दार्शनिकों द्वारा हमारे युग में आया है। इस वाद का शिक्षा के लिए विशेष महत्त्व है। आधुनिक काल में इसके सबसे बड़े दार्शनिक थे प्रो० ए० एन० व्हाइटहैड। उन्होंने इस बात पर विशेष रूप से बल दिया है कि यदि सत्य है और उसका इंद्रियजन्य ज्ञान संभव है, तो शिक्षा को उसकी प्राप्ति में सहायता करनी चाहिए। इसका प्रभाव पाठ्यक्रम पर पड़ना निश्चित था और विभिन्न देशों में पाठ्यक्रम को यथार्थवादी बनाने की कोशिश की गयी। यथार्थवादी पाठ्यक्रम का उद्देश्य न केवल इंद्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की तीक्ष्णता को बढ़ाना है, वरन् उस ज्ञान को परिष्कृत रूप में दूसरों तक पहुंचाना भी है, भारतीय दर्शन में भी इस प्रकार के ज्ञान तथा सत्य के दर्शन को विशेष महत्त्व दिया गया है, परंतु यहां का

दर्शन एकदम खुले शब्दों में यही बात स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

प्रकृतिवाद : प्रकृतिवाद सीधे शब्दों में स्वयं प्रकृति को ही प्रत्येक उत्पत्ति का कारण और हेतु मानता है। वह इस बात को मानने से इनकार करता है कि सत्य किसी अन्य स्थान पर है, या छिपा हुआ है। वह तो अपने में संपूर्ण, प्रकृति में अंतर्निहित और स्वचालित है और उसके दर्शन के लिए किसी आत्मिक या अंतस्थ इंद्रिय की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य, ज्ञान, आत्मा यानी सभी कुछ प्रकृति द्वारा जन्मे हैं और मूल्य, कार्य, आदि हर मानवीय प्रक्रिया को प्राकृतिक कारणों में देखा या उनके द्वारा समझा जा सकता है। प्रकृति स्वयं अपने में वास्तविक है, सत्य है, नित्य है और इससे परे कुछ नहीं है। प्रकृति अपने में पूर्ण है और कार्यशील है।

प्रकृतिवाद में मनुष्य को प्रकृति का सहायक माना गया है। ये लोग यह भी मानकर चलते हैं कि ज्ञान प्रकृति की क्रिया में निहित है। इसी को समझ पाना काफी बड़ा काम है।

शिक्षा में प्रकृतिवाद को बड़े ही भद्दे ढंग से पेश किया गया है। कहा जाता है कि प्रकृतिवाद का दर्शन रूसो ने अपने ग्रंथ 'एमाइल' (दे० प्र०) द्वारा प्रदान किया था। परंतु कई फ्रांसीसी साहित्यकार भी इसके प्रवर्तक माने जाते हैं, जिनमें ल्जाबर्ड, जोला, मोपासां आदि प्रमुख हैं। ये लोग कहते हैं कि परंपराएं, सत्य और असत्य, अच्छा और बुरा आदि भ्रामक बातें हैं; क्योंकि प्रकृति में इन्हें कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।

स्पष्ट है कि ऐसे लोग बालक को अपने-आप पर छोड़ देंगे। उसके मानसिक विकास को दिशा देने का प्रयत्न नहीं करेंगे। कहेंगे कि उसके विकास के गुण तो उसी में मौजूद हैं। पाठ्यक्रम, टाइम-टेबल आदि गलत बातें हैं। प्रकृति से हटकर मनुष्य अपना सही रूप खो बैठता है; इत्यादि। रूसो का यह कथन कि "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है और प्रायः परंपराओं की जंजीरों में बंधा हुआ मिलता है", एक राजनैतिक दर्शन को जन्म देनेवाला माना जाता है।

कल्पनावाद : कल्पनावाद मनुष्य का ईश्वर से सीधा संबंध बताता है। इसके अनुसार अतिमानवीय अनुभव प्रत्येक के लिए संभव है और यह धर्म के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह वाद भारत में हमारी संत-परंपरा के मूल में था और यूरोप में इसने धर्म ग्रंथों तथा धार्मिक कारणों पर अधिक बल दिया है। वैसे ये लोग यह मानकर चलते हैं कि ईश्वर अपने में महान, पूर्ण, तथा प्रकृति और प्रत्येक मानवीय क्रिया के मूल में है। इस सत्य को हम इंद्रियों से नहीं देख सकते, लेकिन इसके द्वारा असीम से ससीम का मिलन भी संभव है। इस दर्शन का मूल आत्म-अनुभव है, चाहे यह अनुभव धर्म की सहायता से हो या उससे हटकर हमारी अपनी आस्था से हो। इसके प्रवर्तकों में विलियम जेम्स, रूफस, जोन्स, ह्युगल आदि हैं।

औपचारिक शिक्षा में इसका कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि यह तर्क की सीमा से परे आस्था के विश्व की बातों से संबंध रखनेवाला वाद है। यदि शिक्षा में इसको लगाने का प्रयत्न किया जाये, तो गलत होगा; क्योंकि यह गुरु को दैवीय शक्ति के रूप में दिखाने का प्रयत्न करेगा और धर्म के अतार्किक तत्वों को बढ़ावा देगा। इसका यह अर्थ नहीं कि इसे माननेवाले बुद्धिमान लोग नहीं हैं या उनमें तर्क का विकास कम हुआ है पर इसका औपचारिक स्वरूप अबौद्धिक, अतार्किक और काल्पनिक ही होगा।

फलवाद : इस विचारधारा को प्रायः अमरीकी दार्शनिक ड्यूई से संबद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है; क्योंकि वह एक स्थिति में इसकी ही बात करने लगते हैं। परंतु इसके प्रवर्तक दार्शनिकों में, अरस्तू, बर्कले, ह्यूम आदि के अतिरिक्त चार्ल्स पीयर्स और विलियम जेम्स आदि हैं। इसमें पीयर्स इसके प्रमुख दार्शनिक माने जाने चाहिए; क्योंकि ड्यूई के दर्शनों के केवल कुछ ही अंश इस वाद से मेल खाते हैं। इन लोगों का कहना है कि सत्य वह है, जिसे जाना जाता है। विचारों के व्यावहारिक परिणाम को फलवाद कहते हैं। किसी बौद्धिक परिकल्पना से पूर्व हमें उसके व्यावहारिक पक्ष की बात करनी चाहिए; क्योंकि इसी व्यावहारिकता का निचोड़ ही तो विचार का सत्य और असली स्वरूप होगा। किसी भी स्थापना का सही अर्थ उसके तर्कसंगत परिणाम होंगे।

फलवाद का असली स्वरूप अर्थ है। उनका कथन है कि यदि ईश्वर की कल्पना उचित परिणाम देती है, तो सत्य है। जो फल ठीक हो, वही सत्य है। सत्य स्वयं वह कल्पनामूलक संज्ञा है, जो व्यवहार में आंकड़े तथा तथ्य आदि में देखी या सिद्ध की जा सकती है। यहां तक कि

दर्शन भी प्रयोग में आने वाले सिद्धांतों का व्यवहृत स्वरूप है। इस दर्शन की सबसे बड़ी कमी भी यही है कि इसमें व्यवहार से सत्य को देखने का प्रयत्न किया जाता है। जो चलता है, वही ठीक है।

शिक्षा में फलवादी लोग केवल उसके व्यावहारिक पक्ष पर ही बल देते हैं। स्थिर मूल्यों की कल्पना या उन्हें पढ़ा पाना उनके बस का कार्य नहीं। जीवन के अनुरूप ही शिक्षा को बदलते रहने में उनका विश्वास है। इसलिए इनके अनुसार पढ़ाये जाने वाले उचित विषय होंगे—विज्ञान और राजनीति; या फिर ऐसे विषय जिनसे व्यक्ति का भला होता हो—चाहे समाज का हो या न हो।

शिक्षा के विभिन्न स्तर

शिक्षा-व्यवस्था को सुचारु ढंग से चलाने के लिए औपचारिक शिक्षा को कई श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनके अपने-अपने उद्देश्य हैं। यहां स्मरण रखने की बात यह है कि इस औपचारिक यानी स्कूली शिक्षा का विकास किसी एक विशिष्ट क्रमबद्ध ढंग से नहीं हुआ है। पहले विश्वविद्यालय बने हैं और बाद में प्राथमिक शिक्षा आयी; और नर्सरी स्कूल तो अभी सबसे नयी-नयी सीढ़ी है जो इस क्रम में जुड़ गयी है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक देश में प्रत्येक स्तर पर एक सा बल (स्ट्रेस) नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए समाजवादी राष्ट्रों में जहां नागरिकों के मानसिक कौशल के विकास पर बल दिया जाता है, वहीं बच्चों को राष्ट्रीय संपत्ति मान कर उन पर सभी कुछ न्यौछावर करने की ललक भी रहती है। अविकसित देशों में विश्वविद्यालीय शिक्षा पर बल है, चाहे उसका कोई लाभ समाज या व्यक्ति को पहुंचे या न पहुंचे। शिक्षा का प्रत्येक स्तर दूसरे से जुड़ा हुआ होता है, और एक स्तर का काम है शिक्षार्थी को दूसरे स्तर के लिए तैयार करना। यह व्यवस्था भी हाल ही में सामने आयी है; क्योंकि 1936 से पहले तो माध्यमिक शिक्षा का जन्म इंगलैंड तक में नहीं हुआ था, परंतु विश्वविद्यालय की शिक्षा के उद्देश्य प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में भली भांति समझे जाते रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक बच्चों को उनकी रुचि के अनुसार पढ़ाना, उन्हें अच्छी आदतें सिखाने के लिए स्नेह दर्शाना, उन्हें स्वतंत्र व्यक्तित्व और विकास की कड़ी का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानना इत्यादि बातें सर्वमान्य नहीं थीं। परंतु अब उनके विषय में ऐसा सोचना भी अटपटा लगता है, जबकि हमें यह ज्ञान पिछले आठ या दस दशकों में ही हुआ है।

नर्सरी स्कूल : बालक के जन्म से लेकर उसके पांच या छह वर्ष की अवस्था तक की शिक्षा नर्सरी के अंतर्गत आती है। वैसे इस शिक्षा का प्रचलन यूरोप की कामकाजी माताओं को सुविधा देने के लिए किया गया था, परंतु जब यह देखा गया कि बालकों के बौद्धिक विकास को बढ़ावा दिया जा सकता है, उनको अच्छी आदतें आसानी से सिखायी जा सकती हैं, और उन्हें भविष्य में पढ़ने के लिए अभिरुचि प्रदान की जा सकती है, तो इसका विकास बड़ी जल्दी हुआ। आज तो यह साम्यवादी देशों में ही नहीं अन्यत्र भी काफी मान्यता प्राप्त शिक्षा व्यवस्था है। परंतु इसकी प्रगति अलग-अलग देशों में अलग-अलग ढंग से हुई है। कहीं यह सुविधा राज्य द्वारा प्रदान की गयी है, तो कहीं इसके लिए नागरिकों को स्वयं प्रबंध करना पड़ता है। इस प्रकार इसका विकास नगर और ग्रामों में अलग-अलग ढंग से हुआ है। परंतु उसमें किसी को मतभेद न होगा कि यह शिक्षा अपने में काफी महत्त्वपूर्ण है।

स्वयं नर्सरी शिक्षा को क्रेश, इन्फेंट तथा नर्सरी जैसी अवस्थाओं में बांटा गया है। अब केवल कामकाजी माताएं ही नहीं वरन् सभी उच्चवर्गीय लोग अपने बच्चों को यहां भेजना चाहते हैं। भारत में यह काम कई संस्थाएं कर रहीं हैं, जैसे, बालकनजी बाड़ी, सरस्वती शिशु मंदिर आदि। परंतु यह सुविधा आज भी नगरों तक ही सीमित है। ग्रामों में इसका प्रसार तब तक संभव नहीं होगा जब तक सरकार इसे अपने हाथों में न ले ले। कोठारी आयोग ने इस काम को फिलहाल निजी क्षेत्र के लिए छोड़ने की सिफारिश की है। फलस्वरूप ये संस्थाएं खाली बैठे लोगों के लिए रोजगार का साधन ही नहीं बहुतों के लिए धन कमाने का जरिया भी बन गयी हैं। इसलिए इन्हें 'शिक्षा की दुकानों' की संज्ञा भी दी गयी है।

प्राथमिक शिक्षा : प्रारंभिक और प्राथमिक दोनों ही शब्दों

को आजकल प्राय: पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा है, किंतु इन दोनों के पीछे काफी सामाजिक भेद छिपे हैं, पहले प्रारंभिक शिक्षा निर्धनों की पूर्ण शिक्षा की इकाई का नाम था। इसे अंग्रेजी में 'एलीमेंटरी ऐजूकेशन' कहते हैं। इंगलैंड में 1870 में बने प्रथम शिक्षा कानून में इसी की व्यवस्था की गयी थी। पर जब माध्यमिक शिक्षा आयी तो उससे जोड़ने के लिए एक निचली कड़ी की तलाश करनी पड़ी। यह कड़ी प्राथमिक शिक्षा की थी। पहले तो यही काफी विवादास्पद मामला था कि निर्धनों को शिक्षा दी जाये या नहीं, लेकिन अब 'माध्यमिक शिक्षा सबके लिए' की धूम है। अमरीका में तो अब 'विश्वविद्यालय शिक्षा सबके लिए' की व्यवस्था हो चुकी है। ऐसी दशा में 'प्रारंभिक शिक्षा' कहने पर एक तो सारी सामाजिक पृष्ठभूमि फिर से दोहरायी जायेगी, दूसरे उसे माध्यमिक शिक्षा से जोड़ना भी कठिन हो जायेगा।

भारत में निर्धनता तथा उससे संबंधित कारणों से अभी तक प्राथमिक शिक्षा भी सफल नहीं हो पायी है। अधिकांश बच्चे अभी भी एक या दो वर्ष पढ़कर ही स्कूल जाना बंद कर देते हैं और निरक्षरता की ओर बढ़ने लगते हैं। इसलिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि प्राथमिक शिक्षा को कानूनी रूप से अनिवार्य बनाया जाये और साथ ही उसे अधिक रोचक और अर्थपूर्ण बनाकर इसका अधिक से अधिक प्रसार किया जाये। अनिवार्य शिक्षा का कानून तो है, पर इसे लागू करना आसान नहीं है। दिल्ली नगर में 1972 में भी 80 प्रतिशत बच्चे कभी स्कूल नहीं जाते, और यदि जाते भी हैं तो पढ़ते नहीं। ऐसी स्थिति में अन्य स्थानों की शिक्षा व्यवस्था की कल्पना भी कठिन है। इस संदर्भ में इंगलैंड की प्लाउडन समिति की रिपोर्ट द्रष्टव्य है, जो विकासशील देशों में इस अवस्था की शिक्षा की दशा का ज्ञान कराती है।

माध्यमिक शिक्षा : किसी भी राष्ट्र के लिए माध्यमिक शिक्षा संपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसी शिक्षा-स्तर से उसे मध्यम श्रेणी के कुशल कामगर, टेकनीशियन, क्लर्क आदि मिलते हैं, और इसी शिक्षा से विश्वविद्यालयों को योग्य विद्यार्थी भी मिलते हैं। यह विषय काफी चर्चा का रहा है कि माध्यमिक शिक्षा को क्या केवल विश्वविद्यालय की पहले की सीढ़ी माना जाये, या इसे स्वतंत्र मानकर अधिकांश क्षात्रों के लिए इसे अंतिम शिक्षा की संज्ञा दी जाये? यदि ऐसा है तो क्या एक ही प्रकार के माध्यमिक स्कूल हों या अनेक प्रकार के? यदि अनेक प्रकार के हों तो उनमें अनेक प्रकार के छात्रों को भर्ती करने की छूट किसे दी जाये––व्यक्ति को या सरकार को? फिर समस्या यह भी है कि माध्यमिक शिक्षा कितने वर्षों की है; क्योंकि अधिकांश छात्र यहीं से पढ़ना बंद कर देंगे, तो उन्हें किसी न किसी प्रकार का कौशल देना आवश्यक है और वह तीन वर्ष से कम में नहीं दिया जा सकता, अर्थात् माध्यमिक स्कूल उच्चतर माध्यमिक हो या फिर दो वर्ष हाई स्कूल और दो वर्ष इंटरमीडियेट रखा जाये, ताकि इंटरमीडियेट अवस्था में विशेष प्रकार की ट्रेनिंग आदि दी जा सके। परंतु कम से कम भारत में अभी इसका कोई हल नहीं हुआ है। कई राज्य हाई स्कूल और इंटरमीडियेट व्यवस्था रखे हुए हैं––वहां पर बी० ए० की शिक्षा दो वर्ष की है जैसे उत्तर प्रदेश में। कुछ राज्यों में हायर सेकेंडरी के बाद एक वर्ष प्री यूनिवर्सिटी तथा तीन वर्ष बी० ए० की व्यवस्था है। कई राज्यों में दोनों व्यवस्थाएं हैं।

इंगलैंड जैसे देश में तो मिश्रित व्यवस्था के कारण काफी वादविवाद है। कारण स्पष्ट है कि यदि एक प्रकार के स्कूल में पढ़ने के बाद एक छात्र विश्वविद्यालय जा सकता है और दूसरा नहीं, तो प्रवेश की समस्या लेकर काफी झंझट होते हैं, और वे हैं भी।

भारत में इस समस्या को लेकर मुदालियर आयोग बैठाया गया था और उसकी सिफारिश मानकर इस व्यवस्था में सुधार भी किये गये थे, पर 'मल्टी-परपज' या बहुउद्देश्यीय स्कूल चले नहीं। अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि इनमें पढ़नेवालों को कोई विशेष सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। कोठारी आयोग ने इसमें सुधार के कई सुझाव रखे। उनमें तो एक तो उच्चतर माध्यमिक स्कीम थी। पर उसमें भी आशानुरूप सफलता नहीं मिली है।

इस शिक्षा की असफलता का सबसे बड़ा कारण यह है कि इसमें पढ़ने के बाद जीवन के कार्यक्षेत्र में जीने और आजीविका के उद्यम के प्रवेश के लिए मार्ग नहीं है। वैसे उसका दोष शिक्षा को नहीं, देश की आर्थिक व्यवस्था को देना चाहिए, जिसके कारण शिक्षा बदनाम होती है।

विश्वविद्यालय तथा कालेज शिक्षा : 'वुड्स डिसपैच' से भारत में आधुनिक प्रकार के विश्वविद्यालयों की नींव पड़ी और लंदन विश्वविद्यालय को माडल मानकर भारत में सर्वप्रथम कलकत्ता, मद्रास और बंबई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। चूंकि परीक्षा विश्वविद्यालय द्वारा ली जानी थी, इसलिए यह आवश्यक नहीं समझा गया कि पढ़ाई भी वहीं हो। इस प्रकार पढ़ाने के लिए कालेजों की स्थापना हुई। कालेजों की स्थापना का एक कारण यह भी था कि सरकार कालेज चलाने के पूरे खर्चे को उठाने के लिए तैयार नहीं थी। इसलिए स्वेच्छा से लोगों ने धन लगाकर कालेज खोले, आरंभ में लगभग सभी कालेज धार्मिक संस्थाओं के रूप में खुले। कुछ ईसाई मिशनरियों ने खोले, कुछ मुसलमानों ने, कुछ हिंदुओं ने। इस प्रकार सरकार का पैसा तो बचा, परंतु कालेजों के कारण विश्वविद्यालयों को प्रायः काफी कठिनाई उठानी पड़ती है। कभी पैसे के अभाव के कारण, कभी शैक्षिक स्तर के कारण, कभी प्रबंधकों के आपसी झगड़ों के कारण विश्वविद्यालयों के लिए ये कालेज अक्सर सिरदर्द बने रहते हैं।

भारतवर्ष में विश्वविद्यालयों की संख्या 90 के करीब है और ये कई प्रकार के हैं। कुछ विश्वविद्यालय केवल एक ही प्रकार की शिक्षा देते हैं, जैसे कृषि-विश्वविद्यालय या रूरल इंस्टीट्यूट, जब कि अन्य कालेज, कला, वाणिज्य, साहित्य, चिकित्सा, कानून, विज्ञान आदि की उच्च शिक्षा देते हैं। कुछ विश्वविद्यालय केवल धर्म के आधार पर बने हैं और कुछ केवल परंपरागत ज्ञान देने के लिए जैसे काशी संस्कृत विश्वविद्यालय, गुरुकुल, देवबंद आदि। दूसरी ओर शांतिनिकेतन या अरविंद आश्रम जैसे अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय हैं। कुल मिलाकर भारत में काफी वैविध्य है। सभी विश्वविद्यालय सरकारी कानून से नहीं बने हैं और न सभी केवल राज्य या केंद्र के अंतर्गत आते हैं। केंद्रीय विश्वविद्यालय हैं; अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी, जिसे सर सय्यद ने बनवाया था, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय जिसे मालवीयजी का वरदहस्त मिला, और शांतिनिकेतन जिसकी स्थापना रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की थी। एक विश्वविद्यालय केवल स्त्रियों के लिए भी बना हुआ है। यह है एस० एन० डी० टी०।

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन आयोग ने विश्वविद्यालय की शिक्षा पर काफी विचार किया था और हाल ही में कोठारी आयोग ने भी इसकी व्यवस्था के विषय में काफी सुझाव पेश किये हैं। विश्वविद्यालयों के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इस क्षेत्र की सर्वोच्च संस्था है।

उच्च शिक्षा के लिए नयी संस्थाएं भी काम करने लगी हैं। ये अपने-अपने विशिष्ट उद्देश्य लेकर बनायी गयी हैं। इनमें प्रमुख है—भाभा एटोमिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालोजी, आदि। भारतीय विश्वविद्यालय अभी भी अपनी परंपराओं से बंधे हुए हैं, इसलिए एक नये प्रकार के विश्वविद्यालय की स्थापना भी हुई है। वह है जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, जिसमें विषयों की भिन्नता के अलावा सर्वोच्च स्तर की पढ़ाई का प्रबंध किया गया है। यह तो भविष्य ही बतलायेगा कि इसे सफलता कितनी मिलेगी।

पूर्व-व्यावसायिक शिक्षा : आज के तकनीकी ज्ञान के विस्तार ने जहां अन्य सुविधाएं प्रदान की हैं, वहां उन सुविधाओं को जनसाधारण तक ले जाने तथा उनके निरंतर सुधार की व्यवस्था के अंतर्गत मार्ग भी खोल दिये हैं। इस तकनीकी विकास के युग में मनुष्य को किसी पूर्व जानकारी के बिना जीवन-यापन में कठिनाई होती है। साथ ही बड़े-बड़े कारखानों और कल-पुर्जों को चालू रखने के लिए भी काफी बड़ी संख्या में लोगों को व्यावसायिक शिक्षा देने की आवश्यकता होती है। औद्योगिक काल से पहले यह काम 'गिल्ड' किया करते थे और भारतवर्ष में इस प्रकार के 'गिल्ड' या 'कारखाने' छोटी अवस्था में लोगों को काम पर ले लेते थे और वहीं उन्हें वह काम भी सिखा देते थे। इस प्रकार सुनार, जुलाहे, लुहार आदि तैयार किये जाते थे। परंतु अब यह व्यवस्था न तो सुविधा-जनक है और न उचित ही। ज्ञान स्वयं अपने में बहुत बड़ा व्यवसाय है और एक छोटे से छोटे ज्ञानांश को इधर से उधर करना काफी बड़ी बात है। इसलिए अब व्यवसाय में घुसने से पूर्व और काम करते समय भी शिक्षा की आवश्यकता है। अब यह भी निश्चित हो चुका है कि यह ज्ञानार्जन संस्थागत होना चाहिए।

यह व्यावसायिक शिक्षा भारतवर्ष में कई प्रकार की संस्थाओं में प्रदान की जाती है। जैसे: (1) पोलीटेक्नीक (2) आई० टी० आई०, औद्योगिक व्यावसायिक स्कूल, (3) कृषि स्कूल, (4) नर्सिंग स्कूल, आदि। ऐसी शिक्षा

हायर सेकेंडरी (उच्चतर माध्यमिक) के बाद दी जाती है और जैसा कठिन या सहज काम होता है वैसी ही ट्रेनिंग की अवधि भी होती है। कई संस्थाओं में आठवीं कक्षा तक शिक्षित व्यक्ति को भर्ती कर लिया जाता है और तीन वर्ष तक की अवधि की ट्रेनिंग दी जाती है। इन्हें जूनियर टेक्निकल स्कूल भी कहते हैं।

इंटर कमीशन से लेकर कोठारी आयोग तक सभी ने इस शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। सेडलर आयोग, वुड एबड रिपोर्ट और सारजेंट प्लान ने अनेक सुझाव दिये। पर इस क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हो पायी। कारण शायद यही है कि भारत का औद्योगीकरण पिछड़ा हुआ है और योग्य कुशल, प्रशिक्षित आदमी की खपत भी नहीं है। कई बार इस बात के भी संकेत दिये गये हैं कि यदि भारत को शिक्षा में प्रगति करनी है, तो उसे चाहिए कि समय-समय पर आवश्यकताओं का ब्यौरा तैयार करके प्रशिक्षण के काम को हाथ में ले ले। ऐसा होने से बेकार प्रशिक्षितों की संख्या कम होगी। पाठ्यक्रमों में निरंतर सुधार और विकास की आवश्यकता है। परंतु सबसे बड़ी बात यह है कि राष्ट्र निरंतर औद्योगिक प्रगति करता रहे, जिससे प्रशिक्षित व्यक्तियों की खपत भी बढ़ेगी और व्यक्ति की सूझ-बूझ से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के विकास का भी अवसर मिलेगा। कोठारी आयोग ने इस विषय में बड़े ही महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं और उनमें से कुछ पर काम भी हुआ है।

स्नातकोत्तर व्यावसायिक शिक्षा की अनेक संस्थाएं हैं, जिनमें शिक्षा, डाक्टरी, इंजीनियरिंग तथा कृषि के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। यह प्रशिक्षण कालेजों, विश्वविद्यालयों तथा प्रविधि-केन्द्रों में दिया जाता है। प्रविधि-केंद्रों में प्रमुख हैं भारत के पांच आई० आई० टी० (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी)। हाल में बेकार इंजीनियरों को लेकर समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं। यह समस्या कई प्रकार से सुलझायी जा रही है, इसलिए यह तो कहना कठिन है कि असली हल क्या होगा। परंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जहां बेकार इंजीनियरों ने अपने कौशल का प्रयोग मिल-जुल कर उद्योग स्थापित करके किया है वहां उन्हें काफी सफलता मिली है। लगता यह है कि नौकरी दिलाने से भी अधिक आवश्यक है नौकरी पैदा करने का काम। इसलिए सबसे अच्छा प्रशिक्षित वह है जो अपने लिए काम पैदा करे और दूसरों को भी उस काम में खपा सके। इस कार्य में सरकारी बैंकों और कई सरकारी विभागों ने काफी सहयोग दिया है। परंतु अभी यह समस्या हल नहीं हुई है। वास्तव में बेरोजगारी की समस्या हल तब तक नहीं हो सकती जब तक देश में प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अवसरों वाली योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था न हो।

यहां एक बात और भी कह देना आवश्यक है कि बहुत से स्नातकोत्तर शिक्षा और विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त लोग प्रायः विदेशों में जाकर बस जाते हैं और प्रतिभा-निकास (ब्रेन-ड्रेन) की समस्या खड़ी कर देते हैं। इस समस्या को हल करने के लिए भी आवश्यक है कि देश में शिक्षा और रोजगार के समान अवसर कागजों में ही नहीं, व्यावहारिक रूप में सबको दिये जायें।

शिक्षा के प्रकार

शिक्षा-व्यवस्था अर्थात् औपचारिक शिक्षा कई स्तरों में निबद्ध है और इसके कई प्रकार भी हैं, जैसे——सामान्य शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा आदि।

सामान्य शिक्षा : जो शिक्षा किसी विशिष्ट प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि में सहायक नहीं होती, उसे हम सामान्य शिक्षा कहते हैं। परंतु सामान्य शिक्षा (जनरल एजूकेशन) का एक अर्थ यह भी है कि प्रत्येक विद्यार्थी को, वह चाहे जिस प्रकार का प्रशिक्षण क्यों न ले रहा हो, एक पाठ्यक्रम अवश्य पढ़ना पड़ेगा, जिससे वह अपनी संस्कृति, अपने राष्ट्रीय मूल्य तथा देशगत जीवन से परिचय प्राप्त कर ले। कारण यह है कि विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करनेवाले लोगों का ज्ञान प्रायः एकांगी हो जाता है और वह साहित्य, संस्कृति कला और ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं से अछूते रह जाते हैं, जिससे उन्हें सामाजिक समायोजन में कठिनाई होती है। सामान्य शिक्षा प्राप्त कर लेने पर यह कठिनाई दूर हो सकती है। और विशिष्ट शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी सुसंस्कृत जीवन बिता सकते हैं।

व्यावसायिक शिक्षा : इसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसके द्वारा छात्रों को जीवन की तैयारी करायी जाती है और वे किसी न किसी काम के योग्य हो जाते हैं।

विकलांगों की शिक्षा : मानव-समुदाय में लाखों की

संख्या में अपंग बच्चे जन्म लेते हैं और उन्हें भी जीवित रहने के लिए किसी स्वतंत्र व्यवसाय की आवश्यकता होती है। अतः उनके लिए विशेष प्रकार के स्कूल चाहिए, पर इसके लिए प्रत्येक स्तर पर सामाजिक सहयोग की आवश्यकता होती है, क्योंकि ये बच्चे सभी प्रकार की बीमारियों से पीड़ित होते हैं। उनमें से कुछ तो शिक्षा और इलाज के बाद सामान्य हो जाते हैं, लेकिन बहुत से आजीवन अपंग ही रहते हैं। कुछ लोग तो जन्म से ही विकलांग और अपंग होते हैं, और कुछ पैदा होने के बाद अपंग हो जाते हैं। उदाहरण के लिए पोलियो, अंधापन आदि दोष पैदा होने के बाद होते हैं। इनमें से कई बालक अपंगता के कारण मंदबुद्धि हो जाते हैं। इस प्रकार के बीमारों को अलग-अलग प्रकार के इलाज चाहिए और उन सभी को सामान्य जीवनयापन के लिए बहुत सावधानी और सेवा शुश्रूषा की आवश्यकता होती है। इसलिए इन्हें केवल अध्यापक ही नहीं चाहिए, उन्हें तो कुशल डाक्टर और मनश्चिकित्सक भी चाहिए। स्पष्ट है कि इनके अध्यापक भी विशेष प्रकार से प्रशिक्षित करने और इनका कार्य पढ़ाना कम, प्रशिक्षिण अधिक होगा।

भारत जिस तरह अन्य प्रकार की शिक्षा में उन्नत राष्ट्रों से पीछे है, उसी प्रकार वह विकलांगों की शिक्षा में भी काफी पीछे है। न पर्याप्त अध्यापक हैं और न उचित संख्या में स्कूल ही। यहां तक कि राजधानी में भी इनकी शिक्षा का कोई अच्छा प्रबंध नहीं है। वैसे अब सरकार के अतिरिक्त अनेक स्वैच्छिक गैर सरकारी संस्थाएं इस काम में जुटी हुई हैं।

प्रौढ़ शिक्षा : भारत में अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से शिक्षा का अभाव रहा है। इसलिए अशिक्षित प्रौढ़ों की संख्या यहां बहुत अधिक है। लेकिन आधुनिक युग में अशिक्षित रहना हर तरह से हानिकर है। अशिक्षित व्यक्ति न तो अपने कर्तव्य को भली-भांति समझ सकता है, और न अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है। इसलिए प्रौढ़ शिक्षा भारत के लिए अनिवार्य है। प्रौढ़ शिक्षा का अर्थ प्रौढ़ों को केवल साक्षर बनाना ही नहीं, उन्हें अपने-अपने कार्यक्षेत्र में अधिक कुशल बनाना भी है। इसके लिए रात्रि-पाठशालाएं चलाने, प्रौढ़ नवसाक्षरों के लिए उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित करने आदि के लिए काम किये जाते हैं। कई राज्य सरकारों ने प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम चलाये हैं, पर उन्हें अपेक्षित सफलता अभी नहीं मिली है। प्रौढ़ शिक्षा की सफलता तभी संभव है जब वह राष्ट्र के जीवन-दर्शन का अंग बन जाये और राष्ट्र उसे अपने जीवन के लिए आवश्यक माने।

शिक्षण पद्धतियां

शिक्षण एक कला और विज्ञान दोनों के रूप में हमारे सामने आता है। अनेक अध्यापक इसे स्वाभाविक ढंग से पढ़ाने में सफल रहते हैं कि उनके ज्ञानार्जन में विशिष्ट प्रकार का आनंद भी आता है। शिक्षण कैसे किया जाये, यह अपने में विज्ञान भी है; क्योंकि अच्छे अध्यापन के सभी तत्वों को निकाल कर उनके सिद्धांतों को पढ़ाकर तथा अभ्यास कराकर साधारण व्यक्ति को भी अच्छा अध्यापक बनाया जा सकता है। जन्मजात अध्यापक कम होते हैं। इसलिए हमें अध्यापक-प्रशिक्षण द्वारा यह काम करना पड़ता है, लेकिन इससे शिक्षण-पद्धितियों में निस्संदेह काफी विकास हुआ है।

शिक्षक ज्ञान को छात्र तक कैसे ले जाये, यह शिक्षण पद्धति तथा ज्ञान के स्वरूप तथा आकार पर भी निर्भर है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में जब तक ज्ञान लिपिबद्ध नहीं हुआ था और स्वयं ज्ञान की मात्रा अधिक नहीं थी, मौखिक और गेय पद्धति से पढ़ाना और स्मरण करना आसान था। परंतु ज्ञान के भंडार ने अध्यापन पर कई जिम्मेदारियां डाल दीं। कई विद्याएं केवल अभ्यास की होती हैं, जैसे चीर-फाड़, धनुर्विद्या आदि और अनेक में सिद्धांत लागू किये जाते हैं, जैसे, संगीत, कविता, तर्क आदि। स्पष्ट है इनमें प्रत्येक के अध्यापन की विधि अलग-अलग होगी। प्राचीन भारत में शिक्षण के सिद्धांतों का भी अलग से प्रतिपादन हुआ होगा, विधियां विकसित हुई होंगी, परंतु उनका ज्ञान हमें अभी नहीं हो पाया है।

प्राचीन यूनान में अरस्तू तथा उसके गुरु प्लेटो ने घूम-फिरकर पढ़ाने की विधि को जन्म दिया था, जिसे अंग्रेजी में 'पेरीपेटिक' विधि कहते हैं। वहीं पर 'प्रश्नोत्तरी विधि' के जन्मदाता पैदा हुए, जिनमें सुकरात का नाम प्रसिद्ध है, और वहीं पर आगमनात्मक तथा निगमनात्मक शिक्षण विज्ञान का भी जन्म हुआ। यूरोपीय संस्कृति, ज्ञान और सभ्यता के रूप में जो कुछ हमारे सामने आता

है, उसमें बहुत कुछ यूनान से आया है और उन सब पर कहीं न कहीं अरस्तू का प्रभाव है।

इन विधियों के विकास में भारत का भी काफी हाथ रहा है, परंतु आज जब इस प्रकार के ज्ञान के इतिहास की बातें होती हैं तो भारत का नाम प्रायः उसमें नहीं लिया जाता। कारण दो हैं (1) भारत राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ रहा है और (2) यूरोप में भारतीय ज्ञान प्रायः अरबों द्वारा गया, इसलिए उनका श्रेय भी उन्हीं को दे दिया गया। फिर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जहां अध्यापन कार्य का विकास होता है वहां अपने आप ही शिक्षण पद्धतियों का विकास हो जाता है, चाहे उन्हें पढ़ाने के लिए औपचारिक तरीके अपनाये जाते हैं या नहीं। इनमें बच्चों को कहानी सुनाकर गीतों द्वारा ज्ञान देने की पद्धति सबसे प्राचीन है, और इस पद्धति का जन्मदाता भारत ही है।

बहुत दिनों तक शिक्षण-विधियों में किसी प्रकार का विकास नहीं हुआ। विज्ञान का युग आया तो वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता अनुभव हुई और प्रयोगात्मक विधि का विकास हुआ। यह कदाचित् मध्ययुगीन वैज्ञानिकों की देन है, चाहे वे कोई भी क्यों न रहे हों। वैसे अनेक भारतीय ऋषियों ने भी प्रयोग करके जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं के गुण बताये, परंतु उनकी प्रयोगशालाएं कैसी थीं और वे वास्तव में कैसे प्रयोग किया करते थे, यह हमें ज्ञात नहीं।

यूरोपीय रिनेसां (पुनर्जागरण) के बाद से आधुनिक काल प्रारंभ होता है और तबसे प्रायः हर काम में यूरोपीय देश ही आगे रहे हैं। भारत, चीन आदि प्राचीन देश पीछे रह गये। यूरोपीय विद्वानों की विशेष बात रही है ज्ञानार्जन करना और उसके सिद्धांतों का वैज्ञानिक ढंग से (वस्तुनिष्ठ तरीके से) पता लगाना। इससे यदि एक ओर प्रयोगात्मक विधि को बल मिला है, तो दूसरी ओर शिक्षण में अनेकानेक पद्धतियों का विकास भी हुआ है, जैसे, प्रोजेक्ट मैथड, गैरी प्लान, मोंटेसरी विधि आदि। इनमें से प्रत्येक के पीछे एक दर्शन है, अच्छा पढ़ाने की सदिच्छा है और अन्य लोगों को काम देने की, उनके अध्यापन में सुधार लाने की वैज्ञानिक प्रवृत्ति भी है।

आज के अध्यापक को संशोधित तथा विकसित करने में अधिकांश हाथ मनोविज्ञान का है। बालक की अभिरुचियों तथा उसकी बुद्धिशक्ति का पता लगाना और पाठ्य सामग्री को क्रमशः आसान और कठिन करना आदि बहुत कुछ मनोविज्ञान की देन है। ये पद्धतियां मनोविज्ञान की सहायता से ही जन्मी और विकसित हुई हैं और पाठ्य-सामग्री को छात्र तक ले जाने में जिस अध्यापन सामग्री की आवश्यकता होती है उसका पता भी मनोविज्ञान द्वारा ही लगाया जा सकता है।

और क्षेत्रों की भांति आज हम शिक्षण-पद्धतियों के क्षेत्र में भी काफी प्रगति कर चुके हैं। यहां तक कि अब कम्प्यूटर की सहायता से और आत्म-अध्यापन की विधि (आटो-टीचिंग) से हमने अपने आप को पढ़ाना सीख लिया है। वास्तव में आज की अध्यापन-विधियां इस प्रकार विकसित हो रही हैं कि लगता है कि कुछ ही दिनों में कक्षा में एक साथ बैठकर एक ही पाठ पढ़ना अनावश्यक ही नहीं हर रूप में बेहूदा लगने लगेगा। परंतु इसे भारत तक आने में अभी शायद पचास वर्ष और लगेंगे।

शिक्षा और सहायक विज्ञान

शिक्षा अपने आप में कोई पूर्ण विषय नहीं है। वास्तव में अनेक विषयों का जन्म किसी अन्य विषय से हुआ है, जैसे, मनोविज्ञान का दर्शन से, अर्थशास्त्र का घरेलू धंधों की पुस्तकों से, वातावरण-संबंधी विज्ञान का शरीरविज्ञान से। इस प्रकार यदि देखा जाये, तो मूल में दो ही विषय रहे होंगे—एक दर्शन और दूसरा विज्ञान। अब कुछ इस प्रकार की हवा चली है कि जिन विषयों में वैज्ञानिकता का पूर्ण अभाव है, वे भी वैज्ञानिक होने का दावा करते हैं। शिक्षा के विषय में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से इसमें अपना कुछ भी नहीं है। शिक्षा के अनेक उप-विषयों में से किसी एक को यदि गहराई से पढ़ लिया जाये, तो ज्ञात होगा कि शिक्षा तो किसी अजानी सीमा पर आकर समाप्त हो गयी और दूसरा विषय प्रारंभ हो गया। शिक्षा का यह उथलापन इसे एक पूर्ण विषय मनवाने में बहुत बड़ी बाधा है। उदाहरण के लिए, शिक्षा का इतिहास लिखते समय समकालीन समाज, अर्थतंत्र, लोकतंत्र आदि का ध्यान रखना होगा, अन्यथा किसी भी शैक्षिक कानून का महत्त्व बता पाना कठिन होगा। शिक्षा के इतिहास में बताना होगा कि साक्षरता भारत में इतने विलंब से

क्यों आयी और किन राजनैतिक या सामाजिक कारणों ने इसकी प्रगति में बाधा पहुंचायी। इस समय हम केवल शिक्षा की नहीं, समाज के समस्त पहलुओं से प्रभावित तथा उन्हीं से अनुप्राणित एक विषय की बात कर रहे हैं, जो 'शिक्षा' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

यही कारण है कि जब कोई अन्य विषय शिक्षा पर प्रभाव डालता है, या उसे विकसित करता है, तो शिक्षा के साथ उसका भी नाम जुड़ जाता है और शिक्षा से संबंधित सभी सामग्री एक सामूहिक नाम से प्रस्तुत कर दी जाती है। इसका उदाहरण है शिक्षा-मनोविज्ञान जिसमें मूल विषय मनोविज्ञान है और सिद्धांत शिक्षा में लाये गये हैं। इसी प्रकार अन्य विषय हैं––शिक्षा-समाजविज्ञान, शिक्षा-सांख्यिकी, शिक्षा-अर्थशास्त्र आदि। विषय को प्रस्तुत करने के ढंग से ही पता चल जाता है कि मूल कहां है और शिक्षाशास्त्र के किसी भी विशेषज्ञ को उस मूल विषय में निष्णात होना नितांत आवश्यक है, अन्यथा अनेक शिक्षा-विज्ञानियों की लिखी पुस्तकें उनके अल्पज्ञान की घोषणा करती दिखलायी पड़ती हैं।

शिक्षा-समाजविज्ञान : अनेक समाजविज्ञानियों ने शिक्षा-विज्ञान को अभी तक इकाई के रूप में नहीं माना। उनका कथन है कि शिक्षा संपूर्ण समाज में हो रही अनेक प्रक्रियाओं में से एक है, इसलिए वह समाज की किसी भी गतिविधि के प्रभाव से सर्वथा मुक्त भी नहीं है। समाज यदि एक प्रणाली है, तो शिक्षा उसकी एक उप-प्रणाली या उप-समूह है। हम यह पहले भी देख आये हैं कि समाज और काल शिक्षा के स्वरूप और दिशा के निर्धारण का काम करते हैं। हम यह भी जानते हैं कि समाज में अपने को जीवित रखने के लिए ही शिक्षा को औपचारिक रूप प्रदान किया गया है, अध्यापक यदि समाज का अंग है तो वह उसका प्रतीक भी है। पाठ्य-सामग्री स्वयं समाज के विभिन्न अंगों से प्राप्त और पंजीकृत वस्तु है। छात्र चूंकि किसी न किसी प्रकार के घर से अवश्य आता है, तो वह अपने साथ बहुत से सामाजिक मूल्यों को भी ले आता है, ऐसा छात्र शिक्षा व्यवस्था में अपनी छाप बिना छोड़े नहीं मानता। उदाहरण के लिए संपन्न परिवार का छात्र अपने अच्छे कपड़ों के अतिरिक्त संभ्रांत शब्द समूह तथा बोल-चाल का ढंग भी लाता है और ऐसे छात्रों के स्कूल अपने-आप अलग छंट जाते हैं। यह यदि समस्या है, तो शिक्षा की समस्या नहीं है, समाजविज्ञान की है। शिक्षा की अनेक समस्याओं के समाधान, जिन्हें हम शिक्षा में ही खोजते हैं वास्तव में समाजविज्ञान में मिलते हैं। शिक्षा-समाजविज्ञान हमें परिवार, राज्य, मूल्य, साथी, स्तर आदि के विषय में ज्ञान कराता है और शिक्षा-समाजविज्ञानी उनके द्वारा शिक्षा को समझने का प्रयत्न करता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान : शिक्षा-समाजविज्ञान की ही भांति यह भी आधुनिक युग की ही देन है। मनोविज्ञानियों में से फ्रायड, थार्नडाइक, युंग, पावलोव आदि ने शिक्षा को वे दिशाएं और गहराइयां प्रदान की हैं, जिनसे न केवल शिक्षण कला में, अपितु हमारी शैक्षिक जानकारी में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। मनोविज्ञान ने शिक्षा-जगत् को बताया है कि छात्रों में भिन्नता होती है और उसका आधार है बुद्धि, अभिरुचि, वातावरण तथा वंशानुक्रमण आदि। उसने यह भी बताया कि कोई व्यक्ति कैसे सीखता है और किस उम्र का आदमी कैसे सीखता है। यही नहीं कि हमारी ऊपरी मानसिकता अधूरी है, वरन् यह भी कि हमारा अर्धचेतन और सुषुप्त-चैतन्य भी हमारे जीवन को संचयित या असंचयित बनाने में सहायता देते हैं। किस प्रकार की कक्षा में और कितने छात्रों को एक साथ एक विषय पढ़ाना उचित रहता है––यह भी हमें मनोविज्ञान की एक ही शाखा बताती है। फलस्वरूप, शिक्षा की वैज्ञानिकता बहुत कुछ मनोविज्ञान की कृपा पर आश्रित है। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य सोने में सीख सकता है, या उसे अनौपचारिक ढंग से औपचारिक बातें सिखायी जा सकती हैं, तो शिक्षा में कितना बड़ा परिवर्तन आयेगा, इसकी कल्पना अभी से कर पाना कठिन है। वैसे यह मनोविज्ञान की ही कृपा है, जिससे बुद्धि-लब्धि का ज्ञान हुआ है और हमने बुद्धि-परीक्षण सीखा है। अभिरुचि के हिसाब से व्यवसाय दिलवाने का काम भी यहीं से आया है। अब स्वयं शिक्षा-मनोविज्ञान अनेक समूहों में बंट गया है, जैसे, बाल-मनोविज्ञान, किशोर-मनोविज्ञान, असामान्य-मनोविज्ञान, छात्र-सलाह-मनोविज्ञान, टेस्टिंग, प्रोग्राम्ड लर्निंग आदि। परिणामस्वरूप अब शिक्षा में मनोविज्ञान की सहायता के बिना एक पग भी रखना खतरे से खाली नहीं है।

शिक्षा-सांख्यिकी : आंकड़ों का प्रयोग प्राचीनकाल से ही होता चला आया है। कामसूत्र से लेकर नक्षत्रों के विषय में जानकारी प्राप्त करने तक मनुष्य आंकड़ों का सहारा लेता रहा है। आंकड़ों से एक ओर तथ्यों को समझाने में सुविधा रहती है, तो दूसरी ओर उन्हें कम समय और स्थान में बड़ी से बड़ी बात कहने के लिए काम में लाया जा सकता है। फिर इसमें हमारे युग की वस्तुनिष्ठा की कसौटी लगायी जा सकती है। यह है सांख्यिकी, जिसका शिक्षा में प्रयोग भारत के लिए 30 वर्ष से अधिक पुराना नहीं है, यद्यपि सरकारी दस्तावेजों के लिए इसका प्रयोग लगभग 250 वर्ष से हो रहा है। आज शिक्षा-सांख्यिकी की जानकारी के बिना या इसके प्रयोग के बिना शिक्षा में शोध-पत्र लिख पाना बहुत ही हेय माना जाने लगा है। इसका यह भी परिणाम हुआ है कि कई शोध-पत्र केवल सांख्यिकी के प्रयोग के कारण ही शोध विषय बन जाते हैं। कई विद्वानों का कथन है कि सांख्यिकी के द्वारा बड़ी सुविधा से भ्रम पैदा किया जा सकता है, जब कि इसका प्रमुख काम भ्रम को दूर करना ही है। उदाहरण के लिए, दो स्कूलों के परिणामों की तुलना हो रही है। एक स्कूल में 1,000 छात्र हैं और दूसरे में केवल 500। सांख्यिकी की सहायता से यह कहना सहज होगा कि इन दोनों के परिणाम 73 प्रतिशत रहे, जिससे भ्रम होगा कि दोनों स्कूलों के छात्रों की संख्या बराबर है। इस प्रकार के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, परंतु इससे सांख्यिकी की उपयोगिता संदिग्ध नहीं हो जाती।

शिक्षा का इतिहास

शिक्षा का इतिहास मानव-प्रगति का इतिहास है। यह मानव की उन इच्छाओं का परिणाम है, जिनसे वह प्रकृति पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहता था। शिक्षा का इतिहास मनुष्य की ज्ञान-पथ की यात्रा की दूरी बताता है कि वह कहां से चल कर कहां पहुंच गया है। यही उसके मनुष्यत्व का पशुओं से विभेद भी स्थापित कराता है। इसके इतिहास में सबसे अधिक योगदान भारत, चीन, जापान, यूनान, और मिस्र ने दिया है। इन्हीं देशों ने मनुष्य के ज्ञान की प्रथम सीमाओं को नापा, उसे एक से दूसरे तक पहुँचाने का प्रयत्न किया और आज के युग की समस्त उपलब्धियों को इस रूप में पहुंचाने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य निरंतर प्रगति करता रहा है। वह कभी-कभी अवनति के गढ़े में भी गिरा है, लेकिन पुनः उठ कर चला है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम कभी क्रमबद्ध तरीके से बढ़े हैं या गिरना और उठना स्वयं अपने में एक वैज्ञानिक सिद्धांत है। इसी प्रकार किसी भी देश को मानव की अधिकांश उपलब्धियों के लिए जिम्मेदार ठहराना घोर भ्रामक होगा। यदि हम इस बात को मानते हैं, या समझ गये हैं, तो यह भी समझना सहज होगा कि इतिहास राजाओं की जीवनगाथा ही नहीं, मानव-समाज की उपलब्धियों का और उसकी प्रगति का लेखा-जोखा है।

भारत में शिक्षा आज से सहस्रों वर्ष पूर्व आरंभ हो गयी थी और उसका जो स्वरूप हम तक आ पाया है, वह आश्चर्यजनक रूप में काफी विकसित है। वैसे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा-युग में भी शिक्षा की व्यवस्था रही ही होगी, अन्यथा नगर जीवन का इतना विकास कभी भी संभव न होता। वैदिक युगीन शिक्षा, जो 2,000 वर्ष ई० पू० से लेकर 1,000 ई० पू० तक के काल की चीज़ है, काफी हद तक धार्मिक ही रही होगी। इस शिक्षा का उद्देश्य वेदों को जीवित रखने की परंपरा के अतिरिक्त, समाज को कार्यों के नियमों तथा आचार-विचारों में ढालना भी रहा होगा। पर यह उद्देश्य केवल अटकल की बात है, हम सुनिश्चित ढंग से उसके विषय में कुछ भी नहीं कह सकते। विद्वानों का कथन है कि उस समय तक संस्कृत भाषा की कोई लिपि भी नहीं थी। इसलिए अध्यापन कार्य मौखिक ही रहा होगा और शायद कविता में वेदों का लिखा या कहा जाना भी इसी ओर संकेत करता है।

जैसे-जैसे ज्ञान का विकास हुआ, वेदों की व्याख्या आरंभ हो गयी तथा अन्य विषयों की उत्पत्ति हुई, पठन-पाठन का कार्य काफी औपचारिक ढंग से होने लगा। नगरों से दूर गुरुकुलों की स्थापना हुई और वेद-शिक्षण पारिवारिक परंपरा के रूप में बदल गया। इसका एक और भी परिणाम हुआ—आर्य जाति-व्यवस्था की ओर मुड़ने लगे। यह लगभग निश्चित है कि वेदों में जाति या वर्ण-व्यवस्था का केवल वर्णन ही है, उस पर अमल तो शताब्दियों बाद प्रारंभ हुआ होगा। प्राचीन शिक्षक या गुरु अपने जीवन-यापन के लिए राजाओं पर आश्रित रहते होंगे; क्योंकि इन लोगों का राज-दरबारों में जाना तथा राजाओं का

गुरुकुलों में जाना दोनों ही बातें काफी प्रचलित रही हैं और प्राचीन साहित्य इस बात की पुष्टि में अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना के समय आरण्यक लोग काफी व्यवस्थित हो गये होंगे और मनु को सामाजिक जीवन के नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी होगी। तब उसी समाज में उन नियमों का प्रतिरोध उत्पन्न हुआ होगा, जिसके फलस्वरूप बौद्ध और जैन धर्मों का जन्म हुआ। प्राच्य साहित्य के कई विद्वानों का मत है कि ये धर्म केवल जन-साधारण के विरोध के कारण नहीं, वरन् इसलिए सामने आये कि क्षत्रिय लोग बौद्धिक कार्यों पर से ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त कर देना चाहते थे। इन दोनों धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रिय थे और लगभग समकालीन थे। और यह तो निश्चित है कि मनु के नियमों ने समाज में समानता नहीं, असमानता पैदा की और धार्मिक पाखंड तथा रूढ़िवादिता पर मुहर लगा कर शोषणकारी समाज-व्यवस्था को मजबूत किया। मनु ने समाज में ब्राह्मणों को प्राथमिकता दी और अन्य जातियों या वर्णों को हेय घोषित किया। यहां तक कि अलग-अलग वर्णों के लिए उन्होंने अलग-अलग वस्त्र और मेखला पहनने की परिपाटी चलायी, और एक प्रकार से समाज में ब्राह्मणों की प्राथमिकता को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अनुशासन-हीनता के बीज भी बोये। उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा कि आपत्ति काल में ब्राह्मण किसी अब्राह्मण से शिक्षा तो ग्रहण कर सकता है, परंतु शिक्षा की समाप्ति पर आदर ब्राह्मण को ही मिलेगा, अब्राह्मण अध्यापक को नहीं। और स्त्रियों के लिए कहा कि पति की सेवा ही उनकी शिक्षा है। इस प्रकार के नियमों का पालन न संभव था और न हुआ। इसलिए हमें प्राचीनकाल में विदुषी स्त्रियों के नाम सुनने को मिलते हैं और अन्य वर्णों के अध्यापकों की कथाएं भी।

अनेक प्राचीन ग्रंथों में से उस समय की विद्याओं की सूची मिलती है और रामायण तथा महाभारत तो इन सब बातों के अगाध भंडार हैं। रामायण की अयोध्या विद्वानों के लिए प्रसिद्ध थी और महाभारत के राजदरबार वाक्चातुर्य और विद्वानों की श्रद्धा के लिए श्रेष्ठ माने जा सकते हैं। महाभारत में तो कण्व ऋषि के आश्रम का भी वर्णन है, जो मालिनी नदी के तट पर बना था, जिसमें अनेक विषयों और विद्याओं की पढ़ाई होती थी, और जहां पर राजाओं के विश्राम के लिए प्रबंध भी था। ऐसा आश्रम, जिसमें अनेक विषय पढ़ाये जाते हों तथा शोध होता हो, आज के किसी अच्छे विश्वविद्यालय से कम नहीं होगा। महाभारत का समाज, नगर, कलाएं और कौशल आदि किसी उच्च शिक्षा के प्रबंध के बिना जीवित नहीं रह सकते थे। इस विषय पर अनेक शोध-पत्र उपलब्ध हैं। यदि यह मान भी लिया जाये कि यह युग इन महाकाव्यों के आधार पर वर्णित होने के कारण केवल कल्पित ही है, तब भी उसका इतना सजीव वर्णन किसी न किसी वास्तविकता की ओर इशारा अवश्य करता है।

बौद्ध युग 600 ई० पू० के लगभग का है। उस समय तक तो न केवल ऐतिहासिक नगरों की स्थापना ही हो चुकी थी वरन् कई विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय भी बन गये थे। नालंदा, तक्षशिला तथा विक्रमशिला, वल्लभी आदि विश्वविद्यालय उसी युग के गौरव की यशोगाथा गाते हैं। इसमें प्रायः प्रवेश के समय परीक्षा ली जाती है और अध्यापन बोलचाल की भाषा में होता है। यहां तर्क का विकास किया गया और संघ तथा विहार, जो बाद में अपने सामाजिक स्तर से गिर गये, बौद्ध शिक्षा के केंद्र बने। महात्मा बुद्ध के जीवन से संबंधित जातक कथाएं उस युग के सामान्य जीवन का बड़ा ही सजीव चित्र पेश करती हैं।

बौद्ध युग ने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान दिये हैं, जैसे (1) मातृ-भाषा में शिक्षण, (2) शिक्षा को जन साधारण तक पहुंचाना, (3) तर्क से आस्था पर विजय पाना, (4) विश्वविद्यालय, और (5) शाकाहारी भोजन। इसी समय भारत में अनेक बौद्ध विद्वानों का जन्म हुआ, अध्यापकों को कोटियों में बांटा गया और पढ़ाने के लिए जीवन-भर पढ़ते रहने की परंपरा डाली गयी। कई अर्थों में मध्ययुगीन चर्च यूरोप में जो न कर पाये, वह इन्होंने कर दिखाया। यह भी कहा जा सकता है कि यह काल भारत का रिनेसा (पुनर्जागरण) और सुधार का काल था। परंतु जब इस व्यवस्था का पतन हुआ, जिसमें उसे लगभग 700 वर्ष लगे, तब फिर उसके उत्थान की संभावनाएं भी पूर्णरूपेण समाप्त हो गयीं।

बौद्धकाल में ब्राह्मण-शिक्षा और धर्म को केवल धक्का ही लगा था, समाप्त नहीं हुए थे, इसलिए अवसर पाते ही वे फिर उभर आये। एक बार पुनः संस्कृत भाषा की स्थापना हुई, ब्राह्मण धर्म उभरा और बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे लुप्त होता

चला गया। ब्राह्मण युग का पुनर्जीवन और उत्थान तथा भारत का लगभग 600 वर्ष का शांतिकाल अपनी धरोहर के रूप में अनेक विशिष्टताएं प्रदान कर गया। ऐसा नहीं कि यह काल पूरी तरह शांत ही रहा; क्योंकि इसमें कई विदेशी आक्रमण भी हुए, परंतु उन सबमें भारत का ही पलड़ा भारी रहा। इसलिए भी ब्राह्मणों को एक और अवसर मिला कि वे भारत को अपनी कुछ देन दे जायें। उनकी देन है––साहित्य का विकास, शास्त्रों का जन्म, भाषा का लेखन, नये नगरों की स्थापना, व्याकरण का अध्यापन, वेदपाठ की परंपराएं, गुरुकुल आदि। ऐसा नहीं है कि इस युग में सभी कुछ अच्छा ही हुआ, ब्राह्मणों ने कई भूलें भी कीं, पर कुल मिलाकर यह युग भारत के लिए काफी रचनात्मक रहा।

इतिहास के अध्यापन में जो याद रखने की बात है, वह है समाज की निरंतरता और राजनैतिक जीवन से उसका बाह्य संबंध। यदि समाज का रूप बदल भी जाये, तब भी उसका आंतरिक रूप लगभग अपरिवर्तित रहता है। इसलिए भारतीय इतिहास ने मुस्लिम आक्रमणों के समय से जो मोड़ लिया, वह काफी अंशों तक बाह्य परिवर्तन था; क्योंकि भारतीय जीवन अंतरतम में उन्हीं पुरानी परंपराओं के अनुरूप अबाधगति से चलता रहा, जैसे पहले चलता था। यह बात शिक्षा-इतिहास के विद्यार्थी को नहीं भूलनी चाहिए।

मुस्लिम युग, जो साथ-साथ शायद राजपूत युग भी कहा जा सकता है; क्योंकि इसमें एक के उत्थान और दूसरे के पतन की कहानी छिपी है, शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। मुसलमानों के आगमन से दो विदेशी भाषाएं––अरबी और फारसी आयीं। विदेशी विद्वानों का भारत में सम्मान बढ़ा तथा संस्कृत और ब्राह्मण पृष्ठभूमि में डाल दिये गये। इस्लाम के साथ दो प्रकार के स्कूल भी आये––प्राथमिक शिक्षा के लिए मकतब और उच्च शिक्षा के लिए मदरसे। मकतबों में शिक्षा मुल्ला देता था, जो बालक के चार वर्ष चार माह चार दिन के होने पर प्रारंभ होती थी। यह खासी धार्मिक शिक्षा होती थी। मदरसों में धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त (अर्थात् हदीस, कुरान शरीफ आदि के अलावा) कानून, यूनानी हिकमत आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। ये मदरसे काफी मशहूर थे और इनमें बड़ी दूर-दूर से लोग पढ़ने और पढ़ाने आते थे। राजा तथा अमीर (राजघराने तथा उच्च वर्ग के लोग) इन मदरसों को पैसा देकर सहायता करना अच्छा काम समझते थे। परंतु, चूंकि मुसलमान नगरवासी थे और इन मदरसों में विदेशी भाषा के माध्यम से इस्लाम की भी अनेक बातें पढ़ायी जाती थीं और विदेशी विद्वानों को ही अधिक प्रश्रय मिलता था, हिंदू इस व्यवस्था से दूर हट गये। हर राजा अपना अलग मदरसा खोलता था, इसलिए पुराने के स्थान पर नया मदरसा बनना एक साधारण बात बन गयी थी। अर्थात् राज्य शिक्षा के लिए पैसे तो खर्च करता था, पर उसका न स्थायी प्रबंध था और न जन कल्याण जैसा उद्देश्य ही। काफी हद तक इसका उद्देश्य राजाओं के अहम् की संतुष्टि था।

इस युग में हिंदू विद्वानों को प्रश्रय राजपूत राजाओं ने दिया, परंतु वह उन्हें केवल जीवित रखने के लिए तो ठीक था, उस शिक्षा-व्यवस्था को स्थायित्व दिलाने या चलाने के लिए अपूर्ण था। फिर कुछ समय बाद स्वयं राजपूतों ने अरबी और फारसी सीखनी प्रारंभ की और आवश्यकता-वश वे भी शिक्षा की ओर मुड़ गये।

अनेक विदेशी विद्वानों का मत है कि मुस्लिम युग शिक्षा के लिए बहुत अच्छा युग नहीं कहा जा सकता। इसमें नयी व्यवस्था तो आयी, परंतु इसमें पहले जैसी व्यापकता तथा औदार्य की कमी थी। फिर राजकुमारों तक के अध्यापकों को भूगोल और राजनीति का ज्ञान नहीं होता था। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि जब राजाओं के अध्यापक ही ऐसे थे, तो अन्य अध्यापक तो और ही खराब रहे होंगे। संभव है, यह निष्कर्ष सही हो, परंतु हम उस युग की आज के युग से तुलना नहीं कर सकते और उस समय की खराबियों को केवल इसलिए बुरा नहीं कह सकते कि हम उन्हें आज बुरा समझते हैं। वैसे यह सही है कि चाहे वह शिक्षा वेदकालीन स्थिति से खराब रही हो, परंतु उस युग की शिक्षा-व्यवस्था अपने युग की आवश्यक-ताओं को देखते हुए पर्याप्त थी। कला-कौशल दिखाने के लिए कारखाने थे और विद्वता का प्रदर्शन करने के लिए राजदरबार थे। फिर हमें यह भी सोचना चाहिए कि विदेशी शासक को विजित राष्ट्र का नागरिक बनने में कितना समय लगता है। निस्संदेह मुसलमानों ने इस काम में कम समय लिया और अकबर के काल में तो हिंदू भी इस शिक्षा की ओर बढ़ गये।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत की राजनैतिक स्थिति काफी खराब हो गयी थी। मराठों के आक्रमण, विदेशियों की लूट, नादिरशाह तथा अब्दाली के अत्याचार भारत को पूरी तरह से तो कमजोर नहीं कर पाये, पर स्थानीय राज-तंत्र के दुर्बल होने पर भारत की नींव जरूर हिल गयी। फल-स्वरूप एक बार फिर भारत ने विदेशी शासन स्वीकार कर लिया, परंतु यह विदेशी कभी भारतीय नहीं बन पाये और उनका शासनकाल भारत के लिए निरंतर शोषण, अत्याचार और उत्पीड़न का ही रहा।

अंग्रेजों के आगमन से भारत में शिक्षा का एक नया युग शुरू हुआ। अंग्रेज भारत में इसलिए आये कि उन्हें व्यापार करना था। उनके मार्ग में स्पेन और पुर्तगाल बाधक थे, जो उन्हें यूरोप तक के व्यापार में पछाड़ देते थे। दूसरी बात यह थी कि उस समय इंगलैंड में आबादी की समस्या थी और इस समस्या का हल केवल विस्तार था। तीसरी बात यह थी कि यूरोप में, विशेष रूप से इंगलैंड में, सोने की कमी थी और इस समय अंग्रेज व्यापारी बिना बुलियन के काफी कष्ट में था। सोने की प्राप्ति के लिए वह तस्करी को बढ़ावा दे सकता था और राजा या रानी की आज्ञाओं तक की अवहेलना कर सकता था। चौथी बात यह कही जाती है कि उन्हें मुसलमानों (मूर) से घृणा थी और वे उन्हें बरबाद करना चाहते थे। शेष बातें इतिहास की हैं, शिक्षा के इतिहास की नहीं।

अंग्रेजों ने भारत का शासन अपने हाथों में लेने के बाद एक नयी शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया। यह शिक्षा-प्रणाली अंग्रेजी भाषा में पनपी (जैसे हर शासक की भाषा पनपती है) और मूल भारतीय विश्वविद्यालयों से भिन्न कालेज और विश्वविद्यालय बने, जिनमें साहित्य, विज्ञान, कृषि वकालत और डाक्टरी की पढ़ाई की व्यवस्था हुई। शासन को मजबूत करने के लिए भारत में रेल आयी और उसके फलस्वरूप हमारे यहां इंजीनियरिंग की शिक्षा पनपी। मजदूर-वर्ग उत्पन्न हुआ और मध्यवर्ग के बाबुओं की जमात भी उठ खड़ी हुई। यह अलग बात है कि अधिकांश बाबू कायस्थ या ब्राह्मण ही थे; क्योंकि मुसलमान काल में ये ही लोग राज्य के छोटे-मोटे कारोबार देखा करते थे। राजनैतिक आंदोलनों ने लोगों को उकसाया और राष्ट्रीय भावना को उभारा। तब राष्ट्रीय शिक्षा की भी बात चली और लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रीय स्कूल प्रारंभ किये।

इस काल की शिक्षा की सबसे विशेष बात है कि इस शिक्षा के प्रचार-प्रसार में स्वयं भारतीयों ने योग दिया। स्वयं भारतीयों ने चंदे से स्कूल खोले, अंग्रेजी पढ़ी और नये जीवन की ओर कदम बढ़ाये। यदि इस कार्य को अंग्रेजों ने मान्यता प्रदान की, तो श्रेय उन्हें नहीं, भारतीयों को ही मिलना चाहिए। इस समय की कई भ्रामक बातें भारतीय शिक्षा के इतिहास में घर कर गयी हैं, जैसे: (1) यदि मैकाले अंग्रेजी के लिए अपनी वकालत न करता, तो अंग्रेजी न आती, (2) अंग्रेजों ने भारत को औद्योगिक शिक्षा नहीं दी, (3) भारत के आधुनिकीकरण के लिए अंग्रेजों का आगमन बड़ा ही हितकारी रहा, (4) यदि अंग्रेज यहां न आते, तो भारत कभी भी एक प्रभुसत्तापूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र नहीं बन सकता था, (5) वर्तमान भारतीय शिक्षा का मूल अंग्रेजों की शिक्षा-व्यवस्था है, (6) अंग्रेजों ने भारत को अपने प्राचीन गौरव की ओर उन्मुख किया, (7) उन्होंने हमें इतिहास को लिखने के वैज्ञानिक आधार दिये, (8) उन्होंने एक "डाउन फिल्ट्रेशन" नामक सिद्धांत को जन्म दिया, जिसके अनुसार यदि भारतीय उच्च वर्ग को शिक्षा दे दी जाये, तो निम्न वर्ग उनसे खुद ही शिक्षा ग्रहण कर लेगा, आदि।

वस्तुस्थिति यह है कि यदि अंग्रेज भारत पर अपना शासन न करते, तो जापान और थाईलैंड की भांति वह स्वतंत्र रह कर अति शीघ्रता से आधुनिक हो सकता था। अंग्रेजी शासन का विकल्प पुर्तगाल या फ्रांस का शासन नहीं, स्वतंत्रता है। शिक्षा के इतिहास के लेखक शिक्षा के विकास में भारतीयों के योगदान को कम महत्त्व देते हैं। वे भूल जाते हैं कि जिस उच्च बुद्धिजीवी वर्ग (ब्राह्मण और कायस्थ) ने हिंदुओं की ओर से मुगलों के शासनकाल तक में मान्यता प्राप्त कर ली, अपने भीतरी और बाह्य मूल्यों में भेद कर डाला, वह अंग्रेजों के काल में भी पीछे नहीं रहा। यदि अंग्रेज उनके लिए स्कूल नहीं खोल पाये तो उन्होंने स्वयं खोल लिये। उनकी अपनी जातिगत शिक्षा पर निर्भरता एक और कारण से भी थी कि उनका न तो व्यापार से कोई संबंध था और न खेती से ही। उन्होंने पढ़ना था वे पढ़ गये। उसमें न अंग्रेजों ने कोई योगदान दिया और न वे उनकी कृपा पर ही रहे। स्मरण रहे, अंग्रेजी शासनकाल में सरकारी स्कूलों की संख्या से कई गुणी संख्या प्राइवेट या निजी स्कूलों की थी। उन्हें सरकार ने मान्यता

दी थी और थोड़ी-सी आर्थिक सहायता। शेष काम उनका अपना था। हिंदू और मुस्लिम पुनर्जागरण के नाम पर बनी ये संस्थाएं शिक्षा में विशेष रूप से रुचि भी रखती थीं।

उपनिवेशवाद की विशेषता है कि वह शिक्षा को तब तक पनपने नहीं देता जब तक मजबूरी ही न हो जाये। यह प्रत्येक उपनिवेश के इतिहास में देखा जा सकता है। फलस्वरूप जब भारत में राजनैतिक गतिविधियां प्रारंभ हुईं, मजदूर वर्ग आया और विशेष रूप से तिलक और उनके बाद गांधीजी जब राजनीति के मंच पर आये, शिक्षा के प्रति उनकी व्यापक सहानुभूति होनी स्वाभाविक ही थी। इस प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा के लिए जो आंदोलन हुआ, वह होना ही था। इसमें कहीं भी अंग्रेजों की कृपा दिखलायी नहीं पड़ती। उन्होंने तो केवल बाधाएं उत्पन्न कीं। मुसलमानों को उकसाकर, उनके लिए राजतंत्र में विशेष सुविधाएं देकर तथा उनकी स्कूली शिक्षा में खासा योगदान देकर उन्होंने उनकी आबादी की अपेक्षा अधिक पढ़ाया। हिंदुओं ने अपनी शिक्षा की व्यवस्था लगभग स्वयं ही की और मुहम्मद अली जिन्ना ने तो यहां तक कहा कि गांधी जी की शिक्षा केवल हिंदुओं के लिए है, हिंदुओं की जड़ मजबूत करने और इस्लाम की संस्कृति को समाप्त करने के लिए है।

आधुनिक भारतीय शिक्षा का सारा श्रेय अंग्रेजों को देने वालों को यह देखना चाहिए कि जब अंग्रेज भारत से गये, वे यहां केवल 11 विश्वविद्यालय तथा 8 प्रतिशत साक्षरता छोड़ गये थे। केवल मैसूर, बड़ौदा और कुछ अंश में हैदराबाद राज्यों को छोड़कर भारत के देशी राजाओं के राज्यों में शिक्षा की दशा घोर निराशाजनक थी। अंग्रेज शिक्षा के नाम पर हमें नौकरशाही और औपनिवेशिक गुलामी की मानसिकता दे गये। साथ ही उन्होंने अपनी शिक्षा के साथ ईसाई धर्म की जड़ें भी जमाने की कोशिश की। भारत को हमेशा गुलाम बनाये रखने के लिए उन्होंने जन-सामान्य की शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान दिया।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा

सार्जेंट प्लान और वुड एबट रिपोर्ट की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर नये भारत ने शिक्षा की ओर अपने कदम बढ़ाये। योजनाएं बनीं और शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने के लिए कई बड़े महत्त्वपूर्ण आयोग नियुक्त किये गये, जैसे मुदालियर आयोग और डाक्टर राधाकृष्णन आयोग––पहला माध्यमिक शिक्षा के लिए और दूसरा विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए। योजना आयोग ने शिक्षा को राष्ट्रीय उत्पादन और आधुनिकता से जोड़ा और भारतीय संविधान में एक निश्चित अवधि में अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की। इस प्रकार भारत ने शिक्षा को एक नया मोड़ दिया। विश्वविद्यालयों की शिक्षा को ठीक करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान बनाया और माध्यमिक शिक्षा तक के सुधार और विकास के लिए राष्ट्रीय शैक्षणिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान परिषद् की स्थापना की, जिसका प्रमुख काम अच्छे अध्यापक तैयार करना, अच्छी पाठ्य-पुस्तक बनाना और पढ़ने के लिए अच्छी सहायक सामग्री का उत्पादन करना आदि है। अध्यापकों तक नया ज्ञान पहुंचाने तथा शिक्षा में शोध-कार्य करने के लिए भी यही संस्था उत्तरदायी है।

स्वातंत्र्योत्तर शिक्षा की विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

(1) हरिजनों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। उन्हें पढ़ाने के लिए विशेष प्रबंध किया गया तथा आर्थिक-सहायता भी दी गयी।

(2) प्रौढ़ शिक्षा के लिए भारी मात्रा में आर्थिक अनुदान की व्यवस्था की गयी।

(3) माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सुधार किये गये तथा उसमें वैविध्य लाने का प्रयत्न किया गया।

(4) शिक्षक-प्रशिक्षण का सुधार और विकास किया गया तथा भाषा (अंग्रेजी और हिंदी) के अध्यापकों के लिए अलग संस्थाएं खोली गयीं।

(5) अल्पसंख्यकों के स्कूलों को विशेष सुरक्षा एवं अनुदान आदि प्रदान किया गया।

(6) अनेक राज्यों में निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू की गयी और लड़कियों की शिक्षा को भी निःशुल्क किया गया।

शिक्षा में कई प्रयोग भी हुए, जैसे, बहुउद्देश्यीय स्कूल खोलना, माध्यमिक शिक्षा को उच्चतर माध्यमिक बनाना, तथा बी० ए० को तीन वर्ष का करना, परीक्षा में सुधार आदि। राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संस्थाओं को जन्म दिया गया, ताकि वे वह काम कर पायें, जो विश्वविद्यालय नहीं

कर सकते, जैसे अनेक विषयों में शोध-कार्य, जो विशेष रूप से व्यावहारिक हो और जिनमें आदमियों और धन—— दोनों की ही काफी आवश्यकता हो। इन संस्थाओं के नाम हैं इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मैनपावर रिसर्च, कौंसिल आफ इंडस्ट्रियल साइंटिफिक रिसर्च, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मास कम्यूनिकेशन आदि। सर्वोच्च स्तर पर कुछ संस्थाएं संसद के काम, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, विदेशी भाषाओं का शिक्षण, उच्चस्तरीय शोध, आंकड़ों का संकलन आदि कर रही हैं। उनमें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का नाम प्रमुख है और बहुत कुछ यहीं हो भी रहा है।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हमने सभी कुछ करा लिया है, जो करना था। अभी भी कई समस्याएं हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं :

(1) निःशुल्क शिक्षा पूरी तरह से लागू नहीं हो पायी है और उसकी सफलता में अनेक बाधाएं हैं जिन्हें सरकार बिना सामाजिक सहयोग के दूर नहीं कर सकती।

(2) प्रौढ़-शिक्षण का कार्य काफी पिछड़ा हुआ है और यह केवल वृद्ध योजना तथा जन-आंदोलन द्वारा ही सफलता प्राप्त कर सकता है। कई राज्यों में इसको सफलता भी मिली है, परंतु हर स्थान पर नहीं।

(3) भारतीय अध्यापक का वेतनमान बढ़ गया है, पर शैक्षिक स्तर काफी गिरा हुआ है। इसके लिए भी व्यापक कदम उठाने की आवश्यकता है।

(4) माध्यमिक शिक्षा का वैविध्य सफल नहीं हो पाया है, अभी भी एक ही प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था है और धनी परिवारों के बच्चे ही हर प्रकार की सुविधा का लाभ उठा पाते हैं और वे ही सफलता पा रहे हैं।

(5) हरिजन अपनी सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। उन्हें अभी भी बहुत कुछ करना है, जिसे सरकार नहीं कर सकती। शताब्दियों के अंधकार से उनका निकल पाना साधारण काम नहीं है। इसमें उन्हें ही काफी कुछ करना पड़ेगा।

(6) भाषा-विवाद का सही हल संवैधानिक नहीं है, इसलिए यह समस्या अभी भी बनी हुई है। अंग्रेजी का प्रचार उसमें निहित गुणों के कारण नहीं, वर्ग-भेद की भावना को बनाये रखने तथा उससे अनजान लोगों के विरुद्ध हथियार की भांति उठाने के लिए हुआ है।

(7) शिक्षा केवल नौकरी प्राप्त करने का साधन नहीं है, वह समाज का मानसिक स्तर ऊपर उठाती है और मनुष्य का जीवन भी अधिक आनंददायक और सुरुचिपूर्ण बनाती है। लेकिन इस बात को अभी हमारे यहां समझा नहीं गया है।

शारीरिक शिक्षा : स्वतंत्रता के पश्चात् सरकार ने शारीरिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। इसके कई कारण थे। सामान्य छात्र अपौष्टिक आहार के कारण अपने शरीर की ओर कम ही ध्यान दे पाते हैं। विश्व के शारीरिक स्तरमान मे भारतीय काफी पिछड़े हुए हैं। विश्व खेलकूद में हाकी को छोड़ कर हमारा कहीं कोई अन्य स्थान नहीं है। इसलिए अच्छे खिलाड़ी को प्रोत्साहन से लेकर प्रशिक्षण तक की सुविधा का प्रबंध भी राज्य-स्तर पर करना आवश्यक है। केंद्र तथा राज्य सरकारों ने स्पोर्ट्स कौंसिल की स्थापना करके इस दिशा में पहला कदम उठाया। छात्र-छात्राओं के लिए एन० सी० सी० (तीनों प्रकार की नभ, जल, थल) का व्यापक प्रबंध करके उन्हें अनुशासित करने का प्रयत्न किया गया। केंद्र तथा प्रत्येक राज्य में अपना स्टेडियम बनाकर खेलों को प्रोत्साहन दिया गया है और राज्यों ने आपसी प्रतियोगिताएं कराकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया है। पटियाला में शारीरिक शिक्षा का काफी अच्छा प्रबंध है। प्रत्येक वर्ष के सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ियों को अर्जुन पुरस्कार देकर खेलों को प्रतिष्ठित किया गया है। राष्ट्रीय तथा राज्यों के स्तर पर ही अनेक निजी क्लबों को सहायता देकर भी सरकार ने इस ओर कुछ प्रयत्न किया है। इसमें काफी धनराशि लगायी जाती है। विदेशों से अच्छे-अच्छे सिखाने वाले बुलाये जाते हैं तथा भारतीयों को विदेशों में खेलने का अवसर भी दिया जाता है। भारत ने क्रिकेट, बिलियर्ड, हाकी, पोलो और टेनिस में काफी नाम कमाया है। परंतु अभी भी शारीरिक प्रशिक्षण या अंतर्राष्ट्रीय खेलकूद के स्तर से हम काफी दूर हैं। इस क्षेत्र को यदि कुछ लोग अपने हितों का अड्डा या साधन न बनायें, तो भारत भी नये कीर्तिमान स्थापित करने की स्थिति में आ गया है।

विदेशों में शिक्षा

यदि शिक्षा-पद्धतियों का वर्गीकरण किया जाये तो

यह देखकर आश्चर्य होगा कि आज विश्व में केवल चार या पांच प्रकार की पद्धतियां ही हैं। एक तो वे जो विजेता राष्ट्रों ने विजितों को दी हैं—जैसे, अमरीकी, अंग्रेजी, रूसी, फ्रांसीसी और जर्मन पद्धतियां; दूसरी वे जो इनमें से किसी एक के प्रभाव में आकर स्वेच्छा से अपनायी गयी हैं; तीसरी वे जो अपने स्वर्णिम अतीत को दुबारा लौटाने के विचार से चलायी जा रही हैं और जिनमें कुछ आधुनिक तत्व इसलिए मिला लिये गये हैं कि उनके बिना वर्तमान में रहना काफी कठिन होगा; चौथी वे जो राजनैतिक विचारों के आधार पर वर्गीकृत हों, जैसे, कम्युनिस्ट या स्वतंत्र या राजतंत्र आदि। यह वर्गीकरण उतना ही कमजोर है जितना रक्त के आधार पर मनुष्य का वर्गीकरण। वास्तव में हर देश का अपना जीवन-दर्शन होता है और कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र से तब तक प्रभावित होने के लिए तैयार नहीं होता, जब तक वह मजबूर न हो जाये। यह मजबूरी पराजय की भी हो सकती है, व्यापार के नियंत्रण की भी और आर्थिक गुटबंदी की भी।

आज का विश्व तीन शक्तियों द्वारा चालित है—रूस, अमरीका और चीन। ये राष्ट्र किसी न किसी रूप में अपनी प्रभुसत्ता जमाये रखने के लिए अनेक प्रकार के दांव-पेंच करते रहते हैं, चाहे ये दांवपेंच सीधे राजनीति में हस्तक्षेप के द्वारा हों, चाहे सांस्कृतिक या व्यापारिक सहयोग के नाम पर। शिक्षा किसी भी राष्ट्र को सबसे शीघ्र प्रभावित करने वाला साधन है, लेकिन साथ ही यह राष्ट्र का इतना कोमल अंग है कि इस पर भारी प्रभाव भी जल्दी पड़ते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से दक्षिण-पूर्व एशिया के राष्ट्र चीन से प्रभावित रहे हैं, यद्यपि 1949 तक चीन काफी कमजोर राष्ट्र था। यहां पर दूसरी शक्ति अमरीका रही है, जो 1898 के लगभग एकाएक उपनिवेशवादी शक्ति के रूप में उभर कर आयी। तीसरी शक्ति जापान की रही है, जिसने पश्चिम से सीख कर उसी के हथियारों से पश्चिम को पीटा है और आज फिर एक बार इस क्षेत्र में काफी शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरा है। जापान और थाईलैंड को छोड़कर इस इलाके में प्रायः सभी राष्ट्र उपनिवेशवाद के शिकार रहे हैं। लेकिन जापान का अछूता इतिहास अमरीकियों ने खराब कर डाला, और एक प्रकार से थाईलैंड ही एकमात्र एशियाई देश है, जिसे किसी विदेशी शक्ति ने नहीं छेड़ा।

ध्यान देने की एक बात और भी है कि ये सभी देश किसी न किसी रूप में बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे हैं। चीन स्वयं कभी बौद्ध रहा है, थाई देश, बर्मा, कंबोडिया, वियतनाम, जापान आदि देश आज भी बौद्ध हैं, यद्यपि इनका धर्म भारतीय बौद्ध धर्म से कुछ भिन्न है। इन देशों में बौद्ध धर्म भारत से गया, साथ ही साथ हिंदू धर्म के प्रभाव भी गये—रामायण भी गयी, संस्कृत भी गयी। पर भारत का राजनैतिक संबंध इन राष्ट्रों से लगभग नहीं के बराबर रहा है। इसलिए भी कि भारत स्वयं उपनिवेशवाद की दासता में काफी दिन रहा। विदेशी गुलामी ने इस देश को राजनैतिक दृष्टि से ऊपर उठने का मौका ही नहीं दिया। फिर शायद इस देश के अभिमान और आपसी बैर-भाव ने भी इसे विदेशों में पैर नहीं जमाने दिये।

क्या विदेशी शिक्षा-प्रणाली से कुछ सीखा जा सकता है? यह प्रश्न अनेक लोगों को सालता रहा है, परंतु यह सही है कि कुछ न कुछ हम अन्य देशों से सदैव सीख सकते हैं और जिन्होंने दूसरों से सीखने में तत्परता दिखायी है वे शीघ्र ही आगे भी निकल गये हैं। यह बात ध्यान में रखने की है कि निरर्थक अतीत-स्मरण राष्ट्र को पतन की ओर ले जाता है। हमें भविष्य की ओर देखना चाहिए और प्रेरणा के लिए भविष्य को ही आदर्श भी मानना चाहिए। यही बात शायद वे राष्ट्र हमें सिखाते हैं, जिन्होंने इतिहास में स्थान पाया है।

चीनी शिक्षा-प्रणाली : इस प्रसंग में हम सबसे पहले चीन को लेते हैं। चीन का महत्त्व आज इतना है कि अमरीका जैसा शक्तिशाली राष्ट्र भी उसकी शर्तों के सामने झुकने को विवश है। एक अमरीकी राष्ट्रपति ने चीन-यात्रा के बाद घोषणा की कि वे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के पश्चात् अपनी चीन यात्रा के दौरे से लौटे हैं और विश्व-इतिहास ने नयी करवट ली है। भारत के लिए चीन की शिक्षा-प्रणाली का महत्त्व इसलिए है कि चीन भी भारत की तरह विस्तृत भू-भाग, विशाल जनसंख्या और प्राचीन परंपराओंवाला देश रहा है, भारत में भी सामंतवाद और पूंजीवाद की लगभग वे ही स्थितियां रही हैं, जो चीन में थीं। किंतु, चीन में, शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी परिवर्तन आये उनसे भारत बहुत दूर है।

पिछले दो वर्षों में चीन की सांस्कृतिक क्रांति ने काफी

परिवर्तन कर डाले हैं। इसलिए हमें जानना चाहिए कि चीन का शिक्षातंत्र कैसा है, जो आज उसे महान शक्ति के रूप में उभारने में सफल हो गया है।

चीन का इतिहास 4,000 वर्ष पुराना है, उसकी लिपि भी उतनी ही पुरानी है और इस समस्त राज्यकाल में उसका राजतंत्र केवल नौ बार ही बदला है। परंतु एक शक्ति चीन को निरंतर एकसूत्र में बांधे रही है। वह है उसकी भाषा, उसकी नौकरशाही वर्ग (मेंडारिन क्लास), पीकिंग के राजा में उसका विश्वास और चीनवासियों में चीनी होने का गौरव। आज का चीन बदल चुका है। चीन पर पहले-पहल अमरीकी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव 1911 के आस-पास सन यात सेन के युग में प्रारंभ हुआ और कुओमिनतांग के समय तक चला। फलस्वरूप चीनी स्कूली-व्यवस्था अब भी अमरीकियों से मिलती-जुलती है और उसके नाम भी वैसे ही हैं।

माओ के शिक्षा-दर्शन ने सिद्धांत और व्यवहार को एक सूत्र में बांध दिया। उन्होंने कहा कि चीन की संस्कृति और शिक्षा नये प्रतिमानों में ढाली जानी चाहिए। इन परिवर्तनों की सबसे प्रथम कड़ी है चीनी भाषा में सुधार। सत्तर करोड़ चीनी लोग एक ही भाषा सदैव से लिखते रहे हैं पर उनके बोलने में काफी अंतर रहा है। 1957 में साठ वर्षों के अनुभवों से लाभ उठाकर चीन में लिपि-सुधार हुआ। चीनी भाषा के चित्रात्मक लेखन की कठिनाई को ध्यान में रखकर ये सुधार किये गये, परंतु ये सुधार इस प्रकार के नहीं हैं कि किसी पुराने पढ़े-लिखे आदमी को कष्ट दें। उन्होंने लेखन-कार्य आसान कर दिया है और पढ़ना भी, अन्यथा पहले छात्रों को यह लिपि सिखाने में ही काफी समय लगता था। चीनी भाषा की चित्रात्मक शब्दावली 42,174 से घटकर अब 5000 रह गयी है और उसे लिखना भी आसान हो गया है। इसे भाषा का रोमनीकरण कहते हैं। इस कारण चीन में अब पढ़ना (साक्षरता) आसान हो गया है और चीनी लोगों ने निरक्षरता से छुटकारा प्राप्त कर लिया है।

चीन में प्राथमिक शिक्षा 7 वर्ष की आयु से प्रारंभ होती है। इस शिक्षा को प्राप्त करने के लिए छात्र बाध्य नहीं हैं, पर वे सभी पढ़ने जाते अवश्य हैं; क्योंकि पढ़ना गौरव की बात है। इस स्तर पर पढ़ाई का भार कम है और काम भी आसान है। इसका कारण यह है उनकी दृष्टि से बच्चों के लिए बोझिल पढ़ाई हानिकारक रहती है।

माध्यमिक शिक्षा तीन प्रकार की है : (1) साधारण माध्यमिक स्कूल, (2) औद्योगिक और पेशेवालों के लिए, और (3) नारमल स्कूल। तीसरे प्रकार के स्कूलों में औद्योगिक लोग या अध्यापकों की ट्रेनिंग होती है। साधारण माध्यमिक स्कूल काफी हद तक पढ़ंतू बच्चों के लिए रहे हैं और विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए एकमात्र मार्ग भी ये ही हैं।

परंतु पिछले दिनों हुई सांस्कृतिक क्रांति ने इस शिक्षा में कई परिवर्तन ला दिये हैं। विश्वविद्यालयों का एकांत जीवन समाप्त कर दिया गया है। हरेक को सिद्ध करना है कि वह सैद्धांतिक नहीं, व्यावहारिक कार्यकर्ता है और उसके लिए वे व्यावहारिक कार्य आवश्यक भी हैं। विश्वविद्यालयों में कौन पढ़े इसका निर्णय मजदूर करते हैं।

जापानी शिक्षा-प्रणाली : युद्ध के बाद जब अमरीकियों का कब्जा हो गया तो उन्होंने जापान में अनेक परिवर्तन किये। वैसे जापान 1868 के बाद से अर्थात् मीजी शासन की स्थापना के बाद से ही आधुनिक होने लगा था। उसने अपने विद्वानों को विदेशों में भेजा और सम्राट् के आदेश पर समस्त पाश्चात्य ज्ञान को जापानी भाषा में रूपांतरित किया। यह काम उन्होंने अमरीकी नाविकों की धमकी तथा व्यापार के लिए बंदरगाहों को जबरदस्ती खोलने की प्रतिक्रिया के रूप में किया। उस समय तक जापान मध्य युग में था और वहां पर सामुराई (योद्धाओं) वर्ग का राज्य था। सम्राट् था, उसे सम्मान भी प्राप्त था, पर अधिकार नाममात्र को ही थे। अमरीकी जबरदस्ती के कारण जापान के टोकूगावा लोगों ने स्वेच्छा से मीजी सम्राट् को स्थापित किया। उन्होंने आधुनिकीकरण की कुंजी शिक्षा मानी और पश्चिम को आदर्श माना। उन्हीं के हथियारों और ज्ञान से जापान ने चीन तथा रूस को हराया, मंचुरिया, फारमुसा और कोरिया पर अधिकार किया और एशिया का पहला साम्राज्यवादी राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त किया। जापानियों की विशेषता यह है कि उन्हें अपने राष्ट्र से बहुत प्रेम है और उस पर गर्व है। वे सम्राट् का आदर करते हैं और बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार रहते हैं।

परंतु आज का जापान काफी भिन्न है। व्यापार के क्षेत्र में आज विश्व में उसका तीसरा स्थान है और उसका

दावा है कि वह अगले 10 वर्षों में प्रथम स्थान पर आ जायेगा। जापान ने अमरीका से पूरी मुक्ति नहीं पायी है, परंतु अमरीका के विरुद्ध वहां काफी बड़ा जनमत है। आज के जापान पर अमरीकी शिक्षा-पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है, यद्यपि उन्होंने 1868 के बाद किये गये सुधारों को भी एक दम समाप्त नहीं किया है। वहां जर्मन सैनिकवाद नहीं के बराबर है, परंतु फ्रांसीसी विश्वविद्यालयीय इलाके अवश्य हैं। जापानी शिक्षा-व्यवस्था में आज सब जगह अमरीकी नाम ही दिखलायी पड़ते हैं और प्रारंभिक, माध्यमिक, जूनियर कालेज, विश्वविद्यालय आदि जैसी अमरीकी व्यवस्था भी। हां, उन्होंने अमरीकी गुलामी स्वीकार नहीं की है, इसलिए जापानी आत्मा उनकी शिक्षा में समायी हुई है और उसका विकास शुद्ध जापानी ढंग से हुआ है। वहां की समस्त शिक्षा-पद्धति पर आज फिर शिक्षा मंत्रालय का अधिकार है। आज फिर जापानी आचार-संहिता पढ़ायी जाती है। यद्यपि वहां कई राजनैतिक दल हैं और युवा वर्ग में विद्रोह की भावना भी है, पर अंतरतम में वे शुद्ध जापानी ही हैं।

फिलीपीन की शिक्षा-प्रणाली : समस्याएं भारत सी ही हैं और शायद यही एक ऐसा राष्ट्र है जो द्वीपसमूहों में बंटा होने के कारण भाषा समस्या को अभी तक सुलझा नहीं पाया है। उसने इस दिशा में किये गये भारतीय प्रयत्नों में काफी रुचि दिखायी है। वहां ईसाई और मुसलमानों के दंगे अक्सर होते हैं, अलग-अलग धर्म के विश्वविद्यालय हैं और एक-दूसरे में काफी तनाव रहता है। फिलीपीन पहले स्पेन के कब्जे में था, फिर 1898 में अमरीका के अधिकार में आ गया। इस प्रकार पहले स्पेनिश आयी और बाद में अंग्रेजी। ये भाषाएं उपनिवेशवाद के फलस्वरूप आयीं। आज वहां जो शिक्षा-प्रणाली है वह भी अमरीकी प्रभाव से जनमी तथा पनपी है और वहां भी शिक्षा-स्तरों के नाम अमरीकी ही हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान फिलीपीन पर जापानियों का कब्जा हो गया था, और उन्होंने वहां की शिक्षा पद्धति में काफी सुधार भी किये, परंतु 1946 के बाद वहां वही पुरानी शिक्षा प्रणाली लौट आयी। यहां की शिक्षा सरकारी और गैर-सरकारी वर्गों में बंटी है और विश्वविद्यालय अमरीकी प्रणाली पर चलते हैं। फिलीपीनो भाषा सबके लिए अनिवार्य है, पर इसकी सफलता सभी स्थानों पर समान नहीं है। अध्यापक-प्रशिक्षण का भी ढंग अमरीकी है और उसमें अमरीकी प्रभाव अभी भी विद्यमान है।

थाई देश की शिक्षा-प्रणाली : थाई देश एकदम स्वतंत्र देश रहा है। उस पर उपनिवेश होने का लांछन कभी नहीं लगा। उसका पुराना नाम श्याम है। वहां के 95 प्रतिशत निवावी बौद्ध हैं और यही राजधर्म भी है। यहां सम्राट् है, पर जापान की तरह सत्ता जनता के हाथ में है। यहां के राजा का पद राम कहलाता है। इसकी पुरानी राजधानी का नाम 'अयुद्धा' है। यहां बौद्ध मंदिरों में भारतीय प्रभाव के चिह्न शेष हैं। यह छोटी-सी जनसंख्या-वाला देश काफी हद तक खेतिहर रहा है, यद्यपि अब वह औद्योगीकरण की ओर मुड़ रहा है। इस देश में 1851 से पूर्व औपचारिक शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं था। शिक्षा परिवार में ही दी जाती थी और केवल राजपरिवार के लिए ही शिक्षा का प्रबंध था।

धीरे-धीरे शिक्षा की यह परंपरा टूटी और जो ज्ञान बौद्ध मंदिरों तथा राजपरिवार तक ही सीमित था, वह जनसाधारण को भी मिलना प्रारंभ हो गया। सम्राट् राम चतुर्थ ने स्वयं अंग्रेजी शिक्षा पायी थी, इसलिए उन्होंने यूरोपीय अध्यापकों को आमंत्रित किया और इस प्रकार आधुनिक शिक्षा की नींव डाली।

आज थाई देश की शिक्षा 1960 की राष्ट्रीय शिक्षा-योजना के अनुसार चल रही है। शिक्षा-स्तर इस प्रकार है : (1) प्रारंभिक शिक्षा 3 और 4 वर्ष अर्थात् सात वर्ष तक दो स्तरों में विभाजित। (2) माध्यमिक-सैद्धांतिक (अकादमिक) जो लोअर और अपर में बंटा है। लोअर कक्षा 8 से 10 तक है और अपर 11वीं और 12वीं कक्षा तक। दूसरे प्रकार का माध्यमिक स्कूल केवल औद्योगिक है। 12वीं कक्षा के बाद विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रारंभ होती है, जो अन्य राष्ट्रों की ही भांति है।

1960 की शिक्षा-योजना में यह आदेश निहित है कि प्रत्येक थाई नागरिक को शिक्षा से लाभ उठाना चाहिए और शिक्षा ग्रहण करके राष्ट्र को लाभ पहुंचाना चाहिए।

इंडोनेशिया की शिक्षा-प्रणाली : चीन-प्रभावित यह देश फौजी तानाशाहों के संरक्षण में स्वतंत्र नीति अपनाने

का प्रयास कर रहा है, यहां की अधिकांश आबादी मुस्लिम है, और कुल जनसंख्या 10 करोड़ है। यह देश भी काफी द्वीप समूहों से मिल कर बना है। इसकी शिक्षा-प्रणाली मुस्लिम देशों से मिलती-जुलती है; क्योंकि यहां का प्रमुख धर्म इस्लाम है, परंतु इस पर आधुनिकीकरण की छाप लगानेवाले हैं जापान और अमरीका। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आज तक इस देश ने काफी तरक्की की है।

इस इलाके में अन्य प्रमुख देश हैं बर्मा और वियतनाम। बर्मा शिक्षा के क्षेत्र में काफी पीछे है। वियतनाम का नाम आज की साम्राज्यवादी शक्ति अमरीका के युद्ध के कारण बहुचर्चित है। वियतनाम एक शांतिप्रिय देश है, जिसे उपनिवेशवादियों से लड़ना पड़ रहा है। यहां का जीवन अस्त-व्यस्त हो चुका है और इन्हीं शक्तियों के कारण लाओस, कम्बोडिया आदि में भी शांति भंग हो चुकी है और इस कारण दक्षिण-पूर्व एशिया का स्वरूप शांतिकाल में कैसा होगा, कहना कठिन है।

पश्चिमी देशों की शिक्षा-प्रणालियां

जब हम पश्चिम की बात करते हैं, तो उस समय हमारे सामने दो ही देश आते हैं—इंगलैंड, जो अब शक्तिशाली नहीं रहा, और अमरीका, जो अभी भी शक्तिशाली है। इस सूची में हम रूस का नाम कम ही लेते हैं, यद्यपि यह उतना ही यूरोपीय है जितना एशियाई। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि इन तीनों राष्ट्रों की शिक्षा-प्रणालियों को जाने बिना वर्तमान शिक्षा और राजनीति को समझना असंभव है।

इन समस्त पश्चिमी देशों की संस्कृति का स्रोत यूनान है, जो आज एक छोटा सा देश है और जिसकी ओर हमारा ध्यान आसानी से नहीं जाता। एक युग था, जब इस देश ने विश्व को सभ्यता दी। यहां के प्राचीन दार्शनिकों में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू तथा अन्य सोफिस्ट प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उसने वैज्ञानिक दिये, भाषा दी, साहित्य दिया और एक समय दिया जो अपनी उपलब्धियों के कारण स्वर्ण युग कहलाता है। यह स्थान किसी समय एक बड़े साम्राज्यवादी शासक अलेक्ज़ेन्डर का जन्मदाता भी था और यहीं पर महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडेसी' लिखने वाले कवि होमर थे। इस प्रकार प्राचीन यूनान आज भी पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का केंद्र है और अमरीकी भी इस सत्य को मानते हैं।

यूनान के बाद रोम एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरा। वह एक दूसरा साम्राज्यवादी राष्ट्र था, और उसने भी यूनान की ही भांति यूरोपीय संस्कृति को गौरव प्रदान किया, वक्ता दिये, सिनेटर दिये, शासनतंत्र दिया और दार्शनिक दिये। और सबसे बड़ी देन इसकी थी लैटिन भाषा। इस भाषा के ज्ञान के बिना आज भी पश्चिम का विद्वान् अपने को हेय मानता है। फिर रोम तो ईसाइयों का पवित्र स्थान भी है और आज भी विश्व-भर के ईसाई उसी से प्रेरणा लेते हैं। रोम के एक शासक सीज़र के नाम से बिगड़ कर जार बना और यहीं के चर्च से अलग होकर रूस का चर्च बना। इस प्रकार यह रूस के इतिहास के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना इंगलैंड या अमरीका के इतिहास के लिए। स्वयं रूसी शिक्षा भी अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के प्रभाव से पनपी और बढ़ी हुई है, विशेष रूप से फ्रांस और जर्मनी का इस पर बहुत प्रभाव है।

इंगलैंड की शिक्षा-प्रणाली : इंगलैंड ने भारत पर लगभग 185 वर्ष तक राज्य किया है, इसलिए उसकी शिक्षा-पद्धति की श्रेष्ठता के विषय में हमारे मन में कई भ्रांतियां उत्पन्न होती रही हैं। जैसे, उसकी शिक्षा-व्यवस्था बहुत अच्छी रही है, बहुत पुरानी है, आदि। वास्तव में अंग्रेजों का पहला शिक्षा संबंधी सरकारी कानून 1870 में बना और वह भी केवल गरीबों को थोड़ी-सी सुविधा देने के लिए बना था। इसके अतिरिक्त उनके दो कानून और भी बने। 1902 में और 1918 में। इनमें शिक्षा में कुछ प्रसार तथा सुधार हुए, जैसे कुछ निर्धन बच्चों को अकादमिक माध्यमिक स्कूल में प्रवेश मिला, स्कूल भेजने के लिए कानून में सुधार आदि हुए, परंतु इंगलैंड में धनाभाव के कारण 4 वर्ष बाद काफी सुविधाएं लौटा ली गयीं।

इस समय तक इंगलैंड में दो समानांतर शिक्षा प्रणालियां थीं—एक धनी के लिए, अर्थात् पब्लिक स्कूल, विश्वविद्यालय, ग्रामर स्कूल आदि और दूसरी प्रारंभिक शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा जो निर्धनों के लिए थी। 1926 के बाद माध्यमिक शिक्षा में सुधार की मांग बढ़ने लगी और 1944 में एक शिक्षा कानून बना, जिसने इंगलैंड में एक

नयी शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था की। इसमें माध्यमिक शिक्षा को प्राथमिक से जोड़ा गया (प्रारंभिक शब्द हटा दिया गया) तथा माध्यमिक शिक्षा को बुद्धि तथा अभिरुचि से संबद्ध कर दिया गया। फलस्वरूप वहां तीन स्कूलों को समान बनाने का काम प्रारंभ हुआ तथा माध्यमिक शब्द की व्याख्या भी हुई। इंगलैंड को इसीलिए त्रि-स्कूलीय प्रणाली का जन्मदाता माना जाता है। ग्रामर तथा तकनीकी स्कूल अधिक बुद्धिवालों के लिए और आधुनिक माध्यमिक स्कूल सामान्य बच्चों के लिए। पब्लिक स्कूलों में स्थान सुरक्षित रखकर उसे भी इसी अवस्था पर लाने का प्रयत्न हुआ। अध्यापकों के प्रशिक्षण का काम विश्वविद्यालयों में खोले गये शिक्षा-संस्थान द्वारा होना प्रारंभ हुआ।

स्थानीय शिक्षा-प्राधिकरणों को मजबूत बनाया गया और अध्यापकों को जी०एस०सी० (जनरल स्कूल सार्टिफिकेट) के बाद तीन वर्ष या बी०ए० के बाद एक वर्ष तक की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था की गयी।

विश्वविद्यालयों में परीक्षा, प्रवेश, अध्यापन आदि में सुधार हुआ। इस प्रकार इंगलैंड ने 1944 का कानून बना कर शिक्षा में हर संभव प्रकार के सुधार की कोशिश की। 'समझौते के पाठ्यक्रम' के अनुसार धार्मिक शिक्षा की योजना बनी और विश्वविद्यालयों में न जाने वाले युवक-युवतियों की अग्रिम शिक्षा के लिए भी प्रयत्न हुए। 1944 का कानून बटलर कानून भी कहलाता है।

परंतु अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली अभी भी वर्गभेद की शिकार है। अब भी माध्यमिक शिक्षा की समस्या वैसी की वैसी है, अब भी कुछ बच्चे स्कूल नहीं जाते, जाते हैं तो पढ़ते नहीं।

अमरीकी शिक्षा-प्रणाली : 51 राज्यों से मिलकर बना, यूरोपीय रक्त तथा अफ्रीकी मेहनत से धनी हुआ अमरीका आज विश्व का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र है। वहां की अधिकांश जनसंख्या ईसाई है तथा यूरोप और एशिया की प्रत्येक जाति के लोग वहां रहते हैं। उसकी प्रति व्यक्ति आय का औसत संसार में सबसे अधिक है।

अमरीकियों ने शिक्षा तो यूरोप से उधार ली, किंतु शीघ्र ही स्वयं नयी प्रणाली को जन्म दिया। यहां आठ वर्ष की प्रारंभिक तथा 4 साल की हाई स्कूल की शिक्षा की व्यवस्था है। इन आठ और चार वर्षों को कई प्रकार से बांटा जाता है। प्रत्येक राज्य की शिक्षा-प्रणाली अलग है, और राज्य की अनुदान राशि भी शत प्रतिशत से लेकर दो या तीन प्रतिशत तक है। अधिकांश स्थान चुनाव से भरे जाते हैं और अध्यापकों को नौकरियां 'कांट्रेक्ट' से मिलती हैं। प्रत्येक राज्य में पढ़ाने से पूर्व और प्रशिक्षण के बाद लाइसेंस लेना होता है। ये लाइसेंस प्रत्येक राज्य का अलग-अलग होता है, इसलिए अध्यापकों को राज्य बदल कर पढ़ाना कठिन है।

सब संस्थाओं में शिक्षा का स्तर एक जैसा रखने के लिए 'एक्रीडीशन समितियां' हैं, जो क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों को प्रमाणित करती हैं। इस प्रकार वहां समान स्तर बनाये रखने के लिए एक ही परीक्षा नहीं, एक ही समिति के प्रमाणपत्र चाहिए, और ये प्रमाणपत्र छात्रों को नहीं स्कूलों को मिलते हैं। इस प्रकार स्कूलों का स्तर समान बना रहता है।

अमरीका में राजकीय संस्थाओं में फीस नहीं है और अपने ही राज्य के छात्रों से फीस भी नहीं ली जाती। अन्य लोगों से ऊंची फीस ली जाती है। वहां के अध्यापकों को हाई स्कूल के पांच साल और पढ़ना पड़ता है तथा अध्यापकों के लिए एक राष्ट्रीय रजिस्टर भी है।

वहां विश्वविद्यालय दो प्रकार के हैं—सरकारी और प्राइवेट और उनमें से प्राइवेट विश्वविद्यालय अधिकांशत: धार्मिक कारणों से बने हैं। इन प्राइवेट विश्वविद्यालयों में कुछ का स्तर बहुत अच्छा है। वहां शिक्षा की अनिवार्य आयु 18 है, जो इंगलैंड में 16 ही है। अर्थात् विश्वविद्यालय तक तो सभी पहुंच ही जाते हैं।

वहां पर शोध-कार्य के लिए अनेक संस्थान हैं और सरकार शोध-कार्य के लिए पैसा देती है। केंद्रीय या संघीय सरकार का काम शिक्षा के आंकड़े एकत्र करना है; क्योंकि शिक्षा राज्य का विषय है, जिसका संचालन संबंधित बोर्ड के हाथों में है। अमरीकी शिक्षा भी वर्ग-भेद के साथ काले-गोरों के भेद अधिक स्वतंत्रता, यौन-मुक्तता आदि कारणों से पीड़ित है तथा अध्यापकों में भी सम्मान न मिलने के कारण असंतोष है।

सोवियत संघ की शिक्षा-प्रणाली : अमरीका की टक्कर पर यदि और कोई देश है, तो वह है सोवियत संघ और यह कहना कठिन है कि इन दोनों में वास्तव में कौन अधिक शक्तिशाली है।

सोवियत संघ की शिक्षा पूरी सरकारी है। राज्यों को शिक्षा का प्रबंध करने का अधिकार है, परंतु नीति-संबंधी निर्णय मास्को में ही होते हैं। बचपन से लेकर अंत तक शिक्षा को राज्यों के उद्देश्य स्वीकार करने होते हैं। छात्रों की पढ़ाई, दिशा-निर्देशन आदि पार्टी की आवश्यकतानुसार होते हैं।

वैसे सोवियत संघ में पूर्व-प्राथमिक अवस्था से ही बालकों की शिक्षा का सारा प्रबंध सरकार पर है। दूर खलिहानों से लेकर मास्को की गलियों तक में इसका प्रबंध है। वहां बच्चों को अमूल्य निधि माना जाता है। उन्हें एक दिन तो अपनी रेलगाड़ी तक चलाने की अनुमति है। प्रत्येक को संघ का अच्छा नागरिक बनने की शिक्षा वहां दी जाती है। राजनीति के आधार पर बच्चों के स्वतंत्र संगठन हैं। पायोनियर और कोम्सोकोल संगठन बालकों के चरित्र पर नियंत्रण और अनुशासन की भावना जगाने का प्रयास करते हैं।

विश्वविद्यालय में प्रवेश 11 वर्ष की शिक्षा के बाद मिलता है, परंतु प्रवेश के लिए बहुत अधिक योग्यता चाहिए, इसलिए 50 प्रतिशत प्रवेशार्थी निराश रह जाते हैं। यहां पर निःशुल्क शिक्षा मिलती है तथा विज्ञान के विषयों को काफी महत्त्व दिया जाता है। परंतु पार्टी का दर्शन सबके लिए अनिवार्य है। 8 साल की प्रारंभिक शिक्षा या 11 वर्ष या 10 वर्ष का पूर्ण माध्यमिक स्कूल वहां की शिक्षा के विशिष्ट अंग हैं। माध्यमिक स्कूल के बाद प्रायः इसी स्तर के औद्योगिक स्कूल भी हैं, जहां मध्यस्तरीय कुशलता के लोग ट्रेनिंग पाकर निकलते हैं। सोवियत संघ में एक और विशेषता है। वहां राज्य-भाषा संबंधी कोई कानून नहीं है और हर राज्य अपनी भाषा में पढ़ाने के लिए स्वतंत्र है। यह अलग बात है कि रूसी भाषा सभी लोग पढ़ते हैं।

शिक्षा-संस्थाओं के बाहर काम कर रहे लोगों के लिए भी आंशिक शिक्षा तथा पत्राचार-शिक्षा के प्रबंध हैं। सोवियत संघ खेलकूद में अमरीका से प्रायः आगे रहता है। स्त्री-शिक्षा पर भी वहां बहुत बल दिया जाता है। लोगों की शिकायत है कि वहां बुद्धिजीवियों को स्वतंत्र लेखन की अनुमति नहीं। परंतु ऐसी अनुमति तो शायद ही कोई राष्ट्र देता हो, जो राष्ट्रीय नीतियों के अनुकूल न हो। उदाहरण के लिए अमरीका में भी कम्युनिस्ट साहित्य की खुली छूट नहीं है। भारत ने सोवियत संघ से काफी कुछ सीखा है और यदि सहयोग चला तो यहां की शिक्षा कदाचित् उस प्रभाव से बहुत कुछ विकसित होगी।

शिक्षा का भविष्य

कल की शिक्षा का रूप क्या होगा, इसका निर्णय शिक्षा-शास्त्री नहीं, वैज्ञानिक करेंगे, जिनके शोध-कार्यों के फल-स्वरूप शिक्षा में नये परिवर्तन आना प्रायः निश्चित है। पढ़ाई का काफी भार क्लोज सरकिट टेलिविजन ले लेगा। अपने को पढ़ाने की आत्म-प्रेरित विधियों का अधिक प्रयोग होगा। अध्यापक की नीरसता को कम करने तथा निम्न स्तरों को उठाने के लिए मशीनों का प्रयोग होगा। सुलेख, हिसाब का आना आदि व्यर्थ की बातें हो जायेंगी। आटोमेशन मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के लिए उसके काम का समय कम करेगा, और जैसे-जैसे लोगों पर काम का अभाव हो जायेगा, वैसे ही शिक्षा का औपचारिक स्वरूप भी घट जायेगा और शिक्षा नयी दिशाओं में फैलेगी। यह सब सुदूर भविष्य में होने वाली बातें नहीं हैं, इसके लिए अगले 20 वर्ष ही काफी रहेंगे।

शिक्षा-व्यवस्था के अच्छे या खराब होने और राष्ट्र की उन्नति या अवनति में सीधा संबंध नहीं है और न शिक्षा का संबंध केवल नौकरी प्राप्त कर पाने से ही है। यदि इंजीनियरी की डिग्री प्राप्त छात्र नौकरी नहीं कर पाता तो इसका दोष राष्ट्र की आर्थिक दशा पर है, शिक्षा व्यवस्था पर नहीं; क्योंकि उस आदमी की योग्यता की परीक्षा तो कहीं हुई भी नहीं।

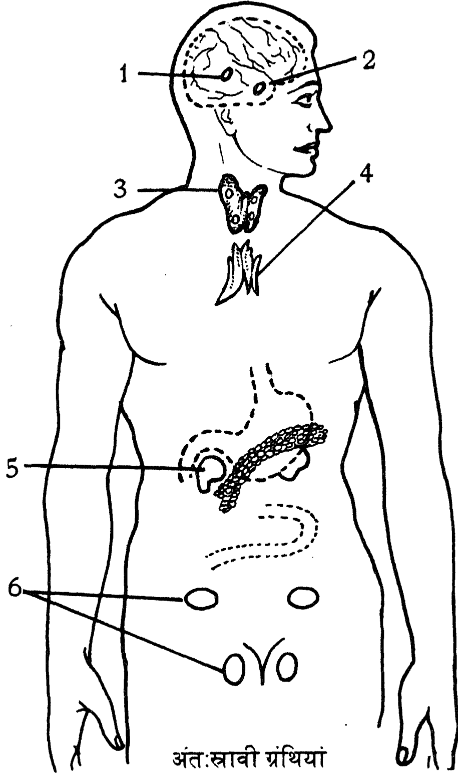
इसके साथ एक बात और भी है कि विज्ञान की प्रगति के कारण शिक्षा में नौकरियों का उद्देश्य कम से कम रह जायेगा और इसलिए कई कक्षाओं तक सामान्य सिद्धांत सभी को एक ही प्रकार से पढ़ाये जायेंगे। फिर काम करते समय काम की शिक्षा दी जायेगी। इलिए यही कहना उचित है कि शिक्षा का भविष्य अब शिक्षाशास्त्री के हाथ में नहीं, वैज्ञानिक के हाथ में है। वही इसको नया रूप भी देगा और दिशा भी।

—डा० राजेंद्रपाल सिंह

विश्व ज्ञान संहिता

प्रविष्टियां-खंड

अंतःस्रावी ग्रंथियां : हमारे शरीर के अंदर दो प्रकार की ग्रंथियां होती हैं, जिनमें से एक प्रकार को अंतःस्रावी ग्रंथियां कहा जाता है। अंतःस्रावी ग्रंथियां कुछ विशेष प्रकार के रासायनिक द्रवों को बनाती हैं। इन ग्रंथियों में नलिकाएं नहीं होतीं, जिससे इन्हें नलिकाहीन ग्रंथियां भी कहा



अंतःस्रावी ग्रंथियां

1. **पीनियल**
2. **पीयूष ग्रंथि**
3. **अवटु ग्रंथि**
4. **थायमस**
5. **अधिवृक्क ग्रंथि**
6. **जनन ग्रंथि**

जाता है। ये ग्रंथियां अपने रासायनिक द्रव को, जिसे हार्मोन कहा जाता है, सीधे रुधिर में मिला देती हैं और रुधिर संचार के माध्यम से सारे शरीर को प्रभावित करती हैं। हार्मोन सामान्य शारीरिक और मनोवैज्ञानिक विकास के लिए अत्यंत आवश्यक होते हैं। इन ग्रंथियों की अतिक्रिया या अल्पक्रिया से व्यक्ति में अनेक प्रकार की शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विचित्रताएं पैदा हो सकती हैं, जिससे समायोजन की गंभीर समस्याएं पैदा हो जाती हैं।

कुछ प्रमुख अंतःस्रावी ग्रंथियों के नाम हैं––पीयूष ग्रंथि, अवटु ग्रंथि, अधिवृक्क ग्रंथि और गोनड या जनन ग्रंथि। (विस्तृत जानकारी के लिए इन पर अलग-अलग प्रविष्टियां देखिए)

अंतर्द्वंद्व : अंतर्द्वंद्व से कोई भी मनुष्य नहीं बचा है। अंतर्द्वंद्व व्यवहार के प्रेरकों की पारस्परिक स्पर्धा के कारण होता है। जब दो प्रतिद्वंद्वी प्रेरक एक ही साथ सक्रिय हो जाते हैं, तब एक ऐसी मानसिक अवस्था पैदा हो जाती है, जिससे अंतर्द्वंद्व पैदा हो जाता है। अंतर्द्वंद्व दैनिक जीवन की साधारण घटना है। जब कोई तीव्र उद्देश्य या परिस्थिति हमें अपने स्वनिर्धारित आदर्शों के विपरीत चलने को विवश करने लगती है, तब अंतर्द्वंद्व होता है। जो लोग अपना तदात्मीकरण सच बोलने से कर लेते हैं, उन्हें झूठ बोलने पर ऐसा लगता है जैसे उनका मानसिक विच्छेद हो रहा हो और तब वे तीव्र अंतर्द्वंद्व का अनुभव करते हैं।

यद्यपि अंतर्द्वंद्व विशेषकर व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यों के बीच हुआ करता है, किंतु वह हमारे दो प्रतिद्वंद्वी उद्देश्यों से भी हो सकता है। डर और क्रोध, यौन और रागात्मक भावना और हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों में भी अंतर्द्वंद्व हो सकता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक बननेवाली सामाजिक बातें ही अंतर्द्वंद्व उत्पन्न करने का कारण नहीं होतीं, अंतर्द्वंद्व हमारी विरोधी भावनाओं से भी उत्पन्न होता है। रणक्षेत्र में अर्जुन के मन में अंतर्द्वंद्व उनकी दो विरोधी भावनाओं से उत्पन्न हुआ था। एक ओर तो क्षात्रधर्म का पालन करने की भावना थी, जिससे वे अपने ही सगे-संबंधियों के हत्यारे बनते थे और दूसरी ओर सगे-संबंधियों की हत्या न करने की भावना थी, जो उनके क्षात्रधर्म के पालन में बाधक बन रही थी।

अंतर्द्वंद्व मनोग्रंथियों के कारण भी उत्पन्न होता है और स्वयं मनोग्रंथियों के निर्माण का भी कारण होता है।

सच तो यह है कि हर अंतर्द्वंद्व के पीछे प्रायः कोई न कोई मनोग्रंथि रहती है। अंतर्द्वंद्व से कुंठा पैदा होती है जो संभाव्य कुसमायोजन का स्रोत होती है। कुंठित व्यक्ति की, विभिन्न परिस्थितियों में अपना समुचित समायोजन करने की क्षमता घट जाती है। इस प्रकार अंतर्द्वंद्व आदमी को तोड़ देता है और उसके अपसामान्य व्यवहार का कारण बन सकता है।

अंतर्निरीक्षण : मनोविज्ञान में प्रयुक्त की जानेवाली एक विशेष अध्ययन प्रणाली, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी मानसिक क्रियाओं का प्रेक्षण स्वयं करके उन्हें समझने की कोशिश करता है। प्रेक्षण से व्यवहार के आधार पर मानसिक क्रियाओं को समझने का प्रयत्न किया जाता है, किंतु अंतर्निरीक्षण द्वारा मानसिक क्रियाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अंतर्निरीक्षण मनोविज्ञान की ही मौलिक अध्ययन-प्रणाली है। अन्य विज्ञानों में इस प्रणाली का कोई स्थान नहीं है। मानसिक क्रियाएं इतनी वैयक्तिक होती हैं कि उन तक किसी दूसरे की पहुंच नहीं हो सकती। हमारे मन में क्या हो रहा है, इसका ज्ञान केवल हमें ही हो सकता है। दूसरों को हमारे मन का ज्ञान केवल हमारे बताने पर ही हो सकता है। मानसिक क्रियाओं का विज्ञान होने से मनोविज्ञान में अंतर्निरीक्षण का विशेष महत्त्व है। व्यक्ति की मानसिक क्रियाएं उसके साथ सदा रहती हैं और वह जब चाहे तब उनका अंतर्निरीक्षण कर सकता है। प्रेक्षण और प्रयोग हर समय और हर स्थिति में नहीं किये जा सकते, किंतु अंतर्निरीक्षण किसी भी समय किया जा सकता है। अंतर्निरीक्षण प्रेक्षण का ही एक विशेष पक्ष होता है।

अंतर्निरीक्षण द्वारा व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करता है, इसलिए इस प्रणाली से मानसिक क्रियाओं के सामान्य नियमों को नहीं जाना जा सकता। किंतु यदि अनेक लोगों के अंतर्निरीक्षण में समानता हो, तो उससे मानसिक क्रियाओं के सामान्य नियमों को बहुत-कुछ समझा जा सकता है और प्रेक्षण तथा प्रयोग की कसौटी पर कसकर उनकी सत्यता की वैज्ञानिक जांच की जा सकती है।

कुछ मानसिक क्रियाएं इतनी प्रबल होती हैं कि उनकी उपस्थिति के समय मन उस परिस्थिति में ही उलझा रहता है, जो उन मानसिक क्रियाओं को उत्पन्न करती है। अगर मन किसी मानसिक दशा को उत्पन्न करनेवाली बाहरी परिस्थिति में ही उलझा रहे, तो उस मानसिक दशा का यथोचित अंतर्निरीक्षण नहीं किया जा सकता। किसी बेहद मोहक घटना को देखते समय हमारा मन घटना के पात्रों आदि में इतना डूबा रहता है कि हमें उस घटना से उत्पन्न होनेवाली अपनी मानसिक दशा का अंतर्निरीक्षण कर सकने की फ़ुर्सत ही नहीं मिलती।

अनेक मानसिक दशाएं ऐसी भी होती हैं, जो अंतर्निरीक्षण करते समय रहती ही नहीं। डर आदि किसी संवेग का जब अंतर्निरीक्षण किया जाता है, तो मन के अंदर वह संवेग रहता ही नहीं। संवेग के रहने पर उस पर विचार करना या उसका अंतर्निरीक्षण करना असंभव-सा ही होता है। उसका अंतर्निरीक्षण शुरू करते ही मन की दशा बदल जाती है और जिस चीज के अध्ययन की तैयारी की जाती है, वह चीज ही नहीं रहती। जेम्स ने इसे बड़े ही सुंदर ढंग से कहा है कि "संवेग को अंतर्निरीक्षण द्वारा समझने की कोशिश करना कुछ वैसा ही है, जैसे अंधकार को देखने के लिए जल्दी से तेज प्रकाश का आयोजन करना।" ऐसी स्थिति में अंतर्निरीक्षण प्रायः अनुप्रेक्षण मात्र ही होता है। थोड़ी देर पहले मानसिक दशा को स्मृति के सहारे जानने का प्रयत्न किया जाता है और स्मृति पर पक्का विश्वास नहीं किया जा सकता।

अंतर्निरीक्षण की एक और कठिनाई है, मानसिक दशाओं को व्यक्त करने के लिए भाषा का अक्षम होना। किसी चीज़ का स्वाद, किसी सुंदर मुख की छवि या किसी मादक स्पर्श का वर्णन करते समय हमें यह लगता है कि भरसक प्रयत्न करने पर भी हम अपने मनोभाव का ठीक-ठीक शब्द-चित्र नहीं बना पा रहे हैं। इसलिए यह आक्षेप किया जाता है कि अंतर्निरीक्षण के परिणाम को दूसरों तक पहुंचाना बड़ा कठिन होता है। पशु-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान और अपसामान्य व्यक्ति के मन को समझने के लिए भी अंतर्निरीक्षण बेकार होता है; क्योंकि पशु, बालक और अपसामान्य व्यक्ति अंतर्निरीक्षण नहीं कर पाते हैं। लेकिन इससे इतना ही साबित होता है कि अंतर्निरीक्षण मनोव्यापार के एक बहुत छोटे भाग का अध्ययन करने के लिए ही उपयोगी होता है।

अंतर्निरीक्षण में उपर्युक्त कमियां अवश्य हैं, किंतु जहां

तक उसके द्वारा मानसिक दशाओं का सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, वहां तक उसका महत्त्व निर्विवाद है। आखिर हम अंतर्निरीक्षण द्वारा अपनी मानसिक दशाओं को कुछ न कुछ तो अवश्य समझते हैं। अंतर्निरीक्षण को व्यवस्थित कर उससे उपलब्ध सामग्री पर काफी विश्वास किया जा सकता है। प्रत्येक वैज्ञानिक प्रेक्षण में भूल होने की संभावना रहती है। उस भूल को जिस तरह अन्य विज्ञानों में दूर करने की चेष्टा की जाती है, वैसी ही चेष्टा अंतर्निरीक्षण की भूलों को भी दूर करने में की जा सकती है और की भी जाती है। इसलिए अंतर्निरीक्षण को बिलकुल व्यर्थ समझकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अंतर्नोद : भूख, प्यास आदि शारीरिक आवश्यकताओं से हमें जो प्रेरणा मिलती है, उसे अंतर्नोद कहा जाता है; क्योंकि तब हमारा शरीर हमें अंदर से कुछ न कुछ करने को उकसाता है। अंतर्नोद शब्द का प्रयोग शारीरिक उद्दीपनों के लिए ही किया जाता है। आहार, निद्रा और मैथुन मुख्य अंतर्नोद हैं। इनके अतिरिक्त थकना, खेलना, स्वच्छ वायु में सांस लेना और अनुकूल तापक्रम में रहना भी अंतर्नोद हैं।

अंतर्नोदों को जन्मजात जैविक प्रवृत्तियां कहा जाता है, जिनके आधार पर शिक्षण द्वारा हमारी अन्य जटिल प्रेरणाएं विकसित होती हैं। अंतर्नोदों से हमें अपने शरीर के अंदर असंतोष का अनुभव होता है। अंतर्नोद सक्रिय होने पर हमारी पेशियों और ग्रंथियों को शक्ति देते हैं, जिससे हम अपनी शारीरिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कुछ कर सकें। अंतर्नोदों से शरीर में रासायनिक परिवर्तन भी होते हैं, किंतु उनका हमें कोई अनुभव नहीं होता।

अंतर्मुखता : युंग ने व्यक्तित्व के एक प्रकार के आंतरिक परिवर्तक को अंतर्मुखता नाम दिया है, जो मनोविज्ञान में अत्यंत प्रचलित है। युंग के ही शब्दों में "मनुष्यों का एक वर्ग ऐसा है, जो किसी उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया करने से पहले कुछ झिझकता-सा है, मानो मन ही मन में वह प्रतिक्रिया न करना चाहता हो. . .ऐसे वर्ग का रुझान अंतर्मुखी होता है।" किसी व्यक्ति के अंतर्मुखी होने की सापेक्ष परीक्षा उसके व्यवहार से की जा सकती है।

अंतर्मुखी व्यक्ति संकोची तथा लज्जालु होता है। वह नयी स्थितियों को नापसंद करता है और उनके प्रति सावधान रहता है। यहां तक कि वह कभी-कभी उनसे डरता भी है। वह एकांत-प्रेमी होता है और लोगों से बहुत कम संपर्क रखता है। वह विचार और कल्पनाप्रधान होता है। वह ज्यादा संवेदनशील होता है। जरा-सी बात भी उसे जल्दी चुभ जाती है और वह चिंतित हो जाता है। वह जिद्दी भी होता है और बहस करना पसंद करता है। वह नवीन विचारों का समर्थक होता है और प्राचीन रीति-रिवाजों एवं परंपरागत बातों का ज्यादा आदर नहीं करता। वह कर्म की अपेक्षा उद्देश्य के प्रति ज्यादा सजग रहता है और उसका दृष्टिकोण आलोचनात्मक होता है। उसमें अपने आदर्शों और मूल्यों के प्रति अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण भावना होती है।

अंतर्मुखी व्यक्ति में अच्छाइयां-बुराइयां दोनों होती हैं। उसकी बुराई उसकी एकांतप्रियता और समाज से अलग रहने की इच्छा होती है। व्यक्ति की अंतर्मुखता से उसमें और अन्य लोगों में बड़ा भेद पड़ जाता है, जिससे उसकी रुचियों, प्रवृत्तियों, भावनाओं, आदर्शों, दृष्टिकोण और व्यवहार में बड़ा अंतर आ जाता है। अंतर्मुखता को लेकर बड़ी भ्रामक धारणाएं भी फैली हुई हैं। कुछ मनोविज्ञानी अंतर्मुखी व्यक्ति में अहंभाव देखते हैं और उसे स्वार्थी समझते हैं। किंतु इस प्रकार की धारणाएं बिलकुल निराधार हैं।

युंग के अनुसार व्यक्ति अंतर्मुखी अपने अवधान और रुचि की दिशा के कारण होता है। अंतर्मुखी व्यक्ति में लिबिडो का प्रवाह आंतरिक दिशा की ओर होता है, जिससे वह अपने में ही केंद्रित होता है। युंग ने अंतर्मुखता को व्यक्ति के मनोभौतिक निर्माण की आनुवंशिक विशेषता माना है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि व्यक्ति अवधान तथा रुचि की दिशा को आनुवंशिक रूप से प्राप्त करता है। अंतर्मुखता का निर्धारण अवधान तथा रुचि की दिशा से न होकर मानसिक क्रियाओं के साथ रहनेवाले चेतना के अंश से होता है। यह देखा जाता है कि कुछ लोगों के व्यवहार में चेतना का अंश ज्यादा रहता है और कुछ के व्यवहार में कम। चेतना का अंश ज्यादा रहने से लोग अपने व्यवहार और उसके परिणाम को अच्छी तरह समझते हैं और कम रहने से उतनी अच्छी तरह

नहीं समझते। अंतर्मुखी व्यक्ति के व्यवहार में चेतना का अंश ज्यादा रहता है।

यदि अवधान और रुचि की दिशा जन्मजात होती, तो वह बहुत कम आयु के बच्चों में भी स्पष्ट रूप से पायी जाती। किंतु बच्चों की अवधान और रुचि की दिशा अंतर्मुखी नहीं होती। बच्चे एकांतप्रिय तथा विचार-प्रधान नहीं होते। बड़े होने पर ही उनमें से कुछ की रुचि तथा अवधान की दिशा आत्मकेंद्रित बनती है। जो व्यक्ति अंतर्मुखी होता है, उसमें चेतना का अंश जन्म से ही ज्यादा होता है। उसकी इस आत्मचेतना का परिणाम यह होता है कि वह बाह्य जगत की अपेक्षा अपने मानसिक जगत को ज्यादा महत्त्व देने लगता है और अपने को ज्यादा आदमियों की सोहबत में ठीक से खपा नहीं पाता।

अंधबिंदु : दृष्टिपटल में वह स्थान, जो प्रकाश के उद्दीपनों के प्रति संवेदनशील नहीं होता। यह बिंदु वहां होता है, जहां दृष्टि-तंत्रिका दृष्टिपटल से मिलती है। इस बिंदु पर शंकु और शलाका बिलकुल नहीं होते और इसीलिए इस स्थल पर दृष्टि-संवेदनों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

अकाल मनोह्लास : (दे० मनोविदलता)

अघ्राणता : गंध के किसी उद्दीपन के प्रति संवेदन का कम होना या बिल्कुल न होना। यह हालत जन्मजात भी हो सकती है और बाद में भी पैदा हो सकती है।

अचेतन : मनोविज्ञानियों ने मानव-मन की क्रियाओं को समझने के लिए उसे तीन स्तरों में विभाजित किया है, जिनमें से एक स्तर को अचेतन नाम दिया गया है। सच तो यह है कि किसी भी मानसिक क्रिया को अचेतन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मानसिक क्रियाओं का गुण उनका चेतन होना ही होता है। अचेतन मन का अभिप्राय यही है कि हम साधारण रूप से अचेतन स्तर पर होनेवाली क्रियाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर पाते। अचेतन मन की अपनी अलग विशेषता होती है और उसके काम करने का तरीका भी अपना अलग ही होता है। अचेतन मन में हमारे ऐसे व्यक्तिगत और जातीय अनुभव रहते हैं, जिनका ज्ञान मनोविश्लेषण में प्रयुक्त की जानेवाली कुछ विशेष प्रणालियों, जैसे, सम्मोहन, उन्मुक्त सहचार और स्वप्नों की व्याख्या द्वारा ही हो सकता है। मनोविज्ञान में मन के अचेतन स्तर का बड़ा महत्त्व है; क्योंकि उस स्तर पर होनेवाली क्रियाएं हमारे अनजाने में ही हमारे बहुत-से मानसिक विकारों और रोगों और अपसामान्य व्यवहार का कारण बन जाती हैं।

यह माना गया है कि अचेतन मन में हमारे व्यक्तिगत और जातीय अनुभव जमा रहते हैं। लेकिन उनके जमा रहने का क्या अर्थ है? अनुभव भौतिक वस्तुएं तो होते नहीं, जिनको जमा कर लिया जाये। दूसरी ओर, यदि अनुभव कहीं न कहीं जमा न रहें, तो उनका पुनरुत्पादन भी नहीं हो सकता और हम बीती हुई घटनाओं या बातों को याद भी नहीं रख सकते। तो फिर हमारे अनुभव अचेतन मन में किस रूप में और किस तरह संचित रहते हैं?

सच तो यह मालूम होता है कि अचेतन मन में अनुभव या विचार संचित नहीं रहते हैं। केवल उनका पुनरुत्पादन हो सकने की संभावना रहती है। इसे एक रूपक द्वारा समझा जा सकता है। बांसुरी से तरह-तरह के राग निकाले जा सकते हैं, किंतु वे राग बांसुरी में संचित नहीं रहते हैं। बांसुरी विभिन्न प्रकार के रागों का पुनरुत्पादन कर सकने का केवल भौतिक साधन मात्र है। इसी प्रकार अचेतन मन भी हमारे व्यक्तिगत और जातीय अनुभवों का पुनरुत्पादन करने का एक साधन ही है।

विलियम जेम्स ने यह धारणा प्रस्तुत की थी कि मानसिक अनुभव मस्तिष्क पर भौतिक छाप छोड़ जाते हैं और जब कोई बाहरी या आंतरिक उद्दीपन मिलता है तो तंत्रिकीय शक्ति का प्रवाह पहले से ही बन चुके निशानों पर होने लगता है, जिससे पुराना अनुभव फिर से जागृत हो जाता है। हमें आनुवंशिक रूप से जो कुछ प्राप्त होता है, वह पहले की जानेवाली प्रतिक्रियाओं द्वारा बना तंत्रिकीपैशिक रुझान-मात्र ही होता है। आनुवंशिक रूप से हमें आंख ही प्राप्त होती है, दृष्टि नहीं। इसी प्रकार हम सुनने, डरने आदि के भौतिक साधनों को ही आनुवंशिक रूप से प्राप्त करते हैं, सुनी जानेवाली बात या डर को नहीं। अचेतन मन को विगत व्यक्तिगत और जातीय अनुभवों का मानसिक रुझान समझना सत्य से दूर जाना नहीं होगा।

फ्रायड के अनुसार अचेतन मन मूल प्रवृत्यात्मक शक्तियों के अतिरिक्त हमारी उन असुखकर और अप्रिय

इच्छाओं से निर्मित होता है, जिनका हमें कभी चेतन अनुभव हुआ था, लेकिन बाद में हमने उन्हें भुला दिया या उनका दमन कर दिया। अधिकांश दमित इच्छाएं यौन संबंधी होती हैं। इससे यही परिणाम निकलता है कि अचेतन मन का नैतिकता से कोई संबंध नहीं होता और इसलिए अचेतन मन में नैतिक द्वंद्व नहीं हो सकता है।

युंग ने भी यह स्वीकार किया है कि हमारे विगत अनुभवों का दमन होता है। दमित अनुभवों से निर्मित अचेतन मन को युंग ने 'व्यक्तिगत अचेतन' का नाम दिया है। लेकिन कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जो व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त नहीं की जा सकतीं। उनकी प्राप्ति अवश्य ही मन के गहन आदिम स्तरों से होती होगी। मन का गहनतम स्तर जातीय अनुभवों से निर्मित होता है। मन के ऐसे गहन स्तर को युंग ने 'सामूहिक अचेतन' नाम दिया है—सामूहिक इसलिए कि वह व्यक्तिगत अनुभवों का भंडार न होकर जातिगत अनुभवों का भंडार होता है।

सामूहिक अचेतन में "मानवीय कल्पना की आनुवंशिक रूप से प्राप्त होनेवाली शक्तियां रहती हैं।" सामूहिक अचेतन प्रागैतिहासिक काल की प्रतिध्वनि होता है और वह मानव जाति के श्रेष्ठतम कार्यों का आगार ही न होकर उसके निकृष्टतम कर्मों का आगार भी होता है। सामूहिक अचेतन अनजाने में हमारे व्यवहार को प्रभावित करता रहता है। चूंकि हमें सामूहिक अचेतन की शक्तियों का कभी चेतन अनुभव नहीं होता, इसलिए फ्रायड के अनुसार यह नहीं माना जा सकता कि उनका दमन होता है। सामूहिक अचेतन की आदिम शक्तियां बड़ी उग्र और प्रचंड होती हैं और उनके वशीभूत होने पर मनुष्य क्या कुछ नहीं कर बैठता। हत्यारा शायद ठीक ही कहता है कि हत्या करते समय उसे "न मालूम क्या हो गया था" जिसे वह न तो समझ ही सकता था और न ही उस समय अपने पर काबू रख सकता था। सामूहिक अचेतन की शक्तियां चेतन स्तर तक आकर हमारे भाग्य का निर्धारण कर सकती हैं। चेतन स्तर पर आने का एक साधन है स्वप्न।

फ्रायड के विपरीत युंग ने यह माना है कि अचेतन मन में नैतिक मूल्य और अपराध की भावना भी रहती है, जिससे अचेतन में नैतिक द्वंद्व हो सकता है। अचेतन मन के इस नैतिक द्वंद्व की झलक हमारे स्वप्नों में अक्सर देखने को मिल जाती है।

अतिनिर्धारण : प्रतिपूरक प्रतिक्रिया का एक उग्र रूप। छोटे कद की स्त्री की लंबे व्यक्ति से शादी करने की इच्छा अतिनिर्धारण का उदाहरण है। अतिनिर्धारण से व्यक्ति कभी-कभी अपने-आप को ऐसी चीजों से संबंधित कर लेता है, जिनको संभालना उसकी शक्ति से बाहर होता है। तब यह खतरा रहता है कि कहीं वह उसी चीज़ के ख्याल में हरदम न डूबा रहे। ऐसा हो जाने पर उसका व्यक्तित्व मिट जाता है और वह स्वयं अपनी प्राप्य वस्तु की छाया-मात्र बनकर रह जाता है।

अधिवृक्क ग्रंथि : यह ग्रंथि पेट में दोनों गुर्दों के ऊपर शरीर में दोनों ओर होती है और 'एड्रीनैलिन' नामक हार्मोन का उत्पादन करती है, जिससे रुधिर में शर्करा अधिकता से आ जाती है और रुधिर की आक्सीजन (प्राणवायु) ग्रहण करने की क्षमता बढ़ जाती है। रागात्मक प्रतिक्रियाओं में अधिवृक्क ग्रंथि का बड़ा महत्त्व होता है। इस ग्रंथि के दोषयुक्त होने से न्यूरोनीय उत्तेजन की क्षमता घट जाती है जिससे प्राणी कुशलतापूर्वक व्यवहार नहीं कर पाता। शरीर में एड्रीनैलिन की मात्रा अधिक रहने से पाचन क्रिया ठीक से नहीं हो पाती। एड्रीनैलिन का स्राव कम होने से 'एडिसन का रोग' हो जाता है और स्राव ज्यादा होने से गौण यौन विशेषताएं, जैसे, पुरुषों में स्त्रीवत् लक्षणों का प्रकट होना और स्त्रियों में आवाज भारी हो जाना, स्तनों का विकास न हो पाना और दाढ़ी-मूंछ निकल आना आदि, प्रकट हो जाती हैं। अधिवृक्क ग्रंथि का यह दोष व्यक्ति के लिए सफल समायोजन और संतुलित व्यवहार करने की समस्याएं पैदा कर देता है।

अनिद्रा : एक प्रकार के मानसिक रोग का लक्षण, जिसमें व्यक्ति ठीक से सो नहीं पाता। इसका मूल कारण शारीरिक तनाव होता है। अनिद्रा कई प्रकार की हो सकती है। कभी तो सोने के थोड़ी देर बाद ही नींद खुल जाती है और फिर सोना मुश्किल हो जाता है। कभी बार-बार नींद आती और टूटती रहती है और कभी रात-रात भर नींद नहीं आती।

अनुकरण : यह सीखने की एक प्रणाली है, जिसके द्वारा बच्चे बहुत-सी बातों को अपने बड़ों का अनुकरण करके

सीखते हैं। बच्चे असहाय और पराश्रित होते हैं। वे अपनी शारीरिक तथा अन्य आवश्यकताओं को उसी तरह पूरा करते हैं, जिस तरह औरों को करते देखते हैं। अनुकरण द्वारा सीखने की आवश्यकता इसलिए होती है कि हम व्यवहार करने के अन्य तरीकों को न जानकर केवल उन्हीं तरीकों को जानते हैं जिन्हें और लोग भी जानते हैं। खाना, पीना, बोलना, लिखना-पढ़ना, रहन-सहन के तरीकों आदि हज़ारों बातों को समाज-सापेक्ष ढंग से अनुकरण करके ही सीखा जाता है।

अनुकरण द्वारा तभी सीखा जा सकता है, जब सीखने के लिए कुछ आवश्यक कुशलता पहले से ही मौजूद हो। बहुत सी जटिल कुशलताएं अनुकरण द्वारा ही सीखी जाती हैं। अनुकरण करने से प्रतिक्रिया की सार्थकता समझ में आती है और समस्या को हल करने के विभिन्न सोपानों का एक मानसिक प्रतिबिंब-सा बन जाता है। साथ ही मन ही मन में मौखिक रूप से समस्या को हल करने की दिशा का निर्धारण भी होता रहता है। कभी-कभी मौखिक क्रिया के साथ-साथ हाथ-पैर भी नकल करते हैं। अनुकरण से सीखने से समय की बचत होती है, जो सीखने के अन्य प्रकारों मे नहीं होती। अनुकरण से किसी समस्या को हल करने से संबंधित विभिन्न सोपानों का पूर्वज्ञान हो जाता है और इसी से समय की बचत होती है। यह पूर्वज्ञान अन्य प्रकार से सीखने में नहीं हो पाता।

अनुत्तेजन काल : क्या आप कभी आत्मविभोर होकर ठगे-से नहीं रह गये हैं? क्या आप कभी हंसते-हंसते लोटपोट नहीं हुए हैं? क्या आपने कभी आश्चर्यचकित हो, आंखें फाड़-फाड़कर नहीं देखा है? यदि आपको ऐसा अनुभव हुआ है, तो आपने देखा होगा कि आप ऐसे क्षणों में बिलकुल निष्क्रिय और स्तंभित हो जाते हैं। आपका यह अनुभव तंत्रिकीय क्रिया की इस विशेषता की ओर संकेत करता है कि यदि प्रतिवर्त क्रिया द्वारा कोई तीव्रता से उत्तेजित हो जाये, तो वह कुछ क्षणों के लिए अनुत्तेज्य हो जाता है और इस अनुत्तेजन काल में उसे दुबारा उत्तेजित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि किसी पेशी या तंत्रिका में शक्ति एक निश्चित मात्रा में रहती है और पेशी या तंत्रिका के उत्तेजित होने पर तत्संबंधी क्रिया में पूरी शक्ति का व्यय हो जाता है, उसके किसी अंश का नहीं। पल भर में पेशी या तंत्रिका में शक्ति फिर आ जाती है। कोई पेशी या तंत्रिका अपनी पूरी शक्ति के साथ क्रिया करती है। अनुत्तेजन काल पेशी या तंत्रिका के पूरी शक्ति के साथ क्रिया करने-और उस पेशी या तंत्रिका में दुबारा क्रिया करने के लिए फिर शक्ति संभरण के बीच का समय होता है, जिसमें पेशी या तंत्रिका को उसकी सारी शक्ति व्यय हो जाने के कारण उत्तेजित नहीं किया जा सकता।

अनुबंधन : प्रत्येक प्राणी को परिवेश से अपना संतुलन और समायोजन अधिक कुशलता से कर सकने की क्षमता बढ़ाने के लिए बहुत-सी बातें सीखनी पड़ती हैं और उन बातों को सीखने का एक प्रकार है—अनुबंधन।

प्रत्येक प्रतिक्रिया तत्संबंधी उद्दीपन मिलने पर ही होती है। उद्दीपन और तत्संबंधी प्रतिक्रिया में सक्रिय संबंध होता है। यदि किसी उद्दीपन से तत्संबंधी प्रतिक्रिया नहीं होती है, तो वह उद्दीपन उस प्रतिक्रिया के लिए तटस्थ उद्दीपन होता है। खाना देखकर मुंह में लार का आना, सुई चुभने पर पैर का हट जाना, तेज प्रकाश में आंख की पुतली का सिकुड़ जाना आदि उद्दीपनों और प्रतिक्रियाओं में सक्रिय संबंध होता है। किंतु घंटी सुनकर मुंह में लार नहीं आती। किताब देखकर पुतली नहीं सिकुड़ती और दरी छूने पर पैर नहीं हटते; क्योंकि यहां उद्दीपनों और प्रतिक्रियाओं में सक्रिय संबंध नहीं है। मुंह में लार आने, पुतली सिकुड़ने और पैर हटने की प्रतिक्रियाओं के लिए घंटी, किताब और दरी की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वे उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं के लिए तटस्थ उद्दीपन होते हैं। सक्रिय उद्दीपनों से तो तत्संबंधी प्रतिक्रियाओं का होना स्वाभाविक है, किंतु सिखाये जाने पर वे ही प्रतिक्रियाएं तटस्थ उद्दीपनों से भी होने लगती हैं। किसी सक्रिय उद्दीपन (खाने) से होनेवाली प्रतिक्रिया (लार बहने) का किसी तटस्थ उद्दीपन (घंटी) से भी होने लगने को अनुबंधन कहा जाता है।

अनुबंधन से सीखने की खोज रूसी शरीरविज्ञानी इवान पावलोव ने की थी। पाचन-क्रिया संबंधी अध्ययन करते समय उन्हें सीखने के इस महत्त्वपूर्ण प्रकार का पता चला। तब से उन्होंने इस बात का बड़ा विशद अध्ययन किया कि सीखने में मन किस प्रकार क्रियाएं करता है।

वे अपनी प्रयोगशाला में कुत्तों पर प्रयोग करते थे। उन्होंने एक कुत्ते के निचले जबड़े में रबड़ की नली लगा दी, जिससे कुत्ते की लार एक कटोरे में जमा की जा सके। इस प्रकार एक निश्चित समय में कुत्ते की लार कितनी टपकी, यह जान सकना संभव हो गया।

पावलोव ने कुत्ते को खाना देने से पहले घंटी बजाना शुरू किया। खाना पाते ही कुत्ते के मुंह से लार बहने लगती थी; क्योंकि लार बहने की प्रतिक्रिया के लिए खाना सक्रिय उद्दीपन है। बाद में कुत्ते को खाना देने के साथ-साथ घंटी भी बजायी जाती रही। थोड़े दिनों बाद देखा गया कि केवल घंटी बजाने से ही कुत्ते के मुंह से लार बहने लगती थी। इस प्रकार खाने और कुत्ते की लार बहने में पहले जो संबंध था, वही अब पावलोव के उपर्युक्त प्रयोग के बाद घंटी और लार में स्थापित हो गया। खाना-लार की जगह घंटी-लार के इस नये संबंध के स्थापित होने को पावलोव ने 'अनुबंधन' नाम दिया।

इसके बाद पावलोव और उनके साथियों ने कुत्ते की लार बहने की प्रतिक्रिया का देखने, सूंघने और छूने आदि के विभिन्न उद्दीपनों से अनुबंधन किया। पावलोव का विचार था कि विभिन्न उद्दीपनों द्वारा अनुबंधन करने पर कान, आंख, नाक, त्वचा आदि और लारवाही यंत्रों में कुछ नये 'न्यूरोनीय द्वार' बन जाते हैं, जिनका संचालन वल्कुट से होता है। अब अनेक प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि अनुबंधन में सामान्यतः वल्कुट का हाथ रहता है, तथापि अनुबंधन वल्कुट पर निर्भर नहीं होता। वल्कुट निकाल दिये जाने पर भी प्राणी का अनुबंधन करना संभव है। किंतु यह विवादग्रस्त विषय है कि वल्कुट-रहित अवस्था में प्राणी के अनुबंधन को वास्तविक अनुबंधन कहा जा सकता है या नहीं। पावलोव का विश्वास था कि प्राणी जो कुछ भी सीखता है, उस सबको अनुबंधन कहा जा सकता है। उनका कहना है कि "तरह-तरह की आदतें, शिक्षा, हर प्रकार का संयम और दीक्षा अनुबंधित प्रतिवर्तों की एक लंबी श्रृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

अनुमस्तिष्क : मस्तिष्क का यह भाग सिर के पीछे की ओर होता है और प्रमस्तिष्क से आच्छादित होता है। अनुमस्तिष्क संवेदी और प्रेरक प्रेरणाओं से इस प्रकार संगठन करता है, जिससे सारा शरीर संतुलित और व्यवस्थित रूप से काम कर सके। अनुमस्तिष्क का काम शारीरिक संतुलन बनाये रखना होता है। अनुमस्तिष्क पर आघात पहुंचने से व्यक्ति अपना शारीरिक संतुलन खो बैठता है और चलने पर शराबी की भांति लड़खड़ाने लगता है। सारा पेशीय-संतुलन अनुमस्तिष्क पर निर्भर रहता है।

अनृतदर्शी : अनृतदर्शी से किसी व्यक्ति के झूठ को उसकी नाड़ी की गति और रक्त-चाप, श्वसन क्रिया और त्वचा के विद्युत प्रतिरोध में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर पकड़ा जाता है। यह तो सभी को मालूम है कि रागात्मक अनुभव से नाड़ी की गति और रक्त-चाप और श्वसन क्रिया में परिवर्तन होते हैं, किंतु त्वचा के विद्युत-प्रतिरोध में परिवर्तन होना बड़ा रहस्यमय है। यह देखा गया है कि आकस्मिक आघात लगने पर या कोई रागात्मक अनुभव होने पर त्वचा का विद्युत-प्रतिरोध घट जाता है और यह प्रतिरोध आघात या रागात्मक अनुभव की तीव्रता के अनुपात से घटता है। आघात या रागात्मक अनुभव जितना ही तीव्र होगा, त्वचा का विद्युत प्रतिरोध उतना ही घट जायेगा। इस प्रतिरोध के घटने का कोई समुचित कारण तो पता नहीं चल सका है; किंतु इसका यह कारण मानने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि विद्युत प्रतिरोध के कम होने का संबंध स्वेद-ग्रंथियों से होता है। यह देखा गया है कि रागात्मक अनुभव का प्रभाव स्वेद-ग्रंथियों पर पड़ता है और पसीना थोड़ा नमकीन होने से विद्युत का सुचालक है। रागात्मक अनुभव के समय स्वेद-ग्रंथि पर पड़नेवाले प्रभाव से पसीना आने लगता है और पसीने से त्वचा की विद्युतचालकता बढ़ जाती है, जिससे विद्युत-प्रतिरोध घट जाता है।

अनृतदर्शी में कागज के फीते का एक पेंचक लगा रहता है, जो एक नियमित गति से चलता रहता है और इस फीते पर कई लेखनियां झूठ बोलनेवाले के रागात्मक अनुभव से पैदा होनेवाले विभिन्न आंतरिक शारीरिक परिवर्तनों को अंकित करती रहती हैं। ये लेखनियां बिजली से चलनेवाले विविध प्रकार के यंत्रों में लगी रहती हैं, जो रक्तचाप, श्वसनक्रिया आदि का आलेखन करने के लिए झूठ बोलनेवाले के शरीर के विभिन्न अंगों से बांध दिये

जाते हैं। अनृतदर्शी अनृत या झूठ को न दिखाकर रक्तचाप, श्वसनक्रिया और त्वचा के विद्युत-प्रतिरोध में होनेवाले परिवर्तनों को दिखाती है, जिन्हें झूठ का प्रमाण माना जाता है। झूठ बोलनेवाले को ऐसी स्थिति में रखकर प्रश्न पूछे जाते हैं, जहां उस पर किसी और प्रकार का रागात्मक प्रभाव न पड़ सके। झूठ बोलने और पकड़े जाने के भय से जो आंतरिक शारीरिक परिवर्तन होते हैं, उनके आधार पर झूठ का अनुमान किया जाता है।

अनृतदर्शी में नाड़ी की गति और रक्तचाप का अंकन करने के लिए 'स्फिग्मोमैनोमीटर' नामक यंत्र होता है, जिसे दोषी पात्र के घुटने के नीचे बांध दिया जाता है। श्वसनक्रिया के अंकन के लिए 'न्यूमोग्राफ' यंत्र होता है, जिसे पात्र की छाती और पेट से बांध दिया जाता है। त्वचा का विद्युत-प्रतिरोध जानने के लिए पात्र की हथेली और उसके पीछे इलेक्ट्रोड लगा दिये जाते हैं। परीक्षा करने से पहले पात्र को मशीन का सारा काम समझा दिया जाता है और उसे यह भी बता दिया जाता है कि मशीन केवल उस के कुछ आंतरिक शारीरिक परिवर्तनों का ही अंकन करेगी और इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। पात्र की अधीरता और उसके मानसिक तनाव को घटाने के लिए उसे यह भी बता दिया जाता है कि उससे किसी प्रकार के व्यक्तिगत प्रश्न नहीं पूछे जायेंगे।

पात्र को इस प्रकार परीक्षा के लिए तैयार कर लेने के बाद परीक्षक उससे कुछ ऐसे प्रश्न पूछता है, जो उस अपराध से संबंधित होते हैं, जिसकी खोज की जा रही है। और कुछ ऐसे प्रश्न, जो अपराध से संबंधित नहीं होते हैं। अपराध से संबंधित और असंबंधित प्रश्नों के पूछने पर रक्तचाप, श्वसनक्रिया और त्वचीय विद्युत-प्रतिरोध में जो अंतर पाया जाता है, वही अपराध का सूचक होता है।

झूठ पकड़ना चूंकि संबंधित और असंबंधित प्रश्नों के प्रति होनेवाली अनुक्रियाओं की तुलना पर निर्भर करता है, इसलिए इन अनुक्रियाओं की व्याख्या करने में बड़ा सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता होती है। झूठ का पता तभी चल सकता है, जब संबंधित और असंबंधित प्रश्नों के प्रति हुई अनुक्रियाओं में काफी अंतर हो और अनेक आकस्मिक कारणों, जैसे, छींकने आदि और व्यक्ति की अधीरता या अन्य मनोदशाओं का अनुक्रियाओं पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे संबंधित-असंबंधित प्रश्नों के प्रति हुई अनुक्रियाओं से सरलता से अलग किया जा सके।

अन्यारोपण : मनोविश्लेषण के समय जब रोगी मनोविश्लेषक को अपने बचपन या अतीत के किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की प्रतिमूर्ति मानकर उस पर अपने बचपन या अतीत के किसी व्यक्ति से संबंधित अपनी भावनाओं और प्रतिक्रियाओं का आरोपण करता है, तो इसे अन्यारोपण कहा जाता है। मान लीजिए, रोगी के मन में बचपन में अपने पिता के प्रति घृणा की भावना रही हो और यदि वह विश्लेषक को पिता का स्थानापन्न बनाकर उस पर अपनी घृणा आरोपित कर डाले, तो यह अन्यारोपण होगा। अधिकांश मनोविश्लेषक अन्यारोपण को केवल मनोविश्लेषण तक ही सीमित रखते हैं, किंतु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अन्यारोपण की घटना के उदाहरण मनोविश्लेषण के क्षेत्र के बाहर भी मिलते हैं। दमित इच्छाओं से संबंधित संवेगों की परीक्षा करना और उन्हें दमित इच्छाओं से अलग करना केवल मनोविश्लेषण से ही संभव होता है। हमारे व्यक्तित्व की लगभग सभी अभिव्यक्तियों पर पूर्व-अनुभवों की छाप देखी जा सकती है, किंतु अन्यारोपण में ही यह बात अच्छी तरह देखी जा सकती है कि हमारा अतीत हमारे वर्तमान को किस प्रकार और कितना प्रभावित कर रहा है।

अपचार : बाल्यकाल में किये जानेवाले मामूली अपराधों को अपचार कहा जाता है। बालक अपचारी क्यों बन जाते हैं––इस पर बर्ट और हीले ने विशेष अनुसंधान किया है। उन्होंने अपराधी और निर्दोष बालकों के पारिवारिक परिवेश का अध्ययन करके यह बताया है कि बच्चे अपराधी तभी बनते हैं, जब उनका पारिवारिक परिवेश दूषित हो। प्रतिदिन मां-बाप की अनबन और लड़ाई, बच्चों के प्रति मां-बाप का रूखा और कड़ा व्यवहार, परिवार के नैतिक स्तर की गिरावट और घोर निर्धनता आदि अपचार के प्रमुख कारण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त बच्चे में स्वयं भी अपचार के कारण हो सकते हैं। दुर्बलमनस्क और अदृढ़ स्वभाव के बच्चों के अपचारी बन जाने की संभावना इसलिए ज्यादा होती है कि वे बड़ी सुगमता से अपने परिवेश से प्रभावित हो जाते हैं।

अपचारी बच्चे बड़े होकर समाज के लिए एक समस्या

बन जाते हैं। इस सामाजिक समस्या का समाधान यही है कि प्रत्येक परिवार के परिवेश में ऐसे सुधार करवा दिये जायें, जिससे उनमें पलनेवाले बच्चों के विकास में कोई संवेगात्मक बाधा न आये और उन पर पारिवारिक परिवेश का दूषित प्रभाव न पड़ सके।

अपसामान्यता : अपसामान्यता का अनुमान व्यक्ति के व्यवहार को ही देखकर किया जाता है। जो व्यक्ति अपनी नैतिक-सामाजिक वास्तविकता से अपना संतुलन स्थापित नहीं कर पाता, उसका व्यवहार अपसामान्य होता है। अपसामान्य व्यक्ति अपने-आपको अपने समाज और संस्कृति के अनुरूप नहीं बना पाता। इस संतुलनात्मक कसौटी के आधार पर अपसामान्य और अपरंपरागत व्यवहार में कोई अंतर नहीं रह जाता। तो क्या प्रचलित परंपराओं को अस्वीकार करना ही अपसामान्यता है?

विभिन्न जातियों की संस्कृति और परंपराओं में बड़ा अंतर होता है और जो व्यवहार एक समाज और जाति के लिए अपसामान्य हो सकता है, वही किसी दूसरे समाज और जाति के लिए सामान्य हो सकता है। ग्लोवर ने इसीलिए अपने संदेह को यह कहकर प्रकट किया है: "सामान्यता स्वयं पागलपन का एक रूप हो सकती है और चूंकि वह वास्तविकता से अच्छा संतुलन कराने का साधन होती है, इसलिए हम उसके पागलपन के पक्ष को नहीं देख पाते।" संतुलनात्मक कसौटी की सबसे बड़ी कमी यही है कि उसके अनुसार हर संस्कृति और समाज को अन्य संस्कृतियों और समाजों के समतुल्य मान लिया जाता है।

अपसामान्यता की दूसरी कसौटी परिमाणात्मक है। इसके अनुसार अपसामान्यता का अर्थ सामान्यता का अभाव है। सामान्यता को एक औसत समझा जाता है और उस औसत से बहुत कम या बहुत ज्यादा को अपसामान्यता कहा जाता है। यह कसौटी भी लगभग संतुलनात्मक कसौटी के समान है। इस कसौटी के अनुसार भी अपसामान्यता का अर्थ जातीय संस्कृति और परंपराओं को स्वीकार न करना है। इस कसौटी में अपसामान्यता को सामान्यता का अतिरंजित रूप तथा सामान्यता-अपसामान्यता में केवल मात्रा-भेद ही माना जाता है।

जनसाधारण में अपसामान्यता और सामान्यता का गुणात्मक अर्थ प्रचलित है। उनके अनुसार कोई मनुष्य या तो पागल होगा, या नहीं होगा; अपसामान्य होगा, या नहीं होगा। इस कसौटी के अनुसार सामान्यता-अपसामान्यता में मात्रा का भेद न होकर प्रकार का भेद होता है। अपसामान्यता सामान्यता का सापेक्ष असामंजस्य या विभिन्न शारीरिक अवयवों के कार्य की अव्यवस्था न होकर एक नयी स्थिति होती है—एक ऐसी स्थिति, जिसमें ऐसी अनेक नयी बातें रहती हैं, जो सामान्य रूप से नहीं होतीं।

इन कसौटियों को परस्पर विरोधी न समझकर एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपसामान्यता को ठीक से तभी समझा जा सकता है, जब संबंधित व्यक्ति को उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य के विषय में रुचि और अवधान की दिशा को जान लिया जाये और साथ ही यह भी मान लिया जाये कि उसने अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य पर अपनी शक्ति का व्यय किस अनुपात में किया है। हमें अपना संतुलन अपने वर्तमान और भविष्य से करना पड़ता है। इसलिए जो व्यक्ति अपने भविष्य को भूलकर अतीत में ज्यादा उलझा रहता है, उसमें अपसामान्यता होती है।

अपसामान्य मनोविज्ञान : मनोविज्ञान का एक अध्ययन-क्षेत्र, जिसमें अपसामान्य व्यवहार का अध्ययन और उसके कारणों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। व्यवहार अपसामान्य क्यों बन जाता है? उसको अपसामान्य बनाने में व्यक्ति की जन्मजात, अर्जित और गत्यात्मक शक्तियों का क्या प्रभाव पड़ता है? अपसामान्य व्यवहार से मानवीय व्यवहार में क्या-क्या विलक्षणताएं आ जाती हैं? व्यवहार को सामान्य कैसे बनाया जा सकता है, जिससे व्यक्ति जीवन की आवश्यकताओं से अपना संतुलन फिर से स्थापित कर सके? आदि महत्त्वपूर्ण बातों की खोज अपसामान्य मनोविज्ञान में की जाती है।

अपस्मार : यह तांत्रिकातंत्र की एक बीमारी है, जिसकी अभिव्यक्ति रह-रहकर आकस्मिक ढंग से संवेदन-शून्यता और चेतना के भंग होने से होती है और जिसके प्रभाव से रोगी अनर्गल और अपसामान्य व्यवहार करने लग जाता है। अपस्मार का दौरा खत्म होने पर रोगी को एक

अजीब तरह की थकान महसूस होती है।

अपस्मार के दो दौरे हो सकते हैं: बड़ा दौरा और छोटा दौरा। बड़े दौरे के पहले रोगी अक्सर बेचैन, चिड़-चिड़ा, उद्दंड और गर्म मिजाज हो जाता है। दौरे के बाद रोगी को शारीरिक बेचैनी, दृष्टि, गंध या श्रवण या किसी और प्रकार का मतिभ्रम होता है। इसके बाद रोगी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ता है।

छोटे दौरे में रोगी जमीन पर गिरता तो नहीं, लेकिन कुछ देर तक लड़खड़ा सकता है। वह कुछ देर के लिए चेतना-शून्य भी हो जाता है और जब उसकी चेतना फिर लौट आती है, तो वह अपने काम में यों लग जाता है, मानो उसकी मानसिक क्रियाओं में कोई बाधा पड़ी ही न हो।

अपस्मार के दो पक्ष होते हैं: तानिक और अवमोटनी। तानिक पक्ष में मूर्च्छा आने के बाद शरीर की पेशियों में एक-आध मिनट तक आक्षेप होता रहता है। तानिक पक्ष के बाद अवमोटनी पक्ष आता है, जिसमें पेशियों में क्रमिक रूप से संकुचन तथा प्रसारण होता रहता है। जबड़े की पेशियों में संकुचन होता है तथा प्रसारण से थूक मथ जाता है और मुंह से झाग आने लगते हैं। धीरे-धीरे संकुचन कम होता जाता है और इस हालत में रोगी सोना पसंद करता है। जागने पर उसे सिरदर्द या थकन महसूस होती है। अपस्मार का दौरा सोते या जागते किसी भी समय हो सकता है। कुछ रोगियों को अचेतन हालत में ही लगातार पांच या छह दौरे आ जाते हैं।

अपस्मारी व्यक्ति में धीरे-धीरे मानसिक क्षीणता होती रहती है। खोजों से यह भी पता चला है कि अपस्मार के दौरों की तीव्रता तथा आवृत्ति का मानसिक क्षीणता से कोई संबंध नहीं होता है। अपस्मार जीवन के प्रारंभिक काल में ज्यादा होता है। स्प्रैटलिंग के अनुसार अपस्मार दस वर्ष से कम आयुवाले 38.5 प्रतिशत लोगों में, दस से बीस की आयु के बीच 43 प्रतिशत लोगों में और बीस से उनतीस की आयु के बीच 9 प्रतिशत लोगों में पाया जाता है। गाउबर के अनुसार अपस्मार के लक्षण 76 प्रतिशत लोगों में बीस वर्ष की आयु के पहले ही प्रकट हो जाते हैं।

अभिक्षमता : यह देखा गया है कि किसी काम को कुछ लोग जल्दी सीख लेते हैं और उसमें उच्च कोटि की दक्षता प्राप्त कर लेते हैं, जबकि दूसरे लोग उसी काम को जल्दी नहीं सीख पाते और उच्च कोटि की दक्षता भी प्राप्त नहीं कर पाते। प्रशिक्षण द्वारा किसी वर्तमान योग्यता को और बढ़ाकर उसमें दक्षता प्राप्त कर लेने को अभिक्षमता कहा जाता है। कोई व्यक्ति कुछ कामों के लिए अन्य कामों की अपेक्षा अधिक अभिक्षम हो सकता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनकी अभिक्षमता काफी व्यापक होती है। कुछ श्रेष्ठ विद्वान अच्छे खिलाड़ी और अच्छे कारीगर भी होते हैं।

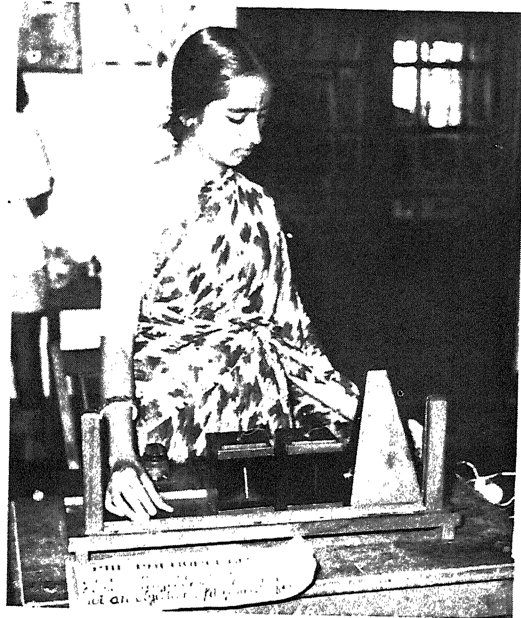
अभिक्षमता में कुछ जन्मजात बातें भी बड़ी सहायक होती हैं। मान लीजिए, किसी में टाइप करने या घड़ियां बनाने की अभिक्षमता हो और यदि उसके हाथ की उंगलियां भी पतली और फुर्तीली हों, तो वे टाइप करने या घड़ी बनाने की उसकी अभिक्षमता में काफी सहायक होंगी। कुछ व्यक्ति अपनी शरीर-रचना के कारण ही कुछ काम दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता और निपुणता से कर लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी काम के लिए अभिक्षमता जन्मजात होती है। अभिक्षमता संभवतः हमारी आनुवंशिकता और हम जो कुछ सीखते हैं, उन दोनों पर निर्भर होती है। अभिक्षमता का अर्थ वे विशेषताएं हैं, जो प्रशिक्षण के बाद हमारी भावी संभावनाओं की ओर संकेत करती हैं।

अभिक्षमता-परीक्षण : विभिन्न प्रकार की अभिक्षमताओं को जानने के लिए अनेक अभिक्षमता-परीक्षण बनाये जा चुके हैं। इन परीक्षणों का महत्त्व इस बात में होता है कि उनके द्वारा ऐसे लोगों का चयन किया जा सकता है, जो किसी काम में अभीष्ट प्रशिक्षण के बाद एक विशिष्ट स्तर की दक्षता प्राप्त कर लें। अभिक्षमता-परीक्षण दो प्रमुख उद्देश्यों से किया जाता है। एक तो युवकों को यह परामर्श देने के लिए कि उनमें किन विशेष क्षेत्रों में ज्यादा सफल हो सकने की संभावना है, दूसरे कुछ विशेष कामों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को चुनने के लिए।

शैक्षणिक कार्यों में प्रशिक्षण की सफलता का पूर्वानुमान करनेवाले परीक्षणों को शैक्षणिक अभिक्षमता-परीक्षण और किसी व्यवसाय के लिए उपयुक्त लोगों को चुनने के लिए किये गये परीक्षण को व्यावसायिक अभिक्षमता-



अध्ययन: दोनों हाथों का समन्वय



फाई का अध्ययन



अध्ययन: निग्ली ब्‌लाक



अध्ययन: स्टाल मेज

परीक्षण कहा जाता है। अनेक क्षेत्रों, जैसे आयुर्विज्ञान, इंजीनियरी आदि से संबंधित अनेक शैक्षणिक अभिक्षमता-परीक्षण प्रचलित हैं। किंतु बहुत से उद्योग-धंधों में शैक्षणिक अभिक्षमता-परीक्षणों से कोई विशेष लाभ नहीं होता। कुछ धंधों में यांत्रिक योग्यता अधिक अपेक्षित होती है और कुछ में प्रत्यक्ष शक्ति या मनोप्रेरण। इन विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर अनेक प्रकार के व्यावसायिक परीक्षण बना लिये गये हैं, जिनमें शैक्षणिक अभिक्षमता यानी प्रशिक्षण की सफलता के पूर्वानुमान का कोई विशेष महत्त्व न होकर इस बात का महत्त्व होता है कि व्यक्ति में अभीष्ट धंधे के लिए अपेक्षित अभिक्षमता है या नहीं। इस अभीष्ट अभिक्षमता को व्यक्ति की उस विशेष धंधे को शीघ्र सीख-समझ लेने की योग्यता, उसके दैनिक औसत उत्पादन की क्षमता और उसके द्वारा की जानेवाली टूट-फूट के परिमाण के प्रसंग में आंका जाता है।

अभिज्ञान : किसी चीज का अभिज्ञान करना या उसे पहचानना इसलिए आसान है कि अभिज्ञान के समय उद्दीपन मौजूद रहता है। अभिज्ञान के लिए उद्दीपन का पूर्व-अनुभव होना आवश्यक है। जिस उद्दीपन का अनुभव हमें कभी नहीं हुआ हो, उसका अभिज्ञान भी नहीं हो सकता।

अभिज्ञान का संबंध उतना अवधारण करने से नहीं है, जितना प्रत्यक्ष करने से है। अभिज्ञान और प्रत्यक्ष में केवल यही एक अंतर है कि अभिज्ञान में उद्दीपन से 'परिचित होने' का भाव रहता है, जो प्रत्यक्ष करने में नहीं रहता। अभिज्ञान करते समय हमें लगता है कि हम जिस चीज का अभिज्ञान कर रहे हैं, उसे हमने पहले भी देखा है।

अभिज्ञान में गलतियां भी होती हैं और वे दो प्रकार की होती हैं: परिचित उद्दीपन को न पहचान सकना और नये या अपरिचित उद्दीपन को पहचानने में गलती करना। परिचित उद्दीपन को उसके बदले हुए रूप या बदली हुई परिस्थितियों में पहचान सकने में गलती हो जाती है; क्योंकि उसे उस रूप या उन परिस्थितियों में देखने के लिए हम मानसिक रूप से तैयार नहीं होते।

दूसरी ओर जब हम परिचित उद्दीपन को पहचानने के लिए मानसिक रूप से तैयार होते हैं, तब हम परिचित उद्दीपन से सादृश्य रखनेवाले उद्दीपनों को भी परिचित समझ लेते हैं। सादृश्य जितना अधिक होता है, अभिज्ञान की गलती भी उसी अनुपात से होती है, चाहे हम उसके लिए मानसिक रूप से तैयार न भी हों।

अभिप्रेरण : हमारी प्रत्येक प्रतिक्रिया के पीछे कोई न कोई अभिप्रेरणा अवश्य होती है। प्रतिक्रिया करानेवाला प्रत्येक उद्दीपन व्यवहार का अभिप्रेरक होता है। प्रत्येक अभिप्रेरक के पीछे कोई उद्देश्य होता है। यों तो प्रत्येक अभिप्रेरक आंतरिक या बाह्य रूप से व्यवहार करने की प्रेरणा देनेवाला होता है, किंतु आजकल मनोविज्ञान में किसी अभिप्रेरक को उद्देश्यमूलक तभी कहा जाता है, जब उस पर आंतरिक नियंत्रण किया जा सके। बाह्य नियंत्रण से प्रेरित क्रियाओं को उद्देश्यमूलक नहीं माना जाता। तेज प्रकाश में पलकों के स्वतः झपक जाने को उद्देश्यमूलक नहीं कहना चाहिए; क्योंकि पलकों की क्रिया का नियंत्रण और संचालन किसी परिवर्तनीय आंतरिक शारीरिक स्थिति से न होकर आंख की रचना से होता है। वस्तुतः कोई अभिप्रेरक उद्देश्यमूलक तभी होता है, जब वह भूख-प्यास जैसी परिवर्तनीय शारीरिक स्थितियों पर आधारित हो।

अभिप्रेरण के उद्देश्य का अनुमान प्रतिक्रिया को देखकर किया जाता है। पानी पीने की प्रतिक्रिया को देखकर ही प्यास बुझाने के उद्देश्य का अनुमान किया जा सकता है। इच्छा, रुचि, प्रवृत्ति, रुझान, पसंद आदि शब्द उद्देश्यमूलक हैं। हम एक क्षण एक उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं और दूसरे क्षण किसी और उद्दीपन के प्रति। इस बीच हुए परिवर्तन हमारे उद्देश्य में होते हैं।

हमारी क्रियाएं तब तक होती रहती हैं, जब तक हम तत्संबंधी लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेते। लक्ष्य प्राप्ति के बाद तत्संबंधी क्रिया समाप्त हो जाती है। अभिप्रेरण से हमारे अंदर तनाव पैदा हो जाता है, जिससे मुक्त होने के लिए हमें कुछ न कुछ करना पड़ता है। कभी-कभी अनेक प्रकार के व्यवहार में एक ही अभिप्रेरणा की अभिव्यक्ति होती है, जैसे प्रतिष्ठा पाने के लिए कोई किताबें लिखता है, कोई धर्मशाला बनवाता है, कोई समाज-सेवा करता है, तो कोई अतिशय धनोपार्जन करता है। इसी प्रकार एक ही प्रकार के व्यवहार के पीछे अनेक अभिप्रेरण हो सकते हैं। हत्या का कारण क्रोध, डर, आत्मरक्षा, लालच या वासना आदि में से कोई भी हो सकता है।

अभिवर्तन : यह जीवकोशिका और अंगों की भौतिक और रासायनिक आधार पर की जानेवाली प्रतिक्रिया है, जैसे सूरजमुखी फूल का सूर्य की ओर घूमते रहना। घूमने की दिशा उद्दीपन के उद्‌गम स्थान पर निर्भर होती है। अभिवर्तन में प्रयोजन या ध्येय का कोई पूर्वज्ञान नहीं होता है। प्राणी का आंतरिक तंत्र उद्दीपन के प्रति एक विशेष प्रकार से प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य हो जाता है। अभिवर्तन सामान्यतः पेड़-पौधों, कीटों और निम्न कोटि के पशुओं में देखने को मिलता है।

अभिवृत्ति : किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थिति के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया करने की प्रवृत्ति को अभिवृत्ति कहा जाता है। प्रतिकूल या ऋणात्मक अभिवृत्ति पूर्वाग्रह को जन्म देती है। पूर्वाग्रही व्यक्ति की दृष्टि में आलोचना और प्रमाण का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अभिवृत्ति का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। हम विभिन्न संस्थाओं, समाजों, राष्ट्रों, नैतिक नियमों और विचारों के प्रति निश्चित अभिवृत्ति रख सकते हैं, जो अनुकूल भी हो सकती है और प्रतिकूल भी। प्रेम और घृणा हमारी अनुकूल और प्रतिकूल अभिवृत्ति के ही प्ररिणाम हैं।

अभिवृत्ति सक्रिय नहीं होती। हम निश्चित अभिवृत्ति रखते हुए भी कुछ न करने की इच्छा रख सकते हैं। किंतु जब हमें कोई निर्णय करना पड़ता है, तो हमारी अभिवृत्ति का हमारे निर्णयों पर भारी प्रभाव पड़ता है। अभिवृत्ति के निर्माण में व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का बड़ा महत्त्व होता है। इसके अतिरिक्त अभिवृत्तियों के विकास पर माता-पिता और साथियों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है; क्योंकि वे व्यक्ति और उसकी संस्कृति और समाज के मध्यस्थ होते हैं।

अभिवृत्ति मापनी : यों तो अभिवृत्ति मापन की कई प्रणालियां हैं, किंतु यहां उनमें से सर्वाधिक प्रयुक्त की जानेवाली दो महत्त्वपूर्ण प्रणालियों का उल्लेख कर देना ही काफी होगा।

अभिवृत्ति की एक मापनी थर्स्टन ने बनायी थी। मान लीजिए, हम युद्ध के प्रति लोगों की अभिवृत्ति जानना चाहते हैं। थर्स्टन-मापनी बनाने के लिए सबसे पहले युद्ध की परिभाषा दी जायेगी। फिर युद्ध के विभिन्न पक्षों से संबंधित जितने भी कथन हो सकते हैं, उन्हें जमा किया जायेगा। इसके बाद उन कथनों को कुछ निर्णायकों को दिया जायेगा और उनसे यह कहा जायेगा कि वे सर्वसम्मति से उन कथनों में से 20-25 कथनों को छांट लें और उन्हें ग्यारह ऐसे वर्गों में बांट दें, जिससे युद्ध के प्रति अत्यधिक अनुकूल से लेकर अत्यधिक प्रतिकूल अभिवृत्ति को जाना जा सके। प्रत्येक कथन का मापन-मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है।

इस प्रकार अभिवृत्ति मापनी के तैयार हो जाने पर युद्ध के प्रति किसी भी वर्ग के लोगों की अभिवृत्ति जानी जा सकती है। लोग अभिवृत्ति मापनी में दिये गये जिन कथनों से सहमत होते हैं, उनके मापन-मूल्य का औसत निकालकर उनकी अभिवृत्ति का सांख्यिकीय मापन कर लिया जाता है। इसी प्रकार युद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य विषय के प्रति भी अभिवृत्ति जानने की मापनी बनायी जा सकती है।

दूसरी सर्वाधिक प्रयुक्त की जानेवाली मापनी लिकर्ट ने बनायी थी। लिकर्ट-मापनी बनाने के लिए लोगों के सामने अनेक कथन प्रस्तुत किये जाते हैं और उनसे उन कथनों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को निम्नलिखित श्रेणियों में बताने को कहा जाता है: जोरदार समर्थन, समर्थन, अनिश्चय, विरोध और जोरदार विरोध। फिर विभिन्न कथनों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं में निहित सहसंबंध को देखा जाता है। जिन कथनों में सहसंबंध कम पाया जाता है, उन्हें निकाल दिया जाता है; क्योंकि उन कथनों की विचाराधीन अभिवृत्ति से संगति नहीं होती। इस प्रकार शेष बचे कथनों में कुछ ही बातें रह जाती हैं, जिनके प्रति लोगों की निश्चित अभिवृत्ति का पता चल जाता है।

अवटु ग्रंथि : यह ग्रंथि गले में स्थित होती है और 'थायराक्सिन' नामक हार्मोन का उत्पादन करती है, जिसके प्रभाव से शारीरिक और मानसिक विकास उचित ढंग से होता है। अगर किसी कारण से यह ग्रंथि बचपन से ही दोषयुक्त हो जाये, तो थायराक्सिन हार्मोन की पर्याप्ति मात्रा न मिलने से बच्चे का विकास रुक जायेगा। उसका कद ठिगना, शरीर अशक्त और बुद्धि दुर्बल हो जायेगी। थायराक्सिन के अधिक स्राव से शरीर की उपापचयी क्रियाएं तेजी से होने लगती हैं, जिससे व्यक्ति का वजन

घटने लगता है, अनिद्रा रोग हो जाता है और संवेगात्मक उत्तेजना बढ़ जाती है।

प्रयोगों से पता चला है कि भय, क्रोध आदि की हालत में अवटु ग्रंथि ठीक से काम नहीं कर पाती। इसलिए जो लोग अनावश्यक रूप से भयातुर या क्रुद्ध रहा करते हैं, उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। हर्ष, उत्साह आदि की हालत में अवटु ग्रंथि अधिक सक्रिय रहती है, जिससे उसका स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। थायराक्सिन की कमी अवटु ग्रंथि को उत्तेजित करके पूरी की जा सकती है। इसके लिए गले की नसों का व्यायाम लाभदायक होता है।

अवधान : हमारे चारों ओर असंख्य उद्दीपन होते हैं और वे प्रतिक्षण हमारे किसी न किसी ग्राहक को प्रभावित करते रहते हैं। किंतु हमारे लिए उन सभी उद्दीपनों की ओर एक साथ ध्यान दे सकना असंभव है। हम एक ही समय अनेक उद्दीपनों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं कर सकते। हमारे ग्राहक आंख, कान आदि परिवेश के उद्दीपनों को चुनते हैं। आंख सभी चीज़ों को एक साथ नहीं देखती, कान सभी आवाजों को एक साथ नहीं सुनते। देखने और सुनने आदि की शारीरिक सीमाएं होती हैं, जिनके बाहर ग्राहक परिवेश के उद्दीपनों को ग्रहण नहीं कर सकते।

किंतु उद्दीपनों का चुनाव ग्राहकों की शारीरिक सीमा तक ही नहीं रहता। शारीरिक सीमा के अंदर आनेवाले उद्दीपनों में भी चुनाव किया जाता है और यह चुनाव मानसिक होता है। मन हमारे ग्राहकों को प्रभावित करने-वाले असंख्य उद्दीपनों में से हमारी किसी तात्कालिक आवश्यकता को पूरा करने वाले उद्दीपन को ही चुनता है। जब आप किसी रोचक कहानी को पढ़ने में लगे होते हैं, तो आपको सड़क पर होनेवाला कोलाहल सुनायी नहीं पड़ता। मानसिक चुनाव में हमारी शारीरिक क्रियाएं इस ढंग से होती हैं कि हम किसी समय एक ही उद्दीपन के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं। मानसिक चुनाव के परिणाम-स्वरूप शारीरिक क्रियाओं की इस सीमा को अवधान कहा जाता है।

अवधान में तंत्रिका शक्ति का प्रवाह निर्विघ्न रूप से सामान्य द्वारक हो जाता है। शक्ति-प्रवाह की ऐसी व्यवस्था से प्रतिक्रिया करने का केवल एक प्रमुख द्वार ही क्रियाशील रह पाता है, जिससे अन्य कम तेज और विरोधी उद्दीपन अपने-अपने ग्राहकों के तंत्रिका-सामीप्यों पर अवरुद्ध हो जाते हैं और शरीर पर प्रभाव डालकर हमारा ध्यान नहीं बंटा पाते। अवधान से हमारे लिए हमारे परिवेश की सार्थकता बढ़ जाती है। अवधान से उद्दीपन हमारे लिए अधिक सजीव और स्पष्ट बन जाते हैं। अवधान और चेतना की स्पष्टता में कोई विशेष अंतर नहीं होता।

अवधान से शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में कुछ विशेषताएं पैदा होती हैं। तंत्रिका-शक्ति के एक ही सामान्य द्वार से प्रवाहित होने के कारण शरीर और ग्राहकों में उचित समंजन हो जाता है, जिससे उद्दीपन को ग्रहण करने में सुविधा होती है। अवधान में शारीरिक समंजन देखने के लिए आप बिल्ली को चूहे की ताक में और बगुले को एक टांग पर खड़े मछली की टोह में देखिए। कला-प्रदर्शनी में आपकी आंख (ग्राहक) में ऐसा समंजन हो जाता है, जिससे चित्रों को देखते समय आपका ध्यान और कहीं नहीं भटकता। शारीरिक समंजन से पेशियों में तनाव उत्पन्न होता है, जिससे उद्दीपन मिलने पर प्रतिक्रिया होने में देर नहीं लगती। यदि आप कोई जरूरी काम कर रहे हों और उस समय आपके काम में बाधा डाली जाये, तो आप और भी तन्मय हो जाते हैं; क्योंकि बाधा की उपेक्षा करने के लिए पेशियों का तनाव और बढ़ जाता है।

अवधान से मन में सजगता आती है, जिससे उद्दीपन की स्पष्टता बढ़ जाती है। आप कमरे में घड़ी की टिक-टिक स्पष्ट नहीं सुन पाते, किंतु घड़ी की ओर आकृष्ट होने पर उसकी टिक-टिक बड़ी स्पष्ट सुनायी पड़ती है। घड़ी की टिक-टिक की तीव्रता में कोई भौतिक परिवर्तन न होने पर भी आपके लिए उसका अधिक स्पष्ट बन जाना अवधान-जन्य घटना है।

अवधान के समय मन का क्रियाशील होना अभी तक विवादग्रस्त है। कुछ लोग अवधान में केवल ग्राहकों और पेशियों के प्रभाव को ही प्रधानता देते हैं और अवधान पर ग्राहकों और पेशियों से अलग मन का नियंत्रण नहीं मानते हैं। इस विषय पर अनेक प्रयोग किये गये हैं, किंतु उनसे यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि अवधान पर ग्राहकों और पेशियों से अलग मन का अपना कोई नियंत्रण होता है। हो सकता है, कोई व्यक्ति आपकी बात को बड़ी एकाग्रता से सुन रहा हो, किंतु उसका ध्यान और कहीं हो

और पूछे जाने पर वह आपकी बातों का सार न बता सके। इसका कारण मन के नियंत्रण को नहीं माना जा सकता। इसका कारण उस व्यक्ति की प्रवृत्तियों की गत्यात्मक दिशा हो सकती है। व्यक्ति की प्रवृत्तियों की गत्यात्मक दिशा ग्राहक या शरीर का उचित समंजन होने पर भी तंत्रिकीय शक्ति के प्रवाह की उस व्यवस्था में बाधा डाल सकती है, जो अवधान के लिए आवश्यक है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अवधान व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियों की क्रियात्मक दिशा पर निर्भर होता है। गत्यात्मक प्रवृत्ति के क्रियात्मक हुए बिना जिस स्थिति पर ध्यान दिया जा रहा है, वह ग्राहकों का उचित समंजन होने पर भी स्पष्ट नहीं बन सकती। विचार-सागर में गोते लगाये हुए व्यक्ति की आंख पर किसी वस्तु का स्पष्ट प्रतिबिंब पड़ सकता है, किंतु वह फिर भी उस वस्तु को स्पष्ट रूप से देख नहीं पाता।

अवसाद : हम सबको समय-समय पर विभिन्न मनोदशाओं का अनुभव होता रहता है। कभी हम प्रसन्नचित्त रहते हैं, कभी शोकाकुल और कभी खिन्न। सामान्य और स्वस्थ व्यक्ति को भी गहरा अवसाद हो सकता है। अवसाद का कारण कोई न कोई गहरी निराशा या शोकपूर्ण घटना होती है और अवसाद की तीव्रता की अवधि व्यक्ति के अनुभव की तीव्रता के अनुपात से ही रहती है। अवसाद जब अनुभव की तीव्रता के अनुपात से ज्यादा तीव्र बन जाये, ज्यादा देर तक रहे, और साथ ही व्यक्ति के व्यवहार और दृष्टिकोण को भी प्रभावित करने लगे, तो वह अप-सामान्य रागात्मकता का रूप ले लेता है।

अवसाद की अवस्था जब व्यक्ति के जीवन के किसी संघर्ष से संबंधित होती है, तो उसे प्रतिक्रियात्मक अवसाद कहा जाता है। जिस अवसाद का कोई बाहरी आधार नहीं होता, उसे अंतःजन्य अवसाद कहा जाता है। अवसाद के ये दोनों रूप एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। अवसादी व्यक्ति की बाह्य जगत में कोई रागात्मक रुचि नहीं रहती, उसकी मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में सुस्ती आ जाती है, विचार-शक्ति का ह्रास होने लगता है और उसका व्यवहार संकुचित बन जाता है। यह साधारण मंदन की अवस्था होती है।

अवसाद के तीव्र रूप को तीव्र विषण्णता या 'मेलंकोलिया' कहा जाता है। तीव्र मेलंकोलिया की अवस्था में रोगी का अनुभव इतना कटु और निराशापूर्ण बन जाता है कि वह अपने जीवन को निरर्थक जानकर आत्महत्या करने की ओर प्रेरित होने लगता है और कुछ रोगी तो आत्महत्या कर भी लेते हैं। रोगी में आत्म-तिरस्कार की भावना घर कर लेती है, जिसका उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। रोगी को भूख कम लगती है, उसका वज़न घटने लगता है, उसे अक्सर कब्ज रहता है, कच्ची नींद आती है, नींद आने से पहले मन में कुविचार उठते रहते हैं और सुबह जागने पर थकान महसूस होती है।

अवसाद की एक अवस्था को जड़तामय मेलंकोलिया कहा जाता है। इस अवस्था में रोगी की हालत ऐसी हो जाती है कि वह घंटों जड़वत् बैठा या लेटा रहता है। उसे अपने परिवेश का बोध तो रहता है, किंतु वह अपने परिवेश से सक्रिय संबंध नहीं रख पाता। जड़तामय मेलंकोलिया की अवस्था में रोगी को कभी-कभी उठाने-बैठाने, नहलाने, पहनाने और खिलाने तक की जरूरत भी पड़ जाती है; क्योंकि वह स्वयं ये काम नहीं कर सकता। जड़तामय मेलंकोलिया से पीड़ित रोगियों के मन में कोई भयंकर अपराध या पाप करने की निरर्थक भावना सदा बनी रहती है। कोई रोगी अपने को विश्वयुद्ध का कारण समझता है, तो कोई किसी और पापकर्म का।

अव्यक्ति काल : बालक के यौन विकास की एक अवस्था जो लगभग 5 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक रहती है। इस काल में बच्चे के जनन तंत्र में परिवर्तन होने से उसकी कामशक्ति काफी बढ़ जाती है, किंतु उसकी कामेच्छा और आक्रामकता अव्यक्त रूप में रहती है।

अहम् : मनुष्य को अपनी सब नहीं, तो अधिकांश आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए परिवेश का सहारा लेना पड़ता है। आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह अपने-आपको या तो परिवेश के अनुकूल या परिवेश को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की कोशिश करता है। व्यक्ति और परिवेश में सक्रिय संबंध स्थापित करने के लिए एक नये मनोवैज्ञानिक माध्यम की जरूरत पड़ती है, और वह माध्यम है अहम्।

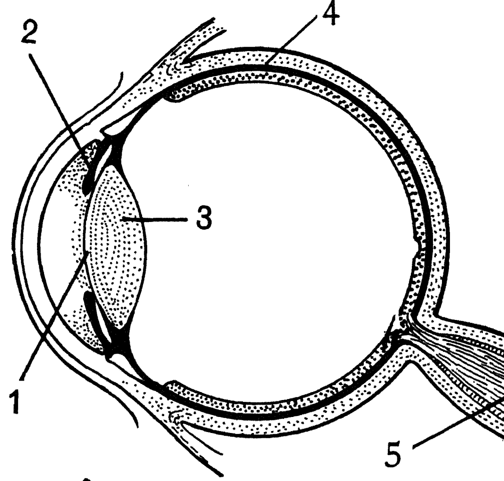
अहम् का निर्माण और विकास परिवेश की अंतर्क्रिया

से होता है, किंतु उसके प्रस्फुटन का आधार आनुवंशिकता और अनुभव की परिपक्वता में होता है। अहम् का बाह्य जगत और परिवेश से घनिष्ठ संबंध होता है। अहम् का कार्यसंचालन वास्तविकता-सिद्धांत से होता है। वास्तविकता सिद्धांत हमारी न्यूरोनीय शक्ति के प्रवाह को तब तक रोके रहता है, जब तक आवश्यकता को पूरा करनेवाली वांछित वस्तु नहीं मिल जाती। शक्ति का प्रवाह रुकने से तनाव पैदा होता है और अहम् में उस तनाव को सह सकने की क्षमता होती है। मनुष्य को जब तक खाने योग्य चीज नहीं मिल जाती, तब तक वह बच्चों की भांति किसी भी चीज को मुंह में नहीं रख लेता; क्योंकि अहम् का विकास हो जाने से वह खाने योग्य चीज के मिलने तक अपने व्यवहार को रोक रखना सीख लेता है।

अहम् वास्तविकतापेक्षी अवश्य होता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सुख-सिद्धांत का विरोधी होता है। अहम् का काम 'इड' की शक्ति को वास्तविकता के अनुरूप नियंत्रित कर तनाव दूर करने (यानी सुख पाने) का प्रयत्न करना होता है, चाहे पहले इस प्रयत्न में थोड़ा दुख ही क्यों न उठाना पड़े। अहम् इड को वास्तविकता-सापेक्ष सुख पाने में सहायता देता है। वह वास्तविकता की मांग के अनुसार चिंतन करके इड की अव्यवस्थित शक्ति को व्यवस्थित ढंग से वास्तविक स्थिति के अनुकूल नियंत्रित और प्रवाहित कर व्यवहार करता है। अहम् बाह्य जगत और इड के बीच मध्यस्थ होता है। इड की भांति अहम् भी प्रतिमाओं का निर्माण करता है। दिवास्वप्न अहम् द्वारा निर्मित प्रतिमाएं होते हैं। किंतु इड के विपरीत, अहम् प्रतिमा और वास्तविकता के भेद को जानता है और सुख-सिद्धांत के अंतर्गत निर्मित उसकी प्रतिमाएं विनोदपूर्ण कल्पनामात्र ही होती हैं।

आंख : आंख तीन परतों से निर्मित होती है। ऊपरी परत सफेद होती है। वह कड़ी और प्रतिरोधक होती है और आंख की आकृति इसी से बनती है। बीच की परत का काम आंख को पुष्ट करना और सुरक्षित रखना होता है। भीतरी परत आंख का क्रियात्मक अंग होती है और प्रकाश की किरणों के प्रति संवेदनशील होती है। भीतरी परत को नेत्रपटल कहते हैं।

ऊपरी परत का अगला भाग पारदर्शी होता है और उसे कनीनिका कहा जाता है। कनीनिका के ठीक पीछे एकुअस ह्यूमर नामक एक प्रकार का पारदर्शी तरल पदार्थ भरा होता है। इस तरल पदार्थ के पीछे लैंस होता है। लैंस दोलायमान झिल्लियों से लटका होता है। ये झिल्लियां



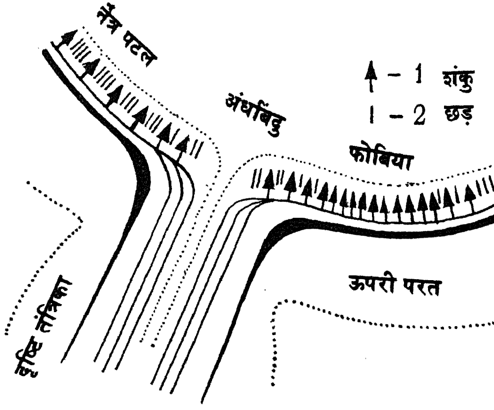
1. पुतली
2. आइरिस
3. लैंस
4. भीतरी परत
5. प्रकाशीय तंत्रिका

आंख

सीलियरी पेशियों से नियंत्रित होती हैं। लैंस का काम प्रकाश की किरणों को नेत्रपटल के सबसे संवेदनशील भाग पर केंद्रित करना होता है। लैंस के सामने एक रंगीन-सी पेशी होती है, जिसे आइरिस कहते हैं। आइरिस के साथ ही एक छेद होता है, जिसे पुतली कहते हैं। आइरिस का काम पुतली द्वारा लैंस में जानेवाले प्रकाश की मात्रा को नियमित करना होता है। लैंस और नेत्रपटल के बीच भी गाढ़ा-सा पारदर्शी तरल पदार्थ भरा रहता है, जिसे 'विट्रियस ह्यूमर' कहते हैं।

नेत्रपटल न्यूरोनों की तीन तहों से बना होता है, बीच की परत के पास बाहर की तह की कोशिकाओं के 'डेंड्रोन' संशोधित होकर शंकुओं और छड़ों के आकार बन जाते हैं। शंकु और छड़ प्रकाश के प्रति संवेदनशील होते हैं। मन को जानेवाली दृष्टि-संवेदन संबंधी न्यूरोनीय प्रेरणाओं का प्रादुर्भाव शंकुओं और छड़ों पर ही होता है।

दृष्टि-संवेदनों को मन तक ले जाने के लिए दृष्टि-तंत्रिका होती है। दृष्टि-तंत्रिका जहां नेत्रपटल से मिलती है, वहां शंकु और छड़ बिल्कुल नहीं होते, जिससे वहां



आंख

दृष्टि-संवेदन नहीं हो सकता। इस स्थान को आंख का अंधस्थल कहा जाता है। इसके विपरीत नेत्रपटल में एक ऐसा भी स्थान होता है, जहां शंकु बहुत होते हैं। इस स्थान को 'फोबिया' कहते हैं।

आंगिक मनस्ताप : आंगिक कारणों से अपसामान्य बन गये व्यवहार को आंगिक मनस्ताप कहा जाता है। आंगिक दोषों से यों तो व्यक्तित्व और व्यवहार में कुछ न कुछ अपसामान्य परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं, किंतु उन परिवर्तनों से अगर रोगी की अंतर्दृष्टि में कमी न आये, तो आंगिक दोषों के परिणामस्वरूप हुए उन परिवर्तनों को आंगिक मनस्ताप नहीं कहा जा सकता। आंगिक मनस्ताप का तात्पर्य है किसी आंगिक दोष के कारण अपसामान्य बन जानेवाले व्यवहार में अंतर्दृष्टि का अभाव होना।

आंगिक मनस्तापों में यद्यपि किसी न किसी आंगिक विकार की पूर्ववर्तिता और प्रधानता रहती है, किंतु फिर भी उन पर रोगी के परिवेश और व्यक्तिगत भेद का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है। यही कारण है कि एक ही आंगिक दोष के होने पर भी दो रोगियों के व्यवहार में काफी असमानता मिलती है। आंगिक मनस्ताप संक्रामक, उपापचयी, आघातजन्य, रक्त-विकारजन्य या मद्य और विषजन्य हो सकते हैं। (आंगिक मनस्ताप के इन भेदों पर अलग-अलग प्रविष्टियां भी देखिए)।

आइडेटिक प्रतिमा : कभी-कभी आपने अनुभव किया होगा कि जब कोई बोल रहा होता है, तो आप उसे ध्यान से नहीं सुनते, किंतु उसके बोलना बंद कर देने पर आपको उसके शब्द साफ सुनायी पड़ते हैं। कभी-कभी कोई मनोहर दृश्य देखने के बाद आप आंखें बंद कर लेने पर भी उसे कुछ देर तक स्पष्ट रूप से देखते रहते हैं। इस प्रकार की प्रतिमा को आइडेटिक प्रतिमा कहा जाता है। आइडेटिक प्रतिमा उत्तर-संवेदन नहीं होती। उत्तर-संवेदन क्षणिक होता है, किंतु आइडेटिक प्रतिमा क्षणिक न होकर कुछ देर तक रहती है। आइडेटिक और स्मृति-प्रतिमा में भी भेद होता है। स्मृति-प्रतिमा पुनरावर्तन का परिणाम होती है, किंतु आइडेटिक प्रतिमा पुनरावर्तन मात्र न होकर उद्दीपनों को देखने की भांति स्पष्ट और ध्रुव होती है।

आइडेटिक प्रतिमा बच्चों में ज्यादा पायी जाती है। बच्चे किसी उद्दीपन को देख लेने के बाद भी उस उद्दीपन का ऐसा वर्णन करते हैं, मानों वे उसे 'देख' रहे हों। आइडेटिक प्रतिमा का रूप बच्चों की रुचि और रुझान के अनुसार बदल सकता है। बच्चों को किसी उद्दीपन की आइडेटिक प्रतिमा वास्तविकता से बड़ी या छोटी लग सकती है, उसका रंग तेज या फीका लग सकता है। बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें आइडेटिक प्रतिमाओं की कमी होती जाती है।

आकृति-भूमि संबंध : जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उसमें से हमें कुछ स्पष्ट तथा उभरा हुआ और कुछ अस्पष्ट तथा पीछे दबा हुआ नजर आता है। स्पष्ट और उभरे क्षेत्र को आकृति और अस्पष्ट और पीछे दबे क्षेत्र को भूमि कहा जाता है। आकृति और भूमि एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। कला के क्षेत्र में इस शब्द को अब सभी प्रकार के प्रत्यक्ष और बोध के लिए एक सामान्य शब्द बना दिया गया है। आकृति चित्र का वह भाग होता

है, जिसकी ओर हम सामान्य रूप से ध्यान देते हैं। किंतु ध्यान परिवर्तन से जो भाग आकृति के रूप में था, वही भूमि भी बन सकता है, किंतु यह जरूरी नहीं है कि भूमि पर ध्यान देने से भूमि ही आकृति बन जाये।

आकृति और भूमि का संबंध आंख के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेंद्रियों में भी हो सकता है। सिनेमाघर के अंदर हो रहे शोर में यदि कोई ऊंची आवाज में बात करे, तो उसका स्वर सिनेमाघर के शोर के ऊपर उभरता सुनायी देगा। इसलिए उसका स्वर आकृति और सिनेमाघर का शोर भूमि बन जायेगा।

आक्रामकता : आक्रामक प्रवृत्ति किसी जन्मजात या अर्जित आवश्यकता की तृप्ति में बाधा पड़ने से जागृत होती है और विभिन्न सामाजिक आदर्शों के अनुसार उसे या तो दबा देना पड़ता है या मुक्त रखा जाता है। बहुत से समाजों में आक्रामक प्रवृत्ति पायी जाती है, लेकिन कुछ समाजों में यह बिलकुल नहीं पायी जाती। न्यूगिनी के अरापेश लोग शांतिप्रिय होते हैं और वे आक्रामकता या क्रोध-प्रदर्शन को प्रोत्साहन नहीं देते। एक समय था, जब आक्रामक प्रवृत्ति को सार्वभौम और जन्मजात समझा जाता था। उसके जन्मजात होने का समर्थन युद्धों की अनिवार्यता के आधार पर किया जाता था। किंतु आज इस नतीजे पर पहुंचा जा चुका है कि मनुष्य स्वभावतः न तो आक्रामक होता है और न शांतिप्रिय। अगर उसकी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं बिना किसी विघ्न-बाधा के पूरी होती रहें, तो उसका व्यवहार शांत बना रहेगा। यदि आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ेगी, तो वह बाधक व्यक्ति या स्थिति के प्रति आक्रामक बन जायेगा। हममें से प्रत्येक व्यक्ति ऐसी स्थिति में होता है, जहां तरह-तरह के प्रभावों से बच सकना असंभव होता है।

वे प्रभाव हमारी आवश्यकताओं के निर्विघ्न पूरा होने या न होने पर भी हमें आक्रामक या शांतिप्रिय बना देते हैं। आक्रामक प्रवृत्ति सब लोगों में एक-सी नहीं होती। दूसरे, अलग-अलग व्यक्तियों में उसके प्रकाशन का ढंग भी अलग-अलग होता है। व्यक्ति के जीवन लक्ष्य के साथ-साथ उसकी आक्रामक प्रवृत्ति का रूप परिवर्तित हो सकता है।

आघातज मनस्ताप : आंगिक मनस्ताप का एक रूप, जो सिर में चोट लगने से उत्पन्न होता है। सिर में चोट लगने से मनोवैज्ञानिक क्रियाओं में अनेक प्रकार के विकार हो सकते हैं। प्रमस्तिष्क में अलग-अलग स्थानों पर विभिन्न संवेदनों के केंद्र होते हैं। मानसिक आघात से जिस संवेदन-केंद्र को क्षति पहुंचती है, उस केंद्र से संबंधित क्रियाएं विकृत हो जाती हैं। संवेदनों को संयुक्त, संश्लिष्ट और संशोधित करके उन्हें नाम, रूप, गुण आदि से विशेष और सार्थक बनाने का काम वल्कुट द्वारा होता है। वल्कुट पर आघात पहुंचने से उसमें स्थिति-विशेष के अनुरूप जो संशोधन हुए थे, वे नष्ट हो सकते हैं और इस प्रकार तत्संबंधी क्रियाएं असंतुलित हो सकती हैं। वल्कुटीय क्षति से अनेक प्रकार के दृष्टि-विकार, वाक्भ्रंश और स्मृति संबंधी विकार पैदा हो सकते हैं।

वल्कुट के नीचे के भाग ऐच्छिक क्रियाओं और अनैच्छिक प्रतिवर्त क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। आघात के कारण अगर अनैच्छिक प्रतिवर्त क्रियाएं नहीं हो पातीं, तो रोगी मूर्च्छित हो जाता है और ऐच्छिक प्रतिवर्त क्रियाओं के न हो सकने से रोगी में जड़ता आ जाती है। जड़ता की हालत में रोगी की अनैच्छिक प्रतिवर्त क्रियाएं तो होती रहती हैं, किंतु वह ऐच्छिक प्रतिवर्त क्रियाओं से संबंधित व्यवहार नहीं कर पाता। अन्य आंगिक मनस्तापों की भांति आघातज मनस्तापों की अभिव्यक्ति भी कार्यात्मक रूप में होती है।

आत्म प्रत्याख्यान : समाज ने व्यक्ति की उद्दंड प्रतिक्रियाओं पर वैधानिक प्रतिबंध लगा रखा है, किंतु व्यक्ति स्वयं भी अपनी उद्दंड प्रतिक्रियाओं पर रोक लगाता है और अपने अतिशय स्वार्थ के प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं करता है। ऐसी प्रतिक्रियाओं का आधार उसकी नैतिक दीक्षा न होकर उसके अंदर पहले से ही मौजूद अहम्-सामाजिक संगठन का सिद्धांत होता है। जब सामाजिक बंधन या जगत की वास्तविकता व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं पर प्रतिबंध नहीं लगाती, तो व्यक्ति अपने ऊपर स्वयं प्रतिबंध लगा लेता है।

जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ें जमीन के अंदर गहराई तक गड़ाकर अपना संतुलन बनाये रखता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी जाति और स्वार्थ के लक्ष्यों और बहुअर्थी

प्रयोजनों के प्रति अपनी शक्ति का संगठन और संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। अगर व्यक्ति की अधिकांश शक्ति उसकी अहम्-तृप्ति की दिशा में ही प्रवाहित होने लगती है, तो उसका मन उसी दिशा की ओर शक्ति का निरंतर प्रवाह होते रहने के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने लग जाता है, जिससे शक्ति अन्य दिशाओं की ओर भी प्रवाहित हो सके। इसी को आत्म-प्रत्याख्यान कहा जाता है, जिससे संबंधित प्रतिक्रियाएं ग्राहकीय, प्रभावकीय या मानसिक किसी भी स्तर पर हो सकती हैं।

आत्मसंसूचन : संसूचन का एक प्रकार, जिसमें व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से संसूचित न होकर अपने-आपको स्वयं संसूचित करता है। आत्मसंसूचन का पता फ्रांस के कुए नामक व्यक्ति ने लगाया था। आत्मसंसूचन छोटे-मोटे मानसिक रोगों और मनोग्रंथियों का निवारण और उपचार करने की एक सरल विधि है। अगर किसी को अपनी कोई कुटेव छोड़नी हो, तो उसे चाहिए कि वह एक शांत कमरे में निश्चित मन से बैठकर किसी दर्पण में अपने को गौर से देखे और साथ ही साथ पूरी गंभीरता से कुछ देर तक यह कहता रहे कि मेरी यह बुरी आदत कमजोर पड़ती जा रही है, मैं इस बुरी आदत को छोड़ रहा हूँ। इस आत्मसंसूचन के परिणामस्वरूप कुछ दिनों बाद वह आदत छूट जायेगी या कमजोर पड़ जायेगी।

आदत : किसी क्रिया को यदि इतनी बार दुहराया जाये कि वह बिना किसी प्रयास के स्वयं होने लग जाये, यानी स्वचलित बन जाये, तो उसे आदत कहा जाता है। कपड़े पहनने, खाने-पीने, काम करने और इसी तरह के अन्य दैनिक कामों की आदत पड़ जाने से हमारी बहुत-सी शक्ति बच जाती है, जो छोटे-छोटे काम करने के लिए भी व्यर्थ सोचने-विचारने में खर्च होती और हम उस शक्ति को अन्य उपयोगी दिशाओं में लगा सकते हैं।

जिस काम की आदत पड़ जाये, उसमें लगे रहने पर भी हम अपना ध्यान अन्यत्र लगा सकते हैं। कार चलाने की आदत पड़ जाने पर हम कार चलाते-चलाते बातें कर सकते हैं या बाहर के दृश्य देख सकते हैं। किंतु किसी विषम या नयी स्थिति के आ जाने पर कुछ समय तक आदत की उपयोगिता नहीं रहती।

आदत शब्द को अधिकतर अप्रिय व्यवहार के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है, लेकिन वास्तव में आदत अच्छी या बुरी क्रिया नहीं, बार-बार दुहराने से अच्छी तरह सीख ली जानेवाली क्रिया होती है। यह और बात है कि उस क्रिया का मूल्यांकन व्यक्ति या समाज किस रूप में करता है। जो आदत एक समाज में अच्छी या स्वाभाविक मानी जाती है, वही दूसरे समाज में बुरी या अस्वाभाविक मानी जा सकती है। अधिकांश आदतों को प्रायः मनुष्य का सामान्य व्यवहार माना जाता है और उन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, जैसे खाना, पीना, उठना, हंसना आदि को आदत नहीं कहा जाता, जबकि होती ये सब आदतें ही हैं। इस प्रकार आदतों की परिभाषा बदल जाती है, और उन विशिष्ट क्रियाओं को आदत कहा जाने लगता है, जो दैनंदिन औसत व्यवहार से अतिरिक्त बार-बार दुहरायी जाती हैं, जैसे देर-देर तक घूमना, भजन-पूजन करना, काम करते हुए गाना या गप्प लड़ाना, शराब या सिगरेट पीना। इन अतिरिक्त और आवर्ती क्रियाओं में से कुछ को सामाजिक अनुमति मिलती है और कुछ को असहमति। समाज जिन क्रियाओं की आलोचना करता है, व्यक्ति उन्हें छोड़ने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

आदतों को छोड़ने के कई उपाय हो सकते हैं। एक उपाय यह है कि व्यक्ति जिस आदत को छोड़ना चाहे, उसे सामाजिक अनुमोदन प्राप्त बात न मानकर अपनी प्रतिष्ठा पर धब्बा लगानेवाली चीज समझे। ऐसा शर्त बदलकर भी किया जा सकता है कि यदि कोई मुझे अमुक कार्य करते देख लेगा, तो मैं शर्त हार जाऊंगा।

चूंकि आदत अच्छी तरह से सीख ली गयी क्रिया होती है, इसलिए उसे अनुबंधित प्रतिक्रिया द्वारा भी छुड़ाया जा सकता है। कुत्ते से डरनेवाले बच्चे को कुत्ते से न डरना सिखाने के लिए उसका अनुबंधन धीरे-धीरे खिलौने के कुत्ते से करवाया जा सकता है, जिससे बाद में खिलौने के कुत्ते के प्रति बनी उसकी भावनाओं का सामान्यीकरण वास्तविक कुत्ते पर भी हो सके और उसका डर मिट जाये।

आद्य प्ररूप : सामूहिक अचेतन की शक्तियां चेतन स्तर पर जिस रूप में आती हैं, उसे युंग ने आद्य प्ररूप नाम दिया है। आद्य प्ररूप का अर्थ है अनुभव का आदिम मौलिक

रूप। आद्य प्ररूपी अनुभवों के उदाहरण देवकथाओं और पौराणिक कथाओं में भरे पड़े हैं, जिनके संस्कार अनजाने में ही हमारे ऊपर पड़ जाते हैं और वे आद्य प्ररूपी संस्कार स्वप्नों के रूप में चेतन मन को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। आद्य प्ररूपी संस्कार स्वप्नों में कुछ आद्य प्ररूपी प्रतिमाओं के रूप में प्रकट होते हैं।

आद्य प्ररूपी प्रतिमाओं का एक रूप होता है 'छाया'। छाया हमारे व्यक्तित्व का अविकसित, और ऐतिहासिक दृष्टि से मानवीय पक्ष का अपरिपक्व और बचकाना रूप होता है। जब मनुष्य कठिन परिस्थितियों में पड़ जाता है, तो बचकानी प्रतिक्रियाएं करने लगता है; क्योंकि तब वह अपनी 'छाया' को पकड़ लेता है।

आद्य प्ररूपी प्रतिमा का एक अन्य रूप 'पर्सोना' कहलाता है। पर्सोना का अर्थ है आवरण। चूंकि हमें समाज में रहना पड़ता है, इसलिए हम अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए उस पर आवरण डाले रहते हैं। यही आवरण हमारा पर्सोना होता है, जिसे अपने ऊपर ओढ़कर, हम दुनिया को अपना असली रूप न दिखाकर, कोई दूसरा ही रूप दिखाते हैं। पर्सोना हमारी सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम होता है; क्योंकि हमें सामाजिक समर्थन पाने के लिए अपने व्यक्तित्व के असली रूप को छिपाना पड़ता है। पर्सोना का आधार हमारे व्यक्तिगत अचेतन मन में होता है।

आद्य प्ररूपी प्रतिमाओं के दो अन्य रूपों को अंतर्नारी और अंतर्नर कहा जाता है। अंतर्नारी पुरुष में अंतर्निहित उसका स्त्री-पक्ष होता है, जो स्वप्न में किसी स्त्री के रूप में प्रकट होता है। मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक दृष्टिकोण से पुरुष के अंदर स्त्री और स्त्री के अंदर पुरुष की विशेषताएं अवश्य होती हैं। पुरुष में पुरुषगत विशेषताओं की प्रधानता होने से उसकी स्त्रीगत विशेषताओं का दमन हो जाता है और पुरुष का दमित स्त्री-पक्ष यानी अंतर्नारी स्वप्नों में स्त्री रूप लेकर प्रकट होता है। इसी प्रकार स्त्री में अंतर्निहित उसका पुरुष-पक्ष यानी अंतर्नर उसके स्वप्नों में पुरुष रूप में प्रकट होता है। अगर पुरुष अपनी अंतर्नारी को नहीं जानता, तो उसकी अंतर्नारी स्वप्न में उसकी भावनाओं के अनुरूप उसकी किसी परिचित स्त्री पर प्रक्षेपित होकर प्रकट होती है। बहुत से लोग अपनी अंतर्नारी को इतना चाहने लगते हैं कि अगर उन्हें उनकी अंतर्नारी के अनुरूप स्त्री न मिले, तो वे शादी ही नहीं करते। अंतर्नारी और अंतर्नर हमारे जन्मजात गुणों पर आधारित शक्तियां होती हैं। उनका आधार हमारी शरीर-रचना में होता है।

अंतर्नारी और अंतर्नर पुरुष और स्त्री के पूरक पक्ष होते हैं और उनके अभाव में व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। उनका स्वप्नों में दिखायी देना हमारे जीवन के एक अभाव की ओर संकेत करता है, जिसका पूरा होना आवश्यक है। फ्रायड के अनुसार स्वप्न में स्त्री को देखना मैथुनेच्छा पूर्त्ति का सूचक होता है किंतु युंग के अनुसार वह मैथुनेच्छा पूर्त्ति के साथ-साथ हमारे जीवन के एक अभाव का भी सूचक होता है, जिसको पूरा करना व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

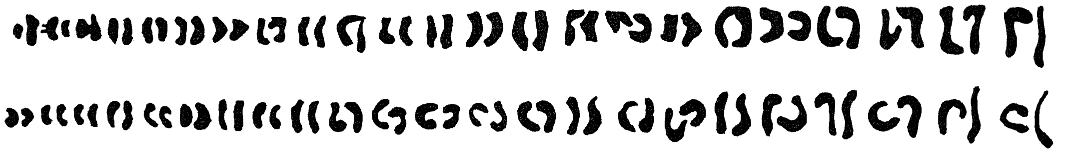
एक अन्य आद्य प्ररूपी प्रतिमा अनुभवी वयोवृद्ध 'गुरु' की भी होती है, जो युग-युगांतर के संचित ज्ञान का प्रतीक है। दुविधा और असमंजस में डालनेवाली जीवन की समस्याएं सामने आने पर हम किसी गुरु या पथप्रदर्शक का सहारा चाहते हैं। वह प्राचीन ज्ञान अंतर्साक्ष्य रूप में थोड़ा-बहुत सभी में होता है और कठिन समय में हमारा पथ-प्रदर्शन भी करता है। उसकी अभिव्यक्ति स्वप्न में 'गुरु' या पिता के रूप में होती है।

इन आद्य प्ररूपों का सामूहिक अचेतन की अनुभूतियों से घनिष्ठ संबंध होता है। उनको तार्किक भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनकी अभिव्यक्ति कला, संगीत, पौराणिक और देवकथाओं और स्वप्नों द्वारा ही अच्छी तरह हो सकती है। अगर उनकी अभिव्यक्ति भाषा द्वारा संभव होती, तो कला और संगीत की कोई आवश्यकता या महत्ता नहीं रह जाती। आद्य प्ररूपी प्रतिमाओं की सुंदर अभिव्यक्ति कला के प्रतीकात्मक रूपों में होती है, इसलिए कला हमारे अचेतन मन की भावनाओं को अधिक मार्मिकता के साथ स्पर्श कर पाती है।

आनुवंशिकता : बच्चा जन्म से ही अपने मां-बाप से जो भौतिक विशेषताएं, जैसे, आंखों, बालों या त्वचा का रंग आदि प्राप्त करता है, उन्हें उसकी आनुवंशिकता कहा जाता है। आनुवंशिकता द्वारा एक पीढ़ी की विशेषताएं और संस्कार दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहते हैं। बच्चे का निर्माण एक निरवयव कोशिका से होता है। कोशिका के बीच में अंतर्बीज होता है, जिसमें विभिन्न लंबाई की छड़ें-सी

रहती हैं, जिन्हें 'क्रोमोसोम' या गुणसूत्र कहा जाता है। क्रोमोसोमों की संख्या विभिन्न प्राणियों में अलग-अलग होती है। मनुष्य में 23 जोड़े या 46 क्रोमोसोम होते हैं। क्रोमोसोमों में और भी छोटे-छोटे रासायनिक पदार्थ लड़की या लड़का होना संयोग की ही बात है।

मां-बाप से प्राप्त दो तरह के क्रोमोसोम अपने को इस ढंग से व्यवस्थित कर लेते हैं कि एक ही प्रकार की क्रिया करनेवाले जीन एक-दूसरे के आमने-सामने पड़ जाते हैं।



पुरुष और स्त्री के क्रोमोसोमों की व्यवस्था

होते हैं, जिन्हें जीन कहा जाता है। मां-बाप से प्राप्त होनेवाली बच्चे की सारी विशेषताएं, उसका रंग, शक्ल-सूरत, गुण-अवगुण आदि का भौतिक आधार जीनों में ही होता है।

बच्चे का जन्म जिस निरवयव कोशिका से होता है, उस कोशिका के 46 क्रोमोसोमों में से बच्चा 23 मां से और 23 बाप से प्राप्त करता है। इस प्रकार बाप के शुक्राणु और मां के डिंबाणु जब मिलते हैं, तो वे अपने-अपने आधे जीनों को छोड़ देते हैं, जिससे मां-बाप की अनेक विशेषताएं नष्ट हो जाती हैं और बच्चे में नहीं जा पातीं। चित्र में ऊपर पुरुष के और नीचे स्त्री के क्रोमोसोमों की व्यवस्था दिखायी गयी है। यहां उनका क्रम उनके आकार के अनुसार है, किंतु अंतर्बीज में उनका क्रम अनियमित होता है।

बिल्कुल दाहिनी ओर पुरुष और स्त्री दोनों के क्रोमोसोम के जोड़े की तुलना कीजिए। उनमें जो अंतर है, उसे अंग्रेजी के **X** और **Y** अक्षरों से बताया जाता है। पुरुष के क्रोमोसोम का अंतिम जोड़ा **XY** होता है और स्त्री का **XX** होता है। **XY** और **XX** क्रोमोसोमों के जोड़े ही बच्चे के लैंगिक भेद के निर्धारक होते हैं। गर्भाधान के समय मां के डिबाणु से 22+ X और बाप के शुक्राणु से 22 + X क्रोमोसोम मिलने पर बच्चा लड़की और मां के डिबाणु से 22+X और बाप के शुक्राणु से 22+Y मिलने पर लड़का बनता है। पुरुष के X या Y क्रोमोसोम का स्त्री के क्रोमोसोम से मिलना केवल संयोग पर निर्भर है, इसलिए बच्चे का

वे दोनों एक ही प्रकार की क्रिया करते हैं। एक ही मां से उत्पन्न बच्चों में जो विभिन्नता होती है, वह जीनों की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था और उनके अनेक प्रकार के सहयोग से होती है। प्रत्येक जीन का क्रोमोसोम में एक विशेष स्थान तथा आनुवंशिकता में विशेष कार्य होता है। जीनों का कार्य अलग-अलग न होकर सामूहिक होता है। हर प्रकार की शारीरिक विशेषता कई जीनों के आपसी सहयोग का परिणाम होती है। किसी भी जीन की क्रिया बदल जाने पर व्यक्ति की उस जीन से संबंधित विशेषता का पूरा रूप बदल सकता है।

बच्चे के क्रोमोसोमों के हर जोड़े में दो समान क्रिया करने वाले जीनों के प्रबंध का बहुत बड़ा महत्त्व है; क्योंकि एक जीन के दूषित होने पर उसी जोड़े का दूसरा जीन उसकी सहायता के बिना अपने काम को अकेले ही कर लेता है। बच्चे की बहुत-सी विशेषताओं को जीन अकेले ही निर्धारित करते हैं, किंतु कुछ विशेषताएं जीनों तथा परिवेश के पारस्परिक सहयोग से प्रस्फुटित होती हैं और उनका प्रस्फुटन विभिन्न लोगों में विभिन्न प्रकार से होता है।

आयु-मानक : मनोवैज्ञानिक परीक्षणों में विभिन्न मानसिक स्तरों के सूचक ऐसे अंक, जिनमें विभिन्न उम्र के लोगों के लक्षण पाये गये हों। ऐसे मानकों का पता उन गुणों के बारे में लगाया जाता है, जो उम्र के अनुसार बढ़ा करते हैं, जैसे बुद्धि या लंबाई। किसी आयु-विशेष के लोगों में ऐसे

किसी गुण की औसत मात्रा ही उस आयु का मानक समभी जाती है। इस गुण के कुछ विभिन्न आयुस्तरों के मानकों के आधार पर प्रायः एक मानक-वक्र बना लिया जाता है, जिससे मानकीकरण में प्रयुक्त न हुए आयुस्तरों के मानकों का भी अनुमान किया जा सकता है। फिर आयु अंकसारणी बना ली जाती है। इस सारणी के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि किसी व्यक्ति का उस गुण में प्राप्त अंक किस आयु के लोगों का मध्यांक होता है और तब यह कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति में उस गुण की उतनी ही मात्रा है या नहीं, जितनी प्रायः उस आयु के लोगों में हुआ करती है। यदि उस व्यक्ति की वास्तविक आयु उस आयु से ज्यादा हो, तो उस व्यक्ति को उस गुण में पिछड़ा हुआ और यदि कम हो, तो उस गुण में बढ़ा हुआ समझा जायेगा।

आयु-मापनियां : वह मनोवैज्ञानिक मापदंड, जिसमें प्रश्नों या समस्याओं को आयु के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। प्रत्येक आयु के लिए उन्हीं प्रश्नों या समस्याओं को उपयुक्त समझा जाता है, जिनका उस आयु के अधिकांश व्यक्ति उत्तर दे सकें या जिन्हें हल कर सकें। इस प्रकार वर्गीकृत प्रश्नों में से जो व्यक्ति जिस आयु के प्रश्नों के सही उत्तर देता है, वही उस व्यक्ति की मानसिक आयु मानी जाती है। कुछ आयु-मापनियों में किसी आयु के लिए निश्चित सब प्रश्नों में से कुछ का ही उत्तर दे सकने पर व्यक्ति को आंशिक आयु-अंक देने की व्यवस्था भी होती है।

आवृत्ति बंटन : वह सारणी, जिसमें यह दिखाया जाता है कि अंकीय मापन में कितने व्यक्तियों को या एक ही व्यक्ति को कितनी बार कौन-सा अंक प्राप्त होता है या अंक कहां से कहां तक प्राप्त होते हैं। इस सारणी में प्रायः तीन स्तंभ होते हैं। पहले स्तंभ में अंक या अंक-अंतराल, दूसरे में प्रत्येक अंतराल में आनेवाले अंकों को गिनने की सुविधा के लिए आवृत्ति-चिह्न और तीसरे में प्रत्येक अंतराल के आवृति-चिह्नों की संख्या लिखी जाती है।

औद्योगिक मनोविज्ञान : मनोविज्ञान के इस क्षेत्र में उद्योग-धंधों में लगे लोगों की समस्याओं का उनके उद्योग-धंधों के प्रसंग में अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन-क्षेत्र में मनोविज्ञान के सामान्य नियमों को उद्योग-धंधों की व्यावहारिक समस्याओं पर लागू करने का प्रयत्न किया जाता है। विभिन्न उद्योग धंधों के लिए उपयुक्त लोगों का चुनाव करने के लिए बुद्धि और अभिक्षमता परीक्षणों का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। कर्मचारियों के अच्छे प्रशिक्षण के लिए, उनसे ज्यादा अच्छा संपर्क बनाये रखने के लिए, उनको परामर्श देने के लिए, तैयार माल के प्रति उपभोक्ताओं की अभिवृत्ति जानने के लिए, विज्ञापनों को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाने आदि के लिए औद्योगिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों का सहारा लिया जाता है।

इड : फ्रायड ने इड को मनोशक्ति का मूल या केंद्र माना है। इड का काम किसी बाह्य या आंतरिक उद्दीपन के दबाव से पैदा होनेवाले तनाव को दूर करने के लिए शक्ति-संभरण करना होता है। तनाव दूर होने से सुख मिलता है, इसलिए फ्रायड ने इड के कार्य से मिलनेवाली तृप्ति को सुख-सिद्धांत कहा है। इड की शक्ति से हमारे जन्मजात प्रेरकों की आवश्यकताओं की तृप्ति होती है। इड जन्मजात आवश्यकताओं की तृप्ति प्रतिवर्त क्रियाओं द्वारा करती है। यदि हर प्रकार के तनाव प्रतिवर्त क्रियाओं द्वारा ही दूर हो सकते, तो शायद मनोवैज्ञानिक विकास की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। किंतु प्रतिवर्त क्रियाओं से हर प्रकार का तनाव दूर नहीं हो पाता। भूख लगने से पेट में तनाव होने मात्र से खाना नहीं मिल जाता। खाना पाने के लिए मनुष्य और अन्य प्राणियों को प्रतिवर्त क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य स्तर की क्रियाएं और प्रयत्न भी करने पड़ते हैं।

मनुष्य को मनोवैज्ञानिक विकास की आवश्यकता इसलिए भी पड़ती है कि उसके सभी तनाव हर बार दूसरों की सहायता या प्रतिवर्त क्रियाओं से नहीं मिट पाते। इसके लिए उसे संयम और शिक्षा का सहारा लेना पड़ता है। किंतु संयम और शिक्षा से जहां कुछ तनाव दूर होते हैं, वहां कुछ नये तनाव पैदा भी हो जाते हैं। मानवीय विशेषताएं और विफलताएं इड को विकसित करने की प्रेरणा देती हैं। हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की तृप्ति जिन विभिन्न वस्तुओं से होती है, हमारे मन में

उनकी स्मृति-प्रतिमाएं बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, खाते समय बच्चे के मन में खाद्य वस्तु के गुण, स्वाद, गंध आदि की स्मृति प्रतिमाएं बन जाती हैं। बाद में अगर भूख लगते ही बच्चे को खाना नहीं मिलता, तो उसके सामने खाने की स्मृति-प्रतिमा आ जाती है, जो भूख से उत्पन्न तनाव को कुछ हद तक कम कर सकती है। इड के लिए स्मृति-प्रतिमा और वास्तविक वस्तु में कोई भेद नहीं होता। स्वप्न इसके अच्छे उदाहरण हैं, जहां स्वप्न-प्रतिमाएं बिल्कुल वास्तविक लगती हैं।

किंतु मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति केवल स्मृति-प्रतिमाओं से ही नहीं हो सकती। भूखा व्यक्ति खाने की स्मृति-प्रतिमा मात्र से अपनी भूख शांत नहीं कर सकता। भूख मिटाने के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है और प्रयत्न करने के लिए पहले यह जानना होता है कि वह वास्तव में क्या करना चाहता है। कोई भूखा आदमी जिसके सामने खाने की स्मृति-प्रतिमा होती है, अच्छी तरह जानता है कि वह क्या पाना चाहता है। स्मृति-प्रतिमाओं के अभाव में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पशुओं की भांति प्रयत्न और त्रुटि के अतिरिक्त कोई निश्चित कार्यविधि नहीं अपना सकता।

फ्रायड ने इड की कुछ और विशेषताएं भी बतायी हैं। इड मानसिक शक्ति का मूल स्रोत होती है। इड का जितना घनिष्ठ संबंध शरीर से होता है, उतना बाह्य जगत से नहीं। इड की शक्ति अव्यवस्थित और चंचल होती है, जिससे उसे एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर बहुत आसानी से लगाया जा सकता है। समय और िकास के साथ इड में कोई परिवर्तन नहीं होता। बाह्य जगत से संपर्क न रखने के कारण इड व्यक्ति के अनुभवों से संशोधित या प्रभावित नहीं होती। लेकिन अहम् द्वारा उसका नियंत्रण और नियमन अवश्य होता है और हो सकता है। इड का कार्य-संचालन तार्किक नियमों से नहीं होता और उसमें नैतिकता तथा मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता। इड के कार्य-संचालन का केवल एक ही आधार होता है—सुख सिद्धांत के अनुसार आवश्यकताओं की तृप्ति।

इड की शक्ति या तो किसी क्रिया या इच्छापूर्ति में व्यय होती है, या अहम् से प्रभावित होकर बंध जाती है। इड तनाव नहीं सह सकती। वह तत्काल तृप्ति चाहती है। वह प्रेरणा-रूप, अबौद्धिक, स्वार्थपूर्ण और सुखप्रिय होती है। हमारे व्यक्तित्व का निर्माण इड की नींव पर होता है। इड चिंतन नहीं करती, केवल इच्छा या कार्य करती है। इड हमारे व्यक्तित्व का गहनतम स्तर होती है। उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान स्वप्नों और तंत्रिकातापी लक्षणों का अध्ययन करने से ही हो सकता है।

इडिपस मनोग्रंथि : हर व्यक्ति को आनुवंशिक रूप से कुछ ऐसी प्रवृत्तियां प्राप्त होती हैं, जो कुछ मनोग्रंथियों के निर्माण में सहायक बनती हैं। इस प्रकार कुछ मनोग्रंथियों का निर्माण बिल्कुल अचेतन रूप से हो जाता है। एक ऐसी ही अचेतन मनोग्रंथि को फ्रायड ने इडिपस मनोग्रंथि नाम दिया है। यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार इडिपस जोकस्टा से उत्पन्न थीबीज़ के राजा लेअस का पुत्र था। उसके पैदा होने पर ज्योतिषी ने यह बताया था कि वह अपने बाप की हत्या करके अपनी मां से शादी करेगा। इस डर से राजा ने उसे मार देने की नीयत से एक पहाड़ पर फिंकवा दिया। कोरिंथ राज्य का एक चरवाहा इडिपस को पहाड़ से उठाकर अपने देश के राजा पालीबस के पास ले गया। पालीबस ने इडिपस को अपने पुत्र की भांति पाला-पोसा। बड़े होने पर इडिपस को ज्योतिषी की भविष्यवाणी का पता चला और वह पालीबस को अपना सगा बाप समझकर पितृहत्या के पाप से बचने के लिए कोरिंथ देश को छोड़कर चल दिया। रास्ते में वह अपने वास्तविक पिता थीबीज के राजा से मिला और कुछ कहा-सुनी होने पर इडिपस ने थीबीज के राजा (और अनजाने में अपने सगे बाप) को मार डाला। थीबीज राज्य उस समय 'स्फिंक्स' नामक दानवी के अभिशाप से ग्रस्त था, इसलिए वहां के निवासियों ने यह घोषणा कर रखी थी कि जो व्यक्ति थीबीज को अभिशाप से मुक्त करेगा, उसे राज्य के साथ-साथ पत्नी-रूप में रानी भी मिलेगी। रानी का नाम जोकस्टा था। इडिपस ने थीबीज को अभिशाप से मुक्त कराया, वहां का राजा बना और अनजाने में सगी मां को अपनी पत्नी बनाया और उसके चार बच्चों का बाप बना। उसके इस पाप के कारण थीबीज में भयंकर महामारी फैली और तब इडिपस को ज्योतिषी से वास्तविक स्थिति का पता चला। जोकस्टा ने तो फांसी लगा ली और इडिपस ने अपनी आंखें निकाल लीं और जंगलों में

भटकते हुए मार डाला गया।

लड़के का अपनी मां के प्रति जो अतिशय राग होता है, उसके कारण उसके लिबिडो का स्थिरण मां पर हो जाता है। इस स्थिरण के परिणामस्वरूप लड़का अपनी मां के ध्यान और प्यार को पूरी तरह से पाना चाहता है, लेकिन वह देखता है कि मां पर उसके पिता का प्रभाव ज्यादा होने से ऐसा नहीं हो पाता। इससे लड़के के अंदर अपने पिता के प्रति द्वेष और प्रतियोगिता की भावनाएं पैदा होती हैं, किंतु उस समय लड़के के पास अपनी भावनाओं को हल करने का केवल एक ही उपाय होता है––उनका दमन करना। इस प्रकार लिबिडो का स्थिरण मां पर होने से लड़के के मन में अचेतन रूप से अपने मां-बाप के प्रति जो रागात्मक भाव बनते हैं, उन्हें इडिपस की कहानी के रूपक के आधार पर ही इडिपस मनोग्रंथि नाम दिया गया है।

इलेक्ट्रा मनोग्रंथि : पिता और पुत्री के पारस्परिक संबंध के बारे में एक मनोविश्लेषात्मक धारणा जिसके अनुसार पुत्री में पिता के प्रति उसी प्रकार का यौनगत आकर्षण होता है, जैसा पुत्र में अपनी मां के प्रति होता है। इलेक्ट्रा की कहानी इडिपस की कहानी के समतुल्य न होते हुए भी व्याख्या की सुविधा के लिए स्वीकार कर ली गयी है। इलेक्ट्रा एगामेम्नन की लड़की थी। उसकी मां ने उसके पिता का वध कर डाला था और उसके भाई ओरेस्टीज का वध करने की योजना भी बनायी थी। किंतु इलेक्ट्रा ने अपने भाई की जान बचा ली और भाई को मां से पिता की मृत्यु का बदला लेने को उकसाया और सहायता दी।

इडिपस मनोग्रंथि की तरह इलेक्ट्रा मनोग्रंथि भी हर व्यक्ति के मन में विकसित होनेवाले जातीय संस्कार होते हैं। लिबिडो के स्थिरण से मनोग्रंथियों का कार्य अस्वस्थकर और कुदिशांतरित हो जाता है। स्थिरण के न होने पर सामान्य रूप से युवावस्था आने पर इडिपस और इलेक्ट्रा मनोग्रंथियों की कार्यशक्ति नष्ट हो जाती है और वे व्यक्ति के संतुलित और सामान्य व्यवहार में बाधक नहीं बनतीं।

उत्तर-संवेदन : यदि आंख को प्रकाश का बहुत तेज उद्दीपन मिले, तो उस उद्दीपन के हट जाने पर भी कुछ क्षण तक उसका संवेदन होता रहता है। आप अंधेरे में बिजली के तेज बल्ब को देखिए, फिर अपनी आंखें बंद कर लीजिए। आपको थोड़ी देर तक बल्ब का संवेदन होता रहेगा यानी बल्ब दिखायी देता रहेगा। इस प्रकार के संवेदन को उत्तर-संवेदन कहा जाता है। यदि उत्तर-संवेदन का रंग और उसकी चमक उद्दीपन के रंग और चमक के समान ही हो, तो ऐसे उत्तर-संवेदन को सम-उत्तर-संवेदन कहते हैं। उत्तर संवेदन का कारण यह है कि उद्दीपन मिलने पर ग्राहक में न्यूरोनीय क्रिया शुरू हो जाती है, किंतु उद्दीपन के एकदम हट जाने से वह क्रिया एकदम समाप्त नहीं हो पाती।

हर संवेदन कुछ देर के बाद हल्का पड़ने लगता है। आप किसी प्रकाशमान कमरे में कुछ देर रहिए, तो आपको कमरे का प्रकाश पहले से हल्का मालूम होने लगेगा। ऐसा तत्संबंधी ग्राहकों का समंजन हो जाने से होता है। आपको पहने हुए कपड़ों के दबाव का संवेदन नहीं होता; क्योंकि आपके स्पर्श ग्राहकों का कपड़ों के दबाव से समंजन हो जाता है।

समंजन होने से तत्संबंधी ग्राहकों को अन्य प्रकार के उद्दीपनों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। मीठे स्वाद से समंजन हो जाने पर नमक या मिर्च के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। अंधेरे कमरे से बाहर आने पर प्रकाश ज्यादा तेज लगता है, उजाले से अंधेरे में जाने पर अंधेरा और भी घना मालूम होता है। इस प्रकार यदि हमारी दृष्टि का किसी रंग के प्रति समंजन हो जाये, तो हमें उस रंग के विरोधी या पूरक रंग का संवेदन हो सकता है। आप लाल रंग का चश्मा लगाइए और थोड़ी देर बाद उतार दीजिए। आपको रंगहीन वस्तुएं हरी दिखायी पड़ेंगी। इसी प्रकार नीला चश्मा लगाने के बाद हर रंगहीन चीज पीली नजर आयेगी। इस स्थिति को विषम-उत्तर-संवेदन कहा जाता है।

उत्पीड़न-भ्रांति : इस प्रकार की भ्रांति में व्यक्ति को यह पक्का विश्वास हो जाता है कि कोई संस्था, सरकार या कुछ लोग उसका विनाश करने के लिए उसके विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं। अपने ऐसे विश्वास के कारण वह दैनिक जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं की गलत व्याख्या करने लगता है। उत्पीड़न-भ्रांति से स्वसंदर्भ-भ्रांति पैदा होती है, जिससे व्यक्ति दूसरों की बातचीत, कानाफूसी, हावभाव-प्रदर्शन का पात्र हर समय अपने

को ही समझने लग जाता है। कई व्यक्ति तो अपने तथा-कथित उत्पीड़कों के प्रति खुला विद्रोह भी कर बैठते हैं, या उन्हें जान से मार डालने पर उतारू हो जाते हैं, या उनसे बदला लेने के लिए बड़ी सतर्कता से कोई चाल भी चलाते हैं, जिसमें वे कभी-कभी सफल भी हो जाते हैं।

उत्सुकता : अपने परिवेश के प्रति उत्सुक रहना हमारी जन्मजात प्रवृत्ति होती है, जिसका कोई शारीरिक आधार नहीं मालूम हो पाया है। हो सकता है, उत्सुकता का आधार हमारी न्यूरोनीय व्यवस्था की ही किसी विशेषता में हो। उत्सुकता से हमें खोज करने और नयी-नयी बातों को जानने की प्रेरणा मिलती है। मानव-शिशु तो उत्सुकता और कुतूहल का भंडार होता है। वह हर चीज को छूना और देखना चाहता है। बच्चे उत्सुकतावश हज़ारों तरह के सवाल पूछते हैं और उनकी जिज्ञासा किसी न किसी तरह का जवाब मिलने पर ही संतुष्ट होती है। जिन बच्चों की उत्सुकता मां-बाप और शिक्षकों की मूर्खता से दब नहीं जाती, वे अच्छे आविष्कारक बन सकते हैं। उत्सुकता का जैविक महत्त्व स्पष्ट है। उत्सुकता के कारण ही हम अपने परिवेश के सुखकर और दुखकर पक्षों से अच्छी तरह परिचित होते हैं और इस प्रकार हमें संतुलित व्यवहार करने में कुछ न कुछ सहायता अवश्य मिलती है।

उदात्तीकरण : रागात्मक शक्ति का प्रवाह समाज-स्वीकृत दिशाओं में हो जाने को उदात्तीकरण कहते हैं। उदात्तीकरण से किसी बाह्य वस्तु के प्रति हमारी जो मौलिक प्रवृत्ति होती है, वह बुनियादी रूप से बदल जाती है और उस प्रवृत्ति को संतुष्ट करने का रूप भी बदल जाता है। उदात्तीकरण से हमारी मूल प्रवृत्यात्मक शक्ति को अपने निकास का एक सुखकर और समाज-अनुमोदित मार्ग मिल जाता है, जिससे वह अवरुद्ध नहीं होती। उदात्तीकरण उन शैशवकालीन परिवर्तनों का सूचक होता है, जो बाद में ऐसे कार्यों में रूपांतरित हो जाते हैं, जिन्हें हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं। आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करना, समाज-सेवा या समाज द्वारा मान्य किसी अन्य काम में अपनी संपूर्ण रागात्मक शक्ति को लगाना उदात्तीकरण के उदाहरण हैं। किंतु उदात्तीकरण की अवस्था में भी रागात्मक शक्ति की कुछ मात्रा पुराने मार्गों से प्रवाहित होती रहती है, जिससे ब्रह्मचारी या समाज-सेवक भी खाने-पीने और शारीरिक सुख के अन्य रूपों में आनंद लेने की क्षमता रखता है।

मनोविश्लेषण में उदात्तीकरण को एक ऐसी विशिष्ट अचेतन क्रिया माना जाता है, जिससे हमारी यौन शक्ति दिशांतरित होकर यौनविहीन और समाज-समर्थक कामों की ओर लग जाती है। तुलसीदास पत्नी द्वारा धिक्कारे जाने पर ही अपनी हाड़-मांस की देह की प्रीति को राम की प्रीति में रूपांतरित कर सके थे।

उद्दीपन : प्राणी के हर प्रकार के व्यवहार के पीछे परिवेश की कोई न कोई शक्ति रहती है, जो उस पर दबाव डालकर उसे कुछ न कुछ करने को लाचार करती रहती है। प्राणी और परिवेश के संबंध के दो पहलू होते हैं। एक ओर तो परिवेश प्राणी पर दबाव डालता है और दूसरी ओर प्राणी अपने प्रयत्नों द्वारा परिवेश के उस दबाव का सामना करता है। परिवेश के दबाव को वैज्ञानिक भाषा में उद्दीपन कहा जाता है। खाने की क्रिया के लिए भूख उद्दीपन है, पढ़ाई-लिखाई के लिए परीक्षा पास करना या विद्वान बनने की इच्छा उद्दीपन है। इसी प्रकार हमारी वे सभी छोटी-बड़ी आवश्यकताएं जिनको पूरा करने के लिए हम कुछ न कुछ करते हैं हमारे लिए उद्दीपन होती हैं।

क्षीण या नीरस उद्दीपन का व्यवहार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उद्दीपन का प्रभाव व्यवहार पर अनेक प्रकार से पड़ सकता है। मान लीजिए कि आप टहलने जा रहे हैं, सहसा पीछे से किसी गाड़ी की आवाज़ सुनकर आप तत्काल दौड़कर सड़क छोड़ एक किनारे हो जाते हैं। गाड़ी की आवाज टहलने की क्रिया को उत्तेजित कर देती है। आप धीरे-धीरे चले जा रहे हैं, सहसा एक धमाके की आवाज सुनकर आप जहां के तहां ठिठक जाते हैं और आपकी चलने की क्रिया का प्रावरोध हो जाता है। इस प्रकार उद्दीपन का व्यवहार पर या तो उत्तेजक प्रभाव पड़ सकता है, या फिर प्रावरोधी।

उन्माद : अतिरंजित संतोष और उत्फुल्लता की अनुभूति लिये हुए मानसिक या प्रभावकीय उत्तेजन की अवस्था को उन्माद कहा जाता है। कोई अच्छी खबर सुनकर या प्रत्याशित सफलता मिलने पर हर आदमी उत्फुल्ल हो

जाता है। किंतु उत्फुल्लता अगर तीव्र होकर झक का रूप ले ले और व्यक्ति के दृष्टिकोण और उत्तरदायित्व पर अपनी छाप डालने लगे, तो वह अपसामान्य रागात्मकता बन जाती है। उन्माद रागात्मकता की यही अपसामान्य अवस्था होता है, जिसमें व्यक्ति उत्फुल्लता के कारण वास्तविकता को भूल जाता है और उससे अपना उचित संतुलन नहीं कर पाता, चाहे वह इसे माने या न माने।

तीव्रता के अनुसार उन्माद के तीन रूप हो सकते हैं: अल्पोन्माद, तीव्रोन्माद और अतितीव्रोन्माद। अल्पोन्माद उत्फुल्लता का हल्का रूप होता है। अल्पोन्माद का प्रभाव व्यक्ति की विचारधारा पर पड़ता है, जिससे उसके मन में विचारों की बाढ़ आ जाती है, जो कभी तर्कसंगत, कभी अनर्गल और कभी अनुप्रासमयी होती है। अल्पोन्माद का रोगी बेचैन रहता है, सो नहीं पाता और किसी न किसी व्यर्थ के काम में लगा रहता है। वह आरंभशूर तो होता है, किंतु किसी काम को पूरा नहीं कर पाता। उसकी प्रति-क्रियाओं में शीघ्रता होती है। उसकी दृष्टि में हर काम अच्छा होता है और वह किसी भी काम के बुरे पक्ष को नहीं देख पाता। वह तेज और उच्च स्वर में बात करता है और उसके काम करने के ढंग में असाधारण विश्वास रहता है। वह अपने सामने दूसरों का कोई ख्याल नहीं करता।

तीव्रोन्माद अल्पोन्माद का ही अतिरंजित रूप होता है। तीव्रोन्मादी व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं में उत्तेजन की मात्रा अधिक होती है। उसका ध्यान बहुत चंचल होता है। है। वह बहुत शीघ्रतापूर्वक बातें करता है, जो कभी-कभी अनर्गलता के समीप पहुंच जाती हैं। उसकी मुखमुद्रा में उसकी प्रतिक्रियाओं के अनुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। उसकी आंखें निकल-सी आती हैं, हावभाव हिंसक और व्यवहार आक्रामक बन जाता है। उत्फुल्लता की प्रधानता रहने पर भी किसी के द्वारा छेड़े जाने पर वह गुस्से में आकर, जो चाहे सो कर बैठता है। छेड़े न जाने पर उसका व्यवहार अतिशय आत्मप्रशंसा और दूसरों के प्रति पूर्ण उपेक्षा की अभिव्यक्ति होता है। उसकी उक्तियां किसी बड़े प्रसंग में असंगत होते हुए भी चातुरीपूर्ण लग सकती हैं। तीव्रोन्माद में अक्सर भ्रांतियां भी होती हैं।

अतितीव्रोन्माद उन्माद का अत्यधिक उग्र रूप होता है और उसके रोगी की बातचीत इतनी असंबद्ध, असंयत और टूटी-फूटी होती है कि उसका कोई अर्थ निकाल सकना असंभव सा हो जाता है। अतितीव्रोन्माद में रोगी का व्यवहार अत्यधिक उत्तेजनापूर्ण और आक्रामक हो जाता है। वह कभी अपने बाल नोंचता है, कभी हंसता है, कभी गाता है और कभी इधर-उधर घूमता रहता है। वह अन्य लोगों पर आक्रमण भी कर बैठता है। उसको न तो नींद आती है और न वह आराम करना चाहता है। उसको बिल्कुल निश्शक्त होने से बचाने के लिए उसकी देखभाल करना आवश्यक हो जाता है।

उपलब्धि-परीक्षण : कोई व्यक्ति किसी काम या विषय के औपचारिक शिक्षण से लाभ उठाने के बाद अपने अर्जित ज्ञान, योग्यता या कुशलता का प्रयोग करते हुए जो कुछ करता है, उसे उपलब्धि-परीक्षण द्वारा जाना जाता है। उपलब्धि-परीक्षण तथ्यात्मक होते हैं। इन परीक्षणों में अनेक प्रश्न होते हैं और प्रत्येक प्रश्न में किसी एक तथ्य के बारे में पूछा जाता है। प्रत्येक प्रश्न के प्रत्येक संभव उत्तर के अंक भी निश्चित कर लिये जाते हैं। इससे उत्तरों पर अंक देने में गलती नहीं होती, अंकों की तथ्यात्मकता सुरक्षित रहती है और परीक्षण में भी बहुत कम समय लगता है। साथ ही प्रश्न-संख्या भी इतनी बड़ी रखी जाती है, जिससे परीक्षार्थियों के उस विषय से संबंधित अधिक से अधिक विश्वसनीय ज्ञान का पता चल सके।

उपाख्यान प्रणाली : मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप मिलने तक मनोविज्ञान के अध्ययन में उपाख्यान प्रणाली का ही अधिक प्रयोग किया जाता था और किसी बात को सिद्ध करने के लिए उससे संबंधित कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर दिये जाते थे। उन उदाहरणों को सिद्ध की जानेवाली बात का यथेष्ट प्रमाण मान लिया जाता था और उनकी वैज्ञानिक ढंग से कोई परीक्षा नहीं की जाती थी। आज भी भूत-प्रेतों की चर्चा चलने पर जब कोई व्यक्ति उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभवों का उदाहरण देता है, तो उन्हें बिना कोई आलोचनात्मक परीक्षा के मान लिया जाता है और सच भी समझ लिया जाता है। मनोविज्ञान में जब तक ऐसे दृष्टिकोण की प्रधानता रही थी, तब तक उसकी कोई विशेष उन्नति नहीं हो सकी और फलस्वरूप उसे वैज्ञानिक रूप भी नहीं मिल पाया

था। लोगों के कहने पर यों ही विश्वास कर लिया जाता था। इसकी परीक्षा नहीं की जाती थी कि उनके किसी अनुभव में उनके अंधविश्वासों और घटनाओं को गलत तरीके से देखने का कितना हाथ रहता है।

उपाख्यान प्रणाली में अनेक कमियां हैं, जिनके कारण इस प्रणाली द्वारा उपलब्ध होनेवाली सामग्री को वैज्ञानिक रूप देने में बड़ी कठिनाई होती है। पहली कमी यह है कि उपाख्यान कहनेवाले व्यक्ति की स्मृति पर पक्का विश्वास नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्मृति व्यक्ति को अनेक प्रकार से धोखा देती रहती है, जिससे किसी घटना का ठीक से क्रमबद्ध वर्णन कर सकना बहुत कठिन होता है। दूसरे, उपाख्यान किसी घटना की परीक्षा या व्याख्या करने के लिए नहीं बनाये जाते। वे कौतूहल-प्रधान ही होते हैं, जिज्ञासा-प्रधान नहीं। उपाख्यान कहनेवाला व्यक्ति अपने और दूसरों के कौतूहल को शांत करने के लिए अतिरंजित करता है और इस प्रकार घटना की मुख्य बातों को महत्व नहीं दे पाता। तीसरे, बहुत-से लोगों की अपनी कुछ पूर्वनिश्चित धारणाएं हुआ करती हैं, जिससे वे उन बातों को देख सकने में असमर्थ रहते हैं, जिनसे उनकी किसी पूर्वधारणा का खंडन हो रहा हो। वे केवल उन्हीं बातों की ओर ध्यान देते हैं, जिनसे उनकी पूर्वधारणाओं की पुष्टि होती है।

उपापचय : प्रत्येक प्राणी के शरीर के अंदर होनेवाले भौतिक और रासायनिक परिवर्तन, जिनसे प्राणी को अपने विकास और जीवित रहने के लिए उपयुक्त कार्य करने की शक्ति मिलती है। उपापचय के अंतर्गत दो प्रमुख क्रियाएं होती हैं, उपचय और अपचय। खाद्य पदार्थों के अनेक जटिल परिवर्तनों के बाद शरीर का निर्माण करनेवाले आवश्यक तत्त्वों में रूपांतरित होने को उपचय कहा जाता है। शक्ति उत्पन्न करने के लिए सांस द्वारा आक्सीजन लेने और कार्बन डाइआक्साइड को बाहर निकालने की क्रिया में शरीर के कुछ तत्त्वों का नाश होता है। इसी को अपचय कहा जाता है। निर्माण और नाश की ये सम्मिलित क्रियाएं ही प्राणी के जीवन की सभी प्रक्रियाओं का कारण और मूल होती हैं।

उपापचयी मनस्ताप : मानसिक स्वास्थ्य शरीर के ठीक उपापचय पर निर्भर होता है। शारीरिक निर्माण और विकास पर शरीरस्थ कोशिकाओं और ग्रंथियों की रासायनिक क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है, जिनके कारण छोटा-सा बच्चा विकसित होकर एक भीमकाय आदमी बन जाता है। कोशिकाओं और ग्रंथियों की विकासात्मक क्रियाओं के दूषित हो जाने से उत्पन्न मानसिक विकारों को उपापचयी मनस्ताप कहा जाता है।

शारीरिक और मानसिक विकास और परिपक्वता में विभिन्न ग्रंथियों की क्रियाओं का बड़ा महत्त्व होता है। विभिन्न ग्रंथियों के कार्यदोष से विभिन्न प्रकार के अपसामान्य लक्षण प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए, अवटु ग्रंथि के कार्यदोष से शरीर में अनेक प्रकार की विरूपताएं आ जाती हैं। उनमें से एक विरूपता को जड़वामनता कहा जाता है। जड़वामनता के लक्षण जन्म या जन्म के जरा बाद से ही पाये जाने लगते हैं। जड़वामन बच्चा जड़-बुद्धि होता है। वह बौना रह जाता है, उसका सिर बड़ा होता है, पैर कुछ छोटे और टेढ़े-से होते हैं, हाथ-पैर लकड़ी के समान सूखे और कुरूप, बाल रूखे और त्वचा पीली-पीली-सी होती है।

उभयमुखता : व्यक्तित्व का एक प्रकार जो अंतर्मुखी और बहिर्मुखी के बीच में होता है। मनुष्यों का अंतर्मुखी या बहिर्मुखी होना उनका सापेक्ष भेद होता है। यदि हम अत्यंत अंतर्मुखी व्यक्ति को किसी रेखा के एक ओर के अंतिम बिंदु पर और अत्यंत बहिर्मुखी व्यक्ति को रेखा के दूसरी ओर के अंतिम बिंदु पर रखें, तो शेष व्यक्तियों को दोनों बिंदुओं को सीधी मिलानेवाली रेखा पर कहीं न कहीं रखा जा सकेगा। जो लोग रेखा के दोनों बिंदुओं के बीच में रखे जा सकेंगे, उन्हें उभयमुखी कहा जायेगा।

ऊब : किसी नीरस काम में लगे रहने पर या अपनी वर्तमान स्थिति में परिवर्तन लाने की कोशिश में लगातार बाधाएं पड़ने पर जो मानसिक स्थिति पैदा होती है, उसे ऊब कहा जाता है। ऊबने पर एकाग्रता घट जाती है, कार्यकुशलता में कमी आ जाती है। ऊबा हुआ व्यक्ति निष्क्रिय और उखड़ा हुआ-सा बन जाता है। ऊब को किस तरह दूर करके व्यक्ति की कार्यकुशलता बढ़ायी जा सकती है, यह औद्योगिक मनोवैज्ञानिक की एक ज्वलंत

समस्या है। दैनिक जीवन में भी हम उबा देनेवाले कामों से बचकर या उनको रोचक बनाकर अपनी कार्यकुशलता बढ़ा सकते हैं।

ऋणात्मक प्रतिक्रियाएं : किसी स्थिति से प्रभावित न होने का पक्का इरादा बनाकर प्रतिक्रिया करने से इनकार कर देने को ऋणात्मक प्रतिक्रिया कहा जाता है। बहुत-से लोग ऋणात्मक प्रतिक्रिया कर इस बात का अभिमान करने लगते हैं कि उनके निर्णय को संसार की कोई शक्ति बदल या प्रभावित नहीं कर सकती। ऋणात्मक प्रवृत्ति का असर पाचन-क्रिया पर पड़ सकता है और व्यक्ति खतरनाक कोष्ठबद्धता का शिकार बन सकता है। ऋणात्मक प्रतिक्रियाएं वे लोग ज्यादा करते हैं, जिनमें आत्मरक्षा की भावना कम होती है और जो स्वाभाविक ढंग से समाज-अनुमोदित प्रतिक्रियाएं करने में असमर्थ होते हैं।

आत्मरक्षा की भावना के कम होने के दो कारण हो सकते हैं: एक तो भावात्मक रूप से आत्मनिर्धारण न कर पाना और दूसरे जातीय उद्देश्यों, विशेषकर निर्देशन-ग्राहिता का अपसामान्य रूप से विकसित हो जाना। दोनों दिशाओं में व्यक्ति को अपने आचरण के लिए उचित मार्गदर्शन नहीं मिल पाता, जिसे वह दूसरों के कहने-सुनने पर ज्यादा निर्भर होने लग जाता है। यदि उसमें समाज-अनुमोदित प्रतिक्रियाओं का निर्माण स्वाभाविक ढंग से हो चुका होता, तो वह स्वाग्रह और आत्मसमर्पण की भावनाओं में समझौता कर लेता है। लेकिन ऐसा न होने पर उसे या तो अन्य व्यक्तियों या स्थितियों के प्रभाव में आना पड़ता है, या वह उनके प्रभाव को रोकने की चेष्टा करता है। अन्य व्यक्तियों या स्थितियों से प्रभावित न हो सकने की भावना ही ऋणात्मक प्रतिक्रियाओं का कारण होती है।

ऋणात्मक प्रतिक्रिया के पीछे स्वाग्रह और आत्म-समर्पण प्रायः ये दोनों भावनाएं रहा करती हैं। अधिकांश उदाहरणों में ऋणात्मक प्रतिक्रियाओं के पीछे आत्मसमर्पण की भावना हुआ करती है। किंतु आत्मरक्षा के अभाव में आत्मसमर्पण की भावना अतिरंजित बन जाती है और उसकी इसी अतिरंजना के कारण व्यक्ति के अहम् की तात्कालिक आवश्यकताएं उसकी आत्मसमर्पण की भावना को रोकने लगती हैं। इस प्रकार ऋणात्मक व्यवहार किसी बाह्य स्थिति के प्रति की गयी प्रतिक्रिया न होकर अपनी ही आत्मसमर्पण की अतिरंजित आंतरिक भावना के प्रति की जानेवाली प्रतिक्रिया होती है।

एड्रीनल ग्रंथि : (दे० अधिवृक्क ग्रंथि।)

एबिंगहाउस, हर्मन (1850-1909) : हर्मन एबिंगहाउस एक जर्मन मनोविज्ञानी थे, जिन्होंने मनोविज्ञान की कोई विधिवत् शिक्षा नहीं पायी थी। उनके मन में प्रायोगिक प्रणालियों को उच्चतर मानसिक क्रियाओं पर लागू करने का विचार उठा और संभवतः अंग्रेजी साहचर्यवादियों के प्रभाव से उन्होंने स्मृति के क्षेत्र में प्रायोगिक प्रणालियों को लागू किया। उन्होंने अपने सारे प्रयोग बड़े अध्यवसाय और परिश्रम से स्वयं अपने ही ऊपर किये और अपने परिणामों को 1885 में प्रकाशित किया, जो युगांतरकारी महत्त्व के थे। उनके प्रयोगों से स्मृति के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता चला। शायद स्मृति पर किये गये अपने इस महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण ही उन्हें बर्लिन विश्वविद्यालय में असाधारण प्रोफेसर नियुक्त किया गया।

स्मृति के अतिरिक्त एबिंगहाउस ने वर्ण-विरोध और वेबर के नियम पर भी कार्य किया। उन्होंने 1890 में एक नयी पत्रिका भी निकालनी शुरू की, जो मनोविज्ञान की नवीन खोजों के प्रकाशन का प्रमुख माध्यम बन गयी। इसके अतिरिक्त एबिंगहाउस का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य था—ब्रेसलाउ नगरपालिका के लिए समापन-परीक्षण तैयार करना। यह उच्चतर मानसिक क्षमताओं को जानने के लिए पहला सफल परीक्षण था। एबिंगहाउस ने मनोविज्ञान पर दो भागों में एक पुस्तक लिखने की योजना बनायी और पहला भाग प्रकाशित किया, जो मनोविज्ञान पर सबसे सफल और संतोषप्रद पुस्तक थी। एबिंगहाउस दूसरे भाग का काम पूरा भी नहीं कर पाये थे कि सहसा 1909 में निमोनिया से उनकी मृत्यु हो गयी। उनकी इस अकाल मृत्यु से मनोविज्ञान को अपार क्षति हुई।

औचित्य-स्थापन : किसी बात को अपनी और दूसरों की दृष्टि में उचित सिद्ध करने की कोशिश करना औचित्य-स्थापन कहलाता है। औचित्य-स्थापन द्वारा कोई बात

अपनी और सबकी दृष्टि में उचित ठहरायी जाती है। अनेक प्रकार की प्रतिपूरक प्रतिक्रियाएं औचित्य-स्थापन द्वारा ही की जाती हैं। किसी विचार, इच्छा या काम के पीछे जो उद्देश्य होता है, उसे औचित्य-स्थापन द्वारा उचित बनाया जाता है। औचित्य-स्थापन का कारण साध्य या साधन का निंदनीय होना होता है। कामचोर आदमी यह नहीं कहता कि वह स्वयं काम से जी चुराता है, वरन् काम न करने के अनेक बहाने ढूंढ़कर अपनी कामचोरी का औचित्य सिद्ध करता है। दैनिक जीवन में हम सभी अनेक प्रकार से अनुचित बातों या कामों का औचित्य-स्थापन करते रहते हैं। औचित्य-स्थापन करना अपने-आपको धोखा देना होता है। औचित्य-स्थापन का एक रूप आत्म-भर्त्सना करना भी होता है। आत्मभर्त्सना के पीछे आत्म-प्रशंसा का ही उद्देश्य रहता है। जिस लड़की को अपनी सुंदरता पर बड़ा अभिमान होता है, यदि कोई उसकी सुंदरता की प्रशंसा करे, तो वह जवाब में यह कहती है, "मैं क्या हूं? मुझसे भी अच्छी-अच्छी पड़ी हैं।"

औचित्य-स्थापन द्वारा हम अपने को दूसरों की नजरों में गिर जाने से बचाते हैं और इस प्रकार एक तरह से अपने सम्मान की रक्षा करते हैं। ऐसा करना कभी-कभी हमारी मानसिक शांति के लिए जरूरी भी हो सकता है। जहां तक औचित्य-स्थापन हमारी मानसिक शांति को बनाये रखने में सहायक होता है, वहां तक उसकी आवश्यकता है, किंतु औचित्य-स्थापन अच्छे संतुलन के लिए बिलकुल अनावश्यक है।

कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण : यह एक प्रक्षेपी प्रविधि है। इस परीक्षण का आधार यह है कि मानवीय व्यवहार हमेशा सार्थक होता है। व्यवहार पर प्रत्यक्ष करने का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। देखने और करने में बहुत घनिष्ठ संबंध होता है और मनुष्य के 'करने' को उसके 'देखने' से अलग करके नहीं समझा जा सकता। व्यक्ति के असंतुलित व्यवहार का कारण उसका 'देखने का ढंग' होता है। व्यक्ति परिवेश को जिस ढंग से देखता है, उसी प्रसंग में वह परिवेश से अपना साहचर्य बनाता है। कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण से प्रत्यक्ष करने के स्तर पर व्यक्ति की गत्यात्मक दिशा का पता चलता है।

कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण में पात्र को कुछ मानकित चित्र दिखाये जाते हैं और प्रत्येक चित्र में कोई न कोई अलग स्थिति दी हुई होती है। पात्र उस चित्र की स्थिति का प्रत्यक्ष अनजाने में अपने गहन मन में संचित पूर्व-अनुभवों के प्रक्षेपण के आधार पर करता है। उदाहरण के लिए यह चित्र देखिए :



कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण

परीक्षक पात्र को चित्र दिखाकर पूछता है, "चित्र में अंकित कथानक के पीछे क्या कारण हो सकता है? चित्रांकित पात्र क्या अनुभव कर रहा है? उसके सोचने की दिशा क्या है और उसका क्या परिणाम हो सकता है?" अब देखिए कि तीन पात्रों ने कथानक का संप्रत्यक्ष कैसे किया।

पात्र 1 : इस लड़की ने कोई ऐसा काम कर डाला है, जिसे वह घर में किसी को बताना नहीं चाहती; क्योंकि घरवाले उस पर बहुत विश्वास करते हैं और अपने मन का भेद बताकर वह उनके विश्वास को तोड़ना नहीं चाहती, इसलिए वह परेशान है।

पात्र 2 : यह लड़की अपने पिता से बेहद प्यार करती है और उसके मर जाने पर शोकाकुल होकर विलाप कर रही है।

पात्र 3 : इस स्त्री को इसके पति ने किसी अन्य पुरुष के साथ प्रेमालाप करते देख लिया है, जिससे वह पश्चात्ताप में रो रही है।

पात्र 1 और 2 ने चित्र में 'लड़कियां' देखीं और पात्र 3 ने 'स्त्री' देखी। पात्र 1 ने किसी लड़की से प्रेम करना शुरू किया था, किंतु लड़की उसे एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने देना चाहती थी। पात्र 1 के बहुत आग्रह करने पर लड़की

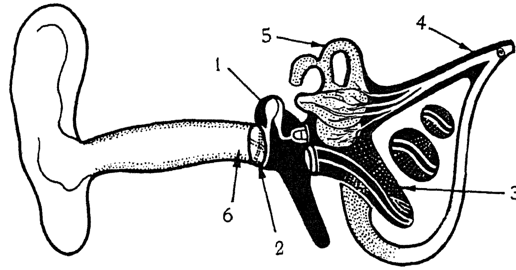
मानती तो नहीं थी, किंतु बेहद परेशान हो जाया करती थी। पात्र 1 द्वारा कथानक-संप्रत्यक्ष पर उसकी तीव्र रागात्मक मनोदशा का प्रभाव स्पष्ट है। पात्र 2 एक लड़की है, जिसकी मां बचपन में ही मर चुकी थी, जिसका लड़की को बड़ा दुख था। लड़की का पिता काफी वृद्ध और मरणासन्न था। लड़की को हमेशा यह चिंता रहती थी कि पिता के मरने के बाद उसका क्या होगा। लड़की (पात्र 2) द्वारा किया गया कथानक संप्रत्यक्ष निस्संदेह उसके इसी समस्यामूलक विचार से प्रभावित है। पात्र 3 एक विवाहित व्यक्ति है, जिसे अपनी स्त्री के चरित्र पर संदेह है और वह हमेशा अपने संदेह की पुष्टि का मौका ढूंढ़ता रहता है। उसकी इस मनोवृत्ति को उसके द्वारा किये गये कथानक संप्रत्यक्ष में देखा जा सकता है। अपनी स्त्री पर संदेह करने के कारण वह चित्र में पात्र 1 और 2 की तरह 'लड़की' न देखकर 'स्त्री' देखता है।

सामान्य व्यक्ति के चिंतन की दिशा बहुमुखी होती है, जिससे उसे स्थिति विशेष के अनुरूप चिंतन कर सकने में कोई कठिनाई नहीं होती। हमारे सोचने पर अचेतन प्रेरकों और तीव्र रागात्मक अनुभवों का निश्चित प्रभाव पड़ता है। अगर किसी पात्र द्वारा अधिकांश चित्रों में अंकित विभिन्न स्थितियों के कथानक संप्रत्यक्ष के लिए एक ही दिशा में सोचने की प्रधानता हो, तो निश्चित है कि उसके व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक संगठन पर कोई विशेष अचेतन प्रेरक या तीव्र रागात्मक अनुभव ज्यादा प्रभाव डाल रहा है, जिससे वह स्वस्थ और प्रकृत रूप से बहुमुखी दिशाओं में सोच-विचार करने योग्य नहीं रह गया है।

कल्पना : कल्पना सोचने की क्रिया का ही एक प्रकार है, जिसमें स्मृति-प्रतिमाओं की प्रधानता रहती है। स्मृति-प्रतिमा-प्रधान सोचने की क्रिया को कल्पना कहा जाता है। आप अपने विगत अनुभव, सैर-सपाटे या किसी से मिलने के विषय में सोच सकते हैं। विगत अनुभवों को सोचने से आपके सामने उन अनुभवों की स्मृति-प्रतिमाएं आती हैं। सैर-सपाटे में आप जिन-जिन स्थानों पर गये थे, जो-जो दृश्य देखे थे, जिन-जिन लोगों से मिले थे—उनकी स्मृति-प्रतिमाओं का एक-एक करके मानस-पटल पर आना ही कल्पना है।

कल्पना भविष्य-विषयक भी हो सकती है। आप कल्पना कर सकते हैं कि अगली छुट्टियां कहां और कैसे बितायी जायें। भविष्य-विषयक कल्पना करने में आप भविष्य से अपनी स्मृति-प्रतिमाओं का संबंध नये ढंग से जोड़ते हैं। स्मृति-प्रतिमाएं अनुभव का पुनरावर्तनमात्र होती हैं, सृजनात्मक नहीं। कल्पना सृजनात्मक प्रतीकात्मक क्रिया में सहायक बनती है; क्योंकि सृजनात्मक क्रिया में स्मृति-प्रतिमाओं के आधार पर कोई नया प्रतीकात्मक संगठन संभव हो सकता है।

कान : हमें अपने परिवेश का ज्ञान ध्वनि से भी होता है, जिसके कारण कान का भी बड़ा महत्त्व है। रचना के अनुसार कान के तीन भाग होते हैं: बाहरी भाग, बीच का भाग और भीतरी भाग। बाहरी भाग का छेद जहां समाप्त होता है, वहां एक झिल्ली होती है, जिसे कान का पर्दा कहते हैं। कान के पर्दे के बाद बीच का भाग



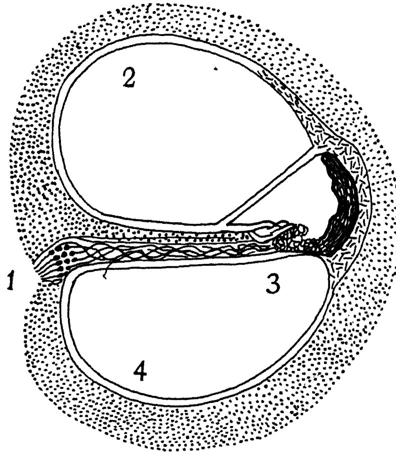
कान

1. **हथौड़ा निहाई रकाब** 4. **श्रवण तंत्रिका**
2. **पर्दा** 5. **अर्धवृत्ताकार नालियां**
3. **कर्णावर्त** 6. **कर्णिक संदेश-वाहक**

शुरू होता है। बीच के भाग में तीन हड्डियों की श्रृंखला रहती है, जिनमें से पहली दो हड्डियों को उनके काम के अनुसार क्रमशः हथौड़ा और निहाई कहा जाता है। तीसरी हड्डी को उसकी शक्ल के अनुसार रकाब कहते हैं। हथौड़ा नामक पहली हड्डी कान के पर्दे से और रकाब नामक तीसरी हड्डी एक अंडाकार झरोखे में लगी झिल्ली से संबंधित होती है।

अंडाकार झरोखे के बाद कान का भीतरी भाग शुरू होता है। भीतरी भाग में तीन प्रमुख अंग होते हैं: प्रधाण, कर्णावर्त और अर्धवृत्ताकार नालियां। कर्णावर्त में दो बड़ी नहरें होती हैं और उनके बीच हड्डी की एक दीवार होती है, जो उन्हें एक-दूसरे से अलग करती है। उसमें

दो पतली झिल्लियां होती हैं, जो कर्णावर्त नहर कही जानेवाली एक छोटी-सी दीवार को आवृत्त किये रहती हैं। सुनने के ग्राहक कर्णावर्त नहर में होते हैं। कर्णावर्त नहर



कान

1. श्रवण-तंत्रिका स्नायु 3. आधार झिल्ली
2. प्रघाण नहर 4. मध्यकर्ण नहर

और मध्यकर्ण नहर के बीच आधार-झिल्ली होती है, जो दोनों नहरों को एक-दूसरे से अलग करती है। आधार-झिल्ली के ऊपर कोर्टी नामक अंग होता है। कोर्टी पर लोम-कोशिकाएं होती हैं, जो कर्णावर्त नहर में भरे तरल पदार्थ में प्रक्षेपित रहती हैं।

कार्यवाद : मनोविज्ञान का कार्यवादी दृष्टिकोण उन्नीसवीं शती में डारविन, लायड मार्गन आदि प्राणि-विज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के सिद्धांत पर आधारित है। विकासवाद के अनुसार प्राणी की मानसिक या शारीरिक क्रियाओं के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। प्राणी अपने सारे कार्य किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही करता है। विकासवाद से प्रभावित होकर विलियम जेम्स आदि मनोविज्ञानियों ने मानसिक क्रियाओं के अध्ययन में उनके कार्य-पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया।

कार्यवादियों के अनुसार मनुष्य की मानसिक क्रियाएं उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयोजन से होती हैं। अन्य प्राणियों का परिवेश मनुष्य के परिवेश की भांति जटिल नहीं होता, इसलिए उनकी मानसिक क्रियाओं में भी जटिलता नहीं होती। मनुष्य का परिवेश जटिल होता है और उस जटिल परिवेश से उत्पन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयोजन से मनुष्य की मानसिक क्रियाएं भी जटिल और उच्च स्तर की होती हैं। कार्यवाद के अनुसार मनोविज्ञान को "मानसिक क्रियाएं क्या हैं?" इसका अध्ययन न करके प्राणी के जीवन में उनके कार्य के महत्त्व का अध्ययन करना चाहिए।

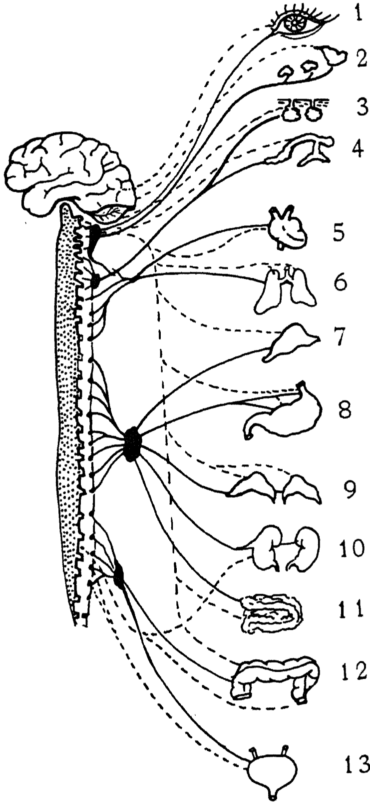
कुंठा : प्रावरोध के कारण किसी भी तीव्र प्रेरक की इच्छा की पूर्ति या किसी ध्येय की प्राप्ति न होने पर मन की विचित्र-सी क्षुब्धावस्था को कुंठा कहा जाता है। कुंठा का मानसिक विकास और व्यवहार पर विशेष प्रभाव पड़ता है। कुंठा के कारण व्यक्ति में हीनता-मनोग्रंथि पैदा हो सकती है। कुंठाग्रस्त व्यक्ति सदा तनाव का अनुभव करता रहता है। उसका व्यवहार विद्रोहात्मक बन सकता है। इसके विपरीत कुंठाग्रस्त व्यक्ति अन्वेषक बनकर वैज्ञानिक और कलात्मक सृजन भी कर डालते हैं। कुंठा के प्रति कोई व्यक्ति किस प्रकार की प्रतिक्रिया करेगा—यह उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं पर निर्भर होता है।

कुंठा के कई कारण हो सकते हैं, जैसे, परिवेश, अपनी शारीरिक सीमाएं, मानसिक अवस्था इत्यादि। समाज के नियम और बंधन पारिवेशिक कारण हैं। इंद्रियों में दोष होना शारीरिक कारण और स्वभाव संबंधी विशेषताएं मानसिक कारण हैं।

केंद्रीय तंत्रिका तंत्र : हमारे शरीर की परिधि में असंख्य तंत्रिकाएं फैली हुई हैं और यदि उनका संचालन और नियमन किसी एक केंद्र से न हो, तो हमारा सारा व्यवहार विच्छृंखल और अनर्गल हो जायेगा। हमें अनेक प्रकार के उद्दीपन मिलते रहते हैं और हम विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करते रहते हैं। हमारे शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन और संगठन केंद्रीय तंत्रिका-तंत्र से होता है। इस तंत्र में दो भाग होते हैं: मेरुरज्जु और मस्तिष्क।

मेरुरज्जु बहुत-सी तंत्रिकाओं से मिलकर बनी हुई एक गोल मोटी रस्सी की भांति होती है। मेरुरज्जु में शरीर की हर परिधि से आने-जानेवाली तंत्रिकाओं के इकत्तीस जोड़े होते हैं। मेरुरज्जु में संवेदी और गति

तंत्रिकाओं की व्यवस्था इस प्रकार होती है कि शरीर के बाहर के उद्दीपन दो तरह से काम कर सकते हैं। एक ओर तो वे मस्तिष्क में जा सकते हैं और दूसरी ओर तत्काल ही प्रतिक्रिया में बदल सकते हैं। साधारण प्रतिवर्त क्रियाओं



केंद्रीय तंत्रिका तंत्र

1. **आंख**
2. **लारवाही ग्रंथि**
3. **स्वेद ग्रंथि**
4. **रक्तवाहक**
5. **हृदय**
6. **फेफड़े**
7. **यकृत**
8. **पेट**
9. **एड्रीनल ग्रंथि**
10. **गुर्दे**
11. **छोटी आंत**
12. **बड़ी आंत**
13. **मूत्राशय**

का संचालन मेरुरज्जु द्वारा होता है। प्रतिवर्त क्रियाओं के संचालन में मस्तिष्क का हाथ नहीं रहता। सारी अनैच्छिक क्रियाओं का संचालन भी मेरुरज्जु से ही होता है। मस्तिष्क तक सूचना पहुंचने में देर लगती है। मेरुरज्जु उसके पहले ही गति-तंत्रिकाओं को आवश्यक प्रतिक्रिया करने की आज्ञा दे देती है, जो शरीर की रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है।

इस प्रकार मेरुरज्जु एक ओर तो प्रतिवर्त क्रियाओं का नियंत्रण और संचालन करती है और दूसरी ओर शरीर से मस्तिष्क का संबंध स्थापित करती है, जिससे बाहरी उद्दीपन मस्तिष्क तक जाकर उचित प्रतिक्रियाओं द्वारा कार्यरूप में परिणत होते हैं। मेरुरज्जु में स्थित संवेदी और गति तंत्रिकाएं मस्तिष्क से इस प्रकार संबंधित होती हैं कि शरीर के दायें भाग का नियंत्रण मस्तिष्क के बायें भाग से और बायें भाग का दायें भाग से होता है। जिस स्थान पर मेरुरज्जु से मस्तिष्क की ओर जानेवाली तंत्रिकाएं एक-दूसरे को पार करती हैं, उसे मेरुरज्जु-शीर्ष कहते हैं।

मेरुरज्जु-शीर्ष मेरुरज्जु का सबसे ऊपरी भाग होता है। मेरुरज्जु के नीचे के भागों से आकर मस्तिष्क में जानेवाले और मस्तिष्क से आकर मेरुरज्जु में जानेवाले उद्दीपन यहीं से जाते हैं। सांस लेना, रक्त संचार आदि स्वयं होते रहनेवाले काम भी मेरुरज्जु-शीर्ष से ही नियंत्रित होते हैं। हृदय और फेफड़ों से आनेवाली तंत्रिकाएं यहीं आकर मिलती हैं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर हृदय और फेफड़ों की गति में आवश्यक संशोधन हो जाते हैं।

मेरुरज्जु के ऊपर के विकसित भाग को मस्तिष्क कहा जाता है। मस्तिष्क का विकास कोशिका की बाहरी तहों से होता है। अंदर की तहों से मिलनेवाले उद्दीपनों से बाहर की तह मुड़ जाती है और उसमें पीछे की ओर सिमटे पड़ जाते हैं। मस्तिष्क अपनी इस अवस्था में क्रिया नहीं कर सकता; क्योंकि मस्तिष्क को बनानेवाली कोशिकाएं अभी तक तंत्रिका-कोशिकाएं नहीं बन पातीं। इन्हीं कोशिकाओं में आगे चलकर एक्जोन और डेन्ड्रोन (दे० न्यूरोन) निकल आते हैं और वे न्यूरोन की विशेषता ग्रहण कर न्यूरोनीय प्रेरणा को ले जाने के योग्य बन जाते हैं। मस्तिष्क के तीन भाग होते हैं : प्रमस्तिष्क (cerebrum) मध्य मस्तिष्क (cerebellum) और अनुमस्तिष्क (mid-brain)।

कैटाटोनीय मनोविदलता या विभक्तमनस्कता : कैटाटोन शब्द का अर्थ है तानता का नष्ट हो जाना।

हमारे शरीर के विभिन्न अंगों में एक स्वाभाविक तानता रहती है और अगर वह नष्ट हो जाये, तो विकार पैदा हो जाते हैं। कैटाटोनीय मनोविदलता में रागात्मक उदासीनता, अन्तर्मानसिक गतिभ्रंश आदि लक्षणों के साथ पेशीय-तानता के नष्ट हो जाने की प्रधानता रहती है। पेशीय तानता के नष्ट हो जाने को 'कैटेलेप्सी' कहा जाता है। कैटेलेप्सी में रोगी के किसी अंग को जिस स्थिति में रख दिया जाता है, वह उसी स्थिति में रखा रहता है। कैटेलेप्सी रोगियों में बहुत कम पायी जाती है। अधिकांश रोगियों में कैटेलेप्सी की निष्क्रियता का प्रतिरोध मिलता है। अगर उनकी बांह फैलायी जाये, तो वे प्रतिरोध करके अपनी बांह और समेट लेते हैं। यह प्रतिरोध रोगी के असहयोग का सूचक होता है। कुछ रोगी साधारण प्रश्नों का उत्तर भी नहीं देते और मौन धारण कर लेते हैं। उनके व्यवहार से लगता है कि वे बाह्य उद्दीपनों के प्रति उदासीन हैं। इस उदासीनता को कैटाटोनीय जड़िमा कहा जाता है। जड़िमा के साथ रोगियों में एक विशेषता यह पायी जाती है कि उनसे जो कुछ करने को कहा जाये, वे ठीक उसका उलटा करते हैं। कैटाटोनीय जड़िमा के उग्र रूप में रोगी बिल्कुल जड़वत् हो जाता है। जड़िमा के हल्के रूप में रोगी एक ही स्थान पर घंटों तक एक ही शारीरिक मुद्रा में खड़ा या बैठा रह सकता है।

कैटाटोनीय जड़िमा के विपरीत कुछ रोगियों में कैटाटोनीय उत्तेजन भी पाया जाता है। कैटाटोनीय उत्तेजन में रोगी की क्रियाएं बड़ी असंगत, उद्देश्यहीन और अनिश्चित हो जाती हैं। वह कुछ क्रियाओं को निरंतर दुहरा भी सकता है, जैसे शरीर को इधर-उधर हिलाते रहना या एक ही बात की रट लगाये रहना। रोगियों के चलने-फिरने के ढंग में एक अनर्गल रूढ़ता भी देखने में आती है। कोई रोगी हमेशा दीवार से लगकर चलता है, तो कोई चलते समय पहले बायां पैर ही उठाता है।

कोशिका : हमारे और सभी प्राणियों के शरीर का निर्माण एक प्राणमय कोशिका से होता है। कोशिका इतनी छोटी होती है कि उसे आंख से नहीं देखा जा सकता। अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर कोशिका एक गाढ़ा-सा रंगहीन पदार्थ मालूम होती है। इस गाढ़े-से पदार्थ को 'प्रोटोप्लाज्म' कहते हैं, जिसका अर्थ है पूर्वरूप। कोशिका का प्रोटोप्लाज्म प्राणी के सारे शारीरिक अंगों का पूर्वरूप होता है।

प्रोटोप्लाज्म में सजातीयता या एकरूपता नहीं होती। उसमें दो भाग होते हैं, एक महीन-सी जाली और उसमें लिपटा हुआ एक तरल-सा पदार्थ। परीक्षा करके यह देखा गया है कि कोशिका की रचना एक निश्चित प्रकार की होती है। कोशिका असंख्य ठोस कणों से निर्मित होती है, जो प्राणमय होते हैं। कोशिका में हजारों रासायनिक क्रियाएं होती रहती हैं। कोशिका के बीच में केंद्रक होता है, जो उसे जीवित रखता है और उसकी रासायनिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है। केंद्रक को यदि कोशिका से अलग कर दिया जाये, जो संभव हो सका है, तो कोशिका उसी समय निष्प्राण हो जाती है। अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर पता चला है कि केंद्रक में दो छोटे और गोल-गोल अंग होते हैं, जिनकी शक्ल हमेशा बदलती रहती है। कोशिका के कण लगातार इधर-उधर प्रवाहित होते रहते हैं। उनके निरंतर प्रवाह से कोशिका के हर भाग को पोषक तत्त्व मिलते रहते हैं और नष्ट पदार्थ कोशिका की सतह से बाहर निकलता रहता है।

कोशिका की दो विशेषताएं होती हैं : संकुचन क्षमता और सुविकारिता। अपनी इन्हीं दो विशेषताओं के कारण कोशिका जीवित रहती है। विशेष परिस्थितियों में प्रोटोप्लाज्म के रूप में परिवर्तन हो सकना ही कोशिका की संकुचन-क्षमता होती है। सुविकारिता का अर्थ है अनुकूल या प्रतिकूल उद्दीपनों के प्रति भावात्मक या अभावात्मक प्रतिक्रिया कर सकने की योग्यता। कोशिका की सुविकारिता के कारण ही हमारा शरीर परिवेश से समायोजन कर पाता है।

जीवित रहने के लिए कोशिका को शक्ति की आवश्यकता होती है, जो उसे खाद्य पदार्थों से मिलती है। खाद्य पदार्थों से मिलनेवाली शक्ति रासायनिक शक्ति के रूप में बदलकर कोशिका में संचित होती रहती है। यह संचित शक्ति एक ओर तो विभिन्न अंगों के निर्माण में सहायता देती है और दूसरी ओर हमारे शरीर और कर्मेंद्रियों को क्रिया करने के लिए बल देती है। एक निरवयव कोशिका विकसित होकर दो कोशिकाओं में विभाजित हो जाती है। फिर दो कोशिकाएं चार में, चार आठ में, आठ फिर सोलह में विभाजित होते-होते असंख्यक हो जाती हैं। विकसित

होने पर कोशिकाओं का काम अलग-अलग हो जाता है। कुछ से त्वचा बनती है, कुछ से हड्डियां, कुछ से पेशियां और कुछ से तंत्रिकाएं आदि।

क्रोमोसोम : (दे० आनुवंशिकता)

खेलना : प्राणियों की एक जन्मजात प्रवृत्ति है खेलना। खेलने के विषय में बहुत-से मत हैं। हर्बर्ट स्पेंसर का मत है कि प्राणी को जो शक्ति मिली है, उसका काफी अंश आहार की खोज और आत्मरक्षा के लिए परिवेश से संघर्ष करने में खर्च हो जाता है। किंतु इसके बाद भी कुछ शक्ति बच जाती है। वह बची हुई शक्ति किसी काम में नहीं आती और उसके निकास के लिए खेलने की जरूरत पड़ती है। इसमें कोई शक नहीं कि जीवन संग्राम में अधिक व्यस्त रहनेवाला आदमी खेल से बहुत दूर रहता है। इस मत के विरोध में केवल यही आपत्ति है कि कभी-कभी हम थक जाने पर भी खेलना चाहते हैं, इसलिए थक जाने के बाद भी शक्ति की बचत को मानना युक्तिसंगत नहीं है।

एक दूसरे मत के अनुसार खेलने से बची शक्ति का व्यय न होकर खोयी शक्ति की पुनर्प्राप्ति होती है। खेलने से मनोरंजन होता है और मनोरंजन होने से हमारे अंग-प्रत्यंग फिर से शक्ति का अर्जन करने योग्य बन जाते हैं। किंतु यह मत भी कमजोर है। छोटे बच्चे, जिन्हें खेलने के अतिरिक्त और कोई काम ही नहीं होता, क्यों खेलते हैं? जब उनमें शक्ति का ह्रास ही नहीं होता तो उसकी पुनर्प्राप्ति कैसी?

कार्ल ग्रूस ने खेलने की व्याख्या एक और ढंग से की है। उनके अनुसार खेल प्राकृतिक पाठशाला है, जिसमें प्राणी अपने भावी जीवन के लिए उपयोगी आचरण की शिक्षा प्राप्त करता है। खेलने के द्वारा बच्चा अपने भावी जीवन की तैयारी करता है और उसे जो काम प्रौढ़ जीवन में करने होते हैं, खेलों में वह उनका पूर्व-अभिनय करता है। लड़कियों का गुड़िया खेलना इसका स्पष्ट प्रमाण है। कार्ल ग्रूस के अनुसार जो प्राणी जितना असहाय पैदा होता है, उसका बाल्यकाल उतना ही लंबा होता है; क्योंकि उसे अपने जीवन-संग्राम के लिए उतनी ही अधिक तैयारी करनी पड़ती है। मानव-शिशु अन्य प्राणियों के बच्चों की अपेक्षा अधिक असहाय होता है। उसकी शक्तियों के विकास के लिए काफी लंबे समय की आवश्यकता होती है, इसीलिए उसका बचपन लंबा होता है। चूंकि उसे जीवन-संग्राम के लिए अधिक तैयारी करनी पड़ती है, इसलिए उसका अभिनय करने के लिए उसे अधिक खेलना पड़ता है।

एक अन्य मत के अनुसार खेल का उद्देश्य उसका विरेचक होना है। मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियों का समुचित रूप से प्रकाशन नहीं हो पाता। ये अर्ध-प्रकाशित या अप्रकाशित प्रवृत्तियां उसे बैचेन और व्यथित किया करती हैं। खेल उनके प्रकाशन का एक बहाना होता है। खेलने से अप्रकाशित प्रवृत्तियों को निकलने का मार्ग मिल जाता है, जिससे मन हल्का हो जाता है और हमें सुख मिलता है। खेल का मन पर वही प्रभाव पड़ता है, जो किसी रेचक औषधि का शरीर पर।

खेल-संबंधी ये सब मत वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हैं। खेलने का मुख्य उद्देश्य होता है मनोरंजन करना। खेल किसी चीज का साधन न होकर स्वयं एक साध्य है। अन्य काम किसी उद्देश्य से किये जाते हैं, किंतु खेल के पीछे कोई उद्देश्य नहीं होता। खेल का उद्देश्य खेलना ही होता है।

गति-ज्ञान : गति का ज्ञान संवेदी धरातल के क्रमिक रूप से उद्दीप्त होने पर होता है। बदन पर चींटी के रेंगने से त्वचा के संवेदी ग्राहक क्रमशः उद्दीप्त होते चले जाते हैं, जिससे हमें चींटी के रेंगने का ज्ञान होता है। गति का ज्ञान पेशियों के संकुचन और फैलाव से भी होता है। हाथ हिलाने पर कुछ पेशियों में संकुचन होता है और उनकी विरोधी पेशियों में फैलाव, जिससे हाथ में गति मालूम पड़ती है।

गति का ज्ञान एक सीमा के भीतर ही होता है। घड़ी की बड़ी सुई गतिशील लगती है, किंतु छोटी नहीं लगती। प्रयोगों के द्वारा यह देखा गया है कि आंख से दो गज दूर पर प्रति सेकेंड 2 मिलीमीटर से कम रफ्तार और 150 मिलीमीटर से ज्यादा रफ्तार से चलनेवाली वस्तुओं की गतिशीलता दिखायी नहीं पड़ती। उद्दीपन जितना दूर होता है, उसकी गति उतनी ही धीमी मालूम होती है। गतिशीलता का अनुमान करने में गलती होती है और वह दुर्घटना का कारण बन सकती है। अभ्यास से गति-शीलता के अनुमान को बहुत-कुछ बढ़ाया जा सकता है।

हमें गतिशीलता के भ्रम भी होते हैं और हम स्थिर

और अचल उद्दीपनों को गतिशील और गतिशील उद्दीपनों को गतिहीन समझते हैं। बादलों की ओट में चांद भागता हुआ लगता है, किंतु चांद नहीं भागता, भागते बादल हैं। गतिशीलता देखने के लिए कोई न कोई अचल पृष्ठभूमि होनी चाहिए। विस्तृत आकाश में बादलों के भागने का अनुमान करने के लिए कोई अचल पृष्ठभूमि नहीं मिलती, इसलिए चांद भागता-सा लगता है; क्योंकि बादल चांद के भागने का अनुमान कराने की अचल पृष्ठभूमि बन जाते हैं।

दीवार को पृष्ठभूमि बनाकर अपने किसी हाथ की उंगली को नाक की सीध में कर लीजिए। अब दोनों आंखों को एक के बाद एक जल्दी-जल्दी बंद करते और खोलते रहिए। आपको लगेगा कि उंगली इधर-उधर चल रही है। यदि आप एक आंख बंद करने और दूसरी को खोलने में 0.06 सेकेंड से ज्यादा लगायेंगे, तो उंगली गतिशील नहीं लगेगी। मनोविज्ञान में इस अनुभव को 'फाई-घटना' कहा जाता है।

सिनेमा के चित्र चलते-फिरते दिखायी देते हैं, किंतु वास्तव में उनमें गति नहीं होती। उनको इस तरह दिखाया जाता है कि 1 सेकेंड में आंख के सामने लगातार 24 चित्र आते हैं। उनकी 24 विभिन्न और अचल स्थितियों में ऐसा संगठन हो जाता है, जिससे वे चलते-फिरते मालूम होने लगते हैं। नेत्रपटल पर पहले चित्र से बना प्रतिबिंब हटने से पहले ही दूसरे चित्र का और दूसरे के बाद तीसरे का प्रतिबिंब बनता जाता है और उन सबके संगठन से चित्रों में गतिशीलता का अनुभव होने लगता है।

गहराई का ज्ञान : उद्दीपनों की गहराई और ठोसपन का ज्ञान प्रकाश और छाया के सम्मिलित प्रभाव से होता है। चित्रकार प्रकाश और छाया द्वारा ही चित्रों में गहराई, ठोसपन और उभार का प्रभाव पैदा करते हैं। गहराई और ठोसपन का ज्ञान एक आंख से अच्छी तरह नहीं हो पाता। गहराई और ठोसपन का ज्ञान भलीभांति करने के लिए दोनों आंखों से देखने की अपेक्षा होती है। ठोस उद्दीपन का प्रतिबिंब दोनों आंखों पर एक-सा नहीं पड़ता। ठोस वस्तु को देखने पर दोनों आंखें एक ही उद्दीपन के दो विभिन्न संगठनों को मस्तिष्क के न्यूरोनों में भेजती हैं। उनमें से कोई भी अकेला संगठन उद्दीपन के चपटे रूप को ही दिखाता है। किंतु वही दोनों विभिन्न संगठन जब नेत्रपटल पर समन्वित होते हैं, तो उद्दीपन का ठोसपन सजीव बन जाता है। ठोसपन का गुण दोनों संगठनों में अलग-अलग नहीं होता, वरन् उनके मिलने से पैदा होता है। यह अनुभव आप किसी ठोस वस्तु को एक आंख और दोनों आंखों से देखने पर कर सकते हैं। सीढ़ियां उतरते समय एक आंख बंद कर लीजिए। आप धोखा खाकर गिर सकते हैं।

गुणसूत्र : (दे० आनुवंशिकता)

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान : संरचनावादी दृष्टिकोण के प्रवर्तक वुंट ने अनुभव को विभिन्न संवेदनों के अवयवों से मिलकर बननेवाली एक अवयवी माना था और मनोविज्ञान का उद्देश्य अनुभव के अवयवों का विश्लेषण और उनसे मिलकर बननेवाली अवयवी के संयोग के नियमों का अध्ययन करना बताया था। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का उदय वुंट के मत के विरोध के परिणामस्वरूप हुआ। गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण ने वुंट के संरचनावादी दृष्टिकोण को 'ईंट और गारे' का मनोविज्ञान कहा जो 'ईंटों' (अनुभव के अवयवों) पर अधिक जोर देता है। गेस्टाल्टवाद में प्रत्येक अनुभव को एक 'गेस्टाल्ट' माना जाता है, जिसके रूप को उसके अवयवों के विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता। 'गेस्टाल्ट' जर्मन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है समग्राकृति या अवयवी। गेस्टाल्टवाद के अनुसार गति, आकृति और अन्य विशेषताओं वाले अनुभव की व्याख्या उद्दीपन-प्रतिक्रिया या साहचर्य के नियमों से नहीं की जा सकती। उनका अनुभव एक समष्टि या अवयवी होता है। नारंगी का अनुभव एक गेस्टाल्ट है, जिसे रंग, आकृति, गोलाई, मोटाई आदि अवयवों के विश्लेषण से नहीं जाना जा सकता। अवयवी अपने अवयवों के योग से विशिष्ट होती है। नारंगी का अनुभव उसके अवयवों, रंग, आकृति आदि के योग से विशिष्ट होता है और उसका विश्लेषण उसके रूप की विशिष्टता को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार हमारा सारा अनुभव एक गेस्टाल्ट होता है और उसे समझने के लिए उसका अध्ययन उसके गेस्टाल्ट रूप में ही किया जाना चाहिए।

गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक वेयरदाइमर,

कीलर, किफ्का और कुर्ट लेविन हैं। उनके अनुसार मनुष्य का अनुभव व्यवहार से संयुक्त हो जानेवाले अवयवों (संवेदनों) से निर्मित नहीं होता। मनुष्य की मानसिक रचना में एक जन्मजात पूर्वव्यवस्था अंतर्निहित होती है, जिसके अनुसार ही वह परिवेश से अपने व्यवहार को व्यवस्थित करता है। गेस्टाल्टवादी मानवीय व्यवहार को 'रिक्ति-पूर्ति' के नियम से समझाते हैं। उनके अनुसार रिक्ति-पूर्ति करना मन की रचना का स्वाभाविक परिणाम है। रिक्त अनियमित आकृति देखने पर मन में असंतुलित तनाव उत्पन्न हो जाता है और रिक्ति-पूर्ति के बाद मन का संतुलन फिर स्थापित हो जाता है। अनुभव स्वाभाविक रूप से मन के संतुलन की दिशा में होता है। एक उदाहरण लीजिए। डाक में छोड़ने के लिए आप अपनी जेब में एक पत्र रखते हैं। पत्र को जेब में रखते समय आपके व्यवहार में एक रिक्ति, एक खालीपन, उत्पन्न हो जाता है, जिससे आपके गत्यात्मक तंत्र में असंतुलन पैदा हो जाता है। उस गत्यात्मक असंतुलन से बाध्य होकर जब आप पत्र डाक बक्से में छोड़ देते हैं, तो संतुलन फिर स्थापित हो जाता है। इस प्रकार हमारा सारा अनुभव और व्यवहार गत्यात्मक तंत्र में उत्पन्न होनेवाले तनावों को दूर करने की दिशा में होता है।

गोनड : (दे० जननग्रंथि)

ग्राहक : ज्ञानेंद्रियों को ग्राहक कहा जाता है; क्योंकि परिवेश की शक्ति या दबाव को ग्रहण करने का काम ज्ञानेंद्रियां ही करती हैं। बाह्य जगत से मिलनेवाले सभी उद्दीपनों को हम अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा ही ग्रहण करते हैं। आंख दृश्य उद्दीपनों को, कान उद्दीपनों को, त्वचा स्पर्श और दबाव आदि के उद्दीपनों को ग्रहण करती है, इसलिए आंख, कान, नाक, त्वचा आदि को ग्राहक कहा जाता है।

चर : (दे० परिवर्त्य)

चेतना : चेतना संवेदनशीलता का एक विशेष गुण होता है। चेतना का केवल वर्णन ही किया जा सकता है, कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। चेतना और न्यूरोनीय क्रियाओं को एक ही व्यापार के दो पक्ष कहा जा सकता है। चेतना अविच्छिन्न होती है। चेतना का वर्णन नदी की धारा के रूपक से किया जा सकता है। अपने अखंड प्रवाह में बाधा पड़ने पर उस बाधा के हट जाने पर अपने खंडित होने के स्थान से सहज रूप में फिर चेतना का प्रवाह प्रारंभ हो जाता है। मान लीजिए, आप शतरंज खेल रहे हैं और कोई चाल सोच रहे हैं। एकाएक आपको किसी जरूरी काम से बाहर जाना पड़ता है। वापस आने पर आप खेल वहीं से शुरू करते हैं, जहां आपने रोक दिया था। इस प्रकार चेतना के प्रवाह की एकता के पीछे प्रयोजनमूलक अविच्छिन्नता रहती है।

चेतना के तीन पक्ष होते हैं : ज्ञान, राग और चेष्टा। परिवेश की चेतना हमें तीन प्रकार से हो सकती है : ज्ञान से, सुख या दुख आदि किसी राग से और किसी न किसी तरह की प्रतिक्रिया करने की चेष्टा से। फूल देखने पर हमें फूल का ज्ञान होता है। उसे देखकर हमें सुख का रागात्मक अनुभव भी होता है और जब हम उसे तोड़ना चाहते हैं, तो हमें चेष्टा का अनुभव होता है। हमारा यह संपूर्ण अनुभव हमारी चेतना का विषय होता है।

चेतना की एक विशेषता साहचर्य स्थापित करना भी है। साहचर्य का अर्थ संबंध जोड़ना है। अनुभव द्वारा हम तरह-तरह के संबंध जोड़ते हैं। संबंध जोड़ने का मनोवैज्ञानिक नियम यह है : अगर दो या दो से अधिक अनुभव एक साथ होते हैं, तो उनमें कुछ ऐसा संबंध जुड़ जाता है कि बाद में एक अनुभव के फिर होने पर दूसरा अनुभव भी फिर हो सकता है।

साहचर्य की भांति विघटन का भी चेतन पक्ष होता है। विघटन का अर्थ न्यूरोनीय सामीप्यों के प्रतिरोध में होनेवाले परिवर्तनों के कारण पूर्वस्थापित साहचर्यों का टूट जाना होता है। विघटन के कारण चेतना का प्रवाह खंडित और अनेकांतिक हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति किसी भी मानसिक क्रिया द्वारा हो सकती है।

जड़मति : वह व्यक्ति, जिसका बौद्धिक विकास बहुत ही कम हो पाता है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धिलब्धि शून्य से लेकर 20 तक कहीं भी हो सकती है। बड़े हो जाने पर भी जड़मति का व्यवहार दो वर्ष के बच्चे के व्यवहार के समान रहता है। जड़मति का सामाजिक विकास भी नहीं के बराबर हो पाता है और वह जीवन की साधारण से

साधारण स्थितियों से भी अपना समायोजन करने में पूर्णतः असमर्थ होता है। वह मामूली खतरों से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उसका शारीरिक विकास भी विकृत होता है। उसमें ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों से संबंधित विकार भी हो सकते हैं। जड़मति किसी भी रोग का शिकार जल्द हो जाता है। प्रायः जड़मति की मृत्यु बचपन में ही हो जाती है। उसमें भाषा का विकास भी बहुत निम्न स्तर पर रहता है। जड़मति सदा पराश्रित रहता है; क्योंकि वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता।

जड़वामनता : अवटु ग्रंथि के ठीक से विकसित न हो पाने, या उसमें ह्रास होने, या क्षति पहुंचने से जो कार्यदोष हो जाता है, उससे जन्म के समय या जन्म के जरा बाद बच्चे के शरीर का समुचित और स्वस्थ विकास नहीं हो पाता। जड़वामनता उन स्थानों पर भी पायी जाती है, जहां की मिट्टी में आयोडीन की कमी होती है। वहां की मिट्टी से उगे खाद्य-पदार्थों में आयोडीन की कमी जड़वामनता का कारण हो सकती है। अवटु ग्रंथि के कार्यदोष का कारण जन्माघात में भी हो सकता है।

जड़वामन बच्चा बौना रह जाता है। उसका सिर बड़ा होता है, पैर कुछ छोटे और टेढ़े-से होते हैं, हाथ-पैर लकड़ी के समान सूखे और त्वचा पीली-पीली-सी होती है और बाल रूखे होते हैं। उसकी पलकें मोटी होती हैं। मानसिक विकास की दृष्टि से जड़वामन बच्चा काफी पिछड़ा हुआ होता है। जड़वामन बच्चे की अवटु-न्यूनता को यदि बचपन से ही उपयुक्त इलाज द्वारा पूरा कर दिया जाये, तो वह सामान्य हालत में आ सकता है। किंतु इलाज की सफलता——जड़वामनता किस उम्र पर शुरू हुई, उसकी मात्रा और अवधि कितनी थी आदि बातों पर निर्भर है। इलाज में देर होने से सामान्य शारीरिक विकास और तंत्रिका-तंत्र को जो क्षति पहुंच जाती है, उसे पूरा नहीं किया जा सकता।

जनन ग्रंथि (गोनड) : ये ग्रंथियां (गोनड) पुरुषों में शिश्न के नीचे, शरीर के बाहर और स्त्रियों में नाभि प्रदेश के नीचे, शरीर के अंदर होती है। इन ग्रंथियों के हार्मोन के स्राव से स्त्री-पुरुष का भेद और उसके सूचक लक्षण प्रकट होते हैं। यह ग्रंथि स्त्री-पुरुष की जननेंद्रियों के विकास और उनकी परिपक्वता से संबंधित होती है। बालपन से युवावस्था में प्रवेश करते समय जनन-ग्रंथियों की क्रियाओं का स्त्री-पुरुष के शारीरिक विकास पर भारी प्रभाव पड़ता है। स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण भी जनन-ग्रंथियों से नियंत्रित होता है। प्रजनन के लिए जनन-ग्रंथियां पुरुष में वीर्य और स्त्री में रज का उत्पादन करती हैं।

जन्माघात : प्रसव के समय बच्चे द्वारा अनुभूत आघात, जिसका मनोविश्लेषण में बड़ा महत्त्व है। ओटो रैंक ने प्रसव को जीवन का प्रारंभिक और सर्वाधिक सार्वभौम क्षोभात्मक अनुभव कहा है। भयोत्पादक उद्दीपनों में जन्माघात को मूलभूत माना जाता है। यदि बच्चा इस पर पूर्ण नियंत्रण नहीं कर पाता, तो जन्माघात आगे चलकर उसकी किसी दुश्चिंता या दुर्भीति का कारण बन सकता है।

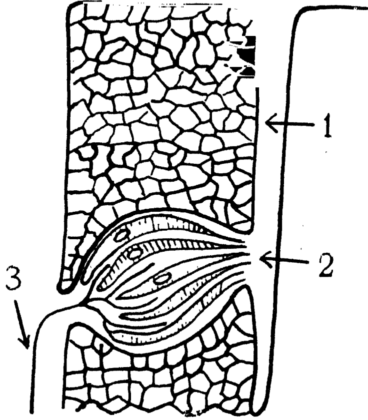
जिजीविषा और मुमूर्षा : फ्रायड ने मनुष्य के सारे व्यवहार का कारण दो प्रवृत्तियों को माना है। ये दो प्रवृत्तियां नहीं, प्रवृत्तियों के दो वर्ग हैं : जिजीविषा और मुमूर्षा। जिजीविषा जीवन-प्रवृत्ति है, जो जीवन को बनाये रखती है। मुमूर्षा मरण-प्रवृत्ति है, जो ध्वंसक और विनाशकारी होती है। इन प्रवृत्तियों की शक्ति अदम्य होती है और मनुष्य का सारा व्यवहार इन्हीं प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है। जिजीविषा और मुमूर्षा आपस में इस प्रकार मिली-जुली रहती हैं कि उन्हें बड़ी कठिनाई से अलग-अलग समझा जा सकता है।

प्रत्येक प्राणी की रचना इस प्रकार हुई है कि उसका शरीर किसी प्रकार का तनाव नहीं सह सकता। वह तनाव से जल्दी से जल्दी मुक्त होने की कोशिश करता है। तनाव विभिन्न प्रकार के उद्दीपनों से पैदा होते हैं। भूख के उद्दीपन से जो विशेष तनाव पैदा होता है, वह खाने से मिट जाता है। तनाव दूर होने से सुख और चैन मिलता है। जिजीविषा का काम है, सभी प्रकार के तनावों को मिटाने का प्रयत्न कर प्राणी को सुख की प्राप्ति कराना। स्वयं हमारा जीवन विभिन्न समस्याओं से पैदा होनेवाले तनावों की एक लंबी श्रृंखला है और मुमूर्षा जीवन से ही छुटकारा पाने की प्रवृत्ति है।

तो फिर मुमूर्षा के रहते हुए भी प्राणी जीवित कैसे

रह पाता है ? यह मुमूर्षा पर जिजीविषा के प्रभाव के कारण संभव होता है। फ्रायड का कहना है कि जिजीविषा मुमूर्षा को दो प्रकार से बदल सकती है। एक तो वह मुमूर्षा को व्यक्ति की ओर से हटाकर बाह्य जगत की ओर लगा सकती है। दूसरे, उसकी जीवनी-शक्ति मुमूर्षा की शक्ति से मिलकर उसको जीवन के लिए कम खतरनाक बना देती है। शौर्य, पराक्रम और साहस के काम इसके अच्छे उदाहरण हैं।

जिह्वा : ज्ञानेंद्रियों में जिह्वा का भी वही महत्त्व है, जो अन्य ज्ञानेंद्रियों का है। जिह्वा की सतह पर छोटे-छोटे छेद होते हैं, जिनसे वह खुरदरी लगती है। इन छेदों के नीचे स्वाद-ग्राहक होते हैं। स्वाद-ग्राहकों के एक समूह को स्वाद-कलिका कहा जाता है। प्रत्येक स्वाद-कलिका कोशिकाओं का एक समूह होती है और उसकी शक्ल प्याज की छोटी गांठ की तरह होती है।



1. **स्वाद तंत्रिका**
2. **स्वादकलिका के सिरे**
3. **छेद**

स्वाद-कलिकाएं जिह्वा के अतिरिक्त गालों और ओंठों में भी होती हैं। वयस्क लोगों की अपेक्षा बच्चों में स्वाद-कलिकाओं की संख्या अधिक होती है। स्वाद के ग्राहकों के अतिरिक्त जिह्वा में त्वचीय संवेदन के ग्राहक भी होते हैं।

जीन : (दे० आनुवंशिकता)

जेम्स-लांगे सिद्धांत : जेम्स और लांगे द्वारा प्रतिपादित संवेग विषयक एक सिद्धांत, जो संवेगों के प्रचलित और सामान्य मत के विपरीत है। संवेगों का प्रचलित और सामान्य मत तो यह है कि संवेगोत्पादक उद्दीपन से ग्राहकों में होनेवाली न्यूरोनीय प्रेरणा मन में पहुंचती है और मन अपनी क्रिया द्वारा उस उद्दीपन की सार्थकता को समझता है। उद्दीपन की सार्थकता समझ लेने पर मन में होनेवाली न्यूरोनीय प्रेरणा स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र की ओर प्रवाहित होती है, जिससे कुछ उचित शारीरिक परिवर्तन होते हैं। शारीरिक परिवर्तनों से होनेवाली न्यूरोनीय प्रेरणा फिर मन की ओर प्रवाहित होती है और तब हमें संवेग का अनुभव होता है। संवेग का अनुभव होने पर मन न्यूरोनीय प्रेरणा द्वारा हाथ-पैर आदि प्रभावकों को प्रतिक्रिया करने का आदेश देता है। मानसिक क्रिया संवेग और प्रतिक्रिया की मध्यस्थ होती है और इस प्रकार संवेग प्रतिक्रिया के पूर्ववर्ती होते हैं। जंगली शेर से सामना होने पर मन को ग्राहकों द्वारा शेर का संवेदन होता है। तब हम अपनी मानसिक क्रिया द्वारा शेर की इस सार्थकता को समझते हैं कि वह आदमी को मार डालनेवाला पशु है और उससे हमें अपनी जान का खतरा है। शेर की सार्थकता समझ लेने पर कुछ शारीरिक परिवर्तन होते हैं, जैसे सांस उखड़ जाती है, पसीना छूटने लगता है। फिर जब मन को इन शारीरिक परिवर्तनों का संवेदन होता है, तो हमें डर लगता है और हम बचने या भागने की प्रतिक्रिया करते हैं।

किंतु जेम्स और लांगे को यह प्रचलित और सामान्य मत मान्य नहीं है। इसके विपरीत उनके अनुसार शेर को देखते ही पहले शारीरिक परिवर्तन (सांस उखड़ना, हाथ-पांव फूलना, पसीना छूटना आदि) होते हैं और उन शारीरिक परिवर्तनों के कारण शरीर की तत्काल जो दशा हो जाती है, वही संवेग है। इस प्रकार शारीरिक परिवर्तन संवेग के पूर्ववर्ती होते हैं। शेर-रूपी उद्दीपन प्रभावकों से तत्काल शारीरिक परिवर्तन कराता है और मन द्वारा उन परिवर्तनों का अनुभव ही संवेग होता है। जेम्स के शब्दों में संवेग "उद्दीपन मिलने पर आंतरिक क्रियाओं (पसीना छूटना, हाथ-पांव फूलना, सांस उखड़ जाना आदि) से उत्पन्न संवेदनों का प्रतिवर्त प्रभाव होता है।" शारीरिक परिवर्तनों के न होने पर संवेगों का अनुभव

नहीं हो सकता। डरावने उद्दीपन से अगर शारीरिक परिवर्तन न हों, तो हमें डर का ज्ञान-मात्र ही होगा, किंतु डर लगने का अनुभव नहीं होगा। संवेग प्रचलित मत के अनुसार मानसिक क्रिया का परिणाम न होकर मन पर शारीरिक परिवर्तनों का प्रतिवर्त प्रभाव होता है।

जेम्स-लांगे सिद्धांत का मुख्य आशय यह है कि संवेगों और शारीरिक परिवर्तनों में मानसिक क्रिया की मध्यस्थता नहीं होती। इसका समर्थन करने के लिए जेम्स ने अपने बचपन की एक घटना का उल्लेख किया है। जेम्स ने कहीं जाते समय एक घोड़ा देखा, जिसके बहुत खून बह रहा था। खेल-खेल में जेम्स ने अपनी छड़ी को खून में इधर-उधर खूब साना और वहां से चल दिये। छड़ी से खून चू रहा था और जेम्स के मन में किसी तरह का कोई भाव नहीं था। सहसा उनकी आंखों के सामने अंधेरा छा गया, कानों में भनभनाहट होने लगी और वे डर के मारे बेहोश हो गये। जेम्स का कहना है कि इस घटना में उनके शारीरिक परिवर्तन और उनके परिणामस्वरूप डर का संचार केवल उद्दीपन (खून) की उपस्थिति मात्र से हुए थे, मानसिक क्रिया की मध्यस्थता से नहीं। अभिनय या मद्यपान द्वारा कृत्रिम रूप से शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न करने पर संवेगों का संचार होने लगता है। जेम्स-लांगे के अनुसार संवेगों का अनुभव शारीरिक परिवर्तनों पर निर्भर रहता है और मानसिक क्रिया की अपेक्षा नहीं रखता।

यह सच है कि शरीर के कुछ अंगों का संवेगों के संचार से ज्यादा घनिष्ठ संबंध होता है। अनुकंपिक तंत्र के उत्तेजित होने का प्रभाव बहुत व्यापक होता है, जिससे तत्संबंधी क्रियाओं (सांस लेने, दिल धड़कने आदि) में या तो प्रावरोध हो जाता है, या वे तेजी से होने लगती हैं। अनुकंपिक तंत्र का व्यापक प्रभाव अधिवृक्क ग्रंथियों के कारण होता है। अनुकंपिक तंत्र के उत्तेजित होने से अधिवृक्क ग्रंथियां सक्रिय हो जाती हैं और वे खून में ऐड्रीनैलिन नामक पदार्थ का संचार अधिक मात्रा में करने लग जाती हैं, जिसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है।

किंतु इससे पर्याप्त रूप से यह सिद्ध नहीं हो पाता कि संवेगों और शारीरिक परिवर्तनों में घनिष्ठ संबंध है। यदि ऐसा होता, तो प्रत्येक संवेग के अपने विशिष्ट शारीरिक परिवर्तन भी होते। किंतु इसके विपरीत अनेक संवेगों में अक्सर एक ही तरह के शारीरिक परिवर्तन होते हैं। आंसू हर्ष के भी होते हैं और शोक के भी। डर और क्रोध दोनों संवेगों में शरीर कांपने लगता है। इसके अतिरिक्त शिक्षित व्यक्ति क्रोध को एक तरह से प्रकट करता है और अशिक्षित व्यक्ति दूसरी तरह से। भयभीत होने पर हम कांपते हैं। कांपना भय का शारीरिक परिवर्तन है। लेकिन जब हम जाड़ा लगने पर कांपते हैं, तो हमें भय के संवेग का अनुभव नहीं होता। यदि संवेग शारीरिक परिवर्तनों के ही परिणाम होते, तो जाड़े से कांपने में भी भय के संवेग का अनुभव होना चाहिए। प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों से भी संवेगों और शारीरिक परिवर्तनों में अनिवार्य घनिष्ठ संबंध होने का प्रमाण नहीं मिला है।

जेम्स, विलियम (1842-1910) **:** अमरीकी मनोविज्ञानियों में अग्रगण्य जेम्स ने 1890 में अपनी पुस्तक 'मनोविज्ञान के सिद्धांत' प्रकाशित की, जो मनोविज्ञान के इतिहास में एक युगप्रवर्तक पुस्तक है। जेम्स ने संवेगों के विषय में अपने अनूठे और मौलिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है (दे० जेम्स-लांगे सिद्धांत), जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। जेम्स ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अपने एक छोटे-से कमरे में बहुत ही कम उपकरणों से 1874-1876 के आसपास सर्वप्रथम एक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की थी



जेम्स की शैली बड़ी सशक्त और रोचक थी। जेम्स का एक भाई हेनरी जेम्स उपन्यासकार था और मनोवैज्ञानिक ढंग के उपन्यास लिखता था। यह कहा गया है कि विलियम जेम्स ने मनोविज्ञान को एक उपन्यास की तरह लिखा है और हेनरी जेम्स ने उपन्यास को मनोविज्ञान की तरह। जेम्स ने मनोविज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखीं, किंतु बाद में उनका झुकाव दर्शनशास्त्र की ओर हो गया और दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने उस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जो 'प्रैग्मैटिज्म' (यथा-तथ्यवाद) के नाम से विख्यात है।

तंत्रिकातंत्र : (दे० केंद्रीय, परिधीय, स्वायत्त तंत्रिकातंत्र)

तंत्रिकाताप : तंत्रिकाताप मानसिक विकारों के हल्के रूप होते हैं। एक समय था, जब तंत्रिकातापों को शरीरजन्य माना जाता था, किंतु जब उन्हें मनोजन्य माना जाने लगा, तो उन्हें मनस्तंत्रिकाताप कहा जाने लगा। किंतु आज तंत्रिकाताप और मनस्तंत्रिकाताप दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। तंत्रिकातापों में व्यक्ति के अंदर कुछ ऐसे विकृत विकास की प्रवृत्ति पायी जाती है, जिससे वह अपने परिवेश की समस्याओं का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता, तीव्र द्वंद्वों में उलझ जाता है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक समंजन करने के लायक नहीं रहता। इन विकृत प्रवृत्तियों के पीछे एक लंबा इतिहास होता है। इस इतिहास का प्रारंभ माता-पिता तथा बच्चे के दूषित संबंधों से होता है, जिससे बच्चा अपने और दूसरों के प्रति कुछ विरूप अभिवृत्तियां बना लेता है। परिणाम यह होता है कि जब उसे किसी कठिन स्थिति का सामना करना पड़ता है, तो उसे तीव्र दुश्चिंता होने लग जाती है और वह स्थिति से बचने के लिए कुछ ऐसे तरीके अपनाता है, जिन्हें रक्षा-युक्तियां कहा जाता है। जीवन की कठिन स्थितियों के प्रति तंत्रिकातापी व्यक्ति की प्रतिक्रिया दुश्चिंता, दुर्भीति, बाध्यक्रिया अथवा कोई और रूप ले सकती है।

यद्यपि तंत्रिकातापी मानसिक दृष्टि से बीमार होता है, किंतु वह बाह्य जगत की वास्तविकता को बिल्कुल नहीं झुठलाता और न ही वह समाज या अन्य लोगों के प्रति उग्र व्यवहार करता है। इसके विपरीत वह एक ऐसा दुखी, दुश्चिंत, अकुशल व्यक्ति होता है, जिसे अस्पताल में भर्ती कराने की जरूरत तो नहीं होती, किंतु जिसे मनश्चिकित्सा की आवश्यकता जरूर होती है।

तंत्रिकातापी दुश्चिंता : फ्रायड के अनुसार यह दुश्चिंता का एक प्रकार है, जिसमें हम अपनी ही मूल प्रवृत्तियों से डरने लगते हैं। इस दुश्चिंता में इड हमारे अहम् पर दबाव डालने लगती है और अहम् को इसलिए अपने नियंत्रण में ले आना चाहती है कि अहम् उसकी (इड की) इच्छापूर्त्ति के मार्ग में कोई रुकावट न डाल सके। इस प्रकार तंत्रिकातापी दुश्चिंता तब पैदा होती है, जब हम अपनी इड से डरने लगते हैं। इस दुश्चिंता का उद्गम स्थान इड में होता है।

तदात्मीकरण : हममें वरण करने की क्षमता होती है और हम वरण द्वारा अपने लक्ष्य और उसको प्राप्त करने की दिशा में व्यवहार करने का निर्धारण कर सकते हैं। यह ठीक है कि हम अपनी आनुवंशिकता, शारीरिक क्षमताओं और विशेषताओं का वरण नहीं कर सकते, किंतु हम अपने व्यक्तित्व के उन निर्धारकों का वरण अवश्य कर सकते हैं, जिन पर नियंत्रण करना संभव है। आदतों को बनाने-बिगाड़ने, ऐच्छिक व्यवहार करने, उचित ढंग से सोचने आदि का नियंत्रण कर सकना हमारे हाथ में है और हम उसे कर सकते हैं।

वरण द्वारा अपनी गत्यात्मक दिशा को निर्धारित करना आत्मनिर्धारण कहलाता है, जिसके द्वारा हम किसी अन्य व्यक्ति, संस्था, जाति या समाज से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। तदात्मीकरण कर लेने से हम अपनी मानसिक शक्ति को आत्मनिर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए लगाते हैं। आत्मनिर्धारण से चरित्र का निर्माण होता है। ईमानदारी, सच्चाई, वफादारी, जिम्मेदारी आदि चारित्रिक विशेषताएं आत्मनिर्धारण द्वारा तदात्मीकरण करने का ही परिणाम होती हैं। तदात्मीकरण की क्षमता रखने से ही मनुष्य को नैतिक प्राणी कहा जाता है; क्योंकि उसमें आत्मनिर्धारण द्वारा अपने चरित्र का निर्माण करने की क्षमता होती है, जो अन्य प्राणियों में नहीं होती।

तदात्मीकरण चेतन भी हो सकता है और अचेतन भी। हम जिस व्यक्ति या वस्तु से अपना तदात्मीकरण करते हैं, अपने को उसके अनुरूप या बराबर समझने लगते हैं और उसी के अनुसार अपने पूरे व्यक्तित्व को ढालने की कोशिश करते हैं। तदात्मीकरण द्वारा या तो हम अपने आपको ही पूरी तरह से बदलने की कोशिश करते हैं, या फिर अपने परिवेश में वांछित सुधार और परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं।

तर्क करना : तर्क करना सोचने का ही एक प्रकार है। वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ सोचता ही रहता है और यदि उससे पूछा जाये कि 'क्या सोच रहे हो?' तो वह उत्तर देगा, 'कुछ नहीं, यूं ही।' किंतु तर्क करना 'यूं ही सोचना' न होकर उद्देश्यमूलक होता है। मनुष्य तर्क तब करता है, जब उसके सामने कोई ऐसी समस्या आ

जाती है, जिसका कोई पूर्व-समाधान मौजूद न हो। तर्क करने में स्मृति-प्रतिमाओं की उतनी प्रधानता नहीं रहती, जितनी भाषा और प्रत्ययों की रहती है। जब हम युद्ध के बारे में कल्पना करते हैं, तो हमारे सामने निर्दोष व्यक्तियों के खून, उनकी मुसीबतों, उनके मरने से उनके परिवार पर पड़नेवाली विपत्तियों, तोपों की गरज आदि के दृश्य आते हैं, जिनमें भाषा की प्रधानता नहीं भी हो सकती। किंतु जब हम युद्ध के विरुद्ध तर्क करते हैं, तो हमारे सामने युद्ध का प्रत्यय होता है और हम उस प्रत्यय को भाषा द्वारा दूसरों को बताकर युद्ध का विरोध करते हैं।

तर्क करना चूंकि किसी समस्या को सुलझाना होता है, इसलिए तर्क करने और सीखने में घनिष्ठ संबंध है। सीखने में समस्या को प्रत्यक्ष और क्रिया के स्तर पर पेशीय-क्रियाओं द्वारा सुलझाया जाता है, किंतु तर्क करने में मानसिक स्तर पर प्रतीकों की सहायता से सुलझाया जाता है। तर्क करने के बाद हमारे अंदर स्थितियों के अनुकूल प्रतिक्रिया करने के ऐसे संगठन बन जाते हैं, जो पहले से नहीं रहते।

सीखने की भांति तर्क करने में भी पूर्व-अनुमान से लाभ उठाया जाता है। पूर्व अनुभव के आधार पर अनुमान करना तर्क करने की एक नयी विशेषता होती है। अनुमान पूर्व-अनुभव पर आधारित एक नया ज्ञान होता है। अनुमान के आधार पर पूर्व-अनुमान का या तो प्रत्यक्ष हो सकता है या प्रतीक रूप से उसका पुनरावर्तन, किंतु अनुमान सदा प्रतीकात्मक होता है। धुएं को देखकर आग का अनुमान करने में धुआं तो प्रत्यक्ष होता है, किंतु उसके आधार पर आग का जो अनुमान लगाया जाता है, वह प्रतीक रूप ही होता है।

वास्तविक तथ्यों से मेल खाने पर अनुमान सही होता है, और मेल न खाने पर गलत। अनुमान की सत्यता परिवेश के प्रसंग से जानी जाती है। यदि हमें अपने परिवेश का उचित और अच्छा ज्ञान न हो तो हमसे अनुमान करने में गलती होती है। बच्चों का अनुमान परिवेश का अच्छा और पूर्ण ज्ञान न होने से ही गलत होता है।

अनुमान की सत्यता की कसौटी तार्किक अनिवार्यता में होती है। तार्किक अनिवार्यता अनुभव का परिणाम होती है। हम जानते हैं कि कुत्ता बिल्ली से बड़ा होता है और हम 'बड़े होने' का प्रत्यय बना लेते हैं। बाद में जब हमसे कहा जाता है कि 'घोड़ा कुत्ते से बड़ा होता है', तो हम तत्काल अनुमान कर लेते हैं कि 'इसलिए घोड़ा बिल्ली से बड़ा होता है' और हमारा अनुमान 'बड़े होने' के प्रत्यय की तार्किक अनिवार्यता का परिणाम होता है।

तार्किक अनिवार्यता कार्य-कारण संबंध पर निर्भर होती है। कार्य-कारण संबंध का प्रत्यय अनुभव के अबाधित होने पर बनता है। धुएं और आग को सदा साथ-साथ देखा जाता है और चूंकि उनके साथ होने के अनुभव का कभी बोध नहीं होता, इसलिए उनमें कार्य-कारण संबंध समझ लिया जाता है। जो अनुमान कार्य-कारण संबंध का विरोध करता है, उसे असत्य माना जाता है। धुएं को देखकर अगर पानी होने का अनुमान किया जाये, तो वह असत्य होगा; क्योंकि धुएं और पानी में कार्य-कारण संबंध नहीं होता।

यों तो अनुमान की सत्यता पर तार्किक अनिवार्यता के कारण ही विश्वास किया जाता है, किंतु कुछ विश्वास ऐसे होते हैं जिनकी सत्यता के पीछे तार्किक अनिवार्यता न होकर संवेगात्मक कारण होते हैं। धार्मिक पुस्तकों के वाक्यों पर विश्वास करना, बिना सोचे-समझे बड़ों की हर बात मान लेना तर्क करने की शक्ति की कमी का ही सूचक है।

तुलनात्मक मनोविज्ञान : (दे० पशु मनोविज्ञान)

त्वचीय बोध : उद्दीपनों की अत्यधिक विषमता का अनुभव ठंड, गर्मी, पीड़ा, स्पर्श, खुजली, गुदगुदी आदि त्वचीय बोध द्वारा होता है और प्राणी अपना शारीरिक और मानसिक संतुलन बनाये रखने के लिए इन विषमताओं से बच सकने की दिशा में व्यवहार करता है। त्वचीय बोध के स्थल त्वचा पर हर जगह कम या ज्यादा मात्रा में बिखरे रहते हैं। किसी ठंडी नुकीली चीज को त्वचा पर जगह-जगह छुआने से जहां वह बहुत ठंडी लगे, वहां ठंड ग्रहण करने के स्थल होते हैं। इसी प्रकार गर्म चीज जहां ज्यादा गर्म लगे, वहां गर्मी ग्रहण करने के स्थल होते हैं। सुई को त्वचा पर धीरे से चुभोने पर कहीं-कहीं ज्यादा पीड़ा होगी; क्योंकि वहां पीड़ा ग्रहण करने के स्थल होते हैं। यदि त्वचा को तिनके से छुआ जाये, तो अनेक स्थलों पर कोई बोध नहीं होगा, किंतु कहीं-कहीं स्पर्श की तीव्रता साफ मालूम पड़ेगी। ऐसी जगह त्वचा में स्पर्श के स्थल

होते हैं। त्वचा में पीड़ा और स्पर्श के स्थल तापक्रम (ठंड और गर्मी) के स्थलों से और ठंड के स्थल गर्मी के स्थलों से ज्यादा होते हैं। ठंड और गर्मी, स्पर्श और पीड़ा, यही चार मुख्य त्वचीय बोध हैं। खुजली पीड़ा का एक प्रकार है और गुदगुदी स्पर्श का।

पीड़ा का अनुभव शरीर में लगभग हर जगह होता है। पीड़ा तब होती है, जब कोई उद्दीपन अपनी शक्ति से ग्राहकों को विनाशक आघात पहुंचाता है। पीड़ा शरीर को खतरे की सूचना देती है, किंतु चुभोने पर पीड़ा होने से पहले दबाव या शायद ठंड का बोध होता है। शरीर के किसी भाग में होनेवाली तेज पीड़ा अन्य स्थान पर होनेवाली हल्की पीड़ा के बोध को दबा देती है। इसका कारण शायद अवधान में होता है।

ठंड और गर्मी के स्थल 10° से 70° सेंटीग्रेड के उद्दीपनों के प्रति ही संवेदनशील होते हैं। इससे नीचे या ऊपर उद्दीपन की शक्ति ग्राहक के लिए विनाशक बन जाती है, जिससे केवल पीड़ा का ही अनुभव होता है। त्वचा का तापक्रम लगभग 33° सेंटीग्रेड होता है और खून के तापक्रम से कम होता है। शारीरिक गर्मी शरीर से बाहर हवा की ओर निरंतर प्रवाहित होती रहती है। जब कोई उद्दीपन शरीर से ज्यादा गर्मी खींचकर हवा की ओर शारीरिक गर्मी के प्रवाह को बढ़ा देता है, तो ठंड लगती है और यदि शरीर को ज्यादा गर्मी देकर हवा की ओर शारीरिक गर्मी के प्रवाह की गति को घटा देता है, तो गर्मी लगती है। त्वचा के तापक्रम 33° सेंटीग्रेड के आसपास के तापक्रम के उद्दीपन से ठंड या गर्मी नहीं लगती, इसलिए 33° सेंटीग्रेड को तापक्रम की त्वचीय बोधशून्यता कहा जाता है।

स्पर्श का, विशेषकर दुर्बल उद्दीपन के स्पर्श का, अनुकूलन बहुत जल्दी होता है, जिससे हमें अपने कपड़ों, उंगली में पहनी हुई अंगूठी आदि का दबाव महसूस नहीं होता। स्पर्श के अनुकूलन का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। यदि कोई व्यक्ति हर प्रकार के शारीरिक कष्ट से बचता है, तो वह स्पर्श की हर उत्तेजना के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाता है। जो लोग हर मौसम में अधखुले घूमते रहते हैं, उनका अनुकूलन अधिक स्थायी बन जाता है। जिस चीज का अनुकूलन अस्थायी होता है, उसके सम उत्तर-संवेदन का अनुभव होता है। पहली बार थोड़ी देर चश्मा लगाने के बाद उसे उतार देने पर भी लगता है कि चश्मा लगा हुआ है।

तापक्रम के अनुकूलन से तापक्रम की त्वचीय बोध-शून्यता बदलती रहती है। आप अपने एक हाथ की उंगली को जरा ठंडे और दूसरे हाथ की उंगली को जरा गर्म पानी में कुछ देर रखिए। फिर दोनों उंगलियों को त्वचीय तापक्रम यानी 33° सेंटीग्रेड के पानी में डाल दीजिए। यह पानी आपको ठंडे पानी में रखी गयी उंगली को गर्म और गर्म पानी में रखी गयी उंगली को ठंडा लगेगा; क्योंकि ठंडे और गर्म पानी में रहने से आपकी उंगलियों के तापक्रम की त्वचीय बोधशून्यता बदल चुकी थी।

त्साइगार्निक प्रभाव : प्रयोगों द्वारा यह पता चला है कि अधूरे छोड़ दिये गये कामों का पुनः स्मरण पूरे कर लिये गये कामों की अपेक्षा अधिक होता है। इस तथ्य का पता त्साइगार्निक नामक मनोविज्ञानी ने अपने प्रयोगों द्वारा लगाया था और इसी से इस घटना को 'त्साइगार्निक प्रभाव' कहा जाता है। अपने प्रयोग में त्साइगार्निक ने पात्रों को मामूली काम करने को दिये, जैसे कंठस्थ मुहावरों को लिखना या मन ही मन में पहेलियों या गणित की मामूली समस्याओं को हल करना। ये काम इतने आसान थे कि पर्याप्त समय मिलने पर आसानी से किये जा सकते थे। कुछ कामों में उनके पूरा होने से पहले ही बाधा डाल दी जाती थी और कुछ काम पूरे कर लेने दिये जाते थे। अधूरे कामों की अपेक्षा पूरे किये गये काम में ज्यादा समय लगने पर भी परीक्षण के कुछ घंटे बाद पात्र अधूरे छोड़े कामों का पूरा किये गये कामों की अपेक्षा पुनः स्मरण अच्छी तरह कर सके। किंतु अधूरे कामों का पुनः स्मरण करने की योग्यता चौबीस घंटे बाद नष्ट हो गयी। इससे पता चला कि वह योग्यता क्षणिक उद्देश्यों से प्रेरित परिणाम ही थी।

आपने स्वयं अनुभव किया होगा कि कभी-कभी कोई जटिल समस्या हल करते-करते आप आराम से लेट जाते हैं और उसे दूसरे दिन हल करने के लिए छोड़ देते हैं। किंतु फिर भी वह समस्या आपके सामने जब-तब आती रहती है और कभी-कभी सोने भी नहीं देती। त्साइगार्निक प्रभाव इस बात का सूचक है कि जो काम शुरू किया जाता है, उसे लक्ष्य प्राप्त न होने तक करते ही रहने की प्रवृत्ति

बनी रहती है। आधुनिक प्रयोगों से यह पता चला है कि त्साइगार्निक प्रभाव उन्हीं बातों को याद करने पर पड़ता है, जिन्हें याद करने में उलझन न होती हो। फिर भी उलझन-पूर्ण स्थिति में पूरे किये गये और अधूरे छोड़े गये कामों से हम किनका पुनः स्मरण अच्छी तरह कर सकेंगे—यह हमारे गत्यात्मक पक्ष पर निर्भर होता है।

थकान : शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं के होने पर शरीर की संचित शक्ति घटती है। जब शक्ति की आय उसके व्यय के अनुपात से नहीं होती, तब शरीर थकने लगता है। थकान अधिकतर स्थानीय होती है। ज्यादा देर तक लिखते रहने से हाथ थक जाते हैं। स्थानीय थकान को दूर करने का अच्छा उपाय यही है कि कुछ देर काम बंद करके स्थानीय अंग को आराम दे दिया जाये।

काम करने के लिए पेशीय शक्ति की जरूरत होती है, जो खाद्य पदार्थों से मिलनेवाली शर्करा और मांड से बनती है। शर्करा और मांड के जलने से शरीर के भीतर कार्बन डाइ-आक्साइड और लैक्टिक ऐसिड नाम के दो पदार्थ बनते हैं। थकान इन्हीं दोनों पदार्थों से पैदा होती है। अधिक काम करने से ये दोनों पदार्थ इतनी जल्दी बनते हैं कि शरीर उन्हें 'फेफड़ों' से या पसीने आदि द्वारा जल्दी बाहर निकाल नहीं पाता है और शरीर के अंदर उनकी उपस्थिति थकान पैदा कर देती है।

थक जाने के बाद भी काम करते रहने से शारीरिक शक्ति का अपव्यय होने लगता है और शरीर ठीक तरह से काम नहीं कर पाता। हल्की थकान में न्यूरोनीय प्रेरणाओं का न्यूरोनीय सामीप्यों पर प्रावरोध होने लगता है, किंतु चूर कर डालनेवाली थकान का असर पूरे शरीर पर पड़ता है। चूर कर देनेवाली थकान में तंत्रिका-कोशिकाएं संकुचित हो जाती हैं, हृदय फैल जाता है, उसकी गति बढ़ जाती है और अनियमित भी हो सकती है। अधिक थक जाने पर सांस उखड़ने लगती है और पाचन क्रिया गड़बड़ हो जाती है, जिससे कार्य-कुशलता घट जाती है।

थकान को रोकने के लिए शरीर के अंदर प्रबंध होता है। दोनों गुर्दों के पास दो ग्रंथियां होती हैं, जो ऐड्रीनैलिन नामक पदार्थ का स्राव करती हैं। ऐड्रीनैलिन की उपस्थिति थकान को शरीर भर में जल्दी फैलने से रोकती है।

हर काम से एक-सी थकान नहीं होती। जिस काम में रुचि होती है, उसे करने से थकान जल्दी नहीं होती। हम केवल काम करने के बाद ही नहीं थकते, नीरस काम करने में पहले से ही कुछ थक-से जाते हैं। शारीरिक शक्ति का प्रवाह दस-ग्यारह और दो-तीन बजे के बीच अधिक होता है, इसलिए यदि काम करने की गति को नियमित कर लिया जाये, तो थकान कम हो सकती है। शोर-गुल आदि अनावश्यक बाधाएं भी थकान जल्दी लाती हैं। थोड़ी थकान मालूम होने पर यदि गर्म पानी पी लिया जाये, तो वह थकान लानेवाले पदार्थों के प्रभाव को कम कर देता है। थकान का सबसे बड़ा कारण गंदे दांत होते हैं और उन्हें साफ न रखना मौत को असमय बुलाना है। थकान का असर कार्य-कुशलता के अतिरिक्त स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। जिस समाज का परिवेश स्वच्छ और शांत नहीं होता, वह समाज कार्यकुशल और स्वस्थ नहीं हो सकता और उसका जीवन दृष्टिकोण भी थका हुआ-सा बन जाता है।

इस प्रसंग में मन पर मादक पदार्थों का प्रभाव जानना रुचिकर होगा। यह समझा जाता है कि मादक पदार्थ मानसिक क्रिया को उत्तेजित कर कुशलता बढ़ाते हैं। किंतु प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि मादक पदार्थों का मानसिक कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। चिंता और डर से उत्पन्न अनेक बाधाओं के कारण मानसिक क्रिया कभी-कभी ठीक तरह से नहीं हो पाती। ऐसे समय मादक पदार्थों के थोड़े से सेवन से बाधाएं दूर हो जाती हैं, जिससे मन ठीक से काम करने लगता है। मादक पदार्थों का इससे अधिक और कोई महत्त्व नहीं होता।

थायराइड ग्रंथि : (दे० अवटु ग्रंथि)

थैलेमस : मस्तिष्क का एक भाग, जो प्रमस्तिष्क के नीचे और अनुमस्तिष्क के सामने होता है। थैलेमस में अनेक कोशिका-केंद्र होते हैं, जो परस्पर संबंधित होने के साथ-साथ मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु के निम्न केंद्रों और प्रमस्तिष्क के अर्धखंडों से भी संबंधित रहते हैं। थैलेमस अनुकंपिक तंत्रिकाओं से संबंधित होती है, जिससे यह संवेगात्मक जीवन का आधार होती है। संवेगों का संचालन, उनकी अभिव्यक्ति और नियंत्रण थैलेमस द्वारा ही होता है।

थैलेमस और प्रमस्तिष्क की अग्रपालि में संपर्क होता है। हमारी विचारधारा पर संवेगों का जो प्रभाव पड़ता है, उसका आधार थैलेमस और प्रमस्तिष्क की अग्रपालि के संपर्क में ही माना जाता है। प्रमस्तिष्क के वल्कुट को जानेवाले अधिकांश संवेदी उद्दीपनों की प्रेरणाएं थैलेमस से ही होकर जाती हैं, जहां उन प्रेरणाओं में काट-छांट होती है, जिससे वे रूपांतरित होकर ही वल्कुट में पहुंचती हैं।

दमन : व्यक्ति के मन में ऐसी अनेक इच्छाएं उठा करती हैं, जिनकी पूर्ति वह लोकलाज, समाज के डर या अन्य कारणों से करना पसंद नहीं करता। इसलिए वह अपने मन की उन इच्छाओं का दमन करता है। दमन द्वारा किसी उद्देश्य को अस्वीकार ही न करके उस उद्देश्य की सत्ता से ही इनकार किया जाता है। जब व्यक्ति के दो विरोधी उद्देश्यों में संघर्ष होता है, तो उस संघर्षमय स्थिति से बचने के लिए उसके पास एकमात्र यही साधन होता है कि वह उनमें से किसी एक का दमन करके उसकी सत्ता से ही इनकार कर दे। उद्देश्यों, स्थायीभावों या प्रवृत्तियों का दमन किये जाने के बाद भी वे परोक्ष रूप से व्यक्ति के विचार और कर्म के निर्धारक बने रहते हैं। व्यक्ति को केवल उनका ठीक-ठीक ज्ञान और उनसे संबंधित रागात्मक अनुभव नहीं होता और इस प्रकार वह चेतन रूप से उन उद्देश्यों पर सामान्य नियंत्रण की क्षमता खो बैठता है। उद्देश्यों का दमन व्यक्ति तब करता है जब कोई उद्देश्य उसके आदर्शों का घोर प्रतिद्वंद्वी बन जाता है। दमित उद्देश्य यदि दुबारा जाग्रत हो जाये, तो वह व्यक्ति की प्रतिक्रिया के रूप को बदल देता है, जिससे उसकी प्रतिक्रिया एक दूसरे प्रकार का गौण रूप ले लेती है और व्यक्ति का उस पर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

दमित उद्देश्य फिर जाग्रत हो सकता है, किंतु वह नैतिक उद्देश्यों से उत्पन्न होनेवाली आंतरिक बाधा के कारण अपनी अभिव्यक्ति सामान्य रूप से नहीं कर पाता। जाग्रत होने पर उसकी अभिव्यक्ति लाक्षणिक और अप्रत्यक्ष ढंग से होती है। दमित उद्देश्य की शक्ति प्रायः अपनी ही विरोधी बन जाती है। यौन प्रवृत्ति का दमन कर देनेवाले लोग यौन संबंधी अनैतिकता का विरोध करने में बड़ी रुचि लेने लगते हैं। वे यौन प्रवृत्ति का दमन तो कर देते हैं, किंतु रुचि फिर भी यौन-संबंधी मामलों में ही लिया करते हैं। इस प्रकार उनकी यौन प्रवृत्ति का दमन होने पर भी उसकी पूर्ति अभावात्मक रूप से होती है।

व्यक्ति को दमित उद्देश्य के रागात्मक पक्ष का अनुभव नहीं होता; क्योंकि उसकी आंतरिक बाधा एक दूसरा ही रूप ले लेती है, जिसके कारण दमित उद्देश्य जाग्रत हो जाने पर भी व्यक्ति में उस प्रकार का रागात्मक अनुभव उत्पन्न करने में विफल रहता है, जिस प्रकार का अनुभव उस उद्देश्य से उत्पन्न होना चाहिए। आंतरिक बाधा मानसिक पृष्ठभूमि में घृणा या विवशता की भावना का रूप ले लेती है, जिसके कारण व्यक्ति उस प्रकार का अनुभव नहीं कर पाता, जिस प्रकार का अनुभव उसे होना चाहिए।

किसी उद्देश्य के प्रति की गयी प्रतिक्रिया के अनेक पक्ष होते हैं और दमन का प्रभाव प्रतिक्रिया के किसी भी पक्ष पर पड़ सकता है। यौन संबंधी दमन के उदाहरण में दमन का प्रभाव यौन प्रतिक्रिया की प्रारंभिक प्रतिक्रियाओं, जैसे, स्पर्श, आलिंगन या चुंबन करने आदि पर न पड़कर परिणामिक प्रतिक्रियाओं जैसे स्तंभन, शक्ति की कमी, संभोग करने के योग्य न रहना आदि पर पड़ सकता है और व्यक्ति उन पर अपना ऐच्छिक नियंत्रण रख सकने की क्षमता खो सकता है।

दमन का प्रभाव विशेष श्रेणी की प्रतिक्रियाओं, विशेष व्यक्तियों और विशेष प्रकार की स्थितियों पर वैयक्तिक रूप से अलग-अलग पड़ता है। यदि दो व्यक्तियों में किसी एक ही उद्देश्य का दमन हुआ हो तो यह जरूरी नहीं है कि उसका प्रभाव उन दोनों व्यक्तियों पर एक-सा ही पड़े। किसी एक स्त्री के प्रति कामेच्छु न बन सकनेवाले व्यक्ति के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह अन्य स्त्रियों के प्रति भी कामेच्छु न बन सके।

दमन केवल यौन संबंधी उद्देश्यों और प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित नहीं होता। दमन किसी भी उद्देश्य का हो सकता है। डर और रागात्मक भावों का भी दमन हो सकता है और होता है। दमन मानसिक विघटन का कारण बन सकता है। दमन किये हुए उद्देश्य में इस बात की संभावना रहती है कि वह उद्देश्य किसी न किसी रूप में अपनी वास्तविक प्रतिक्रिया कर सकता है या अवसर विशेष पर उस उद्देश्य से संबंधित स्वाभाविक प्रतिक्रिया पूर्ण या आंशिक रूप में हो सकती है। किंतु मानसिक विघटन में व्यक्ति के किसी उद्देश्य का उसके मानसिक संगठन

से पूरा कार्यात्मक विच्छेद हो जाता है, जिससे मानसिक विघटन की दशा में वह उस उद्देश्य से संबंधित प्रतिक्रिया बिल्कुल नहीं कर पाता।

दमन क्यों होता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि दमन की प्रतिक्रिया व्यक्ति के नैतिक आदर्शों और उसके आत्मसम्मान की सेवक होती है। जो बातें व्यक्ति के मान्य नैतिक आदर्शों की घोर विरोधी होती है, दमन द्वारा वह उनकी सत्ता से ही इनकार करता है। दमन द्वारा व्यक्ति अपने मन में अपना जो आदर्श चित्र बनाये होता है, उसकी रक्षा करता है।

दिवास्वप्न : काल्पनिक और परियों की कहानियों में हम सभी आनंद लेते हैं, किंतु उन्हीं में रम जाने और उनको अपने दैनिक विचारों में बड़ा महत्त्व देकर अपनी मानसिक क्रियाओं का एक अविभाज्य अंग बना लेने को दिवास्वप्न कहा जाता है। स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति प्रायः दिवा-स्वप्न नहीं देखते। इसके दो कारण हैं। एक तो दिवास्वप्न और अन्य प्रकार की कल्पना-प्रधान मानसिक क्रियाओं में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। दूसरे, दिवास्वप्न व्यक्ति की प्रधान मानसिक क्रियाओं के साथ-साथ भी चला करते हैं, जिससे व्यक्ति चेतन रूप से उनकी उपेक्षा कर उन्हें महत्त्वहीन समझ सकता है। बड़े होने पर हमें जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना करने के लिए अपनी विचारधारा को तार्किक और ऐतिहासिक क्रम से व्यवस्थित करना पड़ता है, जिससे हमारी कल्पना बहुत कुछ सीमित हो जाती है।

बच्चे अपनी उन्मुक्त कल्पना के कारण दिवास्वप्न अधिक देखते हैं। उनके दिवास्वप्नों का रूप प्रायः प्रतिपूरक होता है। कमजोर लड़का अपने-आपको रणभूमि में महान वीर के रूप में देखता है, अकेला बच्चा कल्पनात्मक साथियों का निर्माण कर उनके साथ खेलता है। प्रौढ़ावस्था में दिवास्वप्नों का रूप ज्यादा रागात्मक और यौन संबंधी हो जाता है। जब-तब देखे जानेवाले दिवास्वप्न कालांतर में व्यवस्थित होकर बच्चे के जीवन के निर्धारक भी बन सकते हैं।

दिवास्वप्न देखना एक स्वस्थकर प्रतीकात्मक क्रिया होती है। साहित्य सृजन और वैज्ञानिक अन्वेषणों में उसका निर्विवाद महत्त्व रहा है। किंतु जब दिवास्वप्न एक सीमा से बाहर निकल जाते हैं, तो उनका प्रभाव अस्वस्थकर बन जाता है। दिवास्वप्नों में अत्यधिक निरत व्यक्ति अपने दिवास्वप्नों में इतना आनंद लेने लगता है कि वह सामाजिक जीवन से विमुख हो जाता है। प्रौढ़ व्यक्ति की एक प्रधान समस्या अपने को समाज के अनुरूप बनाकर संतुलित व्यवहार करने की होती है। लेकिन व्यक्ति दिवास्वप्नों में अपने दोषों की प्रतिपूर्ति करके दिवास्वप्नों को वास्तविक सफलता का स्थानापन्न बना सकता है। व्यक्ति को जीवन की वास्तविकता से विमुख और उदासीन बना देना दिवास्वप्नों का बड़ा ही अस्वस्थकर प्रभाव होता है।

दिवास्वप्नों से अनेक खतरे भी पैदा हो जाते हैं। दिवास्वप्नों में अधिक निरत व्यक्ति दिवास्वप्न और वास्तविक घटनाओं में भेद कर सकने की क्षमता खो बैठता है। उसके लिए सत्य और कल्पना में बहुत कम भेद रह जाता है। दूसरे, वह दिवास्वप्न द्वारा किसी अपराध या कुकर्म का प्रधान पात्र होने का विचार भी कर सकता है। दिवास्वप्न द्वारा वह किसी अपराध या कुकर्म की कल्पना ही नहीं करेगा, वरन् उसे कार्यान्वित करने की इच्छा भी रखेगा और दिवास्वप्न में सोची गयी परि-स्थितियों के आने पर अपने कल्पित अपराध या कुकर्म को कार्यान्वित करने को मजबूर हो जायेगा। रूसी लेखक दोस्तोवस्की के उपन्यास 'अपराध और दंड' का प्रधान पात्र हमेशा हत्या का दिवास्वप्न देखा करता था और अनुकूल परिस्थितियां आने पर वह हत्या भी कर बैठा था।

दिशा और दूरी का ज्ञान : वस्तुओं और उद्दीपनों में दिशा और दूरी होती है। हर वस्तु और हर घटना हर जगह और हर समय नहीं होती। हम यह कैसे जानते हैं कि अमुक वस्तु हमसे आठ गज दूर है या कालिदास नामक व्यक्ति हमारे जन्म लेने से बहुत पहले ही जन्म ले चुका और मर चुका था? दिशा और दूरी का ज्ञान अनेक बोधांगों के साथ-साथ मिल कर क्रिया करने से होता है। दूरी का ज्ञान देखने, सुनने और त्वचीय बोध से होता है। दिशा का ज्ञान पेशीय और त्वचीय बोध से होता है। दाएं, बायें, आगे, पीछे का ज्ञान शरीर के प्रसंग से किया जाता है। दिशा-ज्ञान गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर भी निर्भर होता है। सीधे खड़े हो सकने के लिए प्राणी को गुरुत्वाकर्षण

शक्ति के विरुद्ध अपना संतुलन करना पड़ता है। यदि प्राणी पर गुरुत्त्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव न पड़ता और यदि उसकी शरीर-रचना किसी और ढंग की हुई होती, तो उसका दिशा और दूरी का ज्ञान भी कुछ और ही तरह का होता।

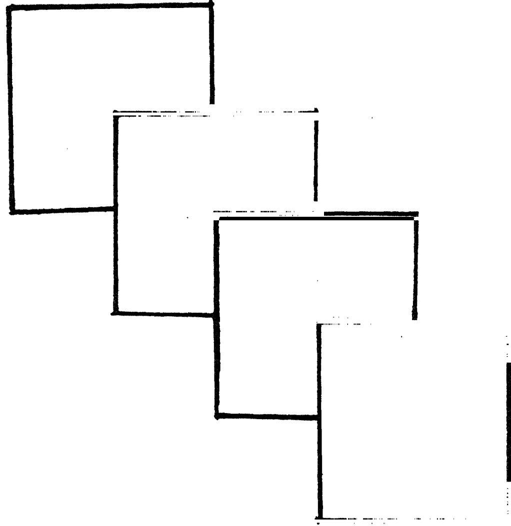
उद्दीपन की स्थिति का ज्ञान स्पर्श से भी होता है। यदि हमारे शरीर के किसी अंग का स्पर्श किया जाये, तो हम स्पर्श किये जानेवाले स्थान को सही-सही बता देते हैं। यदि हम आंख बंद कर लें और हमारे शरीर के किसी भाग पर कोई चीज चुभोयी जाये, तो हम सही-सही बता देंगे कि वह कहां चुभोयी गयी थी। हो सकता है कि हमसे थोड़ी गलती हो जाये, किंतु वह नहीं के बराबर होगी। शरीर के जो भाग ज्यादा संवेदनशील होते हैं, वहां स्पर्श का ज्ञान सबसे अधिक होता है। स्पर्श से उद्दीपन की स्थिति ठीक से जानना कैसे संभव होता है? क्या हम उसे सीखते हैं या हमारा ज्ञान जन्मजात होता है?

इस प्रश्न का एक पुराना उत्तर यह है कि जब एक ही उद्दीपन शरीर के दो भागों पर दिया जाता है, तो शरीर के विभिन्न स्थानों के अनुसार उस उद्दीपन के संवेदन के गुण में अंतर होता है, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे विभिन्न अंगों की संवेदनशीलता का अंतर, शरीर में ग्राहकों का असमान वितरण, उद्दीपन के दबाव का प्रतिरोध करनेवाले ऊतकों की विशेषता इत्यादि। किंतु यह पता नहीं है कि ये सब बातें स्पर्श से उद्दीपन की स्थिति जानने में कहां तक सहायक बनती हैं। बच्चों और छोटे पशुओं के व्यवहार से यह स्पष्ट है कि स्पर्श से उद्दीपन की स्थिति जान सकने की क्षमता जन्मजात होती है। किंतु सीखने से उद्दीपन की बिल्कुल सही स्थिति जान सकने में सुधार अवश्य होता है।

उद्दीपन की दिशा और दूरी ध्वनि से भी जानी जाती है। ध्वनि की स्थिति ध्वनि पैदा करनेवाले उद्दीपन की तीव्रता के अनुपात से ज्ञात होती है। तेज ध्वनि पास लगती है और धीमी दूर। दूर से आनेवाली ध्वनि के घनत्व और 'टिंबर' में भी अंतर होता है, इसलिए दूरी का ज्ञान ध्वनि के घनत्व और 'टिंबर' से भी होता है।

ध्वनि से दिशा का ज्ञान दोनों कानों के परस्पर सहयोग से होता है। ध्वनि-तरंगें चाहे दाहिनी ओर से आयें या बायीं और से, उनका प्रभाव दोनों कानों पर अलग-अलग पड़ता है। कोई न कोई कान ध्वनि के उद्दीपन के थोड़ा पास पड़ता है, किंतु ध्वनि की तेजी दोनों कानों में भारी अंतर डालती है। ध्वनि जिस कान के लिए तेज होती है, उद्दीपन की स्थिति उसी ओर समझ ली जाती है।

ध्वनि का स्रोत दृष्टिगोचर होने पर हम ध्वनि के उसी स्रोत से आने की आशा करते हैं और हमें ध्वनि वहीं से आती हुई लगती है। यदि कोई व्यक्ति हमारी बायीं तरफ बोले और उसकी आवाज किसी यंत्र की सहायता से हमारे दाहिने कान में पड़े, तो भी हमें ध्वनि का स्रोत बायीं ओर ही मालूम होगा; क्योंकि हमारा मानसिक विन्यास



ध्वनि को बायीं ओर से ही सुनने का बन जाता है और ध्वनि से स्थिति जानने पर मानसिक विन्यास का बड़ा प्रभाव पड़ता है। मानसिक विन्यास के प्रभाव के कारण ही सिनेमा देखते समय आवाज अभिनेताओं के मुंह से अलग-अलग निकलती सुनायी देती है, जबकि उसका वास्तविक स्रोत पर्दे के पीछे एक निश्चित स्थान होता है।

उद्दीपन की दिशा और दूरी का ज्ञान दृष्टि से भी होता है। मन को अपनी स्थिति का बोध करानेवाले कुछ संकेत तो उद्दीपनों में ही होते हैं। उद्दीपन के ऊपर या नीचे, दायें या बायें होने का संकेत दृष्टिपटल पर बननेवाले

उसके प्रतिबिंब के कोण से होता है। पूरी और स्पष्ट रूपरेखाओंवाले उद्दीपन अधूरी या धुंधली रूपरेखावाले उद्दीपनों से ज्यादा दिखायी पड़ते हैं। (दे० चित्र)

उद्दीपनों की दूरी का संकेत दृष्टिपटल पर बननेवाले उनके प्रतिबिंब के आकार पर भी निर्भर होता है। समीपस्थ उद्दीपनों का प्रतिबिंब दृष्टिपटल के ज्यादा भाग पर पड़ता है और दूरस्थ उद्दीपनों का कम भाग पर। जिस उद्दीपन का प्रतिबिंब दृष्टिपटल के ज्यादा भाग पर पड़ता है, वह पास और जिसका कम भाग पर पड़ता है, वह दूर लगता है।

दूरी का ज्ञान केवल उद्दीपनों के संकेत से ही न होकर नेत्रीय अनुकूलन से भी होता है। दूरस्थ उद्दीपनों का प्रतिबिंब दृष्टिपटल पर ठीक से डालने के लिए आंख का लैंस फैलता है, जिससे सीलियरी पेशी का तनाव कम हो जाता है। समीपस्थ उद्दीपनों का प्रतिबिंब दृष्टिपटल पर अच्छी तरह केंद्रित कर सकने के लिए लैंस की गोलाई बढ़ती है, जिससे सीलियरी पेशी में अधिक संकुचन होने से तनाव बढ़ जाता है। नेत्रीय अनुकूलन में सीलियरी पेशी पर जितना अधिक तनाव पड़ता है, उद्दीपन उतना ही पास और जितना कम तनाव पड़ता है, उतना ही दूर मालूम पड़ता है।

उद्दीपनों की गहराई और ठोसपन का ज्ञान प्रकाश और छाया के सम्मिलित प्रभाव से होता है। उद्दीपन की दूरी, दिशा और आकार का ज्ञान एक आंख से भी हो सकता है, किंतु ठोसपन का ज्ञान एक आंख से अच्छी तरह नहीं हो सकता। गहराई और ठोसपन का ज्ञान भलीभांति करने के लिए दोनों आंखों से देखने की अपेक्षा होती है। ठोस उद्दीपन का प्रतिबिंब दोनों आंखों पर एक-सा नहीं पड़ता। ठोस वस्तु को देखने पर दोनों आंखें एक ही उद्दीपन के दो विभिन्न संगठनों को मस्तिष्क में भेजती हैं। उनमें से एक अकेला संगठन उद्दीपन के चपटे रूप को ही दिखाता है। किंतु वे ही दोनों विभिन्न संगठन जब दृष्टिपटल पर समन्वित होते हैं, तो उद्दीपन का ठोसपन सजीव बन जाता है। ठोसपन का गुण दोनों संगठनों में अलग-अलग न होकर उनके मिलने से पैदा होता है।

दुःस्वप्न : अत्यधिक डरा देने और नींद हराम कर देनेवाले स्वप्न को दुःस्वप्न कहा जाता है। दुःस्वप्न का प्रभाव हमारे ऊपर पूरे दिन पड़ा रह सकता है। दिन में कुत्ते से डरा बच्चा रात को किसी दैत्य का दुःस्वप्न देखकर दूसरे दिन भी भयभीत रहता है। अर्नेस्ट जोन्स ने दुःस्वप्नों को दमन की गयी किसी यौन इच्छा पर केंद्रित तीव्र मानसिक द्वंद्व की अभिव्यक्ति कहा है। जोन्स के अनुसार दुःस्वप्न में तीन बातें होती हैं—(1) पीड़ित करनेवाला डर, (2) छाती पर बोझ का अनुभव करने से सांस लेने में बाधा पड़ना, और (3) शारीरिक अंगों के सुन्न या शिथिल होने का बोध और साथ ही साथ हृदय का जोर से धड़कना।

किंतु उपर्युक्त तीनों बातों का कारण यौन भय के अतिरिक्त अन्य प्रकार का डर भी हो सकता है। तीव्र मानसिक द्वंद्व यौन के अतिरिक्त अन्य कारणों, जैसे बचपन में दम घुटने के अनुभव या कठिन प्रसव से भी हो सकता है। स्वप्न और दुःस्वप्न दोनों ही में किसी न किसी समस्या का पुनरुत्पादन होता है, किंतु उनमें मुख्य भेद यह होता है कि स्वप्न तो उस समस्या के समाधान की ओर संकेत करता है, किंतु दुःस्वप्न कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता। स्वप्न में जहां हम दिन की कठिन समस्याओं से बचने के लिए सोते हैं, वहां दुःस्वप्न में रात की डरावनी समस्याओं से बचने के लिए जग जाते हैं।

स्वप्न और दुःस्वप्न में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह और होता है कि एक ही समस्या से संबंधित विभिन्न स्वप्नों का रूप ज्यों-ज्यों समस्या का हल निकट आता जाता है, त्यों-त्यों बदलने लगता है, किंतु दुःस्वप्न की पुनरावृत्ति एक ही रूप में महीनों और वर्षों तक हो सकती है। दुःस्वप्नों का आधार बचपन या युवावस्था की डरावनी घटनाओं का अनुभव, अपनी ही प्रवृत्तियों से भयभीत होने का अनुभव या शारीरिक विकारों का अनुभव हो सकता है। प्रसव के समय के या बचपन के अन्य आघातिक अनुभव हमें याद नहीं रहते, किंतु उनके संस्कार मन पर पड़ जाते हैं और हमारे मन में जीवन के प्रति एक अपसामान्य डर पैदा कर सकते हैं। बाद में बचपन के आघातिक अनुभवों के संस्कार अपनी अभिव्यक्ति दुःस्वप्नों के रूप में जब-तब करते रहते हैं जिनमें कोई न कोई समस्या तो अवश्य रहती है, किंतु उसके समाधान का कोई संकेत नहीं रहता। दुःस्वप्नों की व्याख्या उचित ढंग से करके व्यक्ति के मन में घर कर गये अपसामान्य डर को निकाला जा सकता है।

दुर्भीति : बहुत से लोग अपने परिवेश के अनेक पक्षों के प्रति अपसामान्य रूप से सावधान और भयभीत रहते हैं। उन्हें नदी-नाले पार करने, पहाड़ों पर चढ़ने, रात में अकेले रहने आदि में बड़ा डर लगता है। डर लगना एक स्वस्थ क्रिया है, लेकिन डर जब स्वस्थता की सीमा के बाहर जाकर व्यक्ति पर अस्वस्थकर प्रभाव डालने लगता है, तो उसे दुर्भीति कहा जाता है। दुर्भीति के अनेक रूप होते हैं, जिन्हें स्पष्ट करने के लिए विभिन्न उद्दीपनों को विशेषण की तरह प्रयुक्त कर लिया जाता है, जैसे जल-दुर्भीति, रक्तदुर्भीति, उत्तुंगता दुर्भीति आदि। दुर्भीति व्यक्ति और परिवेश के किसी प्रत्यक्षात्मक पक्ष से उत्पन्न हो सकती है।

दुर्भीति किसी मूर्त उद्दीपन के प्रति हो सकती है। बैग्बी के अनुसार दुर्भीति में डर के साथ-साथ अपराध या आत्मभर्त्सना की भावना भी होती है। दुर्भीति को समझने के लिए डरानेवाली स्थिति के साथ-साथ व्यक्ति के तत्कालीन उद्देश्य को भी जानना जरूरी होता है। दुर्भीतिग्रस्त व्यक्ति के आत्मनिर्माणक अतिरंजित और असंशोधित होते हैं, जिससे वह किसी प्रकार के नियंत्रण में रहना पसंद नहीं करता। जब उसकी अतिरंजित स्वतंत्रता पर डर का अंकुश लग जाता है, तो उसमें आत्म-प्रत्याख्यान की भावना पैदा होती है और वह अपने-आपको अपराधी समझने लगता है। एक बार डरावनी स्थिति से निकल जाने पर उसकी अतिरंजित स्वतंत्रता फिर जोर पकड़ती है और अपराध-भावना असहनीय बन जाती है। असहनीय अपराध-भावना का तो दमन हो जाता है, किंतु डर फिर भी अतिरंजित स्वतंत्रता के लिए एक अंकुश की तरह बना रहता है। मूर्त उद्दीपन के प्रति दुर्भीति को आत्मप्रत्याख्यान का एक विशेष रूप कहा जा सकता है।

कभी-कभी किसी मूर्त उद्दीपन की दुर्भीति का व्यक्ति के लिए कोई महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मक अर्थ होता है। मूर्त उद्दीपन अब उसके लिए किसी और चीज का प्रतीक बन जाता है। ऐसी दुर्भीतियां यौन, राग, सहानुभूति आदि के अतिरंजित प्रेरकों के प्रति रक्षात्मक उपाय होती हैं। उनके द्वारा अतिरंजित अभिरुचि या आकर्षण का विस्थापन प्रतीकात्मक उद्दीपन पर हो जाता है। मैथुन से घबरानेवाली लड़की में चाकू भोंके जाने की दुर्भीति हो सकती है; क्योंकि शिश्न की शक्ल चाकू से मिलती है और शिश्न के डर का विस्थापन चाकू भोंके जाने के डर पर हो जाता है, जो मैथुन से बचने का एक रक्षात्मक उपाय है।

हम कभी-कभी परिवेश के किसी उद्दीपन या उसके प्रतीकात्मक अर्थ से न डरकर अपनी ही किसी आंतरिक प्रेरणा से डरने लगते हैं और वह आंतरिक प्रेरणा हमारे परिवेश से संबंधित न होकर हम से ही संबंधित होती है। वह संगठन तभी हो सकता है, जब दोनों प्रकार के उद्देश्य एक सम्मिलित इकाई बनकर हमारे बहुमुखी व्यवहार का संचालन करें। अपनी ही किसी आंतरिक प्रेरणा से दुर्भीतिग्रस्त व्यक्ति अपने बचपन के किसी कटु अनुभव के कारण अपने बहुमुखी व्यवहार में अपनी सारी शक्ति नहीं लगा पाता। उसकी कुछ मानसिक शक्ति हमेशा रुकी रहती है। वह उसके मानसिक संगठन में घुलमिल नहीं पाती और इस प्रकार आत्मनियंत्रित बन जाती है। आत्मनियंत्रित बनकर वह व्यक्ति के मानसिक संगठन के लिए एक खतरा होती है और अवसर-विशेष पर अमूर्त दुर्भीति का कारण बन सकती है।

दुश्चिंता : दुश्चिंता एक दुखद रागात्मक अनुभव है, जो शरीर के अंदर स्थित अंगों के उत्तेजित होने पर होता है। इसका संचालन स्वायत्त तंत्रिका तंत्र से होता है। डर, तनाव या अन्य प्रकार के दुखद अनुभवों और दुश्चिंता में अंतर होता है। यह अंतर चेतना के विशिष्ट गुण का होता है। दुश्चिंता में चेतना के जिस विशिष्ट गुण का अनुभव होता है, उसका निर्धारण कैसे होता है, यह अभी मालूम नहीं हो सकता है। प्रसंगवश, अचेतन दुश्चिंता का कोई अस्तित्व नहीं होता। हो सकता है, व्यक्ति अपनी दुश्चिंता के कारण को न जान पाये, किंतु दुश्चिंता का अनुभव वह हर हालत में करता है और यह भी अनुभव करता है कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

दुश्चिंता डर के रागात्मक अनुभव का पर्याय भी होती है। डर साधारण अर्थ में बाह्य उद्दीपन से उत्पन्न होता है, किंतु दुश्चिंता आंतरिक उद्दीपन से। दुश्चिंता का मुख्य कार्य अहम् को खतरे का संकेत देना होता है, जिससे खतरा सामने आने पर अहम् उसका सामना करने के लिए समुचित उपाय कर सके।

फ्रायड ने दुश्चिता के तीन प्रकार माने हैं: वास्तविक दुश्चिता, तंत्रिकातापी दुश्चिता और नैतिक दुश्चिता। दुश्चिता के इन तीनों प्रकारों में कोई पारस्परिक गुणात्मक भेद नहीं होता, भेद केवल उद्‌गम-स्थान का होता है। दुश्चिता के इन तीनों प्रकारों का यह अर्थ भी नहीं होता कि हम उनके वास्तविक उद्‌गम स्थान को जानते ही हों। हो सकता है, हम यह समझते हों कि हमारी दुश्चिता का उद्‌गम-स्थान बाहर है, जबकि उद्‌गम-स्थान वास्तव में आंतरिक हो।

देखना : देखने की क्रिया प्रकाश द्वारा संभव होती है। प्रकाश में विभिन्न लंबाई की विद्युत चुंबकीय किरणें होती हैं। आंख एक निश्चित लंबाई की किरणों से ही उद्दीप्त होती है। किरणों की यह लंबाई 400 से 700 मिली-माइक्रोन (एक मिलीमीटर का दस लाखवां हिस्सा) के भीतर होती है।

प्रकाश की किरणें जब आंख में प्रवेश करती हैं, तो आइरिस सिकुड़कर या फैलकर पुतली द्वारा लैंस तक जानेवाली किरणों की मात्रा को नियमित कर देती है। प्रकाश की मात्रा का नियमित होना बहुत आवश्यक होता है; क्योंकि दृष्टिपटल अत्यंत संवेदनशील होता है और प्रकाश यदि अनियमित मात्रा में दृष्टिपटल पर पड़ जाये, तो झुलस जाता है।

किरणें फिर 'एकुअस ह्यूमर' नामक पारदर्शी पदार्थ से गुजरती हैं। इस तरल पदार्थ का काम किरणों में उचित वक्रीकरण कर देना होता है, जिससे वे लैंस पर ठीक से पड़ सकें। लैंस का काम किरणों को दृष्टिपटल पर ठीक से केंद्रित करना होता है। किरणों को दृष्टिपटल पर ठीक से केंद्रित करने के लिए लैंस घटता-बढ़ता रहता है। वृद्धावस्था या शारीरिक अस्वस्थता से सीलियरी पेशियों में दुर्बलता आ जाती है, जिससे लैंस की घटने-बढ़ने की क्षमता कम हो जाती है और किरणें या तो दृष्टिपटल के जरा आगे या जरा पीछे केंद्रित होने लगती हैं, जिससे वे वस्तुएं स्पष्ट नहीं दिखायी पड़तीं। इस कमी को पूरा करने के लिए चश्मा लगाना पड़ता है।

दृष्टिपटल में शंकु और छड़ें या शलाकाएं होती हैं। रंग देखने के लिए शंकुओं का होना जरूरी है। यदि शंकु न हों, तो रंग दिखायी नहीं पड़ सकते। शंकु धुंधले प्रकाश में क्रिया नहीं करते, इसलिए गोधूलि के समय रंग दिखायी नहीं पड़ते। शंकुओं या अनेक न्यूरोनीय-सामीप्यों में कोई दोष होने से प्राणी वर्णांध या रंगांध हो जाता है। बहुत से लोग कुछ रंगों के प्रति आंशिक रूप से वर्णांध होते हैं। नेत्र-चिकित्सकों ने वर्णांधता की परीक्षा करने के साधन बना लिये हैं।

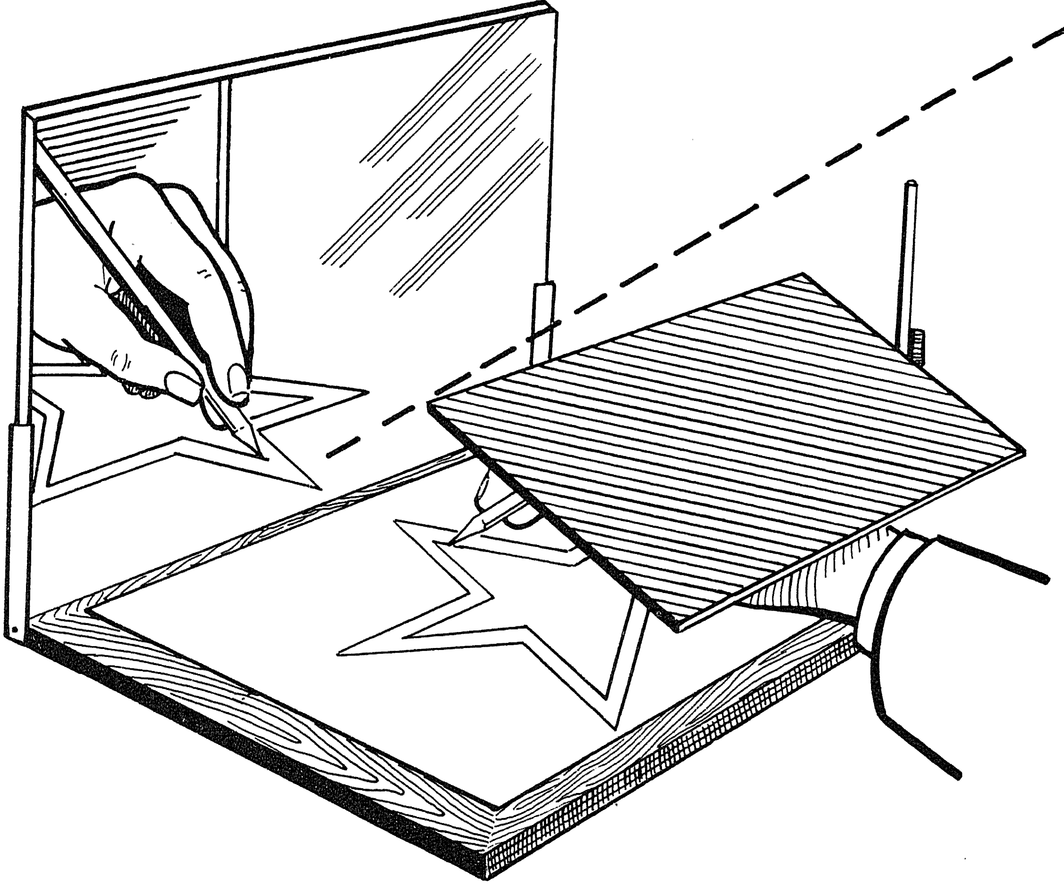
धुंधले प्रकाश में देखने के लिए शलाकाओं का होना जरूरी है। शलाकाओं के बाहरी भाग में बैंगनी रंग का एक चाक्षुष रंगद्रव्य होता है, जिसे विजुअल पर्पिल कहते हैं। प्रकाश में इस रंगद्रव्य का रंग उड़ जाता है, किंतु अंधकार में वह अपना रंग फिर ग्रहण कर लेता है। शलाकाओं के क्रियाशील होने पर केवल चमक ही दिखायी पड़ती है, रंग नहीं। 'विजुअल पर्पिल' की मात्रा विटामिन 'ए' की कमी से घट जाती है, जिससे रात में ठीक से दिखायी नहीं पड़ता और दुर्घटनाएं होने की संभावना बढ़ जाती है।

दृष्टि संवेदन का क्षेत्र मस्तिष्क की पश्चपालि में होता है। दृष्टि-तंत्रिका दोनों नेत्र-गोलकों से इस तरह संबंधित होती है कि दोनों आंखों की दाहिनी ओर के आधे भाग की प्रेरणाएं मस्तिष्क की पश्चपालि के दाहिने भाग में और बायीं ओर के आधे भाग की प्रेरणाएं बायें भाग में जाती हैं। यह प्रबंध आश्चर्यजनक है। मस्तिष्क के पिछले भाग का कोई एक दृष्टि-क्षेत्र नष्ट हो जाने पर भी दोनों आंखों के आधे भाग से देखा जा सकता है।

देहली (थ्रेसहोल्ड) : संवेदन और प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में समर्थ उद्दीपन की न्यूनतम या अधिकतम मात्रा। उद्दीपन की न्यूनतम मात्रा के न्यूनतम भेद-बोध सीमा और अधिकतम मात्रा को उच्चतम भेद-बोध सीमा कहा जाता है। वास्तव में किसी उद्दीपन की कोई ऐसी निश्चित मात्रा नहीं होती, जिससे कम मात्रा पर कोई संवेदन या प्रतिक्रिया कभी न होती हो और जिससे अधिक मात्रा पर संवेदन या प्रतिक्रिया हमेशा होती हो।

द्विपक्षीय संक्रमण : अगर हम किसी एक कुशलता को प्राप्त करना सीखें, तो उसका प्रभाव अन्य सीखी जानेवाली कुशलताओं पर भी पड़ता है। इसे सीखने का संक्रमण कहा जाता है। इस संक्रमण का प्रभाव अनुकूल भी पड़ सकता है और प्रतिकूल भी। अनुकूल संक्रमण का एक अच्छा

उदाहरण दाहिने हाथ से किसी काम को करने का अभ्यास कर लेने के बाद उस काम को बायें हाथ से भी कर लेने में सुविधा मिलना है। एक हाथ से किये गये अभ्यास की अर्जित कुशलता का संक्रमण दूसरे हाथ से की जानेवाली क्रिया में हो जाता है। इसे द्विपक्षीय संक्रमण कहते हैं। द्विपक्षीय संक्रमण पर किया जानेवाला एक प्रचलित प्रयोग दर्पण-आरेखण का है। दर्पण आरेखण के प्रयोग में पात्र को एक तारे के चित्र का आरेखण करना पड़ता है। आरेखण के समय वह अपने हाथ की गति का प्रतिबिंब दर्पण में देखता है। तारे का आरेखण एक बार बायें हाथ से कर लेने के बाद पात्र तारे का आरेखण-निर्धारित आवृत्ति संख्या के अनुसार दाहिने हाथ से करता है। इसके बाद वह एक बार फिर बायें हाथ से आरेखण करता है। बायें हाथ से पहली और अंतिम बार के आरेखण में होनेवाली त्रुटियों की संख्या और लगे समय की तुलना की जाती है। बायें हाथ से पहली बार के आरेखण की अपेक्षा अंतिम



द्विपक्षीय संक्रमण

बार के आरेखण में बहुत सुधार पाया जाता है, जबकि सारा अभ्यास दाहिने हाथ से ही किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि दाहिने हाथ की कुशलता बायें हाथ में संक्रमित होकर उसकी क्रिया को सुधार देती है।

द्विलिंगिता : प्राणी में स्त्री और पुरुष दोनों की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का साथ-साथ पाया जाना। जीवविज्ञान के अनुसार यौन विकास के लिए दोनों प्रकार की ग्रंथियां, अंडकोश तथा डिंबकोश प्रत्येक प्राणी में पाये जाते हैं। अंतर केवल यह है कि पुरुष में केवल अंडकोश का विकास होता है और डिंबकोश अविकसित रहते हैं और स्त्री में केवल डिंबकोश का विकास होता है और अंडकोश अविकसित रहते हैं। कभी-कभी किसी पुरुष या स्त्री में विलिंगी ग्रंथियों के अधिक सक्रिय हो जाने से उनमें कुछ विलिंगी गौण विशेषताएं पैदा हो जाती हैं, जैसे पुरुष में स्तनों का बढ़ना और स्त्रियों में दाढ़ी-मूंछ उगना।

इस शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी किया जाता है। इस प्रकार द्विलिंगता का दूसरा अर्थ है—यौन आकर्षण की दृष्टि से प्राणी का सजातीय और विजातीय दोनों ही व्यक्तियों की ओर समान रूप से आकर्षित होना। यह एक मानसिक विकार है।

धारण : जब कोई काम सीखा जाता है, तो उस काम के प्रति प्रारंभ में की जानेवाली प्रतिक्रियाओं में आवश्यक संशोधन हो जाता है। बाइसिकिल चलाना या तैरना सीख लेने के बाद हमारी क्रियाओं में बाइसिकिल चला सकने या तैरने के लिए आवश्यक संशोधन होता है, जिससे हम बाद में बाइसिकिल चलाने या तैरने के समय अनाड़ी की भांति वे चेष्टाएं नहीं करते, जिन्हें सीखते समय किया करते थे। सीखने से क्रियाओं में जो आवश्यक संशोधन हो जाते हैं, उनका बहुत समय तक या बिल्कुल न मिटना ही धारण करना कहलाता है और धारण करना ही याद रखना है।

हमें बहुत-सी धारण की गयी बातों का बोध तक नहीं होता। बचपन में हम पैरों पर खड़े होकर चल नहीं पाते थे। धीरे धीरे हमारे पैरों की पेशियों में चलने के लिए आवश्यक संशोधन होते गये और हमारा शरीर उन्हें धारण या याद करता गया यानी वे संशोधन नष्ट नहीं हुए। हमें ऐसा कभी नहीं लगता कि बचपन में सीखा गया चलना हमें आज तक याद है। यदि हममें अर्जित कुशलता को धारण कर सकने की क्षमता न होती, तो हम कुछ भी नहीं सीख पाते। धारण या याद रखना एक ऐसी विशद क्रिया का नाम है, जिसके अंदर पुनःस्मरण, अभिज्ञान और ऐसी बातों का धारण करना भी आ जाता है, जो न मौखिक हों और न जिनका कभी बोध होता हो।

सामान्य रूप से यह देखा गया है कि क्रियात्मक सीखना आसानी से नष्ट नहीं होता और उसे हम जीवन भर धारण किये रह सकते हैं। एक बार बाइसिकिल चलाना सीख लेने के बाद सालों तक बाइसिकिल न चलाने के बाद भी हम उसे आसानी से चला लेंगे; क्योंकि बाइसिकिल चलाना क्रियात्मक सीखना है। मौखिक सीखना अपेक्षाकृत अधिक आसानी से नष्ट हो जाता है। आज याद की गयी कोई कविता दस-बारह साल बाद ठीक तरह से याद नहीं रह पाती।

मौखिक रूप से सीखी गयी बात के धारण करने पर सार्थकता का, सुनने से ज्यादा देखने का और उद्देश्य का प्रभाव पड़ता है। प्रयोगों से पता चला कि निरर्थक बातों की अपेक्षा सार्थक बातें जल्दी और अच्छी तरह याद होती हैं। इसी प्रकार सुनी हुई बात की अपेक्षा देखी गयी बात ज्यादा याद रहती है। जो चीज किसी उद्देश्य से न सीखी गयी हो, उसका धारण भी अच्छी तरह नहीं हो पाता।

धारण करने पर पुनरावृत्ति और सामग्री के प्रकार का भी प्रभाव पड़ता है। पुनरावृत्ति से धारण उत्तरोत्तर दृढ़ होता जाता है। अनेक बार पुनरावृत्ति करके किसी बात को याद करने में सुगमता होती है। धारण करने पर सामग्री के प्रकार का भी प्रभाव पड़ता है। गद्य की अपेक्षा पद्य ज्यादा आसानी से याद हो जाता है।

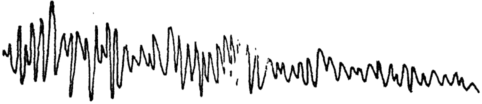
हम जो कुछ सीखते हैं, उसे धारण करने की क्षमता रखते हैं, इसलिए परीक्षा करके यह पता लगाया जा सकता है कि हमारी धारण क्षमता कितनी है। इसका पता लगाने का सरल उपाय सीखी हुई बात को फिर से दुहराना है। जिस बात को जितने प्रतिशत दुहराया जा सकता है, उसकी धारण-क्षमता भी उतने ही प्रतिशत होती है।

ध्वनि : किसी उद्दीपन (लोहे के तार या किसी अन्य

चीज) पर आघात किये जाने से उस उद्दीपन में कंपन होता है और उस कंपन के दबाव से हवा में तरंगें पैदा हो-होकर चारों ओर फैलने लग जाती हैं। हवा की तरंगें

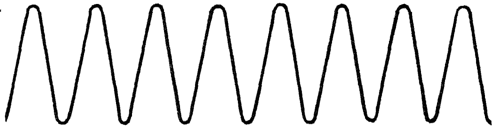






चित्र 1
नियमित और नियतकालिक तथा अनियमित और अनियतकालिक ध्वनि तरंगें





चित्र 2
विभिन्न उद्दीपनों से उत्पन्न ध्वनि तरंगों की लंबाई का अंतर

जब कान के पर्दे से टकराती हैं, तो ध्वनि का संवेदन होता है। ध्वनि किसी उद्दीपन द्वारा हवा में पैदा की जानेवाली तरंगों का क्रम है।

उद्दीपन से हवा में नियमित और नियतकालिक या अनियमित और अनियतकालिक ध्वनि-तरंगें उत्पन्न हो सकती हैं। नियमित और नियतकालिक ध्वनि-तरंगें कर्णप्रिय होती हैं। अनियमित और अनियतकालिक तरंगें कर्णकटु होती हैं, जैसे शोरगुल की आवाज। चित्र 1 को देखिए। ऊपर बांसुरी और बीच में मनुष्य के गाने से उत्पन्न नियमित और नियतकालिक ध्वनि-तरंगें हैं। नीचे धमाके से शोर होने की अनियमित और अनियत-कालिक ध्वनि-तरंगें हैं।

ध्वनि-तरंग में उतार-चढ़ाव होता है। पूरे उतार-चढ़ाव से ध्वनि की एक तरंग बनती है। चित्र 2 को देखिए और उसमें ऊपर और नीचे की ध्वनि-तरंगों की तुलना कीजिए। आप देखेंगे कि दोनों ध्वनि-तरंगों के उतार-चढ़ाव की लंबाई बराबर है, किंतु ऊपर ध्वनि-तरंगों की आवृत्ति एक सैकेंड में नौ बार और नीचे एक सैकेंड में अठारह बार हुई है, इसलिए उन दोनों में केवल उनकी आवृत्ति-संख्या का अंतर है। विभिन्न उद्दीपन विभिन्न आवृत्ति की ध्वनि-तरंगें पैदा करते हैं। हमारे कान सामान्यत: प्रति सैकेंड 20 से कम और 20,000 से ज्यादा आवृत्ति की ध्वनि तरंगों को ग्रहण नही कर सकते।

अब चित्र 2 में ऊपर और नीचे की ध्वनि-तरंगों की तुलना कीजिए। इन दोनों तरंगों की आवृत्ति एक सेकेंड में दो बार हुई है, इसलिए दोनों की आवृत्ति में कोई अंतर नहीं है। अब दोनों लहरों के उतार-चढ़ाव की लंबाई देखिए। दोनों की लंबाई अलग-अलग है और उनमें उनकी लंबाई का ही अंतर है। विभिन्न उद्दीपनों से उत्पन्न ध्वनि-तरंगों में लंबाई का अंतर भी हो सकता है।

अब आप चित्र 1 को फिर देखिए। वहां तीनों ध्वनि-तरंगों में न तो उनकी आवृत्ति संख्या में अंतर है और न लंबाई में। अंतर है, तीनों के रूप में। तीनों ध्वनि-तरंगों में विभिन्न आवृत्ति-संख्या और लंबाई की तरंगों की मिलावट है, जिसमें उनका रूप अलग-अलग हो गया है। ध्वनि-तरंगों का रूप उनकी आवृत्ति संख्या या लंबाई, या आवृत्ति-संख्या और लंबाई दोनों की मिलावट के अंतर से बनता है।

ध्वनि की विशेषताएं : वर्षा की रिमझिम, पानी के छपाके, बादलों के गरजने, जोर से चिल्लाने, फुसफुसाने, रोने,

हंसने आदि की ध्वनि में भेद होता है और इस भेद का कारण ध्वनि की विशेषताओं में होता है। ध्वनि में इतनी विभिन्नता होती है कि उसका वर्गीकरण कर सकना बहुत कठिन है। कहा जाता है कि मनुष्य सामान्यतः ध्वनि में 3,40,000 प्रकार का भेद कर सकने की क्षमता रखता है। ध्वनि का विभेद कर सकना सरल नहीं है, किंतु ध्वनि की इतनी बड़ी विभिन्नता को थोड़ा-बहुत समझने के लिए ध्वनि की कुछ विशेषताओं को जानना जरूरी है।

आप वीणा के एक ढीले तार को छेड़िए। उसमें से उतरी हुई-सी ध्वनि निकलेगी। फिर उस तार को कस दीजिए। तब वह खरी ध्वनि पैदा करेगा। ढीले तार द्वारा उत्पन्न ध्वनि-तरंग की आवृत्ति-संख्या कम होती है, जिससे ध्वनि उतरी हुई-सी लगती है। कसे हुए तार द्वारा उत्पन्न ध्वनि-तरंग की आवृत्ति-संख्या अधिक होती है, जिससे उसकी ध्वनि खरी लगती है। ध्वनि के उतरे हुएपन या खरेपन को ध्वनि का तारत्व या पिच कहते हैं। ध्वनि का तारत्व ध्वनि-तरंग की आवृत्ति-संख्या के अनुपात से उतरता-चढ़ता रहता है।

कुछ आवाज़ें तेज होती हैं और कुछ धीमी। आवाज़ की तेजी और धीमापन ध्वनि-तरंग की लंबाई पर निर्भर होता है। ध्वनि-तरंग की लंबाई जितनी ज्यादा होती है, ध्वनि उतनी ही तेज होती है। हवा पर उद्दीपन के कंपन का जितना ज्यादा दबाव पड़ता है, ध्वनि-तरंग की लंबाई उतनी ही ज्यादा होती है। वीणा के तारों को झंकृत करने में शक्ति का दबाव जितना अधिक डाला जाता है, ध्वनि की तेजी उतनी ही बढ़ती चली जाती है।

ध्वनि में घनत्व भी होता है। कुछ आवाजें मोटी या भारी और कुछ पतली लगती हैं। ध्वनि जितनी तेज होती है, उसका घनत्व भी उतना ही होता है, किंतु घनत्व ध्वनि का तारत्व बढ़ने से कम और घटने से ज्यादा हो जाता है। ध्वनि के घनत्व से ध्वनि उत्पादक उद्दीपन की विशेषता जान सकने में सहायता मिलती है। मोटी या पतली आवाज सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि उन आवाजों को पैदा करनेवाले उद्दीपन भी क्रमशः बड़े या छोटे आकार के होंगे।

आवाजों का तारत्व और तेजी एक-सी रहने पर भी आवाजों को पहचान लिया जाता है। आप संगीत सुनिए। गानेवाले के साथ-साथ तरह-तरह के साज भी बजते हैं और यद्यपि गानेवाले की आवाज और साजों की आवाज का तारत्व और तेजी एक-सी होती है, किंतु फिर भी गानेवाले और विभिन्न साजों की आवाज बिल्कुल अलग-अलग सुनायी पड़ती है। इसका कारण आवाजों की वह विशेषता है, जिसे ध्वनि का 'टिंबर' या रूप कहा जाता है। ध्वनि का टिंबर ध्वनि-तरंग के रूप की विशेषता होती है। विभिन्न उद्दीपनों से उत्पन्न होनेवाली एक ही तारत्व और तेजी की विभिन्न ध्वनि-तरंगों का रूप अलग-अलग होता है। ध्वनि-तरंगों की रूप-विभिन्नता (टिंबर) के कारण ही हम हर मनुष्य की आवाज को अलग-अलग पहचानते हैं और आवाज से ही यह जान लेते हैं कि कौन बोल रहा है।

नष्टार्तवकालीन विषण्णता : रागात्मक मनस्ताप का एक रूप। इस मनस्ताप को नष्टार्तवकालीन इसलिए कहा जाता है कि यह नष्टार्तवकाल में आंतरिक शारीरिक अंगों और ग्रंथियों की क्रियाओं में परिवर्तन होने पर प्रकट होता है। यह मनस्ताप स्त्रियों में नष्टार्तव के समय से प्रकट होता है और सामान्यतः स्त्रियों में ही अधिक मिलता है। किंतु कुछ पुरुषों में भी 50-55 की उम्र तक आंतरिक शारीरिक अंगों और ग्रंथियों की क्रियाओं में परिवर्तन हो जाने से नष्टार्तवकालीन विषण्णता से मिलते-जुलते लक्षण मिलते हैं। इसलिए पुरुषों में पाये जानेवाले उन लक्षणों को भी नष्टार्तवकालीन विषण्णता की संज्ञा दे दी जाती है।

कुछ विद्वान विषण्णता को उन्माद-अवसाद का ही एक प्रकार मानते हैं। विषण्णता के रोगी में उन्माद-अवसाद की भांति कभी-कभी उत्तेजना और उदासी दोनों पायी जाती हैं। ऐसी विषण्णता को उत्तेजित अवसाद नाम से भी संबोधित किया जाता है। उत्तेजित अवसाद की अभिव्यक्ति हठभरी मानसिक या शारीरिक पीड़ा, बेचैनी, हाथों को ऐंठने या विलाप करने के रूपों से होती है। ऐसी अवस्था में भ्रांति की तीव्रता लिये हुए काल्पनिक बीमारियों के विचार आते हैं। रोगी को लगता है कि उसका शरीर अंदर से गल या सड़ रहा है, उसकी खोपड़ी के अंदर कुछ नहीं रह गया है आदि।

यदि रोगी नष्टार्तवकाल के पहले उन्माद-अवसादग्रस्त रह चुका हो, तो उसे विषण्णता का रोगी नहीं माना जाता। विषण्णता के रोगी की प्रतिक्रियाएं आत्मप्रत्याख्यान

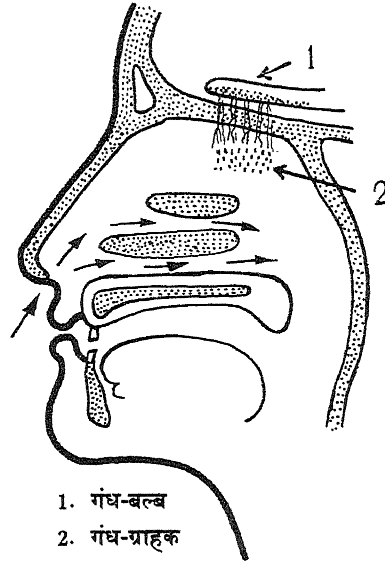
रूप में होती हैं। वह निस्सहाय होने से सहायता तो चाहता है, किंतु यह भी जिद्द करता है कि वह लाइलाज है और रोग से बच सकने को असंभव समझता है। वह समझता है कि उसने कोई भयंकर पाप किया है, जिससे जिस व्यक्ति पर उसकी छाया पड़ेगी, उसका अनिष्ट होकर ही रहेगा। उसे लग सकता है कि यम उसे लेने आ रहा है या लोग उसे श्मशान ले जाने की तैयारी कर रहे हैं। ऐसे विचार रोगी को मतिभ्रम में डाल देते हैं, जिससे उसे यम का फंदा दिखायी देने लगता है और श्मशान ले जानेवालों की कानाफूसी सुनायी पड़ने लगती है। इस तरह के लक्षण सब रोगियों में तो नहीं मिलते, किंतु सामान्यत: कुछ इसी ढंग की विशेषताएं विषण्णता के प्रत्येक रोगी में देखने में मिलती हैं।

विषण्णता नष्टार्तवकाल में होनेवाले आंतरिक शारीरिक अंगों और ग्रंथियों की क्रियाओं में परिवर्तन होने से तो होती ही है, किंतु वह ऐसे कारणों से भी हो सकती है जो मनोजन्य हों। विषण्णता के पीछे अक्सर कोई विगत दुखद अनुभव या असफलता पायी जाती है। नष्टार्तव का समय आने पर प्रजनन-शक्ति समाप्तप्राय हो जाती है और व्यक्ति वृद्धावस्था और अपना अंत हो जाने के विचारों से खिन्नमन बन जाता है। इस खिन्नता के साथ विगत दुखद अनुभवों की याद आने से वह निस्सहाय, अक्षम, चिड़चिड़ा और भयभीत-सा होता जाता है। रोगी के मन में कुछ अतृप्त कामनाएं पहले से ही मौजूद रहती हैं और नष्टार्तवकाल में अपनी शक्ति का ह्रास और अतृप्त कामनाओं को तृप्त कर पाने की कोई गुंजाइश न देखकर उसे बड़ा धक्का-सा लगता है और उसकी प्रतिक्रियाएं आत्मप्रत्याख्यान का रूप ले लेती हैं।

नष्टार्तव काल बीत जाने पर और आंतरिक शारीरिक अंगों में परिवर्तन हो चुकने के बाद अगर व्यक्ति अपने को वृद्धावस्था आदि की आगामी स्थितियों के प्रति संतुलित कर ले और परिस्थितियों के अनुसार अपनी नयी रुचि बना ले, तो विषण्णता मिट जाती है। इलाज के बिना यह रोग महीनों तक बना रह सकता है और कुछ रोगी कभी ठीक नहीं हो पाते। अवसाद के अन्य रोगों की भांति विषण्णता में भी इस बात का बड़ा डर रहता है कि रोगी कहीं आत्महत्या न कर ले और इसीलिए रोगी की देखभाल में बड़ा सावधान रहने की जरूरत पड़ती है।

नाक : बहुत से प्राणी अपने परिवेश का ज्ञान सूंघकर ही करते हैं। सूंघने की शक्ति मनुष्यों की अपेक्षा अन्य प्राणियों में अधिक होती है; क्योंकि अन्य प्राणियों में परिवेश को जानने के उत्तम साधनों, जैसे, देखने, सुनने आदि का उतना विकास नहीं हो पाया है, जितना मनुष्य में हो चुका है। लेकिन हम भी गंध के आधार पर ही अनेक उद्दीपनों के भेद को समझते हैं।

गंध का अनुभव नाक द्वारा होता है। नाक के भीतर आंख की सीध से जरा ऊपर गंधबल्ब होता है, जिसके



1. **गंध-बल्ब**
2. **गंध-ग्राहक**

सिरों पर महीन-महीन रोएं होते हैं। ये रोएं ही गंधग्राहक होते हैं। गंध का उद्दीपन हवा द्वारा जब नाक में प्रविष्ट होकर इन रोओं को छूता है, तो उसका संवेदन गंधतंत्रिका द्वारा मस्तिष्क के सूंघने के केंद्र में पहुंचता है और तब हमें गंध का अनुभव होता है। गंध ग्राहक चूंकि नाक के ऊपरी भाग में स्थित होते हैं, इसलिए सांस लेने में नाक के अंदर जो हवा आती-जाती रहती है, वह गंधग्राहकों को नहीं छू पाती और हमें गंध का अनुभव साधारणतया सांस लेते रहने से नहीं होता। ऊपर चित्र में बने तीरों से

यह बात स्पष्ट हो जायेगी। सूंघने के लिए नाक द्वारा हवा को जोर से ऊपर की ओर खींचना पड़ता है, जिससे वह गंधग्राहकों को छू सके। गंध का उद्दीपन चूंकि हवा द्वारा ही नाक में जा सकता है, इसलिए सूंघ सकने के लिए उद्दीपन को वायव्य रूप में होना चाहिए।

नार्सीसस अवस्था : रागात्मक विकास की एक अवस्था। बड़े होने पर बच्चा जब अपने-पराये का भेद समझने लग जाता है, तो उसके लिबिडो का प्रवाह मौखिक और शारीरिक स्तर के सुख से हटकर अपनत्व के सुख की ओर होने लगता है। यह रागात्मक विकास की दूसरी अवस्था होती है, जिसका नामकरण नार्सीसस के नाम पर किया गया है। नार्सीसस यूनानी पुराणकथाओं के अनुसार एक सुंदर युवक था, जो सरोवर के पानी में अपने प्रतिबिंब को देखकर अपने ही रूप पर मोहित हो गया था। रागात्मकता की इस अवस्था के बाद बच्चा दूसरों के प्रति, जैसे, भाई-बहनों, सखा-साथियों और विशेषकर मां-बाप के प्रति निश्चित रागात्मक संबंध रखना प्रारंभ कर देता है। लड़के के लिबिडो की अधिक मात्रा माता की ओर, और लड़की की पिता की ओर होती है। बारह-तेरह साल के आसपास युवावस्था आने पर दूसरों के प्रति रागात्मक संबंध अधिक सक्रिय हो जाता है। पहले तो लिबिडो का संबंध समलिंगी लोगों से ज्यादा होता है। यह सजातीय लैंगिकता की अवस्था होती है। इसके बाद से विजातीय लैंगिकता की अवस्था आती है, जिसमें लिबिडो का संबंध विपरीत लिंगी लोगों से ज्यादा हो जाता है। लड़का लड़की की ओर तथा लड़की लड़के की ओर आकृष्ट होने लगती है।

निद्राचारिता : संवेग प्रधान स्मृतियों या प्रत्ययों के वशीभूत होने पर व्यक्ति सोते समय उनका बिलकुल ठीक अभिनय करने लगता है। इसीको निद्राचारिता कहा जाता है। निद्राचारिता का कारण व्यक्ति की दुश्चिंता और उससे उत्पन्न होनेवाले असहनीय संवेग भी होते हैं, जिनकी प्रबलता से पुराने प्रत्यय एक-एक करके चेतना में आने लगते हैं और व्यक्ति के ऊपर हावी होकर उसे अपना कठपुतला बना डालते हैं। व्यक्ति के किसी दुखद जटिल अनुभव के इर्द-गिर्द ढीले ढंग से स्मृतियों का एक व्यवस्थित समूह घूमता रहता है, जिसका ज्ञान व्यक्ति को नहीं होता। किंतु किसी प्रेरित कर देनेवाले संकेत से सक्रिय हो जाने पर स्मृतियों का वह समूह व्यक्ति में निद्राचारिता की हालत पैदा कर देता है।

निद्राचारिता मानसिक विघटन के कारण होती है। व्यक्ति के स्थायीभाव जब उसके दैनिक अनुभव से उचित ढंग से संगठित नहीं हो पाते, तो किसी अन्य स्थिति के प्रति कोई तीव्र स्थायीभाव विघटित होकर व्यवहार द्वारा प्रकट होने लगता है। मानसिक विघटन समय-समय पर व्यक्ति की सामान्य मानसिक शारीरिक क्रियाओं पर पूरी तरह से हावी हो जाता है और व्यक्ति उस विघटन के प्रभाव से अपसामान्य व्यवहार करने लग जाता है। निद्राचारिता में व्यक्ति के अंदर एक गौण मानसिक संगठन बन जाता है, जो अपनी अभिव्यक्ति प्रमुख मानसिक संगठन को दबाकर करता है। इसलिए निद्राचारिता की हालत में व्यक्ति के सामान्य चेतन जीवन की अविच्छिन्नता टूट जाती है। निद्राचारिता का दौरा खत्म होने पर व्यक्ति प्रकृतस्थ हो जाता है, किंतु वह निद्राचारिता की हालत की सारी बातें भूल जाता है।

निष्पादन-परीक्षण : वह परीक्षण, जिसमें समस्या का हल आंख और हाथ से किया जाता है। निष्पादन-परीक्षणों की सामग्री अशाब्दिक होती है। वेक्सलर वेलेबू के निष्पादन-परीक्षण में निष्पादन के पांच परीक्षण हैं: चित्रविन्यास, चित्रपूर्ति, ब्लाक डिजाइन, वस्तु-संहति और अंकचिह्न-प्रतिस्थापन। निष्पादन परीक्षणों से क्रियात्मक बुद्धि की परीक्षा की जाती है। वेक्सलर वेलेबू के परीक्षणों के अतिरिक्त निष्पादन-परीक्षणों के अन्य रूप भी प्रचलित हैं।

नींद : नींद का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। नींद में हम कुछ देर के लिए जगत की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पा जाते हैं। हम अपने जीवन का एक तिहाई भाग या लगभग आधा भाग सोने में ही बिता देते हैं। सोने से तंत्रिका-कोशिकाओं की थकान दूर हो जाती है। नींद का कोई उचित कारण अब तक मालूम नहीं हो सका है और उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से करने का प्रयत्न किया गया है।

सोते समय चूंकि मस्तिष्क में रक्त का दबाव कम हो जाता है, इसलिए कुछ मनोविज्ञानियों ने नींद का कारण रक्त के दबाव में कमी को माना है। किंतु डनलप के अनुसार नींद में रक्त का दबाव शरीर भर में कम हो जाता है, इसलिए मस्तिष्क में रक्त के दबाव के कम हो जाने को नींद का कारण नहीं माना जा सकता।

जान्सन ने नींद की व्याख्या करने के लिए निद्रा-न्यूरोनों के एक अलग तंत्र को स्वीकार किया है, जिनके सक्रिय होने पर नींद आती है। निद्रा-न्यूरोन अन्य वल्कुटीय न्यूरोनों की क्रियाओं का प्रावरोध करते हैं। शरीर के अंदर बननेवाले विषैले पदार्थ निद्रा-न्यूरोनों को सक्रिय करने में सहायक होते हैं। उन विषैले पदार्थों की प्रेरणा अन्य वल्कुटीय प्रेरणाओं को निष्क्रिय बनाकर स्वयं मस्तिष्क के निम्न केंद्रों और मेरुरज्जु में जाती है, जिससे नींद में कुछ आंतरिक शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं। किंतु नींद की व्याख्या के लिए एक अलग न्यूरोनीय तंत्र को मानना असंगत जान पड़ता है।

नींद की व्याख्या रासायनिक आधार पर करने का भी प्रयत्न किया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार शरीर के अंदर मल आदि की उपस्थिति से कुछ विषैले पदार्थ बनते हैं, जिनके कारण मस्तिष्क के केंद्र निष्क्रिय बन जाते हैं। यह मान्यता ठीक नहीं लगती; क्योंकि अत्यधिक थकने पर भी शरीर में विषैले पदार्थ बनते है, लेकिन ज्यादा थक जाने पर कभी-कभी नींद बिल्कुल नहीं आती। दूसरे, कुछ लोग रात भर सो लेने के बाद भी दिन में सात-आठ घंटे और सो सकते हैं, जबकि रात भर सो लेने के बाद उनके शरीर के अंदर विषैले पदार्थों की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए।

नींद की व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से करनेवाले विद्वान नींद का कारण परिधीय उद्दीपनों के अभाव को मानते हैं। लेकिन यह देखा गया है कि बहुत से लोग काफी शोरगुल होने पर भी अच्छी तरह सो लेते हैं। नींद का कारण केंद्रीय तंत्र के काम न करने को मानना नींद की व्याख्या न कर केवल उसका वर्णन करना मात्र है। नींद में केंद्रीय तंत्र की निष्क्रियता को मानना भी ठीक नहीं है। बहुत से लोग नींद में चलते और बातचीत भी करते हैं और स्वप्न देखने जैसी जटिल क्रियाएं नींद में ही होती हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार नींद मूलप्रवृत्यात्मक होती है। नींद को मूलप्रवृत्यात्मक मानने का अर्थ उसे एक भावात्मक क्रिया के रूप में स्वीकार करना है। नींद का उद्देश्य मनुष्य की अन्य अधिकांश सचेष्ट क्रियाओं को रोकना होता है। अनेक प्रयोगों के आधार पर सिडिस ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नींद प्राणी की विश्राम करने की आदिप्रवृत्ति का ही विकसित रूप है। यह मालूम नहीं हो सका है कि शिशुओं को सोने की प्रेरणा किन उद्दीपनों से मिलती है। शायद उसके पीछे रासायनिक या अन्य कारण ही होते हों, लेकिन यह स्वीकार किया जा सकता है कि नींद व्यक्ति के परिवेश के निश्चित प्रसंग की आवश्यकता के अनुसार विकसित एक जन्मजात प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। नींद के लिए कुछ मनोवैज्ञानिक बातों की अपेक्षा होती है। कुछ लोग अपने ही घर में अपने ही बिस्तर पर अच्छी तरह सो सकते हैं, दूसरे के घर या बिस्तर पर उन्हें नींद नहीं आती। पशु भी सोने से पहले सोने की जगह को सूँघकर और एक विशेष ढंग से लेटकर सोने की तैयारी करते हैं। मनुष्य भी सोने से पहले तैयारी करता है। सोने से पहले की जानेवाली तैयारी यह संकेत करती है कि नींद अवश्य ही एक निश्चित भावात्मक प्रवृत्ति के प्रति की गयी प्रतिक्रिया होती है।

सोता हुआ व्यक्ति बाह्य जगत के उद्दीपनों के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। सोते समय व्यक्ति की चेतना की देहली उद्दीपनों के लिए नहीं बढ़ती। अगर सोते व्यक्ति के पास ही उसका बीमार बच्चा सो रहा हो, तो उसकी जरा-सी भी कराहने की आवाज़ से व्यक्ति फौरन जाग जायेगा, जबकी उसको जगाने के लिए सड़क से आनेवाला कहीं ज्यादा तेज शोरगुल भी बेकार साबित होता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ निश्चित दशाओं में व्यक्ति सोते समय भी जाग्रतावस्था की ही तरह व्यक्तिगत सार्थकता रखनेवाले उद्दीपनों के प्रति सक्रिय रहता है, यानी उसकी प्रतिक्रिया का विन्यास किसी निश्चित उद्दीपन के प्रति हो सकता है।

नींद लगने पर केवल बाह्य उद्दीपनों के प्रति अरुचि ही नहीं होती, बल्कि सोने की तबीयत भी करती है और नींद में बाधा डालनेवाली बातों से बचने का उपक्रम भी किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि नींद एक भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। शारीरिक दृष्टि से नींद आने पर पलकें भारी हो जाती हैं और झंपने लगती हैं। शारीरिक

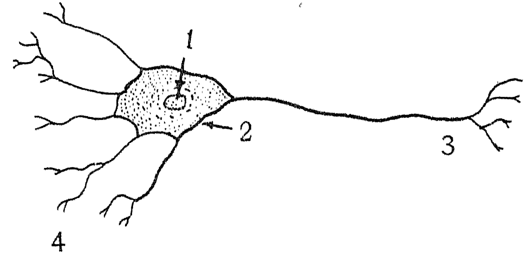
अवयव ढीले पड़ जाते हैं और सारी ऐच्छिक पेशियां शांत हो जाती हैं। सांस लेने की क्रिया और हृदय की गति धीमी पड़ जाती है और शरीर के अंदर का तापक्रम कुछ बढ़ जाता है। नींद लगने पर शारीरिक क्रियाओं में ठीक से संगठन नहीं हो पाता। प्रयोगों से यह पता चला है कि सोने के दूसरे घंटे में नींद बहुत गहरी होती है और बाद में उसकी गहराई कम होती चली जाती है। सोने के पांचवें या छठे घंटे में भी नींद ज्यादा गहरी होती है। नींद पर सोने के पहले की मानसिक अवस्था का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कई लोग दृढ़ निश्चय से रात के किसी भी समय जाग जाते हैं।

नैतिक दुश्चिंता : फ्रायड के अनुसार दुश्चिंता का एक प्रकार, जिसका उद्‌गम-स्थान पराहम् (सुपर ईगो) में होता है। नैतिक दुश्चिंता अहम् में पाप या अपराध-भावना के रूप-में रहती है। यह जीवन की एक विडंबना ही है कि दुराचारी व्यक्ति की अपेक्षा सदाचारी व्यक्ति को लज्जा ज्यादा आती है। आत्मनियंत्रित व्यक्ति इड के प्रलोभनों पर ज्यादा विचार करता है; क्योंकि उसके पास इड की प्रेरणाओं के निकास के लिए और कोई साधन नहीं होता। आदर्शवादी व्यक्ति को अपनी मूलप्रवृत्तियों की प्रेरणाओं का त्याग करने की कीमत अपराध-भावनाओं से चुकानी पड़ती है।

नैतिक दुश्चिंता अहम् के लिए एक बोझ होती है। व्यक्ति बाह्य स्थिति से पैदा होनेवाली दुश्चिंता से बचने के उपाय निकाल सकता है, किंतु नैतिक दुश्चिंता का उद्‌गम-स्थान अपने व्यक्तित्व में ही होने से व्यक्ति के लिए उससे बचना बड़ा कठिन होता है। नैतिक दुश्चिंता से बचने के लिए व्यक्ति को कुछ रक्षात्मक युक्तियां अपनानी पड़ती हैं, जिसमें अहम् की काफी शक्ति व्यर्थ चली जाती है और अधिक उपयोगी कामों में नहीं लग पाती।

नैदानिक मनोविज्ञान : मनोविज्ञान की एक शाखा, जिसमें विकृत व्यवहार से संबंधित सिद्धांतों का निरूपण किया जाता है और निदान के उद्देश्य से रोगी का निरीक्षण और परीक्षण किया जाता है। नैदानिक मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति की समस्या का उचित निदान करके उसे उसके जीवन से समायोजन कर सकने योग्य बनाना, बालकों तथा किशोरों के संवेगात्मक जीवन से संबंधित समस्याओं का निरूपण करना और बुद्धि, रुचि तथा व्यक्तित्व की परीक्षा करने के बाद व्यक्ति की बौद्धिकता और संवेगों की सीमा को ध्यान में रखकर उनमें उचित परिमार्जन करना है।

न्यूरोन : तंत्रिकाओं का निर्माण जिन कोशिकाओं से होता है, उन्हें न्यूरोन कहा जाता है। न्यूरोन हजारों छोटे-छोटे रेशों से बना होता है। न्यूरोन के एक ओर अनेक शाखाएं-सी निकली होती हैं, जिन्हें 'डेंड्रोन' कहते हैं। डेंड्रोन का काम उद्दीपन को ग्रहण करना होता है। न्यूरोन के दूसरी ओर एक लंबी दुम-सी होती है, जिसे 'एक्जोन' कहते हैं। एक्जोन का काम उद्दीपन को मस्तिष्क या मेरुरज्जु तक पहुंचाना होता है।



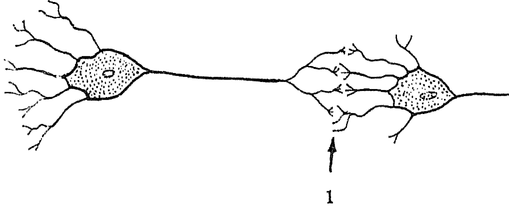
न्यूरोन

1. अंतर्बीज 3. एक्जोन
2. कोशिका 4. डेंड्रोन

न्यूरोन के डेंड्रोन शरीर के ग्राहकों (आंख, कान, त्वचा, नाक, मुंह आदि) से संपर्क रखते हैं। जिस जगह एक न्यूरोन का एक्जोन खत्म होता है, वहीं से दूसरे न्यूरोन का डेंड्रोन शुरू हो जाता है, जिससे पहले न्यूरोन के एक्जोन से आये उद्दीपन को दूसरे न्यूरोन का डेंड्रोन ग्रहण कर लेता है और अपने एक्जोन द्वारा आगे बढ़ाकर तीसरे न्यूरोन तक पहुँचा देता है। उद्दीपन तीसरे न्यूरोन से चौथे, चौथे से पांचवे और इसी तरह अनेक न्यूरोनों से होकर उस एक्जोन में पहुंच जाता है, जो किसी प्रभावक (कर्मेंद्रिय) से संपर्क रखता है और तब वह प्रभावक प्रतिक्रिया करता है।

न्यूरोनीय सामीप्य : कोई न्यूरोन जिस स्थान पर दूसरे न्यूरोन से संपर्क रखता है, उस स्थान को न्यूरोनीय सामीप्य

कहा जाता है। किसी न्यूरोन का एक्जोन दूसरे न्यूरोन के डेंड्रोन से सामीप्य ही रखता है, उससे जुड़ा नहीं होता और वह अपनी अलग सत्ता रखता है। प्रतिक्रियाओं की विविधता न्यूरोनीय सामीप्यों द्वारा ही संभव होती है। किसी न्यूरोन के डेंड्रोन अन्य न्यूरोनों के एक्जोनों से अनेक न्यूरोनीय सामीप्य रख सकते हैं। उद्दीपन न्यूरोन के एक्जोन से दूसरे न्यूरोन के डेंड्रोन की ओर न्यूरोनीय सामीप्य से होकर जाता है। न्यूरोनीय सामीप्य उद्दीपन के उन्मुक्त प्रवाह में बाधा डालता है। प्रबल या बार-बार किये जाने-वाले काम का उद्दीपन न्यूरोनीय सामीप्य के प्रतिरोध को तोड़कर अपनी दिशा बड़ी सुगमता से निर्धारित कर लेता है। प्रत्येक न्यूरोन अनेक न्यूरोनों के एक्जोनों से उद्दीपन ग्रहण कर सकता है। अनेक उद्दीपन एक ही न्यूरोन पर आकर मिल सकते हैं और एक ही प्रतिक्रिया



1. न्यूरोनीय सामीप्य

न्योरोनीय सामीप्य

अनेक न्यूरोनों को प्रभावित कर सकती है। सांस लेने के केंद्र में न्यूरोनीय प्रेरणा केवल फेफड़ों से ही नहीं आती, वरन् अन्य संवेदी न्यूरोनों की प्रेरणाएं भी आती हैं, जिससे सांस लेने की क्रिया में दुखद उद्दीपन, कान फाड़ डालनेवाली आवाज या त्वचा पर ठंडा पानी पड़ने के समय आसानी से संशोधन हो जाता है।

परामानसिकी या परामनोविज्ञान : मनोविज्ञान की एक शाखा, जिसमें उन बातों का अध्ययन किया जाता है, जो हमारी इंद्रियों की सीमाओं से बाहर होती हैं और असंभव-सी लगती हैं; क्योंकि वे भौतिक नियमों के अंतर्गत नहीं आतीं। परामानसिकी में अतींद्रिय प्रत्यक्ष जैसे दूरानुभूति, स्फटिक दृष्टि इत्यादि जैसी घटनाओं और उनसे संबंधित विभिन्न प्रकार की समस्याओं का अध्ययन और अन्वेषण किया जाता है।

पराहम् : पराहम् का निर्माण अहम् से ही होता है और वह हमारा नैतिक पक्ष होता है। पराहम् हमारे आदर्शों का प्रतिनिधि होता है, वास्तविकता का नहीं। पराहम् का मुख्य लक्ष्य सुख या वास्तविकता की कामना न कर पूर्णता प्राप्त करना होता है। बच्चा नैतिक धारणाएं अपने मां-बाप या बड़े-बूढ़ों से सीखता है। मां-बाप जिसे अच्छा कहते हैं, वह बच्चे के लिए अच्छा और जिसे बुरा कहते हैं, वह बुरा होता है। बच्चा मां-बाप के नैतिक मापदंडों को आत्मसात् करके मां-बाप का अनुमोदन पाने के लिए अपना व्यवहार उनकी इच्छानुसार करता है। मां-बाप पर निर्भर रहने के दीर्घकाल में बच्चे का पराहम् निर्मित होने लगता है।

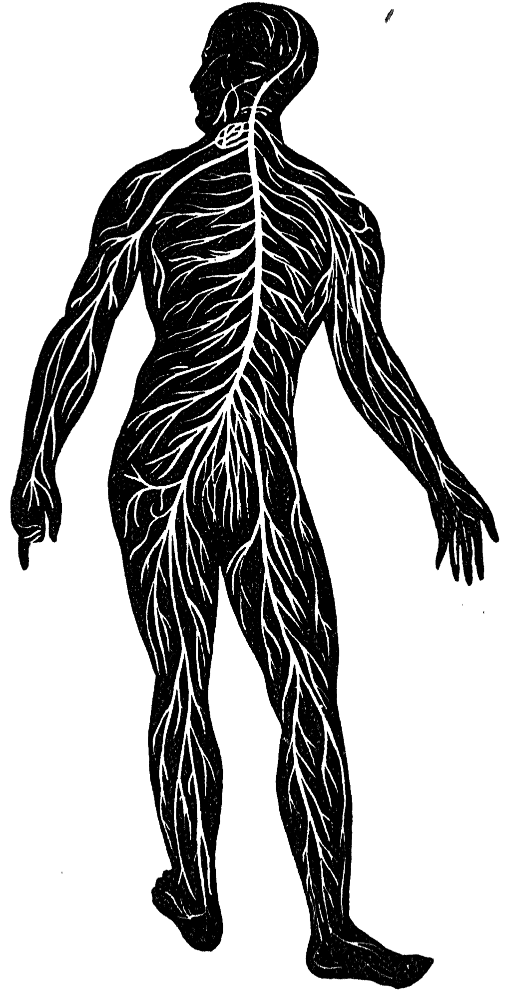
पराहम् के दो पक्ष होते हैं: एक अहम्-आदर्श और दूसरा विवेक। बच्चे का अहम्-आदर्श मां-बाप के नैतिक मापदंडों को ग्रहण करने से बनता है। मां-बाप अपने नैतिक मापदंडों के अनुसार अच्छा आचरण करने पर बच्चे को पुरस्कृत कर उसका अहम्-आदर्श बनाने में सहायता देते हैं। रोज नहाने पर अगर बच्चे को पुरस्कार मिले, तो नहाना उसका अहम्-आदर्श बन जायेगा। विवेक का निर्माण बच्चे के अंदर तब होता है, जब उसे किसी बुरे काम के लिए दंड मिलता है। मां-बाप के नैतिक मापदंडों के अनुसार अच्छा आचरण बच्चे के अहम्-आदर्श को और बुरा आचरण विवेक को निर्मित करता है।

पुरस्कार पाने से सुख मिलता है, जिससे तनाव कम होता है। दंड मिलने पर दुख होता है, जिससे तनाव पैदा होता है। दंडजन्य तनाव से बचने के लिए बच्चों को मां-बाप और बड़ों की इच्छा के अनुकूल और वयस्कों को समाज द्वारा अनुमोदित ढंग से व्यवहार करना पड़ता है। पुरस्कार और दंड दो तरह के होते हैं: भौतिक और मनोवैज्ञानिक। भौतिक पुरस्कार से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। बच्चे को खिलौना या मिठाई देना भौतिक पुरस्कार और भाषा या मुखमुद्रा द्वारा समर्थन प्रकट करना या प्यार करना मनोवैज्ञानिक पुरस्कार होता है। शारीरिक पीड़ा पहुंचाना, कोई चीज छीन लेना या न देना भौतिकदंड और डांटना, प्यार न करना या घृणाभाव दिखाना आदि मनोवैज्ञानिक दंड होता है।

पराहम् का काम हमारी उन चंचल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को नियंत्रित करना होता है, जिनमें सामाजिक या नैतिक व्यवस्था भंग होने का खतरा रहता है। वे प्रवृत्तियां

मुख्यत: यौन और युयुत्सा हैं। पराहम् हम पर आंतरिक नियंत्रण लगाकर हमें उच्छृंखल होने से रोकता है। ऐसा करने के लिए पराहम् भी पुरस्कार और दंड का सहारा लेता है। पराहम् के पुरस्कार का रूप अभिमान, और दंड का रूप पाप या हीनता की भावना होता है। अच्छा काम करने पर हमें अभिमान होता है, जो हमें पराहम् द्वारा दिया गया पुरस्कार होता है। जघन्य काम करनेवाले के मन में अपने काम के प्रति लज्जा, घृणा और पश्चाताप की भावना पैदा होती है, जो उसे पराहम् द्वारा दिया गया दंड होता है। इस प्रकार पराहम् हमारे अंदर निहित परंपरागत आदर्शों और नैतिक मूल्यों का संरक्षक होता है। (दे० 'अहम्' और 'इड')

परिधीय तंत्रिका तंत्र : शरीर की सारी परिधि में तंत्रिकाओं का एक जाल-सा फैला रहता है, और प्रत्येक तंत्रिका मेरुरज्जु और मेरुरज्जु द्वारा केंद्रीय तंत्रिकातंत्र से संपर्क रखती है। तंत्रिकाओं का निर्माण जिन कोशिकाओं से होता है, उन्हें न्यूरोन कहा जाता है। (दे० न्यूरोन।) ➔



परिवर्तन-हिस्टीरिया : किसी दमित मनोग्रंथि की रागात्मक शक्ति जब विस्थापित न होकर किसी प्रभावकीय द्वार द्वारा अभिव्यक्त होने लगे, तो इसे परिवर्तन-हिस्टीरिया कहा जाता है; क्योंकि यहां मनोवैज्ञानिक राग शारीरिक लक्षण में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन-हिस्टीरिया का शारीरिक लक्षण दमित मनोग्रंथि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होता है और यह दमित इच्छा की परोक्ष रूप से तृप्ति करता है। व्यक्ति हिस्टीरिया के लक्षणों से चिंतित न होकर उनके प्रति इसलिए उदासीन रहता है कि वे वास्तव में उसकी इच्छा की पूर्ति की रक्षा-युक्तियां होते हैं। गत्यात्मक दृष्टि से व्यक्ति हिस्टीरिया के लक्षणों का उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए करके रोग के बहाने से असमर्थ बनकर दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर उनकी सहानुभूति पाना चाहता है। इससे हिस्टीरिया के लक्षणों और मानसिक द्वंद्व का मनोवैज्ञानिक संबंध स्पष्ट है।

परिवर्त्य : मनोवैज्ञानिक प्रयोग में वे परिस्थितियां, जिनको प्रयोगकर्ता किसी नियम या योजना के अनुसार परिवर्तित करता है और जिनके परिवर्तन के परिणाम को देखना प्रयोग का उद्देश्य होता है। जिस पर प्रयोग किया जा रहा हो, उस पात्र की मानसिक या शारीरिक प्रतिक्रियाओं को 'आश्रित परिवर्त्य' कहा जाता है। पात्र की प्रतिक्रियाओं को प्रभावित करनेवाली शारीरिक दशाओं या अन्य उद्दीपनों को 'निराश्रित परिवर्त्य' कहा जाता है। निराश्रित परिवर्त्य बहुत-से होते हैं और उनमें से प्रत्येक का आश्रित परिवर्त्य पर अलग-अलग क्या प्रभाव पड़ता है--इसे

जानने के लिए बारी-बारी से केवल एक निराश्रित परिवर्त्य में परिवर्तन किया जाता है और शेष निराश्रित परिवर्त्यों को स्थायी रखा जाता है। फिर परिवर्तित किये जानेवाले हर निराश्रित परिवर्त्य का आश्रित परिवर्त्य पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे लिख लिया जाता है। बाद में तुलना करके यह देखा जाता है कि किस निराश्रित परिवर्त्य का आश्रित परिवर्त्य पर ज्यादा प्रभाव पड़ा है। ज्यादा प्रभाव डालनेवाले निराश्रित परिवर्त्यों का आश्रित परिवर्त्य से ज्यादा घनिष्ठ संबंध होता है।

परिवेश : प्रत्येक प्राणी हर समय किसी न किसी समस्या से परिवेष्टित या घिरा रहता है। इसलिए वैज्ञानिक भाषा में समस्याओं की उपस्थिति को परिवेश कहा जाता है। परिवेश के दो पक्ष होते हैं : आंतरिक और बाह्य। प्राणी के शरीर के अंदर जो शक्तियां काम करती हैं, वे उसका आंतरिक परिवेश होती हैं और जिन शक्तियों का दबाव प्राणी पर बाह्य जगत से पड़ता है, वे उसका बाह्य परिवेश होती हैं। प्राणी को प्रतिक्षण इन दोनों परिवेशों की शक्तियों से संघर्ष करके अपना संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता पड़ती रहती है; क्योंकि संतुलन के भंग होते ही जीवन में व्यक्तिक्रम और अव्यवस्था आ जाती है।

प्राणी और परिवेश में घनिष्ठ संबंध होता है। प्राणी अपनी रक्षा के लिए कठोर परिवेश से या तो बचने की चेष्टा करता है, या अपने हित के लिए परिवेश से लड़ता है और उसे बदलकर अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करता है। परिवेश एक तरह की शक्ति या दबाव होता है, जो प्राणी को कुछ न कुछ करने को विवश करता रहता है। परिवेश के विवश कर देने से ही प्राणी व्यवहार करता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणी पूरी तरह से परिवेश के हाथ का कठपुतला होता है। निस्संदेह वह एक सीमा तक परिवेश पर अधिकार कर सकता है, उसमें रूप-परिवर्तन कर सकता है, किंतु उसकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता। परिवेश पर अधिकार करके उसे अपने अनुकूल बना लेना उसे मिटा देना नहीं है। परिवेशजन्य परिस्थितियां सदा रही हैं और रहेंगी। हां, उनका रूप बदलता रहा है और बदलता रहेगा।

पशु-मनोविज्ञान : मनोविज्ञान का एक अध्ययन-क्षेत्र, जिस में पशुओं से संबंधित विशेष समस्याओं, जैसे, प्रतिवर्त क्रियाओं और सीखने के प्रकारों का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के व्यवहार में बड़ी जटिलता होती है, जिससे उसे समझने में कठिनाई पड़ती है। व्यवहार का अपेक्षाकृत सरल रूप पशुओं में मिलता है और यदि पहले व्यवहार के सरल रूप को समझ लिया जाये, तो व्यवहार के जटिल और अधिक विकसित रूप को अच्छी तरह से समझ सकने में कुछ आसानी हो सकती है। पशु-मनोविज्ञान में पशुओं का अध्ययन इसी दृष्टिकोण से किया जाता है। पशु-मनोविज्ञान एक साधन है, साध्य नहीं। मनोविज्ञान का साध्य तो केवल मनुष्य के व्यवहार को समझना होता है और उसे समझने में पशु-मनोविज्ञान की खोजों से काफी सहायता मिलती है, इसलिए पशु-मनोविज्ञान को तुलनात्मक मनोविज्ञान भी कहा जाता है।

पार्किंजे-घटना : दिन में हमारी आंख 550 मिलीमाइक्रोन के आसपास का प्रकाश अच्छी तरह देख सकती है और रात में 510 मिलीमाइक्रोन के आसपास का। तेज धूप में से अंधेरे कमरे में जाने पर थोड़ी देर तक कुछ दिखायी नहीं पड़ता। धूप में शंकु क्रियाशील रहते हैं और शलाकाएं निष्क्रिय। अंधेरे में आने पर शंकु निष्क्रिय हो जाते हैं और शलाकाएं क्रियाशील होने लगती हैं। तेज प्रकाश से एकाएक अंधेरे में आने पर शलाकाओं को क्रियाशील होने में जितनी देर लगती है, उतनी देर तक अंधेरे में कुछ दिखायी नहीं देता। शलाकाओं की क्रियाशीलता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अंधेरे में दिखायी देने लगता है। इसको अंधकार-अनुकूलन कहते हैं। इसी प्रकार अंधेरे कमरे में से चमचमाती धूप में जाने पर आंखें चौंधिया जाती हैं और जब तक शंकु क्रियाशील नहीं हो जाते, हमें वस्तुएं दिखायी नहीं देतीं। शंकुओं के पूरी तरह से क्रियाशील हो जाने पर ठीक से दिखायी देने लगता है। इसे प्रकाश-अनुकूलन कहते हैं। प्रकाश-अनुकूलन में आंख की संवेदनशीलता 550 मिलीमाइक्रोन रहती है और अंधकार-अनुकूलन में 510 मिलीमाइक्रोन। आंख की संवेदनशीलता के इस परिवर्तन का पता पार्किंजे ने लगाया था, जिनके नाम पर संवेदनशीलता के इस परिवर्तन को पार्किंजे घटना कहा जाता है।

पीयूष-ग्रंथि : यह ग्रंथि सिर में स्थित होती है और शारीरिक

वृद्धि तथा विकास और अन्य अंतःस्रावी ग्रंथियों की क्रियाओं को नियंत्रित करती है। इसके तीन भाग होते हैं। पृष्ठभाग हड्डियों और पेशियों के विकास को नियमित करता है और साथ ही साथ कामांगों के विकास को भी उत्तेजित करता है। पृष्ठ भाग के निष्क्रिय होने से व्यक्ति बौना बन जाता है और उसका काम-विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता। बचपन में पृष्ठभाग के अधिक सक्रिय होने से व्यक्ति बेहद लंबा बन जाता है।

पुंस्पृहा : हीनता या अपूर्णता के अनुभव के कारण श्रेष्ठ या पूर्ण बनने की इच्छा के लिए एडलर द्वारा प्रयुक्त किया गया शब्द। स्त्री को सामान्य रूप से अपूर्ण और हीन समझा जाता है और पुरुष को पूर्ण और श्रेष्ठ। इसलिए पुरुषोचित बनने की इच्छा पूर्णता और श्रेष्ठता को पाने की सूचक है। पुंस्पृहा अधिकतर स्त्रियों में पायी जाती है, किंतु वह कमजोर और हीन पुरुषों में भी हो सकती है। पुंस्पृहा की अभिव्यक्ति कठोरतापूर्ण व्यवहार या स्वेच्छाचारिता द्वारा होती है। स्त्रियों में पुरुषों के आधिपत्य से बचने के लिए शादी न करना पुंस्पृहा की ही अभिव्यक्ति होती है।

पुनःस्मरण : प्राणी जो कुछ सीखता है, उसका पुनःस्मरण किसी न किसी रूप में अवश्य कर सकता है। बचपन में याद की गयी कविताओं का थोड़ा-बहुत पुनःस्मरण किया जा सकता है। पुनःस्मरण अर्जित कुशलताओं को धारण कर सकने का एक प्रमाण है। पुनःस्मरण करने की शक्ति लोगों में एक-सी नहीं होती। कोई लंबे नामों का पुनःस्मरण कर सकता है और कोई नहीं।

यद्यपि पुनःस्मरण सीखी गयी बातों को धारण करने का संकेत करता है, किंतु पुनःस्मरण धारण किये जाने की निश्चित परीक्षा नहीं है। हो सकता है, कोई व्यक्ति किसी सीखी हुई बात का पुनःस्मरण न कर सके, किंतु इससे यह साबित नहीं होता कि वह व्यक्ति सीखी हुई बात को धारण नहीं कर सका है। यों तो पुनःस्मरण उद्दीपन की अनुपस्थिति में ही किया जाता है, किंतु पुनःस्मरण कर सकने के लिए किसी अन्य उद्दीपन के संकेत की आवश्यकता होती है। पुनःस्मरण करने के बहुत से संकेत आंतरिक होते हैं। शारीरिक कष्ट में जीवन की दुखद घटनाओं या किसी की सेवा की याद आना पुनःस्मरण का आंतरिक संकेत है। कभी-कभी एक अनुभव के प्रसंग में अनेक अनुभवों का अपने-आप पुनःस्मरण होने लग जाता है। जब हम किसी घनिष्ठ मित्र को अपनी रामकहानी सुनाने लगते हैं, तो प्रसंगवश ऐसी-ऐसी बातों का पुनःस्मरण होने लग जाता है, जो शायद चेष्टा करने पर भी याद नहीं आतीं।

जिन अनुभवों के साथ हमारा संवेगात्मक संबंध जुड़ जाता है, उनका पुनःस्मरण बड़ी आसानी से किया जा सकता है। सुखद अनुभव दुखद अनुभवों की अपेक्षा ज्यादा समय तक याद रहते हैं। जो अनुभव हमारी मनोवृत्ति के अनुकूल होते हैं, वे जल्दी और अच्छी तरह याद हो जाते हैं।

कुछ उद्दीपनों का प्रभाव पुनःस्मरण में बाधक बनता है। डर के कारण बहुत-सी बातों का समय पर पुनःस्मरण नहीं हो पाता। कुछ लोग सभाओं में बोलते समय इतना घबरा जाते हैं कि वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उसका ठीक से पुनःस्मरण नहीं कर पाते। चिंतित होने पर भी पुनःस्मरण में बाधा पड़ती है। एक ही प्रकार की दो वस्तुओं के साथ-साथ ध्यान में आ जाने पर भी पुनःस्मरण में बाधा पड़ती है। आपने अनेक बार अनुभव किया होगा कि कभी-कभी कोई बात जुबान पर आकर ही रह जाती है।

पुनरनुबंधन : किसी अनुबंधित प्रतिक्रिया के उन्मूलन का एक उपाय। पुनरनुबंधन द्वारा जिस उद्दीपन से पहले अनुबंधन किया जा चुका है, उस उद्दीपन से प्राणी का ऋणात्मक समायोजन कराया जाता है। जब कोई पहले-पहले किसी कारखाने या बाजार के पास रहता है, तो वहां के शोरगुल से परेशान रहता है, किंतु धीरे-धीरे उसका उस शोरगुल से ऋणात्मक समायोजन हो जाता है और वह शोरगुल से परेशान नहीं होता। घोड़ा शुरू-शुरू में अपने मुंह में लगाम नहीं लगाने देता, किंतु धीरे-धीरे उसका लगाम के प्रति ऋणात्मक समायोजन कर दिया जाता है और तब वह लगाम लगाने देता है।

पूर्णतः और खंडशः सीखना : सीखने की सामग्री को दो तरह से सीखा जा सकता है, या तो पूरी सामग्री को एकदम से या फिर थोड़ा-थोड़ा करके। प्रश्न यह उठता है कि सामग्री को पूर्णतः सीखने से ज्यादा कुशलता आती है या प्रत्येक

अभ्यास में उसे खंडशः सीखने से ? मान लीजिए, आप भूलभुलैया सीख रहे हैं। आप या तो प्रत्येक अभ्यास में पूरी भूलभुलैया सीखने की कोशिश कर सकते हैं या भूल-भुलैया के चार खंड करके प्रत्येक खंड को बारी-बारी से सीख सकते हैं। सीखने के इन दोनों ढंगों में से कौन ढंग अच्छा है ? किस ढंग से सीखने में कम समय में अधिक कुशलता आ सकती है ?

सामग्री को पूर्णतः या खंडशः सीखने पर किये गये प्रयोगों मे इस बात पर कोई निश्चित प्रकाश नहीं पड़ता कि सीखने के लिए कौन-सा ढंग ज्यादा अच्छा है। बहुत से लोगों को एक ही काम पूर्णतः और खंडशः सिखाकर जब उनके सीखने के परिणाम की तुलना की गयी, तो भी दोनों ढंगों की सापेक्ष उत्तमता सिद्ध नहीं हो सकी। कुशाग्र-बुद्धि लोगों के लिए पूर्णतः सीखना अच्छा रहता है। वुडवर्थ ने सामग्री को पूर्णतः और खंडशः सीखने पर किये गये प्रयोगों का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है :

"सामग्री को पूरा सीखने की अपेक्षा उसके खंड करके, उन्हें बारी-बारी से सीखना आसान पड़ता है। खंडशः सीखने में व्यक्ति समस्या से अपना संतुलन भलीभांति कर लेता है। खंडशः सीखी गयी कुशलता का कुछ अंश पूर्णतः सीखने के समय रहता है। किंतु खंडों को एक साथ श्रृंखलाबद्ध करने में व्यक्ति को और परिश्रम करना पड़ता है। हो सकता है कि खंडशः सीखने से शक्ति और समय की बचत होती हो, किंतु यह सीखने की सामग्री की कठिनता और व्यक्ति के सीखने के कौशल पर निर्भर है। यदि व्यक्ति पूरी सामग्री को सीखने के लिए अपना पर्याप्त संतुलन कर सकता है, तो वह सामग्री को पूर्णतः सीखने के प्रयत्नों से कम समय में अधिक कुशलता प्राप्त कर सकता है। किसी व्यावहारिक स्थिति में सामग्री को पूर्णतः सीखना ही अच्छा होता है, किंतु यदि किसी विशेष बात को सीखना हो, तो उसके किसी खंड पर एकाग्र हो सकने में स्वतंत्र रहना चाहिए।"

पूर्वलक्षी प्रावरोध : किसी बात को याद कर लेने के तत्काल बाद होनेवाली नयी मानसिक क्रिया उस बात को भुला देने में सहायक बनती है। पुरानी याद की गयी बातों पर नयी मानसिक क्रिया के पड़नेवाले प्रभाव को पूर्वलक्षी प्रावरोध कहा जाता है; क्योंकि उससे पहले की याद की गयी बातों का पुनःस्मरण करते समय प्रावरोध होता है। यह प्रावरोध नयी क्रिया द्वारा पुरानी याद की गयी बात में बाधा डालने से होता है। नयी और पुरानी बातों में जितनी समानता होती है, उनके पुनःस्मरण में उतना ही प्रावरोध होता है और दोनों पर नये और पुराने साहचर्यों के संघर्ष का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है। अगर पुरानी बातें सुखद हों और उनकी दृढ़ स्थापना हो चुकी हो तो नयी मानसिक क्रिया का पूर्वलक्षी प्रावरोध उन पर बहुत कम पड़ता है।

पेरानोइया : (दे० व्यामोह)

प्रक्षेपण : अपने अंदर सक्रिय किसी असहनीय उद्देश्य, इच्छा या कामना का आश्रय किसी दूसरे व्यक्ति को बना देना प्रक्षेपण कहलाता है। प्रक्षेपण अक्सर आत्म-प्रत्याख्यान की भावना का किया जाता है। जिस भावना का प्रक्षेपण किया जाता है, वह व्यक्ति के अंदर ही उत्पन्न होती है, किंतु वह उसे स्वीकार नहीं करता और यह समझने लगता है कि वह भावना उसके अंदर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जबर्दस्ती उत्पन्न करायी जा रही है। व्यक्ति को प्रक्षेपण की भावना का गुणात्मक अनुभव होता है।

प्रक्षेपण द्वारा हम अपनी किसी दुखमयी भावना से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं। प्रक्षेपण अवांछित बातों का ही किया जाता है। प्रक्षेपण अहम्-जन्य होता है। हम अपनी अपराध-भावना को, नैतिक दुर्बलता को, या अपने किसी अभाव को प्रक्षेपित करते हैं। हम उसी बात का प्रक्षेपण करते हैं, जो हमारे अहम् को असहनीय या आघात पहुंचानेवाली होती है। प्रक्षेपण कभी-कभी किसी गौण प्रतिक्रिया का रूप भी ले लेता है। ऐसी स्थिति में हमारी प्रमुख प्रतिक्रिया का या तो दमन हो सकता है या आत्म-प्रत्याख्यान। दमन द्वारा बात तो दब जाती है, किंतु उसका रागात्मक पक्ष नहीं दब पाता। वह रागात्मक पक्ष दुखदायी बन जाता है और हमें प्रक्षेपण करने को विवश कर देता है।

प्रक्षेपी प्रविधियां : मनोविज्ञान का लक्ष्य जन्मजात, अर्जित और गत्यात्मक पक्ष के आधार पर निर्मित होनेवाले व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक संगठन को समझना होता है।

व्यक्ति के उद्देश्यात्मक संगठन को व्यवहार के माध्यम से समझा जाता है और उसके लिए मनोविज्ञानियों ने कुछ विशेष उपायों का आविष्कार किया है। इन उपायों द्वारा व्यक्ति के सामने एक ऐसी स्थिति रख दी जाती है, जिससे व्यक्ति को अपने उद्देश्यात्मक संगठन का अपने से बाहर प्रक्षेपण करने का अवसर मिलता है, इसीलिए इन उपायों को प्रक्षेपी प्रविधियां कहा जाता है। प्रक्षेपी प्रविधियों में कार्य को गलत या सही बतानेवाले प्रश्नोत्तर नहीं होते, किंतु एक नवीन स्थिति होती है, जिससे व्यक्ति के व्यवहार की उद्देश्यात्मक विशेषताओं का पता चलता है।

आपने सिनेमा देखा होगा। सिनेमा के सफेद पर्दे पर रील का प्रक्षेपण कराया जाता है। अगर सफेद पर्दा न हो, समतल न हो और अगर उस पर पहले से ही कुछ बना हो तो रील द्वारा पर्दे पर जो चित्र प्रक्षेपित किये जायेंगे, वे ठीक से दिखायी नहीं पड़ेंगे। इसी प्रकार प्रक्षेपी प्रविधियों द्वारा व्यक्ति भी अपना प्रक्षेपण करता है। इसलिए उन स्थितियों को जिन पर वह प्रक्षेपण कर रहा हो, सिनेमा के पर्दे की भांति अर्थशून्य होना चाहिए, क्योंकि तभी व्यक्ति के प्रक्षेपण को अच्छी तरह देखा जा सकता है। इसीलिए प्रक्षेपी प्रविधियों में ऐसी स्थितियों का प्रयोग किया जाता है जो व्यक्ति के लिए अर्थशून्य होती हैं। रेत पर बने पगचिह्नों से जिस प्रकार विभिन्न पशुओं का आनुमानिक ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार प्रक्षेपी प्रविधियों से व्यक्ति की मानसिक और रागात्मक प्रतिक्रियाओं की विशेषताओं और उसकी मनोवैज्ञानिक शक्ति के प्रवाह की दिशा का पता लगाया जा सकता है।

मनोविज्ञान में प्रचलित बुद्धि, अभिवृत्ति, उपलब्धि, निष्पादन आदि परीक्षणों के विपरीत प्रक्षेपी प्रविधियों से व्यक्ति की किसी विशेष योग्यता की परीक्षा की जाती है। प्रक्षेपी प्रविधियों द्वारा अपसामान्य व्यक्तित्व और असंतुलित व्यवहार के कारणों को जानने में बड़ी सहायता मिलती है। प्रक्षेपी प्रविधियों के अनेक रूप प्रचलित हैं, किंतु उनमें से प्रमुख हैं रोर्शाक मस्याकृति और कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण।

प्रतिक्रिया : अपने परिवेश से किसी उद्दीपन के मिलने पर प्राणी जो कुछ करता है, उसे मनोवैज्ञानिक भाषा में प्रतिक्रिया कहा जाता है। परिवेश प्राणी को उद्दीपन देता है और प्राणी उस उद्दीपन के प्रति कोई न कोई प्रतिक्रिया करता है।

प्रतिक्रिया में कुछ न कुछ आयास रहता है। जिस काम में आयास न हो, उसे प्रतिक्रिया नहीं कहा जा सकता। प्रतिक्रिया को केवल कर्मेंद्रियों तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। पक्षियों का कलरव सुनना, किसी चीज को देखकर बीती बातों का याद आ जाना, खिले फूलों को देखकर प्रसन्न होना भी प्रतिक्रियाएं हैं।

प्रतिक्रिया उद्दीपन पर निर्भर अवश्य होती है, किंतु पूरी तरह से नहीं। प्रतिक्रियाओं में उद्दीपन के अतिरिक्त अन्य बातों की प्रधानता भी रहती है। बीस प्राणी एक ही उद्दीपन के प्रति बीस तरह की प्रतिक्रियाएं करते हैं। प्रतिक्रियाएं हमारी आदतों, रुचियों, संस्कारों और शिक्षा आदि स्थायी विशेषताओं पर आधारित होती हैं। इसलिए एक ही उद्दीपन के प्रति विभिन्न लोगों की प्रतिक्रियाओं में विविधता पायी जाती है।

प्रतिक्रिया पर हमारी आंतरिक अवस्था का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। खाना देखकर भूखे और अघाये व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं में बड़ा अंतर होता है। प्रतिक्रिया लक्ष्य पर भी निर्भर होती है। परीक्षा का समय निकट आने पर खेल-कूद में दिन-रात लगा रहनेवाला विद्यार्थी भी खेलना भूलकर पढ़ने में लग जाता है। परीक्षा में सफल होने का लक्ष्य उसकी प्रतिक्रिया को बदल देता है। इस प्रकार प्रतिक्रिया हमारी स्थायी विशिष्टताओं (आदतों, रुचियों, संस्कारों, शिक्षा आदि), हमारी आंतरिक अवस्था (क्रोध, घृणा, दुःख, हर्ष आदि) और हमारे लक्ष्य पर निर्भर करती है। प्रतिक्रिया में इन तीनों बातों में से समयानुसार किसी की भी प्रधानता रह सकती है।

प्रतिक्रिया-समय : उद्दीपन मिलने और प्रतिक्रिया होने के बीच जो समय लगता है, उसे प्रतिक्रिया समय कहा जाता है। कोई व्यक्ति किसी उद्दीपन के प्रति जल्दी प्रतिक्रिया करता है और कोई देर से। जिस व्यक्ति का प्रतिक्रिया-समय अपेक्षाकृत जितना कम होता है, उसकी कार्य-कुशलता उतनी ही ज्यादा होती है।

प्रतिक्रिया-समय के व्यक्तिगत अंतर का अध्ययन करने के लिए मनोविज्ञानियों ने अनेक प्रयोग किये हैं।

प्रयोगों से यह पता चला है कि प्रतिक्रिया का समय अवधान की दिशा के अनुसार बदलता रहता है। व्यक्ति का ध्यान यदि उद्दीपन पर ज्यादा लगा हो और प्रतिक्रिया पर कम, तो प्रतिक्रिया-समय बढ़ जाता है और यदि प्रतिक्रिया पर ज्यादा लगा हो, तो प्रतिक्रिया-समय घट जाता है। सौ गज की दौड़ में भाग लेनेवालों में जो तमंचे की आवाज की ओर ज्यादा ध्यान रखते हैं, उनका प्रारंभ बिगड़ जाता है और जो दौड़ने पर अधिक ध्यान रखते हैं, उनका प्रारंभ अच्छा होता है।

प्रतिक्रिया-समय ग्राहकों पर भी निर्भर होता है। ठंड और स्पर्श का प्रतिक्रिया-समय बहुत कम होता है, प्रकाश का अधिक होता है। स्वाद और गंध के ग्राहकों का प्रतिक्रिया-समय सबसे ज्यादा होता है। प्रतिक्रिया-समय आयु के अनुसार भी बदलता है। बच्चों और बूढ़ों का प्रतिक्रिया-समय ज्यादा होता है; क्योंकि उनमें अवधान की कमी होती है।

प्रतिगमन : फिस्टर के शब्दों में "यदि आंतरिक या बाह्य संघर्षों से किसी प्रवृत्ति में बाधा पड़े, तो मानसिक शक्ति के प्रवाह की दिशा उलटी हो जाती है।" मानसिक शक्ति के प्रवाह की दिशा के उलट जाने को ही प्रतिगमन कहा जाता है। प्रतिगमन में मानसिक शक्ति का प्रवाह हमेशा बचपन की ओर हो जाता है, जिससे उसकी अभिव्यक्ति या तो बचकानी कल्पनाओं, अनुभवों या चेष्टाओं में होती है या बचपन के स्तर के व्यवहार में।

बचपन में मां-बाप के प्रति बच्चे के निश्चित स्थायीभाव होते हैं। वह मां-बाप को अपने से ज्यादा शक्तिशाली, श्रेष्ठ और सर्वज्ञ मानता है। वह यह भी जानता है कि उसका जीवन मां-बाप पर निर्भर है। मां-बाप उसे खिलाते-पिलाते हैं और हर तरह से उसकी रक्षा करते हैं। वही बच्चा जब वयस्क हो जाता है, तो मां-बाप के प्रति बचपन में बने उसके स्थायीभाव बदल जाते हैं। अब वह मां-बाप को न तो किसी तरह अपने से श्रेष्ठ मानता है (इसके अपवाद अवश्य होते हैं) और न उन पर निर्भर ही रहता है। युवावस्था में मां-बाप के प्रति उसकी अधिकांश प्रतिक्रियाएं बचपन की प्रतिक्रियाओं की उलटी हो जाती हैं। लेकिन अगर किसी कारणवश वह युवावस्था में भी मां-बाप के प्रति वही प्रतिक्रियाएं करने लग जाये, जो बचपन में किया करता था, तो यह प्रतिगमन का उदाहरण होगा।

प्रतिगमन दो प्रकार का हो सकता है: एक में तो व्यक्ति के बचपन के स्थायीभावों, रुचियों और प्रतिक्रियाओं का पुनरावर्तन होता है और दूसरे में व्यक्ति युवावस्था के स्तर की प्रतिक्रियाओं की जगह बचपन के स्तर की प्रतिक्रियाएं करने लगता है। प्रतिगमन का प्रभाव जब व्यक्ति की सारी प्रतिक्रियाओं पर पड़ने लग जाता है, तो उसे सामान्यीकृत प्रतिगमन, और जब किसी निश्चित उद्देश्य से संबंधित प्रतिक्रियाओं पर ही पड़ता है, तो उसे विशिष्ट प्रतिगमन कहा जाता है।

मैकडूगल ने प्रतिगमन का गत्यात्मक कारण डर में माना है। प्रतिगमन के हर उदाहरण के पीछे कारण रूप में डर अवश्य रहता है, चाहे वह मृत्यु का हो, चोट का हो, या आत्मसम्मान खोने का हो। प्रतिगमन द्वारा व्यक्ति अप्रकट रूप में अपने सामने किसी कठिनाई के न होने को प्रकट करता है और ऐसा करने के लिए वह उस कठिनाई से संबंधित हर प्रकार की प्रतिक्रिया करने से इनकार कर देता है। अतिशय प्रतिगमन में कभी-कभी किसी प्रतिक्रिया के साथ-साथ उस प्रतिक्रिया से संबंधित स्थायीभाव का पूरा कार्यात्मक अभाव हो जाता है।

प्रतिपूरक प्रतिक्रियाएं : प्रत्येक मनुष्य के जीवन की सार्थकता अन्य बातों की अपेक्षा प्रमुख रूप से अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा तथा अपने को दूसरों के समान समझ सकने में होती है। उसकी सारी प्रतिक्रियाओं के पीछे इन्हीं दो प्रमुख लक्ष्यों को प्राप्त करने का उद्देश्य रहता है। जब तक व्यक्ति अपने आपको निश्चित ढंग से सुरक्षित और अपनी ही उम्र और अपने समाज के लोगों के समान नहीं समझता, तब तक इन दो प्रमुख समस्याओं का उसके जीवन में बड़ा महत्त्व रहता है। जो व्यक्ति अपने तदात्मीकरण से गिर जाता है और अपने को दूसरों के समान समझ सकने में असफल रहता है, वह प्रतिपूरक प्रतिक्रियाएं करने लग जाता है। आत्म-तदात्मीकरण से गिर जाने पर उसके लिए उसके परिवेश की सार्थकता कम हो जाती है और वह अनेक प्रकार के अभावों का अनुभव करने लग जाता है।

प्रतिपूरक क्रिया व्यक्ति की स्वयंकृत स्थानापन्न क्रिया

होती है, जिसके द्वारा वह अन्य लोगों से अपनी समानता स्थापित करने की कोशिश करता है। अपने अंदर अनेक प्रकार के अभावों का अनुभव करने से वह अपने को किसी स्थिति के प्रति संतुलित ढंग से प्रतिक्रिया कर सकने में असमर्थ पाता है और अन्य किसी उपाय से आत्म-संतोष और दूसरों का समर्थन पाने की चेष्टा करता है। प्रतिपूरक क्रिया द्वारा व्यक्ति अपने अभाव के दुखदायी अनुभव से मुक्त होना चाहता है और अपने को सक्षम समझना चाहता है।

किसी क्रिया को तब तक प्रतिपूरक नहीं कहा जा सकता जब तक उसके उद्देश्य को न जान लिया जाये। झूठ बोलना या आत्म-प्रशंसा करना प्रतिपूरक हो भी सकता है और नहीं भी। इसे जानने के लिए पहले यह जान लेना होगा कि व्यक्ति के झूठ बोलने या आत्म-प्रशंसा करने का उद्देश्य क्या है।

जो लोग ज्यादा अंतर्मुखी होते हैं, वे प्रतिपूरक क्रियाएं दिवास्वप्नों द्वारा करते हैं। दिवास्वप्न किसी उद्देश्य के विस्थापन का परिणाम होते हैं। वे उद्देश्य या तो आत्म-निर्धारण संबंधी होते हैं या यौन संबंधी। ऐसे लोग जीवन से संघर्ष करके जिस सुख-संतोष को नहीं पा सकते, उसे वे अपने दिवास्वप्नो द्वारा पाने का उपक्रम करते हैं और इस प्रकार जीवन की कठिनाइयों से संभवत: अपना संतुलन करते रहते हैं।

प्रतिपूरक क्रियाएं बहिर्मुखी व्यक्ति भी करते हैं। लेकिन चूंकि उनका ध्यान सदा बहिर्मुखी बना रहता है, इसलिए जब तक उन्हें बताया न जाये, वे अपनी प्रतिपूरक क्रियाओं के प्रति सजग नहीं रहते। बहिर्मुखी व्यक्ति अपने आपको किसी बड़े या अमीर आदमी, बड़ी संस्था या किसी बड़े काम से संबंधित कर प्रतिपूरक क्रियाएं करते हैं।

यदि प्रतिपूरक प्रतिक्रिया एक हद के बाहर नहीं होती, तो वह व्यक्ति के प्रकृत व्यवहार के सामान्य स्तर की सहायक होती है। जिस व्यक्ति की परिस्थितियां उसकी वासनाओं को पूरा नहीं होने देतीं, उसे प्रतिपूरक प्रतिक्रिया द्वारा वासनाजन्य शारीरिक और मानसिक तनाव से कुछ मुक्ति मिलती है। नीरस काम करनेवाले लोग यदि लड़कियों के नख-शिख के बारे में बातें कर लेते हैं, तो उनकी नीरसता कुछ हद तक सरसता में बदल जाती है, जो उनके स्वास्थ्य के लिए जरूरी है।

प्रतिभाशाली : रचना, संगठन, आविष्कार या कला से संबंधित अत्यधिक उच्चस्तर की बौद्धिक योग्यता रखनेवाले व्यक्ति को प्रतिभाशाली कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धिलब्धि 180 या उससे ज्यादा होती है। मनोविश्लेषकों के अनुसार व्यक्ति अपने मानसिक संघर्षों से ही प्रेरित होकर प्रतिभाशाली बनता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति में उसकी दमित कामशक्ति का उदात्तीकरण हो जाता है, जिससे वह शक्ति उच्च कोटि के सर्जनात्मक कामों में लग जाती है, चाहे वे काम सामाजिक हों या कलात्मक।

प्रतिमा : प्रतिमा प्रतीकों का एक प्रकार होता है। उद्दीपनों के न होने पर उनकी जो प्रतिमाएं हमारे सामने आती हैं, वे हमारे पूर्व अनुभव पर आधारित होती हैं। अनुभव प्रतिमाओं का पूर्ववर्ती होता है। जिन उद्दीपनों का कभी अनुभव नहीं होता, मन में उनकी प्रतिमा भी नहीं बन सकती। प्रतिमाओं और अनुभव में यही भेद होता है कि प्रतिमा अनुभव की भांति वास्तविक, स्पष्ट और ध्रुव नहीं होती।

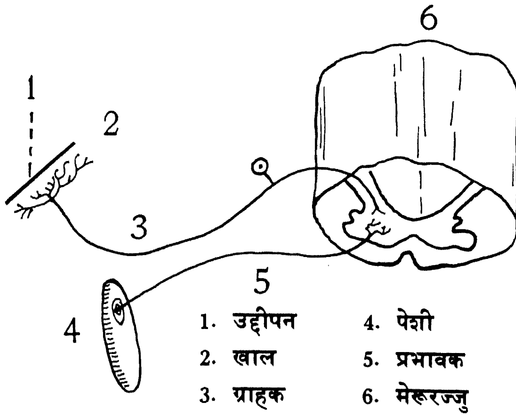
प्रतिवर्त क्रिया : उद्दीपन मिलने पर संवेदी न्यूरोन न्यूरोनीय प्रेरणा को प्रेरक न्यूरोन तक पहुंचा देता है, जिससे प्रतिक्रिया होती है। संवेदी न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रेरक न्यूरोनीय प्रेरणा में परिवर्तित हो जाना प्रतिवर्त क्रिया कहलाता है। प्रतिवर्त क्रिया संवेदी उद्दीपन के प्रति होनेवाली तात्कालिक पेशीय या ग्रंथिपरक प्रतिक्रिया होती है। प्रतिवर्त क्रिया अनैच्छिक होती है, उसे सीखना नहीं पड़ता। प्रतिवर्त क्रिया में मानसिक मध्यस्थता नहीं होती।

प्राणी का लगभग सारा शारीरिक व्यवहार प्रतिवर्त क्रियाओं से निर्मित होता है। प्रतिवर्त क्रियाओं पर प्राणी का कोई अधिकार नहीं होता। प्रतिवर्त क्रियाएं प्राणी की मूल प्रवृत्तियों की विशेषताओं का परिणाम होती हैं। प्रतिवर्त क्रिया उद्दीपन के अभाव में नहीं होती। जब तक तेज रोशनी नहीं आती, तब तक पलकें बंद नहीं होतीं। प्रतिवर्त क्रिया यंत्रवत् होती है। तेज रोशनी में पलकें यंत्रवत् बंद हो जाती हैं, उन्हें बंद करने के लिए सोचना नहीं पड़ता।

प्रतिवर्त चक्र : जब किसी पेशी में संकुचन होता है, तो वह पेशी अपने अंदर स्थित छोटे-छोटे बोधांगों को उत्तेजित

करती है। पेशी के ये बोधांग प्रेरक तंत्रिका द्वारा मेरुरज्जु से संबंधित होते हैं। पेशी के संकुचन से उत्पन्न होनेवाली प्रेरणा मेरुरज्जु में संप्रेषित होती है और अपने निर्गम के लिए मार्ग चाहती है और कोई अन्य मार्ग न मिलने पर उसी मार्ग की ओर प्रवाहित होने लगती है जो उसे लाने के समय पहले खुल चुका था। नतीजा यह होता है कि इस प्रकार पेशी का संकुचन अपने आप पुनर्शक्त होता है। पेशी के संकुचन का स्वतः पुनर्शक्त होते रहना ही प्रतिवर्त चक्र है। चाभियों के गुच्छे से खेलते रहना या पैर हिलाते रहना प्रतिवर्त चक्र के उदाहरण हैं।

प्रतिवर्त चाप : जब प्रतिवर्त क्रिया केवल एक संवेदी, एक संयोजक और एक प्रेरक न्यूरोन द्वारा ही होती है, तो



प्रतिवर्त चाप

प्रतिवर्त क्रिया के ऐसे द्वार को प्रतिवर्त चाप कहा जाता है। किसी उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया करने की यह साधारणतम पूर्ण व्यवस्था है।

प्रतिवर्त श्रृंखला : यदि न्यूरोनों में स्वतः क्रमिक संकुचन होता चला जाये, तो उसे प्रतिवर्त श्रृंखला कहा जाता है। प्रतिवर्त श्रृंखला साधारण प्रतिवर्त क्रियाओं की माला होती है, जिसकी हर क्रिया अपने बाद की क्रिया को प्रेरित करती जाती है। चलना प्रतिवर्त श्रृंखला का अच्छा उदाहरण है। फर्श को देखकर हमें चलने का उद्दीपन मिलता है, चलने का उद्दीपन पैर की पेशियों को उद्दीप्त करता है और पैर उठता है, पैर के उठने से शरीर असंतुलित हो जाता है और शारीरिक असंतुलन के कारण पैर को आगे रखने का उद्दीपन मिलता है, पैर के तलवे से फर्श का स्पर्श पैर की पेशियों में आवश्यक संकुचन कर देता है, जिससे पैर शरीर का भार संभाल ले। इसी प्रकार एक क्रिया तत्काल दूसरी क्रिया को प्रेरित करती रहती है। यही प्रतिवर्त श्रृंखला है।

प्रतीक : उद्दीपन की अनुपस्थिति में हमारे मन में उस उद्दीपन का कोई प्रतीक रहता है। प्रतीक किसी उद्दीपन का स्थानापन्न होता है। उद्दीपन के प्रतीक के प्रति वही प्रतिक्रिया की जाती है, जो वास्तविक उद्दीपन के प्रति की जाती है। उद्दीपन के अभाव में उस उद्दीपन के किसी प्रतीक के प्रति क्रिया कर सकने को प्रतीकात्मक क्रिया कहा जाता है। प्रतीकात्मक क्रिया का विकसित रूप मनुष्य के व्यवहार में मिलता है। बौद्धिक प्राणी होने से मनुष्य अपने व्यवहार में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से करता है। कल्पना करना, सोचना, तर्क करना आदि प्रतीकपरक क्रियाएं हैं।

प्रत्यक्ष : उद्दीपन मिलने पर अनेक ग्राहक क्रिया करते हैं और हर ग्राहक एक दूसरे से स्वतंत्र रहकर अपनी प्रेरणाओं से मस्तिष्क के अपने क्षेत्र को प्रभावित करता है। ये अनेक प्रेरणाएं मस्तिष्क में जाकर इकाई कैसे बन जाती हैं? किसी वस्तु को देखते समय हमें उसके अवयवों जैसे रंग, रूप, आकार आदि का ही संवेदन होता है। लाल रंग, गोल-सी शक्ल, किसी विशेष आकार आदि के संवेदनों के आधार पर हम किसी चीज को नारंगी क्यों कहते हैं? संवेदन तो हमें नारंगी के अवयवों का ही होता है, नारंगी का नहीं। न्यूरोनीय शक्ति की वह कौन-सी व्यवस्था है, जिससे हम कुछ विभिन्न संवेदनों के समूह को एक इकाई में संगठित कर उन्हें नारंगी कहते हैं?

शक्ति की उस व्यवस्था को, जिससे विभिन्न संवेदन एक इकाई में संगठित होकर अवयवी बन जाते हैं, प्रत्यक्ष कहा जाता है। रंग, आकार आदि नारंगी के विशेष अवयव होते हैं और यदि जानना नारंगी के इन्हीं विशेष अवयवों का संवेदन करने तक ही सीमित होता, तो हमें नारंगी का प्रत्यक्ष कदापि नहीं हो सकता। नारंगी अपने अवयवों

का जोड़ न होकर एक अलग सत्ता होती है, जिसे प्रत्यक्ष द्वारा ही जाना जा सकता है। प्रत्यक्ष विभिन्न संवेदनों का ऐसा संगठन है, जो संवेदनों के योग से विशिष्ट होता है। प्रत्यक्ष द्वारा हम अवयवों को न जानकर अवयवी को जानते हैं।

प्रत्यक्ष एक मानसिक क्रिया है, जिसके द्वारा विभिन्न संवेदन संगठित होकर अवयवी बन जाते हैं। संवेदन में केवल ग्राहक ही क्रियाशील होते हैं, मस्तिष्क नहीं। प्रत्यक्ष के समय मस्तिष्क क्रियाशील होता है, जिससे निर्विशेष संवेदन संगठित और व्यवस्थित होकर सविशेष बन जाते हैं। प्रत्यक्ष सविशेष संवेदन है। यदि हममें प्रत्यक्ष करने की शक्ति न होती, तो हमारा ज्ञान अत्यंत सीमित होता और अपने परिवेश से समायोजन करने की हमारी क्षमता बड़े निचले स्तर की होती। हम अन्य प्राणियों से इसीलिए श्रेष्ठ हैं कि हम अपनी प्रत्यक्ष-शक्ति द्वारा संवेदनों को नाम, रूप, गुण भेद से सविशेष बनाकर ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रत्यक्ष से संवेदन संगठित होते हैं और सार्थक बनते हैं।

प्रत्यक्ष-दोष : देखने में गलती हो जाना दैनिक अनुभव की मामूली-सी बात है। यदि दो आदमियों की लंबाई में दो-तीन इंच का अंतर हो, तो वह आसानी से पता चल जाता है, किंतु यदि अंतर आधा इंच का हो, तो मुश्किल पड़ती है। अंतर ज्यादा होने पर भेद कर लेना आसान होता है, कम होने पर कठिन। दो लंबी चीजों की तुलना करने या दो वस्तुओं के बोझ का अनुभव करने में यदि उनका अंतर बहुत कम हो तो गलती जरूर होती है। यदि अनेक लोगों को 50 मिली मीटर लंबी एक रेखा के नीचे उसी के बराबर 200 रेखाएं खींचने को कहा जाये, तो उनकी खींची हुई उन 200 रेखाओं में से कुछ 50 मिली मीटर से जरा बड़ी और कुछ जरा छोटी होंगी। किंतु उनकी विभिन्नता 45-55 मिली मीटर के भीतर ही होगी। यह उन लोगों का परिवर्तनीय प्रत्यक्ष दोष होगा। यदि हम उनमें से किसी की सारी रेखाओं की नाप के जोड़ को 200 से भाग दें, तो हमें उसके प्रत्यक्ष दोष का औसत पता चल जायेगा। यह औसत 50 मिली मीटर से जरा कम या जरा ज्यादा हो सकता है। इस औसत से हमें उस व्यक्ति के सतत् प्रत्यक्ष-दोष का पता चल जायेगा। संतत् प्रत्यक्ष-दोष अभ्यास द्वारा सुधारा या कम किया जा सकता है। परिवर्तनीय प्रत्यक्ष-दोष हमारी शरीर-रचना के परिणामस्वरूप होता है और उसे एक सीमा के बाहर नियंत्रित नहीं किया जा सकता।

प्रत्यय : प्रतीकों के एक प्रकार को प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्यय एक ही जाति के पदार्थों में पायी जानेवाली उनकी कोई व्यापक विशेषता होती है, जिसके आधार पर उस जाति के पदार्थों का अन्य जाति के पदार्थों से भेद किया जा सकता है। यदि दो पदार्थों में बहुत समानता हो, तो उनमें भेद कर पाना कठिन होता है। कोयल और कौए में अत्यधिक समानता होने से ही उनमें भेद कर पाना कठिन होता है। पदार्थों के प्रत्यय द्वारा हम एक-से उद्दीपनों के प्रति एक-सी प्रतिक्रिया करते हैं। भेड़िए को कुत्ता समझने पर हम भेड़िए के प्रति वही प्रतिक्रिया करेंगे, जो कुत्ते के प्रति करते हैं।

किसी जाति के पदार्थों का प्रत्यय बना चुकने के बाद उस प्रत्यय का सामान्यीकरण किया जाता है। सामान्यीकरण द्वारा उस जाति के हर पदार्थ में उसके विशिष्ट गुणों को पाने की आशा की जाती है। सामान्यीकरण का साधारण रूप अनुबंधन में मिलता है। दूध का जला छाछ में भी दूध के जला देनेवाले गुण का अनुचित सामान्यीकरण कर लेता है और छाछ को गर्म दूध की भांति फूंक-फूंककर पीता है।

यदि हम प्रत्ययों का सामान्यीकरण न करके भविष्य में किसी जाति के पदार्थों के प्रति वही प्रतिक्रिया करते रहें, जो पहले किया करते थे, तो हम अपने अनुभव से लाभ उठाने से वंचित हो जायेंगे और हमारा सारा अनुभव निरर्थक हो जायेगा। सामान्यीकरण न करने पर व्यवहार में एकरूपता और अविच्छिन्नता नहीं रह सकती।

किंतु प्रत्ययों को ध्रुव या अपरिवर्तनीय नहीं समझना चाहिए। अनुभव के विकास के साथ-साथ प्रत्यय बदलते रहते हैं। पहले जमीन को चपटा समझा जाता था, किंतु अब गोल समझा जाता है। जब सामान्यीकरण गलत हो जाता है, तो प्रत्ययों में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है।

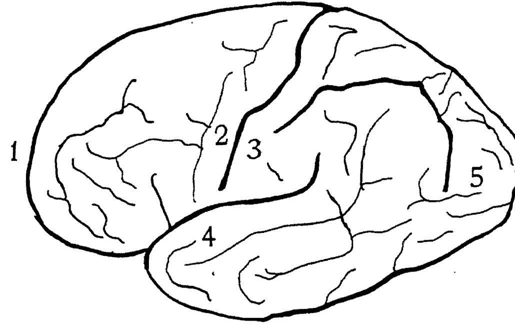
प्रभावक : उद्दीपन को ग्रहण करने पर प्राणी कुछ प्रतिक्रिया करता है। प्रतिक्रिया वह अपनी कर्मेंद्रियों (हाथ, पैर

आदि) द्वारा करता है। कर्मेंद्रियों द्वारा प्रतिक्रिया करके प्राणी परिवेश पर प्रभाव डालता है और परिवेश से अपने पहले के संबंध को बदल देता है। कर्मेंद्रियों को प्रभावक कहा जाता है; क्योंकि प्राणी उनके द्वारा परिवेश को प्रभावित करता है।

प्रभाव का नियम : प्रयत्न और त्रुटि द्वारा सीखने पर असफल प्रयत्न दिन-प्रतिदिन क्यों छूटते चले जाते हैं? क्या ऐसा उद्दीपन और प्रतिक्रिया के संबंध को जान सकने की क्षमता आ जाने से होता है? इन प्रश्नों की व्याख्या करने के लिए थार्नडाइक ने प्रभाव का नियम प्रतिपादित किया है। इस नियम के अनुसार सफलता की दिशा में जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनसे संतोष होता है और इसलिए उनका प्रभाव प्रतिक्रिया और न्यूरोनीय व्यवस्था के संबंध को दृढ़ बनाता है। असफल प्रयत्नों के प्रति खीझ पैदा होती है, जिससे उनका प्रभाव प्रतिक्रिया और न्यूरोनीय व्यवस्था के संबंध को दृढ़ नहीं बना पाता। बार-बार के प्रयत्नों से न्यूरोनीय व्यवस्था पर सफल प्रयत्नों की छाप पड़ती रहती है और ज्यों-ज्यों वह छाप गहरी होती जाती है, त्यों-त्यों असफल प्रयत्न अपने आप छूटते जाते हैं और एक दिन बिलकुल छूट जाते हैं।

प्रमस्तिष्क : प्रमस्तिष्क मनुष्य में बहुत बड़ा होता है। यह दो गोलार्द्धों में विभक्त होता है। बायीं ओर का गोलार्द्ध अधिकांश शरीर के दाहिने भागों और दाहिनी ओर का बायें भागों से संबंधित होता है। प्रमस्तिष्क का तल जगह-जगह से उभरा हुआ और घुमावदार होता है। इसके बाहर धूसर पदार्थ की एक परत होती है, जिसे वल्कुट कहते हैं। सारा प्रमस्तिष्क विभिन्न न्यूरोनों के ड्रेंड्रोनों और एक्जोनों में संयोजन करनेवाले संयोजक न्यूरोनों से निर्मित होता है। संयोजक न्यूरोनों से निर्मित होने के कारण प्रमस्तिष्क का मुख्य काम उद्दीपनों तथा प्रतिक्रियाओं में विभिन्न साहचर्यों को स्थापित करना, नयी विधियों का आविष्कार करना और क्रियाओं में ऐसे संशोधन करना होता है, जिन्हें चिंतन, कल्पना, तुलना और विश्लेषण करना कहा जाता है। धूसर पदार्थ के नीचे श्वेत पदार्थ होता है, जिस पर रक्तिम धब्बे पड़े होते हैं। श्वेत पदार्थ विभिन्न आकार के रेशों से निर्मित होता है। इन रेशों में उनके मार्ग और संबंधों के अनुसार तीन प्रकार का प्रबंध होता है। कुछ रेशे दोनों गोलार्द्धों के समान क्षेत्रों में संबंध स्थापित करते हैं। कुछ रेशे एक ही गोलार्द्ध में वल्कुट के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक साहचर्य रखते हैं और कुछ रेशे वल्कुट को मध्य मस्तिष्क और मेरुरज्जु से संबंधित करते हैं।

प्रमस्तिष्क में कापालिक तंत्रिकाओं में से केवल आंख और कान की तंत्रिकाएं ही होती हैं, अन्य कापालिक तंत्रिकाएं मध्य मस्तिष्क या मेरुरज्जु-शीर्ष में होती हैं। आंख को घुमाने, दृष्टि केंद्रित करने, मुखाकृति पर नियंत्रण करने तथा गर्दन की पेशियों को संचालित करने के लिए



प्रमस्तिष्क

1. अग्रपालि
2. क्रियावाहक केंद्र
3. त्वचीय संवेदन केंद्र
4. सुनना
5. देखना

अलग-अलग कापालिक तंत्रिकाएं होती हैं और वे परस्पर घनिष्ठ रहती हैं, जिससे शारीरिक स्वास्थ्य की झलक दृष्टि और स्वर में आ जाती है।

शरीर के सारे संवेदन प्रमस्तिष्क में आते हैं और सारी ऐच्छिक क्रियाएं यहीं से होती हैं। प्रमस्तिष्क गिलाफ चढ़े हुए अखरोट की तरह लगता है और मनुष्य की बौद्धिकता का रहस्य धूसर पदार्थ की घुमावदार परतों में ही छिपा रहता है। धूसर पदार्थ की कोशिकाओं में अनेक छोटे-छोटे कण होते हैं। ये कण मानसिक क्रियाओं से संबंधित होते हैं।

सारे संवेदन वल्कुट में संयुक्त, संश्लिष्ट और संशोधित

होते हैं। वल्कुट का काम संवेदनों को नाम, रूप, गुण आदि से सविशेष तथा सार्थक बनाना होता है। प्रत्येक स्थिति के साथ-साथ वल्कुट के साहचर्यों में संशोधन होता रहता है। किसी स्थिति के साहचर्यों के विकृत होने पर प्राणी को उस स्थिति के महत्त्व की अनुभूति नहीं होती। वाक्‌भ्रंश में रोगी बोलना भूल जाता है; क्योंकि बोलना सीखने से उसके वल्कुट में जो संशोधन हो चुके होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। किंतु फिर भी सीखने पर नया साहचर्य बन जाता है और बोलना आ जाता है।

प्रमस्तिष्क के उभरे हुए भागों के बीच बहुत-सी दरारें होती हैं। रोलैंडो और सिल्वियस नामक दो बड़ी दरारों के आधार पर प्रमस्तिष्क के चार भाग किये जाते हैं: पश्चपालि, पार्श्वपालि, शिखापालि और अग्रपालि। हमारे सारे मानसिक तथा शारीरिक व्यापार इन्हीं चारों पालियों से संबंधित होते हैं।

विज्ञानियों ने अपने अथक प्रयत्नों से अब यह मालूम कर लिया है कि मस्तिष्क की कौन-सी पालि किस व्यापार से संबंधित होती है। इसके लिए उन्होंने यह पता लगाया है कि कौन-सी तंत्रिका मस्तिष्क की किस पालि से संबंधित होती है। उन्होंने मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों के व्यवहार की परीक्षा से और पशुओं के मस्तिष्क की कोई पालि नष्ट करके व्यवहार पर उसके प्रभाव और वल्कुट के खोले गये किसी भाग पर बिजली का करेंट लगाकर शारीरिक क्रिया के निरीक्षण को अपनी खोजों के आधार बनाया है। इन खोजों के आधार पर यह पता चला है कि मस्तिष्क की पश्चपालि देखने का और सिल्वियस दरार के ठीक नीचे का क्षेत्र सुनने का केंद्र होता है। त्वचीय संवेदनों, जैसे, गर्मी, सर्दी, पीड़ा आदि का केंद्र रोलैंडो दरार के ठीक पीछे की ओर होता है, ठीक सामने का क्षेत्र प्रेरक केंद्र होता है, जहां के विभिन्न स्थल शरीर के विभिन्न अवयवों, जैसे, पेट, पीठ, सिर, कोहनी, कलाई, ओठ, कंधों, उंगलियों, पलकों, गालों, जबड़ों आदि की पेशियों से संबंधित होते हैं। बोलने का केंद्र दोनों गोलार्द्धों के बीच में होता है। स्वाद और सूंघने के क्षेत्रों का निश्चित रूप से तो पता नहीं लग पाया है, किंतु वे शायद दोनों गोलार्द्धों के बीच वल्कुट पर ही होते हैं।

विज्ञानी बहुत समय तक अग्रपालि का काम नहीं जान सके थे। किंतु कई रोगियों की जांच से, जिनके प्रमस्तिष्क की अग्रपालि नष्ट हो गयी थी, अब यह पता चल चुका है कि अग्रपालि मनुष्य और पशु में भेद करनेवाले गुणों का भौतिक आधार होती है। अग्रपालि के नष्ट होने पर मनुष्य बिना किसी शारीरिक विकृति के स्वस्थ तो रह सकता है, किंतु उसका चरित्र बिलकुल बदल जाता है। मेढकों और कबूतरों पर एक प्रयोग करके देखा गया तो पता चला कि अग्रपालि नष्ट कर दिये जाने पर भी वे तैरने, उड़ने और कूदने के योग्य तो रहे, किंतु जब तक उन्हें उत्तेजित नहीं किया जाता था, तब तक वे अपने आप कुछ नहीं कर पाते थे। उनका सारा व्यवहार मशीन की तरह हो जाता था। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि सारी ऐच्छिक क्रियाएं प्रमस्तिष्क की अग्रपालि पर निर्भर होती हैं। अग्रपालि के नष्ट होने पर पुरानी प्रतिवर्त क्रियाएं तो होती रहती हैं, किंतु नयी प्रतिवर्त क्रियाएं नहीं सीखी जा सकतीं।

प्रयत्न और त्रुटि : यह सीखने का एक प्रकार है और इसकी खोज का मूल ज्ञान-विज्ञान की महान से महान खोजों की भांति दैनिक जीवन के एक बहुत मामूली-से अनुभव में था। प्रसिद्ध वनस्पतिविज्ञानी लायड मार्गन अपने पालतू कुत्ते के साथ सबेरे टहलने जाया करते थे। टहलते समय कभी-कभी वे खिलवाड़ के लिए अपनी छड़ी कुत्ते के आगे फेंक देते थे। कुत्ता दौड़कर छड़ी अपने मुंह में दबाकर उठा लाता था। एक दिन टहलते-टहलते वे ऐसी जगह जा पहुंचे, जहां तारों का एक घेरा बना हुआ था। कौतूहलवश उन्होंने अपनी छड़ी तारों के घेरे के उस पार फेंक दी। घेरे में कुत्ते के उस पार निकल सकने भर के लिए एक छेद था। कुत्ता उस छेद से इधर आने लगा, किंतु छड़ी उसके मुंह में बीच से दबी होने के कारण वह छेद से नहीं निकल सका। कुत्ते ने बार-बार प्रयत्न किया कि वह छड़ी सहित छेद से निकल आये, किंतु हर बार उसका प्रयत्न विफल रहा। अकस्मात् उसने छड़ी के एक सिरे को मुंह से पकड़ा और इस बार वह छड़ी सहित छेद से निकल आने में सफल हो गया।

प्रश्न उठता है कि यदि छड़ी दुबारा घेरे के उधर फेंक दी जाती, तो क्या कुत्ता उसको फिर सिरे से पकड़कर छेद से निकल आता? क्या कुत्ते ने छेद से निकलने के लिए छड़ी को सिरे से पकड़ना सीख लिया था? इसके उत्तर के

लिए मार्गन नें छड़ी फिर घेरे के उधर फेंक दी। कुत्ता फिर छड़ी लाने में विफल रहा। स्पष्ट था कि उसने अपने पूर्व अनुभव से कुछ नहीं सीखा। बार-बार प्रयत्न करने और विफल रहने पर अकस्मात् उसने छड़ी फिर सिरे से पकड़ ली और छेद से इधर निकल आया। किंतु इस बार के प्रयत्न में उसे उतना समय नहीं लगा, जितना पहली बार के प्रयत्न में लगा था। शायद यह संयोगमात्र ही रहा हो। किंतु यह देखा गया कि दिन-प्रतिदिन कुत्ते की त्रुटियों और उसके सफल प्रयत्नों में समय का अंतर क्रमशः घटता रहा और एक दिन उसने एक बार भी त्रुटि न करके छड़ी को सिरे से पकड़कर छेद से निकल आना सीख लिया। इससे इस तथ्य का पता चला कि सीखने में प्रयत्न और त्रुटि का बड़ा महत्त्व है। इसके बाद से प्रयोगशालाओं में प्रयत्न और त्रुटि के अनेक प्रयोग करके सीखने से संबंधित बहुत-सी बातों की खोज की गयी।

प्रयोग : प्रयोग भौतिक विज्ञानों की सर्वमान्य प्रणाली है। प्रेक्षण के विपरीत प्रयोग में परिस्थितियों को पहले से ही निश्चित करके उनका अध्ययन नियंत्रित दशाओं में किया जाता है। प्रयोग में प्रयोगकर्ता का परिस्थितियों पर पूरा नियंत्रण होता है। प्रयोग करते समय अप्रासंगिक परिस्थितियों को हटा दिया जाता है, जिससे प्रासंगिक परिस्थितियों का परिवेश आदि से जो संबंध होता है, उसे ठीक से समझा जा सके। प्रयोग द्वारा प्रेक्षण से प्राप्त सामग्री सुनिश्चित बनती है और उसका अनुमोदन होता है।

मानसिक क्रियाओं पर प्राणी की भूख-प्यास या थकान आदि शारीरिक स्थितियों, सीखी गयी कुशलताओं और विभिन्न प्रकार के उद्दीपनों का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। प्रयोग में अन्य सब परिस्थितियों को अपरिवर्तनीय रखकर किसी एक परिस्थिति में नियमित ढंग से परिवर्तन किया जाता है। यदि परिणाम हर बार वही हो, जो पहली बार के परिवर्तन से हुआ था, तो सिद्धांत या मान्यता का समर्थन हो जाता है। प्रयोग की सत्यता का आधार यह है कि कुछ विशेष दशाओं में कोई विशेष घटना होगी और उसका वही परिणाम होगा, जो होता रहा है। प्रयोग शुरू करने के पहले प्राणी की शारीरिक या मानसिक स्थिति और पूर्व अर्जित कुशलताओं को अच्छी तरह जान लिया जाता है। इसके बाद बाह्य तथा आंतरिक उद्दीपनों को नियंत्रित किया जाता है।

बाह्य उद्दीपनों का नियंत्रण करने के लिए विशेष प्रकार के यंत्रों का सहारा लिया जाता है और प्रयोग ऐसे कमरे में किया जाता है, जिसमें बाहर के बाधा उद्दीपनों का प्रवेश न हो सके। आंतरिक उद्दीपनों का नियंत्रण करने के लिए प्राणी को खाना नहीं दिया जाता। पेट को निकाल लिया जाता है, जिससे उसकी क्रियाओं से अन्य क्रियाएं प्रभावित न हो सकें और मस्तिष्क से मेरुरज्जु का संबंध तोड़ दिया जाता है, जिससे मस्तिष्क शरीर के निचले भाग की प्रेरणाओं से प्रभावित न हो सके। उपर्युक्त आंतरिक नियंत्रण-अपेक्षित प्रयोग केवल पशुओं पर ही उन्हें पीड़ा के प्रति पहले से ही संज्ञाशून्य बनाकर किये जाते हैं। मनुष्यों पर ऐसे प्रयोग तभी किये जा सकते हैं, जब उनमें किसी दुर्घटना के कारण उपर्युक्त आंतरिक दशाएं अपने आप ही पैदा हो गयी हों।

प्रयोग को सफल बनाने के लिए मनुष्यों की प्रवृत्तियों पर भी नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ती है, जिससे उसकी किसी विशेष मनोवृत्ति के कारण प्रयोग दूषित न हो सके। इसके लिए व्यक्ति को पहले से ही सूचित कर दिया जाता है कि उसकी परीक्षा अमुक उद्देश्य से की जा रही है, जबकि वास्तविक परीक्षा का उद्देश्य कुछ और ही होता है। इस प्रकार प्रयोग पर व्यक्ति के मानसिक विन्यास का प्रभाव लगभग नहीं के बराबर ही पड़ता है। प्रयोग में जहां आनुवंशिक बातों के नियंत्रण की जरूरत होती है, वहां जुड़वां व्यक्तियों पर प्रयोग करना अपेक्षित होता है, यद्यपि जुड़वां व्यक्ति आसानी से नहीं मिलते।

प्रयोगात्मक प्रणाली से जितने अच्छे और निश्चित परिणाम भौतिक विज्ञानों को मिलते हैं, उतने मनोविज्ञान को नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों को एक सीमा के बाहर जड़ वस्तुओं की तरह नियंत्रित नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रयोग के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। प्रयोग की परिस्थितियों की पुनरावृत्ति इच्छानुसार की जा सकती है और अप्रासंगिक परिस्थितियों को हटाया जा सकता है। प्रयोग के निष्कर्षों को तत्काल लिखने से और उनकी तुलना करने से स्मृति और प्रेक्षण के भ्रमों से भी बचा जा सकता है। प्रयोग द्वारा शारीरिक या मानसिक क्रियाओं और भौतिक

उद्दीपनों के परिमाणात्मक संबंधों को भी ठीक से नापा जा सकता है।

प्राप्तांक : किसी परीक्षण या परीक्षणमाला में परीक्ष्यमान व्यक्ति द्वारा पाये गये या उसे दिये गये कुल अंक। किसी परीक्षण या मापन-साधन से मौलिक रूप से प्राप्त अंकों को मूल प्राप्तांक कहा जाता है। मूल प्राप्तांकों का सांख्यिकीय परिगणन नहीं किया गया होता, जैसे, गणित के किसी परीक्षण में हल की गयी समस्याओं की संख्या का।

अन्य प्राप्तांकों से निकाले गये प्राप्तांकों या मूल सामग्री के सांख्यिकीय परिगणन से मिले प्राप्तांकों को या किसी एक मापनी की इकाई से किसी दूसरी मापनी की इकाई में बदले गये प्राप्तांकों को व्युत्पन्न प्राप्तांक कहते हैं।

किसी भी ऐसे व्युत्पन्न प्राप्तांक को, जिसमें उसकी इकाई के रूप में मानक विचलन या उसके किसी अंश का प्रयोग किया जाता है, मानक प्राप्तांक कहते हैं। मानक प्राप्तांक जब सामान्य वितरण पर आधारित होते हैं, तो वे मूल प्राप्तांकों से तुलनीय न होने पर भी अनेक प्रयोजनों के लिए तुलनीय होते हैं। इस प्रकार मानक प्राप्तांकों से यह दिखाया जा सकता है कि कोई व्यक्ति संवेगात्मक दृष्टि से उतना स्थिर नहीं है, जितना कि वह बुद्धिमान है।

प्रावरोध : किसी आंतरिक या बाह्य शक्ति के कारण किसी क्रिया के न हो पाने या उस पर रोक लग जाने को प्रावरोध कहा जाता है। थकान, नींद, मूर्च्छा, संदेह, दुविधा, चिंतन आदि के समय न्यूरोनीय प्रेरणा के प्रवाह में प्रावरोध होता है और यह प्रावरोध न्यूरोनीय सामीप्य पर होता है। प्रावरोध में किसी उद्देश्य का स्थानांतरण होता है, जिससे आंतरिक रुकावट के बिना उस उद्देश्य से जिस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, वह नहीं हो पाती। जिस उद्देश्य का प्रावरोध किया जाता है, अगर वह वैसी ही स्थिति में दुबारा जाग्रत हो जाये, तो उस उद्देश्य को ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है और उससे उत्पन्न रागात्मकता का भी चेतन अनुभव होता है।

प्रावरोधी प्रतिक्रियाएं : दैनिक जीवन में विभिन्न ग्राहकों द्वारा हमें प्रति क्षण अनेक प्रकार के उद्दीपन मिलते हैं, जो एक साथ ही अनेक दिशाओं में काम करने की प्रेरणा देते हैं। हम किसी समय एक ही दिशा में काम करने की प्रेरणा देनेवाली विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रावरोध करते रहते हैं। यह प्रावरोध ग्राहकों के न्यूरोनीय सामीप्यों पर होता है, जिससे अनेक प्रतियोगी उद्दीपन हमारी न्यूरोनीय शक्ति के उस एकमार्गी प्रवाह में बाधा नहीं डाल पाते, जो किसी समय एक ही दिशा में काम करते रहने के लिए बहुत जरूरी होता है। प्रावरोध द्वारा किसी प्रवृत्ति को कार्य करने से रोका जाता है।

प्रावरोध के दो पक्ष होते हैं। प्रावरोध से एक ओर तो किसी प्रवृत्ति का प्रावरोध होता है और प्रावरोधजन्य शक्ति का व्यय करने के लिए उसके निर्गम का मार्ग बनाना पड़ता है। गुस्से का प्रावरोध कर लेने पर एक प्रकार का मानसिक तनाव पैदा हो जाता है, जिससे हमारा आंतरिक शारीरिक प्रबंध थोड़ी देर के लिए अव्यवस्थित बन जाता है। इस प्रकार उस तनाव से अपना संतुलन करने के लिए हमें उसके निर्गम के लिए कोई अहानिकर उपाय ढूंढ़ना पड़ता है। गुस्से को पी जाने की अपेक्षा उसे किसी अन्य रूप में प्रकट कर देना स्थिति के प्रति कहीं अधिक संतुलित व्यवहार करना होता है। गुस्से आदि से उत्पन्न होनेवाले शारीरिक तनाव को दूर न करने से घंटे-आधे-घंटे बाद सिरदर्द, कब्ज या थकान का अनुभव हो सकता है।

किसी उद्दीपन का प्रावरोध करने का अर्थ उसे सदा के लिए दबा देना न होकर भविष्य में उसके फिर जाग्रत होने की संभावना को बनाये रखना होता है। प्रावरोध की प्रतिक्रिया में हमें प्रावरुद्ध की जानेवाली प्रवृत्ति का ज्ञान रहता है और भविष्य में उसके जाग्रत होने पर हमें उस प्रतिक्रिया से उत्पन्न होनेवाला गुणात्मक (रागात्मक) अनुभव भी होता है।

अपने उद्देश्यों की अवरुद्ध शक्ति का उचित इस्तेमाल कर सकना सीखना पड़ता है। वैयक्तिक भेद के कारण अवरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल करना सीखना व्यक्तिगत स्थिति पर निर्भर करता है। जब प्रावरोध किया जाता है, तो उस प्रावरोध को करनेवाली चीज क्या होती है? प्रावरोध करनेवाली चीज हमारे उद्देश्यों का वह संगठन होती है, जिससे हमारा अहम् निर्मित होता है। हम अपने को जो कुछ समझते हैं, अपने बारे में जो कुछ अनुभव

करते हैं, और अपने को जैसा बनाये रखना चाहते हैं, उसका विरोध करनेवाले प्रत्येक उद्दीपन का हम प्रावरोध करते हैं।

प्रेक्षण : मनुष्य को समझने के लिए उसके व्यवहार का प्रेक्षण किया जाता है, किंतु साधारण तथा वैज्ञानिक प्रेक्षण में बड़ा अंतर होता है। साधारण प्रेक्षण असंगठित और निरुद्देश्य होता है, जबकि वैज्ञानिक प्रेक्षण के पीछे निश्चित उद्देश्य रहता है और उस उद्देश्य के अनुसार प्रेक्षण को एक संगठित रूप मिलता है।

मनुष्य की मनोवृत्तियों का प्रकाश चूंकि व्यवहार में होता है, इसलिए व्यवहार का प्रेक्षण करके मनुष्य की मनोवृत्तियों और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाले विशिष्ट मानसिक संगठन का परोक्ष अनुमान किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति नाक-भौं सिकोड़कर मुंह फेर लेता है, तो हमें यह समझने में देर नहीं लगती कि उस व्यक्ति में घृणा की मनोवृत्ति का संचार हो रहा है। किंतु व्यवहार को देखकर व्यक्ति की मनोवृत्ति का सही-सही अनुमान तभी किया जा सकता है, जब हमें उसके व्यवहार द्वारा व्यक्त होनेवाली मनोवृत्ति का अनुभव पहले से ही हो चुका हो। व्यवहार द्वारा मनुष्य की मनोवृत्तियों को ठीक-ठीक समझ सकने के लिए प्रेक्षक का अपना पूर्व अनुभव बहुत महत्त्व रखता है।

प्रेक्षण-प्रणाली में बहुत-सी कमियां हैं। हम दूसरे लोगों को प्रायः अपनी ही तरह से देखने की कोशिश करते हैं। ईमानदार आदमी दुनिया के हर आदमी को ईमानदार समझता है। यदि प्रेक्षक और प्रेक्षित व्यक्ति के अनुभव में समानता न हो, तो प्रेक्षण-प्रणाली से दूसरे व्यक्ति के विषय में सही बात का पता नहीं चल सकता। ऐसी दशा में प्रेक्षण अनिश्चित बन जाता है और वैज्ञानिक अध्ययन में अनिश्चित बात को मान्यता नहीं दी जा सकती।

प्रेक्षण निश्चित तभी बन सकता है, जब रचनात्मक कल्पना और अनुभव का सहारा लिया जाये। विज्ञानी के अपने अनुभव में वे सब संघटक तत्व मौजूद रहते हैं, जिनके द्वारा दूसरों के व्यवहार को समझा जा सकता है। प्रेक्षण में विज्ञानी अपने पक्षपात से प्रभावित हो सकता है। इसलिए प्रेक्षण को निष्पक्ष बनाने के लिए विज्ञानी की प्रवृत्ति निष्पक्ष होनी चाहिए। कभी-कभी अपने व्यवहार को इस तरह प्रकट करते हैं कि उनकी मनोवृत्तियों का सही प्रकाशन नहीं होता। ऐसी दशा में व्यवहार का प्रेक्षण विविध रूपों से करना चाहिए। कपटपूर्ण व्यवहार को सही-सही समझने में सावधानी तथा परिदर्शन से बड़ी सहायता मिलती है।

फीटिशपरायणता : फीटिश शब्द का मूल अर्थ है, ऐसी निर्जीव वस्तुएं, जिनकी पूजा आदिम लोग यह समझकर किया करते थे कि उनमें जादुई शक्ति होती है। किंतु मनोविश्लेषण में इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है, जो कामविपर्यास के एक रूप का सूचक है। फीटिशपरायण उस व्यक्ति को कहा जाता है, जिसकी कामशक्ति का केंद्र उसके प्रेमी या प्रेमिका के शरीर का कोई भाग-विशेष जैसे, उरोज, दांत, बाल, गर्दन, जांघें आदि या उसके द्वारा प्रयुक्त की जानेवाली कोई चीज जैसे रूमाल, चोली, मोजे, दुपट्टा आदि बन जाता है। व्यक्ति अपने प्रेमी या प्रेमिका का इन्हीं फीटिशों के प्रति आसक्त रहकर, उनका स्पर्श कर अपनी कामतुष्टि कर लेता है। इन फीटिशों को पाने के लिए व्यक्ति छल-कपट, चोरी आदि सब कुछ कर सकता है।

फ्यूग : हिस्टीरिया का एक रूप। फ्यूग लैटिन भाषा का शब्द है और उसका अर्थ है पलायन करना या भागना। हिस्टीरियाई पलायन में व्यक्ति किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर घर से भाग जाता है और कई दिनों या हफ्तों तक अपने-आपको भूलकर इधर-उधर भटकता रहता है। जब उसे अपनी सुधि आती है, तो वह घर लौट आ सकता है, लेकिन फ्यूग के समय की सारी घटनाएं भूल जाता है।

व्यक्ति अपनी जिन इच्छाओं का दमन करता है, उनकी पूर्ति उसके दिवास्वप्नों द्वारा होती है। फिर मर्मवेधी घरेलू या व्यावसायिक संकट जैसे किसी संवेगात्मक आघात से दिवास्वप्नों द्वारा बनी मधुर कल्पनाओं में विघटन हो जाता है, जिससे दमन की गयी इच्छा व्यक्ति की विघटित व्यवस्था द्वारा फ्यूग के रूप में कार्यान्वित होने लगती है और उसकी मनोदशा ऐसी हो जाती है कि वह घर से दूर किसी अन्य स्थान पर भाग जाना चाहता है। पलायन-प्रवृत्ति का प्रभाव व्यक्ति पर एकदम नहीं पड़ता और

वह परिवार को निराश करके न भागने की विरोधी प्रवृत्ति द्वारा नियंत्रित रहता है। किंतु फिर ऐसी अवस्था आती है, जब पलायन-प्रवृत्ति पारिवारिक उत्तरदायित्व की प्रवृत्ति को पराजित कर देती है और व्यक्ति बलात् उस प्रवृत्ति की पकड़ में आकर पलायन कर जाता है।

फ्यूग की हालत कुछ घंटों से लेकर महीनों तथा सालों तक रह सकती है। फ्यूग में व्यक्ति को अपने अतीत की सुधि नहीं रहती। यद्यपि फ्यूग में व्यक्ति का व्यवहार चेतनाशून्य होता है, किंतु उसमें भागने का उपक्रम और कुछ हद तक अपनी देख-भाल कर सकने की चेतना होती है। फ्यूग का दौरा खत्म होने के बाद उसे अपने पिछले जीवन की बातें तो याद रहती हैं, किंतु फ्यूग के समय की कोई बात याद नहीं रहती। व्यक्ति अकस्मात् किसी संकेत द्वारा फ्यूग की अवस्था से बाहर आकर फिर से सामान्य व्यवहार कर सकता है।

फ्रायड, सिगमंड (1856-1939) : मनोविश्लेषण के जन्मदाता। फ्रायड का जन्म चैकोस्लोवाकिया में हुआ था, लेकिन वे बचपन से ही वियना में रहने लगे थे। विश्वविद्यालय में उन्होंने चिकित्सा की शिक्षा पायी थी और वे तंत्रिकातापों के इलाज के लिए अध्ययन कर रहे थे। इस सिलसिले में वे फ्रांस गये, और वहां जैने और शारको के साथ काम किया, जो स्वयं तंत्रिकातापों के इलाज में तत्परता से लगे हुए थे। जैने और शारको दोनों अपने रोगियों को सम्मोहित करते थे; क्योंकि रोगी सम्मोहावस्था में उन बातों को याद कर लेते थे, जिन्हें जाग्रतावस्था में याद नहीं कर पाते थे और जो रोग के निदान के लिए आवश्यक थीं।

फ्रायड ने भी पहले-पहले सम्मोहन प्रणाली को अपनाया। इसमें उन्होंने एक कठिनाई यह देखी कि बहुत-से रोगी सम्मोहित नहीं हो पाते थे और कई सम्मोहन द्वारा अच्छे भी नहीं हो पाते थे। फ्रायड ने यह देखा कि जाग्रतावस्था में भी रोगी अगर अपने उद्गारों को स्वच्छंदता से कहकर निकाल दे, तो भी उसे बड़ा आराम मिलता है। इसलिए फ्रायड ने सम्मोहन प्रणाली को छोड़कर अपनी मुक्त साहचर्य प्रणाली को ही अपनाया। लेकिन रोगियों को मुक्त साहचर्य में भी बाधा पड़ती थी। वह या तो आगे सोच नहीं सकता था या ऐसी बातें सोचता था, जो कहने योग्य नहीं होती थीं। यौन संबंधी मामलों में ये बाधाएं स्पष्ट थीं।

लोक-लाज और सामाजिक भय से हम अपने मन के बहुत से उद्गार नहीं निकाल पाते और वे दबकर हमारे मन का अचेतन भाग बन जाते हैं। मुक्त साहचर्य में बहुत समय लगता था और फ्रायड अचेतन मन तक जल्दी पहुंचना चाहते थे। यह साधन उन्हें स्वप्नों के विश्लेषण में मिला। फ्रायड ने स्वप्नों को इच्छापूर्ति का साधन बताया और स्वप्न संबंधी अपनी खोजों को 1900 में पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया।

फ्रायड की खोज से अचेतन मन को जानने के रूप में मानसिक क्रियाओं के अध्ययन को न केवल एक नयी दिशा मिली, वरन् मुक्त साहचर्य और स्वप्न-विश्लेषण के रूप में मन की गत्यात्मक प्रवृत्तियों को समझ सकने की एक मौलिक अध्ययन प्रणाली भी मिली। फ्रायड की खोजों से मानसिक क्रियाओं पर जो नया प्रकाश पड़ा, वह मनोविज्ञान की स्थायी निधि है।

बचकानी प्रतिक्रियाएं : बहुत-से लोगों का विकास उनकी आयु के अनुपात से नहीं हो पाता, जिससे उनमें सामान्य रागात्मक परिपक्वता नहीं आ पाती और उनकी रुचि, प्रवृत्तियां और प्रतिक्रियाएं बचकानी बनी रह जाती हैं। संतुलित व्यवहार कर सकने के लिए ज्ञान और बुद्धि के साथ रागात्मक परिपक्वता भी जरूरी है; क्योंकि मानवीय संबंध रागप्रधान होते हैं। हो सकता है, कोई व्यक्ति कुछ स्थितियों में तो परिपक्व ढंग से प्रतिक्रिया करे और कुछ में बचकाने ढंग से। लेकिन यह बात उस व्यक्ति की रागात्मक पृष्ठभूमि पर ही निर्भर है।

बचकानी प्रतिक्रियाएं प्रतिगमन से अलग होती हैं और दोनों में बड़ा भेद है। प्रौढ़ व्यक्ति यदि अपनी पत्नी के बीमार होने पर खिलौनों से खेलता है, तो या तो उसकी प्रतिक्रियाओं का प्रतिगमन हो चुका है या फिर उसमें प्रौढ़ावस्था के स्तर की प्रतिक्रियाओं का विकास ही नहीं हो पाया है। प्रतिगमन की स्थिति में खोयी हुई प्रतिक्रियाओं की पुनःप्राप्ति आसानी से करायी जा सकती है। किंतु यदि प्रौढ़ व्यक्ति का रागात्मक विकास बचपन के स्तर के आगे न हो सका हो, तो उसे प्रौढ़ावस्था के स्तर तक लाना बड़ा कठिन काम है।

बचत प्रणाली : एबिंगहाउस द्वारा प्रतिपादित एक प्रणाली, जिससे धारण-क्षमता की परीक्षा की जाती है। इस प्रणाली से सीखी हुई चीज को फिर से सीखने में जितना समय लगता है, जितनी बार प्रयत्न करना पड़ता है और जितनी गलतियां होती हैं, उनकी पहली बार सीखने में लगे समय, किये गये प्रयत्नों और होनेवाली गलतियों से तुलना करके समय, प्रयत्नों और गलतियों की बचत देखी जाती है और वह बचत ही धारण-क्षमता की सूचक होती है। मान लीजिए, किसी पात्र ने किसी बात को सीखने के लिए पहले बत्तीस प्रयत्न किये थे, किंतु दूसरी बार उसी बात को सीखने के लिए उसे केवल आठ प्रयत्न ही करने पड़े, तो इसका अर्थ यह हुआ कि पहली बार जिस बात को सीखने के लिए बत्तीस प्रयत्न अपेक्षित होते थे, उसे फिर सीखने में केवल आठ प्रयत्न ही काफी हुए और 75 प्रतिशत प्रयत्नों की बचत हुई। यह 75 प्रतिशत बचत इस बात की सूचक है, कि उस बात की धारण-क्षमता 75 प्रतिशत है।

बहिर्मुखता : युंग ने व्यक्तित्व के एक प्रकार के आंतरिक परिवर्तन को बहिर्मुखता कहा है। युंग के ही शब्दों में "मनुष्यों का एक वर्ग ऐसा है, जो किसी भी स्थिति में तत्काल प्रतिक्रिया करने को तैयार हो जाता है और ऐसा लगता है, मानों उसे अपने व्यवहार के बिलकुल ठीक होने पर पूरा विश्वास हो. . .ऐसा वर्ग का रुझान बहिर्मुखी होता है।"

बहिर्मुखी व्यक्ति खूब मिलनसार होता है। वह हर काम में रुचि लेता है और जरा-जरा-सी बात पर चिंतित नहीं होता। वह ज्यादा बातचीत करना पसंद करता है और दूसरों की बातों से जल्दी प्रभावित हो जाता है। उसका दृष्टिकोण कुछ रूढ़िवादी होता है और वह परंपरा का आदर करता है। वह अपने कर्म और उद्देश्यों के प्रति ज्यादा सजग नहीं रहता। वह हर समय दूसरों की सहायता करने को तैयार रहता है। वह असंख्य व्यक्तियों के संपर्क में आना चाहता है। ऐसा ही व्यक्ति हमारे व्यापारिक और सामाजिक जीवन को सफलता से चलाता रहता है। वह अपनी बातों तथा अपने कामों पर आलोचनात्मक दृष्टि कम डालता है।

बहिर्मुखी व्यक्ति में अच्छाइयां-बुराइयां दोनों होती हैं। उसकी बुराई उसका ऊपरी दिखावा, गंभीरता और आत्म-आलोचना की कमी होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति एक ऐसे सांचे में ढल जाता है, जिसका प्रभाव उसकी रुचियों, प्रवृत्तियों, भावनाओं, आदर्शों, दृष्टिकोणों और व्यवहार पर पड़ता है। बहिर्मुखता को लेकर बड़ी भ्रांत धारणाएं भी फैली हुई हैं। कुछ मनोविज्ञानी बहिर्मुखी व्यक्ति के व्यवहार को ज्यादा सामान्य और संतुलित मानते हैं और बहिर्मुखी को निस्वार्थी समझते हैं। किंतु ये धारणाएं बिलकुल निराधार हैं।

युंग के अनुसार व्यक्ति बहिर्मुखी अपने अवधान और रुचि की दिशा के कारण होता है। बहिर्मुखी व्यक्ति में लिबिडो का प्रवाह बाह्य दिशा की ओर होता है, जिससे वह बाह्य जगत में बड़ी रुचि लेने लगता है। युंग ने बहिर्मुखता को व्यक्ति के मनोभौतिक निर्माण की आनुवंशिक विशेषता माना है। यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्ति अवधान तथा रुचि की दिशा को आनुवंशिक रूप से प्राप्त करता है। बहिर्मुखता का निर्धारण अवधान तथा रुचि की दिशा से न होकर मानसिक क्रियाओं के साथ रहनेवाले चेतना के अंश से होता है। यह देखा जाता है कि कुछ लोगों के व्यवहार में चेतना का अंश ज्यादा रहता है और कुछ के व्यवहार में कम। चेतना का अंश कम रहने से लोग अपने व्यवहार और उसके परिणाम को उतनी अच्छी तरह नहीं समझते, जितनी अच्छी तरह वे लोग समझते हैं, जिनमें चेतना का अंश ज्यादा होता है। बहिर्मुखी व्यक्ति के व्यवहार में चेतना का अंश कम रहता है।

बहुव्यक्तित्व : हिस्टीरिया का एक रूप, जिसमें किसी चोट पहुंचानेवाली तीव्र पारिवेशिक स्थिति के कारण या तीव्र संवेगात्मक तनाव से व्यक्ति का मानसिक विघटन इस प्रकार हो जाता है कि उसका व्यक्तित्व यानी उद्देश्यात्मक मानसिक संगठन दो या दो से अधिक गौण मानसिक संगठनों में टूट जाता है। इस प्रकार बने हुए बहुव्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करने लगते हैं। यह अभिव्यक्ति दो प्रकार से हो सकती है। यह तो निर्विवाद है कि दो व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के पूरे ग्राहकीय और प्रभावकीय तंत्र पर एक ही समय पूरी तरह से हावी नहीं हो सकते। वे बारी-बारी से सक्रिय हो सकते हैं। दूसरी ओर यह भी संभव है कि कोई व्यक्तित्व व्यक्ति के अधिकांश प्रभावकीय और बौद्धिक तंत्र पर हावी हो जाये और दूसरा शेष तंत्र पर, जिससे मतिभ्रम उत्पन्न

हो सकते हैं और अन्य उपचेतन स्वायत्त क्रियाएं, जैसे, बोलना या लिखना आदि हो सकती हैं। मार्टन प्रिंस ने बीचम नामक युवती का जो विश्लेषण किया है, वह बहु-व्यक्तित्व का क्लासिकी उदाहरण है।

बाध्यक्रियाएं : व्यक्ति के नियंत्रण में न रहनेवाली निश्चित और लगातार होनेवाली अनर्गल शारीरिक क्रियाएं। बाध्यक्रिया व्यक्ति के जातीय और आत्मीय प्रेरकों में समुचित संगठन न हो पाने से होती है। जातीय और आत्मीय प्रेरकों में संगठन न होने से उन दोनों में समझौता कराने की आवश्यकता पड़ती है और यह समझौता किसी स्थानापन्न प्रतीकात्मक क्रिया द्वारा ही हो सकता है। इस समझौते से व्यक्ति का मानसिक संतुलन एक सीमा तक स्थिर रहता है और वह दो विरोधी प्रेरकों में से किसी एक से ही पूरी तरह अभिभूत होने से बच जाता है।

जैने के अनुसार बाध्यक्रिया उन्हीं लोगों में होती है, जिनकी ऐच्छिक क्रियाओं का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। ऐसे लोगों में निश्चय शक्ति का अभाव होता है। उनके लिए जगत की वास्तविकता उतनी स्पष्ट और निश्चित नहीं होती, जितनी सामान्य व्यक्ति के लिए होती है। व्यक्ति जगत की वास्तविकता की बहुमुखी स्पष्टता और निश्चितता को अपनी परिपक्वता के अनुपात से अर्जित करके समझता है। निश्चय-शक्ति के अभाव से उसमें अक्षमता की भावना पैदा हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के सामने यदि कोई ऐसी स्थिति आ जाये, जिसका सामना करने के लिए उच्चतम शारीरिक एवं मानसिक तनाव की आवश्यकता हो, तो उसकी प्रतिक्रिया का रूप उस स्थिति के लिए अपर्याप्त हो सकता है। इस मनोवैज्ञानिक तनाव की कमी के कारण बाध्यक्रियाएं पैदा हो सकती हैं।

फ्रायडीय मतानुयायियों के अनुसार बाध्यक्रियाएं इच्छाओं का दमन कर देने के कारण होती हैं। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से इच्छा दो पक्षों से निर्मित होती है : प्रात्ययिक और रागात्मक। इच्छा दो पक्षों का रागात्मक पक्ष लिबिडो का अविभाज्य अंग होता है। कभी-कभी किसी इच्छा का दमन पूरी तरह से नहीं हो पाता और इस अधूरे दमन में इच्छा के प्रात्ययिक पक्ष की शक्ति का ही दमन होता है, रागात्मक पक्ष की शक्ति का नहीं। रागात्मक पक्ष की शक्ति किसी और प्रत्यय पर विस्थापित होकर बाध्यक्रियाओं का कारण बन सकती है। बाध्यक्रियाएं एक दृष्टि से रक्षात्मक होती हैं। वे व्यक्ति का ध्यान वास्तविक कारण की ओर नहीं जाने देतीं और इस प्रकार उसे जघन्य कार्य करने से बचाती हैं। यों भी कहा जा सकता है कि बाध्यक्रियाएं हमारी इच्छाओं और दमित शक्तियों में एक समझौता-सा कराती हैं।

बाल-मनोविज्ञान : मनोविज्ञान का एक क्षेत्र, जिसमें बच्चों के मन और उसके विकास का अध्ययन किया जाता है। बच्चों की मानसिक क्रियाओं का उदय और विकास कैसे होता है? बाल-मनोविकास पर आनुवंशिकता और परिवेश का क्या प्रभाव पड़ता है? बच्चा सीखता कैसे है? अनुभव और अनुकरण से बच्चों की प्रतिक्रियाओं में कैसे परिवर्तन होते हैं? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर की खोज बाल-मनोविज्ञान में की जाती है।

बिने, अल्फ्रेड (1856-1911) : बुद्धि-परीक्षणों के जन्मदाता बिने स्कूलों की शिक्षा की देखभाल करने वाले



एक फ्रांसीसी अफसर थे। उन्हें आये दिन अध्यापकों से विद्यार्थियों की मानसिक क्षमता के भेदों के बारे में अनेक शिकायतें सुनने को मिलती थीं। विद्यार्थियों की मानसिक क्षमताओं में बड़ा भेद होने से उन्हें सामूहिक शिक्षा देना एक समस्या थी। बिने के स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों की बुद्धि परीक्षा के लिए सीमों के सहयोग से 1905 में एक प्रश्नावली तैयार की। प्रश्नावली का आधार यह था कि उम्र बढ़ने पर ज्ञान भी बढ़ता है और व्यक्ति किसी प्रकार की शिक्षा न पाने पर भी अपने अनुभव से बहुत कुछ सीख लेता है।

बिने ने मानसिक आयु की धारणा का भी प्रतिपादन किया। बिने की बुद्धि-मापनी का संशोधित रूप 1908 में प्रकाशित हुआ और अंतिम संशोधित रूप 1911 में। इसके अतिरिक्त बिने ने फ्रांसीसी भाषा में मनोविज्ञान की सर्वप्रथम पत्रिका की स्थापना की, जिसका प्रथम प्रकाशन 1894 में हुआ। बिने ने उच्च मानसिक क्रियाओं पर भी अनेक प्रयोग किये।

बुद्धि : बुद्धि की अनेक परिभाषाएं दी जा चुकी हैं। कुछ लोग बुद्धि को एक विशेष योग्यता या क्षमता मानते हैं, तो कुछ लोग सीखने की शक्ति, और कुछ लोग संबंध जान सकने की शक्ति। कुछ लोग बुद्धि को जन्मजात भी मानते हैं। इन परिभाषाओं में एक सामान्य बात यह मिलती है कि बुद्धि समस्या सुलझाने की शक्ति को कहते हैं। इस प्रकार बहुत कुछ निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि बुद्धि कार्यात्मक कुशलता का एक स्तर होती है।

मनुष्य के विकास के अनेक स्तर होते हैं और उसे हर स्तर की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यवहार करके विभिन्न स्थितियों से अपना संतुलन स्थापित करना पड़ता है। वैज्ञानिक दृष्टि से बुद्धि वह मानवीय कुशलता है, जिसके द्वारा मनुष्य नयी-नयी परिस्थितियों में अपने व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन करके अधिक सफलतापूर्वक संतुलित प्रतिक्रियाएं करता है। बुद्धि को जन्मजात कुशलता मात्र नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विभिन्न स्थितियों में सफल संतुलन करने के लिए मनुष्य अपने अर्जित अनुभव से भी लाभ उठाता है। पूर्व अनुभव के आधार पर किसी नयी स्थिति के सभी विभिन्न पक्षों को अच्छी तरह समझकर मनुष्य अपना संतुलन अधिक सफलता से करने की कोशिश करता है। सफलतापूर्वक संतुलन कर सकना चूंकि अनुभव-सापेक्ष होता है, इसलिए बुद्धि को जन्मजात मानना अतिशयोक्ति होगा। दूरदर्शिता, शीघ्रता और व्यवहार करने के ढंग को बुद्धि का विशेष अंग माना जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूरदर्शी होगा, स्थिति की जटिलता को दूसरों की अपेक्षा जितनी ज्यादा शीघ्रता से समझेगा, और जिसके व्यवहार करने का ढंग संतुलन की दिशा में दूसरों से जितना ही अच्छा और निराला होगा, उसे उतना ही अधिक बुद्धिमान कहा जायेगा।

बुद्धि ऐसी कोई क्षमता नहीं होती, जिसे अन्य मानसिक व्यापारों से अलग करके जाना जा सके। बुद्धि की धारणा मानवीय व्यवहार के अंतर का वर्णन करने के लिए बहुत उपयोगी है। व्यवहार द्वारा मनुष्य प्रकट रूप से अपने कार्य में सफल हो सकता है या असफल। मनुष्यों के व्यवहार का अंतर उनकी सफलता-असफलता के आधार पर जाना जाता है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों की गतिशीलता की व्याख्या करने के लिए भौतिक शक्तियों की धारणा की जाती है, उसी प्रकार मनुष्यों की सफलता-विफलता की व्याख्या के लिए उनमें किसी योग्यता के होने या न होने की धारणा कर लेना सर्वथा स्वाभाविक है—और वह योग्यता है बुद्धि।

बुद्धि के कारक सिद्धांत : बुद्धि का अध्ययन करने से बुद्धि-लब्धि की धारणा में बहुत-सी कमियां मिली हैं और उस धारणा पर अनेक आपत्तियां की गयी हैं। बुद्धि-लब्धि से संपूर्ण मानसिक योग्यताओं की जांच नहीं हो पाती। थर्स्टन का कहना है कि "यह समझना बहुत गलत है कि बुद्धि-लब्धि से किसी आधारभूत कार्यात्मक इकाई की नाप हो सकती है; क्योंकि बुद्धि-लब्धि केवल कार्यात्मक इकाइयों का संगठन मात्र होती है।" दूसरे, बुद्धि-लब्धि की सबसे बड़ी कमी यह है कि उससे हमें यह पता नहीं चल पाता कि बच्चा किस प्रकार के मानसिक कामों को करने में बहुत कुशल होता है और किन क्षेत्रों में कमजोर होता है। बुद्धि-लब्धि की एकांगी धारणा से मतभेद रखने से अनेक मनोविज्ञानियों ने बुद्धि विषयक अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, जिनसे बुद्धि के स्वरूप पर काफी प्रकाश पड़ा है।

एक-कारक सिद्धांत : इसका प्रतिपादन स्टर्न ने किया है। इस सिद्धांत के अनुसार बुद्धि एक सामान्य या एकात्मक योग्यता होती है। प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य बुद्धि की मात्रा अलग-अलग होती है और उसका उपयोग किसी स्थिति में कोई भी समस्या हल करने के लिए किया जा सकता है। स्टर्न ने यह माना था कि एक ही व्यक्ति कुछ प्रकार की समस्याओं का हल ज्यादा कुशलता से कर सकता है। व्यक्ति की इस कुशलता का निर्धारण उसके परिवेश से होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि परिवेश की सुविधा मिलने पर एक व्यक्ति जिस कुशलता से कोई काम कर सकता है, उसे दूसरा व्यक्ति भी उसी कुशलता से कर सकेगा। किंतु ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है। एक ही परिवेश में रहते हुए भी लोगों की बुद्धि और कार्यकुशलता में बड़ा भेद हुआ करता है।

द्विकारक सिद्धांत : इसका प्रतिपादन चार्ल्स स्पियरमैन ने किया है। बुद्धि का अध्ययन सांख्यिकीय प्रणालियों से करने पर स्पियरमैन ने यह देखा कि बुद्धि में कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं, जो एक दूसरे के समान नहीं होतीं, किंतु उनका संबंध विभिन्न अनुपातों में सामान्य कारक

से अवश्य होता है। इस प्रकार स्पियरमैन ने बुद्धि में दो कारक माने—एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट कारक। स्पियरमैन की सामान्य कारक की धारणा स्टर्न की धारणा के समान ही है। स्पियरमैन के अनुसार लोगों की बुद्धि के सामान्य कारक की मात्रा अलग-अलग होती है और एक ही व्यक्ति में विशिष्ट कारकों की मात्रा भी अलग-अलग होती है। लोगों में सामान्य और विशिष्ट कारकों की मात्रा एक-सी नहीं होती। स्पियरमैन ने सामान्य और विशिष्ट कारकों के क्षेत्र को कोई नाम नहीं दिया। अपनी खोजों से बाद में स्पियरमैन ने एक और क्षेत्र का पता लगाया, जिसे समूह-कारक कहते हैं। स्पियरमैन ने पांच समूह कारक माने और उनके नाम रखे : मौखिक योग्यता, अंक-योग्यता, यांत्रिक योग्यता, अवधान और कल्पना।

प्रतिदर्श-सिद्धांत : इस सिद्धांत का प्रतिपादन टामसन ने किया, जो स्टर्न और स्पियरमैन के सिद्धांतों का प्रतियोगी है। प्रतिदर्श का अर्थ है किसी प्रत्यय के एक अंश द्वारा संपूर्ण प्रत्यय को समझना। बिने और स्पियरमैन की बुद्धि प्रणालियों में परीक्षण-सामग्री को किसी विशेष उद्देश्य से चुना जाता था। इसके विपरीत टामसन ने इस बात पर जोर दिया कि परीक्षण-सामग्री का चुनाव संयोगाश्रित होना चाहिए। संयोगाश्रित परीक्षण-सामग्री द्वारा प्रयोग करके टामसन ने यह देखा कि किसी मानसिक परीक्षण से अनेक स्वतंत्र योग्यताओं के प्रतिदर्श का पता चल सकता है। टामसन ने स्वतंत्र योग्यताओं के प्रतिदर्श में सामान्य कारक होने की संभावना को तो स्वीकार किया, किंतु समूह कारकों की एक विशेषता के रूप में।

बहुकारक सिद्धांत : इस सिद्धांत का प्रतिपादन थार्नडाइक ने किया है। थार्नडाइक के अनुसार बुद्धि असंख्य विशिष्ट क्रियाओं से निर्मित होती है। थार्नडाइक ने उन क्रियाओं को कोई नाम नहीं दिया, किंतु उनको न्यूरोनीय क्रियाओं के समान अवश्य बताया। किसी मानसिक क्रिया से असंख्य न्यूरोनीय संबंध बनते हैं। दो मानसिक क्रियाओं से बननेवाले न्यूरोनीय संबंधों की संख्या बराबर नहीं होती। वह कम या ज्यादा और विभिन्न प्रकार की जटिलता लिये हुए होती है। थार्नडाइक के विचार से बुद्धि में सामान्य कारक नहीं होता, केवल असंख्य मानसिक क्रियाएं होती हैं, जिनका ज्ञान न्यूरोनों के संबंधों की संख्या और हल की जानेवाली समस्याओं के वर्गीकरण तथा उनकी कठिनता के स्तर के अनुसार करने से हो सकता है।

बुद्धि-परीक्षण : बुद्धि के स्वरूप को जानने के लिए मनोविज्ञानियों ने बुद्धि के परिमाणात्मक परीक्षण के अनेक उपाय निकाले हैं। बुद्धि-परीक्षण का इतिहास अल्फ्रेड बिने के कार्यों से प्रारंभ होता है। (दे० बिने, अल्फ्रेड) बिने ने सीमों के सहयोग से 1905 में तीन से लेकर पंद्रह साल तक के बच्चों की बुद्धि-परीक्षा के लिए एक प्रश्नावली बनायी थी और उसमें इस बात का भी ध्यान रखा था कि उत्तरों पर स्कूल से प्राप्त ज्ञान का प्रभाव न पड़े। बिने केवल ग्यारह, तेरह और चौदह साल के बच्चों के लिए उपयुक्त प्रश्न तैयार नहीं कर सके थे। उनकी प्रश्नावली बहुत व्यापक थी और उसमें अनुभव के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित बातें रखी गयी थीं। शुरू-शुरू में बिने के बुद्धि-परीक्षण को बड़ी सफलता मिली, मगर उनके परीक्षणों में बहुत सी कमियां थीं। एक तो वह मुख्य रूप से पेरिस नगर के बच्चों के लिए बनाया गया था, इसलिए अन्य देशों के बच्चों के उपयुक्त नहीं था। दूसरे, प्रश्नावली के सब प्रश्न समान रूप से संतोषजनक भी नहीं थे। तीसरे, बिने ने नौ वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए उनकी कालिक आयु से मानसिक आयु की दो वर्ष की कमी को समान रूप से बुद्धिहीनता का सूचक बना दिया था, जो उचित नहीं था। पांच साल के बच्चे की मानसिक आयु अगर तीन वर्ष हो, तो उसे उतना ही बुद्धिहीन नहीं माना जा सकता, जितना कि किसी नौ साल के उस बच्चे को जिसकी मानसिक आयु सात वर्ष हो। दोनों ही दो साल पिछड़े हैं, लेकिन एक पांच साल में ही उतना पिछड़ गया है, जितना दूसरा नौ साल में पिछड़ा। इसलिए दूसरे को पहले की तुलना में अधिक बुद्धिवाला मानना चाहिए। बिने की प्रश्नावली के इन्हीं दोषों को दूर करने के लिए बाद में बुद्धि-परीक्षण प्रश्नावली में अनेक संशोधन किये गये।

बुद्धि-लब्धि : किसी की मानसिक आयु को उसकी कालिक आयु से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त होती है, वही उसकी बुद्धि-लब्धि होती है। समझने समझाने की सुविधा के लिए औसत व्यक्ति की मानसिक आयु 100 मानकर

बुद्धि-लब्धि को प्रतिशत में बताया जाता है। प्राप्त लब्धि को 100 से गुणा करके बुद्धि-लब्धि का प्रतिशत निकाल लिया जाता है। उदाहरण के लिए, अगर किसी पांच साल के बच्चे की मानसिक आयु चार साल हो, तो उसकी बुद्धि-लब्धि $4/5 \times 100 = 80$ होगी। इस प्रकार औसत बच्चे की तुलना में वह केवल 80 प्रतिशत बुद्धिवाला होगा।

बुद्धि-लब्धि की धारणा पर कुछ आपत्तियां की गयी हैं। एक तो यह कि बुद्धि-लब्धि से संपूर्ण मानसिक योग्यताओं की जांच नहीं हो पाती। दूसरे, बुद्धि-लब्धि से हमें यह पता नहीं चल पाता कि बच्चा किस प्रकार के मानसिक कामों को करने में बहुत कुशल है और किन कामों के लिए बहुत कमजोर। (दे० बुद्धि के कारक सिद्धांत और बुद्धि-परीक्षण)

भावदशा : कुछ संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का प्रभाव बहुत देर तक बना रहता है। उन्हें भावदशा कहा जाता है। भावदशा संवेग का हल्का रूप होती है। हम कभी हर्ष की भावदशा में रहते हैं और कभी खिन्न रहते हैं। पढ़ने-लिखने की भी भावदशा हुआ करती है। किसी भावदशा के न रहने पर उसी के समान भाव का संचार जल्दी हो जाता है। खिन्नमना व्यक्ति को बात-बात पर क्रोध आता है। भावदशा का प्रभाव हमारे विचारों और क्रियाओं पर पड़ता है। कुछ भावदशाएं शारीरिक स्वास्थ्य और लक्ष्य-प्राप्ति की सफलता और विफलता पर भी निर्भर होती हैं।

भूलना : हमारे जीवन में भूलने का भी उतना ही महत्त्व होता है, जितना याद रखने का। यदि हम निरर्थक बातों को न भूलें, तो हमें अपनी आवश्यकताओं और उद्देश्यों से संबंधित सार्थक बातें याद रख सकने में भी बाधा पड़ेगी। धारण करने में असफल रहना ही भूलना है। याद की हुई बातों को भूलते रहना दैनिक जीवन के अनुभव से स्पष्ट है। किंतु यह कह सकना कठिन है कि धारण की हुई बातों के भूलने की गति क्या रहती है? वह शुरू-शुरू में ज्यादा होती है या बाद में, या स्थायी रहती है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए एबिंगहाउस ने अनेक प्रयोग किये। यह ठीक है कि उन प्रयोगों के निष्कर्ष को सब लोगों पर लागू नहीं किया जा सकता, किंतु सामान्यतः यह देखा गया है कि भूलना शुरू-शुरू में ज्यादा होता है और बाद में कम होता चला जाता है। चूंकि धारण करना मस्तिष्क पर निर्भर है, इसलिए मस्तिष्क को क्षति पहुंचने पर हम अपनी धारण-क्षमता खोकर सब कुछ भूल जाते हैं। मादक पदार्थों का ज्यादा सेवन करते रहने मे मस्तिष्क की कोशिकाओं पर प्रभाव पड़ता है, जिससे धारण-क्षमता घटती है।

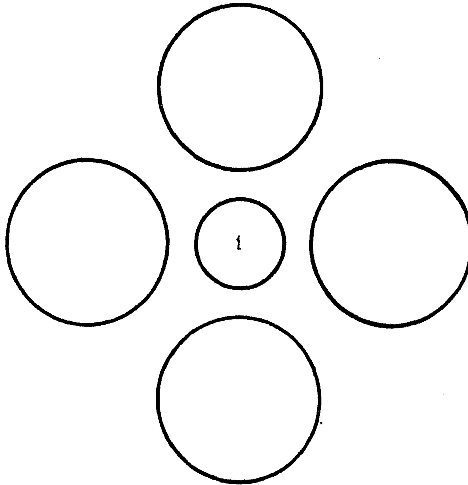
एबिंगहाउस के प्रयोगों से यह भी पता चला है कि हम जाग्रतावस्था की अपेक्षा नींद में कम भूलते हैं। जाग्रतावस्था में ज्यादा भूलने का कारण नयी-नयी बातों को सीखते रहना है, जो पुरानी बातों को भुला देने में सहायक होता है। नयी बात का पुरानी बात मे जितना अधिक सादृश्य होगा, नयी के सामने पुरानी बात का भूल जाना भी उतना ही ज्यादा होगा।

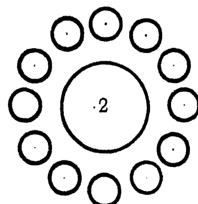
अस्थायी रूप से भूलने के पीछे कुछ विशेषताएं होती हैं, जिनका पता कभी-कभी भूलने के कारणों का विश्लेषण करने से चल जाता है। अस्थायी भूलने के साथ कभी-कभी गलत पुनःस्मरण भी हो जाता है। भूली हुई बातों को याद करने की कोशिश करते समय हमारी चेतना में कुछ स्थानापन्न बातें आ जाती हैं। हम जानते हैं कि वे गलत हैं, फिर भी वे चेतना में अड़ी-सी रहती हैं। चेतना में स्थानापन्न बातों के आने का कारण भूली हुई बात का पुनःस्मरण करने की क्रिया का विस्थापन होता है। यह विस्थापन यूं ही न होकर कुछ नियमों के अनुसार होता है। स्थानापन्न बात का भूली हुई बात से कोई न कोई उद्देश्यमूलक संबंध अवश्य होता है।

भूलने के पीछे कोई न कोई दमित उद्देश्य रहता है और वह उद्देश्य अक्सर संवेगात्मक होता है। किसी स्त्री ने पुराना मकान छोड़कर नया मकान ले लिया, तो उसकी बहन ने उसे बधाई का पत्र लिखा, लेकिन पत्र के ऊपर पता पुराने मकान का लिखा गया। पुराने पते को लिखने में उसका एक उद्देश्य था। उसे अपनी बहन के अच्छे मकान में जाने पर ईर्ष्या हो रही थी; क्योंकि वह स्वयं एक मामूली-से मकान में रहती थी और अचेतन रूप से अपनी बहन को भी पहले वाले मकान में ही देखना चाहती थी। इसी प्रकार बोलने, लिखने या गलत तरह से कोई काम कर डालने के पीछे कोई न कोई उद्देश्य रहता है, चाहे उसके प्रति व्यक्ति सचेत हो या नहीं हो।

भ्रम : उद्दीपन के यथार्थ रूप को न देख सकने को भ्रम कहा जाता है। भ्रम शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से होते हैं। शराबी को अपने चारों ओर की चीजें घूमती नजर आती हैं। विक्षिप्त और पागल आदमी की प्रत्यक्षात्मक प्रतिक्रिया स्वस्थ और सामान्य आदमी की प्रतिक्रिया से अलग होती है। भ्रम वातावरण की अवस्था के कारण भी हो सकता है। कुहरे, अंधेरे आदि में उद्दीपनों का यथार्थ रूप जान सकना कठिन होता है।

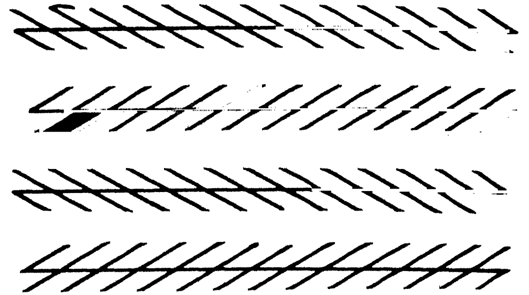
हमारी संवेदनशीलता, संवेदनों को संगठित करने की शक्ति और संवेदनों को पर्याप्त रूप से सार्थक बना पाने की क्षमता सीमित होती है। कुछ भ्रम हमारी इन सीमाओं के कारण भी होते हैं। ऐसे भ्रम सामान्य होते हैं और कुछ नियमों के अनुसार होते हैं। ऐसे भ्रमों में कुछ भ्रम विरोध के कारण होते हैं। नीचे के चित्र में 'अ' गोलों का आकार बिल्कुल बराबर है किंतु बड़े गोलों से घिरकर वह छोटा और छोटे गोलों से घिरकर बड़ा लगता है।





भ्रम

इसी प्रकार खुला स्थान घिरे स्थान से बड़ा लगता है। चाहे उसका क्षेत्र बराबर ही क्यों न हो। नीचे का चित्र देखिए। इसमें चारों रेखाएं समानांतर हैं, फिर भी समानांतर नहीं लगतीं। इसका कारण इन रेखाओं पर छोटी-रेखाओं द्वारा बने कोणों में है। 90 अंश से कम अंश के कोण अपनी वास्तविकता से ज्यादा बड़े और 90 अंश से ज्यादा अंश के कोण अपनी वास्तविकता से छोटे लगते हैं।



भ्रम

इसी प्रकार हमें समय बताने, आवाज की दिशा पहचानने और बोझ का अंदाज करने में भी भ्रम होते हैं। सच तो यह है कि संसार की वस्तुएं हमें वैसी ही दिखायी पड़ती हैं, जैसी कि हम उन्हें देखना चाहते हैं।

सामान्यत: बड़ी चीजें भारी हुआ करती हैं। आधा किलो वजन के पीपे और एक किलो के बाट में हम पीपे को बाट से ज्यादा भारी समझते हैं; क्योंकि बड़ी चीज भारी दिखायी पड़ती है। पीपे को उठाने में हम उसे भारी समझकर ज्यादा शक्ति लगाते हैं, जिससे वह हल्का लगता है और बाट को हल्का समझकर उसे उठाने में कम शक्ति लगाते हैं, जिससे बाट भारी लगता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक किलो रूई एक किलो लोहे के बराबर नहीं होती।

मंदन : मनोविज्ञान में मंदन शब्द का प्रयोग बालक के प्राकृतिक विकास की गति धीमी हो जाने के अर्थ में किया जाता है। मंदित बालक की बुद्धि-लब्धि साधारण बालक की बुद्धि-लब्धि की अपेक्षा कम और कभी-कभी तो 70 के

भी नीचे होती है। उसकी बौद्धिक क्रिया सामान्य बालक की बौद्धिक क्रिया से कम हो जाती है। मंदन से परिपक्वता, सीखने या सामाजिक समायोजन में बाधा पड़ सकती है। मंदन का कारण सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या परिवेशिक प्रभाव भी हो सकता है और शारीरिक प्रभाव भी, जैसे, भ्रूणावस्था में किसी तरह की छूत लग जाना या प्रसव के समय कोई आघात लगना।

मतिभ्रम : कुछ प्रतिमाएं ऐसी होती हैं, जिनमें उद्दीपन की वास्तविकता का भ्रम हो जाता है। व्यक्ति यदि अपने में ही खोया रहे, तो कुछ देर के लिए बाह्य जगत से उसका संपर्क टूट जाता है और उसे अपनी तत्कालीन मानसिक स्थितिजन्य प्रतिमाएं वास्तविक लगने लगती हैं। ऐसी प्रतिमाओं को मतिभ्रम कहा जाता है। भ्रम तो उद्दीपनों का यथार्थ रूप न देख सकने के कारण उसकी गलत व्याख्या करने का परिणाम होता है। भ्रम में कोई उद्देश्य और उद्दीपन की स्मृति-प्रतिमा नहीं होती, केवल उद्दीपन और उसकी गलत व्याख्या ही होती है। मतिभ्रम में उद्दीपन की गलत व्याख्या मात्र न करके स्मृति-प्रतिमा को ही वास्तविक उद्दीपन समझ लिया जाता है। मतिभ्रम उद्देश्यमूलक होता है। प्यासे आदमी को रेगिस्तान में मृगमरीचिका का मतिभ्रम हो जाता है। मतिभ्रम किसी उद्देश्य या आवश्यकता की पूर्ति के लिए पूर्व अनुभव की स्मृति प्रतिमाओं के आधार पर नयी प्रतिमाओं का सृजन कर उन्हें वास्तविक समझ लेना होता है।

मध्यमस्तिष्क : मध्यमस्तिष्क अनुमस्तिष्क और प्रमस्तिष्क के बीच में होता है। प्रमस्तिष्क के धूसर पदार्थ के नीचे तंत्रिकाओं से बनी एक ग्रंथि होती है, जिसे थैलेमस कहा जाता है। अनुकंपी तंत्रिकाओं से संबंधित होने से थैलेमस संवेगात्मक जीवन का आधार होती है। थैलेमस और प्रमस्तिष्क की अग्रपालि में संबंध होता है। हमारी विचारधारा पर संवेगों का जो प्रभाव पड़ता है, उसका आधार थैलेमस और प्रमस्तिष्क की अग्रपालि के संबंध में ही माना जाता है।

मध्यमस्तिष्क के ठीक नीचे मेरुरज्जु-शीर्ष होता है। यह कुछ मोटा और इंच-भर लंबा होता है। मेरुरज्जु-शीर्ष में प्रतिवर्त क्रियाओं और श्वसन-क्रिया का केंद्र है।

मन : मन उद्दीपनों और प्रतिक्रियाओं को विभिन्न प्रकार से संगठित करने का माध्यम है, जिससे मानवीय व्यवहार में अनेकरूपता और जटिलता आ जाती है। जिन मानसिक क्रियाओं को प्रत्यक्ष, संवेदन, अवधान, कल्पना, स्मृति, सोचना आदि नाम दिये जाते हैं, वे मन द्वारा उद्दीपनों और प्रतिक्रियाओं का एक विशेष प्रकार से किये गये संगठन मात्र होते हैं। मन अपने आप में कोई विशिष्ट अंग न होकर प्राणी और परिवेश के बीच होनेवाली क्रियाओं की संज्ञा है। मनोविज्ञान में प्राणी और परिवेश के बीच होनेवाली क्रियाओं के विभिन्न प्रकार के संगठन के आधार, रूप, नियमों और संगठन के भेद के कारणों की खोज करना और उनको समझना है। मनोविज्ञान में प्रयुक्त होनेवाले शब्द, जैसे, स्मृति, कल्पना, बुद्धि, चेतना आदि यद्यपि संज्ञावाचक रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं, किंतु वे वस्तुतः संज्ञावाचक न होकर क्रियावाचक होते हैं।

मनस्तंत्रिकाताप : (दे० तंत्रिकाताप)

मनस्ताप : मनस्ताप शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है : एक तो संज्ञावाचक रूप में अपसामान्य मानसिक अवस्था या प्रतिक्रिया को सूचित करने के लिए, और दूसरे, लाक्षणिक रूप में तत्संबंधी अवस्था या प्रतिक्रिया के लक्षण बताने के लिए। मनस्ताप दो प्रकार के होते हैं : कार्यात्मक और आंगिक। कार्यात्मक मनस्तापों का आधार रागात्मक, ज्ञानात्मक या व्यवहार के किसी ऐच्छिक पक्ष में होता है। आंगिक मनस्तापों का आधार शरीर या मस्तिष्क के किसी अंग के दूषित हो जाने में होता है।

तंत्रिकातापों के विपरीत मनस्ताप मानसिक विकारों का ज्वलंत रूप होते हैं। तंत्रिकातापी व्यक्ति के विपरीत मनस्तापी व्यक्ति का वास्तविकता से ऐसा संबंध-विच्छेद हो जाता है कि वह अपने आपको अपसामान्य नहीं समझ पाता। मनोवैज्ञानिक भाषा में यह कहा जायेगा कि मनस्तापी व्यक्ति में अंतर्दृष्टि का अभाव होता है, जिससे वह वास्तविकता का सही रूप समझ सकने और उससे अपना संतुलन बनाये रखने के अयोग्य हो जाता है। अंतर्दृष्टि के अभाव के कारण उसका व्यवहार अपने लिए भी खतरनाक बन सकता है और दूसरों के लिए भी। इसलिए ऐसे व्यक्ति से सावधान रहने और उसकी कोई समुचित व्यवस्था

करने की बहुत अधिक जरूरत पड़ती है।

कार्यात्मक मनस्तापों में कुछ तो व्यक्ति के रागात्मक पक्ष से और कुछ ज्ञानात्मक पक्ष से संबंधित होते हैं। रागात्मक पक्ष से संबंधित मनस्ताप की पहचान यह होती है कि व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली उसकी मनोदशा में कोई प्रत्यक्ष और स्पष्ट संबंध नहीं जान पड़ता। रागात्मक पक्ष से संबंधित मनस्ताप हैं—उन्माद-अवसाद और नष्टार्तवकालीन विषण्णता। ज्ञानात्मक पक्ष से संबंधित मनस्ताप है व्यामोह। आंगिक मनस्तापों में आघातज, संक्रामक, उपापचयी, रक्त विकारजन्य और विषजन्य मनस्ताप हैं। (दे० उन्माद-अवसाद, नष्टार्तवकालीन विषण्णता, व्यामोह, आघातज मनस्ताप, संक्रामक मनस्ताप, उपापचयी मनस्ताप, रक्त-विकारजन्य मनस्ताप, और विषजन्य मनस्ताप)

मनोग्रंथि : कभी-कभी केंद्रीय प्रेरकों के कुदिशांतरित हो जाने से जो रागात्मक अनुभव, विचार और इच्छाएं बनती हैं, उन्हें मनोग्रंथि कहा जाता है। फ्रिंक ने मनोग्रंथि की परिभाषा यों दी है: "तीव्र रागात्मकता लिये हुए संबद्ध विचारों की एक व्यवस्था, जो हमारे चेतन व्यवहार और चिंतन पर प्रभाव डालकर उन्हें एक निश्चित और पूर्वनिर्धारित दिशा की ओर ले जाती है।" फ्रायड और अन्य लोगों ने अधिकांश मनोग्रंथियों को अचेतन माना है। मनोग्रंथियों में अंतर्निहित अचेतन इच्छाएं हमारे चेतन नैतिक आदर्शों से टकराती हैं और हमारे व्यवहार और चिंतन को प्रभावित करती हैं।

हमारे अनुभव संबद्ध विचारों का स्कंध बन जाया करते हैं। प्रेम, मित्रता, साहित्यानुराग आदि के बिखरे अनुभव अपने-अपने स्कंधों में गुंफित होते चले जाते हैं। अनुभव के हर स्कंध की अपनी अलग रागात्मक विशेषताएं होती हैं, जो अपने स्कंध से संबंधित किसी अनुभव के होने पर प्रकट होती हैं, जैसे, किसी लड़की से प्रेम करने, साहित्यानुशीलन में आनंद लेने या मित्रों के साथ तफरीह करने पर। इस प्रकार मनोग्रंथि किसी वस्तु या विचार के प्रति होनेवाले रागात्मक अनुभवों द्वारा स्थापित निर्धारक प्रवृत्तियों का एक स्कंध होती है, जो सब मानवीय प्रतिक्रियाओं या उनमें से किसी एक पर प्रभाव डाल सकती है।

मनोग्रंथियां दैनिक अनुभव का अंग होती हैं। कुछ मनोविज्ञानी मनोग्रंथि की धारणा का महत्त्व केवल अपसामान्य व्यवहार को समझने के लिए ही स्वीकार करते हैं। किंतु यह न्यायसंगत नहीं है। हो सकता है, व्यवहार तो अपसामान्य हो, किंतु उसका उद्भव किसी ऐसी मनोग्रंथि से हुआ हो, जो कार्यतः सामान्य हो। अशिक्षित मां अपने बच्चे के स्वास्थ्य के लिए टोना-टोटका कर सकती है, जो मां का बच्चे के प्रति स्वाभाविक और सामान्य मनोग्रंथि (स्नेह) से प्रेरित होनेवाला अपसामान्य व्यवहार है। मनोग्रंथि अस्वस्थकर या तो अपनी कार्यात्मक शैली से होती है या अपने स्वरूप से। आत्मक्षुद्रता और सामाजिक हीनता से प्रभावित मनोग्रंथि कार्यतः सामान्य होने पर भी व्यक्ति में हीनता की भावना उत्पन्न करके उसकी वास्तविक कार्यक्षमता और कुशलता में बाधा डालती है। ऐसी दशा में व्यवहार की अपसामान्यता का कारण होता है मनोग्रंथि के स्वरूप का अस्वस्थकर होना। इसी प्रकार मनोग्रंथि का स्वरूप स्वस्थकर होने पर भी उससे प्रेरित व्यवहार अपसामान्य हो सकता है। इतना अवश्य है कि मनोग्रंथि का स्वरूप और उसकी कार्यात्मक शैली दोनों प्रायः अस्वस्थकर ही होते हैं।

मनोग्रंथियों के निर्माण में चिंतन आदि ज्ञानात्मक क्रियाओं का हाथ रहता है, किंतु चिंतन का रूप कल्पना-प्रधान अधिक होता है। मनोग्रंथि बनने के पीछे तार्किकता हो सकती है, किंतु वह मुख्यतः दिवास्वप्नों के रूप में होती है। व्यवहार के जिन प्रेरकों का नैतिक आदर्शों से विरोध होने लगता है, उनकी कार्यशक्ति में रुकावट पड़ती है या उनका दमन हो जाता है। दमित प्रवृत्तियां दिवास्वप्नों के रूप में चेतन स्तर तक आकर मनोग्रंथि बनाने में अपना योग देती हैं। अपने दोषों, परेशानियों, कमियों आदि पर अस्वस्थ रूप से ज्यादा अंतर्निरीक्षण करनेवाले व्यक्ति का सामान्य प्रत्यक्षात्मक दृष्टिकोण बदल जाता है और वह संसार को गलत ढंग से देखने लगता है। यह नहीं समझना चाहिए कि नैतिक आदर्शों से विरोध रखनेवाले सब प्रेरकों का अंत मनोग्रंथि-निर्माण में ही होता है। उनमें से बहुतों का तो लोप हो जाता है। कुछ मनोग्रंथियां, जिन्हें हम पसंद नहीं करते, या जो लज्जास्पद होती हैं, बनी रहती हैं; किंतु अनुभव के साथ-साथ दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से उनकी अप्रियता

बहुत कुछ कम होने की संभावना भी रहती है।

बहुत-से मनोविश्लेषक कुछ मनोग्रंथियों के निर्माण को जन्मतः निर्धारित मानते हैं। हर व्यक्ति को आनुवंशिक रूप में कुछ ऐसी प्रवृत्तियां प्राप्त होती हैं, जो कुछ मनोग्रंथियों के निर्माण में सहायक बनती हैं और उन्हें अचेतन रूप से संचालित भी करती हैं। इस प्रकार कुछ मनोग्रंथियों का निर्माण बिल्कुल अचेतन रूप से हो जाता है।

मनोग्रस्ति : किसी अबौद्धिक और व्यक्ति के नियंत्रण के बाहर की निश्चित मानसिक क्रिया को मनोग्रस्ति कहा जाता है। मनोग्रस्ति की अवस्था में व्यक्ति के मन में कोई परेशान करनेवाला विचार लगातार मौजूद रहता है। व्यक्ति उस विचार की अनर्गलता को समझता तो है, किंतु कुछ कर नहीं पाता। उस विचार से परेशान होने से व्यक्ति की रागात्मक प्रतिक्रिया जाग्रत हो जाती है, जबकि परेशानी का कोई वास्तविक आधार नहीं होता।

मनोग्रस्ति व्यक्ति के जातीय और आत्मीय प्रेरकों में कोई समुचित संगठन न हो पाने से होती है। मनोग्रस्ति में जातीय और आत्म-निर्धारित मूल्यों के अतिरिक्त व्यक्ति के व्यक्तित्व और स्वभाव का भी स्थान रहता है। जातीय और आत्मीय प्रेरकों में संगठन न होने से उन दोनों में समझौता करने की आवश्यकता पड़ती है और वह समझौता किसी स्थानापन्न प्रतीकात्मक क्रिया द्वारा ही हो सकता है। इस समझौते के कारण व्यक्ति का मानसिक संतुलन एक सीमा तक स्थिर रहता है और वह दो विरोधी प्रेरकों में से किसी एक से ही पूरी तरह अभिभूत होने से बच जाता है। मनोग्रस्ति और बाध्यक्रिया में केवल इतना ही अंतर होता है कि मनोग्रस्ति एक मानसिक क्रिया होती है और बाध्यक्रिया एक प्रत्यक्ष शारीरिक क्रिया। मनोग्रस्ति कभी-कभी बाध्यक्रिया द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकती है। (दे० बाध्यक्रियाएं)

मनोमिति : मनोविज्ञान की एक शाखा, जिसका मुख्य उद्देश्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों के माप की प्रणालियों का सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से विकास करना है। मनोमिति के चार विस्तृत क्षेत्र हैं, जिनमें से एक क्षेत्र सामान्य मनोमापन के सिद्धांतों का है, दूसरा मनोवैज्ञानिक प्रयोग की प्रणालियों के सिद्धांतों का, तीसरा मनोवैज्ञानिक माननिर्धारण के सिद्धांतों का और चौथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण के सिद्धांतों का। मनोमिति में सांख्यिकीय सिद्धांतों, नियमों तथा विधियों को अनुप्रयुक्त किया जाता है।

मनोविदलता या विभक्तमनस्कता : ब्लायलर द्वारा कार्यात्मक मनस्ताप के एक रूप को दिया गया नाम। इसके पहले क्रेपेलिन ने इसे असामयिक मनोह्रास नाम दिया था। क्रेपेलिन के अनुसार ऐसे मनोह्रास के लक्षण किसी आंगिक दोष के कारण जीवन के प्रारंभ से ही प्रकट होने लगते हैं और बाद में पूरी तरह विकसित होकर स्थायी बन जाते हैं। इस प्रकार असामयिक मनोह्रास एक ऐसा मनस्ताप होता है, जिसके चिह्न बचपन में प्रकट होने लगते हैं और जिसके मार्ग को पहले से ही समझा जा सकता है।

किंतु ब्लायलर ने असामयिक मनोह्रास के ऐसे रोगियों को भी देखा, जिनके लक्षण बचपन में प्रकट नहीं होते थे। इसलिए ब्लायलर ने क्रेपेलिन के 'असामयिक मनोह्रास' की जगह इसे मनोविदलता या विभक्तमनस्कता कहना अधिक उपयुक्त समझा और मनोविदलता को मनोजन्य माना। मनोविदलता किसी विशिष्ट मनस्ताप का नाम न होकर उन सब लक्षणों के समूह का बोधक है, जिसे मनोविदलता शब्द द्वारा बताया जाता है। मनोविदलता को कोई स्थायी मनस्ताप न समझ कर आंतरिक कठिनाइयों के प्रति की जानेवाली प्रतिक्रियाओं की विभिन्नता समझना चाहिए।

मनोविदलता को समझना जरा मुश्किल होता है। उन्माद-अवसाद, व्यामोह आदि मनस्तापों को समझना इसलिए आसान होता है कि वे हमारे अनुभव के ज्यादा निकट होते हैं, जिससे उन्हें पूर्व अनुभवों के आधार पर समझा जा सकता है। किंतु मनोविदलता को पूर्व अनुभव के आधार पर नहीं समझा जा सकता। मनोविदलता के रोगी में कुछ ऐसी असंगति, कुछ ऐसी विलक्षणता होती है, जिसका अनुभव हमें पहले कभी नहीं हुआ होता। मनोविदलता के रोगी के व्यवहार को देखने पर कुछ वैसा ही अनुभव होगा, जैसा पानी को ऊंचाई की ओर बहते देखकर हो सकता है।

मनोविदलता में मानसिक विघटन होता है, जिससे रोगी का संपर्क बाह्य जगत से टूट जाता है। वह हठभ्रमों और मतिभ्रमों से निर्मित अपने मानसिक जगत में रहने लगता है और अपने हठभ्रमों और मतिभ्रमों को वास्तविक समझता है। मनोविदलता में होनेवाला विघटन हिस्टीरियाई विघटन से अलग है। हिस्टीरियाई विघटन में रोगी अपने पूर्व अनुभवों को बिलकुल भूल जाता है, जबकि मनोविदलता से होनेवाले विघटन में रोगी अपने पूर्व अनुभव को नहीं भूलता, वरन् उसके मतिभ्रम और हठभ्रम ही उसके मानसिक और बाह्यजगत में व्यवधान डाल देते हैं। इसीलिए मनोविदलता कार्यात्मक मनस्ताप का एक रूप है।

मनोविदलता के रोगियों के व्यवहार में नितांत रागात्मक अभाव पाया जाता है। सामान्य व्यवहार में व्यक्ति की प्रतीकात्मक क्रियाओं और रागात्मकता में जो स्वाभाविकता होती है, उसका मनोविदलता के रोगियों में नितांत अभाव होता है। बहुत से मनश्चिकित्सक इस रागात्मक अभाव को ही मनोविदलता का प्रमुख लक्षण मानते हैं।

मनोविदलता का दूसरा सामान्य लक्षण व्यक्ति के ज्ञानात्मक-रागात्मक-प्रतिक्रियात्मक पक्ष में सामान्य संगठन और संबंध का विच्छेद होता है। इस विच्छेद को अंतर्मानसिक गतिभ्रंश कहा जाता है। इसी के कारण रोगी अपनी प्रतीकात्मक क्रियाओं को वास्तविक घटनाएं समझने लगता है। सामान्य व्यक्ति की प्रतीकात्मक क्रियाएं बाह्यजगत की वास्तविकता से नियंत्रित होती हैं, किंतु मनोविदलता के रोगी की नियंत्रित नहीं होतीं, जिससे वह वास्तविकता से पलायन करके अपने मानसिक जगत में खो जाता है।

मनोविदलता का एक अन्य लक्षण होता है विकृत चिंतन। मनोविज्ञानी बेक ने अपनी खोजों से यह मालूम किया है कि मनोविदलता के रोगी का चिंतन उसकी सर्जनात्मक कल्पना का परिणाम न होकर विकृत ढंग से प्रत्यक्ष करने का परिणाम होता है। कोई अपने को गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष समझता है और इस वहम में रहता है कि उसे अस्पताल में हो रहे भ्रष्टाचार का पता लगाने को भेजा गया है। कोई यह समझता है कि वह न्यायाधीश है और अस्पताल में झगड़ों का निपटारा करने को आया है। कैमेरन के अनुसार रोगी के तर्क करने का ढंग सामान्य व्यक्ति के ढंग से अलग होता है और रोगी को तर्क करते समय कार्यकारण संबंध की कोई परवाह नहीं होती। कुछ रोगी नये शब्द भी गढ़ लेते हैं और कुछ अपने मानसिक विन्यास की अस्थिरता के कारण ऐसी भाषा बोलते हैं, जो शब्दों की खिचड़ी मात्र होती है।

कैमेरन के अनुसार रोगियों की इस भाषा-विचित्रता के पीछे कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है, किंतु रोगी अपना पर्याप्त समाजीकरण न कर पाने से अपने अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पाता। सामान्य व्यक्ति के व्यवहार का पर्याप्त समाजीकरण हो चुकता है, जिससे वह जिस समय छोटे बच्चों से बात करता है उस समय अपने को बच्चे के स्तर पर लाकर अपनी भाषा को बच्चे की समझ के अनुरूप बना लेता है। मनोविदलता का रोगी समाज की विभिन्न स्थितियों के अनुरूप अपने व्यवहार का समाजीकरण नहीं कर पाता, जिसके कारण अपने सामाजिक परिवेश से उसका कोई सक्रिय संबंध स्थापित नहीं हो पाता और उसकी बातचीत एक निरर्थक प्रलाप लगती है।

मनोविदलता शब्द किसी विशेष मानसिक विकार का नाम न होकर कुछ लक्षणों के समूह का नाम है। यों तो मनोविदलता के हर रोगी में उपर्युक्त सामान्य लक्षण मिलते हैं, किंतु उसके व्यक्तिगत भेदों के कारण उसमें कुछ और भी लक्षण पाये जाते हैं। उन विशेष लक्षणों के आधार पर क्रेपेलिन ने मनोविदलता का वर्गीकरण छह रूपों में किया है : प्रच्छन्न रूप, साधारण रूप, व्यामोहाभ रूप, कैटाटोनीय रूप, हीबीफ्रीनीय रूप और मिश्रित रूप।

मनोविश्लेषण : आधुनिक मनोविज्ञान की एक प्रमुख शाखा। मनोविश्लेषण द्वारा मन का विश्लेषण करके और उसकी गहराइयों तक पहुंचकर मानसिक क्रियाओं पर प्रभाव डालनेवाली बातों का उद्गम समझने में अपूर्व सहायता और सफलता मिली है। मनोविश्लेषण का विचार मनोविज्ञान में कैसे आया, इसके पीछे एक बड़ी रोचक कहानी है।

मनोविश्लेषण का प्रारंभ मनोविज्ञान की समस्याओं से न होकर आयुर्विज्ञान के क्षेत्र से हुआ। 1780 में मेस्मर नामक व्यक्ति ने 'हिप्नोटिज्म' के प्रति विज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया। हिप्नोटिज्म कृत्रिम साधनों से नींद की तरह लायी गयी एक अवस्था है, जिसमें पात्र

बाहरी संकेतों पर अमल करता है। मेस्मर के ही नाम पर आगे चलकर मेस्मेरिज्म प्रचलित हुआ। मेस्मर को अपनी चिकित्सा के नये तरीकों के कारण, जो रूढ़ परंपरा से अलग थे, वियना से निकाल दिया गया था। 1778 में मेस्मर पेरिस गये। वहां वे हेल और गासनर के संपर्क में आये। हेल चुंबकीय स्टील के टुकड़ों को शरीर पर रखकर और गासनर रोगग्रस्त भाग पर हाथ फेरकर उपचार करता था।

उनके प्रयोगों को देखकर मेस्मर ने यह सिद्धांत बनाया कि शरीर का संचालन नसों से होता है और नसों में एक तरल पदार्थ होता है। उस तरल पदार्थ की प्रकृति चुंबकीय होती है, इसलिए जब चुंबकीय स्टील के टुकड़े शरीर पर फेरे जाते हैं, तो वे तरल पदार्थ का प्रवाह ठीक दिशा में कर देते हैं, जिससे शरीर का विकार दूर हो जाता है। लेकिन विज्ञानियों ने मेस्मर के सिद्धांत को नहीं अपनाया। तरल पदार्थ के अनुमान की जगह रोग-निदान का असली रोगी की मानसिक स्थिति में परिवर्तनों को समझा जाने लगा।

बाद में सम्मोहन द्वारा उपचार करने के लिए नान्सी में डाक्टर बर्नहाइम और पेरिस में शारको ने चिकित्सालय खोले। शारको ने देखा कि सम्मोहित करने के बाद रोगियों को हिस्टीरिया के दौरे आने लगते हैं। बाद में शारको ने सम्मोहन को हिस्टीरिया को समझने और उसे दूर करने के लिए प्रयुक्त किया।

इन्हीं दिनों जैने नामक पेरिस निवासी मन की अचेतन क्रियाओं का अध्ययन कर रहा था। 1890 से वह तंत्रिकातापों के अध्ययन और उनके उपचार के तरीकों को खोजने में बड़ी तत्परता से लगा हुआ था। उसने शारको के तरीके को विकसित किया और यह पता लगाया कि सम्मोहन की अवस्था में हिस्टीरिया का रोगी उन बातों को याद कर लेता है, जिन्हें वह जाग्रतावस्था में भूला रहता है। जैने की यह खोज मनोविश्लेषण की वह बुनियाद थी, जिस पर आगे चलकर फ्रायड ने अपने सिद्धांतों का निर्माण किया।

शारको का नाम सुनकर फ्रायड 1885 में पेरिस गये और वहां उन्होंने एक वर्ष शारको के साथ रहकर अध्ययन किया। वे शारको की प्रणाली से बहुत प्रभावित हुए। एक दिन उन्होंने शारको को यह कहते हुए सुना कि तंत्रिकाताप का आधार यौन जीवन की ही कोई अड़चन होता है। शारको के ये शब्द फ्रायड के मन में घर कर गये और आगे चलकर सही भी सिद्ध हुए। वियना लौटने पर फ्रायड ने आयुर्विज्ञान को अपनाया। उन्होंने शारको की ही प्रणाली का प्रयोग किया। उसमें फ्रायड को एक कठिनाई अनुभव हुई कि बहुत-से तंत्रिकातापी सम्मोहित नहीं हो पाते थे और कई सम्मोहन द्वारा अच्छे भी नहीं हो पाते थे। ऐसा भी होता था कि सम्मोहन द्वारा उपचार से एक रोग के चिह्न तो मिट जाते थे, किन्तु कुछ समय बाद दूसरे रोग के चिह्न प्रकट होने लगते थे।

इसी समय फ्रायड की भेंट वियना के डाक्टर जोजेफ ब्रायर से हुई, जो शरीर-विज्ञान के क्षेत्र से हटकर आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में काम कर रहे थे। फ्रायड और ब्रायर ने मिलकर तंत्रिकाताप का अध्ययन शुरू किया। ब्रायर के पास इक्कीस वर्ष की एक लड़की आयी। लड़की मेधावी थी, किंतु दो वर्षों की बीमारी से उसे बहुत-से शारीरिक और मानसिक विकार हो गये थे। उसे अपनी आंखों को घुमाने-फिराने में बड़ी कठिनाई होती थी। उसकी ज्ञानेंद्रियों की शक्ति भी दुर्बल हो चली थी। वह अपना सिर नहीं संभाल पाती थी और प्यास लगने पर भी कई हफ्तों तक पानी नहीं पी सकी थी। वह अपनी भाषा भी भूलती जा रही थी। उसकी हालत संज्ञा-शून्य-सी हो गयी थी। डाक्टर ब्रायर ने भरसक उसे अपनी सहानुभूति और सहायता देने की कोशिश की। लड़की अपनी शून्यावस्था में कुछ बड़बड़ाती-सी रहती थी। ब्रायर ने उसके शब्दों को समझने की कोशिश की और लड़की को सम्मोहित करके बार-बार उन्हीं शब्दों को दुहराया, जिससे उन शब्दों से संबंधित कुछ बातों का पता चल सके। लड़की का बड़बड़ाना रोग-शय्या के पास बैठी हुई किसी लड़की की कवित्वपूर्ण करुण कल्पनाएं और आकांक्षाएं हुआ करती थीं। अपनी इन कल्पनाओं को कह चुकने के बाद वह कुछ स्वस्थ हो जाती थी। लेकिन कुछ देर बाद उसकी शून्यावस्था फिर लौट आती थी और उसका उपचार फिर उसी तरह किया जाता था।

डाक्टर को अब यह विचार आया कि सम्मोहन द्वारा लड़की के मन के उद्गार निकलवा देने पर उसके मन के तनाव को नष्ट करके उसे अच्छा करने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। एक बार बड़ी गर्मी पड़ रही थी।

लड़की को बहुत तेज प्यास लगी हुई थी, किंतु पानी देने पर वह गिलास जमीन पर फेंक देती थी। प्यास बुझाने के लिए उसे केवल फलों का ही सहारा लेना पड़ता था। एक दिन वह सम्मोहन की अवस्था में कुछ बड़बड़ा रही थी। पता चला कि उसकी एक आया थी, जिससे वह घृणा करती थी। उस आया का एक कुत्ता भी था, जिससे वह और भी घृणा करती थी। एक दिन उसने उस कुत्ते को गिलास से पानी पीते देखा था। सम्मोहन की अवस्था में इस घटना को कह डालने के बाद उसने पानी मांगा और बहुत-सा पानी पिया। गिलास से पानी न पी सकने का कारण कुत्ते के प्रति उसकी मानसिक घृणा थी। उस दबी हुई घृणा का दबाव कम हो जाने पर ही वह गिलास से पानी पी सकी। सम्मोहन से जागने पर वह अपने ओठों पर पानी का गिलास लगा सकी। इसके बाद उसकी पानी न पी सकने की कठिनाई बिलकुल दूर हो गयी। इससे ब्रायर और फ्रायड को यह अनुभव हुआ कि सम्मोहन की अवस्था में स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रागात्मक कठिनाइयों को केवल कह डालने भर से ही रोगी को बहुत आराम मिलता है। लोकलाज और सामाजिक भय के कारण हम अपने मन के बहुत-से उद्‌गार नहीं निकाल पाते और वे दबकर मन का अचेतन भाग बन जाते हैं। अचेतन मन में हमारी दबी हुई हसरतें और यौन संबंधी बातें रहती हैं। जाग्रतावस्था में तो हम उन्हें भूले रहते हैं, लेकिन सम्मोहन की अवस्था में वे हमें याद हो आती हैं।

इस मुक्त साहचर्य द्वारा रोग की प्रारंभिक अवस्थाएं जानने से उसका उद्‌गम और कारण मालूम होने लगा। बाद में फ्रायड ने सम्मोहन को छोड़कर मुक्त साहचर्य के तरीके को ही अपनाया, किंतु ब्रायर ने अपनी एक व्यक्तिगत घटना के कारण मुक्त साहचर्य विधि को बिलकुल छोड़ दिया। फ्रायड ने देखा कि रोगी मुक्त साहचर्य में बाधा का अनुभव करता था। वह या तो आगे सोच नहीं पाता था, या ऐसी बातें सोचता था, जो कहने योग्य नहीं होती थीं। अनुभव के बाद फ्रायड ने मुक्त साहचर्य में पड़नेवाली बाधाओं को बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा। यौन संबंधी मामलों में ये बाधाएं स्पष्ट थीं। दुविधाओं के कारण मन में भयंकर अंतर्द्वंद्व होता रहता है, जिससे बहुत-सी शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है और उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। मनोविश्लेषण के द्वारा फ्रायड ने मानसिक द्वंद्वों को मिटाने का प्रयत्न किया, ताकि मानसिक जीवन स्वस्थ, संतुलित और सामान्य रह सके।

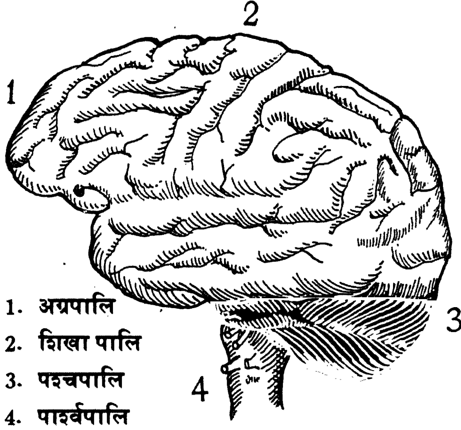
मुक्त साहचर्य विधि में बड़ा समय लगता था। फ्रायड चाहते थे कि अचेतन मन तक जल्दी से जल्दी पहुंचा जा सके। यह बात उन्होंने स्वप्नों के विश्लेषण में पायी। फ्रायड के पहले स्वप्नों का कोई विधिवत् अध्ययन नहीं हुआ था। स्वप्नों को या तो दैवी माना जाता था या किसी आकस्मिक घटना का सूचक। लेकिन फ्रायड ने स्वप्नों को इच्छापूर्ति का प्रतीक बताया। लोकलाज और समाज-भय से हमारी जो इच्छाएं जाग्रतावस्था में पूरी नहीं हो पातीं, उनकी पूर्ति स्वप्नों के द्वारा होती है।

फ्रायड और उनके अनेक अनुयायियों की खोजों से अचेतन मन को जानने के लिए मानसिक क्रियाओं के अध्ययन को न केवल एक नयी दिशा ही मिली, वरन् मुक्त साहचर्य और स्वप्न-विश्लेषण के रूप में मन की गत्यात्मक प्रवृत्तियों को समझ सकने की एक मौलिक अध्ययन-प्रणाली भी मिली। यों तो मनोविश्लेषण के सैद्धांतिक पक्षों में अनेक संशोधन और सुधार होते रहे हैं और हो रहे हैं, किंतु अत्यधिक विवादग्रस्त होने पर भी मनोविश्लेषण के मूल सिद्धांत निर्विवाद हैं और उनसे मानसिक क्रियाओं पर जो नया प्रकाश पड़ा है, वह मनोविज्ञान की स्थायी निधि है।

मयूर-वृत्ति : काम विपर्यास का पुरुषों में ही ज्यादा पाया जानेवाला एक रूप, जिसमें व्यक्ति किसी लड़की के सामने अपनी जननेंद्रिय का नग्न प्रदर्शन करता है। मयूर-वृत्ति एक प्रकार की बाध्यक्रिया होती है। मयूर-वृत्ति वाला व्यक्ति नग्न प्रदर्शन से लड़की में डर, जुगुप्सा या उत्तेजना की प्रतिक्रिया पैदा करके अपने पुरुषत्व का समर्थन करता है और कामतुष्टि का अनुभव करता है। निस्संदेह मयूर-वृत्ति अपने पुरुषत्व के प्रदर्शन का एक बहुत ही आदिम तरीका है।

मस्तिष्क : मेरुरज्जु के ऊपर के विकसित भाग को मस्तिष्क कहा जाता है। मस्तिष्क का विकास कोशिका की बाहरी तहों से होता है। अंदर की तहों से मिलनेवाले उद्दीपनों से बाहर की तह मुड़ जाती है और उसमें पीछे की ओर सिकुड़नें पड़ जाती हैं। मस्तिष्क अपनी इस अवस्था में क्रिया नहीं कर सकता; क्योंकि मस्तिष्क को बनानेवाली

कोशिकाएं अभी तक तंत्रिका-कोशिका नहीं बन पातीं। इन्हीं कोशिकाओं में आगे चलकर एक्जोन और डेंड्रोन निकल आते हैं और वे न्यूरोन की विशेषता ग्रहण करके न्यूरोनीय प्रेरणा को ले जाने के योग्य बन जाते हैं। मस्तिष्क के तीन भाग होते हैं: अनुमस्तिष्क, मध्य-मस्तिष्क और प्रमस्तिष्क।



प्रमस्तिष्क

महानता-हठभ्रम : एक प्रकार का हठभ्रम, जिसमें व्यक्ति अपने आपको कोई तत्कालीन महान व्यक्ति, जैसे, देश का कर्णधार, ईश्वर का अवतार या पैगंबर आदि समझने लगता है। उसके मन में अपने बारे में बड़े ऊंचे विचार होते हैं और वह अपने को अन्य सब लोगों से अत्यंत श्रेष्ठ समझता है, जबकि उसके ऐसा समझने के पीछे कोई ठोस आधार नहीं होता। वह अपने को लाख समाज-सुधारक या देश का कर्णधार समझता रहे, किंतु वस्तुतः उसे समाज की भलाई में कोई रुचि नहीं होती और न ही वह इस योग्य होता है कि किसी का भला कर सके।

मानक : असंख्य लोगों के मापन के बंटन का औसत। इस औसत के आधार पर किसी व्यक्ति के प्राप्तांक की तुलना अन्य समतुल्य लोगों के प्राप्तांकों से की जाती है।

मानक विचलन : किसी परीक्षण में आवृत्ति-वितरण (निम्नतम से उच्चतम या उच्चतम से निम्नतम मापन की एक तरतीब) कितना कम या ज्यादा होता है, इसके ठीक माप को मानक विचलन कहा जाता है। मानक विचलन का पता लगाने के लिए व्यक्तिगत अंकों की माध्य से दूरियां मालूम करके उनके वर्गों के माध्य का वर्गमूल निकाल लिया जाता है।

मानसिक आयु : बुद्धि-परीक्षण के प्रसंग में बिने द्वारा दी गयी एक महत्त्वपूर्ण धारणा। अगर सात साल का बच्चा बुद्धि-परीक्षण की प्रश्नावली में सात साल के बच्चों के लिए दिये गये सभी प्रश्नों के उत्तर दे देता है, तो उसकी कालिक आयु और मानसिक आयु बराबर समझी जाती है। अगर सात साल का बच्चा नौ साल के बच्चोंवाले सभी प्रश्नों का ठीक उत्तर दे दे, तो उसकी मानसिक आयु नौ वर्ष मानी जायेगी और अगर नौ साल का बच्चा केवल सात साल के बच्चोंवाले प्रश्नों का ही ठीक उत्तर दे सके, तो उसकी मानसिक आयु सात साल समझी जायेगी। मानसिक आयु अगर कालिक आयु से ज्यादा हो, तो बच्चे को प्रखरबुद्धि और अगर कम हो, तो मंदबुद्धि कहा जायेगा।

मानसोपचार : मानसोपचार द्वारा असमायोजित व्यक्ति के व्यवहार और उसकी प्रवृत्तियों में उचित परिवर्तन करके उसे रचनात्मक कार्यों की ओर सक्रिय रूप से लगाने, उसकी संवेगात्मक समस्याओं को सुलझाने और उसके व्यक्तित्व का उचित विकास कराने की दिशा में काम किया जाता है। मानसोपचार द्वारा रोगी को अपनी कमजोरी और विकारों के मूल कारणों का ज्ञान कराया जाता है, जिससे वह उन में अंतर्दृष्टि प्राप्त कर अपने को ठीक से समझ ले और वस्तुस्थिति का सही मूल्यांकन कर सकने के योग्य बन सके।

मानसोपचार की अनेक विधियां प्रचलित हैं, जैसे, मुक्त साहचर्य, सम्मोहन, संसूचन, पुनःशिक्षण, सामूहिक चिकित्सा, अनिदेशात्मक चिकित्सा आदि। इन सब विधियों का लक्ष्य केवल यही है कि रोगी अपनी समस्याओं को समझ सके, उसमें वास्तविकता का मूल्यांकन करने की योग्यता आ जाये, उसका संवेगात्मक संतुलन फिर से स्थापित हो सके और उसके मन से अक्षमता की भावना निकल जाये। मानसोपचार में रोगी को भी उपचार में सक्रिय भाग लेना पड़ता है। वह पूर्णतः चिकित्सक पर ही आश्रित नहीं रहता।

मुक्त साहचर्य : मनोविश्लेषण में प्रयुक्त की जानेवाली एक प्रणाली। इसमें व्यक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया जाता और उसे जो उसके मन में आये, मुक्त रूप से बिना किसी हिचक के कहने दिया जाता है। इस प्रणाली द्वारा, जिसका प्रवर्तन स्वयं फ्रायड ने किया था, मन की अतल गहराइयों तक पहुंचने की कोशिश की जाती है। इस प्रणाली का आधार यह है कि जो बातें बिना सोचे-समझे कही जाती हैं, वे मूलतः मन की किसी अज्ञात इच्छा से संबंधित होती हैं। व्यक्ति अनर्गल रूप से जो कुछ कहता है, मनोविश्लेषक उसके बारे में प्रश्न पूछकर और व्यक्ति को तरह-तरह से कुरेदकर उसके अचेतन मन की झलक पाना चाहता है।

मूढ़ : मानसिक विकास की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम पिछड़े व्यक्ति को मूढ़ कहा जाता है। मूढ़ व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि 50 से 70 तक होती है। मूढ़ जीवन की साधारण परिस्थितियों में एक सीमा तक अपना समायोजन कर सकता है। वह ऐसे कामों को सीख सकता है, जिनमें विशेष कुशलता या बौद्धिकता की आवश्यकता न हो। वह पांचवीं-छठी कक्षा तक पढ़ भी सकता है। उसका सामाजिक विकास तो और लोगों की तरह ही होता है, किंतु उसमें सामाजिक परिपक्वता और अपने आप कुछ निर्णय कर सकने की क्षमता नहीं होती। मूढ़ किसी काम में बहुत देर तक लगा नहीं रह सकता। किसी दायित्व को निभाना उसके बस का नहीं होता। उसका अधिकांश व्यवहार उसकी आदतों और बचपन में मिले थोड़े बहुत प्रशिक्षण से ही संचालित होता है।

मूलप्रवृत्ति : मैकडूगल आदि मनोविज्ञानियों ने व्यवहार का प्रेरक मूलप्रवृत्तियों को मानकर प्राणी के सारे व्यवहार की व्याख्या उन्हीं के आधार पर करने की कोशिश की है। मूलप्रवृत्ति आत्मरक्षा या जातिरक्षा के जैविक लक्ष्य पर आधारित विभिन्न स्थितियों के प्रति एक साथ ही जटिल कार्य करने की जन्मजात क्षमता को कहते हैं, जिसमें शायद रागात्मक अनुभव तो रहता है, किंतु अंतिम लक्ष्य का कोई स्पष्ट विचार नहीं होता। चिड़ियां आत्मरक्षा और जातिरक्षा के जैविक लक्ष्य के लिए घोंसले बनाती हैं। घोंसले बनाने में शायद उन्हें प्रसन्नता का रागात्मक अनुभव होता हो, किंतु उनमें घोंसला बनाने के अंतिम लक्ष्य का स्पष्ट विचार नहीं होता।

मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार की विशेषता यह होती है कि वह जटिल होते हुए भी जन्मजात होता है और उसे सीखना नहीं पड़ता। मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार का रूप एक ही जाति के प्राणियों और विशेष रूप से निम्न प्राणियों में लगभग एक-सा और अपरिवर्तनीय होता है। इसका कारण निम्न प्राणियों के परिवेश के सरल और अपेक्षाकृत कम परिवर्तनीय होने में होता है। चूहों और कुत्तों के व्यवहार में अंतर अवश्य होता है, किंतु चूहों-चूहों और कुत्तों-कुत्तों के व्यवहार में कोई अंतर नहीं होता। मनुष्य-मनुष्य के व्यवहार में बड़ा अंतर होता है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का परिवेश बड़ा ही जटिल और परिवर्तनीय होता है, जिससे मनुष्य को संतुलित ढंग से प्रतिक्रियाएं कर सकने के लिए तरह-तरह की बातें सीखनी पड़ती हैं।

व्यवहार की व्याख्या करने के लिए मैकडूगल ने चौदह विभिन्न मूलप्रवृत्तियों को माना है। मूलप्रवृत्तियों को लेकर मनोविज्ञानियों में बहुत वाद-विवाद होता रहा है। इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि मूलप्रवृत्तियां जन्मजात होती हैं और उन्हें सीखना नहीं पड़ता, किंतु मूलप्रवृत्तियों के वास्तविक रूप के विषय में कोई एक मत नहीं है। कुछ मनोविज्ञानी जन्मजात जटिल प्रतिवर्त क्रियाओं को ही मूलप्रवृत्ति कहते हैं और कुछ भूख, प्यास आदि जन्मजात शारीरिक आवश्यकताओं को। कुछ विद्वान व्यवहार के किसी व्यापक प्रेरक को मूलप्रवृत्ति कहते हैं और उसकी व्यापकता को उसके जन्मजात होने का प्रमाण मानते हैं। अन्य विद्वान मूलप्रवृत्तियों की सत्ता को बिलकुल न मानकर यह कहते हैं कि सारा जटिल व्यवहार अर्जित करने का ही परिणाम होता है। इस मतभेद का मुख्य कारण यह है कि मैकडूगल ने मूलप्रवृत्तियों को संज्ञावाचक माना है। अगर मूलप्रवृत्ति शब्द का प्रयोग क्रिया के रूप में किया गया होता, तो शायद इतने बड़े मतभेद की नौबत ही न आती। मूलप्रवृत्तियों को क्रियावाचक अर्थ में स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है।

आजकल बहुमत यह है कि मूलप्रवृत्तियां यद्यपि निम्न प्राणियों में पायी जाती हैं, किंतु मनुष्यों में उनका स्वरूप या तो छिप जाता है, या वे होती ही नहीं। मनुष्य पूर्ण परिपक्व होने तक उन पर निर्भर रहता है। परनिर्भर

रहने के काल में बच्चे के मां-बाप उसमें बहुत-सी आदतें डाल देते हैं, जिससे बाद में आत्म-निर्भर होने पर भी उसका व्यवहार उन्हीं आदतों से संचालित होता रहता है। खाने-पीने, उठने-बैठने, बोलने-चालने और रहने-सहने की जो आदतें बचपन में पड़ जाती हैं, वे बाद में लगभग वैसी ही बनी रहती हैं। बचपन से ही आदतें पड़ जाने से मनुष्यों में मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार का वास्तविक रूप बिलकुल ही छिप जाता है। मैकडूगल ने भी बाद में इसी दृष्टिकोण का समर्थन अपने इन शब्दों में किया था, "मैं स्वीकार करता हूं कि सही और व्यापक अर्थ में मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएं निम्न प्राणियों के व्यवहार की ही विशेषताएं होती हैं।" उन्हें उच्च प्राणियों और मनुष्य के व्यवहार पर घटित करने से जो वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है, उससे क्रियाओं के भिन्न और उच्च रूपों का कोई स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है।

मूलप्रवृत्तियों से व्यवहार की समुचित व्याख्या भी नहीं हो पाती। चिड़ियों के उड़ने की प्रेरक कोई विशेष मूलप्रवृत्ति नहीं होती, उनका उड़ना ही मूलप्रवृत्ति है। जन्मजात व्यवहार की व्याख्या के सूत्र जन्मतः प्राप्त ग्राहकीय-प्रभावकीय-न्यूरोनीय प्रबंध में रहते हैं और उस प्रबंध को आनुवंशिकता और प्रारंभिक विकास के आधार पर समझा जा सकता है। फिर जन्मजात व्यवहार को समझने के लिए मूल-प्रवृत्तियों को अलग से मानने से क्या लाभ ? दूसरे, विज्ञान में लाघव-न्याय से काम लिया जाता है, जिसके अनुसार व्याख्या करने के सूत्र सरल और कम से कम होने चाहिए। व्यवहार की व्याख्या के लिए चौदह अलग मूल प्रवृत्तियों को मानना लाघव-न्याय की अवहेलना करना है।

मेंडलवाद : गेग्रर मेंडल द्वारा प्रतिपादित आनुवंशिकता की व्याख्या का एक सिद्धांत। मेंडल ने अपने प्रयोगों से डार्विन के विकासवाद और प्राकृतिक वरण के सिद्धांत पर नया प्रकाश डाला। मेंडल ने अपने प्रयोग मटर के पौधों पर किये थे। मटर के पौधों पर प्रयोग करने में यह सुविधा थी कि उनकी अनेक पीढ़ियों की आनुवंशिक विशेषताओं की परीक्षा की जा सकती थी। मेंडल ने मटर की एक पीली फली का एक हरी फली से संकरण कराया। इसके परिणाम-'स्वरूप फलियां पीली ही हुईं। यद्यपि सब फलियों में पीला रंग प्रधान था, किंतु उनमें हरे रंग की झलक भी थी। पीली-हरी फलियों का आपस में संकरण कराने पर तीन फलियां पीली और एक शुद्ध हरी हुई। तीन पीली फलियों में एक तो शुद्ध पीली थी और शेष दो में पीले रंग के साथ हरे रंग की झलक भी थी। अनेक बार संकरण कराने पर भी उनका अनुपात यही रहता था: एक शुद्ध पीली, दो पीली-हरी और एक शुद्ध हरी।

मेंडल के इस प्रयोग से डार्विन के प्राकृतिक वरण के सिद्धांत का खंडन हो गया। प्राकृतिक वरण के अनुसार पीली और हरी फलियों का संकरण कराने से सभी फलियां पीले-हरे रंग के औसत रंग की होनी चाहिए थीं, जबकि मेंडल के प्रयोग में दो फलियां औसत रंग की और दो शुद्ध रंग की हुईं। मेंडल ने फलियों की अन्य विशेषताओं, बड़ी और छोटी, गोल और झुर्रियोंदार पर भी प्रयोग करके उसी परिणाम को देखा, जिसे पीली और हरी फलियों के साथ देखा था। लंबी फली का छोटी फली के साथ संकरण कराये जाने पर पहली पीढ़ी में फलियां लंबी हुईं। फिर जब इनका आपस में संकरण कराया गया, तो तीन फलियां लंबी और एक छोटी हुई। छोटी फली शुद्ध छोटी थी और उसकी सारी पीढ़ियां छोटी हुईं। तीन लंबी फलियों में एक शुद्ध लंबी थी, जिसकी सारी पीढ़ियां लंबी हुईं। शेष दो लंबी फलियों का संकरण कराने पर चार फलियां हुईं, तीन लंबी और एक छोटी। उनका संकरण कराने पर फिर यही उपर्युक्त अनुपात प्राप्त होता रहा।

अपने प्रयोगों के आधार पर मेंडल ने यह सिद्धांत बनाया कि पुनरुत्पादक कोशिका दो विभिन्न विशेषताओं में से केवल एक ही विशेषता की वाहक होती है। मटर के पौधों की पुनरुत्पादक कोशिकाएं फलियों के बड़ेपन या छोटेपन और बीज के पीले या हरे होने की दो विशेषताओं में से केवल एक ही की वाहक होती है। पहले तो मेंडल के इस सिद्धांत पर संदेह किया जाता रहा, किंतु लायड मार्गन की खोजों से बाद में मेंडल के सिद्धांत की सत्यता निर्विवाद हो गयी। मेंडलीय सिद्धांत के अनुसार पुनरुत्पादक कोशिकाओं की विशेषताएं आगे की पीढ़ियों को एक निश्चित अनुपात में प्राप्त होती हैं, जिसका पूर्वानुमान कर सकना संभव है। मेंडलीय सिद्धांत मनुष्यों पर भी लागू होता है।

गर्भाधान के समय मां-बाप से प्राप्त होनेवाले दो तरह के क्रोमोसोम अपने को इस ढंग से व्यवस्थित कर लेते हैं कि एक ही प्रकार की क्रिया करनेवाले जीन एक-दूसरे

के आमने-सामने आ जाते हैं। आमने-सामने के दोनों जीन एक ही प्रकार की क्रिया करते हैं, चाहे उनकी क्रिया एक ही दिशा में हो या विरोधी दिशा में। क्रोमोसोम के एक जोड़े के दोनों जीनों के एक ही दिशा में काम करने पर उनकी विशेषता बच्चे में प्रस्फुटित होती है, विरोधी दिशा में काम करने पर बच्चे में या तो उन दोनों जीनों की विशेषता का मध्यम रूप प्रस्फुटित होता है या एक जीन दूसरे जीन की क्रिया को बिलकुल दबा देता है और अपनी ही विशेषता प्रस्फुटित करता है। दो जीनों में जो अधिक प्रभावशाली होता है, तथा जो दूसरे जीन के रहते हुए भी अपना ही प्रभाव प्रस्फुटित करता है, उसे प्रभावी जीन कहा जाता है और जिस जीन का प्रभाव दब जाता है, उसे अप्रभावी जीन कहा जाता है। अप्रभावी जीन ज्यों का त्यों बना रहता है और अगली पीढ़ी को मिलता है। अगली पीढ़ी में यदि उसका मेल दूसरे अप्रभावी जीन से हो जाता है, तो उसका प्रभाव प्रस्फुटित होता है।

आंखों का काला रंग प्रभावी होता है और नीला रंग अप्रभावी। बच्चा अपनी आंख के रंग के निर्धारक दो जीन प्राप्त करता है, एक मां से और एक बाप से। यदि बच्चा अपने मां-बाप से आंखों के काले रंग को निर्धारित करनेवाले दो जीन प्राप्त करे, तो उसकी आंखें काली होंगी और यदि एक जीन काले रंग का और एक नीले रंग का प्राप्त करे, तो भी उसकी आंखें काले रंग की होंगी; क्योंकि काला रंग प्रभावी होता है, जिससे वह अप्रभावी नीले रंग को दबा देता है। बच्चे की आंखें नीले रंग की तभी हो सकती हैं, जब वह नीले रंग के दो अप्रभावी जीनों को प्राप्त करे। बच्चे का अपने मां या बाप पर पड़ना उनसे प्राप्त होनेवाले प्रभावी जीनों पर निर्भर होता है। अगर बच्चा अपने मां या बाप पर न पड़े, तो इसका अर्थ यह है कि उसने अपने मां-बाप में प्रकट न होनेवाले ऐसे अप्रभावी जीनों को प्राप्त किया है, जो उसके मां-बाप के पूर्वजों में अवश्य प्रकट रहे होंगे।

मेरुरज्जु : केंद्रीय तंत्रिकातंत्र का एक भाग। मेरुरज्जु बहुत सी तंत्रिकाओं से मिलकर बनी हुई एक रस्सी की भांति होती है। मेरुरज्जु में शरीर की हर परिधि से आनेवाली और जानेवाली तंत्रिकाओं के 31 जोड़े होते हैं। मेरुरज्जु में संवेदी और प्रेरक तंत्रिकाओं की व्यवस्था इस प्रकार होती है कि शरीर के बाहर के उद्दीपन दो तरह से काम कर सकते हैं। एक ओर तो वे मस्तिष्क में जा सकते हैं और दूसरी ओर तत्काल ही प्रतिक्रिया में परिवर्तित हो सकते हैं। साधारण प्रतिवर्त क्रियाओं का संचालन मेरुरज्जु द्वारा होता है। (दे० प्रतिवर्तक्रिया) सारी अनैच्छिक क्रियाओं का संचालन भी मेरुरज्जु से होता है। प्रतिवर्त क्रियाओं के संचालन में मस्तिष्क का हाथ नहीं रहता। मस्तिष्क तक सूचना पहुंचने में देर लगती है। मेरुरज्जु उसके पहले ही प्रेरक न्यूरोनों को आवश्यक प्रतिक्रिया करने की आज्ञा दे देती है, जो शरीर-रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है।

इस प्रकार मेरुरज्जु एक ओर तो प्रतिवर्त क्रियाओं का नियंत्रण और संचालन करती है और दूसरी ओर मस्तिष्क का शेष शरीर से संबंध स्थापित करती है, जिससे बाहरी उद्दीपन मस्तिष्क तक जाकर उचित प्रतिक्रियाओं का रूप ले लेते हैं। मेरुरज्जु में स्थित संवेदी और प्रेरक न्यूरोन मस्तिष्क से इस प्रकार संबंधित होते हैं कि शरीर का दाहिना भाग मस्तिष्क के बाएं भाग से और बायां भाग दाहिने भाग से नियंत्रित होता है।

मेरुरज्जु-शीर्ष : यह मेरुरज्जु का सबसे ऊपर का भाग होता है। मेरुरज्जु से मस्तिष्क की ओर जानेवाले न्यूरोन एक-दूसरे को यहीं पर पार करते हैं। मेरुरज्जु के नीचे के भागों से आकर मस्तिष्क में जानेवाले और मस्तिष्क से आकर मेरुरज्जु में जानेवाले उद्दीपन यहां से होकर जाते हैं। सांस लेना, रक्त प्रवाह आदि स्वयं होते रहनेवाले काम मेरुरज्जु-शीर्ष से ही नियंत्रित होते हैं। हृदय और फेफड़ों से आनेवाले न्यूरोन भी यहीं आकर मिलते हैं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर हृदय और फेफड़ों की गति में आवश्यक संशोधन हो जाते हैं।

मेस्मर, फ्रांसिस्कस एंटोनियस (1734–1815) : मेस्मर का जन्म जर्मनी में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा तो पादरी बनने के लिए एक मठ में शुरू हुई, लेकिन बाद में चिकित्साशास्त्र में रुचि होने से वे वियना के मेडिकल स्कूल में दाखिल हो गये। वहां उन्होंने एक निबंध लिखा और अपना यह विचार प्रस्तुत किया कि नक्षत्रों से एक विशेष प्रकार का रहस्यमय चुंबकीय तरल पदार्थ धरती

पर आता है और हम सबको प्रभावित करता है। मेस्मर का यह विश्वास था कि शरीर में इस तरल पदार्थ का समुचित संतुलन बिगड़ जाने पर तरह-तरह की बीमारियां पैदा होती हैं।

मेस्मर की यह धारणा थी कि अगर शरीर के इस चुंबकीय द्रव्य के संतुलन को ठीक कर दिया जाये, तो शारीरिक बीमारियां ठीक हो जाती हैं। मेस्मर ने अपने इस सिद्धांत से अनेक रोगियों को आश्चर्यजनक ढंग से ठीक किया और ऐसे-ऐसे रोगियों को भी ठीक किया, जिनके रोग उस समय के विख्यात विशेषज्ञों ने लाइलाज करार दे दिये थे। मेस्मर का सिद्धांत उन्ही के नाम पर मेस्मेरिज्म के रूप में बहुत विख्यात हुआ।

मेस्मर के बाद जेम्स ब्रेड ने मेस्मेरिज्म के स्थान पर 'हिप्नोटिज्म' शब्द प्रचलित किया, जो आज तक चल रहा है। मेस्मर के सिद्धांतों को अब वह मान्यता प्राप्त नहीं है, जो कभी थी। दूसरे, मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म एक ही चीज नहीं है, यद्यपि गलती से उन्हें एक-दूसरे का पर्याय समझा जाता है।

मैसोकीयता : शारीरिक या मानसिक पीड़ा दिये जाने पर काम-तुष्टि अनुभव करने को मैसोकीयता कहते हैं। यह एक प्रकार का विपर्यास है और इसका नाम फोन सैकरमैसोक नामक लेखक के नाम पर रखा गया है, क्योंकि उसने अपनी कहानियों आदि में शारीरिक या मानसिक पीड़ा मिलने पर काम-तुष्टि के अनुभव का विस्तृत वर्णन किया है।

मौखिक अवस्था : मनोविश्लेषकों के अनुसार रागात्मक विकास की एक अवस्था, जिसमें मामूली शारीरिक क्रियाओं द्वारा सुख पाना रागात्मकता के विकास का प्रारंभिक रूप होता है। बच्चे को गर्म रहने, सूखे बिस्तर पर सोने, दूध पीने, अंगूठा चूसने आदि क्रियाओं से जो सुख मिलता है, उनसे उसका रागात्मक संबंध बन जाता है। इसे रागात्मकता की मौखिक अवस्था इसलिए कहा जाता है कि बच्चे के पास सुख पाने का प्रमुख साधन उसका मुंह होता है।

फ्रायड के अनुसार यह रागात्मक विकास की पांच अवस्थाओं में सबसे पहली अवस्था है।

यूथचारिता : दूसरों का साथ चाहने की प्रवृत्ति। प्रत्येक व्यक्ति बचपन में अपने पालन-पोषण, वृद्धि और विकास के लिए दूसरों पर दीर्घकाल तक निर्भर रहता है। इससे उसमें दूसरों का साथ चाहने की प्रवृत्ति पनप जाती है। अगर उसे दूसरों से न मिलने दिया जाये और बिलकुल अकेले मे रखा जाये, तो वह विक्षिप्त हो जाता है। यूथ-चारिता की प्रवृत्ति मनुष्य में इतनी होती है कि कुछ मनो-विज्ञानी उसे जन्मजात ही मानते हैं। हमारी बहुत सी शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति दूसरों के साथ रहने से होती है। बचपन में हम उनकी तृप्ति के लिए मां-बाप पर आश्रित रहते हैं। बाद में हमारा सामूहिक और सामाजिक संपर्क विस्तृत बन जाता है और हमें अनेक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है। यूथचारिता की प्रवृत्ति समाज में रहकर अर्जित की जाती है। हम सभी को बचपन में असहाय और पराश्रित अवस्था से गुजरना पड़ता है, इसलिए दूसरों का साथ चाहने की प्रवृत्ति को जन्मजात कहना ठीक नहीं है।

यौवनारंभ : जीवन का वह काल, जब जनन अंगों में परिपक्वता आती है और वे सक्रिय हो जाते हैं। यौवनारंभ में गौण यौन विशेषताएं भी प्रकट होती हैं, जैसे लड़कों में मूंछ और दाढ़ी का उगना और आवाज का भारी होना, और लड़कियों में स्तनों का विकसित होना और कूल्हों का पुष्ट होना।

यौवनारंभ लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा कुछ जल्दी होता है और ढाई वर्ष से साढ़े तीन वर्ष तक चलता है। इस बीच शरीर के वजन और लंबाई में तेजी से वृद्धि होती है। यौवनारंभ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण है। जननेंद्रियों की परिपक्वता के साथ व्यक्ति का ध्यान उनकी ओर जाना और उनमें रुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

मनोविश्लेषकों के अनुसार यौवनारंभ में व्यक्ति की सुप्त कामभावना जाग्रत होती है और वह विलिंग व्यक्ति के प्रति एक विशेष प्रकार के आकर्षण का अनुभव करने लगता है। फ्रायड ने यौवनारंभ को जनन-अवस्था कहा है, जिसका चरम और स्वाभाविक उत्कर्ष स्त्री-पुरुष के मिलन द्वारा संतानोत्पत्ति में होता है।

रक्त-विकारजन्य मनस्ताप : मानसिक कार्यकुशलता बहुत-सी शारीरिक प्रक्रियाओं पर निर्भर होती है। मानसिक कार्यकुशलता के लिए मस्तिष्क की कोशिकाओं में पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन का पहुंचना बहुत आवश्यक होता है। आक्सीजन की पर्याप्त मात्रा न मिलने से मस्तिष्क की कोशिकाओं की सक्रियता नष्ट होने लगती है। आक्सीजन के अभाव को वैज्ञानिक शब्दावली में अनाक्सिता कहा जाता है। जन्म के समय अनाक्सिता होने के कारण मानसिक विकास रुक जाने के प्रमाण मिलते हैं।

मानसिक कुशलता की दूसरी आवश्यकता है प्रमस्तिष्क में रक्त-शर्करा का पहुंचना। रक्त-शर्करा को प्रमस्तिष्क में पहुंचाने का काम धमनियों द्वारा होता है। अगर धमनियों में कोई विकार हो जाये, तो प्रमस्तिष्क में रक्त-शर्करा की पर्याप्त मात्रा नहीं पहुंच सकेगी और उससे लगभग वैसे ही लक्षण प्रकट होंगे, जैसे मधुमेह रोग में होते हैं, जैसे, चेतनाशून्य होना या शारीरिक अंगों का अकड़ जाना आदि।

धमनियों के विकार को धमनी-काठिन्य कहा जाता है। धमनी-काठिन्य से प्रमस्तिष्क में आक्सीजन और रक्त की पर्याप्त मात्रा नहीं पहुंच पाती, जिससे मानसिक कार्यकुशलता घटने लगती है। धमनी-काठिन्य से मस्तिष्क में अन्य विकार भी हो जाते हैं, जैसे, धूसर पदार्थ का जगह-जगह फूल-सा जाना इत्यादि। मस्तिष्क के इन विकारों से चिंतन, कल्पना, याद रखना, अवधान और संवेग आदि मनोवैज्ञानिक क्रियाएं दूषित हो जाती हैं और रोगी को चिकित्सालय में रखना आवश्यक हो जाता है।

धमनी-काठिन्य अधिकतर वृद्धावस्था में होता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति का दिमाग फिर जाता है। वह अपना काम बुद्धिमानी से नहीं कर पाता और दूसरों के बहकाने में बहुत जल्दी आ जाता है। प्रचलित भाषा में कहा जाता है कि वह सठिया गया है। सठिया जाने से वह आत्मनियंत्रण खो बैठता है और समाज विरोधी व्यवहार कर सकता है। सठियाने के कारण लोग बच्चों तक के साथ व्यभिचार करने से नहीं हिचकते। सठियाने के परिणामस्वरूप रोगी को उत्पीड़न-हठभ्रम भी हो सकते हैं और वह अपने कल्पित अभियोगियों पर आक्रमण भी कर बैठता है।

सठियाने का कारण धमनी-काठिन्य ही न होकर वृद्धावस्था के कारण अंगों में ह्रासोन्मुखी परिवर्तनों का होना भी होता है। सठियाना अपसामान्य मनोविज्ञान की दृष्टि से ज्यादा महत्त्व का विषय नहीं है, किंतु कुछ ऐसे उदाहरणों का महत्त्व अवश्य होता है, जिनमें व्यक्ति प्रौढ़ावस्था में ही सठिया जाता है। इस प्रकार के केवल दो प्रमुख रूपों को जानना ही पर्याप्त होगा। इन रूपों का नामकरण उनकी खोज करनेवालों के नाम पर किया जाता है। ये रूप हैं अल्जाइमर रोग और पिक रोग।

अल्जाइमर रोग चालीस-बयालीस साल की अवस्था में पाया जाता है। परीक्षणों के आधार पर यह पता चला है कि इस रोग में मस्तिष्क की तंत्रिका-कोशिकाएं नष्ट हो जाती हैं। रोगी के व्यवहार में लक्ष्योन्मुखता नहीं रहती, वाक्‌भ्रंश भी हो जाता है और कार्यकुशलता पर नियंत्रण नहीं रह जाता, जिससे वह ताले में चाभी डालने, जूते के फीते बांधने आदि जैसे साधारण काम करने के ढंग भी भूल जाता है। व्यक्ति का स्मृतिविस्तार बहुत संकुचित हो जाता है। अल्जाइमर रोग प्राणघातक होता है और रोगी कोई तीन साल तक ही बचा रह सकता है।

पिक रोग पचास-पचपन साल पर होता है और रोगी दस साल तक ही चल पाता है। पिक रोग में मस्तिष्क की तंत्रिका-कोशिकाओं के नष्ट होने के साथ-साथ अन्य अपसामान्य लक्षण भी पाये जाते हैं। पिक रोग में स्मृति-विकार भी पाये जाते हैं, किंतु उनमें और अल्जाइमर रोग में पाये जानेवाले स्मृति-विकारों में अंतर होता है। पिक रोग के रोगी को स्मृति-संबंधी साधारण परीक्षणों में कठिनाई नहीं होती, कमी केवल इस बात की होती है कि रोगी एक स्थिति में जो सीखता है, उसका उपयोग जरा परिवर्तित स्थिति में नहीं कर पाता। एक रोगी अपने कमरे के एक विशेष द्वार से स्नानगृह तक जाने का निश्चित मार्ग जानता था, किंतु किसी अन्य द्वार से जाने पर मार्ग भूल जाता था। दूसरे वह कागज पर कमरे से स्नानगृह तक के मार्ग का नक्शा भी नहीं बना पाता था। पिक रोग में रोगी अपनी स्मृति-प्रतिमाओं का प्रयोग एक स्थिति से दूसरी स्थिति में नहीं कर पाता और यही पिक-रोग की विशेषता होती है।

रक्षा-युक्तियां : रक्षा-युक्तियां कुछ ऐसे साधन हैं, जिन्हें हमारा अहम् तंत्रिकातापी और नैतिक दुश्चिंता से बचने

के लिए अपनाता है। तंत्रिकातापी और नैतिक दुश्चिंता का उद्गम स्थान अपने ही अंदर होने से हमारे लिए उनसे बच जाना कठिन होता है। रक्षा-युक्तियों को अपनाने से अहम् की काफी शक्ति व्यर्थ चली जाती है और अहम् अपनी उस शक्ति का प्रयोग अधिक उपयोगी कार्यों में कर सकने से वंचित रह जाता है।

रक्षा-युक्तियां अहम् के लिए हानिकारक होती हैं; क्योंकि उनको अपनाने से अहम् का विकास स्वस्थ रूप से अपना कार्य करने के लिए पर्याप्त रूप से नहीं हो पाता। फिर भी रक्षा युक्तियों की जरूरत इसलिए पड़ती है कि बचपन में अहम् बहुत कमजोर होता है और उस समय वह विभिन्न स्थितियों की मांगों से अपना संगठन और सामंजस्य नहीं कर पाता। इस कमी को पूरा करने के लिए रक्षायुक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। अगर अहम् दुश्चिंता से समुचित और स्वस्थ ढंग से नहीं बच पाता तब वह कुछ रक्षा-युक्तियों से काम लेता है और वे युक्तियां हैं खतरे की उपस्थिति को स्वीकार न करना (दमन), खतरे का बाह्यीकरण (प्रक्षेपण), खतरे को छिपाना (ऋणात्मक प्रतिक्रिया), बचपन की ओर लौटना (प्रतिगमन), आदि। अहम् की इन रक्षा-युक्तियों का व्यक्ति के निर्माण और सामान्य विकास पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है।

रुचि : परिवेश के किसी पक्ष के प्रति प्रतिक्रिया करने का जो ढंग अर्जित किया जाता है, उसे रुचि कहते हैं। रुचि प्रतिक्रिया करने का भावात्मक ढंग होता है। जिस काम में रुचि होती है, उसे किया भी जाता है। यह कहना सर्वथा असंगत है कि हम अमुक काम इसलिए नहीं करते हैं कि हमें उस काम में रुचि है। रुचि अनुकूल भावात्मक सक्रियता का ही दूसरा नाम है। रुचि में सुखद अनुभूति भी रहती है। किसी व्यक्ति की रुचि को जान लेना यह जान लेना है कि वह क्या काम करेगा।

रुचि को बचपन में या बाद में अर्जित किया जाता है। रुचि का निर्माण कुछ मूलभूत प्रेरकों के संबंध से होता है। बच्चे को जब खिलौना मिलता है, तो उसे बड़ी उत्सुकता होती है। उत्सुकता के कारण वह खिलौने में रुचि लेने लगता है। अगर उसका खिलौना रेलगाड़ी हो, तो रेलगाड़ी के प्रति बचपन में बनी उसकी रुचि युवावस्था तक ज्यों की त्यों बनी रह सकती है। उसे रेल के ही किसी विभाग में काम कराने की प्रेरक हो सकती है। इसी प्रकार अन्य नौकरियों के पीछे भी हमारी रुचि का काफी हाथ होता है।

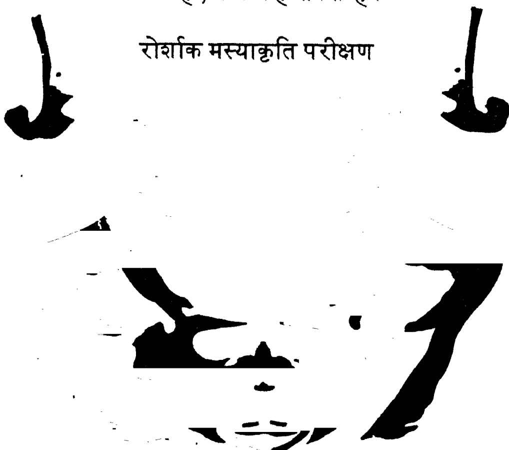
रोर्शाक मस्याकृति परीक्षण : यह एक प्रक्षेपी प्रविधि है, जिसका आविष्कार स्विट्जरलैंड के मनश्चिकित्सक हर्मन रोर्शाक ने किया था। रोर्शाक के मस्याकृति परीक्षण का आधार यह है कि मानवीय व्यवहार हमेशा सार्थक होता है। व्यवहार पर प्रत्यक्ष करने का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। देखने और करने में घनिष्ठ संबंध होता है और मनुष्य के करने को उसके देखने से अलग करके नहीं समझा जा सकता। व्यक्ति के असंतुलित व्यवहार का कारण उसके देखने का ढंग होता है। व्यक्ति का व्यवहार बाह्य जगत को देखने के ढंग के अनुरूप होता है। व्यक्ति परिवेश को जिस ढंग से देखता है, उसी प्रसंग में वह परिवेश से अपना साहचर्य बनाता है। मस्याकृति परीक्षण से प्रत्यक्ष करने के स्तर पर व्यक्ति की गत्यात्मक दिशा का पता चलता है।

रोर्शाक परीक्षण में दस मानकित मस्याकृतियां होती हैं। व्यक्तित्व को प्रक्षेपण द्वारा जानने के लिए यों तो व्यक्ति के परिवेश को सर्वथा नहीं बदला जा सकता, किंतु मस्याकृतियों द्वारा उसके सामने एक ऐसा परिवेश उपस्थित कर दिया जाता है, जो उसके लिए अपूर्व, अर्थशून्य और तटस्थ होता है। मस्याकृति का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता। उसमें केवल विभिन्न संकेतों की संभावना होती है। व्यक्ति मस्याकृति के अनेक संकेतों में से अपने प्रत्यक्ष करने के ढंग के अनुसार कुछ संकेत चुन लेता है और पूर्व अनुभव की पृष्ठभूमि पर अपने उद्देश्यात्मक मानसिक संगठन का प्रक्षेपण करके चुने हुए संकेतों को सार्थक बनाने की कोशिश करता है। "जाकी रही भावना जैसी, मस्याकृति देखी तिन तैसी।"

कुछ मस्याकृतियां रंगीन भी होती हैं; क्योंकि व्यक्ति के रागात्मक अनुभव में रंगों का एक विशिष्ट स्थान होता है। हमें शाम सुहानी भी लगती है और उदास भी। लेकिन क्यों? अगर आकाश साफ हो ओर डूबते सूरज की किरणों से वातावरण सुनहला बन गया हो, तो शाम सुहानी लगती है। अगर आकाश पर बदली छायी हो और वातावरण में एक धुंधलका-सा हो, तो शाम उदास लगती है। स्पष्ट है कि शाम के सुहाने या उदास लगने

का कारण रंगों की चटक और तीव्रता में होता है, जो हमारे दृष्टिकोण को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करके हमें शाम के सुहाने या उदास लगने का रागात्मक अनुभव कराते हैं। अतः रंगों और रागात्मक अनुभव की घनिष्ठता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रोर्शाक परीक्षण में पात्र को दसों मस्याकृतियां बारी-बारी से दिखायी जाती हैं और पात्र की प्रतिक्रियाओं का लेखा बनाया जाता है। परीक्षण विधि का सामान्य परिचय दो पात्रों के मूर्त उदाहरण की तुलना से भलीभांति हो सकेगा। परीक्षक पात्र 'क' और पात्र 'ख' को मस्याकृति (दे० चित्र) दिखाकर कहता है, "लोग इस मस्याकृति में तरह-तरह की चीजें देखते हैं। आपको क्या दिखायी पड़ता है? आप कैसे देखते हैं और आप के देखने का क्या अर्थ है? अपने देखने के आधार पर आप क्या सोचते हैं? आप मस्याकृति को जिधर से घुमाकर देखना चाहें, देख सकते हैं। आप मस्याकृति के विषय में जो सोचते हों, जिस तरह सोचते हों, जितनी बार सोचते हों, सब कह सकते हैं।"

रोर्शाक मस्याकृति परीक्षण



पात्र 'क' का उत्तर : मैं दो आदमियों को आमने सामने मुंह किये अंगीठी तापते हुए देखता हूं। मालूम होता है कि दोनों शिकार के हिस्सा-बांट के लिए आपस में बहस कर रहे हैं।

पात्र 'ख' का उत्तर : यह एक ऐसे लड़के का चित्र है, जो दूसरे लड़के से कुछ छीन रहा है।

उत्तरों का मूल्यांकन तीन प्रकार से किया जाता है :

(1) पात्र ने क्या देखा? पात्र 'क' ने दो आदमी और पात्र 'ख' ने दो लड़के देखे। दूसरे शब्दों में दोनों पात्रों ने मनुष्य देखे।

(2) पात्र ने मस्याकृति को कैसे देखा? पात्र 'क' ने दोनों आदमियों को अंगीठी तापते और शिकार खेलकर आते देखा और पात्र 'ख' ने एक लड़के को दूसरे लड़के से कुछ छीनते देखा।

(3) पात्रों के देखने के पीछे कितनी वास्तविकता थी? यद्यपि मस्याकृतियां मनुष्यों से पूर्ण समानता नहीं रखतीं, फिर भी वे बहुत कुछ मनुष्यों के समान हैं। दोनों पात्रों ने मस्याकृति में मनुष्य देखे और उनका देखना वास्तविकता से ज्यादा दूर नहीं था। अगर कोई पात्र मस्याकृति में बाजा या घोड़ा देखता, तो उसका देखना वास्तविकता से बहुत दूर होता।

पात्र 'क' और 'ख' दोनों ने मस्याकृति में मनुष्य देखे। मनुष्यों को देखना प्रत्यक्ष अनुभव से संबंधित होता है। किंतु कुछ पात्र ऐसे भी होते हैं, जो देश-काल की भौगोलिक सीमाओं से बाहर जाकर देखते हैं और उनके देखने का उनके प्रत्यक्ष अनुभव से कोई सीधा संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए कोई पात्र मस्याकृति में नरक में दो दैत्यों का मिलन भी देख सकता है। उसका ऐसा देखना वास्तविकता के समीप तो होगा; क्योंकि दैत्यों के रूप की कल्पना मानवीय रूप में की जाती है, किंतु इस तरह देखने का पात्र के अनुभव से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होगा। अगर कोई पात्र मस्याकृति में नरक में दो दैत्यों का मिलन देखे, तो एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा हो जाता है : पात्र ने भौतिक जगत के अनुभवों की उपेक्षा करते हुए एक ऐसे मनोवैज्ञानिक जगत का निर्माण क्यों किया, जिसका दैनिक अनुभव से कोई संबंध नहीं है?

क्या इस प्रश्न का उत्तर पात्र के उद्देश्यात्मक संगठन की दिशा की ओर संकेत नहीं करता? पात्र मस्याकृति में जो कुछ देखता है, वह संयोग की बात नहीं होती। पात्र का देखना वास्तविक या काल्पनिक रूप से उसकी मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का परिचायक होता है। मानवीय परिवेश के असंख्य पक्ष होते हैं और इसीलिए मानवीय व्यवहार में बड़ी विभिन्नता और विचित्रता होती है। सामान्य व्यक्ति दसों मस्याकृतियों में परिवेश के अनेक

पक्ष और उनके प्रति की जानेवाली क्रियाएं देखता है। किंतु मस्याकृतियों में अगर किसी व्यक्ति के 'देखने' के किसी विशेष पक्ष की ही प्रधानता हो, तो स्पष्ट है कि वह व्यक्ति अपने 'देखने' से संबंधित व्यवहार या संतुलन के पक्ष से अतिशय प्रभावित है। उदाहरण के लिए अगर पात्र 'क' मस्याकृतियों में 'शिकार' हिस्सा-बांट' या 'बहस करना' या उन्हीं की समानार्थक अन्य क्रियाएं देखें, तो उसका 'देखना' अवश्य ही तत्संबंधी क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाली और पात्र के उद्देश्यात्मक संगठन को असंतुलित बना देनेवाली किसी समस्या से प्रभावित होगा।

मस्याकृति परीक्षण के मूल्यांकन में प्रतिक्रिया-समय का बड़ा महत्त्व होता है। मानसिक रोगी के लिए मस्याकृति परीक्षण एक कठिन और थका देनेवाली स्थिति होती है, जिससे उसे मस्याकृति पर प्रक्षेपण करके अपने मानसिक जगत का निर्माण करने में बहुत समय लगता है। परीक्षण में लगनेवाली देर का दुखदायी ज्ञान रोगी को स्वयं रहता है और वह ज्ञान भी रोगी के मानसिक जगत का एक अंग होता है। प्रत्येक मस्याकृति रोगी के मन में लगातार तनाव उत्पन्न करती जाती है और तनाव से जल्दी छुटकारा पाने के लिए रोगी पहली मस्याकृति पर जैसा प्रक्षेपण करता है दूसरी मस्याकृतियों पर उसी को दुहराने लगता है।

प्रतिक्रिया-समय में देर लगना इस बात का संकेत होता है कि पात्र की मनोवृत्ति जड़तामय है, जिससे उसमें आसानी से परिवर्तन या संशोधन नहीं हो सकता और पात्र के देखने के ढंग में कुछ ऐसा स्थायित्व है, जो परिवर्तित स्थितियों के अनुरूप शीघ्रतापूर्वक पुनर्व्यवस्थित नहीं हो पाता।

परीक्षण के मूल्यांकन में इस बात का भी महत्त्व होता है कि पात्र ने अपने मानसिक जगत का निर्माण पूरी मस्याकृति के आधार पर किया है या उसके किसी खंड के आधार पर। अगर पात्र मस्याकृति के किसी विशेष खंड को ही देखता है, तो इसका अर्थ यह है कि उसमें स्थितियों के अंत:संबंध को देखने की क्षमता नहीं है, या वह उसकी अवहेलना करता है। ऐसा पात्र स्थिति के गौण पक्षों से इतना चिपका रहता है कि उसकी दृष्टि मुख्य पक्ष पर नहीं पड़ पाती और व्यावहारिक जीवन में यह उसके हित में नहीं होता।

लिबिडो : फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकों ने हमारी केंद्रीय रागात्मक शक्ति को 'लिबिडो' नाम दिया है। लिबिडो की धारणा अत्यंत विवादग्रस्त है। कुछ लोग उसे काम-शक्ति समझते हैं, कुछ जीवनेच्छाशक्ति, और शेष सुखेप्सा-शक्ति। किंतु इतना सब स्वीकार करते हैं कि लिबिडो एक प्रकार की ऐसी शक्ति, प्रभाव या राग होता है, जो किसी भी जन्मजात या अर्जित प्रेरक से संपर्क रखकर या उसके द्वारा प्रवाहित होकर उसे और सशक्त बना देता है। रागात्मकता के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में लिबिडो का बड़ा महत्त्व होता है।

वर्ण : दृश्य जगत में रंगों का बड़ा महत्त्व है। यों तो हमारी आंख हजारों रंगों में भेद कर सकती है, किंतु रंगों के दो भेद बड़ी आसानी से किये जा सकते हैं : चटक रंग और चटकहीन रंग। लाल, हरे, नीले, पीले रंग चटक होते हैं; सफेद, धूसर और काले चटकहीन। चटक रंग वे होते हैं, जिनमें धूसर रंग की मिलावट नहीं होती। धूसर रंग काले और सफेद की मिलावट होता है। चटकहीन रंगों में केवल फीके या गहरे होने का अंतर होता है। यह भेद चटक रंगों में भी होता है। सफेद के निकट होने पर रंग फीका और काले के निकट होने पर गाढ़ा होता है।

रंगों की दो विशेषताएं और होती हैं, चमक और संतृप्ति। पानी में थोड़ा लाल रंग डालने पर पानी का रंग फीका रहेगा। लाल रंग और डालने पर पानी का रंग गाढ़ा होने लगेगा। गाढ़ा होने को ही रंग की संतृप्ति कहा जाता है।

लाल, हरे, पीले और नीले रंगों को प्रमुख रंग माना जाता है; क्योंकि यही चार रंग आपस में चटकहीन रंगों के साथ विभिन्न मात्रा में मिलाये जाने पर हजारों रंग उत्पन्न कर देते हैं। जो रंग एक निश्चित मात्रा में मिलाये जाने पर धूसर रंग उत्पन्न करते हैं, उन्हें पूरक रंग कहा जाता है। इस तरह यदि लाल और हरे या पीले और नीले रंगों को एक निश्चित मात्रा में मिलाया जाये, तो उनसे धूसर रंग बन जाता है। इसलिए लाल-हरे और नीले-पीले रंगों के जोड़े को पूरक रंग कहा जाता है।

रंग और उनकी विशेषताएं प्रकाश के उद्दीपन से पैदा होती हैं। प्रकाश के उद्दीपनों में तीन प्रकार का अंतर होता है, तरंग की लंबाई का, शक्ति की मात्रा का और

तरंगों की विभिन्न लबाइयों की मिलावट या घोल का। हमारी आंखों और मस्तिष्क के द्वारा 400 से लेकर 700 मिलीमाइक्रोन लंबी तरंगें ही ग्रहण की जा सकती हैं। छोटी लंबाई की तरंगें बैंगनी और नीले रंग को तथा ज्यादा लंबाई की तरंगें पीले और लाल रंग को उत्पन्न करती हैं। रंगों की विविधता प्रकाश-तरंगों की विभिन्न लंबाइयों के मिलने से होती है।

रंगों की चमक प्रकाश की शक्ति की मात्रा पर निर्भर होती है। दिन को पीला और लाल रंग ज्यादा चमकीला मालूम होता है, हरा और नीला अपेक्षाकृत कम चमकीला लगता है। रात को हरा और नीला रंग लाल और पीले रंग की अपेक्षा ज्यादा चमकदार लगता है। शक्ति-परिवर्तन का असर रंगों के चटक होने पर भी पड़ता है। उद्दीपन की शक्ति मध्यम होने पर रंग अत्यंत चटक दिखायी पड़ते हैं।

फिर भी प्रकाश के उद्दीपन, उसकी तरंगों की लंबाई, शक्ति, मिलावट या घोल में और आंख द्वारा रंगों का अनुभव करने में पूरा तादात्म्य नहीं होता। यदि हम दिन में किसी वस्तु को देखने के पहले ही उसके संभावित रंग को जान लें, तो हमें वह वस्तु उसी रंग की जान पड़ेगी, चाहे उस वस्तु से आनेवाले रंग में थोड़ा अंतर ही क्यों न हो। इस घटना को रंग की ध्रुवता कहा जाता है। चमक यद्यपि उद्दीपन की शक्ति की मात्रा पर निर्भर होती है, किंतु कोयला हमें रात और दिन में समान रूप से काला लगता है, घास हरी लगती है, बर्फ सफेद लगती है। इससे यह पता चलता है कि यदि मस्तिष्क पहले से ही तैयार हो, तो रंगों के अनुभव पर उद्दीपन की शक्ति की मात्रा का प्रभाव नहीं के बराबर पड़ता है।

वर्ण-मिश्रण : रंगों की विविधता प्रकाश की विभिन्न लंबाई की तरंगों के मिश्रण से होती है। विभिन्न लंबाई की तरंगों को कृत्रिम रूप से मिश्रित करने के अनेक तरीके हैं। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में लाया जानेवाला एक सुलभ तरीका है वर्णचक्र तैयार करना।

वर्णचक्र के एक भाग में एक रंग होता है और शेष भाग में दूसरा रंग। इस चक्र को जब तेजी से घुमाया जाता है, तो देखने में लगता है कि चक्र के दोनों रंग घुल गये हैं। यह इस प्रकार होता है : चक्र का एक भाग जब आंख के ग्राहकों को उत्तेजित करता है, तो उस भाग के रंग का सम-उत्तर संवेदन कुछ क्षणों तक बना रहता है। वह मिट नहीं पाता कि चक्र का दूसरा भाग आंख के ग्राहकों को उत्तेजित कर बैठता है, जिसका नतीजा यह होता है कि पहले उद्दीपन के रंग का सम-उत्तर संवेदन दूसरे रंग के उद्दीपन के रंग के साथ घुल जाता है और हमें लगता है कि चक्र के दोनों रंग परस्पर मिश्रित हो गये हैं।

दो रंगों को वर्णचक्र द्वारा मिश्रित करने पर उनकी चटक में जो अंतर पड़ता है, उस पर प्रयोगशाला में परीक्षण करके अनेक नियम बनाये जा चुके हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख नियम ये हैं :

दो पूरक रंगों को एक निश्चित मात्रा में मिश्रित करने पर धूसर रंग बन जाता है और उसकी चमक दोनों रंगों के बीच की होती है।

दो अपूरक रंगों (हरे और नीले) को निश्चित मात्रा में मिश्रित करने पर उन दोनों के बीच का रंग बन जाता है, जिसकी चमक दोनों रंगों के बीच की होती है।

दो पूरक रंगों को मिश्रित करने से धूसर रंग बनता है किंतु पूरक रंगों (लाल-हरे और पीले-नीले) को आपस में एक निश्चित अनुपात से मिश्रित करने पर भी धूसर रंग बनता है। इस धूसर रंग की चमक दोनों पूरक रंगों के जोड़े के धूसर रंगों की चमक के बीच की होती है।

वर्ण-विरोध : यदि हमारी आंख का किसी रंग से अनुकूलन हो जाये, तो हमें उस रंग के पूरक या विरोधी रंग का संवेदन हो सकता है। लाल रंग का चश्मा लगाकर कुछ देर बाद उतार देने पर रंगहीन वस्तुएं हरी दिखायी पड़ने लगती हैं। इसी प्रकार नीला चश्मा लगाकर उतार देने पर हर रंगहीन वस्तु पीली नजर आती है। इस स्थिति को रंगों का क्रमिक विरोध कहा जाता है। उद्दीपन और पूरक रंगों के एक साथ होने पर रंगों में जो विरोध उत्पन्न होता है, उसे रंगों का समकालिक विरोध कहा जाता है। धूसर रंग के कागज के दो टुकड़े लीजिए। एक को काली पृष्ठभूमि पर और दूसरे को सफेद पृष्ठभूमि पर रखिए। काली पृष्ठभूमि पर रखा टुकड़ा सफेद पृष्ठभूमि पर रखे टुकड़े से ज्यादा चमकदार लगेगा। धूसर रंग के धब्बे किसी रंगीन पृष्ठभूमि पर डाल दीजिए, तो उन धब्बों में रंगीन पृष्ठभूमि के पूरक रंग की झलक आ जायेगी।

सूर्य का पीला-सा प्रकाश बर्फ पर नीले रंग की झलक ला देता है। रंगों के विरोध का सामान्य नियम यह है कि कोई रंगीन धरातल अपने पास के क्षेत्र में अपने पूरक रंग की झलक ला देता है। चित्रकार रंगों के इस विरोध का विशेष ध्यान रखते हैं। कपड़े रंगते समय या कमरा सजाते समय भी रंगों के विरोध का ध्यान रखा जाता है।

वर्ण-विषयक सिद्धांत : रंगों के विषय में अनेक सिद्धांत हैं। उनमें सबसे मान्य सिद्धांत टामस यंग का है, जिसको बाद में लुडविग फोन हेल्महोल्त्स ने और उन्नत बनाया था। यंग-हेल्महोल्त्स सिद्धांत के अनुसार शंकु तीन प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के शंकु लाल, दूसरे प्रकार के हरे और तीसरे प्रकार के नीले रंग के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। वर्णमिश्रण के तथ्य इस मान्यता का काफी समर्थन करते हैं। यदि सफेद पर्दे पर विभिन्न मिलावट और अनुपात से लाल, हरे और नीले रंगों को चमकाया जाये, तो हमें प्रत्येक रंग प्राप्त हो सकता है। इस सिद्धांत से विभिन्न लंबाई की तरंगों के मिश्रण की व्याख्या के अतिरिक्त बहुत सीमा तक विषम-उत्तर संवेदन की व्याख्या भी की जा सकती है। विषम उत्तर संवेदन तीन प्रकार के शंकुओं के विभिन्न उद्दीपनों के कारण होता है। उदाहरण के लिए, जब नीले रंग की किरणें नीला रंग ग्रहण करनेवाले शंकुओं को उत्तेजित करती हैं, तो उस समय हरे और लाल रंग को ग्रहण करनेवाले शंकु अप्रभावित रहते हैं। कुछ देर बाद नीले रंग के ग्राहक शंकु थक जाते हैं और जब हम चटकहीन रंगों की सफेद या धूसर पृष्ठभूमि की ओर देखते हैं, तब हरे और लाल रंग के ग्राहक शंकु सक्रिय हो जाते है, जिससे हमें हरे-लाल रंग के बीच का, अर्थात् पीला रंग दिखायी पड़ता है, जो नीले रंग का पूरक होता है। यद्यपि इस सिद्धांत से कई बातों की व्याख्या नहीं हो पाती, फिर भी आजकल विज्ञानियों को यही सिद्धांत ज्यादा मान्य है।

वर्णांधता : बहुत-से लोग रंग तो देख लेते हैं, किंतु उनमें ठीक से भेद नहीं कर पाते। ऐसा उनकी वर्ण-दुर्बलता के कारण होता है। कुछ लोग निश्चित लंबाई की तरंगों को बिलकुल नहीं देख पाते। ऐसे लोग वर्णांध होते हैं। पूर्ण वर्णांध होने पर व्यक्ति को रंग का कोई संवेदन नहीं होता। अगर वर्णांधता आंशिक होती है, तो व्यक्ति केवल कुछ रंगों के उद्दीपनों के प्रति ही प्रतिक्रिया नहीं कर पाता। पूर्ण वर्णांधता बहुत कम देखने को मिलती है। आंशिक वर्णांधता दो प्रकार की होती है। लाल-हरे और पीले-नीले रंगों की। लाल-हरे रंग की वर्णांधता के काफी उदाहरण मिलते हैं और वह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होती है। वर्णांध होना एक आनुवंशिक दोष होता है और उसका उपचार नहीं किया जा सकता। वर्णांधता कोई रोग नहीं है और न उससे कोई विशेष असुविधा ही होती है। हां, उससे कुछ उद्योग-धंधों से संबंधित कार्यकुशलता में बाधा पड़ सकती है।

वर्णांध व्यक्ति उद्दीपनों के प्रति प्रतिक्रिया तो करता है, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया में सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया से अधिक चेष्टा होती है। रंगों के नाम साहचर्य द्वारा जाने जाते हैं। बच्चे को जब यह बताया जाता है कि यह लाल चिड़िया है, तो वह लाल गुण का साहचर्य के तात्कालिक अनुभव से स्थापित कर लेता है, चाहे वह चिड़िया लाल हो या गुलाबी। वर्णांधता का पता तब चलता है जब व्यक्ति एक-से लगनेवाले दो विभिन्न रंगों में भेद नहीं कर पाता। वर्णांधता की परीक्षा करने के अनेक साधन बनाये जा चुके हैं। वर्णांधता की परीक्षा के साधनों का आधार यह है कि रंगों की चमक और संतृप्ति के स्थायी रहने पर भी यदि व्यक्ति रंग में भेद न कर सके, तो वह वर्णांध होगा।

वाइसमन का सिद्धांत : वाइसमन द्वारा प्रतिपादित आनुवंशिकता का एक सिद्धांत, जिसके अनुसार बच्चे का निर्माण करनेवाली कोशिकाओं के विभेदन के परिणाम स्वरूप जिन असंख्य कोशिकाओं का निर्माण होता है, उनमें से कुछ कोशिकाएं केवल पुनरुत्पादन करनेवाली होती हैं। पुनरुत्पादक कोशिकाएं शरीर-रचना के काम में भाग नहीं लेतीं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को ज्यों की त्यों प्राप्त हो जाती हैं। पुनरुत्पादक कोशिकाओं की इस अविच्छिन्नता की मान्यता के अनुसार मां-बाप बच्चे को उत्पन्न करनेवाले न होकर केवल पूर्वजों से प्राप्त कोशिकाओं के संरक्षक ही होते हैं और वे उन कोशिकाओं को आगे की पीढ़ी को अविच्छिन्न रूप से दे देते हैं।

कोशिकाओं की अविच्छिन्नता का यह सिद्धांत दोषपूर्ण

है। बच्चे को निर्मित करनेवाली सब कोशिकाएं, उनके क्रामोसोम और जीन, एक दूसरे से प्रभावित होते हैं और सामूहिक रूप से क्रिया करते हैं। इसलिए यह मान लेना निराधार है कि पुनरुत्पादन करनेवाली कुछ कोशिकाएं बच्चे की रचनात्मक अवस्था में अन्य कोशिकाओं के प्रभाव से अछूती तथा अप्रभावित रहती हैं।

वालिश : बौद्धिक विकास के दृष्टिकोण से हीन या पिछड़ा हुआ व्यक्ति, जिसकी बुद्धि-लब्धि 20 से 50 तक होती है। वालिश में आत्मरक्षा की भावना का तो विकास हो जाता है, किंतु यह मानसिक क्षीणता के कारण जीविकोपार्जन नहीं कर पाता। उसकी बातचीत में तर्क और विवेक नहीं होता। उसमें प्रत्यक्ष, अवधान, स्मृति और अनुकरण करने की क्रियाओं का यथेष्ट विकास नहीं हो पाता, जिससे वह केवल कुछ शारीरिक श्रमसाध्य व्यवसाओं को ही कर सकता है। वालिश का सामाजिक विकास उतना ही होता है, जितना चार से नौ साल तक के बच्चों का। शारीरिक विकास की दृष्टि से वालिश निर्बल और बेडौल होता है।

वास्तविकता दुश्चिंता : फ्रायड के अनुसार दुश्चिंता का एक प्रकार, जो बाह्य जगत के किसी उद्दीपन या खतरे से पैदा होती है। डरना और उसके परिणामस्वरूप दुश्चिंताग्रस्त होने का कारण इस अर्थ में जन्मजात हो सकता है कि हम कुछ उद्दीपनों या परिवेश की स्थितियों की उपस्थिति से डरने की प्रवृत्ति लेकर ही पैदा हुए हों। आनुवंशिकता हमें डर के प्रति अत्यधिक ग्रहणशील बना देती है और अनुभव उस जन्मजात ग्रहणशीलता को वास्तविकता में बदल सकता है। डर और उससे उत्पन्न होनेवाली दुश्चिंता को हम अपने जीवन-काल में अर्जित भी कर सकते हैं। डर बचपन में ज्यादा आसानी से अर्जित हो जाता है; क्योंकि बचपन में हम शारीरिक और मानसिक अपरिपक्वता के कारण परिवेश के खतरों का सामना कर सकने योग्य नहीं होते।

वास्तविकता-सिद्धांत : मनोविश्लेषण की एक धारणा, जिसके अनुसार अहम् का कार्य वास्तविकता से संचालित होता है। अहम् उन कामों को करने की ओर नहीं झुकता, जो नीति पर आधारित न हों या सामाजिक प्रथाओं और परंपराओं के अनुसार न हों। समाज, संस्कृति, नीति और धर्म की दृष्टि से जो हेय और त्याज्य है, अहम् उसे कभी स्वीकार नहीं करता। अहम् किसी क्रिया को करने के पहले उस पर खूब सोच-विचार कर लेता है।

विकासात्मक प्रणाली : मनोविज्ञान की एक अध्ययन प्रणाली, जिसके द्वारा व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं की उत्पत्ति और वृद्धि का अध्ययन विकास क्रम के अनुसार किया जाता है। विकास अंदर से होता है और उसका अर्थ परिवेश की सहायता से व्यक्ति के अंदर पहले से ही निहित शक्तियों का प्रस्फुटित और व्यक्त होना है। विभिन्न आयु-स्तरों पर किये गये शारीरिक वृद्धि, प्रवृत्तियों, रुचियों और बुद्धि-संबंधी अध्ययनों से मानवीय व्यक्तित्व के विकासात्मक पक्ष की महत्त्वपूर्ण जानकारी हुई है।

विघटन : न्यूरोनीय सामीप्यों के प्रतिरोध से होनेवाले परिवर्तनों के कारण पूर्वस्थापित साहचर्यों के टूट जाने को विघटन कहा जाता है। विघटन के कारण चेतना का प्रवाह खंडित और अनेकांतिक हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति किसी भी मानसिक या शारीरिक क्रिया द्वारा हो सकती है। विघटन में व्यक्ति के किसी उद्देश्य का उसके मानसिक संगठन से पूरा कार्यात्मक विच्छेद हो जाता है, जिससे वह विघटन की हालत में उस उद्देश्य से संबंधित कोई क्रिया नहीं कर पाता। व्यक्तित्व व्यक्ति की विभिन्न क्षमताओं की संगठित इकाई होता है। विघटन में यह संगठित इकाई नष्ट हो जाती है, जिससे विभिन्न मानसिक क्रियाओं में परस्पर कोई ताल-मेल नहीं रह जाता। विघटन का परिणाम होता है स्मृति-लोप। व्यक्ति के अतीत और वर्तमान के संबंध की एकता उसकी स्मृति के कारण रहती है और उस एकता के कारण ही व्यक्ति का तादात्म्य बना रहता है। स्मृति-लोप में व्यक्ति अपने अतीत और वर्तमान के संबंध को भूल जाता है, जिससे तादात्म्य नष्ट हो जाता है। यही विघटन है।

विचलन : किसी परीक्षण में प्राप्त व्यक्तिगत अंक की सामूहिक माध्य से दूरी। इसको प्रायः अंकों की इकाई से विचलन-समूह में प्राप्त किसी इकाई में परिवर्तित कर

लिया जाता है। ऐसी तीन प्रमुख इकाइयां हैं—चतुर्थक विचलन, माध्य विचलन तथा मानक विचलन। चतुर्थक विचलन अंक-वितरण के 25वें तथा 75वें शततमक के बीच के विस्तार का आधा होता है। माध्य विचलन सभी व्यक्तिगत अंकों के विचलनों का माध्य होता है। (दे० मानक विचलन)

वितरित सीखना : यह सीखने की एक विधि है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को सीखने के लिए केवल चार घंटे मिलते हैं और उन्हें वह टाइप करना सीखने में लगाना चाहता है। यदि वह चार घंटों को छोटे-छोटे टुकड़ों में वितरित करके रोज कई बार अभ्यास करे, तो उसके इस तरीके से सीखने को वितरित सीखना कहा जायेगा। जहां सीखने में शारीरिक या मानसिक चेष्टा ज्यादा करनी पड़ती है, वहां वितरित अभ्यास से ज्यादा अच्छी तरह सीखा जाता है। वितरित अभ्यास से बीच-बीच में विश्राम मिलता रहता है, जिससे शरीर या मस्तिष्क सीखने के लिए फिर तरोताजा हो जाता है। वितरित अभ्यास के विश्राम-काल में व्यक्ति को सीखने के प्रसंग में की गयी असफल प्रतिक्रियाओं के संबंधों को भूल जाने का अवसर मिलता रहता है। असफल प्रतिक्रियाएं दृढ़ नहीं बन पातीं और वे वितरित अभ्यास के विश्राम-काल में क्षीण हो जाती हैं।

वितरित अभ्यास में दो प्रमुख समस्याएं होती हैं: (1) एक बार के अभ्यास में कितना समय लगाना चाहिए? और (2) दो अभ्यासों के बीच विश्राम-काल में कितना अंतर देना चाहिए? टाइप करना सीखने के लिए चार घंटों में से एक बार के अभ्यास में तीस मिनट लगाना चाहिए, या पैंतालीस मिनट, या एक घंटा? दूसरे, टाइप करने के अभ्यासों के बीच विश्राम-काल आधा घंटा होना चाहिए या एक या डेढ़? सीखने की प्रगति पर प्रत्येक अभ्यास में लगाये जानेवाले समय का भी प्रभाव पड़ता है और वितरित अभ्यासों के बीच विश्राम-काल के अंतर का प्रभाव भी। प्रयोगों के आधार पर ज्यादा देर के विश्राम काल कम देर के विश्राम कालों से ज्यादा वांछनीय साबित हुए हैं। सीखने की कुशलता के लिए प्रत्येक अभ्यास में लगाया जानेवाला समय और वितरित अभ्यासों के बीच विश्राम-काल का अंतर सीखने की विभिन्न स्थितियों में अलग-अलग होता है और सीखनेवाले व्यक्ति और उसके उद्देश्य से निर्धारित होता है।

विपर्यास : कोई मूलप्रवृत्ति या अभिवृत्ति जब विकृत होकर अपने वास्तविक उद्देश्य या लक्ष्य से हट जाती है, तो इसे विपर्यास कहा जाता है। किंतु मनोविज्ञान में विपर्यास शब्द का प्रयोग कामतुष्टि के ऐसे ढंगों के लिए किया जाता है, जो प्राकृतिक नहीं होते। प्राकृतिक काम-तुष्टि के लिए स्त्री-पुरुष का समागम होना आवश्यक है। किंतु जब काम-तुष्टि ऐसे साधनों से होने लगती है, जिसमें पुरुष के लिए स्त्री की या स्त्री के लिए पुरुष की अपेक्षा नहीं रहती, तो यह काम-विपर्यास होता है। काम-विपर्यास के अनेक रूपों में से मुख्य रूप हैं: मैसोकीयता, सादीयता, फीटिश परायणता और मयूरवृत्ति। (विस्तृत जानकारी के लिए इनसे संबंधित अलग-अलग प्रविष्टियां देखिए।)

विभेददर्शी मनोविज्ञान : मनोविज्ञान की इस शाखा में व्यक्ति के मानसिक और व्यवहारगत भेदों और विभिन्नताओं का तथ्यात्मक अध्ययन किया जाता है। अध्ययन में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के भेदों पर ध्यान दिया जाता है और यह जानने की कोशिश की जाती है कि इन भेदों पर प्रशिक्षण, विकास और अन्य परिस्थितियों का क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है। साथ ही यह भी निश्चय किया जाता है कि इन भेदों का आनुवंशिक और परिवेशिक निर्धारण किस सीमा तक होता है और उन पर आयु, सेक्स, पारिवारिक संबंध और मनोदैहिक रचना का क्या प्रभाव पड़ता है।

विरोध नियम : (दे० साहचर्य के नियम)

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान : मनोविज्ञान की एक शाखा, जिसमें युंग द्वारा व्यवस्थित ढंग से निरूपित मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का समावेश है। युंग ने अपने विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान को फ्रायड से अलग होने के बाद 1910 से विकसित करना शुरू किया था। फ्रायड ने यौन की प्राथमिकता पर जो जोर दिया है, उसे युंग ने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अचेतन मन की धारणा को भी संशोधित और विस्तृत किया है। युंग की स्वप्न-व्याख्या भी अलग है।

विश्वसनीयता : किसी मनोवैज्ञानिक परीक्षण का वह गुण, जिसके कारण अनेक अवसरों पर अनेक परीक्षणों द्वारा लगभग एक ही से परीक्षणफल प्राप्त होते हैं। विश्वसनीय की सांख्यिकीय माप इन परीक्षणफलों के पारस्परिक सहसंबंध के रूप में मालूम की जाती है। लगभग 80 या इससे अधिक सहसंबंध गुणांक को पर्याप्त विश्वसनीय का सूचक माना जाता है।

विषजन्य मनस्ताप : आंगिक मनस्ताप का एक रूप, जो शराब, कोकीन, अफीम और इसी प्रकार के अन्य विषैले पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होता है। इन पदार्थों के ज्यादा सेवन से केंद्रीय तंत्रिका-तंत्र पर जो अस्वस्थकर रासायनिक प्रभाव पड़ता है, उससे बहुत-से अपसामान्य लक्षण प्रकट होने लगते हैं। प्रयोगों के आधार पर यह पता चला है कि शराब की थोड़ी मात्रा का प्रभाव उच्च मानसिक क्रियाओं की अपेक्षा साधारण क्रियाओं पर ज्यादा पड़ता है। शराब पीने से नाड़ी की गति तेज हो जाती है, जिससे शराब को उत्तेजक समझा जाता है। शराब का प्रभाव केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के प्रावरोधी और नियंत्रणकारी कार्यों को शिथिल कर देता है और इसलिए शराब उत्तेजक लगती है। प्रावरोधी कार्यों के कारण ही आत्मनियंत्रण रखना संभव होता है। प्रावरोधी कार्यों के शिथिल हो जाने से शराबी अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख पाता और अपनी उद्दाम इच्छाओं को रोक सकने में असमर्थ हो जाता है। उसके अवधान का विस्तार कम हो जाता है और पेशीय नियंत्रण कमजोर पड़ जाता है, जिससे वह लड़खड़ाने लगता है। वल्कुटीय नियंत्रण के अभाव से उसका व्यवहार बच्चों के स्तर का हो जाता है। उसे दृश्य-मतिभ्रम भी होने लगते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विषजन्य मनस्तापों में सकंप प्रलाप और कोर्साकोफ मनस्ताप का बड़ा महत्त्व है। सकंप प्रलाप के रोगी को खूंख्वार कुत्तों, भयानक सांपों और अन्य कीड़ों का मतिभ्रम होने लगता है, जिससे उसे बड़ा डर लगता है। उसकी अन्य सब क्रियाएं उसके मति-भ्रमात्मक डर के कारण अपसामान्य हो जाती हैं। रोगी को समय और स्थान की सुधि नहीं रह जाती और वह अपने अपसामान्य काल्पनिक जगत का निवासी बन जाता है।

कोर्साकोफ मनस्ताप में रोगी की स्मृति विकृत हो जाती है। रोगी जो कुछ करता है, उसे थोड़ी देर बाद बिलकुल भूल जाता है। खाना खाने के कुछ देर बाद वह यह नहीं बता सकता कि उसने खाना खा लिया है। रोगी कभी-कभी रोग के पहले की घटनाओं को फिर से याद नहीं कर पाता।

विस्थापन : एक मानसिक क्रिया, जिसके द्वारा मन की कोई इच्छा पूर्णतः या अंशतः अपनी मूल विषयवस्तु से हटकर किसी ऐसी विषयवस्तु पर लग जाती है, जो उस मूल विषयवस्तु का स्थानापन्न होती है। विस्थापन से किसी मूल इच्छा से संबंधित लक्ष्य छद्म रूप लेता है। विस्थापन द्वारा शक्ति को एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है। बच्चे को अगर दूध की बोतल न मिले, तो वह अपना अंगूठा ही चूसने लगता है; क्योंकि वह बोतल और अंगूठे में भेद नहीं कर पाता, जिससे बोतल और अंगूठा उसके लिए एक ही अर्थ रखते हैं और एक दूसरे के स्थानापन्न होते हैं। विस्थापन की क्रिया स्वप्नों में बहुत पायी जाती है, जहां उसका प्रयोजन अचेतन इच्छा को उपचेतन मन के नियंत्रण से बचाने के लिए उसे घुमाफिराकर छद्म रूप में प्रकट करना होता है।

वुंट, विल्हेल्म (1832-1920) : वुंट शरीर-क्रिया-विज्ञानी थे। उन्होंने अपने प्रारंभिक सत्रह वर्ष हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में बिताये और यहीं पर उन्होंने शरीर-क्रियाविज्ञान संबंधी मौलिक प्रयोग किये तथा उन प्रयोगों के विवरण अपनी रचनाओं में दिये। इसके साथ-साथ मनोविज्ञान की प्रणालियों पर भी उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये। 1874 में उन्होंने अपनी 'शरीर-क्रिया-मनोविज्ञान' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया, जो मनो-विज्ञान के पूरे इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। पुस्तक के प्रकाशित होने पर वुंट त्सूरिच विश्व-विद्यालय चले गये और वहां एक वर्ष रहने के बाद लाइ-पत्सिक विश्वविद्यालय चले गये, जहां उन्होंने अपने जीवन के शेष पैंतालीस वर्ष बिताये। 1879 में उन्होंने लाइपत्सिक में अपनी प्रयोगशाला स्थापित की। इस सर्वप्रथम मनो-वैज्ञानिक प्रयोगशाला में वुंट के दर्जनों ऐसे शिष्यों ने काम किया, जो बाद में अपने-अपने देशों में प्रसिद्ध मनोविज्ञानी

बने। वुंट ने 1883 में अपनी प्रयोगशाला में होनेवाले काम का प्रकाशन करने के लिए 'दार्शनिक अध्ययन' नाम की एक पत्रिका निकालना शुरू किया, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक और महत्त्वपूर्ण घटना थी।

वुंट की प्रयोगशाला में पहले बीस वर्ष तक मुख्य रूप से संवेदन और प्रत्यक्ष पर ही काम किया गया। इसके बाद स्पर्श, समय, प्रतिक्रिया, प्रयोग, अवधान और अनुभूति पर विशद् प्रयोग किये गये और उनसे संबंधित अनेक तथ्यों का पता लगाया गया।

वेबर का नियम : प्रत्यक्ष दोष के संबंध में जर्मनी के शरीर-क्रिया विज्ञानी हाइनरिख वेबर ने एक नियम बनाया था। वेबर के नियम के अनुसार प्रत्यक्ष-दोष का परिवर्तन (दे० प्रत्यक्ष दोष) उद्दीपन के एक निश्चित अनुपात से होता है। यदि 50 मिलीमीटर लंबी रेखा के परिवर्तनीय प्रत्यक्ष दोष की सीमा 45-55 यानी 5 मिलीमीटर हो, तो 100 मिलीमीटर लंबी रेखा की 90-110 यानी 10 मिलीमीटर होगी।

इसी प्रकार 150 की 15 मिलीमीटर, 200 की 20 मिलीमीटर आदि होती चली जायेगी। उद्दीपन के बढ़ने पर परिवर्तनीय प्रत्यक्ष दोष का अनुपात भी निश्चित रूप से बढ़ता जायेगा। वेबर का यह नियम बहुत क्षीण और बहुत तीव्र उद्दीपनों पर लागू नहीं होता।

10 और 11 ग्राम का भेद उतनी ही आसानी से जान लिया जाता है, जितनी आसानी से 10 और 11 किलोग्राम का। इस भेद का अनुपात दोनों जगह 1 : 10 है। 20 और 21 कैंडिल पावर के बल्ब के प्रकाश के भेद को 200 और 210 पावर के बल्ब के भेद की तरह ही जानना आसान होता है। यहां दोनों जगह भेद का अनुपात 1 : 20 है। यदि बोझ और प्रकाश में क्रमश 1 : 20 और 1 : 20 का अनुपात न हो, तो हम उनके भेद को नहीं जान सकते। वेबर के नियम के अनुसार जाना जा सकनेवाला न्यूनतम भेद दो उद्दीपनों की निरपेक्ष मात्रा का न होकर उनके निश्चित अनुपात का होता है। 10 और 11 ग्राम और 10 और 11 किलोग्राम में हम 10 और 11 ग्राम और किलोग्राम की निरपेक्ष मात्रा को नहीं जानते, वरन् उन दोनों की मात्राओं के अनुपात के भेद $\frac{1}{10}$ भाग को जानते हैं। जाना जा सकनेवाला निश्चित अनुपात का यह न्यूनतम भेद उद्दीपनों के प्रकार पर निर्भर होता है।

वेबर के नियम का व्यावहारिक महत्त्व बहुत है। यदि हम भेद करते समय उद्दीपनों की निरपेक्ष मात्रा को ही जानते और उनके निश्चित अनुपात के भेद को न जान सकते, तो हमें बाह्य जगत का बड़ा विचित्र अनुभव होता। हमें जो चीज पास में तीन हाथ लंबी दिखायी पड़ती है, वही दूर पर भी उतनी ही लंबी दिखायी पड़ती और हम यह जान सकने में असमर्थ रहते कि वह हमारे कितने पास या हमसे कितनी दूर है। उसका असर हमारी कार्यकुशलता और शारीरिक संतुलन पर भी पड़ता। व्यावहारिक महत्त्व के अतिरिक्त वेबर के नियम से अनुमान और भेद कर सकने की मानवीय सीमाओं का भी पता चलता है।

वैधता : वैज्ञानिक दृष्टि से स्वीकृत होने के लिए किसी मनोवैज्ञानिक परीक्षण की एक आवश्यक शर्त। किसी परीक्षण की वैधता के मापन के लिए प्राय: बहुत-से व्यक्तियों के उस परीक्षण पर प्राप्त अंकों का, और जिस गुण के मापी के रूप में उसका प्रयोग किया गया है, उसी गुण के किसी अन्य लक्षण में उन्हीं व्यक्तियों के मापों का सांख्यिकीय सहसंबंध मालूम किया जाता है।

व्यक्तित्व : व्यक्तित्व शब्द बहुत प्रचलित है और उसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। दूसरे लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हुए लोग अक्सर यह कह देते हैं कि आदमी तो भला है, किंतु उसका व्यक्तित्व कुछ नहीं है। वे व्यक्तित्व को कोई ऐसा गुण समझते हैं, जो कुछ भाग्यवानों को ही नसीब होता है। जनसाधारण व्यक्तित्व को आकर्षक और बहुत बड़ा भी कह देते हैं; क्योंकि वे व्यक्तित्व का अर्थ सुंदर-स्वस्थ शरीर और अच्छे कपड़े पहनना या धनवान और अच्छे ओहदे पर होना समझते हैं।

मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के इन प्रचलित भ्रामक अर्थों को स्वीकार नहीं किया जाता। मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में थोड़ा-बहुत अंतर होता है। व्यक्तियों के व्यवहार में यह अंतर जन्मजात क्षमताओं और अर्जित कुशलताओं पर आधारित उनकी गत्यात्मक प्रवृत्तियों के विशेष रूप से संगठित होने के कारण होता है। गत्यात्मक

शक्तियों के विशिष्ट संगठन को ही व्यक्तित्व कहा जाता है। व्यक्तित्व व्यक्ति की नहीं, वरन् उसके व्यवहार की विलक्षणता का सूचक होता है। मनोविज्ञान में व्यक्तित्व शब्द भाववाचक संज्ञा न होकर क्रिया-विशेषण होता है।

गत्यात्मक प्रवृत्तियों का निर्माण और संगठन व्यक्ति की रुचि, क्षमताओं, मूल्यों, आदर्शों, उद्देश्यों आदि के आधार पर होता है, किंतु व्यक्तित्व उन सबका योग नहीं होता। इन सब चीजों का विभिन्न रूपों में परस्पर संबंधित होना और एक व्यवस्थित इकाई का रूप लेकर व्यक्ति के व्यवहार द्वारा अभिव्यक्त होने लगना ही व्यक्तित्व है।

व्यक्तित्व व्यक्ति की सामाजिक अंतर्क्रिया से निर्मित और विकसित होता है। सामाजिक अंतर्क्रिया एक ओर तो व्यक्ति के स्वभाव को संशोधित करती है और दूसरी ओर प्रतिक्रिया करनेवाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व से भी निर्धारित होती है। विभिन्न सामाजिक स्थितियों पर उन स्थितियों में भाग लेनेवाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व की छाप पड़ती है। इस प्रकार व्यक्तित्व एक ओर तो पहले की गयी अंतर्क्रियाओं का परिणाम होता है और दूसरी ओर अंतर्क्रियाओं को निर्धारित भी करता है, जिससे व्यक्ति औरों को प्रभावित करने के साथ-साथ स्वयं भी प्रभावित होता रहता है।

इस प्रकार व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियों की व्यवस्थित इकाई स्थायी न होकर विकासशील होती है। इसलिए व्यक्तित्व को स्थायी नहीं समझना चाहिए। व्यक्तित्व भी विकासशील होता है, जिससे व्यक्ति अपने परिवेश से संतुलन करने के लिए जो प्रतिक्रियाएं करता है, वे अन्य लोगों की प्रतिक्रियाओं से विलक्षण होती हैं। विकासशील न होने पर व्यक्तित्व का परिवेश से सक्रिय संबंध नहीं रह सकता और जिसके अभाव में व्यक्ति का व्यवहार असंतुलित हो सकता है। व्यक्तित्व व्यक्ति में अंतर्निहित 'कुछ' न होकर व्यक्ति और परिवेश का अन्योन्याश्रित और सक्रिय अनन्वय संबंध होता है।

व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियों का संगठन ही उसका व्यक्तित्व होता है। गत्यात्मक प्रवृत्तियों का निर्माण और विकास व्यक्ति की मनोभौतिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है और उसका व्यक्तित्व उन्ही से निर्धारित होता है। व्यक्तित्व पर प्रभाव डालनेवाली हर शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, आनुवंशिक, सांस्कृतिक और सामाजिक बात व्यक्तित्व की निर्धारक होती है। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि व्यक्तित्व के इन अनेक निर्धारकों में क्या अंतर्संबंध होता है और व्यक्तित्व के विकास में उनमें से अपेक्षाकृत किसकी प्रधानता रहती है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व के जन्मजात पक्ष पर आनुवंशिकता का प्रभाव शायद अधिक पड़ता है और अर्जित पक्ष पर अन्य निर्धारकों का। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आनुवंशिकता और व्यक्ति का जन्मजात पक्ष एक ही चीज होती है। जन्मजात पक्ष का बाह्य प्रभावों द्वारा संशोधन होता रहता है, जिसका अर्जित पक्ष पर परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। संवेग जन्मजात होते हैं, किंतु विकासक्रम में उनमें शिक्षा आदि से बहुत संशोधन हो जाता है। आनुवंशिक पक्ष का बाह्य प्रभावों द्वारा संशोधन नहीं हो सकता।

किंतु व्यक्ति अपने आंतरिक और बाह्य परिवेश के प्रभावों का कठपुतला नहीं होता। वे उसे जिस सांचे में ढाल देते हैं, वह वैसा ही नहीं हो जाता। व्यक्ति अपने परिवेश के हाथ का खिलौना नहीं होता। उसमें अपना निर्माण करने की क्षमता भी होती है। मनुष्य में वरण कर सकने की क्षमता होती है और वह वरण द्वारा अपने लक्ष्य और उसको प्राप्त करने की दिशा में व्यवहार करने का निर्धारण करता है। यह ठीक है कि हम अपनी आनुवंशिकता, शारीरिक क्षमताओं और विशेषताओं का वरण नहीं कर सकते, किंतु हम अपने व्यक्तित्व के उन निर्धारकों का वरण अवश्य कर सकते हैं, जिन पर आत्मनियंत्रण कर सकना संभव है।

व्यक्तित्व हमारी गत्यात्मक प्रवृत्तियों का गतिशील और परिवर्तनीय संगठन होता है। यह समझना कि 'मैं जो कुछ हूं, वही हूं,' अपने को धोखे में डालना है। व्यक्तित्व व्यक्ति और परिवेश के हजारों प्रकार के अंतर्संबंध और उससे उत्पन्न होनेवाली आंतरिक और बाह्य स्थितियों के प्रति किये गये व्यवहार से प्रतिक्षण और प्रतिदिन निर्मित, परिवर्तित और निर्धारित होता रहता है। गत्यात्मक प्रवृत्तियों की संशोधन-शीलता के कारण व्यक्ति विभिन्न प्रकार की विषम स्थितियों में सामान्य रूप से व्यवहार करने योग्य बनता है। व्यक्ति के व्यवहार का सामान्य होना उसके व्यक्तित्व से निर्धारित होता है। सामान्य व्यवहार व्यक्तित्व के सही निर्माण पर निर्भर करता है।

व्यक्तित्व-अप्रतीति : कुछ मनस्तापों में पाया जानेवाला एक विकार, जिसमें व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि उसकी समस्त शारीरिक और मानसिक क्रियाएं यंत्रवत् हो रही हैं और उनमें उसका कोई हाथ नहीं है। उसे बाह्य जगत के पदार्थ, अपनी आंतरिक अवस्था और संपूर्ण परिस्थिति अवास्तविक प्रतीत होने लगती है। उसे अपने आसपास की घटनाओं में कोई रुचि नहीं रह जाती। वह हतोत्साह होकर सब कुछ देखता रहता है। वह अपने को बाह्य शक्तियों से संचालित कोई यंत्र समझता है। उसे अपना जीवन स्वप्नवत् प्रतीत होता है। कभी-कभी अपनी हीनता के कारण उसे दूसरे लोग बहुत श्रेष्ठ और अलौकिक लगने लगते हैं। उसका समय-बोध भी अयथार्थ हो जाता है। उसे दृष्टि और श्रवण संबंधी कुछ भ्रम भी हो सकते हैं। कुछ रोगियों को तो यह भ्रम भी हो जाता है कि उनके शरीर में हृदय या कोई अंग है ही नहीं। ऐसे व्यक्तियों में जगत और जीवन की वास्तविकता के प्रति फिर से विश्वास पैदा कराने के प्रयत्न बड़ी मुश्किल से ही सफल हो पाते हैं।

व्यक्तिपरक मनोविज्ञान : फ्रायडीय मनोविश्लेषण के मूल तत्त्वों से मतभेद होने के कारण एडलर द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान की एक शाखा। एडलर ने मानवीय व्यवहार और व्यक्तित्व के संगठन का मूल प्रेरक स्वाग्रह को माना है।

व्यक्ति स्वभावतः दूसरों पर अपनी धाक जमाना चाहता है और अपने को श्रेष्ठ दिखाना चाहता है। जब उसकी स्वाग्रह-प्रवृत्ति सामाजिक और व्यक्तिगत कारणों से संतुष्ट नहीं हो पाती, तो वह हीनता मनोग्रंथि को जन्म देती है। हीनता मनोग्रंथि से ही अनेक विकार पैदा होते हैं।

व्यक्तिपरक मनोविज्ञान में जीवन की प्रत्येक समस्या के प्रसंग में परिवेश और सामाजिक अवस्थाओं पर बल दिया जाता है। परिवेश के दूषित होने से, मुख्यरूप से बाल्यकाल में, व्यक्ति गलत प्रकार की जीवन शैली को अपना लेता है, जिससे उसके व्यवहार और व्यक्तित्व में जो एकता होनी चाहिए, वह नहीं होती। एडलर ने अपने व्यक्तिपरक मनोविज्ञान में सभी मानवीय समस्याओं की व्याख्या बड़े ही व्यावहारिक ढंग से करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

व्यवहारवाद : मन के विषय में विभिन्न धारणाओं से असंतुष्ट होकर व्यवहारवाद के जन्मदाता वाट्सन ने मनोविज्ञान को मन का विज्ञान न मानकर व्यवहार का विज्ञान माना। मन का निरीक्षण नहीं किया जा सकता और वाट्सन के अनुसार जिसका निरीक्षण और परीक्षण न हो सके, उसे विज्ञान नहीं कहा जा सकता। हम मनुष्य के मन को न देखकर उसके व्यवहार को ही देख पाते हैं और व्यवहार का निरीक्षण और परीक्षण भी किया जा सकता है। व्यवहार परिवेश के प्रति प्राणी की सारी शारीरिक क्रिया होती है। मनुष्य अपने परिवेश के प्रति किये गये विभिन्न प्रकार के व्यवहार का समूह मात्र ही होता है। अतएव वाट्सन ने मनोविज्ञान को उद्दीपनों तथा प्रतिक्रियाओं के अध्ययन तक ही सीमित करके व्यवहार को समझने के लिए अनुभव, चेतना और अंतर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्री आदि को कोई स्थान नहीं दिया है। व्यवहारवाद में व्यवहार का प्रेरक परिवेश को माना जाता है।

मनोविज्ञान में अनुभव को कोई स्थान न देकर वाट्सन ने इस तथ्य की उपेक्षा की कि व्यवहार अनुभव की ही अभिव्यक्ति होता है। व्यवहार प्राणी के अर्थपूर्ण अनुभव को प्रदर्शित करता है। मनुष्यों की अपनी शैलियां होती हैं। वे शैलियां परिवेश में अपनी ही विचित्र प्रतिक्रियाओं से निर्धारित होती हैं। मनुष्य अपने परिवेश का कठपुतला ही नहीं होता, वह अपने व्यवहार द्वारा परिवेश को बदलता भी है। उद्दीपनों और प्रतिक्रियाओं के अध्ययन मात्र से ही व्यवहार की पूरी और समीचीन व्याख्या नहीं हो सकती।

व्यामोह : सामान्य रूप से कार्यात्मक मनस्तापों का कारण रागात्मक कठिनाइयों को ही समझा जाता है, किंतु कार्यात्मक मनस्तापों में ज्ञानात्मक कठिनाइयों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। ज्ञानात्मक कठिनाइयों के कारण व्यक्ति के सामान्य चिंतन की दिशा बदल जाती है। व्यामोह ज्ञानात्मक कठिनाइयों से पैदा होनेवाला मनस्ताप होता है। व्यामोह में व्यक्ति की सामान्य विचारधारा के साथ-साथ उसके व्यवहार को प्रभावित और संचालित करनेवाली एक अन्य उपविचारधारा भी बन जाती है। व्यामोह में जो उपविचारधारा बनती है, वह व्यक्ति के हठभ्रमों पर आधारित होती है।

व्यामोह में रोगी का व्यवहार कुछ हठभ्रमों से संचालित

होने लगता है, विशेषकर महानता हठभ्रम और उत्पीड़न हठभ्रम से। दोनों हठभ्रम एक दूसरे को पुनर्शक्त करते रहते हैं। व्यामोह के रोगी के हठभ्रम व्यवस्थित होते हैं और अगर रोगी के हठभ्रमों में कोई बाधा न पड़े, तो ऊपर से देखने में उसका व्यवहार बिल्कुल सामान्य लगता है। रोगी को न तो मतिभ्रम होते हैं और न उसके रागात्मक पक्ष में कोई व्यवधान ही पड़ता है। वह अपने दैनिक कामों को सामान्य व्यक्ति की भांति करता रहता है। अंतर केवल इतना ही होता है कि व्यामोह के रोगी में सामान्य व्यक्ति की भांति अपने हठभ्रमों को समझ सकने की अंतर्दृष्टि नहीं होती। जिस रोगी के हठभ्रम व्यवस्थित न होकर अव्यवस्थित होते हैं, वह सही अर्थ में व्यामोह का रोगी नहीं होता। उसके मानसिक विकार को मनोविदलित वर्ग या व्यामोहाभ व्यक्तित्व के अंतर्गत माना जाता है।

ब्लायलर के मत से व्यामोह में महानता-हठभ्रम और उत्पीड़न-हठभ्रम साथ-साथ होते हैं। उन्ही के शब्दों में "व्यामोह में संभवतः ऐसा कोई उत्पीड़न-हठभ्रम नहीं होता, जिसके साथ महानता-हठभ्रम न हो। प्रत्येक महानता-हठभ्रम के साथ उत्पीड़न-हठभ्रम भी होता है और इस प्रकार उन दोनों का भेद सापेक्ष हो जाता है। व्यामोह में आत्मश्रेष्ठता की जो भावना होती है, वह संभवतः रोग के उत्पन्न होने की अनिवार्य शर्त होती है।" उन्होंने आगे लिखा है कि "व्यामोह रोग तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता, जब तक आत्मश्रेष्ठता की भावना का अक्षमता की उस भावना से संघर्ष न हो, जो संभवतः दमित हो चुकी हो। जिस व्यक्ति में यह आंतरिक संघर्ष नहीं होता, उसे उत्पीड़न-हठभ्रम नहीं हो सकता और वह वास्तविकता से अपना संबंध विच्छेद करने की शक्ति भी संभवतः उत्पन्न नहीं कर सकता।"

व्यामोह में व्यक्ति के स्थायीभाव, प्रवृत्तियां और आत्मनिर्धारण प्रारंभ से ही स्थायी और कठोर बन जाते हैं, जिससे बाद में उनमें समाज-सापेक्ष संशोधन नहीं हो पाते। उनकी कठोरता के पीछे प्रायः आनुवंशिक आधार भी होता है। ऐसा व्यक्ति बचपन से ही जातीय संस्कारों का गुलाम बन जाता है; क्योंकि वह अपने उन संस्कारों की शक्ति का पुनर्व्यवस्थापन नहीं कर पाता। जातीय संस्कारों का गुलाम बन जाने से अन्य सामाजिक उद्देश्यों का दमन हो जाता है। सामाजिक उद्देश्यों का जन्म हो जाने से व्यक्ति अन्य लोगों से शिष्ट और समाज-सापेक्ष व्यवहार नहीं कर पाता। जातीय संस्कारों की कठोरता और दमित सामाजिक उद्देश्यों में द्वंद्व होता है और तब सामाजिक उद्देश्यों को दबाने के लिए व्यक्ति का अहम् उससे दूसरों के प्रति अमैत्रीपूर्ण व्यवहार करवाता है। यह अमैत्रीपूर्ण व्यवहार व्यक्ति के अहम् के लिए सहनीय नहीं होता, इसलिए व्यक्ति अपने को उस अमैत्रीपूर्ण व्यवहार के दायित्व से बचाने के लिए उसका प्रक्षेपण दूसरे लोगों पर करता है। प्रक्षेपण करने से वह यह समझने लगता है कि दूसरे लोग उसके प्रति शत्रुता रखते हैं, जबकि वास्तव में वह शत्रुता उसके अंदर होनेवाले जातीय और सामाजिक उद्देश्यों के द्वंद्व का परिणाम होती है। व्यक्ति के जो विश्वास अत्यंत कटु और दुखद होते हैं, वे कुछ अन्य स्थानापन्न विश्वासों का हठभ्रमात्मक रूप ले लेते हैं। इस प्रकार व्यामोह के रोगी की प्रतिक्रियाएं आत्मप्रत्याख्यान का हठभ्रमात्मक प्रक्षेपण होती हैं।

व्यामोहाभ मनोविदलता : रागात्मक अभाव और उदासीनता के साथ हठभ्रमों की प्रधानता होने से मनोविदलता के इस रूप को व्यामोहाभ रूप कहा जाता है। व्यामोहाभ रूप में व्यक्ति के हठभ्रम महानता, उत्पीड़न या संदर्भ संबंधी होते हैं। व्यामोह और मनोविदलता के हठभ्रमों में भेद करना जरा मुश्किल होता है। मनोविदलता के हठभ्रम सामान्यतः उतने व्यवस्थित और स्थायी नहीं होते, जितने कि व्यामोह के होते हैं। दोनों मनस्तापों के हठभ्रमों में यही एक मुख्य भेद होता है। व्यामोहाभ मनोविदलता का रोगी यह समझता है कि उत्पीड़न करनेवाले लोग उस पर सम्मोहन या आधिभौतिक शक्तियों द्वारा प्रभाव डाल रहे हैं। जिस रोगी में उत्पीड़न-हठभ्रम ज्यादा तीव्र होता है, वह अपने कल्पित उत्पीड़न करनेवालों पर आक्रमण भी कर सकता है, इसलिए उसकी देखभाल की विशेष आवश्यकता पड़ती है।

व्यामोहाभ व्यक्तित्व : व्यामोह-मनस्ताप के रोगी की भांति व्यामोहाभ व्यक्तित्व रखनेवाले व्यक्ति की मनोवृत्ति भी हठभ्रमों से निर्धारित होती है। अंतर केवल इतना ही होता है कि व्यामोहाभ व्यक्ति के हठभ्रम अव्यवस्थित होते हैं। व्यामोहाभ व्यक्ति के हठभ्रम व्यामोहग्रस्त

व्यक्ति के हठभ्रमों की भांति स्थायी नहीं होते और जब व्यक्ति अपने विश्वासों की असत्यता को जान लेता है, तो वह अपने हठभ्रमात्मक दृष्टिकोण से मुक्त हो जाता है। व्यामोहाभ अवस्था सामान्यतः 45 से 55 साल तक के व्यक्तियों में ज्यादा पायी जाती है। व्यामोहाभ व्यक्ति बहुत संवेदनशील, अतिशय गंभीर और विचित्र प्रकार के विश्वासों और सामाजिक सुधारों का सक्रिय समर्थक होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों को अपना प्रतिद्वंद्वी समझकर उनके प्रति कुभावनाएं रखता है। चिड़चिड़ेपन से वाद-विवाद में उलझता है और उसका व्यवहार सामान्यतः आक्रामक-सा होता है। व्यामोहाभ व्यक्ति दूसरों पर दोषारोपण करता है और उनसे शत्रुभाव रखता है। व्यामोहाभ व्यक्ति की इन विशेषताओं का वर्गीकरण मनस्तापों के अंतर्गत नहीं किया जाता यद्यपि मनस्ताप के रोगियों के व्यक्तित्व में व्यामोहाभ विशेषताएं होती हैं।

व्यामोहाभ व्यवहार के संभाव्य कारणों पर फ्रायड ने कुछ प्रकाश डाला है। फ्रायड के अनुसार व्यामोहाभ व्यक्ति में अचेतन सजातीय मैथुन प्रवृत्ति होती है, जो आत्मतिरस्कार की भावना पैदा करती है। व्यामोहाभ व्यवहार के पीछे जो हठभ्रम होते हैं, वे सजातीय मैथुन प्रवृत्तिजन्य आत्मतिरस्कार की भावना से बचने की रक्षात्मक युक्तियां होते हैं। व्यामोहाभ व्यक्ति ऋणात्मक प्रतिक्रियाओं द्वारा अपनी ही सजातीय मैथुन प्रवृत्ति का तिरस्कार नहीं करता, किंतु दूसरों की वैसी ही प्रवृत्ति का घोर विरोधी बन जाता है। वह अपनी अचेतन सजातीय मैथुनेच्छा के प्रति जो तिरस्कार-भावना रखता है, उसका प्रक्षेपण दूसरों पर भी करता है। व्यामोहाभ व्यक्ति का अधिकांश व्यवहार प्रक्षेपण मात्र होता है।

व्यावसायिक मनोविज्ञान : मनोविज्ञान की वह शाखा, जिसमें व्यवसायों के स्वरूप और उन व्यवसायों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों के चयन की समस्या पर विचार किया जाता है। व्यावसायिक मनोविज्ञान में एक ओर तो किसी व्यवसाय विशेष के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव करने के लिए परीक्षण किये जाते हैं और दूसरी ओर व्यक्तियों का इस दृष्टि से मार्गदर्शन भी किया जाता है कि वे अपनी मानसिक और शारीरिक क्षमताओं की दृष्टि से किस प्रकार के व्यवसाय में सफल हो सकते हैं।

शक्ति मनोविज्ञान : एक समय था, जब मनोविज्ञान में मन को संवेदन, प्रत्यक्ष, याद रखने, सोचने आदि विभिन्न मानसिक क्रियाओं का स्वतंत्र अधिकर्ता और मानसिक क्रियाओं को मन की विशेष शक्तियों का परिणाम समझा जाता था। मन की विभिन्न शक्तियों को भी एक दूसरे से स्वतंत्र माना जाता था। किंतु विभिन्न मानसिक क्रियाओं को मन की विभिन्न और एक-दूसरे से स्वतंत्र शक्तियां मानने से उनकी एकता स्पष्ट नहीं हो पाती और मानसिक क्रियाओं को समझने में कोई सहायता नहीं मिल पाती।

शरीर-क्रिया मनोविज्ञान : मनोविज्ञान में मनुष्य का अध्ययन उसके व्यवहार के माध्यम से किया जाता है। व्यवहार शरीर द्वारा होता है, इसलिए व्यवहार का अध्ययन शारीरिक क्रियाओं के प्रसंग में भी किया जा सकता है। शरीर और उसके विभिन्न अंगों का निर्माण और विकास कैसे होता है? विभिन्न शारीरिक अंगों के काम क्या हैं और वे उन कामों को कैसे करते हैं? अंगों को काम करने के लिए शक्ति कहां से और कैसे मिलती है? व्यवहार करते समय प्राणी की शारीरिक स्थिति क्या होती है? शारीरिक स्थिति का व्यवहार पर कैसा प्रभाव पड़ता है और व्यवहार और शारीरिक स्थिति में क्या संबंध होता है? इन बातों का अध्ययन शरीर-क्रिया मनोविज्ञान में किया जाता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान : शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मन को एक विशेष प्रकार से परिवर्तित करना होता है। शिक्षा-मनोविज्ञान में मानसिक क्रियाओं के उस पक्ष का अध्ययन किया जाता है, जिसका सीखने-सिखाने पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जब शिक्षा का उद्देश्य मानसिक परिवर्तन करना है, तो मन का अध्ययन उन परिवर्तनों को सुगमता और शीघ्रता से करने के लिए निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण है। मन क्या है? उसकी कौन-कौन-सी शक्तियां हैं? उनका उपयोग शिक्षा में किस तरह किया जा सकता है? इन सब बातों को बिना जाने शिक्षा देना बेकार है। शिक्षा-मनोविज्ञान में बच्चों की स्वाभाविक रुचियों, उनके मन की शक्तियों और प्रवृत्तियों का विशेष अध्ययन किया जाता है और उनके प्रसंग में शिक्षा को इस तरह व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है, कि बच्चों को

जो कुछ सिखाना है, उसे उसकी स्वाभाविक रुचियों और प्रवृत्तियों की पूर्ति का साधन बनाया जा सके।

संकलित सीखना : यह सीखने की एक विधि है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को सीखने के लिए केवल चार घंटे मिलते हैं और उन्हें वह टाइप करना सीखने में लगाता है। यदि वह टाइप करने का अभ्यास चारों घंटों में लगातार करे, तो उसके इस तरीके से टाइप करना सीखने को संकलित सीखना कहा जायेगा। प्रयोगों से यह देखा गया है कि यदि सीखने की सामग्री थोड़ी हो, तो संकलित अभ्यास से ज्यादा अच्छी तरह सीखा जा सकता है। कोई काम करने के पहले तैयारी करनी पड़ती है। जब हम पढ़ने बैठते हैं, तो पहले पानी पी लेते हैं, फिर किताबों को मेज पर ठीक से रखते हैं। फिर पेंसिल नुकीली करते हैं। फिर अपना ध्यान चारों ओर से समेटकर पुस्तक पर एकाग्र करते हैं और तब पढ़ना शुरू करते हैं। इस तैयारी में समय लगता है और यदि हम पढ़ने के समय को वितरित करके रोज कई बार पढ़ें, तो बहुत-सा समय फिर से तैयार होने में नष्ट होगा। संकलित सीखने में एक बार तैयार हो जाने के बाद फिर तैयार होने के लिए समय नष्ट नहीं होता। किंतु सीखने की अनेक स्थितियां ऐसी भी होती हैं, जिनमें संकलित अभ्यास से ज्यादा अच्छी तरह नहीं सीखा जा सकता।

संक्रामक मनस्ताप : आंगिक मनस्ताप का एक रूप। संक्रामक मनस्ताप का एक स्पष्ट उदाहरण है केंद्रीय तंत्रिकातंत्र में उपदंश होने के कारण वल्कुटीय क्षति का होना। उपदंश के कारण वल्कुटीय क्षतिजन्य मनस्ताप को सामान्य पैरेसिस कहा जाता है। सामान्य पैरेसिस का काफी अध्ययन किया जा चुका है और उसका विभेदीकरण और वर्गीकरण अनेक रूपों में किया गया है, जिससे यह पता चलता है कि पैरेसिस के किसी विशिष्ट रूप के लक्षणों के प्रकट होने पर रोगी के अतीत जीवन का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

पैरेसिस के रोगी में व्यक्तित्व का धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। रोग के प्रारंभ में रोगी देर तक ध्यान नहीं लगा पाता और बाद में तो बिलकुल नहीं लगा पाता। उसके लिए सीखना कठिन हो जाता है और उसकी स्मरण-शक्ति घटने लगती है। वह जल्दी थकने लगता है। उसमें पहनने-ओढ़ने और अपनी देखभाल करने के प्रति विराग पाया जाता है। ज्यों-ज्यों उसके वल्कुट का ज्यादा भाग विकृत होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें अपनी प्रबल इच्छाओं का प्रावरोध करने की शक्ति कम होती चली जाती है। उसकी लिखावट टेढ़ीमेढ़ी और आवाज मोटी होने लगती है। उसकी आंख प्रकाश के प्रति ठीक से प्रतिक्रिया नहीं कर पाती।

रोगी के ये उपर्युक्त लक्षण धीरे-धीरे अतिरंजित होते जाते हैं। उसे महानता-हठभ्रम भी होने लगता है। उसकी स्मरणशक्ति यहां तक विकृत हो जाती है कि वह अपना नाम तक नहीं बता पाता। उसके पेशीय न्यास की स्वाभाविकता नष्ट होने लगती है, जिससे वह उठ-बैठ नहीं पाता और लट्ठे की तरह पड़ा रहता है। पेशीय संकुचन के कारण वह अपने हाथ-पैरों को बड़ी बेतुकी तरह से समेटे रहता है।

यद्यपि पैरेसिस में होनेवाला मानसिक ह्रास बिना उपचार के भी कभी-कभी रुक जाता है और रोगी सामान्य जीवन बिताने के योग्य बन जाता है, किंतु उपचार के अभाव में रोग फिर प्रकट हो सकता है और फिर उसका उपचार मौत ही कर सकती है। चिकित्सकों ने पैरेसिस की वृद्धि और विकास को रोकने के उपाय मालूम कर लिये हैं।

संक्रामक मनस्ताप का दूसरा उदाहरण है मस्तिष्क-शोथ। इस रोग में तंत्रिका-तंत्र में उपदंश होने से व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। मस्तिष्कशोथ इन्फलुएंजा से संबंधित मालूम होता है। रोग का उग्ररूप प्रकट होने के पहले सिरदर्द और बेचैनी मालूम होती है, जाड़ा-सा लगता है और कभी-कभी दृष्टि-रोध और दृष्टि-असंगठन भी हो जाता है। मस्तिष्कशोथ के लक्षण दो रूपों में प्रकट हो सकते हैं: एक तो अतिशय शारीरिक शिथिलता, जड़ता या मूर्च्छा के रूप में और दूसरे, उत्तेजन के रूप में।

पहले रूप में पाये जानेवाले लक्षणों के आधार पर मस्तिष्कशोथ का प्रचलित नाम निद्रारोग भी पड़ गया है। किंतु इस रोग की निद्रावत् अवस्था और सामान्य निद्रा में बड़ा अंतर होता है। मस्तिष्कशोथ को निद्रा-रोग कहना इसलिए भ्रामक है कि निद्रा इस रोग का कोई अनिवार्य लक्षण नहीं होती। रोग के पहले रूप में मानसिक क्रियाओं का ह्रास होता है और अक्सर अंगघात (लकवा) भी हो

जाता है। दूसरे रूप में रोगी बहुत बेचैन और चिड़चिड़ा बन जाता है। उसे नींद मुश्किल से लगती है और उसकी पेशियों में अनियमित उत्तेजन भी हो सकता है।

मस्तिष्कशोथ रोग बच्चों के मानसिक विकास के लिए बड़ा घातक होता है। इस रोग से संवेदी तंत्रिकाएं निष्क्रिय हो सकती हैं। किंतु रोग का ज्यादा बुरा प्रभाव केंद्रीय-प्रभावकीय क्रियाओं पर पड़ता है। कभी-कभी रोगी की मुखाकृति और शारीरिक मुद्रा बिलकुल निर्जीव-सी और भाव-शून्य हो जाती है। इस रोग का उत्तर-प्रभाव भी बहुत बुरा होता है और उसके कारण रोगी के व्यक्तित्व में काफी परिवर्तन हो जाता है। आत्मनियंत्रण के लिए प्रावरोध आवश्यक होता है। मस्तिष्कशोथ के रोगी में 'प्रावरोधों का अंगघात' हो जाता है। प्रावरोधों के निष्क्रिय हो जाने और मानसिक ह्रास होने से रोगी की परिपक्वता नष्ट हो जाती है, जिससे उसका व्यवहार अनियमित और बच्चों के स्तर का बन जाता है। रोग के उत्तर-प्रभाव के कारण रोगी में अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति पहले की-सी जागरूकता और तत्परता नहीं रह जाती।

संरचनावाद : इस मत का प्रवर्तन वुंट ने किया था। शरीर-क्रियाविज्ञानी वुंट अनुभव या ज्ञान को प्रकाश, स्वाद, गंध आदि के विभिन्न संवेदनों से निर्मित मानते थे। अपने संवेदनों का वर्णन व्यक्ति स्वयं कर सकता है, इसलिए तत्कालीन शरीर-क्रियाविज्ञानियों ने संवेदनों का वर्णन कर सकने की व्यक्तिगत प्रणाली को अंतर्निरीक्षण नाम दिया और उसे एक सर्वथा मौलिक प्रणाली समझा। व्यक्ति के विभिन्न व्यक्तिगत संवेदनों के अनुभव के योग को उन्होंने चेतना कहा। अतएव उनके अनुसार मनोविज्ञान का उद्देश्य अंतर्निरीक्षण द्वारा चेतना की संरचना को जानना और उसको निर्मित करनेवाले नियमों का अनुसंधान करना था।

संवेग : संवेगों की निश्चित परिभाषा देना या उनका वर्णन करना अत्यंत कठिन है। हां, संवेगात्मक प्रतिक्रिया की परिभाषा भी दी जा सकती है और उसका वर्णन भी किया जा सकता है। संवेगों में तीन बातें होती हैं : आंतरिक शारीरिक परिवर्तन, चेष्टात्मक अभिव्यक्ति और किसी न किसी तरह का अनुभव। क्रोध में खून खौलने लगना, दिल की धड़कन का तेज हो जाना आदि आंतरिक शारीरिक परिवर्तन हैं, दांत पीसने लगना, मुट्ठी का मिंच जाना आदि चेष्टात्मक अभिव्यक्तियां हैं और शरीर में आग लग जाने का बोध क्रोध के संवेग का अनुभव है। संवेगों के इन तीनों पक्षों और उनके पारस्परिक संबंध पर विचार करके ही संवेगों को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

भूख, प्यास, आत्मरक्षा आदि शारीरिक प्रवृत्तियों की भांति संवेग भी उद्देश्यमूलक होते हैं और प्राणी को परिवेश की किसी विषम परिस्थिति से संतुलन कर सकने के लिए व्यवहार करने को प्रेरित करते हैं। प्रत्येक संवेग के पीछे कोई न कोई उद्देश्यमूलक व्यवहार अवश्य होता है, जैसे, डर के पीछे भागना। प्राणी के उद्देश्यमूलक व्यवहार में संवेगों का वही महत्त्व होता है, जो शारीरिक प्रवृत्तियों का।

संवेग किसी परिस्थिति की व्यक्तिगत सार्थकता पर निर्भर होने से प्रत्यक्षमूलक होते हैं। जो उद्दीपन एक व्यक्ति में क्रोध का संवेग पैदा करता है, हो सकता है, वह अन्य व्यक्ति में न करे। संवेग उत्पन्न करने के लिए उद्दीपन को व्यक्ति के लिए सार्थक होना चाहिए। हमारा नौकर चाय का प्याला गिरा दे, तो हम उस पर क्रोधित होते हैं, किंतु यदि कोई और गिरा दे, तो क्रोधित नहीं होते; क्योंकि उसका प्याला गिरा देना हमारे लिए सार्थक नहीं होता।

आंतरिक शारीरिक परिवर्तनों के अतिरिक्त संवेगों का अनुभव भी होता है। गुस्सा आने पर जब हम दांत पीसने लगते हैं और हमारा चेहरा तमतमा जाता है, तो हमें गुस्सा 'लगता' भी है। यह ठीक है कि संवेग के अनुभव को संवेगात्मक व्यवहार की भांति देखा नहीं जा सकता, किंतु फिर भी संवेग के चेतन अनुभव से इनकार नहीं किया जा सकता। संवेगों के अनुभव का व्यक्तिगत और सामाजिक महत्त्व होता है। कलाकार को अपने कलात्मक सृजन में आनंद मिलता है, विज्ञानी को अपने अनुसंधान में उत्सुकता और कुतूहल मिलता है। यदि मनुष्य संवेगों का चेतन अनुभव कर सकने में अक्षम होता, तो ललित कलाओं का सृजन और वैज्ञानिक आविष्कार शायद न हो पाते; क्योंकि मनुष्य को उनमें कोई रागात्मक रुचि न होती।

अपने स्पष्ट शारीरिक परिवर्तनों के कारण संवेगों

का अन्य मानसिक क्रियाओं से तीव्र भेद होता है। अन्य मानसिक क्रियाओं, जैसे, प्रत्यक्ष करने, याद करने या सोचने में उतने तीव्र, स्पष्ट और पूरे शरीर को आलोड़ित कर देनेवाले शारीरिक परिवर्तन नहीं होते, जितने क्रोध, भय आदि संवेगों के समय होते हैं। संवेगों में परिवर्तन शरीर के अंदर भी होते हैं और बाहर भी।

प्रबल संवेगों (जैसे क्रोध) से होनेवाले आंतरिक परिवर्तनों में अधिवृक्क ग्रंथि रक्तप्रवाह में ऐड्रीनलिन नामक पदार्थ का स्राव प्रचुर मात्रा में करने लगती है। इस स्राव से संवेगों में उनकी विशिष्ट प्रबलताएं उत्पन्न होती हैं। ऐड्रीनलिन के स्राव के प्रभाव से यकृत में जमा शर्करा रक्त में मिलने लग जाती है, जिससे होनेवाले परिवर्तनों से रक्त जल्दी जमने लग जाता है। इसलिए रक्त का दबाव बढ़ जाता है, नाड़ी की गति तेज हो जाती है और फेफड़े फैल जाते हैं, जिससे ज्यादा हवा अंदर आ सके।

इन आंतरिक परिवर्तनों के कारण प्राणी अपनी पूरी शक्ति से प्रतिक्रिया करने के योग्य बन जाता है और ऐसे-ऐसे चमत्कार कर बैठता है, जो सामान्य शारीरिक स्थिति में नहीं कर सकता। संवेगों की प्रबलता के प्रभाव के कारण लोग कठिन से कठिन काम आसानी से कर डालते हैं, जिन्हें उनके लिए सामान्य स्थिति में कर लेना असंभव होता है। संवेगों की प्रबलता पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता को कम कर देती है और प्राणी में देर तक काम कर सकने की उत्तेजना पैदा करती है।

संवेगों से होनेवाले बाह्य शारीरिक परिवर्तन परिवेश के उद्दीपनों का सामना करने में सहायक बनते हैं। क्रोध में मुट्ठियों का मिंच जाना प्राणी को शत्रु पर आक्रमण करने के लिए तैयार कर देता है। डर के मारे पैरों में ताकत आ जाने से प्राणी डरावने उद्दीपन से दूर भाग सकने को तैयार हो जाता है। बाह्य परिवर्तनों के कारण नाक, मुंह, आंखों, गालों आदि की पेशियों के विभिन्न संगठनों से हम अन्य लोगों को प्रभावित भी करते हैं। हंसने या मुस्कराने में मुख के विभिन्न भागों की पेशियों में जो संगठन हो जाता है, उसका दूसरे लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, इसलिए मुख की पेशियों के विभिन्न संगठनों, जैसे, हंसने, मुस्कराने, गाल फुला लेने, नाक-भौं सिकोड़ लेने आदि का सामाजिक महत्त्व होता है।

यद्यपि संवेग प्राणी का संतुलन विषम परिस्थितियों से कराने में सहायक बनते हैं, किंतु वे कभी-कभी उसका संतुलन नष्ट भी कर देते हैं। काम करते-करते खिसिया जाने पर काम अच्छी तरह नहीं हो पाता। शरीर-क्रिया-विज्ञानियों ने संवेगों में होनेवाले आंतरिक शारीरिक परिवर्तनों को जानने और नाप सकने के लिए अनेक यंत्र बना डाले हैं। विभिन्न संवेगों में रक्त-प्रवाह, सांस, हृदय और नाड़ी की गति, त्वचा का दबाव और ग्रंथियों की प्रतिक्रिया आदि पर विशद् खोजें की जा चुकी हैं।

संवेदन : प्राणी को अपने परिवेश का बोध उद्दीपन मिलने पर होता है। उद्दीपन मिलने पर जब कोई ग्राहक प्रभावित होता है, तो उसके न्यूरोनों में न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। न्यूरोनों की प्रेरणा मस्तिष्क में जाती है, जहां प्रत्येक ग्राहक की प्रेरणा को ग्रहण करने के अलग-अलग क्षेत्र होते हैं। ग्राहक की प्रेरणा मस्तिष्क के तत्संबंधी क्षेत्र में संवेदन उत्पन्न करती है। संवेदन होने पर प्राणी को उद्दीपन का बोध होता है। बोध होने पर प्राणी उद्दीपन के प्रति कोई प्रतिक्रिया करता है। संवेदन की अवस्था में उद्दीपन निर्विशेष यानी गुण और विशेषताओं से रहित होता है। नवजात शिशु को वे सभी संवेदन होते हैं, जो वयस्क को होते हैं, किंतु नवजात शिशु उन संवेदनों के नाम, रूप, गुण, भेद आदि को नहीं जानता; क्योंकि उस समय शिशु का मस्तिष्क विकसित नहीं होता। संवेदनों को नाम, रूप, गुण, भेद आदि देना विकसित मस्तिष्क की क्रिया है। संवेदन विकसित मस्तिष्क की क्रिया द्वारा ही सविशेष बनते हैं। संवेदन की अवस्था में मस्तिष्क क्रियाशील नहीं होता। संवेदनों को केवल ग्राहकों की क्रिया कहा जा सकता है।

यह ठीक है कि संवेदन शक्ति-परिवर्तन के कारण होते हैं, किंतु हर शक्ति-परिवर्तन का संवेदन नहीं होता। पराबैंगनी (अल्ट्रावायलेट) किरणें यद्यपि हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर उस पर प्रभाव डालती हैं, किंतु हमें उनका संवेदन नहीं होता। संवेदन शक्ति-परिवर्तन की सूक्ष्मता और स्थूलता की एक विशेष सीमा के अंदर ही संभव है। यदि शक्ति-परिवर्तन उस सीमा से अधिक क्षीण या तीव्र होगा, तो ग्राहक उसको ग्रहण नहीं कर सकेंगे और हमें संवेदन नहीं होगा।

प्राणी को विभिन्न प्रकार के संवेदन होते हैं। संवेदनों की विभिन्नताओं का रहस्य मनुष्य की शरीर-रचना की

विशेषता में है। ध्वनि का संवेदन स्पर्श के संवेदन से अलग होता है। ध्वनि एक प्रकार का गुण है और स्पर्श दूसरे प्रकार का। आंख का गुण है देखना और कान का सुनना। आंख, कान आदि के संवेदनों में जातीय भेद होता है। गुणों के जातीय भेद का संवेदन अलग-अलग ग्राहकों से होता है। आंख सुन नहीं सकती और कान देख नहीं सकता; क्योंकि दोनों के गुणों में जातीय भेद होता है।

लाल और हरे रंग में भी गुण-भेद होता है, किंतु यह भेद जातीय न होकर विशिष्ट होता है। गुण के विशिष्ट भेद का संवेदन एक ही ग्राहक द्वारा होता है। लाल और हरे दोनों रंगों के विशिष्ट भेद का संवेदन आंख से ही होता है और उनके भेद का कारण तत्संबंधी ग्राहक में होता है।

संवेदन के गुण और उद्दीपन में घनिष्ठ संबंध होता है। हरे रंग की वस्तु हरे रंग के संवेदन को उत्पन्न करती है, लाल रंग के संवेदन को नहीं। संवेदन के गुणों की व्याख्या बहुत सीमा तक उद्दीपन के आधार पर की जा सकती है। संवेदन के गुणों में मात्रा-भेद न होकर प्रकार-भेद होता है। संवेदनों की तीव्रता में भी भेद होता है, जैसे, मोमबत्ती और बिजली के प्रकाश में। किंतु तीव्रता को गुण-भेद से ही समझा जा सकता है। यदि लाल और हरे रंगों की चमक में तीव्रता का भेद न हो, तो भी लाल और हरे रंग में गुण के आधार पर भेद किया जा सकता है। दूसरे, तीव्रता का संवेदन उद्दीप्त होनेवाले न्यूरोनों के रेशों की संख्या पर निर्भर होता है।

कभी-कभी उद्दीपन के न रहने पर भी उस उद्दीपन का संवेदन कुछ देर तक बना रहता है। अंगूठी या घड़ी हाथ से उतार देने पर भी कुछ देर तक उनका संवेदन होता रहता है। इसे संवेदन की 'देर' कहा जाता है। किंतु कुछ उद्दीपनों का संवेदन तो उद्दीपनों के न रहने पर कुछ देर तक होता रहता है और कुछ का बिलकुल नहीं होता। हृदय को छूनेवाले स्वर कान में देर तक गूंजते रहते हैं, किंतु अप्रिय गंध का संवेदन उद्दीपन के हटते ही नष्ट हो जाता है।

हमें छोटे और बड़े यानी आकार का भी संवेदन होता है। रुपये का संवेदन चवन्नी के संवेदन से अलग होता है। रुपये और चवन्नी के संवेदन के भेद को संवेदन का 'प्रसार' कहते हैं। सिर के दर्द के संवेदन में सर्वांगव्यापी पीड़ा से कम प्रसार होता है। प्रसार के संवेदन में व्यक्तिगत अवस्था की भी प्रधानता रहती है। गरीब को अमीर की अपेक्षा रुपये में अधिक 'प्रसार' मालूम पड़ता है, इसलिए उसे पैसा ज्यादा बड़ा लगता है।

संवेदन की इन्हीं विशेषताओं के कारण अनुभव में विविधता होती है। अनुभव की विविधता की व्याख्या के लिए संवेदन की इन विशेषताओं को स्वीकार करना पड़ता है। उनसे इनकार करना अनुभव की विविधता से इनकार करना है।

संसूचन : किसी विचार या बात को बिना किसी आलोचना के ग्रहण कर लेने को संसूचन कहा जाता है। संसूचन दो प्रकार का होता है: आत्म-संसूचन और पर-संसूचन। व्यक्ति अपने को स्वयं जब कुछ निर्देश देता है, तो उसे आत्म-संसूचन कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की बातों या विचारों से प्रभावित होकर उन्हें ग्रहण करता है, तो वह पर-संसूचन होता है। लेकिन आम तौर पर संसूचन शब्द का प्रयोग पर-संसूचन के अर्थ में ही किया जाता है। संसूचन का प्रयोग कुछ मानसिक विकारों को ठीक करने के लिए सफलता से किया गया है। प्रचारक और विज्ञापनदाता संसूचन का प्रयोग लोगों की अभिवृत्तियों और विश्वासों को बनाये रखने या उन्हें बदलने के लिए करते हैं। संसूचन का एक विशेष रूप है सम्मोहन।

सदृशता नियम : (दे० साहचर्य के नियम)

समय-ज्ञान : सामाजिक व्यवहार में समय की बहुत आवश्यकता पड़ती है। हमें हर काम समय से करना पड़ता है। दैनिक जीवन में आज, कल, परसों, अभी, आदि की अनिवार्यता पर कुछ कहना अनावश्यक है। समय के ज्ञान में 'देर' का अनुभव होता है और हमारे सारे कार्यक्रम 'देर' के आधार पर ही बनते हैं। हम हर काम को उतनी ही 'देर' में कर लेना चाहते हैं, जितनी 'देर' उसमें लगनी चाहिए।

आज तो हमारे पास 'देर' जानने के लिए घड़ियां हैं, दिन हैं, तारीखें हैं, किंतु 'देर' जानने के इन साधनों के विकास के पीछे एक बड़ा रोचक इतिहास है। सभ्यता के शैशव काल में मनुष्य 'देर' का अनुमान रात और दिन, मौसम के

परिवर्तन और चांद के घटने-बढ़ने से किया करता था। 'देर' का अनुभव या अनुमान प्राकृतिक शक्तियों के प्रकट और अप्रकट होने के आधार पर भी किया जाता था।

'देर' का अनुमान अवधान के विभाजन पर भी निर्भर होता है। अवधान का विभाजन नष्ट हो जाने पर समय का ध्यान नहीं रह जाता। किसी काम में तन्मय हो जाने पर अवधान का विभाजन नष्ट हो जाता है और हम यह अनुमान कर सकने में असमर्थ रहते हैं कि हमें काम करने में कितनी 'देर' लगी। 'देर' के अनुमान पर संवेगों का भी प्रभाव पड़ता है; क्योंकि वे हमें उत्तेजित करके हमारे अवधान के विभाजन को नष्ट कर देते हैं। अत्यधिक शारीरिक उत्तेजना में समय की सुध नहीं रहती।

'देर' के अनुमान पर उस 'देर' के अंदर होनेवाली घटनाओं की संख्या का भी प्रभाव पड़ता है। घटनाओं की संख्या जितनी ज्यादा होती है, समय उतना ही लंबा लगता है। उबानेवाले काम में व्यस्त आदमी का दिन लंबा होता है। मन लगा लेनेवाले कामों में लगने वाली 'देर' लंबी नहीं लगती; क्योंकि मन लगने से अवधान का विभाजन नहीं हो पाता और समय जल्दी कट जाता है। तबीयत उबानेवाले दिन काटे नहीं कटते। स्कूल के पांच घंटे पहाड़ की तरह लगते हैं, किंतु खेल-कूद के पांच घंटे जल्दी बीत जाते हैं। न चाहते हुए भी कभी किसी व्यक्ति की प्रतीक्षा करनी होती है, तब भी इस स्थिति का स्पष्ट अनुभव होता है।

'देर' के अनुभव के विषय में एक प्रचलित सिद्धांत यह है कि मन शारीरिक क्रियाओं, सांस लेने और नाड़ी की गति आदि को गिनता है जिससे हमें देर का अनुभव होता है। हमारा शरीर स्वयं 'देर' और समय बतानेवाली एक रासायनिक घड़ी है। बुखार आने और शरीर के अस्वस्थ रहने पर यह रासायनिक घड़ी तेज चलने लगती है, जिससे समय जल्दी बीतता है। समय के ज्ञान पर शारीरिक परिवर्तनों का भी प्रभाव पड़ता है। बचपन में शारीरिक परिवर्तन शीघ्रतापूर्वक होते हैं, जिनकी तुलना में समय की गति मंद लगती है। वृद्धावस्था में शारीरिक परिवर्तन शीघ्रतापूर्वक नहीं होते, इसलिए बुढ़ापे में समय जल्दी बीतता-सा लगता है। इन सिद्धांतों के सच हो सकने का थोड़ा-बहुत आधार समय-ज्ञान की परीक्षाओं से मिल चुका है।

समलिंगी कामुकता : इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। एक अर्थ तो काम-विकास की उस अवस्था का सूचक है, जहां व्यक्ति विलिंगी व्यक्ति के प्रति आकर्षित न होकर समलिंगी व्यक्तियों की ओर ही आकर्षित रहता है। किंतु विकास-क्रम में व्यक्ति स्वतः इस अवस्था से निकलकर विलिंगी व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होने लगता है।

इस शब्द का दूसरा अर्थ उस विकार का द्योतक है, जहां पुरुष या स्त्री वयस्क होने पर भी स्वाभाविक रूप से विलिंगी व्यक्ति के प्रति आकर्षित नहीं हो पाते और अपनी कामतुष्टि के लिए समलिंगी व्यक्ति की अपेक्षा करते हैं।

समलिंगी कामुकता अपना तदात्मीकरण समलिंगी व्यक्ति से न कर पाने से उत्पन्न संवेगात्मक अपरिपक्वता का एक रूप होती है। अगर पिता अपने लड़के के प्रति उदासीन रहे, तो लड़का पिता से विमुख होकर उसके समान न बनने की हर संभव कोशिश कर सकता है। पिता की विरोधी प्रवृत्ति का डर लड़के को भीरु बना देता है, जिससे वह शारीरिक या मानसिक दृष्टि से कोई स्वाग्रह नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति समलिंगी कामुकता को पैदा करने में सहायक होती है।

समाज-मनोविज्ञान : मनोविज्ञान के इस अध्ययन-क्षेत्र में जन-समूह, भीड़ और सामाजिक समुदायों की मानसिक विशेषताओं का उनका निर्माण करनेवाले व्यक्तियों की विशेषताओं से अलग अध्ययन किया जाता है। समाज-मनोविज्ञान में सामाजिक संबंधों, संगठनों, प्रचलित रीतियों और परंपराओं का संचालन करनेवाले वैज्ञानिक नियमों की खोज की जाती है। समाज-मनोविज्ञान की एक शाखा लोक-मनोविज्ञान भी होती है, जिसमें सभ्य जातियों से अलग आदिम लोगों और कबीलों के मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। इस शाखा का मुख्य विषय आदिम लोगों की जीवन शैली, उनके विश्वासों, लोक-प्रथाओं, संस्थाओं, दंतकथाओं और धर्मों आदि का अध्ययन करना होता है।

समाजमिति : मोरेनो द्वारा प्रतिपादित पारस्परिक संबंधों के अध्ययन की एक धारणा। इसका मुख्य प्रयोजन

व्यक्तियों के बीच स्वीकृति-अस्वीकृति या आकर्षण-विकर्षण के भावों का अनुसंधान करके उसके आधार पर अनुमानित स्वाभाविक समूहों की वैधानिक समूह-रचना से संगति या असंगति को देखना होता है। इस प्रणाली में समूह के प्रत्येक व्यक्ति से गुप्त रूप से यह बताने को कहा जाता है कि उसे समूह के कौन-से अन्य व्यक्ति भले लगते हैं, उसे किस के साथ काम करना या रहना अच्छा लगता है और कौन व्यक्ति उसे भले नहीं लगते और वह किन से अलग रहना चाहता है। इस प्रकार जमा की हुई सामग्री के आधार पर एक सामाजिक आलेख बना लिया जाता है। आलेख में प्रायः कुछ व्यक्ति अकेले पड़ गये मिलते हैं, जो समूह में किसी को स्वीकार्य नहीं होते। आलेख में कुछ जोड़ (दो व्यक्तियों का पारस्परिक आकर्षण), कुछ त्रिकोण (तीन व्यक्तियों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण) और कुछ सितारे मिलते हैं। सितारे वे व्यक्ति होते हैं जिनकी ओर अनेक व्यक्ति आकर्षित रहते हैं।

समीपता नियम : (दे० साहचर्य के नियम)

सम्मोहन : कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न की गयी नींद के समान एक अवस्था, जिसमें सम्मोहित पात्र सम्मोहक के संसूचनों के अनुकूल काम करने लग जाता है। सम्मोहन एक स्वभाविक वैज्ञानिक क्रिया होता है और उसके पीछे कोई रहस्य या आधिभौतिक आधार नहीं होता। सम्मोहित करने का कोई एक निश्चित तरीका नहीं होता। सम्मोहक अलग-अलग तरीके अपना सकते हैं।

सामान्यतः सम्मोहावस्था की तुलना निद्रावस्था से की जाती है, किंतु दोनों में बड़ा अंतर होता है। बीमार बच्चे के सिरहाने बैठी उसकी मां थक जाने से ऊंघ-ऊंघकर सो सकती है, किंतु सोते समय वह चारों ओर के शोरगुल के प्रति तो उदासीन रहती है, मगर बच्चे की जरा-सी कराह सुनकर फौरन जाग जाती है। इसका कारण उसके अवधान का विन्यास होता है, जो बच्चे के प्रति बन जाता है। उसका इस ढंग से 'सोना' सामान्य सोना नहीं है। इसी प्रकार सम्मोहावस्था भी सामान्य सोने के समान नहीं होती। जिस प्रकार मां सोते समय भी बच्चे के प्रति सजग रहती है, उसी प्रकार सम्मोहित पात्र भी केवल सम्मोहक के संसूचनों के प्रति सजग रहता है।

सम्मोहन और नींद में ऊपरी समानता होने से यह पता लगाना कठिन होता है कि पात्र ठीक से सम्मोहित हो चुका है या नहीं। इसका पता लगाने के लिए सम्मोहक पात्र पर संसूचन-ग्राहिता के कुछ परीक्षण करता है। अच्छी तरह सम्मोहित होने के बाद पात्र की प्रतिक्रियाओं में कुछ ग्राहकीय और प्रभावकीय विशेषताएं उत्पन्न की जा सकती हैं। अगर पात्र से यह कहा जाये कि उसे कान में खुजली लग रही है तो वह अपना कान खुजलाने लगेगा। पात्र सम्मोहावस्था में सम्मोहक को छोड़कर और किसी व्यक्ति के संसूचन पर कोई ध्यान न देकर उसकी उपेक्षा करता है।

सम्मोहक और पात्र के बीच स्थापित होनेवाले इस विशेष संबंध को चित्ताकर्षण कहा जाता है; क्योंकि पात्र का ध्यान और सब ओर से हटकर केवल सम्मोहक की ओर ही आकर्षित रहता है। मैक्डूगल ने चित्ताकर्षण को सम्मोहन का मुख्य लक्षण माना था, किंतु प्रयोगात्मक खोजों के आधार पर चित्ताकर्षण का पुराना अर्थ बदल गया है और अब चित्ताकर्षण को सम्मोहन का मुख्य लक्षण नहीं माना जाता। चित्ताकर्षण सम्मोहित पात्र के संवेदी क्षेत्र के अत्यंत संकुचित हो जाने का परिणाम होता है।

संसूचन द्वारा पात्र में भ्रम और मतिभ्रम उत्पन्न कर सकना सम्मोहन की कुछ और विशेषताएं हैं। सम्मोहक पात्र को कागज का टुकड़ा देकर कहता है कि पात्र को बड़ी भूख लगी है और इसके बाद पात्र कागज को इस चाव से खाने लगता है, मानो रोटी खा रहा हो।

सम्मोहावस्था टूटने पर पात्र को साधारणतया सम्मोहावस्था में होनेवाली घटनाओं की याद नहीं रहती। सम्मोहावस्था में पात्र ऐसी-ऐसी बातों को याद कर लेता है, जिन्हें जाग्रतावस्था में लाख प्रयत्न करने पर भी याद नहीं कर पाता। सम्मोहावस्था में स्मृति पर पड़नेवाले प्रभाव को सम्मोहनोत्तर संसूचन कहा जाता है। सम्मोहावस्था में पात्र से यह कहा जाता है कि कुछ देर बाद वह सम्मोहक के खांसने पर कमरे में झाड़ू देने लगेगा। इसके बाद पात्र को सम्मोहावस्था से जगा दिया जाता है। कुछ देर बाद सम्मोहक खांस देता है और पात्र कमरे में झाड़ू देने लगता है। पूछने पर वह अपने इस विचित्र व्यवहार का कोई स्पष्टीकरण नहीं दे पाता।

यह पूछा जा सकता है कि क्या सम्मोहक पात्र से जो

चाहे करा सकता है, लेकिन यह मानने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सम्मोहक पात्र से उसके नैतिक स्वभाव के प्रतिकूल कोई काम नहीं करा सकता। अपने नैतिक स्वभाव के प्रतिकूल संसूचन मिलने पर पात्र की सम्मोहावस्था टूट जाती है और उसका व्यवहार कुछ हिस्टीरिक-सा हो जाता है। इस पक्ष की पुष्टि के ज्यादा प्रमाण मौजूद हैं कि सम्मोहित पात्र से अपराध और असामाजिक काम आसानी से नहीं कराये जा सकते।

सहसंबंध गुणांक : दो या दो से अधिक परिवर्त्यों के परस्पर संबंध की माप। यह सदा −1.00 और +1.00 के बीच होती है। इसे मालूम करने के लिए कुछ व्यक्तियों का मापन दोनों परिवर्त्यों पर किया जाता है और उनके द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर सहसंबंध गुणांक को निश्चित किया जाता है। सहसंबंध गुणांक को मालूम करने की अनेक विधियां हैं, इसलिए सहसंबंध गुणांक भी कई प्रकार के होते हैं, जैसे, गुणन आघूर्ण सहसंबंध गुणांक, कोटि सहसंबंध गुणांक, द्विपंक्तिक सहसंबंध गुणांक। यह संभव है, परिवर्त्यों में कोई पारस्परिक संबंध न हो या वह संबंध धनात्मक या ऋणात्मक हो। पहली अवस्था में सहसंबंध को शून्य माना जाता है, दूसरी अवस्था में उसे अनुलोम और तीसरी अवस्था में विलोम सहसंबंध कहा जाता है। पूर्ण धनात्मक सहसंबंध को +1.00 और पूर्ण ऋणात्मक सहसंबंध को −1.00 लिखा जाता है। सहसंबंध की खोज विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक परीक्षणों की वैधता और विश्वसनीयता को जानने के लिए की जाती है।

सहानुभूति : रागात्मक अनुकरण को सहानुभूति कहा जाता है। हम अक्सर दूसरों के दुख को देखकर दुखी हो जाते हैं। दूसरों की अनुभूति से हमारे मन में उसी के समान रागात्मक अनुभूति उत्पन्न होना ही सहानुभूति है। सहानुभूति का बड़ा सामाजिक महत्त्व होता है। सहानुभूति द्वारा ही हम हिंसक के प्रति घृणा, बच्चों के प्रति स्नेह और निर्बलों के प्रति दया आदि सामाजिक रागों का अनुभव करते हैं।

सांख्यिकीय प्रणाली : अनेक मनोवैज्ञानिक खोजों में भारी पैमाने पर प्रयोग करने पड़ते हैं और उनके परिणामों को ठीक से आंकने और उनकी व्याख्या करने के लिए सांख्यिकीय विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि उससे परिणामो में गणितात्मक निश्चितता आ जाती है। सांख्यिकीय प्रणाली जटिल और गणितप्रधान होती है। इस प्रणाली में माध्य का निर्धारण, परिवर्त्य का मापन, लेखाचित्रण, शतमक का निश्चय, सामान्य वितरण वक्र का अनुप्रयोग, सहसंबंध परिगणन, सांख्यिकीय निष्कर्षों की विश्वसनीयता की परीक्षा, परीक्षण निर्माण आदि मनोविज्ञान के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

सादीयता : काम-विपर्यास का एक प्रकार, जिसमें काम-तुष्टि का अनुभव किसी को सताने, पीड़ित करने या क्रूर और निर्दय व्यवहार करने से होता है। इस विपर्यास का नामकरण फ्रांस के उपन्यासकार मार्की दे साद के नाम पर किया गया है। साद ने अपने उपन्यासों में दूसरों को पीड़ा देने में कामतुष्टि मिलने का चित्रण किया है।

साधारण मनोविदलता : मनोविदलता के इस रूप का प्रारंभ क्रमिक भी होता है और आकस्मिक भी। क्रमिक प्रारंभ में रोगी में रुचि और संकल्प की कमी हो जाती है। वह अकेला और कुछ अनमना-सा रहने लगता है। उसके रागात्मक अनुभव में कुछ शिथिलता आ जाती है और वह अपने बचपन के प्रति ज्यादा आकृष्ट हो जाता है। वह अपने काम और खेल में रुचि नहीं लेता, यहां तक कि पहनने-ओढ़ने में भी उदासीन हो जाता है। आकस्मिक प्रारंभ में रोगी अचानक बीमार पड़ जाता है, उत्तेजित हो जाता है और प्रलाप भी करने लगता है। उसमें मानसिक ह्रास के चिह्न भी पाये जाते हैं। उसे हठभ्रम और मतिभ्रम भी हो सकते हैं, यद्यपि उनका पता मुश्किल से ही चल पाता है।

सामान्य वितरण-वक्र : इस वक्र का आधार एक घंटी जैसा होता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से जो मापन प्राप्त होता है उसका वितरण लगभग उपर्युक्त वक्र जैसा होता है। सामान्य वितरण-वक्र गणित के प्रायिकता सिद्धांत पर आधारित है।

साहचर्य : साहचर्य का अर्थ है संबंध जोड़ना। अनुभव द्वारा हम तरह-तरह के संबंध जोड़ते रहते हैं। संबंध जोड़ने

का एक मनोवैज्ञानिक नियम यह है कि अगर दो या दो से अधिक अनुभव एक साथ होते हैं, तो उनमें कुछ ऐसा संबंध जुड़ जाता है कि बाद में एक अनुभव के फिर होने पर दूसरा अनुभव भी फिर हो सकता है : दो या दो से अधिक न्यूरोनीय द्वारों के एक ही समय पर सक्रिय होने से उन दोनों के न्यूरोनीय सामीप्यों का प्रतिरोध इस तरह कम हो जाता है, जिससे बाद में किसी एक की सक्रियता का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ सकता है।

साहचर्य के नियम : किसी अनुभव और विचार के बीच या दो विचारों के बीच के उस संबंध को साहचर्य कहते हैं, जिसकी सहायता से एक के चेतना में आने से दूसरा भी स्वतः आ जाने की प्रवृत्ति रखता है। साहचर्य-निर्माण के तीन नियम हैं : (1) समीपता का नियम, (2) सदृशता का नियम, और (3) विरोध का नियम।

समीपता के नियम के अनुसार दो उद्दीपनों का ज्ञान साथ-साथ होते रहने से किसी एक के अनुभव में दूसरे की सहचारिता का संबंध बन जाता है। अगर हम दो व्यक्तियों को सदा एक साथ देखते रहें, तो उनमें से किसी एक को देखने से ही हम दूसरे का पुनःस्मरण कर लेंगे। इसी प्रकार दवात को देखकर कलम का पुनःस्मरण जरूर होगा।

सदृशता के नियम के अनुसार यदि दो उद्दीपनों में काफी समानता हो, तो एक के देखने से दूसरे का पुनःस्मरण हो जाता है। चांद को देखकर किसी चंद्रमुखी की और बुझते दिये को देखकर जीवन के अंत की याद आ जाती है। इसका कारण सादृश्य रखनेवाले उद्दीपनों का पहले साथ-साथ अनुभव होना नहीं है, किंतु उनका सादृश्य मात्र ही है। जो व्यक्ति जितना अधिक कल्पनाशील और तेज नजरवाला होता है, वह अपने मन में उतनी ही जल्दी किसी उद्दीपन को देखने पर उससे समानता रखनेवाले अन्य उद्दीपनों का साहचर्य बना लेता है।

विरोध के नियम के अनुसार विरोध भी साहचर्य बनाने में सहायक होता है। दुर्दिन के समय सुदिन भी याद आने लगते हैं। कुछ मनोविज्ञानी विरोध को कोई स्वतंत्र नियम नहीं मानते। उनके अनुसार विरोध का ज्ञान सदृशता के ज्ञान से होता है। कोयल और कौवे में विरोध का ज्ञान इसलिए होता है कि उनमें अनेक बातों की समानता होती है। कोयल से कौवे की ही याद आती है, शेर की नहीं; क्योंकि कोयल का ज्ञान पक्षियों के ज्ञान की अपेक्षा रखता है और कौवा भी पक्षियों के सदृश होता है और उन्ही की जाति में आता है। यद्यपि कोयल और कौवे में बोली का विरोध होता है, लेकिन उन दोनों के विरोध के पीछे उनका जातिगत सादृश्य होता है। इसी प्रकार गर्मी सर्दी की याद दिलाती है; क्योंकि दोनों तापक्रम के दो रूप होते हैं। पुण्य से पाप की याद आती है; क्योंकि उनके विरोध के पीछे उनका जातिगत सादृश्य नहीं होता।

साहचर्य क्षेत्र : ये क्षेत्र प्रमस्तिष्क में होते हैं और प्रत्येक क्षेत्र किसी न किसी विशिष्ट मानसिक व्यापार से संबंधित होता है। प्रमस्तिष्क में देखने, सुनने, त्वचीय संवेदन, पीड़ा, बोलने आदि के क्षेत्र अलग-अलग होते हैं और इन क्रियाओं से संबंधित तंत्रिका इनसे संबंधित क्षेत्रों से ही संबंधित होती है। (दे०प्रमस्तिष्क)

साहचर्यवाद : मनोविज्ञान का एक संप्रदाय जो शक्ति-मनोविज्ञान का प्रबल विरोधी है। ह्यूम, बेन, मिल आदि साहचर्यवादियों के अनुसार ज्ञान संवेदन से प्राप्त होता है और संवेदन अलग-अलग इकाई होते हैं। ज्ञान में जो एकरूपता होती है, वह साहचर्य के नियमों से आती है।

जब हम नारंगी देखते हैं, तो हमें पीले-लाल रंग, एक निश्चित आकार, गोलाई, मोटाई आदि के विभिन्न संवेदन होते हैं। ये संवेदन अपने आप में नारंगी का ज्ञान नहीं देते, वरन् जब वे साहचर्य के नियमों द्वारा परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, तो हमें नारंगी का ज्ञान या अनुभव होता है। इस प्रकार साहचर्यवाद में भी मानसिक क्रियाओं की एकता को नहीं माना जाता। उनमें जो एकता होती है, वह साहचर्य के नियमों द्वारा आती है। इस प्रकार साहचर्य-वाद का प्रमुख उद्देश्य अनुभव का विश्लेषण करना और अनुभव के पीछे साहचर्य के नियमों को ढूंढ़ना है, जिससे मानसिक क्रियाओं की एकरूपता की व्याख्या की जा सके।

सीखना : हमारा परिवेश विशाल होता है और हमारे पास परिवेश को जानने और उससे कुछ सीमा तक अपना संतुलन करने के कुछ साधन जन्मजात होते हैं। हमारा

परिवेश आहार, निद्रा, भय और मैथुन तक ही सीमित नहीं है। इसलिए परिवेश का सामना करने के लिए जन्मजात साधन ही काफी नहीं होते। हमारे परिवेश का सामाजिक, व्यापारिक, वैधानिक पक्ष भी होता है और इन पक्षों का सामना करने के लिए हमें बहुत कुछ सीखना पड़ता है। मनुष्य ने अपनी शिक्षा, पूर्वजों के अनुभवों और परंपरा से आज तक जो कुछ सीखा है, यदि वह उससे छीन लिया जाये, तो मनुष्य का सारा परिवेश निरर्थक बन जायेगा और वह अपने निरर्थक परिवेश का कठपुतला मात्र होकर रह जायेगा।

किसी बच्चे को माचिस की डिब्बी दे दीजिए, तो वह उससे बड़े हर्षपूर्वक खेलने लगेगा, कभी उसे बजायेगा, कभी मुंह में रखेगा। किंतु यदि एक बार माचिस से उसका हाथ जला दिया जाये, तो वह फिर माचिस की डिब्बी को छुएगा तक नहीं। फिर जलाये जाने पर वह माचिस का नाम भर ले देने से डरकर रोने लगेगा। यह घटना स्वाभाविक रूप से सीखने का एक अच्छा उदाहरण है। प्राणी का सारा व्यवहार किसी उद्दीपन के प्रति की गयी प्रतिक्रिया होता है। जलने से पहले माचिस के प्रति बच्चे की प्रतिक्रिया हर्षपूर्वक खेलने के रूप में होती थी। जलने के बाद माचिस के प्रति उसकी प्रतिक्रिया में परिवर्तन हो गया। यही सीखना है। सीखना किसी उद्दीपन के प्रति व्यवहार का बदल जाना होता है।

किंतु व्यवहार शरीर की प्राकृतिक वृद्धि के साथ-साथ भी बदलता है, लेकिन इसे भी सीखना नहीं कहा जा सकता। शारीरिक विकास से व्यवहार में जो परिवर्तन हो जाते हैं, उन्हें परिपक्वता कहना ठीक होगा। परिपक्वता और सीखना अन्योन्याश्रित हैं और व्यवहार में परिवर्तन का कारण किसी एक को मान लेना ठीक नहीं होगा। सीखने से व्यवहार पुनर्व्यवस्थित है। व्यवहार में जो न्यूरोनीय व्यवस्था रहती है, वह सीखने से दृढ़ बनती है। हमारा मस्तिष्क विभिन्न न्यूरोनीय प्रेरणाओं का ऐसा संगठन करता है, जिससे हम व्यवस्थित ढंग से क्रिया करने में समर्थ हो पाते हैं। यह संगठन और व्यवस्था ही सीखना है, चाहे वह ग्राहकीय हो या प्रभावकीय। समुचित न्यूरोनीय संगठन और व्यवस्था के लिए मस्तिष्क और पेशियों के परिपक्व होने की अपेक्षा होती है। बहुत छोटा बच्चा चीजों में भेद नहीं कर पाता; क्योंकि भेद कर सकने की क्रिया के लिए जिस न्यूरोनीय व्यवस्था की आवश्यकता होती है, बच्चे का मस्तिष्क अपरिपक्व होने से वह व्यवस्था नहीं कर पाता। छोटा बच्चा चल नहीं पाता; क्योंकि उसकी पेशियों में प्रभावकीय संगठन कर सकने के लिए परिपक्वता नहीं होती। खाना, पीना, चलना, सांस लेना, दौड़ना, वस्तुओं में भेद कर सकना आदि क्रियाएं ऐसी हैं, जो जन्मजात होती हैं और परिपक्व होने पर प्राणी उन्हें अनायास ही सीख जाता है। यहां सीखने से तात्पर्य उस न्यूरोनीय-ग्राहकीय और प्रभावकीय संगठन से है, जो प्राणी में जन्मजात या उसकी शारीरिक परिपक्वता का परिणाम न होकर चेष्टा द्वारा सीखा जाता है। उदाहरण के लिए पढ़ना, बुनना, साइकिल चलाना, चिंतन करना आदि को लिया जा सकता है। सीखने से प्राणी की ग्राहकीय और प्रभावकीय न्यूरोनीय प्रेरणाओं में नया संबंध स्थापित होता है, जो जन्मजात या पहले से नहीं होता और उसको स्थापित करने के बाद प्राणी परिवेश से अपना संतुलन और अधिक कुशलता से कर सकने की क्षमता अर्जित कर लेता है। इसलिए सीखने से तात्पर्य प्राणी की अर्जित क्रियाओं से है, उसकी जन्मजात क्रियाओं से नहीं।

सीखने का लेखा : 'सीखने' को तो प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा जा सकता, किंतु सीखते समय प्राणी के व्यवहार-क्रम को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है और उसका लेखा बनाया जा सकता है। सीखने का अर्थ है कुशलता प्राप्त करना और प्राणी ज्यों-ज्यों कुशलता प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों उसके व्यवहार में अंतर पड़ता जाता है और उसके व्यवहार में पड़नेवाले अंतर का लेखा बनाकर प्राणी के सीखने से संबंधित अनेक बातों का अनुमान और निर्देशन किया जा सकता है, जैसे प्राणी के सीखने की उन्नति कैसी रही ? सीखने में उसे कितना समय लगा ? और वह कितना सीख पाया।

मान लीजिए, आप किसी बच्चे को दो का पहाड़ा सिखा रहे हैं और उसके सीखने का लेखा बनाना चाहते हैं। इसके लिए, पहले आप एक ग्राफ तैयार कर लीजिए, जिसमें एक ओर गलतियों का खाता रहे और दूसरी ओर दिन या समय लगने का। यदि बच्चा पहले दिन ग्यारह गलतियां करता है, तो आप पहले दिन और ग्यारह गलतियों के खाने में एक बिंदु लगा दीजिए। इसी तरह

बच्चा पहाड़ा सीखने में जितने दिन लगाये और रोज जितनी गलतियां करे, आप उसी हिसाब से दिनों और गलतियों के खानों में बिंदु लगाते चले जाइए। जब बच्चा पहाड़ा अच्छी तरह सीख जाये और कोई गलती न करे, तो आप ग्राफ में लगाये सारे बिंदुओं को पिरोते हुए एक रेखा खींच दीजिए। आप देखेंगे कि यह रेखा वक्र होगी। यह वक्र रेखा बच्चे के पहाड़ा सीखने का लेखा है, जिससे आप यह निर्देशन कर सकते हैं कि पहाड़ा सीखने की कुशलता प्राप्त करने में बच्चे को कितने दिन लगे, उसने प्रतिदिन के हिसाब से कितनी गलतियां कीं और सीखने की दिशा में उसकी उन्नति कैसी रही।

टाइप, तारबर्की आदि सीखने की अनेक प्रकार की ग्राहकीय-प्रभावकीय कार्यकुशलताओं का लेखा इसी प्रकार बनाया जा सकता है और वक्र रेखाओं के उतार-चढ़ाव के आधार पर यह देखा गया है कि सीखने की क्षमता हर व्यक्ति में अलग-अलग होती है।

सीखने की वक्र रेखाओं के उतार-चढ़ाव के अध्ययन से यह पता चलता है कि शुरू-शुरू में सीखने की गति अच्छी रहती है, फिर मामूली-सी होती जाती है और एक स्थल ऐसा आता है, जहां अभ्यास से कुशलता में और वृद्धि होना रुक जाता है। ऐसे स्थल पर सीखने की वक्र रेखा समतल हो जाती है। वक्ररेखा के समतल हो जानेवाले स्थल को वक्र रेखा का पठार कहा जाता है। वक्र रेखा के पठार का सामान्य अर्थ यह होता है कि व्यक्ति में सीखने की जितनी शारीरिक सीमा थी, वह उस तक पहुंच चुका है। सीखने की शारीरिक सीमा वस्तुतः पेशियों की कार्य-शक्ति और न्यूरोनीय प्रवाह की गति से निर्धारित होती है, जो प्राणी की परिपक्वता पर निर्भर है।

किंतु वक्र रेखा प्राणी के व्यवहार-क्रम का लेखा होती है, उसके सीखने का नहीं। इसलिए वक्र रेखा के पठार की व्याख्या सावधानी से करनी चाहिए। पठार की सही व्याख्या में यही कहा जा सकता है कि पठार सीखने में प्रकट रूप से कोई उन्नति न होने का ही निर्देशन करता है, सीखने की शारीरिक क्षमता या सीमा का नहीं। वक्र रेखा में पठार आने के अनेक कारण हो सकते हैं।

यदि व्यक्ति सीखने में कुछ समय के लिए रुचि न ले, तो उसके सीखने की वक्र रेखा में पठार आ जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि उस व्यक्ति के सीखने की शारीरिक क्षमता का अंत हो चुका है। हो सकता है कि वह व्यक्ति फिर उस काम में रुचि लेकर उसे दुगने उत्साह के साथ सीखे और पठार आने के बाद उसके सीखने की वक्र रेखा उसकी कार्यकुशलता की वृद्धि का फिर निर्देशन करने लगे।

व्यक्ति यदि किसी समस्या को हल करते समय कोई नया ढंग अपनाता है तो वक्र रेखा में पठार आ जाता है। कोई व्यक्ति एक उंगली से टाइप करना सीख रहा हो और उसकी गति अच्छी हो गयी हो और वह इतने के बाद पांचों उंगलियों से टाइप सीखने का नया ढंग अपना ले, तो उसके सीखने की वक्र रेखा में पठार आ जायेगा; क्योंकि वह अपने नये ढंग में पुराने ढंग से अर्जित कुशलता से लाभ नहीं उठा सकेगा।

सीखने में किसी प्रकार की बाधा पड़ने से भी वक्र रेखा में पठार आ जाता है। जिस विद्यार्थी ने रटने-घोटने की आदत डाल ली हो, उसे यदि कोई ऐसी बात बतायी जाये, जिससें रटने की संभावना न हो, तो उसके सीखने की वक्र रेखा में पठार आ जायेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उस बात को सीख नहीं सकता, वरन् उसका रट्टूपन उस बात को सीखने में बाधा डालता है।

बहुत से कामों को सीखने की वक्ररेखा में पठार नहीं आते, जिससे स्पष्ट है कि पठार सीखने का अनिवार्य अंग नहीं होता। सीखने के लेखे में पठारों का आना काम की कठिनता और व्यक्ति द्वारा उस काम को सीखने के ढंग और अपनी पहले की शिक्षा-दीक्षा से लाभ उठा सकने की क्षमता पर निर्भर होता है।

सीखने का संक्रमण : कभी-कभी किसी सीखी गयी कुशलता का प्रभाव अन्य सीखी जानेवाली कुशलताओं पर भी पड़ता है। इसे सीखने का संक्रमण कहा जाता है। संक्रमण का प्रभाव अनुकूल भी पड़ सकता है और प्रतिकूल भी। टेनिस खेलना सीख लेने के बाद बैडमिंटन खेलना आसानी से और जल्दी सीख लिया जाता है; क्योंकि टेनिस खेलने की कुशलता बैडमिंटन खेलना सीखने की नयी स्थिति पर अनुकूल रूप से संक्रमित हो जाती है। पूर्व अर्जित कुशलता से नयी स्थिति को सीखने में अगर अनुकूल प्रभाव पड़े, तो उसे अनुकूल संक्रमण कहा जाता है। क, ख, ग, घ

को उलटे क्रम में घ, ग, ख, क से सीखने की कोशिश कीजिए। आप देखेंगे कि सीखने में बाधा पड़ेगी। यह बाधा पहले से पड़ चुकी आदत के हस्तक्षेप के कारण पड़ती है। जब आदत के हस्तक्षेप के कारण संक्रमण का प्रभाव नयी स्थिति को सीखने पर प्रतिकूल पड़कर बाधक बनता है, तो उसे प्रतिकूल संक्रमण कहा जाता है।

संक्रमण के अधिक प्रयोग क्रियात्मक सीखने पर ही किये गये हैं और उनसे यह पता चला है कि अनुकूल संक्रमण काफी बड़ी मात्रा में होता है। प्रतिकूल संक्रमण के अधिक प्रयोग मौखिक सामग्री पर ही किये गये हैं। एक प्रयोग में बच्चों को निरर्थक शब्दों की तालिका याद करायी गयी और उसके बाद कुछ गद्य-खंड। देखा यह गया कि निरर्थक शब्द-सूची याद करने का गद्य-खंड याद करने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। निरर्थक शब्द-सूची याद करने में बच्चों ने जिस प्रविधि का सहारा लिया था, वह गद्य-खंडों को याद करने में बाधक बनी।

प्रयोगों से यह भी पता चला है कि संक्रमण अल्पकालीन होता है। पात्र कालांतर में पहले प्रयुक्त की गयी प्रविधियों को भूल जाते हैं। कुछ समय के बाद प्रयोगात्मक और नियंत्रित समूह के निष्पादन में कोई अंतर नहीं रह जाता।

क्रियात्मक या मौखिक संक्रमण सीखने की स्थितियों में, सीखने की प्रविधियों में या सिद्धांतों में समानता होने पर ही संभव होता है। ताश के बहुत-से खेल जाननेवालों के लिए कोई नया खेल सीखना आसान होता है; क्योंकि नये खेल की बहुत-सी बातें उन्हें पहले से ही मालूम रहती हैं। मौखिक सीखने में भी भाषा और प्रतीकों की समानता रहती है। अगर दो भाषाओं में काफी समानता हो, तो एक को जाननेवाला दूसरी को बड़ी आसानी से सीख लेता है। इसी प्रकार नयी स्थितियों में पहले की सीखी प्रविधियों या सिद्धांतों का भी संक्रमण होता है।

सीखने की प्रारंभिक अवस्थाओं में जो त्रुटियां होती हैं, वे पहले की पड़ी हुई आदतों के कारण होनेवाली अनुपयुक्त ढंग से संक्रमित प्रतिक्रियाएं होती हैं। कभी-कभी उन अनुपयुक्त प्रतिक्रियाओं को हटा सकना बड़ा कठिन होता है। संक्रमण का प्रतिकूल या अनुकूल होना व्यक्ति की पूर्व शिक्षा के बाधक बनने या न बनने पर निर्भर होता है। अनुकूल संक्रमण की भांति प्रतिकूल संक्रमण में भी सीखने की स्थितियों, प्रविधियों या सिद्धांतों की समानता अपेक्षित होती है। किंतु प्रतिकूल संक्रमण में सीखने की स्थितियों, प्रविधियों आदि की समानता सीखी जानेवाली नयी स्थिति की विरोधी होती है।

सुखेप्सा सिद्धांत : मनोविश्लेषण की एक धारणा, जिसके अनुसार इड का कार्य सुखेप्सा से संचालित होता है। इड का कार्य संचालन तार्किक नियमों से नहीं होता और उसमें नैतिकता या सामाजिक मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता। इड तत्काल तृप्ति चाहती है। वह प्रेरणारूप, अबौद्धिक, स्वार्थपूर्ण और सुखप्रिय होती है। इड का काम चिंतन न करके केवल इच्छा करना होता है और उस इच्छा की तृप्ति वह शोभनीय-अशोभनीय किसी भी ढंग से कर सकती है। उसके कार्य का एकमात्र लक्ष्य होता है सुख पाना।

सुनना : सुनने का उद्दीपन ध्वनि-तरंगों के रूप का होता है। तालाब में कंकड़ फेंकने से जिस तरह पानी में लहरें उठती और फैलती हैं, उसी तरह ध्वनि के उद्दीपन से चारों ओर की हवा में ध्वनि-तरंगें पैदा होती हैं और फैलती हैं। ध्वनि-तरंगें कान की टेढ़ी-मेढ़ी सतह पर एकत्रित हो छेद में प्रविष्ट होकर कान के पर्दे से टकराती हैं, जिससे पर्दे में कंपन होने लगता है। पर्दे की रक्षा के लिए कान के छेद में मोम जैसा पदार्थ भरा रहता है, जो पर्दे को क्षति पहुंचा सकनेवाली ध्वनि-तरंगों की तेजी को कम कर देता है। पर्दे में कंपन होने से कान की तीनों हड्डियों (हथौड़ा, निहाई और रकाब) में कंपन होने लगता है, जिससे अंडाकार झरोखे में लगी झिल्ली भी प्रकंपित होने लगती है। इस झिल्ली के कंपन से कान के भीतरी भाग में स्थित प्रघाण और कर्णावर्त नहरों में भरा तरल पदार्थ ऊपर-नीचे हिलने लगता है।

इन दोनों नहरों के तरल पदार्थ के ऊपर-नीचे हिलने से आधार-झिल्ली में कंपन होता है। आधार-झिल्ली में ध्वनि की विभिन्न तीव्रताओं से प्रभावित होनेवाले विभिन्न लंबाई के रेशे होते हैं। आधार-झिल्ली के कंपन से कोर्टी नामक अंग में गति उत्पन्न होती है, जिससे लोम कोशिकाएं झुक जाती हैं। इन लोम कोशिकाओं के झुकने से उनसे संबंधित श्रवण-तंत्रिका के डेंड्रोन उत्तेजित होते हैं, जिससे श्रवण-तंत्रिका में न्यूरोनीय प्रेरणा का

प्रादुर्भाव होता है। श्रवण-तंत्रिका की न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रवाह थैलेमस में जाता है और वहां से न्यूरोनीय सामीप्यों से होकर मस्तिष्क की पार्श्वपालि में जाता है, और तब हम ध्वनि सुनते हैं। प्रत्येक कान वल्कुट के दोनों पक्षों से संबंधित होता है, जिससे मस्तिष्क के एक ओर की पार्श्वपालि के नष्ट हो जाने से प्राणी बहरा नहीं हो सकता। वह बहरा तभी हो सकता है, जब उसके मस्तिष्क की दोनों पार्श्वपालि नष्ट हो जायें या कान का पर्दा फट जाये या फिर कान का ही कोई अंग नष्ट हो जाये।

सोचना : मनुष्य की मानसिक क्रिया ग्राहकों द्वारा परिवेश के उद्दीपनों को ग्रहण करने और उनका प्रत्यक्षात्मक संगठन करने तक ही सीमित नहीं होती। मनुष्य उद्दीपनों का संवेदन, प्रत्यक्ष और पुनः स्मरण करने के अतिरिक्त उद्दीपनों के विषय में सोचता भी है। सोचने से वह परिवेश से अपना संबंध समझता है और प्राप्त किये गये अनुभव का विभिन्न स्थितियों की आवश्यकतानुसार विभिन्न तरह से उपयोग करता है।

किसी समस्या को हल करने के लिए सही दिशा में सोचना आवश्यक होता है। सोचने की दिशा ठीक न होने पर मामूली से मामूली बात की व्याख्या भी गलत ढंग से की जा सकती है। सोचने की दिशा गलत होने पर दूसरों की मुखमुद्रा, संकेत, खांसने, थूकने, बातचीत करने आदि महत्त्वहीन बातों के पीछे भी कोई न कोई प्रसंग ढूंढ़ने की कोशिश की जाती है।

सही दिशा में सोचने के लिये समस्या को कई तरह से देखना चाहिए। उसके नये-नये अर्थों का अनुमान करना चाहिए और नवीन संभावनाओं को खोजना चाहिए। प्रसिद्ध गणितज्ञ गॉस जब छह साल के थे, तब एक दिन उनके अध्यापक ने कक्षा के सामने यह समस्या रखी : 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 और 10 को जोड़ना है, देखें पहले कौन बतायेगा ? गॉस ने जरा देर में ही बताने के लिए हाथ उठा दिया, जबकि अन्य लड़के $1+2=3+3=6$ ही कर रहे थे। अध्यापक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने गॉस से इतनी जल्दी जोड़ निकाल लेने की तरकीब पूछी। गॉस ने उत्तर दिया कि अगर मैं भी $1+2=3+3=6$ करता, तो बड़ी देर लगती और जोड़ गलत भी हो सकता था, इसलिए मैंने यों जोड़ा : 1 और 10 ग्यारह होते हैं, 2 और 9, 3 और 8, 4 और 7 तथा 5 और 6 भी ग्यारह होते हैं। इस प्रकार ये पांच जोड़े हैं और पांच को 11 से गुणा करने पर पचपन होते हैं। इसलिए सब अंकों का जोड़ 55 हुआ। निस्संदेह गॉस की तरह सोचने की क्षमता सबको प्राप्त नहीं होती। वह प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही मिलती है। सोचना एक विशद् मानसिक क्रिया है, जिसके अंतर्गत कल्पना करना, तर्क करना और आविष्कार करना आदि सभी प्रतीकात्मक मानसिक क्रियाएं आ जाती हैं।

स्थायीभाव : रागात्मक विकास के साथ-साथ हमारा जो संवेगात्मक रुझान-सा बन जाता है, उसे स्थायी-भाव कहा जाता है। देश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, मित्रता, पितृ-श्रद्धा आदि कुछ स्थायीभाव हैं। स्थायीभाव संवेगों की भांति उग्र और प्रचण्ड नहीं होते। उनमें स्थायित्व होता है, इसलिए उन्हें स्थायीभाव कहा जाता है। स्थायीभाव रागात्मक मनोवृत्ति के सूचक होते हैं। उनका व्यवहार के अन्य प्रेरकों पर गत्यात्मक प्रभाव पड़ता है। देश प्रेम का स्थायीभाव रखनेवाला व्यक्ति देश की उन्नति से हर्षित होता है। उन्नति के लिए अपना योग देने में गौरव अनुभव करता है और देश की निंदा करने या बुरा चाहनेवालों से घृणा करता है। इस प्रकार के स्थायीभाव व्यक्ति की भावात्मक प्रतिक्रियाओं का अक्सर दिशा-निर्देशन करते हैं।

स्थिरण : स्थिरण उस अवस्था को कहते हैं, जब लिबिडो किसी पुराने मार्ग से ही इतनी अधिक मात्रा में प्रवाहित होने लगता है कि व्यक्ति के विकास और संतुलित व्यवहार में बाधा पड़ने लगती है। स्थिरण रागात्मक विकास की किसी भी अवस्था पर हो सकता है। स्थिरण के पीछे सामान्यतः कोई न कोई मनोग्रंथि अवश्य होती है। स्थिरण के परिणामस्वरूप रागात्मक विकास ठीक से न हो पाने से व्यक्ति उस तरह से सामान्य व्यवहार नहीं कर पाता, जिसकी उससे आशा की जाती है। वह किसी व्यक्ति के प्रति अनावश्यक रूप से अत्यंत आसक्त बन सकता है और अपनी सारी शक्ति का व्यय उसी की ओर करके अन्य सामान्य दिशाओं की ओर शक्ति नहीं के बराबर लगा पाता है।

स्मृति प्रतिमाएं : सोने के समय जब हम अपने दिन भर के अनुभवों को याद करते हैं, तो हमारे सामने प्रत्येक अनुभव के विषय की प्रतिमाएं आने लगती हैं। इन प्रतिमाओं को स्मृति-प्रतिमाएं कहा जाता है; क्योंकि उनके सहारे बीती बातों को याद किया जाता है। स्मृति-प्रतिमाओं का आश्रय किसी भी ग्राहक में हो सकता है। हम जिन लोगों से मिले थे, उनकी दृष्टि-प्रतिमाएं सामने आती हैं, मर्मस्पर्शी संगीत की श्रवण-प्रतिमा सामने आती है। इसी प्रकार फूलों की सुगंध, किसी के जीवनदायी स्पर्श, कलाकंद के स्वाद, असहनीय पीड़ा आदि की प्रतिमाएं भी सामने आ सकती हैं।

स्मृति-प्रतिमाएं केवल पुनरुत्पादक होती हैं; क्योंकि उनके द्वारा पूर्व अनुभव का पुनःस्मरण ही होता है। पुनरुत्पादक होने के अतिरिक्त प्रतिमाएं सृजनात्मक भी होती हैं। सृजनात्मक प्रतिमाओं में पुराना अनुभव नये रूप में व्यवस्थित होकर सामने आता है। ललित कलाएं सृजनात्मक प्रतिमाओं का अच्छा उदाहरण हैं। ललित कलाओं में कलाकार अपने पूर्व अनुभव के आधार पर बनायी गयी प्रतिमाओं को नया रूप देकर कलासृष्टि करता है।

स्मृतिलोप : थकान या संवेगात्मक उत्तेजना के कारण हमारे मन में उद्दीपनों का स्थिरण नहीं हो पाता, इसलिए हम उन क्षीण उद्दीपनों को आसानी से भूल जाते हैं। किंतु स्मृति के जो विकार संवेगात्मक संघर्ष, मानसिक अंगों की क्षति, खून में विषैले पदार्थों की उत्पत्ति, तेज बुखार, छूत और वल्कुटीय रक्त-प्रवाह के दोष के कारण होते हैं, उन्हें स्मृतिलोप कहा जाता है।

आकस्मिक दुर्घटनाओं आदि के कारण व्यक्ति कभी-कभी अपने अतीत के काफी बड़े भाग को भूल जाता है। तेज बुखार के कारण सीखी हुई भाषा तक भूल जाने के उदाहरण मौजूद हैं। इस प्रकार के स्मृतिलोप को प्रतीपकारी स्मृतिलोप कहा जाता है। स्मृतिलोप मानसिक विघटन के कारण भी होता है, जो हिस्टीरिया का एक मुख्य लक्षण है। व्यक्ति कभी तो अपने पूरे अतीत को या फिर किसी घटना विशेष को याद नहीं कर पाता। पूरे अतीत को याद न कर पाने को व्यापक स्मृतिलोप और किसी घटना विशेष को ही याद न कर पाने को सीमित स्मृतिलोप कहा जाता है। व्यापक और सीमित स्मृतिलोप में हमारे अर्जित संस्कार नष्ट नहीं होते, किंतु विघटन के कारण उनका केंद्रीय विचार-प्रवाह से विच्छेद मात्र हो जाता है।

स्वप्न : स्वप्न स्मृति-प्रतिमाओं का सृजन करने का एक साधारण अनुभव है। स्वप्न देखना स्वाभाविक मानसिक क्रिया है और उसके लिए उद्दीपनों की आवश्यकता पड़ती है। सोते समय भी बाह्य जगत से हमारा संपर्क बना रहता है और संवेदी उद्दीपन मन में पहुंचते रहते हैं। स्वप्नों की सामान्य विशेषता यह होती है कि वे अनायास ही प्रकट होते हैं और उनमें हमारी चेष्टा का कोई स्थान नहीं होता। स्वप्नों की इसी विशेषता के कारण प्राचीन काल में उन्हें बाह्य शक्तियों द्वारा प्रेरित माना जाता था और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार आजकल उन्हें अचेतन मन द्वारा प्रेरित माना जाता है।

स्वप्नों का विधिवत् वैज्ञानिक अध्ययन सबसे पहले फ्रायड ने किया था। फ्रायड के अनुसार स्वप्न हमारे अचेतन मन की भाषा होते हैं। अचेतन मन अपनी अभिव्यक्ति स्वप्नों के माध्यम से करता है। किंतु अचेतन मन किन चीजों से निर्मित होता है, इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न प्रकार से देने की चेष्टा की गयी है, जिससे स्वप्न और उनकी व्याख्या संबंधी अनेक मत प्रचलित हो गये हैं।

फ्रायड के अनुसार अचेतन मन का निर्माण हमारी उन दमित यौन वासनाओं से होता है, जिनकी पूर्ति लोकलाज और समाज-भय से नहीं की जा सकती। यौन वासनाओं के दमन से मानसिक तनाव पैदा होता है, जिसकी अभिव्यक्ति दिन में न हो पाने से रात में स्वप्नों द्वारा होती है। स्वप्नों का उद्देश्य मतिभ्रमात्मक रूप से इच्छा पूर्ति द्वारा मानसिक तनाव को दूर करके व्यक्ति को अच्छी तरह सो सकने के योग्य बना देना होता है।

चेतन मन की विरोधी अचेतन इच्छाओं को स्वप्नों द्वारा अभिव्यक्त होने के लिए चेतन मन द्वारा अनुमोदित रूप धारण करना पड़ता है। अचेतन मन की इच्छाओं को चेतन मन की स्वीकृति के अनुरूप बनाने का काम उपचेतन मन करता है, जिसे फ्रायड ने ठीक ही सेंसर नाम दिया है; क्योंकि सेंसर का काम काट-छांट करना होता है।

उपचेतन मन द्वारा काट-छांट का एक तरीका विस्थापन भी होता है। पहले रागात्मकता या अनुभूति का विस्थापन

होता है, इसलिए स्वप्न में ज्यादा रागात्मक और आवश्यक लगनेवाली बातें वस्तुतः बहुत कम महत्त्व की होती हैं, जबकि नगण्य लगनेवाली बातों के पीछे प्रच्छन्न अर्थ हो सकता है। विस्थापन का प्रयोजन अचेतन इच्छा को सेंसर के नियंत्रण से बचाने के लिए घुमा-फिराकर प्रकट करना होता है।

काट-छांट का एक दूसरा तरीका संक्षेपण होता है। स्वप्न बहुत संक्षिप्त हो सकता है, किंतु उसकी व्याख्या काफी लंबी हो सकती है। व्याख्या करने के लिए स्वप्न के प्रत्येक प्रतीक से संबंधित अनुभव को जानना जरूरी होता है, जिसके बिना स्वप्न बिलकुल असंबद्ध और निरर्थक प्रतीत होता है।

स्वप्नों का आधार चूंकि दैनिक जीवन की घटनाओं और अनुभवों में होता है, इसलिए स्वप्न के दो पक्ष होते हैं, एक प्रकट और दूसरा प्रच्छन्न। इन दोनों पक्षों के भेद को किसी कार्टून से समझा जा सकता है। मान लीजिए, किसी कार्टून में एक गाड़ी उलटते हुए दिखायी गयी है। प्रकट रूप से कार्टून का यही अर्थ होगा कि कार्टूनकार ने किसी गाड़ी को उलटते देखकर उसका चित्रण कर दिया है, किंतु कार्टून का प्रच्छन्न अर्थ कुछ और भी हो सकता है। गाड़ी का उलटना किसी अंतर्राष्ट्रीय संकट के कारण किसी राष्ट्र के उलटने का भी सूचक हो सकता है। इसी प्रकार स्वप्नों में दिखायी देनेवाले दैनिक अनुभवों के पीछे भी प्रच्छन्न अर्थ होता है, नहीं तो स्वप्न में उसी अनुभव विशेष को क्यों चुना जाता है, अन्य अनुभवों को क्यों नहीं ? स्वप्न में दैनिक जीवन का वही अनुभव चुना जाता है. जो हमारे अचेतन मन की किसी बलवती इच्छा को स्पर्श या जाग्रत करता है।

फ्रायड की भांति युंग ने भी स्वप्नों को अचेतन मन की भाषा माना है, किंतु युंग का अचेतन मन विषयक दृष्टिकोण फ्रायड के मत के विपरीत है। इसी से युंग की स्वप्न-व्याख्या भी फ्रायड की व्याख्या से अलग है। युंग ने सामूहिक अचेतन की सत्ता को भी माना है। उनके अनुसार स्वप्नों में ऐसी बातें होती हैं, जो व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त नहीं हो सकतीं। वे हमें आनुवंशिक रूप से प्राप्त होती हैं और सामूहिक अचेतन का अंग होती हैं। युंग यह भी मानते हैं कि स्वप्न अचेतन मन की खतरनाक आदिम शक्तियों को ही प्रकट नहीं करते, उनका प्रयोजन हमें उन शक्तियों को जीवनोपयोगी बनाने का मार्ग दिखाना भी होता है।

स्वप्नों के कार्य को प्रयोजनमूलक और प्रतिपूरक मानने से युंग और फ्रायड की स्वप्न-व्याख्या में बड़ा भेद हो गया है। फ्रायड ने स्वप्नों की व्याख्या कारणात्मक दृष्टि से की है कि स्वप्न-प्रतिमाएं कहां से आती हैं, किन इच्छाओं को संतुष्ट करती हैं और किन मनोग्रंथियों को प्रकट करती हैं। युंग ने स्वप्नों की व्याख्या लक्ष्यात्मक दृष्टि से की है कि स्वप्न हमें कहां ले जाते हैं और हमारे जीवन को क्या देते हैं। व्यक्ति का संबंध कार्य-कारण से ही न होकर लक्ष्यों और उद्देश्यों से भी होता है और स्वप्न उसके लक्ष्यों की ओर संकेत करते हैं।

युंग के अनुसार अचेतन मन में दमित इच्छाओं के अतिरिक्त नैतिक मूल्य और अपराध की भावना भी रहती है और स्वप्न का प्रयोजन केवल अतृप्त इच्छा की अभिव्यक्ति करना मात्र न होकर अपराध भावना की अभिव्यक्ति करना भी होता है। फ्रायड के अनुसार स्वप्न के प्रतीकों का काम चेतन मन द्वारा वर्जित इच्छाओं को उपचेतन यानी सेंसर के नियंत्रण से बचाने के लिए उन्हें छद्म वेष में चेतन स्तर तक लाना होता है। युंग के मत से स्वप्न के प्रतीकों का काम हमारी अचेतन भावनाओं को चेतन स्तर पर अधिक स्पष्टता से लाना होता है। उन्होंने कहा है कि "स्वप्न का प्रतीक एक आख्यायिका के समान होता है, उसका काम छिपाना न होकर शिक्षा देना होता है।"

स्वभाव : मनुष्य के संवेगों की अन्य इकाइयों, जैसे, ज्ञानात्मक पहलू, आकांक्षा आदि के संयोग से उसकी जो सामान्य प्रकृति बनती है, उसे स्वभाव कहा जाता है। प्राचीन काल में मनुष्य के शरीर में मौजूद कायरसों की प्रभावशीलता के आधार पर चार प्रकार के स्वभाव माने गये थे। रक्त प्रकृति, वात प्रकृति, श्लैष्मिक प्रकृति, और पित्तप्रकृति और इन चार प्रकार के स्वभावों से संबंधित लक्षणों का निरूपण किया गया था।

स्वसंदर्भ हठभ्रम : हठभ्रम का एक प्रकार, जिसमें व्यक्ति दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं की गलत व्याख्या करने की प्रवृत्ति के बन जाने से दूसरों की बातचीत,

कानाफूसी, हावभाव प्रदर्शन का विषय हर समय अपने को ही समझने लगता है। वह अन्य लोगों की निरर्थक और महत्त्वहीन बातों और मुद्राओं के पीछे गूढ़ रहस्य और षड्यंत्र ढूंढ़ने में लगा रहता है। उसकी भ्रांत व्याख्याओं के पीछे उसकी संदेहात्मक मनोवृत्ति का जो हाथ रहता है, वह उसे बिलकुल नहीं जान पाता। कठिनाइयां ढूंढ़ने के प्रति अपना विन्यास बना लेने से उसे कठिनाइयां हर जगह आसानी से मिल जाती हैं। कोई-कोई व्यक्ति तो अपने काल्पनिक उत्पीड़कों के प्रति खुला विद्रोह भी कर बैठते हैं या उन्हें जान से मार डालने पर भी उतारू हो जाते हैं।

स्वाद : स्वाद का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि हम अपने जीवन के अनुभवों की अभिव्यक्ति बहुधा स्वादों के प्रसंग में किया करते हैं। हमें नींद मीठी आती है, सुंदर मुख नमकीन नजर आता है, तबीयत खट्टी हो जाया करती है और जिंदगी कभी-कभी तल्ख (कड़वी) बन जाती है।

मुख्य स्वाद केवल चार होते हैं : मीठा, नमकीन, खट्टा और कड़वा। अन्य प्रकार के स्वाद खानेवाली चीज के स्पर्श, गंध और तापक्रम से मिलकर बनते हैं। गंध और स्वाद में घनिष्ठ संबंध होता है। यदि आपको आपकी नाक बंद करके और बिना दिखाये रसगुल्ला खिलाया जाये, तो वह आपको केवल मीठा ही लगेगा, 'रसगुल्ला' नहीं। हमारी नाक बहुत-से स्वादों की याद रख लेती है।

जिह्वा का हर भाग चारों स्वादों के प्रति एक-सा संवेदनशील नहीं होता। आगे का भाग मीठे के प्रति, पीछे का कड़वे के प्रति और पार्श्व का खट्टे के प्रति अधिक संवेदनशील होता है। नमकीन के लिए जिह्वा की सतह का सारा भाग लगभग समान रूप से संवेदनशील होता है।

स्वाद रासायनिक संवेदन है, इसलिए जब तक जिह्वा पर रखी चीज लार द्वारा घुलकर छेदों से स्वाद-कलिकाओं तक नहीं पहुंचती, तब तक उस चीज का स्वाद नहीं मिल पाता। स्वाद लेने के लिए उद्दीपन को या तो पहले से ही घुला हुआ होना चाहिए, या मुंह में जाकर लार द्वारा घुलने योग्य होना चाहिए। यदि हम पैसा मुंह में रख लें तो हमें उसका कोई स्वाद नहीं मिलेगा; क्योंकि वह घुल सकने योग्य नहीं होता। हां, जिह्वा में त्वचीय बोध के ग्राहक होने से पैसा हमें ठंडा अवश्य लगेगा। उद्दीपन जिह्वा पर लार द्वारा घुलकर और छेदों में प्रविष्ट होकर स्वादकलिकाओं को उत्तेजित करता है। स्वाद-कलिकाओं के उत्तेजित होने पर स्वाद-तंत्रिका मस्तिष्क के स्वाद-क्षेत्र को जाग्रत करती है और तब हमें स्वाद का ज्ञान होता है।

अन्य ग्राहकों की भांति जिह्वा भी स्वाद के उद्दीपनों से अपना अनुकूलन करती है। कोई स्वादिष्ट वस्तु जिह्वा पर बहुत देर रहने के बाद फीकी-सी लगने लगती है। नमकीन चीजें खाने के बाद यदि कोई ऐसी चीज खायी जाये, जिसमें चारों स्वाद मिले हों, तो वह चीज नमकीन स्वाद न देकर शेष तीनों स्वाद ही देगी। स्वादों में विरोध भी होता है। पेड़ा खा लेने के बाद नारंगी बहुत खट्टी लगती है। नींबू खा लेने के बाद नारंगी अधिक मीठी लगती है।

स्वायत्त तंत्रिकातंत्र : यह तंत्र केंद्रीय तंत्रिकातंत्र की एक प्रकार की शाखा होता है, जो मेरुरज्जु के दोनों ओर होता है और अनेक रेशों द्वारा मेरुरज्जु से संबंधित होता है। स्वायत्त तंत्र में बहुत सी गुच्छिकाएं होती हैं। ये सब विभिन्न रेशों द्वारा आंख, लारवाही ग्रंथि, हृदय, यकृत, अमाशय, प्लीहा, जननेंद्रियों और आंतरिक अंगों से संबंधित होती हैं। आंख की पुतली और लेंस की, आसूं और लार बहने की, भोजन पचने, हृदय और फेंफड़ों की क्रियाओं, मलमूत्र त्याग करने, कामोत्तेजित होने आदि जैसी सारी अनैच्छिक क्रियाओं का नियंत्रण और संचालन स्वायत्ततंत्र से होता है। स्वायत्ततंत्र का काम संवेदी नहीं होता, इसलिए इस तंत्र के सारे रेशे प्रभावक ही होते हैं।

रचना की दृष्टि से रेशों में दो प्रकार का भेद किया जा सकता है: पूर्वगुच्छिकीय और उत्तरगुच्छिकीय। पूर्वगुच्छिकीय रेशे मेरुरज्जु और स्वायत्ततंत्र की विभिन्न गुच्छिकाओं में और उत्तरगुच्छिकीय रेशे विभिन्न गुच्छिकाओं और उनसे प्रभावित होनेवाले आंतरिक अंगों में संबंध स्थापित करते हैं।

कार्य की दृष्टि से रेशों को अनुकंपी और परानुकंपी वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। दोनों वर्गों के रेशों का कार्य परस्पर विरोधी होता है। अनुकंपी रेशे सामान्यत: आंतरिक अंगों के उत्तेजक होते हैं, जबकि

परानुकंपी रेशे प्रावरोधक होते हैं। अगर अनुकंपी रेशे हृदय या किसी और आंतरिक अंग की क्रिया में उत्तेजन पैदा करते हैं, तो उनके प्रतियोगी परानुकंपी रेशे उसी अंग की क्रिया का प्रावरोध करने लगते हैं। दोनों वर्गों के रेशों की क्रियाएं परावलंबी होती हैं, जिससे विभिन्न परिस्थितियों में आंतरिक अंगों का कार्य सापेक्ष रूप से संतुलित बना रहता है।

स्वायत्त तंत्र का एक विशेष कार्य रागात्मक व्यवहार में आंतरिक अंगों की क्रियाओं को उत्तेजित करना होता है। शारीरिक क्रियाओं का नियमन और उत्तेजन शरीर में स्थित अनेक प्रकार की ग्रंथियों द्वारा होता है। ग्रंथियां हार्मोन नामक एक रासायनिक रस का स्राव करती हैं। हार्मोन खून में मिलकर शरीर में अतिरिक्त शक्ति का संचार कर देते हैं, जिससे भय, क्रोध आदि की स्थितियों में हम उन दुस्साध्य कामों को भी कर डालते हैं, जो साधारण शारीरिक स्थिति में नहीं किये जा सकते। स्वायत्ततंत्र के रेशों और केंद्रीय तंत्रिकातंत्र में घनिष्ठ संबंध होता है, जिससे हमारा शरीर हर स्थिति में एक संगठित इकाई की भांति प्रतिक्रियाएं करता है।

हकलाना : रुक-रुककर बोलना, जिसमें आवाज अवरुद्ध हो जाती है और शब्द प्रायः बीच से टूट जाते हैं। हकलाने के साथ कुछ विशेष प्रकार की शारीरिक गतियां भी हो सकती हैं, जैसे, गर्दन को झटकना, मुंह बनाना आदि।

बहुत-से हकले अकेले में ठीक से बोल सकते हैं। फुसफुसा कर बोलते या गाते समय भी वे हकलाने से बच सकते हैं। अपने से कम उम्र के लोगों के बीच भी उनका हकलाना कम हो सकता है। वे वहीं ज्यादा हकलाते हैं, जहां वे अपने को हीन या असमंजस में पाते हैं।

तीन-चार साल का बच्चा बोलने में अक्सर संकोच करता है और बोलते समय शब्दों या वाक्यों की पुनरावृत्ति करता है, जो उसके लिए स्वाभाविक है। परिवार के लोग गलती से यह समझते हैं कि वह हकलाना शुरू कर रहा है, जिसके लिए वह उसे टोकते रहते हैं। इससे बच्चे में अपनी बोली के प्रति संदेह और डर पैदा हो जाता है, जिसके कारण वह वस्तुतः हकलाना शुरू कर सकता है। अपनी बोली की आलोचना सुनते रहने से बच्चा बहुत आत्म-सजग बन जाता है और अत्यधिक आत्म-सजगता से उसमें जो तनाव पैदा होता है, उसके कारण वह बाद में हकलाने लग सकता है। हकलाने को विकसित करने में परिवार के लोगों का बड़ा हाथ रहता है। हकलाने पर आनुवंशिकता के प्रभाव को कम माना जाता है।

हकलाने का कारण प्रसव-आघात या प्रसवोत्तर रोग को भी माना जाता है, जिससे वाणी की प्रेरक क्रियाओं का समन्वय दूषित हो जाता है किंतु इस मत के ठोस प्रमाण मौजूद नहीं हैं।

मनोविश्लेषकों के अनुसार जब संवेगात्मक विकास का स्थिरण विकास की मौखिक अवस्था पर हो जाता है, तो व्यक्ति हकलाने लगता है। हकलाना शायद बचपन की किसी मौखिक आवश्यकता की तृप्ति करता है, इसलिए व्यक्ति अचेतन रूप से हकलाता है। अन्य सिद्धांतों के अनुसार हकलाने को किसी तीव्र रागात्मक संघर्ष से उत्पन्न एक बुरी आदत या लक्षण माना जाता है।

हकले लोग चिंतित रह सकते हैं और विभिन्न सामाजिक स्थितियों में ही हीनता का अनुभव कर सकते हैं, किंतु इससे उनके सममान्य व्यक्तित्व पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। हकलों में केवल आकांक्षा का स्तर अन्य लोगों के स्तर की अपेक्षा कम हो सकता है।

बचपन में तो हकलाने का उपचार आसान होता है, किंतु बाद में कठिन होता जाता है; क्योंकि व्यक्ति हकलाने की आदत से समझौता कर लेता है और उसे अपने व्यक्तित्व का एक अविभाज्य अंग समझने लगता है।

हठभ्रम : प्रबल इच्छा और संवेगात्मक प्रभाव से बन गये मिथ्या विश्वासों को हठभ्रम कहा जाता है। हठभ्रमों की विशेषता यह होती है कि उन्हें किसी भी प्रकार के तर्क या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता। हठभ्रम रखनेवाला व्यक्ति अपने विश्वासों और विचार-धारा को अखंडनीय समझता है। किंतु हठभ्रम मात्र से ही किसी व्यक्ति का व्यवहार अपसामान्य नहीं बन जाता। हम सब हठभ्रमात्मक चिंतन के शिकार होते हैं। अपने को आर्यों की संतान मानकर एक विचित्र प्रकार की श्रेष्ठता का अनुभव करना या अपनी संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से अच्छा समझना हठभ्रमात्मक चिंतन के उदाहरण हैं। हठभ्रमात्मक चिंतन अपसामान्य तब होता है, जब पर्याप्त विरोधी प्रमाणों से भी वह संशोधित न हो।

हठभ्रमों को अपसामान्य कहने की एक कसौटी और भी है, जिसके अनुसार व्यक्ति के सामाजिक-बौद्धिक स्तर के प्रसंग से ही उसके हठभ्रमों को अपसामान्य कहा जा सकता है। एक शिक्षित परिवार का व्यक्ति यदि जमीन को चपटी माने, तो उसका यह हठभ्रम अपसामान्य होगा, किंतु भील जाति के व्यक्ति के लिए जमीन को चपटी मानना अपसामान्य हठभ्रम नहीं होगा। हठभ्रम जब सामाजिक अंतर्क्रियाओं से बनते हैं, तो उन्हें अपसामान्य नहीं कहा जा सकता। अपसामान्य हठभ्रम वे होते हैं, जिनके बनने का आधार व्यक्ति की सामाजिक-बौद्धिक पृष्ठभूमि न होकर उसकी कोई बलवती रागात्मक इच्छा या अनुभव होता है।

संगति के दृष्टिकोण से हठभ्रम या तो व्यवस्थित होते हैं या अव्यवस्थित। व्यवस्थित हठभ्रम में पहले एक केंद्रीय विश्वास बन जाता है और बाद में व्यक्ति के अन्य सब विचार और गौण विश्वास उसके केंद्रीय विश्वास से समन्वित हो जाते हैं। व्यवस्थित हठभ्रम का पता लगाना आसान काम नहीं होता। उसके लिए व्यक्ति के पूर्व इतिहास का अध्ययन बड़ी गहराई और सावधानी से करने की जरूरत पड़ती है, नहीं तो ऊपरी दृष्टि से व्यक्ति का व्यवहार बिलकुल सामान्य लगता है। अव्यवस्थित हठभ्रमों में व्यक्ति का कोई केंद्रीय विश्वास नहीं होता और उसके विभिन्न विचारों और विश्वासों में कोई संगति भी नहीं होती।

हठभ्रम अपने शरीर के बारे में, खुद अपने बारे में या बाह्य जगत के बारे में भी हो सकते हैं। हठभ्रम अगर अपने ही शरीर के विषय में हो, तो व्यक्ति को लग सकता है कि उसके शरीर का कोई अंग विशेष, जैसे, हृदय, पेट आदि है ही नहीं। खुद अपने ही प्रति हठभ्रम होने पर व्यक्ति यह समझता है कि वह संसार का सबसे बड़ा कवि, विज्ञानी या लेखक है। बाह्य जगत के प्रति होनेवाले हठभ्रमों में व्यक्ति के कुछ विचित्र-से विश्वास बन जाते हैं। जैसे 'लगातार घूमने' का विश्वास या यह विश्वास कि मेरे बच्चे मर चुके हैं; क्योंकि उन्हें सेना में भर्ती कर लिया गया है, चाहे वे सही-सलामत ही क्यों न हों।

राग और तत्संबंधी प्रेरणा के अनुसार हठभ्रम तीन प्रकार के हो सकते हैं: उत्पीड़न-हठभ्रम, महानता-हठभ्रम और स्वसंदर्भ-हठभ्रम। (दे० यथास्थान)

हाइपोथैलेमसिक सिद्धांत : संवेग विषयक एक सिद्धांत, जिसमें संवेगात्मक व्यवहार में थैलेमस या हाइपोथैलेमस की महत्ता पर बड़ा जोर दिया जाता है। शरीर-क्रिया-विज्ञानियों ने अपने प्रयोगों में विद्युतधारा से बिल्लियों की हाइपोथैलेमस को उत्तेजित करके यह देखा है कि बिल्ली अपने कान खड़े कर लेती है, गुर्राने और दुम फटकारने लगती है। हाइपोथैलेमस को निकाल देने पर कुत्ते और बिल्ली संवेगात्मक व्यवहार नहीं कर पाते।

जेम्स-लांगे सिद्धांत की सत्यता में संदेह करते हुए और संवेगों में हाइपोथैलेमस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कैनन नामक शरीर-क्रियाविज्ञानी ने संवेगों की व्याख्या के लिए हाइपोथैलेमसिक सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत के अनुसार संवेग और तत्संबंधी शारीरिक परिवर्तन एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं और उनमें तादात्म्य नहीं होता। इस सिद्धांत की मान्यता यह है कि संवेगों का अनुभव और शारीरिक परिवर्तन दोनों ही हाइपोथैलेमस की क्रिया से होते हैं और सहवर्ती होते हैं। संवेदी प्रेरणाओं का प्रवाह हाइपोथैलेमस में आकर मस्तिष्क और मेरुरज्जु की ओर एक साथ होता है, जिससे संवेगों का अनुभव और शारीरिक परिवर्तन भी एक साथ होते हैं।

इस सिद्धांत से जेम्स-लांगे सिद्धांत की कुछ कठिनाइयां अवश्य हल हो जाती हैं। पशुओं में अनुकंपी तंत्र को परिधीय तंत्रिकातंत्र से विच्छिन्न कर देने पर भी उनकी हाइपोथैलेमस की प्रेरणाओं का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होता है, जिससे उनके व्यवहार में संवेगों के लक्षण प्रकट होते हैं। कृत्रिम रूप से शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न करने पर यदि हाइपोथैलेमस सक्रिय न हो सके, तो संवेगों का अनुभव नहीं होता। संवेगों का अनुभव मानसिक मध्यस्थता और शारीरिक परिवर्तनों के परिणामों से स्वतंत्र रहकर हाइपोथैलेमस की सक्रियता पर निर्भर होता है।

किंतु इस सिद्धांत में भी कमियां हैं। हाइपोथैलेमस को कृत्रिम रूप से उत्तेजित करने पर जो संवेगात्मक व्यवहार होता है, वह स्वाभाविक रूप से होनेवाले संवेगात्मक व्यवहार से अलग होता है। कृत्रिम रूप से उत्तेजित हाइपोथैलेमस क्रिया में बिल्ली पिंजड़े के अंदर केवल बेचैन होकर इधर-उधर भटकती ही है, किंतु बाहर निकलने का मार्ग होते हुए भी उसकी उपेक्षा करती है और कृत्रिम

उद्दीपन का प्रभाव मिटते ही बिल्ली की सारी प्रतिक्रियाएं एकदम रुक जाती हैं, जबकि स्वाभाविक संवेग का प्रभाव उद्दीपन के न रहने पर भी कुछ देर तक बना रहता है और धीरे-धीरे मिटता है। इससे साबित होता है कि कृत्रिम रूप से उत्पन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं यंत्रवत् होती हैं और उनमें स्वाभाविकता नहीं होती। यद्यपि संवेगों की व्याख्या के लिए यह सिद्धांत भी अपर्याप्त है, फिर भी इसमें सत्य का जो अंश है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

हार्मिक मनोविज्ञान : मनोविज्ञान का एक संप्रदाय, जिसमें मन के कार्यपक्ष की हामी भरते हुए उसके जन्मदाता विलियम मैकडूगल ने फ्रायड की भांति ही मन की गत्यात्मक प्रवृत्तियों के मूल को समझने पर जोर डाला। हार्मिक शब्द यूनानी भाषा के 'हार्मी' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है प्रेरक या प्रेरणा देनेवाला। अतएव मैकडूगल के अनुसार मनोविज्ञान का उद्देश्य मानसिक क्रियाओं के प्रेरकों का अध्ययन होना चाहिए। मनोविश्लेषण के विपरीत मैकडूगल ने मानसिक क्रियाओं का प्रेरक अचेतन मन को न मानकर कुछ मूल प्रवृत्तियों को माना है। उनके अनुसार "प्राणियों का निर्माण इस प्रकार से हुआ है कि वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्वभावतः कुछ लक्ष्यों को पाने का प्रयत्न करते हैं। प्राणी की आवश्यकताएं और उनको पूरा करनेवाले लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रवृत्तियां प्राणी में जन्मजात होती हैं, इसलिए उन्हें मूलप्रवृत्तियां कहा जाता है।...हार्मिक मनोविज्ञान के अनुसार अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य भी अपनी कुछ प्रवृत्तियां आनुवंशिक रूप से प्राप्त करता है, जो उसकी आवश्यकता को पूरा करने के लक्ष्य को पाने के लिए किये गये सारे प्रयत्नों का आधार होती हैं।" दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जो कुछ भी करता है, वह उसकी मूल प्रवृत्तियों का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और मानसिक क्रियाएं उस लक्ष्य को पाने में सहायक होती हैं।

इस प्रकार मैकडूगल ने मानसिक क्रियाओं को मूल प्रवृत्तियों का सेवक बना दिया है। हार्मिक मनोविज्ञान के अनुसार प्राणी की सारी मानसिक क्रियाओं की गत्यात्मक प्रवृत्ति मूल प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित होती है। मैकडूगल की यह मान्यता अतिरंजित है। मूल प्रवृत्तियां लक्ष्यों को सदा निर्धारित नहीं करतीं और न सारे व्यवहार की मूल प्रेरक होती हैं। हमारा मन कभी-कभी मूलप्रवृत्तियों का मार्गदर्शन करता है और उन पर नियंत्रण रखता है। मनुष्य का व्यवहार केवल मूल-प्रवृत्तियों से ही निर्धारित नहीं होता। वह उसकी अर्जित कुशलताओं, चिंतन, कल्पना आदि से भी निर्धारित होता है। सामाजिक प्राणी होने से मनुष्य को बहुत कुछ सीखना पड़ता है, जिससे उसकी बहुत-सी मूलप्रवृत्तियों में संशोधन हो जाता है और उन पर उसका नियंत्रण रहता है।

हिस्टीरिया : यह शब्द यूनानी 'हिस्टेरा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ स्त्री का गर्भाशय होता है। प्राचीन काल में हिस्टीरिया रोग को स्त्रियों तक ही सीमित माना जाता था, किंतु आजकल हिस्टीरिया शब्द का पुराना अर्थ बदल गया है और उसे स्त्रियों तक ही सीमित नहीं माना जाता। फ्रायड और जैने ने हिस्टीरिया के लक्षणों की व्याख्या करके उनका कारण मनोजन्य बताया है। हिस्टीरिया तंत्रिकातापों के अंतर्गत आनेवाला एक विकार है।

हिस्टीरिया का प्रमुख लक्षण मानसिक विघटन होता है जिसकी अभिव्यक्ति मानसिक क्रियाओं में भी हो सकती है और शरीर के किसी अंग में भी। व्यक्तित्व व्यक्ति की विभिन्न क्षमताओं की संगठित इकाई होता है। मानसिक विघटन में व्यक्तित्व की संगठित इकाई नष्ट हो जाती है, जिससे विभिन्न मानसिक क्रियाएं परस्पर असंबद्ध हो जाती हैं। विघटन का परिणाम स्मृतिलोप होता है। स्मृतिलोप तो भूलने में भी होता है, किंतु स्मृतिलोप सामान्य भूलना नहीं होता। स्मृतिलोप का एक विशेष अर्थ होता है। व्यक्ति के अतीत और वर्तमान के संबंध की एकता उसकी स्मृति के कारण होती है और उस एकता से ही व्यक्ति का तादात्म्य बना रहता है। स्मृतिलोप में व्यक्ति अपने अतीत और वर्तमान का संबंध भूल जाता है, जिससे उसका तादात्म्य नष्ट हो जाता है : यही विघटन है। स्मृतिलोप से व्यक्ति के अंदर तीव्र अंतर्द्वंद्व उत्पन्न करनेवाले दो प्रतियोगी उद्देश्य अलग-अलग हो जाते हैं और इस प्रकार अंतर्द्वंद्व से पैदा होनेवाला तनाव घट जाता है।

हिस्टीरिया का दूसरा लक्षण हिस्टीरियाग्रस्त व्यक्ति की संसूचनग्राहिता की अधिकता होती है। संसूचनग्राही

व्यक्ति दूसरों की इच्छानुसार काम करने लग जाता है और अपनी व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा करता है। वह दूसरों की बातों को अपने ज्ञान और अनुभव के प्रतिकूल होने पर भी सच मान लेता है। संसूचनग्राहिता लोगों में अलग-अलग मात्रा में होती है।

हिस्टीरिया का एक और लक्षण है--व्यक्ति का आत्म-केंद्रित होना। हिस्टीरियाग्रस्त व्यक्ति अपने लक्षणों को दूसरों का ध्यान अपनी ओर खीचंने का साधन बनाता है, किंतु स्वयं अपने रोग के लक्षणों के प्रति विचित्र प्रकार से उदासीन रहता है। हिस्टीरियाग्रस्त व्यक्ति का एक अजीब तरह का बहिर्मुखी रुझान हो जाता है। हिस्टीरिया चूंकि मानसिक विघटन के कारण होता है, इसलिए हिस्टीरिया से पीड़ित व्यक्ति के संवेगों में भी अस्थिरता रहती है। संवेगों में स्थिरता तभी रह सकती है, जब विभिन्न मानसिक क्रियाएं एक संगठित इकाई बनी रहें।

हीनता मनोग्रंथि : यदि हम अपना तदात्मीकरण अपने समाज के समर्थन के अनुकूल करते हैं, तो हममें अपने प्रति एक पक्की निष्ठा, पूर्णता और अपने परिवेश और अन्य लोगों से सुसंबद्ध होने की भावना पैदा होती है। यदि हम अपना तदात्मीकरण सामाजिक परंपरा के प्रतिकूल करते हैं, तो हममें पक्की निष्ठा, पूर्णता और अन्य लोगों से सुसंबद्ध होने की भावना नहीं आ पाती और हम अपने को और लोगों से अलग समझने लगते हैं। हम कटे-कटे और उखड़े-से रहने लगते हैं, जिससे हमारे अंदर हीनता मनोग्रंथि पैदा हो सकती है।

हीनता मनोग्रंथि तदात्मीकरण के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी पैदा हो सकती है। हममें से बहुत-से लोग ऐसी परिस्थितियों में पैदा होते हैं और रहते हैं और न चाहते हुए भी उन्हें बलात् परिवार के लोगों की इच्छा या अपनी विशेष सामाजिक-आर्थिक मांगों के अनुरूप चलना पड़ता है, जिससे वे अपने आप से कभी संतुष्ट नहीं रहते। दीर्घकालीन आत्म-असंतोष हीनता मनोग्रंथि को पैदा करने में उर्वरक का काम करता है।

शारीरिक दोष भी, चाहे वे वास्तविक हों या काल्पनिक, हीनता मनोग्रंथि पैदा करने में सहायक बनते हैं। लंगड़े-लूले, अंधे-काने व्यक्ति में हीनता मनोग्रंथि पैदा हो जाना स्वाभाविक है। हीनता मनोग्रंथि पैदा करने में मां-बाप की मनोवृत्ति का बड़ा असर पड़ता है। लोग अक्सर अपने बच्चे के किसी शारीरिक दोष पर छींटाकशी करके उसकी आलोचना किया करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे में अपने प्रति घृणा-भाव बनता है, जो उसमें हीनता मनोग्रंथि को विकसित कर देता है।

हीनता मनोग्रंथि निम्न सामाजिक या आर्थिक स्तर पर भी होने से पैदा होती है। घर से बहुत समय तक पिता की अनुपस्थिति या पिता के न होने से भी हीनता मनोग्रंथि पैदा होती है। घर में पर्याप्त स्नेह न मिलने, विद्यालय में उपेक्षित रहने, अपने से बड़ों द्वारा तिरस्कृत होते रहने, अच्छे मित्र न बना पाने आदि बातों से भी हीनता मनोग्रंथि बनने में सहयोग मिलता है।

हीनता मनोग्रंथि परिवेश के अभाव और समुचित अवसर न मिलने से भी पैदा होती है। धोबी का लड़का यदि और कुछ बनना चाहे, जिसकी योग्यता भी उसमें हो, तो भी उसे अपने परिवेश में बहुत-से अभाव मिलेंगे। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को अपनी योग्यता दिखाने का उचित अवसर न मिले, तो उसे उससे जो मानसिक कुढ़न होगी, वह हीनता मनोग्रंथि के विकास में योग दे सकती है। अभाव या अपूर्णता की हर स्थिति हीनता मनोग्रंथि पैदा करने में सहायक बन सकती है।

हीनता मनोग्रंथि के कारण हम अपने अंदर जो कमी अनुभव करते हैं, उससे आत्मसम्मान का स्थायीभाव नहीं बना पाते और अपनी ही नजर में गिर जाते हैं। हीनता हमारे उत्साह को भंग कर हमें निष्क्रिय बना देती है। इसका असर हमारे व्यवहार पर पड़ता है और हम हीनता के दुखदायी अनुभव से छुटकारा पाने के लिए और अपने को सक्षम समझने के लिए कुछ प्रतिपूरक क्रियाएं करने लग जाते हैं।

हीबीफ्रीनीय मनोविदलता : 'हीबीफ्रीन' शब्द का अर्थ है मन का कुंठित हो जाना। मनोविदलता के इस रूप में रोगी में मानसिक कुंठा के साथ अंतर्मानसिक गतिभ्रंश का अत्यंत उग्र रूप मिलता है। हीबीफ्रीनीय रूप का प्रारंभ आकस्मिक-सा होता है। रोगी को नींद नहीं आती, सिर-दर्द रहता है, मतिभ्रम और हठभ्रम होते हैं। मतिभ्रमों की प्रचुरता होती है। हठभ्रम अव्यवस्थित और अस्थायी होते हैं। रोगी अशिष्ट और मूर्खतापूर्ण ढंग से हंसता है।

वह हर व्यक्ति को देखकर या कुछ पूछे जाने पर दांत निकालकर 'ही-ही' करने लगता है। वह चिथड़ों को पहनकर या कागज के टुकड़ों को आभूषण समझकर उन्हें अपने शरीर पर चिपकाकर तरह-तरह से अपना श्रृंगार करता है। मुंह पर पाउडर की जगह धूल या खड़िया पोत लेता है। उसे न तो अपना होश रहता है और न दूसरों की उपस्थिति का। वह किसी के भी सामने निर्लज्जता से नंगा होने लगता है। उसकी बातचीत असंगत वाक्यों की खिचड़ी होती है।



अंत:संस्कृति सर्वेक्षण : जब एक से अधिक संस्कृतियों की पारस्परिक विशेषताओं का अध्ययन करना होता है, तो अंत:संस्कृति सर्वेक्षण किया जाता है। ये संस्कृतियां भिन्न-भिन्न देशों में या एक ही देश में विद्यमान हो सकती हैं। जिन पक्षों से संबंधित जानकारी एकत्र करनी होती है, उनको पहले चुन लिया जाता है, तत्पश्चात् चुनी गयी संस्कृतियों में से प्रत्येक की संबंधित सामाजिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं, रीतिरिवाजों और व्यवहार के प्रतिमानों का अवलोकन-विधि या अन्य किसी विधि से सर्वेक्षण कर लिया जाता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण करने से किसी भी पक्ष के विषय में ज्ञान बहुत ठोस हो जाता है। तुलना विभिन्न संस्कृतियों में प्रचलित जीवन-पद्धति की विधियों के भेदभाव को स्पष्ट कर देती है। ऐसे सर्वेक्षण कई सामाजिक मानव-विज्ञानियों व समाज विज्ञानियों ने किये हैं। 'तुलनात्मक समाजविज्ञान' नामक एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन-क्षेत्र इसी सर्वेक्षण-पद्धति के आधार पर विकसित हो रहा है। मुरडोक का अध्ययन 'सोशियल स्ट्रक्चर' तथा हाबहाउस का अध्ययन 'दी मैटीरियल कल्चर एंड सोशल इंस्टीट्यूशन्स आफ दी सिंपलर पीपुल्स' इस प्रकार के सर्वेक्षण के उत्तम उदाहरण हैं। ऐसा अध्ययन करने में बहुत धन, शक्ति व समय का व्यय होता है, अत: प्राय: इन्हें बहुत ही कम किया जाता है।

अंतर्जातीय संघर्ष : भारतीय समाज में कई धार्मिक समुदाय हैं। उनमें से हिंदू, सिख, जैन और मुस्लिम समुदायों में जातियों के रूप में सामाजिक विभाजन पाया जाता है। मूलत: हिंदू समाज में सैकड़ों जातियां एवं उपजातियां हैं। इन जातियों में पिछली कई शताब्दियों से परस्पर ईर्ष्या-द्वेष एवं प्रतियोगिता रही है और कई बार तो यह इतनी अधिक हुई है कि हिंसा, मारपीट, धमकी आदि को अपनाया गया है। अतीत में शूद्रों के प्रति सवर्ण जातियों ने, और विशेषकर ब्राह्मणों ने, शोषण व सामाजिक अन्याय का रुख अपना रखा था, जिसके फलस्वरूप इनमें परस्पर संघर्ष होता रहा। मैसूर, महाराष्ट्र, बिहार, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में इस प्रकार के संघर्ष का प्रतिरोध करने के लिए पिछले कई दशकों से दलित जातियों का आंदोलन तीव्रतापूर्वक चल रहा है। आजकल भी ऐसे कुछ उदाहरण मिल जाते हैं कि उच्च जातियों के व्यक्ति हरिजनों को न केवल धमकी और मारपीट से त्रस्त करते हैं, अपितु कभी-कभी तो उनकी बलि ही चढ़ा देते हैं। अंतर्जातीय संघर्ष भारतीय ग्रामीण समाज-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान रहा है। एक गांव में जो प्रभुत्व-संपन्न जाति होती है, वह वहां की अधिकांश आवासीय और कृषि की भूमि पर अधिकार बनाये रखने तथा अपनी जनसंख्या के बाहुल्य के कारण वहां निवास करनेवाली अन्य जातियों को डरा-धमकाकर, मारपीट करके, आग लगाकर या हत्या आदि करके अपने नियंत्रण में रखने का प्रयास करती रही है। राजस्थान व हरियाणा में जाटों और राजपूतों तथा अहीरों और जाटों के मध्य के जातीय संघर्ष ने राजनीति में भी प्रवेश कर लिया है। दक्षिण भारत के कई राज्यों में भी इस प्रकार की जातीय दलबंदी के फलस्वरूप आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष चलते रहे हैं। भारतीय समाज विज्ञानी प्रोफेसर एम० एन० श्रीनिवास ने अपनी रचनाओं में मैसूर राज्य में चलते रहे अंतर्जातीय संघर्षों का उल्लेख किया है। इस प्रकार के संघर्षों से देश में राष्ट्रीय एकीकरण व आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के मार्ग में बाधाएं बनी रही हैं। भारतीय संविधान सभी व्यक्तियों के मध्य समानता व सद्भावना पर बल देता है तथा सभी जातियों व धर्मों के व्यक्तियों को उनके विकास के लिए अधिकाधिक अवसर प्रदान करने का आश्वासन देता है। राज्य के अनेकानेक अधिनियमों और कानूनों द्वारा जातीय संघर्षों को समाप्त करने का भरसक प्रयास किया जा रहा है। इस प्रकार के संवैधानिक प्रयास प्राय: असफल रहे हैं; क्योंकि परंपरागत अंतर्जातीय संघर्ष स्वतंत्र भारत में चुनाव जीतने के महत्त्वपूर्ण साधन बन गये हैं। परंपरागत जातीय आधारों पर आर्थिक शोषण कम अवश्य हुआ है, लेकिन अभी भी देश के अनेक गांवों में वह बहुत बड़ी सीमा तक विद्यमान है।

अंधविश्वास : प्रायः यह देखने में आता है कि परंपरागत समुदायों में कई ऐसी मान्यताएं अथवा विश्वास होते हैं, जो किसी भी प्रकार से तर्कपूर्ण तथा उपयोगी नहीं माने जा सकते। इनमें मनुष्य में बौद्धिक पिछड़ेपन का भी परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ भारत में कई प्रकार के शकुन और अपशकुन प्रचलित हैं। हिंदुओं में बिल्ली, गधा, काना आदमी, तेली, भंगी, धोबी, शव, छिपकली, सांप आदि से संबंधित कई प्रकार के शकुनों और अपशकुनों में विश्वास किया जाता है। इसी प्रकार स्वच्छता, कुदृष्टि, यौन-सदाचार, स्त्रियों की मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियों, विभिन्न जन-समुदायों की रक्त की पवित्रता और बुद्धि की श्रेष्ठता, खाने-पीने की चीजों, पहनावा, समाजीकरण, शिक्षा, धर्म आदि से संबंधित अनेकानेक रिवाज प्रचलित हैं। अंधविश्वास व्यक्ति को पुराने कार्य तथा व्यवहार करने को बाध्य करते हैं और उसे गतिशील नहीं बनने देते। भारतीय समाज, अफ्रीकी समाज और विश्व के कई अन्य समाजों के पिछड़ेपन का कारण मूलतः अंधविश्वास ही रहे हैं। विज्ञान, शिक्षा तथा आधुनिकीकरण के फलस्वरूप अंधविश्वासों में कमी होती जा रही है।

अंबटार जाति : अंबटार लोग तमिलनाडु में नाई माने जाते हैं। यह शब्द 'अंबष्ठ' नामक संस्कृत शब्द से उत्पन्न हुआ है। अंबटार लोगों को 'मरुत्तवर' भी कहते हैं। अंबष्ठ शब्द के आम तौर पर दो अर्थ माने जाते हैं—एक, हजामत करना और दूसरा, चिकित्सा करना। लेकिन अब इन दोनों शब्दों का प्रयोग सर्वप्रचलित नहीं है। लोक-विश्वास के अनुसार अंबटार लोग वैश्य स्त्री और ब्राह्मण पुरुष के संबंध से उत्पन्न हुए हैं। और इस बात का विश्वास भी प्रचलित है कि इन लोगों ने चिकित्सा-वृत्ति को अपनी जीविका का आधार बनाया था। तमिलनाडु में अंबटार स्त्रियां ही हिंदू परिवारों में दाइयों का काम करती हुई पायी जाती हैं। ये लोग नाई-ब्राह्मण के नाम से भी जाने जाते हैं। इनके नाई-ब्राह्मण कहलाने का कारण यह बताया जाता है कि ये लोग विवाह, देव-पूजा आदि शुभ अवसरों पर मंगलवाद्य बजाया करते हैं। सेलम जिले में कोंगवेलला जाति के लोगों के विवाह अब भी अंबटार जाति के लोगों के द्वारा किये जाते हैं। लेकिन ऐसे अवसरों पर ब्राह्मणों का उपस्थित रहना भी जरूरी माना जाता है। ये अंबटार लोग तमिलनाडु में ही नहीं, केरल प्रांत में भी पाये जाते हैं। केरल के अंबटार लोग कई नामों से पुकारे जाते हैं, लेकिन उनमें सर्वप्रचलित नाम 'क्षुरकन' है।

रीतिरिवाज : अंबटार जाति में विवाह के अवसर पर लेन-देन की प्रथा नहीं है। इस संबंध में इन लोगों का सगर्व कथन होता है, "हम धोबी थोड़े हैं कि लेन-देन करें!" अंबटार जाति में शैव और वैष्णव भी होते हैं। वैष्णव मतावलंबी 'शंखचक्रधारी' अंबटार मांस-मछली छूते तक नहीं। मद्यपान भी इनके लिए वर्जित है। शैवों के लिए इस तरह का बंधन न होने पर भी इन दोनों के बीच परस्पर विवाहसंबंध होते हैं।

इनके तीन खास वर्ग हैं—पहले वर्ग में मलयालमभाषी हैं। यह वर्ग 'मक्कत्तायम' की परंपरा से जुड़ा हुआ है। दूसरे वर्ग के लोग वे हैं, जो मलयालमभाषी होने के साथ-साथ 'मरुमक्कत्तायम' की परंपरा से जुड़ते हैं। तीसरे वर्ग में वे लोग आते हैं, जो तमिलनाडु में आकर बस गये हैं। कभी-कभार मक्कत्तायम की अंबटार की कन्या मरुमक्कत्तायम अंबटार के पुरुष के साथ ब्याही जा सकती है। इस तरह से विवाहित लड़की पुनः अपने पितृ-गृह में प्रवेश नहीं कर पाती।

अंबलवासी जाति : आजकल केरल प्रांत में मंदिरों में काम करनेवाले प्रत्येक वर्ग के लोगों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। इसमें कई जातियां सम्मिलित हैं। अदिकल, कुरुक्कल, चाक्कियार, तियातुन्नि, नंबियार, नंबियास्सन्, नत्तुपाट्टिन, नान्चिदि, पिलाप्पल्लि, पुष्पकन्, पूप्पल्लि, पोदुवाल्, ब्राह्मणि, वारियर आदि जाति के लोग अंबलवासी जाति के अंतर्गत माने जाते हैं।

आचार-व्यवहार : मंदिरों में काम करनेवाले अन्य प्रकार के नौकरों की तरह ही अंबलवासी मुस्सादुबादी निम्नवर्गीय ब्राह्मणों की अपेक्षा निचली श्रेणी के माने जाते हैं। इस प्रकार की धारणा भी प्रचलित है कि ये लोग पतित ब्राह्मण हैं। यह भी माना जाता है कि ये लोग शूद्रों से कुछ ऊंचे हैं। उच्च वर्ग के भिन्न-भिन्न जातियों के स्त्री-पुरुष के सहवास से पैदा होने के कारण ये लोग अनुलोम जाति के माने जाते हैं। अंबलवासी लोगों का विश्वास है कि मंदिरों में काम करते हुए अपने संपूर्ण जीवन को ईश्वर

की सेवा में लगा देने के कारण अपने मां-बाप से संक्रमित पापों से वे मुक्त हो सकेंगे।

अंबलवासियों में दो वर्ग पाये जाते हैं। एक वर्ग के लोग जनेऊ पहनते हैं और दूसरे वर्ग के लोग नहीं पहनते। इनमें से कई जाति के लोगों को अपनी स्त्रियों के द्वारा मातृ-संपत्ति का एक हिस्सा प्राप्त होता है। अंबलवासी जाति की स्त्रियां अपनी जाति के या ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के पुरुषों के साथ विवाह करती हैं। ये लोग आमतौर पर शाकाहारी होते हैं। पिछले कुछ वर्षों से अंबलवासी लोग भी परंपरागत वृत्तियों को छोड़कर शिक्षित होने और नौकरी-पेशा करने लगे हैं।

कला-कौशल : मंदिर में कई तरह की फूलमालाएं बनाना, झाड़ू-बुहारी करना, खाना बनाने के लिए ईंधन लाना, उत्सवों के अवसर पर मूर्तियों को ढोना, गाना, नृत्य करना आदि अनेक प्रकार के काम अंबलवासी जाति के विविध वर्गों के लोगों के लिए निश्चित हैं।

अखिल भारतीय स्वैच्छिक संगठन : दुर्बल वर्गों और जरूरतमंदों की सेवा करने की जन-भावना स्थानीय स्वैच्छिक संगठनों को जन्म देती है। पिछले कुछ समय में अखिल भारतीय स्वैच्छिक संगठनों का महत्त्व विशेष रूप से समाज-कल्याण-कार्य के संचालन और समन्वय की दृष्टि से बहुत बढ़ गया है। अखिल भारतीय स्वैच्छिक संगठन तीन प्रकार के हैं :

(1) वे संगठन जो वर्तमान स्थानीय अभिकरणों के समान कार्यक्रम के विकास और उनमें समन्वय स्थापित करने के लिए बनाये जाते हैं।

(2) वे संगठन, जिनकी स्थापना किसी कार्यक्रम को अपनी राज्य और स्थानीय शाखाओं के माध्यम से संचालित करने के उद्देश्य से की जाती है।

(3) वे संगठन, जो यद्यपि अपने कार्य अथवा कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से अखिल भारतीय नहीं कहे जा सकते, पर उनका रूप अखिल भारतीय होता है।

इस समय लगभग 100 अखिल भारतीय स्वैच्छिक-संगठन समाज-कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं। बाल-कल्याण के लिए कार्य करनेवाले संगठनों में भारतीय बाल कल्याण परिषद, बालकन-जी-बाड़ी आदि तथा महिलाओं के लिए कार्य करनेवाले संगठनों में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, भारतीय ग्रामीण महिला संघ, नैतिक और समाजिक स्वास्थ्य संघ, नारी निकेतन तथा कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक निधि हैं। भारतीय रेडक्रास सोसाइटी और भारत सेवक समाज जैसे संगठन सामान्य राहत कार्य और सामुदायिक कल्याण सेवाओं में संलग्न हैं। इसके अतिरिक्त नेत्रहीनों का राष्ट्रीय संगठन, अखिल भारतीय मूक-बधिर संघ आदि संस्थाएं बाधितों के कल्याण के लिए कार्य कर रही हैं। भारतीय समाज कल्याण परिषद् सभी प्रकार की समाज कल्याण संस्थाओं के लिए सामूहिक मंच प्रदान करती है। बच्चों के कल्याण में संलग्न स्वैच्छिक संस्थाओं का एक संघ भी है। इन जैसे अनेक संगठन समाज कल्याण कार्यक्रमों के संचालन, तत्संबंधी अनुसंधान और प्रशिक्षण तथा अन्य कार्यक्रमों के संचालन में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं और इनसे देश में स्वैच्छिक प्रयास को बहुत बढ़ावा मिला है।

इन संगठनों के अध्ययन से पता चला है कि इनमें से 5 प्रतिशत इस शताब्दी के प्रारंभ से पहले ही कार्य कर रहे थे, जबकि 36 प्रतिशत की स्थापना 1940 के बाद हुई। उनमें से एक चौथाई की स्थापना 1941-50 में और लगभग एक तिहाई की 1951-60 में हुई। इन संगठनों के मुख्यालय विभिन्न स्थानों पर स्थित हैं। इनमें से अधिकांश दिल्ली में हैं और लगभग पांचवां भाग बंबई में। इनमें से अधिकांश के मुख्य अधिकारी अवैतनिक निर्वाचित व्यक्ति होते हैं, किंतु कुछ संगठनों में कार्यकारी निदेशक व सचिव पूरे समय के वैतनिक अधिकारी होते हैं।

इन संगठनों के कार्यक्रम में शिक्षा, सामाजिक प्रगति, बाल-कल्याण, महिला-कल्याण, बधिर तथा वृद्ध और अशक्त वर्गों का कल्याण आदि सम्मिलित हैं। इन संगठनों के सामान्य कार्यक्रमों में अग्रगामी परियोजनाओं का संगठन, सूचना सेवा, नागरिकता का प्रशिक्षण आदि भी शामिल है। इन संस्थाओं की आय का मुख्य स्रोत दान, सदस्यता शुल्क, सहायक अनुदान आदि है। इनमें से कुछ संगठनों को भारत सरकार के विभिन्न विभागों और मंत्रालयों, विशेषतया समाज कल्याण विभाग से, अनुदान मिलते हैं। लगभग 40 प्रतिशत संगठनों के अपने प्रकाशन भी हैं।

यद्यपि अखिल भारतीय स्वैच्छिक संगठनों के लक्ष्यों और उद्देश्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कल्याण

कार्यक्रमों के काफी बड़े क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, तथापि उनके प्रयास अभी अधिक व्यापक नहीं हैं। अनेक क्षेत्र ऐसे हैं, जहां कोई संगठन इस प्रकार का नहीं है और कहीं-कहीं दो-दो संगठन भी मौजूद हैं।

अगम्यगमन : संसार के प्रायः समस्त समुदायों में अगम्यागमन ऐसे यौन संबंधों को कहते हैं, जो अत्यंत निकट संबंधियों, जैसे, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, भाई-बहिन के मध्य हो। ऐसा यौन संबंध निषिद्ध और पाप समझा जाता है। कहते हैं कि अपने वंश की रक्त-पवित्रता को बनाये रखने के लिए मिस्र, पेरू और माया के राजघरानों में बहुत पहले भाई-बहनों के मध्य विवाह हो जाते थे। कुछ वर्षों पूर्व तक एस्कीमो लोगों में भी निकट संबंधियों में यौन संबंध होने के बारे में सुना जाता रहा है, लेकिन इनके अतिरिक्त प्रायः सभी समुदायों में इन निषेधों का पालन कठोरता से किया जाता है और इस बात का भरसक प्रयत्न किया जाता है कि व्यक्ति को बचपन से ही ऐसा सामाजिक प्रशिक्षण मिले कि वह इसे बहुत बुरा व त्याज्य माने। पौराणिक अथवा लोककथाओं में अगम्यगमन के अत्यंत भयंकर परिणाम बतलाये गये हैं, जिससे व्यक्ति ऐसे संबंधों से बचने का भरसक प्रयास करे। इस प्रकार के निषेधों के दो प्रमुख कारण बतलाये गये हैं। सुप्रसिद्ध मनोविज्ञानी फ्रायड के अनुसार यह निषेध ऐसे घनिष्ठ रिश्तेदारों के मध्य यौन आकर्षण रोकने के लिए होता है, जो बचपन से साथ-साथ रहते आये हैं। सुप्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री मालिनोवस्की के अनुसार यदि काम-उत्तेजनाओं को परिवार में स्वतंत्रता दे दी जाये, तो पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का जन्म हो जायेगा और परिवार की एकता छिन्न-भिन्न हो जायेगी। इससे समूह के स्थायित्व और प्रगति में बाधाएं उपस्थित हो जायेंगी। यह भी देखा गया है कि ऐसे संबंधों के परिणमस्वरूप उत्पन्न संतान शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से प्रायः अपरिपक्व होती है। प्रायः सभी समुदायों के व्यक्ति चाहे वे शिक्षित अथवा सभ्य हों, या अशिक्षित अथवा असभ्य, इस सामाजिक कारण को जानते हैं और ऐसे संबंधों से बचने का भरसक प्रयास करते हैं। इस प्रकार के संबंध अपशब्दों या गालियों के रूप में इसीलिए प्रयुक्त किये जाते हैं, जिससे व्यक्ति इन्हें घृणित व अनुचित मानें।

अनाथालय : जिन बालकों के माता-पिता या संरक्षकों की मृत्यु बचपन में ही हो जाती है तथा जिनकी देखभाल करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं होता, उनका पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व समाज पर पड़ता है। विश्व के प्रायः सभी सभ्य देशों में धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं द्वारा उनके लिए अनाथालय चलाये जाते हैं। जनसेवी व्यक्तियों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अनाथालयों को चलाने के लिए बहुत प्रयास किये हैं। भारत में आजकल राज्यों के समाज कल्याण विभागों की ओर से ऐसी संस्थाओं को सहायता प्रदान की जाती है। इन संस्थाओं में बालकों को शिक्षा देने, पालन-पोषण करने तथा उपयोगी काम-धंधा सिखाने का प्रयास किया जाता है। लेकिन उनको नैराश्य तथा अनैतिकता से दूर रखने का भी भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए।

अनुसूचित जातियां : भारत के आदिवासियों के संबंध में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। वेदों में 'द्रविड़' अथवा 'पूर्व द्रविण' नामक लोगों का उल्लेख मिलता है। बहुत दिनों से इस बात की खोज की जा रही है कि जनजातियां कौन-कौन हैं? सन 1901 की जनगणना से लगातार इसके संबंध में खोज की जा रही है। उनमें आदिवासियों, आदिम जातियों व आदिम जनजातियों तथा वन्य जनजातियों आदि का तो उल्लेख है, परंतु उनसे जनजातियों की परिभाषा व वर्गीकरण के संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकला है। जनजातियां यद्यपि भारत के लगभग सभी राज्यों में पायी जाती हैं, परंतु बिहार, आसाम, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में काफी संख्या में हैं। जनजातियों की इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मानवशास्त्री हंटर के मतानुसार एक जनजाति का एक सामान्य जैविक, पौराणिक पूर्वज होता है, वह एक निश्चित भूभाग पर रहती है, उसका सामान्य इतिहास होता है, एक सामान्य बोली होती है और अपना धर्म होता है।

भारत की जनजातियों में अनेक ब्रिटिश प्रशासकों ने वैज्ञानिक रुचि ली है। हिंदू तथा ईसाई मिशनरियों ने तथा महात्मा गांधी ने उनके कल्याण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है।

स्वर्गीय ठक्कर बाप्पा ने तो अपना समूचा जीवन ही उनके कल्याण कार्य में लगा दिया था। उनके प्रयत्नों में

सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी ने सहयोग दिया था। विभिन्न राज्यों में जनजातियों के कल्याण के कार्य करने के लिए भील सेवा मंडल जैसे अनेक संगठनों का उदय होने लगा। जनजातियां देश की शेष जनता से प्रायः पृथक् ही बनी रही हैं और इस प्रकार उन्होंने अपनी प्राचीन संस्कृति बनाये रखी है।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद ही उनके वास्तविक कल्याण के लिए अनेक कार्यक्रम आरंभ हुए। जनजातियों की हित-रक्षा तथा कल्याण के लिए भारत के संविधान में एक विशेष अनुच्छेद शामिल किया गया और सब जनजातियों को सूचीबद्ध किया गया और जनजातियों के क्षेत्रों जैसे असम, मणिपुर, त्रिपुरा तथा नेफा आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के कल्याण के लिए एक अलग कमिश्नर नियुक्त किया गया है।

जनजातियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कुछ विशेष उपाय करने की आवश्यकता है। यह सुधार उनके सामाजिक, आर्थिक तथा तकनीकी पहलुओं को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। उनके लिए कुछ कार्यक्रम आरंभ किये गये हैं, जिनमें कृषि का विकास, कुटीर उद्योग तथा श्रमिक सहकारी समितियों की स्थापना आदि मुख्य हैं। आंध्र प्रदेश में, आंध्र अनुसूचित जनजाति वित्त तथा विकास निगम की स्थापना की गयी है।

जनजातियां अधिकतर वन्य क्षेत्रों में रहती हैं। अतः वनों में उनका जो शोषण ठेकेदारों आदि के द्वारा किया जाता है, उसे रोकने के लिए प्रयत्न किये गये हैं। जो लोग खेती नहीं करते, उनके लिए कुटीर उद्योगों तथा दस्तकारी को बढ़ावा दिया जा रहा है। उनके बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती है। उच्च शिक्षा के लिए उनको छात्रवृत्तियां प्रदान की जाती हैं। जनजातियों के क्षेत्रों में जो विकास-खंड स्थापित किये गये हैं, वे भी अन्य क्षेत्रों में स्थापित विकास-खंडों से भिन्न रूप में उनको अधिकाधिक सुविधा देने के लिए कार्य करते हैं। सरकारी सेवाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। (दे० अनुबंध)

अपराध-विज्ञान : अपराधियों की जांच, पहचान, कारणों, सुधार आदि के वैज्ञानिक अध्ययन से संबंधित ज्ञान को अपराध विज्ञान कहा जाता है। यह एक प्रकार से समाज-विज्ञान का ही भाग है; क्योंकि अपराधियों और उनके कार्यों को समझने के लिए उनके सामाजिक वातावरण और सामाजिक परिस्थितियों को अवश्य ध्यान में रखा जाता है। इस विज्ञान में न केवल कई प्रकार के सिद्धांतों का ही समावेश होता है, बल्कि कई सर्वेक्षणों और अनुसंधानों के निष्कर्षों को भी काम में लाया जाता है। भारत में इस विषय की शिक्षा प्रदान करने की सुविधाएं अब कई संस्थाओं में उपलब्ध हैं।

अप्रतिमानता : 'एनोमी' को हिंदी में अप्रतिमानता कहते हैं। 'एनोमी' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। अंग्रेजी में यह शब्द काफी समय से प्रचलित है। इसके द्वारा तीन विभिन्न परंतु परस्पर संबंधित अर्थों का बोध होता है: प्रथम, व्यक्तिगत विघटन, अर्थात् एक व्यक्ति इतना अधिक विघटित हो गया है कि वह सामाजिक नियमों, प्रतिभासों और व्यवस्था की चिंता न करते हुए अपनी इच्छानुसार कार्य करता है और अनुत्तरदायित्व की भावना प्रदर्शित करता है। द्वितीय, सामाजिक परिस्थितियां इतनी अधिक संघर्षमय हो गयी हैं कि व्यक्ति के लिए उनमें नियमानुसार और एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार कार्य करना कठिन हो गया है। तृतीय, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था, जिसमें कोई प्रतिमान नहीं है और अराजकता व्याप्त हो गयी है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमाइल दुर्खीम ने 1897 में प्रकाशित अपने अध्ययन 'आत्म हत्या' में इस शब्द का प्रयोग किया था। उसके अनुसार जब व्यक्ति समाज से अत्यधिक पृथकत्व का अनुभव करता है तथा जीने के लिए कोई सामाजिक आधार नहीं पाता, तो वह आत्महत्या करने को तत्पर हो जाता है, जो अप्रतिमानता का एक प्रतीक है। मैकआइवर के अनुसार अप्रतिमानता का अर्थ है असमाजीकरण। जब व्यक्ति जानबूझकर असामाजिक कार्य करने लगता है और अपने समुदाय के प्रति अनुत्तरदायी होने लगता है और व्यवहार में अनिरंतरता दिखलाता है, तो यह अप्रतिमानता का परिचायक व्यवहार है। राबर्ट मर्टन के अनुसार यह स्थिति तब आती है, जब समाज में संस्थागत कार्य करने और आस्थापूर्वक कार्य करने में भयंकर विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। टालकोट पारसन्स के अनुसार यह

उस स्थिति की परिचायक है, जिसमें कोई प्रतिमानक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। जिन समाजों में अप्रतिमानता बहुत पनप जाती है, उनमें व्यक्तियों का व्यवहार उचित स्तर का नहीं होता; लोलुपता, स्वार्थ, हिंसा, अत्याचार व अन्याय बढ़ जाते हैं और जीवन शंकाओं, भयों व विघटनात्मक प्रवृत्तियों से संचालित होने लगता है। प्रगति के लिए यह स्थिति बाधक सिद्ध होती है।

अरस्तू (384-322 ई० पू०): प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक और वैज्ञानिक। अरस्तू का जन्म मेसिदोनिया (मकदूनिया) के तटवर्ती भाग में हुआ था। उनके पिता चिकित्सक थे और शायद इसीलिए उनका प्राणिविज्ञान और शरीरविज्ञान के प्रति काफी झुकाव रहा। उनके जीवन को तीन भागों में बांटा जा सकता है :

(1) शिष्य के रूप में शिक्षा प्राप्ति का काल
(2) घुमक्कड़ गुरु और विद्वान
(3) स्थायी निवास और अध्यापन कार्य

सत्रह वर्ष की आयु में अरस्तू एथेंस अकादमी में प्लेटो से शिक्षा ग्रहण करने के लिए गये और 20 वर्ष तक वहीं अध्ययन करते रहे। प्लेटो की मृत्यु (347 ई० पू०) के पश्चात् उन्होंने अकादमी को छोड़ दिया। इसके बाद वे लगभग 12 वर्षों तक (347-335 ई०पू०) एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। मेसिदोनिया की राजधानी पेला में रहकर उन्होंने विश्व-विख्यात विजेता सिकंदर महान को शिक्षा-दीक्षा दी। सिकंदर के सिंहासनारूढ़ होने के बाद वे एथेंस लौट आये और लाइसियम में एक स्कूल की स्थापना की, जहां वे मृत्युपर्यंत ग्रंथों का निर्माण और अध्यापन-कार्य करते रहे।



अरस्तू का अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक था। उनका संपूर्ण कृतित्व किसी विश्वकोश से कम नहीं है, और वह भी एक व्यक्ति द्वारा निर्मित ! ज्ञान के इस अगाध भंडार की एक विशेषता यह भी है कि इसकी रचना एक विशेष दृष्टिकोण के अंतर्गत की गयी है। उनकी रचनाओं को हम आठ भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) तर्कशास्त्र (प्रतिनिधि ग्रंथ 'आर्गानोन')
(2) भौतिकी (,, ,, 'फिजिक्स')
(3) जीवविज्ञान (,, ,, 'हिस्टोरिया एनीमेलियस')
(4) मनोविज्ञान (,, ,, 'डे एनिमा')
(5) अध्यात्म (,, ,, 'मेटाफिज़िक्स')
(6) नीतिदर्शन (,, ,, 'यूडेमियन और निकोमेशीयन')
(7) नीतिशास्त्र (,, ,, 'पोलिटिक्स')
(8) सौंदर्यशास्त्र (,, ,, 'रिहटॉरिक और पोएटिक्स')

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अरस्तू ने विज्ञानों का वर्गीकरण करके महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वे प्रथम विद्वान थे, जिन्होंने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं को स्वतंत्र वैज्ञानिक विषयों के रूप में मान्यता प्रदान की और प्रत्येक विज्ञान को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया।

समाजविज्ञान के संबंध में उन्होंने अपने विचार नीतिशास्त्र और राजनैतिक दर्शन से संबंधित रचनाओं में प्रकट किये हैं। वे मनुष्य को राजनैतिक प्राणी और राज्य को समाज का प्रकृतिदत्त संघटन मानते थे। उनका कानून की संप्रभुता में विश्वास था और न्यायाधीशों को वे कानून के सेवक मानते थे। उन्होंने राज्य के सामान्य तथा विकृत रूपों का अंतर स्पष्ट किया तथा एकतंत्रात्मक तथा निरंकुश समाज के गुण-दोषों का तर्कसंगत विवेचन प्रस्तुत किया। प्रजातंत्र के विरोधी होने के बावजूद वे यह स्वीकार करते थे कि लोगों को अपने अधिकारियों का स्वयं चुनाव करना चाहिए। मध्ययुगीन दार्शनिक सेंट एक्वाइनस, दांते और मार्सिग्लिया आफ पाहुपा अरस्तूवादी दर्शन के ही अध्येता थे। 17वीं शताब्दी में प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक समझौते से संबंधित जिन विचारों ने जन्म लिया, वे सभी अरस्तूवादी दर्शन से प्रभावित थे। परिणामस्वरूप यूरोप में अरस्तूवादी पांडित्य-वाद पर निर्भरता इस सीमा तक बढ़ती चली गयी कि नये विचारों को समाज में स्वीकृति मिलना असंभव-सा हो

गया। ऐसी अवस्था में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था और प्रतिक्रिया हुई, जिसके अगुवा थे : फ्रांसिस बेकन और देकार्त। धीरे-धीरे अरस्तूवादी दर्शन का प्रभाव यूरोप में कम होता चला गया।

अल्पसंख्यक वर्ग : हर देश में विभिन्न वर्गों के लोग निवास करते हैं। लेकिन कुछ शक्तिशाली वर्गों के लोग अपने भिन्न शारीरिक तथा सांस्कृतिक संबंधों के आधार पर दूसरे वर्ग के लोगों को सामाजिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। सामाजिक दृष्टि से ऐसे वंचित और बहिष्कृत लोग 'अल्पसंख्यक वर्ग' के माने जाते हैं। उदाहरण के तौर पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका के नीग्रो तथा दक्षिण अफ्रीका के एशियावासियों को अल्पसंख्यक वर्ग के लोग कह सकते हैं।

अल्पसंख्यक वर्ग का दूसरा अभिप्राय संख्या की दृष्टि से कम लोगोंवाली किसी जाति या संप्रदाय से होता है। इस प्रकार भारत में ईसाइयों और मुसलमानों की संख्या हिंदुओं की अपेक्षा कम होने से मुसलमान और ईसाई अल्पसंख्यक वर्ग माने जाते हैं। वैसे, वास्तव में ये 'वर्ग' (क्लास) नहीं हैं; क्योंकि उस अर्थ में वर्ग समान आर्थिक और सामाजिक स्तर के लोगों को मिलाकर बनते हैं, जैसे उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग आदि। इसलिए संख्या की दृष्टि से कम लोगों के समुदाय को अल्पसंख्यक समुदाय कहना अधिक उपयुक्त है।

अवकाश-गृह : श्रीमती इंदिरा गांधी ने 1958 में जापान की यात्रा के दौरान बच्चों के अवकाश-गृह देखे। उन्होंने इसके बारे में पंजाब के तत्कालीन राज्यपाल पी० एन० सिंह की सुपुत्री, जो कि बाल-कल्याण-कार्यों में रुचि रखती थीं, को जानकारी दी और उनसे अनुरोध किया कि वे भी पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र में ऐसे गृह चलाने का परीक्षण करें। अतः पंजाब सरकार ने शिमला की पहाड़ियों में तारादेवी तथा कंडाघाट में बच्चों के अवकाश-गृहों की स्थापना की। पाठशालाओं के बच्चों को इन अवकाश-गृहों में अवकाश बिताने की सुविधाएं दी गयीं।

इसके पश्चात कई और राज्यों में सरकारों, भारतीय रेल तथा डाकतार विभागों, भारत स्काउट्स एंड गाइड्स तथा अखिल भारतीय स्काउट्स संघ ने भी अवकाश-गृहों की स्थापना की। अवकाश-गृहों की स्थापना बच्चों को मनोरंजन प्रदान करने के लिए की जाती है। इसके अंतर्गत अवकाश के दिनों में बच्चों के रहने का प्रबंध होता है। एक कुशल, अनुभवी तथा प्रशिक्षित कार्यकर्ता इस गृह का आयोजक होता है। इस आयोजक को मनोविज्ञान, शिक्षा, समाजसेवा, मनोरंजन पोषण आदि विषयों का पूरा ज्ञान होना चाहिए, ताकि वह बच्चों की शारीरिक, मानसिक, पोषण तथा मनोरंजन संबंधी आवश्यकताओं को भली भांति समझ सके।

अवकाश गृह में खेल-कूद, सैर-सपाटा, सामान्य ज्ञान, नाच, गाना, नाटक, फेंसी ड्रेस, कसरत, खाना पकाना, समाज-सेवा, साक्षरता, शिक्षा, जैसे कार्यक्रमों का आयोजन सुशिक्षित कार्यकर्ताओं के निर्देशन में किया जाता है। इन अवकाश-गृहों में खाना पकाने, सोने, खेलकूद नाटक, गाने-बजाने, लिखने-पढ़ने आदि के लिए आवश्यक साज-समान का प्रबंध भी होता है।

केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने भी बच्चों के लिए अवकाश-गृहों का एक कार्यक्रम चलाया था। इसके अंतर्गत ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं को, जो कि बाल-कल्याण अथवा शिक्षा के क्षेत्र में काम करती थीं, अनुदान दिया गया, ताकि वे निम्न आय वर्ग के परिवारों के बच्चों के लिए दो या तीन सप्ताह के अवकाश-शिविरों का आयोजन कर सकें।

अनुदान में रेल-भाड़ा, खाद्य-सामग्री, खेलकूद, दवाई आदि की सुविधा के लिए धन-राशि दी जाती है। बच्चे पर्वत या समुद्र-तट पर किसी स्थान या किसी बड़े नगर की यात्रा के लिए भेजे जाते हैं। प्रत्येक समूह के साथ दो शिक्षक-नेता भेजे जाते हैं।

इस कार्यक्रम में एक-दो त्रुटियां हैं। एक तो शिक्षक-नेताओं के प्रशिक्षण के अभाव के कारण वे अवकाश-गृहों को उद्देश्यपूर्ण नहीं बना सकते और दूसरे, इन संस्थाओं को आयोजित अवकाश-गृहों की सुविधाएं प्राप्त नहीं होतीं। इन कारणों से न तो ऐसा वातावरण और साज-सामान मिलता है, न ही प्रशिक्षित तथा अनुभवी कार्यकर्ता ही। इसे प्रभावशाली बनाने के लिए स्थायी अवकाश-गृहों की स्थापना करने की अवश्यकता है। यह काम केवल बाल-कल्याण तथा मनोरंजन में अनुभवी संस्थाओं को ही सौंपना चाहिए। यह खुशी की बात है कि भारत सरकार और कुछ स्वैच्छिक संस्थाएं इस दिशा में कार्यशील हैं।

अशुद्धि : प्रायः सभी समुदायों में अशुद्धि की धारणा प्रचलित होती है। अशुद्धि से संक्रामक रोग और अन्य शारीरिक व्याधियों के होने का भय रहता है। अतः अशुद्धि रखनेवाला व्यक्ति समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। स्त्रियों (विशेषकर जबकि वे मासिक धर्म व प्रसूता अवस्था में होती हैं) मृतकों, हरिजनों, अछूत जातियों तथा कई जनजातियों के व्यक्तियों को अशुद्ध माना जाता है तथा इनको छूने, इनके साथ खाने-पीने, उठने-बैठने, यौन संबंध रखने तथा कहीं-कहीं तो लेन-देन करने पर भी परंपरागत निषेध देखने में आते हैं। खान-पान, शारीरिक स्वच्छता, वस्त्र, गृहसज्जा आदि के संबंध में विभिन्न समुदायों में विभिन्न प्रकार के अशुद्धता और शुद्धता के प्रतिमान देखने में आते हैं।

अश्लील : अश्लील शब्द का अर्थ किसी भी समाज में मान्य नैतिक मापदंडों के सापेक्ष होता है। परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज में इसके विभिन्न अर्थ होंगे और हैं भी। जैसे सार्वजनिक रूप से चुंबन करना भारतीय समाज में अश्लील माना जाता है, जबकि यूरोपीय तथा अन्य कुछ देशों में यह स्वीकृत नैतिकता का ही एक अंग है। किसी भी समाज में अश्लीलता की परिभाषा का निर्धारण वहां के सत्तारूढ़ वर्ग द्वारा किया जाता है। इसका आधार उसके सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक हित होते हैं, जिनकी बाह्य अभिव्यक्ति नीतिशास्त्र के रूप में आकार ग्रहण करती है। इस स्वीकृत नैतिकता के बाहर, व्यक्ति का कोई भी व्यवहार अश्लीलता की सीमा में मान लिया जाता है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता चला गया, नीतिशास्त्र के नियमों में परिवर्तन आता चला गया। इसमें प्रमुख बात यह है कि जिस अनुपात में नारी की सामाजिक स्थिति क्षीण होती चली गयी, उसी अनुपात में नैतिकता के बंधन (श्लील-अश्लील की सीमाएं) भी मजबूत होते चले गये। और आधुनिक युग में, जबकि नारी पुरुष के समान पूर्ण अधिकारों (अपनी पूर्व स्थिति की तरह) पर अपना दावा जता रही है, अपनी स्वाधीनता की घोषणाएं करती जा रही है, श्लील और अश्लील की सीमाएं भी क्षीण होती जा रही हैं। मध्ययुग में वासनालोलुप सामंतों ने नारी को वासना की एक सामग्री मात्र बनाकर उसके सभी मानवीय अधिकारों का हरण कर लिया था। लेकिन कालांतर में औद्योगिक सभ्यता ने मध्ययुग की रूढ़िवादी तथा गली-सड़ी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया और परिणाम स्वरूप नारी को एक बार फिर स्वाधीनता प्राप्त हुई। जैसा पहले कहा जा चुका है कि श्लील-अश्लील का प्रश्न नारी स्वाधीनता से अभिन्न रूप से जुड़ा है, इसका स्पष्ट प्रमाण स्कैंडेनेवियन देशों (स्वीडन, डेनमार्क, नार्वे) तथा अन्य कुछ देशों में मिलता है। इन देशों में किसी भी प्रकार की सेंसरशिप नहीं है और यहां कुछ भी अश्लील नहीं माना जाता। वहां के समाज की इस अराजकतावादी स्वीकृति का कारण है समाज में किसी भी प्रकार की नैतिक वर्जनाओं का पूर्ण अभाव, जो नारी-पुरुष के पूर्ण, स्वातंत्र्य के सिद्धांत पर आधारित है। भारत जैसे औद्योगिक रूप से अविकसित देशों में, जहां अब भी कृषिप्रधान व्यवस्था है, श्लील-अश्लील का प्रश्न अभी भी वाद-विवाद का कारण है। यहां एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि जहां मानव सभ्यता बिलकुल भी नहीं विकसित हो सकी है (जैसे, आदिम वन जातियां, वन जातियां, आदिवासी आदि), वहां भी श्लील-अश्लील का कोई विशेष विचार नहीं किया जाता। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि श्लील-अश्लील का बोध संक्रमण-कालीन मानव-सभ्यता से उपजा है; क्योंकि न यह भावना आदिमकालीन मानव में पायी जाती रही होगी और न ही उच्च कोटि की विकसित सभ्यताओं में।

असीरिया सभ्यता : मेसपोटेमिया की टाइग्रीस नदी के तट पर स्थित आसुर नगर के चारों तरफ प्राचीन काल में जो प्रसिद्ध साम्राज्य था, उससे संबद्ध सभ्यता को असीरिया सभ्यता कहते हैं। असीरिया के निवासी बेबिलोनियनों से संबंधित सेमिटिक वर्ग के लोग माने जाते हैं। उस राज्य पर अधिकार चलानेवाले राजा साधारण पालक ही नहीं, धार्मिक प्रचारक भी थे। धर्म और ईश्वर के मामलों में वे लोग बेबिलोनियन लोगों के अनुचर थे।

ई० पू० 2,500 के आसपास असीरिया, बेबिलोनिया का एक सामंती राज्य था। ई० पू० 1,400 में असीरिया स्वतंत्र राज्य बन गया। उसके बाद 800 साल तक असीरिया के पालक अपने अतराफ के राजाओं से लगातार युद्ध करके राज्य-विस्तार करते रहे। ई० पू० 1,100 तक

टिगलातपाई लीजर (प्रथम) के अधिकार में असीरिया संसार के सर्वशक्तिशाली साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। ई० पू० 700 में टिगलातपाई लीजर (द्वितीय) ने एशियामाइनर, फिलिस्तीन, सीरिया और अरब देशों के कुछ प्रांतों को अपने अधिकार में कर लिया। उसके एसार हद्दान नामक राजा ने ईजिप्ट को भी अपना सामंत राज्य बना लिया। इससे पूर्व ही बेबिलोनिया तथा मेसपोटेमिया के शेष प्रांत भी उनके अधीन हो गये थे। उसके बाद धीरे-धीरे असीरिया साम्राज्य कमजोर होने लगा।

असीरियन लोग सोना, चांदी आदि धातुओं से वस्तुएं बनाने, कपड़ा बुनने तथा तरह-तरह के बर्तन बनाने में माहिर थे। ये लोग उच्चकोटि के व्यापारी भी थे। मिट्टी की तख्तियों पर लिखने की इनकी आदत थी। व्याकरण तथा वैज्ञानिक विषयों के अनेक ग्रंथों को इन लोगों ने मिट्टी की तख्तियों पर लिखकर पुस्तकालयों में रखा था। निनेवे नगर की खुदाइयों से पता चला है कि यह संसार के महान नगरों में से एक था। इन खुदाइयों से इस बात का भी पता चलता है कि असीरियन लोग भवन-निर्माण कला में सिद्धहस्त थे। सागनि के अंतिम पुत्र सेनाचेरिब असीरिया के अंतिम राजा थे।

आतिथ्य : एक सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य में अनेक सामाजिक गुणों का होना वांछनीय ही नहीं, अपितु आवश्यक भी होता है। उनमें आतिथ्य अथवा अतिथि का आदर-सत्कार करना एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण गुण है। यह देखने में आया है कि विश्व की प्रायः सभी प्राचीन व महान सभ्यताओं तथा पिछड़ी से पिछड़ी और सभ्य से सभ्य संस्कृतियों और समुदायों में अतिथि-सत्कार पर बहुत बल दिया जाता रहा है। परिवारों में अतिथि सत्कार करने के लिए उचित व्यवहार-प्रतिमान समाजीकरण की प्रक्रिया के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में सिखलाये जाते रहे हैं। आतिथ्य की विविध प्रथाएं विभिन्न संस्कृतियों में देखने में आती हैं। प्राचीन वैदिक काल में प्रत्येक गृहस्थ का यह धर्म था कि अतिथि को भोजन करवाने से पूर्व परिवार का कोई भी सदस्य भोजन न करे। इसी कारण प्राचीन भारत में अतिथि के गौरव को दृष्टिगत करते हुए 'अतिथि देवो भवः' की उक्ति प्रचलित थी। अरब की खूंखार जनजातियों तथा एस्कीमो लोगों में लगभग सौ वर्ष पूर्व तक अतिथियों के भोग हेतु परिवार की स्त्रियों को रात में प्रस्तुत करने की प्रथा रही है। 'अली बाबा और चालीस चोरों' की प्रसिद्ध कहानी में भी इसका उल्लेख आता है। प्रायः सभी समुदायों में अतिथि का आना शुभ, आनंददायक तथा सामाजिक सम्मान बढ़ानेवाला अवसर माना जाता है। जिस परिवार में कोई अतिथि नहीं आता, वह दुर्भाग्यशाली तथा असामाजिक परिवार माना जाता है। अतिथि की प्रायः सभी उचित मांगों को बिना कहे ही पूर्ण करना परिवार के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य और शिष्टाचार समझा जाता है। अतीत से यह परंपरा सभी सभ्य समुदायों में चली आ रही है कि यदि किसी राज्य का राजदूत या किसी बाहरी समुदाय का कोई दूत अपने यहां आता है, तो उसके जान और माल की रक्षा करना तथा उसके प्रति सद्व्यवहार करना मेजबान का परम कर्तव्य हो जाता है।

आत्महत्या : आत्महत्या से तात्पर्य है व्यक्ति द्वारा अपना जीवन स्वयं समाप्त करना। आत्महत्या प्रायः सभी सभ्य देशों में पाप और अपराध माना जाता है। समाज आत्महत्या करनेवाले को हीन तथा घृणा की दृष्टि से देखता है; क्योंकि वह समझता है कि ऐसा व्यक्ति जीवन-संघर्ष से विमुख होने का प्रयास करता है। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमाइल दुर्खीम ने फ्रांस में होनेवाली आत्महत्याओं का विशद् अध्ययन किया तथा 'दी स्यूइसाइड' नामक ग्रंथ अपने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिये (दे० एमाइल दुर्खीम)। उन्होंने आत्महत्या से संबंधित अनेकानेक प्रचलित धारणाओं व सिद्धांतों का खंडन किया और कहा कि मानसिक कारण, वंश-परंपरा, निर्धनता, निराशा, प्रेम में असफलता आदि के आधार पर आत्महत्या की वास्तविक व्याख्या करना संभव नहीं है। उनके विचार से आत्महत्या व्यक्ति पर समाज या समूह के एक अस्वस्थ दबाव का ही परिणाम होती है। उन्होंने आत्महत्याओं के तीन कारण बतलाये हैं :

(1) **अहम्वादी आत्महत्या :** जब व्यक्ति संसार में अत्यंत अकेलापन अनुभव करता है,

(2) **परमार्थवादी आत्महत्या :** जब व्यक्ति और समाज का संबंध इतना अधिक घनिष्ठ हो जाता है कि समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही पूरा का पूरा निगल

जाता है, अर्थात् वह किन्हीं नैतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से समाज के लिए आत्मबलि देने को तत्पर हो जाता है, तथा

(3) **अस्वाभाविक आत्महत्या** : व्यक्ति के सामूहिक या सामाजिक जीवन में कोई आकस्मिक या अस्वाभाविक परिवर्तन से जब व्यक्ति के सम्मुख कुछ अप्रत्याशित अथवा नयी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके साथ सामंजस्य न कर पाने से व्यक्ति को जो तनाव अनुभव होता है, वही उसको आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करता है। दुर्खीम के इन निष्कर्षों को समाजशास्त्रीय साहित्य में बहुत सम्मान प्राप्त है। वस्तुतः वे आत्महत्या को एक सामाजिक घटना ही मानते हैं। भारत में आत्म-हत्याओं के कारण मूलतः निर्धनता, गृहकलह, शहरों में बदलते हुए प्रतिमान, वर्ग-संघर्ष तथा जीवन की जटिलता है। आधुनिक जीवन में मानसिक तनाव आत्महत्याओं को प्रोत्साहित करता है।

आदिवासियों की समस्याएं : भारत में आदिवासी जातियों को लेकर आवश्यक खोज भी नहीं की गयी है। और तो और 'आदिवासी' या 'आदिमजाति' जैसे शब्दों के वास्तविक अर्थ को लेकर भी अब तक कोई स्वीकृत विचारधारा नहीं बनी है। इसीलिए अब तक की जनगणनाओं में आदिवासी लोगों के नाम अनुसूचित जातियों के नामों के साथ, तथा आदिवासियों के नामों के साथ कुछ और पिछड़ी जातियों के लोगों के नाम दर्ज होते रहे हैं। इतना ही नहीं, इन लोगों की संख्या की बाबत एक जनगणना और दूसरी जनगणना में बहुत सारी गड़बड़ियां हुई हैं। एक जनगणना में किसी एक आदिवासी के कुछ विशिष्ट गुण बताये गये हैं, तो अगली जनगणना में वे गुण अनावश्यक रूप से किसी अन्य आदिवासी जाति के संदर्भ में उद्‌धृत हैं। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि सबसे पहले हम 'आदिमजाति' शब्द के वास्तविक अर्थ को जानें। आजकल इस शब्द की ही सर्वप्रचलित परिभाषा जातिविशेष के गुणों को ध्यान में रखकर दी गयी है। यही परिभाषा सर्वाधिक संगत भी लगती है। आम तौर पर प्रत्येक ठेठ आदिवासी जाति में पायी जानेवाली कुछ खास विशिष्टताएं निम्नलिखित हैं :

(1) एक जाति के सारे लोग प्रायः एक ही स्थान पर होते हैं,

(2) इनमें परस्पर वैवाहिक संबंध होते हैं,

(3) परंपरागत रूप मे स्वीकृत जातिगत नेताओं द्वारा इनका नेतृत्व होता है,

(4) इनके काम-धंधे एक जैसे होते हैं, और भाषा भी एक ही होती है,

(5) सामाजिक दृष्टि से एक जाति दूसरी जाति से दूर होती है और हर जाति बिना किसी अपवाद के अपने आचार-विचारों, विश्वासों आदि का पालन करती है।

लगभग ऐसी ही शर्तें प्रत्येक आदिवासी जाति के लिए वर्तित होती हैं।

भारत में मुख्य रूप से तीन प्रकार की आदिवासी जातियां पायी जाती हैं :

(1) भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित नागालैंड की नागा, कूर्क, गारो जाति के लोग, अलमोड़ा जिले के थोरिया जाति के लोग तथा मंगोलाइड वर्ग से संबंधित लोग पहली प्रकार की आदिवासी जाति में आते हैं।

(2) दूसरे प्रकार में वे लोग आते हैं, जो मुंडा, संथाल, कोरवा जातियों तथा प्रोटो-आस्ट्रलाइड वर्ग से संबंधित हैं।

(3) भासा, भील आदि हिमालय प्रदेश के निवासियों से भरे हुए 'इंडो-आर्यन' वर्ग के लोग, तीसरे प्रकार के हैं।

इसके अलावा उन लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं के आधार पर भी आदिवासी जाति को तीन भागों में बांट सकते हैं: (1) मुंडा भाषा बोलनेवाले लोग, (2) तिब्बती और बर्मी भाषाएं बोलनेवाले लोग, और (3) द्रविड़ भाषाएं बोलनेवाले लोग। इन आदि-वासियों में कुछ जातियों के लोग अपनी भाषाएं भूलकर हिंदी बोलने लग गये हैं। कुछ मुंडा जातियों के लोग आजकल अपनी मातृभाषा का प्रयोग बिलकुल नहीं करते हैं। इसी प्रकार भील जाति के लोग आजकल गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का प्रयोग कर रहे हैं; क्योंकि वे आजकल इन भाषाई प्रांतों में रह रहे हैं।

इन प्रांतीय संबंधोंवाली आदिवासी जातियों के अति-रिक्त कुछ यायावर जातियां भी हैं, जिनमें से नाटु, बंटु, संसिया, करवाल, कंजर आदि कुछ उल्लेखनीय हैं। भिन्न-भिन्न वर्गों और भाषाओं, प्रांतों और श्रेणियों से संबद्ध कुल तीन करोड़ आदिवासी लोग भारत में रहते हैं, किंतु इनमें से कई लोगों द्वारा नागरिक नामों और वृत्तियों को स्वीकार किये जाने के कारण जनगणना के

आंकड़ों में इनकी संख्या दो करोड़ ही बतायी गयी है।

इन जातियों के पुनरुद्धार को ध्यान में रखकर इनकी संस्कृति और सभ्यता संबंधी स्थितियों के आधार पर इन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है :

(1) सांस्कृतिक दृष्टि से ग्रामीण तथा शहरी परिवारों से किसी भी प्रकार का कोई भी संबंध न रखनेवाली जातियां,

(2) सभ्यता के समकालीन प्रभावों को ग्रहण करते हुए तत्संबंधी समस्याओं में उलझी हुई जातियां, तथा

(3) ग्रामीण और शहरी लोगों से जुड़े होते हुए भी तत्संबंधी उलझनों की परवाह न करते हुए वर्तमान विकसित संस्कृतियों से संबद्ध जातियां।

इस प्रकार आदिवासी जातियों में कुछ ऐसी जातियां भी हैं, जो उत्तरोत्तर बदलती हुई परिस्थितियों से किसी रूप में प्रभावित नहीं हैं। ऐसे लोग मुख्य रूप से जंगलों में रहते हैं और अपनी जीविका के लिए जंगलों पर निर्भर रहते हैं। केरल प्रांत की काडर और मालपांतर तथा तमिलनाडु की पालियन आदि जातियां इस प्रकार की आदिवासी जातियों में से हैं। आर्थिक दृष्टि से भी इस प्रकार की आदिम जातियों की स्थिति मानव-सभ्यता के आर्थिक विकास से किसी रूप में प्रभावित नहीं है।

आजकल भारत सरकार इस प्रकार की आदिवासी जातियों के पुनरुद्धार को ध्यान में रखकर उनकी जीवन-पद्धतियों में हस्तक्षेप कर रही है। इन विभिन्न आदिवासी जातियों की सभ्यता और उसका विकास उन प्रांतों पर भी निर्भर करता है, जिनमें ये रहती हैं इसलिए अपने पुनरुद्धार-संबंधी कार्यक्रमों के संदर्भ में सरकार के लिए आदिवासी जातियों द्वारा आबाद प्रदेशों और उनकी परिस्थितियों का अध्ययन करना जरूरी है। सरकार इस कार्यक्रम के अंतर्गत आदिवासियों के परंपरागत रीति-रिवाजों की रक्षा का प्रयत्न कर रही है और साथ ही नवीन रचनात्मक कार्यक्रम का प्रवेश कर इनके विकास की दिशा में पहल कर रही है। इन सारे प्रयत्नों के बावजूद इस बात की बहुत आवश्यकता है कि आदिवासी लोगों के बीच अधुनातन वैज्ञानिक उपलब्धियों का परिचय बढ़ाया जाये, ताकि वे सुविधापूर्वक देश के सच्चे नागरिक बन सकें।

आदिवासी जातियों के जनजीवन के प्रति यद्यपि अंग्रेज सरकार ने भी थोड़ी-बहुत उत्सुकता दिखायी थी, फिर भी उसकी नीति यह थी कि उन लोगों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप न किया जाये। लेकिन तत्कालीन सरकार का प्रोत्साहन पाकर ईसाई धर्म-प्रचारकों ने आदिवासियों के पुनरुद्धार का नानाविध प्रयत्न किया। चूंकि इन कोशिशों के पीछे मुख्य रूप से धर्म-प्रचार की भावना थी, इसलिए इसके बहुत अच्छे परिणाम नहीं निकले।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार इस दिशा में गंभीरतापूर्वक काम कर रही है। आदिवासी जातियों के लोगों के लिए वे सारी सुविधाएं दी जाने की कोशिश हो रही है, जो देश के किसी और नागरिक को उपलब्ध हो सकती हैं। फिर भी सरकारी प्रयत्नों की धीमी चाल के कारण अब भी आदिवासी लोगों की समस्याएं बेहिसाब हैं, जिनका उचित समाधान होना बाकी है।

आबादी का सिद्धांत : आबादी के सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम माल्थस (1766-1834) ने किया था और यह सिद्धांत उन्हीं के नाम से जाना भी जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, जीवन-यापन के साधनों (आहार) का उत्पादन गणितीय अनुपात (अर्थमेटिकल प्रोग्रेशन) में बढ़ता है, जबकि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामिती अनुपात (ज्योमेट्रीकल प्रोग्रेशन) में होती है। माल्थस के अनुसार जनसंख्या और आहार के साधनों में जो असमानता उत्पन्न हो जाती है, वह युद्धों, महामारियों, ज्वालामुखी विस्फोटों, भूकंपों, बाढ़ों जैसे प्राकृतिक प्रकोपों से दूर हो जाती है और इस प्रकार जनसंख्या का आहार-उत्पादन के साथ संतुलन बना रहता है। जब भी इस संतुलन में गड़बड़ हो जाती है, प्रकृति उसमें साम्य स्थापित कर देती है। इस सिद्धांत के मूल में माल्थस का यह विश्वास निहित था कि भूमि से अनाज-उत्पादन करने की एक सीमा होती है और मानव स्वयं जनसंख्या-वृद्धि पर नियंत्रण नहीं रख सकता तथा प्राकृतिक प्रकोपों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। लेकिन विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों ने माल्थसवाद के तीनों आधारों की अवैज्ञानिकता स्पष्ट कर दी है। वर्तमान युग में (1972 तक) मनुष्य एक साल में सात फसलें तक उपजा सकता है और भविष्य में इसमें और भी वृद्धि की जाने की संभावना है। मानव

जनसंख्या-वृद्धि को नियंत्रित कर रहा है और इस दिशा में उसने आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त की है तथा विज्ञान और तकनीक की सहायता से प्राकृतिक प्रकोपों को भी काफी हद तक नियंत्रित किया जा चुका है। इस समय जो जनसंख्या की वृद्धि हो रही है, उसका मूल कारण अशिक्षा और अज्ञान है।

आब्दिक क्रियाएं : आब्दिक क्रिया हिंदुओं में उच्च वर्ग के लोगों, खासकर ब्राह्मणों द्वारा किया जानेवाला पितृकर्म है। इसी को 'तिथि', 'पैतृक', 'बरसी', 'श्राद्ध' आदि भी कहते हैं। पिता, पितामह आदि जिस महीने, जिस पक्ष और जिस दिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं, ठीक उसी दिन आब्दिक क्रिया की जाती है। हिंदुओं का यह विश्वास है कि इस धरती का एक वर्ष पितृ देवताओं के लिए एक दिन के समान है और मृत्यु के दिन की जानेवाली हर वर्ष की आब्दिक क्रिया से मृतात्माएं इस प्रकार तृप्त होती हैं, जैसे उन्हें प्रत्येक दिन भोजन दिया गया हो।

आर्थिक व्यवस्थाएं : किसी भी सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद उसकी आर्थिक संरचना पर होती है, इसलिए मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक चरण का अध्ययन उसकी आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन के अभाव में अपूर्ण है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्थिक व्यवस्थाओं की संख्या सभ्यता के विकास की विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के बराबर ही होगी। समाजविज्ञानियों के अनुसार मानव-विकास की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएं इस प्रकार हैं :

(1) आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था
(2) दास-प्रधान अर्थ-व्यवस्था या नदी-घाटी सभ्यताएं
(3) सामंतीय अर्थ-व्यवस्था या कृषिप्रधान व्यवस्था
(4) पूंजीवादी या औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था
(5) समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या केंद्रीय विनियोजन व्यवस्था
(6) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

आदिकालीन व्यवस्था में मानव का अस्तित्व आखेट पर निर्भर था। इस व्यवस्था में उसने स्वयं उत्पादन प्रारंभ नहीं किया था। कबीलों के रूप में आदिम मानव के दल एक स्थान से दूसरे स्थान तक तब तक घूमते रहते थे, जब तक उन्हें स्थायी निवास के योग्य स्थल नहीं मिल जाता था। आखेट करना उनके अस्तित्व के लिए दो कारणों से आवश्यक था : वन्य पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए एवं आहार के लिए। पशुपालन या कृषि की शुरुआत तब तक नहीं हुई थी।

दास प्रधान व्यवस्था या नदी-घाटी सभ्यता में धीरे-धीरे कबीलों ने अपने स्थायी निवास बनाने शुरू किये। ये स्थायी निवास अधिकांशतः वहीं होते थे, जहां प्राकृतिक सुविधाएं अधिकाधिक उपलब्ध होती थीं। ऐसे स्थलों पर रहने के लिए कबीलों में आपस में झगड़े भी होते थे। विजयी कबीले विजित कबीलों को अपना दास बनाकर अधिक श्रमसाध्य कार्य उनसे कराते थे। और जिन स्थलों के लिए ये झगड़े होते थे, अधिकतर वे नदी-घाटी वाले क्षेत्र थे। प्राकृतिक सुविधाएं सहज ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाने के कारण नदी-घाटियों की ओर मानव का आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। इसलिए प्रारंभिक मानव-सभ्यता ने नदी-घाटियों में ही जन्म लिया। ये सभ्यताएं दास-प्रधान व्यवस्था पर आधारित थीं। इस व्यवस्था में मानव ने खेती करना और पशुपालन सीख लिया था। धातुगलन का कार्य भी इस युग में शुरू हो गया था। मिस्र की पिरामिड सभ्यता, सुमेरियन, बैबिलोनियन, असीरियन, सिंधु-घाटी और चीन की प्राचीन सभ्यता इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

सामंतीय व्यवस्था या कृषि व्यवस्था : धीरे-धीरे धरती के जंगल साफ होते चले गये। मानव नये-नये क्षेत्रों पर अपनी उच्चता की घोषणा करता चला गया। बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई। साम्राज्य का प्रशासन सामंतों द्वारा परिचालित होने लगा और प्रायः ये सामंत राजा या सम्राट् से अधिक शक्तिशाली हो जाते या खतरा पैदा कर देते। आर्थिक व्यवस्था का आधार खेती तथा पशुपालन था। समाज में मुख्यतया दो ही वर्ग थे : किसान और सामंत। किसान खेती करते थे और उपज का निर्धारित भाग संबद्ध सामंत को देते थे। सामंत उसके बदले में उनकी रक्षा का आश्वासन देता था। प्रायः ये सामंत निरंकुश हुआ करते थे। इस कारण योग्य सामंत के काल में प्रजा सुखी रहती थी और अयोग्य सामंत के काल में प्रताड़ित। लेकिन श्रमिक जनता के अधिकार दासप्रधान व्यवस्था

से बहुत अधिक थे। किसान सामंत का दास नहीं, मात्र आधीन होता था। उच्चता सामंतों की ही थी, लेकिन कृषक भी अपनी प्रतिभा से कभी-कभी उच्चता प्राप्त कर लेता था। इस व्यवस्था के पतन का कारण यह है कि कृषि-उत्पादन का सारा सरमाया सामंत के पास चला जाता था, जो उसे प्रतिरक्षा या विलास-सामग्री पर व्यय कर देता था तथा समाज के विकास में उसका योगदान नहीं रहता था। व्यापार की वृद्धि के साथ इस सरमाये में व्यापारियों को हिस्सा मिलने लगा, जो अपने हित के लिए उसे पूंजी का रूप देने लगे। फिर एक समय वह भी आया, जब सामंतों पर धीरे-धीरे विकासशील पूंजीपतियों का आधिपत्य हो गया। इस प्रक्रिया को तीव्र और पूर्ण करने में नये-नये उपनिवेशों की खोज, विज्ञान की उन्नति और औद्योगिक स्तर पर उत्पादन किये जाने का भी बहुत बड़ा हाथ है।

पूंजीवादी व्यवस्था या औद्योगिक व्यवस्था : सामंतीय व्यवस्था के अंतर्विरोधों के फलस्वरूप पूंजीपतियों का जन्म हो चुका था। नये-नये उपनिवेशों की खोज के कारण मंडी का विस्तार बढ़ता जा रहा था। ऐसी व्यवस्था में वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कारों का होना स्वाभाविक ही था। बहुत बड़े पैमाने पर जिन्सों का उत्पादन किया जाना शुरू हो गया। परिणामस्वरूप समाज की आर्थिक व्यवस्था का आधार कृषि न रहकर औद्योगिक स्तर पर उत्पादन करना हो गया। कृषि के क्षेत्र में भी क्रांति आयी और अब वहां भी औद्योगिक स्तर पर उत्पादन किये जाने के प्रयत्न होने लगे। यंत्रों और विभिन्न प्रकार की खादों के आविष्कार हुए। सर्वग्राही औद्योगिक सभ्यता ने समाज के सभी अंगों को अपने प्रभाव में ले लिया। औद्योगिक उत्पादन करने के लिए विशाल पूंजी की आवश्यकता पड़ी। बैंकिंग व्यवस्था शुरू हुई, ट्रस्ट बने, बड़े-बड़े कार्पोरेशन बने और साझेदारी शुरू हुई। लेकिन धीरे-धीरे ये एकाधिकार में बदलते चले गये। पूंजी का साम्राज्य फैलता चला गया। इस व्यवस्था की विशेषता यह थी कि इसने श्रमिकों को सामंतीय अर्ध-दासता से मुक्त किया और सिद्धांत के रूप में ही सही, सभी समान मानवीय अधिकार उन्हें प्रदान करने की घोषणा की।

समाजवादी व्यवस्था या केंद्रीय विनियोजन व्यवस्था : पूंजीवादी व्यवस्था का प्रधान दोष यह है कि पूंजी जिसके श्रम द्वारा निर्मित होती है, उसी का वह और भी शोषण करती चली जाती है। पूंजी के स्वामी पूंजी का उपयोग संपूर्ण समाज के विकास के लिए न करके मात्र अपने लाभ के लिए करते हैं। परिणामस्वरूप पूंजी का विस्तार इतना भयानक होता चला जाता है कि श्रमिक वर्ग इसमें पिस जाता है; क्योंकि पूंजी के विस्तार का कारण श्रमिकों को उनका उचित भाग न मिल पाना है। पूंजी के इस अराजकतावादी और निरंकुश शासन के विरोध में कुछ देशों में असंतोष इतना बढ़ गया कि वर्ग-क्रांति हो गयी और एक नयी व्यवस्था ने वहां जन्म लिया, जिसे समाजवाद का नाम दिया गया। इसका आधार मानव पर पूंजी का शासन समाप्त करके मानव का पूंजी पर नियंत्रण स्थापित करना है। इस व्यवस्था में पूंजी का उपयोग समस्त मानव समाज के हित के लिए किया जाता है, न कि लाभ प्राप्त करने के लिए। इसी कारण इस व्यवस्था में संपूर्ण संपत्ति राष्ट्र की साझी संपत्ति मानी जाती है, चंद एकाधिकारियों की नहीं। केंद्रीय विनियोजन प्रणाली की शुरुआत इसी व्यवस्था से हुई। लेकिन इस व्यवस्था का एक दोष यह सामने आया है, इसमें लालफीताशाहों (ब्यूरोक्रेट) की काफी मौज हो जाती है। वैसे भी यह शोषणमुक्त व्यवस्था नयी ही है और सुचारु और वैज्ञानिक पद्धति से कार्य करने के लिए इसमें सुधार की काफी आवश्यकता है और सुधार किया भी जा रहा है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था : विश्व के कुछ विकासशील देशों में पूंजीवादी और केंद्रीय विनियोजन पद्धति दोनों को एक साथ चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार कुछ उद्योगों को निजी क्षेत्र में लगाने की अनुमति देती है और बड़े तथा बुनियादी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में लगाती है। इस पद्धति को मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा जाता है। इस पेचीदा अर्थव्यवस्था की समस्याएं काफी जटिल हैं। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह करदाता के धन का इस्तेमाल पूंजीपतियों के हित में करती है। पूंजीपति जिन बड़े और बुनियादी उद्योगों में पूंजी या तो लगा नहीं सकते, या देर से लाभ मिलने के कारण लगाना नहीं चाहते, उनमें सरकार पैसा लगाती है और उन उद्योगों के उत्पादन को (जैसे इस्पात) सस्ते दामों पर विक्रय योग्य वस्तुओं के निर्माताओं को बेच देती है, जिससे वे आम जनता से भारी मुनाफा कमाते हैं। ऐसा राष्ट्रीय

निर्माताओं को प्रोत्साहन देने के नाम पर किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन में एक बात विशेष महत्त्वपूर्ण है: सामंतीय व्यवस्था से पूंजीवादी व्यवस्था की उत्पादन-पद्धति न सिर्फ भिन्न थी, बल्कि अधिक द्रुतगामी और एक बहुत बड़ी मंडी की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ थी। लेकिन पूंजीवादी, समाजवादी और मिश्रित अर्थव्यवस्था इन तीनों में उत्पादन-पद्धति समान है। अंतर केवल स्वामित्व का है। इसलिए इन तीनों अर्थ-व्यवस्थाओं को औद्योगिक सभ्यता के ही तीन भिन्न विकास-चरण भी माना जा सकता है।

आवास : स्त्री-पुरुषों का साथ-साथ रहना आवास कहलाता है। आवास करने की पांच विधियां विश्व भर में प्रचलित हैं :

(1) **पितृस्थानीय आवास** : विवाहित युगल पति के माता-पिता के घर, पड़ोस या समूह या झुंड में ही रहते हों, तो वह पितृस्थानीय आवास कहलाता है।

(2) **मातृस्थानीय आवास** : विवाहित युगल पत्नी के माता-पिता के घर पड़ोस या उनके समूह या झुंड में ही रहते हों, तो वह मातृस्थानीय आवास कहलाता है।

(3) **द्विस्थानीय आवास** : जब विवाहित युगल को यह विकल्प होता है कि वे चाहें तो पति के माता-पिता या पत्नी के माता-पिता के घर जाकर रह सकते हैं, तो उनके आवास की व्यवस्था को द्विस्थानीय आवास व्यवस्था कहते हैं।

(4) **मातुलेय या मामा के घर आवास** : कई समुदायों में विवाहित युगल पति या पत्नी के मामा के घर पर जाकर रह सकता है। मेलेनिशिया के डाब्यूनों में यह प्रथा है कि एक वर्ष युगल पति के मामा के घर तथा दूसरे वर्ष पत्नी के मामा के घर तथा इसी प्रकार आगे आवास करता रहता है।

(5) **नवस्थानीय आवास व्यवस्था** : ऐसी व्यवस्था तब होती है, जब युगल विवाहोपरांत अपना अलग घर बनाकर या किराये पर लेकर अपने संबंधियों से दूर रहने लगते हैं। आजकल इसी प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था को प्रायः पसंद किया जाता है, क्योंकि यह आधुनिक सामाजिक परिस्थितियों के बिल्कुल अनुकूल है।

आविष्कार : प्राकृतिक और सामाजिक तत्त्वों का किसी नये रूप में किया गया सक्रिय संघटन आविष्कार कहलाता है। मानवविज्ञान के अध्ययन में आविष्कारों का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। मनुष्य को आहार और आवास उपलब्ध करानेवाली जितनी भी विधियां हो सकती हैं, सब आविष्कारों पर निर्भर हैं। मनुष्य की प्राचीनतम कला हमें पत्थरों को काट-छांट कर मारने, तोड़ने और छीलने लायक हथियारों को बनाने में दिखायी देती है। अनगढ़ पत्थरों की यह कटाई-छंटाई कालांतर में अधिकाधिक कलात्मक और विशिष्ट होती गयी। पत्थर के औजारों को घिसकर तेज किया जाने लगा, उनमें सूराख करके लकड़ी के हत्थे लगाये जाने लगे, और उन्हें ऐसे आकार दिये जाने लगे कि काम करने में उनसे अधिकतम सुविधा रहे। इसी प्रकार पूर्वपाषाण काल में मनुष्य ने आग उत्पन्न करने का आविष्कार किया और ठंड से बचने तथा भोजन पकाने के लिए उसका उपयोग करने लगा। आरंभ में आग पैदा करना कठिन था, इसलिए आग को बचाये रखने के लिए कई उपाय किये जाते थे—जैसे, बड़े-बड़े लक्कड़ों को हमेशा सुलगाये रखना। आग पर भोजन पकाने का आविष्कार कैसे हुआ होगा, यह आश्चर्य की बात है। मानवविज्ञानियों का विचार है कि शायद मनुष्य ने पहले-पहल प्राकृतिक रूप से जंगल में लगी आग में जल-भुनकर मरे हुए पशुओं को देखा होगा और उन पशुओं के भुने हुए मांस की गंध और स्वाद ने उसे भोजन पकाने के लिए प्रेरित किया होगा। लेकिन इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि मनुष्य ने उबालना कैसे सीखा। आज भी कुछ आदिम जातियों में पानी को उबालने के लिए खूब गर्म किये हुए पत्थर पानी में डालने की प्रथा पायी जाती है। संभवतः पानी को उबालने की आरंभिक विधि यही रही होगी। और यह आविष्कार मनुष्य ने बहते हुए लावे को किसी जलाशय में गिरते और उसके ताप से पानी को खौलते तथा जलीय जीवों को पकते देखकर किया होगा। लेकिन एक आविष्कार पर दूसरा आविष्कार अवश्य होता है। उबालने का आविष्कार करने के बाद मनुष्य को ऐसे पात्रों का आविष्कार करना पड़ा, जिनमें पानी खौलाया जा सके और आहार को उबाला जा सके। इस प्रकार पत्थर और लकड़ी के बर्तन बनाने का आविष्कार हुआ।

मिट्टी के बर्तन बनाने का आविष्कार निश्चय ही बाद में हुआ होगा, जब मनुष्य ने घर बनाकर रहना सीख लिया होगा। कारण यह है कि स्थायी रूप से किसी स्थान पर निवास न करनेवाले लोगों के लिए मिट्टी के बर्तन एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना सरल नहीं हो सकता; क्योंकि ले जाये जाने में उनके टूटने का डर भी रहता है। मानव-सभ्यता के विकासक्रम में दो चीजों को आपस में जोड़ने का आविष्कार भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। पत्थर के औजारों में लकड़ी का हत्था लगाने के बाद आदमी का दिमाग इस दिशा में तेजी से चला और उसने अनेक आविष्कार कर डाले—जैसे, सीना-पिरोना, बुनना, बांधना, चिपकाना आदि। मिट्टी के बर्तन बनाने से पहले मनुष्य ने टोकरियां बुनने का आविष्कार किया होगा और अलग-अलग चीजों को जोड़ने के प्रयत्न में ही उसने अपने लिए घर बनाना भी सीखा होगा। बाद में टोकरियां बुनने से ही उसे कपड़ा बुनने की प्रेरणा मिली होगी।

आदिम सभ्यता से औद्योगिक विकास तक आने के दौरान मनुष्य ने छोटे-बड़े असंख्य आविष्कार किये, जैसे, धातुओं का प्रयोग, धातु से बने काटने, छीलने, खोदने आदि के औजार, वन्य पशुओं को पकड़ने के लिए जाल-फंदों की युक्तियां, मकान बनाने के लिए सरल यांत्रिक उपकरण, मकान बनाने के लिए पत्थर और लकड़ी आदि ढोने के लिए परिवहन के साधनों का आविष्कार, परिवहन के लिए वन्य पशुओं को पालतू बनाना, पशुओं और मनुष्यों के एक ही मार्ग पर चलने से बनी पगडंडियों से प्रेरित होकर सड़कों का निर्माण, नदियां पार करने के लिए नौकाओं और पुलों का आविष्कार, आहार के लिए मांस के अतिरिक्त दूध, अन्न, फल, कंद आदि खाने की शुरुआत और इसके लिए खेती, बागवानी, पशुपालन आदि के आविष्कार। धीरे-धीरे पहिया, बिजली, भाप आदि के आविष्कार हुए और मनुष्य आधुनिक युग में पहुंचा। इस प्रकार मानवविज्ञान आविष्कारों के अध्ययन को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानता है।

मानवविज्ञानी यह मानते हैं कि प्रत्येक समाज में मनुष्य की कुछ निश्चित स्थितियां और आदतें होती हैं, जो आविष्कारों के कारण बदलती हैं। आविष्कार की प्रक्रिया यह है कि मानव-समाज की प्रगति हमेशा नयी-नयी समस्याएं और आवश्यकताएं पैदा करती रहती है और उन समस्याओं के समाधान तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य आविष्कारों के द्वारा सामाजिक जीवन को पुनर्व्यवस्थित करता है। आविष्कार हमेशा भौतिक ही नहीं होते, वैचारिक भी होते हैं। मनुष्य की भौतिक स्थितियां बदलने लगती हैं, तो उसका जीवन-दर्शन भी बदलना आवश्यक हो जाता है। इसलिए प्रत्येक युग में और प्रत्येक समाज में दार्शनिक, नैतिक, राजनैतिक धारणाएं एवं आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाएं बदलती रहती हैं। इस प्रकार नयी नैतिक धारणाएं, राजनैतिक विचार-धाराएं, नयी सामाजिक संस्थाएं आदि भी आविष्कार मानी जाती हैं।

आश्रम : सनातन हिंदू धर्म में आश्रम बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास—ये इनके चार प्रकार हैं। पहले दोनों आश्रम क्रमश: बचपन और यौवन में तथा शेष दोनों आश्रम वृद्धावस्था में भारतीय परंपरा के अनुसार स्वीकार्य हैं।

ब्रह्मचर्य : इसके अंतर्गत उपनयन के बाद पुरुष किसी योग्य गुरु के पास जाता है और हर प्रकार की सेवा-शुश्रूषा के आधार पर गुरु की कृपा पाकर शिक्षा अर्जित करता है। शिक्षा-काल में भिक्षाटन और जमीन पर सोना हर शिक्षार्थी का कर्तव्य होता है। उसके लिए आत्मसंयम का पालन करना आवश्यक माना जाता है। शिक्षा के समाप्त होने के बाद गुरु को यथायोग्य दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने की अनुमति प्राप्त करना भी जरूरी होता है। इतना सब करने पर ही वह 'समावृत्त' माना जाता है।

गृहस्थ : अन्य आश्रमवासियों को सहारा देनेवाला होने के कारण यह आश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें पुरुष स्त्री के साथ विवाह करके, परिवार का अधिपति बनकर, निर्लिप्तता के साथ पारिवारिक जीवन व्यतीत करता है। अतिथि की सेवा करना उसका मुख्य कर्तव्य होता है। परंपरागत विश्वास के अनुसार धन का अर्जन भोग के लिए न होकर, त्याग के लिए होना चाहिए और पत्नी-समागम यौन-तृप्ति के लिए न होकर संतानोत्पत्ति के लिए होना चाहिए। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी विरक्त भावना के साथ ज्ञान और विवेक बढ़ाते हुए चारों प्रकार के पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) करना प्रत्येक पुरुष के लिए जरूरी है।

गृहस्थाश्रम में प्रत्येक पुरुष का यह भी कर्तव्य है कि वह विकलांग, भाग्यहीन और आश्रयहीन लोगों को सहारा देकर 'मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा है' के आदर्श को चरितार्थ करे।

वानप्रस्थ : इसके अंतर्गत प्रत्येक पुरुष का यह कर्तव्य हो जाता है कि बुढ़ापे में वह सांसारिक माया-मोह से स्वयं को अलग करते हुए घर-बार, जायदाद आदि अपने पुत्रों के सुपुर्द करके पत्नी के साथ जंगलों की ओर प्रस्थान करे और वहां ऋषियों जैसा जीवन व्यतीत करे। जंगलों में वह कंदमूल खाकर, 'जटाजिनधारी' होकर तपस्यारत हो जाये। उसके लिए यह भी आवश्यक माना गया है कि वह योगाभ्यास करे और अंततोगत्वा उसी के द्वारा देह-त्याग करे।

संन्यास : सांसारिक विषयेच्छाओं को त्यागना ही वस्तुतः संन्यास है। संन्यासी यति, परिव्राजक, भिक्षु आदि शब्दों से भी संबोधित होता है। इसके विशिष्ट लक्षणों में से कुछ हैं—रागद्वेष का परित्याग, कर्म-राहित्य, अक्रोध, आर्जव, भिक्षाटन, सर्वभूतसमानता आदि। इस बात का भी विश्वास प्रचलित है कि गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के बाद ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यह भी कहा जाता है कि संन्यासाश्रम को स्वीकार करना पुनर्जन्म प्राप्त करने के समान है। जो व्यक्ति संन्यासी बन जाता है, वह पुनः पूर्वाश्रमों को स्वीकार करने का अधिकारी नहीं हो सकता। मृत्यु के पश्चात् संन्यासी का अग्निसंस्कार किया जाता है। संन्यासी को इस बात की अनुमति प्राप्त नहीं है कि वह अपने जीवनकाल में अपने पूर्वाश्रम से संबंधित रिश्तेदारों का किसी भी प्रकार का कोई कर्मकांड करे।

इंडोचीन जातियां : इंडोचीन द्वीपसमूह एशिया की आग्नेय दिशा पर स्थित है। यह द्वीपसमूह कई कारणों से बहुत विख्यात है। इसमें बर्मा, स्याम, एनम, कंबोडिया, मलया आदि द्वीपसमूह स्थित हैं।

यहां के लोगों में अनेक जातियां नजर आती हैं। इस देश में आदिवासियों के समूह भी हैं। उत्तर में मिस्कमी भाम्टी; पश्चिम प्रांत में डफ्ला, मिरि, एबार; पूरब में काचिन, नागा, गारो, काली तथा आग्नेय दिशा में काचिन, लूषेई समूह पाये जाते हैं। इन समूहों के लोग तिब्बत और बर्मा प्रांतों में रहनेवाले मंगोलाइड वर्ग के लोग हैं। ये लोग शिकार खेलते हैं, मछली मारते हैं और धान की खेती भी करते हैं। बर्मा के लोग तिब्बत की आग्नेय दिशा से आये हुए हैं। आदिवासियों में 'चिन्स', 'कार्नपू', 'शानसू', 'कूकी' वर्गों के लोग मिले हुए हैं। 'चिन्स' समूह के लोग मणिपुर के मध्यवर्ती पर्वतों पर खेती करके तथा पशुओं को पालकर जीवन बिताते हैं। स्याम के 'तैइल' लोग और वायव्य दिशा के 'शानसू' लोग चीन के दक्षिण प्रांत से आये हुए हैं। एनम् के लोग मिश्रित रूप में हैं। जब ये लोग कांस्य-युगीन सभ्यता में थे, तब तीसरी शताब्दी में चीनियों ने इन पर अधिकार कर लिया था। इनकी स्त्रियां स्वतंत्रताप्रिय होती हैं और कपड़ा बुनने में काफी निपुणता दिखाती हैं। गांवों में रहनेवाले लोगों के अलग पूजा-गृह होते हैं। ये लोग लकड़ी के घर बनाया करते हैं। परिवार में बड़े लड़के का अधिकार चलता है।

कंबोडिया देश के लोग 'कमर' नाम से पुकारे जाते हैं। ये इंडोनेशिया तथा मलाया के लोगों जैसे होते हैं। ये लोग नाटे होते हैं। इनके सिर गोल और केश उठे हुए तथा गालों की हड्डियां उभरी हुई होती हैं। मलायावासी मलाका और सुमात्रा द्वीपों से आये हुए माने जाते हैं। इन लोगों ने 13वीं शताब्दी में इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। समुद्री यात्राएं करनेवाले होने के कारण मलायावासी हिंदुस्तानी तथा मेलनीशियन लोगों में हिल-मिल गये। मलाया द्वीप में रहनेवाले पहले के लोग नीग्रो वर्ग के हैं। इस वर्ग के लोग कई प्रदेशों में बिखरे हुए हैं। कुछ प्रांतों में, अब इनकी संख्या घट रही है।

इडयर जाति : तमिलनाडु में चरवाहों को इडयर कहते हैं, यानी मोटे तौर पर इन्हें ग्वाले कह सकते हैं। 'इडै' का अर्थ होता है मध्य, इसलिए इडयर जाति के लोगों के संबंध में विश्वास यह है कि यह किसानों और व्यापारियों के बीच की कड़ी है। इडयर जाति की अनेक उपजातियां भी हैं, जिन्हें मोटे तौर पर दो मुख्य भागों में बांट सकते हैं। इनमें एक वर्ग के लोग विकसित और साधनसंपन्न हैं और दूसरे वर्ग के लोग अविकसित और आदिवासियों के गुणों से युक्त हैं। पहले वर्ग के लोग अपने आपको वैष्णव कहते हैं और माथे पर त्रिपुंड्र धारण करके स्वयं को यादव-कुल के घोषित करते हैं। दूसरी शाखा के लोग भूतों की

आराधना करते हैं और इस बात का दावा भी नहीं करते कि वे यादव-कुल के हैं। इन्हें शैव भी कहा जा सकता है। शूद्रों के बीच इडयर जाति के लोगों की प्रतिष्ठा है। गोकुलाष्टमी के दिन मक्खन से भरी हुई हंडिया फोड़ने का गौरव भी इडयर लोगों को ही प्राप्त है।

आचार-व्यवहार : विवाह के अवसर पर वधू के ममेरे भाइयों को दक्षिणा देकर उनसे विवाह की अनुमति प्राप्त करना वर के लिए जरूरी माना जाता है। जिस समय वर अपने ससुराल जाता है, उसके मित्र उसे तब तक जाने नहीं देते, जब तक वह उन्हें सोने का कोई उपहार नहीं देता। इडयर जाति के लोगों में बाल-विवाह की एक अजीब प्रथा देखी जाती है कि पूर्ण-यौवना कन्या के साथ दस-बारह वर्ष के बालक की शादी कर दी जाती है। विवाह के समय वर का वधू के गले में मंगलसूत्र बांधना जरूरी माना जाता है। इडयर जाति के कुछ निम्नवर्गों के लोगों को छोड़कर आम तौर पर इन लोगों में तलाक और स्त्रियों का पुनर्विवाह निषिद्ध हैं।

केरल में भी इडयर जाति के लोग हैं, लेकिन सीमित संख्या में। वहां पर इडचेरिनायर नामक शूद्र लोग इडयरों के यहां चाकरी करते हैं। कृष्ण जयंती इडयर जाति के लोगों का प्रधान पर्व है। शनिवार इन लोगों के लिए पवित्र दिन है। अब इस जाति के कई लोग उच्च-शिक्षित और संपन्न हैं।

ईडिग जाति : मुख्य रूप से आंध्र प्रदेश के कई परिवार परंपरागत रूप से खजूर और ताड़ के वृक्षों से ताड़ी निकालने का काम करते आ रहे हैं, जो कई प्रदेशों में कई नामों से पुकारे जाते हैं। तमिलनाडु के सेलम, उत्तर आर्काट, चेंगलपट आदि जिलों में रहनेवाले इसी वृत्ति के लोग वहां ईडिग नाम से पुकारे जाते हैं। आम तौर पर यह माना जाता है कि ये लोग भी वस्तुत: शूद्र ही हैं और अपने पेशे के कारण शूद्रों से अलग माने जाते हैं। इस जाति के लोगों के पुरोहित बहुधा वैष्णव होते हैं। ईडिग जाति में दंडु ईडिग और बलिग ईडिग नामक दो शाखाएं हैं। पहली शाखा के लोग किसी समय देसी शराब बनाने का काम और दूसरी शाखा के लोग ताड़ के पेड़ों से नीरा निकालने का काम किया करते थे। इस जाति के लोगों की कुल-देवी एल्लम्मा है, जो उनके विश्वास के अनुसार सुरा की अधिदेवी है। ये लोग अपने कुल के मुखिया को गौडु के नाम से बुलाते हैं।

आचार-व्यवहार : इन लोगों के विवाह आदि शुभकर्म ब्राह्मणों द्वारा किये जाते हैं। मृतकों को दफनाने की प्रथा इनके बीच प्रचलित है। ईडिग जाति के लोगों का कहना है कि महाभारत के रचयिता व्यास इनके मूल पुरुष हैं। कुछ जगहों में ईडिग जाति के लोगों के कुल का चिह्न सीढ़ी होता है।

उत्सव : विश्व के प्राय: सभी समुदायों अथवा संस्कृतियों में त्योहार और उत्सव मनाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। न केवल जनजातीय समुदाय अपितु सभ्य नागरिक समुदाय भी उत्सवों को मानते हैं। अधिकतर उत्सव धार्मिक और सांस्कृतिक प्रसंगों से संबंधित होते हैं। लेकिन राजनैतिक, आर्थिक व संस्थात्मक कारकों से संबंधित उत्सव भी मनाये जाते हैं। इन सभी प्रकार के उत्सवों में इनका संगठन करने वाले विशिष्ट व्यक्ति अपने रिश्तेदारों, मित्रों, समुदाय के अन्य सदस्यों तथा संस्था के अन्य व्यक्तियों को उनमें भाग लेने के लिए आमंत्रित करते हैं तथा सामाजिक कार्यक्रमों जैसे सामूहिक गायन, सामूहिक पूजापाठ, सामूहिक भोज, सामूहिक मनोरंजन आदि का आयोजन किया जाता है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमाइल दुर्खीम के अनुसार धार्मिक उत्सवों के पीछे सामूहिक प्रतिनिधित्व की भावना विद्यमान रहती है। ऐसे अवसर व्यक्तियों को आश्वस्त कर देते हैं कि वे वस्तुत: इस जगत में अकेले नहीं हैं, अपितु वे अपने रिश्तेदारों, मित्रों, जाति या समुदाय, भाइयों के एक बहुत बड़े सामाजिक संगठन के ही अंग हैं। एक समुदाय की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में तथा उसके सदस्यों का समाजीकरण करने में उत्सवों का बहुत महत्त्व होता है।

जन्मदिवस, निर्वाण-दिवस, राष्ट्रीय दिवस, धार्मिक त्योहार आदि का आयोजन समुदाय-विशेष को उसके पूर्वजों के महान कार्यों की याद दिलाता है तथा उनमें वांछित सामाजिक गुणों को उत्पन्न करता है। जिस संस्कृति में अधिकाधिक उत्सव मनाये जाते हैं वह निस्संदेह बहुत धनी और प्रभावपूर्ण होती है। भारतीय समाज के धार्मिक त्योहारों के पीछे प्राय: हमारी कृषि संबंधी व्यवस्थाएं रहीं हैं।

उर्वरता संस्कार : प्रत्येक विवाहित स्त्री में संतान को जन्म देने की अभिलाषा स्वाभाविक रूप से होती है। प्रायः सभी समुदायों में संतान का, और अधिकतर समुदायों में विशेषतया पुत्र का उत्पन्न होना बहुत आवश्यक माना जाता है। विश्व में कई समुदायों में यौवनारंभ तथा विवाह के संस्कारों के अंतर्गत ऐसे कई धर्म, जादू व यौन क्रियाओं संबंधी कार्य किये जाते हैं, जिनके द्वारा एक कन्या अथवा स्त्री को संतानों को जन्म देने के लिए उर्वर (गर्भ धारण करने योग्य) बनाया जा सके। परंपरागत हिंदू विवाह के संस्कारों में मधुयामिनी अथवा सुहागरात मनाने से पूर्व वर-वधू को कुछ मंत्रों का उच्चारण करने के पश्चात् ही उत्तम संतान (विशेष रूप से पुत्र) को उत्पन्न करने के लिए संभोग करने की अनुमति दी जाती थी। मेडागास्कर में सकालावा समुदाय में जब भाई और बहिनों के परस्पर विवाह होते थे, तब यह प्रथा थी कि वधू पर विवाह के समय पवित्र जल अवश्य छिड़का जाये, जिससे कि वह संतान उत्पन्न करने योग्य बन सके। संभवतः हिंदू व ईसाई विवाहों में भी पवित्र जल को वर-वधू पर छिड़कने का भी यही कारण रहा हो। संतान प्राप्ति के लिए प्राचीन भारत में देवताओं की पूजा या यज्ञ करना, नरबलि चढ़ाना, जादू-टोना करना आदि प्रचलित था। धार्मिक पुजारियों से भी यौन संपर्क करना तथा नियोग पद्धति के अंतर्गत किसी भी अन्य उपयुक्त व्यक्ति से यौन संपर्क करवाना, जिससे कि संतान उत्पन्न हो सके, भारत में प्रचलित रहा है। उत्तरी घाना के टालेन्सी जन समूह में संतान को जन्म दे सकने में असमर्थ व्यक्ति अपनी पत्नी को अपने वंश के बुजुर्गों से अनुमति लेकर स्त्री की इच्छा के किसी भी व्यक्ति से यौन संपर्क करने देता है, जिससे कि वह गर्भवती हो सके।

एस्कीमो लोगों में भी यह प्रथा प्रचलित रही है कि धार्मिक पुजारी निःसंतान स्त्रियों को गर्भवती बनाने का कार्य करते रहे हैं। धार्मिक अनुष्ठानों के नाम पर देवता से यौन संपर्क कराने के बहाने ये पुजारी न केवल एस्कीमो, भारत, अफ्रीका अपितु अन्य कई देशों के जनसमुदायों में निःसंतान स्त्रियों से यौन संपर्क करते रहे हैं। मोरक्को में भी पहले कुछ मुसलमान समुदायों में ऐसी प्रथा रही है। प्राचीन रोम में वधू को म्युटुनस या ट्युटुनस देवताओं के विशालकाय लिंग पर बैठाया जाता था। इस प्रथा के पीछे यही मान्यता थी कि एक स्त्री तब तक गर्भवती नहीं हो पायेगी, जब तक वह देवता या उसके किसी दूत द्वारा पहले भोगी न जाये। प्राचीन भारत में कई प्रकार के जादू-टोने करने, ताबीज बांधने, बड़ या पीपल की पूजा करने, किसी सती के नाम पर व्रत करने आदि के द्वारा उर्वरता की वृद्धि करने का प्रचलन था। प्राचीन ग्रीस, इटली, भारत, अफ्रीका आदि देशों में धार्मिक वेश्यावृत्ति को उर्वरता-प्रथाओं के अंतर्गत बहुत प्रोत्साहन मिला हुआ था।

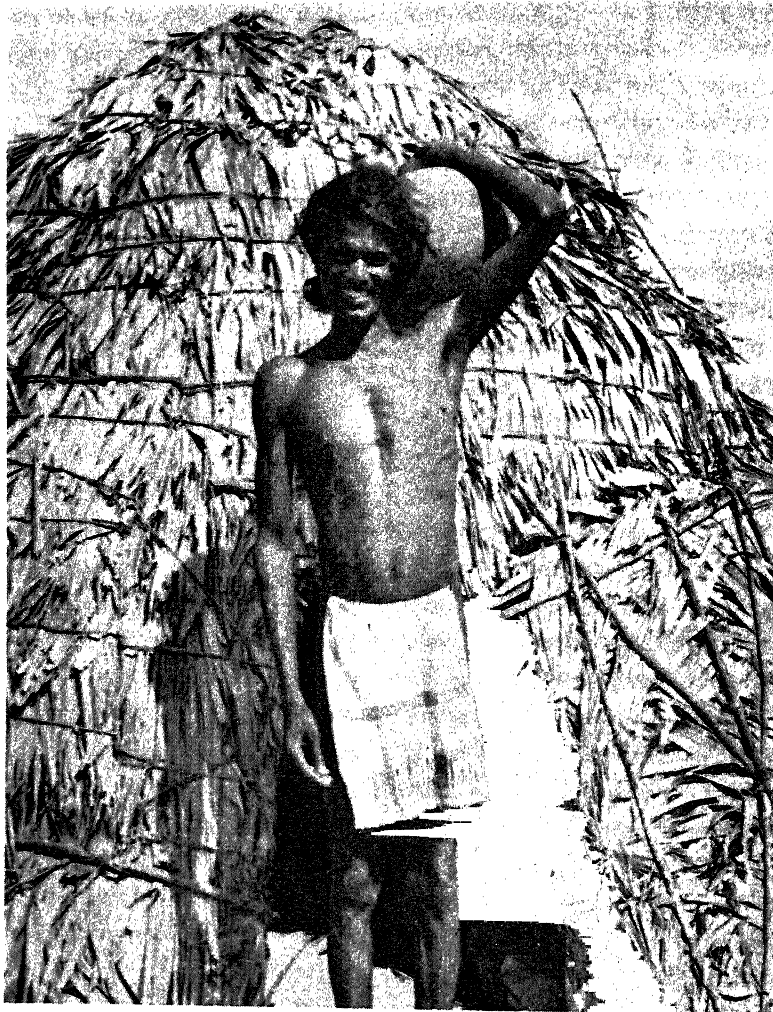
एंब्रांदिरी जाति : एंब्रांदिरी वर्तमान केरल प्रांत में बसे हुए तुलु ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त होनेवाला मलयाली नाम है। इस जाति के लोग तुलु और मलायलम बोलते हैं। इन लोगों में से कुछ अपने आपको नंबूदिरी ब्राह्मण कहते हैं। लेकिन नंबूदिरी ब्राह्मणों से वैवाहिक संबंध जोड़ने के लिए ये तैयार नहीं होते हैं। इस बात का भी पता चलता है कि एंब्रांदिरी तुलु के शैवाली ब्राह्मणों का पर्याय है।

एनादि जाति : एनादि और चेंचु जाति के लोग एक ही वर्ग के हैं। एनादि लोग पहले जमाने में धनुष का उपयोग किया करते थे। 1891 की जनगणना के अनुसार एनादि जाति की एक शाखा के रूप में ही चेंचु जाति का उल्लेख भी किया गया है। चेंचु लोगों का विचार भी यही है कि ये दोनों एक ही जाति के हैं।

भौतिक वर्णन : कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि एनादि जाति के लोग मंगोलाइड वर्ग की आकृति से मिलते-जुलते हैं। जो हो, इतना जरूर कहा जा सकता है कि इस जाति के लोग अत्यंत प्राचीन आदिवासियों में से हैं। लेकिन लंबे समय से ये लोग जंगलों और पहाड़ों का जीवन छोड़कर गांवों में, मुख्य रूप से तालाबों और खेतों के किनारे गोलाकार झोंपड़ियां बनाकर रहने लगे हैं। इस जाति के लोगों में आम तौर पर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां सुंदर होती हैं। प्रायः यह देखा गया है कि इस जाति के लोग मेहनती नहीं होते। किसी तरह जीवन के दिन काटना ही इनके लिए काफी होता है। संगीत में इनकी अभिरुचि देखी गयी है।

व्याप्ति : एनादि जाति के लोग मुख्य रूप से आंध्र प्रदेश के नेल्लूर, गुंटूर, चित्तूर जिलों में और तमिलनाडु के

चेंगलपेट जिले में रहते हैं। विलिया जाति के लोग भी इसी शाखा के अंतर्गत आते हैं। नेल्लूर जिले में रहनेवाले एनादि दो तरह के होते हैं। एक वर्ग में 'अच्छे एनादि' और दूसरी शाखा में 'चल्ल एनादि' आते हैं। पहले वर्ग के लोग संपन्न लोगों के यहां खाना बनाने का काम, खेती-



बारी का काम और धान कूटने का काम किया करते हैं। दूसरे वर्ग के लोग जूठन खाया करते हैं। ये लोग मेहतरों का काम किया करते हैं। जंगलों में रहनेवाले एनादि मेंढक खाया करते हैं। गोदावरी और विशाखपट्टणम् जिलों में एक और वर्ग के एनादि होते हैं, जिन्हें 'नक्कल एनादि' कहते हैं। पिछली जनगणना के अनुसार एनादि जाति के लोगों की संख्या दो-ढाई लाख के करीब है।

आचार-व्यवहार : ये लोग भी चेंचु और इरुला जातियों में विवाह करते हैं। इन लोगों की आराध्य देवी 'चेंचु' है। 1835 से पहले जंगलों में रहनेवाले एनादि लोगों ने चावल और कपड़ा देखा तक नहीं था। इन लोगों के आपसी झगड़े इनके मुखिया द्वारा निपटाये जाते हैं। इनकी भाषा तेलुगु है। बीमारी में ये लोग कंद-मूल आदि का काढ़ा पिया करते हैं। भूत-प्रेतों में इनका गहरा विश्वास है।

विवाह के समय इस जाति के लोगों में किसी तरह का कोई आडंबर नहीं होता। पत्नी अपने पति को छोड़कर किसी और पुरुष के साथ संबंध स्थापित कर लेती है, तो भी ये लोग बुरा नहीं मानते। लेकिन इस जाति में जब तक स्त्री-पुरुष साथ रहते हैं, तब तक एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते। एनादि जाति के लोगों को मरने पर दफनाया जाता है। मृतक के लिए कई प्रकार के कर्म करने की प्रथा भी प्रचलित है।

कला-कौशल : ये लोग मछली और चूहे पकड़ने में निपुण होते हैं। इनका मुख्य आहार भी यही है। जंगलों से लकड़ी लाकर गांव में बेचना और मेहनत मजदूरी करना भी इनकी जीविका का आधार है। ये चावल की कांजी पिया करते हैं। मद्यपान भी करते हैं, लेकिन बहुत कम। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि एनादि जाति के लोगों में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसकी अपनी जमीन हो। अब तक भी इस जाति के लोग पुराने तरीके से आग पैदा करते हैं। इनमें से कुछ लोग चोरी करके भी अपनी जीविका चलाते हैं। 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' के अंतर्गत इन लोगों का पंजीकरण किया गया है। आजकल एनादि जाति के कुछ लोग स्कूलों और कालेजों में पढ़ने जा रहे हैं। आंध्रप्रदेश में विशेष रूप से इन लोगों के लिए 25 आवासगृह बनाये गये हैं।

एनी बेसेंट (1847–1933) : शिक्षा और समाज-सुधार के क्षेत्र में एनी बेसेंट का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनका जन्म 1847 में लंदन में हुआ था। सिसबी के रेवरेंड फ्रांक बेसेंट से उनका विवाह हुआ था। लेकिन 1873 तक वे स्वतंत्र विचारक बन गयीं और उन्होंने पति को छोड़ दिया। वे सामाजिक समस्याओं की ओर बहुत ही सचेत रहीं और 'नेशनल रिफार्मर' के संपादक ब्राडलो के साथ उन्होंने समाज सुधार की दिशा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण काम किया। जनन-नियंत्रण के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए उन्होंने ब्राडलो के साथ नोलटन के तत्संबंधी परिपत्र का वितरण किया, जिसके लिए उन पर मुकदमा चलाया गया। इससे इस परिपत्र का खूब प्रचार हुआ। उन्होंने 'आबादी का नियम' नामक एक परिपत्र लिखा, जिसमें जनन-नियंत्रण की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया था।

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना और प्रारंभिक कार्यक्रम में इनका मुख्य हाथ रहा है। सन् 1907 में वे भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा बन गयीं। समाज-सुधार के क्षेत्र में इस सोसाइटी का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके तीन उद्देश्य ये हैं :

(1) मानव जाति के लिए एक ऐसे सार्वभौमिक भ्रातृत्व का आधार-बिंदु तैयार करना, जिसमें जाति, धर्म, लिंग, वर्ण आदि का कोई भेदभाव न हो।

(2) धर्म, दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहित करना।

(3) प्रकृति के रहस्यपूर्ण नियमों तथा मनुष्य की अंतर्निहित शक्तियों के विषय में अन्वेषण करना।

कालांतर में एनी बेसेंट और इस सोसाइटी के प्रवर्तक समाज-सुधार के काम में अत्यधिक रुचि लेने लगे और जिन सामाजिक समस्याओं की ओर उन्होंने ध्यान दिया, उनमें शिक्षा एक थी। शिक्षा के क्षेत्र में एनी बेसेंट का योगदान अमूल्य है (शिक्षा खंड में दे० एनी बेसेंट)। थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षता की लंबी अवधि में, जो 1933 तक चलती रही, धर्म और समाज-सुधार के क्षेत्र में उन्होंने भारत की अमूल्य सेवाएं की हैं। वे भारत को अपनी मातृभूमि मानती थीं और उन्हें यह कहने में गर्व का अनुभव होता था कि वे अपने पूर्वजन्मों में एक हिंदू थीं।

भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। सन् 1917 में उन्होंने इंडियन नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष-पद को भी सुशोभित किया था। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'आत्मकथा', 'प्राचीन ज्ञान', 'उपनिषदों का ज्ञान' आदि मुख्य हैं।

ऐच्छिक सेवा संस्थाएं : प्राचीन काल से संकट-पीड़ित तथा दुखी लोगों की सहायता लोग स्वयं ही करते आये हैं। यह कार्यक्रम ऐच्छिक संस्थाओं ने अपने जिम्मे लिया। भारत में कुछ ऐसे संगठन एक शताब्दी से भी पुराने हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाज-कल्याण के कार्यक्रमों का भार अधिकतर ऐच्छिक संस्थाओं के कंधों पर आ पड़ा, यद्यपि सरकार द्वारा उनको आर्थिक सहायता भी दी गयी।

ऐच्छिक संस्था से अभिप्राय उन संगठनों से है, जिनकी स्थापना समुदाय के सदस्य सेवा-भावना से प्रेरित होकर

दुखी और गरीब वर्गों के कल्याण के लिए स्वेच्छा से करते हैं और जिन्हें समुदाय से एकत्रित धन द्वारा स्वयं ही चलाते हैं। समाज-कल्याण के क्षेत्र में ऐसे संगठन लगभग दस हजार हैं। इनमें 6,000 संगठन केंद्रीय समाज-कल्याण बोर्ड से आर्थिक सहायता लेते रहे हैं, जबकि 1953 में बोर्ड की स्थापना के समय केवल 3,000 के लगभग संस्थाएं समाज-कल्याण के क्षेत्र में कार्य कर रही थीं।

लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली को प्रोत्साहित करने, समाज-कल्याण-सेवाओं में मानवीय स्पर्श देने तथा इनको कार्यान्वित करने के लिए कार्य-प्रणाली में आवश्यक लचीलापन लाने की दृष्टि से ऐच्छिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज-कल्याण-कार्यों के संचालन के लिए ऐच्छिक संस्थाएं एक अनिवार्य तत्त्व होने के नाते भारत में समाज-कल्याण का बहुत बड़ा भार इनके कंधों पर है।

ऐच्छिक संस्थाओं की प्रति-संस्था औसत आय, जो कि 1953-54 में 13,402 रुपये थी, 1960-61 में 18,370 रुपये तक पहुंच गयी। दूसरे शब्दों में 1953-54 में 3,000 संस्थाओं की कुल आय चार करोड़ रुपये थी, जबकि 1960-61 में 6,000 संस्थाएं ग्यारह करोड़ रुपये के लगभग धन इकट्ठा करती थीं। ऐच्छिक संस्थाएं अपनी आय का लगभग 64 प्रतिशत भाग स्वयं एकत्र करती हैं। सरकार से केवल 34 प्रतिशत तक सहायता मिलती है। यह धन-राशि दान, सदस्यों के चंदे तथा किराया और बिक्री शुल्क के रूप में आती है। ऐच्छिक संस्थाओं का प्रबंध सदस्यों द्वारा चुने हुए अधिकारियों द्वारा किया जाता है। चुनाव और कार्यप्रणाली संस्था के विधान के अनुसार होती है। यह विधान संस्था का पंजीकरण करवाने से पहले बनाया जाता है। प्रत्येक संस्था का अपना विधान होता है। प्रबंध समिति का संगठन तथा चुनाव इत्यादि किसी संस्था के ऐच्छिक होने के सूचक हैं। संस्था द्वारा कार्यक्रम को चलाने के लिए वेतन पानेवाले पूर्णकालिक कर्मचारी नियुक्त करने तथा सरकार से आर्थिक सहायता लेने से उसके ऐच्छिक होने में कोई कमी नहीं होती।

ऐच्छिक संस्थाएं शिक्षा, स्वास्थ्य तथा समाज-कल्याण के क्षेत्रों में काम करती हैं। समाज-कल्याण के कार्य करनेवाली संस्थाएं बाल-कल्याण, महिला-कल्याण सामुदायिक कल्याण, सामाजिक प्रतिरक्षा, आदि सेवाओं का आयोजन करती हैं। इसमें बाल-कल्याण तथा महिला-कल्याण में कार्य करनेवाली संस्थाएं कुल संस्थाओं का 88 प्रतिशत हैं।

कन्या-मूल्य : कई समाजों में पुरुष को पत्नी पाने के लिए उसका मूल्य कन्या के माता-पिता को देना पड़ता है। यह मूल्य धन, पशु या वस्तुओं के रूप में हो सकता है। अफ्रीका, भारत और विश्व के कई अन्य देशों की कई जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित रही है। अफ्रीका में इस पद्धति को 'लाबोला' प्रथा कहा जाता है। केन्या, नाइजेरिया, कांगो आदि देशों में 'लाबोला' की धन-राशि आजकल बहुत बढ़ गयी है, जिसके फलस्वरूप अनेक शिक्षित व्यक्तियों तक को बहुत लंबे समय तक और कई मामलों में तो आजन्म अविवाहित रहना पड़ रहा है। अतः केन्या में आजकल शिक्षित नवयुवक पत्नियों पर मूल्य नियंत्रण करवाने के लिए एक सामाजिक आंदोलन चला रहे हैं। प्रचीन हिंदू विवाहों में पति को कन्या-मूल्य चुकाना पड़ता था। इसे आसुर विवाह कहा जाता था। गांधारी, कैकेयी, माद्री आदि प्रसिद्ध आर्य स्त्रियों के विवाह इसी पद्धति द्वारा हुए थे। ऐसे विवाहों को उस समय और आज भी भारतवर्ष में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। पद्मपुराण में यहां तक लिखा है कि ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र का मुंह भी नहीं देखना चाहिए। कन्या-मूल्य की प्रथा के प्रचलन के तीन प्रमुख कारण बतलाये जाते हैं: (1) कन्या के माता-पिता को कन्या का विवाह कर देने से जो आर्थिक हानि होती है, उसकी पूर्ति हेतु कन्या-मूल्य दिया जाता है, (2) उस स्त्री से संतान उत्पन्न करने का अधिकार पाने के लिए पति उसके माता-पिता को उसका मूल्य चुकाता है, और (3) विवाह योग्य स्त्रियों की संख्या कम होने पर विवाह योग्य पुरुषों में प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक ही है। जो भी हो, सभी सभ्य समाजों में आजकल कन्या-मूल्य लेना प्रायः निम्न स्तर का व्यवहार माना जाता है।

कम्मा जाति : प्रचलित लोककथाओं के आधार पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि कम्मा, कापु, वेलमा आदि एक ही जाति की शाखाएं हैं। स्त्रियों द्वारा कानों में पहने जानेवाले आभूषण (कर्णफूल) को तेलुगु में 'कम्मा' कहते

हैं। एक लोक-विश्वास के अनुसार राक्षसों के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए ऋषियों ने लक्ष्मी देवी के कर्णाभूषणों से भरी हुई एक डलिया की लंबे समय तक पूजा की थी, जिसमें से कालांतर में पांच सौ योद्धा उत्पन्न हुए। इन योद्धाओं ने राक्षसों का संहार किया और उसके बाद खेती-बारी के काम में लग गये। इस विश्वास के अनुसार इन्हीं योद्धाओं की संतति ही कम्मा जाति के लोग हैं। एक और प्रचलित कथा के अनुसार प्रतापरुद्र ने किसानों को आज्ञा दी थी कि वे उसके शत्रुओं द्वारा ले जाये गये उसके कान के आभूषण को वापस लेकर आयें। उन किसानों में से कुछ लोग डरकर भाग गये और कुछ लोग शत्रु का सामना करके आभूषण ले आये। भागे हुए लोग वेलमा और आभूषण लानेवाले लोग कम्मा जाति के माने जाने लगे। जिस समय कम्मा और वेलमा एक ही जाति के थे, उस समय इनकी स्त्रियां पर्दा किया करती थीं, लेकिन खेती-बारी के कामों में उससे असुविधा होने के कारण उन लोगों ने पर्दे का बहिष्कार करने का समझौता कर लिया, जिसको ताड़-पत्र पर लिख दिया गया। उस पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले कम्मा और न करनेवाले वेलमा वर्ग के माने जाने लगे।

व्याप्ति : कम्मा, आंध्र प्रदेश के गोदावरी, कृष्णा और गुंटूर जिलों में रहनेवाली अत्यंत प्रमुख और संपन्न जति है। आकृति और आचार-व्यवहार की दृष्टि से इनमें और 'कापु', 'तेलग रेड्डी' और 'वेलम' जातियों के लोगों में बहुत अधिक समानता है। तमिलनाडु के मदुरा, तिरुनलवेली जिलों में भी कम्मा जाति के लोग पाये जाते हैं। पता चलता है कि ये लोग पहले विजयनगर के राजा की सेना में रहकर उन प्रांतों में पहुंचे और नायक राजाओं के समय वहीं बस गये।

आचार-व्यवहार : कम्मा जाति में 'गंपचाटु कम्मा' तथा 'गोडचाटु कम्मा' नामक दो मुख्य शाखाएं हैं। इनके अतिरिक्त कई उपशाखाएं भी इनमें पायी जाती हैं। कम्मा जाति की कुछ शाखाओं की स्त्रियां घर के बाहर नहीं निकलतीं और पर्दे का पालन करती हैं। कम्मा लोगों में 'चिट्टिपूल', 'कुरुनुल्लु', 'कुलकल', 'उत्पल', 'चेरकु', 'वल्लोट्ला', 'येनमल्ला' आदि गोत्र हैं। इनमें सगोत्र विवाह नहीं होते। पुराने जमाने में विधवा-विवाह नहीं हुआ करते थे। पहले कुछ भी रहा हो, आजकल कम्मा जाति के लोगों में विवाह के समय बहुत अधिक दहेज लेने-देने की प्रथा है। इस जाति की एक विशिष्टता यह है कि विवाह के समय वर वीर-पूजा करता है। इस विश्वास के कारण कि विवाह के एक वर्ष तक परिवार में तीन लोगों का रहना दुर्भाग्य की निशानी है, इस जाति के लोग शादी के तीन महीनों तक वधू को अपने घर नहीं लाते। आम तौर पर इनमें मृतक को दफनाया जाता है। सोलहवें दिन 'कर्म' किया जाता है। कम्मा जाति के लोग दो वर्ष तक मृतक के लिए श्राद्ध करते हैं, उसके बाद नहीं।

कम्मा जाति के लोगों में कुछ शैव और कुछ वैष्णव हैं। ये लोग परिश्रमी और बुद्धिशाली होते हैं। खेती-बारी के द्वारा संपन्न होने के साथ-साथ आजकल इनमें से कई लोग शिक्षित होकर नौकरी-पेशे में भी सफल हो रहे हैं।

कल्लर जाति : तमिल भाषा में 'कल्लम्' का अर्थ 'चोरी' है। चोरी इस जाति का जातिगत पेशा होने के कारण इसका नाम कल्लर पड़ा है। इस बात का भी पता चलता है कि इस जाति के लोग पहले सैनिकों के रूप में युद्ध में भाग लिया करते थे और कालांतर में इस वृत्ति को खोकर चोरी-डकैती के पेशे में लग गये। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अपने प्रदेशों से गुजरनेवाले व्यापारी-बेड़ों में से किसी को भी बिना लूटे इन्होंने आगे नहीं बढ़ने दिया है। यात्रियों और तीर्थयात्रियों को ये लोग निर्दयतापूर्वक लूटा करते थे। हत्या करना भी इनके लिए मामूली बात थी। लूट-पाट को गिरी हुई वृत्ति मानने की अपेक्षा ये लोग इसे गर्व के साथ अपना जन्मसिद्ध अधिकार कहा करते थे। पुराने जमाने में चोरी के खतरे से बचने के लिए कई परिवारों में कल्लर जाति के लोग नौकर रखे जाते थे। एक लोक-विश्वास के अनुसार कल्लर लोग अहल्या की संतान हैं। कल्लर जाति के लोग देखने में काले और मझोले कद के होते हैं। इस जाति के लोग तंजाऊरु, तिरुचिरापल्लि, मदुरा जिलों और पुदुक्कोट प्रांत में अधिक पाये जाते हैं।

आचार-व्यवहार : कल्लर जाति की स्त्रियां गुस्सैल स्वभाव की होती हैं। वे बदला लेने के लिए किसी भी तरह का काम कर सकती हैं। पुराने जमाने में, जब इस जाति के लोगों में आपसी झगड़े होते थे, तब पराजित दल की स्त्रियां शत्रु पक्ष के लोगों से बदला लेने का हर संभव प्रयत्न करती थीं। किसी समय इस जाति में बहुभर्तृत्व की परंपरा थी। एक कल्लर स्त्री के दो से दस तक पति हुआ करते थे और वे

सब उस स्त्री की संतान के पिता माने जाते थे। पति से तलाक लेने के बाद स्त्री किसी भी प्रकार का काम कर सकती है। पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह की प्रथा भी इस जाति में है।

कल्लर जाति में कुछ विचित्र आचार-व्यवहार हैं। स्त्रियां और पुरुष कानों में बहुत बड़े-बड़े छेद कराकर उनमें सीसे की बड़ी-बड़ी अंगूठियां पहनते हैं, जिसके कारण उनके कान लटककर कंधों को छूने लगते हैं। इनमें एक वर्ग के लोग अपने लड़कों की 'सुन्नत' किया करते हैं। आम तौर पर इस जाति की लड़कियां स्वयं अपने वर को चुनती हैं। स्वयंवर की एक मनोरंजक प्रथा के अनुसार विवाह की इच्छा रखनेवाली लड़की कपड़े और आभूषण एक पोटली में बांधकर उस पोटली को किसी सांड के सींग में लटका देती है। जो युवक उस सांड के सींग से वह पोटली खोल लाता है, वही उसका पति होता है। इन लोगों में ममेरी बहिन (मामा की लड़की) से भी विवाह करने की अनुमति है।

कल्लर जाति के लोगों में वैष्णव और शैव संप्रदाय के लोग हैं। शैव लोग विभूति धारण करके भूतों की अराधना करते हैं। इनमें मृतक को दफनाने की प्रथा है। वैष्णव शव को जलाते हैं। कल्लरों के इष्ट-देवता का नाम अलगार स्वामी है। इनमें प्रचलित विश्वास के अनुसार ये विष्णु के अवतार और मीनाक्षी देवी के भाई हैं। अलगार स्वामी के उत्सवों में पशु-बलि नहीं दी जाती है।

कापु जाति : यह शब्द बहुत व्यापक रूप में प्रयुक्त होता है। शूद्रों में कई वर्गों के लोग कापु नाम से पुकारे जाते हैं। लेकिन कुछ प्रदेशों में रेड्डी जाति के पर्याय के रूप में भी कापु शब्द का प्रयोग होता है। आंध्र प्रदेश के किसानों में अधिकांश लोग कापु या रेड्डी के वर्ग के ही हैं। एक लोक-विश्वास के अनुसार कापु, कम्मा, वेलमा आदि वर्गों के लोग शुरू में एक ही जाति के थे। लेकिन प्रतापरुद्र देव के समय कुछ आपसी झगड़े के कारण ये लोग अलग-अलग वर्गों में बंट गये। 'कापु' शब्द पहरेदार के अर्थ में और रेड्डी शब्द राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था, लेकिन कुछ कापु वर्ग के पुरुष अपने नाम के अंत में नायुडू उपसर्ग धारण करते हैं।

यह विश्वास किया जाता है कि कापु जाति में चौदह प्रकार की उपशाखाएं हैं, जिनमें से कुछ उपशाखाओं के लोग तमिलनाडु में भी पाये जाते हैं।

आचार-व्यवहार : कापु जाति में कुछ लोग वैष्णव होते हैं, और कुछ लोग शैव। ये लोग राम, कृष्ण और शिव की आराधना करते हैं। इन लोगों में ग्राम-देवताओं के पर्व मनाने की भी प्रथा है। खेती-संबंधी कुछ उत्सव मनाने की परंपरा भी इनमें पायी जाती है। संक्रांति इन लोगों का प्रधान पर्व है। इनमें से कुछ वर्गों में विधवा-विवाह की प्रथा भी है। कुछ विशेष अवसरों पर ये लोग मांस-मछली का उपयोग नहीं करते हैं। ये लोग अपने मृतकों का दाह संस्कार करते हैं। कई बातों में कापु लोग कम्मा लोगों से मिलते-जुलते हैं।

पुराने जमाने में खेती-बारी ही कापु लोगों का प्रधान पेशा था, लेकिन आजकल ये लोग शिक्षित होकर राजनीति, नौकरी-पेशे आदि दिशाओं में आगे बढ़ रहे हैं।

काम्ते, अगस्त (1798-1857) : सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक अगस्त काम्ते का जन्म सन् 1798 में हुआ था। उन्होंने 1817 से 1823 तक सेंट साइमन के साथ कार्य किया और समाजशास्त्र में नैतिकता को काफी महत्त्व प्रदान किया। काम्ते के विचार 'कूर द फिलोसोफी पोसिटीव' तथा 'सिस्तम द पोलितीक पोसिटीव' (1851-1854) में संकलित हैं।

काम्ते का मत था कि जितनी भी सामाजिक घटनाएं होती हैं, उन सबका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य के लिए संभव है। हम किसी घटना के स्वरूप के विषय में जानकारी वैज्ञानिक आधार पर उसकी छानबीन करके प्राप्त कर सकते हैं। वैज्ञानिक आधार पर प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक तथा विश्वसनीय होता है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त ज्ञान निश्चित तथा यथार्थ होता है। इस प्रकार काम्ते का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित था। उनकी पद्धति अवलोकन, प्रयोग, तुलना तथा इतिहास पर निर्भर थी। उनका कहना था कि समाज का अध्ययन करते समय वैज्ञानिक नियमों का उपयोग करके हम समाज की दशा को सुधार सकते हैं। काम्ते का मत था कि समाजविज्ञान द्वारा समाज के स्वरूप एवं कार्यों का अध्ययन पूर्ण तथा वैज्ञानिक रीति से किया जा सकता है।

काम्ते के मतानुसार मानव का ज्ञान विकास की तीन

अवस्थाओं से गुजरा है। वे तीन अवस्थाएं हैं—ईश्वरपरक अवस्था, तात्विक अवस्था और प्रत्यक्षवादी अवस्था। काम्ते के विचार से प्रत्यक्षवादी अवस्था मानव ज्ञान और उद्विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था है। इस अवस्था में वैज्ञानिक ज्ञान को सर्वाधिक विश्वसनीय ज्ञान माना जाता है। काम्ते की प्रत्यक्षवादी विचारधारा ने विश्व भर को प्रभावित किया।

अगस्त काम्ते ही प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने समाजविज्ञान शब्द का प्रयोग किया। समाज की सामान्य दशा को उसके वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा सुधारा जा सकता है। यदि व्यक्ति को सामाजिक विकास के नियमों का ज्ञान हो, तो समाज के दोषों को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार काम्ते ने समाजविज्ञान को सब विज्ञानों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। उन्होंने समाजविज्ञान को दो भागों, सामाजिक स्थैतिकी तथा सामाजिक गतिकी, में विभक्त किया। समाज के स्वरूप तथा कार्यों का पूर्ण अध्ययन समाजविज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अंतर्गत किया जा सकता है। समाजविज्ञान का व्यावहारिक उपयोग भी किया जा सकता है।

समाजविज्ञान को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान देने का अभिप्राय यह नहीं है कि काम्ते ने अन्य विज्ञानों की उपेक्षा की हो या उनको न माना हो। उनका मत था कि समाजविज्ञान को अपने सहयोगी अन्य विज्ञानों से बहुत लाभ होता है, भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान जैसे विज्ञान समाजविज्ञानी को समाज के स्वरूप तथा कार्यों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देते हैं। सामाजिक विज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है। वास्तव में विज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं होते, बल्कि सब विज्ञानों में अंत:संबंध होता है। समाजविज्ञान एक समाकलनात्मक विज्ञान है।

सामाजिक संरचना के विषय में काम्ते का मत था कि समाज का एक स्थायी पहलू होता है। समाज में व्यवस्था तथा समस्वरता होती है। परंतु साथ ही साथ समाज में गतिशीलता भी होती है। समाज में निरंतर उद्विकास होता रहता है। समाज का यह गतिशील पहलू ही समाज में सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक प्रगति का द्योतक होता है। समाज के स्थितिक तथा गतिक पहलुओं में परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है।

काम्ते का मत था कि समाज की भौतिक प्रगति के लिए बौद्धिक तथा नैतिक प्रगति का होना आवश्यक है। बौद्धिक तथा नैतिक प्रगति के बिना भौतिक प्रगति का महत्त्व नहीं के बराबर होता है। बौद्धिक प्रगति के कारण ही लोग अंधविश्वासों तथा मिथ्या धारणाओं का त्याग करते हैं।

काम्ते ने सामाजिक विज्ञान तथा राजनीति विज्ञान में कोई अंतर नहीं किया। उनका मत था कि समाज में व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित एवं समन्वित करने का कार्य सरकार का है। समाज में अनुशासन सरकारी नियंत्रण द्वारा ही बनाये रखा जा सकता है। काम्ते ने धर्म के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किये। उनका मत था कि मानवता का धर्म समूची मानव जाति के लिए प्रेरणास्रोत होता है। समाज के लोगों को नैतिक शिक्षा प्रदान करना चर्च का काम है। समाज के सामान्य कल्याण के लिए कार्य करना पूंजीपतियों का नैतिक कर्तव्य होना चाहिए। पुजारियों को भौतिक वस्तुओं तथा राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। उन्होंने जिस व्यवहारवादी व्यवस्था का प्रतिपादन किया था, उसके संबंध में उनका मत था कि उसमें औद्योगिक दक्षता सामाजिक न्याय तथा नैतिक व्यवस्था होगी।

आज काम्ते के कुछ विचार अनियमित अथवा असंभव-से प्रतीत होते हैं। कुछ भी हो, अगस्त काम्ते का समाजविज्ञान में अत्यधिक महत्त्व है। समाजविज्ञान को भारी योगदान देने के बाद सन 1857 में इस नैतिकतावादी दार्शनिक समाजशास्त्री का स्वर्गवास हो गया।

किचन मिडन : शैलों अर्थत् कौड़ियों, शंखों, हड्डियों तथा खालों का वह ढेर, जो किसी-किसी स्थान पर विद्यमान होता है तथा जिससे यह प्रमाणित होता है कि वहां पर पहले एक ऐसा आदिम जनसमूह रहा था, जो शैल, मछलियों अथवा कौड़ियों, शंखों या ऐसे ही सामुद्रिक जीवों का मांस खाता था और उन मछलियों तथा जीवों की हड्डियों के अवशेष वहां पड़े हुए रह गये हैं। स्पष्ट है कि ऐसे ढेर प्राय: समुद्र-तटों और द्वीपों के किनारे ही पाये जाते हैं। आदिम जनसमूहों की संस्कृतियों में रुचि रखनेवाले मानवविज्ञानियों के लिए ऐसे ढेर बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं; क्योंकि

इनसे पिछले युगों के मानव समुदायों की खान-पान की आदतों का ज्ञान होता है।

कुटीर उद्योग : भारत को वैसे तो कृषिप्रधान देश कहा जाता है, किंतु हमारी अर्थव्यवस्था में कृषि के साथ-साथ कुटीर उद्योगों का भी बड़ा महत्त्व है।

'कुटीर उद्योग' या 'गृह उद्योग' ऐसे शब्द हैं कि इनके साथ-साथ 'लघु उद्योग', 'छोटे उद्योग' या 'ग्रामीण उद्योग' आदि शब्द भी इनके पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। परंतु इनमें अंतर है।

कुटीर उद्योग या गृह उद्योग साधारणत: उन उद्योगों को कहते हैं, जो घरों में व्यक्तिगत आधार पर या परिवार के सदस्यों की सहायता लेते हुए चलाये जाते हैं, जिनमें थोड़ी पूंजी या साधारण-सा थोड़ा सामान लगता है और जहां यथासंभव स्थानीय कच्चे माल से उत्पादन किया जाता है तथा उत्पादित माल की बिक्री भी स्थानीय मंडियों में हो जाती है। इस प्रकार कुटीर उद्योग के लिए कम स्थान तथा कम पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। करघे पर सूत कातकर खड्डियों पर खादी बुनना, घर में ही रेडियो, ट्रांजिस्टर आदि बनाना आदि भी कुटीर उद्योग में शामिल हैं। कुटीर उद्योग गांवों में भी चलाये जाते हैं और नगरों में भी। ग्रामों में चलनेवाले उद्योगों को 'ग्रामीण उद्योग' कहते हैं।

अतीतकाल में भारत के कुटीर उद्योग के उत्पादन का बड़ा महत्व एवं प्रसिद्धि थी। ऐसे ही उद्योगों द्वारा बनायी जानेवाली ढाके की मलमल विश्व-प्रसिद्ध थी। कुटीर उद्योग देश की अर्थव्यवस्था के लिए तो अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे ही, साथ ही साथ वे देश की सभ्यता और आर्थिक समृद्धि के अविभाज्य अंग थे। भारत अपनी कला-कारीगरी के चरम विकास पर पहुंचा हुआ था। देश के उद्योग-धंधे, जो उस समय पूर्णतया कुटीर उद्योग के रूप में थे, बहुत उन्नत और विकसित अवस्था में थे। इनमें लाखों लोग लगे रहते थे और हमारी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। परंतु अंग्रेजों ने अपने माल का प्रसार करके इनको प्रश्रय न देकर इन्हें समाप्त-सा ही कर दिया। उन्होंने विदेशों की अधिकाधिक वस्तुएं भारत में लाना आरंभ कर दिया। ये वस्तुएं मशीनों की होने के कारण अपेक्षाकृत सस्ती मिलती थीं। अत: उनके साथ प्रतियोगिता में टिक न सकने के कारण भारतीय कुटीर उद्योग नष्ट हो गया। परंतु कुटीर उद्योगों ने पुन: संघर्ष करके अपना अस्तित्व बनाये रखा।

आज भी देश की अर्थव्यवस्था में कुटीर उद्योगों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गांधी ने इनका अधिकाधिक समर्थन किया था और महत्त्व बताया था। इन उद्योगों से बहुत लोगों को रोजगार मिलता है। इनमें काम करनेवाले लोगों की संख्या बड़े उद्योगों में लगे लोगों की संख्या से लगभग चार गुना अधिक है। एक अनुमान के अनुसार 1956 में देश के विभिन्न उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या लगभग 162 लाख थी, जिनमें से लगभग 130 लाख (81 प्रतिशत) लोग कुटीर तथा लघु उद्योगों में लगे हुए थे। केंद्रीय सांख्यिकीय संस्था द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार 1959-60 में उद्योगों में रोजगार में लगे हुए लोगों की कुल संख्या 188 लाख थी, जिनमें से 143 लाख काम करनेवाले व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों में लगे हुए थे।

अनुमान है कि इस समय इन उद्योगों में लगे लोगों की संख्या 200 लाख से ऊपर होगी। इस प्रकार कुटीर तथा लघु उद्योगों का स्थान आज भी काफी महत्त्वपूर्ण है। भारत की वर्तमान अर्थव्यवस्था में कुटीर उद्योग बेकारी को दूर करने का सर्वोत्तम साधन है।

कुदृष्टि : विश्व के कई समुदायों में प्राय: यह अंधविश्वास देखने में आता है कि व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की बुरी दृष्टि से अपने शरीर, बच्चों, वस्त्रों, भोजन व अन्य वस्तुओं को बचाने का प्रयास करता है। यह विश्वास किया जाता है कि राक्षस या बुरी आत्माएं मनुष्यों के चारों ओर के वातावरण में फैली होती हैं। वे जब कभी मनुष्यों को अत्यंत प्रसन्न, भाग्यवान अथवा सुख-सुविधा से परिपूर्ण पाती हैं, तो वे उनसे ईर्ष्या करने लगती हैं और इसके फलस्वरूप उनको हानि पहुंचाने का प्रयास करती हैं। वे अन्य व्यक्तियों के शरीर में प्रवेश कर उनकी दृष्टि के माध्यम से भाग्यशाली या सुखी व्यक्तियों को हानि पहुंचाती हैं। अत: प्राय: सभी समुदायों में ऐसे कई उपाय किये जाते हैं, जिनसे कुदृष्टि से बचा जा सके। कई समुदायों में अपशब्दों, गालियों, घृणासूचक शब्दों, बुराई बतलानेवाले कथनों आदि का उच्चारण करके कुदृष्टि से बच्चों को

बचाने का प्रयास किया जाता है। कई समुदायों में बचपन में बच्चों के बड़े भद्दे नाम इसीलिए रखे जाते हैं। सुंदर बच्चों व स्त्रियों के गालों और माथे पर काजल का काला टीका लगाने की प्रथा भारत में इसी कारण से प्रचलित रही है। स्त्रियों को पर्दे में रखने का कारण भी संभवतः यही रहा हो। शरीर के कुछ अंगों को ढंकने के लिए विशेष प्रकार के वस्त्रों और आवरणों का प्रयोग कई समुदायों में किया जाता रहा है। मेलेनीशिया के कुछ भागों में पुरुषों व लड़कों के गुप्तांगों को कुदृष्टि से बचाने के लिए उनके साथ ही साथ चमड़े के फीते, पत्ते, कौड़ी आदि लटकाने का रिवाज रहा है। विवाह, संतान-जन्म आदि के अवसरों पर घनिष्ठ संबंधियों, वर, वधू, नवजात शिशु आदि को संबोधित करके भद्दे गीत गाने की प्रथा के पीछे भी यही माना जाता है कि यदि ऐसा न किया गया, तो अन्य व्यक्तियों तथा दानवों की कुदृष्टि पड़ सकती है।

भारत और अफ्रीका के जनजातीय व ग्रामीण समुदायों में शेर के नख या दांत, लोहे के टुकड़ों, छड़, बेंत, कील या छल्ले आदि के प्रयोग द्वारा लोग कुदृष्टि से बचने का प्रयास करते हैं। वर के हाथ के कंगन में लोहे का छल्ला और शिशु के पालने में शेर या रीछ का दांत व नख, लोहे का टुकड़ा, चाकू या छल्ला बांधना और वर के हाथ में लोहे की एक कटार या बेंत रखना इसीलिए उचित माना जाता रहा है। कई समुदायों में अकेले में ही बैठकर या छिपकर अपना भोजन करने की प्रथा होती है। कैरोलीना द्वीप में नाव एक बंद स्थान पर ही बनाने का और मध्य अफ्रीका में कटंगा क्षेत्र में तांबे को गलाने की क्रिया अकेले में ही करने का रिवाज है। फसल से भरे खेतों के आगे फूटी हुई मटकी को, जिस पर भद्दी शक्ल बनायी जाती है, लटकाने का रिवाज भारत के ग्रामों और नगरों में प्रायः सर्वत्र देखने में आता है। वधू के पीछे जूता लटकाने, नये घर या नयी गाड़ी के पीछे या आगे जूता लटकाने का भी संभवतः यही कारण हो।

कुल या गोत्र : एक ही रक्त के ऐसे संबंधियों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी परंपरा को कुल या गोत्र कहा जाता है, जो एक दूसरे की संतानों के रूप में परस्पर संबंधित हों। उस वंश-परंपरा में विवाहित होकर आनेवाली स्त्रियां भी उस कुल में सम्मिलित मान ली जाती हैं। प्रायः एक कुल के संबंधियों में परस्पर यौन संपर्क वर्जित होता है; क्योंकि ये एक ही रक्त के व्यक्ति होते हैं। मुसलमानों में प्रायः इस प्रकार का विचार नहीं माना जाता है और चाचा की लड़की से भी विवाह हो सकता है। हिंदुओं में कुलों को प्रायः गोत्र कहकर पुकारा जाता है। वैदिक साहित्य के अनुसार गोत्र शब्द ऋषियों के आश्रम से संबद्ध गायों को पालने के बाड़ों से संबंधित रहा है। जिन व्यक्तियों के पूर्वज जिन ऋषियों की गायों के बाड़े की देखभाल करते थे, वे उन्हीं ऋषियों के नामों को गोत्र के रूप में अपनाते थे। एक ऋषि के शिष्य सहपाठी और एक ही गुरु के अनुयायी होने के कारण परस्पर बंधुत्व अनुभव करते थे और फलस्वरूप उनमें गुरुभाई की भावना उत्पन्न हो जाती थी। इसलिए वे परस्पर विवाह-संपर्क स्थापित करना अनुचित मानते थे।

तभी से हिंदू गोत्रों में अंतर्विवाही प्रथा का अभाव रहा है। गोत्रों के नाम उपहासपूर्ण नामों, भूभागों के नामों के आधार पर भी होते हैं। हिंदू समाज में गोत्रों की संख्या करोड़ों तक पहुंची हुई बतलायी जाती है। हिंदू विवाह करते समय प्रायः चार गोत्रों को पिता, माता, दादी तथा नानी के गोत्र को छोड़ते हैं। आजकल नानी के गोत्र की कम चिंता की जाने लगी है, परंतु माता-पिता व दादी के गोत्रों को तो अवश्य ही छोड़ा जाता है। बहुत-से पढ़े-लिखे व पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हिंदू भी इन गोत्रों को तो मानते ही हैं। एक ही गोत्र के सदस्यों में परस्पर एकता, भाईचारा तथा सहयोग की भावना होती है। अधिकतर हिंदू, सिख, जैन व ईसाई अपने पिता के गोत्रों को अपने उपनामों के रूप में लिखते हैं।

कुवाड़ या सहकष्टी प्रथा : विश्व की कई जनजातियों में कुवाड़ या सहकष्टी प्रथा अब तक प्रचलित रही है। इसके अनुसार एक विवाहित स्त्री प्रसव के समय जिस प्रकार का व्यवहार करती है, उसके पति को भी वैसा ही व्यवहार करना पड़ता है। पति को अपने घर में ही रहना होता है। वह अपने काम-काज पर नहीं जा सकता, उसे पत्नी की भांति बीमार की तरह लेटे रहना होता है और स्त्री की भांति चिल्लाना-पुकारना पड़ता है। वह प्रायः वही भोजन करता है जो प्रसव की अवस्था में उसकी पत्नी को दिया जाता है। भारत की खासी और तोड़ा जनजातियों और दक्षिणी भारत के कुछ समुदायों में यह प्रथा देखने

में आती है। खामी व तोड़ा जनजातियों में पति अपनी पत्नी की प्रसवावस्था में खाने, पीने, नहाने, सोने आदि सभी कार्यों में पत्नी का-सा ही व्यवहार करता है। दक्षिण भारत की कुछ जनजातियों में पति पत्नी के ही वस्त्र पहनकर व शरीर पर योनि का चित्र रंगकर किसी अंधेरे कक्ष में बिस्तर पर जाकर लेटा रहता है। उसे नशा करवा दिया जाता है। कुछ विदेशी जनजातियों में कुवाड़ प्रथा के कुछ भिन्न रूप देखने में आते हैं, जैसे एक कैरिब पिता उस समय तक समुद्री गाय का मांस नहीं खाता, जब तक कि उसकी पत्नी संतान को जन्म नहीं देती। बाटूवेला द्वीप में संतान उत्पन्न होने के समय स्त्री के नीचे उसके पति की पोशाक रख दी जाती है। पुराने जमाने में चीन में कुछ समुदायों में पिता का पाजामा प्रसूति-गृह में टांग दिया जाता था। प्रायः यह माना जाता है कि पत्नी के प्रति संवेदना या सहानुभूति प्रकट करने के लिए पति ऐसा व्यवहार करता है। कुछ मानवविज्ञानियों का विचार है कि इस प्रथा के द्वारा पति अपनी पत्नी और भावी संतान के प्रति अपने प्रेम तथा उत्तरदायित्व की भावना को प्रकट करता है। कुछ का विचार है कि इसके द्वारा समुदाय में यह भली भांति पता चल जाता है कि कौन व्यक्ति होनेवाली संतान का पिता है। यह भी हो सकता है कि दुष्ट आत्माओं व जादू के कुप्रभाव से संतान और प्रसूति को बचाने के लिए पति की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती हो।

कू क्लक्स क्लान : अमरीका की एक महत्त्वपूर्ण गुप्त संस्था। अमरीका में गृहयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् भ्रष्टाचार आदि सामाजिक बुराइयों को रोकने के उद्देश्य से दक्षिण में इसकी स्थापना की गयी। 1865-1866 की सभाओं के पश्चात्, बाकायदा इसकी केंद्रीय समिति का गठन किया गया और सुनियोजित पद्धति से इसकी गति-विधियां शुरू हुईं। इसकी स्थापना के पीछे जो भी मूल उद्देश्य रहा हो, इस संस्था का उपयोग नीग्रो वर्ग को आतंक-पूर्ण साधनापद्धति से भयभीत करने के लिए किया जाता रहा। कुछ समय तक टेनेसी प्रांत में इस संस्था का काफी दबदबा भी रहा, लेकिन 1870 तक पहुंचते-पहुंचते इस संस्था की शक्ति क्षीण हो गयी।

1916 में, विलियम जे० सिम्मन्स के नेतृत्व में कू क्लक्स क्लान एक बार फिर सक्रिय हो गयी। विलियम स्वप्नजीवी तथा अच्छा वक्ता था। अपनी इस प्रतिभा के बल पर उसने अपने इर्द-गिर्द काफी योग्य व्यक्ति इकट्ठे कर लिये। उसके नेतृत्व के समय में संस्था की सदस्य-संख्या हजारों तक पहुंच गयी। लेकिन इस संस्था की पद्धति की तमाम अमरीका में कड़ी आलोचना की जाने लगी। विलियम शुद्ध अमरीकीवाद का समर्थक था। शीघ्र ही उसके रोमन कैथोलिक विरोधी और यहूदी विरोधी विचार स्थानीय राजनीतिज्ञों और छोटे व्यापारियों में लोकप्रिय हो गये। वे विलियम के अमरीका, विशेषतया दक्षिण में श्वेत प्रभुत्व का पूरी तरह समर्थन करने लगे। 1924 तक पहुंचते-पहुंचते विलियम का प्रभाव क्षीण हो गया, और संस्था एक बार फिर निष्क्रिय हो गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर 1945 में, कू क्लक्स क्लान तीसरी बार सक्रिय हुई। इस बार नेतृत्व ग्रेंड ड्रैगन डा० सैमुअल ग्रीन के हाथ में था। लेकिन एक साल बाद ही अलाबामा के गवर्नर ने इस संस्था का दमन कर दिया। 1950-60 के दौरान क्लान एक बार फिर सक्रिय हुई। इस बार इस संस्था का उद्देश्य शैक्षणिक संस्थानों में जातीय भेदभाव को खत्म करने के प्रयत्नों का विरोध करना था, लेकिन 1958 में रेड इंडियनों द्वारा इसकी सभा का भंग कर दिये जाने पर इस संस्था का प्रभाव बहुत क्षीण हो गया। इसी वर्ष कू क्लक्स क्लान ने ग्रैंड विजार्ड जे० डब्ल्यू० कोले पर मुकदमा चला, जिससे इस संस्था की प्रतिष्ठा को और भी अधिक हानि पहुंची। 1959 में यह संस्था टूटकर छोटे-छोटे दलों में बंट गयी।

कूली, चार्ल्स हार्टन (1864-1929): अमरीकी समाजिक दर्शनशास्त्री। वे थामस एम० कूली के पुत्र थे, जो मिशिगन विश्वविद्यालय में विधि के आचार्य थे। चार्ल्स हार्टन कूली भी इसी विश्वविद्यालय में समाजविज्ञान के प्राध्यापक रहे।

कूली के सामाजिक सिद्धांत अत्यंत सरल हैं। उनके मतानुसार जीवन अपने में पूर्ण है। उसको समझने के लिए पूर्ण रूप से अध्ययन करना चाहिए। आंशिक अध्ययन से जीवन की समग्रता नजर नहीं आती। सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से ही जीवन की अर्थवत्ता समझ में आ सकती है। सामाजिक व्यवस्था के विचार और उपयोगिता

अन्योन्याश्रित हैं। कुछ सूत्रवाक्यों में इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। समाज व्यक्तियों का एक समूह नहीं है और न व्यक्ति समाज का एक पृथक् अंग। समाज और व्यक्ति अविभाज्य और पूरक हैं और ये संस्थात्मक परिवर्तन की अविरत प्रक्रिया में एक-दूसरे का निर्माण करते रहते हैं।

कूली और बाल्डविन ने व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा सामाजिक वातावरण के बीच के संबंध पर जोर दिया था। समाजीकरण के एक अभिकरण के रूप में छोटे समूहों के महत्त्व पर उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला। उनके मतानुसार व्यक्ति पर छोटे-छोटे समूहों का जो प्रभाव पड़ता है, वह एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'मानवीय प्रकृति तथा सामाजिक व्यवस्था' और 'सामाजिक संगठन' उनके द्वारा रचित ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं।

केंद्रीय समाज कल्याणबोर्ड : राज्य के बजट में से स्वैच्छिक संस्थाओं के माध्यम से समाज कल्याण सेवाएं प्रदान करने के लिए 1953 में भारत सरकार ने एक स्वायत्तशासी गैरसरकारी निकाय के रूप में केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की। इसके लिए धन और साधन सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये। इस प्रकार के संगठन की स्थापना का उद्देश्य यह था कि समाज कल्याण कार्यक्रमों को मानवीय स्पर्श प्रदान किया जाये और उनमें लचीलापन लाया जाये। 31 मार्च, 1969 तक यह बोर्ड भारत सरकार के एक विभाग के रूप में कार्य करता रहा। 1 अप्रैल, 1969 में बोर्ड को भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत एक कंपनी के रूप में पंजीकृत करा दिया गया। बोर्ड का मुख्य कार्य स्वैच्छिक संस्थाओं को सहायता देना, नयी स्वैच्छिक संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन देना, सर्वेक्षण और मूल्यांकन करवाना तथा समाज कल्याण के क्षेत्र की जानकारी तथा आर्थिक सहायता में समन्वय स्थापित करना था।

बोर्ड के वर्तमान गठन के अनुसार इसके सदस्य विभिन्न राज्यों तथा केंद्रशासित प्रदेशों के स्वैच्छिक कार्यकर्ता, समाज कल्याण के विशेषज्ञ, संसदीय सदस्य तथा सामाजिक सेवाओं से संबद्ध भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के प्रतिनिधि होते हैं। बोर्ड के समस्त अधिकार उसकी कार्यकारिणी को प्राप्त हैं, जिसके 11 सदस्य होते हैं।

बोर्ड राज्य स्तर पर अपना कार्य राज्य के समाज कल्याण सलाहकार बोर्डों के माध्यम से चलाता है, जिनका गठन राज्य सरकारें करती हैं। राज्यों के बोर्डों का गठन भी केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की तरह ही किया जाता है।

राज्य-बोर्ड सहायक अनुदानों के वितरण, नयी सामाजिक संस्थाओं की स्थापना, समाज कल्याण कार्यक्रमों के मूल्यांकन और उनमें समन्वय स्थापित करने के कार्य में केंद्रीय बोर्ड की सहायता करते हैं। विकास खंडों के स्तर पर बोर्ड ने कुछ नियुक्तियां कर रखी हैं, जिनके सदस्य स्वैच्छिक कार्यकर्ता, क्षेत्रीय पंचायत समितियों के प्रतिनिधि और प्रखंड स्तर के विभिन्न अधिकारी होते हैं। ये कार्यकारिणी समितियां प्रखंड स्तर पर परिवार और बाल-कल्याण कार्यक्रम का संचालन करती हैं।

अब तक बोर्ड को समस्त वित्तीय साधन, मार्गदर्शन और सहयोग भारत सरकार के विभिन्न विभागों की ओर से मिलता रहा है। जब से यह बोर्ड कंपनी के रूप में पंजीकृत कराया गया है, तब से वह अपना प्रारंभिक स्वरूप कायम नहीं रख पा रहा है। योजना-निर्माता, प्रशासक और सामाजिक कार्यकर्ता आज भी इस विषय में एकमत नहीं हैं कि केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड एक कंपनी के रूप में कार्य करे या उसी ढांचे पर केंद्रीय समाज कल्याण विभाग में इसका विलय कर दिया जाये, जैसे तमिलनाडु राज्य में कर दिया गया है। बोर्ड को कंपनी के रूप में पंजीकृत कराने का कार्य बोर्ड को कानूनी स्तर प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया था। अत: इस समय इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड के पिछले कार्य और विभिन्न सरकारी विभागों के योगदान को दृष्टि में रखते हुए उसे इसी रूप में रहने दिया जाये या इसमें कुछ परिवर्तन किया जाये।

कोमटि जाति : चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत जो वैश्य हैं, वे ही आंध्र प्रदेश में कोमटि के नाम से जाने जाते हैं। इन लोगों का मुख्य पेशा व्यापार है और ये लोग भारत भर में पाये जाते हैं। इस बात के संकेत मिलते हैं कि 'कोमटि' शब्द संस्कृत के 'गोमति' शब्द का अपभ्रंश है। कोमटि शब्द और जाति का परिचय 'कन्यका पुराण' में मिलता है। यह पुराण इनका पवित्र ग्रंथ है।

भौतिक वर्णन : कोमटि जाति में 'गरव' कोमटि तथा 'कलिंग' कोमटि नामक दो शाखाएं पायी जाती हैं। इनमें प्रचलित विश्वास के अनुसार पुराने जमाने में अपनी जाति की देवी कन्यका परमेश्वरी के साथ आग के अलाव में कूदकर अपने कुल की मर्यादा और सामाजिक गौरव की रक्षा करनेवाले 102 वंशों की संतति 'गौरा' या 'गरव' नाम से पुकारी जाती हैं। विशाखापट्टनम जिले के विजयनगर के उत्तरी भाग में उड़ीसा तक व्याप्त प्रदेश में कोमटि जाति के जो लोग रहते हैं, वे कलिंग कोमटि के नाम से जाने जाते हैं। इन लोगों का भी विश्वास है कि किसी समय वे भी गरव कोमटि की शाखा के अंतर्गत ही थे, किंतु कालांतर में कुछ सामाजिक और राजनैतिक कारणों से उन्हें अपना स्थान बदलना पड़ा, जिसके कारण उनका नाम भी परिवर्तित हो गया। इन दोनों शाखाओं को आपस में अलग करनेवाला तथ्य है, कलिंग कोमटि के लोगों का मांस-भक्षण। गरव कोमटि जाति में भी उनके निवास स्थान, वृत्ति आदि के आधार पर कुछ और उपशाखाएं पायी जाती हैं।

दक्षिण भारत में कोमटि जाति के लोग यद्यपि अपनी प्रांतीय भाषाओं का ही उपयोग करते हैं, फिर भी व्यापार-संबंधी बातों के आदान-प्रदान के लिए उनके पास एक रहस्यपूर्ण भाषा है। यह भाषा कमोबेश देश भर के सभी कोमटि जाति के लोगों में प्रचलित है।

आचार-व्यवहार : कोमटि जाति में शर्तिया तौर पर ममेरी बहिन से शादी करने की प्रथा है। इस प्रथा के प्रचलन के पीछे एक मजेदार कहानी है। पहले पेनुगोंडा नामक स्थान के कुसुमसेट्टी नाम के कोमटि के पार्वतीवासभांबा नाम की एक कन्या हुई। राजमहेंद्रपुर के राजा विष्णुवर्द्धन ने उसके साथ विवाह करना चाहा। चूंकि इन लोगों में फुफेरे भाई को लड़की देने की प्रथा थी, इसलिए राजा के प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया, लेकिन जबर्दस्ती उस लड़की से विवाह करने की इच्छा से राजा ने उस प्रदेश पर हमला कर दिया। अपने संप्रदाय और कुल की मर्यादा की रक्षा करने की दृष्टि से कन्यका नाम से पहचाने जाने वाली उस लड़की ने, उसके माता-पिता ने, और रिश्तेदारों ने—यानी कुल मिलाकर एक सौ दो वंशों के लोगों ने अलाव में कूदकर आत्महत्या कर ली। अलाव में कूदने से पहले उस कन्या ने अपनी जाति के सब लोगों के लिए इस बात की शर्त लगा दी कि किसी भी परिस्थिति में ममेरे, फुफेरे भाई-बहिन के बीच होनेवाले विवाह को अस्वीकार नहीं करना चाहिए। कहा जाता है कि तब से यह प्रथा प्रचलित है। कोमटि जाति के लोगों में उपनयन, यज्ञोपवीत, गायत्री-जाप, आदि की प्रथा है। इनके विवाहादि शुभ कार्य ब्राह्मण द्वारा ही संपन्न होते हैं। कलिंग कोमटि की शाखा के लोगों को छोड़कर शेष सभी लोग शाकाहारी होते हैं। इनमें मृतक को जलाने की प्रथा है। विधवा-विवाह इनमें वर्जित है और केश-मुंडन इन लोगों में आवश्यक नहीं माना जाता। ये लोग आभूषण पहन सकते हैं।

कोमटि जाति के लोगों की 'सेट्टी', 'चेट्टी', 'अय्या' नामक उपाधियां हैं। 'श्रेष्ठी' नामक संस्कृत शब्द का प्रचलित रूप ही 'सेट्टी' या 'चेट्टी' है।

क्षत्रिय : क्षत्र शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ वीर्य अथवा परित्राण-शक्ति था, किंतु बाद में यह शब्द समाज के उस वर्ग को अभिहित करने लगा, जो शस्त्रास्त्रों द्वारा अन्य वर्गों का परिरक्षण करता था। वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में क्षत्रिय शब्द राजवर्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रामायण और महाभारत में सामंत वर्ग और अनेक युद्धरत जन क्षत्रिय शब्द से अभिहित होते हैं। मनुस्मृति में ब्राह्मण को समाज का ज्ञान प्रदान करनेवाला मुख, क्षत्रिय को समाज का परिरक्षण करनेवाली भुजाएं, वैश्य को समाज का पोषण करनेवाला उदर और शूद्र को समाज की सेवा करनेवाले पैर कहा गया है। इस सांग रूपक के अनुसार क्षत्रिय का कर्म समाज को ब्राह्मण द्वारा बताये नियमों के अनुसार व्यवस्थित करना तथा शत्रुओं से उसका परिरक्षण करना है। मूल क्षत्रिय जातियां सूर्य या चंद्र वंशीय ही रही हैं। वर्तमान क्षत्रिय, खत्री, राजपूत, जाट आदि क्षत्रिय जातियां अपना संबंध इन्हीं दो कुलों से जोड़ती हैं। अन्य स्मृतियों में कुछ युद्धपरक जनजातियां व्रात्य क्षत्रिय वर्ग के अंतर्गत अनुसूचित की गयी हैं।

क्षेत्रीय परामर्श सेवा : समाज कल्याण में संलग्न संस्थाएं आर्थिक सहायता का सदुपयोग तभी कर सकती हैं, जब उनका तकनीकी मार्ग-दर्शन भी किया जाये। ऐच्छिक संस्थाओं को अपने कार्यक्रम तथा कार्य-पद्धति की समुचित जानकारी देने की दृष्टि से तकनीकी परामर्श

का अभाव रहा है। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने लाखों रुपयों की धन-राशि सहायतार्थ हजारों ऐच्छिक संस्थाओं को दी, किंतु कोई ऐसा ठोस कदम नहीं उठाया, जिसके द्वारा इन संस्थाओं को तकनीकी दृष्टि से मार्गदर्शन प्राप्त हो। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने देश में ऐच्छिक संस्थाओं का निरीक्षण करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की, ताकि वे इनके कामों की जांच पड़ताल करें। ये अधिकारिगण इन संस्थाओं के कार्यक्रम को सुधारने और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए परामर्श भी देते हैं, किंतु इन अधिकारियों के तकनीकी ज्ञान के अभाव के कारण यह काम अच्छी तरह नहीं हो सका है। और भी ऐसे कारण हैं, जो क्षेत्रीय परामर्श सेवा की सफलता में बाधक हुए हैं। इनमें मोटे तौर पर सामाजिक सेवा के न्यूनतम मानक का निश्चित न करना, संस्थाओं में सुशिक्षित कर्मचारी वर्ग का अभाव, और केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा अनुदानों की शर्तों को कड़ा करना आदि हैं। इसके अतिरिक्त समाज कल्याण संस्थाओं के संचालन को विनियमित करने का दायित्व भी सरकार पर है। इसके लिए ऐसे विधि निर्माण की आवश्यकता है, जो संस्थाओं के कार्यक्रमों को निश्चित स्तर पर ला सके। संस्थाओं के पंजीकरण संबंधी कानून और लाइसेंसिंग अधिनियम में संशोधन करना भी आवश्यक है। धनराशि का संग्रह और उसके उपयोग, बच्चों, महिलाओं तथा वृद्धों के लिए सदन, तथा संस्थाओं को चलाने से संबंधित नये कानून भी बनाने की आवश्यकता है।

क्षेत्रीय परामर्श सेवा के अंतर्गत पंजीकरण पद्धति का ज्ञान, साज-समान का जुटाना, कर्मचारियों की नियुक्ति और उनका प्रशिक्षण, प्रबंध-समितियों को क्रियाशील बनाना, सेवा कार्य में निश्चित तरीका लाना, बजट तथा हिसाब-किताब को ठीक रखना, सार्वजनिक संपर्क को बढ़ाना और धन इकट्ठा करने के नये तरीके ढूंढ़ना आदि विषय आते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सफल परामर्श सेवा की स्थापना के लिए ऐसे योग्य, सुशिक्षित और अनुभवी अधिकारियों की आवश्यकता है, जो समाज-कार्य में रुचि रखते हों और अपनी सूझबूझ से ऐच्छिक संस्थाओं को प्रभावित कर सकें और उनका नेतृत्व कर सकें। इसके साथ कार्यक्रम में सुधार लाने की दृष्टि से संस्थाओं का भी कुछ दायित्व है, जैसे, सुशिक्षित कर्मचारी रखना, उनको अच्छा वेतन देना, धन-राशि को जुटाना, अपनी प्रबंध-समितियों का सुधार करना इत्यादि। इन सब के होते हुए भी यदि संस्थाओं को अपेक्षित अनुदान सुलभ शर्तों पर न मिले, तो हो सकता है कि क्षेत्रीय परामर्श सेवा सफल न हो सके।

गर्भनिरोध : नर-नारी के लैंगिक मिलन के बावजूद गर्भधारण न होने देना। गर्भनिरोध के दो पहलू हैं : अनचाही संतान को जन्म न लेने देना और जनसंख्या-नियंत्रण। इनमें प्रथम दृष्टिकोण समाज के शिक्षित वर्ग का है, जो स्वेच्छा से गर्भनिरोध करना चाहता है। यह शिक्षित वर्ग यौनसुख का उपभोग करना चाहता है, लेकिन संतान उत्पन्न करना नहीं चाहता। इसलिए वह गर्भनिरोध के लिए कृत्रिम साधनों, जैसे, लूप, निरोध, जैली, पिल, क्रीम आदि का अधिकाधिक उपयोग करता है। परिणामस्वरूप विकसित देशों में, जहां की जनसंख्या का अधिकांश भाग शिक्षित है, जनसंख्या की कमी का संकट उत्पन्न हो जाता है। वहां की सरकारें तो अपने देश की जनसंख्या बढ़ाना चाहती हैं, लेकिन वहां का शिक्षित वर्ग पारिवारिक उत्तरदायित्व को सीमित ही रखना चाहता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ उन्नत देशों की जनसंख्या में कमी होती जा रही है। वहां की सरकारें इस कमी से काफी चिंतित हैं और लोगों को भौतिक सुविधाओं का लालच देकर उन्हें गर्भनिरोधक उपायों का इस्तेमाल करने से विमुख और संतानोत्पत्ति के लिए प्रोत्साहित कर रही हैं। इन देशों में फ्रांस, सोवियत रूस और अमरीका आदि प्रमुख हैं।

गर्भनिरोध का दूसरा पहलू है जनसंख्या-नियंत्रण। भारत जैसे विकासशील देश में, जहां भूमि सीमित है और जनसंख्या तेजी से बढ़ती जा रही है, गर्भनिरोध के साधनों का प्रयोग जनसंख्या-नियंत्रण में काफी सहायता कर सकता है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि के दो मुख्य कारण हैं : गरीबी और अशिक्षा। गरीब जनता के मनोरंजन का एकमात्र साधन यौनसुख होता है, जिसका परिणाम होता है, संतानें। संतान न चाहते हुए भी वहन करनी ही पड़ती है; क्योंकि अशिक्षा और अज्ञान के कारण उनमें संतानोत्पत्ति को रोक सकने की सामर्थ्य नहीं होती। वे उन तमाम कृत्रिम साधनों से अपरिचित रहते हैं, जो अनचाही संतानों को पैदा होने से रोक सकें। अगर उन्हें

उन साधनों से परिचित कराने का प्रयत्न भी किया जाता है, तो अपने रूढ़िगत अंधविश्वासों के कारण वे स्वयं ही परिचित होने से इनकार कर देते हैं। इस स्थिति में जन-संख्या-वृद्धि से चिंतित सरकार का दायित्व दोहरा हो जाता है : उन्हें शिक्षित करना और सीमित परिवार के लाभ समझाते हुए परिवार-नियोजन के गर्भनिरोध साधनों से परिचित कराना। भारत सरकार इस दिशा में कठिन परिश्रम कर रही है और शहर की शिक्षित जनता तथा अंशत: ग्रामीण जनता पर काफी प्रभाव पड़ा है, लेकिन समस्या की विकरालता को देखते हुए यह प्रभाव नगण्य ही कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि गर्भनिरोध का सीधा संबंध जनता के शिक्षित होने से है और भारत की 70 प्रतिशत जनता अभी तक अशिक्षित ही है और शेष 30 प्रतिशत भी पूरी तरह से अपने पुराने संस्कारों और रूढ़ियों को छोड़ नहीं पा रही है। इसका एक कुपरिणाम यह हो रहा है कि जो परिवार स्वस्थ बच्चों को पैदा करने में, उनका समुचित पालन-पोषण करने में, और उन्हें सही ढंग से पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाने में समर्थ हैं, वे बच्चे कम पैदा कर रहे हैं और दूसरी ओर अस्वस्थ, शारीरिक और मानसिक क्षमताओं से हीन बच्चों की संख्या बढ़ती जा रही है। आगे चलकर इसके परिणाम बड़े भयंकर हो सकते हैं।

एक दिलचस्प तथ्य यह है कि गर्भनिरोध के सिलसिले में पारंपरिक नैतिक पक्ष भौतिक आवश्यकताओं से बुरी तरह पराजित हुआ है। हम स्पष्ट देखते हैं कि विकसित तथा विकासशील दोनों तरह के देशों में ऐच्छिक तथा अनैच्छिक तौर पर (सरकारी स्तर पर) गर्भनिरोध के उपाय तीव्रता से लागू किये जा रहे हैं।

गर्भपात (गर्भस्राव) : गर्भावस्था में प्रसव की निश्चित अवधि से पूर्व गर्भ या भ्रूण के गर्भाशय से बाहर आ जाने को गर्भपात या गर्भस्राव कहते हैं। गर्भस्राव का कारण प्राय: गर्भधारण संबंधी कोई विकार होता है। गर्भ-नाल का विकार या विकास में त्रुटि अनेक स्रावों का कारण होती है। ऐसे रोगियों में गर्भस्राव का कोई विशेष कारण निश्चित नहीं किया जा सकता। रोगों, हारमोनों की कमी, पोषण की अति न्यूनता अथवा माता की रचनात्मक त्रुटियां गर्भवृद्धि के अवरोध का विशेष कारण होती हैं और उससे गर्भस्राव हो सकता है।

प्राकृतिक कारणों के अतिरिक्त कभी-कभी सामाजिक कारणों से भी गर्भपात कराया जाता है, जैसे, कुमारी या विधवा के गर्भ ठहर जाने की स्थिति में। इस स्थिति में गर्भस्राव कराया जाना अधिकांश देशों में किसी न किसी रूप में अवैधानिक और दंडनीय माना जाता है। इस कारण, प्रत्येक देश में बहुत बड़े पैमाने पर गैरकानूनी गर्भपात करवाने का व्यापार चलता है। इनके शल्य-उप-करण या अन्य विधियां अवैज्ञानिक होने के कारण इससे मृत्युएं बहुत अधिक होती हैं। इस अवैधानिक तथा अनैतिक व्यापार को रोकने के लिए संबंधित देशों ने बहुत कानून बनाये, लेकिन कोई विशेष अंतर न पड़ने पर अब गर्भपात संबंधी कानूनों को लोचदार बनाया जा रहा है। अनेक देशों में गर्भपात कानूनी करार दे दिया गया है और किसी भी मान्यता-प्राप्त डाक्टर से उपचार करवाया जा सकता है। हाल ही में, भारत में भी गर्भपात संबंधी कानून को और अधिक उदार बना दिया गया है। किसी भी तरह की आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियां मान्यताप्राप्त डाक्टर के परा-मर्श पर गर्भपात करवा सकती हैं। अन्य कारणों के साथ-साथ भारत में इसका एक और कारण जनसंख्या नियंत्रण भी है।

गिडिंग्स, फ्रेंकलिन हेनरी (1855-1931) : फ्रेंकलिन हेनरी गिडिंग्स अमरीकी समाजशास्त्री थे। उन्होंने समाज-विज्ञान को मनोविज्ञान से संबद्ध किया और परि-माणात्मकता की आवश्यकता पर बल दिया। उनकी मुख्य कृतियां निम्नलिखित हैं :

(1) प्रिंसिपल्स आफ सोशलोजी (समाजविज्ञान के सिद्धांत),

(2) स्टडीज़ इन दी थ्योरी आफ ह्यूमन सोसाइटी (मानव समाज के सिद्धांतों का अध्ययन),

(3) डेमोक्रेसी एंड एम्पायर (लोकतंत्र और साम्राज्य), तथा

(4) दि साइंटिफिक स्टडी आफ ह्यूमन सोसाइटी (मानव समाज का वैज्ञानिक अध्ययन)।

उनकी समाजशास्त्रीय प्रणाली का केंद्रीय आधार समचेतना है। इसे बाद में सुधारकर समष्टिरूप व्यवहार कहा गया है, जो व्यक्तियों के मन को एकता प्रदान करता है। गिडिंग्स की पद्धति एक संश्लिष्ट तथा तार्किक पद्धति

थी। उन्होनें सामाजिक स्थैतिकता (संचरना से संबंधित), सामाजिक गतिकता (कार्य से संबंधित) तथा सामाजिक गति (परिवर्तन, विकास, उद्‌विकास) में अंतर स्थापित किया। उन्होंने जातिगत (स्थानिक) तथा लोकगत सामाजिक संगठनों और ममितियों में अंतर स्थापित किया। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन का एक नियम बनाया। एक समुदाय उत्तम आदर्श की वर्तमान अवधारणाओं का पालन करते हुए पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। गिडिंग्स ने नवसकारात्मकतावादी विचारधारा (नियो-पोजिटिविस्ट स्कूल) की स्थापना करने में सहायता की।

गुट : एक छोटा सामाजिक समूह, जिसके सदस्य प्रायः आमने-सामने का अनौपचारिक संबंध रखते हैं। वे आवश्यक रूप से संबंधी हों, ऐसा अनिवार्य नहीं है। उनमें एकता की भावना होती है। गुट के सदस्य परस्पर रुचियों और अरुचियों तथा अन्य व्यक्तियों या समूहों से विरोध रखने की भावना के आधार पर संगठित होते हैं तथा अनौपचारिक रूप से अपने विरोधियों के प्रति गुप्त योजनाएं बनाये रखते हैं। गुट के सदस्यों के लिए कोई निर्धारित नियम या आचार-संहिता नहीं होती, लेकिन परस्पर सहायता करने तथा भावनात्मक रूप से स्नेह करने और अपनी गुप्त बातों को अपने गुट में ही सीमित रखने के लिए वे बाध्य होते हैं। पाठशालाओं में शिक्षकों के गुटों, समाज में राजनीतिज्ञों के गुटों, कल-कारखानों और संस्थानों में कर्मचारियों के गुटों के होने के फलस्वरूप पारस्परिक एकता, सुगम कार्य संपादन तथा सफलता-प्राप्ति में अनेकानेक बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं। भारत में गुटों के निर्माण में प्रायः जाति, धर्म, पड़ोस, स्थानीयता आर्थिक लाभ, राजनैतिक उद्देश्य और समान वादों के प्रति आस्था महत्त्वपूर्ण कारण होते हैं।

गुप्त संगठन : विश्व की कई जनजातियों में ही नहीं, अपितु सभ्य जनसमुदायों में भी यह देखने में आता है कि कुछ रहस्य समितियां अथवा गुप्त संगठन होते हैं। इन संगठनों के सदस्य, जो कि प्रायः पुरुष अथवा लड़के ही होते हैं, अपने कार्यों और व्यवहारों को गुप्त रखते हैं। ऐसा करने के लिए वे भरसक यह प्रयास करते हैं कि कोई गुप्त भाषा या लिपिसंकेत बना लिया जाये तथा उसी के माध्यम से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान किया जाये। इनमें एक विशेष प्रकार की आचार-संहिता होती है, जिसका कठोरता से पालन करने का समुचित प्रशिक्षण प्रत्येक सदस्य को दिया जाता है और ऐसा करने के लिए उसको बाध्य किया जाता है। इस प्रकार के संगठन अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा भारत की कई जनजातियों में पाये जाते हैं। इनके कार्य राजनैतिक, आर्थिक, लैंगिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत हैं तथा चिकित्सा और मनोरंजन से भी संबंधित हो सकते हैं। अपराधी जन-जातियां और जातियां इन समितियों में भविष्य में किये जाने योग्य अपराधों की योजनाएं बनाती हैं। अन्य समुदायों पर हमला करने, गुप्त रूप से यौन आचार करने तथा अन्य प्रकार के निषिद्ध, किंतु समाज द्वारा जाने गये, मनोरंजन आदि के कार्य इन संगठनों में होते रहते हैं। आधुनिक युग में सभ्य समुदायों में भी ऐसे संगठन देखने में आते हैं। कुछ साल पहले इंग्लैंड में कीलर-प्रोफ्यूमो कांड होने पर वहां यौन आचार से संबद्ध कई संगठनों का पता लगा था। प्रायः सभी आधुनिक देशों में नवयुवकों में ऐसे संगठन पनपते जा रहे हैं, जिनमें गोपनीय ढंग से विद्रोही कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।

गेशा या गीशा : जापान के जनजीवन में गेशा या गीशा सुंदरियों के समूह का अत्यंत महत्त्व है। वे सत्कार, नृत्य, गायन, मनोरंजन तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के अत्यंत दक्ष व्यावसायिक कलाकारों की भांति अपने घर या कोठे चलाती हैं। इस प्रथा का जन्म लगभग 1617 में जापान में हुआ था। पहले उन्हें वहां 'औहरन' कही जानेवाली नर्तकी सुंदरियों व उच्चस्तरीय वेश्याओं की सह-नर्तकी व सत्कारकर्त्री के रूप में कार्य करना होता था। परंतु शनैः-शनैः वे अधिक लोकप्रिय हो गयीं और अब तो प्रत्येक जापानी युवक उनके घरों में जाकर आमोद-प्रमोद करने का इच्छुक होता है। इनमें से कई वेश्यावृति भी करने लगी हैं। प्रायः सभी गीशाएं अत्यंत कलात्मक प्रतिमाएं होती हैं। वे अपने मेहमानों (जिनमें प्रायः जापानी समाज के धनिक, उच्चस्तरीय अधिकारी, राजनीतिज्ञ आदि होते हैं) का पहले भोजन या पेय से सत्कार करती हैं, तत्पश्चात् हंसी-मजाक, खेलकूद व

नृत्य के द्वारा उनका मनोरंजन करती हैं। एक गीशा के पास एक बार जाने में आजकल लगभग दो-तीन सौ रुपये लगते हैं। जापानी जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने में गीशाओं का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जापान सरकार ने अब उनको अन्य श्रमिकों की श्रेणी में रखा है तथा उनके लिए न्यूनतम 18 वर्ष की आयु तथा अधिकतम 5 घंटे प्रतिदिन का काम और साप्ताहिक अवकाश निर्धारित कर दिया है। वेश्यावृत्ति को रोकने की दिशा में भी जापान सरकार ने कुछ प्रयास किये हैं। उनकी मासिक आय प्रायः 8,000 रुपये तक हो जाती है, लेकिन उनको साज-सज्जा में जितना अधिक व्यय करना होता है, उसे देखते हुए यह आय वहां अधिक नहीं मानी जाती।

गोद लेना : जिन व्यक्तियों के कोई संतान नहीं होती, वे किसी अन्य व्यक्ति की संतान को, विशेषकर पुत्र को, गोद ले लेते हैं। गोद ली हुई संतान को वास्तविक संतान की भांति सभी प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। वह नये माता-पिता की संपत्ति का अधिकारी बनता है। उस पुत्र को उनके प्रति वैसे ही कर्तव्य करने होते हैं, जो एक वास्तविक पुत्र के होते हैं। इस प्रकार की पद्धति का मुख्य उद्देश्य अपनी जायदाद और वंश को कायम रखना होता है। आजकल प्रायः यह देखने में आता है कि निःसंतान व्यक्तियों की संपत्ति को पाने की इच्छा से प्रायः कई व्यक्ति अपने पुत्रों को गोद दे देते हैं। इस प्रकार के पुत्र को दत्तक पुत्र कहते हैं। पिंडदान तथा वंश रक्षा के लिए ऐसे पुत्र को गोद लेना आवश्यक माना गया है। हिंदू धर्मग्रंथों के अनुसार प्रायः गोद ली जानेवाली संतान लड़का ही होनी चाहिए। दत्तक पुत्र अपनी जाति का ही होना चाहिए। दत्तक पुत्र की आयु के संबंध में कई विचारधाराएं मिलती हैं। एक विचारधारा के अनुसार कम से कम तीन वर्ष की आयु से लेकर विवाह हो जाने के बाद पिता बन जानेवाले व्यक्ति तक को गोद लिया जा सकता है। पंजाबियों में दत्तक पुत्र के लिए कोई आयु निश्चित नहीं है। अग्रवाल, जैनों में 32 वर्ष तक की आयु का व्यक्ति गोद लिया जा सकता है। प्रायः मामा, बुआ, भाई, बहिन, भतीजे, पुत्री आदि की संतानों को गोद लिया जाता है। किसी अन्य व्यक्ति के सुशील पुत्र को भी गोद लेने की प्रथा अब चल पड़ी है। गोद लिया गया व्यक्ति अपने जन्मदाता माता-पिता की संपत्ति के अधिकार को खो देता है।

गौड़ जाति : गौड़ जाति के लोग कन्नड़ प्रांत के किसान और पशुपालक हैं। कुछ लोगों के मतानुसार संस्कृत की 'गो' धातु से 'गौड़' शब्द की उत्पत्ति हुई। लेकिन कुछ लोगों का विचार यह भी है कि यह द्रविड़ शब्द है, जिसका अर्थ 'पर्वत' होता है।

दक्षिण के केनरा जिले में गौड़ लोग अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इनमें 18 शाखाएं पायी जाती हैं। ये लोग गोत्र बदलकर विवाह किया करते हैं।

गौड़ लोग उचित अवस्था में ही विवाह किया करते हैं। इन लोगों में तलाक देने की तथा विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित है। लेकिन, संतानवती विधवा अपने पति के बड़े भाई से ही शादी कर सकती है। अगर वह किसी और पुरुष के साथ विवाह करती है, तो उसका छुआ हुआ पानी तक उसके घर के लोग नहीं पियेंगे। गौड़ लोग शव का दहन-संस्कार करते हैं। इस संस्कार के तीसरे दिन चिता-भस्म से एक मानवाकार पुतला बनाकर उसे दो हिस्सों में काटते हैं और उन टुकड़ों को दफनाते हैं। 16वें दिन कुछ और कर्म करते हैं।

हर साल आषाढ़ मास में पितृ देवताओं की तृप्ति के लिए ये लोग एक उत्सव मनाया करते हैं। इनके आराध्य देवता वेंकटेश्वर स्वामी हैं। गौड़ लोग कुछ प्रदेशों में तुलु भाषा बोलते हैं और कुछ प्रदेशों में कन्नड़।

ग्रामीण समाज-व्यवस्था : बाहरी दुनिया से कटे हुए सामाजिक जीवन से जुड़े होना ग्रामीण समाज का मुख्य गुण है। आम तौर पर गांव में आबादी बहुत कम होती है। आर्थिक क्षेत्र में भी लोगों की आय के साधन खेती-बाड़ी, पशुपालन और इसी प्रकार की छोटी-मोटी वृत्तियों तक ही सीमित होते हैं। वहां सामाजिक संबंध भी बहुत घनिष्ठ और व्यक्तिगत होते हैं। ग्रामीण समाज में हर व्यक्ति दूसरे के लिए परिचित होता है, इसलिए सामाजिक अपरिचय की समस्या वहां नहीं होती। वहां का जीवन परिश्रम और उत्साह से भरा हुआ होता है। कृषि के क्षेत्र में तत्संबंधी आय और परिवार में गहरा संबंध होता है।

किसानों के परिवारों में स्त्रियां परिवार की रीढ़ जैसी होती हैं और अपने पतियों का हर मामले में साथ देती हैं। ग्रामीण समाज में वैवाहिक जीवन का भी बड़ा महत्त्व है। पति-पत्नी के बीच मधुर संबंधों की अपेक्षा परस्पर उपयोगितावादी बात ही अहमियत रखती है, किंतु आजकल धीरे-धीरे नागरिक संस्कृति का प्रसार गांवों की तरफ से होने और कृषि के क्षेत्र में मशीनों के प्रविष्ट होने के कारण वहां के स्वरूप में परिवर्तन आने लगा है। ग्रामीण जीवन की परिश्रमशीलता और शहरी जीवन की आरामतलबी के बीच का अंतर धीरे-धीरे मिटने लगा है। शहरी जीवन में प्राप्त सारी सुविधाएं अब गांवों की तरफ भी बढ़ने लगी हैं। इतना ही नहीं, शहर धीरे-धीरे अपनी सीमाओं को फैलाकर गांवों को अपने में आत्मसात् करने लगे हैं। इस परिवर्तन के कारण ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था एक हद तक अपने परंपरागत व्यक्तित्व को खोती जा रही है और साथ ही एक नये व्यक्तित्व के अनुरूप खुद को ढालती जा रही है।

घेट्टो : भूतकाल में और आजकल भी कुछ देशों में यह देखने में आता है कि यहूदी लोग प्रायः नगरों के बाहर या नगर में ही अपनी एक पृथक् बस्ती में स्वेच्छा से अथवा कानून या राजाज्ञा के फलस्वरूप रहते हैं। उनकी इस बंद प्रकार की बस्ती को 'घेट्टो' कहते हैं, जहां बाह्य सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों तथा व्यवहार-प्रतिमानों को नहीं आने दिया जाता तथा सभी व्यक्तियों के व्यवहार को उनकी परंपरागत आचार-संहिता के अनुसार ढालने का प्रयास किया जाता है। इसके फलस्वरूप उसके निवासियों में व्यवहार के निश्चित और कठोर प्रतिमान पनप जाते हैं तथा एक प्रकार की विघटनकारी अथवा पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था व्याप्त हो जाती है। आजकल इस शब्द का प्रयोग किसी भी देश में अल्पसंख्यकों की इस प्रकार की पृथक् जातियों के लिए किया जाने लगा है, जिनमें संकीर्णता, परंपरा तथा अंधविश्वास अथवा पुरातन के प्रति दृढ़ आस्था विद्यमान होती है।

चकली जाति : चकली जाति के लोग तमिलनाडु के चमड़े का काम करनेवाले और आंध्र प्रदेश के चमार जैसे हैं। प्राचीन तमिल साहित्य में चकली जाति के लोगों का कोई संदर्भ न मिलने के कारण और इन लोगों के द्वारा बहुधा तेलुगु या कन्नड़ भाषाएं बोली जाने के कारण यह विश्वास किया जाता है कि ये लोग आंध्र प्रदेश या मैसूर प्रांतों से आकर तमिलनाडु में बस गये हैं। गाय के चमड़े से चप्पलें बनाने के कारण ये लोग सामाजिक दृष्टि से बहुत ही निकृष्ट माने जाते हैं। चकली जाति के लोग यद्यपि पूरे तमिलनाडु में हैं, फिर भी मद्रास शहर, तंजाउर और मदुरा जिलों में अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

आचार-व्यवहार : चकली जाति के लोगों में कुछ लोग वैष्णव और कुछ लोग शैव माने जाते हैं। ये सभी लोग भूतों की आराधना करते हैं। इनमें आम तौर पर छोटी उम्र की लड़की की शादी नहीं होती है। वर वधू से उम्र में छोटा हो, तो भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती। इस जाति के मुखिया के सामने निश्चित रकम देकर वर-वधू में से कोई भी तलाक ले सकता है। ये लोग बैल और सूअर का मांस खाते हैं। शाम के समय प्रायः सभी पुरुष मद्यपान करते हैं। इनकी स्त्रियां देखने में आकर्षक होती हैं। चमड़े से चप्पलें और पानी की थैलियां आदि बनाकर बेचना इनका मुख्य पेशा है। यद्यपि चमारों और चकली जाति के लोगों में बहुत समानता है, लेकिन दोनों जातियों में बहुत भिन्नता भी है। चकली लोग चमारों की कुल-देवी मातंगिनी की पूजा नहीं करते। चमारों को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनमें से कुछ चकली जाति के लोगों को प्राप्त नहीं हैं।

चिकित्सीय तथा मनश्चिकित्सीय समाज कार्य : सामाजिक कार्य का उद्देश्य व्यक्ति या समाज के साथ सामंजस्य करना है। कभी-कभी रोगियों का सामंजस्य अपेक्षित होता है। यह सामंजस्य एक ओर रोगी और चिकित्सक तथा अस्पताल के बीच हो सकता है, अथवा दूसरी ओर रोगी तथा उसके परिवार और बृहत्तर समाज के बीच। अतः चिकित्सा के लिए मानव-संबंधों में प्रशिक्षित कार्यकर्ता की भी आवश्यकता होती है।

पुराने समय में कौटुंबिक चिकित्सक होते थे, जो कुटुंब की सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि तथा स्थिति से भलीभांति परिचित होते थे। किंतु आधुनिक युग में अन्य क्षेत्रों की भांति चिकित्सा के क्षेत्र में भी विशेषीकरण हो गया है। चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े अस्पताल स्थापित किये जाते हैं, जिनमें व्यक्ति का व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त इन अस्पतालों में व्यक्ति के रोग पर ध्यान केंद्रित किया जाता है न कि स्वयं व्यक्ति पर, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के भावना पक्ष तथा मानव संबंधों की उपेक्षा हो जाती है। आज चिकित्सा-विज्ञान की इतनी उन्नति हो चुकने पर व्यधिग्रस्त व्यक्तियों की आवश्यकताएं जटिल हो गयी हैं। अतः रोगी की सहायता कई बातों पर निर्भर है, जैसे रोग किस तरह का है, रोगी कैसा है, अस्पताल का क्या रूप है, रोगी का सामाजिक परिवेश कैसा है, और समाज कितना साधन-संपन्न है। अतः रोगी और उसके सामाजिक पर्यावरण के बीच समायोजन स्थापित करने के लिए सामाजिक कार्यकर्ता की आवश्यकता होती है। यह रोगी को दी जानेवाली और चिकित्सक से अपेक्षित वैयक्तिक सेवा है, जो सामाजिक कार्यकर्ता की सहायता से दी जाती है और यह सहायता प्रदान करते समय सामाजिक कार्यकर्ता रोगी को सामाजिक प्राणी के रूप में उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं और विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में, जो उसके रोग को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करती हैं, समझने की कोशिश करता है। वह रोगी की स्थिति चिकित्सक को बतलाता है। चिकित्सक रोग का इलाज करता है। किंतु रोगी के आरोग्य के लिए और परिवार तथा समाज में सुस्थिर होने के लिए उसके मानवीय पक्ष को ठीक करना भी उतना ही आवश्यक है। अतः चिकित्सीय सामाजिक कार्य का उद्देश्य रोगी के शारीरिक तथा सामाजिक पक्षों में अनुकूलता स्थापित करना है, ताकि सक्रिय संबंधों के आधार पर सृजनात्मक जीवन की प्राप्ति हो सके।

सामाजिक कार्यकर्ता निम्नांकित क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है :

(क) सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम
(ख) प्रसूति एंवं शिशु कल्याण
(ग) रति रोग चिकित्सा केंद्र
(घ) बाल कक्ष
(ङ) आरोग्य सदन
(च) मानसिक चिकित्सालय और मनश्चिकित्सा केंद्र
(छ) सामान्य अस्पताल
(ज) ग्राम्य स्वास्थ्य एकक
(झ) क्षय रोग आरोग्य निवास

चिकित्सीय सामाजिक कार्य के लिए निम्नांकित आवश्यकताएं हैं :

(क) एक चिकित्सीय सामाजिक कार्यकर्ता होना चाहिए, जिसे चिकित्सा की संबंधित शाखा के विषय में साधारण जानकारी हो।
(ख) सामाजिक कार्य का कोई विभाग अथवा एजेंसी होना आवश्यक है।
(ग) गरीब रोगियों की सहायतार्थ आवश्यक धन होना चाहिए।
(घ) ऐसे संपर्क हों, जिनका उपयोग रोगियों के पुनर्वास के लिए किया जा सके।

चेट्टि जाति : चेट्टि एक खास तमिल जाति को दी गयी उपाधि है। चेट्टि का शाब्दिक अर्थ है, व्यापारी। यह नाम प्रायः जाति के रूप में ही नहीं, बल्कि पेशे के रूप में भी व्यवहृत होता है। अन्य जातियां भी इस उपाधि को अपने नामों के साथ जोड़ती हैं।

'चेट्टि' लोगों की कई शाखाएं हैं। इनमें से 'बेरिचेट्टि', 'नाटुकोटि चेट्टी' प्रमुख हैं। 'नागरकत्तु चेट्टि', 'कासुक्कर चेट्टि' आदि शाखाएं भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'पुरत्तुकूडि' चेट्टि लोग गांव-गांव घूमकर व्यापार करते रहते हैं। मितव्ययिता को ध्यान में रखकर पहले ये लोग सामूहिक विवाह किया करते थे। 'पन्निरेंडाम चेट्टि' नामक एक शाखा कोयंबत्तूर जिले में अधिक पायी जाती है। हिसाब-किताब और गिनती करने के लिए इन लोगों के अपने अलग पारिभाषिक शब्द हैं, जैसे, मदि-एक, वेणे-दो, कोनार-तीन, श्रुति-चार, शर-पांच आदि। इनके कुछ रहस्यपूर्ण संकेत भी हैं।

चेरुमा जाति : 'चेरुमा' या 'चेरुमक्कल्' केरल की एक दास जाति है। ये लोग मुख्य रूप से किसानों के यहां चाकरी करते हैं। दक्षिण मलबार में 'चेरुमा' तथा उत्तर मलबार में 'पुलयन्' के नाम से इस जाति के लोग जाने जाते हैं। इस जाति के लोगों में कई शाखाएं भी हैं, जिनमें कुछ के नाम ये हैं—'कनक्कन', 'इरालन्', 'पुल चेरम', 'कुडान' आदि।

चेरुमा जाति के लोग बहुत काले और नाटे होते हैं। ब्रिटिश सरकार द्वारा दास-प्रथा के रद्द किये जाने तक ये लोग जमींदारों और बड़े-बड़े किसानों के यहां दास के रूप

में रहते थे। उस समय ये लोग यजमानों की भूमि में झोंपड़ियां बनाकर रहते थे और दिन भर खेतों पर किये गये काम के बदले में उन्हें शाम को जो अनाज मिलता, उससे पेट भरा करते थे। विवाह से लेकर मौत तक के हर शुभ-अशुभ कार्य पर होनेवाले खर्च के लिए उन्हें अपने यजमानों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। पति-पत्नी एक ही यजमान या अलग-अलग यजमान के यहां दास-वृत्ति किया करते थे। सामाजिक दृष्टि से इन लोगों की स्थिति बहुत ही शोचनीय थी। अपने मालिक से या किसी और उच्च जाति के व्यक्ति से बात करते समय उनसे दूर हटकर खड़े होना इनके लिए जरूरी माना जाता था। सड़क पर चलते हुए भी, और लोगों से दूर रहने के लिए सड़क से नीचे कीचड़ में या कांटों पर चलना इनके लिए आवश्यक होता था। किसी एकाध पर्व के दिन को छोड़कर हर दिन इन्हें श्रम करना पड़ता है। मजदूरी के रूप में इन्हें जो अनाज मिलता है, उसका ज्यादा हिस्सा ये लोग ताड़ी पीने में खर्च कर देते हैं। परिवार के सभी लोग मिलकर एक साथ ताड़ी पीते हैं।

आचार-व्यवहार : चेरुमा जाति के लोगों में विवाह के समय दूल्हे की बहिन 'कन्या-शुल्क' देती है। विवाह की सबसे खास रस्म है, वर का वधू के गले में, अंगूठी में पहनायी गयी डोरी बांधना। शादी का खर्चा चुकाकर पति-पत्नी किसी भी समय तलाक दे सकते हैं। कर्क और मकर संक्रांति तथा श्रावण पूर्णिमा के दिन ये लोग देवताओं को भेंट दिया करते हैं। इनमें मृतक को गाड़ने की प्रथा है।

इधर कुछ वर्षों से इनकी जनसंख्या में काफी गिरावट आ गयी है। इसका सबसे मुख्य कारण यह बताया जाता है कि सामाजिक दृष्टि से, अपनी गिरी हुई स्थिति को ऊंचा उठाने के लिए सम्मिलित रूप से इन लोगों ने इस्लाम धर्म को अपना लिया है।

छुआछूत : छुआछूत हिंदू समाज के लिए बहुत बड़ा कलंक है। वर्ण-व्यवस्था के कारण ही यह कुप्रथा अस्तित्व में आयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चतुर्वर्णों में निम्नवर्ण की स्त्री और उच्च वर्ण के पुरुष से उत्पन्न संतान 'अनुलोम' जाति की मानी जाती है। इसके विपरीत होनेवाली संतान 'प्रतिलोम' जाति की कहलाती है। प्रतिलोम जाति के अंतर्गत 'माल', 'मादिग', 'चच्चडि', 'बारिक' आदि वर्गों के लोग आते हैं। ये लोग युग-युगों से अस्पृश्य माने जाते रहे हैं। उच्च वर्णों के लोग हमेशा इन्हें बहिष्कृत करते रहे हैं। इन लोगों के लिए इस बात का कठोर नियम बनाया गया कि ये सवर्णों से दूर गांवों के बाहर ही रहें। सवर्णों द्वारा इस्तेमाल किये जानेवाले तालाबों और कुओं आदि से पानी लेने का भी इन्हें अधिकार नहीं था। ब्राह्मण उन्हें बहुत दूर खड़ा करके और बहुत जरूरत पड़ने पर ही बात करते थे। सड़कों पर स्वतंत्रता-पूर्वक आने-जाने का उन्हें अधिकार नहीं था। जिन स्थानों पर वैदिक क्रिया-कलाप होते हैं, वहां इन लोगों का जाना बिल्कुल वर्जित था। कोई ब्राह्मण इनमें से किसी को भूल से छू लेता, तो तुरंत स्नान करना उसके लिए आवश्यक था।

समाज से बहिष्कृत किये जाने के कारण निम्न जातियों के लोग अशिक्षा और दरिद्रता की आग में जलते रहे। इन्हें अपनी जीविका चलाने के लिए हर प्रकार के नीच कर्म करने पड़ते थे। सफाई का भी इन लोगों के जीवन में कोई स्थान नहीं रह सका। इस प्रकार तथाकथित उच्च वर्गों के लोगों द्वारा किये गये अत्याचारों के कारण निम्न जातियों के लोग पशुवत् जीवन बिताते रहे। मंदिरों में इन लोगों का प्रवेश निषिद्ध था। उच्च वर्गों के लोगों के खून में इस बात का विचार घुलमिल गया था कि वे उच्च हैं और निम्न वर्गों के लोग किसी भी तरह से सामाजिक न्याय के अधिकारी नहीं हैं। इस प्रकार के अमानुषिक अत्याचार को सह न पाने के कारण लाखों की संख्या में, निम्न वर्गों के लोगों ने इस्लाम या ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन से इनकी सामाजिक स्थिति में काफी सुधार आया।

भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद उस सरकार ने अस्पृश्य लोगों को 'अनुसूचित जाति' के अंतर्गत रखा और इनकी स्थिति को ऊंचा उठाने की कोशिश की। इन लोगों के लिए शिक्षा की सुविधाएं दी गयीं और इनकी नौकरियों के लिए भी विशेष रूप से व्यवस्था की गयी, लेकिन ब्रिटिश सरकार की ये सारी सुधारवादी कोशिशें वस्तुतः निम्नवर्गीय लोगों को शेष समाज से तोड़कर उन्हें अपने हितों के लिए काम में लाने की चालाकी से बढ़कर कुछ नहीं थी। इस बात को महात्मा गांधी ने पहचाना

और उन्होंने अछूतों का उद्धार करने की वास्तविक कोशिश शुरू की। गांधीजी ने बहुत बल देकर इस बात को स्थापित करने की कोशिश की कि अस्पृस्य भी हिंदू समाज का एक अंग हैं। उन्होंने इन लोगों को 'हरिजन' नाम से पुकारा और इनके विकास के लिए हर संभव प्रयत्न किया। गांधीजी ने अपनी 'हरिजन' नामक पत्रिका में अनेक लेख लिखे, जिनके द्वारा उन्होंने हिंदू समाज को यह बताया कि अस्पृश्यता हिंदू समाज का कलंक है और इसे दूर करने के लिए हर व्यक्ति को प्रयत्न करना है। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में हरिजनों को समानता का दर्जा दिया और सवर्णों तथा हरिजनों में कोई भेद नहीं किया। गांधीजी के प्रोत्साहन के कारण कांग्रेस ने भी हरिजनोद्धार को अपने कार्यक्रमों में मुख्य स्थान दिया।

इन सारी कोशिशों के कारण अब हरिजनों में आत्म-विश्वास की भावना आ गयी है। ये लोग अब अपने अधिकारों को समझने लगे हैं और उनकी रक्षा के लिए आंदोलन करने लगे हैं। मंदिरों में भी इनका प्रवेश होने लगा है। शैक्षिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों में इन लोगों का महत्त्व बढ़ने लगा है। समाज के हर क्षेत्र में अब हरिजन साधिकार प्रवेश पा रहे हैं। हालांकि अब भी कुछ उच्च वर्णों के लोगों में ऊंच-नीच की भावना है, फिर भी इस बात की आशा की जा सकती है कि भविष्य में भारतीय समाज में इस तरह के विचार महत्त्वहीन रह जायेंगे।

जनमत : किसी विषय या विवादास्पद प्रसंग पर एक ही सामाजिक समूह के सदस्यों का दृष्टिकोण या मत। जनमत के निर्णय के लिए बहुत बातें आवश्यक होती हैं, जैसे, (1) कोई मूल समस्या या विवाद या प्रसंग होना चाहिए, (2) उसके हल के लिए कुछ तार्किक वाद-विवाद होना चाहिए, (3) जनमत में विचार व पुराने अनुभवों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, (4) वाद-विवाद के विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रचलित विचारधारा से कुछ भिन्न विचारधारा या विचारधाराएं भी विद्यमान हों, (5) वाद-विवाद से किसी प्रकार की सहमति पर ही पहुंचना संभव होना चाहिए, (6) सार्वजनिक प्रश्नों से संबंधित जनमत में प्रायः सामाजिक कार्य की भावना छिपी रहती है, (7) जनमत के पीछे प्रायः भावनात्मक पक्ष रहता है।

इनके अतिरिक्त प्रायः यह भी देखा जाता है कि इसमें कुछ धारणाएं, स्वीकृत सिद्धांत, संवेग आदि भी सम्मिलित होते हैं तथा यह एक प्रकार से सहकारी प्रयास का फल होता है। घटना विशेष अथवा अवसर विशेष पर विशेष प्रकार का जनमत उभर जाता है। प्रायः परंपरा से चले आ रहे रागद्वेष, घृणा आदि इसको उभारने में बहुत सहायक होते हैं। अफवाहें, खबरें, घटनाएं, चित्र, वास्तविक दृश्य आदि जनमत को बनाने या बिगाड़कर बदलने में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। आजकल समाचारपत्र, रेडियो, टेलीविजन, विज्ञापन, राजनैतिक व धार्मिक प्रचार, सांस्कृतिक संगठनों द्वारा प्रकाशित साहित्य और उनसे चलायी जानेवाली पाठशालाएं आदि कई प्रकार के जनमतों को बनाने में योग दे रही हैं। इनमें से कई जनमत अस्वस्थ अथवा त्रुटिपूर्ण भी होते हैं। स्वस्थ जनमत समाज की सुव्यवस्था को बनाये रखने और उसमें आवश्यक परिवर्तन लाने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है।

जनसमूह : अनेक व्यक्तियों के समूह को जनसमूह कहते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इसमें कभी भी लोग एक-दूसरे की भावनाओं और विचारों को जानने की स्थिति में स्वयं को नहीं पाते। इतना ही नहीं, जनसमूह में चर्चाओं, बहस-मुबाहिसों की भी संभावना नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर सिनेमा के दर्शक या रेडियो के श्रोता लिये जा सकते हैं। ऐसे दर्शकों और श्रोताओं में हर व्यक्ति अकेला होता है। औरों के समक्ष अपने विचारों को व्यक्त करने का अवसर उसे नहीं मिलता। अनेक लोगों से भरा हुआ कोई उत्सव या मेला जनसमूह का रूप होता है। इनमें सम्मिलित सारे लोग एक विचार या चिंतन के नहीं होते। ये परस्पर एक दूसरे की मानसिक स्थितियों को नहीं जानते। इनमें यदि कोई समानता होती है, तो सिर्फ यही कि ये सब एक ही सिनेमा के दर्शक या एक ही मेले में हिस्सा लेनेवाले होते हैं। इस प्रकार जनसमूह एक साथ आकर्षित, संबोधित या शासित किया जा सकता है, लेकिन इसमें सम्मिलित लोग किसी एक विषय पर न तो आपस में चर्चा कर सकते हैं, न एक निर्णय पर पहुंच सकते हैं। इनमें परस्पर व्यक्तिगत संबंधों को स्थापित करने की संभावना नहीं हो सकती और न ये किसी एक धारणा को सर्वसम्मति से स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार एक

साथ रहते हुए भी बहुत हद तक एक-दूसरे से भिन्न रहनेवाले अपार मानव-समूह को जनसमूह कहा जाता है। जनसमूह का स्थायित्व भी अल्पकालीन होता है।

जन-सहयोग : आर्थिक और सामाजिक विकास के विचार को कार्यरूप देते समय यह समझा गया था कि लोकतंत्र में आयोजन से सबसे अधिक लाभ तभी मिल सकता है जब लोग उसके कार्य में सक्रिय रूप से भाग लें। यह विकासशील अर्थव्यवस्था में और भी अधिक आवश्यक है। यह समझा गया है कि सरकार को जनता के साथ काम करना चाहिए, जनता के लिए नहीं। जनता की सहायता इस रूप में की जाये कि वह अपनी सहायता स्वयं कर सके। भारत में समुदाय-विकास का उद्देश्य पूरे ग्राम समुदाय की सर्वतोमुखी प्रगति और विकास करना है, जिसमें विशेष बल कमजोर और अर्धविकसित वर्गों की आवश्यकताओं को देना होगा। इसके लिए स्थानीय साधनों तथा जनता की भावनाओं का उपयोग करना होगा।

जन-सहयोग एक ऐच्छिक योजनाबद्ध प्रयत्न है, जिसे विकासशील लोकतांत्रिक समुदायों में एक प्रमुख पद्धति के रूप में काम में लाया जाता है। इसका प्रमुख लक्षण है, अपनी मदद आप करो या आपसी मदद करो। यह एक प्रयत्न तथा प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जनता और जनता के प्रतिनिधि ऐच्छिक संगठन व अनिर्वाचित सरकार से कम काम नहीं करते और समुचित विचारों से पूर्ण, मान्य आधार पर विकास कर पाते हैं। अन्य शब्दों में, जन-सहयोग लोगों में आपसी मदद व सहयोग की भावना भरता है। राज्य को जनता के सहयोग की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी जनता को राज्य की जरूरत है।

जन-सहयोग की प्रक्रिया में आपसी सहयोग सम्मिलित है। इसमें तीन भागीदार हैं, सरकार, समुदाय और ऐच्छिक अभिकरण। यह दुतरफा रास्ता है, जिसमें एक ओर स्थानीय और ऐच्छिक संस्थाओं व अन्य सामाजिक संस्थाओं से युक्त समुदाय और दूसरी ओर स्थानीय शासन-संगठनों सहित सरकार अपने साधनों व क्षमता के अनुसार समान लक्ष्यों को पाने में अपना योग देते हैं। जन-सहयोग के कार्यक्रमों को जनता अपनी स्थापित संस्थाओं व अभिकरण के माध्यम से स्वयं ही चला सकती है।

किसी भी सामुदायिक कार्य में जनता भाग ले, इसका एक मूलभूत तत्त्व यह है कि जनता में सामाजिक जागृति हो, जो आम तौर पर नहीं पायी जाती है। जिस कार्यकर्ता को कार्यक्रम चलाने का अधिकार मिले, वह जनता में 'अपनी मदद स्वयं करो' की भावना को बढ़ावा दे और उसका उत्साह बढ़ाये। जनता को तथ्यों के बारे में बताने और उसको परामर्श देने-लेने व समूह विचार-विमर्श करने की प्रक्रिया आवश्यक है। बस यहीं से जनता के भाग लेने का कार्य शुरू हो जाता है। जन-सहयोग का फल चखने के लिए जन-जागृति बहुत आवश्यक है। जनता अपनी समस्याओं को हल करने के लिए अपनी भूमिका, निर्धारित लक्ष्य और पद्धतियों को समझे। जन-सहयोग की प्रतिक्रिया में पुरुष, स्त्री, युवक आदि से युक्त पूरा समाज आ जाता है। यह समाज स्थानीय निकायों, महिला-मंडलों, युवक-क्लबों और अन्य ऐच्छिक अभिकरणों, स्कूलों, अस्पतालों, सहकारी समितियों आदि से मिलकर बनता है। जहां तक संभव हो, लक्ष्य तक पहुंचने के लिए बाहरी मदद पर निर्भर रहने की अपेक्षा स्थानीय साधन तैयार किये जायें। बाहरी सहायता को उत्साहवर्द्धक रूप में काम में लाया जाये, जिससे समुदाय अधिक लाभान्वित हो सके।

जन-सहयोग की पूरी प्रक्रिया लोकतांत्रिक मूल्यों और जनता के गर्व की भावना पर आधारित है कि वे स्वयं अपनी समस्याओं को अपने व अपने साथियों की सहायता से हल करने की कोशिश कर रहे हैं।

जातशौच : विश्व की कई जनजातियों, जैसे, ब्रिटिश गिनी की मैकूसी, कैमसन की नगूंबा आदि में तथा सभ्य समाजों, जैसे, यहूदियों में, यह धारणा प्रचलित है कि गर्भवती स्त्री, जबकि वह संतान को शीघ्र ही जन्म देने वाली हो, बहुत गंदी होती है; क्योंकि उसमें दानव या राक्षस का प्रभाव रहता है। उसको छूना और देखना नहीं चाहिए। अतः उसके लिए एकांतवास करना आवश्यक होता है और उसे बहुत ही थोड़ा वस्त्र, भोजन और जल दिया जाता है। हिंदुओं में संतान उत्पन्न होने के समय से लेकर लगभग चालीस दिनों तक प्रसूता को अशुद्ध माना जाता है तथा उसे दूसरों के लिए रखी खाने-पीने की कोई वस्तु छूने, अपने एकांत कमरे से बाहर निकलकर कोई घरेलू

काम-काज करने, शीशा-कंघा छूने, बालों को धोने, नहाने आदि नहीं दिया जाता। इसके पीछे प्रसूता व बालक की स्वास्थ्य रक्षा का विचार अवश्य रहता है तथा बुरी आत्माओं से उन्हें बचाने का प्रयास भी होता है। इस प्रथा को जाताशौच कहा जाता है।

जाति : जाति शब्द 'जनि' धातु से बना है, जिसका अर्थ उत्पन्न होना है। इसी धातु से जन्म, जननी तथा जनक शब्द भी बने हैं। अतः जाति का संबंध जन्म, जननी तथा जनक से मानना चाहिए। न्याय दर्शन में जाति का लक्षण बतलाते हुए लिखा गया है, "समान प्रसवात्मिकाजातिः।" अर्थात् जो लोग समान संतान उत्पन्न करते हैं, वे समान जाति के कहलाते हैं।

अंग्रेजी का 'कास्ट' शब्द, जिसका अर्थ जाति है, पुर्तगाली भाषा के एक शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है प्रजाति या नस्ल। 'कास्ट' शब्द का संबंध लैटिन भाषा के 'कास्ट' शब्द से भी है। इसका अर्थ होता है अमिश्रित। समाजशास्त्रियों का मत है कि वर्तमान अर्थ में 'कास्ट' शब्द का प्रथम प्रयोग गर्सिया डी ओरटा ने किया। उन्होंने लिखा था कि कोई भी व्यक्ति अपने पिता के व्यवसाय को नहीं बदलता।

मार्टिंडले तथा मोनाकेसी का मत यह है कि "जाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जिसके दायित्व एवं अधिकार जन्म से ही निश्चित होते हैं तथा धर्म उसका समर्थन करता है।" चार्ल्स कूली की परिभाषा के अनुसार "जब कोई जन-वर्ग पूर्णतया आनुवंशिक होता है, तब हम उसे एक जाति कहते हैं।" डा० मजूमदार जाति को 'एक बंद वर्ग' कहते हैं; क्योंकि उसके अधिकार और कर्तव्य जन्म से ही निश्चित होते हैं। केतकर के मतानुसार "जाति की सदस्यता उन्ही व्यक्तियों तक सीमित होती है, जो उसी जाति में जन्म लेते हैं तथा एक कठोर सामाजिक नियम अपनी जाति के बाहर विवाह करने से उन्हें रोकता है।" मैकआइवर तथा पेज की परिभाषा यह है कि "जब सामाजिक पद पूर्णतया निश्चित हो, जब जन्म ही मनुष्य के भाग्य को निश्चित करे, जब जीवनपर्यंत उसके परिवर्तन की कोई आशा न हो, तब वह जन-वर्ग जाति का रूप धारण कर लेता है।"

मोटे तौर पर कुछ परिवारों या शाखाओं के सम्मिलित रूप को जाति कहा जाता है। यद्यपि कभी-कभी एक जाति बाहर के व्यक्तियों को भी अपने में सम्मिलित कर लेती है, फिर भी हर जाति के लोग आपस में संबंधी ही होते हैं। समाज के प्राचीनतम रूपों में जाति एक है। प्राचीन व्यवस्था से संबंध रखनेवाले अनेक लोग आज भी प्राचीन जाति व्यवस्था को स्वीकार करते हुए कई जातियों में विभक्त होकर जीवन बिता रहे हैं। ऐसे लोगों में अफ्रीका के अशांति, बंटू, प्रशांत महासागरीय द्वीप समूह के असंख्य लोग, मध्य एशिया के आदिवासी, ब्राजील के रेड इंडियन लोग, भारत के एरुकल, एनादि, कोया, खासी, खोंड, गोंड, चेंचु, तोड, नागा, भील आदि जातियों के लोग लिये जा सकते हैं। आम तौर पर एक वृद्ध व्यक्ति अपनी पूरी जाति का मुखिया होता है। वह अपनी जाति के न्याय संबंधी मामले निपटाता है और जाति पर उसी का अधिकार चलता है। कुछ अन्य समझदार वृद्ध इस मामले में उसकी सहायता करते हैं।

प्राचीनतम जाति के लोगों ने भी कुछ आचार-व्यवहारों तथा धर्मसूत्रों का अपने लिए निर्माण किया। उस जाति के हर व्यक्ति के लिए उनका पालन करना आवश्यक होता था। जो इन नियमों का अतिक्रमण करता था, उसे दंड दिया जाता था। यह प्रथा कई जातियों में आज भी विद्यमान है। जातियों में स्त्री-पुरुषों के अलग-अलग कर्तव्य निश्चित होते हैं। हर जाति की अपनी मान्यताएं होती हैं और तदनुसार उनके उत्सव आदि होते हैं।

जाति की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जाति के निम्निलिखित लक्षणों को स्पष्ट किया जा सकता है:

जाति जन्मजात होती है। प्रत्येक जाति जन्म से ही अपने सदस्यों को एक सामाजिक पद प्रदान करती है, जो आजीवन बना रहता है। जाति द्वारा थोपे हुए सामाजिक पद में कोई व्यक्ति अपनी विद्या, बुद्धि, कौशल या काम से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। अपने से नीची जाति के साथ शारीरिक या सामाजिक संपर्क हीनता का द्योतक होता है। प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय होता है। सामान्यतः विवाह अपनी ही जाति में होता है, किंतु अपवादस्वरूप जाति के बाहर भी विवाह होते देखे गये हैं, जिसके प्रमाण हैं प्रतिलोम तथा अनुलोम विवाह की प्रथाएं। नारी की जाति जन्म के अतिरिक्त विवाह पर भी निर्भर होती है। पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था

में नारी जिस जाति के पुरुष के साथ विवाह करती है, उसी पुरुष के सामाजिक पद को प्राप्त करती है, तथा उसकी संतान भी उसके पति की जाति की मानी जाती है। इनमें से बहुत-सी बातें आजकल परिवर्तित हो रही हैं।

जाति-मनोविज्ञान : भारत में हिंदुओं, सिखों, जैनों व मुसलमानों में, विशेषरूप से हिंदुओं में, जातियां पायी जाती हैं। जातियां सदियों से चली आ रही हैं। एक व्यक्ति जिस जाति में उत्पन्न होता है, वही उसकी जाति होती है। आरंभ में जातियां व्यवसायों या धंधों के आधार पर बनी थीं। लोहे का काम करनेवाला लोहार, चमड़े का काम करनेवाला चर्मकार या चमार, सोने का काम करनेवाला सुनार, सुताई का काम करने वाला सूत्रकार या सुतार कहलाया और इसी प्रकार अनेक जातियों का निर्माण हुआ। जातियों के रूप में भारतीय समाज का यह विभाजन धीरे-धीरे जटिल और स्थायी होता गया। इसमें अनेक मनोवैज्ञानिक विशेषताएं विकसित हो चुकी हैं। परंपरागत रूप से अधिकतम व्यक्ति अपनी जाति का ही व्यवसाय या पेशा करना पसंद करते रहे हैं; क्योंकि वंशपरंपरा और वातावरण दोनों के द्वारा उन व्यवसायों के प्रति अधिक रुचि और उनमें विशेष कुशलता होना स्वाभाविक है। एक ही प्रकार का व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी करते रहने के फलस्वरूप एक व्यक्ति में एक विशेष प्रकार का जातिगत व्यक्तित्व विकसित हो जाता है। एक ही व्यवसाय करनेवालों को प्रायः एक-सी ही परिस्थितियों में रहकर काम करना पड़ता है, अतः उनकी प्रवृत्तियों, दृष्टिकोण, मूल्यों व विचारों में प्रायः समानता देखने में आती है। सामाजिक रूप से उनमें परंपरागत समानता और एकता रही है; क्योंकि एक जाति के व्यक्ति अपनी जाति में ही विवाह-संबंध स्थापित करते हैं। इस प्रकार वंशगत व्यवसायों को सीखने तथा पारस्परिक सहयोग करने में बहुत सुगमता मिलती है। दुर्भाग्य से जाति प्रथा की ये महत्त्वपूर्ण और लाभदायक मनोवैज्ञानिक विशेषताएं अब तीव्रतापूर्वक समाप्त होती जा रही हैं। इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि जातियों में ऊंच-नीच की भावना घर कर गयी है। सवर्ण जातियां अछूतों को अपने से नीचा मानती हैं। स्वयं सवर्ण जातियों में भी, और यहां तक कि एक ही जाति की उपजातियों में भी, कई बार ऊंच-नीच की भावना देखने में आती है। इससे जातियों और उप-जातियों में पारस्परिक घृणा उत्पन्न हो गयी है, जो गंभीर अवांछनीय व्यवहार के रूप में स्थायी बन चुकी है। इससे समाज की एकता और शक्ति को बाधा पहुंचती रही है। दूसरे, जातियों में परस्पर असहयोग, घृणा, शोषण, अत्याचार और हतोत्साहित करने की प्रवृत्तियां चल पड़ी हैं। जातिवाद, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपनी जाति के व्यक्तियों के साथ पक्षपात और अन्य जातियों के व्यक्तियों के साथ अन्याय करते हैं, भारत में तीव्रतापूर्वक बढ़ता जा रहा है। यह देश की प्रगति में बहुत बड़ी बाधा है। इस प्रकार भारतीय समाज को भली-भांति समझने के लिए जाति-मनोविज्ञान का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

जातिवाद : जातिवाद भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के रूप में सैकड़ों वर्षों से विद्यमान रहा है। हिंदू, सिख, जैन एवं मुस्लिम धर्मों के व्यक्ति अनेक जातियों में बंटे हुए हैं। जो व्यक्ति जिस जाति का सदस्य है, वह परंपरागत रूप में अपनी जाति के ही व्यक्तियों को, जिन्हें वह अपना जाति-भाई मानता है, यथासंभव सहायता, रक्षा अथवा नैतिक एवं भौतिक बल प्रदान करना अपना कर्तव्य समझता रहा है। पुराने जमाने में तथा आज भी कई गांवों और कस्बों में व्यक्ति अपनी जाति के ही सदस्यों के लाभार्थ पाठशालाएं, दान-संस्थाएं, मंदिर, धर्मशालाएं, छात्रवृत्तियां आदि स्थापित करते रहे हैं। अन्य जातियों के व्यक्तियों को इन सुविधाओं से लाभान्वित होने से वंचित रखा जाता है। स्वतंत्र एवं प्रजातंत्रीय भारतीय समाज में जातिवाद राजनैतिक दलबंदी करने, चुनाव लड़ने, पद-प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक लाभ प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनता जा रहा है। भारतीय समाज के पिछड़ेपन और आधुनिकीकरण गति धीमी होने का मुख्य कारण जातिवाद रहा है। अनेक समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों तथा समाजमनोविज्ञानियों ने अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख किया है कि जातीयता भारत की आर्थिक समृद्धि, और राष्ट्रीय एकता में गंभीर रूप से बाधक रही है। जातिवाद अंतर्जातीय फूट और असहयोग को भारतीय इतिहास में उभारता रहा है। भारत के संविधान ने सभी भारतीय नागरिकों को पूर्ण स्वतंत्रता, समानता और समान

सामाजिक न्याय प्राप्त करने के अधिकार दिये हैं, परंतु इस प्रकार की अवांछनीय सामाजिक प्रवृत्ति इन अधिकारों के लिए एक चुनौती बनी हुई है।

जातीय पृथग्वासन : श्वेत और श्याम वर्णवाले लोगों को अलग-अलग रखना। जातीय पृथग्वासन की प्रथा यत्र-तत्र छोटे रूप में अनेक यूरोपीय देशों में प्रचलित रही है, किंतु इसका बीभत्सतम रूप दक्षिण अफ्रीका में 1948 में देखने में आया। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद दक्षिण अफ्रीका के गोरे शासकों के सामने अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुई थीं, जिनमें से एक समस्या थी भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका में फैलने से रोकना। भारतीय लोगों को सबसे पहले सन् 1860 में नेटाल ले जाया गया था और ईख की खेती के काम में उन्हें जो कुशलता प्राप्त थी, उसका वहां पूरा लाभ उठाया गया था। लेकिन बाद में जब भारतीय लोग वहां स्थायी रूप से बस गये और उनकी संख्या बढ़ने लगी, तो गोरे शासकों को चिंता हुई और उन्होंने इस फैलाव को रोकने के प्रयत्न किये। 1948 में वहां जो चुनाव हुए, उनमें स्मट्स को हराकर नेशनलिस्ट पार्टी के नेता डा० मेलान प्रधानमंत्री बने। यह चुनाव जातीय पृथग्वासन का नारा देकर ही लड़ा और जीता गया था। और यह नारा उस समय दिया जा रहा था, जब सारी दुनिया जातीय भेदभाव और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठा रही थी।

जातीय पृथग्वासन का यह नारा केवल नारा ही नहीं था। मेलान ने प्रधानमंत्री बनते ही गोरों की श्रेष्ठता और प्रभुत्व दक्षिण अफ्रीका में कायम रखने के लिए एक नयी नीति अपनायी, जो जातीय पृथक्करण से भी कठोर थी। उपनिवेशवाद की जड़ें मजबूत बनाने के लिए गोरे शासकों को जातीय एवं सांस्कृतिक भेदभावों को बनाये रखना ही नहीं, बल्कि उन्हें बढ़ाना भी जरूरी लगा। इस नीति को लागू करने में कई बातें आती थीं जैसे-श्याम वर्णवालों को गोरों से अलग रखना, देश को ऐसे क्षेत्रों में बांटना कि काली-गोरी जातियां अलग-अलग बसें, काले-गोरे लोगों के पारस्परिक विवाहों पर प्रतिबंध, विभिन्न जातियों के लोगों के यौन-संबंधों पर रोक, सामान्य नागरिक सुविधाओं-जैसे बसें, प्रतीक्षालय आदि की अलग-अलग व्यवस्था, विभिन्न जातियों के लिए विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था आदि।

औपनिवेशिक शासन के लिए जातीय पृथग्वासन की नीति अच्छी रहती है; क्योंकि इसके द्वारा आदिवासी लोगों की पारंपरिक समाज-व्यवस्था, जातीय रीति-रिवाजों तथा विधि-विधानों को ज्यों का त्यों बनाये रखने से उन पर शासन करने में सुविधा होती है। लेकिन मानवीय दृष्टिकोण से जातीय पृथग्वासन अत्यंत गर्हित है। इसमें मानवीय समानता का तो प्रश्न ही नहीं उठता, मनुष्य के मौलिक अधिकारों का भी हनन होता है। एक ओर अनेकानेक विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त शासक जाति के लोग होते हैं, जो शासित जातियों का मनमाना शोषण करके सुखोपभोग करते और अपने आपको श्रेष्ठ मानते हैं, और दूसरी ओर सामान्य सुविधाओं और मौलिक अधिकारों तक से वंचित वे लोग होते हैं, जो इस भेदभाव की नीति के कारण अज्ञान और अंधविश्वासों में तथा पुरानी रूढ़ियों में फंसे रहकर शोषित होते हैं। इसलिए जातीय पृथग्वासन की नीति को समस्त मानवतावादी लोग गलत मानते हैं।

जादू : उस विशेष प्रभाव को जादू कहा जाता है, जो किसी व्यक्ति को अतिमानवीय जगत पर नियंत्रण प्राप्त करने में सहायता करे तथा जिसकी क्रियाओं को वह व्यक्ति अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ या अशुभ काम में ला सके। जादू करनेवाला व्यक्ति किसी अदृश्य शक्ति के साथ बराबरी करता है और उसके आगे नहीं झुकता। उसका उद्देश्य अपनी सांसारिक शक्ति की वृद्धि करना होता है। वह स्वयं के लाभ की चिंता करता है, पूरे समाज की नहीं। जादू में मंत्रों के गुप्त शब्दों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया जाता है। जादू के सिद्धांत विज्ञान की भांति ही कारण और परिणाम के संबंध के आधार पर बने हुए होते हैं। अंतर केवल यह है कि इन सिद्धांतों को गुप्त रखा जाता है और इनका प्रयोग प्रायः पिछड़े हुए अज्ञानी लोगों के बीच किया जाता है। इसीलिए इनकी सार्थकता सीमित क्षेत्र में होती है। जादू में पक्षियों के पंखों, हड्डियों, खोपड़ी तथा विचित्र प्रकार की वस्तुओं को प्रयोग में लाया जाता है। जादू की सफलता के लिए उसे यथाशक्ति गोपनीय रखा जाता है। जादूगर एकांतवास अधिक पसंद करते हैं तथा अन्य सामाजिक प्राणियों से दूर रहना चाहते हैं। जादू में रहस्य, आश्चर्य, भ्रम आदि

आवश्यक कारक होते हैं। समाज के विविध ज्ञान-विज्ञानो में जादू की प्रतिष्ठा कम होती है। अशिक्षित व पिछड़े समाजों में जादू का प्रचलन देखने में आता है।

जानवरों का सामाजिक जीवन : जानवरों में वर्तमान स्वाभाविक गुण उन्हें सहज ही मानव जाति से अलग करते हैं। जानवरों में संसार की सभ्यता संबंधी आरंभिक अथवा अभ्यस्त गुणों की आरंभिक दशा अब भी देखी जा सकती है। सामाजिक जीवन से अभ्यस्त कुछ कृमि-कीटों में युद्ध और गुलामी जैसी व्यवस्था भी देखी जा सकती है। प्रारंभिक दशा से निकलकर विकसित अवस्था में आ पहुंचनेवाले बंदरों में अपने परिवार बनाने की व्यवस्था भी पायी जाती है। यद्यपि कुछ जानवरों में सीखने का गुण विद्यमान है, फिर भी बोलने की शक्ति न होने के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते, और प्राप्त कर भी लें, तो उसका उपयोग नहीं कर सकते।

यद्यपि जानवरों में कुछ खास तरह की व्यवस्थाएं हैं, फिर भी एक जाति के जानवरों में दिखायी देनेवाली आचरण संबंधी रीतियों में, जो एकरूपता पायी जाती है, उसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इस जाति में सभ्यता विकसित हुई है। एक ही जाति के जानवरों में दिखायी देनेवाली आचरण संबंधी रीतियों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे उन्हें सहज-स्वाभाविक रूप में प्राप्त हुई हैं, किसी प्रकार के अभ्यास के कारण नहीं।

चींटियां, मधु-मक्खियां, ततैये आदि सामाजिक जीवन-वाले कीट हैं। ये समूह का निर्माण करके जीवन बिताते हैं। इनके यहां एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें श्रम-विभाजन के कठोर नियमों का पालन किया जाता है। हर समाज में तीन प्रकार के सदस्य होते हैं। संतान की उत्पति कर सकनेवाली मादा रानी के रूप में जानी जाती है, संतान उत्पन्न करने में असमर्थ मादा कीट-समूह 'श्रमिक' कहलाता है, तीसरे वर्ग में वे नर कीट आते हैं, जो आलसी होते हैं। शारीरिक निर्माण की बाबत इनमें जो अंतर पाया जाता है, उसके आधार पर ये कीट सहज बुद्धि के साथ अपने लिए विविध प्रकार के कर्तव्य निश्चित कर लेते हैं। किसी बात को सीखने या सब लोगों के लिए समान कर्तव्योंवाली किसी प्रकार की व्यवस्था को स्वीकार करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं देखी जाती। यद्यपि सारे जानवरों में सभ्यता की आरंभिक दशा देखी जा सकती है, फिर भी चूंकि इनमें सीखने की आदत नहीं होती, इसलिए इनका विकास संभव नहीं है। नये उपकरणों और सांकेतिक साधनों का निर्माण कर सकने में समर्थ मनुष्य जाति ने विकसित सामाजिक जीवन का आविर्भाव किया। इतना ही नहीं, उसने अपनी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं के अनुरूप बाह्य परिस्थितियों को बदलना सीखा, लेकिन ऐसे गुण जानवरों के समाज में नहीं पाये जाते। इसीलिए जानवर अपने सहज शारीरिक नियमों और चारों तरफ के वातावरण पर पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं तथा तदनुसार जीवन बिताते हैं।

जिप्सी : साधारणतया 'जिप्सी' शब्द का प्रयोग किसी भी घुमंतू (खानाबदोश) जनजाति या समुदाय के लिए किया जाता है। लेकिन वस्तुतः इसका प्रयोग सही अर्थ में उन्हीं समुदायों के लिए किया जाना चाहिए, जिनको यूरोप, रूस और अमरीका में घुमंतू रूप में पाया जाता है तथा जो विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी अपनी परंपरागत लोक-भाषा को 'रोमानी' कहते हैं और स्वयं को भी 'रोम' या 'रोमानी' व्यक्ति कहलाना पसंद करते हैं। विभिन्न देशों में ये विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं, जैसे, इंग्लैंड तथा अमरीका में 'जिप्सी', स्पेन में 'गिताने', चैकोस्लोवाकिया में 'सिकान' या 'सिकानी', फ्रांस में 'सिगाने', जर्मनी में 'इगेयुनर' आदि। ये लोग प्रायः लोहारी का काम करना, हस्तरेखाएं देखना, गाना, बजाना, नाचना, घोड़े खरीदना और बेचना, चोरी करना आदि काम करते रहे हैं। इन सभी देशों के इन समुदायों में प्रकृति प्रेम, उन्मुक्त हास-विलास, स्वतंत्रता की भावना, संगीत के प्रति उत्कट अभिरुचि तथा स्त्रियों में आकर्षक लावण्य देखने में आता है। यूरोप में इनके प्रसार का सर्वप्रथम उल्लेख सन् 1100 में माउंट एमोज के एक जोर्जियन भिक्षु के द्वारा लिखित विवरण से मिलता है। 1322 में इन्हें केंट, 1346 में कोरफू, 1417 में मालडविया, हंगरी, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, 1427 में पेरिस, तथा 18वीं शताब्दी में प्रायः समस्त यूरोप में सर्वप्रथम घूमते हुए पाये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

पिछले कुछ दशकों में इन समुदायों की भाषा के शब्दों तथा रीति-रिवाजों की ओर भाषविदों, समाजशास्त्रियों

और नृतत्वशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ है। यह खोज की गयी है कि इनकी रोमानी भाषा में हिंदी, राजस्थानी, संस्कृत, गुजराती तथा सिंधी भाषाओं के शब्दों की प्रचुरता है। ये सोमवार को 'प्रथम दिवस' मंगलवार को द्वितीय दिवस', पानी को 'पाणी', आंख को 'यांख', चोर को 'चोर' एक को 'एके', दो को 'दोई', पांच को 'पंच', छह को 'छो', चाकू को 'छुरी', भाग को 'याग', कोयले को 'अंगार', पत्ता को 'पत्रिन', चूहे को 'मूसा' और मनुष्य को 'जन' कहते हैं। अमरीका के जिप्सी समुदायों में जो भजन प्रचलित हैं, उनमें गुजराती भाषा के शब्दों की प्रचुरता है तथा गुजराती लोग उन भजनों को समझ सकते हैं।

चेकोस्लोवाकिया की सामाजिक भाषाविद् मिलेना ह्विब्स मनोवा के अनुसार, जो फरवरी-मार्च 1969 में भारत में आयी थीं, इस प्रकार की शब्दों संबंधी समानता के अतिरिक्त बंगला भाषा के व्याकरण से रोमानी भाषा का व्याकरण बहुत मिलता हुआ प्रतीत हुआ है। कई यूरोपीय जिप्सी स्वयं को 'सिती' कहते हैं, कई 'जूत' और कई 'जोर्राची' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सिंती' सिंधी 'जूत' जाट और 'जोर्राची' सौराष्ट्री लोगों की संतानें रही होंगी। सुप्रसिद्ध रूसी अनुसंधानकर्ता कामोविन के अनुसार रूस के जिप्सियों में ब्रह्मा, इंद्र, विष्णु, लक्ष्मी, तथा पृथ्वी माता की दंतकथाएं प्रचलित हैं। इसी प्रकार डा० खलिसंफन नामक शोधकर्ता ने कई जिप्सी ऋचाओं का अध्ययन करने के उपरांत यह निष्कर्ष दिया है कि ये उन आर्यों की ऋचाओं से मिलती हैं, जिन्हें उत्तर-पश्चिमी भारत से शत्रुओं ने खदेड़ा था। जिप्सी लोग 'ओमानी' शब्द में, जो कि 'ओम' का जिप्सी अपभ्रंश बतलाया जाता है, अपार अलौकिक शक्ति का आवास मानते हैं।

यूरोप में कई शोधकर्ताओं, चैकोस्लोवाकिया की मिलेना ह्विब्स मानोवा, भारत के भिक्षु चमनलाल तथा फ्रांस के कोखनोवस्की आदि अध्ययनकर्ताओं ने जिप्सियों की पारिवारिक व्यवस्था, पंचायत व्यवस्था, समूह संगठन व्यवस्था और जन्म, मृत्यु तथा विवाह संबंधी रीति-रिवाजों का अध्ययन करके यह बतलाया है कि ये कई भारतीय हिंदू जातियों, जनजातियों व घुमंतू जातियों की व्यवस्थाओं और प्रचलित परंपराओं से मिलती-जुलती हैं। फ्रांस एवं अन्य देशों के कुछ नृतत्वशास्त्रियों और भिक्षु चमनलाल ने यह मत दिया है कि जिप्सियों की काली आंखें, नुकीली पतली नाक, अपेक्षाकृत काला रंग, शरीर की चपलता आदि भारतीय कंजरों, सांसियों, गाडूल्या लोहारों, बंजारों, खुरपलटों, राजपूतों, डोमों आदि की शारीरिक विशेषताओं के साम्य को प्रकट करती है। भिक्षु चमनलाल ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'दी जिप्सीज़-फोरगोटन चिल्ड्रेन आफ इंडिया' में विभिन्न देशों के जिप्सियों के चित्र देकर इस प्रकार की समानता को व्यक्त करने का प्रयास किया है।

फ्रांस के जिप्सी शोधकर्ता डा० कोखनोवस्की ने, जो 1965-66 में भारत में जिप्सियों के उद्गम के बारे में शोध करने आये थे, यह मत प्रकट किया था कि उनकी भाषा और शारीरिक शक्ति, चपलता तथा चेहरों की विशेषताएं राजस्थान (खासकर मारवाड़ और मेवाड़) के राजपूतों से बहुत मिलती-जुलती हैं। वे यह विश्वास करते हैं कि भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में राम के बनवास, हरिश्चंद्र के देशनिकाले सत्यवान और सावित्री, तथा नलदमयंती के देशनिकाले के जो दृष्टांत मिलते हैं, संभवतः उन्ही के साथी या बच्चे भारत के बाहर घूमते-फिरते हुए बाद में जिप्सी बन गये थे। एक अन्य विदेशी अध्ययनकर्ता ला टाटेरी ने कोखनोवस्की के इन विश्वासों का खंडन किया है।

यूरोप के विभिन्न अध्ययनकर्ताओं का यह मत भिक्षु चमनलाल ने भी स्वीकार किया है कि संभवतः या तो ये सिकंदर के भारत आक्रमण के उपरांत उसकी सेनाओं द्वारा ले जाये गये विभिन्न भारतीय जातियों और व्यवसायियों की संताने हैं या ईरान ले जाये गये भारतीय गायकों की संतानें। इसका प्रमाण प्रसिद्ध कवि फिरदौसी की ऐतिहासिक पुस्तक 'शाहनामा' में मिलता है, जिसमें लिखा है कि ईरान के एक बादशाह बहराम गौर ने भारत से लगभग बीस हजार गवैये अपने सिंहासनारूढ़ होने के अवसर पर बुलाये थे। यह आयोजन समाप्त होने पर बादशाह ने उन्हें भूमि, बैल और बीज देकर वहीं बसने को कहा। लेकिन चूंकि गवैयों को खेती करना नहीं आता था, अतः वे सब बैल मारकर खा गये, बीज भी खा गये और जब भूखे मरने लगे, तो लूटमार करने लगे। इस पर ईरान के बादशाह ने उन्हें पश्चिम की ओर निकाल दिया। वहां से भागकर वे मिस्र पहुंचे तथा वहां कई वर्षों तक रहे। कहते हैं, वहीं के नाम पर इनको जिप्सी

कहा जाने लगा। वहां से भी बाद में उन्हें खदेड़ा गया और फिर ये शनैः-शनैः विभिन्न यूरोपीय देशों में और अब तो विश्व भर में फैल गये हैं।

रूस को छोड़कर प्रायः प्रत्येक देश ने जिप्सियों को चोर, उचक्का, जादूगर, अविश्वासनीय, गंदा व अनैतिक माना है और इन्हें अविश्वास की दृष्टि से देखते हुए जीवनायापन की कोई सुविधाएं नहीं दी हैं। क्रोमवेल के काल में इंग्लैंड में तथा हिटलर के काल में जर्मनी में इन्हें कठोर यातनाएं सहनी पड़ीं तथा बड़ी संख्या में इनको कत्ल किया गया था। आज भी कई देशों में इनको सम्मानपूर्ण जीवन-यापन नहीं करने दिया जाता। इनके लोकगीतों में सामाजिक अन्याय, स्थानीय जनता के विद्वेष और इनके जीवन की उन्मुक्तता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इंग्लैंड, रूमानिया, स्वीडन, अमेरिका, रूस आदि देशों में जिप्सी परिवार आधुनिक बन गये हैं तथा स्थायी निवास करते हुए डाक्टर, वकील, गायक, लेखक आदि के व्यवसाय अपनाने लगे हैं। यह एक निराशाजनक तथ्य है कि जिप्सियों में रुचि रखनेवाले अधिकांश विद्वान इनके लोकसाहित्य के संग्रह, इनकी भाषा और भारतीय भाषाओं में साम्य खोजने और इनका भारतीय उद्गम खोजने में तो बहुत समय, धन और शक्ति व्यय करते हुए प्रतीत हो रहे हैं, लेकिन इन समुदायों को अपने देशों से समुचित सामाजिक सुरक्षा और कल्याण के साधन दिलवाने में कोई महत्त्वपूर्ण रुचि नहीं ले रहे हैं। फलस्वरूप इनकी सामान्य स्थिति आज भी लगभग वैसी ही बनी हुई है, जैसी कि एक चैक जिप्सी के इस गीतांश में वर्णित की गयी है :

"आज तीसरा दिन है,
आज भी सारे दिन मैंने कुछ भी नहीं खाया है,
लेकिन मैं अवश्य ही खाऊंगा, और पीयूंगा,
जैसे ही मुझे काम मिलेगा।"

जीवन-स्तर : मनुष्य की अधिकांश आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य भौतिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करना होता है। ये आवश्यकताएं दैनिक जीवन में उपभोग की जानेवाली विभिन्न वस्तुओं की होती हैं। इनकी पूर्ति मनुष्य की आय पर निर्भर है। आय अधिक होने की अवस्था में अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ आराम तथा विलासिता संबंधी वस्तुओं का उपभोग भी संभव होता है। जीवन-स्तर उन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति का द्योतक है, जो मनुष्य की आय के अनुसार संभव हो सके। ये आवश्यकताएं जलवायु, सामाजिक स्तर तथा सांस्कृतिक परंपराओं के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में बदलती रहती हैं।

जीवन के स्तर का कोई निश्चित मापदंड नहीं है। इसका अनुमान आय-व्यय के लेखा द्वारा ही किया जा सकता है। जीवन-स्तर को तुलनात्मक शब्दों में व्यक्त किया जाता है, जैसे जीवन का ऊंचा स्तर या नीचा स्तर। जो मनुष्य अच्छा भोजन करता हो, हवादार मकान में रहता हो, स्वच्छ परिधान धारण करता हो तथा जिसके स्वास्थ्य और मंनोरंजन का समुचित प्रबंध हो, उसके रहन-सहन को हम जीवन के ऊंचे स्तर की संज्ञा दे सकते हैं। इसके विपरीत उन लोगों का जीवन-स्तर नीचा माना जाता है, जिन्हें अच्छे स्वास्थ्य, कार्यक्षमता तथा मनोरंजन के लिए सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं।

उच्च जीवन-स्तर मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायक होता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त, मनुष्य अपनी आय के अनुसार स्वास्थ्य और शिक्षा पर खर्च करता है। इसके बाद मनोरंजन तथा विलासिता संबंधी वस्तुओं पर व्यय किया जाता है, जो परोक्ष रूप से कार्यक्षमता के विकास में सहायक सिद्ध होता है।

समाज के विभिन्न वर्गों का जीवन-स्तर उनके व्यवसाय पर भी निर्भर करता है, जैसे समान आयवाले एक डाक्टर और हलवाई के जीवन-स्तर में काफी अंतर पाया जाता है। डाक्टर अपने तथा अपने परिवार के लोगों के लिए कपड़ा, शिक्षा तथा मनोरंजन आदि पर तथा हलवाई अपनी आय का बड़ा हिस्सा अपने व्यवसाय की उन्नति पर लगाना चाहेगा।

किसी देश के निवासियों का जीवन-स्तर उस देश की राष्ट्रीय आय से भी जाना जा सकता है। पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है तथा जनसंख्या बहुत अधिक है, इसलिए भारत में जीवन का स्तर बहुत निम्न माना जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा आर्थिक उन्नति के निरंतर प्रयास हुए हैं, जिससे राष्ट्रीय आय पर्याप्त मात्रा में बढ़ गयी है। लेकिन आय का वितरण अत्यधिक असमान है, इसलिए जिस मात्रा में राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है,

उसी मात्रा में सामान्य जनता का जीवन-स्तर नहीं बढ़ गया है। केवल कुछ ही लोग अधिकतम सुविधाओं को उपलब्ध कर रहे हैं।

टाटा इंस्टिट्यूट आफ सोशल साइंसेज : सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट द्वारा सन् 1936 में, बंबई में इसकी स्थापना हुई। यहां पर मुख्य रूप से समाज-कार्य, समाजविज्ञान, अपराध-विज्ञान, परिवार व शिशु-कल्याण आदि कई विषयों में एम०ए०, पीएच०डी० तक की प्रायोगिक शिक्षा की व्यवस्था है।

सामाजिक अनुसंधान विभाग में भारतीय और विश्व-समाज की अनेक समस्याओं पर अनुसंधान किया जाता है। इस इंस्टिट्यूट से 'दि इंडियन जर्नल आफ सोशल वर्क' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। यहां समाजविज्ञान संबंधी पुस्तकों का देश का सबसे बढ़िया पुस्तकालय है, जिसमें 23,000 पुस्तकें हैं।

इस इंस्टिट्यूट की ओर से शिशु-कल्याण संबंधी अस्पताल और विद्यालय चलाये जाते हैं।

दयानंद सरस्वती, स्वामी (1824-1883) : 19वीं शताब्दी के सुधारवादी आंदोलन आर्यसमाज के संस्थापक। उनका जन्म काठियावाड़ के टंकारा नामक गांव में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। उनके पिता शिवभक्त थे इसलिए स्वाभाविक ही था कि मूलशंकर भी शिव की आराधना करते। जब वे 14 वर्ष के थे, पिता-पुत्र ने शिवरात्रि के दिन व्रत रखा। सारी रात मंदिर में आराधना की गयी। आधी रात को मूलशंकर ने देखा, एक चुहिया शिव-मूर्ति पर चढ़कर नैवेद्य खा रही है। यह देखकर मूलशंकर ने सोचा कि जो शिव चुहिया से अपना नैवेद्य नहीं बचा सकता, वह शत्रुओं से अपने भक्तों की रक्षा कैसे कर सकता है? और मूर्तिपूजा पर से उनका विश्वास उठ गया। वे तत्काल घर आये और मां से लेकर खाना खा लिया। शीघ्र ही पिता ने उनका विवाह कराना चाहा, लेकिन मूलशंकर सच्चे शिव की तलाश करना चाहते थे, अतः विवाह वाले दिन घर से भाग निकले।

मथुरा में मूलशंकर की भेंट प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद से हो गयी। वहां उन्होंने दो-ढाई वर्षों तक वेदों का अध्ययन किया और यहीं वे मूलशंकर से दयानंद सरस्वती बने।

विद्यासमाप्ति के बाद दयानंद वेदों का प्रचार करने के लिए देश में घूमने निकल पड़े और हरिद्वार के कुंभ के मेले पर उन्होंने अपनी पाखंडखंडिनी पताका लगाकर मूर्तिपूजा का खंडन प्रारंभ कर दिया। इसके बाद शास्त्रार्थ के लिए वे काशी तथा अन्य नगरों में भी गये।

सन् 1875 में स्वामी दयानंद ने बंबई में पहला आर्यसमाज स्थापित किया। इसके पश्चात् भारत के अन्य नगरों में भी आर्यसमाज बन गये।

स्वामी दयानंद वेद को ईश्वरीय ज्ञान और एकमात्र धर्मग्रंथ मानते थे और निःसंकोच तथा निडर भाव से अन्य मत-मतांतरों का खंडन करते थे। इसी कारण अन्य संप्रदायवाले उनके शत्रु बन गये। उन्हें अनेक बार विष देने तथा अन्य उपायों से मारने का प्रयत्न किया गया, लेकिन वे हर बार जीवित बच गये। 1883 में वे जोधपुर गये। वहां एक वेश्या ने चिढ़कर उनके रसोइये को फुसलाया और उन्हें जहर दिलवा दिया। जहर इतना तेज था कि वे असाध्य रूप से रुग्ण हो गये और दीपावली के दिन उनका निधन हो गया।

स्वामी दयानंद गुजराती और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे, लेकिन उन्होंने अपना ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी में ही लिखा। वे अस्पृश्यता, जातिवाद और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। अहिंदुओं को हिंदू बनानेवाले शुद्धि-संस्कार की नींव उन्होंने ही डाली थी। हिंदू पुनरुत्थानवादी आंदोलनकारियों में स्वामी दयानंद सरस्वती का अन्यतम स्थान है। उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने भारतीय शिक्षा और समाजसेवा के कार्य को बहुत प्रभावित किया।

दहन-संस्कार : मानव के मृत शरीर का दहन अंत्यक्रिया के रूप में अनादि काल से परंपरा के रूप में होता आ रहा है। इसकी सार्थकता के पीछे कई विश्वास काम करते प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि अग्नि शुद्धीकरण करनेवाली वस्तु है, इसलिए मृत शरीर से वातावरण को दूषित होने से बचाने के लिए उसे आग में जलाना शुरू हुआ होगा। दूसरे, अग्नि आलोकित करनेवाली वस्तु है, इसलिए इहलोक से परलोक की ओर प्रस्थान करनेवाली मृतात्माओं की यात्रा को तेजस्वी बनाने का उद्देश्य भी इसके पीछे रहा होगा। तीसरे, मृत शरीर को आग में जलाकर नष्ट कर देने के पीछे शायद यह भावना भी रही होगी कि शत्रु-पक्ष

के लोग मृतक के शरीर को अपमानित न करें और पशु-पक्षी शव को न खायें। वर्तमान नगरों में स्थलाभाव के कारण भी दफनाने की अपेक्षा दहन को श्रेष्ठतर माना जा सकता है।

शव-दहन के लिए लकड़ियों का उपयोग किया जाता है, परंतु कुछ जगहों में उपलों का भी इस्तेमाल किया जाता है। धनी लोग चंदन आदि सुगंधित काष्ठों के साथ सुगंधित द्रव्य भी चिता में जलाते हैं। शव को बिजली की शक्तिशाली ऊष्मा से जलाकर राख करने की अत्याधुनिक पद्धति भी प्रचलन में आयी है।

अस्थियों और चिताभस्म के विसर्जन के लिए विभिन्न देशों में विभिन्न विधान अपनाये जाते हैं। भारत के लोग त्रिवेणी संगम में, गंगा, गोदावरी, कृष्णा जैसी पुण्य नदियों में तथा समुद्रों में अस्थियों को बहा देते हैं।

प्राचीन काल में ईसाई लोग दहन-क्रिया के विरोधी रहे; क्योंकि उनका विश्वास था कि मरनेवाले फिर लौट आते हैं। रोमन केथलिक चर्च ने दहन-क्रिया का निषेध किया। 19वीं शताब्दी के मध्य पाश्चात्य देशों में शव-दहन को वैधानिक बनाया गया है। आजकल उन लोगों में भी शव-दहन के प्रति उन्मुखता पायी जाती है।

दास प्रथा : विश्व इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दास प्रथा, मिस्र, असीरिया, सुमेरिया, बैबिलोनिया, भारत आदि देशों में प्राचीन काल में प्रचलित थी। यह प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जीवित रही और अब कानूनी रूप से इसका सभी सभ्य देशों में औपचारिक बहिष्कार हो गया है। अमरीका, दक्षिणी अफ्रीका, अरब, इंग्लैंड, भारत आदि देशों में यह प्रथा पिछले बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। अमरीका के गोरे व्यक्तियों की समृद्धि के पीछे अफ्रीका से आयात किये गये लाखों नीग्रो दासों की भयंकर वेदना व कठोर परिश्रम रहा है। राष्ट्रपति एब्राहम लिंकन ने वहां दास प्रथा की समाप्ति की।

भारतीय संस्कृति के इतिहास को देखने से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक दास प्रथा का प्रचलन रहा है। मनु, कौटिल्य आदि प्राचीन विद्वानों के ग्रंथों में समाज में दास प्रथा के विद्यमान होने का उल्लेख मिलता है। ऋगवेद की अनेक ऋचाओं में यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि राजा लोग ऋषियों, विद्वानों और अपने उच्च दरबारियों को प्रायः दास-दासियां भेंट दिया करते थे। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त मौर्य के काल में दासों के पूर्ण अभाव का उल्लेख किया है, परंतु कौटिल्य के ग्रंथ व अशोक के अभिलेख मेगस्थनीज के मत के विपरीत प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जातक कथाओं में दास प्रथा का उल्लेख मिलता है। मुसलमान काल में दासप्रथा गुलाम प्रथा कहलायी। यह सर्वविदित है कि गुलामों का शासन कई वर्षों तक दिल्ली सल्तनत पर रहा। हिंदू मुसलिम राजाओं तथा नवाबों के आवासों में गुलाम, दासी, लौंडी, नर्तकी, गोली, खोजा (नपुसंक व्यक्ति) आदि व्यक्तियों को रखने की प्रथा पिछले पच्चीस-तीस वर्षों पूर्व तक प्रचलित रही है। 22 मार्च, 1970 के 'टाइम्स आफ इंडिया' दैनिक में प्रकाशित एक लेख 'भारत में दास प्रथा' (लेखक जनकसिंह) में बतलाया गया है कि संसद-सदस्य प्रोफेसर अजमल खां ने भारत सरकार को कुछ ऐसे ऐतिहासिक दस्तावेज दिये हैं, जिनसे यह पता चलता है कि 1772 में कम आयु की लड़कियों को उड़ाकर या खरीदकर इलाहाबाद की वेश्याओं को बेचा या भेंट किया जाता था तथा उन्हें वेश्यावृत्ति के लिए तैयार किया जाता था। यह भी बतलाया गया है कि दो वर्ष की कन्या एक या डेढ़ रुपये में, दो-ढाई वर्ष की कन्या तीन रुपये में, तीन वर्ष की कन्या चार रुपये में, नौ वर्ष की कन्या दस रुपये में तथा बारह वर्ष की कन्या पच्चीस रुपये में बेची जाती थी। अंग्रेजों के काल में भी कलकत्ता में दासों का (जिन्हें तब 'कोफरी' कहा जाता था) खुले आम क्रय-विक्रय होता था। जब ब्रिटिश पार्लियामेंट में 1833 का इंडिया बिल प्रस्तुत किया गया था, तब उसमें 28 वीं धारा के अंतर्गत दास प्रथा की समाप्ति की व्यवस्था रखी गयी थी। उसके विरोध में बोलते हुए ड्यूक आफ वैलिंग्टन ने कहा था, "निस्संदेह भारत में दास प्रथा विद्यमान है, तथापि मैं इस धारा को हटा देने की सिफारिश करूंगा। मैं जानता हूं कि भारतीय सेना के प्रत्येक मुसलमान सिपाही की झोंपड़ी में एक दासी होती है, जो सिपाही को कहीं भी भेजे जाने पर उसके साथ जाती है।" 1843 तक अंग्रेजों ने दास प्रथा को हटाने का प्रयास नहीं किया था। 11 फरवरी, 1843 को लार्ड एलनबोरो ने सर्वप्रथम दासों के क्रय-विक्रय की समाप्ति की घोषणा की थी तथा

1862 में भारतीय दंड विधान में इसे कानून के रूप में सम्मिलित किया गया।

संसार भर में यह प्रथा रही है कि किसी युद्ध में जीतनेवाले लोग पराजितों की स्त्रियों, बच्चों व पुरुषों को अपना दास बनाते रहे हैं तथा उनके साथ हर प्रकार का अत्याचार करते रहे हैं। मनु ने अपने ग्रंथ मनुस्मृति में यह लिखा है कि स्वामी को अपने दासों के भोजन की व्यवस्था समुचित रूप में करनी चाहिए तथा उनके साथ पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिए। स्वामी को किसी भयंकर विपत्ति से बचाने पर अथवा मूल्य चुका देने पर दास को मुक्ति मिलने का विधान भारतीय सामाजिक ग्रंथों में रहा है।

हर्ष का विषय है कि मानव सभ्यता पर दास प्रथा का जो कलंक अब तक रहा है, वह वर्तमान प्रजातंत्र और स्वतंत्रा के युग में प्रायः पूर्णतया समाप्त हो रहा है।

दुर्खीम, एमाइल (1858-1917) : एमाइल दुर्खीम का जन्म सन् 1858 में स्ट्रासबर्ग के निकट हुआ था। उन्होंने इकोल-नारमेल में शिक्षा प्राप्त की और वे बोरडाक्स विश्वविद्यालय में समाजविज्ञान के प्राध्यापक बने, फिर सरबान में 1902 से अंतिम समय तक समाजविज्ञान तथा शिक्षा के प्रवक्ता रहे। उनकी मृत्यु सन् 1917 में हुई।

दुर्खीम जीवनपर्यंत फ्रांसीसी राजनीति से संबंधित रहे। उन्होंने विशेषरूप से इस बात की खोज करने का प्रयत्न किया कि फ्रांसीसी शिक्षा किन मूल्यों तथा सिद्धांतों से निर्दिष्ट होनी चाहिए। इस दिशा में उनको सामाजिक विचारधारा संबंधी वह समूहवादी परंपरा विरासत में मिली, जिसका प्रतिनिधित्व द मेस्त्रे, सेंट साइमन तथा काम्ते ने किया था। अपनी प्रथम मुख्य कृति 'दि डिविजन आफ लेबर इन सोसाइटी' में उन्होंने इस विचार का विरोध किया कि आधुनिक औद्योगिक समाज को किसी पूर्व सहमति के बिना और केवल स्वार्थ से प्रेरित व्यक्यिों के संविदात्मक समझौते के उपर आधारित किया जा सकता है। वे इस बात से सहमत थे कि आधुनिक समाज में मतैक्य इससे पूर्व के सरल समाज की सामाजिक व्यवस्था में पायी जानेवाली सहमति से भिन्न है, परंतु उन्होंने दोनों को ही सामाजिक एकता का रूप माना। आदिम रूप, सामूहिक विवेक पर आधारित था और आधुनिक रूप श्रम के विभाजन पर।

दुर्खीम के अनुसार समाजविज्ञान का मुख्य कार्य व्यक्ति का नहीं, अपितु सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करना है और सामाजिक तथ्यों की ये दो मुख्य विशेषताएं हैं: वे व्यक्ति के लिए बाध्य होते हैं, तथा व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। सामाजिक तथ्यों से दुर्खीम का क्या अभिप्राय है, इस विषय में उन्होंने अपनी एक कृति 'रूल्स आफ सोशियालाजिकल मैथड' (सामाजिक विधि के नियम) में विधि को इसके एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। विधि की एक विशेषता यह है कि उसका व्यक्ति के कृत्यों से पृथक् अस्तित्व होता है। इसलिए उसका व्यक्ति से अलग अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु कुछ सामाजिक तथ्य ऐसे भी होते हैं, जिनका अध्ययन व्यक्ति से असंबद्ध रूप में नहीं किया जा सकता। ऐसे मामलों में व्यक्ति का व्यवहार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत सामूहिक धारा से प्रभावित होता है और समाजशास्त्री अधिक से अधिक सांख्यिकीय दर के रूप में इसके प्रभाव को अभिलेखित करने का कार्य कर सकता है।

अपनी कृति 'स्यूइसाइड' (आत्महत्या) में उन्होंने विभिन्न समूहों के बीच आत्महत्या की दर में विभिन्नता का अध्ययन किया है और सामाजिक एकता की विभिन्न सामूहिक धाराओं अथवा रूपों में इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार असैनिकों की अपेक्षा सैनिकों और सैनिकों की अपेक्षा अधिकारियों में आत्महत्या की अधिकता को देखकर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस प्रकार की आत्महत्या परार्थवादी आत्महत्या है, जिसमें व्यक्ति अपने जीवन को कम महत्त्वपूर्ण समझता है। दुर्खीम ने अपनी समस्त कृतियों में एक समूहवादी दृष्टिकोण पर बल दिया है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों का जिस प्रकार से विवेचन किया है वह स्पैंसर, वेबर तथा मार्क्स के समाजविज्ञान से उसे भिन्नता प्रदान कर देता है।

देकार्त, रेने (1596-1650) : फ्रैंच दार्शनिक और वैज्ञानिक। देकार्त के पिता फ्रांस की संसद के काऊंसलर थे। अपनी शिक्षा समाप्ति के पश्चात् देकार्त कुछ वर्षों तक डच, जर्मन और फ्रांसीसी सेना में काम करते रहे, लेकिन 1628 में उनकी अध्ययन-प्रवृत्ति ने उन्हें सेवानिवृत्त होने को बाध्य कर दिया। सेना से अवकाश प्राप्त करने के बाद वे हालैंड में बस गये तथा शेष जीवन में

वैज्ञानिक अनुसंधानों और उनके दार्शनिक परिणामों का अध्ययन करते रहे। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं : 'डिस्कोर्स आन मैथड', 'मेडीटेरास दे प्राइया फिलास्फिया', 'प्रिंसिपिया फिलास्फिया' और 'लेज पैशान दे ल आमे'। उनके अंतिम ग्रंथ में उनके जीवविज्ञान संबंधी सिद्धांत संकलित हैं।

प्रत्यक्ष रूप से देकार्त का समाजविज्ञान के विकास में कोई योगदान नहीं है, लेकिन साहसिक तथा विवेकसंगत तर्कपद्धति के कारण उन्हें इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'लेज पैशन दे ल आमे' में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, वे 18 वीं शताब्दी की भौतिकवादी विचारधारा को विकसित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। परिणमस्वरूप समाजविज्ञान के अध्ययन में भी काफी व्यापकता आयी।

देमॉलिस, एडमंड (1852-1907) : सामाजिक उन्नति के लिए श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने की आवश्यकता पर जोर देनेवाले तथा ग्रामीण शिक्षा के विकास के लिए हर संभव कोशिश करनेवाले फ्रांसीसी समाजविज्ञानी तथा शिक्षाविद् एडमंड देमालिस मार्साइल निवासी एक वैद्य के पुत्र थे और इन्होंने मोग्रं के जेसुइट कालेज में शिक्षा पायी थी। फ्रांस के सामाजिक इतिहास की रचना करने के उद्देश्य से सन् 1873 में देमालिस पेरिस गये। उन्होंने अथक परिश्रम के आधार पर चार खंडों में फ्रांस का इतिहास लिखा, जो अब भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के जीवन को व्यवस्थित करने तथा परिवार के नैतिक बल पर जोर देने के लिए उन्होंने 1881 में समाज-सुधार संबंधी एक पत्रिका की स्थापना की। 1884 से उन्होंने समाजविज्ञान पर भाषण देने शुरू किये और सामाजिक और राजनीतिक विचारों के परस्पर संबंधों के संगठन पर जोर देते हुए 'यूनिवर्स' नामक पत्रिका में कई लेख लिखे।

ग्रामीण जनता की जीवन पद्धतियों तथा खानों और कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की परिस्थितियों का उन्होंने बहुमुखी अध्ययन किया और उसके आधार पर सामाजिक भूगोल के मार्गदर्शक बने। पेरिस नगर के बेकरी और कसाई का काम करनेवालों का भी उन्होंने सामाजिक पद्धतियों के आधार पर अध्ययन किया था।

एंग्लो-सैक्सन शिक्षा-पद्धति की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए देमालिस ने 1898 में एक नवीन शिक्षा-पद्धति को अमल में लाने के लिए एकोडेस रोशेस नामक स्कूल की स्थापना की। उन्होंने उन प्राचीन परंपरागत शिक्षा-पद्धतियों की कड़ी आलोचना की, जिनमें शारीरिक शिक्षण, भूगोल, इतिहास आदि विषयों के प्रायोगिक शिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। देमालिस ने नैतिक विकास के लिए विद्यार्थियों और अध्यापकों के परस्पर सौहार्दपूर्ण सबंधों पर और इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि ग्रामीण जनता के लिए भी शिक्षा की जरूरत है। इन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिलानेवाले फ्रेंच ग्रंथ टु व्हाट इट इज डूय के अब तक छब्बीस संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

देवदासी : प्राचीन काल से भारत में यह प्रथा चली आयी है कि मंदिरों को कुछ व्यक्ति कन्याएं दान या भेंट करते रहे हैं। पौराणिक धर्म के प्रचलन से देवताओं की सामूहिक अर्चना पर उत्तर वैदिक काल से बल दिया जाता रहा है। फलस्वरूप जिस प्रकार साधारण जनता मंदिरों में प्रसाद, धन आदि भेंटस्वरूप चढ़ाती थी, उसी प्रकार राज्य, परिवार और कई धनवान व्यक्ति मंदिरों को नर्तकियां भेंट करते थे। इसके अतिरिक्त यह प्रथा भी प्रचलित रही है कि जब किसी विवाहित युगल के कोई संतान उत्पन्न नहीं होती थी या बार-बार संतानें मर जाती थीं, तो वह प्रायः यह संकल्प कर लिया करता था कि अब आगे यदि पहली संतान कन्या उत्पन्न होगी, तो उसे देवताओं को ही भेंट कर दिया जायेगा। विशेषतया दक्षिण भारत में इस प्रकार की प्रथा कुछ समय पूर्व तक प्रचलित रही है। मंदिरों को भेंट की गयी इन कन्याओं को देवदासी कहा जाता था। इनका मुख्य कार्य मंदिरों में रहकर देवताओं के समक्ष नृत्य-गायन करना था। पंडे-पुजारियों की यौन भावनाओं की संतुष्टि इन्हें धार्मिक कृत्य मानते हुए करनी होती थी। एक प्रकार से आजन्म अविवाहित रहने की प्रथा होने पर भी इनका स्तर प्रायः धार्मिक वेश्याओं का-सा होता था। इनका इस प्रकार का शोषण भारतीय सभ्यता में अनेक सदियों तक चलता रहा है। अभी बीस वर्षों से ही इस प्रकार की प्रथा को समाप्त करने की दिशा में सरकार ने ध्यान दिया है; क्योंकि यह एक गंभीर सामाजिक कुरीति रही है। शिक्षा के प्रचार के

फलस्वरूप जनता में सामाजिक चेतना और सुधार की भावना विकसित हुई है और इस कुरीति के मिटने में बहुत योग मिला है।

धर्मनिरपेक्ष समाज : जिन समाज अथवा समाजों में सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे नये परिवर्तन, नये मूल्यों, नये दृष्टिकोणों, नये व्यवहार के प्रतिमानों को अपनाने के प्रति इच्छुक और तत्पर होंगे तथा तर्क, वैज्ञानिकता और उपयोगिता के आधार पर ऐसा करेंगे, उन्हें लौकिक या धर्मनिरपेक्ष समाज कहा जाता है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री एच०पी० बेकर ने किया था। ऐसे समाज उन समाजों से, जिनमें परिवर्तन नहीं चाहा जाता, बिल्कुल भिन्न स्वरूपवाले होते हैं। आधुनिक नागरिक-समाज, जिसमें अनुबंध, परिवर्तन, संवेदना, तर्क, मूल्यहीनता तथा कम से कम सामाजिक नियंत्रण पर बल दिया जाता है, लौकिक अथवा धर्मनिरपेक्ष समुदायों के ही स्वरूप हैं। आजकल यही मान्यता बढ़ती जा रही है कि आधुनिकीकरण के प्रसार के लिए ऐसे समाजों का अधिकाधिक विकास होना चाहिए।

नंबूदिरी जाति : नंबूदिरी शब्द की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न विचारधाराएं हैं। इनमें एक यह है कि नंबू (पवित्र) और तिरी (प्रकाश) का संयोग 'नंबूदिरी' है।

भौतिक वर्णन : विज्ञानियों के मतानुसार नंबूदिरियों की पांच उपशाखाएं हैं: तंपुराक्कम, आध्या, विशिष्टि, जातिमात्र, और सामान्य। इनके अतिरिक्त और भी कई शाखाएं देखने में आती हैं। नंबूदिरीपाद नामक एक उप-शाखा भी है। आदिशंकराचार्य इसी उप-शाखा के थे। यह नंबूदिरियों में सर्वोच्च उपशाखा मानी जाती है। पाद का शाब्दिक अर्थ ही श्रेष्ठता व अधिकार है। इन सभी शाखाओं के बीच में पारस्परिक वैवाहिक संबंध प्रचलित हैं।

व्याप्ति : पश्चिम के चालुक्य राजाओं के समय अन्य प्रांतों से आकर कुछ ब्राह्मण मलबार में बस गये थे। वे ही आज के नंबूदिरी हैं। ये शैव भी हैं और वैष्णव भी। 'चेर' राजाओं के समय राजप्रतिनिधि अपनी कन्याओं का विवाह केरल में नंबूदिरियों के साथ ही किया करते थे और पुत्रों को अन्य जातियों में भी विवाह करने की अनुमति देते थे, संभवतः इसी कारण पत्नी की संतान को ही संपत्ति देने की परंपरा यहां चल पड़ी।

रीति-रिवाज : नंबूदिरी सनातन वैदिक परंपरा की साकार मूर्ति हैं। अन्य लोगों से संपर्क न रखना और किसी प्रकार का आडंबर न करना आदि स्वमाविक गुण इनमें ज्यादा दिखायी पड़ते हैं। इन पर पाश्चात्यों का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। केरल में इनकी सारी जायदाद खेती-बारी ही है। अन्य उद्योग-धंधों के प्रति प्रायः इनमें रुचि नहीं पायी जाती। भगवान पर विश्वास, ईश्वरेच्छा पर निर्भर होना, अतिथि सत्कार और सदाचार इनके सहज गुण हैं। ये लोग वेदाध्ययन पर विशेष ध्यान देते हैं।

नंबूदिरियों में 'मक्कत्तायम' की परंपरा के अनुसार पुत्र ही पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है। सारी संपत्ति ज्येष्ठ पुत्र के अधीन रहती है, अन्य भाई केवल थोड़ी-बहुत सहायता पाने के अधिकारी हैं। किसी के बच्चे को गोद लेने की प्रथा इन लोगों में प्रचलित है। ऐसे अवसरों पर दोनों परिवारों का गोत्र एक ही होना चाहिए। गोद लिये जाने के पूर्व ही बालक के माता-पिता उसका उपनयन संस्कार करते हैं। दत्तक पुत्र के लिए अपने माता-पिता के अतिरिक्त गोद लेनेवाले माता-पिता का श्राद्ध आदि करना कर्तव्य माना जाता है।

नंबूदिरी शाकाहारी हैं। मद्य-मांस इनके लिए निषिद्ध है। चावल और शाक इनका मुख्य भोजन है। पुराने जमाने में ये लोग दिन में एक बार ही भोजन किया करते थे और रात में सिर्फ फल खाया करते थे। विधवाएं भी एक बार ही खाकर संन्यासिनी जैसा जीवन बिताती हैं। नंबूदिरी स्नान के प्रेमी हैं। सूर्योदय के पूर्व इनके लिए नहाना वर्जित है। स्नान के समय सिर्फ लंगोटी मात्र ही बांधकर ये लोग नहाया करते हैं। इनके अनुसार 64 अनाचार हैं। अन्य लोगों की तुलना में इनके कुछ आचार विचित्र लगते हैं।

ये विवाह के बारे में तीन प्रधान नियमों का पालन करते हैं:

(1) दोनों परिवारों में एक गोत्र नहीं होना चाहिए,

(2) वर और वधू को अपनी माता की ओर से और पिता की ओर से भी रिश्तेदार नहीं होना चाहिए,

(3) वर को अपने परिवार में ज्येष्ठ होना चाहिए।

नंबूदिरी परिवार में यदि ज्येष्ठ पुत्र निःसंतान मरता

है, तो दूसरा पुत्र विवाह कर सकता है। इनमें बहुत-सी स्त्रियां भी अविवाहित रह जाती हैं। नंबूदिरी कन्या अविवाहित रहकर ही मर जाये, तो उसके शव को मंगलसूत्र बांधकर उसका विवाह किया जाता है और उसके बाद ही उसकी अंत्यक्रिया होती है। बाल्य विवाह इन लोगों में प्रचलित नहीं है।

नंबूदिरी लोग मृतकों का दहन संस्कार अपने घर के अंदर ही करते हैं। ये लोग भी अन्य ब्राह्मणों की भांति श्राद्ध कर्म किया करते हैं। इनमें शैव भी हैं और वैष्णव भी। कथकली नृत्य प्रदर्शन में भी इनकी रुचि अधिक है। अश्व इनका पवित्र जंतु है। ओणम (श्रावण-पूर्णिमा) इनका प्रसिद्ध पर्व है। तुलसी का पौधा इनके लिए आराध्य है।

ये अपने को आर्य ब्राह्मण कहते हैं। रीति-रिवाजों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये लोग दक्षिण के विशुद्ध आर्य हैं।

नगर समाज (नागरिक समुदाय) : नगरों में रहनेवाले व्यक्तियों के समाज अथवा समुदाय को नगर समाज या नागरिक समुदाय कहा जाता है। इनमें से अधिकतर व्यक्ति व्यापार या नौकरी ही करते हैं। इनमें प्रायः विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्गों व व्यवसायों के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। नगर समाज में बड़े-बड़े द्वितीयक समाजों (सेकेंडरी एसोसिएशन्स) का जन्म हो जाता है जो बड़े-बड़े विभागों, कल-कारखानों, कार्यालयों, व्यापारी संस्थानों आदि का रूप धारण कर लेते हैं। इनके आगे प्राथमिक समाज बहुत सीमा तक अपना नियंत्रण या महत्त्व खो देता है। नगर समाज के सदस्यों में परस्पर सहायता, घनिष्ठता, अनौपचारिकता, निस्वार्थ, वास्तविकता आदि मूल्यों और गुणों की बहुत कमी होती है। नगर समाज के मूल्य और मानसिक झुकाव ग्रामीण समुदाय के व्यक्तियों से बहुत भिन्न होते हैं। उनमें शिक्षा, विज्ञान, प्रगति, पद-लोलुपता, धन-लोलुपता, नियमानुसार कार्य करने तथा जटिल व्यवहार करने के प्रति अधिक आकर्षक देखा जाता है। वे स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, अकेलेपन, परिवर्तन, फैशन, आदि को बहुत पसंद करते हैं। नगर समाज में क्षणिक, अस्थायी, परिवर्तनीय व औपचारिक मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। किसी भी आधुनिक देश की प्रगति उसके नगर समाजों के स्तर पर ही बहुत अधिक सीमा तक निर्भर होती है।

नाटकोटि चेट्टि जाति : 'चेट्टि' नामक जातिवालों में नाटकोटि चेट्टि जाति का विशिष्ट स्थान है। मदुरा जिले में शिवगंगा के समीप 'नाट्ट रसंगकोट्टाय' नामक छोटे-से गांव से 'नाटकोटि' शब्द उत्पन्न हुआ है। कुछ लोगों के अनुसार नाट्टकोट्टाय नामक एक स्थान के आधार पर नाटकोटि शब्द आया।

शारीरिक वर्णन : नाटकोटि चेट्टि जाति के लोग व्यापार करके और खासकर सूद का व्यापार करके बहुत संपन्न हुए हैं। ये लोग बर्मा, मलाया, श्रीलंका, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों से भी व्यापार-संबंध रखते हैं। कहा जाता है कि स्वस्थ व्यापारी रीतियों में, व्यापार संबंधी विश्वसनीयता में ये लोग पाश्चात्य व्यापारियों के समान हैं। ऋण-दाताओं के रूप में यद्यपि ये कठोर हृदय के हैं, परंतु दान-धर्म बड़ी उदारता से किया करते हैं। अपने लाभ में से ये लोग कुछ अंश दान-धर्मों के लिए निकालते हैं। चिदंबर, मदुरा, तिरुवन्नामलै आदि पुण्यक्षेत्रों के मंदिरों पर इन लोगों ने अत्यधिक धन व्यय किया है। ये लोग प्रायः मदुरा और रामनाथ जिलों में तथा मद्रास नगर में दिखायी देते हैं।

रीति-रिवाज : जब तक पिता जीवित रहता है, तब तक नाटकोटि चेट्टि लोग संयुक्त परिवार में ही रहते हैं। उनके कई आलीशान भवन होते हैं। विवाहित पुत्रों के लिए अलग-अलग कमरे दिये जाते हैं। खाना, कपड़ा, पैसा आदि साल में एक ही बार हिसाब करके दिया जाता है। इसलिए जो अतिरिक्त धन व्यय किया जाता है, उसका हिसाब उन-उनके खातों में दर्ज किया जाता है। इनके परिवार में कोई उत्पन्न होता है, तो उसके नाम पर एक निश्चित राशि रख दी जाती है, जिसके सूद से उसकी पढ़ाई का प्रबंध किया जाता है। पिता के मरणोपरांत घर ज्येष्ठ पुत्र को मिलता है, शेष संपत्ति समान रूप से सभी भाइयों में बांटी जाती है। माता के मरणोपरांत उसकी जायदाद, आभूषण आदि पुत्रियों को प्राप्त होते हैं। धनी नाटकोटि चेट्टि जाति के लोग निराडंबर और मितव्ययी हैं। स्त्रियां भी दस्तकारी के द्वारा धनार्जन करती हैं।

ये शैवधर्मी हैं। ये लोग स्वर्णखचित रुद्राक्ष मालाओं

को गले में पहनते हैं। दाढ़ी बढ़ाना इनकी विशिष्टता है। कन्याएं गले में फूलमालाएं पहनती हैं।

नातेदार या बंधु : नातेदार, बंधु या रिश्तेदार उन पुरुषों, स्त्रियों, लड़कों और लड़कियों को कहा जाता है, जो वैवाहिक अथवा रक्त संबंधों द्वारा परस्पर संबंधित होते हैं। विभिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न नातेदारों के लिए भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित होते हैं। कई संबंधी पिता के वंश से संबंधित होते हैं, तो कई माता के वंश से। इनके अतिरिक्त कई बंधु दूर के संबंधी होते हैं, जो या तो कई पीढ़ियों पहले के होते हैं अथवा माता-पिता के अन्य संबंधियों के संबंधी होते हैं। कई व्यक्ति संबंधी न होने पर भी घनिष्ठता के आधार पर संबंधी के समक्ष ही मान लिये जाते हैं। उनके साथ भी संबंधियों के साथ किया जानेवाला सामाजिक व्यवहार किया जाता है। संबंधियों के साथ व्यवहार करने में ऊंच-नीच बरतने, कम आदर, अधिक आदर करने, भेंट लेने-देने, आतिथ्य स्वीकार करने या अस्वीकार करने से संबंधित अनेकानेक व्यवहार के प्रतिमान प्रायः प्रत्येक समूह में देखने में आते हैं। जनजातीय समुदायों, पिछड़े समुदायों तथा ग्रामीण समुदायों में नातेदारी को बहुत महत्त्व प्राप्त होता है, जबकि नागरिक समाजों में उनका स्थान अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होता है।

नायडी जाति : हिंदुओं में ये लोग बहुत ही निम्न जाति के माने जाते हैं। इन्हें यह कहकर हिकारत की नजर से देखा जाता है कि ये लोग कुत्तों का मांस खाते हैं। कोच्चिन या मलबार में रहनेवाले नायडी जाति के लोग कमर के नीचे पत्ते या एक छोटा-सा कपड़ा बांध लेते हैं। इनमें से ज्यादातर लोग भीख मांगकर अपनी जीविका चलाते हैं। कहा जाता है कि ये लोग भीख मांगते हुए बुरी तरह गिड़गिड़ाते हैं और भीख मांगते हुए किसी का मीलों तक पीछा करते हैं, लेकिन भीख लिये बगैर छोड़ते नहीं हैं। एक लोक-विश्वास के अनुसार यह बताया जाता है कि कोल्वटूरु नामक स्थान के पास 'नायडी पेरय्या' के नाम से जाना जानेवाला एक पत्थर वास्तव में एक आदमी था, जो इस जाति के लोगों को भिक्षा न देने के कारण इस रूप में बदल गया है।

ये लोग बहुत कुशल शिकारी होते हैं तथा तीर चलाने में माहिर होते हैं। पुराने जमाने में, उच्च वर्गों के लोग शिकार खेलने जाते समय इन लोगों को अपने साथ ले जाया करते थे।

अस्पृश्य माने जाने के कारण ये लोग गांवों के बाहर छोटी-छोटी पहाड़ियों पर झोंपड़ियां बनाकर रहते हैं। कुछ लोग संपन्न लोगों के खेतों में रहकर उनकी रखवाली किया करते हैं। कुछ लोग खेतों में रोपाई-निराई का कार्य करके जीविका चलाते हैं।

ये लोग चूहे, नेवले, सूअर, हिरण, तोते, कोयल, कछुए, बंदर आदि जानवरों का मांस खाते हैं। इनमें शवों को जलाने की प्रथा है। ये 'मल्लन्', 'मलवरि', 'पारमन्नु' आदि देवताओं की अराधना करते हैं। इनका एक मताधिकारी होता है, जिसे ये 'मूप्पन' कहते हैं।

इनमें से कई लोगों ने इसाई और इस्लाम धर्म को अपना लिया है।

नायर जाति : नायर जाति के लोगों के बारे में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि ये मलबार पर आक्रमण करनेवाले द्राविड़ थे, जमींदारों और सैनिकों के रूप में जीवन बिताया करते थे, लेकिन कुछ समय बाद तमिलनाडु और कर्नाटक प्रांतों से बहुत ज्यादा संख्या में लोग आकर मलबार में बस गये और वे भी नायरों जैसे नामों और रीति-रिवाजों को स्वीकार करके पूर्ण रूप से नायरों में ही घुलमिल गये। एक और विश्वास के अनुसार यह माना जाता है कि पुराने जमाने में राजा लोग अपने सबसे ईमानदार सेवकों को प्रसन्न होकर 'नायर' की उपाधि दिया करते थे और ऐसे ही उपाधिधारियों की संतति आगे चलकर खुद को नायर कहने लगी। इसलिए वर्तमान नायर जाति के वास्तविक स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सरल नहीं है। दक्षिण भारत में रहनेवाले द्रविड़ों में से नायर ऐसे लोग हैं, जिनका आर्यों से निकट संबंध रहा है।

नायर के नाम से जानी जानेवाली इस सामान्य जाति में विविध उपशाखाएं पायी जाती हैं, जैसे, 'किरियम्', 'इल्लक्कर', 'बाति', 'करुवेलम्', 'मट्टवार' आदि।

आचार-व्यवहार : 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' सूत्रों के अनुसार नायर जाति के पुरुष अपने से कम सामाजिक प्रतिष्ठावाली जाति की स्त्रियों से भी विवाह कर सकते हैं। इनकी स्त्रियां अपनी जाति के पुरुषों से या ऊंची जाति

के पुरुषों से विवाह कर सकती हैं। नीची जातिवाले पुरुषों से विवाह करने की इन्हें अनुमति नहीं है। सजातीय पुरुष से प्राप्त संतान को ही नायर स्त्रियां अपने 'तरवाट' (कुटुंब) में सम्मिलित कर सकती हैं। उच्च वर्ग के पुरुष तथा निम्न वर्ग की स्त्री द्वारा होनेवाली संतान अपने पिता के साथ रह सकती है, मगर पिता के 'तरवाट' में सम्मिलित नहीं हो सकती। नायर जाति में प्रचलित आम परंपरा के अनुसार नाबालिग कन्या के गले में किसी लड़के द्वारा मंगलसूत्र बंधवाते हैं। इस तरह मंगलसूत्र बांधनेवाले लड़के को 'मणवालन्' कहते हैं। मितव्ययिता की दृष्टि से एक ही 'मणावालन्' के द्वारा एक ही समय कई लड़कियों के गले में मंगलसूत्र बंधवाने की प्रथा भी प्रचलित है। हालांकि यह रस्म भी विवाह के नाम से ही जानी जाती है, लेकिन लड़की के वास्तविक विवाह से इसका कोई संबंध नहीं होता है।

पुराने जमाने में नायर स्त्रियों में एक साथ कई पतियों को रखने की प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा काफी समय तक चलती रही, लेकिन अब यह समाप्त हो गयी है। नायर लोगों के आराध्य देवता विष्णु हैं, लेकिन वे लोग शिव और कृष्ण की भी अपार भक्ति के साथ आराधना करते हैं। नायर लोग कुछ और देवी-देवताओं की भी आराधना करते हैं। इन लोगों का मुख्य पर्व 'ओणम्' है। नायर स्त्रियों का एक खास पर्व होता है, जिसे 'तिरुवादिरा' कहते हैं।

नायर लोग अपने घर के अहाते में ही मृतकों का दहन-संस्कार करते हैं, लेकिन बच्चों को तथा चेचक और हैजे के कारण मरनेवालों को दफनाते हैं। शव को चिता के पास तक ले जानेवाले लोग स्त्रियों का वेष धारण करके गीले कपड़ों में जाते हैं।

नायर जाति के लोगों के नामों के साथ उनकी कई उपाधियां भी चलती हैं, जैसे, 'पिल्लै', 'पणिक्कर', 'कैमल्', 'उण्णित्तान', 'मेनोन' आदि।

निर्धनता : निर्धनता वह दशा है, जिसमें कोई व्यक्ति या तो अपनी अल्प आय अथवा अपनी मूर्खतापूर्ण अपव्यय प्रवृत्ति के कारण अपने जीवन-स्तर को इतना ऊंचा नहीं रख सकता, जिससे कि उसकी शारीरिक और मानसिक कुशलता बनी रहे और वह समाज में उपयोगी काम करने के योग्य हो सके।

निर्धनता दो प्रकार की होती है–प्राथमिक निर्धनता और द्वितीयक निर्धनता। प्राथमिक निर्धनता आमदनी की कमी के कारण उत्पन्न होती है, जबकि द्वितीयक निर्धनता व्यक्ति की अज्ञानता, अयोग्यता, लापरवाही, आलस्य, अपव्यय तथा कुरीतियों का शिकार होने के फलस्वरूप होती है। मुकद्दमेबाजी, शराबखोरी, फैशन आदि के फलस्वरूप भी निर्धनता उत्पन्न हो जाती है। निर्धनता का व्यक्तियों की शारीरिक विकास की गति, शिक्षा-स्तर, आचरण, नैतिकता आदि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः सरकार तथा व्यक्ति दोनों को इस ओर सजग रहने की बहुत आवश्यकता होती है कि किस प्रकार उसको दूर किया जाये। प्राकृतिक विपदाओं से उत्पन्न होनेवाली निर्धनता को दूर करने के लिए राज्य को प्रयास करना चाहिए, लेकिन द्वितीयक निर्धनता को दूर करने के लिए तो स्वयं व्यक्ति को ही अपना सुधार करना चाहिए। उसमें प्राप्ति-प्रेरणा विकसित होनी चाहिए। हमारे देशवासियों की निर्धनता के परंपरागत कारण हैं भारतीय धर्म तथा परंपराएं। अतः नवीन मूल्यों को ग्रहण करना आवश्यक है। विशेषीकरण तथा उच्च शिक्षा निर्धनता को दूर कराने में सहायक हो सकती है। शिक्षा को व्यावसायिक रुझान देने से भी समस्या का समुचित हल किया जा सकता है। लेकिन ये सारे उपाय तब तक फलप्रद नहीं हो सकते, जब तक देश की अर्थव्यवस्था को बदला नहीं जायेगा। संपत्ति पर सामाजिक अधिकार, काम की गारंटी तथा भविष्य की सुरक्षा राज्य द्वारा दिये जाने पर निर्धनता की समस्या मूलतः हल हो सकती है।

निष्ठा : नीति, न्याय, सिद्धांत, धर्म, राज्य, शासन आदि में सुदृढ़ आस्था और विश्वास को निष्ठा कहते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण गुण है। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों में आकांक्षा करता है। राज्य की विशेषताओं में से एक यह है कि उसके नागरिक उसके प्रति निष्ठा रखते हों। राजकीय कानूनों, राष्ट्रीय त्योहारों, राष्ट्रीय चिह्नों, राष्ट्रीय भाषा आदि को आदरपूर्ण मान्यता देना और उनमें आस्था रखना निष्ठा का सूचक होता है। सामाजिक संस्थाएं समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्तियों को अपने धर्म, जाति समुदाय, और राज्य के प्रति निष्ठा रखना सिखलाती हैं। विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं, रीति-

रिवाजों तथा आयोजनों के द्वारा विभिन्न प्रकार की निष्ठाएं सीखी जाती हैं।

नेतृत्व के गुण : जनता का नेता बनने के लिए एक व्यक्ति में कई सामान्य गुणों का होना आवश्यक है। उसको स्वस्थ, परिश्रमी, कल्पनाशील, दूरदर्शी, उत्साही, वस्तुओं को सविस्तार जानने का इच्छुक, समूह के प्रति श्रद्धावान तथा जनता की प्रवृत्तियों से भली-भांति परिचित होना चाहिए। उसकी बुद्धि बहुत तेज होनी चाहिए, लेकिन ऐसा होना अत्यंत आवश्यक नहीं। उसे यह अवश्य जानना चाहिए कि वह जनता का समर्थन किस प्रकार बनाये रख सकता है; क्योंकि जनता का समर्थन हटते ही उसका नेतृत्व समाप्त हो जाता है। कई नेता जो करिश्मा कर दिखानेवाले होते हैं, वे अद्वितीय गुणों से ओतप्रोत होते हैं। लेकिन साधारणतया दो प्रकार के नेता देखने में आते हैं। तानाशाह नेता और प्रजातंत्रीय नेता। हिटलर जैसे तानाशाह नेता नीति-निर्धारण, कार्य-संपादन और दंड प्रदान करने की संपूर्ण शक्ति अपने हाथों में ही रखते हैं, जबकि महात्मा गांधी जैसे प्रजातंत्रीय नेता नीति-निर्धारण में समूह के अधिक से अधिक व्यक्तियों की भलाई को ध्यान में रखते हैं। वे समूह के भीतर तनाव को कम करने की दिशा में कार्य करते हैं। वे जनसेवक का-सा व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। वे प्रेम, सहानुभूति, सहायता, नमनीयता तथा सामाजिक बुद्धिमत्ता रखते हैं। वे सदैव इस बात को जानने के इच्छुक रहते हैं कि समूह किस दिशा में चल रहा है तथा क्या चाहता है। वे सामाजिक रूप से अत्यंत संवेदनशील होते हैं और सावधानीपूर्वक सामाजिक घटनाओं को अपने पक्ष में लाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

नौचालन : यात्रा के बीच पड़नेवाली नदियों को पार करने के लिए पुलों का निर्माण किया जाता रहा है। लेकिन बड़ी-बड़ी नदियों को पार करने के लिए छोटी-छोटी नावों, चमड़े से बनी डोंगियों, पेड़ों के मोटी-मोटी छालों और पेड़ के तनों का इस्तेमाल किया जाता है। इन्हें चप्पुओं से चलाया जाता है। कुछ अवसरों पर इनके ऊपर पाल बांधकर हवा के रुख के साथ चलाया जाता है।

प्राचीन काल में आस्ट्रेलिया भूखंड तथा प्रशांत महासागर के द्वीपों में पेड़ के मोटे-से तने को नाव की आकृति में छीलकर डोंगियों के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। इसी प्रकार की नौकाएं सूडान, एशिया, यूरोप आदि में भी प्रयुक्त होती थीं। उत्तरी अमरीका में अलास्का के लोग देवदार वक्षों को डोंगियों के रूप में काटकर उनका इस्तेमाल करते थे। वे अपनी डोंगियों को सजाते थे और देवदार की छाल की ही पतवारें बनाया करते थे। ये डोंगियां लंबी होती थीं और चप्पुओं की सहायता से चलायी जाती थीं। दक्षिणी अमरीका में भी इस प्रकार की डोंगियों और नावों के प्रचलन की परंपरा मिलती है। यहां पर पेड़ों की छालों को तिमिंगल की रगों से जोड़कर नाव के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। इस तरह की नौकाओं का निर्माण स्त्रियां किया करती थीं।

थोड़ी-बहुत दूरी पार करने के लिए जली हुई मिट्टी से बनायी गयी नावें असम प्रांत में प्रयोग में लायी जाती हैं। चमड़े की थैलियों में हवा भरकर या लकड़ियों या हड्डियों के चौड़े-से ढांचे बनाकर पानी में यात्रा करने की परंपरा भी कई स्थानों में मिलती है।

एस्किमो तथा अन्य आर्क्टिक तटवासियों द्वारा काम में लायी जानेवाली चमड़े की नावों को 'कायक्स' और 'उमियाक्स' के नाम से पुकारते हैं। एक कायक्स में एक शिकारी बैठ सकता है। इस प्रकार की नावों को ग्रीनलैंड में स्त्री-नौका कहकर पुकारते हैं; क्योंकि वहां स्त्रियां ही इस तरह की नावों का प्रयोग करती हैं।

दक्षिणी समुद्र में एक नाव के साथ दूसरी नाव को रस्सियों से जोड़कर यात्रा की जाती है। बहुत ही निपुणता के साथ नावें इस तरह जोड़ी जाती हैं। कुछ लोग नावों के स्थान पर बंधी हुई लकड़ियों या लंबे बांसों का बेड़ा-सा बनाकर समुद्र में तैरा करते हैं।

मनुष्य ने पीठ पर ढोकर ले जायी जा सकनेवाली नावों का भी निर्माण किया है। इस तरह की नावें वेल्स में देखी जा सकती हैं। बहुत ही हल्के-से ढांचे पर चमड़ा कस दिया जाता है। इस तरह की नावें आसानी से ढोयी जा सकती हैं और इनसे जल-यात्रा की जा सकती है। ऐसी नावों को 'कारेकल' कहते हैं। 'कारेकल' भी कई प्रकार की होती हैं और इस प्रकार की नावों के निर्माण में अलग तरह की निपुणता अपेक्षित होती है। भारत में तमिलनाडु प्रांत में और दक्षिणी नदियों में इस तरह की 'कारेकल'

नावें देखी जा सकती हैं। आम तौर पर उनके निर्माण में बास का उपयोग होता है। छोटे-छोटे चप्पुओं की सहायता से ये नावें चलायी जाती हैं।

परंपरा : परंपरा शब्द का प्रयोग प्रायः सामाजिक विरासत के लिए किया जाता है। समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार के स्वरूप ही परंपरा के अंतर्गत आते हैं। न केवल वे ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते हैं, अपितु दार्शनिक मान्यताएं, धार्मिक विश्वास तथा कला की शैलियां भी इसके अंतर्गत आती हैं। परंपरा के अंतर्गत प्रचलित लोक-रीतियां, कानून, नैतिक नियम, ज्ञान-विज्ञान, तथा विश्वास आदि सम्मिलित होते हैं।

अनेक विद्वानों ने परंपरा की परिभाषा कई प्रकार से की है। रास के अनुसार परंपरा का अर्थ है, चिंतन या विश्वास की विधि का हस्तांतरण। डिक्शनरी आफ सोशियोलाजी (समाजशास्त्र का कोष) में लिखा है कि "सामाजिक परंपराओं का आशय किसी समूह की संस्कृति के उस आंतरिक पक्ष से है, जो भाषा के माध्यम से अर्थ, मूल्यों, विश्वासों, भावनाओं, मनोवृत्तियों या रुख और सोचने, अनुभव करने, तथा क्रिया की अन्य विधियों के माध्यम से मौखिक प्रतीकों के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित हो जाते हैं।" गिंसबर्ग के शब्दों में "परंपरा के अंतर्गत वे समस्त सामाजिक विचार, अभ्यास तथा प्रचलन आते हैं, जो व्यक्तियों में होते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते रहते हैं।"

परंपरा का सामाजिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। इसमें दृढ़ता की प्रबल शक्ति होती है, जिसके कारण युगों का अर्जित ज्ञान स्थायी बना रहता है। यदि मनुष्य को उसके अतीत का गौरव प्राप्त न हो, तो उसका जीवन कुछ न रहेगा। जिन समाजों में स्थायी परंपराएं नहीं होतीं, उनका अतीत से कोई संबंध नहीं होता और वे शृंखलाहीन होते हैं। वे दूसरों का ही अनुसरण करते हैं। परंपरा निरंतरता बनाये रखती है तथा अतीत की सफलता भावी संतति को हस्तांतरित करती है।

परया जाति : 'परया' या 'परैयन' प्राचीनकाल से मद्रास और केरल में बसी हुई एक जाति का नाम है। इस जाति के लोगों के आचार-व्यवहार बड़े विचित्र हैं। इस जाति के लोग अछूत माने जाते हैं। तमिल साहित्य में उल्लिखित 'पुलयन' और ऐमाना इस जाति के पूर्वज माने जाते हैं। इन लोगों का दावा है कि ये साल संबवन ब्राह्मण पुरोहित की संतान हैं और इसीलिए ब्राह्मण पुरोहित इनके सहोदर हैं। इस बात के ऐतिहासिक आधार मिलते हैं कि ग्यारहवीं शती के पहले से ही 'परया' शब्द प्रचलित रहा है। ये लोग ढोल बजाते हैं, इसलिए भी कहा जाता है कि इनका नाम 'परया' पड़ा होगा। आंध्र प्रदेश के 'माला' और 'मादिगा', मैसूर प्रांत के 'होलिया', मद्रास और केरल प्रांतों के 'परया' एक ही जाति के माने जाते हैं। इनके निवास-स्थान गांव से हटकर होते हैं।

व्याप्ति : उत्तर आर्काट से लेकर तिरुनेलवेली तक लगभग सभी तमिल जिलों में, तिरुवितांकूर, कोच्चिन आदि केरल के जिलों में परया लोग अधिक संख्या में पाये जाते हैं। कुछ लोग श्रीलंका, मारिशस, दक्षिणी अफ्रीका, वेस्ट इंडीज, फिजी द्वीप आदि में जाकर बस गये।

इन लोगों की तीन सौ अठतालीस शाखाएं मानी जाती हैं। इनमें वल्लवन, अम्मा (तंजाउर, मदुरा), कट्टि (सेलम, त्रिचनापल्ली), किघक्काट्टि (सेन्यस), कोकियन (येंगमपेट, तंजाऊर, तिरुच्चिरापल्लि), कोग (सेलम), कोख (कोयंबतूर), कोट्टाय (दक्षिण आर्काट), वेलरसु (सेलम), मोट्टाय (मदुरा), पच्चाय (कोयंबत्तूर), सांबन (दक्षिणी आर्काट), सोभिया (तंजाऊर, मदुरा), तंगाकिन (उत्तर एवं दक्षिण आर्काट, यंगकैप्ट सेलम, त्रिचनापल्ली), कलंगमट्ट (दक्षिणी आर्काट) प्रमुख हैं। वेलम, वेल, नट्टवलि आदि परया जातियां तिरुवितांकूर में पायी जाती हैं। परया जाति में वल्लुवन, वत्तेलियन की शाखाएं अन्य शाखाओं से अपेक्षाकृत आदर प्राप्त लोग हैं।

रीति-रिवाज : परया जाति का मुखिया (पणक्कार) इनके आपसी झगड़ों का हल करता है। वह अपने समाज में होनेवाले मान-मंग, व्यभिचार इत्यादि बातों से संबंधित झगड़ों पर भी विचार-विमर्श करता है। अन्य सवर्ण जातियों की तरह ये भी देशाई चेट्टि जाति के अंदर काम किया करते थे। परयाओं के गांव के प्रतिनिधि 'पणक्कार' कहलाते हैं।

ये लोग अन्य जातियों में विवाह नहीं करते हैं, विशेषतः वल्लुवन, केलियन आदि में इस नियम का और भी

कठोरतापूर्वक पालन किया जाता है। दूसरी जाति के लोगों के साथ ये भोजन भी नहीं करते हैं। विवाह वधू के घर में संपन्न होता है। कन्या शुल्क लेने की प्रथा इनमें प्रचलित है। वल्लुवन पुरोहित का काम भी किया करते हैं। बहु-पत्नीत्व की प्रथा के न होते हुए भी, एक रखैल रखना इनकी परंपरा है। रखैल की संतान भी औरस मानी जाती है। वल्लुवन और कोलियन विवाह के समय जनेऊ का धारण करते हैं। विधवा-विवाह भी प्रचलित है। जिस कन्या पर इन्हें शील संबंधी शंका होती है, उसे अपनी पवित्रता सिद्ध करने के लिए तेल में उबलती हुई दाल को अपने हाथ से निकालना पड़ता है और धान को अपने हाथ से कूटकर चावल बनाना पड़ता है। इतना सब करने के बावजूद जिसके हाथ यथावत रहते हैं, वह शीलवती मानी जाती है।

इनमें विभूतिधारी शैव भी हैं और त्रिपुंड्रधारी वैष्णव भी। समाज में आदर-सत्कार पाने के लिए परया जाति में से कई लोग ईसाई बन गये हैं। इनकी ग्राम देवियां हैं– एल्लम्मा, मूंगिलम्मा, पदैयट्टाक, गंगम्माल, मरियत्ताल, पोलेरम्मा आदि। मृतकों को दफनाने की प्रथा इनमें प्रचलित है। कुछ लोग मुर्दों को जलाते भी है, खासकर उत्तर आर्काट जिले में।

पुराने जमाने में यह एक आदर प्राप्त जाति मानी जाती थी। ब्राह्मणों की नियुक्ति के पूर्व पल्लव राजाओं के पुरोहित पुल्लुवन रहे। आज भी तंजाऊर जिले के अंतर्गत तिवल्लूर शिव-महोत्सव में हाथी पर बैठकर देवता को पंखा भूलता है। बेलूर के ब्राह्मण-मंदिर में और मैसूर के रामानुजाचार्य के केंद्रपीठ मेलंकोट में परया जाति के प्रवेश के लिए वर्ष में तीन दिन रखे जाते हैं। कांची, कुंभकोणम, बिल्लुपुरम में यही लोग रथ खींचते हैं।

ये लोग कृषि करनेवाले हैं और कपड़ा भी बुनते हैं। इनके अंतर्गत ही वेट्टियान्, तकैयारि, नोटि, दंडासि आदि शाखाएं शामिल होती हैं। ये लोग मांस खाते हैं। ये ऐसी झोंपड़ियों में रहते हैं, जिनमें दरवाजे नहीं होते हैं।

परिवहन के साधन : माल-असबाब को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने के लिए प्रत्येक देश में प्रायः वे पशु काम में लाये जाते हैं, जो वहां उपलब्ध होते हैं। रेतीले रेगिस्तानों में ऊंट, पथरीली जगहों में गधे और खच्चर, तथा जंगली इलाकों में हाथी का उपयोग होता है। ये जानवर अपने-अपने स्थानों की प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप विकसित हुए हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में इनका उपयोग बहुत कम हो जाता है। लेकिन मनुष्य किसी भी प्रकार की परिस्थिति में इस तरह का काम कर सकता है। इतना ही नहीं, वह उन रास्तों को भी अपने अनुरूप बदल सकता है, जिन पर से होकर उसे अपना सामान ले जाना होता है। लेकिन इस तरह की तब्दीलियों के लिए औजारों और तकनीकी वस्तुओं की अत्यंत आवश्यकता होती है।

पुराने जमाने में परिवहन के लिए मुख्यतः जानवरों, नहरों और नदियों का उपयोग किया जाता था। थोड़ी-बहुत दूरी के लिए मानव पहले अपने आप सामान ढोया करता था। उसके बाद वह इस काम के लिए जानवरों का इस्तेमाल करने लगा। कुछ और विकास करने के बाद मानव ने स्वनिर्मित यंत्रों (बैलगाड़ी, रथ आदि) में पशुओं को जोतकर सामान ढोने का काम शुरू किया।

मशीनी युग की शुरुआत के साथ ही परिवहन के मार्ग में उत्पन्न होनेवाली बाधाओं को दूर कर इसे सुगम बनाने की कोशिशें भी शुरू हो गयीं। रेलगाड़ियां परिवहन का सबसे सशक्त माध्यम बनीं। ट्रक, रेल, जहाज आदि का उल्लेख भी इस संदर्भ में किया जा सकता है। इन वाहनों के आविष्कार के कारण आजकल जानवरों की उपयोगिता कम होती जा रही है। विज्ञान के विकास ने परिवहन के साधनों को, जहां एक ओर अत्यंत उपादेय बना दिया है, वहां दूसरी ओर इनके इस्तेमाल को अत्यंत सरल भी। वर्तमान युग में जल, वायु और भूमि पर बहुत कम समय और परिश्रम के साथ भारी से भारी वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा दी जा सकती है।

मनुष्य जब तक अपने श्रम और शक्ति का प्रयोग नहीं करता, तब तक जानवरों के द्वारा वस्तुएं ढोने का काम संभव नहीं हो सकता, लेकिन मानव अपनी शारीरिक शक्ति के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार की सुविधाओं का निर्माण करने लग गया। प्रकृति से प्राप्त हवा, भाप और बिजली का मुख्य रूप से इस संदर्भ में उपयोग किया जा रहा है। आजकल परमाणु शक्ति भी इस दिशा में प्रयुक्त की जा रही है। नयी वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण इस क्षेत्र में जो परिवर्तन आये हैं, वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

परिवार एवं बाल-कल्याण : कार्यकर्ताओं तथा मनोविज्ञानियों का यह मत है कि बच्चे के विकास की दृष्टि से उसके परिवार का बड़ा महत्त्व है। ऐसी धारणा भी है कि यदि किसी कारणवश बच्चे को अपने परिवार का सुख प्राप्त नहीं हो सकता, तो उसे ऐसे वातावरण में रखा जाये, जो पारिवारिक जीवन से मिलता-जुलता हो। समाज कल्याण के विशेषज्ञों ने यह भी मान लिया है कि समाज कल्याण का आधार बाल कल्याण है।

भारत में तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह निर्णय हुआ कि बालक के संपूर्ण विकास के लिए आर्थिक, प्रशासनिक, तकनीकी, शैक्षणिक, स्वास्थ्य संबंधी तथा समाजिक उपाय किये जायें। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए सामुदायिक विकास खंडों में बाल कल्याण योजनाएं चलायी गयीं, किंतु उनके सर्वेक्षण के बाद यह पता लगा कि बाल कल्याण की कोई भी परियोजना तब तक अधूरी रहेगी, जब तक उसमें बच्चे के परिवार का योगदान न मिले। इसलिए चौथी पंचवर्षीय योजना में परिवार एवं बाल कल्याण योजनाएं चलायी गयीं। यह योजना लगभग 200 विकास-खंडों में चल रही है। इसके अंतर्गत बाल विकास केंद्रों तथा गृह कल्याण केंद्रों की स्थापना की गयी है।

बाल कल्याण केंद्र के काम को सफल बनाने के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और व्यावहारिक पोषण परियोजनाओं की सेवाओं को पूर्व-स्कूल सेवाओं से जोड़ा गया है। इन केंद्रों में 6 साल के बच्चों की देखभाल शिक्षित बाल-सेविकाएं करती हैं, जिनका मुख्य कार्य बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा, पौष्टिक आहार, मनोरंजन आदि सेवाओं की व्यवस्था करना है। इस काम में विकास खंड के अधिकारी तथा पंचायत समितियां सहायता करती हैं।

परिवार संगठन : समाजविज्ञानी परिवार को सामाजिक संगठन की मूलभूत और महत्त्वपूर्ण इकाई मानते हैं। यह सार्वभौमिक रूप से किसी न किसी रूप में विश्व के प्रत्येक समाज में पाया जाता है और समाज के व्यक्तियों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। अपनी एक पुस्तक 'दी फैमिली' (परिवार) में ई० डब्ल्यू० बगैस तथा एच० जे० लाक ने परिवार की परिभाषा इस प्रकार दी है : "परिवार ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है, जो विवाह, रक्त, या अभिग्रहण के बंधनों से एक घर के रूप में संगठित होते हैं, उस समूह में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन के रूप में अपनी-अपनी सामाजिक कार्य-भूमिका निभाते हैं, और एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं।"

किंग्सले डेविस ने परिवार को ऐसे व्यक्तियों का समूह बतलाया है, जिसके संबंध एक-दूसरे के साथ सगोत्रता पर आधारित होते हैं और इसलिए वे एक-दूसरे के संबंधी या सगोत्री कहलाते हैं।

आर० एम० मैकआइवर का कहना है कि परिवार उस समूह का नाम है, जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन संबंध पर्याप्त निश्चित होता है, और उनका साथ इतने समय तक होता है कि संतान उत्पन्न हो जाये और उसका पालन-पोषण हो जाये।

आगबर्न और निकाफ ने परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है—"परिवार न्यूनाधिक रूप से स्त्री और पुरुष से मिलकर बना हुआ एक समुदाय है, जिसमें बच्चे हों या न हों, या एक पुरुष अथवा एक स्त्री बच्चे सहित हो।"

परिवीक्षा : परिवीक्षा या प्रोबेशन अपराधियों के उपचार का वह तरीका है, जिसमें न्यायालय द्वारा लगायी गयी शर्तों के अनुसार सद्व्यवहार करने पर वे मुक्त कर दिये जाते हैं और प्रोबेशन अधिकारी के निरीक्षण में रखे जाते हैं। इस पद्धति का प्रयोग बाल अपराधियों तथा वयस्क अपराधियों दोनों के लिए किया जाता है। आजकल यह पद्धति विश्व के प्रायः सभी सभ्य देशों में प्रचलित है। भारत के कुछ राज्यों में हिंसात्मक अपराध, यौन अपराध, तथा आर्थिक अपराध करनेवाले व्यक्ति को प्रोबेशन अधिकारी की देखरेख में अपने घर पर ही रहना होता है तथा उसके व्यवहार की समय-समय पर रिपोर्ट प्रोबेशन अधिकारी द्वारा न्यायाधीश को भेजनी होती है। प्रोबेशन अधिकारी द्वारा खराब रिपोर्ट देने पर उस व्यक्ति को पुनः जेलखाने भेजा जा सकता है। इस प्रकार यह व्यवस्था नये अपराधियों को पुराने आदतन अपराधियों के बुरे प्रभावों से बचाने तथा आत्म-सुधार के अमूल्य अवसर प्रदान करती है। कारागार की अपेक्षा यह व्यवस्था कम खर्चीली और प्रभावपूर्ण सिद्ध होती है। आजकल भारत के प्रायः सभी राज्यों में सरकारी प्रोबेशन अधिकारी नियुक्त हैं।

परिहास संबंध : विश्व के अनेक सभ्य और आदिवासी समुदायों में यह देखा गया है कि कुछ विशेष रिश्तेदारों के मध्य हंसी-मजाक के घनिष्ठ संबंध पाये जाते हैं। ये संबंध आपसी व्यंग, अश्लील मजाकों व यदा-कदा अनुचित यौन चेष्टाओं का रूप भी धारण कर सकते हैं। जीजा-साली, देवर-भाभी, मामी-भानजे, दादा-पोती के मध्य ऐसे परिहास संबंध कई समुदायों में, विशेषकर पिछड़े और आदिवासी समुदायों में पाये जाते हैं। अमरीका के रेड इंडियनों में जीजा-साली के मध्य ऐसे संबंध देखने में आते हैं। अफ्रीका की कई जनजातियों में मामा की पत्नी व भानजे के मध्य भी ऐसे संबंध पाये जाते हैं। भारत में अनेक जनजातियों में ही नहीं, अपितु ग्रामीण क्षेत्रों के सभ्य निवासियों में और कभी-कभी शिक्षित व्यक्तियों में भी ऐसे संबंध देखने में आते हैं। हिंदुओं और मुसलमानों में जीजा-साली के संबंध मधुर हास-परिहास पर आधारित हैं। कई लोकगीतों में इन संबंधों का उल्लेख किया गया है। भारत की उरांव जन-जाति के सदस्यों में कुछ समय पहले तक दादा व पोती के मध्य ऐसे संबंधों के, और कभी-कभी तो उनके विवाह के, उल्लेख भी मिल जाया करते थे। बेगा जनजाति में भी ऐसी घटनाएं सुनने में आयी हैं, जिनमें एक लड़के व उसकी दादी के मध्य परिहास संबंध पाये जाते रहे हैं। राजस्थान व गुजरात में कई जनजातियों और पिछड़े वर्गों में यह देखा गया है कि नवयुवक अपने हाथों, पैरों और छाती पर अपनी सालियों और भाभियों के नाम खुदवा लेते हैं। खोजकर्ताओं ने पता लगाया है कि ऐसे संबंधों के कुछ विशेष कारण हैं। ये संबंध पारस्परिक घनिष्ठता के परिचायक हैं। यह भी हो सकता है कि जिन समुदायों में पत्नी की मृत्यु होने या उसके भाग जाने पर साली से विवाह हो जाने का रिवाज है, या पति के मर जाने पर देवर से विवाह होने का रिवाज है, वहां भविष्य की संभावना के आधार पर ही इस प्रकार के हास-परिहास को स्वीकार अथवा सहन कर लिया जाता है। सामाजिक नातेदारी में इस प्रकार के संबंध प्रसन्नता, आदर एवं निकटता को सूचित करते हैं।

परेटो, विल्फ्रेडो (1848-1923) : परेटो का जन्म 15 जुलाई, 1848 को पेरिस में हुआ था। उनकी माता एक फ्रांसीसी महिला थी। अध्ययन के लिए विल्फ्रेडो परेटो 1858 में इटली गये और 1869 में उन्होंने टोरिजो से इंजीनियरी में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उसी समय साथ ही साथ उन्होंने मानविकी तथा साहित्य का अध्ययन भी जारी रखा। उनके शोध-प्रबंध का विषय था 'दी इंडेक्स फंक्शन्स आफ इक्विलिब्रियम इन सोलिड बाडीज़'। उसके बाद उन्होंने रेलवे में बीस वर्ष तक इंजीनियर के पद पर काम किया। इस अवधि में उन्हें आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने तथा फ्लोरेंस में 'एडम स्मिथ सोसाइटी' के अधिवेशनों में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके कुछ लेख 'इकोनोमिस्टा' में भी प्रकाशित हुए। परेटो नवीन अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के प्रखर विद्यार्थी थे। उन्होंने काम्ते तथा वालरस के ग्रंथों का अध्ययन किया था। 1893 में उन्हें वालरस के उत्तरा-धिकारी के रूप में लासेन विश्वविद्यालय (स्विट्ज़रलैंड) में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर पद का निमंत्रण मिला। 1897 में उन्होंने 'कोर्स डी इकोनामिक पोलिटिक' और 1902 में 'सिस्टम्स सोसिलिस्ट' पुस्तक प्रकाशित की। 1906 में वे सेलिग्नी वापिस आये और वहां पर समाजशास्त्र और राजनैतिक अर्थशास्त्र पर पुस्तकें लिखीं।

इस अवधि में उनकी राजनैतिक विचारधारा पूर्णतया परिवर्तित हो गयी। उन्होंने फासिस्टवाद का स्वागत किया और फासिस्टवाद ने उनका स्वागत किया। उन्होंने बुर्जुआओं को श्रमिकों के विरुद्ध भड़काने का काम किया। श्रमिकों के बढ़ते हुए आंदोलन को वे खतरा समझते थे। फासिस्ट सरकार ने उन्हें 1923 में सेनेटर बना दिया और जेनेवा में लीग आफ नेशन्स में इटली का प्रतिनिधित्व करने के लिए कहा। 19 अगस्त, 1923 को जेनेवा में उनका देहांत हो गया।

उनकी कृतियों को देखकर यह कहा जा सकता है कि परेटो आधुनिक समाजविज्ञानियों में सर्वाधिक बहुश्रुत तथा विद्वान थे और इस शताब्दी के तीक्ष्ण बुद्धिवालों में से एक थे। यद्यपि उन्हें समूचे अर्थशास्त्र तथा समाजविज्ञान को एक गणितीय नियम के अंतर्गत लाने में सफलता न मिल सकी, परंतु उन्होंने अन्य अनेक दिशाओं में सफलताएं प्राप्त कीं।

परेटो ने कुछ ऐसे सिद्धांत बताये हैं, जो उनकी पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं:

(1) उनके समाजविज्ञान का क्षेत्र प्रयोग तथा

अवलोकन पर आधारित है।

(2) वे किसी धर्म या विश्वास में अंतर्निहित सत्य का विवेचन करना नहीं चाहते।

(3) वे सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए तथ्यों को निरूपित करना चाहते हैं। वे तथ्यों को महत्त्व प्रदान करते हैं। वे तथ्यों के बीच कुछ समानताओं की खोज करते हैं।

परेटो का कहना है कि वे जो छानबीन करते हैं, उसे प्रासंगिक और सापेक्ष समझना चाहिए, जिनसे कुछ न्यूनाधिक संभावित परिणाम निकलें। उनका केवल वस्तु से संबंध है, उन वस्तुओं द्वारा प्रेरित भावनाओं से नहीं। उन भावनाओं का अध्ययन प्रायोगिक सामाजिक तथ्यों के रूप में किया जाता है। परेटो ने बार-बार इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक विश्लेषण में सभी तथ्यों पर विचार किया जाना चाहिए।

पर्दा प्रथा : हिंदू व मुसलमान स्त्रियों में कपड़े से अपने चेहरे तथा अन्य अंगों को ढंकने का रिवाज प्रचलित था, जिसे पर्दा कहते हैं। वैदिक व उत्तर वैदिक काल में स्त्रियां खुले रूप में अर्थात् पर्दे के बिना आ-जा सकती थीं, लेकिन कहते हैं कि मुसलमानों के आगमन के बाद जब से उन्होंने हिंदू स्त्रियों को जबरदस्ती पकड़कर अपनी पत्नियां बनाने का प्रयास किया, तब से हिंदुओं में अविवाहित कन्याओं और विवाहित स्त्रियों को पर्दे में रखने की प्रथा चल पड़ी थी। मुसलमान स्त्रियों के स्वास्थ्य, शिक्षा और ज्ञान के विकास के अवसरों तथा सामाजिक चेतना के विकास में पर्दा-प्रथा एक गंभीर बाधा रही है। आधुनिक सभ्यता के फलस्वरूप अब यह प्रथा तेजी से समाप्त होती जा रही है। तुर्की में कमालपाशा के काल में जब से पर्दे का बहिष्कार हुआ था, तब से वहां की स्त्रियों ने आशातीत प्रगति कर ली है।

पल्लर जाति : पल्लर जाति के लोग कृषक-श्रमिक हैं। 'पल्लर' पल्लम शब्द से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है निम्न जातिवाले। ये बड़े-बड़े भू-स्वामियों के यहां कृषि संबंधी कार्यों में गुलामों की तरह काम करते हैं।

व्याप्ति : पल्लर जाति के लोग तंजाऊर, त्रिचनापल्ली, मदुराई, तिरुवेली जिलों में तथा सेलम, कोयबत्तूर जिलों के कुछ इलाकों में रहा करते हैं। शेष तमिलनाडु में इनकी जनसंख्या बहुत कम है।

रीति-रिवाज : प्राचीनकाल में ये परया लोगों की भांति अस्पृश्य माने जाते थे और गांव के बाहर झोपड़ियों में रहा करते थे। 'पल्लर' परया लोगों के प्रतिस्पर्धी थे और इसी ऊंच-नीच की भावना को दृष्टि में रखकर एक-दूसरे से लड़ा करते थे। पल्लर लोगों का यह विश्वास था कि वे भैंस का मांस न खाने के कारण परया लोगों से श्रेष्ठ हैं। पल्लर जाति की स्त्रियां और पुरुष स्वभाव से मेहनती हैं। इस जाति की स्त्रियां पेड़-पौधे लगाने और निराई-रोपाई करने में प्रवीण होती हैं। आजकल ये अन्य धंधों को भी अपनाकर जीविका चलाते हैं। पल्लरों के विवाहों में प्रायः वर की बहिन ही वधू के गले में मंगलसूत्र बांधती है। ये नाम के लिए शैव हैं, लेकिन वैसे भूत-प्रेत और ग्रामीण देवी-देवताओं की आराधना भी करते हैं। ये मुर्दों को जलाते नहीं, दफनाते हैं।

पल्ले जाति : आंध्र प्रदेश के तटीय इलाकों में समुद्र से मछली पकड़कर जीविका चलानेवाली जाति 'पल्ले जाति' के नाम से जानी जाती है। प्लेरिन इसी नाम से जानी जानेवाली एक और जाति है जो सिर्फ खेती-बाड़ी करती है। इन दोनों जातियों के लोग आपस में एक-दूसरे के साथ सद्भावना रखते हैं और वैवाहिक संबंध भी स्थापित करते हैं। कुछ स्थानों में इन लोगों के नाम के साथ 'रेड्डी' उपाधि भी लगती है। ये सभी लोग ही गोत्र से संबंध होते हैं, जिसे 'रविकुलम' कहते हैं।

विवाह आदि हर तरह के अवसर पर ये लोग आंध्र प्रदेश के और लोगों जैसे ही आचार-व्यवहार करते हैं। ये लोग ग्राम-देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे अवसरों पर पूजा-सामाग्री को ये लोग पानी में बहा देते हैं। आम तौर पर इनका निवास-स्थान समुद्र तट ही होता है।

पशुओं के समाज : जिस प्रकार मानव समाज में रहता है, उसी प्रकार यह देखने में आता है कि कई पशु भी अपने-अपने समाजों में विचरते हैं। उनमें समूह-भावना पायी जाती है। वे अपना बचाव सामूहिक रूप से करना चाहते हैं। कहते हैं कि बैल, गायें, भैंस आदि रात को जंगल में विश्राम करने बैठती हैं, तो एक घेरे में बैठती हैं और अपना मुंह बाहर

की ओर किये रहती हैं, जिससे कि शेर या अन्य किसी जंगली पशु से अपनी सामूहिक रक्षा कर सकें। भेड़िये, जंगली कुत्ते, व अन्य कई पशु सामूहिक रूप से ही विचरते हैं तथा अपने नेता के संकेतों के अनुसार ही कार्य करते हैं और अपने शिकार को घेर लेते हैं। कुछ पशुओं में नर और मादा का यौन आधार पर सामाजिक कार्य-विभाजन भी देखने में आता है। शेरनी शेर के आगे डरती है और जब तक वह खाता रहता है, वह चुपचाप ही खड़ी रहती है। इसी प्रकार कई पशु अन्य कई प्रकार के मानवोचित गुणों को प्रदर्शित करते हैं। बंदर, बनमानुष, बिल्ली, कुत्ते, घोड़े, हाथी, भालू आदि को मनुष्य ने इतना प्रशिक्षित कर लिया है कि अब मानव समाज के आज्ञाकारी और सच्चे सेवक बन गये हैं तथा उनकी सामाजिकता की भावना का विकास आशातीत रूप में हो गया है।

पारसंस, टालकोट (1902-) : टालकोट पारसंस का जन्म 1902 में अमरीका में हुआ था। उनकी शिक्षा एमहर्स्ट कालेज तथा लन्दन स्कूल आफ इकानोमिक्स में हुई। हाबहाउस, मालिनोवस्की तथा गिन्सबर्ग उनके शिक्षक रहे। मैक्स वेबर पर अपनी थीसिस लिखकर पारसंस ने हेडिलबर्ग विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने 1927 में हारवर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य प्रारंभ किया और 1944 में समाजशास्त्र के प्राध्यापक बन गये। सन् 1949 में वे अमेरिकन सोशियालाजिकल सोसाइटी के अध्यक्ष बने।

सन 1937 में उनकी 'दि स्ट्रक्चर आफ सोशल एक्शन' नामक प्रथम पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में पारसंस ने केवल एक सिद्धांत का ही विवेचन किया है। पारसंस पर कई विचारकों का प्रभाव पड़ा। पारसंस स्वयं भी यह मानते हैं कि उनके विचारों पर परेटो, दुर्खीम, मैक्स वेबर, फ्रायड, टार्सिग, ए० मार्शल, हैंडर्सन, सोंबार्ट, कोलहर जैसे समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों तथा मनोविज्ञानियों का प्रभाव पड़ा है।

पारसंस का कहना है कि कर्ता जब किसी कार्य को करते हैं, तो उनमें जो अंतर्क्रिया होती है, उसका जो संदर्भ होता है, वह सामाजिक व्यवस्था को व्यक्तित्व से भिन्न नहीं करता, अपितु व्यक्तित्व को बनाने में उसका उतना ही हाथ होता है, जितना कि सामाजिक प्राणी का। पारसंस का मुख्य उद्देश्य सामाजिक प्रणाली की व्याख्या करना है।

पारसंस केवल समाजशास्त्री ही नहीं हैं, बल्कि एक मौलिक तथा सशक्त अर्थशास्त्री भी हैं। उनकी 'इकानामी एंड सोसायटी' नामक पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ये आधुनिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में सर्वोच्च सिद्धांत-शास्त्री माने जाते हैं।

पितृतंत्र : पितृ-तंत्र ऐसी पारिवारिक व्यवस्था को कहते हैं, जिसमें संपूर्ण सत्ता पितृपक्ष में निहित होती है। परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष उसका मुखिया होता है तथा समस्त सत्ता उसके हाथों में ही केंद्रित होती है। पिता के नामों पर ही वंश चलता है। पुरुष सदस्य बाहर के परिवारों से विवाह करके पत्नियां लाते हैं। स्त्रियों को चाहे वे पत्नियां, माताएं या अविवाहित पुत्रियां हों, अपने परिवार के पुरुषों अर्थात् पति, पिता व बुजुर्ग के अधीन रहना होता है। परिवार की संपत्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरुष संतानों को हस्तांतरित होती जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था में स्त्रियों का स्तर पुरुषों से बहुत नीचा माना जाता है। यह व्यवस्था विश्व की कई जनजातियों में पायी जाती है। चीन, भारत, जापान आदि देशों में भी यह प्रणाली परंपरागत रूप में प्रचलित रही है। इस प्रकार की व्यवस्था में स्त्रियों से बहुत कठोरता बरती जाती रही है। उनको घर की चहारदीवारी में बंद रखने के लिए अनेक रीति-रिवाजों को लागू किया गया है। आजकल भारत में पितृतंत्र की व्यवस्था अपेक्षाकृत क्षीण होती जा रही है; क्योंकि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति उनमें बढ़ती हुई शिक्षा तथा नये संवैधानिक प्रावधानों के फलस्वरूप सुधर रही है।

पुनीत समाज : सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री आर० ई० पार्क ने 1920 में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया था। तब से यह शब्द समाजविज्ञान और सांस्कृतिक मानव-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रचलित हो गया है। इसका अर्थ धार्मिक समाज न होकर एक ऐसा समाज होता है, जिसमें सभी व्यक्ति प्रचलित मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को ही उचित मानते हैं और उनको बनाये रखने का भरसक प्रयास करते हैं। वे यही चाहते हैं कि कोई भी नयी व्यवस्था, मूल्य, व्यवहार के प्रतिमान आदि उस समाज में न आ

जायें, जिनसे कि उनका जीवन परिवर्तित हो जाये।

ऐसे समाज में समाजीकरण पर अत्यधिक बल दिया जाता है; क्योंकि उसके द्वारा ही व्यक्तियों को परंपराओं तथा प्रचलित मूल्यों, दृष्टिकोणों और व्यवहार के बंधनों में रखा जा सकता है। यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की पुनीतता और परंपरागत शुद्धि चाहनेवाले समाज प्रायः अंधविश्वास, अज्ञान, पृथकत्व तथा पिछड़ेपन के शिकार हो जायें। आधुनिकता के इस युग में ऐसे समाजों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है; क्योंकि आजकल प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन को लाना उचित माना जा रहा है।

पूर्व अपराधी जातियां : उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में भारत के अंग्रेज शासको ने अपराध करनेवाले समुदायों को नियंत्रित करने की ओर ध्यान दिया था। सन 1871 में भारत सरकार ने अपराधी-जनजाति-अधिनियम पारित किया और उसके अनुसार अपराधी जनजातियों, वर्गों तथा समूहों को अधिसूचित करने तथा पंजीकृत करने की व्यवस्था की गयी। जब इस अधिनियम को 1953 में निरस्त किया गया, तो उसमें कई परिवर्तन किये गये। कारण यह था कि भारत के संविधान ने इस सिद्धांत को स्वीकार किया है कि किसी भी व्यक्ति को उस समय तक दोषी या अपराधी नहीं माना जा सकता, जब तक कि वह न्यायालय में दोषी या अपराधी सिद्ध न हो जाये।

इन समुदायों का आरंभिक इतिहास निश्चित नहीं है। विभिन्न जातियों एवं समूहों का इतना अधिक अंतर्मिश्रण हुआ है कि उनके उद्‌गम के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। इन समुदायों में से अधिकांश, जैसे, बावरियां, सांसी, कंजर, बंजारे, जो विशेष रूप से उत्तर भारत में रहते हैं, अपनी उत्पत्ति ऐसे राजपूतों से मानते हैं, जिन्होंने अन्य जातियों की स्त्रियों से विवाह कर लिये थे। दक्षिण भारत में भी कोरवा, पामलोर, भंपटा, कैकादी, वादार, मागगारुड़ी, बेदार, बेराद आदि ऐसी जातियां हैं। इन जातियों के अपराध करने के अपने-अपने तरीके हैं। उनके तरीके ऐसे विचित्र होते हैं कि पुलिस को भी उनके विषय में बहुत कम पता चलता है।

इन समुदायों ने अपराध-वृत्ति को क्यों अपनाया? अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि व्यक्ति अपराध-वृत्ति को कुछ सामाजिक या अन्य कारणों से बाध्य होकर अपनाता है। ये लोग युद्ध-काल में अनाज तथा अन्य सामग्री को ढोने, पत्थर तोड़ने, चिड़ियों तथा वन्य जंतुओं को पकड़ने और बेचने जैसे कार्य करके अपना जीविकोपार्जन करते थे, परंतु बाद में उनके धंधे समाप्त हो गये और चूंकि वे लोग अशिक्षित थे, पिछड़े हुए थे और उन्हें तकनीकी जानकारी नहीं थी, अतः वे कोई ईमानदारी का व्यवसाय न अपना सके और उन्होंने छोटे-मोटे अपराध आरंभ कर दिये और फिर उनमें वृद्धि ही होती रही। बाद में उनके उद्धार की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। यद्यपि अपराधी-जनजाति-अधिनियम में संशोधन कर दिये गये हैं। परंतु इनके सुधार के लिए और इन्हें समाज के अच्छे नागरिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनको आर्थिक दृष्टि से सशक्त बनाया जाये, और अच्छे रोजगार सुलभ किये जायें। पनेपकर ने अपनी कृति 'हिस्ट्री एंड फिलासफी आफ सोशल वर्क' में 'वेलफेयर आफ डिनोटिफाइड कम्यूनिटिज' का उल्लेख करते हुए इन जातियों को तीन समूहों में विभक्त किया है :

(1) भ्रमणशील या खानाबदोश, जैसे, बंजारे या पारधी, जो सदैव घूमते रहते हैं।

(2) अर्द्धभ्रमणशील, जैसे कैरुदी, कंजर तथा कुछ ऐसी ही और जातियां हैं, जिनके निवास-स्थान तो स्थायी होते हैं, परंतु वहां पर वे लोग वर्ष में केवल कुछ महीने ही ठहरते हैं। शेष महीनों में वे अपने परिवारों के साथ प्रकट रूप में काम की तलाश में घूमते रहते हैं।

(3) स्थायी रूप से बसी हुई जातियां, जैसे बावरिये आदि का वासस्थान स्थायी होता है, वे उनसे बाहर अपराध करने के लिए या बचने के लिए जाते हैं।

इस प्रकार इन विभिन्न समूहों के साथ भिन्न प्रकार का व्यवहार अपेक्षित है। इन जातियों की समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब उन्हें आर्थिक दृष्टि से पुनः व्यवस्थित किया जाये और उनके बच्चों की शिक्षा की सुव्यवस्थित योजना बनायी जाये, जिससे कि वे अपने वर्तमान कार्य से मुक्ति पा सकें। पंचवर्षीय योजनाओं में इनकी ओर ध्यान दिया जा रहा है और इनको बसाने तथा शिक्षा एवं रोजगार की व्यवस्था की जा रही है जो अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि कानूनी विधानों से इन जातियों की अपराध-वृत्ति का निर्मार्जन करना असंभव है।

पूर्वज पूजा : अपने वंश या समुदाय के पूर्वजों की पूजा अथवा आराधना करने की परंपरा भारत, चीन, जापान, और अफ्रीका के आदि समाजों में ही नहीं अपितु सभी समुदायों में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। हिंदू धर्म के अनुसार एक हिंदू गृहस्थ के लिए अपने पितरों अथवा पितृकुल के पूर्वजों की पूजा करना अत्यंत आवश्यक है। अत: श्राद्ध पक्ष में श्राद्ध किये जाते हैं तथा उस अवसर पर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और उनको दान दिया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि ऐसा न करने पर मृतात्मा को शांति नहीं मिलती। ऐसा करने पर मृत पूर्वज आशीर्वाद देते हैं तथा घर में धन-धान्य, संतति और सुख-सुविधाओं की प्रचुरता हो जाती है। प्रत्येक हिंदू के लिए विवाह करके कम से कम एक पुत्र को जन्म देना आवश्यक बतलाया गया है, जिससे कि वह अपने पिता एवं वंश के अन्य पूर्वजों की प्रतिवर्ष पूजा कर सके और उनका श्राद्ध कर सके। पूर्वजों के जन्म और मरण दिवस मनाने की प्रथा सभ्य समाजों में भी प्रचलित हो गयी है, जो एक प्रकार से पूर्वज आराधना का वर्तमान स्वरूप कही जा सकती है। विवाह के अवसर पर विशेष रूप से पूर्वजों की पूजा करना उचित माना जाता है, जिससे कि उनका आशीर्वाद प्राप्त किया जा सके। इस प्रथा का सामाजिक महत्त्व यह है कि इससे समाज को अपनी संस्कृति का गौरव निरंतर याद रहता है।

पृथकत्व : समाजशास्त्रीय शब्दावली में पृथकत्व एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। जब व्यक्ति समाज से अपना अलगाव तथा विलगाव अनुभव करता है, तब उसका जीवन दु:खमय हो जाता है और वह अप्राकृतिक अथवा अनैतिक कार्य करने को प्रेरित हो सकता है। पृथकत्व के कई रूप हो सकते हैं, यथा :

(1) **अर्थहीनता :** अर्थात् व्यक्ति को अपने जीवन या कार्यों, उपलब्धियों आदि का कोई अर्थ या उद्देश्य ही प्रतीत नहीं होता है।

(2) **शक्तिहीनता :** इससे व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि उसके हाथों में सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक शक्तियों का अभाव है और वह अत्यंत निस्सहाय है।

(3) **नियमहीनता :** जब व्यक्ति समाज में प्रतिमानों, नियमों, आदर्शों आदि को खंडित होते हुए देखे तथा सदाचार और नियमित जीवन से उसकी आस्था उठ जाये।

(4) **कार्यहीनता :** यद्यपि समाजशास्त्रीय साहित्य में इस प्रकार के विलगाव को कोई पृथक् स्थान नहीं मिल पाया है, तथापि यह देखने में आ रहा है कि आजकल कई सरकारी कार्यालयों, शोध-संस्थानों आदि में कर्मचारी कोई समुचित कार्य न होने के फलस्वरूप भी पृथकत्व का अनुभव करते हैं। पृथकत्व की भावना व्यक्ति को जीवन में निराश कर देती है; क्योंकि व्यक्ति समाज से कतराने लगता है तथा उससे पीछे हटने का प्रयास करने लगता है। आधुनिक विश्व में प्रजातिवाद, जातिवाद, राजनैतिक दलबंदी, वर्ग-भेद, संस्थात्मक राग-द्वेष आदि के कारण अधिकाधिक व्यक्तियों के जीवन में पृथकत्व की भावना फैल रही है तथा उनमें असामाजिकता पनप रही है। इसे रोकने की दिशा में विशेष उल्लेखनीय प्रयासों का अभाव अभी भी बना हुआ है।

पेरोल पद्धति : जब एक अपराधी अपनी कैद की सजा का एक भाग सफलतापूर्वक बिता लेता है, तब जेलखाने अथवा किसी एक प्रशासकीय बोर्ड द्वारा उसे किसी जिम्मेदार व्यक्ति की निगरानी में रखकर मुक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था को पेरोल पद्धति कहा जाता है। इसका आरंभ आस्ट्रेलिया के नेस्फोक द्वीप में कैप्टेन ऐलेक्जैंडर मेकोनोची के एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम से हुआ था। भारत में उत्तर प्रदेश राज्य में 1938 में 'प्रिजनर्स रिलीज आन प्रोबेशन एक्ट' (बंदियों को परिवीक्षा पर मुक्त करने का कानून) पारित किया गया था, जिसके अंतर्गत पेरोल की व्यवस्था की गयी थी। यदि किसी कैदी का आचरण संतोषजनक होता है और राज्य सरकार को यह विश्वास हो जाता है कि वह आगे सद्व्यवहार करेगा, तो उसकी सजा की समाप्ति के पूर्व ही उसे लाइसेंस देकर कुछ समय के लिए घर जाने की अनुमति दी जा सकती है। यदि ऐसा व्यक्ति पेरोल की किसी शर्त का उल्लंघन करता है अथवा अवधि पूर्ण होने पर जेल वापस नहीं आता, तो उस पर 200 रुपया जुर्माना तथा दो वर्ष की अतिरिक्त कैद की सजा दी जाती है। देशद्रोहियों, सैनिक अपराधियों, ठगों, लुटेरों, डकैतों, और जालसाजों को ऐसी सुविधा नहीं दी जाती। जिन कैदियों ने जेल में तीन वर्ष बिताये

हैं, उन्हें बांड भरने और जमानत जमा करने पर एक माह का पेरोल मिल सकता है। जिन अपराधियों को 5 वर्ष से कम की सजा मिलती है या जिनकी मुक्ति में केवल एक वर्ष बाकी रहता है, उनको पेरोल पर रिहा नहीं किया जाता। पेरोल की व्यवस्था का लाभ यह है कि यह अपराधी एवं उसके समाज और परिवार के मध्य पुनः स्वस्थ सामाजिक संबंध स्थापित करने के अवसर प्रदान करती है। यह व्यवस्था समाज में उसके व्यवस्थापन में सहायक होती है। लेकिन यदि पेरोल अधिकारी को उसके अधीन रखे गये पेरोल के विषय में पूरी जानकारी नहीं है, तो वह उसके लिए सहायक नहीं हो सकता। योग्य प्रशिक्षित तथा सहृदय पेरोल अधिकारियों के अभाव में यह व्यवस्था निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

पोशाक : किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शरीर पर जो कुछ धारण किया जाता है, उसे पोशाक कहा जाता है। उदाहरणार्थ, विश्व भर में अधिकांश मनुष्य कपड़े पहनते हैं, मेलेनेशिया के निवासी कुत्ते के दांतों का हार पहनते हैं, आस्ट्रेलिया के आदिवासी और अंडमान के मूल निवासी अपने नग्न शरीरों पर मिट्टी या रंग पोत लेते हैं। कई आदिवासी समुदायों में कौड़ियों, पुष्पों, सीपियों, घास, पत्तों, खालों, पंखों आदि की भांति-भांति की पोशाकें बनायी जाती हैं, जिनका उद्देश्य शरीर के विभिन्न अंगों को ढंकना होता है। कपड़े बनाने के लिए आदि मानव पशुओं की खाल तथा वृक्षों की छाल का प्रयोग अधिक करते थे। आधुनिक मानव न केवल कपास, अपितु ऊन, फ्लेक्स, रासायनिक पदार्थों, प्लास्टिक, लकड़ी और फौलाद तक से अपनी पोशाक बनाने में सफल हो गया है। पोशाक का उपयोग कई उद्देश्यों से किया जाता है, यथा, जलवायु की विषमताओं से शरीर की रक्षा करने के लिए, अन्य लिंग के व्यक्तियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए, स्वयं को आकर्षक बनाने के लिए, अपनी मर्यादा बनाये रखने के लिए, अपने पद को प्रकट करने के लिए, तथा विशेष अवसर पर उपयुक्त व्यवहार करने के लिए। विवाह के अवसर पर नयी और आकर्षक पोशाक पहनने या मृत्यु के अवसर पर पुराने तथा काले वस्त्र पहनने का रिवाज अधिकतर समुदायों में होता है। मध्य युग में यूरोप तथा भारत में भी उच्च घरों तथा पदों के स्त्री-पुरुष अपने शरीर के अधिकतर भाग को वस्त्रों से ढंके रहते थे। आज भी एक सज्जन पुरुष की पोशाक, सिर, वक्षस्थल, पैरों और हाथों को ढंकती है, लेकिन आजकल अल्प वस्त्रों को पहनने का फैशन बहुत तेजी से चल पड़ा है।

प्रचार : किसी भी मत, विचारधारा, तथ्य अथवा घटना की खबर को प्रसारित करने अथवा फैलाने को ही प्रचार कहते हैं। इसका उद्देश्य आर्थिक लाभ उठाना, किसी विषय के पक्ष अथवा विपक्ष में जनमत तैयार करना, अथवा किसी घटना के विषय में लोगों को जानकारी देना अथवा आशंकित करना होता है। इस कार्य में आजकल रेडियो, चल-चित्र, समाचारपत्र, वार्तालाप, पत्र-पत्रिकाएं, पुस्तिकाएं, खेल-तमाशे आदि को साधन बनाया जाता है। युद्ध के समय में विशेषकर शत्रु पक्ष का मनोबल कमजोर करने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रचार की पद्धतियों को काम में लाया जाता है। इस प्रकार के प्रचार को द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी के युद्ध प्रचार मंत्री गोयबल्स ने अपनाया था। चीन और पाकिस्तान ने भी भारत पर अपने हमलों के समय इस प्रकार का प्रचार रेडियो, और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से किया था। जनता को गलत प्रकार के प्रचार से बचाने के लिए शिक्षित किया जाना चाहिए। आज का युग आधुनिकता का युग है और इस कारण फैशन अथवा विभिन्न प्रकार के वाद-प्रतिवादों को फैलाने में प्रचार के साधनों का प्रयोग किया जाता है। समाचारपत्रों में छपनेवाले आकर्षक विज्ञापन व्यक्तियों के हृदय में छिपी हुई भावनाओं अथवा अनुभूतियों को उभार देते हैं तथा व्यक्तियों की तर्क-शक्ति पर एक प्रकार का परदा डाल देते हैं। इसलिए आधुनिक युग में प्रत्येक नागरिक को इतना पढ़ा-लिखा और समझदार होना चाहिए कि वह गलत प्रकार के और सही प्रकार के प्रचार में अंतर कर सके और गलत प्रकार के प्रचार से बच सके।

प्रजाति मिश्रण : प्राकृतिक मिश्रण अथवा परस्पर विवाह संपर्क द्वारा विभिन्न प्रजातियों के परस्पर मिलन या मिश्रण को प्रजाति मिश्रण कहा जाता है। यह एक मूल रूप से चलनेवाली प्रक्रिया रही है। संसार की प्रायः कोई प्रजाति यह दावा नहीं कर सकती कि वह पूर्णतया शुद्ध

है या पृथक् अस्तित्व बनाये रख सकी है; क्योंकि वस्तुतः प्राचीन कालों में और भी प्रजातियों का बहुत मिश्रण होता रहा है। इस प्रकार के मिश्रण के सामाजिक परिणाम कैसे रहे हैं, यह एक पृथक् विवादास्पद प्रश्न है, लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रजातियों का मिश्रण अवश्य हुआ है। और इसमें न केवल शारीरिक गुणों अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं का भी अत्यधिक प्रसार हुआ है। यह शब्द प्रायः बुरे अर्थ में प्रयोग किया जाता है, लेकिन इसके सही पक्ष को भी ध्यान में रखना चाहिए।

प्रजातीय पृथक्करण : विश्व के कई देशों में वहां रहनेवाली प्रजातियों के मध्य परस्पर पृथक्करण या अलगाव की प्रवृत्तियां व व्यवहार प्रतिमान देखने में आते हैं। दक्षिणी अफ्रीका, रोडेशिया, अमरीका तथा ब्रिटेन में इस प्रकार के पृथक्करण गोरे लोगों द्वारा नीग्रो प्रजाति के लोगों के प्रति विभेद के रूप में विद्यमान रहे हैं, और दक्षिणी अफ्रीका में अब भी विद्यमान हैं। दक्षिणी अफ्रीका में इस प्रजातीय विद्वेष की नीति को 'अपारथीड' (शाब्दिक अर्थ में जातीय पृथग्वासन और प्रचलित अर्थ में जातीय भेदभाव की नीति) कहा जाता है। वहां नीग्रो लोगों का सामाजिक स्तर बहुत निम्न समझा जाता है। उन पर होटलों, पाठशालाओं, सार्वजनिक भागों, और अन्य ऐसे ही सार्वजनिक स्थानों में जाने पर कई प्रतिबंध लगाये गये हैं। वे अपने घर से बाहर केवल 'पास' लेकर ही जा सकते हैं। यह 'पास' कुछ शुल्क देकर बनवाया जाता है। कभी भी बिना पास बाहर निकलने पर उनका 'पास' जब्त कर लिया जाता है तथा उनको कैद में डाल दिया जाता है। नया 'पास' बनवाने के लिए पुनः शुल्क देना पड़ता है, जो अधिकांश व्यक्तियों के लिए कठिन है। उन्हें कारखानों, खानों और दुकानों में बहुत कम वेतन पर कठोर कार्य करने को बाध्य होना पड़ता है। इन अत्याचारों के विरोध में दक्षिणी अफ्रीका के कई नगरों, विशेषकर लियोपोल्डविले व शेरपाविल, में भयंकर दंगे हुए थे। नीग्रो लोगों ने उनमें इन परिचयपत्रों की होली जलायी थी। लेकिन उन्हें क्रूरतापूर्वक कुचल दिया गया था। अभी तक असंतोष, अशांति, तथा शोषण वहां हो रहा है। गोरे लोग दक्षिणी अफ्रीका की सोने, हीरों, व तांबे की खानों पर से अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहते तथा नीग्रो लोगों को अपने शोषण से मुक्त नहीं करना चाहते।

इंग्लैंड में पिछले कुछ वर्षों से न केवल नीग्रो प्रजाति के व्यक्तियों के साथ, अपितु भारतीयों व अन्य कई एशियाई देशों के व्यक्तियों के साथ भेदभाव की नीति बरती जा रही है। वहां इनोक पावेल नामक एक प्रभावशाली संसद सदस्य इस प्रकार की रंगभेद नीति को बरतने के लिए सरकार को लगातार बाध्य करते रहे हैं। इन सभी बाहरी व्यक्तियों को अब इग्लैंड में रोजगार मिलना कठिन हो गया है और उन्हें प्रवेशपत्र देने में कठिनाइयां उत्पन्न की गयी हैं। वहां रहनेवाले भारतीयों और अन्य कई एशियाई व्यक्तियों को किराये के मकान मिलने, अपने सामाजिक संबंध बढ़ाने, व्यवसाय करने आदि में अनेकानेक बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है तथा वहां ये लोग अब अत्यंत आतंकित हैं। अमरीका में नीग्रो व्यक्तियों के साथ भयंकर सामाजिक अन्याय का वह अध्याय अभी तक समाप्त नहीं हुआ, जो अमरीका की खोज व वहां नीग्रो लोगों के सर्वप्रथम ले जाने के समय से आरंभ हुआ था। वहां विशेषकर दक्षिणी राज्यों में नीग्रो लोगों को पाठशालाओं, होटलों और अन्य सार्वजनिक स्थलों में जाने से रोका जा रहा है। लिंकन, कैनेडी तथा जानसन के राष्ट्रपतित्व कालों में नीग्रो लोगों की स्थिति सुधारने की दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये थे। राष्ट्र संघ तथा विश्व-स्तर की अन्य कुछ संस्थाओं ने इस प्रकार की अन्यायपूर्ण रंगभेद नीति अथवा प्रजातीय विद्वेष के विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार किया है, परंतु यह अभी भी बनी हुई है। एक विश्व अथवा मानव एकता के आदर्श की पूर्ति में यह एक भयानक बाधा बनी हुई है।

प्रथा : व्यक्ति जब बार-बार किसी कार्य को करता है, तो वह उसकी आदत बन जाती है। जब व्यक्ति की यह आदत या आचरण पूरे समूह की आदत बन जाती है और पूरा समूह ही उसे उपयोगी मानकर उसके अनुसार आचरण करने लगता है, तो उसे प्रथा कहा जाता है। ये प्रथाएं समाज के लिए उपयोगी होती हैं, अतः ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती हैं और समूह के मनुष्यों को अपने अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं। प्रथा एक प्रकार से अभौतिक संस्कृति

का ही दूसरा रूप होती है। एक विद्वान के अनुसार तो "प्रथा कार्य करने की उपयुक्त विधियां ही नहीं हैं, बल्कि वे एकमात्र विधियां हैं।" मैकआइवर का कहना है कि "समाज की मान्यता प्राप्त करने की विधियां ही समाज की प्रथाएं हैं।" इसी प्रकार रास ने अपनी परिभाषा देते हुए कहा है कि "प्रथा का अर्थ कार्य करने की विधि का हस्तांतरण है।"

प्रथा के उल्लंघन करने पर समाज से भारी विरोध का सामना करना पड़ता है। इसमें बाध्यता और अनिवार्यता का भाव निहित होता है। इसी कारण ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं। वे अच्छी हों या बुरी, लोग उन्हें बदलने में घबराते हैं; क्योंकि उनको तोड़ने में सामाजिक मर्यादा भंग होने का भय रहता है।

भारत में बाल-विवाह एक प्रथा है। पश्चिमी समाज में युवक-युवतियां बालिग होने पर और कुटुंब का आर्थिक उत्तरदायित्व संभालने के योग्य होने पर ही विवाह करते हैं। वहां विधवाएं स्वच्छंदतापूर्वक विवाह कर सकती हैं। इन प्रथाओं का मनुष्यों के जीवन पर प्रभाव स्पष्ट है। भारत में बाल-विवाह के कारण बच्चों की जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों बहुत अधिक हैं। विवाहित बच्चे अपने माता-पिता के संयुक्त कुटुंब में रहते हैं। अमरीका में विच्छेद की प्रथा है, जिसके परिणामस्वरूप वहां के परिवार बहुत शीघ्र टूट जाते हैं तथा बच्चों का पालन-पोषण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। इस प्रकार प्रथाओं का जीवन पर अच्छा या बुरा, जैसा भी हो, प्रभाव अवश्य पड़ता है।

फैशन : फैशन एक ऐसे व्यवहार का नाम है, जो कुछ समय के लिए बहुत तेजी से अधिकतम व्यक्तियों द्वारा अपनाया जाता है। यह प्रायः संकेतों और आकृतियों की वस्तुओं के रूप में प्रकट होता है। व्यक्तियों में सदैव नवीन वस्तुओं को पाने या अपनाने की इच्छा होती है। अतः जब भी नयी आकृति की वस्तुएं बाजारों में बिकने जाती हैं और कुछ उच्च वर्गों के व्यक्ति उन्हें अपनाने लगते हैं, तो सामान्य जन भी उन्हें अपनाने के लिए लालायित हो उठते हैं। पुरानी वस्तुएं या व्यवहार के प्रतिमान भी कुछ समय के बाद पुनः प्रचलन में आ सकते हैं और इस प्रकार कई बार फैशन लहरों की भांति ऊपर चढ़ते और नीचे उतरते रहते हैं। अधिकतर व्यक्ति इसीलिए फैशन करते हैं, जिससे वे उच्च वर्गों के समझे जाने लगें।

सामाजिक मनोविज्ञानियों के अनुसार फैशन कई मनोवैज्ञानिक कारकों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, यथा, भिन्न लिंग के व्यक्ति को आकर्षित करने के लिए, अहम् की अभिव्यक्ति करने के लिए, अन्य व्यक्ति के समरूप बनने की इच्छा के कारण, अनुकरण और विपरीत अनुकरण की प्रवृत्तियों के कारण, हीनता की भावना के परिवर्तित होने पर, प्रतिष्ठात्मक सुझाव के फलस्वरूप, जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्रयोग में लाने की भावना के कारण, अफवाहों के प्रसार आधुनिक विज्ञान और कला आदि से। आजकल प्रसारण के साधनों, जैसे, रेडियो, पत्र-पत्रिकाएं, टेलीवीजन आदि के प्रयासों से विविध प्रकार के नये फैशन सामने आते जाते हैं। पश्चिमीकरण, संस्कृतीकरण और बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि ने भारत में फैशन के द्रुत विकास को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

फोनीशियाई सभ्यता : बाइबिल में फोनीशियाई लोगों को सिडोन के निवासी बताया गया है। सिडोन फोनीशियाई लोगों के द्वारा निर्मित एक प्रसिद्ध नगर था। ये लोग उपनिवेशों की स्थापना के लिए प्रसिद्ध थे। इनकी मातृभूमि फोनीशिया सीरिया के निकट लेबनान और भूमध्यसागर के बीच स्थित एक छोटा-सा नुकीला तटीय प्रांत है। समुद्र-यान और व्यापार के क्षेत्र में इस जाति के लोग अत्यंत प्रसिद्ध थे। कार्थेज, सिडोन और टायर नामक प्राचीन नगरों की स्थापना भी इन्होंने की थी।

कार्थेज अफ्रीका के प्राचीन नगरों में से एक था। यह नगर समुद्र तट पर वर्तमान ट्यूनिस नगर के पास था। टायर नगर के फोनीशियन निवासियों ने अपनी रानी डिडो के साथ आकर इस नगर की स्थापना की थी। उपनिवेश के रूप में स्थापित इस नगर ने बहुत कम समय में भी अत्यंत उन्नति की थी और महानगर का रूप धारण कर लिया था। कार्थेज दो शानदार बंदरगाहों तथा असंख्य आलीशान महलों का महानगर था, जिसमें दस लाख के करीब लोग रहते थे। ई० पू० 300 के आसपास कार्थेज अफ्रीका के भूमध्यसागर के तटीय प्रांत, स्पेन, कार्सिका, सार्डीनिया आदि देशों के समुद्र-तटों से संबद्ध राज्यों का प्रधान केंद्र रहा है। इस समय यह नगर रोम का प्रतिद्वंद्वी था। ई० पू० 264–241, 218–210

और 149-146 में रोम और कार्थेज के बीच 'प्यूनिख' के नाम से जाने जानेवाले युद्ध वस्तुतः कार्थेज के पतन के कारण थे। ई० पू० 146 में सिपियो आफ्रिकनस नामक रोमन सेनापति ने कार्थेज महानगर को मिट्टी में मिला दिया। आगस्टस सीजर के नेतृत्व में कार्थेज का पुनर्निर्माण किया गया, किंतु ईसवी सन् 700 में पुनः सैक्सन जाति के लोगों ने इसे नष्ट कर दिया।

भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर स्थित वर्तमान नगर पोर्ट सईद ही प्राचीन काल का सिडोन नगर है। प्राचीन काल में फोनीशियन लोग संसार के हर प्रांत में उपनिवेश स्थापित करने के लिए इसी नगर से गये थे। इस नगर के लोग कांच की वस्तुओं, कपड़ों, ऊदे रंग की रंगरेजी की चीजों तथा सुगंधित वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। कालांतर में सिडोन फोनीशियन लोगों के हाथों से निकलकर आसीरिया के हाथों में चला गया था। उसके बाद बेबीलोनियन और पर्शियन लोगों का भी इस पर अधिकार रहा। कुछ समय के लिए सिकंदर ने भी इस पर अधिकार किया था।

टायर फोनीशियन लोगों का एक और मुख्य नगर था। यह भी एक बंदरगाह था। इसकी स्थापना ई० पू० 5वीं शताब्दी में हुई थी। व्यापार की दृष्टि से यह नगर भूमध्यसागरीय प्रांतों में बहुत महत्त्वपूर्ण था। ई० पू० 332 में यह नगर सिकंदर के अधिकार में आ गया था। उसके बाद रोमन लोगों का भी इस पर अधिकार रहा। उस समय यह नगर रेशमी वस्त्रों और रंगरेजी की वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध था।

बंधुत्व-क्रम : वंशक्रम और विवाह-संबंधों के आधार पर बंधुत्व-क्रम तीन प्रकार का बताया जाता है। कुछ मानव-समुदायों में शब्द एक खास निश्चित अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से या सामुदायिक रूप से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के अर्थ निश्चित और संदेहरहित हुआ करते हैं।

अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं में पितृ-वर्ग को सूचित करनेवाले निश्चित शब्द हैं। माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि के परस्पर संबंधों को सूचित करनेवाले निश्चित शब्द इन भाषाओं में पाये जाते हैं। इनके अर्थ खास तौर से निर्णित होने के कारण इस वर्ग में आनेवाले शब्द-भंडार को 'मूलार्थ प्रकरण' कहते हैं। शेष बंधु वर्ग को सूचित करनेवाले शब्द अनिश्चित और संदिग्ध होते हैं। मामा, मामी, ताऊ, ताई, चाचा, चाची आदि शब्द इस संदर्भ में लिये जा सकते हैं।

कुछ समाजों में बंधुत्व वर्ग से संबंधित सारे समूह का परिचय देनेवाले शब्द एक जैसे होते हैं। उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी इस प्रकार के शब्दों का प्रचलन है, जो कई पीढ़ियों तक बंधुत्व-वर्ग का वास्तविक परिचय देनेवाले होते हैं।

बसवि : मैसूर राज्य में कई परिवारों में यह प्रथा थी कि जिन माता-पिताओं के परिवार में कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होता, वे अपनी पुत्रियों को ही आजन्म अपने परिवार में रखते थे, और उनका विवाह नहीं करते थे। वे पुत्रियां, जिन्हें बसवि कहते थे, अपनी इच्छा के अनुसार पुरुषों से यौन-संबंध स्थापित करके संतानें उत्पन्न कर सकती थीं। उनके पुत्र अपने नाना के गोत्र व उसके पारिवारिक नाम को ही ग्रहण करते थे, और उसकी संपत्ति के उत्तराधिकारी बन जाते थे। पारिवारिक संपत्ति को अपने वंश में ही रखने के लिए यह महत्त्वपूर्ण प्रथा प्रचलित रही थी। यदि कोई बसवि इस प्रथा से संबंधित व्यवहार के प्रतिमानों और रीति-रिवाजों का पालन नहीं करती, तो उसे घर से बाहर निकाल दिया जाता था। तब उन्हें देवदासी बनाया जाता था। पुत्रों के अभाव में कन्याओं के माध्यम से भी संपत्ति और पारिवारिक वंश परंपरा बनाये रखने की यह एक पद्धति थी जो अब समाप्त हो गयी है।

बहुअंशक समाज : किसी जनजातीय समाज के एक छोटे उपविभाग को 'फ्राट्री' अर्थात् बहुअंशक समाज कहा जाता है, जिसमें एक ही वंश परंपरा चलती है तथा जिसके सदस्यों में परस्पर विवाह-संबंध स्थापित नहीं होता। फ्राट्री के और भी छोटे-छोटे उप-विभाग हो सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि हिंदुओं में एक उपजाति में अनेक गोत्र होते हैं। एक फ्राट्री के सदस्यों में परस्पर नातेदारी होने के कारण घनिष्ठता, और परस्पर सहयोग की भावना विद्यमान रहती है। यह जनजातीय सामाजिक संरचना की एक महत्त्वपूर्ण मूल इकाई होती है। अब यह व्यवस्था कम होती जा रही है।

बहुसमाज : वह समाज, जिसमें अनेक प्रजातियों, समुदायों, संस्कृतियों और वर्गों के व्यक्ति निवास करते हों तथा उसके सक्रिय सदस्य के रूप में कार्य करते हों। भारत और अमरीका इसके उत्तम उदाहरण हैं। यद्यपि दक्षिणी अफ्रीका, चीन, इस्रायल आदि देशों में भी कुछ अन्य प्रजातियों के व्यक्ति देखने में आते हैं, लेकिन इन देशों में वस्तुतः अधिकतर व्यक्ति क्रमशः अफ्रीकी नीग्रो, चीनी और यहूदी ही हैं। ये अन्य व्यक्तियों को अपने में सम्मिलित नहीं करते। दक्षिणी अफ्रीका में गोरे अल्पसंख्या में हैं, परंतु वे ही वहां के शासक हैं तथा वहां के मूल निवासी नीग्रो लोगों के साथ कोई उचित सामाजिक संपर्क नहीं रखते, केवल उनके आर्थिक शोषण में ही लगे हुए हैं। इन समाजों को बहुसमाज कहना असंगत प्रतीत होता है। एक बहुसमाज में चूंकि कई समुदायों, संस्कृतियों, प्रजातियों आदि के छोटे-बड़े समाज विद्यमान होते हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह एक जटिल व्यवस्थावाला समाज होगा, जिसमें विभिन्न समुदायों में परस्पर एकता रखने और परस्पर संघर्ष उत्पन्न करनेवाली दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां विद्यमान हों। इस प्रकार के समाज में पुराना दकियानूसीपन कम होता है; क्योंकि एक दूसरे की देखा-देखी विभिन्न समुदाय प्रगति करने का प्रयास करते हैं। बहुसमाजों में प्रमुख समस्या सामाजिक एकीकरण की होती है। भारत और अमरीका में समय-समय पर होनेवाले सांप्रदायिक और प्रजातीय दंगे या तनाव इसके प्रमाण हैं। खुले समाजों की विशेषताएं रखने के फलस्वरूप ऐसे समाजों का होना आज अत्यंत आवश्यक हो गया है, यद्यपि ऐसे समाजों में कई कठिनाइयां भी होती हैं।

बाधितों के लिए समाज-कल्याण सेवाएं : विकलांगों की समस्याओं को अभी तक अच्छी तरह समझा नहीं गया है और इस दिशा में कल्याण कार्य भी बहुत कम हुआ है। विकलांगों की सामाजिक तथा मानसिक समस्याएं भी हैं, जिन्हें समझना बहुत जरूरी है और इन्हें समझे बिना आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था होना संभव नहीं है। विकलांग व्यक्ति वह है, जो अपने एक या अनेक अंगों के इस्तेमाल से पूर्णतः असमर्थ है अथवा उनका आंशिक उपयोग करने में ही समर्थ है। विकलांग व्यक्ति अन्य साधारण व्यक्तियों जैसा ही होता है, केवल विकलांगता होने के कारण ही उसकी समस्या का रूप भिन्न हो जाता है। वह विकलांगता से उत्पन्न कठिनाई के अलावा अपने सब अन्य काम साधारण व्यक्तियों की तरह ही करता है। उदाहरणार्थ एक अंधा व्यक्ति अपने सब काम साधारण व्यक्तियों की तरह कर सकता है, किंतु जहां आंखों से काम लेने की आवश्यकता होती है, वहां वह मजबूर हो जाता है। इसलिए अगर हम विकलांग व्यक्तियों की समस्याओं को समझें, तो उनमें से समाज कल्याण संबंधी अनेक समस्याओं का या तो अस्तित्व ही नहीं रह जाता है अथवा उनका कोई न कोई हल निकल आता है।

यदि बाधित व्यक्ति को जीविकोपार्जन के योग्य बनाने के लिए प्रशिक्षण नहीं दिया जायेगा, तथा उसका पुनर्वास नहीं किया जायेगा, तो वह सदा पराश्रित ही बना रहेगा। उसे इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए कि वह अपनी वर्तमान बाधा के रहते हुए भी जनसाधारण जैसा उपयोगी जीवन बिताने की दृष्टि से कुछ निश्चित प्रकार के काम कर सके। विकलांग व्यक्ति दया के पात्र होकर दान पर आश्रित रहे हैं। आजकल यह माना जाता है कि अन्य सामान्य मनुष्यों की तरह विकलांग व्यक्ति को भी सारी जीवन-सामग्री का उपयोग करने का अधिकार है और इसके लिए उसे प्रशिक्षण, शिक्षा और रोजगार की विशेष सुविधाएं उपलब्ध करायी जानी चाहिए। इससे यह परिणाम निकलता है कि विकलांग व्यक्ति को अपने अन्य अंगों की शक्ति के अधिक से अधिक विकास के लिए समाज द्वारा सहायता मिलनी चाहिए।

विकलांग व्यक्तियों को दो बातों की आवश्यकता है— आर्थिक स्वाधीनता और जीवन की सामान्य आवश्यक सुविधाएं। विकलांगों को एक अलग समूह न मानकर उन्हें समाज में अन्य नागरिकों की तरह घुलमिलकर रहने की सुविधा मिलनी चाहिए। पूरे समाज की समृद्धि में ही उनका सुख निहित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी आवश्यकताओं का सबसे पहले और सबसे अधिक ध्यान रखा जाये। आवश्यकता इस बात की है कि समाज ऐसे व्यक्ति की समस्याओं को सुलझाने में सहायता करे। बाधित व्यक्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

(1) गूंगे, बहरे तथा अंधे,
(2) अपंग, और
(3) मंदबुद्धि या मनोविकारग्रस्त।

बाधितों की कुछ अपेक्षित सेवाएं इस प्रकार हैं : शिक्षा, आवासी संस्थाएं और आवासगृह, संरक्षित निर्माणशालाएं, प्रशिक्षण और पुनर्वास, मनोरंजन, आर्थिक सहायता।

बाल अपराध : भारत में 15 वर्ष तक की आयु तक के तथा अमरीका में 16 वर्ष तक की आयु के ऐसे बालक, जो समाज-विरोधी अपराधों या कुकृत्यों में लिप्त पाये जायें, बाल-अपराधी कहलाते हैं। ऐसे बालक चोरी, जेबकतरी, आवारागर्दी, बुरे व्यक्तियों के साथ घूमना-फिरना, भीख मांगना, यौन अनाचार, शराब लाना और ले जाना, लूटमार, गुंडागर्दी, स्कूल से भाग जाना, अनुशासन भंग करना आदि कामों में रत पाये जाते हैं। प्रायः निर्धनता, छोटे और गंदे मकान, बुरी परिस्थितियां, टूटे परिवार, पारिवारिक संघर्ष, स्नेह के अभाव, बुरी संगति आदि के फलस्वरूप बालक बाल अपराधी बन जाते हैं। मनोरंजन के अभाव, बुरे मनोरंजन, यौन साहित्य, मानसिक हीनता, उद्वेगात्मक संघर्ष और अस्थिरता, बुरे चलचित्र, टेलीविजन आदि भी बालकों को बुरे मार्ग पर चलने को प्रेरित कर देते हैं। ऐसे बालकों को अनैतिक, असामाजिक खतरों से बचाने तथा उनकी शिक्षा को गतिरोध से मुक्त करने के लिए उनका सुधार करना अत्यंत आवश्यक है।

माता, पिता और शिक्षकों को यह बतलाया जाना चाहिए कि वे किस प्रकार बालकों से व्यवहार करें। बालकों को समुचित नैतिक शिक्षा भी देने की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसे बालकों के लिए उत्तम सुधार-गृह, पुनरर्पण-गृह (रिमांड होम) आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। आजकल भारत के कई नगरों में बाल अपराधियों के सुधार के लिए कई ऐसी संस्थाएं बनी हुई हैं। नगरीकरण, औद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण के फलस्वरूप बाल अपराधियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने की आशंका है। अतः समाज को इस दिशा में सजग रहकर समुचित प्रयास करना चाहिए।

बाल अपराधी न्यायालय : बाल अपराधियों को साधारण न्यायालयों के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता, अपितु उन्हें विशेष न्यायालयों में ले जाया जाता है, जो उन्हीं के लिए बने होते हैं। उन न्यायालयों में प्रायः स्त्रियां न्यायाधीश होती हैं; क्योंकि यह माना जाता है कि स्त्रियों में बच्चों के प्रति अधिक प्रेम होता है। किसी भी बाल अपराधी को जब उच्च न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया जाता है, तो उसके बारे में पूरी जानकारी प्रस्तुत की जाती है और उसके आधार पर ही समुचित फैसला सुनाया जाता है। प्रायः इस प्रकार के न्यायालय बाल अपराधियों को परिवीक्षा (प्रोबेशन) पर छोड़ देते हैं अथवा बाल सुधार गृह में भेज देते हैं। दिल्ली, बंबई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में ऐसे कुछ न्यायालय कार्य कर रहे हैं। इन न्यायालयों का मुख्य उद्देश्य बाल अपराधियों को सही प्रकार से सुधारना होता है।

बाल कल्याण : किसी भी समाज का हितसाधन इस बात पर निर्भर है कि उसमें बच्चों की आवश्यकताओं को किस सीमा तक पूरा किया जाता है। भारत की जन-संख्या में 16 वर्ष तक की अवस्था के बालकों का अनुपात अनुमानतः 42 प्रतिशत है। संख्या को दृष्टि में रखते हुए भी हमारे लिए यह आवश्यक है कि बच्चों की रक्षा तथा पालन-पोषण को कम से कम उतना महत्त्व अवश्य दिया जाये, जितना कारखानों तथा बांधों की देखरेख और उन्नति को दिया जाता है। समाज कल्याण के कार्यक्रम में बच्चों की मूल आवश्यकताओं को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। स्वास्थ्य संबंधी सेवाएं तथा खेलकूद एवं मनोरंजन का समुचित प्रबंध आदि बच्चों की मूल आवश्यकताएं हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति तथा बच्चे को शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और बौद्धिक विकास की सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए पर्याप्त धन अपेक्षित है। बच्चों को अंधता, बधिरता, मानसिक रोग अथवा अन्यान्य सामाजिक बाधाओं से बचाने और उपचार का भारी खर्च कम करने के लिए निरोधी सेवाएं आवश्यक हैं।

सेवाओं को इस तरह परस्पर समन्वित और सूत्रबद्ध करना आवश्यक है कि बच्चे की विविध आवश्यकताएं पूरी हो सकें और उसका शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक दृष्टि से सर्वांगीण विकास हो सके। इस समय 16 वर्ष तक की उम्र के सब बच्चों के लिए उपर्युक्त सब सेवाओं की व्यवस्था करना संभव नहीं है। फिर भी इसका प्रारंभ तो किया ही जा सकता है। सरकार ने इस आधार पर कार्य शुरू किया है और वह छोटे समुदायों में बच्चों की सर्वांगीण तथा समन्वित सेवाओं की कुछ परियोजनाओं

को नमूने के तौर पर कार्यान्वित कर रहा है।

बच्चे की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और बाल कल्याण कार्यक्रमों की सफलता के लिए आवश्यक है कि नीचे के स्तर पर काम करनेवाले कार्यकर्ता अच्छी तरह प्रशिक्षित हों और वे अच्छी तरह समझते हों कि बच्चे की बुनियादी आवश्यकताएं क्या हैं और संगठित बाल-सेवाओं से क्या प्रयोजन है। भारतीय बाल विकास समिति एवं योजना के मातहत बाल कल्याण सेवाओं के लिए बाल सेविकाओं का एक विशेष संवर्ग तैयार कर रही है।

इस समय हमारे देश में बाल कल्याण के जो कार्यक्रम चल रहे हैं उनको हम दो वर्गों में बांट सकते हैं : आवासीय सेवाएं तथा अनावासीय सेवाएं।

आवासीय सेवाएं तीन प्रकार की होती हैं :

(1) शिशुपालन गृह

(2) अनाथालय

(3) प्रतिपालक परिवार

अनावासीय सेवाएं दो प्रकार की होती हैं : सामान्य बच्चों के लिए तथा विशिष्ट बच्चों के लिए। सामान्य बच्चों के लिए चलाये जानेवाले सेवा-कार्यक्रम निम्नलिखित प्रकार के होते हैं।

(1) शिशुविहार, पूर्व प्राथमिक पाठशालाएं

(2) दिवा केंद्र

(3) मनोरंजन तथा हाबी क्लब

(4) अवकाश गृह

(5) विद्यालयी स्वास्थ्य सेवाएं

(6) विद्यालयी सामाजिक कार्य सेवाएं

विशिष्ट बच्चों के लिए कुछ विशिष्ट सेवाएं इस प्रकार हैं :

(1) मंदबुद्धि बच्चों के विद्यालय

(2) विकलांग शिशुओं और बच्चों के नरसरी तथा विद्यालय, जैसे अंध विद्यालय, बधिर विद्यालय आदि

(3) श्रवण विद्या केंद्र तथा श्रवण साधन कक्षाएं

(4) घर में रहनेवाली निराश्रित महिलाओं के बच्चों के भत्ते

(5) निराश्रित बच्चों की दत्तकग्रहण संबंधी सेवाएं

(6) शिशु स्वास्थ्य केंद्र और बाल चिकित्सालय आदि-आदि।

बालबाड़ी : हमारे देश में बच्चों की देखभाल परिवार में होती आयी है। लेकिन गरीबी, अज्ञान, साधनाभाव और माता के घर से बाहर काम पर जाने आदि के कारण परिवार हमेशा बच्चे के विकास के लिए स्वस्थ वातावरण की व्यवस्था नहीं कर पाता। इसलिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है, जो 6 साल तक की आयु के बच्चों की देखभाल घर के बाहर कर सके। बालबाड़ी का मुख्य उद्देश्य घर और बाहर दोनों जगह बच्चे के शारीरिक, मानसिक और भावात्मक विकास के लिए आवश्यक आधारभूत सुविधाएं जुटाना है। अतः बालबाड़ी में बच्चे के स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा, मनोरंजन तथा सामान्य कल्याण की व्यवस्था की जाती है और उसे अपनी इच्छानुसार क्रिया-कलाप करने का अवसर दिया जाता है, ताकि उसकी आंतरिक शक्तियों का समुचित विकास हो सके।

बालबाड़ी के कार्य निम्नलिखित हैं :

(क) बच्चे की बौद्धिक क्षमता का विकास करना।

(ख) बच्चे में शारीरिक चेतना का संपूर्ण विकास तथा अंग-संचालन का अभ्यास।

(ग) बच्चे को अपनी देखभाल करने, अनुशासन में रहने तथा सामाजिक तालमेल की कला सीखने के अवसर और प्रशिक्षण देना।

(घ) बच्चे के स्वास्थ्य, तथा पोषण की आवश्यकताओं को पूरा करना।

(ङ) बच्चे के लिए मनोरंजन तथा सामान्य कल्याण की व्यवस्था करना।

बालबाड़ी में ढाई से 6 वर्ष तक के बच्चे आते हैं। एक बालबाड़ी में 30-40 बच्चे होते हैं। बालबाड़ी का समय चार से आठ घंटे तक होता है और यह समय बच्चों तथा परिवारों की स्थिति पर निर्भर होता है। प्रत्येक बालबाड़ी के लिए अच्छे वातावरण में भवन, खेल का मैदान, साज-सामग्री, डाक्टरी देखभाल, पौष्टिक आहार, विश्राम, पाठ्यचर्या, सफाई और प्रशिक्षित कार्यकर्ता (बाल-सेविका) आदि की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त बच्चे के परिवार, स्वास्थ्य केंद्र, व्यावहारिक पोषण परियोजना आदि संस्थाओं का योगदान बच्चे के संपूर्ण विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

बालबाड़ी शहरों और गांवों में एक नया और महत्त्वपूर्ण

परीक्षण है। कामकाजी महिलाओं के बच्चों की देखभाल तथा बच्चे को प्राथमिक पाठशाला की तैयारी के लिए यह एक बड़ी लाभदायक संस्था सिद्ध हुई है। कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक निधि ने पहले-पहल गांवों में बालबाड़ियों की स्थापना की थी। इसके बाद केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड तथा सामुदायिक विकास विभाग ने भी विकास खंडों में हजारों बालबाड़ियों का आयोजन किया। शहरों में गंदी बस्तियों तथा पिछड़े हुए इलाकों में यह कार्यक्रम आरंभ किया गया। ग्राम समुदाय शहरी स्वैच्छिक संस्थाओं, कारखानों तथा नगर-निगम आदि को इस सेवा में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिए, ताकि अधिक से अधिक बच्चों के लिए थोड़े से उपक्रम और आयोजन से बालबाड़ियां स्थापित की जा सकें।

बेरि चेट्टि जाति : यह जाति चेट्टि जाति की एक उपशाखा मात्र है। ये खुद अपने को वैश्य मानते हैं। इस जाति की कई अंतःशाखाएं हैं। इन अंतःशाखाओं के नाम उन स्थानों पर आधारित हैं, जहां उन जातियों के पूर्वज रहते थे। ये सभी जनेऊ धारण करते हैं। विधवा-विवाह भी इनमें प्रचलित है। इनमें आम तौर पर सयानी लड़कियों के ही विवाह होते हैं। इन शाखाओं में परस्पर अंतर्विवाह भी होते हैं। इनमें कुछ लोग शाकाहारी हैं, परंतु मांसाहार के प्रति विमुख नहीं हैं। ये शैव-धर्मी भी हैं और वैष्णवधर्मी भी। शैवों में लिंगधारी अन्य धर्मावलंबियों के साथ भी वैवाहिक संबंध स्थापित कर लेते हैं।

बैबिलोनियन सभ्यता : प्राचीनकालीन महान साम्राज्यों में बैबिलोनियन अत्यंत प्रसिद्ध है। इस देश में 'यूफ्रेटीस' और 'टाइग्रीस' नामक नदियां बहती थीं। इसी कारण इसका नाम मेसोपोटेमिया (नदियों के बीच का राज्य) पड़ा था। यही वर्तमान युग में ईराक के नाम से जाना जा रहा है। हालांकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ई० पू० 9,000 में ही यहां पर सभ्य मानव रहा करते थे, लेकिन ई० पू० 4,300 के पहले का इसका इतिहास स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है। पहले यह देश अनेक नगर-राज्यों में विभक्त था। इस देश के दक्षिणी भाग में रहनेवाली प्रमुख प्रजा सुमेरियन थी। बैबिलोन की महान सभ्यता को सबसे पहले आधार देनेवाले यही लोग थे। इसके उत्तरी भाग में रहनेवाले लोग 'अक्कडियन' थे। ये लोग असीरिया के 'अक्कड' नामक नगर से आये हुए थे। नगर-राज्यों में अक्कड लगाष, उर किष, इरेक, सिघार, वोपिस, युम्मा, आडब आदि प्रसिद्ध थे। ये सारे नगर-राज्य 'पटेसी' नामक शासकों द्वारा शासित होते थे। लेकिन कुछ समय बाद पटेसियों की जगह राजा आने लगे थे। इन राजाओं में ई० पू० 3,800 में अक्कड पर शासन करनेवाले सारगन नामक राजा को बहुत ख्याति मिली थी। ई० पू० 2,300 के आसपास बैबिलोनिया राज्य विद्यमान था। इस पर राज्य करने वाले पहले राजवंश के हम्मुरबी नामक राजा विख्यात थे। ये धर्मशास्त्रकर्ता भी थे। उस जमाने में उनका धर्मशास्त्र दयालुता के लिए प्रसिद्ध था। हम्मुरबी ने 'निप्पुर' की स्थापना की और इधर-उधर हमले करके अपने राज्य का विस्तार किया। इस राजवंश के बाद कई और राजवंशों ने बैबिलोनिया पर राज्य किया। लेकिन ई० पू० 1200 के आसपास बैबिलोनिया राज्य कमजोर होने लग गया था। प्रथम नेबुचाड नेजर ने बैबिलोनिया को पुरानी स्थिति पर पहुंचाने की कोशिश की थी। लेकिन असीरिया को पुनः बैबिलोनिया राज्य में मिलाना उनके लिए संभव नहीं हो सका। उनके बाद द्वितीय नेबुचाड नेजर ने हालांकि थोड़े ही समय के लिए राज्य किया, फिर भी उन्होंने बैबिलोनिया की गिरती हुई हालत को सुधारा था।

साहित्य और कलाओं के ज्ञान पर अधिकार रखनेवाले बैबिलोनिया के लोगों ने उत्कृष्ट घरों का निर्माण किया था। इन लोगों के पास विशाल न्याय-शास्त्र भी था। ये लोग अनेक देवताओं पर विश्वास करते थे, जिनमें से 'बाल' मुख्य थे। उस समय धर्म के अधिकारी बहुत शक्तिशाली हुआ करते थे। संसार में सर्वप्रसिद्ध 'उगाड' के उद्यान का निर्माण नेजर ने किया था। इस उद्यान में संसार में प्राप्त तरह-तरह के वृक्ष और पौधे देखे जा सकते हैं।

बोय जाति : तेलुगु बोलनेवाले 'बोय' लोग और कन्नड़ बोलनेवाले 'बेदर' लोग असल में एक ही जाति के हैं। इन लोगों का कहना है कि महर्षि वाल्मीकि के वंशज हैं।

कपालदुर्ग के उत्तरी भाग में स्थित पहाड़ी इलाकों में अनंतपुर, कड़पा, कर्नूल, बल्लारी, उत्तर आर्काट आदि

जिलों में विशेष रूप से ये लोग पाये जाते हैं। बल्लारी जिले में ये लोग सबसे अधिक संख्या में रहते हैं।

मद्रास प्रांत की 1901 की जनगणना के आंकड़ों में ये लोग 'पेद्द', 'चिन्न', 'सदर' और 'म्यास' नामक चार श्रेणियों के बताये गये हैं। उत्तर आर्काट में 'मुल्कि बोय' तथा 'पाल बोय' नामक दो प्रकार के लोग पाये जाते हैं।

मैसूर की जनगणना की रिपोर्ट में बताया गया है कि बोय जाति के लोगों में 'हाल', 'माचि', 'म्यास', 'नायक', 'पल्लेगर', 'बारिक', 'कन्नैयान' आदि प्रशाखाएं पायी जाती हैं।

इन लोगों के विचार-व्यवहार में अपने निवास स्थान के हिसाब से भिन्नता है। इनकी 'ऊरु' तथा 'म्यास' नामक दो प्रधान शाखाएं हैं, जिनमें आपसी विवाह-संबंध नहीं होता है। एक साथ भोजन करना भी वर्जित है। ऊरु श्रेणी के लोग मुर्गी के मांस और शराब का सेवन करते हैं, जबकि म्यास लोग नहीं करते।

इन लोगों में, आम तौर पर वधू के घर पर विवाह संपन्न होते हैं। ब्राह्मण ही आम तौर पर इनके पुरोहित हैं। विवाह के समय वधू के गले में वर ही मंगलसूत्र बांधता है, विधवा-विवाह इनमें निषिद्ध है। तलाक देने की प्रथा इनमें प्रचलित है।

एक गांव या कई गांवों को मिलाकर एक मुखिया होता है और इनकी एक पंचायत होती है। जायदाद के बंटवारे तथा तलाक के मामलों में मुखिया फैसला देता है।

इनमें वैष्णव और शैव भी होते हैं। इनके प्रधान आराध्य देवता हैं तिरुपति के वेकंटेश्वरस्वामी। 'कनिमिरप', 'कनकरायन', 'उलिगम्मा', 'वलय', 'पोलेरम्मा', 'अक्कम्मा' और नागलस्वामी नामक ग्राम-देवताओं की भी ये लोग आराधना करते हैं।

इस जाति के लोगों में मुसलमानों तथा ब्राह्मणों के भी कुछ आचार-व्यवहार हैं। 'सुन्नत' तथा 'पंचगव्यम' इसके उदाहरण हैं। ये लोग शव को जलाते भी हैं और दफनाते भी हैं।

ये लोग बेहद साहसी होते हैं और जंगली सूअर, रीछ और शेर का शिकार करने में बहुत माहिर होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें सैनिक कहा जा सकता है। टीपू सुलतान, हैदरअली, मोरारीराव आदि राजाओं की सेना में यही लोग अधिक संख्या में थे। आम तौर पर ये लोग अपने पड़ोसियों के साथ सद्व्यवहार करते हैं। लेकिन कभी-कभी चोरी और डकैती भी कर लेते हैं। 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में ये लोग कर्नूल जिले के कुख्यात डाकू माने जाते थे। अब इस जाति में कई लोग खेती-बारी, बढ़ईगिरी, कुम्हारी आदि करते हैं। खेती-बारी के औजारों को बनाना तथा जंगलों से शहद इकट्ठा करके बेचना भी इनके कुछ कामों में से हैं।

भीख मांगना : भीख मांगने की प्रथा कई देशों में, और विशेष रूप से भारत में, प्रचलित है। प्रायः कई प्रकार के भिखारी देखने में आते हैं, जैसे घोर निर्धन व्यक्ति, असमर्थ व्यक्ति, अंधे व्यक्ति, लंगड़े-लूले व्यक्ति, रोगग्रस्त व्यक्ति, बेकार व्यक्ति, मानसिक रूप से कमजोर अथवा अस्वस्थ व्यक्ति, धार्मिक साधु अथवा अपराधी व्यक्ति। भिखारियों में अक्सर ऐसे बालक भी होते हैं, जिनको लोग या तो कहीं से खरीद लेते हैं या उड़ाकर ले जाते हैं। इन बच्चों के हाथ, पैर, जबान आदि काट दी जाती है और इनसे भिखारी दिन भर भीख मंगवाकर खुद आराम का जीवन बिताते हैं। भारतीय जनता प्रायः अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण भिखारियों को रुपया-पैसा, भोजन, वस्त्र आदि देती रहती है। वह यह नहीं समझती कि इनमें से अधिकांश व्यक्ति गुंडे-बदमाश होते हैं, जिन्होंने इसको अपना मुख्य धंधा बना रखा है। ये भिखारी संगठित रूप से भीख मांगते हैं। हाल ही में हुए कुछ अध्ययनों से ज्ञात होता है कि भिखारियों की टोलियों की टोलियां भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न दिनों में जाकर भीख मांगती हैं। आजकल भारत के कई नगरों में भीख मांगना कानूनी अपराध माना जाता है और उन राज्यों में भिखारियों के लिए पृथक् गृहों की स्थापना की गयी है, लेकिन फिर भी समस्या इतनी गंभीर है कि इसका पूर्ण समाधान होना कठिन है। कुछ राज्य सरकारों ने भिखारी प्रथा के विरुद्ध बहुत प्रयास किये हैं और उनके कई अच्छे परिणाम भी निकले हैं।

मध्य अमरीकी सभ्यता : मेक्सिको की 'अजटेक', पेरू की 'इन्का' और यूक्कन की 'मय' सभ्यताएं मध्य अमरीका की तीन प्रधान सभ्यताएं मानी जाती हैं। ये तीनों सभ्यताएं स्वतंत्र रूप से अमरीका में उद्भूत हुईं और तब तक जीवित

रहीं, जब तक यूरोपीय देशों के उपनिवेश स्थापकों ने नयी दुनिया की खोज नहीं की। इन सभ्यताओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

अजटेक सभ्यता : 9वीं शताब्दी के टालटेक लोग अजटेकों के पूर्वज थे। ये लोग सूर्य की अराधना करते थे। इन्हें खगोल-शास्त्र का थोड़ा-सा ज्ञान था। इनके पंचांग के अनुसार एक वर्ष में 260 दिन होते थे। इस प्रकार के 52 वर्ष एक-दूसरे के बाद आते थे और 52 वर्षों के पूर्ण होने के बाद नये सिरे से पहला वर्ष आरंभ होता था। ये लोग उत्सवों के अवसर पर नर-बलि चढ़ाया करते थे। इन्हें धातुओं को काम में लाने का ज्ञान था। शिल्प-कलाओं में ये बड़े माहिर थे। इनके बाद मेक्सिको में अजटेक लोग आये। दूसरी शताब्दी में अजटेक लोग 'कज्को' में आये। पहले ये लोग एक गरीब यायावर जाति के रूप में थे। उसके बाद धीरे-धीरे आस-पास के कबीलों और राज्यों की सभ्यता को ग्रहण करके एक शक्तिशाली प्रजा के रूप में बदल गये। सन् 1325 में इन लोगों ने अपने राज्य की स्थापना कर ली। इस राज्य की राजधानी थी—टेनोक्ट्रिलान। यह शहर वर्तमान मेक्सिको के पास था। आस-पास के देशों को भी जीतकर इन लोगों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। 15वीं, 16वीं शताब्दियों में इनका साम्राज्य अत्यंत विकसित स्थिति पर था। शिल्प-कला, धातुओं पर नक्काशी, अलंकरण के तरीके, बुनाई, संगीत, चित्रलिपि की सहायता से इतिहास-लेखन आदि इनकी सभ्यता की विशेषताएं थीं। इन लोगों की शासकीय और सामाजिक व्यवस्था कुलीनों, धर्माचार्यों, सेनापतियों तथा व्यापारियों नामक चार भागों में विभक्त थी। तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का आधार युवक-युवतियों को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक दायित्व को पहचानकर तदनुसार चलने योग्य बनाना था।

अजटेक लोग अपने असंख्य देवताओं में से बहुतों की तृप्ति के लिए युद्धबंदियों की बलि चढ़ाया करते थे। 1519 में कार्टेज नामक स्पेन के राजा के हमले तक इन लोगों की सभ्यता विकसित होती रही। इस हमले में अजटेक लोगों के अंतिम शासक मांटेजमा (द्वितीय) मारे गये। इसके बाद ये लोग गुलाम बनाये गये और शहर को नेस्तनाबूद कर दिया गया।

इन्का सभ्यता : इस सभ्यता का विस्तार दक्षिण अमरीका में पेरू, बोलीविया के कुछ हिस्सों और चिली के एंडीज पर्वत प्रांतों तक था। इसकी राजधानी 'कज्को' थी। यह सभ्यता 13वीं शताब्दी के आरंभ में स्थापित होकर 1533 में स्पेन-विजेता पिजारो के आक्रमण तक बनी रही थी। विविध भाषाओं के अनेक नगर तथा शक्तिशाली राज्य इन्का सभ्यता द्वारा एक होकर एक सुस्थिर राज्य के रूप में विस्थापित हुए थे। इनकी समाज-व्यवस्था श्रेणीबद्ध थी। मकानों, पारिवारिक वस्तुओं और थोड़ी-बहुत जमीन को छोड़कर शेष सारी संपत्ति सरकारी मानी जाती थी। प्रजा से श्रम के रूप में कर वसूल किया जाता था। धर्माचार्यों को, सरकारी नौकरों को, खास-खास कारीगरों को, बूढ़ों को तथा विधवाओं को सरकार आवश्यक आर्थिक सहायता दिया करती थी। राज परिवार के लोग कुलीन माने जाते थे। इन्का के लोग एक प्रमुख देवता की आराधना किया करते थे। इनके और भी असंख्य देवता हुआ करते थे। नर-बलि, पशु-बलि आदि की प्रथा भी थी। कृषि के क्षेत्र में, उस समय काफी उन्नति हुई थी। तरह-तरह की कलाओं में इन लोगों को निपुणता प्राप्त थी। कज्को में जो सूर्य-मंदिर था, वह सोने से भरा हुआ था। स्पेनी सेना ने इसे लूटा और शहर को नष्ट कर दिया। इसके साथ ही इन्का सभ्यता भी नष्ट हो गयी।

मय सभ्यता : यह मध्य अमरीका की अत्यंत प्राचीन और आकर्षक सभ्यता थी, जो यूक्टन, ग्वाटेमाला, होंडूरास प्रांतों तक फैली हुई थी। कहा जाता है कि इस सभ्यता का आरंभ ई० पू० 1,500 के आसपास हुआ था। मय लोगों की सामाजिक व्यवस्था विशिष्ट थी। इन लोगों की उच्च श्रेणी में कुलीन शासक, धर्माचार्य, विद्वान, खगोलशास्त्री, गणितज्ञ आदि आते थे। मध्यम श्रेणी में श्रमिक कारीगर आदि थे। गुलाम और युद्धबंदी निम्न श्रेणी में आते थे। इन लोगों के देवताओं में दया और क्रोध दोनों के देवता थे। दोनों प्रकार के देवताओं को नर-बलि चढ़ायी जाती थी। ये लोग चित्र-लिपि की सहायता से ऐतिहासिक घटनाओं, तिथियों, खगोल और गणित संबंधी विषयों को लिखा करते थे। इन लोगों ने पंचांग का भी आविष्कार किया था। भारतीयों को छोड़कर संसार में यही लोग थे, जिन्हें गणित के 'शून्य' का पता

था। यूरोपीय लोग भी मय लोगों के गणित-ज्ञान को जानते थे और उसकी इज्जत करते थे। इस जाति के राजाओं ने असंख्य नगरों का निर्माण किया था। इनके धर्माचार्य बहुत आडंबरपूर्ण जीवन बिताते थे। स्पेन के हमलों के कारण इस राज्य का नाश हुआ था। आठवीं शताब्दी में इन लोगों की संख्या 140 लाख थी, लेकिन आक्रमण के बाद इसका सातवां हिस्सा ही बचा रह गया। स्पेन के डीगोडिलांडा (द्वितीय) नामक एक धर्माचार्य ने मय लोगों के साहित्य तथा शास्त्रों को नष्ट कर दिया था।

मर्टन, राबर्ट के० (1910—) : राबर्ट के० मर्टन का जन्म सन् 1910 में हुआ था। ये समाजशास्त्रीय सिद्धांत में प्रकार्यवाद (फंक्शनलिज्म) के समर्थक हैं। ये टालकोट पारसंस तथा मैक्स वेबर के शिष्य हैं। इन्होंने मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया सिद्धांत को स्वीकार किया। मर्टन पर टालकोट पारसंस तथा मैक्स वेबर का अधिक प्रभाव पड़ा है। मैक्स वेबर ने विज्ञान का विश्लेषण निम्नलिखित शाखाओं में किया है :

(1) सांस्कृतिक इतिहास,
(2) सांस्कृतिक विज्ञान,
(3) प्राकृतिक विज्ञान, तथा
(4) प्राकृतिक इतिहास

उनका मत था कि प्राकृतिक विज्ञानों तथा सांस्कृतिक विज्ञानों में अंतर्बोध मुख्य रूप से कार्य करता है।

मर्टन का समाजविज्ञान के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान है। उन्होंने वैज्ञानिक अन्वेषण का उपयुक्त तरीका बताने का प्रयत्न किया है। मर्टन का कहना है कि अनुसंधान तथा सिद्धांत का विकास साथ-साथ होता है और इन दोनों का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है। अतः उन्होंने सिद्धांत तथा अनुसंधान के समन्वय पर बल दिया है।

मर्टन की प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं :

(1) साइंस टेकनोलोजी एंड सोसाइटी इन सेविनटींथ सेंचुरी
(2) दि पोजीशन आफ सोशियालाजीकल थ्योरी
(3) सोशल थ्योरी एंड सोशल स्ट्रक्चर
(4) इंटरमैरिज एंड दि सोशल स्ट्रक्चर
(5) सोशियालाजी आफ नालेज
(6) मास कम्युनिकेशन

महिला कल्याण : जनसंख्या की दृष्टि से महिलाएं भारतीय समाज का एक बड़ा अंग हैं। पहले भारतीय समाज में पुरुषों की तुलना में महिलाओं को हीन समझा जाता था और उनके साथ अनेक सामाजिक तथा कानूनी अयोग्यताएं लगी हुई थीं। किंतु परिवार तथा समुदाय में उनका स्थान बहुत महत्त्व का है। इस देश में कोई भी कल्याण योजना उस समय तक अपूर्ण समझी जायेगी, जब तक उसमें देश की करोड़ों महिलाओं की आवश्यकताओं और कल्याण-सेवाओं का प्रबंध नहीं किया जाता। पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में बच्चों और महिलाओं की कल्याण-सेवाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। उसी नीति को तीसरी पंच-वर्षीय योजना में जारी रखा गया। देश में शिक्षा और स्वास्थ्य का स्तर ज्यों-ज्यों ऊंचा उठता जाता है और जैसे-जैसे महिलाओं के लिए आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भाग लेने के अवसर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही उनका और उनके कार्यों का महत्त्व बढ़ता जाता है। वे समाज के दुर्बल अंग हैं, अतः उनकी उपेक्षा करना ठीक नहीं होगा। उनकी ओर तो विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और यह बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकता है कि समाज कल्याण सेवाओं का उद्देश्य भी यही है।

महिलाओं की अधिकतर समस्याओं का कारण उनकी अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता तथा सामाजिक स्वतंत्रता संबंधी प्रतिबंध हैं। इन बातों के कारण उन्हें समाज में बराबरी का स्तर नहीं मिलता। महिलाओं के लिए जो सुविधाएं समाज में इस समय उपलब्ध हैं, उनका पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए विशेष प्रयत्न करना ही होगा। इस पर भी महिलाओं के लिए कुछ सेवाएं आवश्यक होंगी, जिन्हें हम महिला कल्याण का नाम दे सकते हैं।

महिला कल्याण संबंधी सेवाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण कर सकते हैं :

(1) सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम
(2) वयस्क महिलाओं की शिक्षा के संक्षिप्त पाठ्यक्रम
(3) श्रमिक नारियों के लिए महिला निवास
(4) महिला मंडल
(5) आवासीय संस्थाएं
(6) कानूनी सहायता
(7) महिला समाज शिक्षा केंद्र
(8) पारिवारिक कल्याण सेवाएं

मानकीकरण : चीजों के स्तर को बनाये रखने के लिए तथा उनमें समानता लाने के लिए जो पद्धति अपनायी जाती है, उसे मानकीकरण कहते हैं। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि न्यूनतम व्यय में अधिकतम उत्पादन करने के जितने विधान हो सकते हैं, उनका आविष्कार भी मानकीकरण के द्वारा किया जा सकता है। विज्ञान के क्षेत्र में कई प्रकार के नाप-तौल प्रचलित हैं। बिजली को मापने की भी कई विधियां हैं। इसी तरह, समय, वजन, लंबाई, ऊंचाई आदि को मापने के लिए भी कई प्रकार के माप-तौल निश्चित किये गये हैं। आजकल भारत में भी चीजों को मापने के लिए प्रणाली का प्रयोग होता है। औषधियों के माप के लिए भी कुछ विधान निश्चित किये गये हैं। करीब-करीब सभी देशों में इसी तरह के मानकीकरण की पद्धति कानूनी तौर पर अपनायी जाती है।

नैतिकता का मानकीकरण : जन-मत, सदाचार, नैतिकता आदि के अनुसार व्यवहार करना जनता के लिए जरूरी होता है, इसलिए जनता के बीच मौजूद विभिन्न सामाजिक संबंधों का मानकीकरण करना पड़ता है। करीब-करीब सभी जातियों में वस्त्र-धारण, आचार-व्यवहार, भाषण-शैली आदि विषयों में भी अथवा कुछ निश्चित रीतियां दिखायी पड़ती हैं। किसी संस्कृति अथवा सभ्यता के निर्माण में भी इन निश्चित मूल्यों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी पारिवारिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्थाएं भी नैतिकता के कुछ पृथक् मूल्यों को निर्धारित करती हैं और कड़ाई से जनता को उन मूल्यों को अपनाने के लिए भी बाध्य करती हैं। पैदल सेना, वायु-सेना आदि महकमों में ही नहीं, तानाशाही व्यवस्था में भी स्वयं-निर्धारित नियमों का कठोरता से पालन किया और कराया जाता है। लोकतंत्र की व्यवस्था ही एकमात्र ऐसी व्यवस्था है, जो विभिन्न जनमतों का आदर करती है और इस विभिन्नता को प्रोत्साहित भी करती है।

मैकआइवर, रॉबर्ट मॉरिसन (1882—) : प्रसिद्ध राजनीतिविज्ञानी और समाजविज्ञानी। एडिनबर्ग और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद 1907 में मैकआइवर की नियुक्ति आबेरदीन के राजनीति विज्ञान के विभाग में हुई। लेकिन 1915 में वे टारेंटो (कनाडा) में राजनीतिविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। वहां से 1927 में वे कोलंबिया विश्वविद्यालय (अमरीका) चले गये। वहां वे 1929-50 तक राजनैतिक दर्शन और समाजविज्ञान दोनों विभागों के अध्यक्ष रहे। उन्होंने सभी आधुनिक राजनैतिक समाजों की आंतरिक संरचना का अध्ययन किया तथा राज्य को विशेष कोटि के राजनैतिक संघ का दर्जा दिया है। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं : 'कम्युनिटी' (1917), 'द माडर्न स्टेट' (1926), सोसाइटी, ए टैक्स्ट बुक आफ सोशलाजी' (सहलेखक सी० एच० पागे, 1949), 'लेबियान एंड दी पीपल' (1940), 'द वेब आफ गवर्नमेंट' (1947) और 'परस्यूट आफ हैपीनेस' (1955)।

मैक्स वेबर (1864–1920) : मैक्स वेबर का जन्म 1864 में एरफर्ट, जर्मनी में हुआ था। उन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन का अधिकांश भाग बर्लिन में व्यतीत किया। मैक्स वेबर एक अत्यंत प्रसिद्ध सामाजिक चिंतक थे। उन्होंने समाजविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, विधि जैसे विषयों पर लिखा। उनके सामाजिक विचारों पर तत्कालीन जर्मनी की सामाजिक स्थिति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। सन् 1848 की क्रांति के बाद जर्मनी में मार्क्सवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। वेबर ने मार्क्स की उलझनों का वैज्ञानिक रूप से विश्लेषण करने का कार्य किया। उन्होंने सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए सामाजिक विज्ञान की पद्धति पर जोर दिया।

वेबर के मतानुसार समाजविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है, जो सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करता है और सामाजिक प्रक्रियाओं के बीच आकस्मिक संबंधों का पता लगाता है। उनका मत था कि एक विज्ञान के रूप में समाजविज्ञान को मानव संबंधों के उद्विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करना चाहिए।

वेबर का मत था कि समाजविज्ञान समाजविज्ञानी को यह नहीं बताता कि उसे क्या करना चाहिए, अपितु यह बताता है कि सामाजिक घटना की खोज के लिए वह क्या कर सकता है।

वेबर का मत था कि समाज के स्थायी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। उनका विचार था कि समाज के किसी एक ऐसे सामान्यीकृत सिद्धांत का निर्माण

नहीं किया जा सकता, जो सर्वदा सत्य हो। उनका कहना था कि व्यक्ति समाज के अंग होते हैं। वे समाज को प्रभावित करते हैं, और बदले में वे समाज द्वारा प्रभावित होते हैं। व्यक्ति और समाज में पारस्परिक संबंध होता है।

वेबर अपने समय के महानतम सामाजिक चिंतकों में से थे। सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करने की उनकी पद्धति अत्यंत आधुनिक तथा वैज्ञानिक है। उन्होंने समाजविज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रकार से प्रभावशाली ढंग से अनुसंधान करने का मार्ग दिखाया। उन्होंने कुछ सामाजिक घटनाओं का जो विश्लेषण किया है, वह अपना सानी नहीं रखता। उन्होंने कुछ सामाजिक समस्याओं का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह बिल्कुल नवीन है और वह अनुसंधान के लिए एक विचारपूर्ण मार्गदर्शक का कार्य करता है।

युवक-कल्याण : बच्चों और प्रौढ़ों के बीच की विकास की अवस्था को किशोरावस्था कहते हैं। यह 14 से 20 वर्ष की अवस्था है। इस अवधि में किशोर-किशोरियों में मानसिक परिवर्तन बहुत तेजी से होते हैं। इन परिवर्तनों को अच्छी तरह समझने के लिए जैसी परिपक्व बुद्धि होनी चाहिए, वैसी इन युवक-युवतियों में नहीं होती और न वे तत्कालीन समस्याओं से पार पा सकते हैं। फलस्वरूप किशोरावस्था में लड़के-लड़कियों की स्वानुभूति अत्यधिक तीव्र हो जाती है।

किशोर व्यक्ति प्रौढ़ावस्था के द्वार पर खड़ा हुआ होता है। इस अवस्था में उसे मार्गदर्शन की बहुत आवश्यकता होती है, ताकि वह अपने को और अपने पर्यावरण को समझ सके। इस अवधि में नयी शक्तियों का आविर्भाव होता है। उपक्रम की इच्छा जाग्रत होती है। किशोर सत्ता के सामने झुकना नहीं चाहता। इस समय वह स्वतंत्र रूप से निर्णय करना चाहता है, किंतु विवेक तथा उचित मार्गदर्शन के अभाव में प्राय: गलत निर्णय कर बैठता है।

यदि बालक के व्यक्तित्व के विकासक्रम में विभिन्न अवस्थाओं की प्रगति अच्छी हुई है, तो इस अवस्था में भी समायोजन स्थापित करने में अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अन्यथा अनेक बालक इस अवस्था में झेंपू, अधीर और डरपोक बन जाते हैं। अत: व्यक्ति के जीवन में यह एक बहुत ही महत्त्व की अवस्था होती है।

शक्ति, उत्साह, विद्रोह और क्रांति युवकों के स्वभाव में होते हैं। यदि उनकी शक्ति तथा उत्साह रचनात्मक कार्यों में नहीं लगे, तो वे समाज-विरोधी तथा ध्वंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। युवकों की शक्ति का उपयोग न केवल स्वयं उनके हित के कामों में बल्कि समाज और देश के हित के कामों में भी किया जा सकता है। सामाजिक हित के कामों में विद्यार्थी तथा अन्य नवयुवकों की शक्ति का उपयोग करते समय उनके सीमित समय तथा अनुभव को ध्यान में रखना आवश्यक है। अत: सामाजिक सेवाओं का दायित्व विद्यार्थियों तथा अन्य युवकों को सौंपते समय बहुत सावधानी रखनी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अध्ययन के लिए उन्हें काफी समय मिल जाये।

युवकों की शक्ति समाज सेवा के कामों में लगाने के लिए उपयुक्त संगठन का निर्माण करना होगा। देश में युवकों के मार्गदर्शन के लिए एक मजबूत और कुशल संगठन की जरूरत है। तीन प्रकार के संगठनों का निर्माण करके युवक-गण समाज का काम कर सकते हैं :

(1) सामुदायिक कल्याण और प्रौढ़ शिक्षा तथा राहत आदि का कार्य करनेवाली ग्रामविकास संस्थाएं।

(2) स्वयं युवकों द्वारा बनायी गयी युवक-सेवा-दल जैसा संगठन, जिसका उद्देश्य युवकों या समुदाय के अथवा दोनों के बीच काम करना हो सकता है।

(3) विद्यालयों में स्थापित समाज सेवा समितियां, जिनके अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष अध्यापक होते हैं, किंतु अन्य पदाधिकारी स्वयं विद्यार्थी होते हैं।

युवकों के कार्य भी दो प्रकार के हो सकते हैं :

(1) स्थायी प्रकार के कार्य, जो चाहे युवक संगठनों द्वारा किये जायें अथवा अन्य समाज सेवी संस्थाओं द्वारा।

(2) अस्थायी प्रकार के कार्य, जैसे शिविर तथा राहत कार्य, जिन्हें युवक स्वयंसेवक गर्मियों के लंबे अवकाश अथवा अन्य छुट्टी के दिनों में करते हैं।

यूनेस्को : यूनेस्को संयुक्त राष्ट्र संघ से संबद्ध एक स्वतंत्र संस्था है। शिक्षा, विज्ञान और संस्कृतियों के बीच सहयोग और सद्भाव उत्पन्न करने और उसके जरिए लोक-कल्याण की दिशा में तेजी लाने का काम यह संस्था करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रपत्र में की गयी घोषणाओं के

अनुसार जाति, धर्म, भाषा, लिंग आदि के भावों को दूर करके वैध अधिकारों, मानव-अधिकारों, तथा मूल अधिकारों के प्रति मानव-जाति में आदर-भाव बढ़ाना इस संस्था का मूल उद्देश्य है। एक ओर यह संस्था शिक्षा, विज्ञान और कला के क्षेत्रों में सही लोकतंत्र को अमल में लाकर सामाजिक जीवन को पूर्ण और सार्थक बनाने में मदद करती है, तो दूसरी ओर कई देशों की स्वतंत्रता, विशिष्टता और प्रयोजनमूलक विविधता को भी ध्यान में रखकर सभी वैज्ञानिक शाखाओं तथा बौद्धिक चेतना को प्रोत्साहित करके जनता के भौतिक तथा आत्मिक जीवन के स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयास करती हैं।

यूनेस्को की स्थापना का प्रस्ताव नवंबर, 1946 के लंदन अधिवेशन में पारित हुआ था। तब से लेकर यद्यपि उसमें कई संशोधन किये गये, लेकिन इसकी स्थापना के पीछे निहित मूलभूत उद्देश्यों में तनिक भी परिवर्तन नहीं किया गया। जो देश संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य होता है, वह इसका भी सदस्य बन सकता है। सदस्यता के लिए इस संस्था की कार्यकारिणी समिति की सिफारिश प्राप्त करके, यूनेस्को की महासभा के द्वारा स्वीकृति लेनी होती है। इसकी महासभा में सभी सदस्य-देशों की सदस्यता स्वीकारी गयी है। महासभा यूनेस्को की गतिविधियों तथा प्रधान कार्यकलापों का निर्धारण करती हैं। सदस्यों से चुने गये 24 प्रतिनिधियों से बनायी गयी कार्यकारिणी समिति यूनेस्को की समूची गतिविधियों का निरीक्षण करती है।

यूनेस्को का प्रधान कार्यालय पेरिस में स्थित है। अपने कार्यकलापों का विकेंद्रीकरण करने के लिए कुछ प्रांतीय कार्यालयों की भी स्थापना की गयी है। यूनेस्को की आय सदस्य देशों के ऊपर निर्भर है। यूनेस्को पांच प्रधान क्षेत्रों में प्रशंसनीय कार्य कर रही है—शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सांस्कृतिक कार्यकलापों का आयोजन और प्रचार-साधन। शिक्षा-क्षेत्र में बहुमुखी विकास लाने के लिए यह बेहद कोशिश कर रही है। इस संस्था के तत्वावधान में अब तक कई अंतर्राष्ट्रीय अधिवेशन संपन्न हुए हैं, जिनमें कई विषयों के विद्वान भाग लेकर, विचारों के आदान-प्रदान द्वारा लाभान्वित हुए हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में भी विद्वानों के बीच, सांस्कृतिक क्षेत्र में भावात्मक एकता लाने का काम भी इस संस्था ने स्वीकार किया है। इस मामले में जो भी देश किसी प्रकार की सहायता लेना चाहे इससे मांगकर ले सकता है। समाज-विज्ञान के क्षेत्र में इसकी एक दीर्घकालीन योजना है, जो बराबर कार्यान्वित हो रही है। इस योजना के अंतर्गत सामाजिक विवरण, मानकीकरण, समाज-विश्लेषण, तथ्य-विवेचन, इत्यादि कार्य किये जाते हैं।

यौवनारंभ संस्कार : विश्व की कई जनजातियों और पिछड़ी जातियों में कुछ ऐसी प्रथाएं प्रचलित हैं, जो लड़के-लड़कियों के जीवन काल में उस समय की जाती हैं, जब वे यौवन में प्रवेश करते हैं। इन प्रथाओं का उद्देश्य मूलत: उनको यह बतलाना होता है कि वे अब बचपन को छोड़ चुके हैं और नवयुवक तथा नवयुवती के रूप में युवावस्था में प्रवेश कर रहे हैं। वे अब यौन क्रियाओं में भाग लेने के लिए न केवल प्राकृतिक रूप से योग्य हो गये हैं, अपितु समाज भी उन्हें इन क्रियाओं में भाग लेने के योग्य समझता है। इस प्रकार की प्रथाएं लड़कों के संबंध में लगभग 12 से 14 वर्ष की आयु में होती है और लड़कियों के संबंध में भिन्न-भिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न आयु में, परंतु प्राय: 10 से 12 वर्ष की आयु में होती है, जबकि उनमें मासिक धर्म आरंभ हो चुका होता है या होने को होता है। ऐसे नवयुवक या नवयुवती को इन संस्कारों के अंतर्गत कई प्रकार के धार्मिक पूजा-पाठ, व्रत, छुआछूत के नियम आदि का पालन करना होता है। लड़कियों को दो या तीन रातों तक अपने घर से बाहर किसी अलग झोंपड़ी में रखा जाता है, जहां उन्हें फटे-पुराने वस्त्र पहनने होते हैं और व्रत रखना होता है। उसके बाद उनको धार्मिक स्नान करना होता है और नये वस्त्र पहनने को दिये जाते हैं। उसके पश्चात् उन्हें नवयुवती मान लिया जाता है। अफ्रीका, अफगानिस्तान और भारत की कुछ जनजातियों में यह प्रथा रही है कि इस संस्कार के समय उस कन्या का किसी एक या एक से अधिक व्यक्तियों से यौन संपर्क कराया जाये। कई अफ्रीकी जन-समुदायों में यौवनारंभ संस्कार के अंतर्गत शरीर को सुंदर बनाने के लिए शरीर को किसी कील या पैने औजार से गोदा जाता है। प्राय: सभी जन-समुदायों में यौवनारंभ संस्कार से पूर्व किसी भी लड़के या लड़की को, और विशेषकर लड़की को, यौन क्रियाओं में भाग लेने देना उचित नहीं समझा जाता।

इस प्रकार के संस्कार का उद्देश्य जनसमुदायों में व्यक्तियों के जीवन में प्रौढ़ता तथा गंभीरता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करना होता है।

रंगरेजी : कपड़ों पर तथा अन्य चीजों पर रंग चढ़ाने की तकनीकी प्रक्रिया को रंगरेजी कहते हैं। यह सूत, ऊन, रेशम आदि उद्योगों के सहायक धंधे के रूप में विकसित हुई है। वनस्पतियों में से उत्पन्न विभिन्न रंगद्रव्य कपड़ों पर रंग चढ़ाने के उपयुक्त होते हैं। आज भी सीमित ढंग से इनका इस्तेमाल किया जाता है। पुराने जमाने से भारत में नील (इंडिगो) जैसे रंगद्रव्यों के इस्तेमाल किये जाने पर भी ये रंग असल में, लंबे अर्से तक टिकाऊ नहीं होते हैं। आधुनिक युग में कोलतार से उद्भूत आलिजरिन जैसे रंगों का आम तौर पर उपयोग नहीं किया जाता है। वनस्पतियों से लिये गये वे रंगद्रव्य वर्ण, विस्तृति और पक्केपन के अभाव में अब प्रचलन में नहीं हैं। रंग दो प्रकार के होते हैं: स्थायी और प्रवर्तक। पहले किस्म के रंगों को टिकाऊ बनाने के लिए धातु-लवण जैसे सहायक द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इन सहायक द्रव्यों के कारण ही ये रंग पक्के और गाढ़े बन जाते हैं, जो किसी भी स्थिति में घुलते नहीं। इसके कारण कपड़े ज्यादा दिनों तक भी चलते हैं। रंगरेजी तीन प्रकार की होती है—सादी, कलंकारी और कालिको। केवल वस्त्रों पर ही नहीं, बल्कि लकड़ियों और खान-पान की चीजों पर भी ये रंग चढ़ाये जाते हैं।

राजनर्तकी : राजाओं के दरबार में नृत्य करनेवाली कन्या अथवा स्त्री को राजनर्तकी कहा जाता है। ये बहुत ही सुंदर, गुणवान, कुशल तथा निपुण नर्तकियां होती हैं। प्राचीन तथा मध्य युगों में राजनर्तकियां राजाओं का न केवल नृत्य व गायन से, अपितु यौन सुख द्वारा भी मनोरंजन करती थीं। वे राजनीति में भी हस्तक्षेप करती थीं। प्राचीन भारत में उनमें से कई को विषकन्या बनाया जाता था, जो शत्रु राजाओं को समाप्त करने के लिए भेजी जाती थीं। कई राजाओं के साथ राजनर्तकियों का इतना घनिष्ठ प्रेम संबंध रहा है कि वे इतिहास प्रसिद्ध नायिकाएं बन गयी हैं। कई ऐसी-ऐसी राजनर्तकियां उन राजाओं की मृत्यु पर सती हुई थीं या उन्होंने स्वयं को नष्ट कर दिया था। राजाओं के पुत्रों व पुत्रियों को कामकला तथा नागरिकोचित व्यवहारकुशलता सिखलाने के लिए प्राचीन तथा मध्यकाल में भी राजनर्तकियों के पास भेजने का रिवाज भारत में प्रचलित था। किसी भी यज्ञ, अनुष्ठान आदि के संपन्न होने पर राजनर्तकियों को भेंट-दान से प्रसन्न किया जाता था।

राजा राममोहनराय (1774–1843): राममोहन राय बंगाल के एक उच्च ब्राह्मण परिवार में 1774 में उत्पन्न हुए। उनके पूर्वज मुर्शिदाबाद जिले के अंतर्गत एक छोटी-सी बस्ती में रहा करते थे। राममोहन राय के पिता एक



साधारण-से जमींदार थे और समाज में उनका स्थान बहुत ही गौरवपूर्ण था। उनकी मां भी सुशील और योग्य गृहिणी थीं। उनके पिता रमाकांत ने अपने पुत्र की शिक्षा की बहुत अच्छी व्यवस्था की थी। हिंदू पंडितों द्वारा चलायी जानेवाली कुछ पाठशालाएं और फारसी मौलवियों के द्वारा चलाये जानेवाले कुछ मकतब ही तत्कालीन शिक्षा के केंद्र थे। शिशु राममोहन ने अपने गांव की पाठशाला में ही वर्णमाला सीखी। मातृभाषा के अध्ययन के साथ-साथ राममोहन फारसी भाषा भी पढ़ने लगे। नौ वर्ष की उम्र में अरबी भाषा का उच्च अध्ययन करने के लिए

राममोहन पटना गये और वहां तीन साल तक रहकर अरबी और फारसी भाषाओं में विद्वत्ता प्राप्त कर ली। इन भाषाओं का अध्ययन राममोहन के परवर्ती जीवन में अधिक सहायक सिद्ध हुआ। ग्रीक भाषा का भी विशेष अध्ययन करके अरस्तू और यूक्लिड के द्वारा लिखित ग्रंथों को उन्होंने हृदयंगम कर लिया।

राममोहन के पिताजी के पूर्वज अपने सनातन धार्मिक संप्रदाय को छोड़कर नौकरी करने लगे थे। माताजी की तरफ से सभी रिश्तेदार श्रोत्रिय ही रहकर परंपरागत ढंग से पुरोहितों का काम ही करते थे। राममोहन के व्यक्तित्व पर इन दोनों का प्रभाव पड़ा। चौदह वर्ष की उम्र में वाराणसी जाकर उन्होंने विशेष रूप से संस्कृत का अध्ययन किया और उपनिषदों का मनन-मंथन किया। वेदांत के मूल तत्त्वों से भी अवगत होकर वे एकेश्वरवाद के कट्टर समर्थक बन गये। राममोहन ने मूर्तियों की अराधना का घोर खंडन किया।

उन्होंने पारिवारिक आचार-व्यवहारों का भी विरोध किया। उन्होंने फारसी भाषा में मूर्ति-पूजा का विरोध करते हुए और उसे वेदों की विरोधी क्रिया प्रमाणित करते हुए एक छोटा-सा ग्रंथ लिखा और उसकी पीठिका अरबी भाषा में लिखी। उनके पिताजी अतिश्रोत्रिय होने के कारण पुत्र की चेष्टाओं को देखकर उनसे घृणा करने लगे। इसलिए राममोहन को घर छोड़कर जाना पड़ा। घर छोड़ने के बाद वे समूचे देश का भ्रमण करते हुए समाज में व्याप्त कुरीतियों का जोरदार खंडन करने लगे। तिब्बत जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म के मूल तत्त्वों का पूर्ण ढंग से अध्ययन किया। लेकिन जब उन्होंने वहां पर बौद्ध धर्म में व्याप्त कुछ बुराइयों की खुले रूप में आलोचना शुरू की, तो वहां के लोग बर्दाश्त नहीं कर सके और उन लोगों ने राममोहन राय के प्राण लेने तक के प्रयत्न किये। उस समय कुछ स्त्रियों ने उनकी प्राण-रक्षा की। यह देखकर उनके मन में स्त्री जाति के प्रति गौरव तथा उसके उद्धार के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। उसी समय उनके पिता ने उन्हें सुधारने के इरादे से घर बुलाया और शुद्ध श्रोत्रिय परंपरा के अनुसार एक उच्च घराने की लड़की से उनका विवाह कर दिया। राममोहन ने अपनी बाईस वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी का अध्ययन करना आरंभ किया और साथ ही साथ हिब्रू, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएं भी सीखीं।

जब राममोहन के बड़े भाई जगमोहन की मृत्यु हुई, उनकी पत्नी अपने पति के साथ सती हो गयीं। इस दारुण प्रथा को देखकर राममोहन का हृदय अत्यंत द्रवित हुआ और उन्होंने उसी समय मन ही मन उस अर्थहीन अमानुषिक क्रिया को समाप्त करने का संकल्प कर लिया। अपनी जीविका के लिए छोटी-छोटी नौकरियां करते-करते वे अंत में दीवान बन गये और मृत्युपर्यंत उसी पद पर रहे। दिल्ली के बादशाह ने उन्हें राजा की उपाधि से विभूषित किया। राममोहन राय ने सनातन वैदिक साहित्य का अनुवाद बंगला और अंग्रेजी भाषाओं में अलग-अलग ढंग से किया। उपनिषदों का भी सुबोध अनुवाद बड़े अधिकार के साथ उन्होंने संपन्न किया। वेदों के अध्ययन के लिए उन्होंने वेद-मंदिर की भी स्थापना की। धर्मों की तुलनात्मक अध्ययन उनकी रुचि का विषय था। वेदांत, इस्लाम और ईसाई धर्मों के बीच दिखायी पड़नेवाली समानताओं पर उन्होंने प्रकाश डाला।

कारे के नेतृत्व में शुरू किये गये सती प्रथा-उन्मूलन संबंधी आंदोलन में और भी गर्मी लाने का काम उन्होंने किया और सती प्रथा का खंडन करते हुए एक पुस्तिका भी लिखी। विलियम बैंटिक के सहयोग से 1819 में सती प्रथा का उन्मूलन करनेवाला एक अधिनियम उन्होंने अपने प्रयत्न से पारित करवाया। हिंदू धर्म में व्याप्त और भी कई कुरीतियों के उन्मूलन की दिशा में उन्होंने अत्यंत सक्रियता दिखायी, जिनमें से बहुपत्नीत्व-प्रथा तथा विधवा-विवाह आदि का उल्लेख किया जा सकता है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति के प्रवर्तक भी राजा राममोहन राय ही थे। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में उनकी देन अमूल्य है।

राममोहन जन्मत: स्वतंत्रता-प्रेमी थे। केवल अपने देश में नहीं, बल्कि सभी देशों में राजनैतिक और सामाजिक स्वतंत्रता की आवश्यकता पर उन्होंने जोर दिया।

उन्होंने 25 अगस्त, 1828 को कलकत्ते में ब्रह्मसमाज-मंदिर की स्थापना की, जो बाद में ब्रह्मसमाज के नाम से ख्याति अर्जित कर चुका है। इस आंदोलन में सहयोग देनेवालों में द्वारिकानाथ प्रसन्न कुमार ठाकुर, रामचंद्र विद्यावागीश और काशीनाथ राय के नाम उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्र : राजनीतिविज्ञान के विवेचन में प्राय: राज्य और राष्ट्र पर्यायवाची शब्द हैं। लेकिन समाजविज्ञान के अनुसार

राष्ट्र शब्द का अर्थ व्यावहारिक और परंपरागत दृष्टि से करना उचित है। बरगेस के अनुसार राष्ट्र वह जनसमूह है, जिसकी भाषा, साहित्य, परंपरागत रीतिरिवाज तथा इतिहास समान हैं, जिसमें मंगलकारी-चेतना के समान भाव हैं और जो ऐसी भूमि पर निवास करते हैं, जिसमें भौगोलिक एकता है। प्रादियर फोदेरे तथा केल्वो ने भी प्रजाति, भाषा, रीति-रिवाज तथा दर्शन (धर्म) की समानता को ही राष्ट्र माना है। लार्ड ब्राइस के अनुसार राष्ट्र एक उपराष्ट्र है, जिसने अपना संगठन राजनैतिक संस्था के रूप में कर लिया है। एस्मीन डे के मतानुसार राज्य राष्ट्र का कानूनी व्यक्तित्व है। गार्नर राष्ट्र की परिभाषा इन शब्दों में करता है—"राष्ट्र समाज का वह भाग है, जिसकी प्राकृतिक भौगोलिक सीमा अन्य राष्ट्रों से पृथक् है, जहां के लोगों का जातीय मूल एक है और जो एक भाषा बोलते हैं, जिनकी सभ्यता और संस्कृति एक-सी है, जिनके रीति-रिवाज और साहित्य एक हैं।" राष्ट्र के संबंध में गार्नर की परिभाषा अन्य परिभाषाओं से अधिक तर्कसम्मत मानी जाती है। इस परिभाषा के अनुसार भारत एक बहुराष्ट्रीय राज्य है। भारतीय संस्कृति ही एकमात्र वह सूत्र है, जो इस अनेकता को एकता में पिरोये रखती है और भारत की यही विशिष्टता उसे एक विशिष्ट राष्ट्र का स्वरूप प्रदान करती है।

रूढ़ि : कुछ लोक-रीतियां ऐसी होती हैं, जिनको संपूर्ण समूह या वर्ग के लिए इतना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, कि उनमें नैतिकता की दृष्टि से उचित और अनुचित का भाव निहित हो जाता है, उनके पालन को सामाजिक कल्याण के लिए लाभदायक माना जाता है और इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि उनके प्रतिकूल कार्य न किया जाये। ऐसी भावना से युक्त जनरीतियों को रूढ़ि कहने लगते हैं। अत: रूढ़ियां लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक दृढ़ और कठोर होती हैं। कोई भी व्यक्ति इन रूढ़ियों की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि ये समाज की मौलिक आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। जब अनेक व्यक्ति इन्हें समाज के लिए आवश्यक समझने लगते हैं, तो ये हमारे आदर्शों और नियंत्रणों की अवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र हो जाती हैं।

समनर का कहना है कि जब समाज सामाजिक कल्याण की दृष्टि से कोई दार्शनिक या सामान्य नैतिक नियम निर्धारित करता है, तो लोकरीतियां आचरण की नियामक हो जाती हैं, और वे रूढ़ियों का स्तर प्राप्त कर लेती हैं। इनका उल्लंघन करनेवाला दंड का भागी माना जाता है। उदाहरणार्थ, नंगे न चलना एक रूढ़ि है। यदि कोई इसका उल्लंघन करेगा, तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इसी प्रकार पर-स्त्री गमन न करना, पति का अपमान न करना, मंगलवार को हिंदुओं द्वारा व्रत रखना आदि रूढ़ियां हैं।

रूढ़ियों को कई विद्वानों ने निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है :

डासन और गेटिस के अनुसार "रूढ़ियां वे लोक-रीतियां हैं, जिन्होंने अपने साथ किसी प्रकार के ऐसे निर्णय संलग्न कर लिये हैं कि समूह का कल्याण मुख्यत: उन्हीं पर निर्भर है।" गिलिन और गिलिन का कहना है कि "रूढ़ियां वे प्रचलन और समूह के कार्यक्रम हैं, जो समाज के सदस्यों द्वारा समूह के सतत अस्तित्व के लिए आवश्यक है"। मैकआइवर और पेज की परिभाषा है कि "जब लोक-रीतियां अपने साथ समूह के कल्याण की अवधारणा से उचित और अनुचित की धारणाओं को जोड़ लेती हैं, तो वे रूढ़ियों में परिवर्तित हो जाती हैं।"

रूढ़ियों की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं :

(1) रूढ़ियां गतिहीन और सुदृढ़ होती हैं।

(2) रूढ़ियां किसी भी व्यवहार या विचार को उचित बना सकती हैं और किसी भी व्यवहार या विचार के बहिष्कार को रोक सकती हैं, जैसे 100 वर्ष पूर्व तक दक्षिणी अमरीका में दासता को ठीक माना जाता था। प्राचीन मिस्र में राजकीय परिवारों में उच्च रक्त को अधिकाधिक शुद्ध रखने के लिए भाई-बहन के विवाहों को मान्यता दी गयी।

(3) रूढ़ियां सामाजिक पवित्र क्रियाएं होती हैं।

(4) रूढ़ियों में तथ्यों की सत्ता होती है।

(5) रूढ़ियां सत्य पर आधारित होती हैं।

रूढ़ियां तीन प्रकार की होती हैं: आचार संबंधी, निषेध संबंधी और कानून संबंधी। आचार संबंधी रूढ़ियां वे होती हैं, जो आचरण के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। इनमें 'यह करना

चाहिए' का भाव निहित होता है, जैसे, हमें सच बोलना चाहिए, माता-पिता और गुरुओं की सेवा करनी चाहिए आदि। निषेध संबंधी रूढ़ियां वे होती हैं, जो किसी विशेष प्रकार के व्यवहार या कार्य को करने से रोकती हैं। उन्हें निषेध कहते हैं। इनमें 'यह नहीं करना चाहिए' के भाव निहित होते हैं। जैसे झूठ नहीं बोलना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए आदि। कानून संबंधी रूढ़ियों के पीछे राज्य की शक्ति होती है। इनका पालन राज्य के भय के कारण होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी कानून का पालन नहीं करता, तो उसे दंड मिल सकता है, परंतु इस प्रकार के दंड पुलिस और कचहरी के द्वारा आचार तथा निषेध के रूप में नहीं दिये जाते।

रेडक्रास सोसाइटी : यह युद्धकालीन बंदियों, घायलों तथा रोगियों की देखरेख करने के उद्देश्य से स्थापित एक राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण (एजेंसी) है। आजकल इसका कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो गया है और मानव जाति की भलाई की दिशा में काम करनेवाली संस्थाओं में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सन् 1862 में हेनरी ड्यूनैंट के द्वारा लिखित 'सुवेनीर डी सोलफेरिनो' नामक पुस्तिका में रेडक्रास के आधारभूत भाव व्यक्त किये गये थे। ड्यूनैंट ने इटली में युद्ध के दौरान रक्तपात और यातनाओं के भयानक और हृदयविदारक दृश्य देखे थे। अपनी पुस्तिका में, जो अनेक भाषाओं में अनूदित हुई, उन्होंने इन भयानक दृश्यों का मार्मिक वर्णन किया और आहतों की सहायता के लिए एक स्थायी समिति की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया। ड्यूनैंट के विचारों का खूब प्रचार हुआ और ऐसी एक समिति की अनिवार्यता कई लोग महसूस करने लगे। जेनोआ की 'सोसाइटी डी यूटिलिटी पब्लिक' के अध्यक्ष गेस्टवे मोइनिए प्रस्तुत विचारों और सुझावों से अत्यधिक प्रभावित हुए। उनकी प्रार्थना पर ड्यूनैंट ने इस समिति की एक बैठक में भाग लिया और अपने विचारों को उनके सामने स्पष्ट कर दिया। तदुपरांत युद्ध में आहतों की स्थिति के सुधार के साधनों और कार्यक्रमों के अध्ययनार्थ एक आयोग मनोनीत किया गया। जनरल डूफोर, स्विस सेना के सेनापति गस्टवे मोइनिए, डा० लुई एपिया, डा० थियोडोर मोनोई और हेनरी ड्यूनैंट इसके सदस्य थे।

इनका पहला काम ऐसी राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय समितियों के निर्माण के लिए एक प्रस्तावित समझौते का ढांचा तैयार करना था, जिनका उद्देश्य स्वयंसेवक सहायक दल बनाकर सैनिकों की चिकित्सा के क्षेत्र में सेवा करना था। सन् 1863 में 26 से 29 अक्टूबर तक जेनोआ में एक अंतर्राष्ट्रीय बैठक हुई, जिसमें रेडक्रास के बुनियादी सिद्धांत निश्चित किये गये। इस बैठक में यह निर्णय भी लिया गया कि रेडक्रास आंदोलन का प्रचार और आहत सैनिकों और युद्ध-पीड़ितों की सहायता करने के लिए सभी देशों में राष्ट्रीय समितियों का निर्माण किया जाये।

अंतर्राष्ट्रीय वैधानिक स्थिति प्राप्त करना इस आंदोलन का दूसरा कार्यक्रम था, जिसके द्वारा एक चिह्न सब देशों के द्वारा स्वीकृत कराया जा सके, ताकि आहतों की सेवा करनेवाले कार्यकर्ताओं की रक्षा युद्धभूमि में होती रहे और कार्यकर्ताओं को आक्रमण से बचाने के लिए प्रयत्न किया जा सके। यह आसान काम नहीं था। लेकिन जनरल डूफोर की ख्याति, हेनरी ड्यूनैंट के अथक कार्य और गस्टवे मोइनिए के विधिवत संगठन के कारण उपर्युक्त कार्य में शीघ्र ही सफलता प्राप्त हुई। इस कार्य के संबंध में नेपोलियन तृतीय का नाम भी स्मरणीय है, जिन्होंने समिति के कार्यान्वियन के लिए अपने व्यक्तिगत प्रभाव का उपयोग किया था। स्विस फेडरल कौंसिल के तत्वावधान में 8 अगस्त, 1864 को एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें 16 सरकारों के 26 प्रतिनिधि शामिल हुए। इसी सम्मेलन का परिणाम था जेनोआ अधिवेशन, जिसमें रेडक्रास संबंधी कुछ स्थायी सिद्धांत निश्चित हुए, जैसे, आहतों का सम्मान होना चाहिए, सैनिक केवल तटस्थ माने जाने चाहिए, चिकित्सा-सेवाओं की सामग्री और कर्मचारियों की सुरक्षा होनी चाहिए, आदि। युद्ध-क्षेत्र में सेवारत कर्मचारियों की सुरक्षा का प्रतीक एक रेडक्रासवाला सफेद झंडा हुआ, जो आज रेडक्रास का चिह्न बन गया है। जेनोआ अधिवेशन के निर्णयों को लगभग सभी देशों ने मान्यता दी है। एक नये कूटनीतिक सम्मेलन द्वारा, जो 6 जुलाई, 1906 को बुलाया गया था, जेनोआ अधिवेशन के निर्णय संशोधित और पूर्ण किये गये।

अंतर्राष्ट्रीय रेडक्रास समिति के कई उद्देश्य हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

(1) सारे देशों में रेडक्रास आंदोलन को फैलाना,

(2) रेडक्रास के बुनियादी सिद्धांतों का पालन करना,

(3) वर्तमान समितियों को नयी रेडक्रास समितियों के संविधान से अवगत कराना,

(4) युद्धकाल में बंदियों और अन्य पीड़ितों की सहायता के लिए अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण का निर्माण करना,

(5) बंदी-शिविरों की देखरेख करना तथा बंदियों के मनोरंजन के लिए आवश्यक कार्रवाई करना,

(6) राष्ट्रों तथा उपराष्ट्रों के बीच का संघर्ष दूर करना और शुभचिंतक तटस्थ के रूप में कार्य करना,

(7) बीमारी, अकाल, बाढ़, आदि से पीड़ित लोगों की सहायता करना,

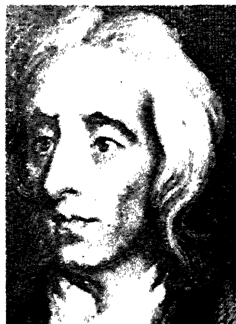
(8) जेनोआ अधिवेशन के सिद्धांतों का पालन करना और इसकी होनेवाली अवहेलना को रोकना तथा भर्त्सना करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में रेडक्रास सोसाइटी ने जो काम किया है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसका आभास कुछ उदाहरणों से हो जायेगा। सन् 1870 में फ्रांसीसी और जर्मन आहतों और बीमार सैनिकों की सहायता के लिए एक सूचना एजेंसी का निर्माण हुआ, जो सोसाइटी के प्रारंभिक कार्यों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय रेडक्रास सोसाइटी ने स्तुत्य सेवाएं की हैं। सन् 1914 में युद्ध-बंदियों के लिए दो हजार व्यक्तियों की एक अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी जेनोआ में बनायी गयी थी। इस एजेंसी के कारण हजारों खोये हुए सैनिकों का पता लगाया गया तथा बंदियों को सहायता दी गयी। अंतर्राष्ट्रीय समिति ने जेनोआ अधिवेशन के निर्णयों के खिलाफ हुए अत्याचारों का प्रदर्शन किया और ऐसे कार्यों की खूब भर्त्सना की। लीग आफ नेशन्स की सहायता के कारण सभी देशों के युद्ध-बंदियों के स्वदेश-गमन की व्यवस्था करने में अंतर्राष्ट्रीय समिति को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। सैनिकों को सुरक्षित जहाजों में ले जाने की व्यवस्था करने, उनकी पहचान करने तथा जहाज में उनकी देखरेख करने में सोसाइटी के अनेक प्रतिनिधि बुलाये गये थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सोसाइटी का कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो गया। मलयेशिया, यूक्रेन तथा कृष्णसागर के क्षेत्रों में उस समय फैली हुई टाएफस महामारी का सामना करने के लिए 1918 में मध्य और पूर्व यूरोप के विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों के साथ केंद्रीय अध्ययन विभाग की स्थापना में सोसाइटी ने भाग लिया। सन् 1919 और 1923 के बीच कृष्णसागरीय भाग में अनेक यक्ष्मा-चिकित्सालय और साधारण चिकित्सालय स्थापित किये गये और उनके लिए आवश्यक सामान जुटाने में भी सोसाइटी ने बड़ी सहायता की। आस्ट्रिया और हंगरी के युद्धपीड़ितों और रूस के अकालग्रस्त लोगों की सहायता के लिए इस सोसाइटी ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण काम किया था। द्वितीय महायुद्ध के समय भी इस समिति ने मानव जाति की महान सेवा की है।

भारत में रेडक्रास सोसाइटी का कार्यक्रम प्रथम विश्वयुद्ध से शुरू होता है। उस समय इस संस्था के लिए एक करोड़ रुपया दान मिला था, जो इसका मूलधन बना। दिसम्बर, 1972 तक भारत में इसकी 20 प्रांतीय संस्थाएं और 528 जिला शाखाएं स्थापित हो चुकी हैं।

लॉक, जान (1632–1704): अंग्रेज दार्शनिक, समाज-विज्ञानी तथा शिक्षाशास्त्री। उनका जन्म 29 अगस्त, 1632 को रिंगटन में हुआ।



उनकी प्रारंभिक शिक्षा वेस्टमिंस्टर पाठशाला में हुई। वहां के अध्ययन के पश्चात् वे क्राइस्ट चर्च कालेज में प्रविष्ट हुए और उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। यूनानी भाषा और दर्शन में बाल्यकाल से ही उनकी गहरी पैठ थी। सन् 1660 में वे क्राइस्ट चर्च कालेज में यूनानी भाषा और दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उन पर देकार्त का गहरा प्रभाव था।

सन् 1660 में लार्ड एशली से उनकी मुलाकात हुई। यह उनके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना बनी। समान विचारों के समर्थक होने के कारण उन दोनों के बीच दृढ़ मैत्री हो गयी। वे 15 वर्ष तक एशली के सचिव रहे। सन् 1675 में एशली के पदच्युत होने के कारण वे उनके साथ पेरिस चले गये। फिर राजनैतिक कारणों से उनको

एशली के साथ हालैंड भागना पड़ा। सन् 1683 में एशली का देहांत हो गया। लॉक को 5 साल तक हालैंड रहना पड़ा और वहां औरेंज के राजकुमार विलियम से उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गयी। सन् 1688 में विलियम इंग्लैंड का राजा बने, तो लॉक भी इंग्लैंड लौट आये। इंग्लैंड लौटने पर लॉक को राजदूत का पद प्रदान किया गया। लेकिन चूंकि वे अपना शेष जीवन इंग्लैंड में ही बिताना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इस पद को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पुर्नविचार आयुक्त का पद ग्रहण किया, लेकिन स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उसको भी त्याग दिया। सन् 1691 से 1704 तक वे सर फ्रांसिस मेहाम के ग्राम्य निवास-स्थान में रहे। सन् 1690 में उन्होंने व्यापार आयुक्त का पद ग्रहण किया, लेकिन स्वास्थ्य ने उनका साथ नहीं दिया और उन्हें 1700 में इस पद को भी छोड़ना पड़ा। उनकी मृत्यु 28 अक्टूबर, 1704 को हुई।

दर्शन और शिक्षा के क्षेत्र में लॉक का योगदान अमूल्य है। 'एसेज कंसर्निग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' नामक पुस्तक में, जो आधुनिक प्रयोग सिद्धवाद का आधार है, उनके दार्शनिक विचार व्यक्त किये गये हैं। विचार की महत्ता पर उन्होंने बल दिया और यह सिद्ध करने की कोशिश की कि विचारों के बिना ज्ञान असंभव है। उनके धार्मिक विचार 'लेटर्स कंसर्निंग टालरेशन' में व्यक्त किये गये हैं। नास्तिक न होते हुए भी वे धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास रखते थे।

'टू ट्रीटाइजेज आफ गवर्नमेंट' उनकी विख्यात पुस्तक है, जिसमें उन्होंने अपने सामाजिक और राजनैतिक विचार व्यक्त किये हैं। उनके समय में सहनशीलता तथा प्रजातंत्र के सिद्धांत और राजा के दैवी अधिकारों के बीच घोर संघर्ष हो रहा था। लॉक के मतानुसार राज्य संविदा का परिणाम है। शासन के अधीन आने पर मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों से उसको वंचित नहीं करना चाहिए। इन नैसर्गिक अधिकारों में संपत्ति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता आदि शामिल हैं। समाज या राज्य संविदा पर आधारित है और जनता की भलाई को दृष्टिगत करते हुए उनमें आवश्यक परिवर्तन किया जा सकता है। शासकीय सत्ता निरंकुश नहीं है, अपितु एक धरोहर है। लॉक ने विद्रोह करने की स्वतंत्रता के अधिकार का समर्थन किया, जो आगे चलकर अमरीका, भारत तथा अन्य उपनिवेशों के स्वतंत्रता-संग्राम का प्रेरणा स्रोत रहा। इस प्रकार शासन के सिद्धांतों के संबंध में उनका जो विचार है, वह आज तक लोकतंत्र की आधार-शिला बना हुआ है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी उनका अमूल्य योगदान है। 'थाट्स आन एजूकेशन' नामक ग्रंथ में उन्होंने शिक्षा संबंधी विचार व्यक्त किये हैं। (अधिक जानकारी के लिए शिक्षा खंड में दे० लॉक, जान)

लेखन और सभ्यता : लेखन का इतिहास मिस्र, सुमेरिया और फोनिशिया के देशवासियों से शुरू होकर ग्रीक और रोमन देशवासियों के द्वारा आधुनिक युग तक व्याप्त हुआ है। छह हजार साल पहले मिस्र के निवासी चित्र-लिपि में ही लिखा करते थे। इस लिपि को अंग्रेजी में हैराग्लिफिक्स कहते हैं। इसमें सिर्फ जानवरों के चित्र मिलते हैं। ये चित्र वर्णमाला के अंतर्गत नहीं आ सकते। फिर भी वर्णमाला की व्युत्पत्ति यहीं से मानी जाती है। यहां के धार्मिक नेताओं ने इन चित्रों को सरल बनाकर तेजी से लिखना शुरू किया, जिससे उन्हें धार्मिक विषयों को लिखित रूप में सुरक्षित रखने में बहुत सुविधा प्राप्त हुई। जनता ने भी लिखना शुरू किया और इन चित्रों को और भी सरल बना दिया। इस लिपि को डेमोलिक कहते हैं। इनमें से कई चित्र मंदिरों के शिला-स्तंभों पर या लकड़ियों की पेटिकाओं पर या मृत व्यक्तियों की समाधियों की दीवारों पर अंकित पाये जाते हैं और कुछ चित्र पेपैरस के पत्तों पर भी प्राप्त होते हैं। इस 'पेपैरस' शब्द से ही 'पेपर' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। मिस्रवासियों की चित्र-लिपि सुमेरियन लोगों की चित्र-लिपि से कुछ भिन्न है। सुमेरियन लोग पहले-पहल पत्थरों पर इन चित्रों को अंकित करते थे और बाद में लकड़ियों पर अथवा धातु पर इन्ही चित्रों की प्रतिलिपियां बनाते थे। ये चित्र कालांतर में कुछ परिवर्तित होकर लकीरों जैसे बन जाते थे। इस लिपि को क्यूनिफार्म-लिपि भी कहते हैं, इसलिए कि इन चित्रों के कोने बहुत निखरे हुए लगते हैं। फोनिशियन लोगों की लिपि ज्यादातर इसी किस्म की थी। आरंभ में यह लिपि बहुत ही दुरूह और अस्तव्यस्त रही, लेकिन फोनिशिया के कुशल व्यापारियों ने मिस्रवासियों से कुछ तो सीखकर और कुछ चित्रों का अनुकरण करके इस लिपि में काफी सुधार किये। ग्रीक लोगों ने इन्ही चित्रों को अपनाकर खास वर्णमाला बनायी।

इसी वर्णमाला को बाद में रोम, जर्मनी इत्यादि पाश्चात्य देशों ने भी अपना लिया। धीरे-धीरे संसार के प्रायः हर सभ्यतासंपन्न देश ने अपनी पृथक् लिपि को विकसित किया। संस्कृत और जापानी इत्यादि प्राच्य भाषाओं की लिपियों में वर्णों की संख्या पाश्चात्यों की वर्णमाला से अपेक्षाकृत अधिक है। विद्वानों का अनुमान है कि भारत और उसके पड़ोसी प्राच्य देशों की लिपियां ब्राह्मी लिपि से उत्पन्न हुई हैं।

लोक-कलाएं : अशिक्षित जनजातियों, पिछड़े समुदायों और सामाजिक रूप से निम्न स्तर के व्यक्तियों की संस्कृति में कई प्रकार की लोक-कलाएं देखने में आती हैं, यथा, चित्रकारी, पच्चीकारी, मूर्ति बनाना, मांडने बनाना, संगीत-रचना करना, भांति-भांति के नृत्य करना, सजावट करना, खिलौने बनाना, नृत्य के लिए कौड़ियों, पंखों, सींगों आदि से बने हुए मुकुट, मुखौटे, वस्त्र आदि का निर्माण आदि। उनके प्राकृतिक पर्यावरण में जो-जो वस्तुएं उपलब्ध होती हैं, यथा, बांस, सींकें, घास, लकड़ी, पत्थर, चिकनी मिट्टी, शंख, मछली, हड्डियां, पक्षी विशेष आदि, उनसे भांति-भांति की वस्तुएं निर्मित की जाती हैं। इनका न केवल मनोरंजनात्मक महत्त्व होता है, अपितु आर्थिक मूल्य भी होता है; क्योंकि इनका क्रय-विक्रय किया जाता है जिस पर उनका जीवन निर्भर होता है। गुजरात, राजस्थान, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि की लोक-कलाएं अत्यंत मनोहारी और रोचक होती हैं और अब तो उनकी मांग न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी बढ़ रही है और उससे भारत विदेशी मुद्रा कमाने लगा है। इन कलाओं के माध्यम से देश की विभिन्न संस्कृतियां अजर-अमर बनी हुई हैं। लेकिन अब इनका पतन होने लगा है; क्योंकि ये आधुनिक युग के मनोरंजन के साधनों की प्रतिस्पर्धा के आगे नहीं टिक पा रही हैं।

लोक-क्रीड़ाएं : जनजातियों व पिछड़े समुदायों में कई प्रकार की लोक-क्रीड़ाएं अथवा खेल-कूद प्रचलित रहे हैं, जिनका आजकल लोप हो रहा है। भारत में एलविन वैरीयर, डी० एन० मजूमदार तथा अनेक सामाजिक मानवविज्ञानियों ने अपने अमूल्य शोध-अध्ययनों से पता लगाया है कि विभिन्न समुदायों में किन-किन अवसरों पर कौन-कौन-से खेल किन-किन समूहों द्वारा खेले जाते हैं। कई खेलों में केवल बालक ही भाग लेते हैं, किन्हीं में केवल स्त्रियां, तो किन्हीं में केवल अविवाहित व्यक्ति। इन लोक-क्रीड़ाओं का आयोजन धार्मिक अनुष्ठानों, विवाहों, पंचायत और सामाजिक मेल-मिलाप के अवसरों पर होता है। भारतीय ग्रामों में कुश्ती, कबड्डी, गिल्ली-डंडा खेलना, बैलगाड़ियों, घोड़ों व रथों को दौड़ाना, मुर्ग, बटेर और मेड़ों को लड़ाना, कबूतर उड़ाना आदि विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं। नीलगिरि की टोड़ा जनजातियों में भैंसों से संबंधित कई खेल-कूदों के आयोजन किये जाते हैं। लोक-क्रीड़ाओं का उद्देश्य व्यक्तिगत मनोरंजन तो होता ही है, लेकिन इससे भी बड़ा उद्देश्य है सामूहिक एकता और उल्लास को प्रदर्शित करना। भारत में अभी तक इस पक्ष पर कोई विशेष उल्लेखनीय शोध-अध्ययन नहीं हुए हैं।

लोक-गाथा : प्रत्येक मानव समुदाय का अपना लोक-साहित्य होता है। जनजातियां और पिछड़े समूह चूंकि प्रायः अशिक्षित होते हैं, इसलिए उनका लोक-साहित्य प्रायः मौखिक अथवा अलिखित होता है। भारतीय लोक-साहित्य बहुत समृद्ध है। भारतीय जनजातियों के लोक-साहित्य के कई रूप देखने में आते हैं, यथा, (1) दोहे, (2) छंद या चौपाई, (3) लोक-गीत, (4) लोककथाएं, (5) पहेली, (6) कहावतें, और (7) पौराणिक कथाएं। इनमें विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं, नैतिकता तथा आकांक्षाओं और भयों की स्पष्ट झांकी देखने में आती है।

लोकगीतों और लोककथाओं के कथानक इन विभिन्न प्रकार के प्रसंगों से संबंधित होते हैं। भारत में देवेंद्र सत्यार्थी ने देश के लाखों लोकगीत एकत्र किये हैं। एलविन वैरीयर नामक मानवविज्ञानी ने मध्य प्रदेश और नागालैंड में बहुत लोकसाहित्य एकत्र किया था। राजस्थान में डा० के० एल० सहगल, लक्ष्मीबाई चूंडावत, गोविंद अग्रवाल, नरोत्तम स्वामी, सूर्यकरण पारीक, डा० सत्यपाल रुहेला आदि कई शोधकर्ताओं ने बहुमूल्य लोक-साहित्य एकत्र किया है। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों के लोक-साहित्य, गीत और कथाओं के संकलन में मोहन उप्रेती, जीवनलाल साह और ब्रजेंद्र ने महत्त्वपूर्ण काम किया है।

दिल्ली के कई प्रकाशकों ने हिंदी भाषा में विभिन्न लोक-समूहों की लोकवार्ता की अमूल्य धरोहर को हिंदी भाषा में संग्रह करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। ऐसे कई प्रयास राज्यों में भी हो रहे हैं। सरकार की ओर से इस दिशा में यद्यपि कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला है, तथापि व्यक्तिगत रूप से अनेकानेक शोधकर्ता इस दिशा में लगे हुए हैं।

लोक-रीति : लोक-रीति समाज में मानव-व्यवहारों की सूचीकृत विधियां हैं। 'लोक-रीति' शब्द का विशेष प्रचार समाजविज्ञान संबंधी साहित्य के अंतर्गत डब्ल्यू० जी० समनर ने 1906 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'फोकवेज' (लोक-रीति) द्वारा किया है।

कुछ बुद्धिमान व्यक्ति अपने कार्यों को संपादित करने के लिए ऐसी पद्धति को चुन लेते हैं, जो सबसे अधिक सफल होती है। उस पद्धति का चुनाव व्यक्ति विचारपूर्वक या सजग होकर नहीं करता, बल्कि अचेतनावस्था में बिना सतर्क रहे स्वतः ही करता है। ये पद्धतियां उस समूह के समस्त लोगों द्वारा मान्य अथवा स्वीकृत होती हैं। किसी वर्ग में आवश्यकताओं की पूर्ति की इस प्रकार की प्रचलित और मान्य पद्धतियों को समाजविज्ञान के अंतर्गत लोक-रीति कहते हैं। उदाहरणार्थ भोजन करने की रीति को लीजिए। भारतीय अधिकतर हाथ से भोजन करते हैं, जबकि चीनी सींक से ही चावल खाते हैं। भारत में स्त्रियां साड़ी या ब्लाउज पहनती हैं तथा कुछ स्त्रियां चादर ओढ़ती हैं। मुस्लिम देशों में स्त्रियां बुर्का व पायजामा पहनती हैं। जब ये लोक-रीतियां बार-बार दुहरायी जाती हैं, तो आदत का रूप धारण कर लेती हैं और तब हमारे मस्तिष्क और शरीर दोनों को नियंत्रित करती हैं।

लोक-रीति को कई विद्वानों ने परिभाषित किया है। एच० डब्ल्यू० ओडम के अनुसार "साधारणतया लोक-रीतियां व्यक्ति की आदतें और समूह के रीति-रिवाज हैं, जो स्वाभाविक रूप से स्वतः उत्पन्न होते हैं और जीवन के विभिन्न परिवर्तनों के साथ शनैः-शनैः विकसित होते हैं।" गिलिन और गिलिन का मत है कि "लोक-रीतियां नित्यप्रति के जीवन के आचरण के प्रतिमान हैं, जो एक समूह में सामान्यतया अज्ञात रूप में बिना किसी योजना या पूर्व निश्चित विचारों के उत्पन्न होते हैं, जैसे, अपरिचित को बुलाने में हैट को उठाना तथा हाथ मिलाना।"

लोकरीतियों की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) लोक-रीतियां मनुष्य के पूर्व-चिंतन से उत्पन्न नहीं होतीं।

(2) लोक-रीतियों के अंतर्गत अनेक आदतें सम्मिलित हैं।

(3) लोक-रीतियां सामाजिक विरासत का अंग होती हैं।

(4) लोक-रीतियां जनता के आचरण का अभिन्न भाग हैं।

लौकिक समितियां : वे समितियां या संघ, जिनमें धर्म की कोई प्रधानता नहीं होती है। ऐसी समितियों का मूल आधार नीति और न्याय होता है और इनमें विविध सभ्यताओं और संस्कृतियों के लोग संश्लिष्ट रूप से सम्मिश्रित रहते हैं। ऐसी समितियों को क्रमबद्ध बनानेवाले मूलसूत्र अनेक और असंख्य हैं। लौकिक समितियों के लिए कोई केंद्रीय प्रेरणा नहीं होती है। इसमें केवल उन्हीं कार्यकलापों को प्रधानता दी जाती है, जो तार्किक और हेतुपूर्ण होते हैं। लेकिन आजकल लौकिक समितियों में भी लोगों के परस्पर संबंध जनता की इच्छा के अनुरूप स्थापित नहीं हो रहे हैं। सरकार द्वारा निर्धारित नियमों के अंतर्गत लौकिक समितियों का निर्वहण हो रहा है। चूंकि मानव समाज एक स्थिति से दूसरी स्थिति की तरफ लगातार बढ़ता रहता है, इसलिए यह कहना मुश्किल है कि वास्तविक अर्थ में किस तरह की समितियां लौकिक समितियां कहला सकती हैं।

वक्कलिग जाति : कर्नाटक प्रांत के किसानों की एक उच्च जाति। 'वक्कलु' का अर्थ है कृषि। इस जाति की कई शाखाएं हैं। इस जाति के लोगों का विश्वास है कि वे आनेगोविंद बल्लाल राजू की संतति हैं और बाद में अपनी जीविका के लिए अपना स्थान छोड़कर कोयंबत्तूर में जाकर बस गये। ये मूलतः मैसूर प्रांत के ही हैं।

रीति-रिवाज : इनमें वैष्णव और शैव दोनों ही पाये जाते हैं। इनमें परस्पर वैवाहिक संबंध भी होते हैं। ये लोग देवताओं की पूजा करके पशुबलि भी देते हैं। परंपरागत

ढंग से इस जाति का एक मुखिया होता है, जिसे 'पट्टकरन' कहते हैं। वह इनके आपसी झगड़ों को हल करता है और अपराधियों को दंड भी देता है। इस पट्टकरन के अधीन कई गांव होते हैं। विवाह आदि इस पट्टकरन व ब्राह्मणाचार्य के द्वारा ही कराये जाते हैं। वर को दहेज विवाह के समय नहीं, बल्कि प्रथम संतान के जन्म के समय दिया जाता है। वक्कलिग जाति में कम उम्र के लड़कों की शादी बड़ी उम्र की युवतियों से करते हैं और जब तक विवाहित लड़का दांपत्य जीवन के योग्य नहीं होता, तब तक वर का पिता ही अपनी बहू के साथ रहता है। ये लोग मृतकों को दफनाते हैं। इनमें मृत्यु के बाद ग्यारहवें दिन श्राद्ध कर्म करने की प्रथा है।

इनके मुख्य पेशों में कृषि, व्यापार, दूध बेचना, ईंटें बनाना, सिलाई करना आदि उल्लेखनीय हैं।

वर्ग-व्यवस्था : वर्ग-व्यवस्था किसी समाज की वह सोपानात्मक व्यवस्था होती है, जिसमें व्यक्तियों को उनकी विभिन्न सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के आधार पर विभिन्न सामाजिक वर्गों में विभाजित किया जाता है। एक वर्ग के प्रायः सभी समुदायों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति प्रायः एक-सी ही होती है। वर्गों में परस्पर ऊंच-नीच का कोई क्रम अवश्य देखने में आता है। यदि हम भारतीय समाज का ही उदाहरण लेकर इस व्यवस्था को समझाना चाहें, तो हम पाते हैं कि इसमें तीन प्रमुख वर्ग हैं : उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, और निम्न वर्ग।

उच्च वर्ग के अंतर्गत अत्यंत धनी और उच्च पदाधिकारी आते हैं, जिनके पास धन, सुख-सुविधाओं, मान, पद, शिक्षा आदि की प्रचुरता होती है। यह वर्ग अपने से भिन्न वर्गों के शोषण पर ही प्रायः निर्भर है तथा राज्य चलानेवाले प्रमुख नेताओं से घनिष्ठ मेलजोल रखता है। इस प्रकार इसका आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है।

निम्न वर्ग के अंतर्गत छोटे-छोटे काम-धंधे करनेवाले दुकानदार, श्रमिक और कर्मचारी आते हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय और सामाजिक स्थिति बहुत कमजोर होती है। अभाव, निराशा, अशिक्षा, अज्ञान आदि इनके समाज में सदैव विद्यमान रहते हैं। यह वर्ग पूंजीवादी व्यवस्था में सदा शोषित होता हैं।

मध्य वर्ग उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच का वर्ग होता है। इसके सदस्यों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति साधारणतः उत्तम होती है। वस्तुतः मध्य वर्ग को भी तीन उप-वर्गों में विभाजित किया जाना उचित होगा : उच्च-मध्य वर्ग, मध्य-मध्य वर्ग, और निम्न-मध्य वर्ग। उच्च-मध्य वर्ग अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में उच्च वर्ग से कुछ ही कम होता है। मध्य-मध्य वर्ग में उच्च शिक्षित व्यक्ति, सरकारी नौकर, बड़े दुकानदार, प्राध्यापक, डाक्टर, वकील आदि सम्मिलित होते हैं। निम्न-मध्य वर्ग में पढ़े-लिखे भूमिहीन, अल्प वेतन या आयवाले व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, जिनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति निम्न वर्ग से कुछ ही अधिक उत्तम होती है। मध्य वर्ग अत्यंत स्वार्थी और परंपरागत विचारोंवाला माना जाता है। यह सामाजिक परिवर्तन या क्रांति को लानेवाला नहीं माना जाता, तथापि चूंकि अधिकतर बुद्धिजीवी और नेता इसी वर्ग में से आते हैं, अतः अल्पसंख्यक होते हुए भी यह महत्त्वपूर्ण वर्ग होता है।

वर्ग-संघर्ष : सामाजिक वर्ग वे विशाल जन-समुदाय होते हैं, जो ऐतिहासिक रूप से निर्धारित सामाजिक उत्पादन की किसी व्यवस्था में प्राप्त स्थान के कारण एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। समाज-व्यवस्था में वर्गों का स्थान प्रायः इस बात से निश्चित होता है कि उत्पादन के साधनों के साथ उनका क्या संबंध है। यह संबंध प्रायः कानूनी रूप में निश्चित और निर्धारित होता है। ये संबंध या तो स्वामित्व के होते हैं या केवल श्रम करके उत्पादन के उन साधनों से उपभोग की वस्तुएं पैदा करने के। समाज में निर्धारित अपने स्थान के कारण एक वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम को मुफ्त में हजम कर सकता है, अर्थात् उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार होने के कारण मालिक उन साधनों से उत्पादन करनेवाले मजदूरों का शोषण कर सकता है। इस प्रकार दो वर्ग बन जाते हैं—एक पूंजीपति और दूसरा सर्वहारा। इन दोनों वर्गों के हित कभी एक साथ नहीं हो सकते। उनमें अंतर्विरोध अवश्यंभावी है। मार्क्स के अनुसार समस्त समाजों का इतिहास, दास-व्यवस्था से लेकर पूंजीवादी व्यवस्था तक, वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स और लेनिन ने वर्ग-संघर्ष को वैज्ञानिक रूप से

समझाया है कि सामाजिक विकास को प्रेरित करनेवाली शक्तियां समाज को परस्पर विरोधी वर्गों में बांट देती हैं। उनका कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में होनेवाला वर्ग-संघर्ष अनिवार्यतः सर्वहारा के अधिनायकत्व की ओर ले जाता है, जिसका उद्देश्य होता है समस्त वर्गों को मिटाकर एक वर्गरहित साम्यवादी समाज की रचना करना।

वर्ग-संघर्ष के प्रमुख रूप होते हैं—आर्थिक, राजनैतिक और वैचारिक। राजनैतिक संघर्ष पूंजीवादी समाज में समाजवादी क्रांति लाता है, जिससे सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित होता है, और इससे श्रमिक वर्ग तथा संपूर्ण समाज शोषण से मुक्त होता है। आर्थिक और वैचारिक संघर्ष राजनैतिक संघर्ष में सहायक होते हैं, लेकिन इनका स्थान राजनैतिक संघर्ष की तुलना में गौण होता है। सर्वहारा का अधिनायकत्व हो जाने के बाद भी वर्ग-संघर्ष कुछ समय तक चलता रहता है। रूस की क्रांति के बाद रूस में हुए वर्ग-संघर्ष के पांच रूप लेनिन ने बताये हैं : (1) शोषकों के प्रतिरोध को दबाना, (2) बुर्जुआ और सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष का अंतिम रूप गृह-युद्ध, (3) किसानों तथा उन श्रमिकों का नेतृत्व के लिए संघर्ष, जो वास्तव में सर्वहारा नहीं होते, (4) बुर्जुआ विशेषज्ञों का उपयोग करने के लिए संघर्ष, (5) जनता को नये समाजवादी अनुशासन के लिए शिक्षित करने के लिए संघर्ष।

वर्ग-संघर्ष कहां कितना तीव्र या मंद होगा, यह ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, किंतु जब तक उत्पादन के साधनों पर से वैयक्तिक अधिकार समाप्त नहीं होता, वर्ग-संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता।

वर्ण-व्यवस्था : हिंदू समाज की संरचना में वर्ण-व्यवस्था एक अत्यंत वैज्ञानिक व्यवस्था है। इस प्रकार की व्यवस्था संसार में अन्यत्र नहीं मिलती। केवल यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने समाज के व्यक्तियों को उनके गुण के आधार पर चार भागों में विभक्त किया है। परंतु प्लेटो का वर्गीकरण केवल सैद्धांतिक ही रहा, व्यावहारिक रूप नहीं धारण कर सका।

परंतु भारतीय हिंदू समाज की यह व्यवस्था सैद्धांतिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। 'वर्ण' शब्द के दो प्रयोजन होते हैं—एक 'रंग' तथा दूसरा 'चुनना'। 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से बतायी गयी है, जिसका अर्थ वरण अथवा चुनाव करना होता है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग आर्य एवं दासों के रंगभेद को स्पष्ट करने के लिए किया जाता था। पी० वी० काणे का मत है कि प्रारंभ में वर्ण शब्द का प्रयोग गोरे रंगवाले आर्यों तथा काले रंगवाले दासों के लिए किया गया था, परंतु कालांतर में यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए किया जाने लगा।

प्रारंभ में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग चाहे रंग के अर्थ में किया गया हो, परंतु कालांतर में यह शब्द श्रम या कार्य के आधार पर व्यक्तियों के विभाजन का द्योतक बन गया और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में इसका प्रयोग होने लगा। भारतीय समाज को मनु ने चार भागों में विभक्त किया था। जो व्यक्ति विद्योपार्जन करते या विद्योपजीवी थे, वे ब्राह्मण कहलाये। जो शासन करते थे तथा युद्ध आदि में व्यस्त रहते थे, उनको क्षत्रिय कहा गया। जो व्यापार तथा कृषि कार्य करते थे, वे वैश्य कहलाये तथा जो लोग सेवा-कार्य करते थे वे शूद्र कहलाने लगे।

प्रारंभ में यह व्यवस्था मनुष्य के कार्य के आधार पर थी। अपने कार्य के आधार पर एक मनुष्य दूसरे वर्ण ग्रहण कर सकता था। उदाहरणार्थ यदि कोई ब्राह्मण शौर्य या शासन का कार्य करता था या युद्ध में भाग लेता था, तो वह क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी हो जाता था। परंतु कालांतर में वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म हो गया। ब्राह्मण के घर में जन्म लेनेवाला मनुष्य चाहे निरक्षर ही क्यों न हो, पर ब्राह्मण ही रहने लगा। इस प्रकार कालांतर में इस वर्ण-व्यवस्था ने जाति का रूप धारण कर लिया।

विलिंग सहोदरज संतति : एक भाई की संतानें और उसकी बहिन की संतानें परस्पर विलिंग सहोदरज संतति कहलाती हैं। भाई और बहिन वास्तविक भाई-बहिन या श्रेणीबद्ध भाई-बहिन भी हो सकते हैं। इनकी संताने आपस में एक-दूसरे को भाई-बहिन ही कहती हैं। लेकिन कुछ समुदायों में इनमें परस्पर विवाह हो जाते हैं। कहीं-कहीं पर तो विवाह के लिए ऐसी संतति को ही पसंद किया जाता है। मुसलमानों, दक्षिणी भारत के नंबूदिरी ब्राह्मणों, नायरों, नायकों तथा अफ्रीका की कई जनजातियों में बुआ या मामा की लड़की या लड़के से विवाह करना बहुत

अच्छा समझा जाता है तथा आज भी यह प्रथा उनमें प्रचलित है। सुजननशास्त्र की दृष्टि से ऐसे विवाह उत्तम व स्वस्थ संतति के लिए बहुत उपयुक्त नहीं होते, परंतु सामाजिक और सांस्कृतिक घनिष्ठता के फलस्वरूप कई समुदाय आज भी इन्हें पसंद करते हैं।

विवाह : नर और नारी के संयोग में ही सृष्टि का मूल निहित है। उनका एक-दूसरे के प्रति आकर्षण और संयोग एक नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण होता है। यह आकर्षण ही सृष्टि को आगे बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रक्रिया के कारण ही मानव जाति की धारा सतत प्रवाहित हो रही है और मानव जाति को अंत से बचाती है। इस प्रक्रिया में दोनों का स्थान समान होता है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असंभव है। दोनों के संतुलित और समुचित संबंधों पर ही उनका विकास निर्भर होता है। सृष्टि के आदिकाल से ही दोनों के इस संयोग, जीवन-मैत्री तथा एक दूसरे के जीवन-संगी होने की व्यवस्था को विवाह की संज्ञा दी जाती रही है।

'विवाह' की सैकड़ों परिभाषाएं विद्वानों ने अपनी-अपनी भावना एवं विचार के अनुसार दी हैं। परंतु उनमें से कुछ ही, वास्तविकता पर आधारित हैं। ई० ओ० जेम्स ने 'मैरिज एंड सोसायटी' (विवाह और समाज) में विवाह की परिभाषा इस प्रकार दी है, "विवाह मानव समाज में सार्वभौमिक रूप से पायी जानेवाली संस्था है, जो यौन संबंध, गृह-प्रबंध, प्रेम तथा मानव स्तर पर व्यक्तित्व के जैविकीय, मनोवैज्ञानिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करती है"। हैवलाक एलिस ने 'सैक्स एंड मैरिज' में लिखा है कि "विवाह उन दो व्यक्तियों के परस्पर संबंधों को कहते हैं, जो एक-दूसरे से यौन संबंध एवं सामाजिक सहानुभूति के बंधनों से आपस में बंधे हों और यदि संभव हो, तो वे इन बंधनों को अंतकाल तक चलाने के लिए इच्छुक हों।" डा० वेस्टर-मार्क ने 'मैरिज' में लिखा है कि "विवाह स्त्री और पुरुष का ऐसा सम्मिलन है, जिसे किसी संस्कार को संपन्न करके स्वीकृति दी जाती है।"

इस प्रकार विवाह एक सामाजिक संस्था है, जिसमें दो विषमलिंगी व्यक्ति परस्पर मिलकर यौन संबंध, सामाजिकता, संतति और व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति नियमित रूप से करते हैं तथा मानवता के नाते इन सुखों के बदले कुछ उत्तरदायित्वों को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं।

विवाह संस्था का आविर्भाव कब और कैसे हुआ, इस संबंध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परंतु अनुमान यह लगाया जाता है कि विवाह की उत्पत्ति आदिम आदतों से हुई है। विवाह विषमलिंगी व्यक्तियों को इस योग्य बनाता है कि वे मिलकर संयुक्त प्रयास से परिवार की उत्पत्ति कर सकें तथा उसका पालन-पोषण कर सकें। इस बात पर हम इस कारण भी विश्वास कर सकते हैं कि आदिम काल में भी पुरुष और स्त्री में परस्पर काम संबंध स्थापित करने, एक साथ रहने और मिलकर अपनी संतानों का पालन-पोषण करने की आदत थी, जिसमें पुरुष पर परिवार के पालन-पोषण का भार होता था और स्त्री उसकी सहायक तथा बच्चों की परिचारिका होती थी।

भारतीय धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार के विवाह माने गये हैं: (1) ब्राह्म, (2) आर्ष, (3) प्राजापत्य, (4) दैव, (5) आसुर, (6) गांधर्व, (7) राक्षस तथा (8) पैशाच। इनमें से प्रथम चार प्रकार के विवाह प्रशस्त विवाह या समाज द्वारा स्वीकृत थे और बाद के चार अप्रशस्त या समाज द्वारा अस्वीकृत विवाह के भेद थे। मनु ने ब्राह्मणों के लिए दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य विवाह, क्षत्रियों के लिए राक्षस और वैश्यों और शूद्रों के लिए आसुर विवाह उचित बतलाये।

(1) **ब्राह्म विवाह** : मनुस्मृति (3। 27) में ब्राह्म विवाह का लक्षण इस प्रकार दिया है: कन्या को वस्त्र, अलंकार आदि से सुसज्जित करके विद्वान तथा शीलवान वर को स्वयं आमंत्रित करके कन्यादान करे, यही ब्राह्म विवाह है। इसमें मुख्य धार्मिक संस्कार हैं, हवन, पाणिग्रहण तथा सप्तपदी। यह विवाह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। आजकल हिंदू समाज में यही विवाह प्रचलित है, परंतु इसमें दहेज की बुराई और कुछ स्थानीय रूढ़ियां शामिल हो गयी हैं।

(2) **प्राजापत्य विवाह** : मनुस्मृति (3। 30) में इस विवाह का लक्षण इस प्रकार दिया है: "तुम दोनों एक साथ मिलकर गृहस्थ धर्म का आचरण करना"—यह कहकर तथा वर की विधिवत् पूजा करके जो कन्यादान किया जाता है, वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। इसमें और ब्राह्म

विवाह में कोई विशेष अंतर नहीं है। इसलिए वसिष्ठ ने इसे अलग भेद नहीं माना है।

(3) **आर्ष विवाह** : मनुस्मृति (3। 29) के अनुसार आर्ष विवाह की परिभाषा इस प्रकार है: "वर से एक गाय और एक बैल अथवा एक जोड़ा गाय और एक जोड़ा बैल लेकर धर्म के अनुकूल विधि के अनुसार कन्या वर को दे दे।" यह एक प्रकार से कन्या का विक्रय था, जो आजकल भी कई निम्न जातियों में या निर्धनों में प्रचलित है। किंतु 'वीर-विप्रोदय' के अनुसार यह कन्या का मूल्य नहीं होता; क्योंकि उसकी मात्रा सीमित होती है और उसे कन्या के साथ वर को वापस कर दिया जाता है।

(4) **दैव विवाह** :दैव विवाह की परिभाषा मनुस्मृति (3। 28) में इस प्रकार दी गयी है: "वस्त्रऔर अलंकारों से सुसज्जित कन्या का दान ऐसे यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण (ऋत्विज) को करना दैव विवाह है, जो किसी यज्ञशाला में पुरोहित के कार्य को सुचारु रूप से करता हो"। यह नीचे स्तर का विवाह है; क्योंकि इसमें गुण संपन्न वर की खोज नहीं की जाती थी, बल्कि जो पुरोहित यज्ञ कराने आता था, उसे ही कन्या दे दी जाती थी। यह वास्तविक विवाह नहीं प्रतीत होता, बल्कि उसे समाज के समृद्ध और शक्तिशाली वर्गों में प्रचलित बहुविवाह प्रथा के साथ रखैल प्रथा जैसा समझना चाहिए।

(5) **आसुर विवाह** : मनुस्मृति (3। 31) में आसुर विवाह का लक्षण इस प्रकार दिया है: "जब विवाह के लिए इच्छुक व्यक्ति, अपनी इच्छा से कन्या के कुटुंबियों को या कन्या को धन देकर, कन्या से विवाह कर ले, तो इसे आसुर विवाह कहते हैं।" पांडु ने माद्री के साथ इसी प्रकार का विवाह किया था। यद्यपि आजकल इसे ठीक नहीं समझा जाता है, किंतु कहीं-कहीं यह अब भी प्रचलित है, जैसे बंगाल में अकुलीन ब्राह्मण शुल्क देकर पत्नी प्राप्त करते रहे हैं। हिंदू कानून के अनुसार मूल्य लेना अवैध नहीं है।

(6) **गांधर्व विवाह** :मनु ने गांधर्व विवाह का लक्षण मनुस्मृति (3। 32) में इस प्रकार दिया है: "कन्या तथा वर परस्पर प्रेम से अभिभूत होकर यदि आपस में यौनाचरण कर लें, और विवाह के लिए तैयार हो जायें, तो वह गांधर्व विवाह है।" इसमें वैवाहिक संस्कार यौन समागम के बाद भी पूरा किया जा सकता है। वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ 'कामसूत्र' में गांधर्व विवाह को आदर्श विवाह माना है। पश्चिमी प्रगतिशील जातियों में यह प्रथा प्रचलित है। भारत में भी अब ये प्रथा बढ़ती जा रही है।

तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि गंधर्व नाम की कामुक जाति में ऐसा विवाह बहुत प्रचलित था, इसीलिए इसे गांधर्व विवाह कहा जाता है। इस विवाह का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है दुष्यंत और शकुंतला का विवाह।

(7) **राक्षस विवाह** : मनुस्मृति (3। 33) में कहा गया है कि कन्या के माता-पिता को मार-काटकर, उनका घर तोड़-फोड़कर, रोती-बिलखती हुई कन्या को बलपूर्वक उसके घर से उठा लेना और उससे विवाह कर लेना राक्षस विवाह है। अन्य शब्दों में, इस विवाह में युद्ध के द्वारा कन्या को प्राप्त किया जाता है। मनु ने क्षत्रियों के लिए यह विवाह उचित बतलाया है। इस विवाह के अनुसार स्त्री विजय का पुरस्कार होती है। आधुनिक समय में इस विवाह को अमानुषिक माना जाता है।

(8) **पैशाच विवाह** : मनुस्मृति (3। 34) में इस विवाह के संबंध में लिखा है कि "सोती हुई, मद्यपान से विह्वल अथवा किसी अन्य प्रकार से उन्मत्त स्त्री से एकांत में समागम कर लेना और तत्पश्चात् उसे विवाह के लिए तैयार कर लेना पैशाच विवाह है।" इस विवाह पद्धति को निकृष्टतम तथा हेय माना जाता है।

डा० मजूमदार का मत है कि वर्तमान समय में इन आठों प्रकार के विवाहों में से केवल दो प्रकार के (ब्राह्म और आसुर) विवाह प्रचलित हैं। उच्च जातियों में ब्राह्म और नीची तथा निर्धन जातियों में आसुर विवाह प्रचलित है। परंतु आर्ष विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। कुछ माता-पिता स्वयं धन लेकर कन्या का विक्रय कर देते हैं, जो प्राचीन आर्ष विवाह का ही एक रूप है।

वर्तमान समय में हिंदुओं में पाये जानेवाले विवाह के प्रकारों को हम स्थूल रूप में दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (1) एकविवाह (मोनोगमी) और (2) बहुविवाह (पोलीगमी)।

एकविवाह : एक पुरुष का केवल एक स्त्री से विवाह करना तथा पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह न करना, अथवा पति के जीवित रहते हुए पत्नी द्वारा दूसरा विवाह न करना एकविवाह कहा जाता है। विवाह-विच्छेद होने के बाद या पत्नी अथवा पति की मृत्यु के बाद पति या पत्नी दूसरा विवाह कर सकता है। मनु ने कुछ परिस्थितियों में

पुरुष को दूसरे विवाह की अनुमति दी है। परंतु बहुत समय से हिंदुओं में एक-पत्नी प्रथा को ही ठीक माना जाता रहा है। हिंदू कोड बिल के अनुसार कोई पुरुष एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता। बहुविवाह अवैध घोषित कर दिया गया है। आजकल यदि कोई सरकारी कर्मचारी बहुविवाह कर ले, तो उसके विरुद्ध अनुशासनिक कार्रवाई की जा सकती है और उसे नौकरी से निकाल दिया जा सकता है।

बहुविवाह : बहुविवाह के दो रूप हैं (क) बहुपत्नी विवाह और (ख) बहुपति विवाह। एक पुरुष यदि अनेक स्त्रियों से विवाह कर ले, तो उसे बहुपत्नी विवाह कहते हैं। बहुपत्नी विवाह के कारण थे—उच्छृंखल कामवासना की तृप्ति अथवा पुत्र प्राप्ति। कोई स्त्री जब अनेक पुरुषों के साथ विवाह करती है, तब उसे बहुपति विवाह कहते हैं, जैसे द्रौपदी का पांचों पांडवों के साथ विवाह। बहुपति तथा बहुपत्नी विवाह प्रथा निषिद्ध है, फिर भी कुछ परिस्थितियों में इनकी अनुमति है।

वेस्टरमार्क का कहना है कि बहुपतित्व के उदाहरण विश्व के अनेक भागों में मिलते हैं, किंतु बहुत थोड़े क्षेत्रों में लोगों ने बहुपतित्व का व्यवहार किया है। इनमें से अधिक उल्लेखनीय तिब्बत तथा भारत के कुछ क्षेत्र हैं। तिब्बत में बहुपतित्व अनंतकाल से चला आ रहा है और वहां पर इसका प्रचलन अभी भी बहुत है। नियमानुसार पति भाई होते हैं। पत्नी के चुनाव का अधिकार सबसे बड़े भाई को होता है। भ्रातृत्व संबंधी बहुपतित्व न्यूनाधिक रूप में हिमालय क्षेत्र में असम तथा तिब्बत के क्षेत्रों में प्रचलित है। बहुपतित्व का दूसरा बड़ा केंद्र दक्षिण भारत है। नीलगिरि के तोड़ा तथा उत्तर प्रदेश के जौनसार बावर क्षेत्र (देहरादून जिला) के खस लोगों में बहुपतित्व का प्रचलन है।

बहुपतित्व के दो भेद हैं: भ्रातृक बहुपतित्व तथा अभ्रातृक बहुपतित्व। जब परिवार के समस्त भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं, तब उसे भ्रातृक बहुपतित्व कहते हैं। उस स्थिति में सब भाई स्त्री के साथ समागम करने में स्वतंत्र होते हैं, किंतु ऐसे समागम से जो संतान उत्पन्न होती है, वह बड़े भाई की संतान मानी जाती है। जौनसार बावर में यह प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा का अनुसरण करनेवाले लोगों का कहना है कि इसमें पैतृक संपति का विभाजन होने से बच जाता है।

जब स्त्री के अनेक पति आपस में भाई-भाई नहीं होते, तो उसे अभ्रातृक बहुपतित्व कहते हैं। स्त्री बारी-बारी से प्रत्येक पति के घर जाकर रहती है। बहुत समय पहले दक्षिण भारत की कुछ जातियों में यह प्रथा प्रचलित थी। स्त्री जब एक पति के घर रहती थी, तो अन्य पतियों का उस पर कोई अधिकार नहीं होता था। यह भी होता था कि स्त्री के घर जाकर पति बारी-बारी से नियत समय के लिए रहते थे। स्त्री से उत्पन्न संतान सब पतियों की होती थी। अब यह प्रथा समाप्त हो गयी है।

विवाह की कुछ सीमाएं होती हैं, जिसके अनुसार विवाह के कई भेद-उपभेद देखने में आते हैं। इनमें से निम्नलिखित भेद-उपभेद प्रमुख हैं:

(1) **अंतर्विवाह** : जे० के० फोलसन ने अंतर्विवाह की परिभाषा देते हुए कहा है कि "अंतर्विवाह का एक नियम यह है कि मनुष्य अपनी ही जाति अथवा अपने ही वर्ग में विवाह कर सकता है।" हिंदुओं में अंतर्विवाह के संबंध में कठोर नियम हैं। किसी व्यक्ति को अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह करता है, उसे प्रायः अपने परिवार या जाति से बहिष्कृत किया जाता है। ब्राह्मण ब्राह्मण से ही विवाह कर सकता है और क्षत्रिय क्षत्रिय से, यद्यपि अपवाद प्राचीनकाल में भी मिलते थे और आजकल भी मिलते हैं।

अंतर्विवाह केवल भारत में ही नहीं पाया जाता है, अपितु विश्व के अनेक समाजों में मिलता है। अंतर्विवाह का मुख्य उद्देश्य प्रजातीय रक्त संबंधी शुद्धता को बनाये रखना है। प्रायः प्रत्येक प्रजाति को अपने रक्त की श्रेष्ठता पर विश्वास और गर्व होता है।

भारत में अंतर्विवाह के निम्नांकित रूप पाये जाते हैं:

जातीय अंतर्विवाह : हिंदुओं में जातीय अंतर्विवाह की प्रथा प्रचलित है। ब्राह्मण अपनी जाति के अंदर विवाह करते हैं। वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र, अपनी-अपनी जाति के अंदर ही विवाह करते हैं।

वर्ग अंतर्विवाह : समाज में अनेक आर्थिक वर्ग बन गये हैं, जैसे, उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग। उच्च वर्ग के लोग अपने वर्ग के अंदर ही अंदर विवाह करते हैं

उपजाति विवाह : ब्राह्मणों में अनेक उपजातियां हैं, जैसे सरयूपारीय, कान्यकुब्ज, गौड़ ब्राह्मण आदि। ये उपजातियां अपनी उपजाति के अंतर्गत विवाह करना ठीक

समझती हैं। इसे उपजातीय अंतर्विवाह कहते हैं।

प्रजाति अंतर्विवाह : इसके अंतर्गत एक प्रजाति अपनी ही प्रजाति में विवाह करती है, उसके बाहर विवाह करना निषिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, वेद्दा प्रजाति के लोग अपनी ही प्रजाति में विवाह करते हैं। वे अपनी प्रजाति के बाहर शायद ही कभी विवाह करते हैं।

(2) **बहिर्विवाह**: भारत में अंतर्विवाह के साथ बहिर्विवाह भी प्रचलित है। बहिर्विवाह का अभिप्राय है, अपने गोत्र, प्रवर, टोटम, पिंड अथवा गांव के बाहर विवाह करने की प्रथा, जो हिंदुओं, मुसलमानों और भारतीय जनजातियों में पायी जाती है। बहिर्विवाह के भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं :

(क) गोत्र बहिर्विवाह : एक गोत्र के लोग अपने को एक ही पूर्वज की संतान मानते हैं, अतः अपने को भाई-बहिन समझते हैं और आपस में विवाह नहीं करते। गोत्र वास्तव में परंपरागत वंश के समान है। इसलिए विवाह प्रायः गोत्र के बाहर किये जाते हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों के गोत्र उनके पुरोहितों के अनुसार होते हैं। वे लोग अपने पुरोहितों के गोत्र के बाहर विवाह संबंध करते हैं। बोधायन ने गोत्रों की संख्या करोड़ों मानी है, किंतु उन सबके नाम आज नहीं मिलते। बोधायन ने लिखा है कि सगोत्र कन्या से विवाह करने पर 'चांद्रायण' नामक व्रत करके प्रायश्चित करना चाहिए, तथा उस कन्या से माता या बहिन का व्यवहार करना चाहिए।

(ख) प्रवर बहिर्विवाह : गोत्र प्रवर्तक ऋषियों से भी प्राचीन प्रवर प्रवर्तक ऋषि थे। पांडुरंगवामनकारों का मत है कि प्रवर वे अत्यंत प्राचीन ऋषि हैं, जो बड़े यशस्वी थे और गोत्र चलानेवाले ऋषियों के भी पूर्वज थे। उनकी संख्या 49 थी, अतः एक प्रवर रखनेवाले व्यक्ति आपस में भाई-बहिन हुए, और उन्हें परस्पर विवाह संबंध नहीं करना चाहिए। गौतम, वसिष्ठ तथा शंख धर्मसूत्रों का कहना है कि वर के समान प्रवर रखनेवाली कन्या से विवाह करना उचित नहीं है। आजकल प्रवरों को बहुत कम लोग जानते हैं। अतः इनका निषेध नहीं हो पाता है।

(ग) पिंडबहिर्विवाह : बृहस्पति के अनुसार माता की पांच तथा पिता की सात-सात पीढ़ी तक संबंधित संतानें सपिंड संतानें हैं, उनके बीच में विवाह-संबंध नहीं होना चाहिए। बोधायन धर्मसूत्र का कहना है कि मामा तथा बुआ की संतानों में विवाह अनुचित है। दक्षिण में नंबूदिरी ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य ब्राह्मण मामा की लड़की से विवाह करना अच्छा मानते हैं। तमिलनाडु की बेलम जाति भानजी से विवाह करना अच्छा समझती है। इस प्रकार पिंड-बहिर्विवाह के अनेक रूप हिंदुओं में पाये जाते हैं। मुसलमान लोग भी पिंडबहिर्विवाह के निषेध को मानते हैं। भारत की पारसी तथा ईसाई जातियां भी निकट रक्त संबंधियों से विवाह करना अनुचित समझती हैं। इस प्रकार पिंड-बहिर्विवाह की प्रथा भारत की समस्त जातियों, प्रजातियों एवं जनजातियों में पायी जाती है।

(घ) टोटम बहिर्विवाह : जिस प्रकार हिंदुओं में गोत्र तथा प्रवर होते हैं, उसी प्रकार जनजातियों के टोटम होते हैं। टोटम किसी वनस्पति या जीव का नाम होता है, जिसको जनजातियों ने अपने वंश-वृक्ष से संबंधित मान लिया जाता है। (अधिक जानकारी के लिए दे० मानव-विज्ञान खंड की 'गोत्र-चिह्न' नामक प्रविष्टि) जनजातियों के टोटम केला, आम, गुलाब, सिंह, चीता, हाथी, गेंडा आदि होते हैं। एक टोटम के लोग अपने को भाई-बहिन मानते हैं। इसलिए वे आपस में विवाह नहीं करते।

(ङ) ग्राम बहिर्विवाह : भारत की कुछ जनजातियों में अपने गांव से बाहर विवाह करने की प्रथा है। छोटा नागपुर की मुंडा जाति में ग्राम बहिर्विवाह है। असम की नागा जनजातियां अनेक खेलों में बंटी हैं। एक स्थान पर रहनेवाले व्यक्तियों को एक 'खेल' के व्यक्ति कहते हैं। प्रत्येक 'खेल' के भिन्न नाम होते हैं। एक 'खेल' के लोग आपस में विवाह नहीं करते। सब अपने 'खेल' के बाहर विवाह करते हैं। गारों जनजाति दो वर्गों में विभक्त है। ये दोनों वर्ग बहिर्विवाही हैं। असम की मिकिर जनजाति में पांच बहिर्विवाही वर्ग हैं। दक्षिण भारत की इरूला जनजाति बहिर्विवाही वर्गों में विभक्त है।

(3) **अंतर्जातीय विवाह** : अंतर्जातीय विवाह का अभिप्राय प्रत्येक जाति को एक-दूसरे से विवाह करने की स्वतंत्रता है। अंतर्जातीय विवाह के दो रूप माने गये हैं : (क) अनुलोम विवाह, और (ख) प्रतिलोम विवाह।

(क) अनुलोम विवाह : हिंदुओं की अनुलोम विवाह प्रथा की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि प्राचीन काल में "अनुलोम विवाह, जिसमें ऊंची जाति के पुरुष नीची जाति की स्त्रियों से विवाह करते हैं, मान्य था

और ऐसे विवाहों से उत्पन्न संतानें मध्यम जाति में रखी जाती थीं।" के० एम० कापडिया का कहना है कि "एक ब्राह्मण अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य तीन जातियों में भी विवाह कर सकता है। एक क्षत्रिय अपनी जाति में तथा अपने से नीची दो जातियों में से पत्नी ले सकता है। वैश्य दो पत्नियां रख सकता है और शूद्र केवल एक।"

इस प्रकार अनुलोम विवाह का अर्थ है, उच्च वर्ण के लोगों को निम्न वर्ण की कन्याएं लेने की स्वतंत्रता। प्रत्येक जाति में ऊंची-नीची अनेक उपजातियां हैं। अनुलोम विवाह उच्च उपजातियों को निम्न उपजातियों की कन्या लेने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

भारतीय महाकाव्यों और अन्य साहित्य के प्रमाणों से यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि ईसा के जन्म के पूर्व अनुलोम विवाहों की पद्धति प्रचलित थी। मनु ने यद्यपि सवर्ण विवाहों को श्रेष्ठ बतलाया है, किंतु अनुलोम विवाहों को भी मान्यता दी है।

बाण ने लिखा है कि चंद्रसेन और मातृषेण नामक उनके दो भाई थे, जो उनके पिता की शूद्र स्त्री से संतान थे। ईसा के 150 वर्ष पूर्व शुंग परिवार के ब्राह्मण राजा अग्निमित्र ने एक क्षत्रिय राजकन्या मालविका से विवाह किया था। सन् 1020 में अलबरूनी भारत में आया था। उसने लिखा है कि उस समय के ब्राह्मण तीनों निम्न जातियों से स्त्री लेना उचित नहीं समझते थे। 15वीं और 16वीं शताब्दियों के लेखकों ने भी हिंदू समाज में अनुलोम विवाहों का निषेध बतलाया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि हमारे देश में अनुलोम विवाह की प्रथा 10वीं शताब्दी तक प्रचलित थी।

(ख) प्रतिलोम विवाह : प्रतिलोम विवाह का नियम अनुलोम विवाह के विपरीत है। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार, "प्रतिलोम विवाह, जिसमें ऊंचे वर्णों की स्त्रियां नीचे वर्ण के पुरुषों के साथ विवाह करती हैं, निषिद्ध था और ऐसे वर्ण से उत्पन्न बच्चे चार वर्णों में सम्मिलित नहीं किये जाते थे, बल्कि वे चांडाल या निषाद हो जाते थे।" श्री कापडिया के अनुसार, नीचे वर्णों के पुरुष का ऊंचे वर्ण की स्त्री से विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है।

इस प्रकार के विवाहों के उदाहरण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। यजुर्वेद संहिता (3। 5) में आये 'अभागु' शब्द से लोग यही अर्थ लेते हैं। आश्वलायन सूत्र में यह उल्लेख है कि परिवार का दास परिवार की विधवा के देवर के समान होता है और अपने स्वामी की विधवा के साथ विवाह कर सकता है। यद्यपि इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं रहा, जिसमें प्रतिलोम विवाह, पूर्णरूप से प्रचलित रहे हों, फिर भी कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं। कदंब वंश के शकुतृस्थ वर्मा नामक ब्राह्मण राजा ने अपनी कन्याएं गुप्त राजाओं को दी थीं। प्रतिलोम विवाह के जो उदाहरण मिलते हैं, वे ऊंचे स्तर के व्यक्तियों के हैं। इससे यह विदित होता है कि समान आर्थिक स्तर के व्यक्तियों के सांस्कृतिक जीवन में अंतर नहीं था, इसलिए उनके बीच प्रतिलोम विवाहों की प्रथा भी प्रचलित थी। मनु ने यद्यपि प्रतिलोम विवाहों की निंदा की है, परंतु बाद के स्मृतिकारों ने उसे स्वीकार किया है। अब तक प्राप्त ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी तक भारत में अनुलोम विवाह तो सर्वसाधारण में प्रचलित था, किंतु प्रतिलोम विवाह उच्च वंशों में समान आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर के व्यक्तियों में प्रचलित था। अतः कहा जा सकता है कि अंतर्जातीय विवाह केवल बीसवीं शताब्दी की ही अपनी मौलिक विशेषता नहीं है।

(4) यूथ अथवा समूह विवाह : पुरुषों का एक समूह जब स्त्रियों के दूसरे समूह से विवाह कर लेता है, तब उसे यूथ विवाह कहते हैं। यह बहुविवाह का वह रूप है, जिसमें बहुपतित्व तथा बहुपत्नीत्व दोनों होते हैं। प्रत्येक स्त्री को समूह या यूथ के प्रत्येक पुरुष से यौन-समागम करने की स्वतंत्रता होती है, और यूथ का प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री से यौन-समागम करने के लिए स्वतंत्र होता है। इन समागमों से उत्पन्न संतान यूथ की संतान मानी जाती है।

यह प्रथा सिक्किम, तिब्बत और भूटान की कई जनजातियों में पायी जाती है। यह प्रथा सबसे अधिक आस्ट्रेलिया में मिलती है।

(5) संकर विवाह : ऐसा समाज, जिसमें कोई भी पुरुष या स्त्री किसी भी पुरुष या स्त्री से यौन-समागम करने के लिए स्वतंत्र हो, संकर समाज कहा जाता है। वन्य जातियों में यह प्रथा पहले पायी जाती थी। धीरे-धीरे इस प्रथा का लोप हो गया। इस प्रथा का आभास आज जौनसार बावर में मिलता है। वहां लड़की चाहे विवाहित हो या अविवाहित, जब तक अपने मां-बाप के घर रहती है,

किसी भी पुरुष के साथ यौन-समागम करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र होती है, किंतु पति के घर जाने पर विवाहित स्त्री को यह स्वतंत्रता नहीं रह जाती।

आदिवासियों में पाये जानेवाले विवाह के भेद सभ्य समाजों में पाये जानेवाले भेदों से भिन्न होते हैं। इसलिए उन विवाहों का अध्ययन अलग से किया जाता है। आदिवासियों में निम्न प्रकार के विवाह पाये जाते हैं :

(1) **परीक्षण विवाह** : लड़का लड़की के पिता के घर जाकर रहता है। दोनों को आपस में मिलने-जुलने की पूरी स्वतंत्रता होती है। यदि कुछ दिन एक साथ रहने के बाद दोनों की प्रकृति मिल जाती है, तो विवाह कर लेते हैं, अन्यथा लड़का लड़की के पिता को कुछ हरजाना देकर चला जाता है। कुकी जाति में यह प्रथा पायी जाती है।

(2) **परीक्षा विवाह** : लड़के से बल, साहस, पराक्रम व चातुर्य की परीक्षा लेकर उससे विवाह करना परीक्षा विवाह कहलाता है। अर्जुन-द्रौपदी का तथा राम-सीता का विवाह ऐसा ही था। इसका कुछ निकृष्ट रूप आदिवासियों में अब भी प्रचलित है।

गुजरात के कुछ भील होली के दिन एक वृक्ष पर नारियल तथा गुड़ टांग देते हैं। वृक्ष के चारों ओर अविवाहित युवतियां घेरा बनाकर नाचती हैं। कोई भी अविवाहित युवक युवतियों के घेरे को तोड़कर पेड़ पर चढ़कर नारियल और गुड़ खोलकर लाने का प्रयत्न करता है। जब वह युवतियों के घेरे में प्रवेश करता है, तब वे उसे मारती-पीटती हैं, नोचती-खसोटती हैं और उसके पेड़ पर चढ़ने में सब प्रकार से बाधा डालती हैं। परंतु इन बाधाओं को पार करता हुआ वह यदि नारियल-गुड़ ले आये और विजयी हो जाये, तो उसे उस घेरे की किसी भी युवती से विवाह करने का अधिकार होता है।

(3) **अपहरण विवाह** : कन्या का जबरदस्ती अपहरण करके विवाह करना अपहरण विवाह है। आजकल गीड़े लोग माता-पिता की अनुमति से कन्या का अपहरण करते हैं और उससे विवाह कर लेते हैं। भीलों में भी यह प्रथा प्रचलित है।

(4) **क्रय विवाह** : कुछ आदि जातियों में पत्नी-मूल्य की प्रथा प्रचलित है। कन्या का मूल्य चुकाने के बाद कन्या से विवाह किया जा सकता है। इसका कारण या तो यह होता है कि कन्याएं पुरुषों की अपेक्षा संख्या में कम होती हैं अथवा कन्या के चले जाने से घर के काम-काज में बाधा पड़ती है। कन्या का पालन-पोषण माता-पिता इतने दिन तक करते हैं, इसलिए उनको कुछ आर्थिक मुआवजा देकर कन्या से विवाह किया जाता है।

(5) **सेवा विवाह** : जो लोग पत्नी-मूल्य नहीं दे सकते, उनके लिए एक दूसरी प्रथा प्रचलित है। वे लड़की के माता-पिता के घर सेवा करते हैं। गौड तथा बैगा जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है। युवक लड़की के माता-पिता के घर नौकरी करने लगता है। जब सेवा के रूप में पत्नी-मूल्य का भुगतान हो जाता है, तब वह कन्या से विवाह करके चला जाता है और अपना अलग घर बसा लेता है। बिरहोर जनजाति में लड़की का पिता लड़के को रुपये उधार देता है। इस रुपये का भुगतान लड़का लड़की के यहां नौकरी करके करता है। सेवा-काल में दोनों की घनिष्ठता बढ़ जाती है और विवाह हो जाता है। नेपाल के गोरखा मजदूर जौनसारी खासी के यहां खेती-बाड़ी का काम करने के लिए इस शर्त पर नौकर हो जाते हैं कि एक निश्चित अवधि के बाद वे उसकी कन्या से विवाह कर लेंगे।

(6) **विनिमय विवाह** : पत्नी के मूल्य के रूप में अपने परिवार की एक लड़की दे दी जाती है। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय से विवाह हो जाता है। पति अपनी बहिन पत्नी के भाई को या किसी दूसरे संबंधी को विनिमय के रूप में देकर विवाह करता है।

(7) **पलायन विवाह** : यदि लड़के-लड़की के माता-पिता विवाह करने के लिए राजी नहीं होते, तो लड़की लड़के के साथ घर छोड़कर भाग जाती है और विवाह कर लेती है। इसे पलायन विवाह कहते हैं। प्राचीन भारत में यह रिवाज था कि जब लड़की लड़के के साथ पलायन करती थी, तो गांव की सीमा तक उसका पीछा किया जाता था। बाद में यदि वे गांव में लौट भी आते, तो उन्हें पति-पत्नी के रूप में मान्यता मिल जाती थी।

(8) **बलात् विवाह** : जबरदस्ती किये जानेवाले विवाह का यह तीसरा रूप है। यदि लड़का किसी लड़की से विवाह करना चाहता है, पर लड़की नहीं चाहती, तब लड़का किसी जगह छिपकर खड़ा हो जायेगा और धोखे से या जबरदस्ती लड़की के माथे पर सिंदूर का टीका लगा देगा। दोनों को यह विवाह स्वीकार करना पड़ेगा। दूसरी

ओर यदि लड़की किसी लड़के से विवाह करना चाहती है, किंतु लड़का और उसके मां-बाप नहीं चाहते, तो वे लड़की को बार-बार दुतकारते हैं, किंतु बार-बार अपमानित किये जाने पर भी यदि लड़की अटल रहती है और बराबर प्रार्थना करती रहती है, तो विवाह कर दिया जाता है।

(9) **अधिमान्य विवाह** : अधिमान्य विवाह का तात्पर्य उस विवाह से है, जिसके लिए समाज विशेष प्रकार की अधिमान्यताएं प्रदान करता है। इसके विभिन्न रूप निम्न-लिखित हैं :

(क) भाई-बहिनों की संतानों में विवाह : यह प्रथा असम की गारो तथा मिकिर जातियों में है तथा छोटा नागपुर की खड़िया और गोंड जातियों में पायी जाती रही है।

(ख) भाभी विवाह :बड़े भाई की मृत्यु के बाद भाभी से विवाह कर लेने की प्रथा कुछ जातियों में है।

(ग) साली विवाह :यह प्रथा भी गौड़ तथा खड़िया जातियों में पायी जाती है। यह दो प्रकार का होता है : (1) सीमित साली विवाह, जिसमें पत्नी की मृत्यु के बाद पति अपनी छोटी साली से विवाह कर लेता है। और (2) समकालीन साली विवाह, जिसमें एक स्त्री से विवाह करने पर उसकी समस्त बहिनों से एक साथ विवाह हो जाता है।

विवाह-विच्छेद : विवाह-विच्छेद अथवा तलाक का अभि-प्राय उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा पति-पत्नी अपना वैवाहिक संबंध तोड़ लेते हैं। इसके बाद वे पति-पत्नी नहीं रहते, अपितु अविवाहित व्यक्ति की भांति उन्हें पुनः अन्यत्र विवाह करने की स्वतंत्रता होती है। विवाह-विच्छेद पृथक्करण से भिन्न प्रक्रिया है। पृथक्करण में पति-पत्नी अलग-अलग घरों में रहते हैं, परंतु उन्हें पुनः दूसरा विवाह करने की अनुमति नहीं होती; क्योंकि उस अवस्था में उनकी स्थिति विवाहितों जैसी होती है।

जिन परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद स्वीकार किया जाता है, वे विभिन्न समाजों तथा विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न होती हैं। पूर्वी मध्य अफ्रीका में कुछ लोगों में यदि पति पत्नी के कपड़े नहीं सीता, तो पत्नी उसे तलाक दे सकती है। यहूदी कानून के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी तक, पति को इस बात की पूरी छूट थी कि वह अपनी इच्छानुसार पत्नी को कभी भी तलाक दे सके, जबकि पत्नी को तलाक देने का अधिकार बिल्कुल नहीं था। वर्तमान समय में इस्रायल में परस्पर सहमति से दिये गये तलाक को कानून मान्यता दे देता है। कुछ समाजों में, विशेषकर पश्चिमी समाजों में, विवाह-विच्छेद बहुत जल्दी कर दिया जाता है। पति-पत्नी में मतभेद होते ही विवाह-विच्छेद की नौबत आ जाती है। परंतु भारत में विवाह तथा तलाक संबंधी अधिनियम (1955) ने स्त्री-समाज की रक्षा की। यहां पर तलाक देना इतना सरल नहीं है, अपितु उसके लिए कुछ अवस्थाएं हैं, जिनके आधार पर इस कानून ने पति-पत्नी को तलाक देने की अनुमति प्रदान की। हिंदुओं के लिए ये अवस्थाएं निम्न-लिखित हैं :

(1) यदि पति या पत्नी व्यभिचारी हो।

(2) यदि पति या पत्नी हिंदू धर्म को त्यागकर अन्य धर्म अपना ले।

(3) यदि पति या पत्नी तीन साल से पागल हो और उसका पागलपन असाध्य रोग हो।

(4) यदि पति या पत्नी भयंकर और असाध्य कुष्ठ रोग से अथवा संक्रामक रतिरोग से पीड़ित हो और पिछले तीन वर्ष तक चिकित्सा करवाने पर भी उसका रोग दूर न हुआ हो।

(5) यदि पति या पत्नी सांसारिक जीवन त्यागकर वैरागी हो जाये।

(6) यदि पति या पत्नी 7 वर्षों से लापता हो।

(7) यदि इस कानून के लागू होने के पहले भी किसी पुरुष ने दूसरा विवाह कर लिया हो, तो पत्नी उसे तलाक दे सकती है।

(8) विवाह होने के तीन साल बाद ही तलाक देने का आवेदनपत्र दिया जा सकता है, इसके पहले नहीं।

(9) तलाक मिल जाने के बाद एक साल तक दोनों पुनर्विवाह नहीं कर सकते।

मुसलमानों में विवाह-विच्छेद के लिए 1939 में मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम बनाया गया। इस नियम के बनने से पहले इस्लाम की प्रथा के अनुसार पुरुष को तलाक देने के विशेष अधिकार प्राप्त थे। इस नियम ने स्त्री तथा पुरुष को तलाक देने के समान अधिकार प्रदान किये। मुस्लिम पति-पत्नी इन अवस्थाओं में तलाक दे सकते हैं :

(1) यदि चार वर्ष तक पति का कुछ पता न चले।

(2) यदि दो वर्ष तक पति अपनी पत्नी के भरण-पोषण की कोई व्यवस्था न कर सके।

(3) यदि पति को आजीवन या लंबी अवधि तक सजा मिल गयी हो।

(4) यदि पति तीन वर्ष तक अपने वैवाहिक कर्तव्य को पूरा न करे।

(5) यदि विवाह के समय से ही पति नपुसंक हो।

(6) यदि पति या पत्नी दो वर्ष से पागल हो।

(7) यदि पति या पत्नी असाध्य कोढ़ या रतिरोग से पीड़ित हो।

(8) यदि लड़की का विवाह 15 वर्ष की अवस्था से पहले कर दिया गया हो और अठारह वर्ष की अवस्था तक उसका पति से यौन संबंध न हुआ हो, तो लड़की विवाह-विच्छेद कर सकती है।

(9) यदि पति क्रूर, दुराचारी या व्यभिचारी हो।

(10) यदि पति अपनी पत्नी को व्यभिचार करने के लिए बाध्य करे।

(11) यदि पति अपनी पत्नी की संपत्ति को बिना उसकी आज्ञा के बेचने लगे, अथवा पत्नी को अपनी संपत्ति का उपयोग करने में बाधा डाले।

(12) यदि पति पत्नी को धार्मिक कार्य न करने दे।

(13) यदि अन्य पत्नियों की तुलना में उसके साथ अन्याय करता हो।

(14) यदि वह पत्नी पर व्यभिचार का दोष लगाये और वह सिद्ध न हो पाये।

पारसी तलाक अधिनियम (1865) : पारसी लोग विवाह को धार्मिक संस्कार नहीं मानते। इस कानून ने तलाक के लिए निम्नलिखित शर्तें बतायी हैं :

(1) यदि पति या पत्नी व्यभिचारी हो। (किंतु किसी वेश्या के साथ सहवास करना तलाक की दृष्टि से व्यभिचार नहीं है।)

(2) यदि पति या पत्नी बहुविवाह कर ले।

(3) यदि पति क्रूर हो।

(4) यदि पति ने दो साल से पत्नी को छोड़ दिया हो।

(5) यदि पुरुष यौन-अपराध करे।

(6) यदि पति या पत्नी जानबूझकर एक दूसरे को रतिरोगों से दूषित करे।

(7) यदि पति या पत्नी एक साल या उससे अधिक समय के लिए जेल जाये।

(8) यदि पति या पत्नी एक-दूसरे को तीन साल तक छोड़े रहे।

ईसाई विवाह-विच्छेद : 1861 का भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम ईसाइयों पर लागू होता है। इसमें तलाक के लिए निम्नलिखित शर्तें हैं :

(1) यदि पति ऐसी स्त्री से यौन संबंध करे, जिसके साथ कानून विवाह वर्जित है।

(2) बहुविवाह।

(3) व्यभिचार।

(4) समलिंगी या पशु-व्यभिचार करना।

(5) धर्म-त्याग करके अन्य स्त्री या पुरुष से विवाह कर लेना।

विशिष्ट वर्ग : समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने-आपको विशिष्ट या सर्वोच्च मानते हैं। इन व्यक्तियों की संख्या कम ही होती है। वे सामाजिक रूप से उत्कृष्ट होने का दावा करते हैं। वे समाज के कुछ अंश को प्रभावित और नियंत्रित रखते हैं। उन लोगों की यह उत्कृष्टता चाहे परंपरा से प्राप्त हो या स्वयं अर्जित हो, यह समूह प्रचलित सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण करती है और कभी-कभी उसे परिवर्तित भी करती है। व्यक्तियों का यह समूह समाज में अल्प संख्या में ही होता है।

इस विषय पर लिखनेवाले प्रारंभिक लेखक विल्फ्रेडो परेटो (दे० परेटो, विल्फ्रेडो), जी मोस्का तथा आर० मिचेल्स इस विशिष्ट वर्ग-को शासक वर्ग या कुलीनतंत्र के रूप में मानते हैं। परेटो ने अपनी पुस्तक 'माइंड एंड सोसाइटी' में शासक, गैरशासक, विशिष्ट वर्ग तथा गैरविशिष्ट वर्ग में भिन्नता दर्शायी है।

वृद्ध तंत्र : जनसमुदायों में प्रायः यह देखने में आता है कि वृद्ध व्यक्ति ही समुदाय के महत्त्वपूर्ण राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में नीति-निर्धारण तथा उसके अनुसार कार्यों को संपन्न करने का कार्य करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में वृद्धों को सबसे अधिक सम्मान मिलता है तथा वे बालकों, स्त्रियों और युवकों को अपने से बहुत नीचा समझते हैं। वे जो भी कार्य

करते हैं, वह बहुत कुछ पुरातन काल से चली आ रही परंपराओं, रीति-रिवाजों तथा व्यवहार के प्रतिमानों के अनुसार ही होता है। वृद्ध लोग नये परिवर्तन को प्रायः समझ नहीं पाते और अन्य सभी वर्गों के व्यक्तियों पर अपनी ही इच्छाएं थोपने का भरसक प्रयास करते हैं। अतः स्वाभाविक ही है कि ऐसे समाज में युवा पीढ़ियां प्रायः विद्रोह करती हैं अथवा द्वेष से पीड़ित रहती हैं। इस प्रकार का समाज वर्तमान युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों में भली प्रकार नहीं चल सकता। भारतीय समाज में कई जनजातियों तथा ग्रामीण समुदायों में इस प्रकार की वृद्ध तंत्र की व्यवस्था अभी तक प्रचलित है। अफ्रीका तथा विश्व के अन्य कई भागों में भी जनजातियों तथा ग्रामीण समुदायों में इस प्रकार की व्यवस्था विद्यमान रही है।

वृद्धों और अशक्तों की सेवाएं : भारत में सम्मिलित परिवार, जाति-व्यवस्था और ग्राम-पंचायत, ये तीन ऐसी संस्थाएं रही हैं, जिनके द्वारा विपत्तिग्रस्त, असहाय और वृद्धों को सुरक्षा प्राप्त होती रही है। पश्चिमी देशों में यह स्थिति नहीं है। भारत में वृद्धों की समस्या वैसी विकट नहीं है, जैसी पश्चिम देशों में है, जहां सम्मिलित परिवार नहीं है, और लोग दीर्घायु होते हैं। अतः यहां वृद्धों की समस्या का ऐसा जटिल रूप नहीं है, जिसके लिए पृथक् संस्थाएं खोली जायें। फिर भी कुछ ऐसी संस्थाएं हैं, जिनकी ओर तुरंत ध्यान देने की जरूरत है।

देश में वृद्धों के लिए चार प्रकार के कार्यक्रम हैं :

(1) दिवा केंद्र अथवा वृद्धों के क्लब, जिनमें अपने परिवारों में रहनेवाले वृद्ध हिस्सा लेते हैं।

(2) निराश्रित और पराश्रित तथा एकाकी व्यक्तियों के लिए संस्थाएं।

(3) असाध्य तथा चिररोगियों के लिए आवासी संस्थाएं।

(4) ऐसे व्यक्तियों के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था, जो अपने परिवारों में तो रह सकते हैं, किंतु जिनकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल अच्छी नहीं है।

वृद्धावस्था शारीरिक परिवर्तन से संबंधित है, किंतु उसके सामाजिक और मानसिक पक्ष भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आयु-वृद्धि के साथ-साथ जो शारीरिक, सामाजिक और सांवेगिक परिवर्तन उपस्थित होते हैं, उनके कारण उत्पन्न दशाओं में परिवार तथा पास-पड़ोस से समायोजन करने की आवश्यकता होती है। हमारे देश में प्रायः वृद्ध लोग अपने समय का उपयोग सृजनात्मक कार्यों के लिए कम ही करते हैं। अतः खाली रहने के कारण उनमें सांवेगिक समस्याएं पैदा होने लगती हैं और इसका परिवार पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। पुत्रवधू और पुत्र बड़े-बूढ़ों के अधिक हस्तक्षेप को पसंद नहीं करते। ऐसी अवस्था में उनके लिए ऐसे क्रियाकलापों की व्यवस्था होनी ही चाहिए, जिनमें वे सृजनात्मक ढंग से व्यस्त रह सकें। संगठित मनोरंजन के साधन न होने से यह समस्या विशेष रूप से विद्यमान है। पश्चिमी देशों में इस प्रकार की सेवा को दिवा-केन्द्र के नाम से पुकारा जाता है।

वृद्धों के लिए संस्थात्मक सेवाएं : भारत में वृद्धों की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्मिलित परिवार द्वारा होती है, किंतु कुछ परिवारों की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर होती है। इसके अतिरिक्त परिवार-हीन लोग भी हैं और ऐसे असहाय व्यक्ति भी हैं, जिन्हें नातेदारों तथा मित्रों का सहारा प्राप्त नहीं है। ऐसे लोगों के लिए विशेष आवास की आवश्यकता है। वृद्ध सदनों में वे लोग भी रह सकते हैं, जो अपने परिवारों में न रहकर समवयस्कों के साथ रहना चाहते हैं। इसके अलावा भारत में भी संयुक्त कुटुंब अब धीरे-धीरे टूट रहा है। दूसरी ओर लोक-स्वास्थ्य, चिकित्सा, सफाई तथा पोषण की सुविधाओं के फलस्वरूप औसत आयु बढ़ रही है और शिशुओं की मृत्यु-दर कम हो रही है। ऐसी अवस्था में संस्थागत आश्रय चाहनेवाले वृद्धों की संख्या भविष्य में बढ़ती जायेगी, जिसका विचार अभी से करना होगा। इस समय वृद्धों की आवासी संस्थाएं देश भर में लगभग तीस हैं। दुर्बल, अशक्त और असाध्य रोगियों, मानसिक और शारीरिक दृष्टि से बाधितों और स्थायी रोगियों के लिए विशिष्ट सेवाओं तथा देखभाल की आवश्यकता है और उन्हें ये सेवाएं उनके घरों और आरोग्य सदनों में प्रदान की जानी चाहिए।

वेश्या : विश्व के सबसे पुराने व्यवसायों या धंधों में वेश्यावृत्ति भी एक रही है। पुरातन मिस्र, बैबीलोनिया,

यूनान, भारत आदि देशों में वेश्याएं होती थीं। सिंधु घाटी सभ्यता में भी वेश्याएं होती थीं। ऋग्वेद, कामसूत्र, महाभारत, और वाल्मीकि रामायण में वेश्याओं के उल्लेख आये हैं। आदि पर्व में उल्लेख आता है कि गांधारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र ने अपनी वासना-तुष्टि के लिए एक वेश्या रख ली थी। उद्योग पर्व में कौरवों की वेश्याओं को युधिष्ठिर द्वारा नमस्कार करने का वर्णन आता है। नवीं-दसवीं शताब्दियों के अभिलेखों से पता चलता है कि उस समय मन्दिरों में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर्तकियां दान में दी जाती थीं, उदाहरणार्थ सोमदेव के मंदिर में ऐसी स्त्रियों के होने का वर्णन मिलता है। तब भी कुट्टनियां होती थीं, जो दलाली करके पर-पुरुषों के साथ इन नर्तकियों का यौन-संबंध स्थापित करवाती थीं। स्मृतियों के काल में वेश्यावृत्ति को धनिकों और राजघरानों में बहुत प्रश्रय मिला था। बौद्ध साहित्य में सास-ससुर तथा पति द्वारा तंग की गयी कई स्त्रियों के वेश्या बनने के उल्लेख आते हैं। कई वेश्याएं भिक्षुणी बनी थीं। मुसलमान काल में रखेलों को रखने की प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। अनेक सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों और परंपराओं के फलस्वरूप भी हिंदू समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित रही है, यथा, महाराष्ट्र, हैदराबाद और मैसूर में देवदासी प्रथा, बंगाल में कुलीन प्रथा आदि। आधुनिक काल में निर्धनता, फैशन, नगरीकरण, यौन-स्वतंत्रता, यौन वैचित्र्य की इच्छा, वर्ग-संघर्ष, पारिवारिक तनावों आदि के फलस्वरूप वेश्यावृत्ति को बढ़ावा मिला है।

कई देशों की वेश्याओं के समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि वेश्यावृत्ति धनप्राप्ति के लिए किया गया यौन संबंध होता है, जिसमें भावनात्मक उदासीनता रहती है। अधिकांश वेश्याएं बदसूरत, अल्प बुद्धि तथा नैतिक, यौन और मानसिक रोगों से पीड़ित पायी गयी हैं।

भारत में सर्वप्रथम 1718 में बंबई और कलकत्ता में अंग्रेजों की सहायता से वैध अनाथों और अवैध बच्चों के लिए रक्षा-गृह खोले गये थे। भारत के कई नगरों में आजकल इस प्रकार के गृह खोले गये हैं। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के वेश्यावृत्ति-उन्मूलन कन्वेंशन पर हस्ताक्षर किये हैं तथा उसके अनुसार इस देश में भी वेश्यावृत्ति उन्मूलन कानून बना है। बंबई के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर अब भारत में कहीं भी खुले आम वेश्यावृत्ति नहीं हो रही है।

टाटा इंस्टीट्यूट आफ सोशियल साइंसेज, बंबई द्वारा कराये गये एक अध्ययन में बंबई की वेश्याओं के नैराश्यपूर्ण जीवन का सजीव विवरण मिलता है। यद्यपि औपचारिक रूप से वेश्यावृत्ति समाप्त की गयी है, तथापि बंबई, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े नगरों में दफ्तरों, दूकानों, होटलों आदि में काम करनेवाली पढ़ी-लिखी व उच्च घरानों तक की कई लड़कियां अनेकानेक कारणों से छिपे रूप में वेश्यावृत्ति में संलग्न पायी जाती हैं।

वैयक्तिक समाज-कार्य : अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा भौतिक परिस्थितियों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की समस्याएं दूसरों से भिन्न होती हैं। अतः सामाजिक कार्य में वैयक्तिक समस्याओं के प्रसंग में व्यक्तिमूलक सेवा की व्यवस्था की जाती है। गोर्डन हैमिल्टन ने वैयक्तिक समाज-कार्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "वैयक्तिक समाज-कार्य, जो सामाजिक कार्य का एक उपकरण है और, क्षेत्र भी, ऐसे प्रक्रमों का योग है, जिनके द्वारा व्यक्ति की प्रगति उसकी विशिष्ट स्थिति के अनुरूप उसमें और उसके सामाजिक वातावरण में समायोजन की स्थापना से होती है।" इस प्रक्रम तथा उपकरण का प्रयोग निम्नलिखित स्थितियों में किया जाता है :

(1) अपराधी बालक, (2) क्षय, रति-रोग अथवा अन्य बीमारियों के रोगियों का पुनर्वास, मनोरंजन और चिकित्सा, (3) भिक्षावृत्ति, (4) अविवाहित माताएं, (5) पारिवारिक असमायोजन, (6) वैवाहिक निर्देशन, (7) युवा-निर्देशन, और (8) मनश्चिकित्सीय कार्य।

व्यक्तिगत सामाजिक-कार्य के निम्नलिखित अंग हैं:

(1) व्यक्ति, (2) समस्या, (3) स्थान, (4) प्रक्रम, (5) सामाजिक कार्यकर्ता और सेवार्थी के संबंध और (6) समस्या का समाधान।

सामाजिक कार्यकर्ता का सबसे पहला काम है, सेवार्थी की सामाजिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना। यह कई तरह से की जा सकती है, जैसे :

(1) सेवार्थी से साक्षात्कार द्वारा,

(2) सेवार्थी के माता-पिता, संबंधियों, अध्यापकगण, नियोजकों और मित्रों आदि से साक्षात्कार करके, और

(3) सेवार्थी के पड़ोस तथा पर्यावरण का अवलोकन करके।

इस प्रकार सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी को उसके पर्यावरण में देख और समझ सकता है और उसके पर्यावरण के संबंध में तथ्यों का भी संकलन कर सकता है। पर्यावरण संबंधी तथ्यों का मतलब है सेवार्थी के परिवार, पड़ोस, संगी-साथियों, नियोजकों तथा अध्यापकों आदि के संबंध में जानकारी।

व्यक्तिगत संघर्ष : व्यक्तिगत संघर्ष तब होता हुआ प्रतीत होता है, जब एक ही उद्देश्य अथवा लाभ की प्राप्ति के लिए दो या अधिक व्यक्ति एक दूसरे को धमकी या बलपूर्वक दबाने का प्रयास करते हैं। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि दूसरा व्यक्ति, जो कि उसका शोषक, प्रतिद्वंद्वी, विरोधी, शत्रु या अहित चाहनेवाला है, सविनय निवेदन से उसकी बात नहीं मानता अथवा दूसरा व्यक्ति उसको दबाने के लिए पर्याप्त शारीरिक बल, नैतिक बल, हथियार, उपाय या अन्य व्यक्तियों का सहारा लेता है, तो वह उसके विरुद्ध व्यक्तिगत संघर्ष छेड़ देता है। एक ही क्षेत्र से चुनाव लड़नेवाले उम्मीदवारों में, महाविद्यालय में छात्र संघ के एक ही पद पर चुने जाने के लिए प्रचार करनेवाले विद्यार्थियों में, एक ही स्त्री से विवाह करने की लालसा रखनेवाले दो या अधिक व्यक्तियों में परस्पर जो लड़ाई-झगड़ा, मारपीट या धमकी देने की प्रवृत्तियां देखने में आती हैं, वे व्यक्तिगत संघर्ष के ही उदाहरण हैं। पारिवारिक जीवन में भी कई पति-पत्नियों में व्यक्तिगत संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और इस संघर्ष के कारण कुछ भी हो सकते हैं। सास-बहू के झगड़ों के कारण, यौन असंतुष्टि, फूहड़पन अथवा कहना न मानने पर प्रायः कई परिवारों में पति-पत्नी के मध्य संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जो पारिवारिक अशांति, विवाह-विच्छेद अथवा पारिवारिक जीवन में असंतोष का कारण बन जाता है। इसी प्रकार किसी संस्था में जब एक ही पद पाने के लिए दो या अधिक व्यक्ति इच्छुक होते हैं, तो उनमें बलपूर्वक भ्रामक प्रचार अथवा मारपीट द्वारा एक दूसरे की नैतिक व सामाजिक स्थिति को गिराकर उस पद को पाने की इच्छा जागृत हो सकती है। यदि ऐसा होता है तो उससे उस संस्था के सामाजिक जीवन, कार्य व्यवस्था, अनुशासन, उत्पादन आदि पर हानिकारक प्रभाव पड़ते हैं। अतः सभी संस्थाओं व समितियों में कार्य करनेवाले व्यक्तियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे व्यक्तिगत संघर्ष को न होने देने का भरसक प्रयास करें और यदि कभी ऐसा संघर्ष हो भी जाये, तो उसे यथासंभव शीघ्र ही शांतिपूर्वक और सहयोग की विधियों के द्वारा सुलझाने का प्रयास करें। व्यक्तिगत संघर्ष से पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, असामाजिकता, निराशा, कार्य में अनुचित दलबंदी, आर्थिक हानि, निर्धनता और गलत प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियां पनप जाती हैं, जिनसे व्यक्ति सामाजिक जीवन की स्थिरता और गति में समुचित योग देने से वंचित रह जाता है। इसलिए इस प्रकार के संघर्ष से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए।

शमनीवाद : आदिकालीन धर्म के प्रमुख नेताओं को शमन कहा जाता है। एक शमन को अज्ञात अथवा अलौकिक जगत का जानकार या विशेषज्ञ माना जाता है। आदिम समाजों में शमनों की स्थिति एक सरदार अथवा महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक नेता की ही होती थी। वे अनेकानेक प्रकार के धर्म, जादू और लोक-साहित्य की जानकारी रखते थे। वे बीमारियों को ठीक करना, दुर्दशा को सुधारना, बांझपन को दूर करना, शत्रुओं को परास्त करना, ईश्वर को प्रसन्न करना तथा अलौकिक चमत्कार करना जानते थे तथा इस प्रकार समाज के अन्य सदस्यों के लिए वे एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। भारतीय समाज में गंडा, ताबीज आदि देनेवाले सिद्ध पुरुष शमन ही होते हैं। शमन कई प्रकार के हो सकते हैं। ये प्रकार विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। शमनों द्वारा प्रसारित धार्मिक और अलौकिक मान्यताएं, पूजा-पाठ, व्यवहार के प्रतिमान तथा अन्य आदर्श, विचार आदि सभी के समिश्रण को शमनीवाद कहा जाता है। आदिम समाजों तथा पिछड़े हुए ग्रामीण समाजों में शमनीवाद का अत्यंत महत्त्व होता है।

शवाधान : विश्व की कई जातियों और समुदायों में यह प्रथा प्रचलित है कि व्यक्ति के मर जाने पर उसे

भूमि में गाड़ दिया जाता है या एक टीले के नीचे दबा दिया जाता है। ईसाई और इस्लाम धर्मों में यही स्वीकृत पद्धति है। कई जनजातियों में भी यह प्रथा प्रचलित है। हिंदुओं में बच्चों तथा चेचक से मरनेवालों को प्रायः भूमि में गाड़ा जाता है। मिस्र में राजाओं और उनकी पत्नियों को बड़े-बड़े टीलों के नीचे गाड़ा जाता था और उन पर पिरामिड बनाये जाते थे।

कुछ समुदायों में मृत्यु के तुरंत पश्चात् ही शवाधान कर दिया जाता है। कुछ में शव को थोड़ी देर पड़े रहने दिया जाता है और उसके बाद अंत्येष्टि-क्रिया होती है। कुछ समुदायों में शव को जलाते हैं तथा उसके पश्चात् अवशेषों में से मृतक की हड्डियों के टुकड़े बीन लिए जाते हैं और उनको किसी पवित्र नदी या ताल में प्रवाहित कर दिया जाता है। हिंदुओं में प्रायः यही प्रथा प्रचलित है। सभी समुदायों में शवाधान के अंतर्गत प्रायः कई प्रकार की धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं और रस्म-रिवाजों का पालन किया जाता है।

शाखा संप्रदाय : पुराने जमाने में मानव-समाज इतना विभक्त और इतना बिखरा हुआ नहीं था, जितना आजकल दिखायी दे रहा है। उस सीमित समाज में ज्ञान वृद्धि तथा सभ्यता के विकास के लिए अधिक अवसर प्राप्त थे। हर अवस्था में व्यक्ति के लिए निश्चित कर्तव्य होता था, जिसका सही ढंग से निर्वहण किया जाता था।

एक परिवार के विकसित होकर कई परिवारों में बंट जाने के बाद भी, वे लोग मूलतः एक ही परिवार के होते हैं। सामूहिक रूप से एक ही गोत्र के माने जाते हैं। ये लोग खुद को एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न मानते हैं। यह प्रथा सिर्फ भारत में ही नहीं, स्काटलैंड जैसे अन्य देशों में भी पायी जाती है। जिनका गोत्र एक ही होता है, उनके बीच वैवाहिक संबंध नहीं होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के कई कारण होते हैं। जब जनसंख्या बढ़ जाती है और लोग अलग-अलग पेशों के आधार पर अपनी जीविका चलाना आरंभ करते हैं, अथवा एक जाति दूसरी जाति को परास्त करके अपना अधिकार स्थापित करती है, तब निश्चित रूप से समाज-व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। औद्योगिक विकास के कारण ही संस्कृति में अंतर आता है। आधुनिक शहरी जीवन इसी विकास का एक परिणाम है।

हर समाज के तीन वर्ग होते हैं––शासक वर्ग, व्यापारी वर्ग, तथा शासित वर्ग। इसलिए जातिगत पृथकत्व संसार के हर कोने में किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। उच्च जाति की स्त्री कभी-कभी निम्न जाति के पुरुष से शादी कर सकती है। इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ की बहिन मार्गरेट रोज ने एक सामान्य छायाकार आर्मस्ट्रांग से शादी कर ली थी। इसलिए उन समाजों में भारत जैसी कट्टरता नहीं पायी जाती। ऐसी स्थितियों में किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को समाज में एक नया स्थान प्राप्त होता है, लेकिन इससे उसकी जाति या शाखा में कोई परिवर्तन नहीं आता।

शिष्टाचार : प्रत्येक मानव समाज अपना अस्तित्व बनाये रखने का इच्छुक होता है और उसके लिए वह सतत प्रयास करता रहता है। ऐसा करने के लिए वह कई प्रकार के रीति-रिवाजों, व्यवहारों के प्रतिमानों, आचरण-संहिताओं, शिष्टाचार के तरीकों को विकसित करता है तथा परिवार, पाठशाला, पड़ोस और अन्यान्य सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वारा उनको व्यक्तियों के व्यवहार में समाहित करने का प्रयास करता है। इन सबको शिष्टाचार कहा जा सकता है; क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि में यही मूल-भावना रहती है कि किस प्रकार एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से शिष्टतापूर्ण सदाचारी, प्रतिष्ठापूर्ण और स्नेहपूर्ण ढंग से व्यवहार करे। ऐसा करने से व्यक्ति का व्यवहार उच्च स्तर का बनता है और सामाजिक सहयोग या प्रगति में अमूल्य योग मिलता है। समाजीकरण का यही प्रमुख प्रयास रहता है कि नयी पीढ़ी के सदस्यों को शिष्टाचार सिखलाया जाये। शिष्टाचार के अंतर्गत सचाई, न्याय, श्रद्धा, दया, सद्व्यवहार, नम्रता आदि से संबंधित व्यवहार आते हैं।

श्रम कल्याण : आजकल प्रायः सभी आधुनिक विकसित और विकासोन्मुख राज्यों में कल-कारखानों तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्य करनेवाले श्रमिकों की भलाई के लिए अनेकानेक कानून हैं। उनके वेतन, छुट्टी, कार्य के घंटे, भर्ती, सेवा अवधि, वृद्धावस्था के लिए पेंशन, प्रावीडेंट फंड, बीमा, सस्ता भोजन, बच्चों की शिक्षा, मकान,

मनोरंजन, चिकित्सा आदि के लिए कई प्रकार की सुविधाएं राज्य सरकार कानून बनाकर तथा श्रमिक कल्याण अधिकारी नियुक्त करके दिलवाती हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन, केंद्रीय तथा राज्य सरकारों के श्रम कार्यालय इस दिशा में बहुत कार्य कर रहे हैं। साम्यवादी देशों में श्रम कल्याण की गति बहुत तेज और प्रभावपूर्ण है। पूंजीवादी देशों में उनका शोषण अब तक चलता रहा है। लेकिन अब वहां भी श्रमिकों में जागृति हो रही है तथा वे अपने अधिकारों और कल्याण के प्रावधानों की मांग तेजी से करने लगे हैं।

श्रोता : जब किसी एक निश्चित स्थान पर एकत्रित व्यक्तियों के बीच कोई व्यक्ति कुछ बोलता है या गाता है, तो शेष व्यक्ति उसकी बात को सुनते हैं। इस प्रकार जब लोग सामान्यतः किसी बात को सुनने या देखने और उसका आनंद लेने के लिए आते हैं, तब वे सब श्रोतृवृंद या श्रोता की स्थिति में होते हैं। श्रोतृवृंद एक विशेष प्रकार की भीड़ ही होती है, परंतु श्रोतृवृंद में से प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान वक्ता की ओर केंद्रित होता है। उसमें वक्ता की स्थिति ऐसी होती है, जिससे लोग उसे ध्यान से देख सकें। जब तक वक्ता सबको प्रत्यक्ष रूप से दिखायी नहीं देता, तब तक वक्ता और श्रोताओं के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। श्रोतृवृंद विशेष रूप से संगठित होता है। श्रोतृवृंद और भीड़ में बड़ा अंतर है। भीड़ के व्यक्ति किसी स्थान पर किसी घटना के घटित होने पर, उसे आकर्षण का केंद्र-बिंदु मानकर एकत्र होते हैं। श्रोतागण में विश्व के किसी स्थान की समस्या अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय, जैसे, आध्यात्मिकता आदि को लेकर व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं। भीड़ में उपस्थित बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी अपनी विचार-शक्ति को खो बैठता है, उसके क्रियाकलाप भी अन्य लोगों के समान ही हो जाते हैं। परंतु श्रोतृवृंद में बुद्धि का लोप नहीं होता। इसमें चिंतन और विवेक ज्यों का त्यों बना रहता है।

श्रोतृवृंद की कुछ विशेषताएं होती हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) श्रोतागण किसी निश्चित उद्देश्य से एक स्थान पर एकत्र होते हैं।

(2) श्रोतागण के एकत्र होने का समय और स्थान पूर्वनिर्धारित होता है।

(3) श्रोतागण में वक्ता और श्रोता के बीच विशेष प्रकार की अभिमुखता और परस्पर-क्रिया होती हुई दिखायी पड़ती है।

(4) श्रोतागण बौद्धिकता से प्रभावित होते हैं। उनमें उचित-अनुचित का विवेक बना रहता है।

श्रोतागण कभी-कभी भीड़ का रूप भी धारण कर लेते हैं। ऐसा तभी होता है जब वक्ता अपने भाषण से श्रोताओं के संवेगों को इतना अधिक उत्तेजित कर देता है कि वे अपना बौद्धिक संतुलन खो दें। हमें कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिलता है कि श्रोतागण, जो किसी उद्देश्य से एकत्र होते हैं, किसी उत्तेजनात्मक भाषण पर भड़क उठते हैं और अपना संतुलन खोकर तोड़-फोड़ पर उतारू हो जाते हैं।

संघ या गेजेलशाफ्ट : 'गेजेलशाफ्ट' शब्द का प्रयोग सर्व-प्रथम जर्मन समाजशास्त्री एफ० टोनीज ने किया था। इसका अर्थ एक ऐसे संघ, मानव समुदाय या समाज से होता है, जिसमें तर्क-भावना को प्रमुखता प्रदान की जाती है। तार्किक भावना के प्रचलन के लिए यह आवश्यक है कि जो भी साधन अपनाये जायें, वे वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयुक्त हों। तर्क, वाद-विवाद अथवा निष्पक्ष चिंतन द्वारा किसी भी वस्तु, साधन, कार्य और व्यवहार के प्रतिमान की सार्थकता या उपयुक्तता आंकी जा सकती है। इस प्रकार के संघ में शक्ति का सोपानात्मक संगठन विद्यमान होता है। पूंजीवादी समाज में पूंजीपति और उसके नौकर के संबंधों को इस प्रकार के संघ का एक उदाहरण बतलाया जाता है। ऐसे संघ में कोई भी मूल्य या व्यवहार-प्रतिमान अपनी सार्वभौमिकता के आधार पर उपयुक्त नहीं माना जाता, अपितु इस आधार पर ही सार्थक माना जाता है कि वह किस प्रकार या किस सीमा तक उल्लिखित उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है। जो अवस्थाएं और साधन ऐसा करने में सहायता देते हैं, वे नैतिक माने जा सकते हैं, जो नहीं, उन्हें अनैतिक अथवा त्याज्य माना जाता है। ऐसे संघ तर्क, विज्ञान, कुशलता, अभिव्यक्ति, उपलब्धि आदि पर बहुत अधिक बल देता है। आधुनिक समाजों में जो सामाजिक व्यवस्था धीरे-धीरे विकसित होती जा रही है, वह इसी प्रकार की है।

संपत्ति : विश्व की प्राय: सभी जनजातियों, समुदायों या मानव समूहों में संपत्ति का संग्रह करने की प्रवृत्ति देखने में आती है। अधिकांश समुदायों में भूमि, मकान, वस्त्र, रुपया-पैसा, गहने और पशु संपत्ति के रूप में संग्रहीत किये जाते हैं। घुमक्कड़ जनजातियों और पिछड़े समुदायों में सवारी के पशु और सवारी के साधन भी संपत्ति में सम्मिलित होते हैं। आधुनिक समाजों में भी मोटर, स्कूटर, मोटर साइकिल, साइकिल और घोड़ा आदि सवारियां संपत्ति में सम्मिलित होती हैं। अधिकतर संपत्ति तो आवश्यक उपकरणों की ही होती है, तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि विलासिता का जीवन बिताने के लिए भी अनेकानेक कीमती वस्तुओं को व्यक्ति बहुत व्यय करके एकत्र करते हैं। दिखावे की भावना से भव्य महल बनवाये जाते हैं, आभूषण एवं वस्त्र पहने जाते हैं, पुस्तकें, चित्र, सजावट की वस्तुएं, फर्नीचर आदि को भी एकत्र किया जाता है। यह भी देखने में आता है कि कई जनजातियों में अपनी संपत्ति का प्रदर्शन करने के लिए भव्य दावतें देने, भेंट देने तथा दान-दक्षिणा देने की प्रवृत्तियां पायी जाती हैं।

अमरीका की क्वाकितुल जनजाति में 'पोटलाच' नामक महंगी दावत खिलानेवाला व्यक्ति संपत्तिशाली माना जाता है। कई समुदायों में अपनी संपत्ति को सार्वजनिक रूप से व्यय करनेवाले को अधिक सामाजिक सम्मान मिलता है। सभ्य समुदायों में भी संपत्ति का अपव्यय प्रचलित है। आतिथ्य की प्रथाएं सभ्य और असभ्य सभी समुदायों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं। संपत्ति को उत्तराधिकार में देने और विभाजित करने के अनेक विचार, सिद्धांत तथा परंपराएं भिन्न-भिन्न समुदायों में प्रचलित हैं। भारतीय हिंदू समाज में इस संबंध में कई जटिल व्यवस्थाएं हैं। उनमें मोटे रूप से आजकल यही व्यवस्था प्रचलित है कि पिता स्वार्जित संपत्ति का बंटवारा अपनी संतानों, पत्नी और अन्यों में अपनी इच्छानुसार कर सकता है। लेकिन अपने पूर्वजों से प्राप्त की गयी संपत्ति का विभाजन अपनी संतानों में ही करना उसके लिए आवश्यक है। वह अपने किसी भी पुत्र को उसके भाग से वंचित नहीं कर सकता। अन्य धर्मों में संपत्ति के उत्तराधिकार से संबंधित विविध धार्मिक और सामाजिक परंपराएं प्रचलित हैं।

संपूर्ण समाज : समाज की परिभाषा देते हुए मैकआइवर और पेज नामक सुप्रसिद्ध समाजशास्त्रियों ने लिखा है कि यह व्यवहारों और प्रक्रियाओं, अधिकारों और पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों और भागों तथा मानव व्यवहारों के नियंत्रणों और स्वाधीनताओं की व्यवस्था है। इससे स्पष्ट है कि समाज की परिभाषा के अंतर्गत सभी प्रकार के मानवीय सामाजिक संबंध आ जाते हैं। ये संबंध कई रूपों, प्रकारों, और घनिष्ठता के क्रमों के हो सकते हैं। इनमें लोक-रीतियां, प्रथाएं, रूढ़ियां, संस्थाएं आदि तो सम्मिलित होती ही हैं, साथ ही विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएं यथा सहयोग, व्यवस्थापन, एकीकरण, प्रतियोगिता, संघर्ष आदि भी सम्मिलित होती हैं। प्रभुत्व, स्वाधीनता, श्रद्धा, सामाजिक नियंत्रण की विविध प्रक्रियाएं आदि भी समाज की परिकल्पना के अंतर्गत आ जाती हैं। संपूर्ण मानव समाज इन सभी तत्त्वों कारकों, व्यवहारों, या सामाजिक संबंधों के रूपों, प्रतिमानों, आदि का योग होता है। ये संबंध आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक आदि प्रकार के हो सकते हैं और इन सबको मिलाकर सामाजिक संबंध कहा जा सकता है। संपूर्ण मानव समाज के अंतर्गत छोटे-छोटे समाज भी होते हैं, जैसे भारतीय समाज, रूसी समाज आदि। राष्ट्रों और देशों की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिधियों के अंतर्गत भिन्न-भिन्न छोटे-छोटे मानव समाज विद्यमान रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त सभी कारक प्राय: सम्मिलित होते हैं। एक समाज के व्यक्तियों में परस्पर सहयोग की भावना मोटे रूप में देखने में आती है। समाज के सदस्य मूर्त रूप के होते हैं, लेकिन उनके परस्पर संबंध, व्यवहार के प्रतिमान और सामाजिक प्रक्रियाएं अधिकतर अमूर्त होती हैं। इसलिए समाज को समझने के लिए मानव की संपूर्ण व्यवस्था को जानना आवश्यक है।

संबंध : दो व्यक्तियों, समूहों, समुदायों अथवा एक मनुष्य और एक जनसमूह के परस्पर आदान-प्रदान के प्रतिमान को संबंध कहा जा सकता है। संबंध सहयोगात्मक व असहयोगात्मक दो प्रकार के हो सकते हैं। मानव संबंधों अथवा सामाजिक संबंधों के अंतर्गत वे संबंध ही आते हैं, जो ऐसे व्यक्तियों के मध्य स्थापित होते हैं, जो एक दूसरे

के साथ अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से विचारों, वस्तुओं और साधारण या विशेष हित-भावना का आदान-प्रदान करते हैं। सामाजिक संबंध के कई आधार हो सकते हैं, यथा, प्रेम, यौन इच्छा, घृणा, आर्थिक आवश्यकतापूर्ति की भावना, सुरक्षा-भावना आदि। शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव परस्पर अनेक प्रकार के संबंध स्थापित करते हैं। सामाजिक संबंधों की संरचना को ही समाज कहा जाता है।

संरचनावाद : संरचनावाद किसी समाज की संरचना या संगठन में अपेक्षाकृत स्थायी संस्थाओं की प्रतिमानित व्यवस्था को कहते हैं। प्रत्येक समाज में हमें अनेकानेक क्रियाएं, व्यवहार के प्रतिमान तथा रीति-रिवाज और प्रक्रियाएं प्रचलित दिखायी पड़ती हैं। उनमें से कई अस्थायी महत्त्व की होती हैं, तो कई स्थायी अथवा अपेक्षाकृत स्थायी महत्त्व की होती हैं। सामाजिक संस्थाएं जैसे विवाह, संपत्ति, शिक्षा, विधि आदि स्थायी व्यवस्थाएं होती हैं। इनमें से किसी में भी स्थित सामाजिक कर्त्ता जो भी कार्य करता है, अथवा व्यवहार दिखलाता है, वह बहुत कुछ दूसरों की आकांक्षाओं तथा उनके अनुरूप स्वयं को ढालने की दृष्टि से अवश्य प्रभावित होता है। इस प्रकार संरचनावाद में सामाजिक संरचना के प्रमुख कारकों को व्यवहार के प्रेरक-कारकों के रूप में स्वीकार किया जाता है। टालकोट पारसंस, राबर्ट मर्टन आदि आधुनिक समाजशास्त्रियों ने इस वाद को विकसित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है।

संस्कृति-संकुल : प्रायः यह देखने में आता है कि एक ही संस्कृति में कई सांस्कृतिक तत्त्व एक साथ एक गुच्छे की भांति स्थित रहते हैं या गुंथे हुए दिखलायी देते हैं। उन तत्त्वों का संकुल, समूह या गुच्छा उस संस्कृति विशेष के सदस्यों की किसी आवश्यकता की भली भांति पूर्ति करता है। उदाहरणार्थ, भारतीय हिंदू स्त्रियों के सौंदर्यप्रसाधन-संकुल में सिंदूर, मांग, बिंदी, लाली, नाखूनी, मेंहदी, पाउडर, तेल, आलता, सुरमा, गहने, कपड़े आदि आते हैं। इनमें से एक या अधिक वस्तुओं के अभाव में विवाहित स्त्री का श्रृंगार अधूरा माना जाता है। इसी प्रकार भारतीय कृषि-संकुल में हल, बीज, खाद, जुताई, बुवाई, कटाई, हल की पूजा, खेती संबंधी गीत, नृत्य का मासिक कार्यक्रम, भाग्यवादी विचारधारा, जजमानी प्रथा आदि सम्मिलित होंगे। प्रत्येक संस्कृति में ऐसे अनेक संस्कृति-संकुल देखने में आते हैं।

संस्था : साधारणतया संस्था शब्द का अर्थ एक ऐसा संगठन होता है, जिसका मूर्त रूप होता है, जैसे, स्कूल, अस्पताल आदि। परंतु समाजविज्ञान में 'संस्था' का एक विशेष अर्थ होता है।

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएं होती हैं। भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह अलग-अलग साधन अपनाता है। जब किसी आवश्यकता की पूर्ति के विषय में यह मान लिया जाता है कि इसके लिए अमुक साधन या व्यवस्था सबसे उपयुक्त है, तो समाज के अधिकांश व्यक्ति उन्हीं उपागमों या व्यवस्थाओं का अनुसरण करते हैं। धीरे-धीरे ये उपागम या व्यवस्थाएं समाज द्वारा सर्वमान्य हो जाती हैं और जब कोई व्यक्ति उनका पालन नहीं करता, तो समाज उसका प्रतिरोध करता है। उस निर्धारित व्यवस्था से बाहर कार्य करना अनुचित समझा जाता है। उदाहरण के लिए धर्म और विवाह को लिया जा सकता है। व्यक्ति को समाज के द्वारा निर्धारित धार्मिक व्यवस्था के अंतर्गत कार्य करना होता है और विवाह संबंधी नियमों के अनुसार ही आचरण करना पड़ता है। समाज की इसी प्रकार की सर्वमान्य कार्य-पद्धतियों को संस्था कहते हैं।

'संस्था' की अनेक परिभाषाएं दी गयी हैं। मैकआइवर तथा पेज का कहना है कि "यह एक ऐसा निश्चित संगठन होता है, जो किसी विशेष स्वार्थ का अनुसरण करता है या एक विशिष्ट ढंग से स्वार्थों का अनुसरण करता है। कूली के अनुसार "संस्था किसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत में स्थापित सामूहिक व्यवहारों का एक जटिल तथा घनिष्ठ संबंध है। इस परिभाषा में कूली सामूहिक क्रिया को अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं। समनर के मतानुसार "संस्था एक अवधारणा, विचार, मत, सिद्धांत, स्वार्थ और एक ढांचे को मिलाकर बनती है।"

संस्था की कुछ विशेषताएं हैं, जिनके आधार पर उसे समाज के अन्य संगठनों से पृथक् किया जाता है। ये

विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(1) संस्थाएं प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनती हैं, जैसे, विवाह मनुष्य की एक प्राथमिक और महत्त्वपूर्ण आवश्यकता के लिए होता है।

(2) संस्थाओं का जन्म सब मनुष्यों के व्यवहारों के पूर्ण स्वरूप और चित्र के आधार पर होता है, वे एक व्यक्ति के व्यवहार पर निर्भर नहीं करतीं। जब तक संस्था के कार्यों को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक संस्था का अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, विवाह ने तभी एक संस्था का रूप धारण किया, जब बहुत से लोग उसके अनुसार व्यवहार और कार्य करने लगे।

(3) प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक ढांचा होता है, जिसमें समय के अनुसार उत्सवों, संस्कारों तथा सामाजिक संबंधों आदि का समावेश होता है।

(4) संस्थाओं में स्थायित्व होता है। मनुष्य के व्यवहार और विश्वास तब तक संस्था का रूप धारण नहीं कर सकते, जब तक काफी समय तक उन्हें सामान्य रूप से माना न जाये।

(5) प्रत्येक संस्था के एक या अनेक निश्चित उद्देश्य होते हैं।

(6) प्रत्येक संस्था का एक प्रतीक होता है। ये प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के होते हैं। ये प्रतीक उपयोगी भी हो सकते हैं और अनुपयोगी भी, जैसे किसी राज्य का कोई चिह्न या प्रतीक। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश राज्य का चिह्न—तीन धाराओं का संगम और दो मछलियां, किसी बैंक के लेटरहैड पर छपा बैंक के भवन का चित्र आदि।

(7) प्रत्येक संस्था की सुस्पष्ट लिखित या मौखिक परंपराएं होती हैं, जिनके अंतर्गत संस्था के उद्देश्यों तथा संस्था में भाग लेनेवाले व्यक्तियों के आचरणों का निर्धारण होता है।

संस्थाओं के कार्य : संस्थाओं की उत्पत्ति समाज के लिए कुछ निश्चित कार्य करने के लिए होती है। संक्षेप में इन कार्यों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

(1) संस्था सामाजिक नियंत्रणों के साधनों की व्यवस्था करती है।

(2) वह व्यक्ति के कार्यों को सरल बनाती है।

(3) वह व्यक्तियों के कार्यों और स्तर को निर्धारित करती है।

(4) संस्थाएं सदा व्यक्ति का हित ही नहीं करतीं, अपितु कभी-कभी उसके व्यक्तित्व को हानि भी पहुंचाती हैं।

(5) संस्थाएं स्वतंत्र नहीं होतीं, अपितु समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था से संबंधित होती हैं।

(6) संस्थाएं सुदृढ़ होती हैं, अतः युगों से चले आये उनसे संबंधित रीति-रिवाज और परंपराएं सहज में परिवर्तित नहीं होतीं।

सप्रू रिपोर्ट : 1934 में संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की सरकार द्वारा सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी थी। इसकी स्थापना मुख्यतः उस समय में प्रचलित बेकारी की समस्या को दृष्टि में रखकर की गयी। इस समिति की मुख्य सिफारिशें थीं :

(1) माध्यमिक शिक्षा-स्तर में बहुप्रयोजनमूलक पाठ्यक्रमों का अध्ययन करने का अवसर हर एक को देना। ऐसी शिक्षा अपने आप में समग्र और प्रयोजनकारी भी होनी चाहिए।

(2) विश्वविद्यालयी शिक्षा को भी व्यावसायिक अध्ययन के साथ प्रधानता मिलनी चाहिए।

(3) माध्यमिक शिक्षा की कालावधि का विस्तार होना चाहिए और उसकी अवधि कम से कम ग्यारह वर्षों की होनी चाहिए।

(4) माध्यमिक शिक्षा अठारह वर्षों के बाद ही शुरू होनी चाहिए।

(5) डिग्री अध्येताओं की अध्ययन-अवधि तीन वर्षों की होनी चाहिए।

सभ्यता : सभ्यता शब्द के अर्थ के विषय में अभी तक कोई एकमत नहीं बन पाया है। जर्मन समाजशास्त्री एल्फ्रेड बेवर तथा अमरीकी समाजशास्त्री मैकआइवर और पेज का यही मत है कि सभ्यता वह संपूर्ण यंत्र पद्धति और संगठन है, जिसका आविष्कार मनुष्यों ने अपने जीवन की परिस्थितियों पर नियंत्रण करने के लिए किया है। यह सदैव प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रहती है।

यह मानव जीवन को सुखमय, उच्च तथा सुरक्षित बनाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह संस्कृति से भिन्न है; क्योंकि संस्कृति में प्रायः विचार, आदर्श, परंपराएं आदि गुणात्मक तत्त्व सम्मिलित होते हैं, जबकि सभ्यता के अंतर्गत भौतिक साधन, यंत्र, औजार, समाज आदि आते हैं। संस्कृति प्रायः वैसी ही बनी रहती है, जैसी कि पहले थी। लेकिन सभ्यता प्रगति करती जाती है; क्योंकि नये आविष्कार, खोजें, और अनुभव उसमें सम्मिलित होते जाते हैं। इस प्रकार के मत का यद्यपि समाजशास्त्रीय साहित्य में प्रचलन रहा है, लेकिन अब अमरीकी और ब्रिटिश समाजशास्त्री इसको छोड़ते जा रहे हैं। राबर्ट रेडफील्ड, टेलर और ए० एल० क्रोबर आदि सामाजिक मानवविज्ञानियों ने सभ्यता का एक भिन्न अर्थ दिया है। वे सभ्यता को संस्कृति का जटिल, विस्तृत और संगृहीत स्वरूप मानते हैं। इसमें विज्ञान, तकनीकी और प्रौद्योगिकी संबंधी जटिलता विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि यह पहले मत से अधिक पुराना मत है, तथापि यही अब पुनः अधिक पसंद किया जाने लगा है।

समनर, विलियम ग्राहम (1840-1910) : विलियम ग्राहम समनर का जन्म सन् 1840 में पेटरसन् (न्यूजर्सी) में एक अंग्रेज शिल्पकार के यहां हुआ था। वे येल कालेज से 1863 में ग्रेजुएट बने और उसके बाद उन्होंने तीन वर्ष जेनेवा (स्विट्जरलैंड), गोटिंग्टन (जर्मनी) तथा आक्सफोर्ड (इंगलैंड) में व्यतीत किये। गणित तथा ग्रीक में अध्यापन कार्य करने के बाद सन् 1866 में उन्हें धर्माध्यक्षीय पादरी के रूप में अभिषिक्त किया गया और इस पद पर उन्होंने न्यूयार्क में तथा मोरिसन, न्यूजर्सी में कार्य किया। 1872 में उन्हें येल में राजनीति तथा सामाजिक विज्ञान के प्रोफेसर का पद प्रदान किया गया। वहां पर एक शिक्षक और सक्रिय पत्रकार के रूप में राजनीति में वे अत्यधिक प्रभावशाली बने। समनर तत्कालीन द्वंद्व में उलझे रहे। 1890 के बाद बीमारी के कारण उन्होंने सक्रिय राजनैतिक आंदोलन से हाथ खींच लिया और दत्तचित्त होकर पूर्णतया समाजविज्ञान में लग गये।

समनर ने सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति और उद्विकास संबंधी मानवशास्त्रीय सामग्री एकत्र की, जिसको उन्होंने अपनी कृति 'फोकवेज़' (लोकरीतियां, 1907) की विषय सामग्री बनाया है। 'फोकवेज़' कुछ शताब्दियों तक अमरीकी समाजविज्ञान में सर्वाधिक प्रभावशाली पुस्तकों में से थी। समनर ने समाजवाद तथा श्रमिक संघवाद, बालश्रम संबंधी कानूनों से युक्त सामाजिक विधान तथा आठ घंटे के कार्य-दिवस संबंधी विधान की निंदा की। वे एकाधिकार पर नियंत्रण करने के लिए अंतर्राज्यीय कानून जैसे सरकारी प्रयासों के विरुद्ध थे; क्योंकि ऐसे उपाय मांग और पूर्ति के नैसर्गिक नियम में बाधक होते हैं।

समनर द्वारा प्रथम अवधि में लिखे गये लेखों से उनकी प्रचारवादी अभिवृत्ति तथा उद्देश्य का पता चलता है।

समनर की वित्त विषयक पुस्तकों की उनके समय में बड़ी प्रशंसा हुई। आज वे अधिकांशतः ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तकें हो गयी हैं। उनमें से निम्नलिखित पुस्तकें इस श्रेणी में आती हैं:

(1) दि फिनांस एंड दि फिनांसर्स आफ अमेरिकन रेवोल्यूशन (अमरीकी क्रांति की पूंजी तथा पूंजी लगानेवाले),

(2) ए हिस्ट्री आफ अमेरिकन करेंसी (अमरीकी मुद्रा का इतिहास), और

(3) ए हिस्ट्री आफ बैंकिंग इन दि युनाइटेड स्टेट्स (अमरीकी बैंकिंग का इतिहास)।

समनर के समाजशास्त्रीय ग्रंथों में 'साइंस आफ सोसाइटी' (समाज का विज्ञान) मुख्य है। यह चार खंडों में है और इसका प्रकाशन समनर की मृत्यु के सोलह वर्ष पश्चात् 1926 में उनके शिष्य ए० जी० केलर ने कराया था। इसके लिए समनर ने 1899 में सामग्री एकत्र करना आरंभ कर दिया था। अपने जीवन के अंतिम काल में उन्होंने इस संबंध में अपनी समस्त सामग्री को ए० जी० केलर को सौंप दिया था। साइंस आफ सोसाइटी' पर काम करते समय ही समनर ने लोकरीतियों तथा रूढ़ियों के संबंध में भी काफी सामग्री एकत्र कर ली थी। 'फोकवेज़' समनर की सर्वप्रसिद्ध पुस्तक हो गयी और आज भी इसका बड़ा महत्त्व है।

समाज : प्रो० मैकआइवर और पेज ने मानव समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है कि वह "व्यवहारों तथा

प्रक्रियाओं की, अधिकार और पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और भागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों एवं स्वाधीनताओं की व्यवस्था है।"

इस परिभाषा में उन्होंने सामाजिक संबंधों के कुछ विशेष रूपों का उल्लेख किया है। वे यह मानकर चले हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज 'व्यक्तियों का झुंड' नहीं है अपितु 'सामाजिक संबंधों का जाल' है। सामाजिक संबंधों में मनुष्य के कई प्रकार के व्यवहार, प्रतिमान अंतः क्रियाएं और सामाजिक प्रक्रियाएं शामिल होती हैं। हमें इस परिभाषा के प्रत्येक भाग पर विचार करना चाहिए। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य प्रत्येक युग में विभिन्न प्रकार के प्रतिमान विकसित करते आये हैं। इनको पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तांतरित किया जाता रहा है। जो व्यवहार-प्रतिमान समाज के सदस्यों ने स्वीकार कर लिया हो, वह चलन बन जाता है। चलन के अंतर्गत रीति-रिवाज, जन-रीति, प्रथाएं, रूढ़ियां, संस्थाएं, आदि आती हैं। सामाजिक जीवन में इनका बहुत महत्त्व है; क्योंकि इसके अनुसार ही लोगों को एक-दूसरे के साथ व्यवहार करना होता है, अन्यथा वे समाज के अन्य सदस्यों से तिरस्कार या दंड प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक समाज में खान-पान, पहनावे, बच्चों के प्रशिक्षण, विवाह-संबंध, वृद्धों के प्रति आदर तथा सामाजिक जीवन को चलाने से संबंधित कई रीति-रिवाज होते हैं। प्रोफेसर मैकआइवर का तात्पर्य संस्थाओं से है, जो कि सामाजिक कार्य करने की पद्धतियां हैं। विवाह, उत्तराधिकारी, शिक्षा, धार्मिक-विश्वास, राजनैतिक दल, संविधान, कानून आदि इन पद्धतियों के ही रूप हैं। इनके द्वारा ही समाज चलता है। इन्हीं के द्वारा लोगों के जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति भली भांति होती है। इन्हीं के द्वारा उनके जीवन में सुरक्षा, शांति, सहयोग और संगठन विकसित होता है और समाज गतिशील बना रहता है।

प्रभुत्व भी समाज की बहुत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। प्रभुत्व का तात्पर्य सामाजिक नियंत्रण की विधियों से है। प्राचीन काल में राजाओं को प्रजा और स्वामी को अपने दासों पर पूर्ण अधिकार था। लेकिन आजकल सामाजिक जीवन की व्यवस्था बहुत जटिल हो गयी है। राज्य-प्रबंध को चलाने के लिए सेना, पुलिस, न्याय, व्यवसाय, व्यापार आदि के विभिन्न विभाग होते हैं। उनके अधिकारियों के हाथों में उनका नियंत्रण होता है और इस नियंत्रण के अंतर्गत जनता को रहना पड़ता है। इनके अतिरिक्त जनमत की अभिव्यक्ति के विभिन्न साधन समाज के जीवन, खान-पान, पहनावे, आचार-विचार, आदर्श और अभिरुचियों को नियंत्रित करते हैं। मैकआइवर के अनुसार वर्तमान युग की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें लोगों के अधिकारों को बहुत ही भली प्रकार सामाजिक संगठनों में बांटकर रखने की योजना क्रियान्वित की गयी है।

सहयोग और संघर्ष दोनों ही मानव समाज के प्रमुख अंग हैं। इन दोनों में भी सहयोग अत्यंत आवश्यक है। पति-पत्नी के सहयोग के बिना संतानोत्पत्ति और बच्चों का पालन-पोषण नहीं हो सकता। मित्रों के सहयोग के बिना जीवन सुखमय नहीं हो सकता। समाज के विभिन्न लोगों के सहयोग के बिना जीवन की विविध गतिविधियों का सुसंचालन नहीं किया जा सकता। आज के युग में ऐसे व्यक्ति की कल्पना तक नहीं की जा सकती, जो दूसरों के सहयोग के बिना रह सकता हो। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लोगों पर निर्भर होता ही है। अतः समाज को समझने के लिए यह आवश्यक है कि मानव-सहयोग के विभिन्न रूपों को पहले समझा जाये।

प्रत्येक मानव-समाज में विभिन्न समूह और विभाग देखने में आते हैं। एक ही भौगोलिक सीमा में रहनेवाले और एक-सी ही जीवन-पद्धति अपनानेवाले सामाजिक समुदायों के कुछ मुख्य भेद गांव, पड़ोस, नगर, जाति, प्रांत और राष्ट्र हैं। प्राथमिक समूहों में परिवार, क्लब, पड़ोस, आदि आते हैं। समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक संगठन बनाये जाते हैं। बड़े संगठनों के कई उदाहरण हैं—व्यापारिक कंपनियां, मजदूर सभाएं धार्मिक-संगठन राज्य आदि। इनके बिना किसी समाज का न तो निर्माण हो सकता है, और न ही वह चल सकता है। समाज में सभी लोगों को अपने हितों का पालन करना पड़ता है। यदि वे हित एक दूसरे से टकरा जायें तो समाज की शांति भंग हो जाती है। अतः समाज विभिन्न साधनों से लोगों के व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। इसके लिए वह भांति-भांति की रूढ़ियां, परंपराएं, धर्म,

नैतिकता, आचार संहिताएं, कानून आदि लागू करता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज के नियंत्रणों का पालन करना होता है, अवज्ञा करने पर उसे समाज से तिरस्कृत होना पड़ता है। समाज की व्यवस्था के सुचारु रूप से चलने के लिए यह आवश्यक है कि लोग स्वाधीनतापूर्वक कार्य करते रहें। यदि राज्य और अन्य नियंत्रकों का दबाव बहुत अधिक हुआ, तो लोगों में भय और निराशा उत्पन्न हो जायेगी और उनकी रचनात्मक शक्तियों के स्रोत सूख जायेंगे।

समाजमिति : इस शब्द का प्रयोग पहली बार जेकब एल० मुनरो नामक आस्ट्रियन विद्वान ने किया था, जो बाद में अमरीका में बस गये थे। उन्होंने 'सोशियोमीट्री' (समाजमिति) नामक एक पत्रिका का संचालन भी किया था। मुनरो ने इस पद्धति का विकास समाजविज्ञान की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए किया था। इस पद्धति में संख्यात्मक तथा आदर्शात्मक अध्ययनों को एक साथ मिला दिया गया है। जीवविज्ञान, मनोविज्ञान तथा अर्थशास्त्र—इन सब में सामान्यत: संख्यात्मक अध्ययन पाया जाता है, परंतु समाजविज्ञान की समस्याओं का विशेष रूप से अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक था कि सामाजिक स्वरूपों और प्रक्रियाओं को इस प्रकार सीमित तथा विश्लेषित किया जाये कि उनको मापा भी जा सके। इसलिए मुनरो तथा कुछ अन्य समाजविज्ञानियों ने इस प्रकार के अनेक पैमाने बनाये, जिनसे सामाजिक संबंधों, विचारों और व्यवहारों को मापा जा सके। इसके पहले सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण वर्णनात्मक होता था, उसको मापा नहीं जा सकता था। सांख्यिकी पद्धति द्वारा मनुष्य के समूहों का ही अध्ययन किया जा सकता था। उनको व्यक्ति के रूप में समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसलिए यह आवश्यक था कि दोनों प्रकार के अध्ययन एक-दूसरे के निकट आ जायें और सामाजिक समस्याओं को समझने में सहायता मिले। इस प्रकार समाजमिति ने सामाजिक अध्ययन को एक दिशा दी।

समाज-शिक्षा : समाज-शिक्षा का जो अर्थ हमारे देश में किया जाता है, उसके अनुसार सामाजिक कार्य और समाज-शिक्षा के क्षेत्र बहुत कुछ मिले-जुले प्रतीत होते हैं, किंतु दोनों को भिन्न-भिन्न भूमिका अदा करनी होती हैं। समाज-शिक्षा शिक्षा प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है, जिसमें अनौपचारिक विधियों का उपयोग होता है। इसके अंतर्गत व्यक्ति के जीवन को अधिक संतोषजनक बनानेवाली सामाजिक आदतों और व्यवहारों का ज्ञान कराके बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के साथ तालमेल बैठाने की कला सिखायी जाती है। लोक स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों की भांति समाज-शिक्षा एक निरोधक सेवा है, जबकि सामाजिक कार्य निरोधक भी हैं और संवर्धक भी।

सामुदायिक संगठन में, जो कि सामाजिक कार्य की एक विधि भी है और एक कार्यक्षेत्र भी, समाज-शिक्षा का बहुत महत्त्व है। इससे लोगों को अपनी आवश्यकताओं और समस्याओं को समझने में मदद मिलती है।

समाज-सुधार : समाज-सुधार का मूल प्रयोजन समाज या समुदाय के बुनियादी मूल्यों तथा संस्थाओं में परिवर्तन लाना है, किंतु सामाजिक कार्य का संबंध उन कल्याणकारी क्रिया-कलापों से है, जो व्यक्तियों अथवा समूहों की आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त वर्तमान साधन-स्रोतों, मूल्यों और संस्थाओं की सीमा में संपादित होते हैं। समाज-सुधार के लिए जन-नेताओं तथा जन-नायकों की आवश्यकता होती है, जबकि सामाजिक कार्यक्रमों का संचालन प्रशिक्षण प्राप्त पेशेवर कार्यकर्ता करते हैं। भारत में आधुनिक सामाजिक कार्य का प्रारंभ उन्नीसवीं शती के समाज-सुधार आंदोलन से हुआ है। महिलाओं के लिए समान अधिकारों की प्राप्ति और बाल-विवाह, सती प्रथा और अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिए आंदोलन समाज-सुधार के क्षेत्र में आते हैं, जबकि महिला रक्षा सदन का संचालन, हरिजनों के लिए सामुदायक केंद्र का संगठन करना, उपेक्षित बच्चों की रक्षा तथा देखभाल के लिए संस्था चलाना आदि ऐसे काम हैं, जो सामाजिक कार्य के हैं। समाज-सुधार के कार्यक्रमों में सामाजिक कार्य की प्रविधियों का, विशेषकर सामाजिक आंदोलन का, उपयोग होता है। (दे० सुधार)

समायोजन : यह अचेतन रूप से चलनेवाली एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक

वातावरण के साथ मेल अथवा समझौता करने का प्रयास करता है, खासकर जब वह यह समझता है कि उसके साथ संघर्ष करते रहना सदैव संभव नहीं है। वह स्वयं अपने व्यवहारों, आदतों और प्रवृत्तियों में ही परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तथा अन्य सदस्यों की बातों को सहन करता है, जिससे कि वह वातावरण में अपना स्थान बना सके। ऐसा करने के लिए वह कई रीतियों को अपना सकता है, यथा, बल-प्रयोग के आगे झुक जाना, समझौता कर लेना, पंच-फैसला स्वीकार कर लेना, अपनी स्थिति बदल लेना, हिंसा के स्थान पर अहिंसा या नरमी बरतना, तर्क करना या चुप रहना। एक नव-विवाहित स्त्री का अपने पति के परिवार में, एक बालक का अपनी नयी पाठशाला में, एक कर्मचारी का अपने नये कार्यालय में आरंभ में कुछ समय तक जो व्यवहार होता है, उसमें समायोजन की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से झलकती है। ये सभी व्यक्ति अपने चारों ओर के व्यक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास अनजाने ही करते हैं।

समिति : मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति अकेला नहीं कर सकता। इसके लिए उसे परस्पर सहयोग करना पड़ता है। जब मनुष्य अपने सामाजिक संबंधों को सहयोगी स्तर पर स्थापित करता है, तो समिति की रचना हो सकती है। समाज में सहयोगी और विरोधी दोनों प्रकार के सामाजिक संबंध होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छानुसार और उदासीनतापूर्वक भी अपने संबंधों को स्थापित करते हैं। इन संबंधों में सहयोगी संबंध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बिना सहयोगी संबंध के समिति असंभव है; क्योंकि एक समुदाय में जब किसी विशेष उद्देश्य को लेकर कुछ व्यक्ति पारस्परिक सहयोग आरंभ करते हैं, तो वे एक समिति या संघ की स्थापना करते हैं।

समिति की परिभाषा अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार की है। आर० एम० मैकआइवर के अनुसार "सामान्य रूप से किसी एक हित या कुछ हितों की प्राप्ति के लिए निर्मित संगठन को समिति कहते हैं।" गिन्सबर्ग का मत है कि "समिति एक-दूसरे से संबंधित उन सामाजिक प्राणियों का एक समूह है, जो किन्हीं निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक सामान्य संगठन बना लेता है।" ई० एस० बोगार्डस का कहना है कि "प्रायः किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करने को समिति कहते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से समिति की विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) समिति का सामान्य हित या उद्देश्य होता है।

(2) समिति के हित अधिक व्यापक होते हैं।

(3) समिति के एक से अधिक उद्देश्यों का होना भी संभव है।

(4) समितियां बनती हैं और समाप्त हो जाती हैं। कारण यह है कि समिति का निर्माण किसी आवश्यकता या उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है, अतः उसकी प्राप्ति के बाद वह समाप्त भी हो सकती है।

(5) समिति के कार्य के कुछ नियम होते हैं।

(6) समिति मूर्त होती है; क्योंकि समिति से हमें मनुष्यों के समूह का ही बोध होता है, न कि मनुष्यों के सामाजिक संबंधों का।

(7) समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है। एक ही व्यक्ति एक या अनेक समितियों का सदस्य रह सकता है।

(8) समिति में सहकारिता की भावना प्रधान होती है।

समितियां कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे, (1) रक्त संबंधी समिति, जैसे, जातीय पंचायत, (2) धार्मिक समिति, जैसे आर्यसमाज, सनातन धर्म सभा, ब्रह्मसमाज आदि, (3) राजनैतिक समिति, जैसे, कांग्रेस, जनसंघ आदि, (4) सांस्कृतिक समिति, जैसे रोटरी क्लब, संगीत क्लब आदि।

समुदाय : शिशु परिवार में जन्म लेता है। वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता है और उसकी बुद्धि का विकास होता है, उसे आस-पास की वस्तुओं, पड़ोस, गांव, नगर, जनपद, राज्य, देश और यहां तक कि ब्रह्मांड का ज्ञान होता जाता है। इस प्रकार व्यक्ति का जन्म केवल परिवार में ही नहीं, बल्कि समुदाय में भी होता है। परंतु प्रारंभ में वह समुदाय से परिचित नहीं होता। आयु के बढ़ने के साथ-साथ उसे समुदाय का ज्ञान होने लगता है और उससे वह अपना आत्मिक संबंध मानने लगता है। गांव समुदाय का सर्वोत्तम

उदाहरण है। समुदाय का विचार पड़ोस से आरंभ होता है और अंत में समुदाय संबंधी उसका विचार संपूर्ण विश्व तक पहुंच जाता है।

वास्तव में समुदाय ऐसा मानव समूह है, जिसे औपचारिक रूप से संगठित नहीं किया जाता। वह स्वतः ही उत्पन्न होता है। किसी निश्चित योजना या संविदा के अनुसार लोग एक छोटे-से भौगोलिक क्षेत्र में सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए रहते हैं। उनके समस्त सामाजिक संबंध उसी के अंतर्गत होते हैं। उनकी समस्त आवश्यकताएं उस सामुदायिक जीवन में ही पूरी होती हैं। समुदाय के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि वे अपने सदस्यों की आलोचना और प्रशंसा दोनों ही करते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से समुदाय के सदस्यों का आचरण समुदाय के जीवन द्वारा नियंत्रित होता है।

अनेक विद्वानों ने समुदाय की विभिन्न परिभाषाएं की हैं। जी० डी० एच० कौल के अनुसार "समुदाय का अभिप्राय ऐसे सामाजिक जीवन से है, जिसमें ऐसे अनेक मनुष्य सम्मिलित रहते हैं, जो सामाजिक संबंधों की परिस्थितियों के अंतर्गत साथ-साथ रहते हैं, जो परिवर्तनशील होने पर भी समान बनी रहनेवाली रूढ़ियों और प्रचलनों द्वारा परस्पर संबद्ध होते हैं तथा उनमें कुछ सीमा तक सामान्य सामाजिक लक्ष्यों और रुचियों की समझ होती है।" एफ० एल० लुम्ले के अनुसार "समुदाय किसी स्थान पर स्थायी रूप से समवेत उन व्यक्तियों को कहते हैं, जिनके हित समान हों या भिन्न हों और जिनके हितों को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न संस्थाएं बनी हों।" आगबर्न और निमकाफ के शब्दों में "एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जा सकता है।" मैजर के शब्दों में "वह समाज, जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान पर रहता है, समुदाय कहा जा सकता है।"

सुप्रसिद्ध समाजविज्ञानी आर० एम० मैकआइवर ने समुदाय के लिए स्थानीयता और सामुदायिक भावना का होना आवश्यक माना है। सब परिभाषाओं को देखते हुए समुदाय के लक्षण इस प्रकार बताये जा सकते हैं: (1) स्थानीयता, (2) सामान्य जीवन, (3) स्थायित्व, (4) लक्ष्यों का अधिक व्यापक होना, (5) जनसमूह, (6) विशेष नाम, (7) भौतिक नहीं बल्कि सामाजिक रूप से आत्मनिर्भरता, (8) सामुदायिक भावना, और (9) स्वतः जन्म।

समूह व्यवहार : जिस समाज में यंत्रीकरण तथा नगरीकरण बहुत बढ़ जाता है, वहां प्रायः प्राथमिक समितियों तथा अनौपचारिक संबंधों की नियंत्रण-व्यवस्था शिथिल हो जाती है तथा समूह समाज स्थापित हो जाता है। ऐसे समाज आधुनिक काल में विभिन्न देशों में देखे जा सकते हैं। उनमें सामाजिक संगठन और नियंत्रण की अनौपचारिक व्यवस्था की न्यूनता होती जाती है। अधिकतर निर्णय समूह के अयोग्य या अल्प योग्य व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं। अधिकतर व्यक्तियों के व्यवहार को नौकरशाही द्वारा नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है। व्यक्तियों का व्यवहार भीड़ के सदस्यों की भांति प्रायः अनुत्तरदायित्वपूर्ण और अल्प बौद्धिक होता है। अधिकतर सदस्यों के जीवन में पृथकत्व, नैराश्य-भावना और वर्गभेद की भावना व्याप्त होती है।

समूह समाज-कार्य : सामाजिक कार्य में वैयक्तिक समाज कार्य ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य समूहों में रहते हैं। वे परिवार, जाति, संघ, समुदाय आदि में रहकर बड़े होते हैं। अतः मनुष्य मात्र के लिए समूहगत जीवन का बुनियादी महत्त्व है। समूह के सदस्यों में पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। अतः सामाजिक कार्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विधि समूह समाज-कार्य है। इसमें व्यक्ति को सहायता किसी समूह के माध्यम से और उसके सदस्य होने के नाते दी जाती है। समूह समाज-कार्य एक प्रकार की विधि और प्रक्रम का नाम है, जिसके माध्यम से समाज-कार्यकर्ता समाजसेवी संस्थाओं की प्रबंध व्यवस्था में व्यक्तियों तथा समूहों की सहायता इस प्रकार करता है कि उनमें दूसरे लोगों से सार्थक संबंध स्थापित करने की क्षमता का विकास हो सके और वे अपनी-अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुरूप अवसरों का उपयोग और आत्मविकास कर सकें। समूह समाज-कार्य में व्यक्ति समाज-कार्यकर्ता की सहायता से अपने व्यक्तित्व के विकास, परिवर्तन और संवर्धन के लिए समूह का साधन के रूप में प्रयोग करता है। समाज कार्यकर्ता समूहगत व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के संदर्भ में निर्देशन कार्य

करते हुए व्यक्ति की प्रगति और पूरे समूह के उत्थान के लिए प्रयत्नशील होता है।

समूह समाज-कार्य की उपयोगिता इस बात में है कि इसमें लोकतंत्र की सद्भावना सक्रिय होने के साथ-साथ व्यक्ति और समूह का आत्मविकास होता है, नेतृत्व की क्षमता बढ़ती है और लोगों के अवकाश के समय का अधिक उपयोग होता है।

सहोदर : सहोदर का अर्थ होता है एक ही उदर अथवा एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होनेवाली संतानें। एक ही माता से उत्पन्न होने तथा एक ही परिवार में लालन-पालन होने के फलस्वरूप यह स्वाभाविक ही है कि सहोदर (सगे भाइयों) तथा सहोदरा (सगी बहिन) के मध्य परस्पर प्रेम हो। केवल सभ्य ही नहीं, अपितु अल्प विकसित जनसमुदायों में भी यह प्रेम देखने में आता रहा है। माता-पिता का भी यह कर्तव्य बतलाया गया है कि वे अपनी संतानों में कोई भेदभाव न करें तथा अपनी संपत्ति का उनमें समुचित बंटवारा करें। हिंदू समाज में परंपरागत रूप से कन्या को अपने पिता की संपत्ति का भाग नहीं मिलता था। लेकिन अब हिंदू कोड बिल के अनुसार उन्हें भी यह अधिकार दे दिया गया है। भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में लोक-साहित्यों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें सगे भाइयों तथा सगी बहिनों के प्रति अपना अटूट प्रेम रखने से संबंधित कई रोचक गीत, कथाएं, प्रसंग आदि प्रचलित हैं। आज भी हिंदू स्त्रियां अपने सगे भाइयों की मंगल कामना के लिए कई प्रकार के व्रत रखती हैं, मनौतियां मनाती हैं तथा रक्षा-बंधन का पुनीत और रोचक त्योहार मनाती हैं।

सांस्कृतिक प्रतिमान : किसी संपूर्ण संस्कृति के ढांचे में एक विशेष ढंग या क्रम से सजे हुए संस्कृति संकुलों के मिश्रित रूपों को सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं। 'सांस्कृतिक प्रतिमान' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध अमरीकी महिला मानवविज्ञानी बैनेडिक्ट रूथ ने अपनी पुस्तक 'पैटर्न्स आफ कल्चर' में किया था। उनके अनुसार संपूर्ण केवल अपने भागों का योग ही नहीं होता, अपितु भागों के परस्पर अद्वितीय ढंग से व्यवस्थित होने और मिलने से निर्मित होनेवाली एक नवीन इकाई होती है। किसी संस्कृति विशेष में जो भी लोकरीतियां या रीति-रिवाज या व्यवहार के प्रतिमान देखने में आते हैं, वे सांस्कृतिक प्रतिमान ही होते हैं।

सुप्रसिद्ध मानवविज्ञानी क्लूखोहन के अनुसार सांस्कृतिक प्रतिमानों के पांच प्रकार हैं : (1) वे सांस्कृतिक प्रतिमान, जिन्हें समाज के प्रत्येक सदस्य को मानना आवश्यक होता है, (2) वे प्रतिमान, जो एक समाज में विविध रूप में पाये जाते हैं, (3) समाज में समान रूप से प्रचलित अनेक प्रतिमानों में से कोई एक, जो विशेष रूप से अर्थात् अधिक प्रचलित हो, (4) वे प्रतिमान, जिनकी कई प्रणालियां तो प्रचलित होती हैं, लेकिन किसी एक प्रणाली पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता, (5) वे प्रतिमान, जिनको समाज के कुछ ही व्यक्ति अपनाते हैं, अन्य सभी को उनका पालन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

सांस्कृतिक प्रतिमानों का एक सरल विभाजन आदर्श प्रतिमानों और व्यावहारिक प्रतिमानों के रूप में भी किया जा सकता है।

सांस्कृतिक प्रसार या सांस्कृतिक संक्रमण सिद्धांत : सांस्कृतिक गुणों, विशेषताओं, व्यवहार के प्रतिमानों तथा नमूनों के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र या क्षेत्रों को चले जाने या प्रसारित हो जाने को ही सांस्कृतिक प्रसार या संक्रमण कहते हैं। ऐसा प्रसार उधार लेने, सुझाव देने, स्थान परिवर्तन करने आदि के फलस्वरूप हो सकता है। यदि हम विश्व के किसी भी भाग में स्थित एक मानव के दैनिक जीवन में प्रयोग में लायी गयी वस्तुओं तथा व्यवहार के प्रतिमानों का अध्ययन करें, तो यह पायेंगे कि उनमें ऐसे अनेक तत्त्व हैं, जिन्हें अन्य देशों, क्षेत्रों, समुदायों की संस्कृतियों से किसी न किसी रूप में अपना लिया गया है। प्राचीन काल में देशांतरण, युद्धों और व्यापार के माध्यम से सांस्कृतिक प्रसार खूब तेजी से हुआ था। आजकल आवागमन के साधनों, जन संचरण के साधनों तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, यूनेस्को जैसी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक निकटता स्थापित करने की दिशा में रत संस्थाओं के प्रयासों के फलस्वरूप सांस्कृतिक प्रसार बढ़ता जा रहा है तथा भविष्य में एक विश्व मानव संस्कृति के निर्माण की कल्पना साकार होती हुई प्रतीत हो रही है। प्रोफेसर एम० जे० हरस्कोविटस की पुस्तक 'कल्चरल

एंथ्रोपोलोजी' (सांस्कृतिक मानवविज्ञान) में इस सिद्धांत की विशद व्याख्या की गयी है।

सांस्कृतिक लक्षण या तत्त्व : सांस्कृतिक लक्षण या तत्त्व किसी भी संस्कृति विशेष में सबसे छोटी, पहचानने योग्य इकाई होता है, जिसका कार्य की दृष्टि से और आगे विभाजन नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, चार पैर और ऊपर का तख्ता होने पर ही मेज सार्थक हो सकती है। अत: मेज एक सांस्कृतिक लक्षण या तत्त्व हुई। इसी प्रकार हुक्का, कोई औजार, गाड़ी, खिलौना, वस्त्र आदि भी सांस्कृतिक लक्षण हैं। केवल वस्तुएं ही सांस्कृतिक तत्त्व नहीं होतीं, अपितु कोई भी विशेष रीति-रिवाज, व्यवहार या प्रचलन भी सांस्कृतिक तत्त्व कहला सकता है। उदाहरणार्थ टोड़ा लोगों में बहुपति प्रथा और हिंदूओं में मूर्तिपूजा, श्राद्ध आदि सांस्कृतिक तत्त्व या लक्षण ही हैं। किसी भी संस्कृति के लक्षणों या तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान हुए बिना उस संस्कृति को भली-भांति समझना संभव नहीं हो सकता।

सांस्कृतिक लय : सांस्कृतिक लय किसी संस्कृति में कहा गया या माना हुआ वह स्वयंसिद्ध सिद्धांत, स्थिति या प्रसंग होता है, जो प्रायः व्यवहार को नियंत्रित करने अथवा क्रिया को प्रेरणा प्रदान करने में सहायक होता है तथा जो समाज में स्वयं विकसित हुआ होता है या स्पष्ट रूप से विकसित किया जाता है। उदाहरणार्थ, अमरीका के कुछ रेड इंडियन लोगों में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक लय प्रचलित है कि पुरुष स्त्रियों से सभी अर्थों में अधिक श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार हिंदू समाज में यह सांस्कृतिक लय प्रचलित है कि शूद्रों में सवर्णों की अपेक्षा बुद्धि कम होती है। भारतीय समाज में भाग्यवादिता एक राष्ट्रीय लय है। यह आवश्यक नहीं है कि सांस्कृतिक लय तर्कसंगत, उचित अथवा लाभप्रद हो। सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तनों को लाने के लिए सांस्कृतिक लयों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है, नये लय लाये जाते हैं और उनका महत्त्व बतलाया जाता है तथा पुराने लयों की निरर्थकता को इंगित किया जाता है और उनके त्यागने पर अत्यधिक बल दिया जाता है। आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीकी के विकास के कारण सांस्कृतिक लयों में बहुत कुछ परिवर्तन हो रहा है।

सांस्कृतिक विकास : सांस्कृतिक विकास से तात्पर्य किसी संस्कृति के शनैः-शनैः बढ़ने, उच्च-स्तरीय बनते जाने तथा प्रगति के सोपानों को प्राप्त करते जाने से होता है। यह देखा जा सकता है कि प्रायः विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण संस्कृतियां पहले पिछड़ी हुई जनजातियों अथवा समुदायों की थीं, जो अर्धनग्न रहना, मानव-मांस खाना, दास प्रथा, यौन अनाचार आदि अनेकानेक अत्यंत निम्नस्तरीय व्यवहार-प्रतिमानों को अपनाये हुए थीं। लेकिन वे अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आती गयीं और उनके सदस्य नये विचारों और नयी वस्तुओं का आविष्कार करते गये। उनके ज्ञान का स्तर ऊंचा होता गया, उनके आदर्शों में उत्तरोत्तर उन्नति होती गयी, और उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व अन्य जीवन-पक्षों में भी उत्तरोत्तर उन्नति होती चली गयी। इस प्रकार का सांस्कृतिक विकास सभी देशों में होता रहा है और आज भी हो रहा है।

सांस्कृतिक विलंबन : सांस्कृतिक परिवर्तन के एक सिद्धांत के रूप में सांस्कृतिक विलंबन का प्रतिपादन अमरीकी समाजशास्त्री विलियम एफ० आगबर्न ने किया था। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक संस्कृति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : भौतिक संस्कृति, जिसमें मशीनें, मकान, सड़कें, फैक्टरियां आदि आती हैं, तथा अभौतिक संस्कृति, जिसमें आदर्श विचार, परंपराएं आदि आती हैं। भौतिक संस्कृति संबंधी परिवर्तन प्रायः शीघ्रता से हो जाते हैं, लेकिन उनसे संबंधित आदर्शों, विचारों, परंपराओं, सावधानियों अथवा प्रयोग संबंधी सूचनाओं को भली भांति अपनाने से संबंधित आवश्यक परिवर्तन उतनी शीघ्रता से नहीं हो पाते। फलस्वरूप इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों की गति में अंतर आ जाता है अथवा अभौतिक संस्कृति का विकास और परिवर्तन-क्रम भौतिक संस्कृति के विकास या परिवर्तन-क्रम से पिछड़ जाता है। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले अंतर या विलंब के फलस्वरूप कई प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक तनाव तथा समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं, जो सामाजिक और व्यक्तिगत विघटन का कारण बन जाती हैं। जे० एच० म्यूलर के अनुसार आगबर्न द्वारा उल्लेखित सिद्धांत में जो समय का अंतर या विलंब उत्पन्न होने की बात कही गयी है, वह वस्तुतः उतनी सही

नहीं होती; क्योंकि वास्तविक विलंबन तब होता है, जबकि पिछड़ जानेवाला तत्त्व या तो अन्य किसी तत्त्व का प्रभाव हो या एक आदर्श प्रतिमान तथा एक दिये गये प्राप्ति-स्तर के मध्य में गुणात्मक अंतर हो।

सांस्कृतिक समांतरता या समरूपता : भौगोलिक रूप से अलग-अलग स्थित दो या अधिक संस्कृतियों की जटिल व्यवस्थाओं अथवा किसी एक विशेष पक्ष या तत्त्व में सैद्धांतिक दृष्टि से कुछ समानता, समरूपता या समानांतरता पायी जाती है, जिसे सांस्कृतिक समानांतरता या समरूपता कहते हैं। इस प्रकार की समरूपता का उल्लेख पिछली सदी में सर्वप्रथम एडोल्फ बास्टियन ने किया था। उनके अनुसार विश्वभर में मानवों में मनोवैज्ञानिक एकता पायी जाती है। इस सिद्धांत का दूसरा रूप यह रहा है कि विश्व के प्रायः अधिकतर समाज विकास क्रम के एक-से ही क्रमों में से होकर गुजरे हैं। इसका तृतीय रूप यह रहा है कि दुर्घटनावश होनेवाली सांस्कृतिक घटनाओं में भी समरूपता पायी जाती है। कई नृतन्वशास्त्री इसके चतुर्थ रूप पर बल देते रहे हैं। उनके अनुसार चूंकि प्रायः सभी मानव समुदायों के लिए व्यवहार करने की कुछ ही सीमित संभावनाएं होती हैं, अतः उनके व्यवहारों में कई समानताएं देखने में आती हैं। आजकल सांस्कृतिक समरूपता के सिद्धांत को बहुत सरल सिद्धांत मानते हुए प्रायः कोई विशेष प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

सांस्कृतिक समाज : सांस्कृतिक समाज का सामान्य भाषा में अर्थ होता है नृत्य, गायन और कलात्मक अभिव्यक्ति करने में रुचि रखनेवाले कुछ व्यक्तियों का एक संगठन। मनोरंजन करने अथवा विभिन्न कलाओं के विकास के लिए कुछ सदस्य मिलकर औपचारिक रूप से ऐसी समितियों का निर्माण कर लेते हैं। ऐसी समितियों के उद्देश्य निश्चित होते हैं। उनकी पूर्ति के लिए ही सदस्य आपस में मिलते हैं तथा कार्य करते हैं। इनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। राज्य अथवा विविध सहकारी संगठन ऐसे सांस्कृतिक मंडलों या समितियों का निर्माण करते हैं। समाज के जीवन में ऐसे संगठनों का बहुत महत्त्व होता है। संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने और उसके उत्तरोतर विकास में इनका योग होता है।

सांस्कृतिक सापेक्षता : विवाह, पारिवारिक संबंधों अथवा सांस्कृतिक, चारित्रिक या नस्ल संबंधी पारस्परिक समानताओं के आधार पर एक या एक से अधिक संस्कृतियों के व्यक्तियों का पारस्परिक बंधुत्व। भारत में रहनेवाली विभिन्न जातियों, समुदायों और समूहों के सदस्यों की संस्कृतियां भिन्न होने पर भी उनमें लोक-साहित्य, सांस्कृतिक मान्यताओं और व्यवहार के प्रतिमानों, धार्मिक विचारों, और परंपराओं आदि के फलस्वरूप सांस्कृतिक सापेक्षता के दर्शन होते हैं। यही बात अफ्रीका के निवासियों के लिए भी सही है। सांस्कृतिक सापेक्षता के विकास में नस्लों की समानता, परस्पर विवाह संबंधों की स्थापना तथा संस्कृतीकरण, समाजीकरण एवं पर-संस्कृतीकरण का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

सातानि जाति : बंगाल की 'मालि' जाति के लोगों की तरह ही ये लोग आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और मैसूर राज्यों में मंदिर के कर्मचारी हैं। रामानुजाचार्य के समय में इस जाति का उदय हुआ। रामानुजाचार्य ने मंदिरों के इन वैष्णव सेवकों को दो वर्गों में बांटा: (1) सात्तिनवन् और (2) सात्तादवन्। पहले वर्ग के लोग ब्राह्मण हैं और दूसरे वर्ग के लोग शूद्र। शूद्र जाति के लोग ही कालांतर में सातान बन गये। सात्तादवन् का अर्थ है यज्ञोपवीत के बिना रहना। मैसूर में भी ये लोग रहते हैं। ये खुद को विराट् पुरुष के पसीने से निकले हुए मानते हैं।

वैष्णव मंदिरों में—विशेषतः दक्षिण भारत के मंदिरों में—ये बहुसंख्या में पाये जाते हैं। आंध्र प्रदेश के सातानियों में एकाक्षरी, चतुराक्षरी, अष्टाक्षरी और कुल शाखा के वर्गों के लोग पाये जाते हैं। तमिलनाडु और मैसूर आदि प्रांतों में कद्री, नटयर, मूर्ति, प्रथम, समीरिया, समोवि, शंकरा, सूरि, सात्तादव, वेंकटपुरद आदि शाखाएं भी पायी जाती हैं। श्री विल्लिपुत्तूर में कुछ ऐसे सातान भी हैं, जो मांस छूते तक नहीं।

आचार-व्यवहार : ये तेंगलै वैष्णव हैं, जो यज्ञोपवीत धारण नहीं करते। ये पूरा शिरोमुंडन करते हैं। बलिगा जैसे कुछ निम्न शूद्र जाति के घरों में ये पुरोहित का काम करते हैं। रजस्वलानंतर विवाह, विधवा-विवाह और विवाह-विच्छेद इनके लिए निषिद्ध हैं। ये शंख और चक्र को अपनी भुजाओं पर मुद्राओं के रूप में गुदवाते हैं। इन

लोगों में शव-दहन की प्रथा है।

इनकी स्त्रियां ब्राह्मणों की स्त्रियों की तरह खूब साज-सज्जा करती हैं। इनके पेशों में फूल-मालाएं बनाना, धार्मिक उत्सवों के समय सफाई करना, पूजा-द्रव्य बेचना आदि प्रमुख हैं।

सामंजस्य : मानव समाज में एकता, संगठन और शांति स्थापित करने के लिए जो सामाजिक प्रक्रियाएं चलती रहती हैं, उनमें सामंजस्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि वह अपने चारों ओर के सामाजिक वातावरण से भलीभांति संघर्ष नहीं कर सकता और उसके प्रति विरोध या निराशा का रुख बनाये रखने से उसे कोई लाभ नहीं होगा, तो वह जानबूझकर यह प्रयास करता है कि वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाये। वह चाहे आंतरिक रूप से ऐसा न करना चाहता हो, फिर भी बाह्य रूप से ऐसा करने का प्रयास अवश्य करता है। जब किसी देश के व्यक्ति किसी विदेशी शक्ति से हार जाते हैं, तो मजबूर होकर उन्हें अपने नये स्वामियों के साथ सामंजस्य करना पड़ता है। प्राकृतिक जगत में हम देखते हैं कि मानव और पशु-पक्षी प्राकृतिक शक्तियों, जैसे अग्नि, वर्षा, वायु, ताप आदि के साथ सामंजस्य करने का प्रयास करते हैं। सामाजिक सामंजस्य की प्रक्रिया उत्तम सामाजिक व्यवहार का आधार होती है। एक आधुनिक व्यक्ति में सामाजिक सामंजस्य की क्षमता होना अत्यंत आवश्यक होता है।

सामाजिक अंतर : सामाजिक भेदभाव तथा सामाजिक अंतर का पारिभाषिक अर्थ प्रायः एक-सा लगाया जाता है, लेकिन दोनों पारिभाषिक शब्दों में मौलिक अंतर है। सामाजिक भेदभाव का अर्थ है—समान व्यक्ति, वस्तु या स्थान के साथ असमान व्यवहार करना। यह असमान व्यवहार अतिरिक्त लाभ पहुंचाकर भी किया जा सकता है और वर्जनाओं का अधिक प्रयोग करके भी। जैसे अमरीका में नीग्रो संवैधानिक स्तर पर श्वेतों के बराबर हैं, लेकिन फिर भी इनके साथ असमान व्यवहार किया जाता है। यह सामाजिक भेदभाव का उदाहरण है। स्त्री-पुरुषों के अधिकारों के उपयोग में भी यही तर्क लागू होता है।

सामाजिक अंतर सामाजिक भेदभाव से भिन्न शब्द है। किसी भी एक समाज के व्यक्ति एक-दूसरे से जाति, लिंग, आयु, क्षमताओं, प्रशिक्षण और अनुभव में भिन्न होते हैं और इसलिए समाज में समान अवसर प्राप्त होने के बावजूद भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को समाज में भिन्न-भिन्न स्थान प्राप्त होते हैं। इसका बुनियादी आधार है व्यक्तियों, वस्तुओं या स्थानों में अंतर्निहित प्राकृतिक अंतर। ये ही प्राकृतिक अंतर सामाजिक अंतर का कारण बनते हैं। सामाजिक भेदभाव में जहां असमानता आरोपित की हुई होती है, वहीं सामाजिक अंतर शब्द प्राकृतिक अंतर का द्योतक है। इस श्रेणी में असमानता कृत्रिम नहीं, बल्कि प्राकृतिक होती है। कभी-कभी व्यक्ति, वस्तु या स्थान का ठीक सामाजिक मूल्यांकन न होने के कारण भी अज्ञानतावश भेदभाव हो जाता है। लेकिन यह भेदभाव प्रवृत्तिजन्य न होकर, अज्ञानजन्य होता है।

सामाजिक अनुसंधान : सामाजिक कार्य संबंधी अनुसंधान सामाजिक कार्य की एक परोक्ष या सक्षमकारी विधि है। सामाजिक अनुसंधान का अर्थ है किसी समस्या का सावधानीपूर्वक गुणदोषान्वेषण करनेवाला विधिवत् अध्ययन। यह एक ऐसा प्रयास है, जिसका उद्देश्य अध्ययन एवं परीक्षण द्वारा नयी जानकारी हासिल करना है। यह एक ऐसा प्रक्रम है, जिसके द्वारा हम सामाजिक कार्य के क्षेत्र में उत्पन्न समस्याओं के हल खोजने का प्रयास करते हैं।

समुदाय की समस्याओं की, उनसे प्रभावित लोगों की और उन्हे हल करने में प्रयुक्त विधियों की जानकारी हासिल करने की दृष्टि से भी सामाजिक अनुसंधान एक महत्त्वपूर्ण साधन है। अनुसंधान के बिना सामाजिक आयोजन का कार्य भी सफल नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी सहायता से ही आयोजनकर्ता समुदाय की आवश्यकताओं की जानकारी हासिल कर सकते हैं। सामाजिक सेवाओं और सामाजिक अनुसंधान के सभी स्थलों पर एक दूसरे से पृथकत्व संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि कार्यक्रमों से अनुसंधान के लिए आवश्यक तथ्य प्राप्त होते हैं और सामाजिक अनुसंधान सामाजिक कार्य-कर्ताओं के कार्यक्रमों को अधिक प्रभावी, उपयोगी तथा सार्थक करने में समर्थ बनाता है। यह समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त विधियों एवं प्रविधियों के परिशोधन

में सहायक होता है। सामाजिक अनुसंधान दो प्रकार के होते हैं: (1) प्रयुक्त या क्रियामुखी अनुसंधान, तथा (2) विशुद्ध अनुसंधान।

अनुसंधान की प्रक्रिया में अनेक अवस्थाएं होती हैं, जैसे अनुसंधान के विषय अथवा समस्या का चुनाव, प्राक्कल्पना (हाईपोथीसिस) का निरूपण, अनुसंधान अभिकल्प का निर्माण, प्राक्कल्पना का परीक्षण तथा सत्यता, तथ्य-संकलन, विश्लेषण, संकलित तथ्यों की व्याख्या, प्राक्कल्पना की पुष्टि या अपुष्टि और अंत में प्रतिवेदन के रूप में विश्लेषण, व्याख्या तथा निष्कर्ष।

सामाजिक आंदोलन : कुछ समय पहले सामाजिक आंदोलन सामुदायिक संगठन का एक अंग माना जाता था। किंतु अब इसे समाज-कार्य की एक पृथक् विधि स्वीकार कर लिया गया है। सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं में सुधार तथा परिवर्तन के लिए संगठित प्रयास को सामाजिक आंदोलन की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक आंदोलन में राजनैतिक सुधार, औद्योगिक लोकतंत्र, प्रजातीय एवं सामाजिक न्याय, धार्मिक तथा नागरिक स्वतंत्रता संबंधी आंदोलन आदि आते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन अथवा सुधार करने के लिए सामाजिक आंदोलन एक सामूहिक और शांतिमय तरीका है, जिसकी आवश्यकता इस कारण होती है कि ये संस्थाएं अपनी भूमिकाएं पूरी नहीं कर पातीं और परिणामस्वरूप समाजकार्य के प्रभावी होने में बाधक होती हैं।

सामाजिक आंदोलन द्वारा अनेक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जाता है, जैसे दहेज प्रथा, निरक्षरता, धार्मिक कट्टरता, अंधविश्वास, बाल-विवाह आदि का निषेध।

सामाजिक उद्‌विकास : उद्‌विकास शब्द अंग्रेजी के 'एवोल्यूशन' शब्द का पर्याय है। 'एवोल्यूशन' शब्द लैटिन के 'इवोलशिया' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है उद्‌घाटन करना। अतः उद्‌विकास का अर्थ नयी दिशाओं को व्यक्त करना है। समाज निरंतर परिवर्तनशील रहा है और उसमें नयी दिशाएं प्रकट होती रही हैं। अतः यूनान के दार्शनिकों ने ब्रह्मांड के परिवर्तन के विचार को विकसित किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि समाज में परिवर्तन सुधार की ओर हो रहा है और समाज की उन्नति हो रही है। पर मध्य युग में विज्ञान के विकास के साथ उद्‌विकास में अंधविश्वास का भी ह्रास हुआ और उसके स्थान पर नवीन वैज्ञानिक विचारधारा प्रचलित हुई। काम्ते का कहना था कि संसार के विभिन्न भाग परस्पर संबद्ध हैं। संस्कृति में परिवर्तन विश्वव्यापी और अवश्यंभावी है तथा वह विभिन्न स्तरों पर होता है। लेमार्क तथा माल्थस के सिद्धांतों ने भी सामाजिक उद्‌विकास के सिद्धांत पर प्रभाव डाला, लेकिन इस संबंध में डार्विन और स्पेंसर के विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। डार्विन ने यह सिद्ध किया था कि अस्तित्व के लिए संघर्ष में और पर्यावरण से सामंजस्य स्थापित करने में जिन जीवों ने विजय प्राप्त की, वे ही अंततः जीवित रह सके। हर्बर्ट स्पेंसर ने सारे ज्ञात ब्रह्मांड को उद्‌विकास की धारणा के अंतर्गत माना था। पहले उन्होंने ब्रह्मांड की घटनाओं के परिवर्तन को लिया, फिर पृथ्वी के इतिहास पर प्रकाश डाला। इसके बाद उन्होंने जीवों की घटनाओं का अध्ययन किया, फिर मस्तिष्क का और अंत में समाज और नैतिकता की घटनाओं को उद्‌विकास के अंतर्गत माना।

मैकआइवर का मत है कि सामाजिक उद्‌विकास वह प्रक्रिया है, जिसमें वस्तु में निहित सभी प्रच्छन्न भावनाएं क्रमशः अथवा धीरे-धीरे प्रकट हो जाती हैं। उद्‌विकास सरल वृद्धि को नहीं कहते, अपितु उद्‌विकास से वस्तु के आकार में वृद्धि होने के अतिरिक्त उसकी रचना में भी परिवर्तन होता है। यह संस्थात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन की वह निरंतर और एक दिशा में ले जाने वाली प्रक्रिया है, जिसमें वस्तु या समाज की आंतरिक विशेषताएं प्रकट होकर भिन्न और स्पष्ट हो जाती हैं। अतएव उद्‌विकास की मूल विशेषता भेदकरण है (जिसमें एकीकरण का अर्थ समाविष्ट है)। समाज में भेदकरण अधिकतर श्रम-विभाजन, कार्यालय संगठनों की संख्या और विविधता में वृद्धि, सामाजिक संचार के साधनों में बढ़ती हुई विभिन्नता और उत्कृष्टता में व्यक्त होता है। मैकआइवर का मत है कि उद्‌विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्णन प्रस्तुत करना संभव नहीं है, किंतु उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। मार्गन, बैकोफन, हैडन और ऐंगेल्स आदि ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक समाज का उद्‌विकास

वन्यावस्था, बर्बरता और सभ्यता––इन तीन अवस्थाओं में होता है। ये लोग आर्थिक संगठन में विकास की चार अवस्थाएं मानते हैं––आखेट, पशुपालन, कृषि तथा उद्योग की अवस्थाएं। उन्होंने परिवार धर्म, संपत्ति, राज्य आदि के विकास की भी इसी प्रकार की विभिन्न अवस्थाएं निश्चित की हैं। आधुनिक युग में विकास की ये अवस्थाएं ठीक प्रतीत नहीं हो रही हैं, इसलिए ये सिद्धांत व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

सामाजिक कल्याण : सामाजिक विघटन को समाप्त करने के उपायों, साधनों, सुझावों आदि को सामाजिक कल्याण कहा जाता है। इस प्रकार के कार्यक्रमों के अंतर्गत सामाजिक बुराइयों, कुरीतियों आदि के निराकरण के उपायों को अपनाया जाता है। आजकल प्रायः सभी देशों में जनता, धार्मिक संगठन, राज्य आदि अपनी सामर्थ्य के अनुसार सामाजिक कल्याण के कार्य करते हैं। भारतीय संविधान में सामाजिक कल्याण के लिए कई महत्त्वपूर्ण प्रावधान रखे गये हैं। आजकल भारत के प्रत्येक राज्य में समाज कल्याण विभाग और समाज कल्याण बोर्ड बने हैं। इनके द्वारा अशिक्षा, बेकारी, बीमारी, अपराध, भिक्षा-वृत्ति, विवाह-विच्छेद, आदि सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

सामाजिक कार्यकर्ता : समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्यकर्ताओं के बारे में कुछ गलत धारणा है। स्वैच्छिक कार्यकर्ता, बालबाड़ी अध्यापक, बाल सेविका, सदनों के अधीक्षक, चिकित्सा कार्यकर्ता, मुख्य सेविका, समाज-शिक्षा आयोजक आदि सबको सामाजिक कार्यकर्ता कहा जाता है। सामाजिक कार्य में सामाजिक कार्यकर्ता से अभिप्राय उस कार्यकर्ता से है, जो बी० ए० पास करने के पश्चात् किसी मान्यताप्राप्त सामाजिक-कार्य-संस्था से दो साल का व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त करके डिग्री अथवा डिप्लोमा प्राप्त करे। दूसरे शब्दों में समाज कार्य में वही कार्यकर्ता काम कर सकता है, जिसने प्रशिक्षण-प्रणाली से निश्चित ज्ञान प्राप्त करने का प्रमाणपत्र प्राप्त किया हो। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित विषय सम्मिलित होते हैं:––

(1) समाजविज्ञान

(2) व्यवसाय की बुनियादी विधियां तथा प्रविधियां

(3) विशिष्ट कार्यक्षेत्र का प्रशिक्षण

(4) क्षेत्र-कार्य (फील्डवर्क) पद्धति।

इस प्रशिक्षण के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्ता में व्यवसाय के प्रति निष्ठा, समवाय चेतना और व्यावसायिक ईमानदारी होनी चाहिए और कार्यकर्ता को निरंतर काम मिलने के साथ उसका मेहनताना भी मिलना चाहिए।

कई बार यह कहा जाता है कि व्यावसायिक समाज-कार्यकर्ता के पास वह निष्ठा नहीं होती, जो कि दुखी लोगों की सेवा करने के लिए आवश्यक है। यह धारणा ठीक नहीं है कि अवैतनिक स्वैच्छिक कार्यकर्ता ही समाज-सेवा के कार्यक्रमों को अच्छी तरह कर सकता है। प्रशिक्षण के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्ता को सेवार्थी के साथ सहानुभूति तो होनी ही चाहिए, किंतु रागात्मक संबंध नहीं होना चाहिए। कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ मिलकर काम करे, न कि सेवार्थी के लिए।

स्वैच्छिक कार्यकर्ता के उपयोग को समाज-कार्य में कम स्थान नहीं दिया जाता। वास्तव में समाज कल्याण का पूरा क्षेत्र स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं के हाथ में है। लेकिन जहां स्वैच्छिक कार्यकर्ता, जनता और समाज-कार्य संस्था के बीच संपर्क पैदा करता है, वहां व्यावसायिक कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ कार्य करके उसकी आवश्यकताओं को पूरा करता है।

यह स्पष्ट है कि स्वैच्छिक कार्यकर्ता तथा व्यावसायिक कार्यकर्ता का अपना-अपना पृथक् क्षेत्र है। कोई एक दूसरे के बिना सक्रिय सेवा नहीं कर सकता।

भारत में अब तक समाज-कार्य स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा होता रहा है और आगे भी ऐसा ही होगा। इसलिए स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता हमें रहेगी। इसके साथ-साथ सेवा को अधिक उपयोगी, प्रयोजनात्मक तथा प्रभावी बनाने के लिए व्यावसायिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती रहती है।

आजकल व्यावसायिक समाज कार्यकर्ता सामाजिक योजना निर्माता, सामाजिक प्रशासक, सदन-अधीक्षक, समाज शिक्षा संयोजक, स्कूल सामाजिक कार्य सेवक, परिवीक्षा अधिकारी, निदेशक, परिवार नियोजन शिक्षक आदि पदों पर कार्य कर रहे हैं।

सामाजिक कार्य-प्रशासन : सामाजिक कार्य का एक अन्य प्रक्रम सामाजिक कार्य प्रशासन है। यह वह प्रक्रम है, जिसके माध्यम से हम कतिपय लक्ष्यों की पूर्ति और सामाजिक नीति को लागू करने के लिए सामाजिक कार्य की व्यावसायिक क्षमता को उपयोग में लाते हैं। शिक्षा, चिकित्सा, कानून, उद्योग आदि अनेक व्यवसायों में सहायतार्थी को समुचित सेवा प्रदान करने में प्रशासन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। किसी ने प्रशासन की तुलना दो फलकवाली कैंची से की है। उसका एक फलक कार्यक्रम और व्यावहारिक सेवाओं की विषयवस्तु का विधिवत् ज्ञान है और दूसरा फलक आयोजन, संगठन, भर्ती, संचालन, समन्वय, बजट और लेखा आदि की प्राविधिक जानकारी से संबंध रखता है। कैंची का सफल संचालन तभी संभव है, जबकि उसके दोनों फलक तालमेल के साथ चलें।

सामाजिक समस्याओं का रूप जटिल है और समाज कल्याण के संगठन आकार में बड़े और संख्या में बहुत हैं। अतः समाज के सभी प्रकार के संगठन प्रशासन की दृष्टि से सुदृढ़ और ठोस होने चाहिए। सामाजिक कार्य का प्रयोजन कतिपय विधियों से समाज की सेवा करना है, अतः प्रशासन व्यवस्था भी सामाजिक कार्य का एक अंग है। इस प्रकार कुशल समाज कल्याण सेवाएं और कुशल प्रशासन एक दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टि से समर्थ समाज-कल्याण-सेवाएं समर्थ सामाजिक कार्य का हृदय और स्वस्थ प्रशासन उसका मस्तिष्क है। सामाजिक कार्य प्रशासन के कुछ माने हुए सिद्धांत हैं, जो सामाजिक कार्य, समाजशास्त्र तथा प्रशासन के सिद्धांतों पर आधारित हैं। प्रशासन के विभिन्न क्षेत्र हैं, जिनमें आयोजन, संगठन, कर्मचारी वर्ग, प्रशासनिक-नेतृत्व, कार्य-प्रणाली, समन्वय, मूल्यांकन, जनसंपर्क-साधन इत्यादि शामिल हैं। सामाजिक कार्य प्रशासन को सफल बनाने के लिए व्यवहार की अच्छी जानकारी, प्रशिक्षित कार्यकर्ता, सामूहिक दायित्व और समय-समय पर मूल्यांकन करने की बहुत आवश्यकता है।

सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य-रक्षा कार्यक्रम : सभ्यता के विकास के साथ अनेक सामाजिक समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ है। इनमें से एक समस्या वेश्यावृत्ति की भी है। प्राग्वैदिक काल में भी वेश्यावृत्ति का अस्तित्व था। वह कामाचार का युग था। जब विवाह ने धार्मिक संस्कार का रूप ले लिया तो वेश्यावृत्ति को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता था। उसी समय से वेश्यावृत्ति किसी न किसी रूप में बराबर विद्यमान रही है। वेश्यागमन परनारी के साथ धन के बदले किया गया संभोग है। इसकी अन्य आनुषंगिक बुराइयां अपहरण तथा मासूम लड़कियों का व्यापार तथा शोषण है। सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य का उद्देश्य समाज को वेश्यागमन और वेश्यावृत्ति की इस बुराई से मुक्त कराना और औरतों को इस पापकुंड में गिरने से बचाना है।

वेश्यागमन और वेश्यावृत्ति के अनेक कारण हैं, जैसे, गरीबी, बेकारी, दोषपूर्ण सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाएं एवं पूर्वाग्रह, विधवा-विवाह का निषेध, समाज में नारी की हीन स्थिति, उसकी आर्थिक सुरक्षा का अभाव, सांवेगिक तथा यौन असमायोजन, अज्ञान, दूषित पर्यावरण आदि। इनमें से किसी एक अथवा समस्त कारणों का परिणाम आवश्यक रूप से वेश्यावृत्ति अथवा वेश्यागमन नहीं है, किंतु ये वेश्यावृत्ति के कारण अवश्य हैं। समाज में ऐसी भी नारियां मिलेंगी, जो निर्धन या बेरोजगार होते हुए भी वेश्यावृत्ति से दूर हैं।

सामाजिक तथा धार्मिक सुधारकों ने तथा स्वैच्छिक समाजसेवी संस्थाओं ने वेश्यावृत्ति को रोकने तथा इसका उन्मूलन करने की बहुत कोशिशें कीं; किंतु यह समस्या इतनी बड़ी और जटिल है कि स्वार्थरत तत्त्वों से पार पाना गैर-सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं के वश की बात नहीं है।

भारतीय दंड विधान के अनुसार वेश्यावृत्ति के लिए लड़कियों एवं महिलाओं का क्रय-विक्रय अपराध है। प्रायः सभी राज्यों ने इस संबंध में कानून बनाये हैं। इन कानूनों के बावजूद न तो वेश्यावृत्ति का उन्मूलन हुआ और न इस समस्या पर कारगर तरीके से काम ही किया जा सका। भारत सरकार ने सन् 1956 में अनैतिक व्यापार निषेध अधिनियम पास किया जो 1 मई, 1958 से पूरे देश में लागू हो गया।

सामाजिक परिवर्तन : मनु ने जिस समय भारतीय समाज के स्वरूप को जाति प्रथा के आधार पर स्थिर ढांचा प्रदान किया था, उस समय उन्हें कदाचित इस बात का खयाल भी

न हुआ होगा कि कभी इस आकार और स्वरूप में कोई अंतर भी आ जायेगा। आज भी हम बहुत-से वृद्धजनों को नवयुवकों के और समाज के रहन-सहन की आलोचना करते हुए सुनते हैं। वे कहते हैं कि हमारे समय में यह होता था, वह होता था, ऐसा नहीं होता था आदि-आदि। पर यह सब क्यों हुआ? यद्यपि व्यक्तियों ने समाज की धारा को बांधने का प्रयत्न किया, परंतु वह धारा निरंतर प्रवाहित रही और अन्य प्राकृतिक घटनाओं की भांति समाज में निरंतर परिवर्तन होता रहा। समाज के रीति-रिवाज, परंपराएं, रहन-सहन के तरीके, पारिवारिक तथा वैवाहिक व्यवस्थाएं आदि समय-समय पर बदलती रही हैं। इस प्रकार जब व्यक्ति किन्हीं परिस्थितियों में या किन्हीं कारणों से अपने आचरण को बदलने लगते हैं, तो वे सामाजिक परिवर्तन को जन्म देने लगते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के संबंध में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी मत प्रचलित हैं। मैकआइवर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है सामाजिक संगठन में परिवर्तन। चूंकि सामाजिक ढांचा मनुष्यों के सामाजिक संबंधों पर आश्रित होता है, अतः सामाजिक परिवर्तन में केवल सामाजिक संबंधों के परिवर्तन का समावेश होना चाहिए। परंतु गिलिन और गिलिन ने मैकआइवर की इस परिभाषा का विरोध किया है। उनके अनुसार "सामाजिक परिवर्तन जीवन के स्वीकृत प्रकारों में परिवर्तन है, भले ही ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों, या सांस्कृतिक साधनों या जनसंख्या की रचना या सिद्धांतों के परिवर्तन से हुए हों, या ये प्रसार से या समूह के अंदर ही किये गये आविष्कारों से हुए हों।"

फ्रीडमैन के अनुसार किसी समाज के स्थिर आचरण की विधियों में बिना किसी पुनरावृत्ति के होनेवाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

किंग्सले डेविस का मत है कि सामाजिक परिवर्तन से हम इस प्रकार के अंतरों को समझते हैं, जो सामाजिक संगठनों में होते हैं या जो समाज के आकार और प्रक्रियाओं में होते हैं। इन्हीं परिवर्तनों को मैकआइवर भी सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। पर जिन परिवर्तनों को गिलिन और गिलिन सामाजिक परिवर्तन कहते हैं, वे वास्तव में सांस्कृतिक परिवर्तन हैं।

मेरिल तथा एलरिज की परिभाषा से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार मोटे तौर से सामाजिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि समाज के बहुत लोग आज ऐसे कार्य कर रहे हैं, जो कुछ दिनों पहले उनके पूर्वजों द्वारा किये गये कार्यों से भिन्न हैं। अर्थात् जब मानव में संशोधन की प्रक्रिया होती है, तो वह समाज में होनेवाले परिवर्तन का संकेत देती है। उदाहरणार्थ, यदि मजदूरों और मालिकों के संबंधों में किसी प्रकार का सुधार या परिवर्तन होता है, तो उसका प्रभाव सामाजिक संबंधों पर पड़ेगा। अतः इसे सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।

सामाजिक प्रगति : सामाजिक प्रगति के अर्थ के संबंध में यद्यपि भिन्न-भिन्न धारणाएं प्रचलित हैं, परंतु इन सब धारणाओं के आधार पर प्रगति के अर्थ के संबंध में एक सामान्य विचार निश्चित करना अपेक्षित है। सामाजिक प्रगति के संबंध में सबसे पहली बात यह है कि यह केवल सामाजिक परिवर्तन नहीं है। सामाजिक परिवर्तन निरुद्देश्य या परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। सामाजिक प्रगति में यह बात नहीं होती। दूसरे शब्दों में, जब परिवर्तन किसी इच्छित दिशा की ओर होता है, तो वह प्रगति का सूचक होता है। प्रगति केवल किसी व्यक्ति के आगे बढ़ने को भी कहते हैं, लेकिन जब कोई सामाजिक समूह या सामाजिक इकाई आगे बढ़ती है, तो उसे सामाजिक प्रगति कहते हैं। प्रगति के अर्थ को ठीक समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि समाज की उसी उपलब्धि को प्रगति माना जा सकता है, जिसमें मनुष्य के सुख की वृद्धि होती है, यद्यपि यह जानना बहुत ही कठिन है कि किस कार्य से मनुष्य के सुख में वृद्धि होती है और किस कार्य से नहीं। कुछ लोग किसी कार्य को सुखकर समझ सकते हैं और दूसरे लोग उसी कार्य को दुखकर। यही कारण है कि विश्व में ऐसे बहुत समाज हैं, जिनको कुछ लोग प्रगतिशील मानते हैं, जबकि दूसरे लोग ऐसा नहीं मानते।

लेस्टरवार्ड का कहना है, "प्रगति वह है, जो मानवीय सुख की वृद्धि करती है। मैकआइवर का मत है कि "प्रगति में सामाजिक परिवर्तन की दिशा नहीं, अपितु इसमें किसी अंतिम लक्ष्य की ओर ले जानेवाली दिशा का विचार सन्निहित है।"

प्रगति की विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं: (1) प्रगति में वांछित उद्देश्य की पूर्ति होती है, (2) प्रगति परिवर्तन का सूचक है, (3) प्रगति सामूहिक होती है, (4) प्रगति में हानि-लाभ दोनों संभव हैं, तथा (5) प्रगति स्वाभाविक नहीं है। प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है।

सामाजिक प्रतिरक्षा : सामाजिक प्रतिरक्षा का प्रयोजन ऐसे सामाजिक दोषों से समाज की रक्षा करना है, जो कानून भंग करनेवाले व्यक्तियों की कार्रवाइयों से पैदा होते हैं। अतः प्रतिरक्षा के अंतर्गत बाल अपराधी, वेश्याएं, अविवाहित माताएं, भिक्षुक और वयस्क अपराधी आते हैं। प्रतिरक्षा संबंधी कार्य के दो पक्ष हैं: (1) अपराधियों को पकड़ना, और (2) उनका सुधार करना। सामाजिक कार्यकर्ता का संबंध सुधारात्मक पक्ष से है।

समाजविज्ञानों तथा सामाजिक शोध के विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक प्रतिरक्षा का क्षेत्र इधर कुछ वर्षों में बहुत विस्तृत हो गया है और तत्वसंबंधी कार्यों का महत्त्व भी बहुत बढ़ गया है। आजकल दंड की अपेक्षा सुधार पर जोर दिया जाता है। अपराधी व्यक्ति को दंडित करना अपर्याप्त माना जाता है। अतः इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि अपराध के मूल में स्थित कारणों का पता लगाया जाये। इसके लिए व्यक्ति का उसके पर्यावरण के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है। अतः अपराध की ओर प्रवृत्त करनेवाले पर्यावरण संबंधी प्रभावों को समझने की कोशिश की जाती है। सुधार-कार्य अपराधी के दंडित या कैद हो जाने के बाद नहीं, बल्कि उसी समय शुरू हो जाता है, जब वह पकड़ा जाता है और उसके बारे में यह जानकारी मिलती है। सुधार-कार्य का अंत भी जेल से रिहाई के साथ नहीं हो जाता। यह कार्य उस समय तक चलता रहता है, जब तक व्यक्ति का जीवन में पुनर्वास नहीं हो जाता। इसके लिए सामाजिक कार्यकर्ता को मानव-व्यवहार तथा सामाजिक गठन की जानकारी होनी चाहिए। इस जानकारी के सहारे वह अपराध करनेवाले को समझाने का और उसका पुनर्वास कराने का यत्न करता है।

सामाजिक वर्ग : वर्ग का सामान्य अर्थ है समान सामाजिक स्तरवाले व्यक्तियों का एक समूह। मैकआइवर के शब्दों में "सामाजिक वर्ग समुदाय का ऐसा भाग होता है, जो अपने विशिष्ट सामाजिक स्तर के कारण दूसरों से भिन्न होता है।" इसी प्रकार की परिभाषा लेपियर ने दी है: "एक सामाजिक वर्ग एक स्पष्ट सांस्कृतिक समूह है, जिसे संपूर्ण जनसंख्या में एक विशेष स्थिति या पद प्रदान किया जाता है।"

लेपियर इस बात पर बल देते हैं कि अपनी विशिष्ट संस्कृति के कारण मनुष्य अन्य व्यक्ति-समूहों से भिन्न होता है तथा एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग का निर्माण करता है। आगबर्न तथा निमकाफ वर्ग के सदस्यों की समानता पर बल देते हैं। उनके अनुसार "सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है, जिनका समाज में समान सामाजिक स्तर होता है।" क्यूवर की परिभाषा भी आगबर्न तथा निमकाफ के समान ही है: "सामाजिक वर्ग या सामाजिक स्तर जनसंख्या का एक विशिष्ट भाग है, जिसके सदस्यों का सामाजिक स्तर समान होता है।" गिन्सबर्ग का कहना है कि सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो समान वंशपरंपरा, समान व्यवसाय या समान धन एवं शिक्षा के कारण एक प्रकार का जीवन-यापन करने लगते हैं तथा एक ही प्रकार के विचार रखने लगते हैं। उनका एक ही प्रकार का व्यवहार हो जाता है और एक ही प्रकार के मनोभाव एवं अभिवृत्तियां हो जाती हैं। वे इन समस्त गुणों की समानता के कारण अथवा इनमें से किसी एक गुण की समानता के कारण एक दूसरे से समानता की हैसियत से मिलते हैं और समाज उनका स्तर समान समझता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि वर्ग निर्माण के दो आधार होते हैं:

(क) वस्तुगत आधार : समान आयु, शिक्षा, जाति, कुल निवास-स्थान, उद्यम या व्यवसाय के आधार पर बने वर्ग वस्तुगत आधार पर निर्मित होते हैं। कार्ल मार्क्स ने उत्पादन के साधनों के आधार पर दो वर्ग बतलाये हैं: (1) पूंजीपति वर्ग और (2) श्रमिक वर्ग।

(ख) भावात्मक आधार : विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक चेतना रखनेवाले व्यक्ति, अपनी इन विभिन्नताओं के कारण जब अपने को दूसरे व्यक्तियों से पृथक् समझने लगते हैं अथवा उपर्युक्त समानताओं के कारण जब वे अपने को दूसरों के समान समझने लगते हैं,

तब सामाजिक वर्गों का निर्माण होता है। आर्थिक आधार पर एक और प्रकार का वर्गीकरण होता है: उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग।

भावात्मक आधार का दूसरा वर्गीकरण है: कर्मठ वर्ग तथा विलासी वर्ग। कर्मठ वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं, जो काम करके अपनी जीविका चलाते हैं: जैसे, कृषक, श्रमिक, व्यवसायी और कारीगर आदि। विलासी वर्ग वह है, जो अपनी पैतृक आय के बल पर दूसरों का शोषण करके विलासी जीवन व्यतीत करते हैं।

सामाजिक वर्गों के प्रमुख लक्षण हैं: (1) श्रेणीबद्धता, (2) ऊंच-नीच की भावना, (3) वर्ग चेतना, (4) व्यक्तियों के लिए वर्ग-परिवर्तन की सुविधा, और (5) वर्ग संघर्ष।

(1) सामाजिक वर्गों की अनेक श्रेणियां होती हैं। आय के आधार पर कुछ उच्च वर्ग होते हैं, कुछ मध्य वर्ग और कुछ निम्न वर्ग। सरकारी नौकरियों में चार श्रेणी के अफसर या कर्मचारी होते हैं, प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तृतीय श्रेणी तथा चतुर्थ श्रेणी। इसी प्रकार जाति के आधार पर सामाजिक वर्गों की अनेक श्रेणियां होती हैं, ब्राह्मण अपने को अन्य जातियों से उच्चतर समझते हैं। शेख अपने को अंसारियों से उच्चतर समझते हैं। गोरे अपने को नीग्रो से उच्चतर समझते हैं। अभिप्राय यह है कि सामाजिक वर्गों का प्रथम लक्षण उनका अनेक श्रेणियों में विभक्त होना है, यथा उच्च, उच्चतर, उच्चतम, निम्न, निम्नतर, निम्नतम। प्रत्येक वर्ग में अनेक उपवर्ग भी होते हैं, जैसे, व्यापारी वर्ग में कोई व्यापारी करोड़पति होता है, तो कोई छोटा दुकानदार, और कोई केवल फेरी लगाता है।

(2) सामाजिक वर्गों में ऊंच-नीच की भावना पायी जाती है। यह भावना आर्थिक कारणों से जन्म लेती है। प्रथम श्रेणी का अफसर अपने को उच्चतम समझता है, विश्वविद्यालय का प्रोफेसर कालेजों के प्राध्यापकों से अपने को उच्चतर समझता है और धनवान निर्धनों को हेय दृष्टि से देखते हैं।

(3) प्रत्येक वर्ग के सदस्य अन्य वर्ग के सदस्यों की अपेक्षा अपने को उच्चतर या निम्नतर समझते हैं, इसलिए वे अपने ही वर्ग के सदस्यों से आपस में मिलते जुलते हैं और सामाजिक संपर्क स्थापित करते हैं। इस प्रकार उनमें वर्ग-चेतना उत्पन्न होती है, जो आगे चलकर सामाजिक क्रांति में सहायक होती है। वर्ग चेतना के लिए अन्य वर्गों की स्थिति अनिवार्य है। एक वर्ग अपने को दूसरे से तब पृथक् समझता है, जब समाज में उससे उच्च या निम्न वर्ग की श्रेणियां विद्यमान हों। इसे यों कह सकते हैं कि वर्ग-चेतना सापेक्ष होती है।

(4) सामाजिक वर्ग अनावृत्त वर्ग हैं। सामाजिक वर्गों का आधार जन्म नहीं होता, कर्म होता है। जीवन में उन्नति करने पर व्यक्ति उच्चतर वर्ग का सदस्य हो जाता है और अवनति करने पर नीचे की ओर खिसक जाता है। अत: वर्ग जाति की तरह आवृत्त व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार सामाजिक वर्ग में उतार-चढ़ाव होता रहता है।

(5) यद्यपि ऐसा माना जाता है कि निम्न वर्गों के लोग भी प्रयत्न करने पर उच्च वर्गों में पहुंच सकते हैं, कितु वर्गयुक्त समाज में सत्ता उच्च वर्गों के हाथों में होने के कारण, निम्न वर्गों के लोग हमेशा दलित, शोषित और उत्पीड़ित ही रहते हैं। इसलिए जब उनमें वर्ग चेतना उत्पन्न होती है, तो वे सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं। यह वर्ग-संघर्ष समाजवाद में पाये जानेवाले वर्गरहित समाज की स्थापना के लिए आवश्यक होता है।

प्राय: एक वर्ग के व्यक्ति अपने ही वर्ग में विवाह करते हैं, किंतु वर्ग अनावृत्त व्यवस्था है, इसीलिए लड़का या लड़की अपने व्यक्तिगत गुणों के बल पर अपने से उच्च या निम्न वर्ग में विवाह कर सकते हैं। किंतु प्रत्येक वर्ग की अपनी एक संस्कृति होती है, जिसे रहन-सहन का ढंग भी कहा जाता है। इसके कारण अपने से निम्न वर्ग वालों से तालमेल बिठाना कठिन हो जाता है और असमान वर्गों की पति-पत्नी में एक प्रकार का छोटा-मोटा वर्ग-संघर्ष शुरू हो जाता है।

सामाजिक विघटन : समाज में विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक संस्थाएं बनायी जाती हैं। ये संस्थाएं जब अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में विफल हो जाती हैं, जब इन संस्थाओं तथा उनके सदस्यों के पारस्परिक संबंध टूटने लगते हैं, और जब सामाजिक नियंत्रण समाप्त हो जाते हैं, तब उस स्थिति को सामाजिक विघटन की स्थिति कहा जाता है। इसी स्थिति को आगबर्न तथा निमकाफ ने

इस प्रकार वर्णित किया है : "जन-वर्ग जैसी किसी सामाजिक इकाई, किसी सामाजिक संस्था, या किसी समुदाय के कार्य जब नष्ट होने लगते हैं, तो सामाजिक विघटन आरंभ हो जाता है।"

इलियट तथा मैरिल का कहना है कि "सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है, जिससे किसी वर्ग के सदस्यों के बीच के संबंध या तो टूट जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं।"

अनेक समाजशास्त्रियों की प्रमुख परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक विघटन के निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं :

(1) सबसे पहले समाज के सदस्यों के पवित्र विचारों का ह्रास होता है।

(2) उनमें कृत्रिमता आ जाती है।

(3) उनमें व्यक्तिगत रुचियों, स्वार्थों, तथा महत्ता की वृद्धि हो जाती है।

(4) निर्बाध भोग-विलास की तृष्णा बढ़ जाती है।

(5) व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत अधिकारों को बल मिलने लगता है।

(6) सदस्यों में परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो जाता है।

(7) सामाजिक मूल्य तथा प्रवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं।

(8) नियमहीनता या प्रतिमानहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सामाजिक विघटन की अवस्था समाज की असामान्य अवस्था होती है। प्रायः सामाजिक परिवर्तन सामाजिक विघटन का कारण बनता है। परंतु सामाजिक विघटन भी पूर्ण नहीं होता। विषम परिस्थितियों में भी समाज का कुछ न कुछ संगठन अवश्य बना रहता है। जब समाज के विभिन्न सदस्य अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग आलापने लगते हैं, सामाजिक लोकाचारों, आदर्शों, रीति-नीतियों और जीवन के सामान्य लक्ष्यों तथा समाज की प्रथाओं के प्रति लोगों की श्रद्धा कम होने लगती है, तब सामाजिक विघटन फैलने लगता है।

सामाजिक विघटन कई कारणों से हो सकता है, यथा, (1) सामाजिक परिवर्तन, (2) सांस्कृतिक पिछड़ापन, (3) सामाजिक अभिवृत्तियां, (4) सामाजिक मूल्य, (5) सामाजिक संरचना, (6) सामाजिक संकट, (7) युद्ध, (8) बीमारी, (9) गरीबी, (10) बेकारी, और (11) जनसंख्या-वृद्धि।

सामाजिक संघर्ष : यह एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा दो या अधिक पक्षों के व्यक्ति एक-दूसरे का बलपूर्वक, धमकी या हिंसा द्वारा विरोध, प्रतिकार या दमन करने का प्रयास करते हैं। एक पक्ष अपने विरोधी पक्ष के मार्ग में बाधाएं डालने का भरसक प्रयास करता है। इसमें धमकी से भरा हुआ प्रचार या प्रोपेगंडा भी प्रयोग में लाया जा सकता है। कई बार अहिंसात्मक ढंग से भी संघर्ष किया जाता है। हिंसात्मक और धमकीपूर्ण संघर्ष के उदाहरण मिल-मालिकों व मजदूरों के झगड़ों, कल-कारखानों की तालाबंदी, राजनैतिक दलों की परस्पर विरोधी प्रक्रिया, विद्यार्थी-अनुशासनहीनता, पीढ़ियों के मतभेद, पूंजीवाद और साम्यवादी देशों के परस्पर विरोध, ईर्ष्या-द्वेष और धमकीपूर्ण व्यवहार, गोरे और काले लोगों के संघर्ष, सवर्ण और हरिजनों के परस्पर विरोध तथा विभिन्न धर्मावलंबियों में पारस्परिक विरोध व संदेह की भावना के रूप में प्रकट होते हैं। महात्मा गांधी द्वारा चलाया गया सत्याग्रह आंदोलन अहिंसात्मक संघर्ष का एक उत्तम उदाहरण था। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में संघर्ष के अनेक भयंकर परिणाम निकलते हैं, जो युद्धों, मार-पीट, दंगों, मनोवैज्ञानिक दबाव या दमन, गरीबी, शोषण आदि के रूप में हो सकते हैं। कई बार संघर्ष से वांछित लाभ भी होता है। समाज में प्रचलित दोषों और बुरी परंपराओं, शोषक वर्गों तथा समाज के बाह्य और आंतरिक शत्रुओं के साथ संघर्ष किये बिना और उनको दबाये बिना समाज का स्वस्थ विकास नहीं हो सकता है। विश्व शांति के लिए भी यह आवश्यक होता है कि ऐसे देशों को बलपूर्वक, धमकी से या अन्य किसी प्रकार के राजनैतिक और आर्थिक संघर्ष द्वारा दबा दिया जाये। सदियों से दासता के बंधन में बंधी हुई विश्व के कई देशों की जनता ने संघर्ष द्वारा इस शताब्दी में स्वतंत्रता प्राप्त की है।

सामाजिक संविदा : व्यक्ति और समाज के संबंध की व्याख्या के लिए जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें से एक 'सामाजिक संविदा का सिद्धांत' या व्यक्ति-

रचित समाज का सिद्धांत है। उसके अनुसार व्यक्तियों ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए समाज का स्वयं निर्माण किया। इस सिद्धांत के प्रतिपादक थामस हॉब्स हैं। उनका कहना है कि मनुष्य के समस्त व्यवहारों का प्रेरक कारण आत्मरुचि होती है। स्पिनोजा ने भी हॉब्स के विचारों का समर्थन किया था और कहा था कि समस्त जीवों में जीवित रहने की अदम्य लालसा होती है। वे दूसरों की इच्छाओं और भावनाओं की चिंता न करके, अपने व्यक्तित्व के विकास की चिंता में लगे रहते हैं। विकासवाद का सिद्धांत भी हॉब्स के सिद्धांत का समर्थन करता है। हॉब्स कहते हैं कि मनुष्य अपने आदिम अथवा प्राकृतिक रूप में सदैव संघर्षों में व्यस्त रहता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से लड़ता रहता है, इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए भय का कारण बना रहता है। इस प्राकृतिक अवस्था में न तो संपत्ति की रक्षा हो सकती है, न कोई विधान हो सकता है, न न्याय की व्यवस्था ही हो सकती है।

हॉब्स का यह कथन बहुत प्रसिद्ध हो गया है कि मनुष्य अपनी मूल प्राकृतिक अवस्था में दरिद्र, नीच, जंगली तथा क्षणजीवी था। इस विपत्तिजनक अवस्था से अपनी रक्षा के लिए मनुष्यों ने मिलकर एक समझौता किया और समाज का निर्माण किया। उन्होंने यह समझौता किया कि हम एक-दूसरे के अधिकारों की उपेक्षा नहीं करेंगे, अपने स्वार्थ की पूर्ति करते समय सदैव यह ध्यान रखेंगे कि दूसरों के साथ मिलकर रहेंगे। एक साथ मिलकर रहने से विचारों के आदान-प्रदान के लिए भाषा का विकास हुआ और इस प्रकार हमें भयावह एकाकीपन से बचने के लिए एक साधन उपलब्ध हुआ। परंतु इस जबानी समझौते से कुछ मनुष्यों ने अपनी स्वार्थपूर्ति की तथा समझौते को तोड़ना आरंभ कर दिया, जिससे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। अतः उन्हें किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता हुई, जो उनके व्यवहारों पर नियंत्रण रख सके और समझौते तोड़ने पर दंड दे सके। इस प्रकार व्यक्ति ने अपनी इच्छा से अपने कल्याण के लिए समाज और राज्य का निर्माण किया। एक संविदा बनाकर अपने उच्छृंखल आचार-विचारों पर स्वयं प्रतिबंध लगा दिये। यही सामाजिक संविदा का सिद्धांत है।

एडम स्मिथ का कहना है कि मनुष्य ने आर्थिक सहयोग के लिए समाज की रचना की। जब उन्होंने देखा कि एकाकी रहकर वे अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकते, तो उन्होंने आपस में समझौता किया कि आर्थिक उत्पादन के लिए वे एक-दूसरे के साथ सहयोग करेंगे। इस सहयोग का प्रथम परिणाम कुटुंब के रूप में दिखायी पड़ा। फिर अनेक कुटुंबों के समुदाय बने, जिनका उद्देश्य संपूर्ण कुटुंबों के कल्याण को दृष्टि में रखकर आर्थिक उत्पादन में योगदान करना था। इसके बाद समाज बने। अतः समाज के लिए संविदा या समझौता करना पड़ा।

18वीं शताब्दी के व्यक्तिवादियों का कथन है कि प्रकृति ने सब व्यक्तियों को स्वतंत्र और समान पैदा किया है। मनुष्य ने अपनी आत्मरक्षा के लिए अपने को सामाजिक नियमों में बांध लिया। अपने को बांधने के लिए उसने स्वयं नियम बनाये व स्वयं सामाजिक व्यवस्था बनायी। जान लॉक कहते हैं कि व्यक्ति ने अपनी सुविधा के लिए समाज की रचना की। व्यक्तियों के संबंधों में यदि एकरूपता न हो, तो उनका एक साथ रहना असंभव हो जायेगा। हॉब्स एवं लाक की दृष्टियों में अंतर यह है कि हॉब्स तो मनुष्य को विवेकहीन, जंगली पशु कहते हैं, किंतु लॉक उसे विवेकशील प्राणी मानते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य सामान्यतः प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने की प्रेरणा देते हैं। इसलिए व्यक्तियों के बीच संघर्ष छिड़ने की संभावना हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को जब ठीक कहने लगता है, तब एक न्यायाधिकारी की आवश्यकता पड़ती है, जो निर्भय तथा निष्पक्ष रहकर न्याय प्रदान कर सके। यही समाज का कार्य है, जिसका निर्माण मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए किया है। उपर्युक्त विवेचनाओं से स्पष्ट है कि मनुष्य ने अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखकर समाज की रचना की है।

उपर्युक्त सिद्धांत से यह अभिप्राय निकलता है कि एक समय ऐसा था, जब व्यक्ति थे, किंतु समाज नहीं था। जब व्यक्तियों ने देखा कि उनका एकांत और स्वार्थ उनके उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक बन रहा है, तब उन्होंने मिलकर आपस में समझौता किया और इस प्रकार समाज बन गया। किंतु ऐसे ऐतिहासिक काल की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जब व्यक्ति था लेकिन समाज नहीं था। इस दृष्टि से देखा जाये तो यह बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती है कि यह कल्पनातीत विचार है।

सामुदायिक कल्याण : सामुदायिक कल्याण का अभिप्राय एक क्षेत्र विशेष में रहनेवाले लोगों के जीवन को उत्तम बनाने के लिए उनकी शिक्षा, आवास, परिवहन, स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा जीवनोपयोगी अन्य सुविधाओं को प्रदान करना है। सामुदायिक कल्याण के कार्यक्रम लागू करते समय तीन लक्ष्य सामने होते हैं :

(1) सामाजिक आवश्यकताओं का निर्धारण करना।

(2) लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सावधानीपूर्वक आयोजन करना।

(3) इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समुदाय की शक्तियों को गतिशील बनाना।

आजकल लोक-कल्याणकारी राज्य सामुदायिक कल्याण की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं।

सामुदायिक कल्याण सेवाएं : भारत में सामुदायिक विकास तथा सामुदायिक संगठन नये नाम हैं। जब पंचवर्षीय योजनाओं के अंग के रूप में ग्राम विकास परियोजनाओं को शुरू किया गया था, तो इन परियोजनाओं को 'सामुदायिक विकास' का नाम दिया गया था। किंतु इस समय सामुदायिक विकास का अर्थ किसी भी समुदाय का कल्याण तथा विकास संबंधी कार्य है और वह समुदाय, ग्रामीण, नागरिक तथा जनजातीय आदि कैसा भी हो सकता है। पश्चिमी देशों में सामुदायिक संगठन का कार्य है, वर्तमान सेवाओं में प्रभावी समन्वय स्थापित करना, धन इकट्ठा करना, नवीन सेवाओं के संगठन में सहायता करना और नयी समस्याओं के प्रसंग में जनता को प्रशिक्षित करने में सहायक होना। इसके अंतर्गत सामुदायिक प्रयास से इन समस्याओं को हल किया जाता है। भारत में समुदाय के सदस्यों को ऐसी समाज कल्याण सेवाएं प्रदान करने का प्रयास किया जाता है, जैसे शिशु विहार, बालबाड़ी, समाज शिक्षा, प्रसूति सेवाएं, मनोरंजनात्मक क्रिया-कलाप आदि। इस प्रकार कार्यक्षेत्र के साथ ही सामुदायिक संगठन एक कार्य-विधि भी है। सामुदायिक विकास योजना का आरंभ होने के बाद भारत में सामुदायिक संगठन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा प्रशासकों का ध्यान नगरों में कतिपय सेवाओं की आवश्यकता की ओर गया है। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने सन् 1958 में योजना के अंतर्गत नगरों में मार्गदर्शी परियोजनाएं चलाने का निश्चय किया था, जिनमें रैनबसेरे की परियोजनाएं भी थीं। अब इस क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव हो चुका है। दिल्ली के नगर निगम ने भी सन् 1959 में फोर्ड फाउंडेशन के सहयोग से एक अन्य योजना शुरू की है। उसके पश्चात् बड़ौदा, कलकत्ता, और दूसरे महानगरों में यह काम आरंभ हुआ।

सामुदायिक संगठन की विधि विभिन्न समुदायों के प्रसंग में काम में लायी जाती है, जैसे, नगर समुदाय, ग्राम समुदाय, जनजातीय अथवा हरिजन समुदाय आदि। सेवाओं का संगठन सामुदायिक केंद्र से किया जाता है और सामुदायिक केंद्र की सेवाओं में स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास गृह, मनोरंजन, पोषण तथा समाज-कल्याण से संबद्ध सेवाएं होती हैं, जिनका संगठन समुदाय के लिए स्वयं समुदाय करता है। सामुदायिक केंद्र के कार्य का आधार स्वयं सहायता है।

सामुदायिक संगठन : सामुदायिक संगठन सामाजिक कार्य का एक प्रक्रम है और साथ ही उसका कार्यक्षेत्र भी। दोनों ही अर्थों में इसका प्रयोग होता है। अन्य व्यवसायों में भी ऐसा होता है। शिक्षा का भी प्रक्रम के साथ ही कार्यक्षेत्र के अर्थ में प्रयोग होता है। चिकित्सा एक प्रक्रम है और साथ ही एक कार्यक्षेत्र भी। कानून के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सामुदायिक संगठन समाज कार्य का एक अंग और विधि है।

सामुदायिक संगठन में किसी भौगोलिक क्षेत्र के सामाजिक साधनों को वहां की संपूर्ण एवं आंशिक समाज कल्याण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रभावशाली ढंग से लगाने का प्रयास किया जाता है। इसके क्रियात्मक संगठन में तथ्यान्वेषण, समन्वय, स्तर-सुधार, व्याख्या, समाज कल्याण संबंधी कार्यक्रमों का विकास, सामाजिक कार्य की क्रियात्मक संरचनाओं में परिवर्तन और सामाजिक कानूनों का संशोधन-संवर्धन सम्मिलित होते हैं।

सामुदायिक संगठन के चरण इस प्रकार हैं :

(1) समुदाय का विधिवत सर्वेक्षण।

(2) समुदाय की सामाजिक आवश्यकताओं का पता लगाना और उनमें प्राथमिकताएं निश्चित करना।

(3) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्यमान साधनों का पता लगाना।

(4) समाज कल्याण के कार्यक्रम में बाधक सामाजिक बुराइयों तथा सामाजिक अयोग्यताओं का निवारण तथा उनकी रोकथाम।

(5) आवश्यकताओं और साधनों को स्पष्ट रूप से बताना और निरंतर बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधनों का लगातार मेल बैठाते रहना।

सामुदायिक संगठनकर्ता समुदाय में जागृति उत्पन्न करता है। वह समुदाय की सहायता इस प्रकार करता है कि समुदाय अपनी आवश्यकताओं, साधनों और समस्याओं के समाधान के तरीकों से परिचित हो जाये। समुदाय को शिक्षित करने और उसे अपने सर्व-सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त कार्योन्मुख करने के लिए सामुदायिक संगठनकर्त्ता को अपने प्रक्रमगत अवस्थाओं, माध्यमों तथा प्रविधियों का अनुसरण तथा प्रयोग करना पड़ता है।

सामुदायिक संगठन की विधि का उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में किया जा सकता है। इसके कुछ कार्यक्षेत्र हैं: आर्थिक क्षेत्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़कें और मकान, मनोरंजन सांस्कृतिक क्रिया-कलाप, सामाजिक सेवा आदि।

सुजननशास्त्र : सुजननशास्त्र वह विज्ञान है, जिसमें उन सिद्धांतों के प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है, जिनसे उत्तम प्रकार की नस्लों को उत्पन्न करना संभव हो। विभिन्न मानव नस्लों की विशेषताओं, अशुद्धियों, शारीरिक और मानसिक क्षमताओं आदि की सही जानकारी की जाती है तथा मेंडल के नियम व अन्य कई नियमों की सहायता से वंशपरंपराओं में सुधार लाने का प्रयास किया जाता है। यह विज्ञान विवाह के इच्छुक व्यक्तियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान कर सकता है कि उन्हें किस प्रकार का जीवन-साथी चुनना चाहिए, जिससे कि उत्तम योग्यताओं या विशेषताओंवाली संतानें जन्म ले सकें। पिछड़ी हुई नस्लों व राष्ट्रों के उत्थान में इस शास्त्र का अत्यंत महत्त्व है।

सुधार : प्रायः सामाजिक आचार-विचारों में समयानुसार कुछ परिवर्तन होता रहता है। लेकिन कुछ आचार-विचार रूढ़ि बन जाते हैं, जिनमें सहज रूप से परिवर्तन नहीं होता। ऐसी रूढ़ियों और सामाजिक तत्त्वों में व्यष्टि तथा समष्टि की भलाई को दृष्टिगत करते हुए समय के अनुकूल कुछ परिवर्तन किया जाता है, जिसे सुधार कहते हैं। सुधार व्यक्तिगत और समाजगत दोनों प्रकार के होते हैं; क्योंकि उपर्युक्त परिवर्तन व्यक्ति से शुरू होकर ही समाज तक व्याप्त होता है। व्यक्तिगत सुधार का संबंध मुख्य रूप से मनोविज्ञान से है। समाज-सुधार मानव संस्कृति तथा इतिहास का एक मुख्य तथा अनिवार्य अंग है। कुछ प्रथाएं और आचार, चाहे उनका प्रारंभिक उद्देश्य कितना ही अच्छा हो, मानव की स्वार्थ भावना तथा कुत्सित मनोवृत्ति के कारण दूषित होकर कुरीति बन जाते हैं और ये कुरीतियां रूढ़मूल होकर सामाजिक क्रियाकलापों का अनिवार्य अंग-सा बन जाती हैं। वर्ण-व्यवस्था इसका एक उदाहरण है।

सामाजिक आचार-विचारों के प्रति तीन प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं—रूढ़िवादी, सुधारवादी तथा क्रांतिकारी दृष्टिकोण। रूढ़िवादी सामाजिक आचार-विचारों को अविच्छिन्न और अपरिवर्तनीय मानते हैं, तो सुधारवादी उनके मूल सिद्धांतों पर आघात किये बिना कुछ समयानुकूल परिवर्तन लाना चाहते हैं। क्रांतिवादी समग्र परिवर्तन या रूपांतरण को ही अपना ध्येय मानते हैं। किसी भी सामाजिक परिवर्तन के पीछे ये तीन दृष्टिकोण क्रियाशील दीखते हैं। इनमें अगर एक प्रकार का संतुलन नहीं होता, तो सामाजिक सुधार असंभव होता है। ज्ञान-विज्ञान के प्रचार और सांस्कृतिक प्रतिमानों के बदलने से सामाजिक व्यवस्था में कई प्रकार के सुधारों की अपेक्षा होती है। इन सुधारों से ही समाज अपने को स्वस्थ और समयानुकूल बनाये रखता है। (दे० समाज सुधार)

सुन्नत : विश्व की कई जनजातियों तथा सभ्य जातियों में भी यह प्रथा प्रचलित रही है कि लड़कों की सुन्नत की जाये। यौवनारंभ संस्कारों में यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्कार होता है। केन्या में रहनेवाले किपसीगीज में लड़कों की सुन्नत की जाती है। उनके लिंग का आगे का भाग समुदाय के वयोवृद्ध व्यक्तियों के आगे काटा जाता है, लेकिन ऐसा करने से पूर्व कई दिनों तक उसकी शारीरिक कष्ट सहने की क्षमता की परीक्षा ली जाती है। इस समुदाय में लड़कियों का भगशिश्न भी काटा जाता है। उत्तरी

अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, अफ्रीका, मध्य एशिया और मलेनेशिया में सुन्नत की प्रथाएं रही हैं, जिसका विवरण रोजामंडा सेमोर की पुस्तक 'लव इन एक्शनः दी सोशियोलोजी आफ सेक्स' में दिया गया है। मुसलमानों और यहूदियों में यह प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा का मूल उद्देश्य एक लड़के को युवा जीवन में शारीरिक और सामाजिक रूप से प्रवेश पाने का अधिकारी बनाना होता है। यौन क्रिया में आनंद की वृद्धि करने के उद्देश्य से भी लड़के-लड़कियों की सुन्नत की जाती है। लेकिन यह निस्संदेह सबसे महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। वस्तुतः इसका प्रथम उद्देश्य तो यही है कि लड़के-लड़कियों को शारीरिक कष्ट सहन करते हुए इस प्रकार की शल्य-चिकित्सा करने के उपरांत सामाजिक जीवन में युवा व्यक्ति माना जाये तथा उन्हें यौन जीवन में प्रवेश पाने का अधिकारी माना जाये। इंडोनेशिया और पापुआ की कुछ जनजातियों में लड़के के लिंग में एक लकड़ी से छेद कर दिया जाता है तथा ठीक हो जाने पर जब कभी वह संभोग करता है, तो उस छेद में कोई वस्तु फंसा लेता है जिससे, कहा जाता है कि स्त्री को अधिक आनंद प्राप्त होता है। भारतवर्ष में मुसलमानों में सुन्नत को मुसलमानी करना भी कहा जाता है। इसे एक नाई करता है। इस अवसर पर मिठाई या मीठे चावल बांटने, बकरा हलाल करने तथा गाने-बजाने के काम किये जाते हैं। सुन्नत प्रायः लड़कों की ही होती है।

सैद्धांतिक दृष्टिकोण : सैद्धांतिक दृष्टिकोण वह विचार-धारा होती है, जिसे एक समूह मानता है और जिसके साथ उसके कुछ स्वार्थ जुड़े हुए होते हैं। ब्रिटिश समाजशास्त्री कार्ल मैनहीम ने इन्हें ज्ञान के समाजशास्त्र का एक प्रमुख अंग माना है। उनके अनुसार यदि समूह के इन स्वार्थों में कोई परिवर्तन नहीं होता, तो समूह की विचारधारा में गतिहीनता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी विचारधारा जो स्वार्थों से जकड़ी होती है, व्यक्तियों को वर्तमान समस्याओं के विषय में सही जानकारी पाने के लिए बाधित करती है। मैनहीम के अनुसार प्रायः पांच प्रकार की आदर्श विचारधाराएं व्यक्तियों पर प्रभाव डालती हैं :

(क) नौकरशाही अनुदारतावाद (ब्यूरोक्रेटिक कंजर्वेटिज्म),

(ख) उदार प्रजातंत्र (लिबरल डेमोक्रेसी),

(ग) ऐतिहासिक अनुदारतावाद (हिस्टारिकल कंजर्वेटिज्म),

(घ) समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा, और

(ङ) फासिज्म।

मैनहीम की मान्यता थी कि आजकल बौद्धिक क्रिया अथवा आदर्श विचारधाराओं की उत्पत्ति शासकवर्ग से ही उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है, अन्य विभिन्न सामाजिक वर्गों के सदस्यों के सम्मिलित समूहों से भी उनका उद्गम हो सकता है। आजकल विश्व भर में उदार प्रजातंत्र तथा समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा का ही अधिक बोलबाला है।

सोपानात्मक संगठन : विश्व के प्रायः सभी समुदायों में, चाहे वे अशिक्षित जनजातीय समुदाय हों अथवा शिक्षित सभ्य समुदाय, सोपानात्मक संगठन देखने में आते हैं। एक संपूर्ण समाज दो या अधिक सोपानों, भागों, श्रेणियों या समुदायों में विभक्त पाया जाता है, जिनमें उतार या चढ़ाव का एक क्रम देखने में आता है। उदाहरणार्थ, हिंदू समाज में परंपरागत रूप से जातियों के आधार पर सोपानात्मक व्यवस्था विद्यमान रही है, सबसे उच्च ब्राह्मण, उनसे नीचे क्षत्रिय, उनसे नीचे वैश्य और सबसे निम्न स्तर पर शूद्रों को रखा गया है। ब्राह्मणों में भी जो उप-जातियां देखने में आती हैं, उनमें भी परस्पर ऊंच-नीच का एक सोपान, स्तरण या क्रम देखने में आता है। इसी प्रकार की व्यवस्था क्षत्रियों, शूद्रों और वैश्यों में भी पायी जाती है। अनेक जनजातीय समुदायों में भी बहुअंशक समाज, कुल, गोत्र, टोटम या कार्यों आदि के आधार पर कई विभिन्न संगठन पाये जाते हैं, जिनमें ऊंच-नीच की कोई व्यवस्था विद्यमान होती है।

सभ्य समाजों में आजकल वर्ग व्यवस्था का सोपानात्मक रूप देखने में आता है। सभ्य समाजों की समितियों में भी सोपानात्मक संगठन पाये जाते हैं, जैसे एक विभाग में विभिन्न पदाधिकारी होते हैं, जिनके पद, वेतन, अधिकार, कर्तव्य और उत्तरदायित्वों में परस्पर ऊंच-नीच का कोई निश्चित क्रम रखा जाता है, जिससे उस विभाग का कार्य-संचालन सफलतापूर्वक हो सके। सोपानात्मक संगठन, व्यवस्था, अनुशासन और कार्य की गति को बनाये रखने के लिए आवश्यक माना जाता है, लेकिन इससे मध्यम

और विशेषकर निम्न स्तरों पर स्थित व्यक्तियों और पदाधिकारियों की स्थिति बहुत दयनीय, निराशापूर्ण तथा दासत्वपूर्ण हो जाती है, जिससे उनमें उत्साह, साहस, कार्य करने की क्षमता आदि गुणों का ह्रास हो जाता है। अतः समाजवादी प्रजातंत्रीय व्यवस्था में सोपानात्मक संगठनों और उनकी भावना को क्रमशः कम करने की बहुत चर्चा होती है। परंतु वस्तुतः ऐसे संगठनों को कम करना बहुत ही कठिन है। यदि एक प्रकार की सोपानात्मक संगठन-व्यवस्था को बदलना चाहते हैं तो फिर कोई अन्य प्रकार की व्यवस्था आकर उसका स्थान ग्रहण कर लेती है; क्योंकि किसी भी समाज में सभी व्यक्ति समान शारीरिक, मानसिक, सामाजिक गुणों और उत्तरदायित्वों-वाले नहीं होते।

सोरोकिन, पिट्रिम एलेक्जेंड्रोविच (1889-1969) : पिट्रिम सोरोकिन आधुनिक शताब्दी के महान सामाजिक चिंतकों में अग्रणी थे। इतिहास तथा विश्व सभ्यता के संबंध में सोरोकिन का ज्ञान बड़ा व्यापक था। उन्होंने इतिहास में एक दर्शन को विकसित किया। सामाजिक प्रक्रिया की सूक्ष्म बातों के प्रति भी वे उतने ही जागरूक थे। इसी कारण समाजविज्ञानी के रूप में भी उनका महत्त्व है। सोरोकिन रूस निवासी थे, जिन्होंने अमरीका में बहुत लंबे समय तक शिक्षा-कार्य किया था।

सोरोकिन ने सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धांत को विकसित किया है। उन्होंने सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में अंतःसंबंधों तथा अंतर्निर्भरता की अवधारणा पर बल दिया है। उनके मतानुसार सामाजिक अंतर्क्रियाएं समाज की मूल इकाई हैं। व्यक्ति समाज से हमेशा संबंधित रहता है।

सोरोकिन ने संस्कृति को उस प्रत्येक तत्त्व अथवा कारक का पूर्ण योग बताया है, जिसका निर्माण या सृजन परस्पर क्रिया करनेवाले दो या अधिक व्यक्तियों के चेतन या अचेतन व्यवहार के द्वारा होता है। उनके विचार से संस्कृति में मानव-अभिव्यक्ति के सब रूप, जैसे, विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला, प्रौद्योगिकी आदि सम्मिलित हैं, यहां तक कि मानव समाज के प्रागैतिहासिक अवशेष भी, जिनकी खोज खुदाई के द्वारा की गयी है, संस्कृति के तत्त्व हैं।

सोरोकिन का कहना है कि विश्व की विद्यमान सांस्कृतिक व्यवस्था में अनेक दोष तथा अपूर्णताएं हैं। विभिन्न संस्कृतियों के दोषों का निराकरण करने के लिए उन्होंने अनेक उपाय भी बताये हैं।

सोरोकिन ने सामाजिक स्तरण की भी व्यवस्था की है। उनके मतानुसार समाज में अनेक स्तर हैं। प्रत्येक सामाजिक वर्ग के सदस्यों को कुछ विशेष अधिकार और सुविधाएं प्राप्त होती हैं। उनके कुछ कर्त्तव्य तथा उत्तर-दायित्व भी होते हैं।

समाज में सामाजिक स्तरण के कुछ ठोस रूप होते हैं। ये सामाजिक स्तरण मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं: (1) आर्थिक स्तरण, (2) राजनैतिक स्तरण, तथा (3) व्यवसायिक स्तरण। प्रायः यह देखा गया है कि जो व्यक्ति ऊंचे आर्थिक स्तर पर होते हैं, वे राजनैतिक स्तर में भी प्रायः ऊंचे स्तर ही से संबंधित होते हैं। सोरोकिन के अनुसार जब किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में कुछ परिवर्तन होता है, तब सामाजिक गतिशीलता होती है। यह सामाजिक गतिशीलता समस्तरीय अथवा विषम-स्तरीय दिशा में होती है। सामाजिक गतिशीलता का प्रभाव व्यक्तियों के व्यवहार पर पड़ता है। सामाजिक गतिशीलता के कारण ही लोग ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों को जाते हैं। सामाजिक गतिशीलता के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यापक होता चला जाता है। सोरोकिन का मत है कि समाज में जटिलता की वृद्धि सामाजिक परिवर्तन के कारण ही होती है। समाज में परिवर्तन केवल बाह्य कारणों से ही नहीं होता। सोरोकिन के मतानुसार समाज में सामाजिक एकता के अभाव में संकट उत्पन्न हो जाता है।

स्त्री-पुरुष भेद : स्त्री-पुरुष में शारीरिक अंतर तो होते ही हैं, साथ ही सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक अंतर भी होते हैं। शारीरिक रूप से प्रमुख अंतर ये हैं कि यौन-अंग स्त्रियों में योनि तथा पुरुषों में लिंग होता है। स्त्रियों के चेहरे पर बाल नहीं उगते। स्त्रियों का कद, भार और बल प्रायः पुरुषों से कम होता है। उनकी आवाज पुरुषों की आवाज से बारीक होती है। सांस्कृतिक रूप में स्त्री-पुरुषों में कई महत्त्वपूर्ण अंतर विभिन्न समुदायों में देखने में आते हैं। जिन संस्कृतियों में पितृसत्तात्मक परिवार होते हैं, वहां स्त्रियों को पुरुषों

के अधीन रहना पड़ता है, उन्हें उनसे सांस्कृतिक रूप से निम्न माना जाता है। उन्हें कई रस्म-रिवाजों और सांस्कृतिक बंधनों को मानना आवश्यक होता है, जैसे हिंदू और मुस्लिम परिवारों में उन्हें पर्दा रखना पड़ता रहा है। कई समुदायों में स्त्रियों को धार्मिक स्थानों पर जाने नहीं दिया जाता और कई समुदायों में स्त्रियों को सांस्कृतिक रूप से देवी तुल्य सम्मान दिया जाता है, तो कहीं उन्हें घृणास्पद तथा राक्षसी माना जाता है।

सामाजिक रूप से स्त्री-पुरुषों के भेद सांस्कृतिक भेदों से ही संबंधित होते हैं। कुछ समुदायों में पुरुषों को सत्ताधारी माना जाता है तथा उनका सामाजिक स्तर ऊंचा माना जाता है, जबकि कुछ में स्त्रियों को। इंग्लैंड में अब से कुछ वर्ष पूर्व तक कोई स्त्री संसद-सदस्य नहीं बन पायी थी, अमरीका में जहां स्त्री-पुरुषों में सामाजिक समानता पर अत्यंत बल दिया जाता है, अब तक कोई स्त्री राष्ट्रपति नहीं बन पायी है। भारत में स्त्रियां प्रधानमंत्री और राज्यपाल तक बन गयी हैं। प्रायः सभी समुदायों में, चाहे वे अत्यंत पिछड़े हुए घुमक्कड़ जनजातीय समुदाय हों, चाहे अत्यंत सभ्य समुदाय, आर्थिक और सामाजिक आधारों पर स्त्री-पुरुषों, लड़के-लड़कियों के कार्यों का विभाजन होता है। हमारी परंपरागत संस्कृति में खाना पकाना, बच्चों को पालना, घर की सफाई, कपड़ों की धुलाई, बरतन मांजना आदि स्त्रियों का कार्य माना जाता रहा है। जहां स्त्रियां अशिक्षा, अज्ञान तथा परंपराओं की बेड़ियों में जकड़ी रहीं, वहां उन्हें अधिक श्रम करना तथा शोषण सहना पड़ता है। निजी संस्थाओं में आज भी भारत में स्त्री मजदूरों को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी मिलती है।

शिक्षा प्रसार, प्रजातंत्र तथा स्त्रियों द्वारा सामाजिक समानता प्राप्त करने के लिए चलाये गये आंदोलन के फलस्वरूप अब स्त्रियों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक स्तरों में कई देशों में बहुत उन्नति हुई है। भारत में इन सबके बावजूद कई परंपरागत सांस्कृतिक मूल्य स्त्रियों को निम्न मानने को बाध्य करते हैं। आधुनिकीकरण के फलस्वरूप स्त्री-पुरुषों की समता ही नहीं, अपितु स्त्रियों की पुरुषों से उच्च स्थिति बनती जा रही है। आधुनिक समाजों में एक सभ्य नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह अपना मासिक वेतन तुरंत पत्नी के हाथों में थमा दे और पत्नी ही उसको व्यय करे। पत्नी ही पति और बच्चों के व्यवहार, मनोरंजन के साधनों, क्रियाओं पर बहुत अधिक प्रभाव डालती है। शिक्षित विवाहित स्त्रियां पतियों पर बहुत अधिक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व नैतिक दबाव डालती हैं। श्रृंगार, फैशन, शिक्षित व्यवहार के आधुनिक प्रतिमानों तथा आर्थिक अवसरों की उत्तरोत्तर प्राप्ति के फलस्वरूप भारत जैसे देशों में भी स्त्रियों की स्थिति अब पुरुषों से अधिक उच्च होती जा रही है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि अभी भी विश्व भर में अधिकांश पिछड़े देशों व समुदायों में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से निम्न ही देखने में आती है। कई देशों में अभी तक स्त्रियों को मताधिकार से वंचित रखा गया है। कई पद स्त्रियों को अभी तक प्राप्त नहीं होते। कुछ समुदायों में पुरुष बहुविवाह और विवाह-विच्छेद कर सकता है, परंतु स्त्रियों को यह अधिकार प्रदान नहीं किया गया है। हिंदू कोड बिल और अन्य कई सामाजिक सुधार अधिनियमों के कारण हिंदू स्त्री की दशा में बहुत महत्त्वपूर्ण सुधार हुआ है।

स्त्री-समाज : किसी भी समाज में अनेक छोटे-छोटे समाजों का अस्तित्व भी हो सकता है। उदाहरणार्थ भारतीय समाज में नवयुवकों का समाज, बच्चों का समाज, अध्यापकों का समाज, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का समाज आदि होते हैं। इसी प्रकार उनमें शिक्षित स्त्रियों का समाज, अशिक्षित स्त्रियों का समाज, नौकरी करनेवाली स्त्रियों का समाज आदि होते हैं। सभी भारतीय स्त्रियों को एक समाज का सदस्य मानकर भी उनकी समस्याओं पर चिंतन और विचार-विमर्श किया जा सकता है। स्त्रियों के समाज के लिए उपयोगी विचारों से परिपूर्ण वार्ताएं, लेख, कहानियां आदि दैनिक पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो व उपदेशकों के भाषणों और प्रवचनों के माध्यम से प्रसारित की जाती हैं। शिक्षित स्त्रियों की समस्याओं से संबंधित लेख, वार्ताएं, सर्वेक्षण आदि स्त्रियों की विशेष पत्रिकाओं, दैनिक पत्रों आदि में प्रकाशित होते हैं। स्त्रियां अपने हितों की रक्षा के लिए आजकल न्यायालय की भी सहायता लेने लगी हैं तथा राजनैतिक संस्थाओं, दलों आदि में भी भाग लेने लगी हैं। भारतीय स्त्रियां शिक्षा प्राप्ति की ओर भी सजग हो गयी हैं तथा अब जीवन के प्रत्येक पक्ष में पुरुषों से

होड़ करने लगी हैं। इन परिवर्तनों के आधार पर अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि भारतीय स्त्री-समाज पहले की भांति कूपमंडूक, परंपरावादी और पिछड़ा हुआ न होकर अब प्रगतिशील व आधुनिक होता जा रहा है। अन्य कई देशों के स्त्री-समाजों में भी ऐसा परिवर्तन आता जा रहा है।

स्पेंसर, हरबर्ट (1820-1903) : उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक चिंतकों में हरबर्ट स्पेंसर का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सामाजिक प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए 'सामाजिक उद्‌विकास' की अवधारणा को अपनाया। उनका मत था कि 'उद्‌विकास' की अवधारणा का आधार वैज्ञानिक है और प्रकृति की सब घटनाओं की व्याख्या उद्‌विकासीय दृष्टि से की जा सकती है। उन्होंने 'उद्‌विकास' की अवधारणा को मनोविज्ञान समाजविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि सभी पर लागू किया। उनका मत था कि यदि उद्‌विकाव की अवधारणा को एक केंद्रीय अवधारणा के रूप में मान लिया जाये, तो समस्त विज्ञानों में एकता स्थापित हो सकती है।



स्पेंसर का मत था कि दर्शन में पूर्णतया एकीकृत ज्ञान निहित है। उनके मतानुसार दर्शन का क्षेत्र विज्ञान की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। विज्ञान प्रकृति के एक ही पहलू के विषय में केवल आंशिक ज्ञान प्रदान करता है, जबकि दर्शन समस्त विज्ञानों की संश्लिष्ट एकता के माध्यम से ज्ञान की एक एकीकृत व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक पद्धति दार्शनिक समस्याओं के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

स्पेंसर का मत था कि विज्ञान हमें प्रामाणिक और युक्तियुक्त ज्ञान प्रदान करता है। वे उन्नीसवीं शताब्दी के जीवविज्ञानवेत्ताओं की महान खोजों से अत्यधिक प्रभावित थे। लेमार्क तथा डार्विन के उद्‌विकासवादी सिद्धांतों का उन पर भारी प्रभाव पड़ा था।

स्पेंसर के अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक इकाई है। समाज में अपने अस्तित्व के लिए व्यक्तियों में संघर्ष होता रहता है। जो व्यक्ति स्वयं को सामाजिक परिस्थितियों के पूर्णतया अनुकूल बना लेते हैं, वे जीवित रहते हैं। मानव समाज में व्यक्तियों के बीच जो संघर्ष होता है, वह प्रकृति में जीवधारियों के बीच होने वाले शाश्वत संघर्ष का ही विस्तृत रूप है। अस्तित्व के इस संघर्ष में योग्यतम ही जीवित रहते हैं। योग्यतम वे व्यक्ति होते हैं, जो अपने आपको सफलतापूर्वक अपने वातावरण के अनुकूल ढाल लेते हैं।

स्पेंसर के मतानुसार समाज व्यक्तियों का समूह है। व्यक्तियों के संकलन के बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता। समाज का एक स्वतंत्र एकाकी वस्तु के रूप में कोई अस्तित्व नहीं होता। व्यक्ति ही समाज का निर्माण करते हैं।

स्पेंसर संबंधी सिद्धांत में 'व्यक्ति' की अवधारणा पर अधिक और व्यक्ति की अपेक्षा 'सामाजिक समूहों' की अवधारणा पर कम बल दिया गया। उन्होंने मानवीय स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। उनका मत था कि जो बातें मानवीय स्वतंत्रता में बाधक हों, उनको छोड़ दिया जाना चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह व्यक्तियों को यथासंभव अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करे।

स्पेंसर के मतानुसार परिवर्तन का स्वरूप सार्वभौमिक होता है। प्रकृति में समस्त वस्तुएं परिवर्तित होती हैं। समाज में परिवर्तन उद्‌विकास की प्रक्रिया के माध्यम से होता है।

स्पेंसर का मत था कि राज्य राजनैतिक संगठन का एक रूप होता है। उनके मतानुसार राज्य व्यक्तियों का एक संगठन है। राज्य के प्रशासन के लिए एक व्यवस्था होती है जिसे 'सरकार' कहा जाता है।

1874 में प्रकाशित अपनी कृति 'प्रिंसिपल्स आफ सोशियोलाजी' में उन्होंने समाज के आंगिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

स्पेंसर के लेखों ने ब्रिटेन में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की और अमरीका में तो उन्हें उससे भी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। स्पेंसर तत्कालीन सामान्य जन के दार्शनिक थे। आज यदि उनकी कृतियां कम मिलती हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि उन्होंने समस्याओं

को तो प्रस्तुत किया पर उनका समाधान करने में असफल रहे, परंतु इसका कारण यह है कि उनकी समस्याओं में से कुछ समस्याएं ही आधुनिक समाजशास्त्र से संबंधित हैं।

हंबल्ट एलेक्जेंडर (1769-1859) : जर्मन प्रकृतवादी और पर्यवेक्षक। उनका जन्म बर्लिन में हुआ था। सन् 1790 में उन्होंने बेलजियम, हालैंड, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा की। कुछ साल बाद वे खानों के निदेशक नियुक्त हुए। सन् 1796 में उन्होंने इस नौकरी से इस्तीफा दे दिया और प्रकृति के अध्ययन में लगे रहे। सन् 1799 से 1804 तक उन्होंने मध्य और दक्षिणी अमरीका के अनेक देशों की खोजयात्रा की। इस यात्रा के दौरान उन्होंने भूगोल और मौसमविज्ञान संबंधी अनेक वस्तुएं और पांडुलिपियां संग्रहित कीं और पेरिस में आकर प्रसिद्ध रसायनविज्ञानी गे लुस्साक के साथ उन्हें व्यवस्थित किया। सन् 1807 में प्रशिया के राजा विल्हेल्म के साथ एक राजनैतिक दौत्य में भाग लेने के लिए फ्रांस गये और वहीं अपना यात्रा-विवरण लिखने में लगे रहे। सन् 1827 में वे बर्लिन लौट आये और खगोल पर अनेक व्याख्यान दिये।

सन् 1829 में सर निकोलास ने हंबल्ट के नेतृत्व में एक पर्यवेक्षक संघ को उत्तरी एशिया भेजा। इस संघ ने अन्य सफल प्रयत्नों के साथ सोना और प्लैटिनम की परतों की खोज की और कई भूविज्ञान और वनस्पतिविज्ञान संबंधी सामग्री संग्रहित की। हंबल्ट की लिखी 'एसी सेंट्रैल' नामक पुस्तक में (तीन जिल्दें) इस खोजयात्रा का वर्णन मिलता है। जीवन की सांध्यवेला में वे बर्लिन में रहे और वहीं उनकी अंतिम रचना 'कोसमोस' (खगोल) प्रकाशित हुई। इसमें भौतिक विज्ञानों के बुनियादी सिद्धांतों और उनके पारस्परिक संबंधों का विशद अध्ययन है।

भूगोल, भूविज्ञान और मौसमविज्ञान आदि के क्षेत्र में उनका योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सन् 1492 से 1803 तक अमरीका से यूरोपीय देशों में निर्यात किये गये सोना और चांदी की राशि की उन्होंने गणना की, जिस पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार की मौद्रिक विनिमय व्यवस्था आधारित की गयी। उन्होंने मध्य और दक्षिणी अमरीका की भाषाओं और मानव तथा संस्कृति के वितरण का वर्णन किया और आबादी के घनत्व और सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर परिस्थिति और आर्थिक दशाओं के प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया, जो समाज विज्ञान के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान साबित हुआ।

हॉब्स, थामस (1588-1679) : आंग्ल दार्शनिक। 15 अप्रैल, 1588 को माल्मसबरी में उनका जन्म हुआ था। बचपन में अरस्तू के दर्शन और भौतिकी में उनकी बड़ी रुचि थी। 20 वर्ष की आयु में वे केवेंडिश परिवार से एक अध्यापक के रूप में संबद्ध रहे और यह संबंध उनकी मृत्यु तक रहा। सन् 1610 में उन्होंने अपने विद्यार्थियों के साथ फ्रांस और इटली की यात्रा की। स्वदेश लौटने पर सर फ्रांसिस बेकन से उनकी घनिष्ठ मित्रता हुई। सन् 1629 में उन्होंने थूसिडाइड्स की कृतियों का अनुवाद किया और उसी साल कई यूरोपीय देशों की सैर की।

अपनी विदेश-यात्रा के दौरान गैलीलियो से उनकी भेंट हुई। गैलीलियो के सिद्धांतों और यूक्लिड के 'एलिमेंटस्' नामक ग्रंथ का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसी समय से वे ज्यामिति और भौतिकी में विशेष रुचि लेने लगे। सन् 1651 में 'लिवियातन' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। हॉब्स ने इसमें अपने राजनैतिक और सामाजिक सिद्धांतों की स्पष्ट अभिव्यक्ति की। उनका अध्ययन मानव-शरीर से शुरू होते हुए मानव और समाज तक चलता है, यानी शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान और समाजविज्ञान इन तीनों विषयों को आत्मसात् करते हुए अग्रसर होता है। प्रतिष्ठित (क्लासिकी) साहित्य में उनकी रुचि और गहरी पैठ थी। चौरासी वर्ष की आयु में उन्होंने 'इलियड' और 'ओडिसी' का गद्यानुवाद किया। 4 दिसंबर, 1679 को हार्डविक में उनकी मृत्यु हुई।

एक भौतिकवादी के रूप में हॉब्स का विचार था कि मानव के क्रियाकलापों के पीछे काम करनेवाली भावना उसकी आत्मरक्षा की इच्छा और अहम् है। अपने को सत्ता-संपन्न बनाने और वेदना से मुक्त करने की लालसा मानव-व्यवहार के पीछे सदा क्रियाशील रहती है। मानव अपनी प्राकृतिक अवस्था में न्याय, नैतिकता आदि गुणों से वंचित रहता है। लेकिन असामाजिक कार्यों से वह इसलिए दूर रहता है कि वह दंड से डरता है। सभी प्राकृतिक नियम इस सिद्धांत पर आधारित हैं। समाज में शांति और व्यवस्था तभी संपन्न होगी, जब मानव अहम् पर

नियंत्रण रखे और अपने को सत्ता-संपन्न बनाने की भाग-दौड़ से कुछ हद तक दूर रहे। अन्यथा मानव जीवन अत्यंत दुखद होगा। इस विपदा से बचने के लिए एक ऐसे शासन-तंत्र की जरूरत होती है, जो समष्टि की भलाई के लिए व्यक्ति की इच्छाओं और क्रियाओं पर नियंत्रण रखे। ऐसा सर्वाधिकार-संपन्न शासनतंत्र ही देश में शांति और व्यवस्था कायम कर सकता है। हॉब्स के सिद्धांत के अनुसार, चूंकि देश में शांति और व्यवस्था उत्पन्न करना ही शासन का कर्तव्य है, इसलिए कर इसके लिए दिया जानेवाला मूल्य है। इन विचारधाराओं को व्यक्त करते हुए हॉब्स ने संप्रभु राज्य (सॉवरेन स्टेट) की अनिवार्यता पर जोर दिया। इस संदर्भ में यह भी स्मर्तव्य है कि संप्रभु राज्य के समर्थन के पीछे इंग्लैंड की तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों का जबर्दस्त प्रभाव भी था।

हॉब्स के जीवन-काल में ही उनके सिद्धांतों का खूब विरोध हुआ था। मानव की सहज मनोवृत्तियों पर विचार करते समय हॉब्स ने ऐसी पारिवारिक और समूहगत भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया, जो मानव को असामाजिक कार्यों से अलग करती हैं। यह उनके सिद्धांतों की सबसे दुर्बल कड़ी रही। आगे चलकर लॉक जान के सिद्धांतों ने हॉब्स के विचारों पर कुठाराघात किया। फिर भी जेम्स मिल के साहचर्यात्मक मनोविज्ञान, बेंथम के उपयोगितावाद और ऑस्टिन के विश्लेषणात्मक विधितंत्र पर हाब्स के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है।

अंगामी नागा : नागा जनजाति में सबसे अधिक संख्या अंगामी नागाओं की है। ये अपने आपको तेंगीमा नाम से संबोधित करते हैं। ये नागालैंड, आसाम तथा मनीपुर में रहते हैं। मनीपुर में इनकी आबादी सिर्फ 622 है।

'नागा पहाड़ी' संभवत: अंगामी लोगों का मूल निवास स्थान नहीं है, बल्कि वे दूसरी जगह से वहां आकर बस गये हैं। कहां से, कब और कैसे आये—इसका सही पता लगाना कठिन है। ये बहुत सी श्रेणियों में बंटे हुए हैं, जिनमें खोनामा, कोहीना, विसवेमा, टेगीना, चकरीना इत्यादि मुख्य हैं।

इनका कद कुछ लंबा होता है। इनकी लंबाई साधारणत: पांच फुट नौ इंच तक होती है। साधारणत: इनकी नाक चपटी होती है तथा आंख का रंग भूरा होता है। किसी-किसी का ओठ पतला, परंतु किसी का ओठ मोटा भी होता है। केश का रंग बचपन में लाली लिये होता है, परंतु प्रौढ़ होने पर बदल जाता है। इनका रंग साधारणत: गेहुआं होता है।

इनके गांव पहाड़ों की चोटियों पर बसे होते हैं। साधारणत: इनके मकानों का रुख पूरब की ओर होता है और इसलिए ये पश्चिम को 'किसाटा' कहते हैं, जिसका अर्थ 'मकान के पीछे' होता है। प्रत्येक मकान के आगे थोड़ी खाली जगह होती है। उनके मकान लकड़ी और बांस के बने होते हैं। गांवों में बैठने के लिए कई स्थानों पर छोटे-बड़े चबूतरे बने होते हैं। ये चबूतरे पत्थर के बने होते हैं और इनकी ऊंचाई तीन-चार फुट से बीस-बाईस फुट तक होती है।

अंगामी गांवों में 'मोरूंग' या 'युवागृह' का विशेष महत्त्व नहीं होता। अन्य नागा जन-जातियों की तरह न मोरूंग के लिए अलग मकान ही होता है और न वहां युवक ही जमा होते हैं।

अन्य नागाओं की तरह अंगामी भी 'झूम' प्रणाली द्वारा खेती करते हैं। जंगल में आग लगा देते हैं। जले हुए झाड़-झंखाड़ की राख मिट्टी में मिलकर भूमि को उपजाऊ बना देती है। इस प्रकार नयी तोड़ी हुई भूमि में एक-दो वर्ष खूब उपज होती है। उसके बाद उस भूमि को छोड़ देते हैं और नयी भूमि में जंगल जलाकर वहां खेती करते हैं। इसी प्रकार वे लगातार भूमि बदलते रहते हैं। खेती की यह प्रणाली 'झूम' प्रणाली कहलाती है। इसके अलावा इनमें सीढ़ीदार प्रणाली से खेती करने की प्रथा बहुत प्रचलित है। इस तरह की खेती के लिए ढालू जमीन पर सीढ़ियां बनायी जाती हैं तथा बांध बांधकर मिट्टी कटने से रोकी जाती है। पानी की प्रचुरता के कारण इस विधि से काफी धान पैदा होता है। धान के अलावा वे मक्का, ज्वार, कपास तथा मिर्च की भी खेती करते हैं। कुल्हाड़ी, खुरपी, कुदाल, (मेटोक) इत्यादि खेती के मुख्य औजार हैं। वे मुर्गे और मधुमक्खियां भी खूब पालते हैं।

खेती के अलावा वे शिकार करते तथा मछली भी मारते हैं। अंगामी के परंपरागत औजारों के अलावा अब इनमें बंदूकें भी बहुत प्रचलित हो गयी हैं। मणीपुर की बनी सस्ती बंदूक का उपयोग अंगामी लोग शिकार के लिए करते हैं। आओ नागा एक तरह के फल और जैंग 'वालनट' के पत्ते से पानी को विषाक्त बनाकर मछली मारते हैं।

अंगामी गृह-उद्योग धंधों में भी प्रवीण होते हैं। स्त्रियां काफी महीन सूत कातती हैं और कपड़ा बुनती हैं। कपड़े पर वे तरह-तरह के बेलबूटे भी बनाती हैं। वे लोहार का काम भी जानती हैं। प्रत्येक गांव में दो-तीन परिवारों का काम लोहा लाकर उसका भाला तथा अन्य औजार बनाना होता है। वे बांस का सामान, जैसे, टोकरियां, चटाई-इत्यादि भी बनाते हैं। कुछ गांवों में मिट्टी के बर्तन भी बनते हैं। इसके अलावा वे वाद्य यंत्र, औजार, मकान, तीर-धनुष इत्यादि बनाना भी जानते हैं।

इनका प्रमुख खाद्य-पदार्थ चावल है। चावल के साथ वे कई तरह के मांस भी खाते हैं। गाय, सूअर, और मुर्गे के मांस उनके प्रिय खाद्य-पदार्थ हैं।

अंगामी लाल या काले रंग की किनारी लगी धोती पहनते हैं। किनारी चौड़ी और कहीं-कहीं पतली भी होती है। ये लोग बरसात के दिनों में पत्ते के बने टोप और उसी के बने बरसाती कोट का उपयोग भी करते हैं।

अंगामी जनजाति अन्य जातियों की तरह कई कबीलों में विभक्त है, और प्रत्येक कबीले में कई परिवार होते हैं।

प्रत्येक गांव में एक से अधिक कबीलों के परिवार रहते हैं। एक ही कबीले के सदस्य आपस में विवाह नहीं करते हैं।

अंगामी परिवार पितृसत्तात्मक है। संपत्ति का अधिकारी पुत्र होता है। पिता के जीवनकाल में ही भाइयों के बीच संपत्ति का बंटवारा हो जाता है। पुत्र शादी के बाद पिता से अलग रहने लगता है, उसको पैतृक संपत्ति का एक भाग मिल जाता है। साधारणत: छोटे-बड़े सभी भाइयों को बराबर संपत्ति मिलती है।

इनके बीच गोद लेने की प्रथा भी है। पुत्रहीन पिता अधिकतर अपने कबीले के बाहर के युवकों को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण करता है।

ये प्रेतों की पूजा करते हैं। आमतौर से ये प्रेतों को 'टरहोमा' कहते हैं। प्रेतों में सबसे मुख्य 'केपे नोपूफ' है।

अंडमान जनजाति : 'नीग्रोइड' वर्ग के अंतर्गत 'पिग्मियों' के कई प्रकारों में से एक 'नीग्रिटो' जाति ही वस्तुत: अंडमान की जाति है। परंपरागत रूप में, एशिया खंड में रहनेवाले पिग्मी 'नीग्रिटो' तथा आफ्रिका खंड में रहनेवाले पिग्मी 'नीग्रिलो' के नाम से जाने जाते हैं। एशिया खंड के पिग्मी आग्नेय-एशिया द्वीपों में बिखरे हुए मिलते हैं। ब्रिटिश सरकार द्वारा अंडमान द्वीपों को कैदियों का स्थायी निवास स्थान बनाये जाने के कारण अंडमान जाति अब करीब-करीब लुप्त होती जा रही है।

धीरे-धीरे मिटती जा रही अंडमान जाति, 19वीं शताब्दी में निर्मूलित आस्ट्रेलिया की 'टास्मेनिया' जातियों से संबद्ध है। इन दोनों जातियों के लोग मूलत: नीग्रोइड वर्ग के हैं। नीग्रिटो वर्ग से संबद्ध अंडमान जाति के लोगों के बाल ऊन जैसे होते हैं। इनका कद नाटा होता है और रंग एकदम काला होता है। इस जाति के लोगों के सिर, मुख, नाक तथा हाथ-पैर अपेक्षाकृत छोटे होते हैं।

अंडमान जाति के लोगों में आजकल चार वर्गों के लोग पाये जाते हैं। इन चारों वर्गों के लोग अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप अलग-अलग स्थानों में रहते हैं और एक दूसरे-से असंबद्ध रहते हैं। दूसरों से न जुड़कर एकदम एकांत जीवन बिताते होने के कारण धीरे-धीरे इनकी संख्या में गिरावट आ रही है। इन चारों वर्गों के लोग इस प्रकार हैं—(1) ग्रेट अंडमान द्वीपों में रहनेवाले स्नेहशील लोग, (2) दक्षिण अंडमान द्वीप के दक्षिणी भाग से लेकर मध्य अंडमान द्वीप के दक्षिणी भाग तक के फैले हुए हिस्से में रहनेवाले लोग, (3) छोटे अंडमान द्वीप में रहनेवाले 'वोंजे' जाति के लोग, तथा (4) उत्तरी सेंटिनल द्वीप में रहनेवाले 'सेंटिनल' लोग।

सबसे पहले अंडमान जाति के लोगों के बारे में विस्तार से बतानेवाला व्यक्ति था, दंडनाथ तिवारी नामक कैदी। हंफ्री के अनुसार 1867-68 के बीच इस जाति के लोगों की आबादी में काफी गिरावट आयी थी। इस गिरावट का सबसे मुख्य कारण वे तमाम छूत की बीमारियां थीं, जिनसे



अंडमान जनजाति

असंख्य लोग मर गये थे। 1876 में 'सिफलिस' रोग ने अपना घातक रूप दिखाया था और परिणामस्वरूप असंख्य लोग मरे थे। उसके बाद 1877 में चेचक के प्रकोप से 15% आबादी भी समाप्त हो गयी थी। इस बीमारी से बचे हुए लोगों में से भी दो-तिहाई लोग बहुत कम समय में ही मर गये। 1890 में 'इन्फ्लूएंजा' नामक बुखार ने भी असंख्य लोगों को चाट लिया। ऊपर कही गयी बीमारियों से बचे हुए 40 लोगों का जीवन भी अब दुर्भर हो गया है।

इन लोगों की सामाजिक व्यवस्था टूटकर बिखर गयी है। 1931–51 के बीच के सालों में इस जाति के लोगों की जनसंख्या में जो गिरावट आयी है, (90 से 40) उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में ही यह जाति पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेगी।

1900 में इन लोगों की जनसंख्या जो 6000 थी, वह 1901 में घटकर 1882 हो गयी और 1931 तक 90 हो गयी। 1951 की जनगणना के अनुसार इन लोगों की जनसंख्या केवल 40 थी। बृहत् अंडमान द्वीपों में रहनेवाले लोग 'मित्र' अंडमान जाति के हैं। अन्य द्वीपों के रहनेवाले 'जारवा', 'सेंटिनल' समूहों के लोग बाहरी दुनियां के लोगों को शत्रु समझते हैं। इसी कारण इन लोगों के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है। छोटे अंडमान द्वीप के निवासी 'ओंजे' के नाम से जाने जाते हैं।

जारवा जाति : इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ये लोग अब तक शत्रु भावना रखते हैं। जंगलों में काम करनेवाले अनेकों सरकारी नौकरों की इन लोगों ने अकारण हत्या कर दी थी। इस जाति के लोगों की सामाजिक व्यवस्था आदि के बारे में आधिकारिक जानकारी प्राप्त नहीं है।

ओंजे जाति : 'छोटे' अंडमान द्वीप में रहनेवाले इस जाति के लोग आम तौर पर स्नेहशील स्वभाव के हैं। 1948 के आसपास पूर्वी तट पर आवास बनाकर रहनेवाले ओंजे जाति के लोग दिखायी पड़े थे, किंतु 1951 में इस स्थान से ये लोग गायब हो गये। इन लोगों के बारे में की गयी खोजों के आधार पर पता चला कि ये किसी और द्वीप में जाकर बस गये थे।

सेंटिनल जाति : ये लोग भी जारवा लोगों की तरह शत्रुता की भावना रखनेवाले होते हैं। इन लोगों का द्वीप भी मुख्य द्वीपों से अलग होने के कारण इनके बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है।

आचार-व्यवहार : अंडमान जाति की जीवन-पद्धतियों का अध्ययन आई० एच० मान और उनके बाद राडक्लिफ ब्राउन ने प्रस्तुत किया था। मानवविज्ञान की दृष्टि से यह अध्ययन-अनुशीलन महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

यह जाति वस्तुतः कुछ स्थानीय स्वतंत्र समूहों का एक बिखरा हुआ जमघट है। इस तरह के प्रत्येक स्थानीय समूह में लगभग 40 लोग होते हैं, जो 'दल' के नाम से जाने जाते हैं। हर दल में कुछ संयुक्त परिवार होते हैं। ये सब लोग करीब झोंपड़ियों में रहते हैं।

एक-एक परिवार एक-एक झोंपड़ी में रहता है। अविवाहित पुरुषों के लिए एक झोंपड़ी और अविवाहित स्त्रियों के लिए एक झोंपड़ी होती है। हर परिवार के लिए अलग से खाना बनाने के लिए हर झोंपड़ी में जगह होती है। संयुक्त रूप से खाना बनाने का काम पुरुष किया करते हैं। घरों में स्त्रियां ही खाना बनाती हैं। संपूर्ण भूमि इन लोगों की संयुक्त संपत्ति मानी जाती है और पेड़ व्यक्तिगत संपत्ति। पुरुष कुत्तों की सहायता से जंगली सूअरों का शिकार, मछली मारना, तीर-कमान आदि और औजारों का निर्माण, छोटी-छोटी नावें, रस्सियां बनाना, संयुक्त भोजन बनाना आदि काम करते हैं। स्त्रियां कंद-मूलों की खुदाई करती हैं, ईंधन इकट्ठा करती हैं, पीने का पानी लाती हैं, कपड़े और जाले बुनती हैं, फल और अनाज लाती हैं, मछली पकड़ती हैं, बच्चों का पालन करती हैं, मिट्टी के बर्तनों में खाना पकाती हैं और आभूषण बनाती हैं। पुरुष जंगली सूअर या दूसरे जानवरों को संयुक्त चूल्हे में जलाते हैं और उसके हिस्से कर हर परिवार में बांटते हैं। स्त्रियां उन हिस्सों को अलग से अपने-अपने घर में पकाती हैं। अविवाहित स्त्री-पुरुष अपना खाना खुद बना लेते हैं। शाम के खाने के बाद सभी स्त्री-पुरुष गांव के बाहर इकट्ठे होकर नाचते हैं। कहानियां कहना-सुनना इन लोगों का प्रिय मनोरंजन है। अगर पर्याप्त मात्रा में खाना बचा हो तो पुरुष दूसरे दिन शिकार खेलने न जाकर औजारों के निर्माण में लग जाते हैं। इन लोगों को साल भर में कभी भी खाने की कमी नहीं पड़ती है। खाने की चीजें भी ये लोग आपस में बराबर-बराबर के हिस्सों में बांट लेते हैं। सूअर की चर्बी इन लोगों के लिए बहुत प्रिय है।

यद्यपि अंडमान जाति के लोगों को व्यक्तिगत संपत्ति पर विश्वास है, फिर भी ये लोग हर वस्तु को संयुक्त संपत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं और इसी आधार पर चीजों का इस्तेमाल भी करते हैं। इन लोगों की सामाजिक व्यवस्था अत्यंत सरल होती है। मां-बाप, भाई-बहिन, लड़के-लड़कियों को छोड़कर शेष सभी लोगों को उनकी उम्र के हिसाब से बड़े या छोटे रिश्तेदारों के रूप में ये लोग देखते हैं।

अंडमान जाति के लोगों में सामाजिकता की भावना बहुत प्रधान होती है। ये लोग बच्चों को गोद लेना बहुत गौरव की बात समझते हैं। गोद लिये जाते बच्चे का अनाथ

होना या गोद लेनेवालों का संतानहीन होना जरूरी नहीं होता। कोई भी व्यक्ति अपने मित्र से मांगकर उसके बच्चे को गोद ले सकता है। इस तरह की मांग हर हालत में पूरी की जाती है।

इस तरह, बच्चों के पालन की दृष्टि से इनके कई मां-बाप होने के कारण इनमें सामाजिक भावना पारिवारिक भावना से अधिक बलवती होती है। इस रिवाज के कारण मानव संबंधों का एक नया रूप निर्मित होता है। युवावस्था में इन लोगों को अलग झोंपड़ियों में भेज दिया जाता है। शादी होने तक ये वहीं रहते हैं। इन लोगों के विवाह भी बहुत सरल होते हैं। बूढ़े लोग विवाह निश्चित करते हैं। वधू-वर अपने मित्रों के साथ चटाई के दोनों छोरों पर बैठते हैं। बड़े लोग वधू-वर को पास लाते हैं और इसके बाद वे दोनों आपस में गले मिलते हैं। उसके बाद वर, वधू की जांघ पर बैठ जाता है। इस अवसर पर स्त्रियां विलाप करती हैं। विलाप के बाद सब लोग मिलकर नाचते हैं।

दूसरे दिन वधू-वर का सफेद मिट्टी से अलंकरण होता है। जब तक इनके एक बच्चा नहीं होता तब तक विवाह पूर्ण नहीं माना जाता है।

अंडमान जाति की कोई सुस्थापित सरकार नहीं होती है। आपसी मामलों का बूढ़े स्त्री-पुरुष फैसला करते हैं। वृद्धों में शिकार खेलने में निपुणता, युद्ध की रीतियों की जानकारी, उदारता, प्रेम-दया, सज्जनता आदि व्यक्तिगत गुण होने के कारण समाज में इनकी प्रतिष्ठा होती है। लोगों पर अधिकार चलानेवाला या रोब डालनेवाला कोई नहीं होता है। आलस इस जाति में अवगुण माना जाता है। बच्चों को दंड देने की इन लोगों में प्रथा नहीं है।

अंडमान जाति के लोग शत्रु पक्ष के लोगों के साथ शांतिपूर्ण संबंधों को स्थापित करने के लिए एक प्रकार का उत्सव मनाया करते हैं। इसमें स्त्रियां ही प्रधान भूमिका अदा करती हैं। ऐसे अवसरों पर दोनों दलों के स्त्री-पुरुष एक जगह इकट्ठे होते हैं, और साथ-साथ बैठकर विलाप



अंडमान जनजाति

करते हैं। इसके बाद दोनों दलों के लोग उसी जगह पर कुछ दिन तक मिलकर रहते हैं। सभी लोग मिलकर शिकार खेलते हैं, खाते-नाचते हैं। आखरी रोज दोनों दलों के लोग आपस में सौगात लेते-देते हैं।

मृतकों के बारे में पहले स्त्रियां और बाद में पुरुष विलाप करते हैं। शव की हजामत की जाती है, नहलाया जाता है, अलंकार किया जाता है और बाद में उसे दफनाते हैं। कुछ दिनों बाद कब्र खोदकर शव की हड्डियां और सिर लाकर यादगार के रूप में अपने पास रख लेते हैं। प्रत्येक अवसर पर विलाप करने की प्रथा अंडमान जाति के लोगों में पायी जाती है।

अंतर्विवाह : यह एक ऐसा नियम है, जिसके द्वारा विवाह-क्षेत्र की बाहरी सीमा को निश्चित किया जाता है। अंतर्विवाह का यह अधिनियम भारत में रहनेवाली हिंदू जातियों का आधार है। प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करने को बाध्य होते हैं अन्यथा उनकी संतानें संकर मानी जाती हैं और उस संतान को समाज में आदर का स्थान नहीं मिलता। जनजातियों में भी अंतर्विवाह का नियम सर्वमान्य है लेकिन जैसे-जैसे शिक्षा का विकास हो रहा है, ये बंधन धीरे-धीरे कमजोर पड़ते जा रहे हैं।

अजांडे प्रजाति : अफ्रीका की असंख्य जातियों में यह एक है। सूडान, ईशानकांगो और अफ्रीका में भूमध्यरेखा के आस-पास के प्रांत इस जाति के निवासस्थान हैं। अनुमानतः इस जाति के लोगों की जनसंख्या 20 लाख है।

खेती-बारी, शिकार, मछली मारना आदि इस जाति के लोगों की मुख्य वृत्तियां हैं। गायें, बकरियां या भेड़ें इनके पास नहीं होती हैं। चूंकि ये लोग बिखरे हुए हैं, इसलिए इनके निवास स्थान कई हिस्सों में विभक्त होकर स्वतंत्र राजाओं के पालन के अधीन हैं। (दे०-अफ्रीका की प्रजातियां)

अनंतकृष्ण अय्यर, एल० के० (1861-1937) : डा० एल० के० अनंतकृष्ण अय्यर का जन्म पालघाट जिले के लक्ष्मीनारायणपुरम नामक गांव में हुआ था। 1914 में वे इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसियेशन के मानवजाति-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष चुने गये। उसी साल वे 'राजकीय अजायबघर' तथा जियोलोजिकल गार्डन्स के निरीक्षक के रूप में भी नियुक्त हुए। फरवरी 1916 में उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर भारतीय मानवजाति-विज्ञान पर व्याख्यान दिया। 1920 में उनको कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से मानवविज्ञान विभाग के संगठन के लिए आमंत्रित किया गया। वहां वे मानवविज्ञान विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से 1932 तक रहे। 1924 में, डा० अय्यर को मैसूर राज्य के 'इथनोग्राफ़ी सर्वे' के संचालक के रूप में नियुक्त किया गया। सर्वे का परिणाम चार भागों में—मैसूर ट्राइब्स एंड कस्टम्स शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्हें इंग्लैंड तथा यूरोप में व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया गया। वहां उन्हें बहुत सम्मान मिला। फ्लोरेंस विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें एक विशेष ब्रोंज पदक प्रदान किया गया। विदेश के दौरे से वापस आने के बाद उन्हें कुर्ग के चीफ कमिश्नर द्वारा उस क्षेत्र के इथनोग्राफी सर्वे का संचालन करने के लिए निमंत्रित किया गया, जो उन्होंने डा० लीडियो सिपियानी के सहयोग से किया। डा० अय्यर अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य थे। इसके अलावा वे ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैंड के रायल एंथ्रोपोलोजिकल इंस्टीट्यूट के भी सदस्य थे। भारत सरकार ने उन्हें 1935 में दीवान बहादुर की पदवी दी। इनकी मृत्यु 1937 में हुई।

अनादर या हठ विवाह : कभी-कभी कोई युवती किसी खास पुरुष से विवाह करने की इतनी इच्छुक होती है कि सामाजिक बंधनों की चिंता किये बिना वह अपने प्रेमी के घर पहुंच जाती है तथा अपनी कार्यकुशलता के द्वारा प्रेमी के परिवार को प्रसन्न करके प्रेमी को पति के रूप में पाने की कोशिश करती है। कभी-कभी इसमें काफी समय लगता है। महीनों तक उस युवती को उस घर की नौकरानी की तरह रहना पड़ता है, केवल इसीलिए कि परिवार के लोग उसे पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार कर लें। डा० मजूमदार के अनुसार 'कन्या-मूल्य' बढ़ जाने के कारण अनेक निर्धन युवक विवाह का प्रस्ताव अपनी ओर से ले जाने में असमर्थ रहते हैं। अधिक कन्या मूल्य होने के कारण अनेक युवतियां अत्यधिक उम्र तक अविवाहित रह जाती है और अंत में उन्हें 'अनादर विवाह' का ही सहारा लेना पड़ता है।

अनुवंश : प्रत्येक समाज में, परिवार के व्यक्तियों की वंशावली अथवा वंशानुक्रम को सुरक्षित एवं उज्जीवित करना व्यक्ति के सामाजिक पद के लिए आवश्यक माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में जैविक रूप से दो विभिन्न वंशधाराओं का मिश्रण होता है, उसके पिता की वंशधारा का और उसकी माता की वंशधारा का। इन दो प्रकार की वंशधाराओं का महत्त्व अलग-अलग परिवारों में विभिन्न होता है। परंतु कुछ ऐसे भी समाज हैं, जिनके संगठन में मातृ वंशधारा एवं पितृ वंशधारा—दोनों पर सामान्य रुप से जोर दिया जाता है। इसे द्विधारीय समाज कहा जाता है। वैवाहिक संबंध स्थापित करते समय वंशावली की सहायता ली जाती है।

अफगानिस्तान की प्रजातियां : मानवजातिविज्ञान की दृष्टि से अफगानिस्तान की समस्त जनसंख्या को मुख्यतया इन प्रजातियों में बांटा जा सकता है : अफगानी, ईरानी, तुर्की, मंगोल चेहरेवाले और हिंदुकुश के आर्य। जनसंख्या का 60 प्रतिशत भाग अफगानों का है। अफगान प्रायः गोरे रंग, उभरी नाक और बड़े सिरवाले होते हैं : इनका वास्तविक नाम पख्तून (पठान) है और ये पश्तो भाषा बोलते हैं। अफगानों में अनेक जन-जातियां भी हैं : मोहमांड, मंगोल और बजीरी। अधिकतर अफगान खानाबदोश या अर्द्ध-खानाबदोश जिंदगी जीते हैं। ये सभी लगभग सुन्नी संप्रदाय के मुसलमान हैं। इनके मुखिया 'खान' या 'मलिक' कहलाते हैं। इन मुखियों की नियुक्ति अफगानिस्तान का बादशाह करता है।

गोल सिरवाले ईरानियों या अरबियों के वंशज ताजिक देश के उपजाऊ भागों में रहते हैं। ये भी सुन्नी संप्रदाय के हैं, लेकिन ये लोग अफगानिस्तान की राजकीय भाषा फारसी बोलते हैं।

तुर्की मुख्यतया अफगान-तुर्किस्तान के उजबेकों के वंशज हैं। इनमें और केंद्रीय एशियाई प्रजातियों में काफी साम्य पाया जाता है। ये तुर्की बोलते हैं।

मंगोल प्रजाति के वंशज हजारा लोग हिंदूकुश पर्वत के दक्षिण भाग की बामियान और हेरात घाटियों में रहते हैं। चंगेज खां के आक्रमण के पश्चात् इनके पूर्वजों ने शायद इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। बहुत मेहनती होने के कारण ये लोग खेती-बाड़ी, पशु-पालन और सैनिक विद्या में शीघ्र निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। यह सारे अफगानिस्तान में घरेलू नौकर और मजदूर देनेवाली प्रजाति है। ये शिया संप्रदायवाले मुसलमान होते हैं और इनकी भाषा फारसी है।

हिंदूकुश के गैर-ईरानी आर्य काबुल के उत्तर-पूर्वी पहाड़ों में रहते हैं। पीत वर्ण के इन वासियों को वहां 'काफिर' के नाम से पुकारा जाता है। अमीर अब्दुर्रहमान ने इन्हें बलात् इस्लाम में दीक्षित किया था। इनकी सामाजिक व्यवस्था जनजातीय है।

इन पांच प्रमुख प्रजातियों के अतिरिक्त अफगानिस्तान में कुछ अन्य खानाबदोश प्रजातियां भी हैं, जैसे, बलूची और बादाकशी। लेकिन संख्यात्मक दृष्टि से ये नगण्य ही हैं।

अफ्रीका की प्रजातियां : अफ्रीकी प्रजातियों के वर्गीकरण में सबसे बड़ी कठिनाई अफ्रीकी समाजों और संस्कृतियों में अत्यधिक विभिन्नता है। फिर भी सुविधा के लिए अगर वर्गीकरण करना ही चाहें, तो इस वर्गीकरण से यूरोपीय, भारतीय और अरब प्रजातियों को पृथक् करना बहुत आवश्यक है। मूल अफ्रीकी समाज को वर्गीकरण की सुविधा के लिए चार समूहों में बांट सकते हैं : अफ्रीका के उत्तरी भागों के अधिकतर निवासियों का संबंध काकेशियाई, सामी (सेमटिक) और हामी (हेमिटिक) प्रजातियों से है, और ये वही भाषाएं बोलते भी हैं। दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के भागों में अधिकतर बुशमैन और हाटेनटाट प्रजातियों के वशंज रहते हैं। अफ्रीका के शेष भागों में नीग्रो प्रजाति के लोग रहते हैं, जो अधिकतर सूडानी, नाइलोटिक (नील नदी के आसपास की) और बांटू भाषा बोलते हैं। कुछ शारीरिक समानताओं के कारण इनमें पिग्मियों को भी शामिल किया जा सकता है। मेडागास्कर के मूल निवासी मैलोरीयन प्रजाति के हैं। प्रजातियों के इस वर्गीकरण को किसी भी हालत में शुद्ध नहीं माना जा सकता; क्योंकि विभिन्न कारणों से प्रजातियों में सम्मिश्रण होता ही रहा है।

उत्तर-पूर्वी अफ्रीका : यहां की मुख्य प्रजातियां काकेशियाई और नाइलोटिक नीग्रो हैं। नाइलोटिक नीग्रो मूल नीग्रो प्रजाति की वह शाखा है, जिसका जन्म काकेशियाई और नीग्रो प्रजाति के सम्मिश्रण से हुआ है।

इनमें दोनों प्रजातियों की शारीरिक विशिष्टताएं पायी जाती हैं। उत्तरी भाग की हामी भाषा-भाषी अधिकतर प्रजातियां मुसलमान हैं। इनमें एटलस पर्वतश्रेणी के वेरवेर, अल्जीरिया के काबाइल और म्जेब आदि अन्य प्रजातियां भी शामिल हैं।

अरबों के सूडान पर आक्रमण के पश्चात् अफ्रीका के इस भाग में प्रजाति-सम्मिश्रण एक बार फिर हुआ। वर्तमान पशुपालक बैग्गरा प्रजाति काकेशियाई और अरबों की संकर संतान है।

अफ्रीका के इस भाग की अन्य छोटी-छोटी प्रजातियां इस प्रकार हैं : लीबिया और पूर्वी सहारा की पशुपालक बेदुइन प्रजाति, लाल सागर की बेजा प्रजाति, सोमालीलैंड की आफार (दानाकिल) और सोमाली प्रजाति, दक्षिण इथोपिया की गाल्ला प्रजाति। इनमें से गाल्ला के अतिरिक्त शेष सभी प्रजातियां मुसलमान हैं। ईसाई धर्म को माननेवाली प्रजातियां ये हैं: अमहारा, गुरेजे, हारारी, टिगरीना, टाइगरे और फालाशा (तथाकथित काले यहूदी)।

पश्चिम अफ्रीका: पश्चिम अफ्रीका के लोगों को दो समूहों में बांटा जा सकता है : वन-नीग्रो तथा सवाना (उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान) क्षेत्र के नीग्रो और दक्षिणी सहारा की नीग्रो तथा हामियों की सम्मिश्रित प्रजातियां। अन्य प्रजातियों में प्रमुख है : दक्षिण-पूर्व नाइजीरिया की इबो प्रजाति। ये छोटे-छोटे स्थानीय समुदायों में बंटकर रहते हैं। इनका प्रशासन ग्रामीण संस्थाओं और परिषदों द्वारा किया जाता है।

पूर्व अफ्रीका :पूर्व अफ्रीका शुरू से अनेक प्रजातियों, संस्कृतियों और समाजों का मिलन-स्थल रहा है। दक्षिण उगांडा, केन्या के कुछ और टांगानिका के अधिकतर भागों में बांटू भाषा-भाषी लोग रहते हैं, जबकि उत्तर केन्या और उत्तर उगांडा के अधिकतर भागों में गैर-नीग्रो प्रजाति के वंशज रहते हैं। मानवजातिविज्ञानियों के अध्ययन के अनुसार इस प्रदेश के मूल निवासी बांटू भाषा-भाषी थे, लेकिन उत्तर और उत्तर-पूर्वी भागों से आये हुए विस्थापितों के आक्रमणों के कारण वे दक्षिणी भागों की ओर सरक गये। इसके परिणामस्वरूप अफ्रीका के इस भाग में अनेक सम्मिश्रित प्रजातियां हैं, जैसे : बुगांडा, बुनयोरो, तूटो, सुकुमा, न्यामवेजी, ट्वा, ल्यू, लांगो, अचोली, शिनुक, डिनका, नूएर आदि। नाइलोटिक नीग्रो प्रजातियों के वंशज इन शाखाओं में बंटे हुए हैं : मसाई, नांदी, किपसिगइस और तेसो।

बांटू भाषा-भाषी प्रजातियां: दक्षिण में बसी हुई बांटू भाषा-भाषी प्रजातियां मूलतः पूर्वी, दक्षिणी और केंद्रीय अफ्रीका से आयी हैं। अफ्रीका के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भागों पर आक्रमण के बाद ये लोग दक्षिण की ओर सरकते ही चले गये। इस प्रक्रिया में उन्होंने अपने मार्ग में मिलनेवाली बुशमैन-ह्राटेनटाट प्रजाति को भी या तो आत्मसात् कर लिया, या उन्हें खदेड़ कर वहां से भगा दिया।

दक्षिण अफ्रीका की मुख्य प्रजाति न्गूनी है। जुलू, स्वाजी, एक्सहोसा आदि इसकी प्रमुख जनजातियां हैं। इनके अतिरिक्त इस प्रजाति की अन्य मुख्य जनजातियां हैं: सोठो, बसूटोलैंड के सूटो, बेचुआनालैंड की त्जवाना जन-जातियां, ट्रांसवाल की पेडी, लोवोडी जनजातियां, दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकी और दक्षिण अंगोला की बेम्बा, इला, टोंगा, सीवा और अन्य जातियां।

कांगो की बांटू भाषा-भाषी जनजातियां तीन समुदायों में बंटी हुई हैं : दक्षिण कांगो की लूबा और लुंडा, उत्तर-पश्चिमी भाग की कोंगो और उत्तर-पूर्वी भाग की मोंगो जनजातियां।

बांटू भाषा-भाषी जनजातियां थोड़ी-बहुत अफ्रीका के उत्तरी भागों में भी पायी जाती हैं, लेकिन इनका अधिकतर जमाव दक्षिणी अफ्रीका में ही है।

अभिगमन अथवा संकरण : अभिगमन अथवा संकरण की क्रिया से जीन एक जीन समुच्चय अथवा एक जाति की जन-संख्या से दूसरी जनसंख्या में लाये जा सकते हैं। संकरण, जाति की स्थानीय जनसंख्या में पहले से उपस्थित जीन की बारंबारता में कोई परिवर्तन नहीं करता। वह नये जीन का उत्पादन नहीं करता। किसी भी जनसंख्या की जीनी संरचना में इसका कोई प्रभाव नहीं होता। अभिगमन जीनी अपवहन (जैनिटिक ड्रिफ्ट) के प्रभाव को कम अथवा विपरीत कर सकता है।

अभिगमन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि वह वंशज, संकर जनसंख्या में दो पैत्रिक जनसंख्याओं से जीन के सम्मिश्रण की संख्या है।

तीन संबंधित जनसंख्याओं में यदि एक युग्मविकल्प की बारंबारता हमें ज्ञात हो;

q^1(अ) जिसमें जीन अभिगमन होने का विश्वास किया जाता है।
q^2(ब) पूर्वज जनसंख्या
q^3(स) वह जनसंख्या जिससे अभिगमनीय जीन आते हैं।

$$m = \frac{q^1 - q^2}{q^3 - q^2}$$

m = सम्मिश्रण की मात्रा

तीनों जनसंख्याओं में युग्मविकल्प बारंबारताएं (q^1, q^2 एवं q^3) समांतर रेखाएं दर्शाती हैं कि हम परिणाम का निरपेक्ष मूल्य लेते हैं अर्थात m सदैव धनात्मक संख्या होगी।

m का मूल्य दोनों युग्मविकल्पों पर आश्रित है एवं प्रत्येक जनसंख्या में युग्मविकल्प की बारंबारता पर आधारित है। जब सम्मिश्रण परिकलन कर रहे हों, तब अंतर्ग्रस्त जनसंख्याओं के बारे में तीन कल्पनाएं की जाती हैं:

(1) जीन का अभिगमन पूर्ण रूप से एक जनसंख्या से दूसरी जनसंख्या में हुआ है।

(2) वर्गीकृत विवाह, युग्मविकल्पी के संबंध में नहीं पाये जाते। किसी भी युगल का चुनाव अथवा अस्वीकृति नहीं होती; क्योंकि युग्मविकल्पी का प्रश्न उठता है।

(3) दो पैत्रिक जनसंख्याओं के मध्य सम्मिश्रण द्वारा उत्पादित वे युग्मज के वध्य होते हैं। यदि वे नहीं होते, तो कोई जीन अभिगमन नहीं हो सकता।

यह निर्धारित करना आवश्यक है कि कौन पूर्वज एवं कौन संस्थापक जनसंख्याएं हैं। परिकलित सम्मिश्रण का परिमाण तीनों जनसंख्याओं में युग्मविकल्पी की बारंबारता पर निर्भर होता है।

उदाहरण: यूरोपीय उद्भव के अमरीकी से अफ्रीकन उद्भव के अमरीकी तक जीन अभिगमन (m) का आकलन:

पद्धति	पूर्वज जनसंख्या	जीन बारंबारता	अमरीकन अफ्रीकी	जीन बारंबारता	अमरीकन यूरोपीय	जीन बारंबारता
Rh रुधिर वर्ग समूह (R_1)	उत्तरी नाइजीरिक	(q^2) 0.539	जनसंख्या बाल्टीमोर	(q^1) 0.446	जनसंख्या न्यूयार्क	(q^3) 0.028

और m = 0.182

अरब प्रजाति :अरब प्रजाति का वर्गीकरण श्वेत कल्प (यूरोपाइड वर्ग) के अंतर्गत ही किया जाता है। श्वेत कल्प के दो वर्ग हैं: उत्तरी श्वेत कल्प (अटलांटो-बाल्टिक) और दक्षिणी श्वेत कल्प (भारत-भूमध्यसागरीय)। दक्षिणी श्वेत कल्प के चार उपवर्गों में से भूमध्यसागरीय-बल्कान उपवर्ग में अरब प्रजाति को रखा जाता है। हजारों वर्षों के अपने अस्तित्व के दौरान श्वेत कल्प वर्ग में अनेक परिवर्तन आये। इन विभिन्नताओं का कारण प्राकृतिक (जैसे, वातावरण आदि) तथा सामाजिक अवस्थाएं (जैसे, जनसंख्या-वृद्धि, आबादी का चलायमान रहना, जनजातियों का सम्मिश्रण आदि) थीं। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप श्वेत कल्प वर्ग में अनेक छोटे-छोटे उपवर्ग विकसित हुए। अरब प्रजाति उन्हीं में से एक है। दक्षिणी श्वेत कल्प वर्ग की भांति अरबों का वर्ण भी गहरा, आंखें और बाल काले रंग के तथा कद सामान्य रूप से ऊंचा होता है। अरब प्रजाति अधिकतर दक्षिणी (कहीं-कहीं मध्य भाग में भी) यूरोप, उत्तरी अफ्रीका, अग्रवर्ती एशिया, काकेशस, मध्य एशिया तथा भारत के उत्तरी भागों में पायी जाती है।

अर्धांश : आस्ट्रेलिया तथा अमरीकी इंडियनों की कुछ जातियों में एक विचित्र प्रकार की सामाजिक व्यवस्था देखने में आती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक जाति, चाहे

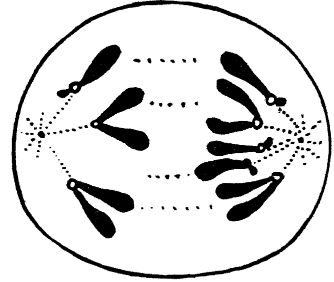
उसमें गुण हो या न हो, दो वैवाहिक समूहों में विभाजित होती है। ऐसे समूह सामाजिक कार्यों में, विशेषकर वैवाहिक क्षेत्र में, अपने-आपको एक वंश-समूह मानते हैं, और ऐसे समूह को 'अर्धांश' या 'मोआइटी' कहते हैं। इस प्रकार, अर्धांश एक बहिर्विवाही समूह है और जाति में केवल दो ही अर्धांश होने के कारण एक अर्धांश के सदस्य को दूसरे अर्धांश में से पति या पत्नी प्राप्त करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, हम आस्ट्रेलिया की पितृधारीय जनजाति 'कारियरा' को ले सकते हैं। इस समाज में दो अर्धांश हैं। इनके सामाजिक नियमों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने अर्धांश में विवाह नहीं कर सकता। इस प्रकार 'अ' अर्धांश के पुरुष सदैव 'ब' अर्धांश की स्त्रियों से विवाह करते हैं तथा 'अ' अर्धांश की स्त्रियां 'ब' अर्धांश के पुरुषों से ब्याही जाती हैं। ऐसी अर्धांश सामाजिक व्यवस्था को दुहरा संगठन (डुअल औरगनाइ-जेशन) भी कहते हैं।

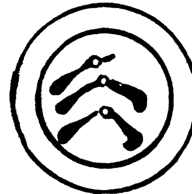
अल्पाइन प्रजाति : प्रजातियों के वर्गीकरण का यह भाग भौगोलिक आधार पर किया गया है। आल्प्स पर्वत जिन यूरोपीय राष्ट्रों में फैला हुआ है, उन राष्ट्रों के वे सभी भाग अल्पाइन क्षेत्र के अंतर्गत आ जाते हैं। ये राष्ट्र हैं : फ्रांस, इटली, स्विट्जरलैंड, पश्चिम जर्मनी, आस्ट्रिया, यूगोस्लाविया और पूर्वी इटली। अल्पाइन क्षेत्र की जनसंख्या लगभग 60-70 लाख है। हालांकि अल्पाइन निवासियों को मानवविज्ञानी एक अलग वर्ग में रखते हैं, लेकिन मूलत: नार्डिक और भूमध्यसागरीय यूरोपाइड प्रजाति के सम्मि-श्रण से इनका जन्म हुआ है। इसी कारण इनमें दोनों प्रजातियों के गुण उपलब्ध होते हैं। इनका कद ऊंचा, वर्ण गुलाबी या गहरा और बालों का रंग सुनहरा या भूरा होता है।

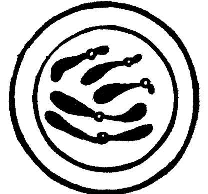
अवियोजन : जब कोशिका विभाजन के पश्चात् दो समजात गुणसूत्र विपरीत ध्रुवों की ओर सरकने में असफल रहते हैं, तो इसको एक अवियोजनीय घटना कहते हैं। यह प्राय: जनन-कोशिकाओं के परिपक्वन के समय होता है। परिणामस्वरूप संतति कोशिकाओं में गुणसूत्रों की असम संख्याओं का निर्माण होता है। एक में गुणसूत्र द्विगुणित संख्या की अपेक्षा एक अधिक (47 गुणसूत्र) एवं दूसरे में एक कम (45 गुणसूत्र) होता है।

अवियोजन की घटना लिंग-गुणसूत्रों एवं अलिंग सूत्रों— दोनों में पायी जाती है। अनेक समलक्षणीय अप-सामान्यताएं अब अवियोजन द्वारा समझायी जा सकती हैं। 1913 में ब्रिजेज अवियोजन की अवस्थाओं को सर्वप्रथम प्रकाश में लाये।

लिंग गुण सूत्रों का अवियोजन : अवियोजन दो प्रकार के परिपक्व किंतु (दे० चित्र) अनिषेचित अंडों (XX एवं O) को बनाता है। लिंग-गुणसूत्रों का अवियोजन वृषणों में भी पाया जाता है। इसके परिणामस्वरूप XX एवं O शुक्राणुओं का निर्माण होता है। ये अवियोजनीय अंडे एवं शुक्राणु निषेचन के पश्चात XXY एवं XO युग्मज का निर्माण करते हैं।







लिंग गुण सूत्रों का अवियोजन

यह देखा जा चुका है कि मानव में XXY-युग्मज नर रूप में विकसित हो सकता है (किंतु पूर्ण निर्माण नहीं होता) उदाहरणार्थ: 'क्लाइनाफैल्टस सिंड्रोम' (44+XXY) XO युग्मज स्त्री रूप में विकसित हो सकता है (किंतु पूर्ण निर्माण नहीं होता) उदा० 'टर्नस सिंड्रोम' (44 +XO)। ये व्यक्ति अपसामान्य लक्षण दर्शाते हैं, जैसे मान-सिक विमंदन, अल्पविकसित वृषण एवं अंडाशय इत्यादि।

ये लक्षण अवियोजन द्वारा निर्मित अपसामान्य लिंग

गुणसूत्रों के कारण होते हैं। अलिंग गुणसूत्रों का भी अवियोजन हो सकता है। यह ऐसे युग्मकों का निर्माण करता है, जिसमें कोई एक अलिंग सूत्र द्विगुणित (डिपलाइड) रूप में होता है। जब ऐसा युग्मक विरोधी-लिंग के एक सामान्य युग्मक द्वारा निषेचित होता है, तो एक युग्मज उत्पादित होता है। अंतर्ग्रस्त अलिंग सूत्रवाला ऐसा युग्मज त्रिसमसूत्री होता है। मानव में अलिंग सूत्र के त्रिसमसूत्री होने का उत्तम एवं परिचित उदाहरण है: 'डाउंस सिंड्रोम' अथवा मंगोलीय जड़ता अथवा मंगोली जड़बुद्धिता। इस अवस्था में 21वां गुणसूत्र द्विसमसूत्री होने की अपेक्षा त्रिसमसूत्री होता है। मानसिक विमंदन, लघु दैहिक उच्चता, स्थूल हाथ एवं पैर इत्यादि लक्षण सभी अवियोजन द्वारा निर्मित 21—त्रिसम-सूत्री अवस्था के कारण होते हैं।

आंद्रेई, रिचर्ड (1853-1912) : जर्मन भूगोलविद्, लोकविश्वासों का अध्येता तथा तुलनात्मक मानवविज्ञानी। उनके पिता कार्ल आंद्रेई भौगोलिकी-मानवविज्ञान संबंधी साप्ताहिक पत्रिका 'ग्लोबस' (प्रकाशन काल 1862-1910) के संस्थापक थे। 1873 में रिचर्ड आंद्रेई ने लाइपजिक में भौगोलिक संस्थान की स्थापना की और 1891-1903 तक 'ग्लोबस' का संपादन। मानवजाति-विज्ञानी राट्जेल से बहुत पहले ही आंद्रेई ने तुलनात्मक मानवजाति-शास्त्रीय अध्ययन में अपनी रुचि दिखायी थी। भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न स्थानों में निवास करनेवाले व्यक्तियों की परंपराओं और विश्वासों का अध्ययन करते हुए आंद्रेई ने पाया कि उनमें विचित्र रूप से समानताएं लक्षित होती हैं। वे इन समानताओं से बहुत प्रभावित हुए। इस अध्ययन में जिस बात ने उनका ध्यान विशेष रूप से अपनी ओर आकर्षित किया, वह यह थी कि अध्ययन की गयी अधिकतर संस्कृतियां अलग-अलग महाद्वीपों पर स्थित थीं और प्राय: एक-दूसरे से पूर्णतया: भिन्न थीं। उस समय तक विसरणवादी सिद्धांत का समुचित विकास नहीं हो सका था, इसलिए आंद्रेई ने स्वयं ही निष्कर्ष निकाला कि इन समान सांस्कृतिक विश्वासों का विकास प्रत्येक संस्कृति में स्वतंत्र रूप से ही हुआ है और यह अधिक गलत भी नहीं था। उनके सिद्धांत के अनुसार, इन समानताओं की व्याख्या मानव-मस्तिष्क की मूलभूत समानता के आधार पर की जा सकती है, जिसके कारण सांस्कृतिक विकास की एकरूपता ने जन्म लिया। उन्होंने लोकविश्वासों पर अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का भी प्रकाशन किया।

आइनू : दाढ़ी एवं शरीर में रोमों की प्रचुरता के कारण आइनू विशिष्ट श्रेणी में रखे जाते हैं। ये जापान के बनवासी हैं तथा जापान के उत्तरी भाग एवं उसके द्वीपों तक ही उनका वितरण सीमित है। ये सामान्यत: प्राचीन पिंगल-शुभ्र अथवा बपु संजाति के अवशेष माने जाते हैं।

भौतिक लक्षण :

1.	दैहिक उच्चता	: लघु, औसत लगभग 158 से० मी० (5 फुट 2 इंच)।
2.	काय निर्माण	: स्थूलतम, लंबी भुजाएं, छोटी टांगें।
3.	चर्म वर्ण	: हल्का भूरा, धूम निकाश-शुभ्र।
4.	केश वर्ण	: गाढ़े भूरे से काला।
5.	नेत्र वर्ण	: गाढ़ा अथवा मध्यम भूरा।
6.	शीर्ष रूप	: दीर्घ शिरस्थ से मध्य शिरस्थ।
7.	नासा रूप	: नासा सूचकांक, मध्य नासा से चिपिट नासा, नासा मूल अवसन्न, नासा पार्श्वा-लेख अवतल, नासापक्षक फूले हुए।
8.	आनन रूप	: लघु एवं मध्यम चौड़ाई के (मध्य आननी)।
9.	दाढ़ी एवं शरीर रोम	: आइनू अपने शरीर रोमों की अत्यधिक वृद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। विशेषत: पुरुषों की बड़ी एवं घनी दाढ़ियां होती हैं।

बाद में आइनू मंगोलकल्प विकृतियों के साथ मिश्रित हो गये। यह बात स्त्रियों में अधिक स्पष्ट है। शुद्ध आइनू प्रकार विशेष रूप से आकृति में शुभ्र प्रभेद के समान होता है तथा वर्णकता में भी। यह भेद कई पुरुषों में देखा जा सकता है।

आइनू रुधिर वर्ग में 'ए' की आवृत्ति 'बी' की अपेक्षा अधिक दिखलायी पड़ती है। आइनू अपनी दीर्घ भ्रूकटक,

अवसन्न नासामूल एवं सामान्य शरीर के बालों में आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के सदृश होते हैं। हूटन के अनुसार संभवत: इसका कारण दोनों में एक-आध शुभ्र जातीय तत्त्व का होना है।

करोटिविज्ञान के अनुसार आइनू प्राचीन यूरोपीय दीर्घ शीर्षोवाले आरिगनेशियन अथवा 'कांबैकपेले' प्रकार के मनुष्यों के सदृश होते हैं। वे उनसे अपनी भारी भ्रूकटकों, अवसन्न नासामूलों, चौड़े नासारंध्रों एवं छोटे मुखों में सादृश्य रखते हैं। अपने शीर्ष रूप के अतिरिक्त आइनू मुख के कोमल भाग एवं बालों की प्रचुरता में मैडीटैरेनियन प्रकार की अपेक्षा अल्पाइन प्रकार के अधिक निकट हैं। आइनू शीर्ष आकार यथार्थ में अल्पाइन पृथुकपालीयता से भिन्न होता है, किंतु आइनू व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या लंबे शीर्षों की अपेक्षा मध्यकपालिक होती है।

आग उत्पन्न करना : मानव-सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में आग का उपयोग और उसे उत्पन्न करने का बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान है। मनुष्य ने आग उत्पन्न करना कैसे सीखा, यह अभी तक रहस्य ही है। अनुमान से ऐसा समझा जाता है कि स्वयं आग उत्पन्न करना जानने से भी पहले मनुष्य आग का उपयोग करता था। संभवत: उसने प्राकृतिक रूप से जंगलों में लग जानेवाली आग को देखा होगा और अनुभव किया होगा कि शीत से बचाने में उसकी गर्मी सहायक होती है। फिर उसने आग में जल-भुनकर मरे हुए पशुओं को देखा होगा, उनके भुने हुए मांस की सुगंध ने उसे आकृष्ट किया होगा और उसने भुने हुए मांस को चखकर उसे अधिक स्वादिष्ट पाया होगा। इस प्रकार उसे आग पर भोजन पकाने की प्रेरणा मिली होगी। प्रागैतिहासिक काल की खोजें यह बताती हैं कि आदिम मनुष्य स्वयं आग उत्पन्न न कर पाने के कारण प्राकृतिक रूप से उत्पन्न आग को ईंधन डाल-डालकर सुरक्षित रखता था। कालांतर में उसने पत्थर के औजारों का निर्माण करते समय पाया कि एक पत्थर को दूसरे पत्थर पर मारने से आग की चिनगारियां निकलती हैं, जिनसे सूखी पत्तियों को जलाया जा सकता है। मानव का यह बहुत बड़ा आविष्कार था। प्राकृतिक रूप से प्राप्त की हुई आग को निरंतर प्रज्ज्वलित रखने की विवशता ने उसे एक स्थान पर टिककर रहने के लिए बाध्य कर दिया था, लेकिन जब वह स्वयं आग उत्पन्न करने लगा, तो फिर से आजाद घूमने-फिरने लगा।

मानव जीवन में आग सभ्यता की निशानी हैं और इस हिसाब से मनुष्य आज से पचास हजार वर्ष पूर्व सभ्य हो चुका था। नियेंडरथल मानव का समय पचास हजार पूर्व ही माना जाता है, लेकिन ऐसे प्रमाण मिले हैं कि उसे आग का प्रयोग करना अच्छी तरह आता था और वह अपना भोजन चूल्हों पर पका कर खाता था। आग के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि नियेंडरथल मानव स्थायी रूप से आवास बनाकर रहनेवाला और साफ-सुथरे ढंग से पका हुआ भोजन खानेवाला मानव था। कुछ मानवविज्ञानी यह मानते हैं कि मनुष्य ने पूर्वपाषाण काल के अंत तक आते-आते आग उत्पन्न करना सीख लिया था। उनके विचार से मनुष्य जब पत्थरों में छेद करके सुविधाजनक औजार बनाने लगा, तब उसने आग उत्पन्न करना सीखा। पत्थर में छेद करने पर आग की चिनगारियां निकलते देख उसे आग उत्पन्न करने का विचार आया होगा। अनुमान यह भी है कि मनुष्य ने जंगल में सूखी लकड़ियों के आपसी घर्षण से आग उत्पन्न होते देखी होगी और स्वयं भी लकड़ियों को आपस में रगड़कर आग पैदा की होगी।

आत्मावाद : इस सिद्धांत के जन्मदाता ई० बी० टेलर के अनुसार "धर्म की उत्पत्ति आत्मा में विश्वास के कारण हुई है।"

प्रारंभिक मानव बहुत-सी बातों को बड़े ही कौतूहल से देखता था। उदाहरणार्थ, वह सपने में अपने पूर्वजों को देखता था या नदी, तालाब में अपनी ही परछाई को देखकर विस्मित हो जाता था या फिर अपनी आवाज की प्रतिध्वनि सुनता, तथा अपनी छाया देखता था। ये सब चीजें कुछ ऐसी थीं जो उसकी समझ में नहीं आती थीं। बाद में, उसने मृत्यु के संबंध में सोचना शुरू किया। उसने सोचा कि मृत्यु अनिवार्य क्यों है? आखिर, एक-ब-एक वैसा क्या हो जाता है, जिससे मनुष्य के सारे क्रियाकलाप बंद हो जाते हैं? वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मनुष्य के अंदर कोई ऐसी चीज है अवश्य, जो दिखाई तो नहीं देती, मगर जिसके निकल जाने से मृत्यु हो जाती है। इसी शक्ति को, जो मनुष्य को जीवित रखती है, 'आत्मा' का नाम दिया गया। टेलर के अनुसार, प्रारंभिक मानव दो आत्माओं में विश्वास रखता था। एक 'स्वतंत्र आत्मा' (फ्री सोल), जो मनुष्य के शरीर के बाहर भी जा सकती थी। दूसरी

'शारीरिक आत्मा' (बोडी सोल), जिसके निकल जाने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। आज भी कुछ आदिम जातियों में यह विश्वास प्रचलित है कि आत्मा शरीर में पुनः प्रविष्ट हो सकती है।

आदिम अधिनियम : प्रत्येक समाज में कुछ नियम ऐसे होते हैं, जिनका पालन समाज के प्रत्येक सदस्य को करना पड़ता है। इन नियमों का पालन न करने पर वह दंड का भागी होता है। उदाहरणार्थ, लगभग प्रत्येक समाज में कोई न कोई खाद्य-पदार्थ वर्जित होता है। हिंदू धर्म में गोमांस खाने पर प्रतिबंध है। मुसलमानों में सुअर के मांस पर तथा रोमन कैथोलिकों में शुक्रवार को मांस खाने पर प्रतिबंध है। इसी प्रकार कई जनजातियां, किसी पशु-विशेष को अपना 'टोटम' मानती हैं और उसका मांस नहीं खाती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज में स्त्री एवं पुरुष अलग-अलग प्रकार के वस्त्र पहनते हैं। आचरण एवं व्यवहार के विषय में भी नियम होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का समाज में अलग स्थान होता है, तथा उसी स्थान के अनुरूप उसे व्यवहार करना पड़ता है।

जनजातीय समाजों में सामाजिक नियम दो प्रकार के होते हैं: एक वह, जो यह बताते हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए तथा दूसरा वह, जो यह निर्देश करते हैं कि व्यक्ति को क्या नहीं करना चाहिए।

छोटा नागपुर की खड़िया जनजाति के लोग अपनी पशुशाला में अपरिचित लोगों को नहीं घुसने देते। उनका विश्वास है कि अपरिचितों के वहां जाने से पशुशाला अपवित्र हो जायेगी तथा पशुओं का नाश हो जायेगा। भारत की सभी जनजातियों में प्रथा है कि अनाज कूटने के पश्चात् कुल देवता तथा धरती माता को अर्पित किया जाता है। इस पूजा के पूर्व नया अनाज खाना वर्जित है। उनका विश्वास है कि ऐसा न करने से खेतों की उपज घट जायेगी।

'टैबू' या निषेध के विषय में ऐसा मानते हैं कि वे स्वयं-चालित तथा स्वयंरक्षित होते हैं अर्थात् उनका उल्लंघन करनेवाला दैवी प्रकोप का शिकार होता है। परंतु इसके बावजूद समाज ने नियमों की रक्षा के लिए दंडविधान और व्यवस्था बना रखी है। दंड के दृष्टिकोण से नियम तीनप्रकार के माने जाते हैं।

(1) जिनका उल्लंघन दैवी अपराध माना जाता है तथा जिनके दंड की व्यवस्था दैवी शक्तियों पर छोड़ दी जाती है।

(2) ऐसे नियम जिनका उल्लंघन समाज या समुदाय पसंद नहीं करता, परंतु साधारण रूप से जन-निंदा के अतिरिक्त और कोई विरोध नहीं होता।

(3) वे नियम जिनके पालन के विषय में समाज सदैव जागरूक रहता है।

आदिमकालीन : आदिमकाल का संबंध मानव संस्कृति के विकास से है। इस शब्द का प्रयोग प्राचीन मनुष्यों तथा संस्कृति के लिए किया जाता है।

आदिवासियों के श्रृंगार तथा अवसर : सभ्य समाज की ही भांति भारत की जनजातियां भी श्रृंगार की शौकीन होती हैं। ये भी अपने सिर और चेहरे का श्रृंगार करने में प्रवीण होते हैं। आसाम की नागा जनजातियों में सींग लगे जंगली जानवरों की खाल की टोपी पहनने की प्रथा प्रचलित है। नृत्य, युद्ध अथवा शिकार के अवसरों पर अन्य वस्त्रों के साथ वे टोपी को भी अवश्य पहनते हैं। छोटा नागपुर की जनजातियों में केश-श्रृंगार का प्रचलन है। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अपने केशों को संभालकर रखते हैं। स्त्रियां केशों के जूड़े बनाती हैं। पुरुष एवं स्त्री दोनों ही अपने केशों में करंज का तेल लगाते हैं और सावधानी से केशों में बांस की कंघी लगाये रखते हैं। प्रकृति की गोद में रहने की वजह से उन्होंने अपने-आप को प्राकृतिक वस्तुओं से सजाना सीखा है।

साधारणतः स्त्रियां चेहरे का श्रृंगार आभूषणों से करती हैं। पर्व-त्योहारों के मौके पर कुछ आदिवासियों में चेहरे रंगने का भी प्रचलन है। अंडमान द्वीप की जन-जातियां तो अनेक अवसरों पर पूरे शरीर को रंगती हैं। बिहार की मुंडा जनजाति में भी चेहरे को रंगने का प्रचलन है। इस तरह हम देखते हैं कि जनजातियों में भी श्रृंगार की भावना होती है, जिसका प्रमाण हमें उनके शरीर की सजावट, तरह-तरह के आभूषणों तथा रंग-बिरंगे कपड़ों से मिलता है।

हाट के दिन तो आदिवासियों का श्रृंगार देखते ही बनता है। हाट के दिन पुरुष एवं स्त्री दोनों सज-धजकर आते हैं।

आभूषण : भारत की जनजातियां आभूषणों से अपना श्रृंगार करती हैं। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही आभूषण के शौकीन होते हैं। गरीबी के बावजूद ये जनजातियां आभूषणों से अपना श्रृंगार करती हैं। मध्यप्रदेश की बोंडो जनजाति की महिलाएं यद्यपि अर्धनग्न रहती हैं, फिर भी वे आभूषण अवश्य पहनती हैं। वे गले में कौड़ी एवं कांसे के मनकों की मालाएं पहनती हैं। उनके दोनों हाथों एवं बांहों में जेवर भरे रहते हैं। कुछ औरतें अपने हाथों में कांसे की बनी पच्चीस से तीस तक चूड़ियां पहने रहती हैं।

आसाम की नागा जनजातियों में भी आभूषण लोकप्रिय हैं। इनका विश्वास है कि मुर्दों के गले ही आभूषणहीन रहते हैं। इनकी स्त्रियां 'नेकलेस' पहनती हैं। पुरुष हाथ, पैर तथा कमर में आभूषण पहनते हैं। बिहार की मालेर जनजातियां यद्यपि काफी गरीब होती हैं, फिर भी उनकी स्त्रियां आभूषणों से लदी रहती हैं। ये प्राकृतिक वस्तुओं से भी आभूषण बना लेते हैं। उरांव जनजाति की औरतें ताड़ के पत्ते को गुलाबी रंग में रंगकर कान के आभूषण बनाती हैं। इसके अलावा वे काठ के टुकड़ों को रंगकर भी अपने कानों में पहनती हैं।

आर्थिक श्रेणीकरण : उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध विकासवाद का युग कहलाता है। डार्विन ने जैविक विकासवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसी आधार पर हरबर्ट स्पेंसर ने सामाजिक विकासवाद चलाया। उस काल के सभी समाजविज्ञानी अपने सिद्धांतों को विकासवाद के ढांचे में ढालना चाहते थे। इसी तरह अर्थशास्त्रियों ने भी आर्थिक जीवन के विकास पर विकासवादी सिद्धांत बनाये।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ ने कहा कि आर्थिक व्यवस्था तीन चरणों से होकर गुजरी है: शिकारी, पशुपालन और खेतिहर। जर्मन अर्थशास्त्री लिस्ट ने संशोधन कर पांच श्रेणियां बनायीं: शिकार, पशुपालन, कृषि, हस्त-उद्योग तथा मशीन-उद्योग। अर्थशास्त्र में यही श्रेणीकरण साधारणतया प्रचलित है। परंतु अनेक समाजविज्ञानियों ने इसकी आलोचना भी की और उन्होंने बतलाया कि विकासवाद की श्रेणियां अनुसंधान के आधार पर ठीक नहीं जान पड़ती हैं। जर्मन समाजशास्त्री युर्नवाल्ड ने निम्नलिखित वर्गीकरण या श्रेणीकरण प्रस्तुत किया है:

1. शिकारी : बहेलिया तथा खाद्य सामग्री इकट्ठा करनेवाले
2. शिकारी : बहेलिया, कृषक
3. शिकारी : बहेलिया, कृषक तथा कारीगर (श्रेणीबद्ध)
4. शिकारी : पशुपालक
5. पशुपालक : व्यापारी (श्रेणीबद्ध)
6. पशुपालक : शिकारी, कृषक, कारीगर
7. भूस्वामी

आधुनिक मानवविज्ञान में आर्थिक विकास का यह सिद्धांत भी सर्वमान्य नहीं है, जिसमें मानव समाज को आर्थिक जीवन की विभिन्न सीढ़ियों से होते हुए उसके अंतिम लक्ष्य अर्थात् आधुनिक व्यवस्था तक पहुंचाया गया है। संसार की विभिन्न जनजातियों और समाजों के अध्ययन के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सभी जातियों में आर्थिक विकास का मार्ग निश्चित रूप से वैसा नहीं रहा जैसा विकासवादियों ने सुझाया था। इन अध्ययनों से यह कहीं भी प्रमाणित नहीं होता कि मछुओं की एक जाति अवश्य ही पशुपालकों की स्थिति से होकर गुजरी हो और तभी खेतिहर अथवा औद्योगिक समुदाय बन पायी हो। इस प्रकार आर्थिक जीवन के इन विभिन्न पहलुओं को आर्थिक-सामाजिक जीवन के विकास की विभिन्न सीढ़ियों अथवा स्तरों के रूप में नहीं, वरन् संसार के विभिन्न समाजों की अर्थव्यवस्था के वर्गीकरण के रूप में माना जाता है। इस प्रकार हम केवल यह दिखलाने के लिए शिकारी-समाजों, पशुपालक-समाजों अथवा खेतिहर-समाजों की चर्चा करते हैं कि इनमें भोजन प्राप्त करने का मुख्य साधन क्या है। हम यह चर्चा इसलिए नहीं करते हैं कि उस समाज के विकास की वर्तमान अवस्था क्या है।

आर्थिक संगठन : मानव समाज की यह विशेषता रही है कि समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु स्वयं नहीं जुटाता। उदाहरण के लिए, बच्चे अपनी आवश्यकता की वस्तुएं स्वयं नहीं जुटा सकते। इसके लिए उनको अपने माता-पिता पर आश्रित रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वृद्ध तथा रोगी व्यक्तियों को भी अपनी आवश्यकताओं के लिए समाज पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसी प्रकार बहुत से काम मनुष्य अकेले नहीं कर सकता।

बहुत से कार्यों के लिए उसको संगठित होना पड़ता है। शिकार, युद्ध और औद्योगिक उत्पादन इत्यादि काम उसे समूह में ही करने पड़ते हैं।

मनुष्य अपने लिए सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन स्वयं नहीं कर सकता तथा उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों के द्वारा किये गये उत्पादन का उपभोग करना पड़ता है। इस स्थिति में उपभोक्ता को वह वस्तु प्राप्त करने के लिए उत्पादक को कुछ 'मूल्य' चुकाना पड़ता है। यह 'मूल्य' वस्त्र, भोजन-सामाग्री जैसे स्थूल मूल्य अथवा अस्थूल पदार्थ जैसे श्रम के रूप में होता है। कभी-कभी एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु को देकर चुकाया जाता है। इसे विनिमय या 'बार्टर' कहते हैं। अधिकांश जनजातियों के बीच इसका प्रचलन है। वे जंगलों के उत्पादन बाजार-हाट में लाते हैं और बदले में नमक, कपड़े, गुड़ इत्यादि ले जाते हैं। इस प्रकार के समाजों में मुद्रा का प्रचलन नहीं के बराबर है। सभ्य समाजों में यह विनिमय मुद्रा के माध्यम से किया जाता है।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार मानव जाति प्राचीन काल में मुद्रा से परिचित नहीं थी, तब वह वस्तुओं के विनिमय द्वारा ही अपना काम चलाती थी। पूर्वी अफ्रीका की कुछ जन-जातियों में विनिमय के लिए पशुओं का उपयोग किया जाता है। धातुओं की खोज के पश्चात् मनुष्य ने धातुओं के माध्यम से विनिमय करना प्रारंभ किया। शुरू-शुरू में धातुओं के टुकड़ों को मुद्रा के रूप में लिया जाता था। आज के सभ्य समाजों में यह सिक्कों तथा नोटों के रूप में प्रचलित है।

आवासगृह : भारत में विभिन्न आदिम जातियों के आवास-गृह अलग-अलग प्रकार के होते हैं। इनके मकान एक कमरे से लेकर कई कमरों तक के होते हैं। बिरहोर जनजातियों के मकान बांस, घास एवं पत्तियों के बने होते हैं। मालेर अपना मकान जंगलों से उपलब्ध अन्य सामग्रियों से बनाते हैं। नागा एवं खासी जनजातियां अपना मकान मिट्टी तथा लकड़ी का बनाती हैं। लेकिन भारत की कई जनजातियों में आवासगृह की समस्या बहुत ही गंभीर है। भारत की कुछ प्रमुख जनजातियों के आवासगृह के उदाहरण निम्नलिखित हैं:

1. कादर जनजाति : कादर जनजाति केरल के कुछ पहाड़ी इलाकों में रहती है। मुख्यत: ये जंगलों से प्राप्त खाद्य सामग्री पर ही निर्भर रहती हैं। जंगलों से ही प्राप्त सामग्री को ये बाजारों में बेचती भी हैं।

बांस के जंगलों से घिरे, पहाड़ों पर इनके गांव होते हैं। इनका घर एक आयताकार कमरे का बना होता है। घर का आकार छह फुट गुणा दस फुट से लेकर दस फुट गुणा चौदह फुट तक का होता है। कहीं-कहीं, इनके घरों में दो कमरे भी होते हैं। इनके घर बांस तथा पत्तियों के बने होते हैं, जिनमें एक छोटा-सा दरवाजा होता है, लेकिन खिड़की नहीं होती। दो मकानों के बीच में काफी जगह होती है। ये मकान को सजाकर नहीं रखते। पहले, इनमें मकान बनाने का काम सिर्फ औरतों का था, लेकिन अब पुरुष तथा औरतें दोनों मिलकर मकान बनाते हैं।

2. टोडा जनजाति : टोडा गांव साधारणत: एक से छह झोंपड़ियों का होता है तथा गांव पत्थर की दीवारों से घिरा होता है। इनके गांव ऊंचे स्थान पर, किसी नदी या झरने के करीब बने होते हैं। हर गांव में एक सार्वजनिक झोंपड़ा होता है। इस झोंपड़े में गांव के सब लोग अपने पशुओं को बांधते हैं।

इनके घर अंडाकार व गोलाकार होते हैं तथा साधारणत: 18 फुट लंबे, 9 फुट चौड़े और 10 फुट ऊंचे होते हैं। घर में सिर्फ एक दरवाजा होता है, जिसको बंद करने के लिए वे पत्थर का चौड़ा टुकड़ा या लकड़ी का तख्ता प्रयोग में लाते हैं। यह घर बांस के बने होते हैं। टोडा लोग अपने घर को साफ-सुथरा रखते हैं। घर के सामनेवाले हिस्से को ये लोग मवेशियों को रखने के काम में लाते हैं तथा मकान का पिछला हिस्सा रसोईघर होता है। इन घरों में कोई खिड़की नहीं होती। साधारणत: दो घर एक-दूसरे के आमने-सामने होते हैं।

(3) मालेर जनजाति : इनके घर बांस तथा एक प्रकार की घास के बने होते हैं। इनका घर एक आयताकार कमरे का होता है, जिसमें दो दरवाजे होते हैं, लेकिन खिड़की नहीं होती। घर का एक कोना खाना बनाने के काम में लाया जाता है। घर के बाकी स्थान में परिवार के सदस्य तथा पालतू जानवर रहते हैं। इनके मकान औसतन 20 फुट लंबे, 10 फुट चौड़े तथा 6 फुट ऊंचे होते हैं। मकान सड़क के दोनों तरफ बने होते हैं।

(4) उरांव जनजाति : इनके घर आयताकार होते

हैं। साधारणतया इनके घरों में दो कमरे होते हैं और एक बरामदा होता है, जो मकान के चारों ओर बना होता है। मुख्यत: इनके घर मिट्टी के बने होते हैं। दीवारों को वे गाय के गोबर से पोतकर रखते हैं, तथा छत खपड़ेदार होती है। ये अपने घर का एक कमरा तथा बरामदे का एक हिस्सा सोने के काम में लाते हैं तथा बाकी हिस्से को वे पालतू जानवरों को रखने, खाना बनाने तथा मेहमान को ठहराने के काम में लाते हैं। घर में एक प्रमुख दरवाजा तथा अन्य दरवाजे होते हैं, लेकिन खिड़की नहीं होती। गंदे पानी की निकासी का प्रबंध न होने की वजह से घरों के चारों तरफ गंदगी फैल जाती है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि आदिम जातियों के आवासगृह भिन्नता और विशिष्टता लिए होते हैं।

आस्ट्रेलियन : आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों की भौतिक संस्कृति अत्यधिक प्राचीन है, जिसमें लकड़ी एवं पत्थर के बने निम्नस्तरीय शस्त्र, मिट्टी के बर्तनों और कृषि की अनुपस्थिति तथा निवासस्थान, जिनको मुश्किल से ही झोंपड़ियां कहा जा सकता है, होते हैं। भौतिक सरलता के होते हुए भी आस्ट्रेलियन, बंधुता एवं विवाह-नियमों की जटिल पद्धति का उद्विकास कर चुके हैं।

आकृतिक लक्षण

1. केश आकार : कम एवं ज्यादा बलवाले, घुंघराले एवं बहुत कम सीधे।
2. केश वर्ण : सामान्यत: गहरे भूरे, कभी-कभी मध्यम भूरे।
3. त्वचा वर्ण : चाकलेट, मध्यम बभ्रु, हल्के तथा लाल, भूरे, पीत बभ्रु, बहुत ही कम गहरे भूरे।
4. नेत्र वर्ण : गहरा भूरा अथवा मध्यम भूरा, बहुत ही कम हल्का भूरा अथवा काला।
5. दैहिक उच्चता : मध्यम, अत्यधिक असमान, औसत 164-5 से० मी०
6. शीर्ष सूचकांक : (दीर्घ कपाली-मध्यम कपाली), सामान्यत: 80 से कम। औसत 72.9
7. नासा सूचकांक : सामान्यत: 85 से ऊपर, औसत 95.9, पृथुनासा, चिपिटनासा।
8. आननी सूचकांक : सामान्यत: 90 से कम, औसत 84.3, दीर्घ आनन।
9. शीर्ष आकार : सामान्यत: अधिक संकीर्ण, पीछे हटे हुए ललाट, अधिक भ्रूकटक एवं स्थापनी (ग्लेबैला)
10. नासा आकार : नासामूल बिंदु अधिक दबा हुआ, नासामूल मध्यम से चौड़ा एवं कम उठा हुआ, नासावंश बहुत चौड़ा एवं मध्यम ऊंचाई का। नासाछोर बहुत मोटा, नासारंध्र विशिष्ट रूप से टेढ़े अथवा अनु-प्रस्थ, नासापक्ष बाहर की ओर फैले हुए।
11. आननी बहिक्षेपण (प्रोद्‌गति) : मध्यम से अतिस्पष्ट।
12. कपाल विशिष्टता : सामान्यत: ऋणात्मक अथवा पीछे हटे हुए।
13. दाढ़ी एवं शरीर रोम : सामान्य से अधिक।

प्रजातीय बंधुताएं : 1938-39 में नारमन बी० टिंडेल और जोसफ बी० बर्डसेल ने आस्ट्रेलिया में मानवविज्ञान अभियान चलाया। उनके अनुसंधानों के परिणामस्वरूप आस्ट्रेलिया के मानवजातीय तत्त्व प्रकाश में आये। 578 वनवासी पुरुषों के अध्ययन से बर्डसेल ने, मिश्रित अथवा सम्मिश्रित आकारों के अतिरिक्त 3 और प्रकारों की उपस्थिति सिद्ध की।

(1) **मूरियन प्रकार :** दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्वी आस्ट्रेलिया में पाये जाते हैं। आद्य श्वेत प्रागरूप से निकटतम बलिष्ठ शरीर रचना, हल्के वर्ण की त्वचा, ऊंची एवं संकीर्ण नासा प्रकार, अधिकतर आस्ट्रेलियन वनवासियों की अपेक्षा लंबे आनन एवं भरी दाढ़ी तथा शरीर में रोम।

(2) **कारपेनटेरियन अथवा उत्तरीय प्रकार :** ऊंचे, नीग्रोकल्प-समान पतली टांगें, गहरा त्वचा वर्ण, बहुत हल्के रोम, अधिक स्पष्ट उद्‌गति। यह प्रकार आस्ट्रेलाइड प्रकार के निकटतम हैं। कभी-कभी न्यूगिनी के पापूआन में भी देखे गये हैं।

(3) **तस्मानाइड :** बहुत छोटा कद, लगभग फ्रिजली केश, शीर्ष का विस्तार हर दिशा में कम, नीग्रोकल्प-समान केंद्रीय ललाट, एवं छोटे कान।

प्रवसन : बर्डसेल का मत है कि आस्ट्रेलियन महाद्वीप

तक पहुंचनेवाले व्यक्तियों की पहली धारा शुद्ध ओशैनिक नीग्रोटो की थी। ये संपूर्ण क्षेत्र में फैल गये तथा अतिनूतन युग के अंतिम चरण में तस्मानिया तक पहुंचे। उसके पश्चात् आद्य श्वेत मूरियन तत्व आया। यह घासयुक्त क्षेत्रों में फैल गये तथा कुछ सीमांत वर्षा-वनों के क्षेत्रों को छोड़कर नीग्रीटो जनसंख्या में पूर्णतया संविलीन हो गये।

तृतीय एवं अंतिम धारा जो उत्तर से आस्ट्रेलिया की मुख्य भूमि में पहुंची, उसमें ऊंचे, पतले, गहरी त्वचा वर्णवाले कारपेनटेरियन व्यक्ति थे।

टिंडैल एवं बर्डसेल के अनुसंधान निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि आस्ट्रेलियन आद्य श्वेत प्रजाति समूह की एक मिश्रित प्रजाति है, जिसमें नीग्रोटो का पर्याप्त सम्मिश्रण है और अधिक आदि-कारपेनटेरियन तत्त्व के परिणामस्वरूप ये कुछ रूपांतरित भी हैं।

आस्ट्रेलिया की प्रजातियां : इस महाद्वीप की प्रजातियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (1) आदिवासी प्रजातियां और (2) श्वेतांग प्रजातियां।

आदिवासी वर्ग : शुद्ध आदिवासी और मिश्रित आदि-वासी इस वर्ग में आते हैं। मानवजातिविज्ञानी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों का मूल संबंध दक्षिण-पूर्व एशिया की कतिपय जातियों से जोड़ते हैं। किंतु यह कहना कठिन है कि इन जातियों का संबंध अपने उद्गम स्थल से कब बना रहा।

1961 की जनगणना के अनुसार आस्ट्रेलिया के 40,081 आदिवासी शुद्ध उपवर्ग में और 39,172 आदिवासी मिश्रित उपवर्ग में आते हैं। शरीरवैज्ञानिक लक्षणों के आधार पर इन सभी आदिवासियों को आस्ट्रे-लाइड की संज्ञा दी जाती है। इनका वर्ण प्रायः कत्थई है। बालों से भरा शरीर, छोटा माथा, संकरा कपाल, फैला हुआ मुंह, बड़ी और चपटी नाक आदिवासियों के मुख्य शारीरिक लक्षण हैं। मिश्रित आदिवासियों में रक्तमिश्रण की मात्रा-नुसार अनेक अंतर पाये जाते हैं। कई मिश्रित आदिवासी शारीरिक लक्षणों में श्वेत वर्ग के बहुत समीप हैं, तो कई शुद्ध आदिवासी वर्ग के।

1778 की जनगणना के अनुसार आस्ट्रेलिया के शुद्ध आदिवासी 500 कबीलों में बंटे हुए थे। यूरोपीय जातियों के आगमन के परिणामस्वरूप शुद्ध आदिवासियों की जनसंख्या में अनेक परिवर्तन आये। उनके अधिकांश कबीले नष्ट कर दिये गये। उन्नत शस्त्रास्त्रों के बल पर प्रवासी श्वेत जातियों ने खेतों और चरागाहों पर अधिकार कर लिया और आदिवासियों को जंगल में खदेड़ दिया। आज मध्य आस्ट्रेलिया के कुछ सौ आदिवासियों के अतिरिक्त अन्य सभी शुद्ध एवं मिश्रित उपवर्ग युरोपीय जातियों के संपर्क में रहते हैं।

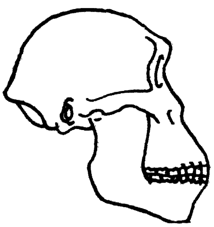
सभी आदिवासियों में परिवार ही समाज की मूल इकाई है। कबीलों की परंपराएं मातृसत्तात्मक भी हैं और पितृ सत्तात्मक भी। कई कबीलों में मिश्रित परंपराएं हैं। प्रत्येक कबीले का निश्चित सीमावाला एक क्षेत्र होता है। आसपास रहनेवाले कई कुल किसी एक टोटम में विश्वास करते हैं, टोटम संबंधी नियमों का पालन करते हैं और समान मिथकों में विश्वास करते हैं। विश्वविख्यात शस्त्र बूमरेंग इन्हीं कबीलों का है। इसका प्रयोग शिकार के अतिरिक्त गाने के साथ ताल देने के लिए भी होता है।

श्वेत वर्ग : आस्ट्रेलियावासी यूरोपीय जातियों में प्रवासी-ब्रिटिश और उनकी संतानों की संख्या सबसे अधिक है। अंग्रेज प्रवासियों को इंग्लिश, आइरिश, स्काटिश और वेल्स श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पिछले दशकों में अन्य यूरीपीय देशों से आये प्रवासियों की संख्या सबसे अधिक है। इन प्रवासियों में जर्मन, इटालियन, पोलिश और ग्रीक प्रमुख हैं। औद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ नये प्रवासी यूरोपीयनों की संख्या भी तेजी से बढ़ी है। उद्योग-धंधों में काम करने के कारण श्वेत वर्ग की सभी जातियों की आर्थिक स्थित बहुत अच्छी है।

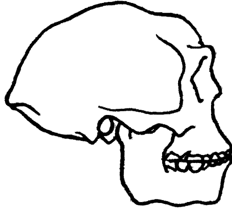
आस्ट्रेलोपिथिसिनी : बेचवानालैंड, दक्षिण अफ्रीका में टांगस के समीप रेतीले चूने के पत्थर के निक्षेपों में सन् 1924 में आर० ए० डार्ट ने एक अपूर्ण कपाल (जीवाश्म मस्तिष्क कोश के साथ) की खोज की और उसको आस्ट्रेलोपिथिकस अफ्रीकेनस का नाम दिया। इस खोज का विस्तृत अध्ययन ब्रूम एवं अन्य विशेषज्ञों द्वारा बाद में किया गया।

यह कपाल लगभग 6 वर्ष की आयु के एक बालक का था। केवल ललाटिका को छोड़कर इस मस्तिष्ककोश को ढकने-वाली और सारी अस्थियां खो चुकी थीं। ललाटिका लगभग पूर्ण थी। आनन का अधिकतर भाग (24 दांत—20 दुग्ध दांत एवं 4 स्थायी प्रथम चर्वणक के रूप में) सुरक्षित था।

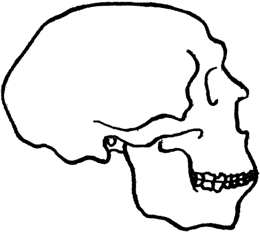
सैपियन्स रखता है। ली ग्रास क्लार्क ने बतलाया है कि आस्ट्रेलोपिथिसिन कपाल की तीन होमोनिड आकृतियां एक-दूसरे से संबंधित हैं। यौगिक का एक भाग, शीर्ष में स्थित होने की विधि से संबंधित है और शीर्ष की स्थिति मेरुदंड से संबंधित है। सांख्यिकीय विश्लेषण दर्शा चुका है कि तीन घातांक अर्थात् अध्याक्षि उच्चता, मन्याक्षेत्र उच्चता और अस्थिकंदीय स्थिति, मिलाकर आस्ट्रेलोपिथिसिन कपाल को महाकपियों की विविधताओं की सीमाओं से बाहर रखते हैं एवं यथार्थ होमोनिड में कपालों में पाये गये परिसर के भीतर रखते हैं।



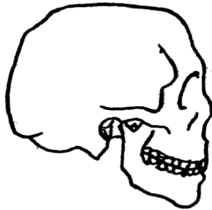
आस्ट्रेलोपिथिसिनी



पिथिकेंथ्रोपाइन



नियंडरथल

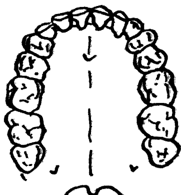


होमोसेपियन्स

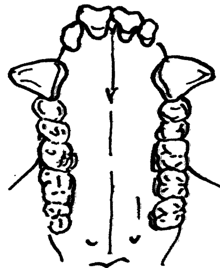
आस्ट्रेलोपिथिसिनी के दांत, हनु एवं तालु का विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है। ऊर्ध्व हनु और तालु में चिह्नित न्यूनीकरण होता है। कृंतक प्रदेश का प्रतिसार होता है, जो होमोनिड कपाल की प्रारूपिकता है। कपि प्रक्षेप नहीं होता और सामान्य रूप से हनु में अनेक होमोनिड विशेषताएं होती हैं। आस्ट्रेलोपिथिसिन का दंत-विन्यास इन नीपश्म में जातिवृत्तीय बंधुताओं के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण है। आस्ट्रेलोपिथिसिन के दंत-विन्यास का संपूर्ण आकृतीय प्रतिमान, होमोनिडी में दंत-विन्यास के प्रतिमान के समान होता है (चित्र 2)। दंत मीथिका एक सम वक्र में होती है। कोई दंतावकाशीय अंतर नहीं होता है। आस्ट्रेलोपिथिसिन के उच्च कृंतक छोटे और रदनक के तल तक संकुचित होते हैं। रदनक आकार में छोटे होते हैं और महाकपियों की अपेक्षा छोटे होते हैं।

सीवन : आस्ट्रेलोपिथिसिनी कपाल में सीवन संबंधित विशेषताएं सामान्य होमोनिड अवस्था के समान होती हैं। अर्थात् शंखीय खात में स्फीनोपैराइटल कांटेक्ट होता है, जबकि नेत्र-कोटर में झनझेरिका अश्रु तथा अग्रखात में स्फीनों इथंपाइडल कांटेक्ट (ब्रूम 1950)। यह स्थिति संभवतः स्टर्कफोंटीन कपाल में भी पायी जाती है (ब्रूम 1950)।

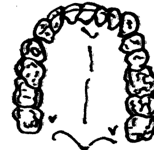
संघीय अंतःकपाल : आस्ट्रेलोपिथिसिनी के अनेक प्राकृतिक अंतःकपाल पाये जा चुके हैं। ऐसे दो अंतःकपाल के लगभग पूर्ण नमूने टांग और स्टर्कफोंटीन में और दो खंडित अंतःकपाल सौसीमैन और स्टर्कफोंटीन में पाये गये हैं।



ऊर्ध्व हनु आस्ट्रेलोपिथिकस



पान (गोरिल्ला)



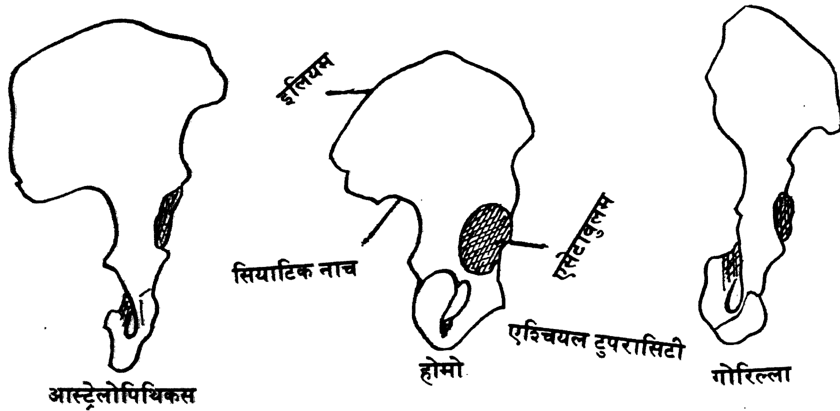
होमो

कोटर अंत:कपाल का प्लास्टर ढला भी तैयार किया जा चुका है अथवा स्टर्कफोंटीन, क्रोमदरार्म एवं कमापांसागर में कपाल की अवस्थाएं। इन में से अधिक अंत:कपाल संचय का विस्तृत अध्ययन स्कैपर्स (1946, 1950) द्वारा किया जा चुका है। सूक्ष्म निरीक्षण करने से ज्ञात हुआ है कि आस्ट्रेलोपिथिसिन अंत:कपाल ढाल के मुख्य अनुपात एवं सामान्य आकार अधिक विशिष्ट रूप से बड़े वनमानुषों अथवा गोरिल्लाओं से भिन्न नहीं होते। किंतु दो विशेष बातों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है:

(क) अग्रललाटपालि एवं शंखीय ध्रुव के मध्य 'सिल्वियन नांच' अधिक गहरी है और दीर्घ नरवानर कपियों की अपेक्षा मुख्य रूप से अधिक विशिष्ट है।

प्रकार के समान होते हैं। यह किसी परिचित मानवाकार वानर नाषों में नहीं पाये गये हैं।

श्रोणि एवं दीर्घास्थियां : आस्ट्रेलोपिथिसिनी का अत्यधिक आकृतीय विशेषण ऊर्ध्व स्थिति और श्रोणि का द्विपद विचरण के लिए तथा दीर्घ अस्थियों का रूपांतरण है। आस्ट्रेलोपिथिसिनी श्रोणि-रचना दक्षिण अफ्रीका में पायी जा चुकी है। उनमें उनकी आधारभूत होमोनिड रचनात्मक आकृतियां पायी जाती हैं। जीवाश्म-श्रोणि अस्थि में फीमर एवं टिकिया कुछ बर्टिका यूटिन आस्ट्रेलोपिथिसिन कपाल के खंडों के साथ पाये गये थे। दूसरा सौसीमन में छायान्सौट में 1948 में पाया गया था, जहां स्वार्टकांस में 1950 में तृतीय आस्ट्रेलोपिथिसिन श्रोणि की खोज की गयी थी।



पेलवीस

(ख) अन्य विशेषताएं जीवाश्म संघीय अंत:कपाल पर संवलन छापों की अधिकता और जटिलता है।

अग्रललाट एवं उच्च आननी प्रदेश : स्टर्कफोंटीन कपाल में ललाट की समोच्च रेखा, सुपराआर्बिराल एमिनैनसैस नेत्रकोटर द्वारकों का अभिविन्यास, गंडचाप का उच्च तल और गंडास्थि का संक्षिप्त प्रवर्ध, पूर्ण आकृतीय विशेषता को दर्शाते हैं, जो बिल्कुल होमोनिड है। स्टर्कफोंटीन कपाल में यही परंपरा बहुत कुछ रूप से होती है।

चिबुकास्थि खात : क्रोम पदार्थ कपाल में चिबुकास्थि-खात विशेष रूप से भलीभांति सुरक्षित है। आस्ट्रेलोपिथिसिनी की चिबुकास्थि-खात का निर्माण करनेवाले सभी भाग, विशेष रूप से क्रोम पदार्थ, पूर्ण रूप से होमोनिड

स्टर्कफोंटीन और स्वार्सक्रांस नमूने का ब्रूम एवं राबिन्सन ने विवरण (1950-52) दिया है और मैकायान्सगैट श्रोणि का विस्तृत वर्णन डार्ट (1944) ने किया है।

आस्ट्रेलोपिथिसिन जीवाश्म श्रोणि-अस्थियों की निम्नलिखित विशेषताएं इस बात की साक्षी हैं कि ये होमोनिड श्रोणि हैं:

(क) अग्रनिष्ठ इलियक स्पाइन पूर्ण रूप से विकसित है। इस स्पाइन के साथ इलियोफीमोरल लिगामैंट जुड़ा होता है।

(ख) इलियक क्रेस्ट मी० पोस्टीरियर एक्ड्रीभित्ती के पीछे की ओर बढ़ी हुई होती है। इलियम मपि इलियस की अपेक्षा अधिक चौड़ा और छोटा होता है (दे० चित्र)।

चौड़ी इलियम ग्लूटियस पेशियों को लंबाई में जोड़ती है, जो पैरों पर शरीर के संतुलन में महत्त्वपूर्ण है।

(ग) सियाटिक नाच अत्यधिक असमकोणीय अथवा न्यून होती है, आसनास्थि कंटक (इश्चियाल स्पाइन) विशिष्ट रूप से विकसित होता है।

(घ) आसनास्थि (इश्चियलटुबरासिटी) गंडक अपेक्षाकृत ऊंची होती है, जो हेमर्स्ट्रिंग पेशियों के कार्य को अधिक समर्थ बनाती हैं।

(ङ) श्रोणिफलक के अधर तल पर एक गहरी एवं पूर्ण चिह्नित खांच होती है, जो ईलीयोपसोस मांसपेशियों का उद्‌भव है।

आस्ट्रेलोपिथिसिनी श्रोणि की क्रियात्मक व्याख्या का संपोषण निम्न पादों से होता है। स्टर्कफोंटीन में ब्रूम एवं राबिन्सन (1929), ब्रूम और शेषर्स (1946) को फीमर के दूरस्थ छोर में दो नमूने पाये गये, जो पूर्ण आकृतीय प्रतिरूप के साथ लक्षणों का समन्वय दर्शाते हैं, जो मानवीय फीमर के बहुत समरूप है एवं ऊर्ध्व द्विपादगमन हेतु एक यांत्रिक अनुकूल का प्रतिनिधित्व करती है। इस विचार के समर्थक आकृतीय लक्षणों में कांड की तिर्यकता एवं स्थूलता, अस्थि कंधों का विशिष्ट संरेखण, पटैलर तलों की समोच्च रेखा एवं अंतरामंद नाथ का आगे की ओर लंबा होना सम्मिलित है। दक्षिणी अफ्रीकी आस्ट्रेलोपिथिसिनी खोजों में हाथ एवं पैरों के कुछ अस्थि-दंड भी साथ थे। क्रोमदरार्म में गुल्फास्थि (टेलर्स) का टुकड़ा पाया गया था, जिसमें कुछ पोंगिड तथा होमोनिड लक्षण मिश्रित पाये गये थे। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी थी कि यह शरीर के भार को सहने तथा अधिक गतिशील पैर के लिए स्थायी गुल्फ जोड़ की ओर निर्दिष्ट करता है। प्रथम मैटाटारसल अस्थि ही महत्त्वपूर्ण है। यह स्थूल है और उसी तरह की होती है जैसी मानव में होती है और यह सुझाती है कि आस्ट्रेलोपिथिसिनी की स्वाभाविक चाल द्विपादगमन थी।

ओल्दुवाई जार्ज की खोजों में पूर्वी अफ्रीकी आस्ट्रेलोपिथिसिनी के हाथ एवं पैरों की अनेक अस्थियां भी प्राप्त हुई हैं। पैर से 12 अस्थियां पायी गयी थीं। नैपियर (1960) ने इन अस्थियों का अध्ययन किया और उनका विश्लेषण निर्दिष्ट करता है कि यह ओल्दुवाई पाद कंकाल एक द्विपादी होमोनिड का है। अस्थियों के मध्य अनेक संधियां एवं अनुपात होमोनिड के समान है अथवा जीवित पोंगिड, जैसे गोरिल्ला, की अपेक्षा होमोसेपियन्स के अधिक निकट हैं।

आस्ट्रेलोपिथिसिनी की जातिवृत्तीय स्थिति : आस्ट्रेलोपिथिसिनी-जीवाश्म मानवीय जाति-वृत्त के अध्ययन हेतु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वान कींगस्वाल्ड (1952) ने आस्ट्रेलोपिथिसिनी के आकृतीय अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्ष निकाला है कि वे पिथिकेंथोपाआइड के पूर्वज नहीं हैं, किंतु कदाचित उस अप्रवृत्त समूह के प्रतिनिधि हैं, जिसको होमोनिड तल तक पहुंचने में सफलता नहीं मिली। ग्रेगरी (1949) का कहना है कि आस्ट्रेलोपिथिसिनी की खोज, चाहे वे मानव के सीधे पूर्वज हों अथवा सरल रूप से उसके आदि पूर्वजों में से एक हों, एक निश्चित निष्कर्ष निकालने में सहायता दे चुकी है अर्थात् यह संप्रत्यय कि मानवाकार—वानरसमूह से संबंधित है (न कि नेवलेसंचयी तुलनात्मक आहतकीय प्रमाण द्वारा, अपितु जीवाश्म प्रमाण द्वारा भी), उसका विश्वास है कि आस्ट्रेलोपिथिसिनी मानव जाति की देहली पर है।

ली ग्रास क्लार्क (1955) के अनुसार, आस्ट्रेलोपिथिसिनी का पूर्ण आकृतीय रूप मस्तिष्क में छोटे होने के बाद भी, कपाल, दंत एवं कपालोत्तर कंकाल पोंगिडी की अपेक्षा होमोनिडी के समान हैं। विल्फ्रेड लीग्रास क्लार्क का विश्वास है कि आस्ट्रेलोपिथिसिनी विकास के होमोनिड अनुक्रमों के पूर्व-मानवीय चरण के प्रतिनिधि हैं। वह आस्ट्रेलोपिथिसिनी का वर्णन इस प्रकार करता है: दक्षिणी अफ्रीका में अत्यंत-नूतन-युग के आरंभ में, दीर्घ मानवाकार वानरों की अपेक्षा कुछ अधिक कपाल आयतनवाले आद्य होमोनिड का प्रादुर्भाव हुआ था। किंतु पाद संरचना, ऊर्ध्व संस्थिति एवं चाल के विकास से बहुत कुछ संबंधित था, जो सामान्य रूप से होमोनिडी में विकासीय अनुक्रमों को विशिष्ट रूप से चित्रित करता है।

इबान जाति : इबान जाति के लोग बोर्नियो द्वीप की नैर्ऋती (दक्षिण-पश्चिम के मध्य की) दिशा में स्थित देश के लोग हैं। बोर्नियो द्वीप के वायव्य (उत्तर-पश्चिम) भाग पर सारवाक राष्ट्र बसा हुआ है। इसके निवासी कई जातियों के लोगों का सम्मिश्रित रूप हैं। इनमें से इबान जाति सबसे बड़ी है।

इबान लोग सारवाक राष्ट्र के पिछड़े हुए दो-तीन

परगनाओं में बिखरे हुए हैं। बोर्नियो द्वीप में इंडोनेशिया राष्ट्र का एक हिस्सा है। वह हिस्सा कालिमंटान के नाम से जाना जाता है। इस भाग में कापस नदी बहती है। इस नदी के उद्गम स्थान की पश्चिमी ओर भी इबान जाति के लोगों का समूह रहता है।

इबान लोग मलय जाति के मूल के हैं। इनका कपाल चौड़ा होता है। ये लोग नाटे होते हैं। आम तौर पर पुरुषों



इबान जाति

की लंबाई 158.8 से० मी० की होती है। इन लोगों की आंख की पुतलियां काली, नाक चौड़ी, केश नाजुक और लंबे और चमड़ी जली हुई सी काली होती है। इनकी भाषा मलय देश की भाषा से मिलती-जुलती है। इन लोगों को देश-भ्रमण प्रिय है। साधारण तौर पर इनका कोई भी परिवार किसी एक गांव में तीन साल से ज्यादा नहीं टिकता।

खेती इबान जाति का परंपरागत पेशा है। ये लोग जहां भी जाते हैं वहां की जमीन को खेती योग्य बना लेते हैं और अपनी आवश्यकता के अनुसार पैदावार कर लेते हैं। बोर्नियो द्वीप अक्षांश मंडल में पड़ता है। यहां वर्षा बेहद होती है। ये लोग पहाड़ों के आस-पास के जंगली इलाकों को साफ कर खेती करते हैं। इबान जाति के लोग खरीफ की खेती करने में विशेष रूप से निपुण होते हैं।

ये लोग नदी के तट पर लंबे आकार की झोंपड़ियां बनाकर रहते हैं। पेड़ों के तनों को काटकर बहुत कुशलता के साथ बनायी गयी नावों में ये सफर करते हैं। इन लोगों के निवास स्थानों पर जनसंख्या बहुत कम होती है। 1947 की जनगणना के अनुसार इन लोगों की संख्या 1,90,326 थी। इबान जाति के लोग अपनी लंबी झोंपड़ियों को बराबर-बराबर के 15 भागों में बांटते हैं और हर भाग में एक परिवार रहता है।

इबान जाति के लोग 'एक-पत्नी' वाले नियम का पालन करते हैं। आम तौर पर इनके परिवार में बड़ों, बच्चों को मिलाकर छह लोग नजर आते हैं। हर परिवार के पास जीविका के लिए आवश्यक जमीन-जायदाद होती है। इन लोगों में उच्च वर्ग, निम्न वर्ग जैसा कोई भेद नहीं होता है। समाज के सारे लोगों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। पुरुषों के बराबर ही स्त्रियां भी मानी जाती हैं। बुनाई के काम में खासकर स्त्रियां निपुण होती हैं।

इबान लोग किसी भी हालत में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। ये लोग उल्लसित होकर आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते हैं और सामान्य ढंग से जीवन बिताते हैं। इनमें शौर्य, धैर्य, सत्यपालन, आत्म-गौरव आदि गुण पाये जाते हैं। एक प्रचलित मत के अनुसार ये लोग पुराने जमाने में नरहंतक हुआ करते थे। लेकिन अब यह आदत इनमें नहीं पायी जाती है।

इबान जाति के कुछ लोग तांत्रिक पूजाएं कर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। अभी कुछ ही समय के पूर्व तक ये लोग अशिक्षित और अंधविश्वासों से ग्रस्त थे। लेकिन कुछ शताब्दियों पहले से भारत के लोगों ने मलय और उसके आस-पास के द्वीपों में जाकर हिंदू धर्म का प्रचार करना आरंभ कर दिया था। उन लोगों को भारत की वे सारी कथाएं बतायी गयीं, जिनमें देवताओं के, मानव की रक्षा के लिए धरती पर अवतरित होने की बातें कही गयी

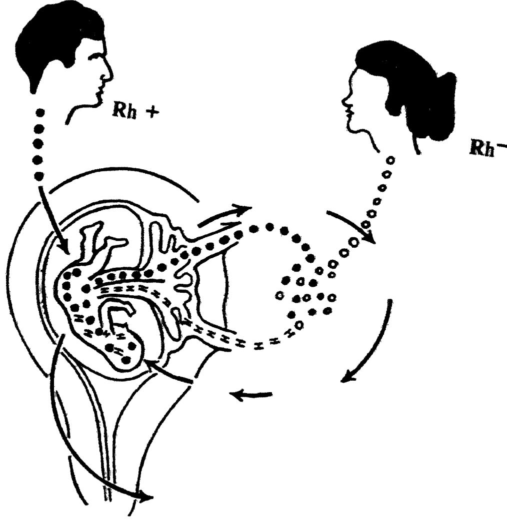
हैं। इसी प्रचार के प्रभाव में आकर जावा, बोर्नियो आदि द्वीपों के लोग हिंदू देवताओं की आराधना करने लग गये। इबान जाति के लोगों ने भी हिंदू देवताओं में विश्वास कर लिया। ये लोग 'राहु' की आराधना करते हैं।

अब तो इबान जाति के लोगों में आधुनिक शिक्षा का भी प्रचार हो रहा है। साहसी और प्रसन्न-प्रकृति के होने के कारण इन लोगों के उत्तरोत्तर विकास की संभावनाएं दिखायी पड़ती हैं।

इराइथ्रोब्लासटोसिस फीटेलिस : यह नवजात शिशुओं का एक रोग है, जिसे हीमोलिटिक रोग भी कहते हैं। भ्रूण में लाल कोशिकाओं के शोणांशन के कारण अनीमिया उत्पन्न होता है एवं इसके पश्चात् पीलिया रोग होता है। रुधिर में अपरिपक्व लाल रुधिर कोशिकाएं होती हैं, जिन्हें इराइथ्रोब्लास्ट कहते हैं और इसी कारण इस रोग का नाम इराइथ्रोब्लासटोसिस फीटेलिस पड़ा है। ये कोशिकाएं सामान्यतः अस्थिमज्जा में पायी जाती हैं, जहां इन कोशिकाओं का निर्माण होता है। यह रोग इतना तीक्ष्ण होता है कि जन्म से पूर्व ही शिशु की मृत्यु हो जाती है अथवा नवजात मृत्यु भी हो जाती है। किंतु वह शिशु, जो ठीक हो जाता है, बाद में पूर्णतः स्वस्थ रहता है।

आरएच० (Rh) प्रतिजन की खोज से पहले तक इस रोग का आनुवंशिक क्रियापथ मालूम नहीं था। खोज के पश्चात् ही इसका वंशागति पथ निर्धारित किया गया है। आरएच० (Rh) रुधिर पद्धति में यथार्थ में तीन जीन प्रमुख भाग लेते हैं (फिशर)। ये तीन जीन हैं CDE जो एक प्रभावी युग्म-विकल्पी हैं एवं cde जो एक अप्रभावी युग्मविकल्पी हैं।

ये जीन गुणसूत्र पर इतने निकट होते हैं कि वे साधारण रूप से एक जीन की तरह कार्य करते हैं। लेविन ने पता लगाया कि इराइथ्रोब्लासटोसिस फीटेलिस से पीड़ित 90 प्रतिशत बच्चे आरएच० धनात्मक (Rh+) होते हैं अर्थात् रुधिर में आरएच० प्रतिजन होता है तथा इन बच्चों की माताएं आरएच० ऋणात्मक (Rh−) (CDE/cde) हैं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि आरएच० (Rh) असंयोज्यता के कारण इराइथ्रोब्लासटोसिस फीटेलिस रोग होता है (दे० चित्र)। सामान्यतः मानव रक्त में आरएच० प्रतिजन के विरुद्ध विशिष्ट प्रतिरक्षी नहीं होता। किंतु आरएच० ऋणात्मक (Rh−) व्यक्तियों में आरएच० धनात्मक (Rh+) रुधिर के लगातार संचारित होने से प्रतिरक्षी उत्पन्न किया जा सकता है।



इराइथ्रोब्लासटोसिस फीटेलिस

जब किसी आरएच० ऋणात्मक (Rh−) स्त्री के आरएच० धनात्मक (Rh+) भ्रूण होता है (जो पिता से वंशागत होता है), तो भ्रूण से आरएच० प्रतिजन, अपरा को वेधकर माता के रुधिर में प्रवेश कर सकते हैं तथा परिणामस्वरूप प्रतिरक्षी का उत्पादन करते हैं। यह प्रतिरक्षी आरएच० ऋणात्मक (Rh−) माता की रुधिर कोशिकाओं को हानि नहीं पहुंचाते; क्योंकि उनसे प्रतिजन की कमी होती है। जब माता से प्रतिरक्षी अपरा से आरएच० धनात्मक (Rh+) भ्रूण की ओर जाते हैं तब भ्रूण की लाल रुधिर कोशिकाओं एवं प्रतिरक्षी के मध्य एक प्रातिकारिकीय क्रिया होती है, जिसके कारण इराइथ्रोब्लासटोसिस फीटेलिस होता है।

इसके विपरीत यदि आरएच० धनात्मक (Rh+) माता के आरएच० ऋणात्मक (Rh−) गर्भ होता है, तो सम प्रातिकारि-जनन नहीं होता।

असंयोज्य माताओं एवं भ्रूणों में आरएच० रुधिर-वर्ग-पद्धति तथा ए० बी० ओ० रुधिर-पद्धति के मध्य पारस्परिक

क्रिया : एक स्त्री, जिसका रुधिर प्रकार 'ओ' (O) और आरएच० ऋणात्मक (Rh−) है, का विवाह एक ऐसे पुरुष से होता है जिसका रुधिरप्रकार 'ए' (A) और आरएच० धनात्मक (Rh+) है, तो इस विवाह से गर्भ का 'ए' (A) रुधिर वर्ग और आरएच० धनात्मक (Rh+) हो सकता है। भ्रूण से लाल रुधिर कोशिकाएं माता के रक्त संचारण में प्रवेश करके एंटी आरएच० प्रतिरक्षी के उत्पादन को तीव्र गति दे सकती है और परिणामस्वरूप नवजात शिशु को गंभीर हीमोलिटिक रोग हो सकता है यद्यपि माता में जन्म से ही रक्त संचरण में एंटी-ए प्रतिरक्षी होता है। इसी कारण यदि भ्रूणीय लाल रुधिर कोशिकाएं 'ए' (A) प्रकार की हैं एवं आरएच० धनात्मक (Rh+) हैं, तो माता की एंटी-ए प्रतिरक्षी से लाल रुधिर कोशिकाएं नष्ट हो जायेंगी। इस प्रकार की घटना में एंटी आरएच० प्रतिरक्षी के उत्पादन में किसी भी प्रकार का उद्दीपन नहीं होगा।

इराक्वाई जाति : उत्तरी अमेरिका की 'इराक्वाई' जाति 1570 में अस्तित्व में आयी थी। इस जाति के अंतर्गत 'मोहाक', 'सेनेका', 'ओनीडे', 'ओनेन डोगे', 'कायूगा' नामक पांच समूहों का प्रतिनिधित्व है। 1715 में 'टस्कारोरा' नामक एक और जाति इसमें सम्मिलित कर ली गयी थी। उत्तरी अमरीका की ओहियो नदी के दक्षिण-पश्चिमी प्रांत में स्थायी रूप से बसी हुई यह जाति अमरीकी-इंडियन भाषा समूह से संबंधित इराक्वाई भाषाएं बोलती है।

यह जाति सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत उन्नत थी। पुरुषों की प्रधान वृत्ति शिकार था। स्त्रियां धान, तंबाकू और सेम की फलियों की खेती करती थीं। समाज में स्त्रियों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। बड़े-बड़े मकानों में रहना इस जाति की विशेषता थी। सामाजिक व्यवस्था को ठीक से चलाने के लिए ये लोग एक समिति का चुनाव करते थे। आपसी झगड़ों का निपटारा करना, नर-मांस भक्षण पर प्रतिबंध लगाना समिति के काम होते थे। जो लोग समिति के नियमों का उल्लंघन करते थे उन्हें कठोर दंड दिया जाता था।

इराक्वाई जाति के लोगों ने ब्रिटिश सरकार के साथ वफादारी दिखाते हुए फ्रांसीसी सरकार का तीव्र विरोध किया था। अमरीका के स्वतंत्रता-युद्ध के समय ब्रिटिश का साथ देने के कारण इन पर विपदा टूट पड़ी थी। आजकल इनमें से कुछ लोग केनाडा में, कुछ विसकांसिन प्रांत में तथा कुछ न्यूयार्क नगर में रहते हैं। इराक्वाई जाति के ज्यादातर लोग अब ईसाई धर्मावलंबी हैं।

ईषवा जाति

ईषवा जो तिय्या के नाम से भी जानी जाती है, केरल की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण जाति है। केरल प्रांत की कुल जनसंख्या में से करीब 30 प्रतिशत लोग इस जाति के हैं।

यद्यपि, परंपरागत वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार प्राचीन काल में ईषवा या तिय्या लोग पिछड़े और एक हद तक अछूत माने जाते रहे हैं, किंतु इन लोगों ने अपनी मेहनतकशी, अध्ययनशीलता और प्रगतिशील विचारधारा के बूते अपने-आपको इस हद तक विकसित और उन्नत बना लिया है कि हर दृष्टि से केरल के सवर्णों के साथ आसानी से इनकी तुलना की जा सकती है। यह कहना संभवतः अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भारत की यही अकेली पिछड़ी जाति है जिसने अपने पिछड़ेपन को तोड़कर सामाजिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से स्वयं को शेष समाज के स्तर तक ऊपर उठाया है। वर्तमान युग में, ईषवा या तिय्या जाति में कई लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजसुधारक तथा राजनीतिज्ञ हुए हैं जिनका योगदान भारत की सांस्कृतिक-सामाजिक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा।

ईषवा जाति के उद्गम को लेकर कई विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। एक विचारधारा के अनुसार ईषवा लोग मूलतः विदेशी है और इन्होंने ही सबसे पहले भारत में नारियल का प्रवेश कराया था। एक और विचारधारा के अनुसार, चेरमन पेरुमाल नामक केरल के एक प्राचीन शासक ने ईषतुनाडु (वर्तमान श्रीलंका) नामक प्रदेश से चेकान के नाम से जाने जानेवाले लोगों के एक समूह को अपने यहां आमंत्रित किया था और उन्हें आश्रय दिया था। इस मत के अनुसार चूंकि ये लोग ईषतुनाडु से आये थे इसलिए ईषवा के नाम से पहचाने जाने लगे। इसी जाति का जो दूसरा नाम तिय्या है उसके संबंध में यह कहा जाता है कि यह शब्द तीवा शब्द का परिवर्तित रूप है जो मूलतः संस्कृत शब्द द्वीप का अपभ्रष्ट रूप है। किंतु एम० श्री निवास अय्यंगार जैसे प्रख्यात विद्वानों ने इन स्थापनाओं पर घोर आपत्ति की है और

यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि ये तमाम स्थापनाएं निर्मूल हैं।

संभवत: ईषवा शब्द 9वीं शताब्दी में प्रयुक्त हुआ है। राजा स्तानु रवि के तारिसपल्लि शिलालेखों तथा राजराज चोल के तंजाऊर शिलालेखों में इस शब्द का प्रयोग एक समूह के नाम के रूप में हुआ है। विख्यात इतिहासज्ञ एलम्कुलम् कुञ्जन पिल्ले के मतानुसार सर्वप्रथम केरल पर चेरा साम्राज्य का आधिपत्य था और इसके शासक विल्लवा या ईषवा थे।

ईषवा या तिय्या जाति के लोग यद्यपि मुख्यत: किसान माने जाते हैं फिर भी अन्य कई क्षेत्रों में इनकी खासी पहल है। इनमें कई लोग अब भी परंपरागत कालरिपायाट्टु (एक प्रकार की सामरिक कला), वैद्य, ज्योतिष, व्याकरण आदि शास्त्रों का बाकायदा अध्ययन करते हैं।

इस जाति में, लड़की के पुष्पवती होने के बाद विवाह करने की प्रथा है। प्रोटो-आस्ट्रलाइड प्रथा के अनुसार मामा की लड़की के साथ विवाह करने की प्रथा भी इनमें प्रचलित है। अभी कुछ समय पूर्व तक भी, ईषवा जाति में तीन प्रकार के पारिवारिक गठन प्रचलित थे। उत्तरी मलबार के तिय्या लोगों के परिवारों में मातृ सत्तात्मक व्यवस्था स्वीकृत थी। दक्षिणी मलबार तथा कोचीन के तिय्या लोगों में पितृ सत्तात्मक पारिवारिक गठन प्रचलित था। त्रिवांकुर के ईषवा लोगों में इन दोनों की मिली-जुली परंपरा प्रचलित थी।



ईषवा जाति का पुरुष

ईषवा या तिय्या जाति में सर्वप्रथम सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना फूंकनेवाले थे श्री नारायण गुरु। ये समाज सुधारक ही नहीं, संस्कृत और मलयालम के प्रकांड विद्वान और प्रतिभाशाली लेखक भी थे।

उत्तरजीविता : डार्विन के विकासवाद की यह एक प्रमुख धारणा है कि बाह्य वातारण के प्रभावों को झेलते हुए जीवधारियों में अस्तित्व-रक्षा के लिए जो संघर्ष होता है, उसमें वही जीतता है, जो सबसे अधिक समर्थ होता है, और वही जीवित भी रहता है। विकासवाद के अनुसार प्राकृतिक वरण के द्वारा जीवधारी बाह्य वातावरण के प्रति अपनी अनुकूलनीयता विकसित करते रहते हैं। प्राकृतिक वरण उनकी शारीरिक संरचना और उनके क्रिया-कलापों में निरंतर विकास करता रहता है। इसी धारणा के आधार पर सामाजिक डार्विनवाद सामने आया है, जिसके अनुसार अस्तित्व का संघर्ष और प्राकृतिक वरण ही सामाजिक प्रगति के प्रेरक हैं। इस धारणा के आधार पर मानव-विज्ञानियों तथा समाजविज्ञानियों ने कुछ गलत निष्कर्ष भी निकाले और मानव-समाज में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत का चरितार्थ होना उचित माना। लेकिन कुछ विकासवादियों ने उत्तरजीविता के इस मत को चुनौती दी और (एल्मर पेंडेल, फ्रांसिस मांटेग्यू आदि ने) कहा कि प्राकृतिक वरण अब पुरानी बात हो गयी है। विज्ञान और प्रविधि में हुई प्रगति ने अस्तित्व के संघर्ष को बहुत कुछ कम कर दिया है और अब यह जरूरी नहीं रह गया है कि समर्थतम ही विजयी होकर जीवित बचे। अब वैज्ञानिक और सामाजिक प्रगति ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं कि उत्तरजीविता के स्थान पर सहजीविता को रखा जा सकता है।

उत्तर पाषाणकाल : उत्तर पाषाणकाल में क्रोमेग्नन मानव का विकास हुआ। उनके अस्त्र नियेंडरथल युग के मानव के अस्त्रों से भिन्न थे। उत्तर पाषाणकाल 'वर्म' के अंत से आरंभ होकर 'प्लीस्टोसीन' काल के अंत तक रहा। 'प्लीस्टोसीन' काल के अंत में जलवायु एक-सी नहीं थी, कभी गर्मी तथा कभी सर्दी हो जाती थी। इसी कारण उत्तर पाषाणकाल की संस्कृति समय-समय और स्थान-स्थान पर अलग-अलग थी। इस काल की संस्कृति की तीन अवस्थाएं मानी जाती हैं:

1. आरिगनेशियन, 2. सोल्यूट्रियन तथा 3. मैगडालीनियन।

कुछ वैज्ञानिकों का यह मत है कि उत्तर पाषाण संस्कृति के निर्माता पूर्व से पश्चिमी यूरोप में आये थे, लेकिन कुछ अन्य वैज्ञानिकों के अनुसार उत्तर पाषाणकाल की संस्कृति

में इतनी विभिन्नता पायी जाती है कि वह कई स्थानों पर एक साथ विकसित हुई मालूम पड़ती है।

आरिगनेशियन काल : इस काल के अवशेष सर्वप्रथम फ्रांस में आरिगनाक नामक स्थान में प्राप्त हुए और इसी स्थान के नाम पर इस काल का नामकरण आरिगनेशियन काल किया गया। इनके अस्त्र लंबे एवं संकीर्ण होते थे। वे छेनी के प्रकार के अस्त्रों से पाषाण एवं अस्थियों पर नक्काशी करते थे। खुरचने के अस्त्र, नक्काशी करने के औजार तथा चाकू के फाल इत्यादि आरिगनेशियन काल की खुदाई में पाये गये हैं। इसके साथ छोटी कुल्हाड़ियां भी पायी गयीं हैं। इस काल में अस्थियों के बने हुए अस्त्र भी पाये गये हैं। अस्थियों के कुछ अस्त्रों पर पशुओं के चित्र भी खुदे हुए हैं। इस काल में बर्फ पीछे को छटनी शुरू हो गयी थी।

सोल्यूट्रियन : इस काल का नाम पश्चिमी यूरोप के सोल्यूटर नामक स्थान के आधार पर पड़ा, जहां इस काल के अवशेष मिले थे। इनके अस्त्र बहुत सुंदर थे। ये फ्लिट पत्थर के बने पत्तेनुमा भाले के फाल थे, जिन पर दोनों ओर से नक्काशी का काम किया हुआ था। इनकी मोटाई भी बहुत कम है। इस काल के अंत में पाये गये अस्त्रों के नीचे का आधा भाग कटा हुआ पाया गया है। साल्यूट्रियन मानव पश्चिमी यूरोप में अपने नये अस्त्रों के साथ आये और इन्होंने आरिगेनेशियन मानव को कई स्थानों में पराजित किया और वहां से भगा दिया।

मैगडालियन : इस संस्कृति का नाम फ्रांस में स्थित "ला मैकमैगडेलियन" की गुफाओं के नाम पर पड़ा, जहां इस संस्कृति के अवशेष पाये गये। यह संस्कृति केवल फ्रांस में ही पायी जाती है। इस काल के चाकू, आरी, नक्कासी करने के सामान आदि मिले हैं। मैगडालीनियन अस्त्र अस्थि, हाथीदांत तथा सींग के बने हुए हैं। इनमें सबसे प्रमुख हड्डी के बने भाले के फाल हैं। इसके बाद दांतदार भाले के फाल बनाये गये। इस काल के मनुष्य बुद्धिमान एवं चतुर थे।

उत्पादन : आधुनिक उद्योगों में वस्तुओं का उत्पादन विशाल कारखानों तथा बड़ी-बड़ी मिलों में किया जाता है। सैकड़ों मनुष्य उन मशीनों की देखभाल करते हैं। मनुष्य और मशीन मिलकर कच्चे माल से कपड़ा, लोहा तथा सीमेंट जैसी वस्तुओं का निर्माण करते तथा उत्पादन की देखभाल करते हैं। कारखानों का स्वामित्व कई लोगों का होता है और उससे होनेवाले लाभ या हानि के भागीदार भी ये ही होते हैं।

पर अनौद्योगिक समाजों की स्थिति भिन्न होती है। उनके अधिकांश उपकरण सीधे-सादे होते हैं। यह पत्थर, लकड़ी अथवा धातु के बने होते हैं, जिन्हें गांव का बढ़ई या लोहार भी बना देता है तथा इनका परिचालन शारीरिक श्रम से किया जाता है। इनका मूल्य कम होने की वजह से हर एक व्यक्ति या परिवार भी इन्हें खरीद और चला सकता है। इन उपकरणों का उपयोग गृह-उद्योगों में किया जाता है। गृह उद्योग के लिए न तो बहुत बड़ी जगह की आवश्यकता होती है और न बड़ी पूंजी की, और न ही मजदूरों और कारीगरों की। औद्योगिक समाजों में मशीनों की सहायता से उत्पादन बहुत होता है, जिसकी खपत के लिए जनता में उनकी मांग पैदा की जाती है। इसके विपरीत गृह उद्योग-धंधों से जो उत्पादन होता है, वह विशेष व्यक्तियों की इच्छापूर्ति के लिए होता है और उसका बहुत थोड़ा हिस्सा ही खुले बाजार में बिकने के लिए आता है, गांव के लोहार तथा बढई, लोहे एवं लकड़ी का सामान बनाते जरूर हैं, पर अधिकतर गांव के किसानों के उपयोग के लिए।

उद्विकासवाद : उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश में मानवविज्ञान का जन्म हुआ। सबसे पहले टाइलर की पुस्तक 'एंथ्रोपोलोजी' प्रकाशित हुई। यह समय उद्विकास-वाद का युग माना जाता है। उद्विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार जटिल वस्तुओं और रीतियों का उद्गम साधारण वस्तुओं एवं रीतियों से होता है। उद्विकासवादियों के अनुसार प्राथमिक रूप से मनुष्य समान विचार और कार्य करता है। उदाहरणार्थ, वह ठंडे देशों में गर्म व मोटे कपड़े पहनता है।

उद्विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार संस्कृति-विकास के तीन स्तर हैं। निम्नतम स्तर को जंगलीयता, मध्य स्तर को बर्बरता तथा उच्च स्तर को सभ्यता की संज्ञा दी गयी है। मार्गन के अनुसार निम्न जंगलीयता मानव संस्कृति का उदय काल था। मध्यम जंगलीयता की अवस्था में मनुष्य मछली पकड़ता था और अग्नि का उपयोग करना जानता था। उपरि-जंगलीयता में उसने धनुष-बाण का निर्माण और उपयोग सीख लिया था। निम्न बर्बरता के युग में

मनुष्य ने मिट्टी के बर्तन बनाने की विधि खोज निकाली। मध्य बर्बरता में जंगली पशुओं को पालतू बनाया तथा ऊपरी-बर्बरता के आने तक वह लोहा एवं अन्य धातुओं को गलाना सीख चुका था। सभ्यता के युग का आरंभ लिपि-निर्माण से माना जाता है।

उपभोग : उपभोग का साधारण अर्थ होता है—एक वस्तु का उपयोग, जिसके लिए उसका उत्पादन हुआ था। उदाहरणार्थ, घड़ी का उपभोग तब कहा जायेगा, जब उसका उपयोग समय देखने के लिए हो; वस्त्र का उपभोग तब कहा जायेगा, जब वह पहनने के काम में आये; भोजन का उपभोग तब होता है, जब वह खाने के काम में आये। साधारणतः ऐसा देखा गया है कि मनुष्य अपने उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा तुरंत अपने उपभोग में लाता है तथा उसका थोड़ा अंश भविष्य के लिए बचाकर रख लेता है।

आदिमकालीन समाज में मनुष्य को बचत का ज्ञान नहीं था। अपने उपभोग से बची वस्तुओं को वह फेंक देता था। आज भी कुछ जनजातियों में ऐसी प्रथा है कि वे फसल का उतना ही भाग काटती हैं, जितने की उन्हें आवश्यकता होती है, बाकी फसल को खेत में ही लगी छोड़ देती हैं। धीरे-धीरे मनुष्य को बचत की आवश्यकता का ज्ञान हुआ।

उपभोग की वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं। एक वह जो जीवन के लिए आवश्यक हों, जैसे वायु, भोजन, पानी, वस्त्र, इत्यादि और दूसरी वह जिनका उपभोग मुख्य रूप से प्रदर्शन तथा ऐश-आराम के लिए होता है।

वस्तुओं को नष्ट कर देना भी उनके उपभोग का एक रूप माना जाता है। मुंडा जनजाति में ऐसा नियम है कि व्यक्ति के मरने पर उसके शव के साथ उस के दैनिक व्यवहार की वस्तुएं जैसे, वस्त्र, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि उसकी कब्र में रख देते हैं। इसी प्रकार की अमूल्य वस्तुएं मिस्र के फराहों की समाधियों से भी प्राप्त हुई हैं।

उभयलिंगता (मध्यलिंगता) : इस विषम जातीय समूह में वे सब व्यक्ति आते हैं, जिनमें अंडाशयी एवं वृषण ऊतक होते हैं। यह उसी जननग्रंथि में पाया जा सकता है, जो उस समय अंडवृषण कहलाती है। द्विफलकीय वास्तविक उभयलिंगी में दो अंडवृषण होते हैं। और पार्श्व के वास्तविक उभयलिंगी में एक अंडाशय एक ओर एवं एक वृषण दूसरी ओर होता है (ब्रोम वीका 1955)।

बाह्य जनन-ग्रंथि की लैंगिक संरचनाएं अंतरलैंगिक विकास का बड़ा परिसर दर्शाती हैं। जब एक अंडाशय उपस्थित होता है, तब म्यूलरीवाहिनी व्युत्पन्न (अनेक) सामान्यतः उसी ओर ही उपस्थित रहते हैं। एक वृषण की उपस्थिति विपरीत रूप से सामान्यतः उसी ओर वोलफियनवाहिनी व्युत्पन्न की उपस्थिति के साथ जुड़ी रहती है। स्त्रीलिंगीकरण अथवा पुरुषलिंगीकरण अधिभावी हो सकते हैं। अंडोत्सर्ग एवं शुक्रजनन उसी रोगी में पाया जा सकता है (ग्रीन, हावर्ड 1954)। बाह्य रूप से मध्यलिंगी अधिभावी रूप से देखने में पुरुष अथवा स्त्री हो सकता है अथवा दोनों लिंगों के लक्षणों का मिश्रण दर्शा सकता है। लगभग सभी मध्यलिंगी वंध्य होते हैं।

वास्तविक उभयलिंगतावाले अनेक रोगियों में अनेक अपसामान्य गुणसूत्र पूरक पाये जा चुके हैं। उदाहरणतः पुजननांग। परीक्षण किये गये ऊतक क्रोमेटिन धनात्मक थे। अनेक कोशिकाओं में, जो उसके परिधीय रुधिर से संबंधित की गयी, 46 गुणसूत्र थे एवं कदाचित XX (44 + XX) थे। कोशिकाओं के लगभग 1/7 में तथापि कदाचित 47 गुणसूत्र (XXY अथवा 44 + XXY) थे। यह व्यक्ति XX/XXY 'मोजेक' हो सकता था।

कोशिकाओं का अनेक विभिन्न कैरमोटाइप के साथ मिश्रण मोजेकिज्म कहलाता है। उदाहरणतः (क) टर्नससिंड्रोम के कुछ विषयों में XO एवं XX कोशिकाओं का मोजेकिज्म होता है। (ख) कुछ मंगोलीय जड़ता के विषयों में कुछ कोशिकाओं में 21 ट्राइसोमी होते हैं एवं अन्य में एक सामान्य कैरमोटाइप होता है।

उरांव जनजाति : उरांव जनजाति बिहार के छोटनागपुर इलाके की एक प्रमुख जनजाति है। बिहार में इनकी जनसंख्या 6,35,025 है। इसके अलावा मध्य प्रदेश में इनकी जनसंख्या 2,23,073, उड़ीसा में 1,29,061, पश्चिम बंगाल में 2,97,394 तथा त्रिपुरा में 2,875 है। इनकी जनसंख्या को देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि उरांव जनजाति, भारत की एक प्रमुख जनजाति है। ये लोग द्रविड़ वंश के हैं।

उरांव जनजाति तीन प्रकार के स्थानों में रहती है। पहाड़ों के ऊपर इनकी बस्तियां छोटी-छोटी झोंपड़ियों की

होती हैं और घाटियों में ये बस्तियां बड़ी होती हैं। मैदानी प्रदेश में ये बस्तियां बहुत व्यापक और बड़ी-बड़ी होती हैं। इन्होंने हलवाली खेती को ही प्रधानता दी है। शिकार तथा खाद्य-वस्तुओं के चुनने का कार्य इन्होंने कम ही अपनाया है। पहाड़ों पर बसी बस्तियां प्रायः बहुत छोटी होती हैं। ऐसी जगह पर बसी बस्तियों के उरांव लोग पहाड़ों पर खेती करके जीवनयापन करते हैं। छोटा नागपुर में उरांव लोगों ने पहले-पहल पहाड़ों तथा जंगलों में ही अपनी बस्तियां बसायीं, परंतु जैसे-जैसे समय बीतता गया, उन में सुरक्षा का भाव बढ़ता गया। वे उससे नीचे आये तथा घाटियों एवं मैदानों में बस गये। वे खेती के कार्यों में अति कुशल हैं। घाटियों की बस्तियां पहाड़ों पर की बस्तियों से अधिक विस्तृत हैं। यहां घरों की संख्या 10 से 50 तक तथा कभी-कभी इससे भी अधिक होती है। बड़ी-बड़ी बस्तियां छोटे-छोटे टोलों में बंटी हुई पायी जाती हैं, जिनमें 10 से 20 तक घर होते हैं। मैदानी बस्तियों में घास-फूस से निर्मित ग्रामदेवी का मंदिर भी होता है तथा दूसरे छोर पर ग्राम्य-जंगल जिसे 'सरना' कहते हैं, पाया जाता है।

भोजन के लिए ये मुख्य रूप से खेती पर निर्भर हैं। इसके अलावा ये शिकार भी करते हैं। प्राचीन समय में उरांव पूर्ण रूप से शिकारी ही थे तथा शिकार पर ही इनका जीवन निर्भर था। शिकार में इनके प्रमुख हथियार धनुष-बाण, बलुआ, तलवार, भाला इत्यादि हैं। शिकार का कार्यक्रम सहयोग पर निर्भर है। पूरे गांव के नौजवान तथा कभी-कभी दो-तीन गांवों के लोग शिकार करने को निकल पड़ते हैं। वे अपना एक अगुवा चुन लेते हैं। पहले जादू तथा कई प्रकार की पूजा करके वे शिकार के देवता को प्रसन्न करते हैं। ऐसे शिकारों में 'घुमकुड़ियासंस्थान' का बहुत अधिक काम होता है। घुमकुड़िया के बच्चे एवं जवान ही इस आखेट का कार्यक्रम पूरा करते हैं। अगुवा चुनने से लेकर शिकार का पूरा कार्य निभाना तथा आखेट से प्राप्त शिकार का बंटवारा भी इन्ही के हाथों में होता है। वे इन सब कामों का बंटवारा खुद करते हैं।

शिकार के अलावा वे मछली भी मारते हैं। मछली मारने के लिए वे फंदे तथा जालों का व्यवहार करते हैं। इन जालों को वे स्वयं बुनते हैं। खेती के योग्य दो प्रकार की भूमि पायी जाती है। प्रथम 'दोन' या गहरी जमीन जो सबसे अच्छी समझी जाती है, तथा दूसरी 'टांड' जो ऊंची सतह पर होती है और दोन से कम उपजाऊ होती है। इन जमीनों में मुख्यतः धान, बाजरा, गोंदली, महुआ, सुरजुजा, अरहर, कुलथी, आदि फसल पैदा की जाती है। 'टांड' जमीन में सुचजुजा तथा गोंड़ा धान उपजाया जाता है।

लेकिन जो कुछ भी ये उपार्जित करते हैं, वह तीन-चार महीनों से अधिक नहीं चलता। अतः बाकी दिनों के लिए वे खेतों में तथा अन्य प्रकार की मजदूरी करके अपना जीवनोपार्जन करते हैं।

उरांव समाज पितृ-सत्तात्मक समाज है। परिवार के धन का अधिकारी पुरुष ही होता है। स्त्री का कोई अधिकार नहीं होता। इनके समाज की बनावट गोत्र-विभाजन पर आधारित है। विवाह भी गोत्र के अनुसार होता है। एक गोत्रवाला दूसरे गोत्र में ही शादी कर सकता है। गोत्र तथा जाति-चिह्नों में से कुछ इस प्रकार हैं:

1. लकड़ा 2. बेक 3. बांडी 4. तिर्की 5. केरकेट्टा 6. गारी 7. टोप्पो 8. एक्का 9. खलखो 10. लिंडा 11. मिंज 12. कुजुर इत्यादि।

इनके गांव में पंचायत भी होती है, जो न्याय व्यवस्था चलाती है। पंचायत का संचालन गांव के बड़े-बूढ़ों द्वारा किया जाता है। ग्रामीण झगड़ों तथा अन्य प्रकार की सामाजिक त्रुटियों तथा अपराधों का फैसला ग्रामीण पंचायत ही करती है।

उरांव सूर्य को देवता मानते हैं और उसे 'धर्मेश' कहते हैं। 'ग्राम्यझाड़ी' या 'सरना' उरांव लोगों का प्रमुख देव स्थल है, जहां प्रत्येक पर्व के समय 'पाहन' द्वारा मुर्गी का बलिदान किया जाता है।

उरांव लोगों की अपनी बोली है, जो भाषाविज्ञानियों के मतानुसार संस्कृतमूलक नहीं, बल्कि तमिलमूलक (द्रविड़ भाषा परिवार की) है। उत्तर भारत में जो जन-जातियां तमिलमूलक भाषाएं बोलती हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या उरांव लोगों की है।

एंजाइम त्रुटियां (आणविक क्रिया में विक्षोभ) : एंजाइम न्यूनता के कारण जीन उपापचयी रोगों का प्रथम परिचय सर आर्कीबाल्ड गैराड ने कराया। उपापचय की जन्मजात त्रुटियों के अध्ययन से गैराड ने पहली बार प्रतिपादित किया कि सभी लिंगानुवंशिक रोग उपापचयी अवरोध (ब्लाक) के कारण होते हैं, जो विशिष्ट एंजाइम की अनुपस्थिति

के कारण होते हैं। जब किसी एंजाइम की मात्रा कम होने लगती है या वह पूर्णरूपेण अनुपस्थित हो जाते हैं, तब उपापचयी पथों में जीव रासायनिक गतिरोध उत्पन्न होता है।

आनुवंशिक रोग, जो संभवतः एंजाइम त्रुटियों के कारण होते हैं, इन समूहों में विभाजित किये जा सकते हैं :

(1) अमीनोएसिड उपापचय में विक्षोभ : उदाहरणार्थ फीनाइल कीटोनूरिया, एलकैप्टोनूरिया, पूर्ण अथवा आंशिक रंजकहीनता इत्यादि।

(2) कार्बोहाइड्रेट उपापचय में विक्षोभ : उदाहरणार्थ पैंटोसत्रुटियां, गैलेक्टोसीमिया इत्यादि।

(3) एंडोक्राइन उपापचय में विक्षोभ : उदाहरणार्थ ग्वाइटर के साथ फैमीलियल क्रेटीनिज़्म, एंड्रोजिलाइप्ल सिंड्रोम इत्यादि।

(4) वर्णक उपापचय में विक्षोभ : उदाहरणार्थ मैथीमीग्लोबीनीमियास इत्यादि।

(5) अन्य विक्षोभ : उदाहरणार्थ ग्लूकोज़-6 फास्फेट-डीहाइड्रोजिनेज इत्यादि की न्यूनता।

अमीनो एसिड उपापचय में विक्षोभ : यानी फीनिल कीटोनूरिया (फीनिल पायरूविक आलीगो क्रेनिया) (विरल अप्रभावी विशेषता): फीनिल कीटोनूरिया का सर्वप्रथम अवलोकन एक नार्वेजियन जीव-रसायनिक-विशेषज्ञ फीलिंग ने 1934 में किया। फीनिल कीटोनूरिया एक आनुवंशिक अवस्था है, जिसमें गंभीर मानसिक विमंदन विशिष्ट रूप से पाया जाता है। इसका विशेष लक्षण अधिक मात्रा में फीनिलपायरूविक अम्ल और फीनिल कीटोन की मूत्र में उपस्थित है। ये और अन्य असामान्य पदार्थ मूत्र में पाये जाते हैं; क्योंकि एक प्रमुख पदार्थ जो भोजन का सामान्य तत्व है तथा जिसे फीनिलएलानीन कहते हैं, ठीक तौर से रोगी द्वारा पचाया नहीं जा सकता (विशिष्ट एंजाइम की अनुपस्थिति के कारण)। फीनिल कीटोनूरिया रोग एक विरल अप्रभावी जीन के कारण होता है और जीन की केवल समयुग्मज प्रव्यंजनाओं में ही लक्षित होता है। इस जीन के प्रभाव के कारण एक आवश्यक एंजाइम शरीर में उत्पन्न नहीं होता है। इन रोगियों में अभिरंजकता की विशेषता ध्यान देने योग्य है। फीनिल कीटोनूरिया से पीड़ित रोगी केश, त्वचा, एवं आंखों के रंग में अपने परिवार के अन्य सदस्यों से गोरे अथवा हल्के होते हैं।

निदान : फीनिलकीटोनूरिया का निदान निम्नलिखित लक्षणों द्वारा किया जा सकता है: (क) मूत्र में फीनिलपायरूविक अम्ल की उपस्थिति (ख) जीवद्रव्य में I–फीनिलएलानीन की मात्रा में वृद्धि।

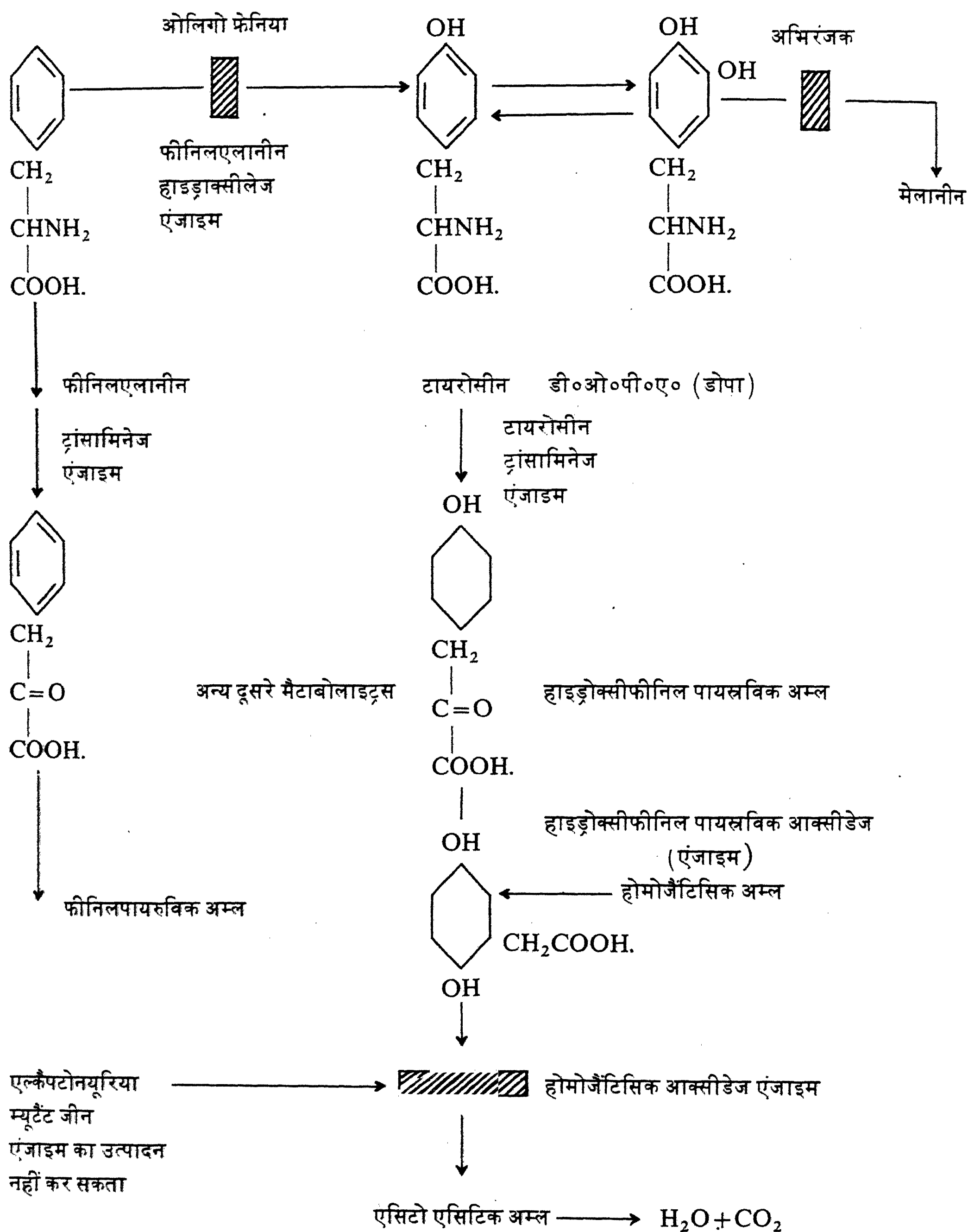
एक सरल पटक्षेपण परीक्षण का चहुं ओर उपयोग किया जा चुका है: पहले से NH_4Cl की कुछ बूंदों द्वारा अम्लित मूत्र के नमूने में 10 प्रतिशत $Fe\,Cl_3$ (फेरिक क्लोराइड) की कुछ बूंदें डाली जाती हैं। यदि फीनिलपायरूविक अम्ल उपस्थित होगा, तो मूत्र का रंग अत्यधिक हरा हो जाता है।

आनुवंशिकता : फीनिलकीटोनूरिया की वंशागति का अध्ययन पैनरोज (1935) और जयविस (1937-1939) ने किया। वंशागति की प्रणाली अलिंगसूत्री और अप्रभावी होती है। फीनोकापी का वर्णन नहीं किया गया है। संयुक्त राज्य अमरीका में 40,000 जन्मों के पीछे यह अवस्था एक बार उपस्थित होती है और इसका संचारण एक विरल अप्रभावी जीन द्वारा होता है। किसी भी परिवार में एक प्रभावित शिशु के होने पर, दूसरे की संभावनाएं आनेवाली गर्भावस्थाओं में 4 से 9 अथवा 25 प्रतिशत रह जाती हैं। फीनिलकीटोनूरिया जीन के विषमयुग्मजी वाहक, फीनिलएलानीन टालरंस परीक्षण द्वारा पहचाने जाते हैं।

फीनिलएलानीन, एक अमीनो एसिड जिसमें फीनिल रिंग होता है, सामान्यतः भोजन में उपस्थित होता है और उसको सामान्य पदार्थ में फीनिलपायरूविक अम्ल में बदला जा सकता है, जो शरीर के लिए अधिक हानिकारक नहीं है। इसका बहुत-सा भाग एंजाइम द्वारा टायरोसीन में परिवर्तित कर दिया जाता है, जो बदले में एक ओर एसिटो एसिड बनाता है अथवा दूसरी ओर त्वचा एवं अन्यत्र जमा होकर माला वर्णक मैलानिन समान बनाता है।

फीनिलकीटोनूरिया से पीड़ित शिशुओं में टायरोसीन का पथ एंजाइम की कमी के कारण बंद हो जाता है और एकांतर पथ द्वारा थोड़ा मैलानिन बनता है तथा फीनिलपायरूविक अम्ल का क्रियापथ बहुत क्रियात्मक हो जाता है। मूत्र में फीनिलपायरूविक अम्ल की अधिकता हो जाती है, किंतु इससे पहले यह मस्तिष्क को धीरे-धीरे पूर्ण रूप से नष्ट कर चुका होता है।

जीवरसायनिक पथ



ओलिगो फ्रेनिया
फीनिलएलानीन हाइड्राक्सीलेज एंजाइम
OH
OH
OH
अभिरंजक
मेलानीन
CH_2
$CHNH_2$
COOH.
फीनिलएलानीन ट्रांसामिनेज एंजाइम
टायरोसीन
डी०ओ०पी०ए० (डोपा)
टायरोसीन ट्रांसामिनेज एंजाइम
$C=O$
अन्य दूसरे मैटाबोलाइट्स
हाइड्रोक्सीफीनिल पायरुविक अम्ल
हाइड्रोक्सीफीनिल पायरुविक आक्सीडेज (एंजाइम)
होमोजैंटिसिक अम्ल
CH_2COOH.
फीनिलपायरुविक अम्ल
एल्कैपटोनयूरिया म्यूटैंट जीन एंजाइम का उत्पादन नहीं कर सकता
होमोजैंटिसिक आक्सीडेज एंजाइम
एसिटो एसिटिक अम्ल
H_2O+CO_2

एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया : 'जूलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' के एक विभाग के रूप में पहले इसका अस्तित्व था। लेकिन 1946 में इसे एक अलग विभाग का रूप दिया गया और इस विभाग के पहले निदेशक बी० एस० गुहा बने। अब यह विभाग 'डिपार्टमेंट आफ एंथ्रोपोलोजी' के नाम से भी जाना जाता है। जब इसका केंद्रीय कार्यालय कलकत्ते के 'इंडियन म्यूजियम्' में खुला तब, प्रारंभिक दशा में बी० एन० गुहा तथा एल्विन वेरियर जैसे प्रसिद्ध मानवविज्ञान शास्त्रियों ने इसके विकास की दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया था। अब देश भर के कई नगरों में इसके शाखा-कार्यालय खुल गये हैं और ऐसे हर शाखा-कार्यालय का अधिकारी सुपरिंटिडेंट होता है।

मानवविज्ञान संबंधी कई बातों को लेकर यह विभाग महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इसके द्वारा किये जानेवाले कामों में कुछ प्रमुख काम इस प्रकार हैं—हड़प्पा, मोहंजोदड़ो, अडिचनल्लूर आदि ऐतिहासिक युगों से संबंधित प्रदेशों में प्राप्त अस्थि-अवशेषों का परिशीलन-परीक्षण करना, भारत के विभिन्न जन-समूहों के वर्ग-लक्षण और उन-उन जातियों तथा वर्णों के लोगों के रक्त का वर्गीकरण करना, भारत के विभिन्न प्रांतों में रहनेवाले अलग-अलग जाति के लोगों के बारे में अध्ययन कर उनके सांस्कृतिक जीवन तथा जाति व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त करना आदि। इन कामों के अतिरिक्त, यह संस्था मानव विज्ञान संबंधी पुस्तकें, परिपत्र आदि भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करती है तथा मानवविज्ञान संबंधी साहित्य की समय-समय पर सूचनाएं देती रहती है।

एकरूपता : यह एक ऐसी क्रिया है जिसमें कोई भी छोटा समूह, दूसरे समूह के संपर्क में आकर उसकी संस्कृति का अनुकरण करता है एवं अपने-आपको उसके अनुसार बदलता है। अतः यह एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा एक संस्कृति का प्रभाव समाप्त हो जाता है। एक नयी संस्कृति का प्रभाव विचार एवं क्रिया-कलापों से परिवर्तित हो जाता है।

एक विवाह : मानवविज्ञानियों ने विवाह के तीन प्रकार माने हैं: 1. एक विवाह 2. बहु-विवाह, तथा 3. समूह विवाह।

जब एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है तब उसे 'एक विवाह' कहा जाता है। विवाह की यह प्रथा साधारणतः बहु-प्रचलित है तथा अधिकांश जनजातियों में पायी जाती है।

एनुचिन, दमित्री निकोलायविच (1843-1923) : रूसी मानवविज्ञानी और पुरातत्त्वविद्। 1867 में, इन्होंने मास्को विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री प्राप्त की। प्रारंभ में इनकी रुचि प्राणिविज्ञान में थी और इसी में इन्होंने विशिष्टता भी प्राप्त की थी, लेकिन शीघ्र ही मानवविज्ञानी, प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व और भूविज्ञान ने इनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अनेक वर्षों तक इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और इटली के विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद 1880 में इन्हें मास्को विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। अपने अध्यापन-काल के दौरान ये मानवजातिविज्ञान और भूविज्ञान जैसे विषयों को भी पढ़ाते रहे तथा 'मास्को पुरातत्व संस्थान' में पुरातत्व पर भी अनेक भाषण दिये।

एनुचिन ने अनेक वर्षों तक अध्यापन कार्य किया तथा इस दौरान उन्होंने मानवविज्ञान तथा उससे संबद्ध विज्ञानों के अनेक विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करने का कार्य सफलतापूर्वक संपन्न किया। इन विशेषज्ञों में अनेक लेखक, शिक्षक तथा अनुसंधाता थे। रूस के इतिहास, पुरा-मानवजातिविज्ञान तथा पुरातत्त्व पर लिखी उनकी अनेक पुस्तकें अनुसंधानदाताओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुई हैं।

एनुचिन एक प्रमुख वैज्ञानिक ही नहीं थे, अपने देश के राजनैतिक जीवन में भी वे सक्रिय रूप से भाग लेते थे। अनेक वर्षों तक वे रूस के उदारवादी प्रमुख दैनिक समाचार-पत्र 'रशियन गजट' से संबंधित रहे। इस पत्र के प्रकाशकों और संपादकों में उनका भी एक स्थान रहा है।

एमोन, अल्फ्रेड ओटो (1842-1916) : प्रसिद्ध जर्मन मानवमिति विशेषज्ञ और समाजविज्ञान की सामाजिक-मानवमिति शाखा के जन्मदाताओं में से एक। मानवमिति के मापदंडों के आधार पर बाडेन, कार्लस्रुहे और फाईबर्ग नगरों से रंगरूटों और छात्रों का चुनाव करते समय उन्होंने यह प्रमाणित किया कि ग्रामवासियों की अपेक्षा

नगरवासी दीर्घशिरस्क होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने इसी प्रयोग से संलग्न अन्य परिणाम भी प्रस्तुत किये, जैसे: गांवों में रहनेवाले लोगों की अपेक्षा गांवों से शहर में जाकर बसनेवाले व्यक्ति दीर्घशिरस्क होते हैं, नगरवासी निम्न वर्ग की तुलना में उच्च वर्ग के लोग दीर्घशिरस्क होते हैं। एमोन के अपने विचार के अनुसार ये परिणाम नगरवासी दीर्घशिरस्क व्यक्तियों के चुनाव की विशिष्टता (जो आंशिक गलत भी हो सकता है) के कारण भी निकले हैं। उन परिणामों के आधार पर उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि दीर्घशिरस्कता और प्रवासीपन में तथा दीर्घशिरस्कता और बौद्धिक क्षमता में कोई निश्चित सहसंबंध है।

आगे चलकर एमोन ने डार्विन के आनुवंशिकता, प्राकृतिक वरण, अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांतों के आधार पर सामाजिक पद्धति और समाज के विकास का व्यवस्थित सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस सिद्धांत की स्थापनाएं इस प्रकार हैं:

(1) डार्विन के सिद्धांतों की सहायता से सामाजिक व्यवस्था और समाज के विकास की प्रक्रिया की व्याख्या की जा सकती है।

(2) कोई भी समाज उसी समय तक उन्नति कर सकता है, जब तक उसके प्रतिभाशाली सदस्यों (दीर्घशिरस्कों) की प्रतिभा (दीर्घशिरस्कता) कम होनी शुरू नहीं होती।

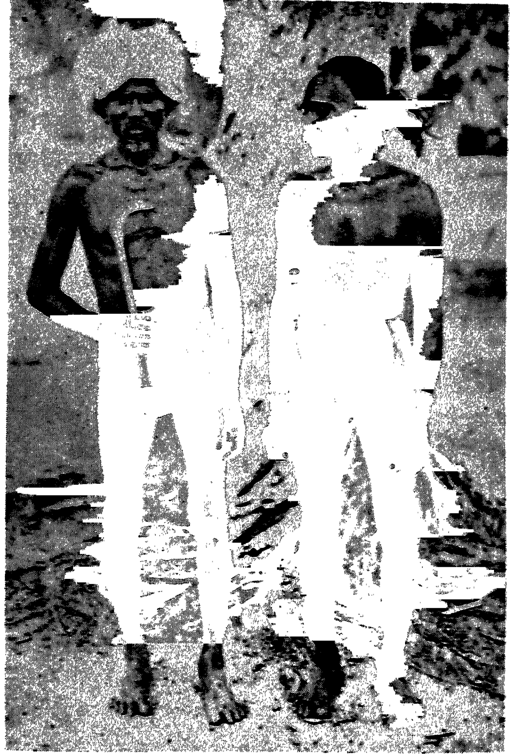
(3) सामाजिक असमानता समाज के सदस्यों की नैसर्गिक असमानता का प्राकृतिक परिणाम है।

(4) समाज का उच्च वर्ग दीर्घशिरस्क होने के कारण निम्न वर्गों की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली होता है, और

(5) पाश्चात्य समाज की वर्तमान परिस्थितियां उच्च वर्ग की दीर्घशिरस्कता बनाये रखने के प्रतिकूल हैं, इसलिए इनका ह्रास होना अवश्यंभावी है।

आधुनिक मानवविज्ञान में एमोन के अधिकतर सिद्धांत अमान्य सिद्ध हो चुके हैं।

एरुकल जाति : आंध्र प्रदेश में 'एरुकल' जाति 'कोरव' नाम से भी जानी जाती है। तमिलनाडु में इस जाति को 'कोलच' कहते हैं। 'एरुक' का अर्थ ज्ञान होता है। इस जाति की स्त्रियां भविष्य वाचन का काम कर बदले में चावल, पैसा कमाया करती हैं। आम तौर पर एरुकल जाति के लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा में तमिल के अधिक शब्द मिलते हैं। लेकिन, ये लोग जिस प्रांत में रहते हैं उस प्रांत की भाषा के शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। इस तरह, सम्मिश्रित रूप से बोली जानेवाली भाषा 'एरुकल भाषा' के नाम से जानी जाती है। लोक विश्वास के अनुसार 'एरुकल', 'बोय', 'चेंचु' 'एनादि' जातियों के लोग भागवत पुराण में वर्णित 'वेन' नामक राजा के पुत्र 'निष' की संतति माने जाते हैं।



एरुकल जाति

कुछ मानवविज्ञान के पंडितों के मतानुसार एरुकल जाति तथा श्रीलंका की 'वेड्डा' जाति के लोगों में बहुत साम्य है। एरुकल जाति के स्त्री-पुरुष बलिष्ठ शरीर के होते हैं। इस जाति के पुरुष कमर के नीचे लंगोट जैसा एक कपड़ा बांधे रहते हैं। इनके सिर पर पगड़ी और कमर में चाकू होता है। इनके नुकीली मूंछें होती हैं।

ये लोग आंध्र प्रदेश के सभी जिलों में तथा मैसूर और

तमिलनाडु में पाये जाते हैं। थेरिंग नामक विद्वान ने इनके बारे में लिखते हुए बताया है कि ये लोग आंध्र प्रदेश के नेल्लूर जिले के आदिवासियों में से हैं और लकड़ी, पत्ते, बांस की डलियां, नमक आदि बेचकर तथा भविष्य-वाचन करके जीविका चलाते हैं। पहले जमाने में ये लोग किसी एक स्थान पर ज्यादा समय तक न टिककर जगह-जगह घूमते रहते थे। लेकिन अब उन्होंने अपना स्थिर निवास बना लिया है और झोंपड़ियां बनाकर रहने लगे हैं।

एरुकल जाति के लोगों की जनसंख्या आंध्र प्रदेश में दो लाख के करीब है। मैसूर तथा तमिलनाडु के दक्षिण आर्काट, तिरुचिनापल्ली, कोयंबत्तूर आदि इलाकों मे भी ये लोग अच्छी संख्या में पाये जाते हैं।

आचार-व्यवहार : तमिलनाडु के 'कोरव' तथा आंध्र प्रदेश के 'एरुकल' लोगों के आचार-व्यवहार में काफी अंतर है। तमिलनाडु में रहनेवाले इस जाति के लोग डलियां, 'करिवेपाक' (मीठा नीम) की पत्तियां, छीके, रस्सियां आदि बेचकर जीविका चलाया करते हैं।

एरुकल जाति के लोग वधू के गले में काले मनकों की माला पहनाकर विवाह करते हैं। विवाह के समय पैसा देने की भी प्रथा है, जिसे वे लोग 'ओली' कहते हैं। जब कभी इन लोगों में, पति-पत्नी का झगड़ा होता है तो जाति का मुखिया इसका निपटारा करता है। इनमें तलाक की प्रथा है और तलाक के समय, विवाह के अवसर पर लिये-दिये हुए पैसे को लौटाना होता है। इस तरह के झगड़ों के फैसलों के अवसर पर गवाहियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। सिर्फ तथ्यों पर ही ध्यान दिया जाता है। इन लोगों की परंपरा के अनुसार अपने-आपको निर्दोष साबित करने के लिए एरुकल जाति के व्यक्ति को खौलते हुए तेल में या धधकती हुई आग में हाथ रखने होते हैं या बेहद गर्म लोहे के छड़ को हाथ से उठाना होता है। इस तरह के काम करने से जिसके हाथ जल जाते हैं वह दोषी माना जाता है। इस जाति में विधवा विवाह की भी प्रथा है। संतान प्राप्ति के नौवें दिन इन लोगों में शिशु का नामकरण किया जाता है।

स्वभावतः एरुकल जाति के लोग समझदार होते हैं। समय के अनुरूप व्यवहार कर अपना काम बना लेना इन्हें बहुत अच्छी तरह आता है।

इस जाति में 'उप्पु (नमक) एरुकल' और 'दब्बु एरुकल' नाम की दो शाखाएं होती हैं। दूसरी शाखा के लोग आम तौर पर जंगली इलाकों में रहते हैं।

अपने शरीर पर गुदाई करवा लेने की इस जाति के लोगों में प्रथा है। इतना ही नहीं, ये लोग औरों के शरीरों पर गोदकर पैसा कमाते हैं। इस जाति के लोग और भी तरह के पेशे करते हैं। 'पोलेरम्मा' इनकी आराध्य देवी है।

बिल्ली, मुर्गी, मछली, सूअर, स्यार, चूहा, बकरी, हिरण आदि पशुओं का मांस ये लोग खाते हैं। शराब पीने की भी इन्हें आदत है।

इस बात का विश्वास प्रचलित है कि एरुकल जाति के लोग एक समय चोरी किया करते थे। आंध्र प्रदेश के कई इलाकों में रहनेवाले एरुकल जाति के लोगों को काम-धाम पर लगाने की आंध्र प्रदेश सरकार ने काफी कोशिश की है। आजकल इन लोगों में कुछ लोग पढ़े-लिखे भी पाये जाते हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि इनमें से कुछ लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है।

एलकैप्टोनूरिया (विरल अप्रभावी लक्षण) : एलकैप्टोनूरिया, एरोमैटिक अमीनो एसिड उपापचय की सहजात त्रुटि है, जो मूत्र में होमोजैंटिसिक अम्ल के उत्सर्जन द्वारा पहचानी जाती है। इस का अध्ययन सर्वप्रथम अंग्रेज चिकित्सक गैराड ने किया।

शयनिक लक्षण : इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों में एक विशेष पदार्थ—होमोजैंटिसिक अम्ल जिसे कभी-कभी एलकैपटान भी कहते हैं, मूत्र का एक नियमित भाग बन जाता है तथा मूत्र को गहरे भूरे रंग का कर देता है, जो वायु से प्रभावित होते ही (आक्सीकरण) काला हो जाता है।

प्रभावित मनुष्यों में एक एंजाइम की अनुपस्थिति के कारण होमोजैंटिसिक अम्ल का खंडन होता है, जिसके कारण प्रथम (1) मूत्र का वायु से प्रभावित होकर काला होना (2) कुछ समय पश्चात उपास्थि एवं शरीर के अन्य भागों की गहरी वर्णकता का विकास (ओकरोनोसिस) जो कान, नेत्र के स्केलरा एवं कुछ अन्य भागों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। किंतु अंत में जब एलकैप्टोनूरिया के रोगी मध्य आयु में पहुंचते हैं, तब वे आर्थ्राइटिस के कारण बड़ी संधियों में कड़ापन एवं पीड़ा की शिकायत

करते हैं। अंत में घुटने, नितंबों में भी दर्द रहने लगता है। एक्स-रे परीक्षण में कैल्सीफाइड अंतर्कशेरुक डिस्क की उपस्थिति विशिष्ट है।

आनुवंशिकता : एलकैपटोनूरिया दो प्रकार से संचारित हो सकती है—अप्रभावी एवं प्रभावी रूप से।

अधिकतर यह अवस्था एक विरल सरल अप्रभावी जीन (गेराड, बेटसन 1902) द्वारा संचारित होती है। गैराड ने 5 परिवारों में, जिनमें एलकैपटोनूरियावाले सदस्य थे, देखा कि वे प्रथम संभ्राता विवाहों के परिणाम थे। बेटसन के अनुसार, संभ्राता-संभगिनी विवाह एक विरल एवं असामान्य अप्रभावी लक्षण को दर्शित करने में सहायक होते हैं।

कुछ परिवारों में यह अवस्था एक सरल प्रभावी (हेसिया, कर्टस्टर्न) रूप में संचारित होती है। इन वंशावलियों की अनेक पीढ़ियों में श्रेणीबद्ध प्रभावित व्यक्ति हैं एवं कहीं भी संभ्राता-संभगिनी विवाह के कोरे चिह्न नहीं हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि (हेसिया) एलकैप्टोनूरिया के दो प्रकार हैं, जो एक-दूसरे से संबंधित नहीं हैं। किंतु यह नहीं मालूम कि दोनों प्रकार युग्मविकल्पी हैं अथवा गुणसूत्रों पर विभिन्न लोसाई पर हैं।

उपापचयी अपसामान्यता : एलकैप्टोनूरिया से पीड़ित व्यक्तियों के होमोजैंटिसिक अम्ल के पोषण से मूत्र में वह पदार्थ परिणामात्मक रूप से पूरा मिलता है। सामान्य व्यक्तियों में ऐसा नहीं होता। अतः यह प्रतिपादित किया गया है कि यह स्थिति होमोजैंटिसिक अम्ल की अवस्था में एक उपापचयी अवरोध को दर्शाती है। नीचे की तालिका में यह स्पष्टतया देखा जा सकता है।

OH
$CH_2COOH.$ → होमोजैंटिसिक आक्सीडेज एंजाइम → मेत्तिल एसिटोएसिटेट → फ्यूनरिल एसिटोएसिटेट → एसिटोएसिटेट (सामान्य लोगों में)

होमीजैंटिसिक अम्ल → एच० जी० ए० मूत्र में उत्सर्जित

ऊतक में एच० जी० ए० का मंचयन
↓
ओक्रोनसिस
↓
(शरीर के अनेक भागों में ओकर-समान वर्णकों का जमाव)

रुधिर में होमोजैंटिसिक अम्ल (एच० जी० ए०) का संचयन होता है एवं मूत्र में उत्सर्जन होता है।

एलविन वेरियर : डा० एलविन वेरियर की शिक्षा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हुई थी। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य तथा धर्मविज्ञान (थियोलोजी)—दोनों में प्रथम श्रेणी प्राप्त की तथा उन्हें शेक्सपीयर के अध्ययन के लिए चार्ल्स ओल्थहम छात्रवृत्ति तथा मैथ्यू आरनाल्ड पुरस्कार भी प्रदान किया गया। उनकी नियुक्ति आक्सफोर्ड के वाइक्लीफे हाल में उप-प्रधान अध्यापक के रूप में हुई। बाद में, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें भारत में उनके



1

1. हंगरी की स्त्रियां
2. एस्किमो: मां-बच्चा
3. एस्किमो



2



3

काम के लिए बी० एस० सी० की उपाधि दी। महात्मा गांधी की सलाह पर उन्होंने अपना पूरा समय आदिम जातियों के अध्ययन तथा उनकी सेवा में लगाया। 1940 में बस्तर राज्य में 'आनरेरी' इथनोग्राफर के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। पांच वर्ष के बाद वे उड़ीसा सरकार के मानवविज्ञानवेत्ता नियुक्त हुए। बंगाल की एशियाई समिति ने उन्हें 1945 में राय स्वर्ण-पदक प्रदान किया। 1951 में उन्हें 'रायल एंथ्रोपोलोजिकल इंस्टिट्यूट' ने रेवर्स पदक प्रदान किया तथा बंबई की एशियाई समिति ने 1960 में उन्हें कैंपबेल स्वर्ण पदक प्रदान किया। डा० वेरियर एलविन 'एशियाई समिति', 'नेशनल इंस्टिट्यूट आफ साईंसेज आफ इंडिया' तथा 'रायल एंथ्रोपोलोजिकल इंस्टिट्यूट' के सदस्य थे। 1961 में उन्हें पद्मभूषण की उपाधि से विभूषित किया गया। इनकी मृत्यु 1964 में हुई।

इनकी कुछ प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं।

1. लीव्स फ्राम दि जंगल—जीन मुर्रे, इंगलैंड, 1963।
2. फूलमात आफ दि हिल्स-जोन मुर्रे, इंगलैंड, 1936।
3. दि बेंगा—जोन मुर्रे, इंगलैंड, 1939।
4. दि अगारिया—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1942।
5. गांधीजी—नेफा एडमिनिस्ट्रेशन, शिलांग।
6. मेरिया मर्डर एंड सूसाइड—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1943-50

एशिया की प्रजातियां : अफ्रीका में फॉसिलों के प्राप्त होने से पूर्व मानवविज्ञानियों की यही धारणा थी कि एशिया ही आदिमकालीन प्रजातियों के शैशवकाल का क्रीड़ास्थल रहा है। नयी खोजों के प्रकाश में इस धारणा पर पुनर्विचार अवश्य हो रहा है, लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि आज से 5 लाख वर्ष पूर्व एशिया महाद्वीप में आदिमकालीन मानव की अनेक प्रजातियां निवास करती थीं। जावा के पिथिकैंथ्रोपस मानव और उत्तरी चीन के सिनैंथ्रोपस मानव के फॉसिल इस वैज्ञानिक धारणा की पुष्टि भी करते हैं। शारीरिक संरचना में जावा और चीन के मानव होमोसेपियन्स से बिलकुल भिन्न थे और न ही एशिया की वर्तमान जनसंख्या में इनके वंशजों के अवशेष पाये जाते हैं। यह अभी तक अनुसंधान का विषय है कि ये कब लुप्त हो गये। इनके अतिरिक्त पश्चिमी एशिया (पेलेस्टाइन) में भी आदि मानव के फॉसिल प्राप्त हुए हैं। मानवविज्ञानी इन फॉसिलों को नियेंडरथल मानव और होमोसेपियन्स के मध्य की कोई कड़ी मानते हैं। लेकिन इस प्रजाति के विकास के संबंध में भी कोई निश्चित धारणा नहीं बन सकी है।

यदि एशिया की वर्तमान जनसंख्या का प्रजातियों के अनुसार वर्गीकरण किया जाये, तो विश्व की सभी प्रजातियों के लक्षण किसी न किसी जनसमूह में अवश्य मिल सकते हैं। वैसे वर्गीकरण की सुविधा के लिए यूरोपाइड और मंगोलाइड वर्ग को प्रमुख माना जा सकता है। यूरोपाइड वर्ग की जनजातियां पश्चिमी एशिया और भारत के विभिन्न भागों में फैली हुई हैं। मध्य एशिया की जनजातियां दिनारिक और आर्मेनायड वर्ग के अधिक निकट हैं। यूरोपाइड वर्ग की ही एक जनजाति उत्तरी जापान के आएनेस द्वीपसमूह में रहती है। मंगोलाइड वर्ग की प्रजातियां प्रमुख रूप से उत्तरी और पूर्वी एशिया के विभिन्न भागों में बिखरी हुई हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में इसी वर्ग की पेलियो-मंगोलाइड उप-प्रजाति पायी जाती है। इसके अतिरिक्त वेद्दा प्रजाति (श्रीलंका की वेद्दा प्रजाति के नामकरण के आधार पर) की कुछ जनजातियां भी एशिया में हैं: जैसे आस्ट्रेलाइड, दक्षिण अरेबिया की कुछ जनजातियां, भारत प्रायद्वीप और श्रीलंका की कुछ आदिवासी जनजातियां, निकोबार द्वीपसमूह के मूल निवासी, मलाया, थाईलैंड, वियतनाम और इंडोनेशिया की 'सुलावेसी', 'फ्लोरेस', 'टिमोर' जनजातियां आदि।

एशिया की जनजातियों में नीग्रो प्रजाति के लक्षण सबसे कम पाये जाते हैं। अंडमान द्वीपसमूह के मूल निवासी, मलाया के सेमांग और फिलीपीन द्वीपसमूह के नीग्रीटो ही वे जनजातियां हैं, जिन्हें नीग्रो वर्ग के निकट माना जाता है। इसके अतिरिक्त नीग्रो प्रजाति की साम्यता अंशतः दक्षिण भारत की आदिवासी जातियों, असम की मंगोलाइड जनजातियों और दक्षिण-पूर्व एशिया की पहाड़ी जनजातियों में भी देखी जा सकती है।

इस विशाल महाद्वीप के बहुत कम भौगोलिक क्षेत्र ऐसे हैं, जहां एक ही प्रजाति के निवासी रहते हों, अन्यथा

एशिया में प्रजाति सम्मिश्रण बहुत अधिक हुआ है। इस प्रजाति-सम्मिश्रण के प्रमाण सिंधु घाटी सभ्यता (2500 ई० पू०) तक में पाये जाते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में प्राप्त नरकंकालों के परीक्षणों के पश्चात् पाया गया कि घाटी में तीन प्रमुख प्रजातियां निवास करती थीं। इस सम्मिश्रण के अनेक कारण रहे हैं: भौतिक परिस्थितियां, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियां, साम्राज्य-लिप्सा आदि। इन तमाम बातों के परिणाम जो भी रहे हों, लेकिन इस प्रक्रिया द्वारा मानवज्ञान का आदान-प्रदान अवश्य होता रहा।

कइकोलर जाति : तमिलनाडु की जुलाहा जाति ही कइकोलर जाति है।

एक ऐतिहासिक कथा के आधार पर इस बात का पता चलता है कि मदुरै पर राज्य करनेवाले नायक राजाओं ने अपने यहां के जुलाहों के काम से अप्रसन्न होकर उत्तर से जुलाहों को बुलवाया था और इस तरह आनेवालों की संतान ही आगे चलकर 'कइकोलर' के नाम से जानी जाने लगी। कइकोलर जाति में अधिक संख्यक लोग शैव हैं। इनमें कुछ वैष्णव भी पाये जाते हैं।

तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में कइकोलर जाति के अधिक संख्या में रहते हैं। आंध्र प्रदेश में भी इन लोगों की संख्या कम नहीं है।

पहले जमाने में, इस जाति में एक ऐसी प्रथा प्रचलित थी जिसके अंतर्गत इसका हर परिवार कम से कम एक लड़की को मंदिर के सुपुर्द कर देता था। इस तरह मंदिर को सौंपी गयी लड़कियां देवदासियों के नाम से जानी जाती थीं। मंदिरों में नाच-गान करने के अलावा, सरकारी अफसरों तथा संपन्न लोगों की शारीरिक भूख मिटाने का काम देवदासियां किया करती थीं।

कइकोलर जाति में 'चिरुतालिकट्ट' नामक एक विचित्र पद्धति प्रचलित है, जिसके द्वारा वर वधू का चयन करता है। मामा या बुआ की लड़की से शादी करने की इच्छा रखनेवाला युवक उस लड़की के कपड़ों से फाड़ी गयी एक चिंदी उसके गले में बांधता है और इस बात की सूचना अपने मां-बाप तथा गांव के बड़े लोगों को देता है। अगर लड़की भी युवक को पसंद कर लेती है तो शादी हो जाती है। इन लोगों में तलाक की प्रथा नहीं है। लेकिन, संतानहीन विधवा दुबारा विवाह कर सकती है।

कइकोलर जाति के लोगों को 'मुदलि', 'नायनार' आदि उपाधियां प्राप्त हैं। इस जाति के कई लोग आजकल खेतीबारी तथा व्यापार-धंधे करके संपन्न हो रहे हैं।

कछारी जनजाति : पूर्वीय सीमा की एक महत्त्वपूर्ण जनजाति कछारी है। 1961 की जनगणना के अनुसार असम में इनकी संख्या 2,36,936 है। यह जनजाति बोडो समूह से संबंधित है। बोडो समूह से संबंधित अन्य जनजातियां लालुंग, रामा तथा होजाई हैं।

ब्रह्मपुत्र की घाटियों में रहनेवाली कछारी जनजाति अपने-आप को 'बोडो' या 'बोडो फीसा' कहती है। उत्तरी कछार की पहाड़ियों पर रहनेवाली कछारी जनजाति अपने को 'दिमासा' कहती हैं। वे ऊंची जगहों पर रहते हैं तथा छोटे पहाड़ों एवं घाटियों में रहना भी पसंद करते हैं। जो लोग समतल भूमि में रहते हैं, उन्होंने हिंदुत्व अपना लिया है, लेकिन उसके बावजूद उन्होंने अपने रीति-रिवाजों को नहीं छोड़ा है।

ये स्थायी रूप से खेती करते हैं, लेकिन उत्तरी कछार पर्वत पर रहनेवाली दिमासा कछारी खानाबदोशों की तरह रहते हैं।

इनके मकान दो कतारों में बने होते हैं तथा दो मकानों का रुख एक-दूसरे के सामने होता है। अधिकतर कछारी अपने को 'सोरोनिया' कहते हैं जिसका अर्थ होता है—शुद्ध कछारी। सोरोनिया मुर्गियां पालते हैं, लेकिन सूअर नहीं पालते। ये गोमांस नहीं खाते। इनको दो प्रमुख भागों में विभक्त किया गया है: (1) बरमन कछारी: ये सिर्फ हिंदू ही नहीं होते, बल्कि जनेऊ भी धारण करते हैं (2) शमशेरखां कछारी: इनकी उत्पति कछारी एवं नागा के संयोग से मानी जाती है।

इनके प्रमुख देवता बथाओ हैं, जिसे ये लोग 'केक्टस' के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। इस देवता की पूजा साल में दो बार होती है। ये लोग बुरी आत्माओं को भी मानते हैं, इनकी प्रमुख बुरी आत्माएं 'बुना', 'कबीर' एवं 'पानी देवता' हैं।

पहले कामरूप के कछारी मुर्दों को गाड़ते थे। लेकिन अब उन्होंने मुर्दों को जलाना शुरू कर दिया है। अपनी परंपरा के अनुसार मुर्दे को जलाकर उसकी राख को वे नदी, तालाबों में बहा देते हैं।

कनीकार जनजाति : यह मुख्यतः दक्षिण केरल की पहाड़ियों पर रहनेवाली एक जंगली जनजाति है। कुछ 'कनीकार' अब शहरों के पास भी रहने लगे हैं। केरल में इनकी जनसंख्या 9,547 तथा तमिलनाडु में 1,797 है।

जो कनीकार जंगलों में रहते हैं, उनका अपना कोई स्थायी निवास-स्थान नहीं होता। वे जंगल में ही एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते रहते हैं। सरकार ने भी उन्हें जंगल के कामों तथा हाथी पकड़ने के काम में लगाया है। वे मिली-जुली मलयालम और तमिल बोलते हैं, जिसे 'मलमबाशाई' भाषा कहते हैं।

इन लोगों में शवों को गाड़ने की प्रथा है। कब्र पर यादगार के लिए एक कील गाड़ दी जाती है। ये लोग एक जंगली देवता 'चात्तन' की पूजा करते हैं।

इन लोगों का अपना एक सामुदायिक भवन भी होता है, जिसे ये लोग 'पट्टापाड़' कहते हैं। यह भवन अविवाहित युवकों द्वारा शयनगृह के रूप में भी काम में लाया जाता है।

कनीकारों के हर गांव में एक मुखिया होता है, जो 'वेट्टमाला कनीकरन' के नाम से पुकारा जाता है।

कन्यामूल्य : भारत के अधिकांश आदिवासी समाजों में माता-पिता द्वारा तय किये गये विवाहों की प्रधानता है। इन समाजों में 'कन्या-मूल्य' की प्रथा पायी जाती है, जिसके अनुसार वर पक्ष धन देकर वधू को एक प्रकार से खरीदता है। 'कन्या मूल्य' रुपयों तथा वस्तुओं के रूप में होता है। साधारणतः 'कन्या मूल्य' 20 रुपये से लेकर 500 रुपये तक नकद तथा साथ में गाय, बकरियों, अन्य मवेशियों, तथा वस्त्र के रूप में दिया जाता है।

आदिवासी परिवारों में स्त्रियां भी पुरुषों के समान ही काम करती हैं। सामान्यतः घर के काम के अलावा वे खेती-बारी का काम तथा मेहनत-मजदूरी भी करती हैं। परिवार की आर्थिक व्यवस्था में इनका बहुत योगदान होता है। 'कन्या मूल्य' प्रथा का यही मुख्य कारण है; क्योंकि कन्या शादी के बाद अपने पति के घर चली जाती है और कन्या के घरवाले (माता-पिता) उसके द्वारा किये गये आर्थिक उपार्जन से वंचित रह जाते हैं। इसी कमी को पूरा करने के लिए वधू के माता-पिता कन्या का मूल्य लेते हैं। पश्चिम अफ्रीका की कुछ आदिम जातियों में धन और भेड़ों का आदान-प्रदान लड़की के जन्म के समय से ही प्रारंभ हो जाता है। कौड़ियों के आभूषणों की भेंट छोटी बच्ची को प्रतिवर्ष भेजी जाती है। लड़की के युवती होने और विवाह होने तक वरपक्ष की ओर से भेंटें जारी रहती हैं और इन सब के मूल्य का योग उसका 'कन्या धन' माना जाता है। कुछ मानवविज्ञानियों के अनुसार क्रय-विवाह दासता के युग का एक अवशेष है।

कयान जाति : कयान जाति के लोग बोर्नियो देशवासी हैं और मंगोलाइड वर्ग से संबद्ध हैं। इन लोगों ने मध्य बोर्नियो के उत्तरी भाग पर स्थित सारवाक प्रदेश में बहनेवाली बरम् नदी के तटीय प्रदेशों में अपना निवास बना लिया है।

इस जाति के लोग कद में नाटे होते हैं। इनका रंग गेहुंआ, बाल काले और सिर चौड़ा होता है।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस बात का पता चलता है कि आजकल इंडोनेशियन बोर्नियो के नाम से जाने जानेवाले यापोकयान् नामक प्रांत से सारवाक पहुंचे थे। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उस प्रांत के लोगों में और इनमें बहुत सा साम्य पाया जाता है।

आचार-व्यवहार : कयान समाज में हर वर्ग के लोग नियमित विवाह शुल्क अदा करके ही विवाह करते हैं। इस जाति में जिन लोगों को 'नेतृत्व' मिलता है वह परंपरागत होता है। अधिकारी वर्ग को इस समाज में बहुत सुविधाएं प्राप्त होती हैं। कयान लोग ऐसे लंबे और बड़े मकानों में निवास करते हैं, जिनमें पचास-साठ परिवार एक साथ रह सकें। ऐसे मकान आम तौर पर गांवों के बीच या नदियों के किनारे बनाये जाते हैं। इस तरह के हर मकान की एक लंबी सी 'गैलरी' होती है जो फ़ुरसत के समय पर पुरुषों के धूम्रपान और गपशप करने के काम आती है। स्त्रियां यहां धान कूटा करती हैं। इस गैलरी की तरफ ही हर परिवार के लिए अलग से बनाये गये कमरों के द्वार खुलते हैं। इस मकान के बीचो-बीच समाज का नेता रहता है। नेता का निवास स्थान उस समाज के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन का केंद्र माना जाता है। कयान लोगों की आमदनी का सबसे मुख्य जरिया पहाड़ियों पर होनेवाला अनाज है। शकुन आदि देखकर ये लोग अपने धर्म-संबंधी कार्य करते हैं।

कयान लोग शिल्प-कला (मुख्यतया लकड़ी संबंधी) में माहिर होते हैं। लोहे के औजार बनाने में भी ये लोग प्रवीण

हैं। पहले जमाने में ये लोग योद्धा हुआ करते थे। 19वीं शताब्दी में कयान लोगों के सबसे बड़े शत्रु थे इबान जाति के लोग। (दे० इबान प्रजाति)

वर्तमान युग में, कयान जाति के सांस्कृतिक जीवन में बहुत ही श्रेष्ठ परिवर्तन आये हैं। सारवाक में रहनेवाले ज्यादातर कयान लोग आजकल ईसाई हैं।

कॉर्डरिंगटन, रॉबर्ट हेनरी (1830–1922) : ब्रिटिश मानवविज्ञानी। कॉर्डरिंगटन ने अपनी मानवविज्ञान संबंधी खोजें मेलानीशियन द्वीप-समूह पर उस दौरान कीं, जब वे वहां पर मिश्नरी कार्य कर रहे थे। वे 30 वर्ष तक इस द्वीपसमूह पर रहे और इस दौरान उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें—'दि मेलानीशीयन लैंग्वेजिज' और 'दि मेलानीशीयन्स' लिखीं। अपनी गवेषणाओं के दौरान उन्होंने दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया। पहली तो यह कि वे इस बात से सदैव सजग रहे कि मिश्नरी होने के नाते उनमें कुछ पूर्वाग्रह हैं और अनुसंधान-कार्य इनसे बचकर किया जाना चाहिए तथा दूसरी बात यह है कि अनुसंधान-सामग्री इकट्ठी करते समय उन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए कि यूरोपियन विद्वान मेलानीशियन्स के बारे में क्या कहते हैं, बल्कि महत्त्व इस बात का है कि मूल निवासी अपने बारे में क्या कहते हैं। अपनी इस अनुपम विधि के कारण कॉर्डरिंगटन का अध्ययन अधिक वस्तुगत बन सका है। उनके निष्कर्षों से मानवविज्ञानी सहमत हुए हों या नहीं, लेकिन उनकी वस्तुगत पद्धति का मानवविज्ञान में विशेष महत्त्व है।

काडर जनजाति : जंगलों में कंदमूल फल-फूल जमा करनेवाली जनजातियों में काडर जनजाति का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। 1961 की जनगणना के अनुसार केरल में इनकी जनसंख्या 957 तथा तमिलनाडु में 293 है। कोचीन के नेल्लियामपती तथा कांडाचेरी पहाड़ों पर तथा कोयंबत्तूर जिले के अन्नामलाई पहाड़ों पर वे मुख्यतः रहते हैं।

काडर मुख्यतः जंगलों पर ही निर्भर रहते हैं तथा इनकी जीविका के साधन जंगलों से प्राप्त फल-फूल इत्यादि होते हैं। इनकी भाषा बिगड़ी हुई मलयालम-मिश्रित तमिल है। जंगलों से ये विशेष रूप से मोम, शहद, पेड़ों की छाल तथा उनके रेशे, हिरन के सींग, हाथीदांत इत्यादि इकट्ठा करते हैं। शहद तथा मोम जमा करना बहुत ही कठिन काम है, जिसे वे बड़ी आसानी से कर लेते हैं। बड़े-बड़े पेड़ों तथा चट्टानों पर वे आसानी से चढ़ जाते हैं। काडर लोगों में पहाड़ों पर चढ़ने के बारे में एक भ्रांत धारणा यह है कि जिस रास्ते से वे पहाड़ पर चढ़ते हैं, उसी रास्ते से वे उतरते भी हैं, चाहे वह रास्ता कितना ही दुर्गम क्यों न हो। इनके पास पालतू जानवर नहीं होते। खेती से भी ये अनभिज्ञ होते हैं। ये बांस की बड़ी सुंदर-सुंदर चीजें बनाते हैं। इनकी बनायी कंघी तो विशेष उल्लेखनीय है।

ये चौकोर झोंपड़ियों में रहते हैं। जो काडर पहाड़ छोड़कर मैदान में आ गये हैं, वे अपने नाच-गाने, अपनी संस्कृति तथा देवताओं को भी भूलते जा रहे हैं। कुछ काडर तो अपनी भाषा को भी भूल चुके हैं तथा अपने पड़ोसी हिंदुओं की क्षेत्रीय भाषा बोलते हैं। गांव का पुरोहित ही गांव का मुखिया होता है। इनके प्रमुख त्योहार विषु, ओणम, मकम् इत्यादि हैं।

कारीब इंडियन जाति : कारीब जाति के लोग वीर और स्वतंत्रता प्रिय होते हैं। इनके इन्हीं गुणों के कारण स्पेनवाले इन्हें अपने अधीन रखकर इनसे खेती-बारी का काम करवा नहीं सके थे। और यही कारण है कि अफ्रीका से नीग्रो जाति के लोगों को गुलाम बनाकर अन्य देशों में चाकरी करवाने के लिए ले जाया जाने लगा था।

कारीब जाति के लोगों में वीरपूजा की प्रथा है। इसीलिए ये लोग अपने पितामहों के कपाल तथा हड्डियों को एकत्र कर पूजा करते हैं। इन लोगों की इस परंपरा को समझ न पाने की वजह से इस बात का प्रचार किया गया कि ये लोग नरमांस-भक्षी हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के वाल्टर फ्यूक्स नामक एक विद्वान ने कारीब जाति के लोगों के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें लिखी थीं। उन्होंने यह भी लिखा था कि मूल जन्मस्थान पर रहनेवाले कारीब लोग अब भी शूर-वीर हैं तथा जो लोग अन्य स्थानों पर जाकर बस गये हैं वे खेती-बारी करने लग गये हैं।

विद्वानों के अनुसार, दक्षिण अमरीका के उत्तरी भाग पर स्थित वेनिज्युला नामक प्रदेश में बहनेवाली 'आरिनाको' नामक नदी का तटीय भाग इस जाति के लोगों का जन्म-स्थान था। कुछ समय बाद, ये लोग समुद्र तट से होते हुए आसपास के 'अंटिलीस' द्वीप समूह में तथा बहामा द्वीप में

जाकर बस गये। वहीं उन्होंने काफी विकास किया था। जब 1492 में कोलंबस अमेरिका पहुंचे, तब कारीब जाति के लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा उन तमाम द्वीपों में खूब प्रचलित थी। फ्लारिडा द्वीप-कल्प से लेकर दक्षिण में ब्राजील तक कारीब जाति के लोग फैले हुए थे। ये लोग कुछ समूहों में बंटे हुए थे और इसी कारण इन की भाषा में स्थानीय प्रभाव के कारण थोड़ा बहुत अंतर पाया जाता है।

स्पेन देश के लोगों ने अमरीकी खंड में राज्य स्थापित कर लेने के बाद, वेस्टिंडीस द्वीप समूह से कारीब लोगों को बाहर कर दिया। इसी दौरान कई लोग मारे भी गये। अंग्रेजों ने, कारीबियन समुद्र में स्थित जमैका, ट्रिनिडाड, सेइंट विनसेंट द्वीपों से 5,000 कारीब जाति के लोगों को मध्य अमरीका के होंड्रास प्रदेश में भगा दिया।

आचार-व्यवहार : कारीब लोगों का सामाजिक आचार-व्यवहार उत्तरी अमरीका में रहनेवाले रेड इंडियन लोगों के आचार-व्यवहार से मिलता है। इनके हर समूह पर उसके मुखिया का पालन होता था। परिवार पिता के अधीन होते थे। आवश्यकता आने पर सारे समूहों के मुखिया मिलकर सामूहिक रक्षण की व्यवस्था करते थे। समूह का मुखिया 'ग्वारिम्'नामक सोने का तमगा सीने पर बांधा करता था। उसके माथे पर पत्थर की ताबीज बंधी रहती थी। इस जाति में बहु-पत्नीत्व की प्रथा प्रचलित है। पत्नियां गुलामों की तरह रहती हैं। मुखिया ही धर्मगुरु का काम भी करता है। कोलंबस ने गलती से यह सोचा था कि इन लोगों का कोई धर्म नहीं है। कारीब लोग प्रकृति के अदृश्य देवताओं की आराधना करते थे। मूर्तियों के रूप में इन देवताओं की आराधना होती थी और ऐसी मूर्तियां जेमिस के नाम से जानी जाती थीं। देवताओं के लिए इन लोगों ने मंदिरों का भी निर्माण किया था। धर्मगुरु वैद्य का काम भी किया करते थे। भविष्य के बारे में, कारीब जाति के लोग आशावान होते हैं।

कार्वे, प्रो० (श्रीमती) इरावती (1905-1970) : इनका जन्म 1905 में हुआ था। वे दक्कन कालेज, पूना में समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान एवं सामान्य मानवविज्ञान विभाग की अध्यक्षा थीं। इन्होंने नातेदारी, शारीरिक मानवविज्ञान एवं सामान्य मानवविज्ञान का विशेष रूप से अध्ययन किया था। 1939 से 1958 तक वे समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान विभाग के 'रीडर' के पद पर रहीं। 1959 से 1962 तक वे लंदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ ओरियंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज' (पूर्व तथा अफ्रीकी अध्ययन संस्थान) में भारतीय मानवविज्ञान के व्याख्याता के रूप में रहीं। 1958 तथा 1959 के दौरान वे भारत सरकार के निमंत्रण पर योजना आयोग, नयी दिल्ली में थीं। वे भारतीय समाजशास्त्रीय संघ की सदस्या थीं।

इनकी लिखी हुई पुस्तकें निम्नलिखित हैं:

1. चित्पावन ब्राह्मण—ए सोशल एंड एथनिक स्टडी, यूनिवर्सिटी आफ बांबे, 1928
2. नारमेल एसिमेट्रिक डेसमेंसलिशेन, शैडल्स बर्लिन, 1931
3. परिपूर्ति (मराठी में) द्वितीय संस्करण, देशमुख आणि कंपनी, पूना, 1948
4. मराठी लोकांची संस्कृति (मराठी में), देशमुख आणि कंपनी, पूना, 1951
5. आमाची संस्कृति (मराठी में), देशमुख आणि कंपनी, पूना, 1960
6. मोवारा (मराठी में) देशमुख आणि कंपनी, पूना, 1961
7. युगांत (मराठी में) देशमुख आणि कंपनी, पूना, 1967
8. एंथ्रोपोमैट्रिक मेज़रमेंटस आफ दि मराठा, 1942
9. एंथ्रोपोमेट्रिक मेज़रमेंटस आफ महाराष्ट्र, 1951
10. किनशिप आरगेनाइजेशन इन इंडिया, एंथ्रोपोलोजिकल सोसायटी
11. दि इंडियन विलेज, 1957
12. हिंदू सोसायटी, दक्कन कालेज, पूना, 1967

अपनी मृत्यु से पूर्व वे निम्नलिखित योजनाओं का निर्देशन कर रही थीं:

1. दि रोल आफ वीकली मारकेट्स इन दि ट्राइबल रूरल अरबन सेटिंग।
2. को-आपरेटिव्स––'ए न्यू सोशल ग्रुप्स'।

इनकी मृत्यु 1970 में हुई। शारीरिक मानवविज्ञान तथा सामान्य मानवविज्ञान को श्रीमती कार्वे की देन महत्वपूर्ण है।

कीथ, आर्थर (1866–1955) : प्रसिद्ध मानव-विज्ञानी। स्काटलैंड के ओल्डमचार में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने अबरदीन और लीपजीग में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। सन् 1908 में ये रायल कालेज आफ सरजन्स में प्रोफेसर नियुक्त हुए। भ्रूणविज्ञान और शरीररचनाविज्ञान के क्षेत्र में इन्होंने जो अनुसंधान किया था, उससे मानव-विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। ये जीवाश्म-मानव के संबंध में एक विशेषज्ञ थे। सन् 1937 में ब्रिटिश एसोसिएशन के सभापति के तौर पर इन्होंने डारविन के सिद्धांतों का संशोधन करते हुए जो भाषण दिया, उससे मानव की पूर्व-परंपरा के बारे में बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इनकी रचनाओं में 'मानवीय भ्रूणविज्ञान तथा आकृति विज्ञान,' 'मानव के प्राचीन प्रकार,' 'मानव की प्राचीनता' आदि उल्लेखनीय हैं।



कुकी जनजाति : 'कुकी' नाम का प्रयोग उन जनजातियों के लिए किया जाता है, जो चितागोंग के पहाड़ी इलाकों में रहती हैं। इनकी जनसंख्या आसाम में 19,037, नागालैंड में 3,244 तथा त्रिपुरा में 5,539 है। कुकी जनजातियों की दो श्रेणियां मानी जाती हैं। नयी कुकी या 'थाड़ोस' और पुरानी कुकी। थाड़ोस जनजातियां अधिकांशतः मनीपुर की इंफाल घाटी की पहाड़ियों में निवास करती हैं। पुरानी कुकी भी इन क्षेत्रों में निवास करती है। इन दोनों के बीच विवाह का संबंध नहीं है।

कुकी जनजाति का वंशीय संबंध मंगोल प्रजाति से है और उनकी शारीरिक बनावट में मंगोल प्रजाति के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। उनके मुंह चौड़े और गालों की हड्डियां उभरी होती हैं। आंख छोटी और उभरी होती है। नाक चौड़ी और छोटी होती है। किंतु नाक के छिद्र बड़े होते हैं। इनकी दाढ़ी नहीं के बराबर होती है और मूंछ भी किसी-किसी व्यक्ति के दिखायी देती है। शरीर के अनुपात में उनके पैर लंबे और बांहें छोटी होती हैं।

कुकी गांव पर्वतों की चोटियों पर होते हैं। इन गांवों में दुश्मनों से भी इनकी रक्षा होती है। गांव से कुछ दूर पर सड़कों तथा पगडंडियों के किनारे लकड़ियों के छोटे-छोटे या ऊंचे चबूतरे बने रहते हैं, जिन पर मिट्टी के बर्तन, जानवरों की खोपड़ियां, कंबल इत्यादि सजे रहते हैं। ये गांव के विशेष प्रतिष्ठित व्यक्तियों के स्मारक होते हैं। कुकी गांव की दूसरी विशेषता 'युवक गृह' है, जिसे 'जाउल मुख' भी कहा जाता है। यहीं अविवाहित युवक रात में सोते हैं और क्रीड़ा, नृत्य, गान इत्यादि में अपना समय बिताते हैं। 'जाउल मुख' का सरदार सबसे अधिक उम्रवाला युवक होता है, जिसे 'होट्र' कहते हैं।

इनके मकान अधिकतर लकड़ी और बांस के बने होते हैं और साधारणतः तीन भागों में बांटे जा सकते हैं:सामने का बरामदा, मुख्य कमरा और इससे अलग एक छोटा कमरा। आंशिक रूप से खानाबदोश होने के कारण उनके पास घरेलू सामान अधिक नहीं होता। इनके प्रमुख वाद्य-यंत्र ढोलक, बोंगस, रोचेन इत्यादि हैं। बांस की टोकरी बनाने में ये बड़े कुशल होते हैं। वे तरह-तरह के मिट्टी के बर्तन भी बनाते हैं, जिनमें एक गोलाकार बर्तन खाना बनाने के लिए और बड़ा घड़ा शराब तैयार करने के लिए होता है। वे कपास भी तैयार करते हैं तथा उससे स्वयं कपड़ा भी बुनते हैं।

ये मुख्यतः खेती से अपनी आजीविका चलाते हैं। 'झूम' प्रणाली द्वारा ये चावल, मक्का, सेम, बाजरा, तंबाकू, कपास इत्यादि पैदा करते हैं। पुरुष का काम अन्न का उत्पादन करना, शिकार करना इत्यादि है। खाना बनाना, पानी लाना, बच्चों की देखरख करना घरेलू काम औरतें करती हैं। खेती के अलावा इनकी जीविका का दूसरा साधन शिकार करना और मछली मारना है। ये लगभग सभी जानवरों का मांस खाते हैं। वे बाघ, हाथी, बंदर इत्यादि जानवरों को पकड़ने के तरीके जानते हैं। जंगली पक्षी पकड़ने में भी वे प्रवीण हैं।

शादी के मामले में कुकी काफी आजाद हैं। अपनी शादी के लिए वे अपनी बहन एवं मां को छोड़कर किसी को भी चुन सकते हैं। इनमें कबीले के सदस्य से शादी करने की प्रथा प्रचलित है। परिवार से बाहर की लड़की से शादी करना भी उपयुक्त समझा जाता है। एक कुकी एक से अधिक पत्नी रख सकता है। इनमें विधवा विवाह भी प्रचलित है।

कुरुंबा जनजाति : 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या मैसूर में 9,246, तमिलनाडु में 1,114 तथा केरल में 999 थी। अधिकतर ये नीलगिरि तथा वैयाह पर्वत पर रहते हैं, परंतु इनका निवास केवल पहाड़ों तक ही सीमित नहीं है। ये घने जंगलों में भी रहते हैं। ये अपने-आपको पुरानी तथा ऐतिहासिक पल्लव जाति की एक शाखा बताते हैं। सातवीं शताब्दी में इनके राजा काफी शक्तिशाली थे, किंतु चोल-राजाओं से लगातार युद्ध होने के कारण इनकी शक्ति का ह्रास होता गया तथा आज ये इस दशा को पहुंच गये हैं। इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि कारनूल, कड़पा, बल्लारी, अनंतपुर, उत्तरी तथा दक्षिणी आरकाट, सेलम, कोयंबतूर, त्रिचनापल्ली तथा मदुराई में जितने भी कुरुंबा बसते हैं, सभी एक ही प्रजाति के हैं। यद्यपि इनका संबंध पुरानी पल्लव जाति से है, फिर भी इनकी बाहरी आकृति एक-दूसरे से काफी भिन्न है।

कुर्द जाति : कुर्द जाति के लोग वस्तुतः संकर जाति के हैं। ये लोग पूर्वी तुर्की (टर्की), दक्षिण आरमीनिया, प्राच्योत्तर इराक तथा पश्चिमोत्तर ईरान के कुछ हिस्सों में रहते हैं। इन्हीं स्थानों को 'कुर्डिस्तान' कहते हैं। कहा जाता है कि ई० पू० 400 के पूर्व जेनोफन का सामना करनेवाले कर्डूची की ये लोग संतान हैं। परिष्या के लोगों की संतान में और इन लोगों में बहुत अधिक समानता पायी जाती है। इनमें से कुछ लोग स्थायी रूप से बस गये हैं और कुछ लोग यायावर बन गये हैं।

इन लोगों की जनसंख्या तुर्की में 20 लाख, इरान में 10 लाख तथा ईराक में 10 लाख है।

खेती-बाड़ी तथा भेड़ों का पालन इनका पेशा है। कंबल बुनना भी इनके खास पेशों में से है। ये लोग भयंकर रूप से युद्धप्रिय होने के कारण किसी के आगे झुकते नहीं हैं। सातवीं शताब्दी में कुर्द जाति के लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था। इनमें से अधिक संख्यक सुन्नी मुसलमान हैं। ईसाइयों के साथ किये गये धर्मयुद्धों (क्रूसेड) में ख्याति प्राप्त करनेवाले सुलतान सलाद्दीन कुर्द जाति के ही थे। 14वीं शताब्दी में कुर्द लोग 'आटमन' साम्राज्य के अधीन थे जिससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने शताब्दियों तक संघर्ष किया था। 1918 में, पैरिस में जो शांति वार्ता हुई थी उसमें कुर्द जाति के लोगों ने स्वतंत्रता प्राप्त करली थी। दो शताब्दियों के पहले भी इन लोगों ने आजादी के लिए ईराक, ईरान से टक्कर ली थी, जिसमें ये असफल रहे थे।

कून-गार्न-वार्डसैल का प्रजातीय वर्गीकरण : 1950 में कून-गार्न एवं वार्डसैल ने प्रजातियों का एक वर्गीकरण प्रकाशित किया। इन लेखकों के अनुसार यह वर्गीकरण कर्म-उपलक्षी है। यह प्रत्येक प्रजाति के कर्मों की स्थिति पर आधारित है।

(क) विकासीय स्थिति : यह दांत एवं हनु के परिणाम, करोटि के मोटेपन, भ्रूकटक के परिमाण, एवं अन्य आद्य-लक्षणों की अनुपस्थिति एवं उपस्थिति से संबंधित अंतरों द्वारा समझा जाता है।

(ख) शारीरिक रचना : यह वातावरण (मरुस्थल, पर्वत, उष्ण, शीत) के अनुकूल विशिष्ट अनुकूलनों के द्वारा समझा जाता है।

(ग) विशेष बाह्य लक्षण : काली त्वचा, चिपिट आनन, केश-वितरण इत्यादि। ये उष्णता प्रकाश एवं शीत के अनुकूलन माने जाते हैं।

इन परिस्थितियों के अनुसार 30 प्रजातियों की एक सूची दी गयी : (1) मुराइयन (2) आइन (3) अल्पाइन (4) उत्तर-पश्चिमी यूरोपियन (5) उत्तरी-पूर्वी यूरोपियन (6) लैप (7) वन नीग्रो (8) मैलानीशियन (9) नीग्रीटो (10) बुशमैन (बोस्काय) (11) बांटू (12) सूडानी (13) कारपेंटेरियन (14) द्रावीडियन (15) हैमाइट (16) हिंदू (17) मेडीटेरे-नियन (18) नार्डिक (19) उत्तर-अमरीकी नीग्रो (20) दक्षिण-अफ्रीकी नीग्रो (21) क्लासिक मंगोलाइड (22) उत्तरी चीनी (23) दक्षिण-पूर्वी एशियाटिक (24) तिब्बती इंडोनीशियन-मंगोलाइड (25) तुर्किक (26) बाह्य प्रांतीय अमेरिंडियन (27) मध्य अमेरिं-डियन (28) लैडिनो (29) पालीनीशीयन (30) नव-हवाइयन।

इन प्रजातियों का अध्ययन दिखाता है कि कुछ समूह, जैसे दो, तीन, छह, सात, नौ, सत्रह, अठारह, सत्ताइस इत्यादि प्रतिष्ठित प्रजातियां हैं। समस्त मानवविज्ञानी इन के पद एवं विवरण पर सहमत हैं। किंतु कुछ अन्य जैसे 19, 23, 24, 26, 27, 28, 30 को इसी रूप में

स्वीकार नहीं किया गया है। ये समूह भौगोलिक संभागों से संबंधित हैं एवं इन संभागों में अत्यधिक विजातीय समूहों द्वारा बसे हुए हैं।

कोटा जनजाति : कोटा जनजाति पहले मैसूर राज्य के 'कोल्लामले' पहाड़ पर रहती थी। अब वे नीलगिरि की पहाड़ियों में सात गांवों में रहती हैं। इन गांवों का सामूहिक नाम 'कोटागिरी' है। 1961 की जनगणना के अनुसार तमिलनाडु में इनकी जनसंख्या 333 है। इसके अलावा इनकी संख्या मैसूर में 81 तथा केरल में सिर्फ 8 है। इनकी भाषा टोडा जनजाति की भाषा से काफी हद तक मिलती-जुलती है, जो तमिल और कन्नड़ भाषा का मिला-जुला रूप है।

इनका मुख्य पेशा लोहे, सोने, तथा चांदी का काम करना, बढ़ईगिरी, रस्सी बांटना, मिट्टी के बरतन बनाना, खेती करना आदि है। ये अच्छे कारीगर होते हैं। ये जानवरों का मांस खाते हैं तथा उनके सींग बेच देते हैं। कोटा लुहार, अन्य पहाड़ी जनजातियों के लिए कुल्हाड़ी, चाकू तथा अन्य औजार बनाते हैं। उनकी औरतें टोकरी बुनती हैं तथा काली मिट्टी से बरतन बनाती हैं। इन लोगों के बनाये बर्तनों को टोडा जनजाति के लोग उपयोग में लाते हैं।

उन लोगों के बीच एक प्रचलित रिवाज यह है कि जब कोई विवाहित स्त्री पहले-पहल गर्भवती होती है, तब उसका पति अपने बाल, दाड़ी, मूछें, नाखून इत्यादि काटना बंद कर देता है।

कोया जनजाति : डा० अय्यप्पन के अनुसार कोया जनजाति, गोंड जनजाति की ही एक शाखा है। 'कोया' शब्द का अर्थ होता है—पहाड़ पर निवास करनेवाला। 1961 की जनगणना के अनुसार विभिन्न राज्यों में इनकी जनसंख्या इसप्रकार है : 2,20,946 आंध्रप्रदेश में 55,284 उड़ीसा में 33महाराष्ट्र में तथा 28 मैसूर में।

कोया पहले पहाड़ों पर खेती करते थे, लेकिन अब वे मैदानी क्षेत्र की जमीन पर खेती करने लगे हैं, यद्यपि कोया लोग मूलतः तेलुगुमूल की भाषा बोलते हैं, फिर भी इनकी भाषा में तमिल, कन्नड़ के शब्द पाये जाते हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त भाषा 'कोया' के नाम से जानी जाती है। वे शिकार के काफी शौकीन होते हैं। समूचे साल वे जंगलों में जंगली जानवरों की तलाश में रहते हैं। अप्रैल और मई के महीनों में वे एक उत्सव मनाते हैं, जो 'बिज्जा पाडू' के नाम से प्रसिद्ध है। वे मछली का शिकार भी करते हैं। वे मछली मारने के लिए बिल्कुल अलग तरह के औजार का उपयोग करते हैं और कभी-कभी मछली पकड़ने के लिए वे जहर का भी उपयोग करते हैं। वे गाय-बैल भी पालते हैं।

प्रत्येक गांव में एक 'भगवान का घर' होता है, जिसे वे 'बिजागुडी' कहते हैं। 'बिजागुडी' गांव के अंदर ही होता है तथा अधिकतर गांव के मुखिया के घर के सामने ही स्थित होता है। इनके यहां मुख्यतः चार धार्मिक उत्सव होते हैं: 1. बिज्जापांडू 2. कोडा पांडू 3. बूमूद पांडू और 4. ईदूपांडू।

गांव के कर्ताधर्ता, पेंडा या प्रमुख, परमा या पुजारी, और कोतवाल होते हैं। 'बाड्डे' या जादूगर का महत्त्व इनके समाज में एक प्रमुख या पुजारी से कम नहीं होता है।

कोरवा जनजाति : कोरवा एक 'कोलेरियन' जनजाति है, जो मुख्यतः छोटा नागपुर में रहती है। लेकिन उसके अलावा ये अन्य राज्यों में भी पाये जाते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या इस प्रकार है: बिहार में 2,11,62, मध्यप्रदेश में 42,056, उड़ीसा में 853 तथा पश्चिम बंगाल में 2,841। ऐसा कहा जाता है कि ये 'सरगुजा' से भागकर मिरजापुर में आ बसे हैं। इनकी भाषा 'कोरवा' है। पर ये कहीं-कहीं स्थानीय हिंदी भी बोलते हैं। ये जंगलों में घूमते हैं। शिकार करके तथा जंगली फलों को इकट्ठा कर एवं लकड़ी बेचकर वे अपना जीवन-निर्वाह करते हैं।

कोल जनजाति : ऐसा माना जाता है कि कोल जनजाति छोटा नागपुर के इलाकों में निवास करती थीं, वहां से वह उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा गुजरात तक फैल गयी। मध्यप्रदेश में इनकी जनसंख्या 3,86,009, उड़ीसा में 46,397 तथा महाराष्ट्र में 53 है।

कोल जनजाति कई अन्य जनजातियों की जननी है। इनमें कई उप-जनजातियां, जैसे राउतिया, राउतेला, ठकुरिया, कगबरिया तथा देशहा हैं। कभी-कभी कई अन्य जनजातियां जैसे, मरिया, सवरा, तथा वेरवार भी अपने-

आपको कोल ही कहती हैं। इन्होंने अपनी मूल भाषा को करीब-करीब त्याग दिया है तथा उसी क्षेत्र की भाषा को अपना लिया है, जिसमें ये रहते हैं। ये खेती करके तथा लकड़ियां तथा जंगलों से प्राप्त अन्य सामग्री बेचकर आजीविका चलाते हैं। ये शारीरिक परिश्रम से भी जीविकोपार्जन करते हैं।

कोवालेवस्की, मैक्सिम मैक्सिमोविच (1861-1916) : रूसी इतिहासकार और मानवविज्ञानी। कोवालेवस्की रूस के एक संभ्रांत परिवार से संबंधित थे। खारकोव विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए पेरिस और लंदन चले गये। इंग्लैंड में उनकी रुचि ग्रामीण समाज के जन्म और उसके विकास में बढ़ी। उन दिनों इस विषय पर काफी विचार-विमर्श किया जा रहा था। इसी विषय पर काम करते-करते वे आदिम सामाजिक संगठनों में दिलचस्पी दिखाने लगे। 1877 में, उनकी नियुक्ति मास्को विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर हुई। इस दौरान, उन्होंने काकेशियन पर्वत-श्रृंखला का अनेक बार दौरा किया तथा वहां रहनेवाली जनजातियों के जीवन तथा उनके व्यवहार की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त की। बाद में, कोवालेवस्की ने इन जनजातियों की जीवन-पद्धति के विभिन्न पक्षों पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये। उनका राजनैतिक दृष्टिकोण उदारवादी था, जिसके कारण 1887 में उन्हें प्रोफेसर के पद से हटा दिया गया। इस घटना के पश्चात् वे पेरिस चले गये, जहां उन्होंने फ्रेंच और अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों तथा लेखों का संपादन तथा प्रकाशन किया। इसके अतिरिक्त, वे यूरोपीय अन्य विश्वविद्यालयों में भी भाषण देने के लिए आमंत्रित किये गये। 1905 की रूसी क्रांति के दौरान, कोवालेवस्की रूस वापिस आ गये और राजनीनि में भाग लेने लगे। उन्होंने एक समाचारपत्र की स्थापना की तथा प्रथम संसद के लिए चुने गये। अपनी राजनैतिक गतिविधियों के साथ-साथ, वे पीटर्सबर्ग के शिक्षा-संस्थानों में अध्यापन कार्य भी करते रहे। 1907 में, वे राज्य परिषद में विश्वविद्यालयों का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने गये और मृत्यु-पर्यंत राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। इसप्रकार कोवालेवस्की ने तत्कालीन शिक्षा तथा राजनीति में बड़ा योग दिया।

क्राले, अल्फ्रेड अर्नेस्ट (1869–1924) : ब्रिटिश सामाजिक-मानवविज्ञानी। क्राले बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। मानवविज्ञानी होने के अतिरिक्त, वे क्लासिकी साहित्य के आधिकारिक विद्वान, शिक्षाशास्त्री और एक अच्छे खिलाड़ी भी थे। मानवविज्ञान पर लिखे ग्रंथों में उनकी मौलिक सूझबूझ का स्पष्ट परिचय मिलता है। क्राले पहले मानवविज्ञानी थे, जिन्होंने आदिम जातियों के यौन और सामाजिक संबंधों का वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण किया। उनसे पूर्व, बर्बर जातियों के यौन-संबंधों की व्याख्या के सिलसिले में वेस्टरमार्क की प्राणिशास्त्रीय व्याख्या ही सर्वमान्य थी। क्राले ने बताया कि प्राणिशास्त्रीय आधारों पर इनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाना आवश्यक है। उन्होंने विवाह तथा उससे संबंधित सभी सामाजिक संबंधों की पुनर्व्याख्या की। उनके अनुसार, इस संबंध का विकास नर और मादा के यौन-अंतर्विरोधों के कारण हुआ है। इस प्रक्रिया को उन्होंने 'शरीरशास्त्रीय विचार' का नाम दिया है। क्राले शरीरशास्त्रीय आधारों पर, मादा को नर से निकृष्ट और निर्बल प्राणी स्वीकार करते हैं तथा इस कारण वे बर्बर समाजों में यौन-संपर्कों का आधार भय मानते हैं। उनके अनुसार, यौन-अंतर्विरोध और भय ही यौन-संबंधी निषेधों (टैबू) और जटिलताओं के मूल में हैं। यौन-संपर्कों के इन भयों को कम करने तथा सहज बनाने के लिए समाज में अन्य प्रथाओं का विकास स्वाभाविक ही था। ये प्रथाएं हैं: सगाई, कौमार्य-भंग और यौन-प्रतिरोध आदि।

प्रसिद्ध मनोविज्ञानी सिगमंड फ्रायड क्राले की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से बहुत प्रभावित थे। क्राले ने मानवविज्ञान में इस पद्धति का सिर्फ प्रयोग ही नहीं किया, बल्कि पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की। मानवविज्ञान में अपने मौलिक निष्कर्षों के कारण ही वे प्रशंसा के पात्र बन सके।

क्रियावाद : संस्कृति के विभिन्न अंगों की उपमा शरीर के विभिन्न अंगों से की जाती है। शारीरिक अवयवों के संगठन को हम शरीर कहते हैं। प्रत्येक अंग का कुछ विशेष कार्य होता है। इसी प्रकार संस्कृति के विभिन्न अंग अलग-अलग न होकर संगठित होते हैं और उस संगठन को हम

संस्कृति कहते हैं। मालिनोवस्की ने न्यूगिनी में अपने अध्ययन के आधार पर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार ट्रोबियंड संस्कृति के विभिन्न अंग परस्पर संबंधित हैं।

मालिनोवस्की के अनुसार संस्कृति का कार्य मानव की इच्छा पूर्ति करना है। मालिनोवस्की ने मनुष्य में तीन प्रकार की इच्छाएं मानी हैं :

(1) प्राथमिक या जैविक जैसे भूख-प्यास एवं जीवन-रक्षा।

(2) गौण तथा अर्थविधि अथवा शिक्षा के हेतु कार्य करने की इच्छाएं, और

(3) संगठनिक इच्छाएं : जैसे धर्म, कला इत्यादि।

मालिनोवस्की के अनुसार संस्कृति का प्रत्येक अंग इनमें से एक या अधिक इच्छाओं की पूर्ति करता है।

क्रियाविधि मानवविज्ञान : प्रोफेसर सोल टैक्स का नाम इससे संबंधित है। प्रो० सोल टैक्स ने अमरीका के फाक्स इंडियन्स की समस्या का अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि उनके विकास के लिए भी अनेक योजनाओं को चलाया। प्रो० टैक्स के अनुसार क्रियाविधि मानवविज्ञान, शोध के नतीजे पर आधारित किसी समुदाय के विकास का कार्यक्रम है।

क्रोबर, अल्फ्रेड लुई (1876–1960) : अमरीकी मानव-विज्ञानी। आधुनिक मानवविज्ञानियों में अल्फ्रेड लुई क्रोबर का अत्यंत प्रमुख स्थान है। इन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थीं। ये कैलिफोर्निया विश्वविद्यालयमें 1919से 1946 तक प्रोफेसर रहे। सन् 1918 से 1925 तक ये विश्वविद्यालयी मानवविज्ञान संग्रहालय के अध्यक्ष और उसके बाद 1946 तक निदेशक भी रहे। इन्होंने औरतों की पोशाक में हुए परिवर्तनों का विशद और सांख्यिकीय अध्ययन किया। इससे फैशन के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारियां उपलब्ध हुईं। फैशन में समयानुसार जो चाक्रिक परिवर्तन होता आया है, उसके संबंध में इनके सिद्धांत अत्यधिक मान्य हैं। अमरीका की कुछ जनजातियों की भाषा, संस्कृति आदि पर भी इन्होंने अनुसंधान किया था। अमरीकी इंडियनों का—विशेषतया उनकी भाषा, परंपरा और पुरातत्त्वविज्ञान का—इन्होंने विशद अध्ययन किया और उसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया। उनके लिखे ग्रंथों में 'मानवविज्ञान', 'संस्कृति के स्वरूप', 'संस्कृति और रीति' आदि उल्लेखनीय हैं।



खड़िया जनजाति : खड़िया बिहार की एक प्रमुख जनजाति है। 1961 की जनगणना के अनुसार बिहार में इनकी जनसंख्या 1,08,983, मध्यप्रदेश में 19,107 तथा उड़ीसा में 86,691 थी। साधारणतः खड़िया तीन प्रकार के होते हैं : (1) पहाड़ी खड़िया (2) दूध खड़िया और (3) ढेलकी खड़िया।

खड़िया के गांव की बनावट उनके प्रकारीय विभाजन पर निर्भर है। पहाड़ पर रहनेवाले खड़िया का छोटा निवासस्थान होता है, जहां चार से एक दर्जन तक झोंपड़ियां ढलाव पर बनी होती हैं। दूध और ढेलकी खड़िया का स्थायी गांव होता है, जिसमें 50 से 100 के बीच झोंपड़ियां होती हैं, परंतु पहाड़ों पर रहनेवाले खड़िया का गांव अस्थायी होता है। प्रत्येक दूध और ढेलकी खड़िया गांव में 'अखाड़ा' (नृत्य का स्थान), बगीचे, श्मशान इत्यादि होते हैं। पहाड़ पर रहनेवाले खड़िया गांव में पवित्र बगीचे अवश्य होते हैं, परंतु वहां न तो अखाड़ा ही होता है और न श्मशान भूमि ही। दूध और ढेलकी खड़िया जनजातियों में कुंवारे लड़के-लड़कियों के सोने के लिए एक घर होता है, जिसे वे 'गीतिओड़ा' कहते हैं।

गांव की कोई निश्चित बनावट नहीं होती। घर बिना किसी निश्चित आकार के बने हुए होते हैं। दूध और ढेलकी खड़िया के घर की बनावट प्रायः एक-सी होती है। पहाड़ों पर रहनेवाले खड़िया के घर प्रायः चौकोर होते हैं। घर की दीवार साल के रोपे हुए डंठलो पर मिट्टी के प्लास्टर की बनी होती है। यह छत की तरफ से ढलुवां होती है तथा लकड़ी के खंभों पर टिकी रहती है। इसे घास से छाया जाता है। सोने तथा भोजन बनाने का एक ही कमरा होता है। दूध तथा ढेलकी खड़िया के घर एक-दो

फुट ऊंची नींव के बने होते हैं। घर में खिड़कियां नहीं होतीं। बहुत घरों में मवेशियों को रखने के लिए एक छावनी बगल में बनी रहती है।

पहाड़ पर रहनेवाले खड़िया हल का उपयोग नहीं करते। जमीन खोदने के लिए वे लकड़ी की बनी छड़ी का उपयोग करते हैं। इस छड़ी में कभी-कभी लोहे के फाल भी जुटे होते हैं, जिन्हें 'खंडो' कहा जाता है। वृक्ष काटने के लिए वे कुल्हाड़ी का उपयोग करते हैं। साधारणत: पहाड़ पर रहनेवाले खड़िया बिछौने की जगह ताड़ या खजूर की बनी चटाई का उपयोग करते हैं। किंतु, कुछ संपन्न परिवारों में चादर का उपयोग भी होता है। ये शिकार के भी शौकीन होते हैं तथा शिकार करने के लिए ये धनुष-बाण, लाठी, भाला, गंडासा, तथा फरसे आदि का उपयोग करते हैं।

इनका प्रमुख भोजन चावल है, जिसे वे स्वयं नहीं पैदा करते, बल्कि विनिमय द्वारा प्राप्त करते हैं। चावल के अतिरिक्त ये शिकार तथा फल-फूल पर भी निर्भर रहते हैं। ये सब्जियां भी पैदा करते हैं। भोजन में ये नमक का इस्तेमाल बहुत अधिक करते हैं। ये अपना भोजन उबालकर, सेंककर या भूनकर बनाते हैं, जिसमें काफी मात्रा में नमक डाल दिया जाता है। ये मछली तथा मांस खाते हैं, लेकिन इनमें अधिकतर लोग गोमांस नहीं खाते। भोजन बनाने में ये सरसों के तेल का इस्तेमाल करते हैं। फलों में ये जामुन, बेर और खजूर खाते हैं। ये कटहल और आम के पेड़ भी लगाते हैं। सभी खड़िया मुर्गी को पालते हैं तथा उसका मांस भी खाते हैं। पहाड़ों पर रहनेवाले खड़िया, पत्तों से बनायी गयी बीड़ी पीते हैं जिसे वे 'फीका' कहते हैं। दूध और ढेलकी खड़िया, तंबाकू-चूना मिलाकर खाते हैं। इनके बच्चे 7-8 इंच चौड़े तथा डेढ़ गज लंबे कपड़े का लंगोटा पहनते हैं। इसे 'खड़िया' कहा जाता है। वयस्क लोग खड़िया के ऊपर एक प्रकार की करघनी लपेटते हैं, जो 13-14 इंच चौड़ी तथा 2-3 गज लंबे कपड़े की बनी होती है। स्त्रियां कांसे और पीतल के बने आभूषण पहनती हैं। कहीं-कहीं चांदी के आभूषण भी पाये जाते हैं। इनके प्रिय आभूषण हार, कर्णफूल, बाजूबंद तथा अंगूठियां हैं।

दूध और ढेलकी खड़िया परिवार चर्खा और तकली का भी उपयोग करते हैं। स्त्रियां ताड़ और खजूर के पत्तों मे चटाई बुनती हैं। बहुत से घरों में कोल्हू भी देखने को मिलते हैं। पहाड़ों पर रहनेवाले खड़िया नियमित रूप से खेती नहीं करते। बाकी खड़िया 'झूम' प्रणाली की खेती करते हैं। जमीन व्यक्तिगत रूप से जोती जाती है तथा ये जमींदारों को मालगुजारी देते हैं।

पहाड़ों पर रहनेवाले खड़िया शिकार-कला में विशेष रूप से निपुण होते हैं। तीर-धनुष तथा भाला इनके शिकार के प्रधान हथियार साधन हैं। ये हिरन, खरगोश तथा कबूतर का शिकार मुख्य रूप से करते हैं। शिकार इनका प्रधान पेशा है।

खनिज निर्देश : भूगर्भ में छिपी हुई चीजों का पता लगाने के लिए प्राचीन काल में यह विधि अपनायी जाती थी। इसमें एक शकुनक दंड को उस स्थान पर ले जाया जाता था, जहां पृथ्वी के गर्भ में स्थित जल या खनिज पदार्थ मिलने की संभावना हो। शकुनक दंड दो शाखोंवाली किसी टहनी से या धातु से बनाया जाता था और उसे हाथ से इस प्रकार पकड़ा जाता था कि उसमें होनेवाले कंपन या दोलन साफ दिखायी दे सकें। ऐसा माना जाता था कि खनिज-भंडारवाले स्थान पर पहुंचते ही शकुनक दंड में कंपन होने लगता है; क्योंकि खनिज-भंडार से निकलनेवाली कुछ अज्ञात शक्तियां शकुनक दंड को लेकर चलनेवाले व्यक्ति की मांसपेशियों को अचेतन रूप से प्रभावित कर देती हैं और दंड में गति आ जाती है, जिससे वह हिलने लगता है। प्राचीन काल में यह विधि मुख्य रूप से जलकूपों के लिए उपयुक्त स्थल खोजने के लिए अपनायी जाती थी। बाद में शकुनक दंड के स्थान पर दोलक (पेंडुलम) का प्रयोग होने लगा और इस विधि से खनिज-पदार्थों का पता लगाया जाने लगा। यूरोप, अमरीका तथा राष्ट्रमंडल के कुछ देशों में यह विधि कुछ परिवर्तित रूप में आज भी अपनायी जाती है। जहां तक इस विधि की वैज्ञानिकता का प्रश्न है, सर विलियम बैरेट ने इंग्लैंड में इससे संबंधित कुछ अध्ययन अपनी पुस्तक 'शकुनक दंड' में प्रस्तुत किया है, किंतु इसके पीछे ठोस वैज्ञानिक आधार तथा कारण क्या हैं, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई है। आधुनिक काल में भूगर्भ की खोजों को लेकर जो वैज्ञानिक उपकरण निर्मित हुए हैं उन से इस विधि की सार्थकता संदिग्ध हो जाती है।

खरवार जनजाति : यह जनजाति विशेष रूप से बिहार में रहती है। ये दक्षिणी बिहार के रांची एवं पलामू जिले में पाये जाते हैं। इसके अलावा ये मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में भी रहते हैं। इनकी भाषा खरवारी है, लेकिन ये हिंदी अच्छी तरह बोल लेते हैं। इनका मुख्य पेशा खेती है। ये बहुत ही बहादुर होते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या उपर्युक्त पांच राज्यों में इस प्रकार थी : 1,09,357 बिहार में, 44,251 मध्यप्रदेश में, 275 महाराष्ट्र में, 717 उड़ीसा में तथा 1,142 पश्चिम बंगाल में।

खानपान : भारत की सभी जनजातियों के खाने-पीने की वस्तुओं का ब्यौरा देना बहुत ही कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारत की अधिकतर जनजातियां चावल, मकई तथा ज्वार-बाजरा मुख्य रूप से खाती हैं। ये जनजातियां मुख्य भोजन के अलावा सब्जी, मांस, अंडे, मछली तथा दाल इत्यादि भी खाती हैं। इन पदार्थों का उपभोग उनकी आर्थिक क्षमता पर निर्भर करता है। साधारणतः वे एक दिन में तीन बार भोजन करते हैं, सुबह, दोपहर तथा शाम। शाम को वे प्रायः सात बजे तक भोजन कर लेते हैं।

भारत की जनजातियां चावल, मकई या ज्वार-बाजरे की बनी देशी शराब भी खूब पीती हैं। इसे मालेर पहाड़िया 'पोचाई' तथा संथाल 'हडिया' कहते हैं। महुआ की बनी हुई शराब भी वे पीते हैं। खासकर देशी शराब पीना इनकी रोज की खुराक ही नहीं है, बल्कि सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों का एक अंग भी है। वे देवी-देवता को भी शराब चढ़ाते हैं।

खानाबदोश (जिप्सी) : घुमंतू जाति। ये कबीलों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते रहते हैं। विश्व के लगभग सभी भागों में इनके दल पाये जाते हैं। यूरोप, अमरीका, लघु एशिया, मिस्र, रूमानिया, हंगरी, बल्कान राष्ट्रसमूह, स्पेन, सं० रा० अमरीका, इंग्लैंड, भारत आदि सभी भागों में मिलाकर इनकी जनसंख्या लगभग 40,00,000 अनुमानित की जाती है। इनकी जातिगत शारीरिक विशिष्टताएं इस प्रकार हैं :

वर्ण	— गेहुआं या हल्का भूरा।
आंखें	— काली और खूबसूरत।
दांत	— सुगठित दंतपंक्ति।
बाल	— काले या गहरे भूरे।
शारीरिक संरचना	— इकहरा लेकिन सुगठित शरीर। हाथ-पैरों की बनावट खूबसूरत। बांहें टांगों की तुलना में कुछ छोटी।
सिर	— लंबा।

खानाबदोशों का मूलस्थान क्या था, इस विषय में अनेक धारणाएं विद्वानों में प्रचलित हैं। विश्व के सभी खानाबदोश कबीलों की भाषा के अध्ययन के आधार पर अधिकांश विद्वान इस धारणा को स्वीकार कर रहे हैं कि खानाबदोशों का मूल निवासस्थान दक्षिण या दक्षिण-पूर्व भारत रहा होगा। उदाहरणतया खानाबदोशों की 'रोमनी चिब' भाषा में 'पानी' और 'छुरी' के लिए ईरानी खानाबदोश 'पानी' और 'छेरी' नार्वे के खानाबदोश 'पानी' और 'त्ज्यूरी', साइबेरिया के खानाबदोश 'पान्जी' और 'त्स्युरी', ब्राजील के खानाबदोश 'पानिन' और 'छुरिन', तथा आर्मेनियाई, मिस्री और इंग्लैंड के खानाबदोश 'पानी' और 'छुरी' शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। इन शब्दों के यही प्रयोग उत्तर भारत की भाषाओं में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त अनेकानेक शब्द ऐसे हैं, जो विश्व के खानाबदोश कबीलों में समान रूप से, थोड़े-बहुत अंतर के साथ प्रचलित हैं और जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा में पायी जाती है। भाषा की इस असाधारण समानता के आधार पर विद्वानों की यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि खानाबदोशों का मूलस्थान हिमालय की तराई या उसका उत्तर-पश्चिमी विशाल मैदान रहा होगा।

900 ई० के लगभग खानाबदोशों के कुछ दल ईरान पहुंचे। वहां से वे दो भागों में बंट गये। इनमें से 'मेन' या 'मेनी' नाम का दल तो पेलेस्टाइन, लघु एशिया, सीरिया, ईरान, मिस्र आदि देशों की ओर निकल गया और 'फेन' नामक दल आर्मेनिया, दक्षिणी काकेशिया तथा बाइजेंटाइन की ओर चला गया। 14वीं शताब्दी के अंत तक खानाबदोशों के अनेक दल बलकान राष्ट्रसमूह तक पहुंच चुके थे। तुर्की आक्रमणों ने इन्हें उत्तर तथा पश्चिमी यूरोप में धकेल दिया। प्रत्येक देश के निवासी इन्हें अलग नाम से पुकारते हैं। फ्रांस में इन्हें 'बोहीमियन' और उत्तरी

यूरोप में 'तातार', 'सारासीज़', 'मिस्त्री' आदि नामों से पुकारा जाता है। लेकिन ये खुद को यूरोप में 'राम', सीरिया में 'डाम' और आर्मेनिया में 'लाम' कहते हैं।

यूरोप में खानाबदोश जहां-जहां भी गये हैं, इन पर अत्याचार ही हुए हैं। उनकी खानाबदोश आदतें और विचित्रताएं स्थानीय निवासियों में सदैव ही संशय उपजाती रही हैं। अक्सर बच्चे चुराने, जादूटोना करने तथा नरभक्षण करने के आरोप में उन्हें दंडित किया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि सभी खानाबदोश कबीले किसी न किसी रूप में दैवी शक्तियों की उपासना करते रहते हैं। हस्त-ज्ञानविद्या और जंतर-मंतर इनमें बहुत सामान्य है। भारत में भी इन कबीलों के बारे में अनेक संशय प्रचलित थे। जैसे-जैसे इन खानाबदोशों का अजनबीपन कम होता जा रहा है, उसी अनुपात में इन्हें सामाजिक मान्यता भी मिलती जा रही है। अब संसार के किसी भी देश में ये उतने अप्रतिष्ठित नागरिक नहीं हैं, जितने पहले कभी थे। अब खानाबदोशों के कुछ कबीलों ने या व्यक्तिगत रूप से कुछ खानाबदोशों ने स्थायी रूप से रहना भी शुरू कर दिया है।

खानाबदोश कलाप्रिय जाति है। इनके शरीर पर गुदे हुए गोदने इनकी विशिष्ट सौंदर्यप्रियता का बोध कराते हैं। अधिकतर ये एकवस्त्रधारी होते हैं तथा गहरे रंग के वस्त्र पहनते हैं। गोदने के अतिरिक्त इनके नाक-कान भी (स्त्री-पुरुष दोनों के) बिंधे हुए होते हैं और वे उनमें अनेक प्रकार के आभूषण पहनते हैं। इसके अतिरिक्त, संगीत में भी इनकी रुचि होती है। विख्यात लोक-गायिका रेशमा खानाबदोश कबीले की ही है। (दे० 'जिप्सी'— समाजविज्ञान खंड)

खासी जनजाति : खासी शब्द उन सब जनजातियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जो खासी एवं जयंतिया पहाड़ों पर रहती हैं। असम में इनकी जनसंख्या 3,56,155 है। इसके अतिरिक्त नागालैंड में इनकी जनसंख्या 53 तथा त्रिपुरा में 349है।

इनके शरीर का रंग पीलापन लिये होता है। स्थान-स्थान पर रंग में कुछ फर्क होता है। जैसे चेरापुंजी के खासी विशेष गोरे होते हैं तथा जयंतिया के खासी सांवलापन लिये हुए। ज्यों-ज्यों उनके स्थान की ऊंचाई बढ़ती जाती है, उनके रंग हल्के पड़ते जाते हैं। इनका कद छोटा और शरीर की बनावट गठीली होती है। नाक चपटी तथा छोटी होती है तथा नाक का सुराख बड़ा होता है। ललाट ऊंचा तथा चौड़ा होता है। आंखें मध्यम आकार की होती हैं, आंख की परत अधिक स्पष्ट होती है और उनका आकार तिरछा होता है। मुंह बड़ा होता है और होंठ थोड़े मोटे होते हैं। गाल की हड्डियां उभरी हुई होती हैं।

मानवविज्ञानियों का मत है कि खासी असम के मूल निवासी नहीं हैं। कुछ लोगों का मत है कि वे बर्मा से आये हैं। एक अन्य मत यह है कि वे उत्तरी हिस्से से होकर असम में आये हैं। सेडवेल का यह मत है कि खासी बर्मा से असम में परकोई पर्वत-श्रेणी से होते हुए आये थे।

खासी कृषि-प्रधान जनजाति है। कृषि-प्रणाली विशेषत: 'भूम' ही है। 'भूम' के अलावा 'हाली' अथवा पानी रोककर धान पैदा करने की प्रणाली भी इनमें प्रचलित है। खाद का उपयोग भी वे करते हैं। खेती के लिए वे हल काम में लाते हैं। फसल काटने में वे हंसिये का प्रयोग नहीं करते। वे काटने की जगह बालियों को हाथ से ही चुनते हैं। धान के अलावा वे आलू, संतरे, पान और कसैली भी पैदा करते हैं। वे सूती और रेशमी कपड़े बुनने का काम करते हैं। इसके अलावा वे शिकार करते हैं तथा मछली भी मारते हैं। पक्षी पकड़ने में वे दक्ष होते हैं।

इनका प्रमुख आहार चावल और सूखी मछलियां हैं। चावल न मिलने पर वे ज्वार का उपयोग करते हैं। ये लगभग सभी जंगली जानवरों का मांस खाते हैं। इनके समाज में कुत्ता पवित्र जानवर समझा जाता है। शराब इनका प्रमुख पेय है। शराब चावल या ज्वार की बनती है।

ये अधिकतर रंगीन पोशाक पहनते हैं। पुरुष बिना आस्तीन का कोट पहनते हैं और कमर में लंगोट बांधते हैं। कोट खासी-संस्कृति की विशेषता है। औरतें बहुत ही आकर्षक पोशाक पहनती हैं। रंग-बिरंगे कपड़ों से वे शरीर को विभूषित करती हैं। सोने और मोती के बने बहुत से आभूषण वे पहनती हैं। मूंगे की माला उन्हें विशेष प्रिय है। कानों में बालियां पुरुष और स्त्रियां दोनों ही पहनते हैं।

खासी गांवों में स्थायी रूप से निवास करते हैं। इनके गांव पहाड़ों पर होते हैं। इनके मकान जंगल की लकड़ी

और घास-फूस के बने होते हैं। इनके मकान साफ होते हैं। खासी अब खटिया, स्टूल, कुर्सी इत्यादि का उपयोग


खासी

भी करने लगे हैं। ढोल, बांसुरी, सितार इत्यादि इनके प्रिय वाद्ययंत्र हैं। तीर-धनुष के अलावा तलवार, भाला उनके प्रमुख हथियार हैं।

विवाह के पश्चात् पुरुषों को ही स्त्री के घर पर आकर रहना पड़ता है। मातृसत्तात्मक सामाजिक संगठन होने के कारण खासी समाज में एकपत्नी प्रथा प्रचलित है। संतान रहने पर विधवा-विवाह करना भी मना है। तलाक की प्रथा प्रचलित है, किंतु इसके लिए दोनों पक्षों की स्वीकृति की आवश्यकता है। गोद लेने की प्रथा भी इनमें प्रचलित है।

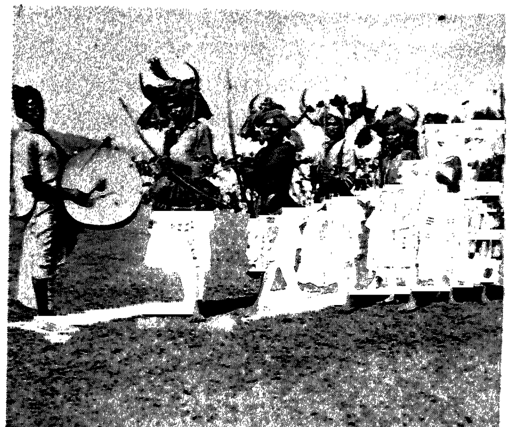
खासी बहुत से देवी-देवताओं की पूजा किया करते हैं, जिनमें चुलेई मुलुंक (देश के देवता), यूलेई उमटांग (पानी के देवता), यूलेई लोंग स्याह (धन देवता) यू-रयानगकेव (ग्राम देवता) इत्यादि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, खासी प्रकृति के पुजारी हैं। कितनी ही नदियां-पहाड़ इनके देवता हैं, जिनकी पूजा ये करते हैं।

खेतीबारी—आदिम जातियां : खेती पर निर्भर रहने वाली जनजातियां अनेक हैं और इनकी संख्या सबसे अधिक है। खेतीबारी के काम में पुरुष तथा स्त्रियों को बराबर तथा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। भील, संथाल, गोंड, हो, उरांव, मुंडा, खरवार, बैगा, कोरवा, असम की आदिम जातियां तथा अन्य कई आदिम जातियां खेतीबारी से अपनी आजीविका चलाती हैं। मैदानी जमीन पर खेती करने के अलावा वे पहाड़ों पर भी खेती करते हैं, जिसे अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है, जैसे 'भूम' (असम तथा नागालैंड की जनजातियां), 'पोडू' (उड़ीसा तथा आंध्र-प्रदेश की जनजातियां), 'कोरवा' (बिहार की पहाड़िया जनजाति) इत्यादि।

खोंड जनजाति : खोंड जनजाति 'कोड', 'कोथ', 'कंधा', इत्यादि अन्य नामों से भी जानी जाती है। अपने को वे 'कू' या 'कूई' कहते हैं, लेकिन उड़िया लोग उन्हें 'कोथ', या 'कथा' कहते हैं तथा तेलुगु-भाषी उन्हें 'कोघ' के नाम से पुकारते हैं।

ये मुख्यतः उड़ीसा में रहते हैं। इसके अलावा वे आंध्र-प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार तथा पश्चिम बंगाल में भी रहते

खोंड



हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या सबसे अधिक उड़ीसा राज्य में है, जो 81,18,847 है। आंध्रप्रदेश में इनकी जनसंख्या 4,525 है तथा बिहार में 814 है। इनका मुख्य निवासस्थान गंजाम (उड़ीसा) तथा विशाखापट्टणम (आंध्रप्रदेश) जिलों को अलग करने-वाली पहाड़ियों में है। अधिकतर 'खोंड' अपने अलग गांव में रहते हैं। जब वे अन्य जातियों के साथ मिले-जुले रहते हैं, तब गांव में उनके लिए अलग गलियां होती हैं।

खोंड पुरुषों का पहनावा बहुत ही संक्षिप्त होता है। औरतें अपने शरीर को कपड़े के दो टुकड़ों से ढंकती हैं। एक कमर से नीचे तथा दूसरा कमर से ऊपर।

पहाड़ों एवं जंगलों के कारण खोंड विभिन्न समुदायों में बंट गये हैं, जिसके कारण वे आसानी से आपस में संपर्क स्थापित नहीं कर सकते। इस कारण से उनके रहन-सहन के तौर-तरीके एक-दूसरे से भिन्न होते जा रहे हैं।

हर गांव में कुंवारे लड़कों के लिए एक 'युवक गृह' होता है, जिसे 'थांगरवासा' के नाम से पुकारा जाता है। इसके अलावा कुंवारी लड़कियों के लिए भी एक युवतिगृह होता है, जिसे 'थांगरिन बासा' कहते हैं।

इनका मुख्य पेशा खेती तथा शिकार है। खोंड शिकार के देवता की भी पूजा करते हैं।

गदब जनजाति : प्रचलित विश्वास के अनुसार 'गदब' शब्द 'गोदावरी' शब्द से उत्पन्न हुआ है। इसीलिए यह भी माना जाता है कि गदब जाति के लोग सर्वप्रथम गोदावरी के तटीय प्रांत में रहते थे।

जयपुरम् में रहनेवाले गदब जाति के लोग एक तरह की उड़िया भाषा बोलते हैं। उन लोगों की भाषा को मैदानी इलाकों में रहनेवाले गदब लोग समझ नहीं सकते हैं। ये लोग 'मुंडा भाषाओं' के वर्ग में आते हैं। इनकी भाषा की कोई लिपि नहीं है।

गदब जाति में छह शाखाएं हैं—(1) बोडो, (2) ओल्लरो, (3) परुंग, (4) कल्लोयी, (5) कापु तथा (6) कत्तिरि। मैदानी इलाकों में रहनेवाले गदब लोग अपने गोत्र भूल चुके हैं। फिर भी ये लोग अपने आपको 'कापु' कहते हैं और नाग की हत्या नहीं करते हैं।

'केरंग कापु' लोग भी गदब जाति से ही संबद्ध हैं। केरंग कापु की स्त्रियां 'केरंग' नामक पेड़ की खाल के रेशों से कपड़े बुनकर पहनती हैं। इसीलिए इनका नाम भी केरंग पड़ा है। इस शाखा के लोग बीस के बाद की गिनती नहीं जानते हैं। इनकी लड़कियां तभी विवाह के योग्य मानी जाती हैं, जब वे कपड़ा बुनना सीख जाती हैं। स्त्रियां अपने कानों में पीतल के जो आभूषण पहनती हैं उनका व्यास 10-15 से० मी० का होता है। ये आभूषण स्त्रियों के कंधों को छूते रहते हैं। सीपियों और तरह-तरह के मनकों को भी ये स्त्रियां श्रृंगार के लिए सिर पर धारण करती हैं।

गदब जाति के लोग आंध्रप्रदेश के विशाखापट्टणम जिले के पहाड़ी इलाकों में रहते हैं। खेती का काम करके, पालकियों को ढोकर ये लोग अपना पेट पालते हैं। ये लोग जयपुरम् के इलाके में शताब्दियों से रह रहे हैं। इस जाति के लोगों में दो-तिहाई लोग पहाड़ी प्रांतों में और एक-तिहाई लोग मैदानी इलाकों में रहते हैं। पोट्टंगी, जयपुरम्, मल्कनगिरि आदि पहाड़ी प्रांत तथा चोडवरम्, गोल्कोंडा, श्रृंगवरपुकोट आदि मैदानी प्रांत इनके निवास स्थान हैं। 1921-31 के बीच बहुत सारे गदब जाति के लोग चाय के बागानों में काम करने के लिए असम चले गये थे।

आचार-व्यवहार : इनकी प्रथा के अनुसार शादी से पहले लड़का अपनी होनेवाली ससुराल में रहकर चाकरी करता है और उसके बाद ही उस घर की लड़की से विवाह करता है। इनमें एक और प्रथा है, जिसके अनुसार लड़का जबरदस्ती लड़की को भगा ले जाता है और उससे विवाह कर लेता है। लड़का लड़की को लेकर जंगल में एक रात बिता आता है और हर्जाने के तौर पर लड़की के पिता को कुछ धन देता है। उसके बाद वे लोग सामाजिक दृष्टि से विवाह कर लेते हैं।

इस जाति के लोग अपने बच्चों के नाम दिनों के नामों पर, (जैसे, सोम, मंगल आदि) रखते हैं। लेकिन अब राम, अर्जुन, भीम आदि नाम भी रखने की इनमें प्रथा चल पड़ी है। गदब जाति के लोग 'इट्टकपर्व' नामक पर्व बहुत धूमधाम से मनाते हैं। गांवों में रहनेवाले इस जाति के पुरुष मार्च-अप्रैल के महीनों में शिकार पर निकल पड़ते हैं। इनमें से हर आदमी को कोई न कोई जानवर मारकर लाना होता है। जो व्यक्ति कोई भी जानवर मारकर ला नहीं सकता उस पर पड़ोस की स्त्रियां गोबर का पानी डालकर उसका अपमान करती हैं।

'गंगा देवी', 'ठाकू रानी', 'ईश्वर', 'मौलि भैरव', 'झंकार' आदि देवी-देवताओं की ये लोग आराधना करते हैं। 'झंकार' देवता वर्षा और खेती के अधिपति माने



गमन

जाते हैं। ये लोग पुरुषों के शवों का दहन-संस्कार करते हैं और स्त्रियों के शवों को दफनाते हैं। रिश्तेदार ही शव को छूने योग्य माने जाते हैं।

गमन : भारत की जनजातियां काम-धंधे की तलाश में अकसर अपने निवासस्थान को छोड़कर शहरों की तरफ जाती हैं। शहरों में वे मेहनत-मजदूरी करके पैसा कमाते हैं। जिन इलाकों में ज्यादा कारखाने होते हैं, उसी तरफ ये अधिकतर जाते (गमन करते) हैं।

इनके गमन दो प्रकार के हो सकते हैं: (1) स्थायी और (2) अस्थायी

(1) स्थायी : जब वे स्थायी रूप से एक नयी जगह जाकर बस जाते हैं, तथा पहली जगह को हमेशा के लिए छोड़ देते हैं।

(2) अस्थायी : अस्थायी गमन दो प्रकार का होता है: (क) कम समय के लिए तथा (ख) ज्यादा समय के लिए।

(क) कम समय के लिए : खेती की कटाई के बाद मेहनत-मजदूरी करके कमाने के लिए थोड़े समय के लिए बाहर जाते हैं और फिर खेती के काम शुरू होते ही गांव को वापस चले जाते हैं। इस प्रकार वे गांव से बराबर अपना संबंध स्थापित रखते हैं।

(ख) ज्यादा समय के लिए : इनके अंतर्गत कुछ वर्षों के लिए गांव छोड़कर चले जाते हैं और किसी विशेष अवसर (जैसे विवाह) पर ही गांव आते हैं।

गमन से जीवन तथा शिक्षा का स्तर ऊंचा होता है।

गारो जनजाति : 'गारो' जनजाति असम के 'गारो पहाड़' तथा निकटवर्ती मैदानी क्षेत्रों में रहती है। 1961 की जनगणना के अनुसार असम पश्चिमी बंगाल, नागालैंड तथा त्रिपुरा में इनकी जनसंख्या क्रमशः 2,58,122, 2,535, 504 तथा 5,484 थी।

इनके गांव नदी के तट पर बने होते हैं। ये अधिकतर चावल तथा कपास की खेती करते हैं। ये मछली पकड़ने में काफी निपुण होते हैं। शिकार के प्रति भी ये बिल्कुल उदासीन नहीं होते। ये मृत शरीर को दफनाते हैं।

इनके सामाजिक संगठन बहुत अंश में खासियों से मिलते-जुलते हैं।

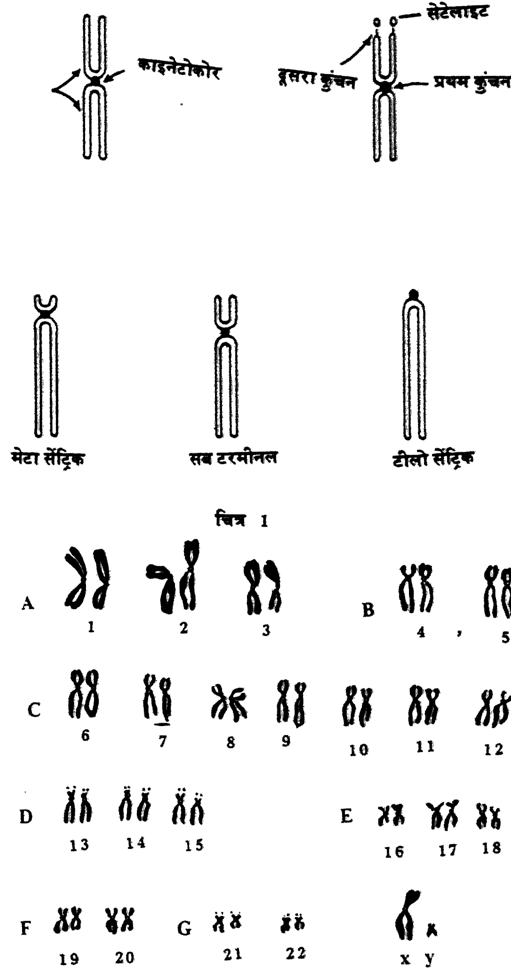
गुणसूत्र : प्रत्येक कोशिका के केंद्रक में धागे समान अनेक संरचनाएं होती हैं, जो गुणसूत्र कहलाती हैं। इन संरचनाओं के गुणसूत्र अथवा क्रोमोसोम (क्रोमा-रंग, सोमा-देह)

कहलाने का कारण यह है कि ये सरलतापूर्वक उन अभिरंजकों को ग्रहण कर लेते हैं, जिनका उपयोग जीवविज्ञानी इनका अधिक स्पष्टत: भेद करने में करता है। गुणसूत्र जीन का वहन करते हैं और आनुवंशिक लक्षणों के संचरण में प्रमुख भाग लेते हैं। लीवान फोर्ड, जीयों और हैमरटन (1956) के अनुसार मनुष्य की प्रत्येक कायकोशिका में 46 गुणसूत्र एवं जनन कोशिका (अंडाणु एवं शुक्राणु) में 23 गुणसूत्र होते हैं। कायिक कोशिकाओं में गुणसूत्रों की संख्या द्विगुणित अथवा डिपलाइड (2N) कहलाती है, और जननिक कोशिकाओं में गुणसूत्र की संख्या अगुणित अथवा हैपलाइड (N) कहलाती है। गुणसूत्र युगल रूप में पाये जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक कायिक-कोशिका में एक माता और दूसरा पिता से ग्रहण किया जाता है। 22 युग्म अर्थात 44 अलिंग सूत्र (आटोसोम) और एक युगल अर्थात् दो लिंग सूत्र का होता है। लिंग गुणसूत्रों का प्रचलित नाम x – गुणसूत्र तथा y – गुणसूत्र है। सामान्य पुरुष में एक गुणसूत्र तथा एक गुणसूत्र (44+xy) तथा सामान्य नारी में 2x गुणसूत्र (44+xx) होते हैं। सदृश जीन अथवा युग्म विकल्पीवाले गुणसूत्र सजातीय (होमोलोगस) कहलाते हैं। गुणसूत्र की संख्या, परिमाण एवं आकार एक व्यक्ति अथवा एक जाति (स्पीशीस) के गुणसूत्र प्ररूप अथवा कैरयोटाइप का निर्माण करते हैं।

प्रत्येक गुणसूत्र में दो अर्धगुणसूत्र एक-दूसरे से एक संकीर्णन पर संलग्न होते हैं, जिसे गुणसूत्र-बिंदु अथवा काइनैटोकोर कहते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र अपनी लंबाई और गुणसूत्र-बिंदु की स्थिति के आधार पर अभिलक्षित किया जाता है। यदि गुणसूत्र-बिंदु के दोनों ओर गुणसूत्री भुजाओ की लंबाई लगभग समान हो, तो गुणसूत्र आप्लव केंद्रिक (मैटासैंटरीक) कहलाता है (दे० चित्र)।

यदि गुणसूत्र-बिंदु गुणसूत्र के एक छोर की ओर अथवा उसके अत्यंत निकट हों, तो गुणसूत्र अक्षांत केंद्रिक (A) कहलाता है। और यदि गुणसूत्र-बिंदु मध्यस्थ एवं अंतस्थ के मध्य में हो, तो गुणसूत्र उपात्स्थ (S) कहलाता है। गुणसूत्रों की लंबाई भिन्न-भिन्न होती है। बृहत् लघुतम की अपेक्षा पांच गुना लंबा होता है। 46 मानवीय गुणसूत्र सात प्रमुख आकृतिक समूहों में वर्गीकृत किये गये हैं (डेवर पद्धति 1960)।

1 - 3 (क), 4 - 5 (ख), 6 - 12 (ग), 13 - 15 (घ), 16 - 18 (ङ), 19 - 20 (च), 21 - 22 (छ), (चित्र 2)



चित्र 1

पुरुष की एक कोशिका के 46 गुणसूत्र

चित्र 2

गुणसूत्रों का अध्ययन निम्नलिखित कोशिकाओं के संवर्धन द्वारा किया जाता है :

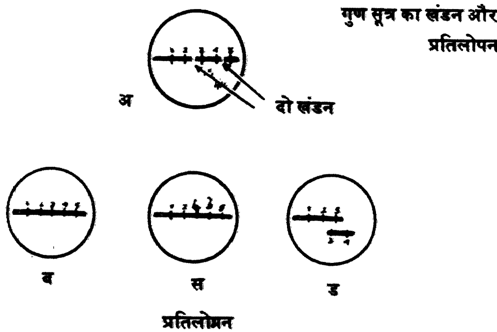
1. **अस्थि मज्जा :** (फोर्ड, जेकाब एवं लाजथा 1958, उरोस्थि वेध करके।
2. जीवेक्षा द्वारा : चर्म एवं स्त्री के अंशों को निष्कासित करके (पंक 1958, हार्नडैन 1960)।

3. शिरारुधिर के श्वेत रुधिराणु (हंगर फोर्ड इत्यादि 1959) संवर्धन द्वारा।

श्रेयस्तर रीति : 20 मिलीमीटर युक्ता या कृतिक रुधिर (रुधिर+हिपैरिन)+फाइटीहीम अग्लूटिनिन+अवकल अपकेंद्रन——श्वेत रुधिराणु पृथक हो जाते हैं——तीन दिन तक संवर्धन किया जाता है——कोल थीसीन ऊन वल्य क्रिया को अभिदर्शन —— यौगिकीकृत करके फ्यूजिन द्वारा अभिरंजन किया जाता है।

रासायनिक रूप से गुणसूत्र प्रोटीन और न्यूक्लिक अम्ल (मुख्यतः डी० एन० ए०) द्वारा निर्मित होता है। गुणसूत्र एवं जीन की प्रकृति का सिद्धांत यह है कि गुणसूत्र में डी० एन० ए० अणुओं की एक दीर्घ श्रृंखला होती है और जीन इस श्रृंखला के खंड होते हैं। गुणसूत्रीय विपथन दो प्रकार के होते हैं :

(क) आकृतिक अपसामान्यता : उदाहरणार्थ, स्थानांतरण, अल्पता, प्रतिलोमन, द्विगुणीकरण इत्यादि।



(ख) गुणसूत्र संख्या के विपथन निम्न प्रकार संभव है :

(1) आलिंगीय :उदाहरणार्थ, मंगोली जड़-बुद्धिता (अथवा डाउन्स सिंड्रोम), मानसिक ह्रास, लघु दैहिक उच्चता, स्थूल हाथ 21 वां गुणसूत्र त्रिसम सूत्री (अथवा ट्राइसोमिक) होता है। सामान्यतः यह एक त्रुटि का परिणाम है, जिसे अवियोजन कहते हैं।

(2) लिंग गुणसूत्रीय : उदाहरणार्थ, क्लाइनाफैल्टर्स सिंड्रोम बाह्य जननेंद्रिय में नर-समान होती है, किंतु वृषण अत्यंत लघु होते हैं। शरीर के रोम विरल (कम और दूरी पर) होते हैं। बहुधा रोगियों में स्त्री की भांति वक्ष का विकास होता है। रोगी क्रोमेटिन धनात्मक होता है और गुणसूत्र की रचना – 45+xy 47 नर होती है।
– 45+xx 47 नारी

'टर्नस सिंड्रोम' : इस रोग के निम्नलिखित लक्षण होते हैं: स्त्री-समान बाह्य जननेंद्रिय, लघु दैहिक उच्चता, जाल-युक्त ग्रीवा, निम्न स्थित कान, अविकसित वक्ष, लघु गर्भाशिय एवं अंडाशय। रोगी क्रोमेटिन ऋणात्मक होता है एवं गुणसूत्र रचना 44 +xo= 45 होती है।

गुहा द्वारा भारत का प्रजातीय वर्गीकरण : बी० एस० गुहा के अनुसार भारत में निम्नलिखित प्रजातीय तत्व पाये जाते हैं:

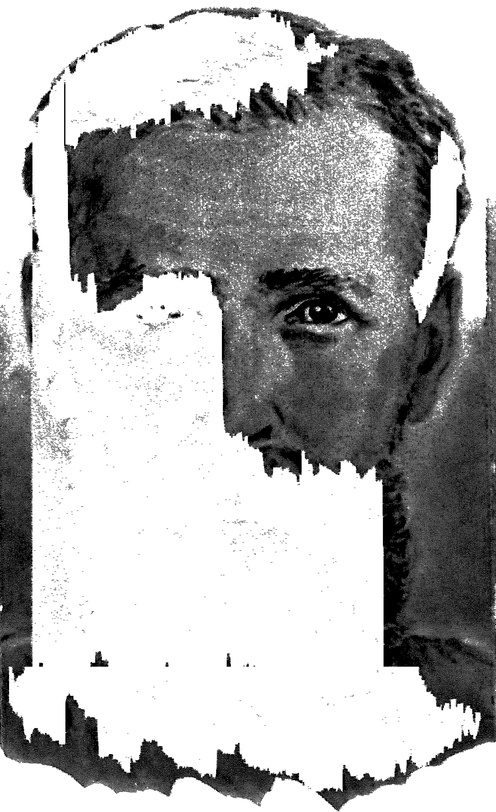
1. नीग्रीटो
2. प्रोटोआस्ट्रेलायड
3. मंगोलाइड : जिनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं:
   (I) पेलयो मंगोलाइड
   जिनमें (क) लंबे शीर्षवाले और (ख) चौड़े शीर्षवाले प्रकार
   (II) तिब्बती-मंगोलाइड।
4. मैडीटेरेनियन : जिसके निम्नलिखित प्रकार हैं:
   (I) पेलयो मैडीटेरेनियन
   (II) मैडीटेरेनियन।
   (III) तथाकथित ओरियंटल प्रकार।
5. पश्चिमी पृथुकपाली : जिसके निम्नलिखित प्रकार हैं:
   (I) अल्पीनाइड।
   (II) डाइनैरिक।
   (III) अरमीनाइड।
6. नार्डिक

(1) नीग्रीटो :डाक्टर गुहा के अनुसार नीग्रीटो भारत के प्रथम आगंतुक एवं भारत के स्वस्थानिक हैं। वे नीग्रोआइड संभाग के पिग्मी सदस्य हैं।

मुख्य विशेषताएं : विशेष केश-आकार एवं आकृति इनको अन्य प्रजातियों से पृथक् करती है। केश छोटे अथवा लंबे कुंतलों में मुड़े हुए हैं। कभी-कभी पेपर कार्न (छोटे, निकट रूप से स्थित कुंतल), केश का वयन ऊनी प्रकार का होता है। अन्य लक्षण जो नीग्रीटो का प्रभेद करते हैं: कुछ शैशव आवृत्तियां जैसे: पिग्मी दैहिक उच्चता, औसतन 5



1. नीग्रोइड



2. यूरोपाइड



3. मंगोलाइड

फुट से नीचे, छोटा सिर, अंडाकार ललाट, चिकनी भ्रूकटक एवं दुर्बल चिबुक। नीग्रीटो में गहरे वर्णक होते हैं, किंतु शुद्ध नीग्रो जैसे अधिक गहरे नहीं।

शीर्ष आकार में भिन्नता होती है, गोल, मध्यम एवं लंबे शीर्ष तीनों पाये जाते हैं। उनके हाथ एवं टांग दुर्बल और छोटे होते हैं। भुजाएं टांगों की तुलना में लंबी होती हैं। आनन छोटा एवं बाहर की ओर निकला हुआ, नासा चिपिट और चौड़ी, ओंठ मोटे और बहिर्वृत्त।

भौगोलिक दृष्टि से नीग्रीटो प्रजाति का भारत में वितरण : भारत की मुख्य भूमि में यह प्रकार नहीं पाया जाता था, यद्यपि समय-समय पर फ्रिजली केश के भूले-भटके प्रकार दृष्टिगोचर हुए हैं। उदाहरणतः कोचीन और ट्रावनकोर (गुहा 1928-1929) के पर्वतों में रहनेवाले फ्रिजली केशवाले कादर एवं पुलायन व्यक्ति, संभवतः वयनाड की आदिम जनजातियां, एवं इरुला आदि जाति में इस प्रकार के केश (फ्रिजली) पाये जाते हैं। शीर्ष के आकार और केश की संरचना में भारतीय नीग्रीटो कदाचित अंडमानी द्वीपवासियों की अपेक्षा मैलानीशियन पिग्मियों के अधिक सदृश होते हैं। यह निश्चयपूर्वक नहीं मालूम कि नीग्रीटो पुरातन काल में भारत के दूसरे अन्य भागों में कितनी दूर तक फैले थे। किंतु उनकी अंगामी नागाओं में उपस्थिति (हूटन, 1927 द्वारा प्रतिवेदित किया गया) एवं राजमहल गिरि (सरकार, 1936) की अनेक वनवासी जनजातियों में यदा-कदा पाये जाने को दृष्टि में रखते हुए यह कहना संभव होगा कि वे एक समय में उत्तर-पूर्वी दिशा में भी दूर-दूर तक फैले हुए थे।

(2) **प्रोटो आस्ट्रेलाइड** : नीग्रीटो के अतिरिक्त प्रायद्वीपीय भारत के वनवासी जनसंख्या में अन्य दूसरा आदिम तत्त्व पाया जाता है, जो दूर-दूर तक फैला हुआ है और संभवतः नीग्रीटो के शीघ्र ही बाद भारत पहुंचा था। दैहिक उच्चता, शीर्ष के आकार, आननी भागों के बहिक्षेपण, चौड़ी चिपिट नासा, मांसल बहिर्वृत्त होंठ एवं त्वचा वर्ण (हल्का काला) में दोनों (नीग्रीटो और प्रोटो आस्ट्रेलाइड) के मध्य अंतर बहुत कम है। प्रोटो आस्ट्रेलाइड प्रकार भ्रूकटक और मस्तिष्क के शैशव लक्षणों से कम प्रति साधारण करता है एवं पैरों के तनु-स्वभाव नहीं देखे गये हैं।

प्रोटो आस्ट्रेलाइड में ऊनी केश अथवा फ्रिजली केश की अनुपस्थिति एक अत्यधिक प्रभेदक लक्षण है। प्रोटो आस्ट्रेलाइड में केश प्रकार तरंगित और घुंघराले भी होते हैं। किंतु तरंग अथवा बालों के बल कभी कुंडलित नहीं होते। यह तत्त्व आस्ट्रेलियन जनजाति के अत्यंत समीप है, किंतु एक अधिक सामान्य प्रकार का है, जिसके फलस्वरूप प्रोटो आस्ट्रेलाइड का नाम दिया गया। यह सत्य है कि प्रारूपिक आस्ट्रेलियन में भ्रूकटक अत्यधिक दृढ़ होती है। नासामूल अधिक धंसा हुआ और शरीर में रोमों की प्रचुरता होती है, जो भारतीय जनजाति में असामान्य नहीं है। किंतु कई दक्षिण भारतीय आदिजातियों में जैसे चेंचू, मलायन, कुरुंबा एवं योरूबा तथा मुंडा, संथाल एवं कोल समूह में ये विशेषताएं भी पायी जाती हैं।

प्रोटो आस्ट्रेलाइड प्रकार, दक्षिणी एवं मध्य भारत की जनजातीय संख्या में अत्यधिक प्रभावशाली तत्व है। इस बात की ठीक-ठीक सूचना नहीं है कि भारत में यह प्रजाति कब आयी। यह टिनेकैली जिले में पाये गये। प्रागैतिहासिक काल तथा पूर्व-संस्कृत साहित्य के संदर्भों में (आर० पी० चंदा) पाया गया है।

(3) **मंगोलाइड प्रजाति** : मंगोलाइड प्रजाति दूसरी प्रजातियों से निम्नलिखित लक्षणों में भिन्न है: (क) आनन एवं शरीर पर बहुत कम रोम (ख) आननीय भाग सामान्यतः चपटे, अत्यधिक प्रमुख गंडास्थि, (ग) कदाचित नासा कंकाल का कम विकास, (घ) तिर्यक आकार के नेत्र और साथ में आंतरिक अपांग (कोण) को ढकते हुए ढीले चर्मवाली वलि, इस प्रकार आंखों को एक अधखुली दरार-जैसी आकृति देते हैं।

भारत में मंगोलाइड समूह के तीन प्रजातीय प्रकार होते हैं, जिनमें पेलीमंगोलाइड अत्यंत प्राचीन हैं एवं प्रमुख रूप से मंगोलकल्प लक्षणों को नहीं दर्शाते।

(क) पेली-मंगोलाइड :लंबे शीर्ष प्रकार के, मध्यम दैहिक उच्चता, त्वचा वर्ण गाढ़े से हल्के भूरे तथा, नासा मध्यम, किंतु निम्न उत्सेध, आनन तथा शरीर दोनों पर केश कम, नेत्र गर्तिका तिरछे स्थित, अधिनेत्र कोणवलि अधिक चिह्नित नहीं, शीर्ष आकार पश्चक कपाल भाग के साथ लंबे से मध्यम तक भी बाहर की ओर उभरे हुए।

वितरण : पेली-मंगोलाइड के लंबे शीर्ष प्रकार उप-हिमालयी प्रदेश में पाये जाते हैं तथा यह प्रकार यहां की जनसंख्या का एक पुरातन और जनजातियों में एक प्रभावशाली तत्व है। ये वे जनजातियां हैं, जो इंडोम तथा असम

में रहती हैं। ये यूनानी एवं दक्षिण-पूर्वी चीन में भी दूर तक फैली हुई हैं।

(ख) उत्तरी-मंगोलाइड : चौड़े शीर्ष प्रकार। त्वचा वर्ण गहरा, गोल आनन, चौड़े शीर्ष। नेत्र की तिर्यकता एवं अधिनेत्र कोणवलि दोनों ही प्रकार में अधिक पाये जाते हैं। यह प्रकार निश्चयपूर्वक कम आद्य-लक्षण दर्शाता है एवं मुख्यतः बर्मा तथा चिरगांव जिले की कुछ पर्वतीय आदिजातियों में पाया जाता है।

(ग) तिब्बती-मंगोलाइड : यह उच्च दैहिक-उच्चता, हल्का त्वचा वर्ण एवं विशेष रूप से रोमों की अनुपस्थिति से विशिष्ट है। अधिनेत्र कोणवलि अत्यधिक स्पष्ट एवं नेत्रदारी तिरछी झुकी हुई होती है। आनन छोटा नहीं, किंतु लंबा एवं चिपिटा होता है। नासा इसी प्रकार लंबी, किंतु उत्सेध निम्न होता है। शरीर के समान शीर्ष महाकाय होता है। यह प्रकार सिक्किम एवं भूटान में पाया जाता है। तीन प्रजातीय स्तंभ, जिनके नाम इस प्रकार हैं: नीग्रीटो, प्रोटो आस्ट्रेलाइड एवं मंगोलाइड, अपने उप-प्रकारों सहित भारत की अनेक जन-जाति बनाते हैं।

(4) मेडीटेरेनियन : मेडीटेरेनियन प्रदेश से साहचर्य के कारण इसे यह नाम दिया गया है। इस प्रजाति का एक-सा प्रकार नहीं है, किंतु कदाचित निकट रूप से संबंधित अनेक क्रमबद्ध प्रकार हैं, जो लघु दैहिक उच्चता, लंबे शीर्ष, हल्के गहरे वर्ण जैसे लक्षणों के सामान्य धारण से लक्षित किये जाते हैं। इसके मुख्यतः तीन उप-प्रकार हैं।

(क) पेली-मेडीटेरेनियन : प्रथम एवं अत्यधिक पुरातन जो निकट रूप से प्रोटो-इजिप्शियन प्रकार के समान है। इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है: मध्यम दैहिक-उच्चता, गहरी त्वचा, हल्का शरीर, लंबा एवं संकीर्ण शीर्ष-वाल्ट, ऊंचा एवं कंदाकार ललाट, बाहर की ओर उभरा हुआ पश्चक कपाल, सामान्यतः संकीर्ण आनन, तीक्ष्ण किंतु दुर्बल चिबुक, छोटी, मांसल एवं अनति रूप से चौड़ी नासा, शरीर एवं आनन दोनों पर रोमों का कम विकास।

भारत में इस प्रजाति के सर्वप्रथम आगमन का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। किंतु अदितन्नालूर तथा दक्षिण के शवाधि कलश में मानवीय कंकालों में यह अधिक पाया गया है। इसने महापाषाण संस्कृति को, नव-पाषाण युग के अंतिम चरण में प्रचलित किया। बाद में दक्षिण की ओर द्रविड भाषा बोलनेवाले व्यक्तियों में यह प्रभावशाली रहा।

(ख) मेडीटेरेनियन प्रापर : यह संभव है कि यह वही प्रजाति थी, जिसने सिंधु घाटी सभ्यता को विकसित किया होगा वह बाद में आर्य भाषा बोलनेवालों एवं वैदिक अभियान करनेवालों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दी गयी। ये लोग गंगा के क्षेत्रों में तथा कुछ संख्या में विंध्याचल से परे उपस्थित थे। यह उत्तरी भारत की जनसंख्या में और बची हुई देश की जनता के ऊंचे वर्गों के महत्त्वपूर्ण संघटन में प्रभावशाली तत्त्व है।

मेडीटेरेनियन प्रकार की निम्नलिखित विशेषताएं हैं: मध्यम से लंबी दैहिक उच्चता, त्वचा वर्ण गाढ़े से हल्का, तैलबदार (आलिव) बभ्रु, देश के विभिन्न भागों में शीर्ष आकार लंबा, करोटि-तोरण नीचा, ललाट अधिक चिपटा, आनन लंबा, चिबुक उत्तम रूप से विकसित, नासा संकीर्ण एवं प्रमुख, शरीर निर्माण तनु, आननी और शारीरिक रोम अतिस्पष्ट, केश और नेत्र वर्ण गहरे भूरे तथा काले रंग के, अत्यधिक दीर्घ खुले नेत्रों की उपस्थिति।

(ग) ओरियन्टल प्रकार : तृतीय एवं मेडीटेरेनियन विभेदों में सब से अंत में भारत में प्रवेश करनेवाली 'फिशर' की ओरियंटल प्रजाति है। यह मेडीटेरेनियन प्रकार के विशेषण के अत्यंत निकट है, परंतु केवल नासा के निर्माण में भिन्न है, जो सामान्यतः लंबी एवं बहुधा उत्तल होती है। इस प्रजाति में त्वचा वर्ण हल्का होता है। भारत में गहरे वर्ण भी सामान्य हैं।

वितरण : इस प्रजाति का मुख्य संकेंद्रण सदैव एशिया माइनर में अरब में रहा है, जहां से यह भारत आयी। यह पंजाब में अधिक है, किंतु सिंध, राजपूताना एवं पश्चिम उत्तरप्रदेश में भी सामान्य रूप से फैली हुई है।

(5) पश्चिमी पृथुकपाल : तिब्बती-मंगोल विभेद के अतिरिक्त भारतीय व्यक्तियों की संरचना में एक से अधिक चौड़े शीर्षवाली प्रजातियां प्रवेश कर चुकी हैं। वे पश्चिमी पृथुकपाल (चौड़े शीर्ष) के समूह हैं एवं एल्पाइन, डाइनैरिक एवं आरमीनाइड के नाम से विख्यात हैं।

चौड़े शीर्षवाले अल्पाइन की विशेषताएं : मध्यम दैहिक उच्चता, छोटा, चौड़ा शीर्ष, गोल पश्चक कपाल, गोल आनन एवं प्रमुख नासा। त्वचा वर्ण मैडीटेरेनियन प्रजाति में पाये जानेवाले त्वचा वर्ण की अपेक्षा हल्का, शरीर एवं आनन

पर रोम की प्रचुरता। शरीर मोटा, बलिष्ठ एवं 'जान बुल' प्रकार का।

डाइनैरिक की विशेषताएं : दैहिक-उच्चता ऊंची होती है। त्वचा वर्ण थोड़ा गहरा, केश और नेत्र के आरजन भी विशेषत: गहरे, शीर्ष कम चौड़ा किंतु बहुत छोटा, चिपिट उदग्र, पश्चक कपाल। आनन तुलनात्मक रूप में लंबा। नासा अत्यधिक लंबी और बहुधा उत्तल तथा कभी-कभी तोते जैसी।

आरमीनाइड की विशेषताएं : पश्चक कपाल एवं नासा आकार डाइनैरिक समान होते हैं, किंतु ये विशेषताएं आरमीनाइड समूह में अधिक चिह्नित हैं।

वितरण: यूरोप में चौड़े शीर्षों का नवपाषाण युग के साथ प्रादुर्भाव हुआ है। भारत में इस प्रकार की प्रजाति का कोई पूर्व प्रभाव नहीं मिलता है, किंतु सिंधु के कांस्य पाषाण युग में और तिन्नीवैली तथा हैदराबाद के लौहयुग स्थलों में अल्पीनाइड एवं डाइनैरिक प्रकार के शीर्षों की उपस्थिति देखी गयी है।

डाइनैरिक प्रकार निम्नलिखित स्थानों में भलीभांति देखा गया है :

(क) बंगाल और उड़ीसा, मैडीटेरेनियन समूह के साथ भिन्न मात्रा में मिश्रित।

(ख) काठियावाड़, कन्नड़ और तमिलनाडु में।

(ग) कूर्ग में अपने शुद्ध आकार में है।

गुजरात में चौड़े शीर्ष अधिभाषी हैं। छोटे आनन के साथ चौड़े ललाट, गुजरातियों में पाये जाते हैं, जो अल्पीनाइड तत्व के अत्यधिक सम्मिश्रण की ओर इंगित करते हैं। बंबई के पारसी चौड़े शीर्षवाले होते हैं, किंतु अपने गुजराती पड़ोसियों की अपेक्षा एशिया माइनर के आरमीनाइड प्रकार के साथ अधिक संबद्ध दिखायी पड़ते हैं।

(6) नार्डिक : अंतिम बृहत् प्रजाति (नार्डिक) का भारत में आगमन ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के समय उत्तरी स्टेपी से वैदिक अभियान करनेवालों के साथ संबद्ध है। पुरातन वैदिक साहित्य निर्विवाद रूप से संकेत करता है कि वे उत्तर से आये तथा उनकी त्वचा और केश वर्ण हल्के होते हैं।

वितरण : तक्षशिला मठ में भूमि से निकाले गये मानवीय अवशेष संभवत: नार्डिक समूह के हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत की पठान जनजातियों से हिंदुकुश पर्वत की काफिर जनजाति तक यह प्रकार मुख्य रूप से पाया जाता है। पंजाब तथा राजपूताना में तथा उत्तरी भारत के उच्च वर्ग में भी यह पाया जाता है। महाराष्ट्र के चित्पावन ब्राह्मणों में यह मुख्य रूप से चौड़े शीर्षवाली प्रजातियों के साथ मिश्रित हो गया है।

विशेष आकृतियां : ऊंची दैहिक-उच्चता, बलिष्ठ शारीरिक निर्माण, लंबा महाकाय शीर्ष, चापित ललाट, पश्चक कपाल, बाहर की ओर निकले हुए भ्रूकटक अत्यधिक स्पष्ट आनन, चिबुक शक्तिशाली, नासा अत्यधिक संकीर्ण एवं सीधी, ऊँचा नासावंश, त्वचा वर्ण हल्का (गुलाबी मांस वर्ण का), केश वर्ण स्वर्णिम प्रभूर्ज और नेत्र-वर्ण नीला।

भारत का प्रादेशिक दृष्टिकोण से प्रजातीय संगठन :

(क) उत्तरी-पश्चिमी भारत में नार्डिक प्रदेश जो मैडीटेरेनियन एवं ओरियंटल्स के साथ मिश्रित हैं।

(ख) इसका प्रायद्वीपीय भारत में एक प्रदेश से प्रभेद किया जा सकता है, जिसमें पुरातन पेली-मैडीटेरेनियन तत्व होता है।

(ग) इसके दोनों ओर अल्पो-डाइनैरिक की भू-संपदाएं हैं, जो निस्संदेह दूसरे प्रकारों से मिश्रित हो गयीं।

(घ) आदि गहरे वर्गों के तत्व प्रत्येक स्थान में पाये जाते हैं, दूसरे प्रभेदकों के साथ तथा मुख्यत: पेली-मैडीटेरेनियन के साथ वे जनसंख्या के निम्न स्तर की रचना करते हैं।

(च) मंगोलाइड उत्तर तथा पूर्वी प्रदेशों में पाये जाते हैं। किंतु वे गहराई तक अनेक मनुष्यों की संरचना में जा चुके हैं।

गूजर जनजाति : गूजर जनजाति हिमाचलप्रदेश में पायी जाती है। हिमाचलप्रदेश में इनकी जनसंख्या 16,887 है। ये जम्मू एवं कश्मीर तथा उत्तरप्रदेश में भी पाये जाते हैं। हिमाचलप्रदेश में ये किन्नौर जिले को छोड़कर बाकी सभी जिलों में पाये जाते हैं। यद्यपि इस जनजाति पर भी आधुनिक युग का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा है इस के बावजूद अधिकतर गूजर परंपरागत पेशे को छोड़ना पसंद नहीं करते हैं। ये खेती को

अपनाकर स्थायी रूप से बस गये हैं, फिर भी कुछ गूजर खानाबदोशों की जिंदगी गुजारते हैं। खानाबदोश गूजर अपने साथ भैंसें रखते हैं। उनके अस्थायी झोंपड़े होते हैं। वे अपने मवेशियों का दूध, घी इत्यादि बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। गर्मी के दिनों में ये ऊंची जगहों पर चले जाते हैं, जहां उनके मवेशियों को चारा मिल सके।

खानाबदोश गूजर अधिकतर मुसलमान हैं। उनके वस्त्र अलपुगड़ी (पगड़ी), लुरती (कमीज), वास्केट (वेस्ट कोट) तथा तहमत हैं। उनकी स्त्रियां चूड़ीदार पायजामा और कुरती पहनती हैं। मुसलमान गूजर की औरतें चांदी की बनी बालियां, डांडी तथा झुमका पहनती हैं। पुरुष गले में ताबीज पहनते हैं। इनके बीच 'पलायन विवाह' प्रचलित है। लेकिन 'निकाह' का होना जरूरी है।

जो गूजर स्थायी रूप से खेती करते हैं, वे अधिकतर हिंदू हैं तथा चौरासी गोत्रों में बंटे हुए हैं। कुछ गोत्र ऐसे भी हैं, जो हिंदू तथा मुसलमान दोनों में समान हैं।

हिंदू गूजर स्थायी रूप से गांवों में रहते हैं तथा उनके घर अन्य जाति के लोगों के घरों से अलग बने होते हैं। पुरुषों का वस्त्र पगड़ी, कुरता, पायजामा तथा कच्छा है। उनकी स्त्रियां घघरी, चोली एवं दुपट्टा पहनती हैं। वे सोने-चांदी के आभूषण भी पहनती हैं।

हिंदू गूजरों में तीन विधि से विवाह होता है:

(1) बत्ता-सत्ता (विनिमय द्वारा विवाह)

(2) बरीना या मूल (कन्यामूल्य देकर विवाह)

(3) धरम धून (जब धन का लेन देन न हो)

वे शव को जलाते हैं तथा मृतक की 'बरसी' एवं 'श्राद्ध' करते हैं।

सामान्य हिंदू देवी-देवताओं के अलावा हिंदू गूजर कुछ स्थानीय देवताओं जैसे 'लाखा दाता', 'गुग्गा पीर', 'बागर-वाला' इत्यादि की भी पूजा करते हैं।

गेस्टाल्ट मानवविज्ञान : गेस्टाल्ट जर्मन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है आकृति या ढांचा। दार्शनिक रूप से गेस्टाल्ट का प्रयोग सर्वप्रथम 1912 में जर्मनी के कुछ आदर्शवादी मनोविज्ञानियों ने मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए किया था। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान (दे० मनोविज्ञान खंड) का उल्लेख सर्वप्रथम क्रिश्चियन वॉन एहरेनफेल्स (1859-1932) ने किया था और इस धारा के प्रमुख प्रतिष्ठापक थे मैक्स वेरदाइमेर (1880-1944), वोल्फगांग कोहलर (1887-) और कुर्ट काफ्का (1886-1941)। गेस्टाल्टवादी यह मानते हैं कि मानव-मस्तिष्क की कार्य-प्रणाली को संवेदनों के द्वारा नहीं समझा जा सकता, बल्कि हम मानसिक ढांचों की संघटित समष्टियों (गेस्टाल्टों) के द्वारा ही समझ सकते हैं। संघटित समष्टि के रूप में 'गेस्टाल्ट' का अर्थ वे यह बताते हैं कि यह वह ढांचा है, जो स्वयं में संपूर्ण है और जिसमें ऐसे गुण हैं कि उनका बोध उसके अलग-अलग अंगों या अंशों के गुणों को जान लेने से नहीं हो सकता। काफ्का ने गेस्टाल्ट को समझाते हुए लिखा है कि "गेस्टाल्ट उन शक्तियों के क्षेत्र में खड़ा हुआ एक ढांचा है, जो उसे सुरक्षित रखती हैं, परिवर्तित करती हैं, या नष्ट कर देती हैं। लेकिन उसकी रूपगत अखंडता उन शक्तियों का वरण कर सकती है, जो उसे सुरक्षित और संपूर्ण बनाये रखें। इसलिए गेस्टाल्ट के रूप में किसी जीवित वस्तु के अध्ययन की प्रक्रिया मूलत: उन साधनों को ध्यान में रखकर चलती है, जिनके द्वारा वह वस्तु एक व्यावहारिक जीव की तरह अपनी अखंडता बनाये रखती है। गेस्टाल्ट-वादियों का मत है कि ऐसी किसी चीज को समझने के लिए प्रकृति के उन अंगों का पता लगाया जाना चाहिए, जो एक अखंड और क्रियाशील समष्टि के अंग हों और साथ ही समष्टि के अंतर्गत उन अंगों की स्थिति तथा उनकी सापेक्ष स्वतंत्रता का पता लगाकर यह मालूम किया जाना चाहिए कि बृहत्तर समष्टियों के साथ उपसमष्टियों का क्या ताल-मेल है। वे मानते हैं कि प्राय: सभी समष्टियां कमोबेश स्वतंत्र उपसमष्टियों से संघटित होती हैं, इसलिए प्रत्येक बृहत्तर समष्टि अंततः किसी और बड़ी समष्टि की उप-समष्टि सिद्ध की जा सकती है।

मानवविज्ञान के क्षेत्र में जब गेस्टाल्टवादी दृष्टि से सोचा गया, तो यह माना गया कि मानव, मानव की जातियां, उपजातियां, प्रजातियां, मानव-समाज, मानव-सभ्यताएं आदि सभी कुछ गेस्टाल्ट हैं और इनका अध्ययन इसी रूप में में किया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मानवविज्ञान समष्टियों का ही अध्ययन है और व्यष्टियों को जान लेने मात्र से हम किसी प्रामाणिक निष्कर्ष तक नहीं पहुंच सकते। उदाहरण के लिए मानव की एक जाति या प्रजाति या किसी एक देश अथवा काल की सभ्यता से संबंधित निष्कर्ष संपूर्ण विश्व-मानव पर लागू नहीं किये जा सकते।

वास्तव में गेस्टाल्ट मानवविज्ञान एक आदर्शवादी धारा है। इसके अनुसार अध्ययन का विषय केवल मनुष्य नहीं, बल्कि संपूर्ण विश्व है। इतना ही नहीं संपूर्ण सौरमंडल, नक्षत्रमंडल, संपूर्ण अंतरिक्ष—यानी सभी कुछ मानवविज्ञान के अंतर्गत आ जाता है। लेकिन यह विचारधारा इतने व्यापक फलक पर चलने के बावजूद यह मानकर चलती है कि व्यक्ति अपने वातावरण और अपनी व्यावहारिक गतिविधियों से कटा हुआ है। और अंततः गेस्टाल्टवादी मानव-समाजों के ढांचों को समष्टि के रूप में देखकर आदर्शवादी ढंग से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रत्येक मानव-समाज के कुछ अपने गुण तथा नियम होते हैं। इस प्रकार गेस्टाल्ट मानवविज्ञान एक ओर वैयक्तिक स्वतंत्रता की बात करता है और दूसरी ओर व्यष्टियों से उसकी अधीनता की। परिणाम यह हुआ कि यह मानवविज्ञान व्यवहार में नहीं लाया जा सका और अब इस धारा की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं रह गयी है।

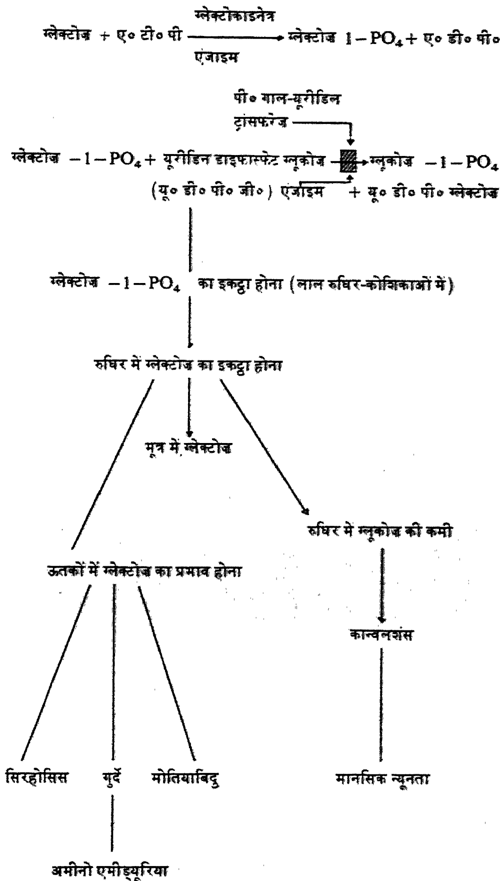
गैलेक्टोसीमिया (कार्बोहाइड्रेट उपापचय में विक्षोभ) : गेलैक्टोसीमिया नवजात शिशुओं का एक विरल आनुवंशिक रोग है, जो सामान्य रूप से दुग्धशर्करा ग्लैक्टोज के ग्लूकोज में परिवर्तित न हो सकने से होता है। इस जन्मजात रोग का वर्णन पहली बार एक जर्मन चिकित्सक वान र्यूस ने 1908 में किया।

प्रभावित व्यक्ति में पूर्ण रूप से एंजाइम पी-गैल-यूरीडिल-ट्रांसफिरेज़ की कमी होती है, जो शर्करा ग्लैक्टोज के सामान्य उपापचय के लिए आवश्यक है।

बीमारी के लक्षण : इस रोग से पीड़ित नवजात शिशु जन्म के समय सामान्य होते हैं, किंतु दुग्धाहार के कुछ दिनों के पश्चात् ही वे उल्टी करना प्रारंभ कर देते हैं, निद्रालस्य हो जाता है और उनका वजन नहीं बढ़ता अथवा यकृत बड़ा होने लगता है। दीर्घकालीन कामला और एडीमा विकसित हो सकता है एवं गंभीर अवस्था में रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। मृत्यु का कारण अपर्याप्त पोषण एवं क्षय होता है। जो और अधिक जीवित रहते हैं, वे बहुधा अपर्याप्त पोषित और दो या तीन महीने की आयु तक कद में बढ़ते नहीं हैं तथा उन्हें मानसिक विमंदन एवं मोतियाबिंदु भी हो सकता है।

आनुवंशिकता : गैलेक्टोसीमिया का संचारण एक अलिंगसूत्री अप्रभावी रूप में होता है। अपसामान्य जीन के विषमयुग्मजी वाहक की पहचान 'ग्लेक्टोज़ टालरेंस' परीक्षण द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार के शिशुओं के माता और पिता में पी-गैल-यूरीडिल-ट्रांसफिरेज़ की न्यूनता पायी जाती है। गैलेक्टोसीमिया अत्यधिक विरल रोग है (समस्त विश्व में केवल 75 रोगी पाये गये हैं)।

उपापचयी अपसामान्यता : 1956 में कालकर और उसके सहयोगियों ने निष्कर्ष निकाला कि गैलेक्टोसीमिया एक एंजाइम (पी-गैल-यूरीडिल-ट्रांसफिरेज) की न्यूनता के कारण होता है, जो उपापचयी-ब्लोक (रोक) का कारण बनता है एवं इस प्रकार के रोगियों में अन्य उपापचय-क्रियाएं सामान्य होती हैं।



गोंड जनजाति : गोंड जनजाति दूर-दूर तक फैली हुई है, इसका कारण शायद इनकी राजनैतिक जागरूकता है। गोंड जनजाति का मुख्य निवासस्थान मध्यप्रदेश का गोंडवाना क्षेत्र है। यह महाराष्ट्र, मैसूर, उड़ीसा, एवं पश्चिम बंगाल में भी पायी जाती है। विभिन्न राज्यों में इनकी जनसंख्या निम्नलिखित है: आंध्रप्रदेश में 1,43,680, बिहार में 33,521, गुजरात में 87, मध्यप्रदेश में 30,94,613, महाराष्ट्र में 2,72,574, मैसूर में 862, उड़ीसा में 4,45,705 एवं पश्चिम बंगाल में 7351।



गोंड जनजाति

मध्यप्रदेश में छिदवारा, बेतुल, गढ़-मंडला और चांदा क्षेत्र में गोंड जनजाति का चौदहवीं शताब्दी में राज्य था। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में मराठों ने उनको पराजित कर दिया। उसी समय से 'गोंड' जंगलों के निवासी बन गये।

आर्थिक दृष्टि से 'गोंड' अपने इलाके की अन्य जनजातियों से अधिक संपन्न हैं। उनकी अपनी भाषा गोंडी है, जो द्रविड़ भाषा परिवार के अंतर्गत है।

इनके मकान बांस एवं मिट्टी के बने होते हैं तथा ताड़ के पत्तों से ढके रहते हैं।

वे मुर्गे, गाय, सूअर, मगरमच्छ, सांप और बंदर का मांस खाते हैं। उनका मुख्य भोजन चावल है। वे महुआ भी खाते हैं। लेकिन महुआ खाने की उनकी आदत अब खतम हो रही है।

उनका प्रमुख धंधा खेती है, लेकिन इसके अलावा वे मजदूरी करके भी पैसा कमाते हैं। शिकार में रोकथाम की वजह से वे तीर-कमान का उपयोग बहुत हद तक भूल चुके हैं।

'गोंड' जनजाति के प्रमुख देवताओं के नाम 'दूले देव', 'नारायण देव', 'सूरज देव', 'माता देव', 'बड़ा देव', 'घनश्याम देव' इत्यादि हैं। इनमें सबसे लोकप्रिय देवता 'बड़ा देव' है।

इनके कुल देवता तथा गोत्र देवता भी होते हैं। अपने उत्सव को वे 'बेगा' के नेतृत्व में मनाते हैं। वे लोग होली, दीवाली तथा अन्य प्रमुख हिंदू त्योहार भी मनाते हैं।

गोत्र : एकधारीय समाजों में यदि व्यक्तियों का एक समूह अपने को परस्पर संबंधित मानता हो, परंतु उसे अपने वंशानुक्रम का ठीक तरह से ज्ञान न हो, तो संबंधियों के ऐसे समूह को गण या गोत्र कहते हैं। इस प्रकार गोत्र एक ऐसा बृहत कुल है, जिसके सदस्य यह तो नहीं जानते कि उनके पारस्परिक निश्चित संबंध क्या हैं, किंतु वे आपस में कुलवंशियों जैसा व्यवहार रखते हैं। उदाहरणार्थ, गण के सदस्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ अथवा जनजातियों में किसी पशु-पक्षी से अपना काल्पनिक संबंध स्थापित करते हैं और इसके आधार पर आपस में विवाह अथवा यौन संबंध नहीं रखते। हिंदुओं के कुछ गोत्र निम्नलिखित हैं: कश्यप, भारद्वाज, शांडिल्य, गौतम, वत्स इत्यादि। (जनजातियों में ऐसी व्यवस्था के लिये 'गोत्र चिह्न' देखें)

गोत्र चिह्न (टोटम) : जनजातियों में पशु-पक्षी, वृक्ष, पौधे आदि पर व्यक्ति अथवा समूह का नामकरण करना

एक अति प्रचलित सामाजिक प्रथा है। इस प्रथा की ओर सर्वप्रथम सभ्य यूरोपीय समाज का ध्यान लांग ने आकर्षित किया था। अठारहवीं शताब्दी के अंत में लांग ने अमरीकी इंडियनों में इस प्रथा के प्रचलन की खोज की थी। इस प्रथा के लिए इन जातियों में टोटम शब्द का प्रचलन था। मध्य आस्ट्रेलिया की जंगली जातियों का सांस्कृतिक वर्णन करते हुए स्पेंसर और गिलिन ने बताया कि इन जंगली जातियों में ऐसी प्रथा है कि व्यक्तियों और समूहों के नाम पक्षियों तथा वृक्षों व पौधों पर रखे जाते हैं। यही नहीं, एक व्यक्ति अथवा समूह के लिए वह पशु या वृक्ष-विशेष, जिस पर उसका नामकरण हुआ हो, पवित्र माना जाता है। इन जातियों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि ये उनके पूर्वज तथा पिता-तुल्य हैं। 1891 की जनगणना में भारत की बहुत-सी ऐसी जातियों और जनजातियों के नाम लिखे गये, जिनके नाम पशुओं, पक्षियों, वृक्षों व पौधों पर आधारित थे। छोटा नागपुर, बंगाल, मध्यप्रदेश, आंध्रप्रदेश और पश्चिमी भारत में ऐसी अनेक जातियां हैं, जिनमें व्यक्ति अथवा गण के नाम पशु, पक्षी, अथवा पौधों पर आधारित हैं। इन पशु, पक्षी एवं पौधों को वे पवित्र मानते हैं। प्रत्येक गोत्र-चिह्न के पीछे एक ऐतिहासिक घटना छिपी होती है, जिसे हम कहानियों की तरह सुन सकते हैं।

संसार के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के विश्वास के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इसी विश्वास के कारण एक समूह के सदस्य अपने को अपने टोटम की अलौकिक संतान मानते हैं और इस प्रकार यह धार्मिक विश्वास से भी संबंधित हो जाता है।

गोदना : भारत की लगभग सभी जनजातियों में गोदना श्रृंगार का एक साधन है। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही गोदना गुदवाते हैं। साधारणतः गोदना हाथ, पैर, गले, कंधा, छाती इत्यादि पर गुदवाया जाता है। किसी-किसी जनजाति में इसका धार्मिक और जादुई महत्त्व होता है और किसी-किसी में यह केवल श्रृंगार के लिए किया जाता है।

छोटा नागपुर और संथाल परगने के आदिवासियों में स्त्रियां विशेषतः गोदने की शौकीन होती हैं। 'घासी' नामक एक जनजाति की स्त्रियां इस काम में विशेष प्रवीण होती हैं और वे घूम-घूमकर गोदना गोदा करती हैं। गोदनों में विभिन्न प्रकार के फूल, जानवर, मनुष्य एवं अन्य प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं। पुरुष के हाथ में एक 'शिखा' बनाने की प्रथा है। ये प्रथा मुंडा, उरांव एवं संथालों में विशेष प्रचलित है। बचपन से ही बत्ती से बायें हाथ का चमड़ा जलाकर यह छापा बनाया जाता है। पुरुषों के लिए ये जातीय दिलेरी की निशानी है और वे इसे दिखलाने में गर्व का अनुभव भी करते हैं।

ग्रिगसन, डब्ल्यू० बी० (1896-1948) : ग्रिगसन एक समर्थ प्रशासक और मानवविज्ञान के विद्वान थे। ब्रिटिश शासन काल में, 1920 में ये 'इंडियन सिविल सर्विस' में भर्ती हुए थे। इन्होंने बिहार तथा मध्यप्रदेश प्रांतों की 'गोंड' नामक आदिवासी जाति पर काम किया था। भारत में, सामाजिक मानवविज्ञान का अनुशीलन करनेवालों के ये मार्गदर्शक थे। आदिवासियों पर इनकी लिखी पुस्तकें हैं—(1) 'दि मरिया गोंड्स आफ बस्तर' (1938), 'दि अबोरीजनल प्राबलम इन दि सेंट्रल प्राविंसस एंड बिहार' (1944)।

ग्रियर्सन, जार्ज अब्राहम (1851-1941) : भाषा-विज्ञानी तथा प्राच्य विद्याविशारद। इनका जन्म 7 जनवरी, 1851 को डब्लिन में हुआ था। इनके पिता आयरलैंड में क्वींस प्रिंटर थे। बचपन से ही उन्होंने संस्कृत और हिंदुस्तानी सीखना शुरू किया था। इनकी शिक्षा बीज स्कूल, श्यूजबरी; ट्रिनिटी कालेज और कैंब्रिज तथा हाल्ले में हुई थी। सन् 1873 में वे इंडियन सिविल सर्विस के कर्मचारी के रूप में बंगाल आये। भारतीय आर्य तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उनकी बड़ी रुचि थी। सरकारी कामों से छुट्टी पाने पर वे अपना शेष समय संस्कृत, प्राकृत, पुरानी हिंदी, बिहारी और बंगला भाषा और साहित्य के अध्ययन में लगाते थे। जहां भी वे काम करते थे, वहां की भाषा, बोली, साहित्य और लोकजीवन का अध्ययन करते थे।

भाषाविज्ञान में इनकी गहरी पैठ थी। उनके लिखे हुए ग्रंथों में 'राजा गोपी चंद की कथा', 'मैथिली ग्रामर' 'सेवन ग्रामर्स आफ दि डायलेक्ट्स एंड सम डायलेक्ट्स आफ दि बिहारी लैंग्वेज', 'इंट्रोडक्शन टु दि मैथिली लैंग्वेज', 'बिहार पेजेंट लाइफ', 'कश्मीरी व्याकरण और कोश', 'कश्मीरी मैनुएल', नोट्स आन तुलसीदास', 'दि मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' आदि अत्यंत

महत्वपूर्ण हैं। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के प्रणेता के रूप में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इनका स्थान अमर है। इन्होंने बिहारीकृत 'सतसई' (लल्लूलालकृत टीका सहित) और महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी की सहकारिता में 'पद्मावत' का संपादन किया था।

'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' भाषाविज्ञान को ग्रियर्सन की सबसे अमूल्य देन है। सन् 1885 में प्राच्य-विद्याविशारदों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने विएना अधिवेशन में भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण की ओर तत्कालीन भारतीय सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। सरकार के निदेशानुसार 1888 में ग्रियर्सन की अध्यक्षता में प्रस्तुत सर्वेक्षण कार्य का श्रीगणेश हुआ। सन् 1888 से 1903 तक इस कार्य के लिए आवश्यक सामग्री संकलित करने में वे लगे रहे। सन् 1902 में उन्होंने नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया और 1903 में भारत छोड़ा। तब से लेकर इस सर्वेक्षण के विभिन्न खंड प्रकाशित होने लगे। वह 21 जिल्दों में है और इसमें भारत की 179 भाषाओं और 545 बोलियों का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। यह सर्वेक्षण भाषाविज्ञान तथा व्याकरणसंबंधी सामग्री से भी पूर्ण है। इसके अलावा दैनिक जीवन में व्यवहृत भाषा और बोली का सांगोपांग अध्ययन भी इसमें प्रस्तुत किया गया था, जो इसकी सबसे बड़ी खूबी है। प्रजाति-वर्गीकरण के एक आधार के रूप में मानवविज्ञान के क्षेत्र में भाषाविज्ञान का प्रमुख स्थान है और इस दृष्टि से मानवविज्ञान को ग्रियर्सन का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इन्हें सरकार की ओर से 1894 में सी० आई० ई० तथा 1912 में 'सर' की उपाधि प्रदान की गयी। सन् 1876 से वे बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य थे और 1893 में मंत्री के रूप में कौंसिल के सदस्य बन गये। सन् 1904 में वे सोसाइटी के 'ओनरेरी फेलो' मनोनीत हुए। उन्होंने 1894 में हाल्ले से पीएच० डी० और 1902 में ट्रिनिटी कालेज से डी० लिट्० की उपाधियां प्राप्त कीं। सन् 1941 में इनका देहांत हो गया।

ग्लूकोज-6 फास्फेट डीहाइड्रोजिनेज (जी० पी० डी०) का अभाव : कभी-कभी लाल रुधिर कोशिकाओं में ग्लूकोज़-6 फास्फेट डीहाइड्रोजिनेज नामक एक एंजाइम का अभाव होता है। यह एंजाइम (जी 6 पी० डी०) ग्लूकोज़-6-फास्फेट की जैविक उपचयन-अपचयन क्रिया के लिए एक आवश्यक उत्प्रेरक कार्बोहाइड्रेट के उपापचय की अनेक अवस्थाओं में से ग्लूकोज़-6 फास्फेट की एक अवस्था है। जी-6 पी० डी० न्यूनता शुभ्र जाति के लोगों में विरल किंतु मैडीटेरेनियन मनुष्यों में प्रायः पायी गयी है। विशेष परिस्थितियों में, उन मनुष्यों को, जो एंजाइम से अभावग्रस्त हैं, अपनी अनेक लाल रुधिर-कोशिकाओं के अचानक विनाश को सहन करना पड़ता है। अंततः वे तीव्र अनीमिया से ग्रस्त हो जाते हैं। ये विशेष परिस्थितियां इस प्रकार हैं: चौड़ी सेम (वीसियाफोवा) के पराग का निखसन अथवा कुछ विशेष औषधियों का अंतर्ग्रहण, जैसे : सल्फानीलामाइड नैपथलीन एवं प्राइमेक्विन (प्रतिहिमज्वरीय कारक)। पराग द्वारा अथवा सेम के खाने से हुए इस रोग को 'फामिज्म' कहते हैं। जब आक्षेप्यीय पदार्थों को निकाल दिया जाता है, तब पीड़ित मनुष्य स्वस्थ हो जाते हैं।

आनुवंशिकता : वंशाली-अध्ययन से ज्ञात होता है कि लालरुधिर कोशिकाओं में जी-6 पी० डी० का अभाव x—सहलग्न विशेषक के रूप में वंशागत होता है (जीनखाम एवं चाइल्डस)। अर्धयुग्मजी पुरुष अत्यधिक प्रभावित होते हैं। विषमयुग्मजी स्त्रियों में एंजाइम की सक्रियता, निम्न से मध्यवर्ती तक होती है। x—सहलग्न युग्मविकल्पी, जो इस अभाव के लिए उत्तरदायी है, प्रभावित होता है।

उपापचयी असामान्यता : जी-6-पी० डी० का अभाव, इन व्यक्तियों की लाल रुधिर कणिकाओं में ग्लूकोज़ के सीधे उपचयन में विहन के परिणामस्वरूप एक असामान्यता उत्पन्न करती है। प्राइमोक्विन अथवा नैपथेलिन का अंतर्ग्रहण हैंज बाड़ी के निर्माण एवं महाकाय शोणांशन का कारण बनता है और फलस्वरूप अनीमिया हो जाता है। जी-6-पी० डी० का अभाव आक्सीकृत ग्लूटेरिथायोन का अपचयन करने में विफल होता है। यह इस प्रकार के व्यक्तियों में ग्लूटैरिथायोन की कमी का कारण होता है।

जी-6-पी० डी० का अभाव

↙ ↘ हैवीबाडी का निर्माण

लाल रुधिर कणिकाओं में, निम्न ग्लूटैरिथायोन

लाल कोशिकाओं में ग्लूकोज़ के सीधे आक्सीकरण में विहन

प्राइमेक्विन, नैपथिलीन का अंतर्ग्रहण ↗

महाकाय शोणांशन

हीमोग्लोबीनिमिया ↵ ↳ अनीमिया

घातक जीन : घातक जीन वे जीन हैं, जो भ्रूण अथवा शिशु को अतिजीविता की अनुमति नहीं देते। वे जब भी समयुग्मजी अवस्था में उपस्थित होते हैं, तभी घातक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। जब वे विषमयुग्मजी अवस्था में होते हैं, तब वे घातक प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। लेकिन कभी-कभी कुछ संरचना परिवर्तन कर देते हैं।

घातक जीन दो प्रकार के हो सकते हैं: (क) समुचित घातक जीन (प्रापर) (ख) उपघातक अथवा अंश घातक जीन।

(क) समुचित घातक जीन : ये प्राय: जन्म से पूर्व ही शिशु की मृत्यु का कारण होते हैं। कुछ या तो जन्म-पूर्व काल अथवा शैशवकाल में अपने प्राणघातक प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं, दूसरे कुछ पूर्व-भ्रूणीय अवस्था में जीवन का अंत कर देते हैं। मानव में इस प्रकार की घटनाओं के होने के कारण का ठीक ज्ञान नहीं; क्योंकि गर्भस्रावों का आनुवंशिक दृष्टिकोण से बहुत कम अध्ययन किया गया है।

(ख) उपघातक अथवा अंश घातक जीन : ये व्यक्ति के शैशवकाल अथवा विलंबतम प्रजनन अवस्था के पहले ही उसकी मृत्यु का कारण बनते हैं। घातक व उपघातक युग्मविकल्पी दोनों ही प्रभावशाली अथवा प्रभावहीन हो सकते हैं।

इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

(क) एपीलोइया : प्रभावशाली उपघातक अवस्था; चर्म की असामान्य वृद्धि होती है, जिसके साथ तीव्रमनोवैकल्प और अपस्मार, हृदय, वृक्क एवं अन्य भागों में अर्बुद भी पाया जाता है। प्रभावित मनुष्य की युवा-अवस्था में ही मृत्यु हो जाती है। केवल कुछ कम प्रभावित व्यक्ति प्रजनन कर सकते हैं।

(ख) वॉडिगहाफमेंस रोग : एक प्रभावी उपघातक अवस्था, जन्मजात स्तंभ।

(ग) टासक्स रोग : प्रभावहीन उपघातक अवस्था-मूढ़ता का शैशव आकार तथा केंद्रीय तांत्रिकातंत्र में असामान्य स्नेही पदार्थों का संचयन, पूर्ण मानसिक विघटन वर्णांधता का कारण बनता है।

(घ) जन्मजात इक्थियोसिस : एक प्रभावहीन उपघातक अवस्था, जिससे चर्म पर असामान्य, गहरे रक्त-मोक्षण-विदर होते हैं।

(च) जीरोडर्मा पिगमेंटोजम : एक प्रभावहीन उपघातक अवस्था। चर्म में असामान्यताएं होती हैं। सूर्य प्रकाश में विगोदित शरीर के भागों पर चर्मार्बुदीय वृद्धियों का विकास होता है।

(छ) थेलेसीमिया प्रभावहीन उपघातक-हीमोग्लोबिन रोग (कूलेज अनीमिया) : युग्मविकल्पी के कारण समयुग्मजी प्रारंभिक अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होता है। विषमयुग्मज (Cc) सामान्य व्यक्तियों (Cc) जैसे होते हैं।

घोटुल : मध्यप्रदेश की मुरिया गोंड जनजाति में लड़के तथा लड़कियों का एक ही युवागृह होता है, जिसे घोटुल कहते हैं। यह एक घरेलू तथा सामाजिक शिक्षा का संस्थान है। यहां छोटे अपने से बड़ों का आदर करना सीखते हैं। घोटुल के सदस्य, घोटुल के अंदर की घटनाओं को बहुत ही गुप्त रखते हैं।

घाटुल के सदस्य आपस में यौन संबंध भी रखते हैं तथा उनका ऐसा विश्वास है कि 'लिंगो' देवता लड़कियों को गर्भवती होने से बचाता है। लेकिन अगर कोई लड़की गर्भवती हो जाती है, तब उसको ये 'लिंगो' देवता का प्रकोप मानते हैं। जिस लड़के द्वारा लड़की गर्भवती होती है, उस लड़के को दंड दिया जाता है, जिसका निर्णय गांव की पंचायत करती है। विवाह से पहले बच्चा पैदा हो जाने से किसी लड़की का सामाजिक महत्व कम नहीं होता, किंतु आर्थिक महत्व कम हो जाता है; क्योंकि ऐसी लड़कियों को 'कन्या मूल्य' कम मिलता है।

प्रत्येक लड़का एवं लड़की स्थानीय रूप से क्रमश: 'चेलिक' तथा 'मोतियारी' के नाम से जाने जाते हैं। प्रत्येक सदस्य के दो नाम होते हैं, एक तो वह जो माता-पिता के द्वारा रखा जाता है, दूसरा वह नाम जिसे 'घोटुल' में रखा जाता है। 'घोटुल' नाम को गोपनीय रखा जाता है। यहां तक कि माता-पिता को भी वह नाम नहीं बताया जाता।

घोटुल के अनेक प्रकार हैं: जैसे जोड़ीदार और मुंडी बदलना।

(1) जोड़ीदार : इस प्रकार के घोटुल में प्रत्येक 'चेलिक' का एक 'मोतियारी' के साथ जोड़ा बनाया जाता है। यह जोड़ा तब तक रहता है, जब तक कि शादी न हो जाये। अगर कोई 'चेलिक' किसी दूसरे की 'मोतियारी' को बहकाता है या उससे यौन-संबंध करना चाहता है,

तो उसे दंड दिया जाता है।

(2) **मुंडी बदलना** : 'जोड़ीदार' प्रकार के घोटुल के सदस्य जोड़े में बंधे हुए होते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि विवाह के पश्चात् भी लड़के का संबंध अपनी 'घोटुल' की प्रेमिका से बना रहता है। इसी वजह से एक नये प्रकार के घोटुल की उत्पति हुई, जिसे 'मुंडी बदलना' घोटुल कहते हैं। इसमें किसी भी जोड़े को तीन दिन से ज्यादा एक साथ सोने नहीं दिया जाता है। इससे किसी का आपस में गहरा प्रेम नहीं होता है।

चट्टोपाध्याय, के० पी० (1897–1963) : प्रोफेसर के० पी० चट्टोपाध्याय का जन्म 14 दिसंबर, 1897 को कलकत्ता में हुआ था। शुरू से ही वे एक मेधावी छात्र थे। सन् 1915 में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय से आई० एस० सी० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तथा विश्वविद्यालय में प्रथम रहे। 1917 में बी० एससी० की परीक्षा उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही प्रथम श्रेणी में सम्मान-सहित पास की। उसके बाद वे आई० सी० एस० परीक्षा की तैयारी करने के लिए इंग्लैंड चले गये। वहां वे केंब्रिज विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग में एम० एस सी० में दाखिल हो गये। 1925 में उन्हें एम० एससी० की उपाधि मिली। वहां उन्होंने प्रोफेसर डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स की देख-रेख में पीएच० डी० की उपाधि के लिए अनुसंधान-कार्य आरंभ किया। 1923 में उन्हें शोध-कार्य करने के लिए 'एटोनी विलकिन्स स्टूडेंटशिप' भी मिली। सुभाषचंद्र बोस के मित्र होने की वजह से इन्हें राजनीति में भी दिलचस्पी थी, ब्रिटिश सरकार को जब इसका पता चला, तब राजनैतिक आधार पर इनकी स्टूडेंटशिप छीन ली गयी तथा शोध-कार्य को पूरा करने के लिए नेपाल जाने पर रोक लगा दी गयी। उसके बाद ये भारत लौट आये।

भारत वापस आने पर इनकी नियुक्ति कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग में व्याख्याता-निरीक्षक के पद पर हुई। वहां वे सिर्फ एक वर्ष तक रहे। उसके बाद 1924 में उनके राजनैतिक गुरु देशबंधु चित्तरंजनदास ने उन्हें कलकत्ता महापालिका में शिक्षा पदाधिकारी के पद पर निमंत्रित किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में उनकी नियुक्ति मानवविज्ञान के सर्वप्रथम प्रोफेसर के पद पर हुई, जहां से उन्होंने 1962 में अवकाश ग्रहण किया। इनकी मृत्यु 1963 में हुई। इनकी प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं:

(1) ए प्लान फार रिहैबीलीटेशन इन बंगाल, इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिट्यूट, कलकत्ता, 1946
(2) रिपोर्ट आन संथाल इन बंगाल—इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिट्यूट, कलकत्ता, 1946
(3) म्यूनिसिपल लेबर इन कलकत्ता—कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1947
(4) अवर एजूकेशन—नेशनल काउंसिल आफ एजूकेशन, कलकत्ता, 1948
(5) ए सोशियो-इकोनोमिक सर्वे आफ जूट लेबर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1952
(6) अंडर-ग्रेजूएट स्टूडेंट्स इन कलकत्ता—हाउ दे लिव एंड वर्क, कलकत्ता, 1954
(7) स्टडी आफ चेंजेज इन ट्रेडिशनल कल्चर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1957

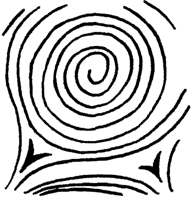
चर्मरेखाशास्त्र (डरमेटोग्लीफिक्स) : उंगलियों, अंगूठों, हथेली एवं तलुओं की त्वचा की आकृतियों के निर्माण को चर्मरेखाशास्त्र अथवा डरमेटोग्लीफिक्स (डर्मा-त्वचा, ग्लिक-लक्षण) नाम दिया गया है। उंगलियों, अंगूठों, हथेली एवं तंतुओं को ढकनेवाली त्वचा पर अनेक पतली एवं संकीर्ण कटक रेखाएं होती हैं। ये अधिचर्मकटक रेखाएं अंगुलियों एवं अंगूठों के छोर पर बने हुए पोरों पर निश्चित आकार की आकृतियां बनाती हैं तथा अन्य स्थानों पर यह कटक रेखाएं अनियमित रूप से होती हैं अथवा मुड़कर यहां-वहां गिरती दिखायी देती हैं।

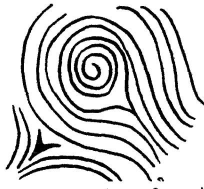
गर्भावस्था के तीसरे अथवा चौथे महीने में अधिचर्म कटक रेखाओं में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। फिर जीवन भर ये कटक रेखाएं वैसी की वैसी बनी रहती हैं। यह पाया गया है कि किसी भी व्यक्ति की अधिचर्मकटकों की आकृति अथवा उनके ब्यौरों में जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी भी प्रकार का महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता। केवल शरीर की वृद्धि के साथ-साथ ये अधिचर्मकटक अपनी सीमाओं में बड़े हो जाते हैं।

त्वचा की आकृतियां एकैक होती हैं एवं किसी भी दूसरे व्यक्ति में इसकी प्रतिलिपि नहीं पायी जा सकती। आकृतिक चर्म का छोटा क्षेत्र किसी भी अन्य टुकड़े से मिलता-जुलता

नहीं पाया जाता तथा पृथक् कटक भी व्यक्तित्व के अनेक ब्योरे दर्शाते हैं।

फिंगर बाल पैटर्न्स (अंगुली की चक्रावर्त आकृतियां) : गाल्टन (1888) ने अंगुलि-आकृतियों को तीन प्रकारों में विभाजित किया, महराबी चिह्न (A) शंख (L), एवं चक्र (W)। इस विभाजन को ए-एल-डब्ल्यू वर्गीकरण भी कहते हैं। हैनरी (1900) ने एक अन्य प्रकार 'मिश्र चिह्न' का परिचय कराया, जिसमें आकृतियों के वे सब प्रकार सम्मिलित थे, जो महराबी चिह्न शंख, एवं चक्र के अंतर्गत नहीं आते थे। ये "मिश्र चिह्न" है:


चक्र


मध्य गोह शंख (सेंट्रल पाकिट लूप)


युग्म शंख (ट्विन लूप)


पार्श्वगोह शंख (लेटरल पाकिट लूप)

युग्म शंख (TL) लेट्रल पाकिट लूप अथवा पार्श्व गोह शंख (LP), सेंट्रल पाकिट लूप अथवा मध्य गोह शंख (CPL) एवं एक्सीडेंटल्स अथवा आकस्मिक चिह्न (Ac)। अंगुलि-आकृतियों में विशिष्ट अंतर दिखायी पड़ता है। प्रथम एवं चतुर्थ अंगुलि पर चक्र अधिकतर पाये जाते हैं, द्वितीय एवं तृतीय अंगुलि पर महराबी चिह्न पाये जाते हैं और द्वितीय अंगुलि पर अंत: प्रकोष्ठिका शंख बहुतायत से पाये जाते हैं।

दोनों हाथों में भी विशेष अंतर दिखायी देता है। दाहिने हाथ में अधिकतर चक्र एवं बहि:प्रकोष्ठिका शंख पाये जाते हैं, जबकि बायें हाथ में महराबी एवं अंत:प्रकोष्ठिका शंख अधिक पाये जाते हैं।

लिंग विभेद : स्त्रियों में चक्र कम एवं महराबी चिह्न अधिक पाये जाते हैं तथा पुरुषों में बहि:प्रकोष्ठिका शंख की मात्रा अधिक पायी जाती है, जबकि स्त्रियों में अत:-प्रकोष्ठिका शंख की मात्रा अधिक।

सूचकांक : मनुष्यों के समूहों के मध्य तुलनात्मक अध्ययन के लिए अनेक सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है।

(क) डैकमीज़र का सूचकांक— $\frac{\text{महराबी चिह्न}}{\text{चक्र}} \times 900$

(ख) फूरूहाटा का सूचकांक — $\frac{\text{चक्र}}{\text{शंख}} \times 900$

(ग) पैटर्न इंटेंसिटी इंडेक्स (आकृति तीव्रता सूचकांक) $\frac{2 \times \text{चक्र} \times \text{शंख}}{\text{(व्यक्तियों की संख्या)}}$

(कामिस एवं मिडलो, 1943)

मध्य एवं आधारिक अंगुलि विन्यास (दे० चित्र) : प्लोएट्जरैडमैन (1937) प्रथम वैज्ञानिक थी, जिसने इन विन्यासों का ठीक-ठीक अध्ययन किया। (उन्होंने 200 जर्मनों का अध्ययन किया था)। उनके विस्तारपूर्वक अध्ययन की प्रणाली को अन्य वैज्ञानिकों ने अपनाया, जो इन क्षेत्रों में रुचि रखते थे (किंग 1939, बासु 1964)। प्लोएट्ज-रेडमैन ने विन्यासों को चार प्रधान प्रकारों में बांटा (ऋजु अथवा स्ट्रेट, वेधनी अथवा हुक, तरंग अथवा वेव, मेहराबी चिह्न अथवा आर्च)।

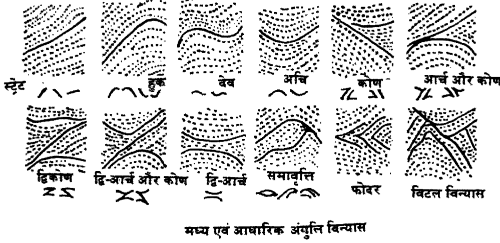
इसके अतिरिक्त उन्होंने सात प्रकार और बताये। वे थे : कोण, महराबी चिह्न एवं कोण, द्विकोण, द्विमेहराबी चिह्न एवं कोण, द्विमेंहराबी चिह्न, समावृति एवं पक्षिपत्र (फीदर), विरल विन्यास अर्थात् आकस्मिक चिह्न।

हथेली (करतली) : वाईल्डर (1902) ने करतलीय चर्म-रेखाशास्त्र के आकारिक एवं विधितंत्र पर अधिक प्रकाश डाला। करतलीय सतह को 6 विन्यास क्षेत्रों (संरूपणों) में विभाजित किया जा सकता है। (कामिन्स एवं मिडलो, 1943) अर्थात हाइपोथीनर, अंगुष्ठमूल (थीनर) एवं चार अंतरांगुलि।

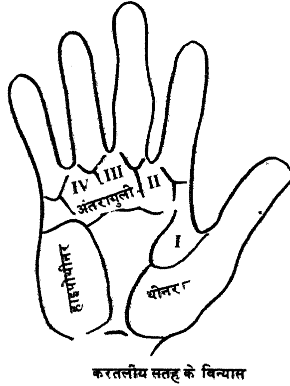
अरत्रय चिह्न : चार अंगुलि चिह्न (डी, सी, बी, ए), होते हैं, जो करतल की ऊपरी सीमा के पास अंगुलियों के आधार पर स्थित होते हैं। ये द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम अंगुलियों के आधार पर स्थित होते हैं जैसा कि साथ के चित्र से स्पष्ट है।

अक्षीय अरत्रय (t) : ये प्रायः करतल के ऊपर किनारों के बहुत निकट स्थित होते हैं तथा इनकी स्थिति प्रायः थीनर एवं हाइपोथीनर के मध्य होती है। एक करतल में एक, दो या तीन अक्षीय अरत्रय हो सकते हैं।

मुख्य रेखा-सूत्र (मेन लाइन फार्मूला) एवं आकृति-सूत्र (चित्र में दिखाये गये हैं।)



मध्य एवं आधारिक अंगुलि विन्यास



करतलीय सतह के विन्यास

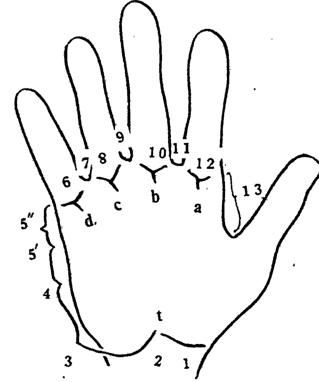
तलुए : (वाइल्डर 1903, कमिन्स एवं मिडलो 1943)

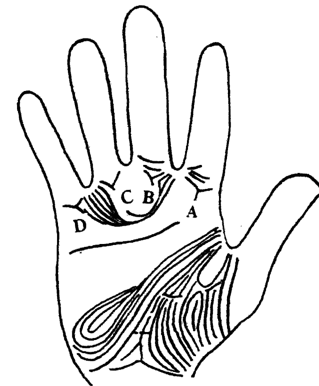
विन्यास (संरूपण) क्षेत्र स्थिति इत्यादि चित्र में दिखाये गये हैं।

अंगुष्ठ (पादांगुलि) : टकीया (1933)।

अंगुष्ठ (पादांगुलि) के विन्यास (संरूपण) अंगुलि-चिह्न के समानुरूप होते हैं।

वंशागति चर्मरेखा शास्त्र की आकृतियों का आधार जीनविज्ञानी होता है। वे वंशागत होती हैं (गाल्टन, विल्डर, बोनीवी, ग्रूनेबर्ग, कमिन्स एवं मिडलो, रिफ इत्यादि)। यह निष्कर्ष परिवारों एवं युग्मजों के विश्लेषण करने के पश्चात् निकाला गया। इनमें जीन अंतर्ग्रस्त होते हैं, इसका पता नहीं चला है। वंशावलियों का अध्ययन दिखाता है कि इनका स्वभाव बहुजीवी है।



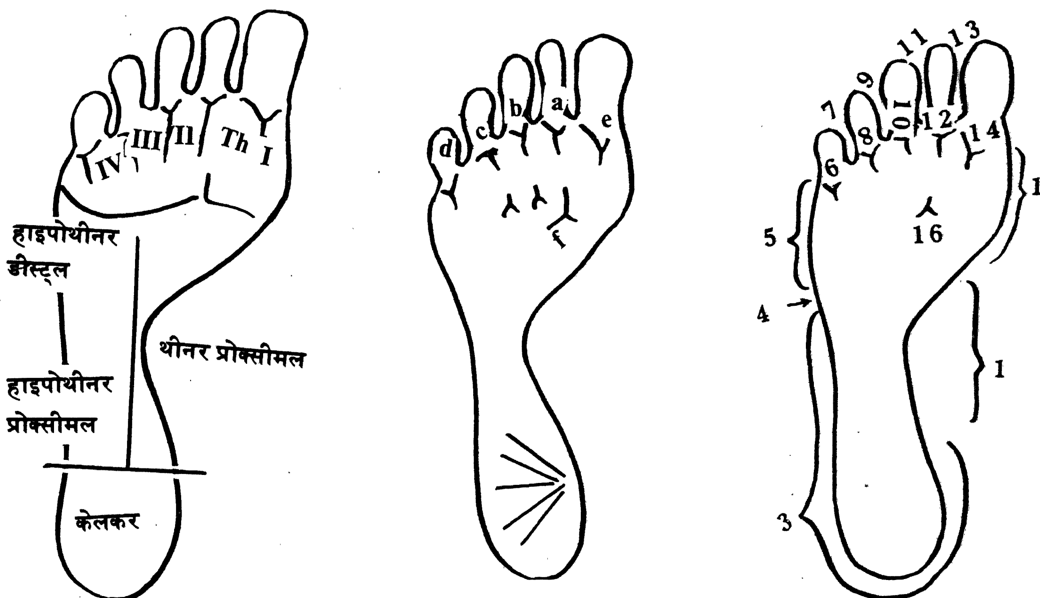


प्रजातीय विविधता : अनेक अध्ययनों की सहायता से यह प्रमाणित कर दिया गया है कि चर्मरैखिक आकृतियों के भीतर प्रजातीय विविधता होती है। नार्डिक्स में आकृतियों की मात्रा कम होती है एवं मेहराबी चिह्न संख्या में अधिक होते हैं। मैडीटेरेनियन में अपेक्षाकृत अधिक होती है। नीग्रो में काकस्वाइड जैसी होती है। पिग्मी एवं बुशमैन में मेहराबी चिह्न अधिकतम होते हैं। पूर्वी एशिया में मंगोलों में चक्र अत्यधिक होते हैं एवं बहुत कम

मेहराबी चिह्न पाये जाते हैं।

श्वेत (काकस्वाइड) में करतलीय मुख्य रेखाएं (मेन लाइंस) विशिष्ठ रूप से अनुप्रस्थीय स्थिति दर्शाती है। मंगोलाइड समूह में करतलीय मुख्य रेखाएं अनुदैर्घ्य स्थिति दर्शाती हैं। करतलीय हाइपोथीनर में आकृतियां कम होती हैं। नीग्रोकल्प में मंगोलाइड समान करतलीय मुख्य रेखाएं अनुदैर्घ्य स्थिति दर्शाती हैं। द्वितीय एवं तृतीय अंतरांगुलि एवं करतलीय आकृतियों की प्रचुरता होती है।

अनुप्रयोग : त्वचीय आकृतियों के स्थायी एवं अपरिवर्तनशील होने के कारण वे व्यक्ति-अभिज्ञान, प्रजातीय-विविधता, वंशागति अध्ययन, यमज-निदान, विवादास्पद पितृत्व एवं रोगों के निदान में उपयोगी हैं।



चुकची जनजाति : उत्तरी साइबेरिया में रहनेवाले लोग चुकची जाति के हैं। ये लोग मंगोलाइड वर्ग के हैं। इन लोगों की सामाजिक व्यवस्था युगयुगों से चले आ रहे परंपरागत नियमों से चालित है। इस जाति के प्रत्येक समूह का मुखिया उस समूह का सबसे वृद्ध व्यक्ति होता है। अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के आधार पर या बदले में मिलनेवाले तोहफों के आधार पर ये लोग कुछ समय के लिए या ज्यादा समय के लिए सेना में भर्ती होते हैं। प्रत्येक सेनानायक के अधीन उसके अनुचर तथा युद्धबंदी होते हैं। ये सब लोग आपस में एक-दूसरे को भाई कहते हैं। चुकची जाति के लोग मंत्र-तंत्र की विद्या में प्रवीण माने जाते हैं। इस जाति के जादूगर भूत उतारने के लिए या बीमारियां दूर करने के लिए बहुत ऊंची आवाज में नगाड़े बजाते हैं और तरह-तरह के भयंकर रूप धारण करते हैं।

चेंचू जनजाति : चेंचू जनजाति मुख्यतः कृष्णा नदी (जो 'मल्लामलाई' पर्वतों के उत्तर में है) के उत्तरी पहाड़ी इलाकों (अमसबाद का पठार) में रहती है। 1961 की जनगणना के अनुसार आंध्रप्रदेश, मैसूर और उड़ीसा राज्य में इनकी जनसंख्या क्रमशः 17,608, 205 और 52 थी।

चेंचू जनजाति को चार समूहों में विभाजित किया गया है। (1) तेलुग चेंचू, (2) कृष्णा चेंचू (3) अदारी चेंचू और (4) बोंदा चेंचू।

'तेलुग चेंचू और 'कृष्णा चेंचू' मुख्यतः भिखारी हैं और

वे नाचगाकर भीख मांगते हैं। भीख मांगते समय 'कृष्णा चेंचू' सर पर मोर के पंख का मुकुट और गले में माला पहनते हैं। 'अदारी चेंचू' अधिकतर जंगलों में ही रहते हैं। वे अपना जीवनयापन हिरण इत्यादि के शिकार से करते हैं। 'बोंदा चेंचू' बांस का सामान बनाते हैं और उसी को बेचकर वे अपने खाने के लिए अनाज वगैरह खरीदते हैं।

चेंचू जनजाति की भाषा तेलुगु है, जिसे ये लोग अपने खास उच्चारण में बोलते हैं।

मद्रास की 1901 की जनगणना के अनुसार उत्तरी आर्काट और मैसूर के पठार के 'इरूला' कभी चेंचू के नाम से पुकारे जाते थे।

साधारणत: चेंचू जनजाति के लोग जंगलों में काम करके, जंगली सामान एकत्र करके और शिकार करके अपना गुजारा करते हैं। जो गांव के बाहरवाले इलाकों में रहते हैं, वे गांव के किसानों की फसलें तथा मवेशियों की रक्षा करके जीविकोपार्जन करते हैं। कुछ खेती भी करते हैं।

इन लोगों में शव गाड़ने की प्रथा है। ये लोग 'गंगा' देवी को मानते हैं, जिसे वे गांव के बाहर एक छोटे पत्थर द्वारा निरूपित करते हैं।

जंगल का महत्त्व : भारत की जनजातियों में जंगल आर्थिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जनजातियां अधिकतर जंगलों तथा पहाड़ों में निवास करती हैं। कुछ जनजातियां पूरी तरह से जंगलों पर ही निर्भर हैं तथा कुछ जनजातियां आंशिक रूप से। शायद ही कोई ऐसी जनजाति हो, जो जंगलों से संबंधित न हो। जंगलों से जनजातियों को निम्नलिखित लाभ हैं:

(1) अस्थायी खेती के लिए भूमि।
(2) शिकार की सुविधा।
(3) मछली मारने की सुविधा।
(4) चरागाह के लिए उपयुक्त जमीन।
(5) अच्छी जलवायु।
(6) घर बनाने की सामग्री जंगलों से ही उपलब्ध होती है।
(7) गृह-उद्योग धंधों के लिए कच्चा माल जंगलों से प्राप्त होता है, जैसे बांस एवं तेल।
(8) मछली मारने का सामान तथा वाद्ययंत्रों को बनाने की सामग्री जंगलों में मिलती है।
(9) जंगली जड़ी-बूटियां औषधियों के काम में आती हैं।
(10) फल-फूल इत्यादि जंगलों से उपलब्ध होते हैं।
(11) जंगलों से महुआ प्राप्त होता है, जो शराब बनाने के काम में भी आता है।

जनजाति की विशेषताएं : जनजातियों को परिभाषित करना बड़ा ही कठिन काम है; क्योंकि जनजातियों में से कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से गैर-जनजातियां अथवा जातियों (कास्ट) के अत्यंत निकट हैं तथा कुछ उनसे अत्यधिक दूर हैं। फिर भी कुछ मानव-विज्ञानियों ने जनजातियों की विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं।

राल्फ पिडिंगटन के अनुसार जनजातियों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:

(1) निरक्षरता।
(2) सभ्य वर्ग से संबद्ध राज्य, राष्ट्र या साम्राज्य के विपरीत कबीला, गांव या जनजाति जैसी छोटी सामाजिक वर्ग-बद्धताओं पर आधारित समाज की रचना।
(3) निम्न स्तर की औद्योगिक उपलब्धि।
(4) सभ्य समाजों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रक्त-संबंध तथा स्थानीय सामाजिक संबंध।

डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स ने जनजातियों को साधारण किस्म के सामाजिक समूह के रूप में चित्रित किया है, जिसके सदस्य सामान्य बोली बोलते हैं तथा युद्ध जैसे सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए मिलकर काम करते हैं।

इंपीरियल गजेटियर जनजाति को सामान्य उपाधि धारण करनेवाले परिवारों के एक समूह के रूप में परिभाषित करता है, जिसमें समान बोली बोली जाती है तथा जो सामान्य भूखंड में रहते हैं।

बी० एन० सहाय ने भारतीय जनजातियों को ध्यान में रखते हुए उनकी निम्नलिखित विशेषताएं बतलायीं है:

(1) एक आम नाम (जैसे, भील, नागा, गोंड इत्यादि)
(2) निरक्षरता।
(3) निम्नस्तर की तकनीकी उन्नति।
(4) आम भाषा।

(5) आम क्षेत्र।
(6) जनजाति अंतर्विवाह।
(7) टैबू (निषेध) का प्रचलन।
(8) धार्मिक विश्वासों की अलग प्रथा।
(9) समान सामाजिक पद।
(10) समान आर्थिक उद्योग।
(11) अलग राजनैतिक संस्था।
(12) युवकगृहों की प्रथा।
(13) हिंदुओं तथा मुसलमानों की अलग आचरण नियमावली।
(14) कुछ जनजातियों में सामूहिक रूप से संपत्ति-स्वामित्व की भावना तथा बहुपति एवं बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन।

जनजातीय कल्याण कार्य : भारत में जनजातियों के उत्थान के लिए सब संभव प्रयत्न किये जा रहे हैं। भारत के राष्ट्रपति भारतीय आदिमजाति सेवक संघ तथा आदिम-जाति सेवा मंडल जैसी जनजातीय कल्याण संस्थाओं के सभापति हैं। संविधान ने अनुसूचित जनजातियों के हित के लिए राष्ट्रपति को विशेष अधिकार दिये हैं। इस कार्य में उन्हें अनुसूचित जनजातियों के मुख्य-आयुक्त (चीफ-कमिश्नर) से भी सहायता मिलती है, जो सरकार की आर्थिक तथा शिक्षा संबंधी योजनाओं के संपादन के पश्चात् राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट देती है। मुख्य-आयुक्त चार सहायक आयुक्तों की सहायता से सभी जनजातीय कल्याण कार्यों पर नियंत्रण रखता है।

राज्य के स्तर पर जनजातियों के अधिकारों, हितों और कल्याण का उत्तरदायित्व राज्यपाल पर है। समाज कल्याण मंत्रालय जनजातीय क्षेत्रों में स्कूल, छात्रावास, दवाखाना इत्यादि खुलवाने की व्यवस्था करता है।

इसके अलावा सरकार ने अनुसूचित जनजातीय छात्रों के लिए निःशुल्क शिक्षा का भी प्रबंध किया है। निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें हर महीने आर्थिक सहायता भी दी जाती है। इसके अलावा उनके विकास के लिए सरकारी नौकरियों में भी उनके लिए पद आरक्षित रहते हैं।

जनजातीय पंचशील : स्वर्गीय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु ने स्वर्गीय डा० वेरियर एल्विन की 'दि फिलोस्फी फार नेफा' नामक पुस्तक का प्राक्कथन लिखते हुए, जनजातीय कल्याण के पांच मूल सिद्धांत बतलाये, जिन्हें 'जनजातीय पंचशील' के नाम से पुकारा जा सकता है। ये पंचशील निम्नलिखित हैं:

(1) जनजातियों की पारंपरिक कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहित करना चाहिए।
(2) धरती एवं जंगलों पर जनजातियों के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए।
(3) उन लोगों में से ही कुछ ऐसे व्यक्तियों को प्रशिक्षित करना चाहिए, जो उनके बीच प्रशासन एवं विकास का कार्य कर सकें। प्रारंभ में कुछ बाहरी कार्यकर्ताओं की जरूरत पड़ेगी, लेकिन बहुत सारे बाहरी व्यक्तियों के जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश करने पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए।
(4) उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं की मदद से ही उनके विकास के लिए कार्य करना चाहिए।
(5) परिणाम का निर्णय गणना अथवा पैसे के व्यय से नहीं करना चाहिए, बल्कि मानव-चरित्र के गुणों के विकास से करना चाहिए।

जनजातीय राजनैतिक व्यवस्था : भारत की जनजातियों में राजनैतिक व्यवस्था गांव के आधार पर गांव के प्रमुख व्यक्तियों के हाथों में होती है, जिसका ब्यौरा नीचे दिया गया है।

गांव का प्रमुख : प्रत्येक गांव में उस गांव का एक प्रमुख होता है, जो या तो सामान्य व्यक्ति होता है या धार्मिक प्रमुख होता है। कहीं-कहीं दोनों प्रकार के गुण एक ही व्यक्ति में पाये जाते हैं। अर्थात्, वह व्यक्ति गांव का प्रमुख होने के साथ-साथ गांव का धार्मिक प्रमुख भी होता है। वह गांव के लोगों द्वारा निर्वाचित किया जाता है तथा गांव में शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। गांव के कानून का उल्लंघन करनेवालों को वह दंड भी देता है। विभिन्न जनजातियों में उन्हें विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

क्षेत्रीय प्रमुख : कुछ ग्राम प्रमुखों के ऊपर एक क्षेत्रीय प्रमुख होता है। जब किसी अभियुक्त को गांव के प्रमुख के

फैसले पर संतोष नहीं होता, तब वह क्षेत्रीय प्रमुख की पंचायत में न्याय की याचना करता है।

जनजातीय प्रमुख : कुछ जनजातीय समुदायों में जनजातीय स्तर पर भी एक प्रमुख होता है, जो न सिर्फ अपने समुदाय के अधिकारों के लिए लड़ता है, बल्कि वे अपने समुदाय की राजनैतिक व्यवस्था का सबसे बड़ा न्यायाधिकारी भी होता है। उसका फैसला अटल होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय जनजातियों में प्रत्येक स्तर पर ऐसे अधिकारी होते हैं, जो न्याय तथा कानून के द्वारा गांव में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करते हैं।

जनजातीय समाज सेवक : समाजसेवकों तथा राजनीतिज्ञों ने श्री ए० बी० ठक्कर के नेतृत्व में, जनजातीय समस्याओं के विषय में सुधारक का दृष्टिकोण अपनाया। सन् 1941 में श्री ठक्कर ने आर० आर० काले स्मृति भाषणमाला में भारत की जनजातियों की समस्याओं पर भाषण दिये। उन्होंने अपने भाषण के उत्तरार्द्ध में मानवविज्ञानियों की, उनके विच्छेद के सिद्धांत के लिए आलोचना की। यह बात उनकी समझ में नहीं आयी कि मानवविज्ञानी समतल निवासियों की सभ्यता से जनजातियों को क्यों अछूता रखना चाहते हैं। उनके विचार से इसका कारण, मानवविज्ञानियों का शोध-संबंधी आकर्षण था। उन्हें यह विच्छेद पसंद नहीं आया; क्योंकि यह राष्ट्रीय संगठन की जड़ पर कुठाराघात करता है। अपने भाषण के पूर्वार्द्ध में श्री ठक्कर ने समाज-सेवकों के विचारों की व्याख्या की। उन्होंने कुछ मानवविज्ञानियों द्वारा समाजसेवकों पर लगाये गये 'मध्यस्थी' पर आपत्ति प्रकट की। उन्होंने बताया कि समाजसेवकों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा व्यक्त की गयी नीति 'समीकरण' की नीति है। समाज-सेवकों के प्रतिनिधि के रूप में, उन्होंने जनजातियों की समस्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया: (1) गरीबी (2) अशिक्षा (3) आवागमन का अभाव (4) खराब स्वास्थ्य (5) प्रशासन की त्रुटि तथा (6) नेतृत्व की कमी। समाज कल्याण की सद्भावना से प्रेरित होकर तथा मनुष्यता के नाते उन्होंने इन सभी समस्याओं का हल करने का आह्वान किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जब तक जनजातियां अधिक उन्नत लोगों से अपना संपर्क स्थापित नहीं करतीं, उन्हें अपने पिछड़ेपन का ज्ञान नहीं होगा तथा जब तक उन्हें अपने पिछड़ेपन का ज्ञान नहीं होगा, वे उन्नति नहीं कर सकतीं।

जब भारत स्वतंत्र हुआ, तब सरकार का ध्यान जनजातीय कल्याण कार्यों की ओर गया, लेकिन इस विषय से मानवविज्ञानियों को दूर रखा गया तथा उनकी शोधों एवं सलाहों की अवहेलना की गयी।

समाजसुधारकों ने अपने कार्यकलापों के विस्तार के लिए, वातावरण को अनुकूल पाया; क्योंकि उन्हीं के सहयोगी सरकारी कामकाज के कर्णधार थे। वे लोग पहले से जनजातियों की समस्याओं के लिए मानवविज्ञानियों के सुझाव के विरुद्ध थे। उन्होंने जनजातीय कल्याण-कार्य करने का अधिकार समाज-सेवकों को दे दिया। ये समाज सेवक जनजातीय बातों में सरकार को परामर्श देने लगे तथा सरकार से जनजातियों की सहायता के लिए रुपये पाने लगे एवं बाद में जनजातीय कल्याण की योजनाओं के लिए छोटे-मोटे सरकारी पदों को भी प्राप्त करने लगे। देश के विभिन्न भागों में जनजातीय कल्याण कार्यों के लिए 1948 में गैर-सरकारी संस्थाओं के एक संघ की स्थापना हुई, जिसका नाम 'भारतीय आदिमजाति सेवक संघ' रखा गया तथा जिसके प्रथम सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद हुए। शुरू में इस संघ के अंतर्गत 18 संस्थाएं थीं, 1950 में इसकी संख्या 50 हो गयी तथा इस समय लगभग 200 संस्थाएं इससे संबंधित हैं।

जलकपाल : यह नाड़ी-तंत्र की गड़बड़ से उत्पन्न होनेवाला एक मस्तिष्क-रोग है। यह रोग विशेषत: बच्चों को होता है। इस रोग में खोपड़ी के खोखल में पानी जैसा द्रव भर जाता है, जिससे मानसिक शक्तियां क्षीण हो जाती हैं। जलकपाल प्राय: उन लोगों में पाया जाता है, जिनकी रीढ़ की हड्डी के मूलाधार में कोई गड़बड़ी होती है। इससे मस्तिष्क पर बहुत दबाव पड़ता है और यदि इस रोग का उपचार न किया जाये, तो रोगी असामान्य मानसिकतावाला हो जाता है और उसके पैर या तो अकड़ जाते हैं या उन्हें पूरी तरह लकवा मार जाता है।

जलकपाल वास्तव में सुषुम्ना तथा मस्तिष्क संबंधी एक फिरंग (सिफिलिस) रोग है। फिरंग-जीवाणु रोगी में संक्रमित होकर उसके मस्तिष्क के आवरणों में अपने

1 

2 



4 



1. गदब जाति
2. चेंचु जाति
3. लंबाडी स्त्री
4. कनिकर जाति की स्त्रियां
5. वेड्डा जाति का पुरुष

अड्डे बना लेता है। धीरे-धीरे यह मस्तिष्कावरण में विद्यमान धमनियों के समीप के लसीकामय प्रदेश में बढ़ने लगता है, जिससे इसके विपरीत रक्त-कोशों की प्रबल प्रतिक्रिया होती है, जिसके कारण धमनियों में तथा धमनियों के आसपास शोथ के विकार हो जाते हैं। इन्हीं विकारों के कारण मस्तिष्क में जल भरने लगता है, जिससे सिर में दर्द रहने लगता है, बुद्धि की तीव्रता घट जाती है, सहन शक्ति और (ध्यान केंद्रित करने) की शक्ति तथा स्मरणशक्ति निर्बल हो जाती है। इस रोग के कारण मस्तिष्क की द्वितीय नाड़ी पर दुष्प्रभाव पड़ता है और उससे तिमिर रोग उत्पन्न हो जाता है।

इस रोग के अधिक बढ़ जाने पर शरीर के किसी अंग में अस्थायी निर्बलता या कंप के लक्षण दिखायी देने लगते हैं। आगे चलकर यही रोग जब और बढ़ता है, तो मस्तिष्क की मध्यवर्ती धमनी की एक शाखा में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और उससे पक्षाघात हो जाता है।

जाति : साधारणत: भारत के सामाजिक संगठन की दो प्रधान इकाइयां हैं। एक को मानवविज्ञान में आदिवासी, वन पर्वतवासी, वन्य जाति, जनजाति, आदिमजाति आदि नाम दिये गये हैं और दूसरी को जाति कहा गया है।

सर हरबर्ट रिसली ने जाति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि यह परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज या देवता से अपनी उत्पत्ति का दावा करती है और एक ही परंपरागत व्यवसाय को करने का दावा करती है, जिससे अन्य लोगों की दृष्टि में यह एक सजातीय समुदाय बन जाती है। सेनार्ट के अनुसार जाति व्यक्तियों का एक घनिष्ठ समूह है, जो वंशानुक्रम के आधार पर अपने-आपको संबंधित मानते हैं, जिसका एक प्रकार का स्वाधीन और परंपरागत संगठन होता है, अपना मुखिया और पंचायत होती है तथा जो त्योहारों और पर्वों के अवसर पर परस्पर सहयोग करते हैं। इस समूह का एक ही व्यवसाय होता है, जो एक-सी प्रथाओं और रीतियों का पालन करते हैं और जाति-बहिष्कार के भय से समूह के सदस्यों में एकता बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

जाति की परिभाषा केलकर ने भी दी है। वे लिखते हैं कि यह एक सामाजिक समूह है, जिसके दो लक्षण हैं : (1) समूह की सदस्यता सदस्यों की संतानों तक सीमित रहती है और (2) सामाजिक नियम सदस्यों को समूह के बाहर विवाह करने से रोकता है। इस परिभाषा के अनुसार जाति का मुख्य लक्षण अंतर्विवाह है।

परंपरागत रूप से जातियां वर्ण-व्यवस्था का अंग मानी जाती हैं। स्मृतिकारों का कथन है कि प्रारंभ में केवल चार मुख्य जातियां थीं : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। कालांतर में इनके मिश्रण से और जातियां बनीं। इन स्मृतिकारों ने प्रत्येक जाति के लिए अंत: विवाह ही श्रेष्ठ माना है, फिर भी अनुलोम विवाह की अनुमति दी है।

आज के हिंदू समाज में सभी जातियां अपने आपको किसी न किसी वर्ण का अंग मानती हैं और अपनी रीति-नीतियों द्वारा अपनी वर्ण-स्थिति का परिचय देने का प्रयत्न करती हैं।

जातीय गतिशीलता : कई लोगों की यह धारणा है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद थोड़े से समय में देश के अभिजन ने जो परिवर्तन किये, वे कोई विदेशी समूह, चाहे कितनाही सुंदर और योग्य हो, नहीं कर सकता था।

इन परिवर्तनों की नींव भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना और उसके प्रत्याशित और अप्रत्याशित परिणामों से पड़ी थी। सबसे पहले अंग्रेजों द्वारा लायी गयी नयी औद्योगिकी ने संपूर्ण प्रशासनिक और राजनैतिक एकीकरण को संभव बनाया। इनके अलावा अंग्रेजी शासन ने ठगी का अंत, दास-प्रथा का नाश, भूमि के पट्टे संबंधी सुधार, चाय, काफी, कपास की खेती और कस्बों तथा नगरों का विकास-कार्य किया। आधुनिक शिक्षा देने के लिए स्कूल-कालेज खोले।

पश्चिमी साहित्य, राजनैतिक चिंतन, इतिहास और कानून के अध्ययन ने भारतीय अभिजन को कानून के समक्ष सब स्त्री-पुरुषों की समानता और नागरिक अधिकार जैसे नये मूल्यों के प्रति संवेदनशील बना दिया।

सामाजिक गतिशीलता की इच्छा जाति-समूहों के माध्यम से मुखर हुई। क्षैतिज एकीकरण में नये संचार-साधनों के सुधार के साथ वृद्धि हुई। व्यापक क्षेत्र में रहने-वाली संबद्ध जातियां गतिशीलता की प्रक्रिया में खिंच आयीं।

जादूटोना : आदिमकालीन धर्म का एक रूप, जिसमें विशिष्ट साधना-पद्धतियों द्वारा मनुष्यों, पशुओं और काल्पनिक आत्माओं (जिन्न, भूत, प्रेत, चुड़ैल, डाकिनी, चंडालिनी, भैरव, काली आदि) को सायास प्रभावित कर निश्चित परिणाम प्राप्त किये जाते हैं। जादू-टोना का आधारभूत विश्वास यह है कि मानव और बाह्य विश्व के बीच दैवीय संबंध है। किसी भी इच्छित ध्येय की पूर्ति के लिए प्रायः उसमे साम्य रखनेवाली कृत्रिम पद्धति की व्यवस्था की जाती है और इस कृत्रिम पद्धति के निमित्त आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना की जाती है। जैसे, बच्चे के स्वस्थ विकास के लिए किसी स्वस्थ पेड़ की जड़ की भस्म का बच्चे के ऊपर छिड़काव करना, शत्रु की हत्या के लिए शत्रु की आकृति से मिलती-जुलती गुड़िया बनाकर (वूदू तांत्रिक पद्धति) उसे काल्पनिक कष्ट दे-देकर काट देना आदि।

यह साम्यता किसी भी प्रकार की हो सकती है: मानसिक, वाचिक और कायिक। कार्य पूर्ति के लिए आवश्यक वांछित श्रम से पलायन करने के लिए आधुनिक सभ्यता में आज भी इन विश्वासों का सहारा लिया जाता है। यूं आधुनिक सभ्यता में इसका एक सभ्य रूप रहस्यवाद भी है, जो सभी विश्वजनीन धर्मों (इस्लाम, ईसाई मत और हिंदू) में आज भी मान्य है। इसके अतिरिक्त, विश्व में जहां-जहां सामाजिक विकास की जो भी व्यवस्था है, वहां-वहां उसी के अनुरूप जादू-टोना आज भी पाया जाता है, जैसे : जीववाद, फीटिशवाद, पिशाच-पूजा, अध्यात्मवाद, रहस्यानुभूतिवाद, भूमि की उर्वरता बढ़ाने की साधना-पद्धतियां, अंधविश्वास (जैसे 13 की संख्या को अशुभ मानना), मिथकों पर विश्वास आदि।

जीन : जीन अत्यंत सूक्ष्म कण होते हैं और आनुवंशिकता के निर्धारक होते हैं। ये प्रत्येक कोशिका के केंद्रक के भीतर गुणसूत्र पर निश्चित स्थानों में उपस्थित रहते हैं। जीन साधारण सूक्ष्मदर्शक यंत्र से दृष्टिगोचर नहीं होते। कुछ ही समय पूर्व (1970 में) इन्हें इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा गया। जीन का संश्लेषण भी किया जा चुका है। (खुराना, 1970)। जीन की खोज सर्वप्रथम ग्रेगर मेंडिल ने की थी। तत्पश्चात् एक प्रतिष्ठित डेनिश जीन-वैज्ञानिक डब्ल्यू० जानसन ने इसका नामकरण किया। प्रयोगों द्वारा प्रकट हो गया है कि जीन गुणसूत्र पर रेखीय पथ में क्रमबद्ध हैं। ये जीन गुणसूत्र के समकल भाग हैं। वास्तव में जीन गुणसूत्र का एक सूक्ष्म और विशिष्ट भाग है।

नवीनतम अनुसंधान के अनुसार जीन एक रासायनिक पदार्थ डी-आक्सीराइबोज़ न्यूक्लिक एसिड' (डी० एन० ए०) का बना होता है। एक गुणसूत्र में सहस्त्रों जीन पाये जाते हैं। एक गुणसूत्र में जीन द्वारा अभिधारण किये गये स्थान को उसका (जीन का) 'लोकस' (बिंदु पथ) कहते हैं। जीन के वैकल्पिक आकारों को, जो सदैव एक ही लोकस पर पाये जाते हैं, युग्मविकल्पी एलीली अथवा विकल्प कहते हैं। एक गुणसूत्र पर भिन्न-भिन्न प्रकार के कई सहस्त्र लोसाई उपस्थित रहते हैं। एक विशिष्ट लोकस पर केवल एक युग्मविकल्पी उपस्थित होता है, जिनमें से एक पिता से तथा एक माता से प्राप्त किया जाता है।

एक जीन को तीन लघु भागों में विभाजित किया गया है (बैनज़र, 1957) :

(क) **म्यूटान** : यह वह अल्पतम तत्त्व है, जो उत्परिवर्तन द्वारा नूतन आकारों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है।

(ख) **रेकान** : यह वह अल्पतर तत्त्व है, जो पुनः संयोजन द्वारा नूतन आकारों को उत्पन्न करता है।

(ग) **सिस्ट्रान** : यह जीन की क्रियात्मक इकाई एवं जीन के पुरातन संबोध का पर्यायवाची है। यह म्यूटान तथा रेकान के हेतू-स्थलों का परिवलयन करता है।

जीन में एक अत्यधिक विलक्षण गुण पाया जाता है, जिसे स्वद्विगुणन अथवा प्रतिकृति कहा जाता है अर्थात् स्वयं अपनी प्रतिकृति बनाना। एक जीन दूसरे जीन का स्वयं निर्माण करता है और नया जीन पहले जीन की वास्तविक प्रतिकृति होती है और इस प्रकार जीन पुनरुत्पादन करते हैं।

पुनः संयोजन, उत्परिवर्तन व क्रिया जीन के अनन्य गुण हैं, जो क्रमशः 'रेकान', म्यूटान एवं 'सिस्ट्रान' के कारण होता है। जीन एंजाइम क्रिया तथा व्यक्त रूप के मध्य एक निश्चित संबंध होता है (बीडल)। अधिकतम गुण अनेक जीनों के जटिल पारस्परिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं।

जीन की प्रव्यंजना उसके युग्मविकल्पी भागी अन्यत्र स्थित जीन द्वारा, वातावरण एवं व्यक्ति के लिंग द्वारा भी प्रभावित होती है। कुछ जीन विकास के पूर्ण क्रमों में व्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ 'एक्ट्रोडैक्टिली' के उत्तरदायी जीन। (एक्ट्रोडैक्टिली हाथों एवं पैरों की विरूपता 'लीव्सटर कला') इसके विपरीत कुछ अन्य जीन होते हैं, जो अपना प्रभाव जीवन में विलंब से ही दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ 'हेंटिंगटन्स कोरिया' नामक रोग के उत्तरदायी जीन (एक प्रकार का तांत्रिक रोग, जिसमें मस्तिष्क का मंद ह्रास होता है, जो बहुधा विक्षिप्तता से संबद्ध होता है।)

जीन अनेक प्रकार के होते हैं जैसे : प्रभावी, समप्रभावी, अलिंग सूत्रीय, लिंगसहलग्न, बहुप्रभावित, अनुपूरक, संपूरक, संचयी, द्विगुणी, घातक एवं अर्ध-घातक इत्यादि।

जीन कोड : कोशिका केंद्रक के डी० एन० ए० में रहनेवाला जीन-संदेश जीन कोड कहलाता है। डी० एन० ए० में न्यूक्लियोटाइड्स का अनुक्रम जीन कोड होता है, जो अन्ततः एक प्रोटीन में एक अमीनो एसिड्स के अनुक्रम को निश्चित करता है। 20 आवश्यक अमीनो एसिड होते हैं, जो प्रोटीन की निर्माण-शिला की स्थापना करते हैं। जीन कोड उस पथ का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें प्रत्येक अमीनो एसिड के अनुक्रम का डी० एन० ए० में चार क्षारकों (एडीनीन, ग्वेनीन, थायमीन एवं सिस्टोसीन) के अनुक्रम द्वारा निश्चय होता है। यह कल्पना की गयी है कि जीन वर्णमाला में चार अक्षर क्रमशः चार क्षारक ए, जी, टी और सी हैं। इन अक्षरों के अनेक संयोजन एवं अनुक्रम शब्दों की एक अनंत संख्या का उत्पादन करते हैं, जो अनेक विभिन्न प्रकार के जीन संदेश होते हैं।

जीन कोड का उद्घाचन : जीन कोड की क्रिया पर अनेक वाद प्रस्तावित किये जा चुके हैं। फ्रिक एवं उसके सहकर्मियों के सिद्धांत के अनुसार एक जीन कोड (ट्रिपलैट कोड) कोडान होता है, जो तीन ग्रथित क्षार अथवा ट्राइन्ययूक्लियोटाइड्स के आकार में होता है। तीन क्षार कोडों का एक अनुक्रम केवल एक अमीनो एसिड के हेतु होता है। डी० एन० ए० एवं आर० एन० ए० (रिबोन्यूक्लिक एसिड) के लिए अलग से कोडान होते हैं। कोडान का योग केवल 64 होता है। आर० एन० ए० के कोडान डी० एन० ए० के कोडान के तदनुरूपी होता है। प्रत्येक अमीनो एसिड एवं न्यूक्लियोटाइड्स ट्रिप्लैट (कोडान) के मध्य एक से एक की अनुरूपता होती है। उदाहरणतः

डी० एन० ए० में फीनिल एलानीन (अमीनो एसिड) के हेतु कोडान-ए० ए० ए० (एडीनीन) होता है। आर० एन० ए० में फीलिन एलानीन (अमीनो एसिड) के हेतु तदनुरूप कोडान-यू० यू० यू० (यूरसिल) होता है।

प्रोटीन संश्लेषण की क्रियाविधि : डी० एन० ए० प्रोटीन का सीधा संश्लेषण नहीं करता। संदेश का अनुवादक एवं कर्मव्यक्त एक दूसरा न्यूक्लिक एसिड आर० एन० ए० (ए० जी० सी० और यू०) होता है। प्रोटीन का वास्तविक संश्लेषण ऐसे छोटे-छोटे कणों में अथवा ऊपर होता है, जो साइटोप्लाज़्म में पाये जाते हैं तथा राइबोज़ोम कहलाते हैं एवं आर० एन० ए० से परिपूर्ण होते हैं।

प्रोटीन संश्लेषण के अतंर्ग्रस्त आर० एन० ए० दो प्रकार के होते हैं।

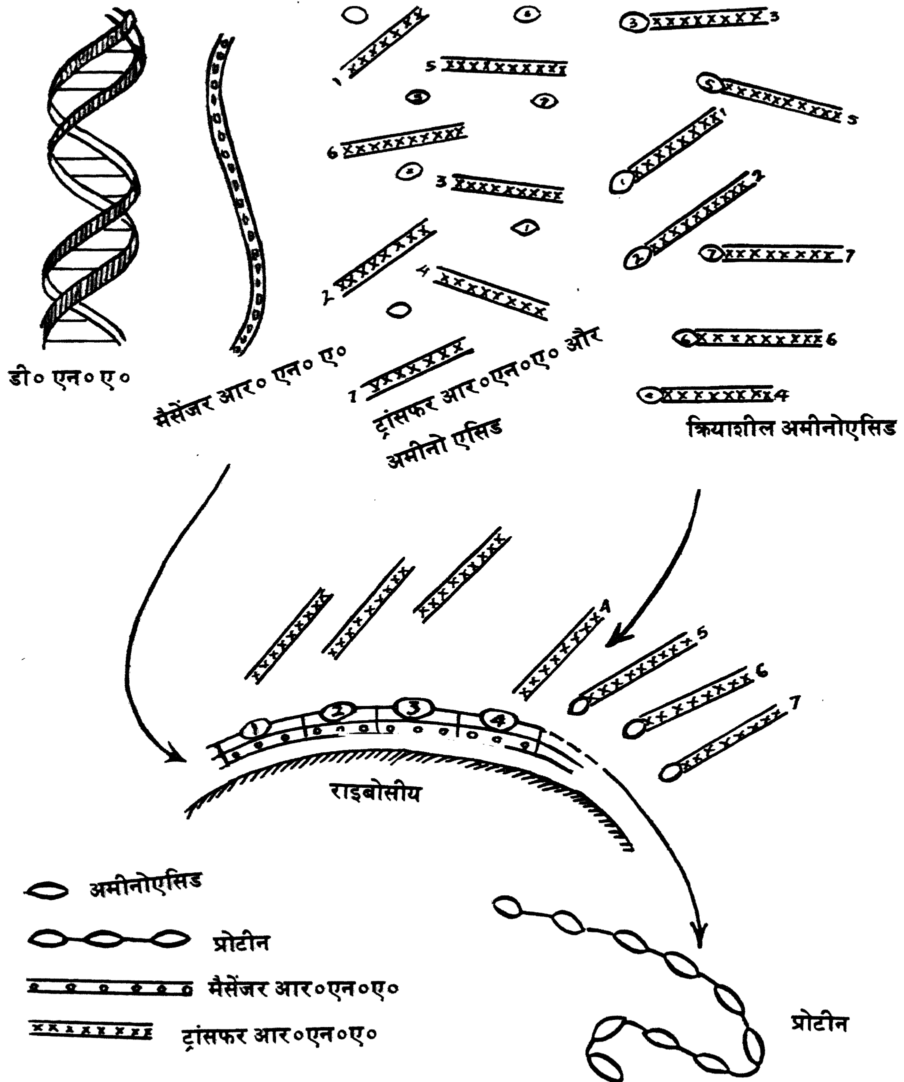
(क) मैसेंजर (संदेशवाहक) आर० एन० ए० : अस्थायी, न्यूक्लिओलस में संचित होता है, किंतु बहुधा साइटोप्लाज़्म में पाया जाता है। यह डी० एन० ए० के अनुदेशों को राइबोसोमल आर० एन० ए० तक पहुंचाता है। मैसेंजर आर० एन० ए० अमीनो एसिड की सहलग्नता एवं उसके विशिष्ट अनुक्रम का संचालन करता है।

(ख) ट्रांसफर आर० एन० ए० : स्थायी। साइटोप्लाज्म में खंडों में पाया जाता है। यह स्वतंत्र कोशिकीय, अमीनो एसिड को ढोता है। विशिष्ट एंजाइम एवं ए० टी० पी० (एडीनोसिन ट्राइफास्फेट) द्वारा क्रियाशील किये गये ये अमीनो एसिड (दे० चित्र) ट्रांसफर आर० एन० ए० राइबोजोम की ओर सुव्यवस्थित क्रम में ले जाये जाते हैं। ये अमीनो एसिड विशिष्ट अनुक्रमों में क्षारों के अनुक्रम के अनुसार रखे जाते हैं, जो मैसेंजर आर० एन० ए०, डी० एन० ए० से राइबोसोम की ओर लाता है।

(ग) राइबोसोमल आर० एन० ए० : स्थायी, प्रोटीन के उत्पादन के हेतु राइबोसोमल टैंलोट की संरचना में सहायता करता है। अमीनो एसिड एक प्रोटीन में अनुक्रम में सहलग्न होते हैं। यह अनुक्रम अंततः डी० एन० ए० द्वारा निश्चित किया गया होता है।

जीन कोड एवं उत्परिवर्तन : जब कभी कोड में कोई परिवर्तन होता है, तो एक जीन का उत्परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार का परिवर्तन डी० एन० ए० में न्यूक्लियोटाइड के एकल योग, व्यवकलन, अथवा प्रतिस्थापन द्वारा, अथवा दो या दो से अधिक न्यूक्लियोटाइड के पुनर्विन्यास द्वारा हो सकता है।

उदाहरणार्थ, फीनिलएलानीन के हेतु डी० एन० ए० में कोडान ए० ए० ए० होता है। फीनिलएलानीन के हेतु आर० एन० ए० में कोडान यू० यू० यू० होता है। उत्परिवर्तन के पश्चात् डी० एन० ए० में कोडान ए० ए० टी० हो जाता है तथा उत्परिवर्तन के पश्चात् आर० एन० ए० में कोडान यू० यू० ए० हो जाता है और इस प्रकार फीनिलएलानीन के बदले टायरोसीन की संरचना होती है।



डी० एन० ए० के क्षारों में परिवर्तन एक निरर्थक कोडान को जन्म देकर प्रोटीन के संश्लेषण का मार्गरोधन कर सकते हैं।

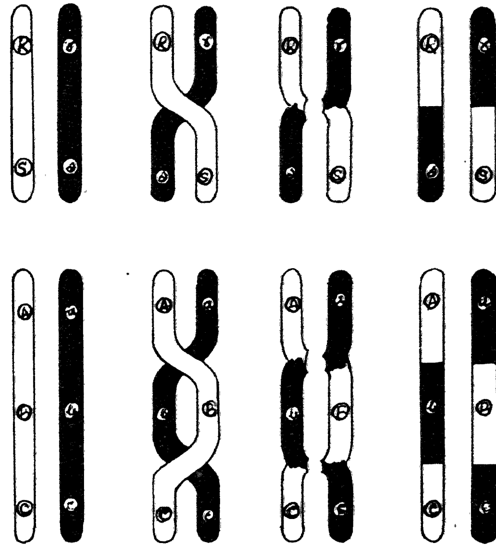
जीन विनिमय : जीन विनिमय एक क्रम है, जिसके द्वारा अर्धसूत्री विभाजन अथवा अर्धसूत्रण की युग्मन अवस्था में युग्मित मातृक एवं पैतृक गुणसूत्रों के परस्पर समजात खंडों का विनिमय होता है। जीन विनिमय का प्रभाव यह है कि ऐसे जीन, जो केवल एक गुणसूत्र में बंधे होते हैं, उन के लिए यह आवश्यक नहीं रह जाता कि वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक साथ ही रहें, वरन् वे समजातभागी गुणसूत्र में अपने युग्मविकल्पों के साथ विनिमय कर सकते हैं।

जीन विनिमय के पर्यंत प्रत्येक युगल के दो गुणसूत्र, जो सूत्र युग्मन (सिनैपसिस) में भाग लेते हैं, चारों ओर से ऐंठकर एक-दूसरे के परोपगमन हो जाते हैं। जहां गुणसूत्रों के समजात युग्मों में परस्पर अधिक जीन विनिमय हो चुका है, वहां आशा होती है कि एक बड़े प्रतिशत में संतान माता-पिता से भिन्न होगी। प्रयोगात्मक निष्कर्ष भी इस सत्य को प्रमाणित करते हैं। यह पाया गया है कि जब एक गुणसूत्र के भीतर जीन आपस में पास-पास होते हैं, तो जीन विनिमय एवं पृथक होने के अवसर ऐसी अवस्था से अपेक्षाकृत कम होते हैं, जब जीन अधिक दूरी पर हो। कम प्रतिशत व्यक्ति अंतर दर्शाते हैं, तो यह इंगित होता है कि जीन विनिमय कम मात्रा में हुआ है एवं जीन एक-दूसरे के समीप स्थित हैं। किंतु दूसरी ओर जब अधिक प्रतिशत व्यक्ति अंतर दर्शाते हैं, तो यह इंगित होता है कि जीन विनिमय अधिक मात्रा में हुआ है एवं जीन एक-दूसरे से दूर बिखरे हैं। जीनविज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जीन विनिमय की मात्रा एक सहलग्न समूह के जीन के मध्य की दूरी के समानुपात हैं।

एक कोशिका में समजात गुणसूत्र का एक युगल एक से अधिक स्थानों पर परोपगमन कर सकता है। एकल जीन विनिमय गुणसूत्रों के खंडों के मध्य केवल एक विनिमय का उत्पाद है। दो या दो से अधिक विनिमयों के अंतर्गत गुणसूत्रों द्वारा द्वि अथवा बहु-जीन विनिमय होता है। यद्यपि एकल विनिमय में केवल दो अर्द्ध गुणसूत्र ही अंतर्ग्रस्त होते हैं, किंतु तीन अथवा समस्त चार अर्द्ध-गुणसूत्र भी द्वि अथवा बहु-जीन विनिमय में भाग ले सकते हैं (चित्र देखें)।

ड्रौसोफिला (एक प्रकार की मक्खी) में जीन विनिमय केवल मादा में ही पाया जाता है और सिल्कवर्म बांबेक्स में केवल नर में ही, किंतु मानवों, मूषकों एवं अन्य स्तनधारी प्राणियों के समान नर व मादा, दोनों ही लिंगों में जीन विनिमय पाया जाता है।

सहलग्नता के तीन परिचित उदाहरणों में जीन विनिमय अभिलेखित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अधिरक्त स्राव (हीमोफीलिया) एवं वर्णांधता (कलर ब्लाइंडनैस), मायोफिक नाइट ब्लाइंडनैस एवं पेशी अविकास (मस्कुलर डिस्ट्राफी)। अलिंग सहलग्न के तीन मुख्य उदाहरण लुथेरन, सीक्रेटर, इलिप्टोसायटोसिस रीसस, एन० पी० एस० नेल पटैलासिन्ड्रोम ए० बी० ओ० है।



जीन विनिमय प्रकार

जीन विनिमय प्राणियों में एक व्यापक घटना है। कुछ अपवादों के अतिरिक्त, यह समस्त उच्च कोटि के पादपों, पशुओं एवं मोल्ड्स तथा यीस्ट (खमीर) में भी पाया जाता है। जीन विनिमय की महत्ता इस में है कि यह विविधता के क्षेत्र को व्यापक करता है, जो विकास में एक महत्त्वपूर्ण कारक है। अर्ध-सूत्री विभाजन अनुक्रम द्वारा एक व्यक्ति में कोई भी जीन किसी भी अन्य जीन के साथ पारंगत हो सकता है। इस प्रकार अनेक संयोजनों का निर्माण होता है, जिन पर प्राकृतिक वरण अपना प्रभाव डालता है।

जीन व्यापन : कुछ मामलों में वातावरणीय कारक जीन-क्रिया को इतना प्रभावित करते हैं कि जीन की अभिव्यक्ति को पूर्ण रूप से दबा देते हैं। जीन व्यापन वह मात्रा है, जिससे जीन एक प्रभाव को जन्म देता है। विषमयुग्मज में अप्रभावी जीन का कोई जीन व्यापन नहीं होता। कुछ प्रभावी जीन सदैव एक किये गये दृश्यप्ररूपी (पूर्ण जीन व्यापन) को उत्पन्न करते हैं। अन्य कुछ दृश्यप्ररूपी अवस्थाओं के अंतर्गत दिये गये दृश्यप्ररूपी को उत्पन्न करने में असफल होते हैं (अपूर्ण जीन व्यापन)।

इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं:

(क) नीला दृढ़पटल (वानर-दर हीवीज़ सिंड्रोम) : यह एक अपसामान्यता है, जो अपूर्ण जीन व्यापन के साथ एक प्रभावी जीन के कारण होती है। ऐसी विशिष्टतावाले व्यक्तियों में नेत्र की बाह्यभित्ति असामान्य रूप से पतली एवं नीले रंग की होती है, जबकि सामान्य व्यक्तियों में श्वेत दृढ़पटल होता है। नेत्र की यह स्थिति स्वयं हानि-कारक नहीं है, किंतु आम तौर से शरीर के बाहरी भागों के गंभीर दोषों के साथ संबंध बताया जाता है। इनमें से कुछ हैं: बहरापन, अस्थियों की अधिमात्रा में भंगुरता।

(ख) दृढ़ (स्तब्ध) कनिष्ठिका (आनमन अंगुलिता) : यह विषम युग्मज अवस्था (Dd) में एक प्रभावी जीन (D) के कारण होता है।

इस रोग में कनिष्ठिका स्थायी रूप से झुक जाती है एवं दृढ़ हो जाती है (आनमन अंगुलिता)। अनेक व्यक्तियों में केवल एक हाथ में मुड़ी हुई उंगली होती है। केवल एक हाथ में (अपूर्ण जीन व्यापन) में एक परिवर्ती प्रभाव का परिणाम है।

(ग) विटामिन 'डी' रोधी बालवक्र (अपूर्ण जीन व्यापन) : कुछ बच्चों के सामान्य रूप से मिलनेवाले भोजन, जिसमें पर्याप्त रूप में विटामिन 'डी' होता है, के बावजूद बालवक्र (रिकट्स) विकसित हो जाते हैं। वंशावलि अध्ययन दर्शाते हैं कि यह एक अपूर्ण जीन व्यापन के साथ एक प्रभावी जीन के कारण होता है।

(घ) समयुग्मज अप्रभावी : जीन के अपूर्ण जीन व्यापन का उदाहरण डाइबिटीज़ मैलीटस नामक रोग भी है। यह एक उपापचयी रोग है जिसमें मूत्र में शर्करा आने लगती है।

(ङ) सावधानीपूर्वक किये गये परीक्षण दिखाते हैं कि वे मनुष्य जो फीनिल थायोकारबमाइड (पी० टी० सी०) का स्वाद जान सकते हैं, वे इस पदार्थ के बारे में अपनी संवेदनशीलता में अधिक भिन्न होते हैं। अन्य उसे पहचान सकते हैं, किंतु केवल उसी परिस्थिति में जब घोल में पदार्थ की मात्रा अधिक हो (यह अपूर्ण जीन व्यापन का उदाहरण है)।

(च) कुछ मनुष्यों में कान के बाहरी भाग की अंतर्मजित-प्रधि में एक बिंदु अथवा गुलिका होती है। इसका चार्ल्स डारविन ने पता लगाया था। उसने इसका, पुरातन काल के पूर्वजों के सीधे एवं नुकीले कानों का अवशेष माना है। इसी प्रकार इसको डारविन का कर्ण बिंदु अथवा गुलिका कहा जाने लगा। इस विशेषक की वंशागति अपूर्ण जीन व्यापन के साथ प्रभावी है।

जुवांग जनजाति : केओंफर जुवांग उड़ीसा की एक प्रमुख जनजाति है। यह जनजाति उड़ीसा राज्य के केओंफर तथा धेंकानाल जिलों में निवास करती है। इस राज्य में इनकी जनसंख्या 21,890 है। ये मुख्यतः जंगलों एवं पहाड़ों पर रहती हैं।

इनका मुख्य पेशा खेती है। ये लोग जंगल जलाकर खेती करने की प्रणाली अपनाते हैं। मार्च के महीने में वे जंगलों को काट देते हैं और पौधों को सूखने के लिए छोड़ देते हैं। जब पौधे सूख जाते हैं तो वे उनको जलाकर फैला देते हैं। लकड़ी के एक औजार से जमीन में छेद करके वे बीज रोपते हैं। इस औजार को वे अपनी भाषा में 'गौरेंडा' कहते हैं। इस प्रकार की खेती के द्वारा वे बाजरा एवं धान उपजाते हैं। एक जगह, वे दो बार से अधिक खेती नहीं करते। दो बार खेती करने के पश्चात् वे उस स्थान को पौधे बढ़ने के लिए छोड़ देते हैं। फिर लगभग दस वर्ष के बाद वहां जंगल जलाकर खेती करते हैं।

खेती के अलावा वे शिकार से भी अपनी जीविका चलाते हैं। जुवांग अधिकतर गर्मी के दिनों में शिकार करना प्रारंभ करते हैं। जब वे प्रथम बार शिकार करते हैं, तो दो-चार गांव के लोग इकट्ठे होते हैं और पूजा-बलिदान होता है। फिर वे नये आम खाकर जंगलों में शिकार के लिए जाते हैं। जो व्यक्ति सफलतापूर्वक कोई जानवर मारता है, वह राजा घोषित किया जाता है। लोग उसे माला पहनाते हैं तथा मरे जानवर को उसके

घर ले जाते हैं या जंगल के किसी झरने के पास लाते हैं। वहां जानवर के खून को पत्ते में रखकर पूर्वजों को अर्पित किया जाता है। इसके बाद जानवर के मांस को बराबर हिस्सों में बांटते हैं। उनके शिकार का प्रमुख हथियार धनुष-बाण है। वे बंदर का शिकार अधिक करते हैं। मछली मारने में भी वे बड़े कुशल होते हैं। मछली मारने के लिए वे अधिकतर जाल का ही प्रयोग करते हैं।

कुछ समय पहले तक वे कपड़े की जगह पत्ते पहनते थे। लेकिन अब उन के बीच भी धीरे-धीरे कपड़े का प्रचलन हो गया है और उनमें से अनेक पत्तों की जगह अब कपड़े पहनने लगे हैं।

जुवांग बहुत से कबीलों में बंटे हैं और इन कबीलों के नाम किसी जानवर, वृद्ध, पक्षी, फूल इत्यादि के नाम पर रखे हुए हैं। जिस जानवर या पत्ती के नाम पर उनके कबीले का नाम होता है, उसका वे आदर करते हैं तथा किसी भी हालत में उसे नहीं मारते हैं। अपने कबीले में वे शादी भी नहीं करते हैं। इनके गांवों में युवाघर भी होता है, जिसे वे अपनी भाषा में 'दरबार' या 'मंडाघर' कहते हैं। मंडाघर गांव के मध्य में होता है तथा गांव के अन्य झोंपड़ों से अधिक भव्य तथा बड़ा होता है। इसमें गांव के युवक सोते हैं। इसी घर के पास दूसरी झोंपड़ी होती हैं, जिसमें गांव की अविवाहित युवतियां सोती हैं इस घर को वे अपनी भाषा में 'धांधरीबासा' कहते हैं। ये युवक एवं युवती-गृह गांव के सामाजिक एवं आर्थिक कार्यों के केंद्र होते हैं। इस स्थान पर गांव के सभी नर-नारी, बाल-वृद्ध एकत्रित होते हैं तथा नृत्य, गान इत्यादि से अपना मनोरंजन करते हैं।

जुवांग के गांव की शासन-व्यवस्था दो नेताओं के हाथ में होती है। प्रत्येक गांव में एक 'डिहुरी' होता है, जो उनका पुरोहित होता है। दूसरा 'पाथान' होता है, जो गांव से कर वसूल करता है तथा गांव में शांति बनाये रखता है। सात से दस 'पाथान' के ऊपर एक 'सरदार' होता है जो गांव के झगड़ों का निपटारा करता है।

इनके देवताओं में एक सबसे बड़े देवता या 'महाप्रभु' हैं, जिसे वे 'धर्म देवता' मानते हैं। धर्म देवता का रूप वे सूरज देवता में देखते हैं। इनकी दूसरी देवी 'धरती माता' है, जिसे ये धर्म देवता की पत्नी मानते हैं। इन दो प्रमुख देवताओं के अलावा उनके कितने ही और देवता होते हैं, जैसे पहाड़ और नदी के देवता, गिरी देवता इत्यादि। ये दुर्गा, राम, लक्ष्मण, सीता इत्यादि की पूजा भी करते हैं। इनका प्रमुख पर्व 'माघ जतरा' है, जो इन्होंने मूंडया जाति से लिया है। इसके अलावा दशहरा, दिवाली भी मनाते हैं। वे भूत-प्रेत इत्यादि से बहुत डरते हैं और ऐसा मानते हैं कि मृत्यु, बीमारी इत्यादि के कारण भूत-प्रेत ही हैं।

वे सोलह से बीस वर्ष की उम्र में शादी करते हैं। शादी मुख्यतः इनके माता-पिता के द्वारा निश्चित की जाती है। शादी के समय नाच, गाना, खाना, पीना इत्यादि होता है। इन लोगों में शव को जलाने की प्रथा है।

जुलू जाति : बांटू भाषा-भाषी जुलू जनजाति प्रमुख रूप से नेटाल और जुलूलैंड (अफ्रीका) में पायी जाती है। इनकी संख्या 2,500,000 है। मूल रूप में यह जनजाति 500 विभिन्न कबीलों में संगठित थी, लेकिन प्रसिद्ध जुलू सरदार चाका (मृत्यु 1828) ने बलात् इन्हें एक जाति, एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर दिया। इनके प्रमुख व्यवसाय कृषि और पशुपालन हैं। सामाजिक संगठन की दृष्टि से यह जनजाति अन्य अफ्रीकी जनजातियों से भिन्न है। हर कबीले का एक सरदार होता है, जो शेष कबीले को आयु के अनुसार समूहों में विभाजित कर देता है। भूत-प्रेतों पर बहुत विश्वास होने के कारण यहां प्रत्येक परिवार में पूर्वज-पूजा की जाती है। यह पूजा परिवार के शेष सदस्यों की ओर से मुखिया करता है। यद्यपि अनेक जुलूओं ने अब ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है, फिर भी प्रेत-विद्या और काला जादू का अब भी वहां पर्याप्त प्रभाव है।

जैनिटिक ड्रिफ्ट (प्रतिचयन त्रुटि या युग्मविकल्पी बारंबारता का स्थानांतरण) : जैनिटिक ड्रिफ्ट अथवा प्रतिचयन त्रुटि को कभी-कभी 'सीवैल राइट इफेक्ट' भी कहा जाता है, जो प्रसिद्ध जनसंख्या-जीनविज्ञानी के नाम पर है, जिसने इस क्रिया का स्पष्ट वर्णन किया। यह शुद्ध सांख्यिकीय वस्तु है एवं जनसंख्या के परिणाम का एक गुण है।

प्रतिचयन त्रुटि, बड़ी जनसंख्याओं की युग्मविकल्पी बारंबारता को कभी-कभी प्रभावित करती है, किंतु यह छोटी जनसंख्या को प्रभावित करती थी एवं करती है। जब ड्रिफ्ट (अपवहन) कार्य करता है, तो जीन बारंबार-

ताओं में परिणामित स्थानांतरण किसी अनुकूलित मूल्य के कारण नहीं होता। जनसंख्या का कम होना अनिवार्य है। यदि जनसंख्या छोटी है तो प्रतिचयन त्रुटि महत्त्वपूर्ण होगी, यदि (क) अंतर्ग्रस्त युग्मविकल्प की बारंबारता निम्न हो (ख) जनसंख्या से लगातार विश्वसन हो (ग) उपयुक्त मात्रा में उर्वरता विभेदक हो।

छोटी जनसंख्याओं में ड्रिफ्ट का प्रभाव उन व्यक्तियों में एक क्रिया है, जो प्रजनन करते हैं यानी परिवार के आकार में परिवर्तनशील होते हैं। किसी भी छोटी जनसंख्या में परिवार का आकार जीन की बारंबारता को प्रभावित करता है।

विकास के दृष्टिकोण से किसी भी जनसंख्या में माता-पिता की यथार्थ संख्या एवं पुत्रों तथा पुत्रियों की संख्या, महत्त्वपूर्ण होती हैं। किसी भी जनसंख्या में, जिसमें यह दोनों विशेषताएं मालूम हों, तो हम प्रजनन क्रिया में रत जनसंख्या का प्रभावात्मक परिमाण निकाल सकते हैं :

$$Ne = \frac{4N-2}{Sk^2+2}$$

जहां Ne = प्रभावात्मक जनसंख्या परिमाण

N = माता एवं पिता की संख्या (एक पीढ़ी के प्रजनन व्यक्ति)

Sk^2 = प्रति परिवार शिशुओं की संख्या में प्रसरण।

जैनिटिक ड्रिफ्ट निम्नलिखित सूत्र द्वारा निकाला जा सकता है :— $\sqrt{\Delta q^2}$ = ——— जहां Ne = जनसंख्या का प्रभावी परिमाण।

q = उन युग्मविकल्पी की बारंबारता जिनके लिए ड्रिफ्ट ($\sqrt{\Delta q^2}$) निकाला गया है।

प्रतिचयन त्रुटि अथवा जैनिटिक ड्रिफ्ट एक परिकल्पना है। यदि युग्मविकल्पी बारंबारताओं पर इसका कोई अच्छा प्रभाव पड़ता है, तो इसे लंबे समय तक कार्य करना चाहिए।

उदाहरणतः, जहां संभवतः जैनिटिक ड्रिफ्ट हुआ है : (क) सिसली के गांवों के निवासी (ख) स्विस अल्पाइन जन समुदाय (ग) हिमद्वीप में रहनेवाले किसान परिवार (घ) भूतकाल में शिकारी एवं यहां-वहां घूमनेवाले छोटे जन समुदायों में ड्रिफ्ट संभवतः महत्त्वपूर्ण रहा होगा। (ङ) युग्मविकल्पी बारंबारताओं में परिवर्तन का सीधा पता लगाने के लिए आगे की पीढ़ियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। (च) पृथक्कृत जनसंख्याओं में कुछ स्पष्ट, विपक्षी जीन से ड्रिफ्ट के लिए भी प्रमाण है : उदाहरणतः, परफारिया एक उपापचय रोग है, जिसमें हीमोग्लोबिन परमाणु के एक आवश्यक भाव पारफीरिन का सूत्र में अधिक मात्रा में निषेचन होता है। इससे प्रभावित मनुष्य के चर्म पर बड़े छाले एवं गिल्टी उन भागों पर विकसित होते हैं, जो सूर्य के प्रकाश में खुले रहते हैं। यह अवस्था एक प्रभावी जीन द्वारा होती है एवं दक्षिण अफ्रीका की अफ्रीकानेर समुदाय में पायी जाती है। ये निवासी डच एवं फ्रांस से आये विस्थापितों के वंशज हैं।

पनामा के सान ब्लास इंडियंस में रंजकहीन युग्मविकल्पी की अधिक बारंबारता एक उदाहरण है एवं नीग्रो, श्वेत-अमरीकन-इंडियन मिश्रित पृथक्कृत जनसंख्या में रंजकहीन युग्मविकल्पी की अधिक बारंबारता दूसरा उदाहरण है।

टायलर, ई० बी० (1832–1917) : ब्रिटिश मानव-विज्ञानी। 1856 में इनकी भेंट प्रसिद्ध मानवजातिविज्ञानी हेनरी क्रिस्टी से हुई, जिनके साथ वे मेक्सिको और क्यूबा की वैज्ञानिक अनुसंधान संबंधी यात्रा पर चले गये। लौटकर उन्होंने 'मेक्सिको एंड द मेक्सिकन' पुस्तक प्रकाशित करवायी और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर काम किया। उन्होंने मानव-विकास संबंधी अपने दर्शन को 'सर्वात्मवाद' का नाम दिया। उनका ग्रंथ 'एंथ्र ोपालोजी' उस विषय पर लिखा सर्वश्रेष्ठ परिचयात्मक ग्रंथ माना जाता है। उनके अन्य ग्रंथ इस प्रकार हैं : 'रिसर्चस् इनटू द अर्ली हिस्ट्री आफ मैनकाइंड', 'प्रिमिटिव कल्चर'।

टारसीफार्मस : जीवित टारसीफार्मस में केवल एक वंश टारसियस होता है। टारसियस जीवित प्राइमेट हैं एवं वे केवल पूर्वी भारतीय आर्कपिलागो के द्वीपों में दक्षिणीय फिलीपाइन तथा पूर्व में सीलेबीज़ से पश्चिम में सुमात्रा तक पाये जाते हैं।

वर्गिकी :	गण	:	प्राइमेट
	उपगण	:	प्राज़िमी
	अधगण	:	टारसीफार्मस
	वंश	:	टारसियस

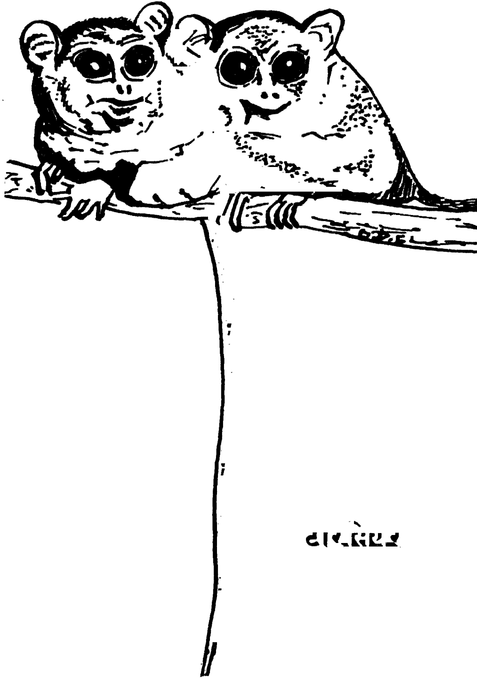
विशेषताएं : टारसियर अधिक छोटे प्राणी होते हैं

एवं उनकी बहुत लंबी पूंछ तथा बहुत लंबे पश्चपाद होते हैं। उनके अधिमात्र नेत्र होते हैं तथा लगभग ललाटिका में स्थित होते हैं (दे० चित्र)। उनका दंत-विन्यास आद्य-स्तनधारियों के समान विशेषताओं जैसा पाया जाता है। 2–1–3–3 यह दूसरे प्राजीमियन के प्रारूप नहीं है। दंतसूत्र

————————

1–1–3–3

दूसरे प्राजीमियन की अपेक्षा महारंध्र करोटि के आधार के सामने होता है।



टारसियर

पैर की टारसस अस्थि लंबी होती है। यही प्राणी के नामकरण का आधार माना जाता है। हाथों की विशेषता यह है कि अंगुलीपर्वी के छोर पर बड़े-बड़े पूर पाये जाते हैं। ये विशेष पूर चिपिट चिकने तल पर चढ़ने में सहायक सिद्ध होते हैं तथा उदग्र रखी कांच की दीवार पर चलने में भी सहायता करते हैं। पाद की द्वितीय एवं तृतीय अंगुलिपर्व में अत्यंत विशिष्ट नखराकार नख होते हैं।

अधिकतर प्राजीमियन में प्रत्येक पाद में केवल एक ग्रूमिंग नखर होता है, जबकि टारसियर में दो। टारसियर रात्रिचर और वृक्षवासी प्राणी हैं। टारसियर लगभग दिन भर एक उदग्र शाखा में लटकते हुए अच्छी नींद सोते हैं। संध्या को टारसियर जागते हैं और कदाचित मेंढक की तरह एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष में भोजन की खोज में उछलते-कूदते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि टारसियर मूल रूप से कीटाहारी होते हैं। टारसियर अपने बलिष्ठ निम्नपादों के विस्तार द्वारा कूदते हैं। पूंछ कूदने, बैठने एवं चलने में कुछ महत्त्वपूर्ण होती है। टारसियर सामान्यत: एक अर्ध-ऊर्ध्वशीर्षी अवस्था में बैठते हैं। शाखाओं एवं चिपिट तलों पर टारसियर चारों पादों द्वारा भी चलते हैं। इसका घ्राण-उपकरण बहुत छोटा होता है। दूसरे प्राजीमियन की अपेक्षा दृष्टि-उपकरण भीषण रूप से फैला हुआ होता है। टारसियर के नेत्र गोलक करोटि की अन्य संरचनाओं की तुलना में अधि मात्र होते हैं। अस्थिल नेत्र कोटर की पार्श्व दीवार लगभग पूर्ण होती है जैसी उच्च कोटि के प्राइमेटस में पायी जाती है। टारसियर में भी अपरा पतनिकामय होती है (अर्थात् जन्म के बाद बाहर आ जाता है)।

वर्गीकरण विज्ञान : टारसीफार्मस प्राजीमियन वंश-परंपरा के आद्य: जीवित प्रतिनिधि माने जाते हैं। इस वंश-परंपरा से एंथ्रापाइडिया अपसारित हो गये हैं। ऐसा निश्चय किया जाता है कि विशिष्ट नेत्र एवं अस्थिल नेत्र कोटर एक विशेषता थी। इसने टारसियर एवं एंथ्रापाइडिया के मध्य संबंध दर्शाया। फिर भी नेत्र कोटर की संरचना का विश्लेषण दिखाता है कि टारसियर वंश-परंपरीय संबंधी नहीं माने जा सकते। वे आदि-नूतन काल के जीवित अवशिष्ट हैं।

टुंगस प्रजाति : सोवियत संघ में इस प्रजाति का अन्य नाम 'इवेन्की' भी है। ये लोग मुख्यतया साइबेरिया के निवासी हैं। 1959 की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या 24,000 थी। टुंगस प्रजाति के मुख्य शारीरिक लक्षण इस प्रकार है: काले और लंबे बाल, श्वेत, पीत तथा भूरा वर्ण, उभरा हुआ जबड़ा, मध्यम कद, गठा हुआ जिस्म और लंबी आंखें। इनका प्रमुख व्यवसाय अश्व या रेंडियर-पालन है। ये अधिकतर खानाबदोश

जिंदगी व्यतीत करते हैं और विभिन्न कबीलों में बंटे हुए हैं। ऋतुओं के अनुरूप ये अपना निवास-स्थान बदलते रहते हैं तथा धार्मिक विचारधारा की दृष्टि से सर्वात्मवादी हैं। साइबेरिया के औद्योगिक विकास के साथ-साथ इनकी जीवन-पद्धति में भी परिवर्तन आता चला गया है।

टुपाई फार्मस (वृक्ष छछूंदर) : टुपाई फार्मस (वृक्ष छछूंदर, दे० चित्र) अत्यधिक आद्य-जीवित नरवानर हैं। वे कीटाहारी स्कंध के साथ एक संबंध का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे अपने नुकीले प्रोथो के कारण कदाचित एक स्तनधारी आकृति दर्शाते हैं। वे अत्यंत छोटे, क्रियाशील तथा दीर्घपंख समान पूंछवाले प्राणी हैं। वे बहुत कुछ छोटी गिलहरी के समान दिखते हैं।



वृक्ष छछूंदर (टुपाई फार्मस)

वितरण : पांच वंश एवं 12 जातियों के साथ टुपाई फार्मस समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया में पाये जाते हैं। वृक्ष छछूंदर चीन, बर्मा, इंडोचीन, थाइलैंड, मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, फिलीपाइन, सिक्किम, भारत (समस्त बंगाल की खाड़ी के आस-पास एवं निकोबार द्वीपों में) पाये जाते हैं। 'डेंड्रोगेल' कंबोडिया, अन्नाम, कोचीन चाइना, हिंदचीन और फिलीपाइन्स में पाया जाता है। यूरोगेल टुपाई फार्मस वनों एवं झाड़ीदार प्रदेशों में निवास करते हैं। कुछ प्रकार, जैसे टुपाइया-माइनर वृक्षों की ऊंचाई पर रहते हैं। वे स्वभाव में नीची झाड़ियों में रहनेवाले अन्य प्राणियों जैसे हैं। टुपाइया-गिलिस के बारे में विश्वास किया जाता है कि वह भूमि पर अथवा भूमि के आस-पास रहता है तथा सामान्यतः छोटी झाड़ियों में चढ़ता है।

वर्गीकरण : सिंपसन (1945) के अनुसार वृक्ष-छछूंदर टुपाइया के एक महाकुल में आता है और उपगण 'प्राजिमी' के अंतर्गत तथा अधःगण लीमरी फार्मस के अंतर्गत आता है।

वर्गीकरण :

उपगण	:	प्राजिमी।
अधःगण	:	लीमरी फार्मस।
महाकुल	:	टुपाइआइडिया।
कुल	:	टुपाइडी।
उपकुल	:	टुपाइनी टीलोसर सीनी

विशेषताएं : (क) 1879 में डोरान ने देखा कि टुपाई फार्मस के मध्य कान की अस्थिवत आकृतियां कीटाहारियों से भिन्न हैं और नरवानरों से निकट रूप से सादृश्य रखती हैं। मध्य कान की विघाति अस्थि, वानरों एवं लीमर के बीच, अधिक समान दिखायी पड़ती है।

(ख) मांसपेशियों और करोटि की तुलनात्मक शरीर-रचना टुपाइया एवं कीलोसर्कस के मस्तिष्क की सूक्ष्मदर्शी शरीर-रचना इन सुझावों का समर्थन करती है कि टुपाई फार्मस में नरवानरों के साथ अधिक बंधुताएं पायी जाती हैं।

(ग) मस्तिष्क और नेत्र के भीतर के दृष्टिकेंद्र, नरवानरों के समान, अधिक मात्रा में विभिन्न पाये जाते हैं। घ्राण उपकरण आद्य के कीटाहारियों की अपेक्षा छोटे होते हैं। दंतविन्यास नरवानरों के समान होता है। अंगूठा एवं पादांगुष्ठ अत्यंत लचीला होता है। अपरा शोष-गर्भ-वेष्ट प्रकार का होता है।

(घ) लीमरीफार्मस के संपूर्ण आकृतिक प्रतिरूप उदाहरणतः अस्थिल के तत्व, जो नेत्र कोटर की आंतरिक भित्ति का निर्माण करते हैं, बहुत समान रूपाकार के होते हैं। श्रवणकोष्ठ भी लीमरीफामर्स के साथ बंधुता प्रदर्शित करता है। इस आकृतिक प्रकारों की समानता का दूसरा उदाहरण दृष्टि उपकरण है। रेटिना के मध्य-क्षेत्र में रुधिर-वाहिनियां नहीं होती, जैसी लीमर में पायी जाती हैं।

(ङ) दंत-विन्यास आद्य प्रकार का है। दंतसूत्र 2–1–3–3 है।
———
3–1–3–3

(च) इन प्राणियों के हाथ और पैर नर-वानरों के समान होते हैं। अत्यधिक गतिमान अंगूठा एवं पादांगुष्ठ होते हैं और सर्वत्र पृथक् होते हैं। टुपाई फार्मस में उंगलियों में नख की अपेक्षा तीक्ष्ण नखर होते हैं।

(छ) ये प्राणी सामान्य रूप से दिवाचर होते हैं। टीलोसर्कस कदाचित रात्रिचर होता है।

(ज) वृक्ष-छछूंदर अपने निम्नकृंतक द्वारा सूक्ष्म रोमों को, विशेष रूप से पूंछ को, खरखराते हैं—जो लीमर और लारिस का एक विशेषक है।

टैबू (निषेध) : गोत्र-चिह्नों में विश्वास अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। गोत्र-चिह्नोंवाली वस्तुओं या जीवों को नष्ट करने अथवा खाने का निषेध है। संसार में सभी गोत्र-चिह्नवाली जनजातियां अपने गोत्र से संबंधित वस्तुओं या जीवों की रक्षा करती हैं। उदाहरण के लिए, छोटा नागपुर की खड़िया जाति में 8 गोत्र-चिह्नों से संबंधित गोत्र हैं। इनमें से 5 पशु एवं पक्षियों के नाम पर हैं। पालीनेशिया की आदिवासी जातियों में गोत्र-चिह्नों के विश्वास के अधिकांश लक्षण पाये जाते हैं। इस प्रकार के टोटम-वध निषेध को 'टैबू' या 'टाबू' कहते हैं।

सिगमंड फ्रायड का विचार है कि 'टोटम' और 'टैबू' में कार्य-कारण संबंध हैं। मजूमदार ने टैबू या निषेध के तीन मुख्य कारण बताये है : रक्षा के लिए, उत्पादन के लिए और रोकथाम के लिए।

पहले प्रकार के निषेध मुख्यतः व्यक्ति-संबंधी होते हैं, दूसरे प्रकार के निषेध उत्पादन बढ़ाने के लिए या उपज की रक्षा के लिए होते हैं और तीसरे प्रकार के निषेध के अंतर्गत वे सभी प्रथाएं आ जाती हैं, जिनका उद्देश्य किसी विशेष आपदा या विपत्ति की रोकथाम करना होता है।

अधिकांश आदिम और आदिम ग्राम्य-रिवाजों में टैबू को नकारात्मक नियमों और अधिनियमों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। टैबू का अलौकिक शक्तियों के साथ संबंध माना जाता है एवं इसका उल्लंघन दैवी या दानवी शक्तियों को अप्रसन्न करना समझा जाता है जिसका फल अभियुक्त को दैवी प्रकोप के रूप में भोगना पड़ता है।

टोकरियों का बुनना : भारत की आदिम जातियां खेती के अलावा दस्तकारी के काम भी सहायक जीविकोपार्जन के रूप में अपनाये हुए हैं, जैसे बुनाई-कताई, टोकरियां बुनना इत्यादि। भारत की थारू, इरूला तथा त्रिपुरा की जनजातियां टोकरियां बनाने की कला को अपने जीविकोपार्जन का मुख्य साधन बनाये हुए हैं। टोकरियां बुनकर वे पास के बाजारों में बेचते हैं तथा इससे प्राप्त रकम से वे अपनी जरूरत की अन्य चीज़ें खरीदते हैं।

टोकरियां छोटी-बड़ी—हर तरह की बनाने के अलावा हर आकार-प्रकार की बनायी जाती हैं। जैसे खासी और त्रिपुरा की जनजातियां इसे नीचे से पतला तथा नुकीला तथा ऊपर चौड़ा इसलिए बनाती हैं, ताकि उसे पीठ पर या माथे पर टोकरी से लगे पट्टे (एक मोटा कपड़ा) के सहारे आसानी से पकड़ा जा सके। यह लंबा या ऊंचा ही नहीं होता, बल्कि इसमें सामान भी काफी आ जाता है। इसी प्रकार माथे पर सीधे रखकर ढोने की टोकरियां कम ऊंची या लंबी होती हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि टोकरियां प्रकार तथा आकार में क्षेत्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनायी जाती हैं। परंतु उन पर कलाकारी, बुनाई के तरीके, तथा रंगाई वगैरह को देखकर हम किसी भी जनजाति की कला के प्रति भावना कला के स्तर तथा उनके विकास को आसानी से समझ सकते हैं।

टोपीनार्ड, पॉल (1830–1911): फ्रैंच मानवविज्ञानी। अपने शैशवकाल में ही उन्हें भारत और अमरीका की यात्राएं करने का अवसर मिल गया। प्रारंभ से ही उन्होंने चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया था, लेकिन ब्रोका के संपर्क में आने के बाद वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि चिकित्साविज्ञान का अध्ययन छोड़कर मानवविज्ञान के अध्ययन में जुट गये। उनकी विशिष्ट रुचि का क्षेत्र मानवमिति तथा फ्रांस की जनसंख्या का अध्ययन करना था। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं : 'ल एंथ्रोपालोजी', 'एलीमेंट्स द एंथ्रोपालोजी जेनरेले' और 'ल होमे दांस ला नेच्योर'।

ट्रांसफैरिन्स : ट्रांसफैरिन्स सीरम के β-ग्लोबुलिन खंड के भाग हैं। ट्रांसफैरिन्स अथवा साइडरोफिलिन सीरम का लौह-बंधित प्रोटीन घटक है। यह रेडियो सक्रिय Fe^{59} द्वारा दर्शाया जा सकता है। फैरिक आयन्स इन प्रोटीनों के द्वारा अस्थि मज्जा एवं अन्य ऊतकों की ओर ले जाये जाते हैं। अनेक जीव-संबंधी क्रिया में लौह के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

जिस सीरम का परीक्षण करना हो, उसके साथ यदि

थोड़ी-सी मात्रा में रेडियो सक्रिय (विघट नाभिक) लौह (Fe^{59}) मिला दिया जाये, तो ट्रांसफैरिन्स पहचाने जा सकते हैं। ट्रांसफैरिन लौह के साथ योग करता है। ट्रांसफैरिन पर यह रेडियो सक्रिय छाप, उसे सीरम में अन्य दूसरे प्रोटीनों से अलग करती है। वैद्युत कण-संचलन के पश्चात्, एक्स-रे (X-रे) फिल्म के एक टुकड़े पर स्टार्च-जल रखा जाता है। 24 घंटे एकाअनावरण एक स्थान पर फिल्म पर एक गहरी पट्टी को बनाता है, जिसे ट्रांस-फैरिन-रेडियो सक्रिय लौह-यौगिक गतिमान कर चुका होता है। स्मीथीज़ (1957) ने मानव के सीरम में β-ग्लोबुलिन घटक के क्षीण प्रवसन का वर्णन किया एवं उसे β-ग्लोबुलिन-डी का नाम दिया। यह सामान्य β-ग्लोबुलिन के साथ पाया जाता है। स्मीथीज़ (1957) ने द्रुतगामी β-ग्लोबुलिन परिवर्त β-ग्लोबुलिन-बी का अवलोकन किया। हार्सफाल एवं स्मीथीज़ (1958) एवं स्मीथीज़ तथा हिलर (1959) ने बतलाया कि β-ग्लोबुलीन्स बी० सी० और डी०, जीनविज्ञान के अनुसार, तीन अलिंगसूत्री युग्मविकल्पी द्वारा नियंत्रित है। साधारण ट्रांसफैरिन सी० की अपेक्षा अधिक क्षीण गतिवाले चार विभिन्न ट्रांसफैरिन घटक (डी ओ, डी$_1$ डी$_2$ एवं डी$_3$) होते हैं। ट्रांसफैरिन सी० की अपेक्षा अधिक तीव्रगामी विभिन्न घटक (β_0, β_1 और β_2) सोते हैं। ट्रांसफैरिन के लगभग 13 प्रकारों का वर्णन किया जा चुका है। लीक्स के लिए Tf संकेत का सुझाव दिया जा चुका है। युग्मविकल्पी की TfB, TfC और TfD दिया गया तथा साथ में TfB एवं TfD के विभिन्न परिवर्तनों को भी।

मनुष्य एवं उसके नरवानरों के संबंधियों में ट्रांसफैरिन बहुरूपता का अध्ययन किया गया है।

ट्रांसफैरिन के बड़े अणु होते हैं, उनका अणु-भार लगभग 90,000 होता है। वे स्यालिक अम्ल-समूह के साथ जुड़े हुए प्रोटीन होते हैं।

हैप्टोग्लोबिन की अपेक्षा ट्रांसफैरिन के वितरण के बारे में सूचनाएं कम हैं। ट्रांसफैरिन परिवर्त TfD जो TfC की अपेक्षा कम गतिशील हैं, यूरोपीयन में अनुपस्थित होता है। दूसरी ओर अफ्रीका महाद्वीप में कम गतिशील ट्रांसफैरिन परिवर्त TfD (17) में उच्च बारंबारता पायी जाती है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में TfD जीन की उच्चतम बारंबारता पायी जाती है (स्मीथीज़, हार्सफाल 1957-58)। भारत में, ओराउन में 7 प्रतिशत TfD परिवर्त पाये जाने की सूचना है (किर्क एवं लाई 1961)। TfD —भारतीय जनसमूह में निम्न बारंबारता में पाया जाता है।

डारविन, चार्ल्स राबर्ट (1809-1882) : ब्रिटिश प्रकृतिवादी डारविन का जन्म श्यूबरी, इंग्लैंड में हुआ था। इनका नाम मुख्यतया विकासवाद के सिद्धांत से जोड़ा जाता है। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में उद्भव प्रक्रिया द्वारा स्पीशीज़ में परिवर्तन होने के सिलसिले में काफी अटकलें लगायी जा रही थीं। लेकिन कोई ठोस परिणाम अभी तक नहीं निकल सका था। चार्ल्स डारविन ने स्पीशीज़ के विकास की समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए उससे संबंधित विशाल सामग्री इकट्ठी की। परिणामस्वरूप वे तर्कसंगत विश्लेषण के माध्यम से विश्व के समक्ष अपने प्राकृतिक वरण के सिद्धांत द्वारा जैविक विकास की प्रक्रिया का मूल रूप रख सकने में समर्थ हो सके। हालांकि आगे चलकर मेंडेल ने आनुवंशिकता के अध्ययन से डारविन के सिद्धांतों की दुबारा व्याख्या की, लेकिन गवेषणा-पद्धति उनकी भी वही थी। वैसे भी डारविन को आभास था, जैसा उन्होंने अपने ग्रंथों में इस ओर इशारा भी किया है कि कालांतर में उनके सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या अवश्य होगी।

चार्ल्स अपने पिता राबर्ट डारविन के पांचवें पुत्र थे। उनके पिता नगर के एक प्रतिष्ठित डाक्टर थे। उनके दादा डा० एरेस्मस डारविन भी अपने समय के प्रसिद्ध प्रकृति-वैज्ञानिक थे। जब वे आठ वर्ष के थे, उनकी माता का देहांत हो गया। माता के देहांत के पश्चात् उनकी देख-रेख उनकी तीन बड़ी बहिनों ने ही की। यहीं वे अपनी चचेरी बहन एम्मा के संपर्क में आये, जो आगे चलकर उनकी पत्नी भी बनीं। 43 वर्ष के वैवाहिक जीवन में एम्मा बहुत लगन से अपने पति का साथ देती रहीं।

जब चार्ल्स 9 वर्ष के थे, उन्हें डा० बटलर के ग्रामर स्कूल में भेजा गया, जहां वे 7 वर्ष तक रहे। यहां शिक्षा प्राप्त करने के अनुभव के बारे में उन्होंने लिखा है : "मेरे मस्तिष्क के विकास में डा० बटलर के स्कूल ने बहुत बाधा पहुंचायी। यहां क्लासिकों के अध्ययन के अलावा कुछ पढ़ाया भी जाता था तो सिर्फ प्राचीन भूगोल और इतिहास।

शिक्षा के माध्यम के तौर पर यह स्कूल मेरे लिए बिल्कुल बेमानी था।" यहां रहकर चार्ल्स ने शेक्सपीयर, बायरन, स्काट और टामसन को खूब पढ़ा। डा० बटलर का दृष्टिकोण विज्ञान के प्रति इस कदर रूखा था कि जब उन्हें यह पता चला कि चार्ल्स और उनके भाई ने अपने पिता के उद्यान में कुछ रासायनिक प्रयोग किये हैं, तो उन्होंने सार्वजनिक रूप से दोनों भाइयों की भर्त्सना की और कहा कि वे अपना अमूल्य समय नष्ट न किया करें।

16 वर्ष की आयु में चार्ल्स को एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में इस उम्मीद से भेजा गया कि वे चिकित्सा-व्यवसाय को संजीदगी से अपना लेंगे, लेकिन चिकित्सा-विज्ञान का पाठ्यक्रम भी उन्हें डा० बटलर के स्कूल की शिक्षा की भांति उबा देनेवाला लगा। अस्पताल में यातना से तड़पते रोगियों को देख-देखकर वे और भी विरक्त हो गये। इसीलिए उन्होंने शल्य-चिकित्सा नहीं सीखी (हालांकि आगे चलकर उन्हें इस कला की कमी महसूस भी हुई)। चिकित्सा-विज्ञान का छात्र होने के बावजूद वे प्राकृतिक इतिहास के अध्ययन में डूबे रहते। वे प्रत्येक व्यक्ति से समसामयिक वैज्ञानिक सिद्धांतों पर चर्चा करते रहते। उन्होंने अपना पहला मौलिक अध्ययन 1826 में पिलनियन सोसायटी के समक्ष प्रस्तुत किया।

चिकित्सा-व्यवसाय में उनकी रुचि न देखकर उनके पिता ने उन्हें क्राइस्ट कालेज, कैंब्रिज में डिग्री लेने के लिए भेज दिया। यहां एक बार फिर उन्हें क्लासिकों का अध्ययन करना पड़ा। अपने पाठ्यक्रम में रुचि न होने के कारण उन्होंने शिकार में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी तथा साथ ही पतंगों का संग्रह करना शुरू कर दिया और इसी संबंध में कुछ लेख भी लिखे। कैंब्रिज में उनके अनेक मित्र बने, जिनकी मित्रता कालांतर में उनके बहुत काम आयी। इन मित्रों में प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री प्रो० हैंसलो भी थे, जिन्होंने बाद में डारविन को 'बीगल' अभियान के लिए प्रेरित किया। अकादमिक शिक्षा में डारविन की दिलचस्पी तो थी नहीं, बस, किसी तरह 1831 में उन्होंने डिग्री प्राप्त कर ली।

1831 में डारविन ने प्रकृतिवादी वैज्ञानिक के तौर पर अपनी गवेषणाएं आरंभ की। इस सिलसिले में उनका पहला और अंतिम अभियान 'बीगल' नामक जलपोत में 1831 में शुरू हुआ, जो 1836 तक चला। बीमारी के कारण वे इंग्लैंड से बाहर और अधिक यात्राएं नहीं कर सके। उनके जीवन का शेष भाग 'डाउन' नामक स्थान में कटा, जहां वे जीवन पर्यंत वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन में अपने सिद्धांतों की सत्यता की परीक्षा करते रहे।

विकासवाद के सिद्धांतों के बारे में अपना पहला सार्वजनिक वक्तव्य उन्होंने 1858 में दिया था। 1859 में उनका युगप्रवर्तक ग्रंथ 'ओरिजिन आफ स्पीशीज़' प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में प्रतिपादित सिद्धांतों ने जीवविज्ञान, मनोविज्ञान और अन्य सामाजिकविज्ञानों को इस कदर प्रभावित किया कि ग्रंथ प्रकाशित होने के 50 साल बाद तक के समय का नामकरण ही 'डारविन युग' किया जा सकता है। इतने क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के बावजूद वे अधिकतर प्रयोगशाला में ही व्यस्त रहते थे, इसलिए उनके पास इतना समय कभी भी नहीं था कि विरोधियों की आपत्तियों का वे जबाव दे सकते। इस आलोचना-प्रत्यालोचना युद्ध में उनकी तरफ से भाग लिया—हक्सले, स्पेंसर और हैकल ने। उनके सिद्धांतों के परिणाम इतने दूरगामी थे कि सभी मानविकी शास्त्रों में वैचारिक क्रांति की लहर दौड़ गयी। उनकी इस स्थापना ने कि मानव पूरी तरह से जीव-जगत का ही एक अंग है, दैवी सृजनवाद के सिद्धांतों को उथल-पुथल कर दिया, मनुष्य के अद्वितीय आध्यात्मिक अस्तित्व को खतरे में डाल दिया और इसी तरह अन्य अंधविश्वासों, धर्मशास्त्र के सिद्धांतों और विगलित आध्यात्मिकता पर कुठाराघात-सा कर दिया। संक्षेप में, डारविन के प्रकृतिवाद और जैविक निरंतरता के सिद्धांतों का परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवाद के सिद्धांतों की उत्पत्ति, प्रकृति और विकास तथा धार्मिक विश्वास व अनुष्ठानों के विषय में संदेह के अनेक बीज बो दिये गये। दार्शनिक शब्दावली में उनकी गवेषणाओं को 'प्रकृत मानवतावाद' का नाम दिया गया।

डारविन के अनुसार प्राणी जगत के विकास के प्रमुख अंग हैं: उत्परिवर्तन, वरण (कृत्रिम परिस्थितियों में कृत्रिम तथा प्राकृतिक परिस्थितियों में प्राकृतिक) और आनुवंशिकता। बाह्य परिस्थितियों के खिलाफ संघर्ष में जीव-जगत के वही प्राणी अस्तित्व बनाये रख सकते हैं, जिनमें आवश्यक योग्यता भी हो। इस प्रक्रिया में निर्बल

प्राणियों का स्वतः नाश हो जाता है। डारविन के अनुसार, प्रकृति उन प्राणियों का ही वरण करती है, जो कठिन से कठिन परिस्थिति में भी जीवित रहने की शक्ति रखते हों। वे ही प्राणी जीवित भी रहते हैं और पुनः सृष्टि करके सृष्टि के क्रम का विकास भी करते हैं। प्राकृतिक वरण की प्रक्रिया के कारण जीव बाहरी वातावरण के अनुसार अपने-आपको ढालने का प्रयास करते रहते हैं तथा इस प्रकार उनके रूप-गुण का भी विकास होता चला जाता है। जैविक स्पीशीज़ कैसे बढ़ते हैं, उनके रूप-गुण में विकास कैसे होता चला जाता है—इन बातों की वैज्ञानिक व्याख्या सबसे पहले डारविन के विकासवादी सिद्धांत ने की, और कालांतर में यही सिद्धांत आधुनिक जीव-विज्ञान का आधार भी बना।

डारविन के विकासवादी सिद्धांत ने 19वीं और 20वीं शताब्दी की दार्शनिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक विचारधाराओं को बहुत प्रभावित किया और यह स्वाभाविक भी था। एक ओर वैज्ञानिक भौतिकवाद के द्वंद्वात्मक नियम की व्याख्या में कार्ल मार्क्स डारविन की क्रांतिकारी खोजों से प्रभावित रहे हैं तथा दूसरी ओर नार्डिकवाद और आर्यवाद जैसी नस्लवादी विचारधाराओं को भी प्राकृतिक वरण के सिद्धांत ने ही आधार प्रदान किये।

डैनिकर का प्रजातीय वर्गीकरण : 1889 में डैनिकर ने एक मानव-प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। केश को एक प्रमुख प्रभेदक लक्षण माना। वर्गीकरण में 29 प्रजातियां 6 समूहों में विभाजित हैं। यद्यपि इस वर्गीकरण की योग्यता विवादास्पद है, तथापि यह प्रतिष्ठित एवं अत्यधिक उपयोग में लाये गये वर्गीकरणों में से एक है।

1. ऊनी केश, चौड़ी नासा :

गहरी तिमिर त्वचा :

पीली त्वचा, 'स्टीटोपाइगस', छोटा कद, दीर्घकपाली ———बुशमैन लाल भूरा, अत्यधिक छोटा पद, उपपृथुकपाली अथवा उपदीर्घ कपाली———नीग्रीटो, नीग्रीटो काला, ऊंचा कद, दीर्घकपाली———नीग्रो-बांटू भूरा काला, मध्यम कद, दीर्घकपाली———मैलानीशियन-पापूआन

2. घुंघराले अथवा तरंगित केश :

गहरी तिमिर त्वचा :

लाल भूरा, संकीर्ण नासा, ऊंचा कद, दीर्घकपाली ———इथोपियन चाकलेट-भूरा, चौड़ी नासा, मध्यम कद, दीर्घकपाली———आस्ट्रेलियन भूरा काला, चौड़ी अथवा संकीर्ण नासा, छोटा कद, दीर्घकपाली——— द्रावीडियन

अवरक्तपीत श्वेत त्वचा, मोटे छोरवाली तोते जैसी नासा, पृथुकपालिक———एसीराइड

3. तरंगित बभ्रु अथवा काले केश, तिमिर नेत्र :

स्पष्ट रूप से बभ्रु त्वचा, काले केश, संकीर्ण, सीधी अथवा उत्तल नासा, ऊंचा कद, दीर्घकपाली———इंडो-अफगान अवरक्तपीत, श्वेत त्वचा, काले केश, ऊंचा कद, लंबा आनन।

शुक नासा, विशिष्ट पश्चकपाल, दीर्घकपाली ऊनेंद्रिय आकार का आनन———अरब अथवा सीमाइट सीधी स्थूल नासा, दीर्घकपाली, चौकोर आनन———बेरबेर छोटा कद, दीर्घकपाली———आइबरो, इंसुलर

नव्य श्वेत त्वचा, बभ्रु केश छोटा कद, अत्यधिक दीर्घकपाली, गोल आनन———पश्चिमी यूरोपियन ऊंचा कद, दीर्घकपाली, दीर्घित आनन———एडरियाटिक

4. पर्याप्त तरंगित अथवा सीधे केश, प्रकाशमय नेत्र, : लाल बभ्रु त्वचा :

केश कुछ तरंगित, लाल, ऊंचा कद, दीर्घकपाली ———उत्तर यूरोपियन केश कदाचित सीधे, स्वर्णिम केश, छोटा कद उप0 दीर्घकपाली———पूर्व यूरोपियन

5. सीधे अथवा तरंगित केश, तिमिर नेत्र :

हल्की भूरी त्वचा, शरीर पर अधिक रोम, चौड़ी एवं अवतल नासा, दीर्घकपाली———आइनू पीत त्वचा, चिकना शरीर, ऊंचा कद, विशिष्ट नासा, कभी-कभी उत्तल, ऊनेंद्रिय आकार के आनन, दीर्घ अथवा मध्य कपाली———पालीनीशियन छोटा कद, चिपिट नासा, कभी-कभी अवतल बाहर की ओर निकली हुई गंडास्थि, दीर्घ अथवा मध्यम कपाली ———इंडोनीशियन

6. सीधे केश

विशिष्ट सीधी अथवा अवतल नासा, मध्यम अथवा दीर्घकपाली———दक्षिण अमेरिकन

पीत त्वचा:

सीधी एवं पतीली नासा, मध्यम कपाली———उत्तर अमेरिकन लघु पृथुकपाली———मध्य अमेरिकन सीधी नासा, पृथुकपाली, चौकोर आनन———पैंटागोनियन भूरी-पीली त्वचा, गोल चिपिट आनन, दीर्घकपाली ———एस्किमो

पीली श्वेत त्वचा:

घूमी हुई नासा, पृथुकपाली———लैप सीधा अथवा अवतल नासा, मध्यम अथवा दीर्घकपाली बाहर की ओर निकली हुई गंडास्थि———उगेरियन सीधी नासा, पृथुकपाली———तुर्की पांडुर पीत त्वचा, बर्हिवृत, गंडास्थि, मंगोलीय वलन, किंचित रूप से पृथुकपाली ———मंगोल

डैनिकर, जोसेफ़ (1852-1918) : फ्रेंच भौतिक-मानव विज्ञानी और मानवजातिविज्ञानी। डैनिकर का जन्म अस्त्राखान में हुआ था, लेकिन शुरू से ही भ्रमणकारी प्रवृत्ति के कारण वे क्रीमिया, ट्रांसकाकेशिया तथा पर्शिया होते हुए पेरिस में आकर बस गये। पेरिस में आकर उन्होंने प्राकृतिक इतिहास के संग्रहालय में काम किया। 1888 में संग्रहालय के लाइब्रेरियन बन जाने के पश्चात् वे पूरी तरह मानवविज्ञान तथा मानवजातिविज्ञान के अध्ययन में जुट गये।

उनका सबसे प्रमुख कार्य है—मानवजाति का प्रजातीय अधारों पर वर्गीकरण। इस वर्गीकरण में उन्होंने विभिन्न मानव-वर्गों की शरीररचनावैज्ञानिक, शरीरवैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक विशिष्टताओं को ही अपने शोधकार्य का आधार बनाया है। डैनिकर के प्रजातीय वर्गीकरण (दे०) को मानवविज्ञानी अपरिपक्व मानते हुए भी उसके कार्य की महत्ता को अवश्य स्वीकार करते हैं। इस प्रजातीय वर्गीकरण के अंतर्गत उन्होंने 29 प्रजातियों पर विचार-विमर्श किया है और उन्हें 17 विभिन्न वर्गों में बांटा है। डैनिकर ने नरवानरों की शरीररचना पर भी महत्वपूर्ण कार्य किया है।

ड्रायोपिथिक्स : निम्न-मध्य नूतन युग में लगभग 1 करोड़ 90 लाख वर्ष पहले भीमकाय कपियों का एक प्राचीन लोक-उपकुल हुआ करता था, जिसे ड्रायोपिथिक्स समूह कहा जाता था। इनमें से अत्यधिक आद्य अफ्रीका में पाये जाते थे। ड्रायोपिथिक्स कपि के अनेक अधोहनु एवं दांत सर्वप्रथम यूरोप में उच्च-मध्य नूतन एवं अतिनूतन निक्षेपों में पाये गये। अवशेषों में अधिकतर हनु एवं दांत हैं। ड्रायोपिथिक्स प्रकार की प्रथम खोज 1856 (मध्य-नूतन काल का मध्य भाग) में लारटैट ने हांट गैरान फ्रांस में (ड्रायोपिथिक्स फांटैनों) की। यह माना जाता है कि इस जीवाश्म की नर-वानरों में गोरिल्ला से अधिक समानता है। लीनेनिया के उच्च-मध्य नूतन युग के ड्रायोपिथिक्स लीनेनस-वनमानुष के अधिक निकट-तम संबंधी लगते हैं। उच्च-मध्य नूतन युग के स्लोवेकिया में पाये गये तीन विलगित दांतों ने ड्रायोपिथिक्स डारवीनी-स्पीशी के निर्माण हेतु आधार की स्थापना की।

ड्रायोपिथिक्स विभेदों का उपयुक्त एवं प्रभावशाली अपव्यूहन सिवालिक पर्वतमालाओं (उत्तरी भारत में हिमालय के नीचे) से निकाले गये निक्षेपों से किया गया। सिवालिक पर्वतमालाओं के जीवाश्म वानर (ऐप्स) मध्य-नूतन युग के उच्चतम काल से लेकर मध्य-अतिनूतन-काल तक के हैं। इस कुल के समस्त प्राणियों के निम्न मोलर दांत मौलिक रूप से ड्रायोपिथिक्स प्रतिरूप होते हैं अर्थात् तीन बाहरी दंताग्र एवं दो भीतरी दंताग्र के साथ। बाहरी दंताग्र का मध्य भाग अपने पड़ोसियों से खांचों द्वारा पृथक् होता है जो अक्षर के का निर्माण करते हैं। का निचला एवं उदग्र भाग दो भीतरी दंताग्रों को एक-दूसरे से अलग करता है। ग्रेगरी इसे y-5 प्रतिरूप कहता है; क्योंकि यह प्रतिरूप और इसके व्युत्पन्न, जीवाश्म एवं आधुनिक मानव में पाये जाते हैं। ग्रेगरी एवं अन्य विद्वानों का विश्वास है कि आज के मानवाकार वानर एवं मनुष्य इन ड्रायोपिथिसिड्स में सामान्य पूर्वज थे। यथार्थ में दंतरूपी सादृश्य के अन्य बिंदु भी हैं, किंतु निम्न मोलार दांत की प्रतिरूपता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ड्रायोपिथिक्स कुल के प्रत्येक नर में रदनक उद्दंत-समान होते हैं, किंतु मादा में अपेक्षाकृत अधिक मोटे होते हैं।

विभिन्न भू-वैज्ञानिक कालों के ड्रायोपिथिक्स दांतों के उत्तरोत्तर विभेद, आदि से वर्तमान काल के भीमकाय वानर तक, अनेक विकासीय प्रवृत्तियों की खोज में सहायता देते हैं।

एक विभेद कम से कम ओरांगउटान तक ले जाता है।

दूसरे विभेद गोरिल्ला की दिशा में उद्विकास करते हैं तथा अन्य गोरिल्ला के दंतविन्यास और वनमानुष के दंत-विन्यास से बंधुताएं दर्शाते हैं। दांतों का अवलोकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान गोरिल्ला की अपेक्षा ये अधिक बड़े होते होंगे। ग्रेगरी, हैलमन एवं लेविस के अनुसार ये ड्रायोपिथिकस वानर स्पष्टतः विकास के अधः मानव वर्ग पर थे।

तस्मानियन : तस्मानियन अब अप्रवृत्त हैं और हैडन के अनुसार वे सामान्य नीग्रोटो, पापुआन प्रजाति समूह के समान हैं। बहुत समय पूर्व इस प्रजाति समूह ने आस्ट्रेलिया को पार किया और बास स्ट्रैट के निर्माण द्वारा तस्मानिया में अलग हो गये थे। ऐसा कहा जाता है कि वे पापुआन अथवा आस्ट्रेलियन की अपेक्षा प्रकार में अधिक एक-रूप हैं। हूटन के अनुसार तस्मानियन एक मिश्रित प्रजाति है (नीग्रोटो एवं आस्ट्रेलियन) और प्रधानतः नीग्रोकल्प हैं।

आकृति लक्षण :

(1)	त्वचा वर्ण	काला अथवा काला बभ्रु
(2)	केश रूप	ऊन से लच्छेदार (फ्रिज़ली), कभी-कभी पेपर कार्न
(3)	केश वर्ण	काला
(4)	दैहिक उच्चता	तस्मानियन मध्यम ऊंचाई के होते हैं। पुरुष का औसत कद 166.1 से० मी०। स्त्री का औसत कद 150.3 से० मी०।
(5)	शरीर निर्माण	पूर्ण विकसित पेशीय, प्रमुख नितंब एवं उदर, तनु भुजाएं।
(6)	दाढ़ी एवं शरीर रोम की मात्रा	मध्यम से प्रचुर तक।
(7)	नासा रूप	नासा सूचकांक—अति पृथु-नास, बहुत छोटी, बहुत चौड़ी, मध्यम लंबाई, नासा छोर अत्यधिक मोटा, नासा पक्ष बाहर की ओर निकले हुए, नासा मूल पर गहरी खांच।
(8)	नेत्र	छोटे एवं गहराई में स्थित, प्रमुख भ्रूकटक।
(9)	शीर्ष रूप	सामान्यतः दीर्घकपाली, औसत शिरस्थ सूचकांक (लगभग 77), कपाल चौड़े परंतु आस्ट्रेलियन से कम ऊंचे, अधिक प्रमुख पार्शिक उत्सेध, मध्यबिंदु एवं भ्रूकटक बड़े किंतु आस्ट्रेलियन जैसे बड़े नहीं।
(10)	आनन रूप	अधिक उरू आननी, आस्ट्रे-लियन की अपेक्षा छोटे, मध्यम उद्गति।
(11)	दंत	विशेष रूप से छोटे हनु की तुलना में, दांत अत्यधिक लंबे होते हैं।

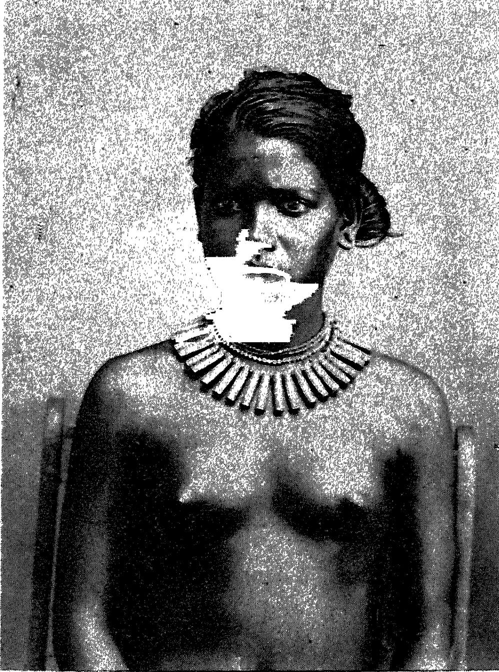
प्रजातीय बंधुताएं : तस्मानियन प्रजाति की बंधुताएं अधिक विवादास्पद हैं। हक्सले का विचार था कि तस्मानियन, न्यू कैलीडोनिया एवं अंडमान द्वीपों के निवासियों के सदृश हैं।

किंतु फ्लावर उनके पापुअनों अथवा मैलानीशियों से निकटतम संबंध मानते थे। फ्रांसीसी मानवविज्ञानी इन दोनों विचारों में से किसी को भी स्वीकार नहीं करते। टोपीनार्ड का मत है कि न्यू कैलाडोनियन एवं तस्मानियन के मध्य कोई निकट संबंध नहीं था। क्वाटरफेज़ेज़ एवं हैमी ने कहा कि तस्मानियन विशेष लक्षणों को प्रस्तुत करते हैं, अतः वे किसी भी विद्यमान प्रजाति से अधिक स्पष्ट बंधुताएं नहीं दर्शाते हैं।

लैस्टरमिल्लाट का विश्वास है कि नीग्रोकल्प स्तंभन की एक अत्यधिक शुद्ध एवं आद्य-प्रजातियों में से एक है। इनके विपरीत वलाय का मत है कि ये मूल रूप से मैलानी-शियन हैं, जो उत्तरीय न्यूहैबरडीज़ के बैनिंग समूह से स्पष्ट सादृश्य रखते हैं।

तावीज : हर तरह के खतरों और अनर्थों से बचानेवाली शक्ति के रूप में अंधविश्वास के साथ जिस वस्तु को धारण

किया जाता है उसे 'तावीज' कहते हैं। एक छोटे से तांबे के टुकड़े पर बीजाक्षरों के माध्यम से मंत्र लिखे जाते हैं और उस टुकड़े को तांबे के ही छोटे से खोल में रखकर बंद कर देते हैं। यही तावीज होता है जिसे लोग गले में या बांह पर बांधते हैं। तावीज बांधनेवाले लोगों के मन में यह विश्वास होता है कि इससे उन पर टूट पड़नेवाली विपत्तियां दूर हो जायेंगी। ऐसा भी विश्वास है कि तावीज किसी और आदमी को दिखाई नहीं देना चाहिए और उस पर



तावीज

'अछूत' छाया नहीं पड़नी चाहिए। इसीलिए मंत्र लिखे गये तांबे के टुकड़े को खोल में छिपा देते हैं। कुछ जंगली प्रदेशों के लोग कुछ मूलिकाओं पर मंत्र पढ़कर उन्हें तावीज के रूप में धारण कर लेते हैं। मानव जाति की कई संस्कृतियों में यह विश्वास भी पाया जाता है कि किसी बड़े जानवर के दांत या नाखून को धारण कर लेने से उस जानवर के 'धर्म' उस व्यक्ति में आ जाते हैं। भारत में, संभवतः इसी धारणा के कारण बच्चों के गले में बाघ का नाखून बांधा जाता है। यद्यपि तावीजों को आम तौर पर बांह में या गले में धारण करने की ही प्रथा है, फिर भी दीवारों या दरवाजों पर उन्हें टांगने की आदत भी पायी जाती है।

आपदाओं और विपत्तियों से बचाने का काम तावीज बहुत ही प्रभावशाली ढंग से करता है—ऐसा विश्वास आदिम जन-जातियों में बहुत अधिक था, जो अब तक किसी न किसी रूप में कई देशों और कई धर्मों में चला आ रहा है। खासकर आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जातियों में तावीज पर विश्वास अधिक पाया जाता है। रोमन कैथोलिक धर्मावलंबी अपने धार्मिक चिह्न क्रास (सलीब) को धारण करते हैं। किंतु ये लोग क्रास को तावीज के रूप में नहीं लेते, बल्कि भगवान के साथ उनके संबंध को सूचित करनेवाले धार्मिक चिह्न के रूप में लेते हैं। लिंगायत लोग जो शिवलिंग धारण करते हैं, वह भी ऐसे ही उद्देश्य से होता है। दक्षिण भारत में, गृह प्रवेश से पूर्व द्वार पर तावीज बांधने की प्रथा पायी जाती है।

तिब्बत की जनजातियां : तिब्बती कही जानेवाली जन-जातियां तिब्बत, पश्चिमी चीन, लद्दाख, नेपाल, सिक्किम और हिमालय पर्वत के भारतीय भाग में पायी जाती हैं। इनकी संख्या 4,000,000 के लगभग है तथा इसमें निरंतर कमी हो रही है। तिब्बती जनजातियों का मूल किसी एक प्रजाति में नहीं है। ये सम्मिश्रित जनजातियां हैं। शारीरिक लक्षणों के अनुसार मंगोल प्रजाति से इनकी बहुत अधिक साम्यता है। अधिकतर तिब्बतियों का कद लंबा, सिर गोल और छोटा, आंखें चुंदी और जिस्म मजबूत होता है। लेकिन शारीरिक लक्षणों में पूरी एकरूपता का अभाव इनमें स्पष्ट है। तिब्बती प्रायः दयालु, प्रसन्नचित्त, शांत, बुद्धिमान, परिश्रमी और बहुत ही कम क्रूर होते हैं। इनकी तुलना में पूर्वी तिब्बत की खंपा जाति अधिक युयुत्सु और क्रूर है।

उच्चारण की दृष्टि से इनकी भाषा चीनी भाषा से संबंधित लगती है, लेकिन स्थान-स्थान पर इसका उच्चारण बदलता है। लिपि मूलतः भारतीय है।

चीनी आधिपत्य (1951) से पूर्व तिब्बत की जनजातियां चरवाहों, किसानों, सामंतों, दस्तकारों, व्या-पारियों और बौद्ध भिक्षुओं में बंटी हुई थीं। लेकिन

इनमें जातिप्रथा का पूर्णतः अभाव था। परिश्रम और प्रतिभा से कोई व्यक्ति उच्च पद प्राप्त कर सकता था।

चीनी आधिपत्य से पूर्व लोग पत्थरों से निर्मित छोटे-छोटे गांवों में रहते थे। ये गांव अधिकतर किसी मठ के निकट होते थे। लोग मठ से पट्टे पर जमीन लेकर उपज करते तथा आवश्यक भाग मठ, सामंत या राज्य को देने के बाद बची हुई उपज से अपना गुजारा करते । इस व्यवस्था से सामंतों और मठों को मनमानी करने का भी मौका मिलता था। चीनी साम्यवादी आधिपत्य ने स्थानीय निरंकुशता को समाप्त कर दिया और अपनी पद्धति तिब्बत में लागू कर दी।

चीनी आधिपत्य से पूर्व तिब्बत की जनजातियों का मुख्य प्रशासक तथा धार्मिक गुरु दलाई लामा होता था। दलाई लामा जन्म से सामान्य परिवार के होते हैं, लेकिन उनके चुनाव की विशेष पद्धति होने के कारण वे इस पद पर स्वीकृत कर लिये जाते हैं।

तिब्बती समाज की मूल इकाई परिवार ही है। यहां बहुपति और बहुपत्नी—दोनों ही प्रथाएं प्रचलित रही हैं। समृद्ध सामंत प्रायः एक से अधिक विवाह किया करते थे, जबकि सामान्य परिवारों में एक स्त्री के अनेक पति होते थे। ये अनेक पति सगे भाई ही होते थे। बड़ा भाई सब बच्चों का पिता और परिवार का मुखिया माना जाता था। लेकिन चीनी आधिपत्य के पश्चात् इन प्रथाओं में भी पर्याप्त परिवर्तन आया है।

तोडा जनजाति : दक्षिण भारत की तोडा जाति एक प्राचीन जाति है तथा भारत की आदिम जातियों में इसका स्थान आता है। 1961 की जनगणना के अनुसार तमिलनाडु में इसकी जनसंख्या 714 थी। ये बलिदान के बाद ही मांस-भक्षण करते हैं। ये नीलगिरि की पहाड़ियों में रहते हैं। इनकी बस्तियों में सबसे आकर्षित करनेवाली वस्तुएं इनकी पवित्र गौशाला, गौशाला के पुजारी, तथा भैंसों के प्रति इनके पवित्र कार्य एवं भावनाएं हैं। इसका कारण यह है कि भैंस पालना तथा उसके दूध के विनिमय या विक्रय से अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही उनकी आर्थिक-व्यवस्था का मुख्य अंग है। वैसे उनमें से कुछ अब खेती (खासकर आलू की) भी करने लगे हैं।

तोडा के मकान एक विशेष प्रकार से बने होते हैं। स्थानीय बोली में उसे 'आरस' कहते हैं, जो लंबे ड्रम की तरह गोलाकार होता है। साधारणतः यह 19 फुट लंबा, 10 फुट ऊंचा तथा 9 फुट चौड़ा होता है।

तोडा देखने में तंदुरुस्त एवं लंबे-चौड़े होते हैं। इनके शरीर का रंग सफेद, शरीर की लंबाई पूरी एवं नाक सुंदर होती है।

इनमें बहुपति विवाह प्रणाली पायी जाती है। परिवार के सभी भाइयों की साधारणतः एक ही पत्नी होती है।



तोडा जनजाति

तोडा जनजाति की अपनी पंचायतें होती हैं, जहां ये अपने आपसी झगड़ों का निपटारा करते हैं।

1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही थी, पर विगत 4-5 वर्षों से इनकी जनसंख्या में वृद्धि के लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं।

दंड : सामाजिक रूप से महत्त्वपूर्ण नियमों की रक्षा करने तथा सदस्यों द्वारा उनके पालन करवाने के लिए उल्लंघन

न करनेवालों को समाज द्वारा दंड दिया जाता है। दंड का विधान और व्यवस्था करने के लिए एक संस्था होती है, जो किसी भी समाज के शासन-तंत्र का एक महत्वपूर्ण अंग मानी जाती है। न्याय-तंत्र अभियुक्त पर लगाये गये आरोपों की जांच-पड़ताल करता है तथा अपराधी होने पर उसे दंड देता है। विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दंडों की व्यवस्था की गयी है।

जनजातीय समाजों में न्याय की प्रणाली आधुनिक समाजों से भिन्न है। इनके समाज में न्यायालय, न्यायाधीश, कारागार इत्यादि नहीं होते। न्याय करने तथा अपराधी को दंड देने का कार्य साधारण तरीकों से समाज या उसके विशिष्ट समुदाय द्वारा किया जाता है। आदिवासी समाजों में स्थानीय समुदाय के सदस्य परस्पर नातेदार अथवा एक ही गण के सदस्य होते हैं। इस प्रकार अपराधी को दंड देने का कार्य उसके अपने संबंधियों तथा सजातियों पर ही छोड़ दिया जाता है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में विभिन्न अपराधों का दंड विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों द्वारा निर्धारित किया जाता है। घरेलू अपराधों का दंड देने का अधिकार परिवार के मुखिया को होता है।

इन समाजों में अपराध और दंड के विषय में सामूहिक उत्तरदायित्व को माना जाता है। अर्थात् किसी व्यक्ति का अपराध उसके सारे नातेदारों का अपराध माना जाता है। जैसे, यदि एकसमूह का व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्ति की हत्या कर डाले, तो यह पूरे समूह का अपराध माना जाता है।

कई जनजातियों में न्याय और दंड देने का कार्य जनजातीय पंचायतों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक जनजाति की अपनी अलग पंचायत होती है। कहीं-कहीं तो प्रत्येक गण की अलग पंचायत पायी जाती है। आवश्यकतानुसार पंचायत की बैठकें बुलायी जाती हैं तथा उनके समक्ष वादी, प्रतिवादी और गवाहों के बयान लिये जाते हैं। पंचायत का निर्णय अंतिम निर्णय माना जाता है और उसके अनुसार अपराधी को दंड भुगतना पड़ता है। ब्रिटिश शासन के पहले इन पंचायतों को मृत्युदंड तक देने का अधिकार था, लेकिन ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद इन क्षेत्रों में न्यायालय स्थापित किये गये तथा पंचायतों का काम केवल साधारण अपराधों का दंड देने तक ही सीमित रखा गया। मध्य प्रदेश की गोंड एवं भील जनजातियों में पंचायत के सदस्य विशिष्ट व्यक्ति ही नहीं होते, बल्कि कबीले के सभी वयस्क पुरुष पंचायत की कार्यवाही में भाग लेते हैं।

विंध्याचल में रहनेवाले भीलों में ऐसी प्रथा है कि यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी पर व्यभिचारिणी होने का अभियोग लगाये, तो उस स्त्री को समुदाय के सम्मुख अपनी निर्दोषिता का प्रमाण देना पड़ता है। इसके लिए उसको दहकते हुए अंगारों पर चलाया जाता है या लोहे की गरम सलाख उसके हाथों में दे दी जाती है। यदि वह स्त्री नहीं जलती तो उसे निर्दोष मानकर छोड़ देते हैं अन्यथा दोषी मानकर सजा देते हैं।

दक्षिण-पूर्व एशिया की प्रजातियां : यह क्षेत्र मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही अनेक भाषाओं, संस्कृतियों और प्रजातियों का संगम-स्थल रहा है। यह मिश्रण इतना व्यापक और जटिल है कि विभिन्न जातियों के विस्तार का क्षेत्र राजनीतिक सीमाओं द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस क्षेत्र पर चीनी और भारतीय सभ्यता का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारतीय संस्कृति के प्रभाव का कारण सामुद्रिक वाणिज्य और बृहत्तर भारतीय साम्राज्य की स्थापना रहा है। लेकिन इस क्षेत्र से दक्षिण चीन के प्रदेशों का संबंध प्रागैतिहासिक काल से जोड़ा जा सकता है। इस क्षेत्र की जातियों का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों के आधार पर करना कठिन और अनावश्यक भी है। देशीय सीमाओं के आधार पर भी वर्गीकरण असंगत होगा; क्योंकि अनेक कारणों से जातियां स्थानांतरित होती रही हैं। इसलिए केवल भाषा ही वह वैज्ञानिक आधार है, जिस पर हम अपने वर्गीकरण को आधारित कर सकते हैं।

इस क्षेत्र के भाषावार मूल वर्ग चार हैं :

1. चीनी-तिब्बती
2. आस्ट्रोएशियाई
3. ताई-कदाई
4. मलयपोलिनेशियाई

चीनी-तिब्बती : चीनी भाषा की दो बोलियां मैंडारिन और केंटोनीय चीनी, क्रमशः 'पैंथे' एवं 'हा' जातियों द्वारा बोली जाती हैं। प्रवासी चीनियों की अधिकतर जातियां चीन की मुख्य जाति 'हन' किसानों के प्रव्रजन

का परिणाम हैं। स्याम देश में ये काफी पहले आ गयी थीं, लेकिन मलयेशिया और सिंगापुर में ये पिछली शताब्दी से ही फैलना शुरू हुई हैं। बर्मा-चीन सीमांत के निवासी पैंथे जाति के चीनी भाषा-भाषी मुस्लिम व्यापारी हैं। लाओस तथा उत्तरी स्याम देश के पहाड़ी किसान या व्यापारी 'हा' या 'हो' जातियों के हैं।

तिब्बती-बर्मी भाषाओं का चीनी भाषा से निकट संबंध है। इन भाषाओं का प्रयोग करनेवाली जातियां उत्तर-पश्चिम बर्मा, चीन-बर्मा सीमांत प्रदेश, स्याम देश तथा उत्तरी वियतनाम में फैली हुई हैं। इनकी संख्या लगभग एक करोड़ नब्बे लाख है।

बर्मा एवं स्याम देश के पहाड़ी कबीले करेन भाषा का प्रयोग करते हैं। मिया तथा याओ भाषा-भाषी लोग वियतनाम तथा स्याम प्रदेश में पाये जाते हैं।

आस्ट्रोएशियाई : मोन, ख्मेर तथा पर्वती मोन ख्मेर बोलनेवाली मोनख्मेर जातियां स्याम देश के पश्चिमी समुद्री तट, समस्त कंबोदिया, वियतनाम तथा दक्षिणी पूर्वी लाओस में पायी जाती हैं। ये जातियां महायान, ताओ तथा कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का पालन करती हैं। लाओस और वियतनाम में मुओंग जातियां भी पायी जाती हैं।

इसी भाषा-वर्ग में सेनाई या सकाई जाति के सेनाई भाषा-भाषी भी आते हैं। सेनाई मुख्यतः पहाड़ी प्रदेशों में रहते हैं। मलाया में ये पहांग केलनतान और पेटाक राज्यों में वास करते हैं। अब इनका संबंध मलय जातियों से बढ़ रहा है लेकिन इस्लाम धर्म इन्होंने स्वीकार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त सेमांग भाषी जातियां मुख्यतः मलाया तथा इनका एक वर्ग स्याम देश में रहता है।

ताई-कदाई : शन, लाओ, स्यामी और श्याम-ताई जातियां ताई भाषा-भाषी हैं और समस्त स्याम देश, लाओस, उत्तर वियतनाम तथा बर्मा के कुछ हिस्से में फैली हुई हैं। इनमें अधिकतर जातियां थेरवादी बौद्ध हैं तथा धान की खेती, मछली मारना, पशुपालन, हाथीदांत और जंगली लकड़ी का व्यापार इनके मुख्य धंधे हैं।

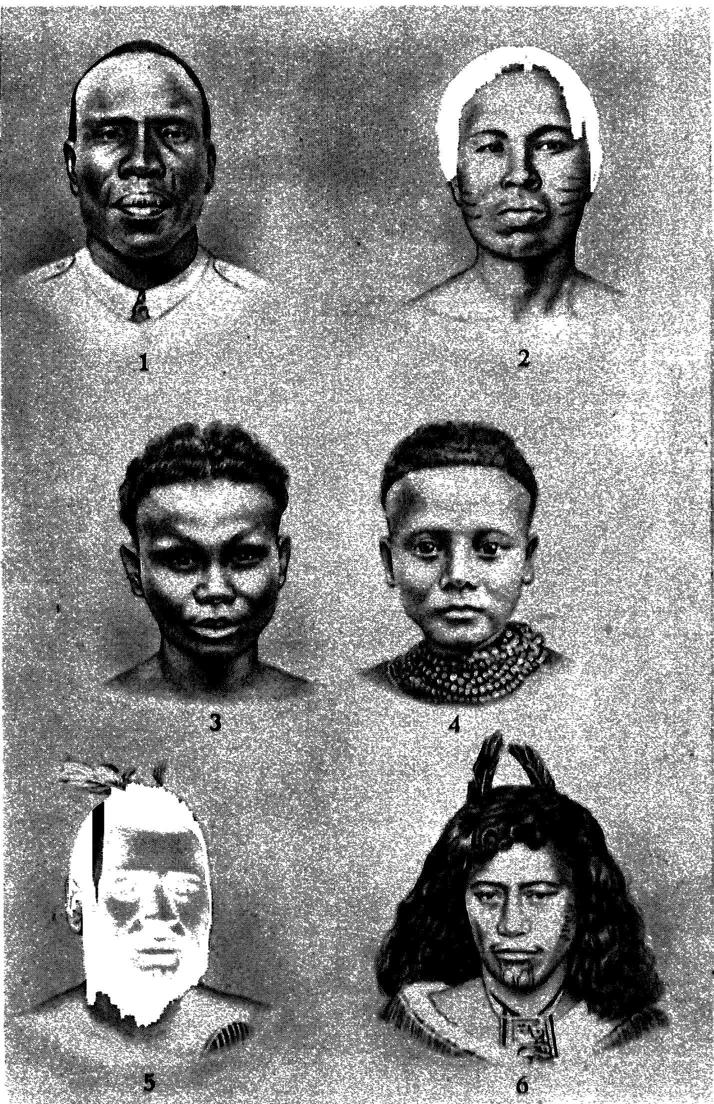
हैनान के 'ली' कबीले मुख्यतया कदाई भाषा-भाषी हैं, लेकिन इनमें ताई भाषा का सम्मिश्रण भी पाया जाता है। इनके मुख्य धंधे धान की खेती और पशुपालन है।

मलयपोलिनेशियाई : इस वर्ग की 'चाम' और 'मलय' जातियां दक्षिण वियतनाम, कोलंबिया तथा मलयेशिया में बसी हैं। कंबोदिया की चाम जाति के लोग कट्टर मुसलमान हैं, लेकिन दक्षिण वियतनाम में बसी इसी जाति के लोगों के संस्कारों में 14वीं तथा 15वीं शताब्दी के चंपा हिंदू राज्य की सांस्कृतिक परंपरा का प्रभाव अब भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन जातियों का मुख्य व्यवसाय मछली मारना एवं कपास की खेती है। मूर्ति बनाने तथा नौकानिर्माण में भी इन्हें पर्याप्त कुशलता प्राप्त है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के काफी बड़े हिस्से में मलय भाषा का प्रयोग होता है। मलयेशिया में मलय जाति की जनसंख्या लगभग 45 प्रतिशत है। वर्तमान मलय जाति मुस्लिम होने के बावजूद, उसकी संस्कृति पर हिंदू संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट है। मलाया की आदिवासी जाति जकुन भी मलय भाषा के ही एक रूप का प्रयोग करती है। मलयेशिया में मलय भाषा-भाषी लोगों के अतिरिक्त चीनी तथा तामिल भाषा-भाषी हिंदू और मुसलमान भी हैं।

इंडोनेशिया के विभिन्न द्वीपों में मलय भाषा की बोलियों का व्यवहार होता है। यहां की आदिवासी-भाषाएं भी मलय और पोलिनेशियन भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं। इंडोनेशिया में दो प्रतिशत चीनी जनसंख्या के अतिरिक्त अन्य सभी जातियां इस वर्ग की नौ विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करती हैं। जावा द्वीप के सुंडानी भाषा-भाषी निवासी प्रायः सभी मुसलमान हैं। मदुरा द्वीप और बाली द्वीप में क्रमशः मदुरी तथा बालीनी भाषाओं का प्रयोग होता है। सुमात्रा में भाषा के आधार पर मलय, मिनांकबाऊ, आचिनी एवं बताक मुख्य जाति वर्ग देखे जाते हैं। यहां के 'कुबु' कबीलेवाले इंडोनेशिया के सबसे पुराने निवासी माने जाते हैं। सेलिबिस में मकस्सरी तथा बुगीनी बोली जाती है। यहां के अधिवासी ईसाई धर्मानुयायी हैं।

फिलीपींस की राजधानी मनीला के आसपास तगालोग भाषा बोली जाती है। 15वीं शताब्दी में यहां इस्लाम ने प्रवेश किया और स्पेन-अमरीकी युद्ध के बाद ईसाई धर्म ने। अनेक उद्योगों के स्थापित हो जाने के बावजूद यहां का प्रधान व्यवसाय कृषि है। यहां की भौगोलिक स्थिति कृषि के लिए सहायक सिद्ध होती है।





1 व 2. सुडान स्थित शिलोक जनजाति के नीग्रो पुरुष और स्त्री। 3 व 4. अंडमान द्वीपों का पुरुष और स्त्री। 5 व 6. न्यूजीलैंड के माओरी पुरुष और स्त्री। 7 व 8. उडमर्ट का पुरुष और स्त्री। 9 व 10. बश्कीर पुरुष और स्त्री। 11 व 12. नार्वियन पुरुष और स्त्री।

देवर संबंध : भारत की कई जनजातियों में बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् भाभी को अपने ही देवर के साथ विवाह करने की छूट है। एक भाई की पत्नी पर अन्य भाइयों का भी अधिकार समाज स्वीकार करता है। 'कन्या धन' की प्रथा इसका कारण हो सकती है; क्योंकि स्त्री के लिए धन देकर उससे विवाह करने पर उस स्त्री पर व्यक्ति का ही नहीं, वरन् समस्त परिवार का अधिकार माना जाना तर्कसम्मत है। एक-पत्नीक समाजों में पति के भाई पत्नी पर कुछ अधिकार पति के जीवनकाल में और पूर्ण अधिकार उसकी मृत्यु के पश्चात् रखते हैं। इस प्रकार के संबंध को 'देवर संबंध' कहते हैं।

दोम्मरि जनजाति : आंध्र प्रदेश में पाये जानेवाले 'दोम्मरि' जाति के लोगों में 'तेलग' दोम्मरि तथा 'आरे दोम्मरि' नामक दो शाखाएं पायी जाती हैं। पहली शाखा के लोग आंध्र प्रदेश के तटीय जिलों में रहते हैं और ये एक तरह से शब्दों को खींचते हुए उच्चारण करते हैं। आरे दोम्मरि वर्ग के लोग 'मराठा दोम्मरि' के नाम से भी जाने जाते हैं। ये लोग मूलतः महाराष्ट्र की 'कोल्हाती' नामक जाति के थे और कालांतर में आंध्र के तेलंगाणा इलाके में आकर बस गये थे। इनकी मातृभाषा मराठी है।

दोम्मरि जाति के लोगों में (1) कर्मच्च, (2) रामसानी, (3) रजक, (4) पेडेकु, (5) जोप्पली, तथा (6) गुजोकु नामक उपशाखाएं भी पायी जाती हैं। इन उपशाखाओं में आपस में न विवाह होते हैं न ही हुक्के-पानी का संबंध होता है।

आम तौर पर दोम्मरि जाति के लोग अपने आप को 'सलवपच्चि' गोत्र के मानते हैं। इनमें कई पारिवारिक नाम भी पाये जाते हैं। एक ही पारिवारिक नाम वाले आपस में विवाह नहीं करते हैं। मामा की लड़की से विवाह करने की प्रथा इनमें प्रचलित है।

दोम्मरि जाति के युवक-युवतियां आपस में हिलमिल कर घूमते-घामते हैं। इस जाति की युवतियां अपनी इच्छा के अनुसार उम्र में बड़े या छोटे आदमी को वर के रूप में चुन सकती हैं। आम तौर पर जाति के बड़े लोग ही विवाह निश्चित करने की जिम्मेदारी लेते हैं। इस तरह का निर्णय होने के बाद लड़के का पिता लड़की के मां-बाप को 'ओलि' (विवाह के अवसर पर दिया जानेवाला पैसा) साड़ी-चोली देता है। ऐसे अवसरों पर सबसे पहले कुल का मुखिया शराब पीता है और उसके बाद बाकी सभी लोग पीते हैं। शुभ मुहूर्त में कुल देवता 'मैसम्मा' की सन्निधि में विवाह संपन्न होता है। विवाह के समय ये लोग तरह-तरह की रस्में पूरी करते हैं।

दोम्मरि जाति के लोग कन्या के रजस्वला होने के बाद सात दिन के लिए उसे एक अलग झोंपड़ी में रखते हैं और उसके बगल में एक लोहे का टुकड़ा रखते हैं। आठवें दिन, उस लड़की की शुद्धि करने के बाद उस झोंपड़ी में आग लगा देते हैं।

दोम्मरि जाति में व्यभिचार आम बात है। विधवा के लिए पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी जाती है। विधवा अगर पर-पुरुष से यौन संबंध जोड़ लेती है तो उसे 'रखैल' कहते हैं। लेकिन इस तरह की 'रखैलों' की संतान को कुल में स्थान देने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होती है।

दोम्मरि जाति में 'देवदासी' की प्रथा भी पायी जाती है। कन्या का भगवान की मूर्ति के साथ या तलवार के साथ विवाह किया जाता है और उस कन्या को 'देवदासी' के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे विवाह के बाद कुल का मुखिया देवदासी को मंदिर की विधियों, व्यभिचारवृत्ति के तरीकों तथा अन्य आचार-व्यवहारों के बारे में बताता है।

इस जाति के लोग अपने मुखिया को 'मुतली गुरु' के नाम से पुकारते हैं। धार्मिक तथा सामाजिक मामलों में इसी की बात सर्वोपरि मानी जाती है और आपसी झगड़ों का निपटारा भी यही करता है।

दोम्मरि जाति के लोग खेती का काम करते हैं और गांवों के पास ही रहते हैं। किंतु इसमें से कुछ लोग गांव-गांव घूमते हैं और जहां भी जाते हैं, उस गांव के बाहर झोंपड़ियां बनाकर रहते हैं। जब वे दूसरे स्थान के लिए रवाना हो जाते हैं सारा माल-असबाब, झोंपड़ियों सहित गधों पर लाद कर चल देते हैं। ऐसे लोग सींगों और लकड़ी की बनी हुई कंघियां, मनके तथा चटाइयां, डलियां आदि बेचकर पेट भरते हैं। कुछ लोग जड़ी-बूटियां भी बेचते हैं।

इस जाति के कुछ लोग चोरी, डकैती की कला में माहिर होते हैं। इनकी सांकेतिक भाषा भी होती है जिसका ये चोरी के अवसर पर इस्तेमाल करते हैं। जंगलों

में प्राप्त होनेवाले हर तरह के जानवर और पक्षी को ये लोग खाते हैं।

आजकल इस जाति के कई लोगों पर सभ्यता का असर होता जा रहा है। ये लोग एक ही स्थान पर बसते जा रहे हैं। लेकिन इतना सब होने के बावजूद इनमें अपनी जाति के परंपरागत गुण अब भी पाये जाते हैं।

द्रविड़ : भारत देश के लोगों का वर्गीकरण करते समय शारीरिक मानवविज्ञान के विद्वानों ने, प्राचीन भारत में जो अत्यंत बलवान जनसमूह था उस समूह के लोगों को द्रविड़ कहा है। मुख्य रूप से दक्षिण भारत तक ही सीमित इस जनसमूह को आधुनिक मानवशास्त्र के विद्वान मध्यधरा उप-वर्ग का मानते हैं। काकसाइड वर्ग की जो तीन उपशाखाएं हैं उनमें ये लोग एक शाखा के हैं। शेष दो उपशाखाएं हैं—आलपैन उपशाखा तथा नार्डिक उपशाखा। यह भी माना जाता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में रहनेवाले आदिवासी पहले द्रविड़ ही थे। इस बात की भी कल्पना की जाती है कि ये लोग विदेशी थे और भारत में सबसे पहले बसनेवाले यही लोग थे। महाराष्ट्र के 'भील' मध्यप्रदेश के 'गोंड़', आंध्र प्रदेश के 'चेंचु' केरल के 'पनियन', श्रीलंका के 'वेड्डा' आदि जंगली जातियों के लोग पहले द्रविड़ संतति के ही थे। जब से मैक्समूलर ने आर्यों और द्रविड़ों को लेकर विवाद छेड़ दिया है तब से द्रविड़ शब्द एक वर्ग के बदले एक भाषा समूह के लिए वर्तित होने लगा है। इस धारणा के अनुसार दक्षिण भारत में तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, तुलु भाषाएं बोलनेवाले लोग द्रविड़ माने जाते हैं।

भारत के प्रधान चार भाषा-परिवारों में द्रविड़ भाषा एक है। मध्यप्रदेश की 'गोंड़' जाति तथा उड़ीसा की 'खोंड' जाति के लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा 'क्वी' भी द्रविड़ परिवार की ही मानी जाती है।

धर्म तथा जादू : धर्म वह सामाजिक संस्था है, जो लौकिक जगत की व्याख्या अलौकिकता के परिप्रेक्ष्य में करती है तथा उस अलौकिक शक्ति से मानव का क्या संबंध है, इसकी जानकारी कराती है। प्रत्येक संस्कृति में धर्म को एक सामाजिक रूप दिया गया है।

जादू, अलौकिक शक्तियों को वश में करने तथा अप्राकृतिक काम कर दिखाने को कहते हैं। इसे 'काला जादू' तब कहते हैं, जब इसका इस्तेमाल निजी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है।

	धर्म	जादू
(1)	एक से ज्यादा आत्मिक तत्त्व का विश्वास।	बिना आत्मिक के हस्तक्षेप के, किसी निष्कर्ष पर पहुंचना।
(2)	धार्मिक स्थलों पर सामूहिक क्रियाकलाप।	अधिकतर एकांतिक तथा गुप्त क्रियाकलाप।
(3)	सामाजिक क्रिया।	व्यक्तिअत (अकेला) क्रिया।
(4)	समाज की भलाई के लिए।	विशेष व्यक्ति की भलाई के लिए।
(5)	त्याग की भावना।	प्राकृतिक चीजों पर नियंत्रण करने का प्रयास।
(6)	ईश्वर, मंत्र का कथन समझते हैं।	मंत्र का कोई असर नहीं होता, अगर गलत बोला जाये।

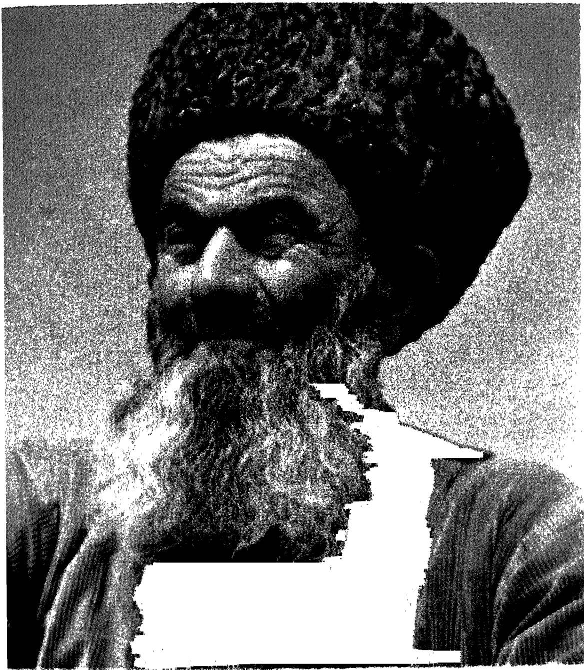
धुमकुड़िया : छोटा नागपुर की उरांव जनजातियों में युवागृह की यह संस्था करीब-करीब प्रत्येक गांव में पायी जाती है। यह लड़कों के लिए अलग होता है तथा लड़कियों के लिए अलग। लड़कों का युवागृह 'जोंख-एरपा' तथा लड़कियों का युवागृह 'पेल-एरसा' कहलाता है।

उरांव युवागृहों में लड़के तथा लड़कियां 'अखाड़ा', जो नाचने के लिए ऊंचा बनाया हुआ स्थान है, में नाचने के बाद अलग-अलग सोते हैं। 'अखाड़ा' युवकों के युवागृह के निकट ही होता है। लड़कों का युवागृह एक स्थायी गृह होता है, जो गांव के बीच में स्थित होता है, जबकि लड़कियों का युवागृह एक घर से दूसरे घर में बदलता रहता है।

युवागृह मिट्टी की दीवारों का बना होता है, जिसमें सिर्फ एक दरवाजा होता है तथा खिड़की नहीं होती। कभी-कभी यह पत्थर के टुकड़ों से घिरा होता है। युवागृह के अंदर, युवागृह के सदस्य चटाई पर सोते हैं, जो ताड़ के पत्तों की बनी होती है। एक कोने में लकड़ियों का गट्ठर रखा रहता है, जो जाड़े के दिनों में जलाने के काम में आता है। युवागृह के अंदर का भाग साफ-सुथरा रखा जाता है। युवागृह में वाद्ययंत्र नगाड़ा, ढोलक, झांझ



लामा: तिब्



वैनाख जनजाति



कश्मीरी पुरुष

इत्यादि रखे रहते हैं। लड़के 'जांख-एरपा' में 11 से 12 वर्ष की उम्र में प्रवेश पाते हैं।

उम्र के आधार पर युवागृह के सदस्यों को तीन भागों में बांटा गया है :

(1) पूनाजोखर : इसमें 11 से 15 वर्ष तक के सदस्य आते हैं। इन सदस्यों का काम जलावन इकट्ठा करना, बड़े सदस्यों के शरीर की मालिश करना तथा उनकी अन्य आज्ञाओं का पालन करना है।

(2) मंझुरिया जोखर : इसमें 15 से 18 वर्ष तक के सदस्य आते हैं। इनका काम भी बड़े सदस्यों की आज्ञा का पालन करना है।

(3) कोहा जोखर : इसमें 18 वर्ष से ऊपर के सदस्य आते हैं।

इसी प्रकार उम्र के आधार पर लड़कियों को भी तीन भागों में बांटा गया है।

सदस्यों के क्रिया-कलापों को देखने तथा अनुशासन स्थापित करने के लिए बड़े (सीनियर) सदस्यों में से कुछ सदस्य निर्वाचित होते हैं, जिन्हें 'धंगर महतो' तथा 'धांगर कोतवार' कहते हैं। ये तीन वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। ज्यादा उम्र के सदस्यों में से एक 'पेलो-कोतवार' होता है, जो युवतियों के युवागृह का अध्यक्ष होता है। वह लड़कियों के क्रियाकलापों की देखभाल 'बोरका धांगरिन' की मदद से करता है, जो युवतियों के युवागृह की निर्वाचित सदस्या होती है। 'धांगर कोतवार' तथा 'बोरका धांगरिन', लड़के तथा लड़कियों को नृत्य की शिक्षा देते हैं।

साधारणतः युवागृहों में प्रवेश माघ महीने के नये चांद के दिन मिलता है तथा प्रत्येक तीन वर्ष में एक बार होता है। बड़े (सीनियर) सदस्य इस बात का फैसला करते हैं कि किस लड़के को इस वर्ष प्रवेश मिलना चाहिए। जिस लड़के को प्रवेश मिलता है, उसके माता-पिता को प्रवेश-शुल्क भी (फीस) भी देना पड़ता है, जो करंज के बीज के रूप में होता है। इससे तेल निकाला जाता है तथा उसका उपयोग युवागृह में ही होता है।

नरबलि : आमतौर पर हर धर्म में बलि की प्रथा पायी जाती है और इसके अनेक रूप पाये जाते हैं। बलि किसी एक प्राणी की चढ़ायी जाती है। पहले जमाने में, ग्रीक, रोमन जातियों में और उनसे कम सभ्य जातियों में भी जानवरों की बलि चढ़ायी जाती थी। कुछ धर्मों में कभी-कभी नरबलि भी दी जाती थी। आजकल कभी-कभार यद्यपि नरबलि की घटनाओं के बारे में सुनने को आता है, फिर भी यही माना जा सकता है कि इस तरह के अमानवीय कृत्यों का समय समाप्त हो गया है। लेकिन, आदिम जातियों में अब भी पशुओं की बलि चढ़ाने की प्रथा पायी जाती है।

ऐतिहासिक आधारों पर इस बात का पता चलता है कि गंजाम और विशाखापट्टणम के जंगलों में रहनेवाली 'खोंड' जाति के लोग अच्छी फसलों के लिए तथा अकाल आदि से निस्तार पाने के लिए 'बारापेन्नु', 'तारीपेन्नु' नामक अपने देवताओं के सामने हर वर्ष नरबलि चढ़ाया करते थे। साधारणतया किसी एक बालक को खरीदकर या उठा लाकर संयुक्त रूप से समाज के सारे लोग युवक होने तक उसका पालन करते थे। चूंकि बलि चढ़ायी जानेवाला प्राणी पवित्र माना जाता है, इसलिए उस बालक के खान-पान और ऐश-आराम में किसी तरह की कमी नहीं की जाती थी। निश्चित दिन पर उसको दवाइयों तथा शराब के द्वारा बेहोश करके बहुत बड़े जुलूस के साथ बलि दिये जानेवाले स्थान पर ले जाते थे। वहां नशे में चूर स्त्री-पुरुष उस युवक के चारों तरफ घूमकर नृत्य करते थे। इसी नृत्य के बीच एक ही वार के साथ उसका सिर गर्दन से अलग कर दिया जाता था। इस तरह मारे गये युवक के मांस के टुकड़े लेकर गांव वाले अपने-अपने खेतों में बहनेवाले पानी के नीचे की जमीन में गाड़ देते थे। इस तरह दी जानेवाली बलि को वे लोग अपनी भाषा में 'मेरिया' कहते थे। करीब एक शताब्दी के पूर्व भारत सरकार द्वारा नरबलि पर प्रतिबंध लगा दिये जाने के कारण अब ये लोग भैंसे, बकरी, सूअर, मुर्गी आदि की बलि चढ़ाने लग गये हैं। इस प्रकार की पशु-बलि की प्रथा अन्य जातियों में भी पायी जाती है।

नरभक्षण : नरभक्षण की प्रथा आदिम सभ्यताओं में बहुधा प्रचलित रही है। आज भी अनेक ऐसी आदिम जातियां हैं, जो नरभक्षण करती हैं। लेकिन मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ इस प्रथा का अंत होता जा रहा है। वर्तमान

युग में नरभक्षण के मुख्य कारण ये हैं:

1. आदिम सभ्यता
2. कुत्सित साधना-पद्धतियां
3. बदले की भावना
4. भयंकर दुर्भिक्ष

अफ्रीका, नागालैंड और न्यूगिनी आदि के जंगलों में कहीं-कहीं अब भी ऐसी आदिम जातियां हैं, जो नरभक्षण करती हैं और मानव-खोपड़ियों से अपने घरों को सजाती हैं। उनकी इस आदत के पीछे शायद आहार-समस्या भी रही हो। इसके अतिरिक्त, दैवी शक्तियों को प्रसन्न रखने के लिए, प्रतिशोध में तथा अन्य अज्ञात कारणों से भी ये जातियां नरभक्षण करती रही हैं। लेकिन मानव-सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ ये जनजातियां अब अपनी इस प्रथा का त्याग करती जा रही हैं।

धर्मों तथा संप्रदायों में कुछ ऐसी कुत्सित साधना-पद्धतियां हैं, जिनमें नरबलि दी जाती है और मानवशरीर के किसी अंग का भक्षण किया जाता है। इन साधना-पद्धतियों का आधार पारंपरिक अंधविश्वास, वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव और अशिक्षा है। मध्ययुगीन यूरोप की ऐंद्र-जालिक एवं भारत की कापालिक और अघोरी मत की साधनाओं में नर-भक्षण किसी न किसी रूप में प्रचलित था।

अत्यधिक घृणा या प्रतिशोध की तीव्र भावना भी कभी-कभी मानवविवेक की उपेक्षा कर नरभक्षण के रूप में अभिव्यक्त होती है। प्रतिशोध में नरभक्षण के उदाहरण आदिम जातियों से लेकर वर्तमान सभ्य जातियों तक सब में मिल जाते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापानियों ने प्रतिशोध के ज्वार में अनेक अमरीकियों को मारकर खा लिया था। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक घृणा या प्रतिशोध की परिस्थिति में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं। लेकिन इसका संबंध नरभक्षण की आदतों से कम तथा भावनाओं से अधिक होता है। कभी-कभी असामान्य मानसिक व्यवहारवाले व्यक्ति भी इस तरह की हरकतें करते हैं।

नरभक्षण का सबसे दैन्य रूप है—दुर्भिक्ष की स्थिति में नरभक्षण करना। जो व्यक्ति आहार के अभाव में यह कुत्सित कार्य करने पर बाध्य हो जाते हैं, उन्हें दीनता की श्रेणी में ही रखा जा सकता है, अपराध-श्रेणी में नहीं। स्पष्ट है, सामान्य आहार प्राप्त होने के समय वे ऐसा व्यवहार नहीं करते और मिलने पर करेंगे भी नहीं। दुर्भिक्ष-स्थिति खत्म हो जाने पर उनका व्यवहार स्वयं सामान्य हो जाता है।

नव-पाषाण युग : आदिम-मानव शिकार करके तथा जगह-जगह से खाद्य सामग्री एकत्र करके अपना निर्वाह करता था। प्राचीन-पाषाण युग तथा मध्य-पाषाण युग के मानवों में यह अंतर था कि मध्य-पाषाण युग के मानव को अपेक्षाकृत कम शिकार करना पड़ता था। घने जंगल उत्पन्न होने के कारण वह समुद्र, नदी तथा झीलों के निकट रहने लगा था तथा खाने में मछलियों का उपयोग करने लगा था। लेकिन नव-पाषाण युग के आते-आते उसमें एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। उस युग के मनुष्यों ने खेती करना भी प्रारंभ किया। इस युग में मुख्यतः आजीविका संबंधी चार दृष्टिकोण विकसित हुए:

(1) कृषि
(2) मिट्टी के बर्तन बनाना
(3) पालतू पशुओं को रखना, तथा
(4) पत्थर को रगड़ना एवं उस पर पालिश करना।

पहले मनुष्य शिकार पर अपनी खाद्य-सामग्री के लिए निर्भर था। वह इधर-उधर घूमकर अपना पेट भरता था तथा उसका जीवन अस्थिर था। किंतु जब उसने खेती करना प्रारंभ किया तथा गाय, भैंस, बकरी इत्यादि जानवरों को पालतू बना लिया, तब वह एक ही स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगा। उसके बाद मनुष्यों ने छोटे-छोटे समूह बनाकर एक साथ गांव में रहना सीखा। धीरे-धीरे गांव से कस्बे, कस्बों से शहर और राज्यों का विकास हुआ। कृषि एवं पालतू जानवरों के कारण शिकार पर आश्रित रहना कम होता गया तथा खाद्य की प्रचुरता के कारण जनसंख्या में भी वृद्धि हुई। फसल एवं पालतू जानवरों की रक्षा का प्रबंध भी आवश्यक हो गया। बाद में, मनुष्य ने अपने अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए युद्ध करना सीखा।

नागा जनजाति : एलविन के अनुसार नागा शब्द की उत्पति अस्पष्ट है। कुछ लोगों के अनुसार, यह संस्कृत के 'नागा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है पहाड़ी आदमी। टोलेमी के अनुसार 'नागा' शब्द का अर्थ नंगा होता है।

1961 की जनगणना के अनुसार नागालैंड में इनकी जनसंख्या 3,36,828 तथा असम में 9,309 है। हट्टन



1



2



3

1. नागा युवक
2. नागा दंपति
3. नागा युवतियां
4. अंगामी नागा



के अनुसार नागा जनजाति तथा असम एवं बर्मा की अन्य जनजातियों में, जो नागा नहीं हैं, अंतर करना बहुत कठिन है।

नागा जनजाति, ब्रह्मपुत्र घाटी एवं बर्मा के बीच की पहाड़ियों में निवास करती है। वह अलग-अलग समुदायों में रहती है तथा उसकी बोली भी अलग-अलग है। लेकिन इसके बावजूद, इनके विचार तथा रहन-सहन में काफी समानता है।

पहले, विभिन्न नागा समुदायों में दुश्मनी की भावना थी। यहां तक कि एक ही समुदाय के लोग, जो अलग-अलग गांवों में रहते थे, कभी शांति से नहीं रहते थे। लेकिन धीरे-धीरे अब उनमें भी एकता की भावना जाग्रत हो रही है।

नागाओं के विषय में लोगों की यह राय थी कि वे बहुत ही क्रूर होते हैं; क्योंकि वे नरहत्या करते हैं। आजकल भी कुछ लोगों में यह विश्वास पाया जाता है। लेकिन वास्तव में अधिकतर नागाओं ने नरहत्या करना बंद कर दिया है। वे अपने दुश्मनों का सिर काटकर ले आते थे। ऐसा करने के पीछे उनकी यह धारणा थी कि वे अपने दुश्मनों के जितने अधिक सिर काट कर लायेंगे, उतने ही अधिक सुखी-संपन्न होंगे तथा खेत में उतनी ही ज्यादा पैदावार होगी। जो नागा अपने दुश्मन का सिर काटकर लाने में सफल होते थे, उन्हें विशेष सम्मान मिलता था तथा उन्हें एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनने की इजाजत दी जाती थी, जिसे साधारण आदमी नहीं पहन सकता था। लेकिन ब्रिटिश सरकार के कड़े नियंत्रण की वजह से यह प्रथा धीरे-धीरे खत्म हो गयी। इसके अलावा जैसे-जैसे वे लोग शिक्षित होते गये, पुराने रीति-रिवाजों को छोड़ते गये।

इनका प्रमुख धंधा पहाड़ों और घाटियों में खेती तथा शिकार करना है।

नातेदारी : नातेदारी को सामाजिक संगठन की आधार-शिला माना जाता है। समाज का ढांचा वैवाहिक संबंध और रक्त संबंध पर टिका रहता है। अधिकांशतः छोटे समुदायों और समाजों अथवा जनजातीय समाजों में नातेदारी को ही सामाजिक जीवन का मुख्य तत्त्व माना जाता है।

इनके संबंध मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं: (1) जैविक वंशपरंपरा अथवा रक्त संबंध (2) विवाहजनित संबंध और (3) सगोत्र जैसे कल्पित संबंध।

प्रत्येक समाज में कुछ निश्चित शब्दों के द्वारा उस समाज के व्यक्तियों का संबंध स्पष्ट किया जाता है तथा एक-दूसरे को पुकारने के लिए भी इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे माता, पिता, दादा, दादी आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। नातेदारी शब्दावली में या तो विवरण पर अथवा श्रेणीकरण पर जोर दिया जाता है। यदि नातेदारी का एक शब्द एक विशेष प्रकार के संबंध की स्थिति सूचित करता है, तो उसे 'वर्णनात्मक' कहते हैं, जैसे हमारे समाज में पति अथवा पिता। परंतु यदि नातेदारी का एक शब्द संबंधियों के एक ऐसे समूह को सूचित करता हो, जो स्वयं से विभिन्न प्रकार से संबंधित हो, तो उस ढंग को 'वर्गात्मक' कहा जाता है। उदाहरण के लिए, नागा जातियों में 'अपूजा' शब्द का प्रयोग पिता की माता, माता का पिता, तथा माता की की माता, इन सब के लिए किया जाता है। इसी प्रकार 'धी' शब्द का प्रयोग पत्नी के बड़े भाई, पत्नी की बड़ी बहन, पति के बड़े भाई, बड़ी बहन का पति, बड़े भाई की पत्नी, माता के भाई की पत्नी तथा पिता के भाई की पत्नी के लिए किया जाता है।

नातेदारी के व्यवहार-दुराव तथा हंसी-मजाक के संबंध : नातेदारी के मानव-शास्त्रीय अध्ययन में कुछ विशेष रीतियों और व्यवहारों का वर्णन किया जाता है। यह विशेष व्यवहार साधारणतया दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे व्यवहार हैं, जिनके द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक समागम पर समाज रोक लगाता है। प्रत्येक जाति अथवा समाज में कुछ ऐसे संबंध माने जाते हैं, जिन का आपस में हंसना, बोलना, उठना, बैठना, सहयोग करना आदि उचित नहीं समझा जाता और परिणामस्वरूप व्यावहारिक रूप में इन्हें निषिद्ध या दुराव का संबंध कहा जाता है। दूसरे प्रकार के व्यवहार वे होते हैं, जिनके अनुसार विशेष संबंधी आपस में हंसी मजाक अथवा स्वच्छंदता का व्यवहार कर सकते हैं। इन्हें हंसी-मजाक के संबंध कहा जाता है।

(1) **दुराव संबंध :** संसार के प्रत्येक भाग में सभ्य अथवा असभ्य समाजों में, इस प्रकार के कुछ न कुछ 'दुराव के संबंध' अवश्य पाये जाते हैं। प्रत्येक समाज के व्यक्ति इस प्रकार के कुछ न कुछ व्यवहारों का पालन करते हैं, परंतु उनकी मर्यादा और पालन-विधि में पर्याप्त अंतर पाया

जाता है। सनातनी हिंदू समाज में पत्नी को पति का नाम लेने का निषेध है। इसी प्रकार ससुर, बहू अथवा ज्येष्ठ और उसके छोटे भाई की पत्नी के बीच घनिष्ठता अच्छी नहीं मानी जाती है। अधिकांश आदिवासी और जनजातीय समाजों में ससुर और बहू अथवा, सास-जमाई के संबंध 'दुराव के संबंध' माने जाते हैं।

(2) **हंसी-मजाक के संबंध :** हंसी-मजाक के संबंधों की मर्यादा विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार की हो सकती है। कहीं-कहीं मौखिक हंसी-मजाक ही उचित माना जाता है, पर कहीं-कहीं साधारण खेल-कूद और धींगामस्ती भी बुरे नहीं माने जाते हैं। कहीं-कहीं ऐसे संबंधियों को परस्पर यौन-संबंधों की भी छूट रहती है।

अधिकांश असभ्य समाजों में पुरुष अपने बड़े भाई की पत्नी के साथ हंसी-मजाक करने का अधिकारी माना जाता है। इसी प्रकार बड़ी बहन के पति और छोटी बहन (जीजा-साली) के बीच हंसी-मजाक उचित समझा जाता है। भारत के अधिकांश आदिवासी समाज इन संबंधों (भाभी-देवर और जीजा-साली) में यौन-संबंधों तक की छूट देते हैं। राजस्थान और सौराष्ट्र के भील देवर-भाभी अथवा जीजा-साली की संतानों को अवैध नहीं मानते। इसी प्रकार छोटा नागपुर की मुंडा जनजाति में यह संबंध समाज-स्वीकृत और कुछ हद तक समाज-प्रस्तावित माने जाते हैं। भारत की अधिकांश जातियों में भी इन दोनों संबंधों के बीच हंसी-मजाक बुरा नहीं माना जाता, परंतु एक हद तक बंगाल और मिथिला के देवर-भाभी और जीजा-साली के संबंध अत्यंत घनिष्ठ होने पर भी उनके बीच यौन-संबंध अच्छा नहीं माना जाता है।

नार्डिक : नार्डिक व्यक्ति बाल्टिक और उत्तर समुद्र क्षेत्रों में उत्तरी स्कैंडेनेविया के अतिरिक्त, डेनमार्क, पश्चिमी फिनलैंड, पोलैंड के उत्तरी भाग, जर्मनी, हालैंड, बैल्जियम, फ्रांस एवं इंग्लैंड तथा स्काटलैंड के बड़े क्षेत्रों में फैले हुए हैं।

नार्डिक गौर वर्णों की प्रजाति है। वे सामान्यतः निम्न-लिखित लक्षणों द्वारा पहचाने जाते हैं:

दीर्घ दैहिक (ऊंचा कद) उच्चता (172 से० मी० या उससे अधिक), तनु शरीर, लंबे अवयव, सामान्यतः संकीर्ण और लंबे आकार के आनन, दबी गंडास्थि तथा कोणिकीय कोण, प्रमुख चिबुक, पतले झिल्लीमय ओठ, मध्य नेत्रावलि, संकीर्ण और अत्यंत प्रमुख नासा, तनु नासा, सीधा नासावंश, वक्र अथवा उत्तल पतले नासा-छोर, दबे हुए नासा-पक्षक, त्वचा वर्ण सामान्यतः गुलाबी अथवा स्वर्णिम, केश वर्ण: प्रभूर्ज श्वेत, प्रभूर्ज बभ्रु, स्वर्णिम बभ्रु, केश सीधे अथवा तरंगित, बारीक तथा दूर-दूर स्थित। नेत्र वर्ण नीले घूसर, हल्के घूसर; शीर्ष आकार : दीर्घकपाली अथवा मध्य कपाली (सूचकांक लगभग 77) शीर्ष शंख के कारण संकीर्ण मस्तिष्क, कम प्रमुख तिर्यक भ्रूकटक।

स्कैंडेनेवियन मानवविज्ञानी, जो स्वीडन, नार्वे एवं डेनमार्क की जन-संख्याओं का विस्तृत सर्वेक्षण कर चुके हैं, नार्डिक के अनेक उप-प्रकारों को मान्यता देते हैं। इसके दो प्रमुख उप-प्रकार हैं: (क) एक सीमीत रूप के लंबे कदाचित तनु प्रकार, अधिक लंबे शीर्ष, चिपिट शंख, प्रवण मस्तिष्क, दुर्बल भ्रूकटक, लंबे संकीर्ण अश्वमुख जैसे, उच्च पतली नासा, गहरे हनु, केश सामान्यतः श्वेत प्रभूर्ज अथवा हल्के भूरे, त्वचा गुलाबी, नेत्र हल्के अथवा मिश्रित हल्के। (ख) भारी संछिद्रित अधिक विषम प्रकार, दृढ़तर वयन-वाली त्वचा, केश वर्ण बहुधा प्रभूर्ज की अपेक्षा स्वर्णिम बभ्रु, नेत्र बहुधा शुद्ध नीले की अपेक्षा मिश्रित, शीर्ष अधिक मध्यकपालिक, चौड़ी न्यून प्रवणवाले मस्तिष्क, स्थूल नासा, अधिक प्रमुख गंडास्थि एवं हनु कोण।

मानवविज्ञानी कून अधिक सूक्ष्म, प्रतिष्ठित, श्वेत प्रभूर्ज नार्डिक प्रकार के व्यक्तियों को लौह युग के उद्भव-काल का मानते हैं। उनका विचार है कि विषम स्वर्णिम गौरवर्ण प्रकार मानवजातिविज्ञान के अनुसार अधिक पुरातन तत्त्वों के सम्मिश्रण के समान है। ये पुरातन तत्त्व उच्च-पुरापाषाण मध्य-पाषाण और नव-पाषाण युग के हैं।

स्कैंडेनेवियन एवं जर्मन इस विचार से सहमत हैं कि प्रागैतिहासिक काल से नार्डिक प्रजाति के वितरण का केंद्र बाल्टिक के आसपास था। किंतु अन्य लोगों का मत है कि वे एशियाई शोष-स्थलों (स्टेपीज़) से आये हैं।

गुहा के अनुसार एक लंबे शीर्ष, लंबे आनन, संकीर्ण नासा, गुलाबी त्वचा, हल्के अथवा बभ्रू नीले नेत्र, चैस्टनट केश, ऊंचे कदवाले प्रोटोनार्डिक तत्त्व उत्तर-पश्चिमी हिमालय जनजाति में विशेष रूप से पाये जाते हैं। उनके अनुसार प्रोटो-नार्डिक तत्त्व आर्यों के उत्तर-पश्चिम भारत में 'आक्रमण' से संबंधित था।

निकटाभिगमन : निकटाभिगमन का नियम संसार के सारे मानव-समाजों में सर्वमान्य है। यह नियम सगे संबंधियों में विवाह का निषेध करता है। इसी प्रकार कुछ और व्यक्ति भी होते हैं, जो बहुत अधिक सगे संबंधी तो नहीं माने जाते, किंतु फिर भी उनके साथ विवाह या यौन-संबंध वर्जित होता है। भारत की जनजातियों में यह समूह (जिनके सदस्यों में विवाह-वर्जित है) गोत्र अथवा कुरी, इल्लम, कुल, मूल, पाल, बानी आदि विभिन्न नामों मे पुकारे जाते हैं। इनका ऐसा विश्वास है कि इस समूह के सभी सदस्य किसी एक पूर्वज की संतान हैं। हिंदू समाज में इसी तरह के समूह गोत्र और पिंड हैं।

निर्येंडर्थल मानव : 1856 में जर्मनी के निकट (डुसल-ड़ाफ) नियेंडर्थल गुफा में कपोलोर्ध्व एवं पाद-कंकाल के कुछ भागों की खोज की गयी थी। इसको नियेंडर्थल मानव कहा गया। तत्पश्चात् अनेक मानवविज्ञानियों ने इन्हें होमोजीनस (वंश) के (होमोनियेंडर्थलैसिस) भिन्न समूह का प्रतिनिधि जैसा मान लिया था। होमोनियेंडर्थलैसिस का संभवतः अत्यंत-नूतनयुग के मध्य में अवकलन किया गया, किंतु अत्यंत-नूतनयुग के अंत तक उत्तरजीवित नहीं रहा। इसी प्रकार के अन्य नमूने यूरोप में अनेक स्थलों में प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ, जिब्राल्टर, ला-चैपीली-आपस-सैंटस, ला-क्वीना, स्पाय, ला-फैरासी, मांट सिरको, ली मुस्टीयुर, ला-नानलीटे, जारसी इत्यादि। ये समस्त जीवाश्म नमूने, मुस्टेरियन काल के पिछले भाग के पुरा-प्रसार संस्कृति के समय के थे। वे एक जनसंख्या के प्रतिनिधि थे (नियेंडर्थल मानव अथवा मुस्टेरियन मानव)। जो हिमयुग के अंतिम हिमनदन के प्रथम काल में रहती थी।

नियेंडर्थल मानव के अवशेष यूरोप के बाहर भी पाये जा चुके हैं जैसे, पैलेस्टाइन में महत्त्वपूर्ण अवशेष, उज़बेक सोवियत जनतंत्र, कास्पियन सागर का पूर्व और ओराल झील का दक्षिण, टांगियर्स (मोरोक्को, अफ्रीका) इत्यादि।

एक प्रारंभिक नियेंडर्थल (मानव) का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है (कीथ, बुल, वैलाइस, हॉअल) :

(1) दैहिक उच्चता में तुलनात्मक दृष्टि से छोटा, बलिष्ठ शरीर। औसत दैहिक उच्चता दोनों लिंगों के लिए एक दशमलव पचपन मीटर थी।

(2) स्थूल सुपरा आर्बिटल टोरस का अतिरंजित विकास जो नेत्रकोटरों पर झूलता हुआ अस्थि के समान अखंडित निध्यपतल की रचना करता है।

(3) उद्वृत ललाट की अनुपस्थिति।

(4) करोटि-तोरण का चिह्नित चपटापन (चिपि-टकपालिक)।

(5) बाह्य पश्चकपाल-टोरस का विकास।

(6) आननी कंकाल के नेज़ोमैक्ज़िलरी प्रदेश का स्थूल विकास।

(7) एक भारी चिबुकास्थि, चिबुक उत्सेध की अनुपस्थिति।

(8) मोलर दंत की वृष-दंतिता की ओर विशिष्ट प्रवृत्ति (अर्थात मज्जागुहा का मूलों के संयोजन के साथ विवर्धन), कोई दंतावकाश नहीं।

(9) करोटि आधार के मध्य के पीछे महारंध्र की स्थिति।

(10) श्रवणद्वारक का गोल अथवा अनुप्रस्थीय दीर्घ-वृत्तीय आकार।

(11) मैस्टाइड प्रोसेस विशिष्ट नहीं होती।

(12) अधिक कपाल आयतन (1300–1600 सी० सी०)।

(13) दीर्घ अस्थियों का स्थूल निर्माण।

(14) सामान्य रूप में कपालोत्तर कंकाल की अस्थियां छोटी एवं स्थूल होती हैं। ये बलिष्ठ पेशी दर्शाती हैं।

(15) प्रकोष्ठ, ह्यूमरस की लंबाई की तुलना में छोटा होता है।

(16) मध्य और अत्यंत-नूतनयुग के नियेंडर्थल जीवाश्म दो समूहों में विभाजित किये गये हैं : (क) प्रतिष्ठित (क्लासिकी) और (ख) प्रगतिशील नियेंडर्थल मानव।

क्लासिकी नियेंडर्थल के बारे में विश्वास किया जाता है कि वे एक विशिष्ट विकासीय वंश-परंपरा है, जो उत्तर-पश्चिम यूरोप में विकसित हुई। ये क्लासिकी नियेंडर्थल तब अप्रवृत्त हो गये, जब अंतिम हिमनिवर्तन के पश्चात् होमोसैपियंस ने यूरोप को गमन किया।

प्रगतिशील नियेंडर्थल के बारे में विश्वास किया जाता

है कि वे क्लासिकी नियेंडर्थल से अलग विकसित हुए। ये होमोसेपियन्स के सीधे पूर्वज थे।

प्रतिष्ठित (संरक्षी) नियेंडर्थल : प्रतिष्ठित नियेंडर्थल मध्य एवं उच्च-अत्यंत-नूतनयुग के होमोनिड जीवाश्म हैं, जिसमें कुछ विशेषताएं ऐसी थीं, जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि वे उनको आधुनिक मानव से अलग करती हैं। कपाल की ध्यानाकर्षक विशेषताएं, जो उनको सीधे मानवी वंश-परंपरा से अलग करती हैं, निम्नलिखित हैं :

(1) एक अत्यधिक भारी सुपरा आर्बिटल टोरस।
(2) उदग्र ललाट नहीं।
(3) नीचे की ओर चपटा मस्तिष्क पटल।
(4) राजमाषाकार प्रोद्वर्धीय अनुकपाल।
(5) लंबा, उद्गत और संकीर्ण आनन।
(6) व्यावहारिक रूप से चिबुक अनुपस्थित।

प्रतिष्ठित नियेंडर्थल समूह में जीवाश्म का उपारोपण हुआ। जहां ये पाये गये—उन स्थानों के नाम से उनका नामकरण किया गया और उनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं :

स्पाइ (बैल्जियम), ला-चैपिली-आक्स-सेंटस, ला-फैरासी ली-मुस्टीयर, ला-क्वीना (फ्रांस), नियेंडर्थल (जर्मनी, जिब्राल्टर, मांटसिरको (इटली), शानीदार (ईराक), एवं संभवतः मांटमारिन (फ्रांस)। प्रतिष्ठित प्रकार का अत्यधिक संपूर्ण नमूना ला-चैपिली-आक्स-सेंटस, गुफा कोरेज़ी (फ्रांस) का वृद्ध मनुष्य हैं, जो 1908 में पाया गया। प्रतिष्ठित नियेंडर्थल कालानुक्रम रूप से वर्म-हिमनदन (ज़ूनर, 1940) के प्रथम काल के समय में हैं।

प्रगतिशील नियेंडर्थल : प्रगतिशील नियेंडर्थल नियें-डर्थलाइड लक्षण रखते हैं। लेकिन कहा जाता है कि वे आकारादि में अधिक विषमजातीय हैं। इन में से कुछ का प्रतिष्ठित नियेंडर्थल से तुलनात्मक अध्ययन दर्शाता है कि :

(क) उनके मस्तिष्क पटल अधिक छोटे और संकीर्ण होते हैं।
(ख) अधिक उच्चतर चापाकार ललाट।
(ग) सुपरा आर्बिटल टोरस नेत्र-कोटरों के ऊपर एक संपूर्ण अखंडित निघायतल का निर्माण नहीं करता।
(घ) उच्चतर करोटि-तोरण।
(ङ) पश्चकपाल फैला हुआ और कम विकसित आक्सीपटल टारेस।
(च) ग्रीवा-पेशियों का निम्न आसंजन।
(छ) चिबुक का उपमध्य से यथावत् विकास।
(ज) कंकाल के बचे हुए लक्षण लगभग आद्य समान होते हैं, किंतु शारीरिक रूप में लगभग आधुनिक मानव के समान होते हैं।

प्रगतिशील नियेंडर्थल में वे जीवाश्म निहित हैं, जो निम्नलिखित स्थलों में पाये गये :

एहरिंगसड्राफ, स्टीहीम (जर्मनी), सेक्कोपेस्टोर (इटली), कैपीना (यूगोस्लाविया), स्वांसकांब (इंग्लैंड), तैशिक ताश (उजबेकिस्तान), गैलीली, शुकबाह (फ्लैस्टीन) एवं स्खुल एवं ताबून की गुफाएं (माउंट कर्मिल, पैलेस्टीन)।

पूर्वभावी नियेंडर्थल (प्रगतिशील), कालानुक्रम रूप से पूर्ण वर्ग (अंतिम अंतर्हिमनदन टिस—वर्म) समय के हैं।

माउंट कर्मिल (पैलेस्टीन) कंकाल : पैलेस्टीन में (1921-31) माउंट कर्मिल के टीले पर गुफाओं में ये महत्त्वपूर्ण जीवाश्म-नमूने पाये गये। इनका विस्तृत रूप से वर्णन मैककाउन एवं कीथ (1939) ने किया। माउंट कर्मिल कंकाल दो पास-पास गुफाओं में प्राप्त किये गये थे, जिनमें से प्रत्येक ने लेवोलाइज़ो-मुस्टेरियन संस्कृति का ज्ञान प्रदान किया।

ज्यूनर (1940) के अनुसार माउंट कर्मिल जनसंख्या अंतर्हिमनदन काल (रिस-वर्म) से अंतिम हिमनदन (वर्म) के प्रथम चरण में फैली।

प्रथम गुफा स्खुल ने दस मनुष्यों के खंडित अवशेष एवं पर्याप्त मात्रा में पृथक्कृत नमूनों को प्रदान किया। द्वितीय गुफा ताबून में एक वयस्क महिला का कंकाल, एक वयस्क पुरुष की चिबुकास्थि और अस्थियां तथा दांत मिले। प्रगतिशील नियेंडर्थलाइड स्खुल गुफा के बाहर आगये थे एवं ताबून गुफा से प्रतिष्ठित नियेंडर्थलाइड। पाषाण-उपकरण-उद्योग दोनों गुफाओं में समान थे।

माउंट कर्मिल अवशेषों का जातिवृत्त : अनेक स्पष्टी-करण दिये जा चुके हैं :

मैककाउन एवं कीथ ने निष्कर्ष निकाला कि

अंतिम अंतर्हिमनदन (रिस-वर्म) अथवा अंतिम हिम-नदन काल में माउंट कर्मिल के व्यक्ति एकल जनसंख्या में थे। उनके विचार के अनुसार स्खुल एवं ताबून प्रकार उसी श्रेणी की चरम सीमाएं होते हुए विकासीय अप-सारिता का प्रदर्शन करते हैं।

माउंट कर्मिल अवशेषों की स्थिति के बारे में ली ग्रास क्लार्क (1955) का विचार निम्नलिखित है : होमोनिड के पिथिकेंथोपस समूह में मस्तिष्क का प्रगतिशील विकास मध्य-अत्यंत-नूतनयुग में, होमो प्रकार की उपस्थिति की ओर ले गया। यह आकार संबंधी प्रमाण पर, होमोसैपियन्स से विशिष्ट रूप से भिन्न नहीं था। हीमो के विकासीय इतिहास के इस बिंदु पर, विकास की दो पृथक दिशाओं का उदय हुआ। (क) एक दिशा में मस्तिष्क का क्रमश: फैलाव, सुपरा आर्बिटल टोरस, हनु एवं तालु का अतिरंजित विकास, कपाल एवं दांत का निश्चित विशेषीकरण, पाद कंकाल में प्रति-प्रगामी परिवर्तन—यह एक पृथक् जाति होमोनियेंडर्थलैसिस के विभेदीकरण की ओर ले जाती है, जो बाद में अप्रवृत्त हो गयी। (ख) दूसरी दिशा में मस्तिष्क का प्रगतिशील वर्धन, अधिनेत्र गुहा-कटकों एवं हनु का प्रतिसार, दांतों के आकार में भेद, समान रूप से गोल कपाल, उदग्र ललाट—यह दिशा होमोसैपियन्स को आधुनिक प्रजातियों की ओर ले गयी।

ली ग्रास क्लार्क के अनुसार माउंट कर्मिल मानव, पूर्व-मुस्टेरियन होमोसैपियन्स से विशेष होमोनियेंडर्थलैसिस जाति की पिछली स्थापना तक के अंतर्वर्ती का प्रति-निधित्व करते हैं।

अन्य मानवविज्ञानियों और जीवाश्म-शास्त्रियों ने इस परिकल्पना का विरोध किया। मांटेगू (1940) डाब्जैंस्की (1944) और हूटन (1946), के अनुसार माउंट कर्मिल जनसंख्या नियेंडर्थल मानव और एक आधुनिक प्रकार के संकरण का परिणाम थी। यह सब विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों में पहले ही निर्मित हो चुके थे।

वैकलर (1954) के अनुसार होमोसैपियन्स एवं नियेंडर्थल मानव पुरातन विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में दीर्घ और स्वतंत्र विकास रखते थे। माउंट कर्मिल होमो-सैपियन्स एवं नियेंडर्थल की संकर जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है। ए० थोमा (1958) भी माउंट कर्मिल जनसंख्या के संकरण-स्पष्टीकरण का समर्थन करता है। वह डाब्जैसिकी की परिकल्पना (1944) का समर्थन करता है कि केवल एक होमोनिड बहुप्ररूपी जाति का अस्तित्व था।

एफ० सी० हावेल (1957) का मत है कि पूर्व मुस्टेरियन होमोसैपियन्स का थोड़ा-सा भी प्रमाण नहीं है—वैलाइस, हैबरर, ली ग्रास क्लार्क इत्यादि जीवाश्म-विज्ञानियों के विचारों के बाद भी, उसका यही विचार है। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि कोई भी नियेंडर्थल-जनसंख्या शारीरिक रूप से आधुनिक मानव के सीधी पूर्वज है, लेकिन उन्होंने माउंट कर्मिल-जनसंख्या की निम्नलिखित रूप से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है :

> 'स्खुल' जनसंख्या शारीरिक रूप से आधुनिक आकारिकी की ओर अधिक प्रवृत्त है, यद्यपि ताबून जनसंख्या के साथ अतिच्छाद था—पूर्व-अंतिम-प्लूवियलकाल में इस प्रदेश में सैपिन्हाइजेशन की ओर वृद्धि की प्रवृत्ति का होना अवश्यंभावी था।

नीग्रो : नीग्रो-विशेष उष्ण अफ्रीका में फैले हुए हैं। अफ्रीकी-विशेष नीग्रो अथवा वन-नीग्रो पश्चिम अफ्रीका की सेलेगल नदी के दक्षिण में तथा पुर्तगालीय पश्चिमी अफ्रीका की दक्षिणी सीमा तक फैले हुए तटीय प्रदेशों में पाये जाते हैं। अंतर्देश में यह प्रकार नाइजर क्षेत्र एवं कांगो प्रदेश में प्रभावशाली रूप में वर्तमान हैं। ये अधिकतर पूर्वी प्रदेश में पाये जाते हैं।

सामान्य आकृतिक लक्षण

(क)	केश आकार	ऊनी अथवा फ्रिजली
(ख)	त्वचा वर्ण	गहरे भूरे से काला
(ग)	केश वर्ण	काला
(घ)	नेत्र वर्ण	गहरे भूरे से काला
(ङ)	नासा सूचकांक	85 एवं अधिक चिपिट-नास
(च)	नासा प्रकार	छोटी, परिच्छेदिका अवतल अथवा सीधा, बहुत कम उत्तल, नासा-मूल-सामान्यतः कम

		ऊंचाई के एवं चौड़े, नासा-छोर बहुत मोटे, नासा-पक्ष मोटे एवं बाहर की ओर फैले हुए, नासापट उत्तल।
(छ)	ओष्ठ आकार	अध्यादरणीय ओष्ठ मोटे, ऊपर के ओष्ठ उत्तल एवं झिल्लीमय, सामान्यतः फूले हुए एवं बहिर्वृत्त चिह्नित।
(ज)	आननी उद्गति	बहुधा नासा से नीचे भाग में चिह्नित।
(झ)	आनन आकार	छोटा, गोल कपोल एवं पीछे हटे हुए चिबुक।
(ञ)	शीर्ष आकार	अधिकतर दीर्घकपाली एवं बाहर निकले हुए पश्चकपाल, गोल ललाट एवं छोटे भ्रूकटक।
(ट)	रोम की मात्रा	सामान्यतः छोटे केश, छुटपुट दाढ़ी, एवं शरीर पर कम।
(ठ)	कर्ण आकार	सामान्यतः छोटे एवं चौड़े कर्ण, संपूर्ण रूप से मुड़ी कर्ण-कुंडलिका, कर्णपलि छोटे अथवा अनुपस्थित।
(ड)	भुजा एवं हाथ	अपेक्षाकृत लंबे प्रकोष्ठ एवं छोटे अंगूठे।
(ढ)	टांग एवं पाद	टांग का निचला भाग अपेक्षाकृत लंबा।
(ण)	कद या शारीरिक आकार (दैहिक उच्चता)	शारीरिक आकार में अत्यधिक असमानता, पश्चिमी सूडान एवं कांगो क्षेत्र में वर्षा वनों में सामान्यतः 165 से० मी० से 169 से० मी० तक दक्षिणी अफ्रीका सूडान के अधिक खुले क्षेत्र, लक क्षेत्र तथा दक्षिणी अफ्रीका में बहुधा 170 से० मी० से अधिक।

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नीग्रो जनजातियां अथवा परिवार निम्नलिखित हैं :

(1) **वोलोफ एवं सीरेर :** सीनेगल एवं गांबिया नदियों के मध्य के अधिकांश क्षेत्र में ये लोग बसे हुए हैं। ये अबोनी वर्ण (कुदार वृक्ष के रंग के समान वर्ण), ऊंचे कद (173 से० मी०), धड़ के अनुपात में पतली एवं लंबी टांगें, अंडाकार आनन, कपोल की हड्डी कम उभरी हुई, अत्यधिक दीर्घ शिरस्थ तथा कम चिपिटनासा वाले होते हैं।

(2) **मंदिनगों समूह :** ये फ्रांसीसी सेनेगाल एवं सूडान के दक्षिणी भाग में रहते हैं। ये ऊंचे (170 से० मी०) किंतु वोलोफ की अपेक्षा छोटे कद के होते हैं। वचा वोलोफ के समान गहरे वर्ष की नहीं होती। कपोल की हड्डी कम उभरी होती है। ललाट कम चौड़ा और पीछे की ओर हटा हुआ होता है। उनमें नासा चौड़ी, प्रमुख हनु, मुड़े हुए ओष्ठ व दीर्घ शीर्ष होता है। इस समूह की कई महत्त्वपूर्ण प्रजातियां हैं, जैसे : मैलिंकी, बाबैरा, द्वौला, कसौकी इत्यादि।

(3) **अशांति :** गीना तट के सबसे पश्चिमी भाग पर इनका अधिकार है। इनकी दैहिक माप सुझाती है कि ये विशिष्ट रूप वे सजातीय मनुष्य हैं, जो सामान्य कद, अत्यधिक दीर्घ शिरस्थ एवं चौड़े नासावाले होते हैं।

(4) **हौसा :** ये नीग्रो अत्यधिक काले, आवश्यक रूप से दीर्घ शिरस्थ, करोटि (खोपड़ी) प्रायः पंचभुजीय आकार की, बहुत कम प्रोद्गत हनु, कम चिपिट नासावाले होते हैं। पश्चिमी तटीय नीग्रो की अपेक्षा यह कम पेशीय, किंतु लंबी टांगों और ऊंचे कदवाले होते हैं।

(5) **अन्य जनजातियां :** उदाहरणतः सौंघाई (नाइज़र के पूर्वी मोड़ के भाग में रहते हैं), योरूबा (गोल्ड तट क्षेत्र), मोसी (वागाडूग क्षेत्र), सर्वा (लेक चाड के पूर्वी एवं दक्षिण भाग में रहते हैं)।

न्यूक्लिक अम्ल (डी० एन० ए० और आर० एन० ए०) : 1897 में मीशर ने न्यूक्लिक अम्लों की खोज की थी। न्यूक्लिक अम्लों के गुरु अणु, पांच कार्बन शर्करा (या तो

डीआक्सीराइबोज या राइबोज), फास्फोरस, एवं नाइट्रोजन-क्षारकों (प्यूरिन्स एवं पिरीमिडीन्स) के मिलने से बने हैं।

डी० एन० ए० एवं आर० एन० ए० : न्यूक्लिक अम्ल दो प्रकार के होते हैं, जो प्राथमिक रूप में शर्करा के विभिन्न प्रकार के कारण भिन्न होते हैं। उनमें से एक डीआक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल (डी० एन० ए०) और दूसरा राइबोन्यूक्लिक अम्ल (आर० एन० ए०) कहलाता है।

डी० एन० ए० केंद्रक में पाया जाता है एवं आर० एन० ए० मुख्यतः कोशिका द्रव्य में पाया जाता है, किंतु केंद्रक में भी पाया जाता है। डीआक्सीराइबो न्यूक्लिक अम्ल मुख्यतः गुणसूत्रों तथा जीनों की संरचना करता है। डी० एन० ए० आनुवंशिकीय सामग्री के संचारण के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी होता है। जीन कोड अथवा आनुवंशिक संदेश, जो वंशागति का संदेश है, डी० एन० ए० में उपस्थित होता है। डी० एन० ए० कोड का वाहक होता है। आर० एन० ए० का मुख्य कार्य प्रोटीन संश्लेषण करना है।

संरचना : वाटसन एवं क्रिक (1953) के अनुसार डी० एन० ए० न्यूक्लियोटाइड की लंबी श्रृंखलाओं का बना हुआ होता है। प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड में एक नाइट्रोजन युक्त क्षारक (पिरीमिडीन अथवा प्यूरीन), एक पैंटोज़ (5 कार्बन), शर्करा एवं फास्फोरिक अम्ल होता है।

डी० एन० ए० में शर्करा डीआक्सीराइबोज होता है। प्यूरीन दो प्रकार के होते हैं अर्थात् एडीनीन (ए) ग्वेनीन (जी) एवं पिरीमिडीन भी दो प्रकार के होते हैं : थायमीन (टी) एवं साइटोसीन (सी)। शर्करा एवं फास्फेट समूह प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड में एकरूप होते हैं। केवल चार क्षारक विभिन्न होते हैं। आर० एन० ए० में शर्करा राइबोस होती है एवं थायमीन के अतिरिक्त सब क्षारक डी० एन० ए० के समान होते हैं। थायमीन के स्थान पर यूरासिल उपस्थित होता है।

श्रृंखला में प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड अगले न्यूक्लियोटाइड से फास्फेट समूह द्वारा एक ही तरह से जुड़ा हुआ होता है।

डी० एन० ए० में	**आर० एन० ए० में**
न्यूक्लियोटाइड्स	न्यूक्लियोटाइड्स
डीआक्सी एडीनेलिक अम्ल	एडीनेलिक अम्ल
डीआक्सी ग्योनेलिक अम्ल	ग्योनेलिक अम्ल
डीआक्सी साइटेडेलिक अम्ल	साइटेडेलिक अम्ल
थायमीडेलिक अम्ल	यूरीडेलिक

1953 में एम० एच० एफ० विल्किन्स और एन० फ्रेंकलिन तथा उनके सहकर्मियों ने एक्स-रे (X-रे) विवर्तन अध्ययन द्वारा डी० एन० ए० की त्रिविम संरचना का प्रतिपादन किया। उन्होंने पाया कि (क) प्रत्येक डी० एन० ए० गुरु अणु में न्यूक्लियोटाइड एक-सी प्रणाली में स्थानिक रूप से अभिविन्यस्त थे। (ख) एक्स-रे (X-रे) विवर्तन अध्ययनों से पता चला है कि डी० एन० ए० की संरचना कुंडलिनी के रूप की है एवं इसमें कम-से-कम दो कुंडल होते हैं।

एक्स-रे विवर्तन से पाये गये आंकड़े तथा डी० एन० ए० के रासायनिक विश्लेषण द्वारा निकाली गयी सूचनाएं, डी० एन० ए० संरचना के लिए माडल चुनने में जी० डी० वाटसन और एफ० एच० सी० क्रिक (1953) द्वारा उपयोग में लायी गयीं। महत्त्वपूर्ण विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) डी० एन० ए० की संरचनात्मक इकाई में न्यूक्लियोटाइड्स की दो लंबी कुंडलित श्रृंखलाएं होती हैं, जो एक सामान्य अक्ष के चारों ओर कुंडलिनी के रूप में होती है (दे० चित्र)।

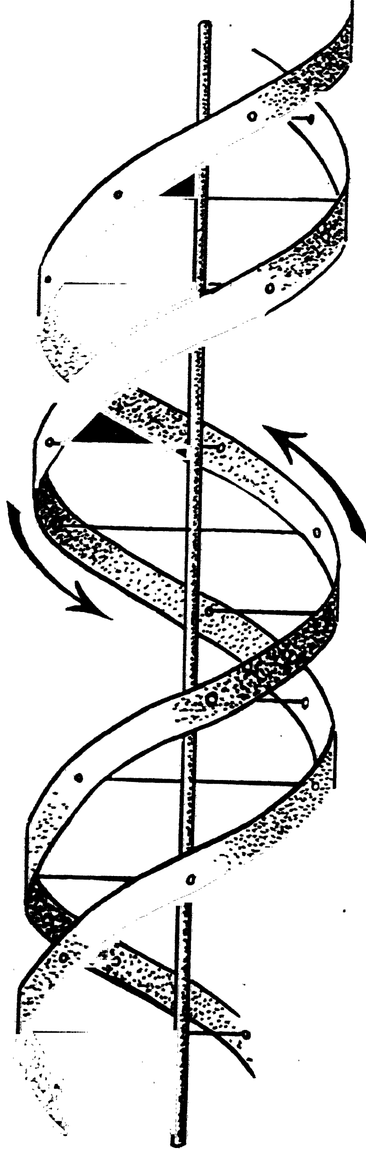
(2) दोनों श्रृंखलाएं एक-दूसरे की इस प्रकार पूरक होती हैं कि एक का प्यूरिन दूसरे पर स्थित पिरीमिडिन के साथ युगल बनाता है।

(3) एडीनीन सदैव थायमीन एवं ग्वेनीन सदैव सिस्टोसीन के साथ युगल बनाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताओं को देखते हुए एक जीन में डी० एन० ए० की इस द्विकुंडलिनी संरचना का एक खंड होता होगा।

प्रतिकृति : जब प्रतिकृति (पुनरावृत्ति) का समय आता है, युग्मकुंडलिनी की दो पट्टियां अपने दुर्बल उद्जन बंधन पर टूटकर अलग हो जाती हैं और एक पट्टी में जुड़ जाती हैं तब डी० एन० ए० की प्रत्येक एकल पट्टी कोशिका में रसायन के भंडार से स्वयं में पूरक भागों को आकर्षित करती है। एडीनीन अपनी ओर फास्फेट समूह शर्करा अणु डीआक्सीराइबोज़ थायमीनवाले न्यूक्लियोटाइड को

आकर्षित करता है। ग्वेनीन साइटोसीन इत्यादि को आकर्षित करता है। इस प्रकार दो पूर्ण पट्टियों का निर्माण



डी०एन०ए० (वाटसन एवं क्रिक)

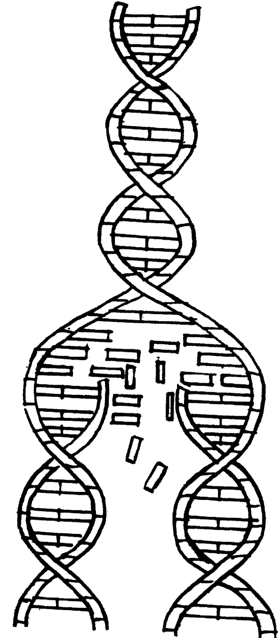
होता है और जीन द्विगुणित हो जाता है (दे० चित्र)। आर० एन० ए० एकल पट्टी के होने के कारण डी० एन० ए० से भिन्न होता है और डी० एन० ए० की प्रतिकृति (पुनरावृत्ति) की क्रिया आर० एन० ए० पर लागू नहीं हो सकती।

गुण : (1) डी० एन० ए० रेशेदार गुरु अणु है। अधिक अणुभार, ताप एवं तीव्र अम्लों जैसे कारकों द्वारा किये जानेवाले आक्रमणों के प्रति अत्यधिक प्रतिरोधी होता है।

(2) डी० एन० ए० का घोल स्पेक्ट्रम क्षेत्र में लगभग 260 तरंग दैर्ध्य के आस-पास पराबैंगिनी विकिरण का अवशोषण करता है।

(3) विभिन्न स्रोतों द्वारा डी० एन० ए० के रासायनिक विश्लेषण से सदैव ए० और टी० (ए०-टी०) तथा जी० और सी० (जी-सी) की लगभग समान मात्रा प्राप्त होती है।

(4) प्रत्येक कोशिका के डी० एन० ए० की मात्रा की माप दर्शाती है कि किसी जीव की कोशिकाओं में वह सदैव उसी तरह बना रहता है, जब कि अन्य कोशिका-अवयवों की मात्रा परिवर्तनशील होती है। किंतु युग्मक में डी० एन० ए० की मात्रा कायिक कोशिकाओं में पायी

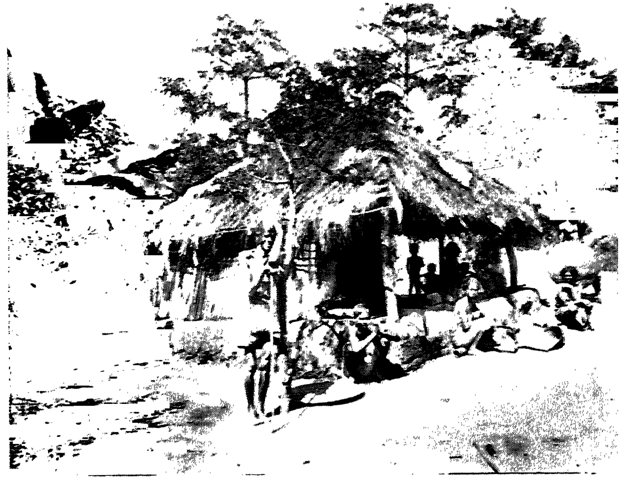


जीन द्विगुणीकरण



जोगी जाति का परिवार

पनिया जाति का परिवार



तोडा जाति





पनिया जाति का परिवार।

जानेवाली मात्रा की आधी होती है।

(5) फ्यूलजन रंजक विशेष रूप से केंद्रक में डी० एन० ए० की डीआक्सीराइबोज शर्करा पर क्रिया करता है। प्रति कोशिका डी० एन० ए० की मात्रा केंद्रक में फ्यूलजन की क्रिया को मापने से मालूम की जा सकती है।

(6) डी० एन० ए० के अन्य गुण हैं: प्रतिकृति, पुनः संयोजन, एवं उत्परिवर्तन।

पणियन जाति : मलबार (केरल) में रहनेवाली एक कृषक जाति पणियन जाति है। इस जाति के लोग नीलगिरि प्रांत में भी पाये जाते हैं। मलबार प्रांत में रहनेवाले पणियन जाति के लोग मलयालम भाषा बोलते हैं किंतु नीलगिरि प्रांत में रहनेवाले लोग कन्नड़ भाषा बोलते हैं।

पणियन जाति के लोग नाटे कद के होते हैं। ये लोग आस्ट्रेलाइड वर्ग से संबद्ध आदिवासियों की तरह काले रंग के होते हैं। इनकी नाक चौड़ी, बाल छोटे और घुंघराले, नाक बाहर को निकली हुई होती है। पहले ये लोग खेती करनेवाले मजदूरों के रूप में जमींदारों के पास रहते थे। जमींदार आपस में इन्हें बेचते-खरीदते भी थे। पणियन शब्द 'पणि' नामक द्रविड़ शब्द से उद्भूत है। इस शब्द का अर्थ होता है काम या काम करनेवाला। गुलामी की प्रथा के समाप्त हो जाने के बाद भी ये लोग किसी न किसी रूप में मजदूरों का जीवन ही बिता रहे हैं। काफी के बगीचे में मजदूरी का काम ये लोग करते हैं। वफादार सेवक के रूप में भी इनसे काम लिया जाता है।

आचार-व्यवहार : जमींदार इन लोगों में से एक को मुखिया बनाता है, जो कुत्तन् के नाम से जाना जाता है। अधिकार की निशानी के रूप में जमींदार कुत्तन् को एक कड़ा भेंट करता है। कुत्तन् के बाद परिवार के बड़े लोग अधिकारी माने जाते हैं। ऐसे लोग मुदली के नाम से जाने जाते हैं। कुत्तन् और मुदली लोग मिलकर एक पंचायत बनाते हैं। इनके आपसी झगड़ों का निपटारा मुखिया करता है। विवाह के समय वर की तरफ से उसकी कोई रिश्तेदार स्त्री वधू के गले में मंगलसूत्र बांधती है। विवाह में दिये जानेवाले भोज के अवसर पर पणियन जाति की स्त्रियां नाचती हैं। इन लोगों में विवाह के समय वर द्वारा वधू के घरवालों को कुछ धन देने की प्रथा है। लेकिन इससे बचने के लिए कभी-कभी लड़का चोरी-छिपे लड़की से शादी कर लेता है। दामाद के लिए आवश्यक होता है कि वह अपने ससुर को हर साल एक रुपया दे। पणियन जाति के पुरुषों को अपनी पत्नियों पर बहुत अधिक अविश्वास होता है। इसीलिए ये लोग अपनी बीबियों को अन्य पुरुषों के साथ बात करते हुए देख नहीं सकते हैं। साली के साथ विवाह करने की इनमें प्रथा नहीं है। विधवा विवाह हो सकता है।

ये लोग मुर्दे को दफनाते हैं। हर साल श्राद्ध करके अपने पूर्वजों को प्रसन्न करने की भी प्रथा इनमें पायी जाती है। पेड़ों तथा भगवती, काली आदि देवियों की ये आराधना करते हैं।

पणियन जाति के लोग मेहनती और सरल स्वभाव के होते हैं। शायद इनके इसी स्वभाव के कारण इनपर हमेशा धनवानों द्वारा बहुत अत्याचार होते रहे हैं। जंगलों में घूमकर, जमींदारों के यहां चाकरी करके जीविका चलानेवाली अपनी परंपरागत स्थिति को छोड़कर, स्वावलंबी और आत्माभिमानी होने की दिशा में इन लोगों ने अब भी कोशिश शुरू नहीं की है।

परसंस्कृति ग्रहण : जब मानव-जीवन की सांस्कृतिक अवस्था पर किसी दूसरी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है, तो उसके कुछ भाग एक-दूसरे के प्रभाव के कारण बिल्कुल बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए हम उन जनजातियों को ले सकते हैं, जिनकी संस्कृति के अधिकांश भाग ईसाई धर्म के प्रचार के फलस्वरूप बदल गये हैं।

परिवार : एक केंद्रीय अथवा प्राथमिक परिवार में साधारणतः पति-पत्नी और उनकी संतानें होती हैं। पति अथवा पत्नियों की संख्या समाज-स्वीकृत विवाह-नियमों पर आधारित होती है। इस संबंध में निम्नलिखित चार स्थितियां हो सकती हैं: (1) एक पति और एक पत्नी (2) एक पति तथा अनेक पत्नियां (3) अनेक पति तथा एक पत्नी और (4) अनेक पति तथा अनेक पत्नियां।

केंद्रीय परिवार के अतिरिक्त संयुक्त परिवार तथा विस्तृत परिवार भी होते हैं। भारत के ग्रामीण समाज में केंद्रीय परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहिन और उनकी पति-पत्नी और संतानवाले

परिवारों के उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक युग में इस प्रकार के परिवारों का ह्रास हो रहा है। उद्योगीकरण तथा इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों नें संयुक्त परिवार की नींव हिला दी है।

वारनर ने केंद्रीय परिवार का एक और वर्गीकरण दिया है। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न समय में दो प्राथमिक परिवारों का सदस्य होता है। अपने जन्म के द्वारा सदस्यता प्राप्त करनेवाले परिवार को "जन्म-परिवार" एवं विवाह के बाद सदस्यता प्राप्त करनेवाले परिवार को "जनन परिवार" कहते हैं।

पलायन विवाह : इस प्रकार का विवाह एक युवक और एक युवती की सहमति से ही संभव होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि इनके अभिभावक शादी की स्वीकृति नहीं देते। ऐसी परिस्थिति में वे दोनों बस्ती से दूर भागकर 'गांधर्व विवाह' कर लेते हैं। कुछ समय के पश्चात् वे लौटते हैं, तब समाज उन्हें इसकी स्वीकृति दे देता है। छोटा नागपुर और दूधी पालामऊ के जनजातीय क्षेत्रों में और खानदेश के भीलों में पलायन विवाह का प्रचार बढ़ रहा है। यातायात की सुविधा और दूरस्थ स्थानों में रोजगार मिलने की सुविधा ने इस रीति को बढ़ावा दिया है। वैसे पलायन विवाह पहले भी होते थे। गोंड एवं भील जनजातियों में ऐसी प्रथा थी कि त्योहार में जब सभी शराब पीकर मस्त हो जाते थे, तब प्रेमी युगल गांव से जंगल में भाग जाते थे। कुछ समय पश्चात् लौटने पर उन्हें दंडस्वरूप 'जाति भोज' देकर जाति में मिला लिया जाता है।

पलायन विवाह का कारण या तो वर पक्ष द्वारा कन्या मूल्य देने में असमर्थता है या दोनों पक्षों की खानदानी दुश्मनी। प्रायः युवक अपनी सगोत्र अथवा निकट संबंघी या किसी अन्य जाति की युवती को, जिसके साथ विवाह संभव न हो, लेकर भाग जाते हैं और आसाम के चाय बागान, कलकत्ता, टाटानगर या बंबई के मिलों-कारखानों में कुछ काम कर लेते हैं। ऐसे लोग या तो गांव लौटते ही नहीं और यदि लौटते हैं तो उसके धन और शहरीपन के कारण गांववाले उनका बहिष्कार करने में हिचकते हैं। ऐसे विवाह वस्तुतः गांवों के सामाजिक जीवन और चिंतन में परिवर्तन की भूमिका निर्मित करते हैं।

पश्चिमी एशिया में पीतल एवं कांसा संस्कृति : मिस्र, मेसोपोटेमिया एवं भारत में सिंधु घाटी में 2,000 से 4,000 ई० पू० तक संस्कृति बहुत ही विकसित थी। अफ्रीका और एशिया के अन्य स्थल इनसे कम विकसित थे और यूरोप तो बिल्कुल ही पिछड़ा हुआ था। मेसोपोटेमिया के कई स्थानों में पुरातत्व-वेत्ताओं ने पीतल युग के प्रमाण खोद निकाले हैं। उन दिनों दक्षिण मेसोपोटेमिया की जलवायु अधिक नम थी तथा मनुष्य के रहने के योग्य नहीं थी। परंतु 3,500 ई० पू० के पश्चात् जल पीछे की ओर हट गया और उस स्थान को लोग 'सुमेर' के नाम से पुकारने लगे। वहां के निवासियों को सुमेरियन कहा जाने लगा। सुमेरियन मिट्टी पर लिखकर अपनी संस्कृति के प्रमाण छोड़ गये हैं, जिन्हें पढ़कर पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उनके जीवन तथा संस्कृति पर प्रकाश डाला है। सुमेर देश कई शहरों और प्रदेशों में बंटा हुआ था, जिनकी सीमाओं की रक्षा उस देश के नागरिक करते थे। वे धातु के बने शस्त्रों का प्रयोग करते थे। प्रत्येक शहर का अपना राजा और देवता होता था। राजा तथा देवता में काफी निकट का संबंध होता था और कभी-कभी तो राजा खुद ही देवता के रूप में माने जाते थे। प्रत्येक देवता के लिए सुंदर तथा बड़े मंदिर बने होते थे। मंदिरों का हिसाब-किताब मुंशी करते थे। सुमेरियन प्रत्येक वस्तु को 10 अंकों में गिनते थे। सुमेरियन लोगों ने सर्वप्रथम गणित का प्रयोग खगोल विद्या में किया। उन्होंने ग्रहों का पता लगाया और उनकी गति के तथा ग्रहण के समय की जानकारी प्राप्त की।

हमारा आज का विज्ञान कुछ हद तक उनके अनुसंधानों पर आधारित है। सुमेर के लोगों ने कृषि, पशुपालन, मिट्टी के बर्तन बनाने, कपड़ा बुनने तथा मकान बनाने में बहुत उन्नति की थी। दक्षिण मेसोपोटेमिया में काठ एवं पाषाण की कमी के कारण वहां के लोगों ने मिट्टी की ईंटें बनाकर मकान बनाने शुरू किये। सबसे अच्छे मकान मंदिर और राजाओं के होते थे, जो ऊंचे स्थानों पर बनाये जाते थे। अन्य लोगों के मकान चौकोर आकार के होते थे। गंदगी एवं पानी के निकास के लिए नलियां भी बनी होती थीं।

3,000 ई० पू० के पश्चात् पश्चिमी मैसोपोटेमिया में सेमैटिक लोग भी पाये गये हैं। लगभग 2,300 ई० पू०

'सागण' नाम के राजा ने तमाम मेसोपोटैमियों को संगठित किया। परंतु 'सागण' के मरने के बाद एक अन्य सेमिट 'हमुराबी' ने सारे मेसोपोटेमिया पर अधिकार जमा लिया। उसने अपनी राजधानी बेबीलोन में बनायी। 'हमुर' ने प्रथम बार देश के कानूनों का संग्रह किया। उसने न्यायालय के नियम बनाये। गवाहों को शपथ दिलाने की प्रथा चलायी। न्यायालय के निर्णयों को अनिषेध्य बनाया।

पश्चिमीकरण : किसी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देश में होनेवाले परिवर्तनों के लिए पश्चिमीकरण शब्द प्रचलित है। अंग्रेजी शासन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए। नयी औद्योगिक क्रांति और उसके परिणामस्वरूप संचार-साधनों में होनेवाली क्रांति की सहायता से अंग्रेजों ने देश का एकीकरण किया, जो उसके इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था।

अवधारणा के आधार पर पश्चिमीकरण और उसकी सामान्यत: सहवर्ती दो अन्य प्रक्रियाओं—'उद्योगीकरण और नगरीकरण' के बीच अंतर करना आवश्यक है। उद्योगीकरण के पहले भी नगर थे, लेकिन वे पश्चिम में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप बने नगरों से अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में भिन्न थे। इन्हें सहारे के लिए वही देहाती आबादी की जरूरत होती थी, जिसके कारण प्राचीन और मध्ययुगीन देश कुछ बड़े-बड़े नगरों के बावजूद मुख्यत: कृषि-प्रधान देश ही बने रहे। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप नगरीकरण की गति बढ़ गयी और परिणामस्वरूप नगर-क्षेत्र सामान्य रूप से अत्यधिक उद्योग-प्रधान क्षेत्र हो गये हैं।

अधिकांशत: पश्चिमीकृत समूह सामान्यत: बड़े शहरों में ही पाये जाते हैं।

पहाड़िया जनजाति : पहाड़िया के दो प्रधान वर्ग हैं। एक का नाम 'सौरिया' पहाड़िया है और दूसरे को 'माल' पहाड़िया कहा जाता है। इन दो के अलावा एक तीसरा पहाड़िया समूह भी है, जिसे 'कुमार भाग' के नाम से पुकारा जाता है। इनकी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अवस्था काफी भिन्न है। माल पहाड़िया सौरिया पहाड़िया को घृणा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि ये गाय एवं भैंस का मांस खाते हैं। सौरिया पहाड़िया के हाथों का बनाया भोजन ये नहीं खाते हैं।

सौरिया पहाड़िया प्रधानत: दक्षिणी बिहार के संथाल परगना एवं पूर्णिया जिले में पाये जाते हैं। इनके घर पहाड़ियों या तराई में होते हैं। इनकी भाषा 'मालतो' कहलाती है, जो उरांव की 'कुरुख' भाषा से मिलती-जुलती है। 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या बिहार में 1,02,268 तथा पश्चिम बंगाल में 487 थी।

माल पहाड़िया की भाषा भी 'मालतो' कहलाती है। इनका पेशा खेती-बारी करना है (विशेष जानकारी के लिए दे० मालेर जनजाति)।

पालीनीशियन : मध्य प्रशांत सागर के द्वीपों को पालीनीशिया नाम दिया गया है तथा ये द्वीप-समूहों के रूप में इस विशाल सागर में बिखरे हुए हैं। इन द्वीपों में अधिकतर द्वीप एक समबाहु त्रिभुज के भीतर स्थित है जिसका शिखर हवाई द्वीप है, आधार का पूर्वी कोण पूर्वी द्वीप है तथा पश्चिम में न्यूजीलैंड है।

पालीनीशिया के निवासी विश्व की एक अत्यंत लंबी एवं अत्युत्तम दर्शनीय प्रजाति का संस्थापन करते हैं। दैहिक उच्चता औसत 173 से० मी० होती है। सामान्य रूप से उनका त्वचा वर्ण पीला-भूरा होता है। उनके केश तरंगित और काले होते हैं। उनका शीर्षरूप पृथुकपालिक होता है। उनकी आकृतियां मध्य स्थूल होती हैं तथा उनका शरीर-निर्माण बलिष्ठ होता है। किंतु उनके मिश्रित उद्भव के कारण वे भिन्नता की एक लंबी कड़ी प्रदर्शित करते हैं। त्वचा वर्ण लगभग श्वेत गाढ़े-भूरे के मध्य, शीर्ष-रूप दीर्घकपाली से पृथुकपाली, आनन यदा-कदा चौड़े एवं कदाचित छोटे होते हैं किंतु बहुधा बहुत लंबे एवं संकीर्ण होते हैं। नासा तनु एवं ऊंचे अथवा चौड़े हो सकते हैं। वे छोटे और अवतल होते हैं। केश अधिकतर तरंगित होते हैं, यदा-कदा सीधे एवं लच्छेदार (फ्रिजली) भी होते हैं। यह देखा गया है कि (क) कुछ पालीनीशियन मंगोलकल्प विकृतियां दर्शाते हैं। (ख) कुछ में नीग्रो-विशेषक स्पष्ट हैं। (ग) कुछ लगभग यूरोपीय प्रकार के होते हैं। (घ) अंतत: पालीनीशियन की एक बहुसंख्या में प्राय: ये समस्त प्रजातीय लक्षण सम्मिश्रित हैं। अत:

यह अत्यन्त स्पष्ट है कि यह प्रजाति कुछ नीग्रोकल्प, मंगोलकल्प एवं श्वेत सम्मिश्रिण के द्वारा निर्मित है। यह संदेहहीन है कि ये घटक-तत्व अनुपात में अनेक द्वीप-समूहों में भिन्न हो चुके हैं।

प्रजातीय संकरणों से प्रमाण : पालीनीशियन का प्रजातीय संकरण—नीग्रोकल्प एवं मंगोलकल्प लक्षणों के प्रकाश में—इस ओर संकेत करता है कि इस मिश्र प्रजाति में श्वेतविभेद अन्य दूसरे दो तत्त्वों की अपेक्षा अधिक मात्रा में है (हूटन 1956)।

उदाहरणतया (क) यूरोपवासियों का पालीनीशियन के साथ संकरण जैसे बाउंटी के सैव्य विद्रोहियों के वंशज एवं ताहीती स्त्रियों, जो अपने भौतिक लक्षणों में अधिक यूरोपीय हैं (शापिरो द्वारा अध्ययन किया गया) के साथ। (ख) पालीनीशियन का हवाई के चीनियों के साथ संकरण ऐसा स्पष्ट मंगोलकल्प नहीं है, जैसी आशा की गयी थी। (ग) फीज़ी के मूल निवासी पालीनीशियन और मैलेनेशियन के मध्य संकरण के परिणाम हैं। इनमें गहरी त्वचा एवं लच्छेदार (फ्रिजली) केशवाले होने के उपरांत भी आवश्यक रूप से श्वेत प्रकार की शारीरिक रचना एवं विकृतियां परिलक्षित हैं।

पालीनिशियन प्रजाति की उत्पत्ति के सिद्धांत :

(1) एक सिद्धांत के अनुसार एक इंडोनेशियाई अथवा मूल रूप से मैडीटेरेनियन श्वेत समूह ने एशिया मे निकलकर पूर्व दिशा में गमन करते हुए कुछ विशिष्ट मंगोलकल्प एवं नीग्रोकल्प विभेदों को ग्रहण किया अर्थात् वे एक निष्पन्न मिश्रित प्रजाति के रूप में पहुंचे।

(2) दूसरे सिद्धांत के अनुसार, जिसे डिक्सन ने योग्यतापूर्वक प्रतिपादित किया है, पालीनीशियन प्रजाति एशियाटिक महाद्वीप से पूर्व की ओर प्रवसंग तरंग की पूर्वानुपस्ता मे व्युत्पादन करता है।

(3) पालीनीशियन के प्रमुख शोधकर्ता शापिरो का मत है कि पालीनीशिया पूर्वानुपरतीय प्रवसनों में मनुष्य द्वारा बसा। ये वे ही व्यक्ति थे, जो एशिया में संगठित हो चुके थे। किंतु, तत्पश्चात, प्रवसन द्वारा आये व्यक्ति पथिकृतों से कपालिक आवृत्तियों में भिन्न हो गये तथा विशेष रूप से अधिक पृथुकपालिक हो गये।

उपर्युक्त तीनों सिद्धांत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अलग-अलग रूप में पूर्ण नहीं लगते हैं।

पिग्मी (नीग्रीटो) : पिग्मी कांगो के वनों में छोटे-छोटे समूहों में फैले हुए हैं। वे शिकारी हैं। वे कृषि तथा पालतू पशुओं से अनभिज्ञ हैं। पिग्मी सामान्यतः अत्यधिक आद्य अवस्था में रहते हैं। प्रशांत महासागर के क्षेत्र में पिग्मी अथवा नीग्रीटो मलाया प्रायद्वीप (सीमेज़) में पाये जाते हैं। बंगाल की खाड़ी में अंडमान द्वीपों के एकमात्र मूल निवासी वही हैं। यह न्यूगिनी के अंतः भागों में तथा फिलीपींस के कुछ भागों, विशेष रूप से उत्तरीय लूजान में भी पाये जाते हैं। संभवतः (हूटन के अनुसार) नीग्रीटो अवशेष अन्य स्थानों में मलेनीशिया और मलाया आर्कपिलागो के कम परिचित प्रदेशों में पाये जाते हैं। अनुसंधानों द्वारा पिग्मियों के भौतिक यौगिक का कुछ मात्रा में स्पष्टीकरण हुआ है। अफ्रीका, एशिया एवं ओशीनिया में दो विभिन्न प्रकार के नीग्रीटो होते हैं : (क) इनफैन्टाइल एवं (ब) एडल्टी फार्म। दोनों प्रकार के नीग्रीटो में ऊनी केश, कंदाकार ललाट, चौड़ी चिपिट नासा, मध्यम से कम तक उद्गति, दैहिक उच्चता 150 सें० मी० से कम (4 फुट 9 इंच) पायी जाती है। इनफैन्टाइल प्रकार के नीग्रीटो लगभग गोल आननवाले और लघु चौड़े चेहरेवाले होते हैं। इनमें अत्यंत नीची अवतल नासा, आगे की ओर निकले हुए नासारंध्र, बाहर की ओर फैले हुए नासा पक्ष, कम मोटे नासा छोर, ओष्ठ पूर्ण किंतु तिमिवसामय कदापि नहीं, दाढ़ी लगभग नहीं के समान और शरीर पर कम रोम, संकीर्ण कंधे, आगे की ओर निकले हुए उदर, मध्यम गाढ़े भूरे चर्म वर्ण भी पाये जाते हैं।

एडल्टी फार्म प्रकार के नीग्रीटो में लगभग लंबे सिर, निर्वतित नेत्र, संकीर्ण आनन, महत्त्वपूर्ण रूप से मोटे-नासा-छोर, कंदाकार तथा बहुधा अवसन्न उच्च अध्यावर्णी ओष्ठ, लंबे एवं उत्तल झिल्लीमय ओष्ठ बहुत पतले एवं चौड़े, गोल पीछे खिंची हुई चिबुक, चौड़े कंधे, अधिक पेशीय टारसो, हल्का चर्म वर्ण, बहुधा पीला-सा और अधिक लोगों के दाढ़ी एवं शरीर-रोम होते हैं। कांगो के वनों में ये दोनों प्रकार के नीग्रीटो पाये जाते हैं। फिलीपीन और अंडमान द्वीपों में केवल इनफैंटाइल प्रकार का प्रतिनिधित्व मालूम पड़ता है। लैब जैल्टर और चैवेस्टा दावा करते हैं कि दोनों प्रकार के नीग्रो मलाया प्रायद्वीप के सीमांग लोगों में पाये जाते हैं। इनफैन्टाइल और एडल्टी फार्म

के मध्य संबंध अस्पष्ट है। इनफैटाइल प्रकार के नीग्रोटो पिछले विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा कदाचित एडल्टी फार्म प्रकार उत्परिवर्तन का परिणाम है।

कांगो प्रदेश में फैले पिग्मी क्षेत्र पूर्ण-परिमाण में नीग्रीटो द्वारा घिरा हुआ है। इन नीग्रो में अनेक ठिगने होते हैं (औसत 155 से० मी० से 165 से० मी० के मध्य) और पिग्मी समान लक्षण दर्शाते हैं। लगता है कि निम्नलिखित दो घटनाओं में से एक अथवा कदाचित दोनों यहां पायी जा चुकी हैं। (क) नीग्रो का पिग्मी से विकास (ख) नीग्रो का पिग्मियों के साथ संकरण।

ये समस्त नीग्रीटो व्यक्ति भौतिक लक्षणों में पर्याप्त अनेकरूपता दर्शाते हैं। इनकी विशेष सांस्कृतिक विशेषताएं सामान्य होती हैं और ये विशेषताएं उनकी उनके पड़ोसियों से भिन्नता को दर्शाती हैं। वे संग्रहकर्ता एवं आखेटक हैं। समस्त पुरुष धनुष एवं बाण रखते हैं। उनकी झोंपड़ियां सीधी-सादी होती हैं। ये यदा-कदा किसी व्यक्ति का विरूपण करते हैं जैसे : त्वचोत्किरण। इनकी सामाजिक संरचना बहुत सरल है।

पितृतंत्री : प्रत्येक व्यक्ति में जैविक रूप से दो विभिन्न वंश-धाराओं का मिश्रण होता है—एक पिता की वंश-धारा और दूसरी मां की वंश-धारा का। पितृ वंश-धारा पर महत्त्व देनेवाले समाजों को पितृवंश-धारीय समाज कहते हैं, जिसके लिए स्विस मानवविज्ञानी वैशोफेन ने पैट्रीआरकल (पितृतंत्री) शब्द का प्रयोग किया है।

पितृ प्रतिबंध : कुछ आदिम जातियों में यह रिवाज है कि जिस समय मां बच्चे को जन्म देती है, उस समय पिता को भी प्रसव पीड़ा का अभिनय करना पड़ता है। बच्चे के पिता को भी घर में ही रहना पड़ता है। उसे घर से बाहर जाने की अनुमति तब तक नही मिलती, जब तक बच्चा तथा उसकी मां जन्म से संबंधित स्नान आदि संस्कारों को पूरा कर पवित्र नहीं हो जाते। यह अवस्था बच्चे के जन्म से 6 से 9 दिनों के बाद ही आती है। इस अवधि के बीतने तक पिता को घर में ही रहना पड़ता है।

भारत की बहुत ही जनजातियों में इस प्रथा का प्रचलन पाते हैं। इनमें से कुछ बिहार के मालेर, असम के खासी तथा नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा इत्यादि हैं। मालेर जनजातियों में तो पिता के इस अवधि के दौरान सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में भाग लेने की भी मनाही होती है।

पिथिकैंथ्रोपिन्स : पिथिकैंथ्रोपिन्स के जीवाश्म का प्रथम समूह 1890-91 मध्य जावा के ट्रीनील नामक स्थान में डुबाइस ने खोजा। डुबाइस को यह सोलो नदी के तटों पर जलोढ़ निक्षेपों में मिला और इनका नाम उसने पिथिकैंथोपस इरैक्टस (ऊर्ध्वकपि मानव) रखा। यह लगभग मान लिया गया है कि ट्रीनील प्राणी-समूह पश्च विल्लाफ्रेंचियन है और ट्रीनील पात्र मध्यअत्यंत-नूतनयुग के हैं। पिथिकैंथोपस प्रदेश हैं—जावा (मध्य और पूर्वी) और चीन (चाऊ काऊटीन, पेकिंग के पास)। चीनी जीवाश्म एक समय में दूसरे जीनस (वंश) सिनेंथोपस से नियोजित थे, किंतु सामान्य संबंध (ली ग्रास क्लार्क 1955, वैलाइस 1955 इत्यादि) यह है कि वे जावा के जीवाश्म के साथ कोजैनोरक (संवंशीय) हैं। चीनी जीवाश्म पिथिकैंथोपस पैकीनैनसिस जाति से निर्दिष्ट हैं।

पिथिकैंथ्रोपस जीवाश्म-खोज दो संभागों से ली गयी है (क) ट्रीनील निक्षेप और (ख) जेटिस तल।

पिथिकैंथ्रोपस के जावेनीज (जावा के) प्रतिनिधियों के आकृतिक लक्षण : पिथिकैंथ्रोपस का कपाल आयतन कैलवेरिया जावा में पाये गये चार नमूनों से और एक अपरिपक्व कपाल से भी जाना जाता है। वीडिनरिच के अनुसार पिथिकैंथ्रोपस का कपाल आयतन संभवतः 900 सी० सी० से अधिक था एवं पिथिकैंथ्रोपस- का अनुमानतः 775 सी० सी० तथा पिथिकैंथ्रोपस का लगभग 700 सी० सी० था। मोदजोकिर शिशु-कपाल के आयतन का 700 सी० सी० से अधिक अनुमान नहीं लगाया गया है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पिथिकैंथ्रोपस के जावावाले प्रतिनिधियों का मध्यम कपाल-आयतन संभवतः 1000 सी० सी० से कम था।

संचयी अंतःकपाल : मस्तिष्क के कार्यो के विषय में संचयी अंतःकपाल से जो सूचनाएं मिली हैं, वे अत्यधिक सीमित हैं। पिथिकेंथ्रोपस के संचयी अंतःकपाल से किया गया अत्यधिक सावधानीपूर्वक तथा समालोचनात्मक अध्ययन एरियन्स कैमर्स और बूमन (1929, 1939) का है। पिथिकेंथ्रोपस I में यह पाया गया है कि अग्रललाट ऊपर-

कुलम-सेकंडरी-सालकी द्वारा परिभाषित नहीं है। जहां तक उसके सामान्य आकार का संबंध है, कैपर्स पाता है कि संचयी अंत:कपाल मानवाकार वानरगणों में हारलोबेट्स से अत्यधिक निकट रूप से मिलता है। किंतु वास्तव में वह अधिक बड़ा है एवं अधिक जटिल-सल्कल प्रतिदर्श है। पिथिकेंथ्रोपस II संचयी अंत:कपाल में कैपर्स एवं बूमैन ने अग्रललाट पालि के सल्कल-प्रतिदर्श के वनमानुष के साथ समानुकूल पाया।

कपाल : कैलवेरिया अधिक मात्रा में चिपिट कपालिकता दर्शाती है, जो शंखीय भाग में नीचे की ओर अधिकतम चौड़ाई के साथ होती है। सुपरा आर्बिटल टोरस अत्यधिक तीक्ष्ण रूप से विकसित होता है। आक्सीपिटल टोरस स्थूल होता है, विशेष रूप से पिथिकेंथ्रोपस IV में, आक्सीपिटल-अस्थि का मन्या-क्षेत्र बलिष्ठ मन्या-पेशियों के संपर्क हेतु अपेक्षाकृत अधिक होता है। टिंपैनिक क्षेत्र एवं चिबुकास्थि-खात अपने सामान्य लक्षणों में होमोनिड होते हैं। किंतु कदाचित पिथिकेंथ्रोपस IV में आर्टीकुलर एकीनीकसिस का क्षीण विकास और बाह्यकर्ण का गोल कंटूर कदाचित कपि प्रकार का आद्य लक्षण माना जा सकता है। मैस्टाइड प्रामेस विकसित होती है एवं पिथिकेंथ्रोपस में, जहां वह बड़ी होती है, उच्चतम छोर मध्य में अत्यधिक झुका होता है। पैटरस-अस्थि कदाचित स्थूल होती है और कपालादि चारों ओर असामान्य मोटाई की होती है। महारंध्र कपाल लंबाई के संबंध में आगे की ओर दूरी पर स्थित होता है, जैसा होमोसैपियन्स में होता है।

मोदजोकिरती का बालकपाल विशेषरूप से रुचिपूर्ण विशेषताएं दर्शाता है। आयु में वह 2 वर्ष के बालक के समान है (ब्रेगमैटिक फ्रांटेली अपने क्लीजर को लगभग पूर्ण कर रहा था)। सुपरा आर्बिटलरिज विशिष्ट रूप से चलित होती है, ललाट में एक पीछे की ओर हटा हुआ अंदूर होता है। आक्सीपिटल प्रदेश समकोणीय विकास दर्शाता है, जो पिथिकेंथ्रोपस वयस्क कपाल की विशेषता है।

तालु एवं हनु : पिथिकेंथ्रोपस के आननी कंकाल के भाग और तालु नमूना-IV में देखे जाते हैं। तालु का आकार, अपेक्षाकृत अतिमान होता है, वीडैनरिच्य के अनुसार अधिकतम मैक्सीलो एल्वीयोलर चौड़ाई 94 मि० मि० होती है।

इस नमूने का आननी रूप एक विशिष्ट अल्वीओलर प्रोद्गतता और एक विस्तृत मैक्जिलरी-चिह्न दर्शाता है। संगीरन चिबुकास्थि पिथिकेंथ्रोपस 'ब' एक अधिक मोटाई एवं ढलवां सिम्फ़ाइजियल प्रदेश द्वारा संरचित होती है और इसमें बौद्धिक प्रमुखता (मेंटल एमीनैन्स) का कोई चिह्न नहीं होता। वह तीन मेंटलकोरामीन दर्शाता है। होमो में अत्यधिक असामान्य लक्षण होते हैं, किंतु मानवाकार वानरों में अत्यधिक सामान्य। किंतु संगीरन (1939-41) में पाये गये चिबुकास्थि के खंडों में मेंटल कोरामिन एक होता है और अल्वीयोलर तथा चिबुकास्थि की निम्न सीमाओं के मध्य स्थित होता है। यह एक होमोनिड लक्षण है। जावा में पाये गये चिबुकास्थि नमूनों में किसी में भी कपि-प्रक्षेप का चिह्न नहीं मिलता।

दंतविन्यास : अपने पूर्ण आकृतीय विशेषताओं में जावा में पिथिकेंथ्रोपस जीवाश्म समूह का दंतविन्यास बिल्कुल होमोनिड है। दंत वीथिका का कंटूर, आकार, प्रकार और आकृतिक विस्तार तथा चर्वणक का गुंथा प्रकार सब मिलाकर पोंगिड प्रकार के दंतविन्यास से मेल नहीं खाते। दूसरी ओर कुछ नमूने कपि-समान लक्षण दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ, पिथिकेंथ्रोपस IV में दंतावकाश होता है। वान मीनिंग्जवाल्ड संगीरन के जैटिस तटों में ऊर्ध्व हनु खंडों में से एक में उसी प्रकार के दंतावकाश की उपस्थिति है। संगीरन (मैंगाथ्रोपस) के बड़े चिबुक अस्थि खंड (1941) का पहला अग्रचर्वणक होमोनिड प्रकार का है, द्वि-दंताग्र एवं काटने हेतु कोई दिशा का अनुभव नहीं होता।

पिथिकेंथ्रोपस के चीनी प्रतिनिधियों (पिथिकेंथ्रोपस पैकीनेनसिस अथवा सिनेंथ्रोपस पैकीनेनसिस) के आकृतिक लक्षण : 1927 में चाऊ काऊटीन (पेकिंग, चीन के पास) में प्राध्यापक डेविडसन ब्लैक ने एक निम्नचर्वणक दंत पाया। उसने मानव के एक नये वंश (जीनस) सिनेंथ्रोपस पैकीनैनसिस (पैकिंग मैन) की स्थापना की घोषणा की। 1929 में सिनेंथ्रोपस का प्रथम तथा लगभग पूर्ण मस्तिष्क कोष उसी स्थल में पाया गया।

पिथिकेंथ्रोपस पैकीनैनसिस फोरटी कैलवैरी (अथवा कैलवैरी के खंड) आननी अस्थियों के भाग, अनेक दांत और कुछ पादास्थियों से जाना जाता है। ये जीवाश्म अत्यंत-नूतनयुग के मध्य के बताये जाते हैं, जैसे पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस था।

पिथिकेंथ्रोपिन्स की प्रतिवेदित खोज

प्रतिरूप	खोज का वर्ष	स्थल	खोजकर्ता	वर्गीकरण
चिबुकास्थि	1890	केदुंग-ब्रूबस	डुबाइस	पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस (चिबुकास्थि)
कपोलोर्ध्व	1891	ट्रीनील	डुबाइस	पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस (कपाल)
वाम ऊर्विका	1892	ट्रीनील	डुबाइस	पिथिकेंथ्रोपस
वाम निम्नअग्रचर्वणक	1898	ट्रीनील	डुबाइस	पिथिकेंथ्रोपस
फाइव फीमोरा	1900	ट्रीनील	डुबाइस	पिथिकेंथ्रोपस
बाल कपाल	1936	मोदजोकिरतो	वान कीनिंग्ज वाल्ड	पिथिकेंथ्रोपस मोदजोकितेनसिस
चिबुकास्थि	1937	संगीरन	वान कीनिंग्ज वाल्ड	पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस (चिबुकास्थि 'ब')
कपोलोर्ध्व	1938	संगीरन	वान कीनिंग्ज वाल्ड	पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस कपाल
कपाल खंड	1938	संगीरन	वान कीनिंग्ज वाल्ड एवं वीडिनरिच	पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस कपाल
कपोलोर्ध्व एवं जंभिका	1939	संगीरन	वान कीनिंग्ज वाल्ड एवं वीडिनरिच	पिथिकेंथ्रोपस रोब्सट्स कपाल
चिबुकास्थि	1939	संगीरन	वान कीनिंग्ज वाल्ड	पिथिकेंथ्रोपस डुबाइस
चिबुकास्थि	1941	संगीरन	वान कीनिंग्ज वाल्ड	मैगांथ्रोपस पैलीजैवानिक्स
कालवेरी के खंड आननी अस्थियां अनेक दांत कुछ पाद अस्थियां (कुल जीवाश्म खोज 40)	1927-38	पाऊकाऊ टीन (चीन)	ब्लैक, वीडिनरिच	पिथिकेंथ्रोपस, पैकीनैनसिस (सिनैंथ्रोपस पैकीनैनसिस)

कपाल के मुख्य लक्षण : कपाल आयतन (चार कैलवेरी से बीडेनरिच के चार आंकने पर आधारित) 850 से 1300 के मध्य होता है। उच्चमान होमोसैपिन्यस की विविधता के सामान्य परास में आता है। समस्त कैलपैट्रि नमूने विशिष्ट चिपिट कपाली दर्शाते हैं: साथ में बलिष्ठ रूप से संरचित अधिनेत्र गुहाकटक और आक्सीपिटल टोरी तथा पूर्वचिह्नित सममितार्धीकटक होते हैं। नासास्थि होमोसैपियन की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक बड़ी होती है। नासारंध्र बहुत चौड़ा होता है।

'तालु' विशेष होमोनिड कंटूर दर्शाता है। कपाल सीवन आधुनिक मानव की अपेक्षा शीघ्र ही बंद होते दीख पड़ते हैं। चिबुकास्थि मानवाकार वानरों और होमोनिड लक्षण

को दर्शाती है। कोई मेंटल ऐमीनैनसिस नहीं होता। चिवुकरंध्र समस्त पाये गये नमूनों (एक कपि लक्षण) में भी द्विगुण होता है।

पिथिकेंथ्रोपस पैकीनैनसिस के मंचयी अंतःकपाल का अध्ययन डेविडसन ब्लैक (1933) एवं गेलशियर और इलियट स्मिथ (1934) कर चुके हैं। इन लेखकों के दिये गये विवरणों से ये पिथिकेंथ्रोपस इरेक्टस के अधिक निकट हैं।

दंतविन्यास : पिथिकेंथ्रोपस पैकीनैनसिस के दंतविन्यास का वर्णन वीडेनरिच (1937) द्वारा चाऊ काऊटीन में पाये गये 147 दांतों के आधार पर विस्तृत रूप से किया गया। इनमें से 12 पाती दंतविन्यास में हैं। दांत बड़े होते हैं, दंतवीथिका समवक्रता दर्शाती है, जो होमोनिडी की विशेषता है। किसी भी नमूने में दंतावाकाश नहीं होता।

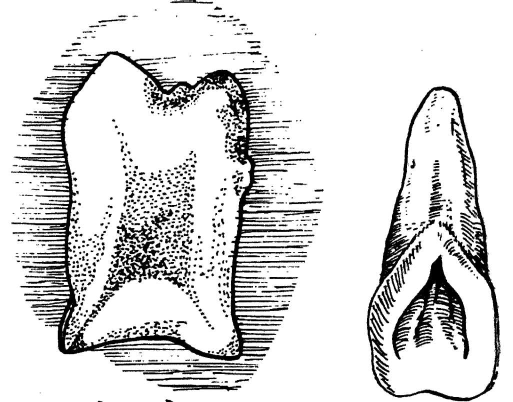
वीडैनरिच ने पैकिंगमैन के कुछ लक्षण, आधुनिक मंगोलकल्प व्यक्तियों के से दर्शाये हैं। रदनक दंत के पीछे ऊर्धहनु की अस्थि में अतिवृद्धि होती है। यह मेंडीबुलरटोरस कहलाती है (दे० चित्र)। एस्किमो के साथ इसकी समानता होती है।


मेंडीबुलर टोरस

चर्वणक (मोलर) दंत में बड़ी मज्जा होती है (टारोडांट, दे० चित्र)। यह एक लक्षण नर-वानरों में विरल रूप से पाया जाता है, किंतु नियेंडर्थल मनुष्य में विशेष रूप से विशिष्ट होता है और कुछ मात्रा में कुछ मंगोलकल्प के व्यक्तियों में भी पाया जाता है। अग्रदांत पीछे की ओर अवतल होते हैं। ये परावय आकार रदनक होते हैं (चित्र 34) एवं अनेक मंगोलकल्प व्यक्तियों में उपस्थित रहते हैं (पूर्वी एशिया, एस्किमो, अमरीकन इंडियन)। पादास्थियां सात फीमोरा, दो ह्यूमरस, एक जत्रुक एवं मणिबंधिका अस्थियों में से एक (असिलूनेटम) मिलाकर बनती है।

जांघ की अस्थियां हर प्रकार से मानवीय होती हैं, किंतु उनकी कुछ विशिष्टताएं होती हैं। वे छोटी एवं कुछ झुकी हुई होती हैं। वे चिह्नित मात्रा में प्लेटीमीरिया दर्शाती हैं।

जत्रुक एवं आसलूनेटम होमोसैपियन्स समानुरूप होती है।


टारोडांट मोलर. परावय आकार रदनक

जातिवृत्तीय स्थिति : डुबाइस ने सर्वप्रथम विवेचना की कि पिथिकेंथ्रोपस वास्तव में मानव और कपियों के मध्य जैसी स्थिति है। ऐसा लगता है कि वह एक सीधा चलनेवाला नरवानर था, जो मस्तिष्क रखता था और मस्तिष्क आकार एवं समनुरूपण में वह किसी भी परिस्थिति में जीवाश्म-कपि मे आगे था तथा कपि की अपेक्षा मानव-समान था। उसका दंतविन्यास एवं कपाल का आकृतिक-विज्ञान मानवाकार वानर एवं ह्यूमैनाइड विशेषताओं का एक मिश्रण दर्शाता है। वीडेनरिच का मत है कि पूर्ण रूप से पिथिकेंथ्रोपस एवं सिनैन्थ्रोपस मानवीय विकास के समान तल पर है, किंतु उसी अवस्था में दो विभिन्न संभागीय अथवा प्रजातीय विभेदों पर। वह यह धारणा बनाये रखता है कि आधुनिक मानव, सीधा सिनेंथ्रोपस-पिथिकेंथ्रोपस प्रक्रम से नियेंडर्थल मानव के अंतर्वर्ती जीवाश्म प्रकार से होकर अवरोहित है।

विचारों का सामान्य मतैक्य है (ली ग्रास क्लार्क 1955) कि पिथिकेंथ्रोपस, होमो के साथ एक पैतृक संबंध रखता है। उदाहरणार्थ, पिथिकेंथ्रोपस के आकृतिक

लक्षण सैद्धांतिक आधार तत्व में समानुरूप होते हैं, जो अधिक आद्य प्रकार से होमो के विकास में अंतर्वर्ती अवस्था के हेतु होते हैं। (पोंगिडी एवं होमोनिडी के सामान्य पूर्वजों के स्कंध)।

पूर्वजों की पूजा : पूर्वजों को पूजने की प्रथा करीब-करीब प्रत्येक समाज में विद्यमान है। यह प्रथा मनुष्य के प्रारंभिक युग से प्रचलित है और आज भी भारत, चीन, एवं जापान में यह प्रथा प्रचलित है (दे० 'आत्मावाद')।

पैरापिथिकस : पैरापिथिकस अत्यधिक रोचक जीवाश्म हैं, जो फायूम ओआसिस इजिप्ट के निम्न आलीगोसीन (अल्पनूतन काल) का है। वह जीवाश्म एक छोटा, किंतु पूर्ण तनु है, जिसमें सीधी चिबुकास्थि शाखा होती है, जो आकार में आगे की ओर अभिसारी होती है। इस प्राणी के दांतों में दो कृंतक, एक रदनक, दो अग्रचर्वक एवं तीन चर्वणक, ऊपर एवं नीचे दोनों ओर होते हैं—2. 1. 2. 3
—2. 1. 2. 3

तथा कृंतक आगे की ओर झुके हुए होते हैं। दंत-आकार मिश्रित भोजन की ओर इंगित करते हैं। संभवतः यह भोजन कीट, फल, पक्षियों के अंडों और छोटे सरीसृप पर आधारित था। चिबुक प्रदेश संकीर्ण होता है। चिबुकास्थि के पक्ष पीछे से फैले हुए होते हैं। कई विद्वानों के अनुसार पैरापिथिकस का आनन छोटा एवं मस्तिष्क-कोष अवश्य चौड़ा होता होगा।

डाक्टर विलियम के० ग्रेगरी पैरापिथिक्स को परिचित प्राचीन लोक-कपियों एवं वानरों में अत्यधिक प्राचीन मानते हैं। उसके अनुसार, पैरापिथिकस के परिचित लक्षणों के आधार पर वह (पैरापिथिकस) मानवाकार वानरों से अग्र एवं अंततः मनुष्य तक के वंशानुक्रम में अधिक समीप स्थित है। कुछ वैज्ञानिक इस विश्वास का समर्थन करते हैं कि पैरापिथिकस उस संश्लेषिक प्रकार का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें न केवल हाइलोबैटीनी किंतु पोंगिनी तथा होमोनिडी भी अपेक्षाकृत स्वतंत्र रूप से अवरोहित हैं। इस परिकल्पना का अन्य अनुसंधान-कर्ताओं द्वारा अनुग्रहण नहीं किया गया, जो पैरापिथिकस को हाइलोबेटिनी का केवल एक पूर्वज मानते हैं।

पोंगिडी (ऐप्स) : पोंगिडी मनुष्य के निकटतम जीवित संबंधी हैं। पोंगिडी को कुल दो उपकुलों में विभाजित किया गया है :

(क) पोंगिनी : इसमें अफ्रीका के वनमानुष और गोरिल्ले, बोर्नियो ओर सुमात्रा के ओरेंगूटान सम्मिलित हैं। वनमानुष और गोरिल्ला बड़े मानवाकार वानरों को निर्दिष्ट करते हैं।

(ख) हाइलोबैटिनी : इसमें दक्षिण पूर्व एशिया के गिबन और सियामैंग्स सम्मिलित हैं।

गिबन, ओरेंगूटान, चिंपैंजी एवं गोरिल्ला मानवाकार वानर भी कहलाते हैं। उनकी मुख्य प्रभेदक विशेषताएं हैं (क) पैरों की अपेक्षा भुजा की लंबाई अधिक होती है। यह एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक पहुंचने में काम आती है, जिसे बाहुगामी (भुजाएं झुलाते हुए) क्रियाएं कहते हैं। (ख) धड़ की उर्ध्व स्थिति के लिए उनका अनुकूलन: इसमें छाती चपटी एवं चौड़ी हो जाती है। (ग) उनके बड़े और अत्यंत संगठित मस्तिष्क (घ) बाह्य पूंछ की अनुपस्थिति (ङ) कपोल-कोष्ठ एवं आसनास्थि किण की अनुपस्थिति (केवल गिबन को छोड़ कर)।

गिबन्स : गिबन्स (दे० चित्र) किंचित पतले अनुकंपीय प्राणी होते हैं, जिनकी भुजाएं अत्यंत लंबी होती हैं।



गिब्बन

वे पेड़ों के मध्य असाधारण योग्यता के साथ भूलते हैं। गिबन्स के हाथ लंबे होते हैं और उनके अंगुलि पर्व पतले एवं लंबे होते हैं। जब उनको पृथ्वी पर चलने को विवश किया जाता है, तो वे द्विपद के समान चलते हैं। वे द्विपद चरों की तरह चलने में असमर्थ होते हैं।

गिबन्स की धड़ की लंबाई औसत लगभग 27 सेंटीमीटर होती है। वे कदाचित तीन फुट ऊंचे से अधिक खड़े नहीं हो सकते। उनका त्वचा-वर्ण सामान्य रूप से काला होता है। शरीर के अधिक अंग सूक्ष्म ऊनी रोमों से ढंके रहते हैं। छोटी आसनास्थि किण होती है। किंतु लैंगिक त्वचा का स्पष्टत: कोई विकास नहीं होता। इन छोटे एप्स के चौड़े कंधे एवं चपटी छातियां उच्च स्थित चूचुक, लंबे और संकीर्ण हाथ, जिसमें रोमरहित काली हथेली होती है। अपेक्षाकृत छोटा अंगूठा, जो हथेली के मणिबंध के अत्यंत निकट होता है। प्रथम करमिका अस्थि का बड़ा भाग, जो सामान्य रूप से करतल में धंसा रहता है, एक स्वतंत्र अंगूठा है। अंगुष्ठ अपरिपूर्ण रूप से विपरीत होता है एवं उसमें कुछ चपटा-सा नख होता है। गिबन का पैर लंबा एवं संकीर्ण होता है तथा पादांगुष्ठ एवं बाह्य अंगुलि पर्वों के मध्य एक गहरी विपर होती है। इसके पृथक्करण से पैर अत्यंत लचीला हो जाता है और शाखाओं को पकड़ने में लाभदायक होता है।

गिबन का मस्तिष्क-कोष्ठ अपेक्षाकृत बड़ा होता है, किंतु नीचे की ओर चपटा होता है। साथ में निम्न ललाट उत्सेध होता है।

बड़े अंडाकार नेत्र-कोटर मोटे अस्थिल प्रोथ से घिरे रहते हैं। अस्थि का महा-अध्याक्षि दंड अथवा टोरस नहीं होता जैसा गोरिल्ला वनमानुष में पाया जाता है। आनन छोटा होता है, किंतु बाहर की ओर निकला हुआ होता है। साथ में चिपिटनास और पतले ओष्ठ होते हैं। लंबे शंकु-समान हनु के किनारों की ओर अंत: पाशन करते हैं।

गिबन्स के सामाजिक जीवन का प्रभावशाली वर्णन डॉ० सी० आर० कारपेंटर ने किया है। गिबन्स छोटे परिवार-समूहों में रहते दिखायी पड़ते हैं। गिबन्स का मुख्य भोजन फल है, जिसमें अंजीर एक आवश्यक फल होता है। प्रत्येक गिबन-परिवार का पूर्ण पारिभाषिक प्रदेश होता है, जहां वे रहते हैं। वे अत्यंत 'वोसीफैरस' चीखने वाले प्राणी हैं। गिबन पेड़ों पर सोते हैं, किंतु महान एप्स जैसे नीड़ नहीं बनाते। गिबन कुल में दो अपेक्षाकृत भिन्न प्रकार के छोटे एप्स होते हैं—गिबन्स प्रापर और स्यामांग। स्यामांग गिबन की अपेक्षा बड़े होते हैं। द्वितीय अथवा तृतीय पादांगुलि की अधिक विकसित संयुज होती है। उनके कंठीय वायुकोष होते हैं और प्रारूपिक गिबन-रूपी प्रकारों से करोटि के आकार एवं हनु में भिन्न होते हैं।

ओरेंगूटान : ओरेंगूटान वृक्षवासी, स्थूल एवं शक्तिशाली प्राणी हैं। इनके पैर बहुत छोटे होते



ओरेंग ओटांग

हैं, उदर विशिष्ट होता है, छाती ढोल के समान होती है और नितंब पूर्ण विकसित नहीं होते। भुजाएं गिबन के समान बहुत लंबी होती हैं और विशेष रूप से लंबी उंगलियां होती हैं। किंतु अंगुष्ठ के साथ होती है। समस्त अंगुलिपर्वों में चपटे नख होते हैं। पैर अत्यंत लंबा एवं संकीर्ण होता है। छोटे पादांगुष्ठ लंबे और तले की ओर वक्र होते हैं। पादांगुष्ठ एक कोण की दिशा में उपस्थित होता है। एक अंगुष्ठ होता है, जो विरोधी

होता है। यह छोटा और बहुधा नखरहित होता है। शीर्ष बहुत बड़ा होता है, किंतु अपेक्षाकृत छोटा मस्तिष्क-कोष होता है। आनन तथा हनु अतिमात्र तथा बहिःक्षेपित होता है। ललाट ऊंचा एवं गोल होता है। नासामूल संकीर्ण होता है और नासावंश का उत्थान नहीं होता। ऊपरी ओर निचला ओष्ठ बहुत लंबा होता है एवं बहिःक्षेप्य होता है। कर्ण छोटा एवं मुड़ा हुआ होता है। ओरेंगूटान का हनु अत्यंत बड़ा और बाहर की ओर निकला हुआ, विशेष रूप से वयस्क पुरुष में, पाया जाता है। रदनक दंत हस्ति दंत-समान एवं अंतःपाशान होते हैं। वयस्क पुरुष में करोटि के पार्श्व से सामान्य तक के मध्य में सामान्यतः एक अस्थिल शिखा होती है। यह पश्चक कपाल अथवा शीर्ष के पीछे से आती हुई एक उसी प्रकार की शाखा से मिलती है। यह अस्थिल शिखाएं मांस-पेशियों की संलग्नता के काम आती हैं। ओरेंगूटान का शरीर केवल आनन, कर्ण, करतल एवं तलों को छोड़कर लंबे लाल भूरे बालों से ढका रहता है। त्वचा भूरी होती है। स्तन पार्श्व एवं ऊंचे स्थित होते हैं। ओरेंगूटान के 12 जोड़ी पसलियां होती हैं, जैसी मानव में भी होती हैं। गोरिल्ला, वनमानुष और गिबन के 13 जोड़ी होती हैं। ओरेंगूटान में गिबन के समान मणिबंध में एक अतिरिक्त अस्थिल तत्व ओससेंट्रल होता है, जो अन्य बड़े वनमानुषों एवं मानव में एक पृथक् संहति समान उपस्थित नहीं होता।

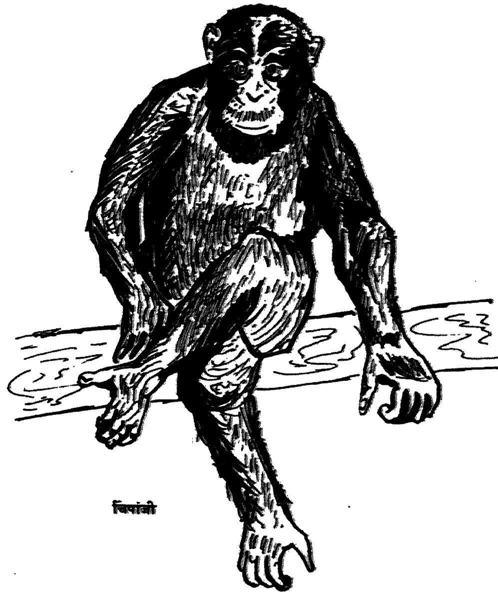
ओरेंगूटान मंदगामी प्राणी है। पृथ्वी पर चारों हाथों एवं पैरों से चलते हैं। किंतु यह प्राणी यदि चाहे तो सीधा खड़े होकर भी चल सकता है, यद्यपि यह अत्यंत कठिन कार्य है।

ओरेंगूटान जंगली फल, पत्तियों और प्ररोह पर जीवित रहता है। ओरेंगूटान एक बार में एक ही शिशु को जन्म देता है।

वनमानुष (चिंपैंजी) : वनमानुष (दे० चित्र) अफ्रीका के उष्ण वनों में पाये जाते हैं। वे उत्तर में गैंबिया से दक्षिण में अंगोला तक और दूर-पूर्व जैसे 'लेक' प्रदेश में यूगांडा तक पाये जाते हैं। वनमानुष की कम से कम तीन जातियां होती हैं। (क) सामान्य : लगभग श्वेत आनन प्रकार (ख) काले आननवाले, केशहीन शीर्षवाले (ग) पिग्मी वनमानुष। सामान्य वनमानुष के बारे में बहुत सी सूचनाएं उपलब्ध हैं।

वनमानुष के पाद ओरेंगूटान की अपेक्षा लंबे होते हैं और भुजाएं छोटी होती हैं। जब यह प्राणी सीधा खड़ा होता है, तो अंगुली छोर घुटनों के ऊपर तक पहुंच पाते हैं, किंतु भुजाओं के यह अनुपात बहुधा परिवर्तित हैं।

वनमानुष के हाथ लंबे और संकीर्ण होते हैं। अंगुलियां लंबी एवं स्थूल होती हैं तथा अंगुष्ठ छोटा होता है। अंगुलि आधारों के बाहर जानु-किणों द्वारा ढके रहते हैं; क्योंकि पृथ्वी पर चलने में उनका उपयोग होता है। अंगुलिया



चिंपांजी

भी एक परिवर्तित मात्रा तक जालयुक्त होती हैं। हथेलियां रोमहीन होती हैं। वनमानुष का पैर (पंजा) भी लंबा एवं संकीर्ण होता है, किंतु पादांगुष्ठ छोटा एवं मोटा होता है और अंदर की ओर उभरा हुआ होता है। यह दूसरे अंगुष्ठों से एक चौड़े मध्यांतर द्वारा पृथक् होता है एवं विरुद्ध भी। पैर विशेष रूप से पकड़नेवाला एक अंग

है। छोटे अंगुष्ठ बहुत लंबे होते हैं एवं आंशिक रूप मे मुड़े हुए होते हैं। एड़ी कम विकसित होती है। धड़ मोटा और उदर गोल होता है। पूरा शरीर, केवल आनन हाथ और पैर को छोड़कर, केशों से ढंका रहता है। सामान्य वनमानुष में आनन तथा हाथ की त्वचा गुलाबी अथवा लगभग श्वेत होती है, जबकि केशहीन शीर्षवाले वनमानुषों में यह भाग गहरे भूरे से लगभग काले तक होते हैं। अनेक वनमानुषों के (चित्रित) छोटे-छोटे रंगवाले आनन होते हैं।

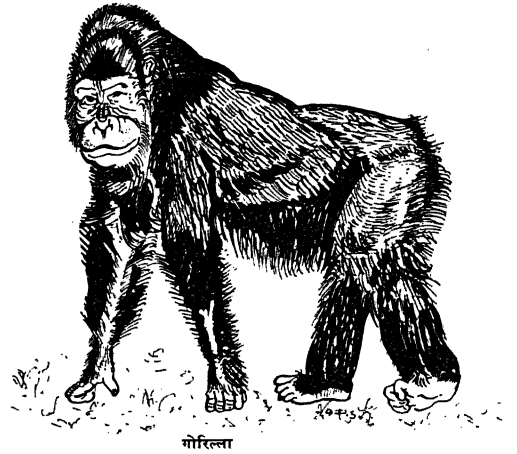
शीर्ष निम्न होते हैं। भ्रूकटक विशिष्ट होते हैं, किंतु गोरिल्ला के समान घने एवं मोटे नहीं होते। नासा चिपिट, मध्य में धंसी हुई होती है। हनु बाहर की ओर निकले हुए होते हैं। इस प्राणी के पतले ओष्ठ बाहर निकले हुए दंत उलूखल चाप पर फैले हुए होते हैं। चिबुक अनुपस्थित होता है। रदनक दंत स्थूल एवं बाहर की ओर निकले हुए होते हैं, किंतु ओरेंगूटान और गोरिल्ला के समान बड़े नहीं होते।

वनमानुष के विशेष रूप से अत्यधिक बड़े कान होते हैं, जिनमें पालि नहीं होती। केशहीन शीर्ष वाले वनमानुष के बारे में कहा जाता है कि उसके छोटे कान शीर्ष के निकट स्थित होते हैं। वनमानुष निपुण रोही हैं। वे वृक्षों की शाखाओं पर अपने लिए नीड़ बनाते हैं, जिस प्रकार ओरेंगूटान करता है। वे अपने समय का अधिकतर भाग पृथ्वी पर व्यतीत करते हैं, जहां वे लगभग चारों हाथों एवं पैरों पर दौड़ते हैं। वनमानुष कुछ समय तक और कुछ दूरी के लिए सीधा खड़े होने एवं चलने की क्षमता रखता है।

गोरिल्ला : गोरिल्ला (दे० चित्र) के दो वर्ग सीमित विषुवत प्रदेशों में पाये जाते हैं। (क) पश्चिम तटीय अथवा निम्नभूमि का गोरिल्ला मुख्यतः कैमरून एवं गैबून में पाया जाता है। (ख) जबकि पर्वतीय गोरिल्ला लेक एडवर्ड और लेक कीबू के पश्चिम में रहते हैं। पर्वतीय गोरिल्ला निम्नभूमि में रहनेवाले प्राणी से लक्षणों में भिन्न होते हैं, जैसे पर्वतीय गोरिल्ला के संकीर्ण करोटि, लंबा धड़, छोटे पाद, चौड़े और छोटे हाथ, लंबे आनन मोटे एवं काले रोमित तथा अन्य अनेक ब्योरों में।

गोरिल्ला चतुष्पादीय और स्थलीय हैं। वे वृक्षों में नीड़ बनाते हैं। भूमि पर द्विपादगमन अत्यंत दुर्लभ है। गोरिल्ला के पैर अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। भुजाओं के खंड अपने अनुपातों में अन्य कपियों की अपेक्षा अधिक मानव-स्वरूप हैं। ओरेंगूटान के समान भुजा-कोष्ठ की अतिरंजित लंबाई नहीं होती और प्रगंड लंबा होता है। हाथ अन्य कपियों की अपेक्षा छोटा और चौड़ा होता है।

पादांगुष्ठ बड़ा, अत्यधिक विकसित और सम्मुख होता है। अंगुलियां लगभग प्रथम संधियों तक जालयुक्त होती हैं। गोरिल्ला का हाथ मनुष्य के समान होता है।



गोरिल्ला

गोरिल्ला का पैर भी मानव-प्रकार के उपसादन दर्शाता है। पादांगुष्ठ अन्य पादांगुलियों से प्रतिपादन और एक अंगुष्ठ के समान होता है तथा अन्य अंगुलि-पर्वों के सम्मुख होता है। लघु पादांगुलियां वनमानुष की पादांगुलियों की अपेक्षा छोटी होती हैं एवं नीचे की ओर मुड़ी हुई नहीं होती हैं। एड़ी संयत रूप से पूर्व विकसित होती है। अन्य कपियों की अपेक्षा गोरिल्ला का संपूर्ण पैर पेड़ों पर चढ़ने के लिए कम अनुकूल होता है। आनन, करतल, एवं तलुवों को छोड़कर शेष संपूर्ण शरीर काले रंग के बालों से ढका रहता है।

गोरिल्ला का शीर्ष भारी होता है, जिसके बड़े भाग में आनन, हनु एवं चर्वण-पेशियां होती हैं। करोटि का वह भाग जो मस्तिष्क को रखता है, छोटा होता है और वयस्क पुरुष में इसमें सममितार्थी एवं अनुप्रस्थ अस्थिल कटक होते हैं, जो पेशीय अभ्याग्रहण हेतु होते हैं। गोरिल्ला

का ललाट बहुत नीचा होता है तथा अधिनेत्र गुहाकटक मोटे होते हैं। हनु आगे की ओर लंबी एवं नीची एक तुंड के समान होती है।

गोरिल्ला की नाक लंबी तथा नीची और मूल की ओर संकीर्ण होती है। नासारंध्र चौड़े एवं सीधे आगे की ओर खुले होते हैं। चिबुक नहीं होता है। गोरिल्ला के कान छोटे होते हैं एवं पालिका या तो चौड़ी होती है अथवा होती ही नहीं। वयस्क पुरुषों में दांत, विशेष रूप से रदनक, अधिक होते हैं। ये परिमाण में ओरेंगूटान से भी बड़े होते हैं, किंतु बैबून एवं गिब्बन के रदनकों जैसे बड़े नहीं होते। गोरिल्ला की त्वचा का रंग विशिष्ट रूप से काला होता है, किंतु धूसर अथवा गहरे भूरे वर्ण तक होता है। नेत्र चमकीले मध्यरक्तपीत रंग से गहरे भूरे होते हैं।

गोरिल्ला के शरीर के कुछ भागों में स्वेद ग्रंथियां होती हैं। यह सुप्रतिष्ठित सत्य है कि गोरिल्ला मुख्यत: पृथ्वी पर रहते हैं, यद्यपि वे बहुधा वृक्षों पर चढ़ते हैं। रात्रि में वे नीड़ में सोते हैं, जो सामान्यत: धरती के अधिक निकट बने होते हैं। गोरिल्ला फल, पत्तों, शाक एवं प्ररोहों पर जीवित रहते हैं।

प्रकृतिवाद : इस सिद्धांत के साथ मैक्समूलर का नाम संबंधित है। मैक्समूलर के अनुसार धर्म का सबसे प्रारंभिक रूप प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा भी रहा होगा। सूर्य प्रकाश देता है, बादल पानी बरसता है, पेड़ में फल-फूल लगते हैं। ये सब बातें इसका विश्वास दिलाती हैं कि सूर्य, बादल, तथा वृक्ष इत्यादि में कोई शक्ति निहित है।

प्रजाति संबोध : प्रजाति शब्द के प्रचलित प्रयोग में इसकी उपयुक्त परिभाषा का अभाव है। इसका प्रयोग सामान्य रूप से भाषाविज्ञान के अर्थ में किया जाता है, जैसे लैटिन प्रजाति, आर्य प्रजाति अथवा द्रवीडियन प्रजाति। यह जन-समुदाय अथवा राष्ट्र के अर्थ में भी काम में लाया जाता है, जैसे फ्रांसीसी अथवा ब्रिटिश प्रजाति। ऐसे उदाहरण भी हैं, जहां प्रजाति शब्द धार्मिक एवं सांस्कृतिक समूहों को व्यक्त करता है, जैसे हिंदू प्रजाति, मुस्लिम प्रजाति अथवा यहूदी प्रजाति। किंतु इन में से कोई भी अर्थ सही नहीं है।

प्रजाति वह शब्द है, जो जीवविज्ञान में वनस्पति अथवा जीवधारी समूहों के वर्गीकरण में केवल भौतिकी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

यूनेस्को ( )के विवरण में प्रजाति संबोध का अर्थ भलीभांति स्पष्ट है। पेरिस में 1951 में विशेषज्ञों की तालिका द्वारा प्रजाति के जीवविज्ञानीय अर्थों पर यह विवरण अभिगृहीत किया गया है। संक्षिप्त रूप में इसका निम्नलिखित विवरण दिया जा सकता है।

(1) वैज्ञानिक सामान्यत: सहमत हो गये हैं कि समस्त मानव, जिनका आज अस्तित्व है, एक एकल स्पीशी होमोसेपियन्स हैं और एक सामान्य स्कंध से प्राप्त हुए हैं। उनके मानवविज्ञानीय भाव में प्रजाति शब्द का अर्थ है 'मानव जाति के समूह, जो पूर्ण विकसित और मौलिक रूप से दूसरे समूहों से वंशागतीय भौतिकी भेद रखते हों।'

(2) मानव-समूहों के मध्य भौतिक भेदों में से कुछ आनुवंशिक रचना में भेद के कारण होते हैं। कुछ भेद उन परिवेशों के कारण होते हैं, जिनमें उनका पालन-पोषण होता है। अत्यधिक प्रकारों में दोनों प्रभाव साथ-साथ कार्य करते हैं।

वर्तमान प्रजातियां इस प्रकार की क्रियाओं का मनुष्य जाति के ऊपर पूर्ण प्रभाव का परिणाम हैं।

(3) राष्ट्रीय, धार्मिक, भौगोलिक, भाषावैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक समूह, प्रजातीय समूहों से आवश्यकतानुरूप मेल नहीं खाते। इस प्रकार के समूहों के सांस्कृतिक कारक प्रजातीय कारकों के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं रखते।

(4) विभिन्न मानवविज्ञानियों ने विभिन्न प्रकार से मानव प्रजातियों को वर्गीकृत किया। उनमें से अधिकांश मानवजाति के कम से कम तीन प्रमुख समूहों के वर्गीकरण से सहमत हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण किसी एक भौतिकी लक्षण पर आधारित नहीं होता है। कोई उत्तम अथवा निम्न जाति नहीं है। मानवजाति के प्रमुख समूहों के व्यक्तियों में उनके भौतिक लक्षण के कारण भेद किया जा सकता है।

(5) प्राच्य वैज्ञानिक-ज्ञान इस विश्वास को ही आधार प्रदान करता है कि मानवजाति के समूह बौद्धिक और भावनामय विकासों की (सहवासी) क्षमता में भिन्न होते हैं।

(6) 'शुद्ध प्रजाति' की उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वकालीन प्रजातियों के बारे में कंकाली अवशेष हमारे सीमित ज्ञान के आधार हैं। प्रजातीय सम्मिश्रण के बारे में प्रमाण इस सत्य की ओर इंगित करता है कि मानवीय संकरण एक अनिश्चित काल से होता आ रहा है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि प्रजातीय सम्मिश्रण ही विज्ञान की दृष्टि से हानिकारक परिणामों को जन्म देते हैं।

प्रजातीय प्रेम : प्रत्येक समाज के सदस्यों में अपनी ही प्रजाति और संस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा की भावना देखी जाती है। वे अपने खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा तथा अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को बड़ा महत्त्व देते हैं तथा किसी अन्य समाज की संस्कृति की तुलना में अपनी संस्कृति को ऊंचा समझते हैं।

आदिवासी समाजों में भी यह भावना है। बहुत-सी बातें ऐसी भी हैं, जैसे शराब पीना, जो वास्तव में बुरी होती हैं। लेकिन उसे ये लोग बुरा नहीं समझते हैं, बल्कि उन लोगों के बीच इसका बहुत बड़ा सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व होता है। इसी प्रकार कुछ और रस्में इन लोगों के बीच पाई जाती हैं जो इन्हें परस्पर जोड़ती हैं और इन्हें एक इकाई बनाती हैं।

इस प्रजातीय एवं सांस्कृतिक प्रेम के कारण बहुत-सी विकास की योजनाएं उनके मध्य लागू नहीं हो पातीं; क्योंकि वे विकास से अधिक अपनी संस्कृति को चाहते हैं और उसे ऊंचा एवं अच्छा समझकर छोड़ना नहीं चाहते। इसके साथ ही साथ वे नये तौर-तरीकों को भी अपनाने से इनकार कर देते हैं।

प्रजातीय विज्ञान : प्रजातीय विज्ञान सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानवविज्ञान की एक शाखा है, जो मानव का सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। प्रजातीय विज्ञान के अंतर्गत मुख्यतः निम्नलिखित अध्ययन आते हैं :

(1) प्रजातीय एवं संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन।
(2) अतीतकाल में प्रजातीय गमन एवं संस्कृति का प्रसार।
(3) प्रजाति एवं संस्कृति का वर्तमान युग में विस्तार तथा विभाजन।

प्रसारवाद : सांस्कृतिक विकास एवं प्रसार के दूसरे सिद्धांत को प्रसारवाद कहते हैं। प्राचीनकाल में भी संसार के विभिन्न देशों में आपसी संबंध रहे होंगे। इन पारस्परिक संबंधों से संस्कृति का प्रसार हुआ होगा। एक देश की संस्कृति को दूसरे देशवालों ने अपनाया होगा तथा इसी कारण संसार के विभिन्न भागों में हमें समान संस्कृति के लक्षण दिखायी पड़ते हैं। इजीप्टोलोजी (प्राचीन मिस्र-संबंधी विज्ञान) के प्रसिद्ध विद्वान इलियट स्मिथ के अनुसार मिस्र की सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यता है तथा अनेक सभ्यताओं ने निश्चय ही मिस्री सभ्यता से संस्कृति ग्रहण की होगी। क्रोबर का मत है कि ज्योतिष, लक्षण, ज्ञान, गणित आदि के इतने जटिल विषय हैं कि इनकी खोज कुछ विशिष्ट स्थानों में हुई होगी और वहां से यह संसार के अन्य भागों में ले जाये गये होंगे।

प्राकृतिक वरण : चार्ल्स डारविन ने अपनी पुस्तक 'ओरिजिन आफ स्पीशीज़' में प्राकृतिक वरण के सिद्धांत का महत्त्व प्रकट किया है। डारविन ने लिखा है कि जीवों पर क्रियारत प्राकृतिक वरण द्वारा विकास होता है, जिसके फलस्वरूप बलिष्ठ अतिजीविता घटित होती है। प्राकृतिक वरण वह प्रवर्ध, कारक अथवा स्थिति है, जो जीव की एक वंश-परंपरा के सातत्य का निर्माण करता है और अन्य का विकासीय अभिलेख से निरसन करता है। आधुनिक जीवविज्ञान के शब्दों में यह (अर्थात् प्राकृतिक वरण) विकास का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारक है।

प्राकृतिक वरण उन समस्त प्रवर्धों का नाम है, जहां उर्वरता और जीवन-क्षमता में जीन-संरचना अन्य दूसरों पर प्रलाभ विकसित करते हैं। यदि कुछ जीन संरचनाएं, अन्य में पाये गये की अपेक्षा अपने वाहकों को उच्चतर जनन-जननीय समुपयुक्तता प्रदान करती हैं, तब वह युग्मविकल्प, जो अपेक्षाकृत 'उन्नत अनुकूलित' प्रकारों के लिए उत्तरदायी है, उत्तरवर्ती पीढ़ी में उच्चतर अनुपात में पाये जायेंगे। वरणात्मक मान अथवा डारवीनियन समुपयुक्तता की माप जनसंख्या की जनन-जननीय क्षमता द्वारा की जाती है।

मानव-जनसंख्याओं में पायी गयी जीनों की बारंबारता को प्राकृतिक वरण द्वारा अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से समझाया

जा सकता है। वरण चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, तथापि दूसरों की ओर युग्मविकल्प अनुपातों को पहुंचाने के लिए शक्तिशाली कारक हो सकता है। अत: वह जनसंख्या में एक नये जीन की संरचना करता है। यह ध्यान देने योग्य है कि उत्परिवर्तन-दबाव और प्राकृतिक वरण का सह-अस्तित्व, विकासीय परिवर्तनों की गति को तीव्र करता है। वरण, एक लोकस पर युग्मविकल्पों को प्रभावित करने की अपेक्षा पूर्ण जीन समुच्चय को प्रभावित करता है। वरण के कारण उत्पन्न विभिन्नता का विकास, नूतन जीन समुच्चयों की संरचना करता है।

वरण गुणांक : भौतिक मानवविज्ञान में अत्यधिक लाभदायक प्रकरण वह क्रिया है, जिससे उस स्थिति में वरण गुणांक आंका जाता है, जब वरण विषमयुग्मन का पक्ष करता है :

$$\Delta q = \frac{pq(S_1P - S_2q)}{1 - S_1P^2 - S_2q^2}$$

जहां Δq = एक पीढ़ी के बाद जीन बारंबारता में परिवर्तन।

pp एवं q = युग्मविकल्प बारंबारता।

S_1 एवं S_2 = वरण संचालन के परिणाम।

वह साम्यावस्था, जिसकी बारंबारता में कोई परिवर्तन नहीं होता, उस समय मिलती है, जब $\Delta q = o$ हो।

प्राकृतिक वरण के उदाहरण : संतुलित बहुरूपता एवं दरांती-कोशिका (सिकलसैल) रक्तक्षीणता–संतुलित बहु रूपता शब्द जनसंख्या आनुवंशिकी में उस स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए उपयोग में लाया जाता है, जब एक जाति में प्राकृतिक वरण के कारण विभिन्नता बनी रहती है। संतुलित बहुरूपता में एक संतुलन का अस्तित्व पाया जाता है, जिसमें अनेक विभिन्न वैकल्पिक युग्मविकल्प किसी जनसमूह में पाये जाते हैं। विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट जीन-संरचना के वरणात्मक प्रलाभ के स्पष्ट उदाहरणों में मे एक उदाहरण दात्रीयन घटना (Hb^Z= हीमोग्लोबिन S के लिए युग्मविकल्प) है, दरांति कोशिका रोग एक गंभीर रक्तक्षीणता है, जो वयस्क होने के पूर्व ही रोगी की मृत्यु का कारण बनता है। हीमोग्लोबिन के युग्मविकल्प (एलीली) तीव्र रक्तक्षीणता को जन्म देता है और समयुग्मजी अवस्था में (Hb^S) मृत्यु का कारण बनते हैं। अधिकांशत: जनसमूहों में दरांति कोशिका जीन लगभग अनुपस्थित होता है, किंतु मध्य अफ्रीका, मैडागास्कर में 10-20 प्रतिशत तक यह पाया जाता है तथा उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप के वे देश जो मेडीटेरेनियन से घिरे हुए हैं, में उच्च अथवा निम्न प्रतिशत में पाया जाता है। यह अनियमित रूप से अरब देशों और भारत में भी पाया जाता है।

यह देखा गया है कि दरांति कोशिका उन स्थानों में अधिक पायी जाती है, जहां मलेरिया सामान्य रूप से होता है। इसके विषमयुग्मज (HB^A HB^S) मलेरिया-वाले वातावरण में समयुग्मज (HB^A HB^A) की तुलना में अधिक सामान्य होते हैं। ए० सी० एलीसन (1954) नामक एक चिकित्सक ने पूर्वी अफ्रीका में अध्ययन करते हुए खोज की कि विषमयुग्मजीय व्यक्ति, समयुग्मजी व्यक्तियों की अपेक्षा मलेरिया से अधिक प्रतिरक्षित होते हैं। वरण के समयुग्मज (Hb^A Hb^A) के स्थान पर विषमयुग्मज (HbB^A HbB^S)का पक्ष लेने से संतुलित बहुरूपता का प्रादुर्भाव होता है। स्थायी साम्यावस्था प्राप्त की जा सकती है और दोनों युग्मविकल्प अच्छी मात्रा में किसी वातावरण में रखे जा सकते हैं।

जीन बहुरूपता को क्षणिक कहा जा सकता है, यदि वे शक्तियां जो एक लोकस पर वैकल्पिक युग्मविकल्प बनाये रखती है, लगभग स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करें। उदाहरणार्थ, ए० बी० ओ० रुधिर-वर्ग पद्धति में यह संभव है कि वरण 'ए' और 'बी' तथा 'ओ' समलक्षणियों पर विभिन्न रूप से कार्य करे।

(2) **अपसामान्य हीमोग्लोबिन** (Hb^c) : का उद्भव पश्चिमी अफ्रीका तक ही लगभग सीमित है। समयुग्मजी हीमोग्लोबिन-C व्यक्ति रक्तक्षीणता द्वारा, दरांति कोशिका समयुग्मजी की अपेक्षा अधिक क्षीण रूप से, प्रभावित होते हैं। यौगिक विषमयुग्मज (Hb^S Hb^C)तीव्र रूप से प्रभावित होते हैं, तथापि Hb^C Hb^S समयुग्मजी की अपेक्षा कम प्रभावित होते है। इस प्रकार $Hb^C Hb^S$ विषमयुग्मज में Hb^c और समयुग्मज के विरुद्ध वरणात्मक दबाव अधिक होता है। लगता है कि शायद हीमोग्लोबिन C का भी मलेरिया के विरुद्ध अवरोध इस प्रकार के वरण का एक कारक है।

(3) **थैलेसीमिया (कूलेज रक्तक्षीणता)** : डाक्टर

थॉमस बी० कूले ने 1925 में सर्वप्रथम थैलेसीमिया का वर्णन किया। डाक्टर थॉमस एक डैटराइट चिकित्सक थे। कहा जाता है कि कूलेज रक्तक्षीणता मैडीटैरियन खाड़ी में मलेरियावाले भागों में अधिक सामान्य है। थैलेमीमिया के जीन की बारंबारता ऐसी समस्या को जन्म देती है, जो Hb और Hb युग्मविकल्पों में समान है। जबकि समयुग्मजों की जनन-जननीय समुपयुक्तता परोक्ष रूप से शून्य होती है, थैलेमीमिया के जीन की उच्च बारंबारताएं विषमयुग्मज की बढ़ी हुई समुपयुक्तता द्वारा ही बनायी रखी जाती होगी। इस बढ़ी हुई समुपयुक्तता की प्रकृति स्पष्ट नहीं है। किंतु फिर भी अपसामान्य हीमोग्लोबिन में युग्मविकल्प और मलेरिया-युक्त वातावरण के मध्य सहसंबंध लक्षित होते हैं।

(4) **रुधिर वर्ग** : रुधिर-वर्ग जीन की अवलोकित बारंबारताओं को बनाये रखने और स्थापना में प्राकृतिक वरण ने जो भाग लिया है, वह पिछले दशक में भौतिक मानव-विज्ञानियों के लिए मुख्य शोध-समस्या बन चुका है। चार समलक्षणी 'ए', 'बी', 'ए बी', और 'ओ' (A, B, AB एवं O) की बारंबारताएं जीनी बहुरूपता का स्पष्ट उदाहरण है। ऐसे घटक, जैसे माता और उसके भ्रूण के मध्य असंयोज्यता, रुधिर-वर्गों में अवलोकित जीनी बहुरूपताओं को बनाये रखने में सहायता कर सकते हैं। रुधिर वर्गों पर वरण का सीधा प्रभाव नवजात शिशु के हीमोग्लिटिक रोग द्वारा जाना जा सकता है (एरिथ्रो-ब्लास्टोसिस फीटेलिस)। यह रोग कभी-कभी इतना तीव्र होता है कि मृत शिशु का जन्म हो सकता है अथवा शिशु जन्म लेने के थोड़ी देर बाद मर सकता है।

प्रागैतिहासिक कला : पाषाणकाल की संस्कृति के प्रमाणों के साथ-साथ कहीं-कहीं अस्थियों या प्रस्तरों के बने हुए पशु इत्यादि के नमूने भी देखने को मिले हैं। कला के ये नमूने इतने सजीव मालूम होते हैं कि आज की विकसित कला में भी इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। प्रागैतिहासिक कला के इन नमूनों की तिथि निर्धारित करना कठिन नहीं है; क्योंकि उनके साथ-साथ उस युग के अन्य वस्त्र आदि भी मिले हैं। अस्थियों और पत्थरों पर किये उत्कीर्ण-कला के अनेक नमूने प्राप्त हुए हैं। प्रागैतिहासिक कला के ये नमूने अपूर्ण होने के बावजूद बड़ी कुशलता एवं दक्षता से बनाये गये हैं। उत्तर-पूर्व पाषाण युग की पाषाण कला को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : (1) आरिगनेशियन (2) स्लूट्रियन (3) मैगडेलेनियन।

(1) **आरिगनेशियन घरेलू कला** : इस कला के विशेष नमूने—कुछ चित्र तथा वीनस की मूर्तियां हैं। ये मूर्तियां स्त्रियों की हैं। इनमें कुछ मूर्तियां गर्भवती स्त्रियों की भी हैं। ये मूर्तियां भारी तथा मोटे हाथीदांत की बनी हुई हैं तथा आरिगनेशियन काल के प्रारंभ की प्रतीत होती हैं। आस्ट्रिया में दो ऐसी मूर्तियां मिली हैं, जिनमें एक विलिडोर्फ के वीनस के नाम से प्रसिद्ध है। यह मूर्ति $4\frac{1}{2}$ ऊंची है तथा चूने के पत्थर में बनी हुई है। इसकी टांगें छोटी, छाती और पेट बहुत बड़े तथा सिर नीचे की ओर झुका हुआ है। बदन के विभिन्न अंग नहीं दिखाये गये हैं। इसके हाथ भी ठीक तरह से नहीं बनाये गये हैं।

(2) **स्लूट्रियन घरेलू कला** : पहले तो यह विश्वास किया जाता था कि स्लूट्रियन काल के मनुष्यों को कला का बिल्कुल ज्ञान नहीं था। कला के जो प्रमाण उस समय की संस्कृति के साथ मिले हैं, उन्हें आरिगेनेशियन मानव की कला बताया जाता था। किंतु अब उस समय की कला के इतने अधिक अवशेष मिले हैं कि अब यह धारणा खंडित हो गयी है। वुदिले में पत्थर पर नक्काशीदार चित्र मिले हैं।

लेरोक में बड़े-बड़े पत्थरों पर पशुओं के उत्कीर्ण-चित्र मिले हैं। एक चित्र में एक मनुष्य को भैंसे के सामने खड़ा दिखाया गया है। बैल, पक्षी इत्यादि के चित्र मिले हैं। इस काल में मूर्तियों का अभाव-सा है।

(3) **मेगडेलेनियन घरेलू कला** : मैगडेलेनियन कला के नमूने बहुत प्रभावशाली हैं, तथा इनमें उच्च कोटि की दक्षता एवं निपुणता पायी जाती है। मासदाजिल में घोड़े के सिर की मूर्ति मिली है। इस काल की कला को छह विभिन्न स्तरों पर विभाजित किया जा सकता है। पहले तथा दूसरे स्तरों में अस्थियों की बनी हुई कुल्हाड़ियां मिली हैं, जिनकी मूठ पर जानवरों के मुंह के चिह्न बनाये गये हैं। तीसरे स्तर में नक्काशीदार जानवरों के चित्र अंकित मिलते हैं। चौथे स्तर पर नक्काशीदार दो मूर्तियां मिली हैं। पांचवें स्तर में नक्काशीदार तथा साफ-सुथरे चित्र मिलते हैं। छठे स्तर में कला का रूप कुछ गिरा हुआ है।

प्रागैतिहासिक संस्कृति : सर्वप्रथम राबर्टस फुट ने 1813 में भारत में पाषाण अस्त्र के पाये जाने की घोषणा की थी। इसके प्रमाण उन्हें 'पालाबर्म' में मिले। इसके पश्चात् उन्हें मद्रास के निकट तथा नारायण नदी के किनारे अनेक प्रकार के पाषाण अस्त्र प्राप्त हुए। कोरोमंडल तट के निकट भी कई स्थानों पर पाषाण अस्त्र मिले हैं। नर्मदा नदी में भुटरा स्थान पर बिल्लौर की बनी कुल्हाड़ियां मिली हैं। पेलकोना के अनुसार गोदावरी नदी के तट पर मिले अस्त्र 'प्लायोसीन' काल के थे तथा इरावती और शिवालिक की पहाड़ियों में पाये जानेवाले अस्त्र 'मायोसीन' काल के मध्य के थे। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि मानवजाति यूरोप से पहले ही भारत में निवास करती थी।

फुट ने दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर पाषाण अस्त्रों की खोज की। कुछ प्रमाण बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में भी मिले हैं। उस समय के अस्त्र काफी खुरदरे हैं और चिकनाहट का एकदम अभाव है तथा उनमें बारीकी भी नहीं है। 1930 में कनियाड़ ने कृष्णा नदी के तट पर पाये पाषाण अस्त्रों को जांचने के लिए उन्हें बर्किट को सौंप दिया। ये अस्त्र अफ्रीका में पाये गये प्रागैतिहासिक संस्कृति के उपकरणों के समान ही थे। डिटेरा को भी हिमालय के दोनों ओर उत्तर-पश्चिम भारत में कुछ पाषाण अस्त्र मिले। इसके अलावा सोहन घाटी में भी कुछ पाषाण अस्त्र मिले। डिटैरा को उत्तर एवं दक्षिण भारत के हिमानी काल में समानता प्रतीत हुई। पिछले कुछ वर्षों में भारत में पाषाण-अस्त्र संस्कृति की खोज में काफी ध्यान दिया गया है। सुब्बाराव, कृष्णास्वामी, गार्डन, सेन, संखालिया तथा टाड ने प्रागैतिहासिक संस्कृति के अनेक प्रमाण भारत के विभिन्न स्थानों में पाये हैं।

प्रोकान्सल : डाक्टर एल० एस० बी० लीके ने प्रोकान्सल कपाल की खोज पूर्वी अफ्रीका के केन्या में पाये गये मध्यनूतन निक्षेपों में की। प्रोकान्सल अफ्रीकेनस एक बड़ा कपि है। यह (क) टूटा हुआ तालु, (ख) वयस्क पुरुष के आननी प्रदेश का भाग अत्यधिक दांतों के साथ, (ग) एक बाल चिबुकास्थि, (घ) लगभग पूर्ण वयस्क चिबुकास्थि और (ङ) गुलफास्थि (टासेल) (एस्ट्रागली एवं कैलकेनियम) द्वारा पहचाना जाता है।
वयस्क अर्धहनु विशेषतः (I) कपि प्रक्षेप की अनुपस्थिति (II) अग्र चर्वणक के आकार में कमी (III) दंतक्रमों का अग्र अभिसार (IV) चिबुक कंद का मानव कल्प आकार (V) मानव जैसे चर्वणक का समतल होना— इन सब लक्षणों द्वारा विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गुलफास्थि की जब वनमानुष के साथ तुलना की जाती तो वह मानव प्रकार की ओर ही कुछ समानता दर्शाती है।

प्रोकान्सल का ऊर्ध्वहनु टूटा हुआ और विकृत होता है, जिसके कारण उद्हनुता की मात्रा का पता लगाना असंभव है। नासास्थि अधिक संकीर्ण एवं लंबी होती है तथा ओरेंगूटान के समान समानांतर होती है। रदनक बलिष्ठ और बाहर की ओर निकले होते हैं। किंतु दंत-क्रमों की लंबाई में कमी, अग्र चर्वणक और चर्वणक में लंबाई के अनुपात में चौड़ाई की अधिकता बहिःसारी आनन की ओर निर्दिष्ट नहीं करती।

यह जीवाश्म-कपि उस मुख्य पूर्वज वंशक्रम के अत्यधिक समीप है, जिससे अंततः मानव उत्पन्न हुआ।

फिसोन, लारीमेर (1832-1907) : आस्ट्रेलियन मानवविज्ञानी। फिसोन का जन्म ब्रिटेन में हुआ था, लेकिन 1855 में वे आस्ट्रेलिया जाकर बस गये। 1863-1884 तक वे फिजी में जाकर मिशनरी कार्यों में जुटे रहे। मानव-विज्ञान में उनकी रुचि 1869 में मोर्गन द्वारा भेजे गये एक पत्र के पश्चात् पैदा हुई, जिसमें गोत्र-संबंधों के बारे में जानकारी मांगी गयी थी। फिसोन और ए० डब्ल्यू० हाविट ने मिलकर आस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों की सामाजिक व्यवस्था पर 1880 में एक ग्रंथ प्रकाशित किया। इस ग्रंथ के भूमिकालेखक मोर्गन थे।

उन दिनों मेक्लेनान और मोर्गन में गोत्र-संबंधी विवाद चल रहा था। फिसोन ने मोर्गन के इस मत का समर्थन किया कि बहिर्विवाह गोत्र-समूह का एक विशिष्ट नियम है। मेक्लेनान का कहना था कि गोत्र-समूहों में बहिर्विवाह का कारण लड़कियों का जन्म होते ही हत्या कर देना है। इस प्रथा के कारण गोत्र-समूह में स्त्रियों की कमी होना स्वाभाविक ही है। इस संबंध में मानवविज्ञानी ल्युबाक का कहना था कि बहिर्विवाह का मूल कारण युद्ध में विजित स्त्रियों का पकड़ा जाना रहा है। मोर्गन इन परिकल्पनाओं के विरोधी थे; क्योंकि उपलब्ध अनुसंधान-सामग्री के विश्लेषण के अनुसार वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बहिर्विवाह

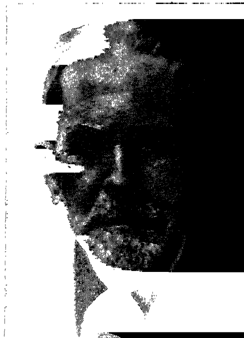
गोत्र-समूहों का एक सुधारवादी कदम था और इस रीति मे ये समूह सगोत्र विवाहों को रोकते थे, जो उनके अनुसार अनाचार या अनैतिकता का सूचक थे। लेकिन इसके साथ ही मोर्गन की स्थापना यह भी थी कि ये समाज जब बर्बर अवस्था में थे, तो इनमें मुक्त यौनाचार का प्रचलन था, जो धीरे-धीरे सगोत्र विवाहों में बदल गया। फिसोन मोर्गन की पहली स्थापना से तो सहमत थे, लेकिन दूसरी स्थापना का उन्होंने भी डटकर विरोध किया।

उन्होंने अध्यात्मवादियों के अवक्रमण सिद्धांत का भी डटकर विरोध किया, जिसके अनुसार आदिम जातियों की संस्कृतियां सभ्यता से च्युत संस्कृतियों के उदाहरण हैं। इस युक्ति के आधार पर, अध्यात्मवादी विद्वान विकासवादी मानवजातिविज्ञानियों का खंडन करने का प्रयत्न कर रहे थे। फिसोन ने अपने लेखों में उनकी थोथी युक्तियों की सारहीनता स्पष्ट कर वैज्ञानिक सिद्धांतों की स्थापना की।

फीटिश पूजा : आदिकालीन समाज के धर्म का एक रूप जिसमें वस्तुओं तथा प्रकृति के क्रिया-कलापों की पूजा की जाती है। इस पद्धति का नामकरण फ्रांसीसी इतिहासज्ञ और भाषाविद् चार्ल्स द ब्रोसेज ने 1760 में किया था। पदार्थों की भौतिक संरचना के ज्ञान के अभाव के कारण आदिमकालीन जनजातियां उन पर दैविक गुणों का आरोप कर देती थीं और उन पदार्थों (या फीटिशों) की इस विश्वास के साथ पूजा किया करती थीं कि वे अवश्य उनकी आकांक्षाओं को पूरा करेंगे। फीटिशवाद का संबंध टोटमवाद और काला जादू से भी है। फीटिशवाद आज भी अनेक आधुनिक धार्मिक पद्धतियों का अंग है, जैसे मूर्ति पूजा, क्रास की पूजा आदि।

फुट, आर० बी० : राबर्ट ब्रूस फुट का जन्म भारत में हुआ था और शिक्षा-दीक्षा इंग्लैंड में हुई थी। 'जीलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' के पर्यवेक्षक के रूप में ये 1858 में भारत आये थे। 1891 तक वे उससे संबद्ध रहे थे। इन्होंने कई बार सारे भारत का भ्रमण किया था। इस भ्रमण के दौरान इन्होंने जिन प्रागैतिहासिक वस्तुओं का संकलन किया था वह विश्व में अपने ढंग का अनोखा संकलन माना जाता है। यह संकलन भारत प्रस्तर युगीन तथा धातु युगीन इतिहास को जानने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। 1904-5 में मद्रास सरकार ने इनके संपूर्ण संकलन को 49,000 रुपयों में खरीद लिया था। अब भी फुट का वह संकलन मद्रास म्यूजियम में पाया जाता है। 1914 में, इन्होंने स्वयं 'भारत की प्रागैतिहासिक समय की वस्तुएं' के नाम से एक संदर्भ-सूची तैयार की थी। 1916 में 'नोट्स आन एजस एंड डिस्ट्रिब्यूशन आफ दि आर० बी० फुट कलेकशन' नामक जो पुस्तक इन्होंने लिखी थी, उसमें भारत के प्रागैतिहासिक इतिहास की चर्चा की गयी थी। इनके द्वारा प्रस्थापित तथ्य अब भी कमोवेश उसी रूप में स्वीकृत हैं।

फ्रेजर, जे० बी० (1854–1941) : इन्होंने मानव-विज्ञान में प्रचलित 'परिणामवाद' पर बहुत महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किया था। इसके साथ ही, संसार के विविध प्रदेशों में प्रचलित धार्मिक व्यवस्था तथा कई मानव जातियों में पाये जानेवाली पौराणिक कथाओं पर भी काम किया था। इन्हीं खोजों के परिणामस्वरूप इन्होंने 1890 में 'दि गोल्डन बो' नाम की श्रेष्ठ पुस्तक की रचना की। इनके अन्य ग्रंथों में से कुछ हैं—(1) 'टोटेमिज्म एंड एक्सोगमी', 'बाल्डर दि ब्यूटिफुल', फोक्लोर इन दि ओल्ड टेस्टमेंट', 'गार्नेरड षीव्ज'। लिवरपूल विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग के फ्रेजर प्रथम अध्यक्ष थे (1907)। इनको 1914 में 'सर' की उपाधि दी गयी। 1920 में ये 'रायल सोसाइटी' के सदस्य बने और 1925 में इन्हें 'आर्डर आफ मेरिट' का गौरव प्राप्त हुआ। सैद्धांतिक मानवविज्ञान को फ्रेजर की देन अमूल्य थी।



बलिदान : देवी-देवताओं जैसी किसी अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करने के लिए किसी जीव को भेंट चढाने को बलिदान कहते हैं। जिस देवता को भेंट चढ़ाना होता है, उसके सामने उस जीव की हत्या की जाती है। भारत के आदिवासी समुदाय में बकरे, भैंस, भेड़ इत्यादि विभिन्न पशुओं के बलिदान की प्रथा है। कहीं-कहीं तो नरबलि की प्रथा भी

पायी गयी है। नरबलि देकर यदि उसके खून के साथ धान के वीज को सानकर रोपा जाये, तो फसल अच्छी होगी— ऐसा विश्वास मुंडा जाति में पाया गया है, जिसे ओटगा कहते हैं। मालेर में इसी बलि को मेलखमोचन के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रथा का वैसे अब ह्रास हो गया है।

बसु, पी० सी० (1904–1935) :डा० पी० सी० बसु, बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट (बोस अनुसंधान संस्थान) कलकत्ता में नृतत्ववेत्ता थे। इनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं:

(1) ए रिपोर्ट आफ दि ह्यूमन रैलिक्स, रिकवर्ड फ्राम दि नागा हिल्स।
(2) कंपेरेटिव स्टडी आफ बर्मीज केनीया।
(3) रेशियल एफीनिटिज़ आफ दि मुंडाज।
(4) मोहनजोदड़ो स्केलेटन रिमेन्स।

इनका जन्म 1904 में तथा मृत्यु 6 सितंबर, 1935 को कलकत्ता में हुई।

बहिर्विवाह : भारत की गोत्र चिह्नोंवाली अनेक जन-जातियों में जिन्हें गोत्र-समूहों में विभाजित किया जा सकता है, सगोत्र सदस्यों के बीच विवाह वर्जित है। संसार के जितने मानव-समाजों के विषय में जानकारी प्राप्त है, उन सभी में इस प्रकार की एक आंतरिक सीमारेखा या दायरा है, जिसके अंतर्गत आनेवाले सदस्यों में परस्पर विवाह और यौन-संबंध का निषेध है। इस दायरे को बहिर्विवाही दायरा और जिस नियम पर यह आधारित है, उसे बहिर्विवाही नियम (रूल आफ एक्सोगेमी) कहते हैं।

बहु अंगुलिता (अतिरिक्त अंगुलियों एवं पादांगुष्ठ की उपस्थिति) : बहुअंगुलिता अंगों के पुनर्द्विगुणन की सामान्य घटनाओं में से एक है। इसमें एक पाद अथवा पाद के भाग के पूर्ण पुन: द्विगुणन से पैर पैर की छोटी अंगुलि की एक अंगुलास्थि के द्विगुणन तक की स्थिति पायी जाती है।

बहु अंगुलिता केवल मनुष्य में ही नहीं अपितु वानरों में भी पायी जाती है तथा इसके अतिरिक्त कुत्तों, बिल्लियों, कुक्कुट और अन्य प्राणियों में भी पायी जाती है।

षड्अंगुलिता में जो सामान्य आकार है, अतिरिक्त अंगुलि अंत:प्रकोष्ठिका की ओर अथवा हाथ के अक्षपश्चीय की ओर हो सकती है। बहि:प्रकोष्ठिका बहु अंगुलिता या गूलर के अनुसार अंगुष्ठ का द्विगुणन, ही अधिक पाया जाता है। पूर्वी अथवा अक्षपश्चीय (अंत:प्रकोष्ठिका और बहि: प्रकोष्ठिका) बहुअंगुलिता एक ही परिवार में साथ-साथ पायी जा सकती है। गेट्स के अनुसार, संभवत: वे युग्म-विकल्पी पृथक् जीनों द्वारा नियंत्रित होती हैं।

(1) अत्यधिक सामान्य : एक छोटी अतिरिक्त अंगुलि होती है, जो कंकाल के प्रति अनुषक्त नहीं होती और बहुधा बिना अस्थि, अथल उपास्थि, पेशी अथवा कंडरा के होती है।

(2) अतिरिक्त उंगली बहुधा लगभग सामान्य उंगलि अथवा अंगुष्ठ के बराबर होती है, जिसमें अस्थियां होती हैं तथा अंगुलि के कंकाल के साथ जुड़ी रहती है।

(3) अतिरिक्त अंगुलि बहुत कम पूर्ण होती है एवं उसकी करभिका, अथवा प्रपदिका अस्थि भी हो सकती है। इन प्रकारों के बीच के समस्त संभावी मध्यस्थ रूप से पाये जाते हैं।

बहुअंगुलिता वंशागत रूप में होती है। एटबुड और प्रौंड (1917) ने अंत:प्रकोष्ठिका षड्अंगुलिता के एक परिवार का वर्णन किया है, जिसमें यह अवस्था प्रभावी रूप में वंशागत हुई है। अंगूठा (हाथ का) और पादांगुष्ठ सामान्य रूप से द्विगुणित थे। यह अवस्था कुछ व्यक्तियों में एकपार्श्विक अथवा अपूर्ण थी।

जिस प्रकार परिवार बहुअंगुलिता की अभिव्यक्ति की मात्रा में अत्यधिक विभिन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार वे इस लक्षण की प्रभावित की मात्रा में भी विभिन्न हो सकते हैं। कैंप और रैवन (1932) ने दो वंशावलियों का वर्णन किया है, जिन में से एक यह अवस्था पूर्ण प्रभावी रूप से तथा दूसरी में परिवर्ती प्रभावित रूप से वंशागत हुई है।

बहुअंगुलिता की अप्रभावी वंशागति की उपस्थिति के बारे में कुछ संदेह है। यद्यपि प्रभावी रूप की तुलना में यह अत्यंत विरल है (गेट्स)।

युक्तांगुलिता (अंगुलियोंएवंपादांगुलियोंकीसंलग्नता): युक्तांगुलिता त्वचीय-जाल-योजना से अंगुलि के अस्थि-संयोजन (अस्थियों की संलग्नता) तक किसी भी रूप में पायी जा सकती है। जाल-योजना (अत्यधिक सामान्य) द्वितीय और तृतीय अंगुलिपर्व को जोड़ती है।

गेट्स (1946) के अनुसार, केवल युक्तांगुलिता के लिए संभवत: अनेक जीन हैं, जो अंगुलियों एवं पादांगुलियों

पर जाल-योजना अथवा अस्थिसंयोजन की उपस्थिति अथवा मात्रा के मामले में विभिन्न प्रभावों को जन्म देते हैं: अलिंगसूत्री प्रभावी, अलिंगसूत्री अप्रभावी और लिंग सहलग्न अप्रभावी। मैनसन (1915, 1928) ने एक बड़े परिवार का वर्णन किया, जिसमें युक्तांगुलिता और बहुअंगुलिता एक साथ उपस्थित थीं।

युक्तांगुलिता का जीनविज्ञान अत्यधिक रुचिपूर्ण समस्या है। इस समस्या को हल करने के लिए, युक्तांगुलिता के विभिन्न जीनिक प्रकारों का अत्यधिक सावधानीपूर्वक विभेद करना चाहिए। यह स्त्री एवं पुरुष दोनों में ही समान बारंबारता से पाया जाता है।

न्यूशालमे की (1910) वंशावली में लिंग बराबर प्रभावित हैं और तृतीय एवं चतुर्थ अंगुलि कभी-कभी जालयोजित हो सकती हैं। स्कोफील्ड (1922) की वंशावली के अनुसार दाहिने पैर में जाल-योजना सदैव लंबी होती है।

ह्रस्वांगुलिता (अंगुलियों की लंबाई में कमी) : सरल प्रभावी वंशागति, अंगुलियों की लंबाई में कमी अथवा ह्रस्वांगुलिता—अनेक प्रकारों द्वारा दर्शायी जा सकती है। इस कंकाली अपसामान्यता की एक अमरीकी वंशावली के अध्ययन से मानव में प्रभावी मैंडीलियन वंशागति का पहली बार भास हुआ।

मोहर और रीड्ट द्वारा संकलित अत्यंत कड़ी नार्वीजियन वंशावली में छोटी देशिनी (गौण ह्रस्वांगुलिता) सरल प्रभावी रूप में वंशागत हुई थी। फिर भी दूसरी अंगुलि के छोटेपन में दो कोटियां थीं। कुछ व्यक्तियों में अत्यधिक छोटी अस्थि थी, किंतु अन्य में थोड़ी छोटी थी। यह देखा गया था कि अंगुलि की लंबाई में कमी (किसी भी मात्रा में) प्रभावी युग्मविकल्पी के कारण थी। एक ही जीन द्वारा विभिन्न अपसामान्य समलक्षण (दृश्य प्ररूप) के उत्पादन को परिवर्तनशील अभिव्यंजिता कहते हैं।

अभिव्यंजिता की विभिन्न मात्रा बहुदा एक एतंत श्रेणी वर्गक का निर्माण करती है, जो चरमसीमा अभिव्यक्ति से वेधन की अनुपस्थिति तक होता है।

ह्रस्वांगुलिता का महत्त्वपूर्ण लक्षण, द्वितीय अंगुलाष्ठि के आधार पर अधिप्रवर्ध की अनुपस्थिति और साथ में द्वितीय और तृतीय अंगुलियों का अनुवर्ती अस्थि-समंकन है।

बहुपतित्व : इस प्रथा के अनुसार एक स्त्री एक साथ कई पति रख सकती है। इस प्रथा के विषय में मोर्गन का मत है कि यह मानव-समाज की अति प्राचीन रीति है। पूर्व-वैदिक आर्य बहुपति प्रथा के अनुयायी थे और जो समूह तिब्बत और हिमाचलप्रदेश में आज भी शेष है, उनमें बहुपति प्रथा का अभी तक प्रचलन है।

बहुपति प्रथा दो प्रकार की होती थी। एक, जिसमें एक स्त्री के सारे पति परस्पर भाई होते हैं। इसे 'भ्रातृक बहुपति प्रथा' कहते हैं। तिब्बत और हिमाचलप्रदेश की जनजातियां और नीलगिरि की टोडा जनजाति इसके उदाहरण हैं।

जौनसार बावर के खासा जनजाति के लोग अपने को पांडवों का वंशज मानते हैं और अपनी बहुपति प्रथा का कारण द्रौपदी परंपरा बताते हैं। बहुपति प्रथा का दूसरा रूप दक्षिण भारत के कुछ लोगों में भी मिलता था। एक स्त्री के अनेक पति आपस में असंबंधित होते थे। स्त्री अपने मातृगृह में रहती थी, तथा उसके पति बारी-बारी से उसके अतिथि होते थे। संतान पर माता का अधिकार होता था तथा धन की उत्तराधिकारिणी पुत्री होती थी। इसको 'मातृवंशीय बहुपति प्रथा' कहते हैं। यह प्रथा अब बहुत समय से प्रचलित नहीं है।

बहुपत्नीत्व : इस प्रथा के अनुसार एक पुरुष अनेक स्त्रियों से एक साथ विवाह कर सकता है। कई समाजों में तो अनेक पत्नियों का होना गर्व की बात समझी जाती है। आदिम जनजातीय समाजों में इस प्रथा का प्रचलन सबसे अधिक अफ्रीका में पाया जाता है। समाज के सरदार एवं अन्य प्रमुख व्यक्ति बीस से भी अधिक पत्नियां रखते हैं। पूर्वी अफ्रीका की किकूयू जाति में प्रत्येक पुरुष घर का काम करने के लिए अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। भारत में यह प्रथा असम, नागालैंड तथा मनीपुर की नागा जनजातियों तथा अनेक अन्य जनजातियों में भी पायी जाती है। नागा जनजातियों में नरमुंड शिकारियों का इतना आदर किया जाता है कि उनको बिना कन्या मूल्य दिये ही पत्नी प्राप्त हो जाती है। बहुपत्नी की प्रथा किसी-किसी समाज में आर्थिक दृष्टिकोण से आवश्यक है तथा कहीं-कहीं यह शोभा के लिए या सामाजिक स्तर को ऊंचा दिखाने के लिए अनिवार्य समझी जाती है।

बहुविवाह : इसे बहुपत्नी प्रथा या बहुपति प्रथा भी कहा जाता है। बहुपत्नी प्रथा के अंतर्गत पुरुष अनेक पत्नियों मे एक साथ विवाह कर सकता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि बहुपत्नी प्रथा के अनुयायी समाजों में प्रत्येक पुरुष एक से अधिक पत्नियां रखता ही हो। कहीं-कहीं अनेक पत्नियों का होना बड़प्पन का सूचक है। बहुपति प्रथा के विषय में मोर्गन आदि विकासवादियों का विचार है कि यह मानव-समाज की अति प्राचीन रीति है। पूर्व-वैदिक आर्यों के विषय में कहा जाता है कि वे बहुपति प्रथा के अनुयायी थे और उनके जो समूह तिब्बत और हिमाचल-प्रदेश में आज भी शेष हैं, उनमें बहुपति प्रथा का प्रचलन है। (दे० 'बहुपतित्व', एवं 'बहुपत्नीत्व')।

बाख़ोफेन, योआन्नयाकोब (1815–87) स्विस मानव-विज्ञानी और सांस्कृतिक इतिहासज्ञ। उनके पिता की इच्छा थी कि बाख़ोफेन व्यापार में रुचि ले, लेकिन वे क्लासिकी साहित्य और भाषाविज्ञान में अधिक अभिरुचि रखते थे। उन्होंने बासेल, बर्लिन (यहीं वे साविग्नी के संपर्क में आये, जिसने उन्हें बहुत प्रभावित किया), आक्सफोर्ड, केंब्रिज और पैरिस में रहकर कानून और कानून के इतिहास का अध्ययन किया। बासेल लौटने पर उन्हें विश्वविद्यालय में रोमन लॉ (कानून) का प्रोफेसर नियुक्त किया गया, लेकिन कला-इतिहास में रुचि हो जाने के कारण 1844 में उन्होंने इस पद से इस्तीफ़ा दे दिया। कला और उसके इतिहास में उनकी रुचि इटली के संग्रहालयों का भ्रमण करने के बाद ही बनी थी। लेकिन कुछ समय पश्चात् बासेल के अपराध-न्यायालय में उन्होंने न्यायाधीश का पद स्वीकार कर लिया और 1877 तक इस दायित्व को पूरी तरह निभाते रहे।

बाख़ोफेन की रुचि के मुख्य विषय थे—रोमन लॉ और यूनानी पुरातत्व। इन विषयों में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। अपनी गवेषणाओं के दौरान बाख़ोफेन ने प्रागैतिहासिक मातृसत्तात्मक समाज से संबंधित अनेक पुरा-कथाएं और सूचनाएं इकट्ठी कीं और पाया कि इन समाजों में संपत्ति-अधिकार और कुलों का नामकरण मातृवंशीय परंपरा पर है। इस प्रक्रिया के उत्पत्ति-स्थान को मालूम करने के लिए उन्होंने इससे संबंधित सभी प्राचीन और आधुनिक सामग्री को इकट्ठा किया। मातृसत्तात्मक समाज का उल्लेख प्राचीन काल में हेरोडोटस ने किया था। इसके अतिरिक्त, बाख़ोफेन ने सभी उपलब्ध यात्रा-वृत्तांतों और अमरीकी इंडियन्स की मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था पर लिखी ईसाई मिश्नरियों की रिपोर्टें भी इकट्ठी कीं। इस तमाम सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात् बाख़ोफेन ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानवजाति के विकास की कोई अवस्था ऐसी अवश्य रही है, जब यौन-संबंधों की पूरी छूट थी और इस कारण यह स्वाभाविक ही था कि उन्मुक्त-यौनाचार कुल की पितृवंशीय परंपरा में बाधक बने। यही कारण था कि इन समाजों में कुल के नामकरण के लिए मां को प्रमुखता मिली।

हाल में हुई मानवविज्ञान संबंधी खोजों ने इस सिद्धांत को आंशिक रूप से अमान्य प्रमाणित कर दिया है, लेकिन इस दिशा में बाख़ोफेन के किये हुए कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

बापा, अमृतलाल ठक्कर (1869–1951) : हरिजनों का उद्धार तथा अस्पृश्यता मिटाने के मामले में गांधीजी के साके साथ काम करनेवालों में अमृतलाल ठक्कर बापा का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। लोहणा जाति के ठक्कर बापा का जन्म 29 नवंबर 1869 में राजस्थान के भावनगर में हुआ था। ये बहुत साधारण परिवार के थे। इनके पिता विठ्ठलदास ठक्कर एक धनी व्यक्ति के यहां नौकर थे।



बापा ने 1886 में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1890 में पूना इंजीनीरिंग कालेज से एल० सी० आई० की उपाधि प्राप्त की। कुछ समय तक इन्होंने असिस्टेंट इंजीनियर की हैसियत से काम किया और उसके बाद प्रधान इंजीनियर बन गये। पश्चिमी अफ्रिका में भी इन्होंने कुछ समय के लिए काम किया। स्वदेश लौटकर ये बंबई में काम करने लगे थे।

वंबई में काम करते समय वहां के भंगियों से इनका निकट परिचय हुआ था। भंगियों के गिरे हुए रहन-सहन को देखकर इन्हें बहुत दुख हुआ। इसी अनुभव के कारण इन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और आजीवन निम्न जातियों की सेवा करने का संकल्प कर लिया। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ये 1914 में भारत सेवक समाज के सदस्य बन गये। इनका विश्वास था कि जब तक निस्वार्थ-सेवक देश को नहीं मिलते, तब तक मानव जाति का उद्धार नहीं होगा। बापा ने देश के कोने-कोने में घूमकर लोगों की सेवा की। अपने जीवन-काल में, जब भी जहां भी अकाल पड़ता, ये वहां जाते और लोगों की सहायता करते। इसके अतिरिक्त भील जाति के लोगों के उद्धार के लिए भी इन्होंने कई कार्यक्रम बनाये। उनके लिए आश्रम खोले और स्कूलों की स्थापना की। इन्होंने गांधीजी के हरिजनोद्धार के आदर्श का जीवन भर पालन किया और हरिजनों की उन्नति के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया।

बास्क : बास्क पश्चिमी पायरीनीज़ के निवासी हैं और फ्रांस तथा स्पेन के मध्य सीमाओं के दोनों ओर फैले तटीय प्रदेश में भी पाये जाते हैं। उनका देश भाषा की सीमा के आधार पर स्पष्ट रूप से असीमित कर दिया गया है। अपनी असामान्य भाषा के कारण बास्क बहुत पहले मानवविज्ञानियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुके हैं। यूरोपीय भाषाओं में से अधिकतर इंडो-यूरोपीय स्कंध से संबंधित होने के कारण एक-दूसरे के निकट है। बास्क किसी भी परिचित भाषा से स्पष्ट रूप से संबंधित नहीं हैं। कुछ मानवविज्ञानी यह निष्कर्ष निकाल चुके हैं कि बास्क उस पूर्व-बहुविस्तारित जनसंख्या के अवशेष हैं, जिसने पर्वतों में जाकर शरण ली थी और इस प्रकार दक्षिण-पश्चिमी यूरोप के अनेक ऐतिहासिक आक्रमणों के बाद भी अपने समूह को बचाये रखा। बास्क के बारे में ऐसा विचार है कि वे उच्च पुरा-पाषाण-युग के मानव से सादृश्य रखते हैं।

भौतिक विशेषताएं : (क) बास्क सामान्य दैहिक उच्चता के होते हैं। स्पेन में इनके कद की औसत 164 से० मी० तथा फ्रांस में 166 से० मी० है।

(ख) इनका शरीर-निर्माण हल्का, चौड़े कंधे, संकीर्ण नितंब और शंक्वाकार वक्ष होता है।

(ग) ललाट सीधा अथवा हल्का, ढलुवां और चौड़ा भी होता है। भ्रूकटक हल्के अथवा अनुपस्थित होते हैं।

(घ) नेजियानडिप्रैशन हल्का अथवा अनुपस्थित होता है। नासा पतली होती है, बहुधा वक्र, पतला छोर होता है, जो कभी-कभी झुका हुआ होता है।

(ङ) आनन का मध्य भाग अधिक संकीर्ण होता है। चिबुकास्थि द्विकोशिका भाग में अत्यंत तनु और संकीर्ण होती है।

(घ) चिबुक संकीर्ण और नुकीला होता है।

(छ) स्पेनिश बास्क मध्य कपालिक होते हैं और शिरस्थ सूचकांक 78 होता है, जबकि फ्रांसीसी बास्क उपपृथुकपालिक होते हैं और शिरस्थसूचकांक लगभग 82 होता है।

(ज) नासा पार्श्वलेख लगभग 49 प्रतिशत फ्रांसीसी बास्क में उत्तल होता है, जबकि रूप से स्वेनिश बास्क में यह 43 प्रतिशत होता है।

(झ) कालिगनान ने फ्रांसीसी बास्क में 22 प्रतिशत नीली आंखोंवाले, 44 प्रतिशत मध्य और 34 प्रतिशत गहरी आंखोंवाले बास्क पाये। समूह में 7 प्रतिशत काले केशवाले, 77 प्रतिशत भूरे केशवाले और हल्के भूरे से सम्मिश्रण 16 प्रतिशत पाये गये हैं।

स्पेनिश बास्क में गौरवर्णता लगभग कम होती है। किंतु बास्क अभी स्पेन के अन्य निवासियों की तुलना में हल्के वर्ण के केशवाले होते हैं। कर्परमादिकी आंकड़े दर्शाते हैं कि (1) बास्क प्रजातीय रूप से भूमध्य निवासी हैं और इनमें कुछ दीर्घकापालिकता अभिवृद्धि भी होती है (2) यह अभिवृद्धि अधिक रूप से डाईनेरिक होती है और कुछ मात्रा में अल्पाइन भी (3) बास्क, अंतःप्रजनन तथा अंतःजातीय सबलता के कारण एक विशिष्ट आकारीय विकास कर चुके हैं, जिसके मुख्य लक्षण हैं : नासा विशिष्टता और चिबुकास्थि के मध्य अग्र पश्चआननी खंड और चिबुक की संकीर्णता।

रुधिर वर्ग का चित्र : जब ए०, बी०, ओ०, रुधिर वर्गों का अध्ययन किया गया तो यह बात विशेष रूप से व्यक्त की गयी कि बास्क में असामान्य रूप से जीनI^B का अनुपात कम है। किंतु उनमें सामान्य रूप से यूरोप के निवासियों जैसे रुधिर वर्ग 'ए' की उच्च आवृत्ति है।

बास्क में एक से एक का अनुपात भी यूरोपीय जैसा है। किंतु बास्क में आरएच० (Rh) की आवृत्ति, आरएच० (Rh^+) के अनुपात में विश्व के सब मानव-समूहों मे अधिक है।

बास्टियन, एडोल्फ (1826–1905) : मानवजाति-विज्ञान के क्षेत्र में एडोल्फ बास्टियन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनका जन्म जर्मनी के ब्रेमेन में हुआ था। सन् 1851 में एक जहाज में डाक्टर के रूप में वे आस्ट्रेलिया चले गये। उन्होंने करीब-करीब सारे भूखंडों की यात्रा की और मानवविज्ञान संबंधी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री का संग्रह किया। बर्लिन में उन्होंने मानवविज्ञान के



आचार्य-पद को भी सुशोभित किया। उन्होने मानवविज्ञान और मनोविज्ञान के पारस्परिक संबंध तथा लोकविचारों में विद्यमान एकरूपता का विशद अध्ययन किया। सुदूर देशों के मानवों में सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की जो समानता या समानांतरता दिखायी देती है, चाहे वह भौतिक हो या मनोवैज्ञानिक, उसके संबंध में दो सिद्धांत प्रचलित हैं। प्रथम सिद्धांत के अनुसार सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का आवर्तन नहीं हो सकता और उन प्रवृत्तियों का प्रसार वाणिज्य, प्रवास या युद्ध के जरिए होता है। इस विचारधारा के समर्थक सांस्कृतिक संक्रमण पर बल देते हैं। लेकिन हक्सले इस विचारधारा से पूर्णरूप से सहमत नहीं हैं। वे दूसरी विचारधारा को मानते हैं, जिसके अनुसार सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का आविर्भाव सहज और स्वतंत्र रूप से होता है। सांस्कृतिक संक्रमण सिद्धांत का पूर्ण रूप से निषेध न करते हुए बास्टियन यह मानते हैं कि मानव के मानसिक क्रियाकलाप सामान्यतया समान होते हैं, इसलिए एक खास प्रेरणा के प्रति उनका व्यवहार भी समान होना युक्तिपूर्ण है। सन् 1905 में पोर्ट आफ स्पेन में उनकी मृत्यु हुई।

बिरजिया जनजाति : बिरजिया बिहार के पलामू जिले के लातेहार सबडिवीजन में और रांची जिले के गुमला सबडिवीजन के वन-पर्वतों में निवास करते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार बिहार में इनकी जनसंख्या 4,029 थी। अपनी जीविका के लिए प्रधानतः ये जंगलों पर ही आश्रित हैं। इनके लगभग सभी गांव पहाड़ों या पहाड़ी घाटियों में स्थित हैं। एक ही गांव में झोपड़ियां छिटपुट स्थित होती हैं। इनकी झोपड़ियां मुश्किल से चार फुट ऊंची होती हैं। इसी छोटी झोंपड़ी में पूरा बिरजिया परिवार रहता है तथा इसी झोंपड़ी में पूरे परिवार का खाना भी बनता है।

ये आस्ट्रिक भाषा बोलते हैं, जो संथाली और मुंडारी भाषा से मिलती-जुलती है। ये छोटा नागपुर की प्रचलित भाषा 'सादरी' से भी अच्छी तरह परिचित हैं।

आजकल बिरजिया स्थायी रूप से गांवों में बस गये हैं, लेकिन पहले यह खानाबदोश जनजाति थी और जंगली पदार्थों की खोज में एक जंगल से दूसरे जंगल तक घूमा करती थी।

अपने जीविकोपार्जन के लिए ये साधारणतः जंगलों पर निर्भर रहते हैं। जंगलों पर वे शिकार और अपनी झोंपड़ी बनाने के सामान के लिए आश्रित हैं। पिछले कुछ वर्षों से वे जंगल के ठेकेदारों के पास मजदूरी भी करने लगे हैं। बांस काटना, वृक्ष काटना तथा इसी तरह के अन्य मजदूरी के काम उन्हें मिलने लगे हैं। जहां खेती करने के कुछ साधन हैं, वहां वे बरसात में महुआ, मकई और जाड़े में अरहर पैदा करते हैं, परंतु इन फसलों को अधिकतर भालू और जंगली हाथी नष्ट कर देते हैं।

गोत्र-प्रणाली के अभाव के कारण बिरजिया अपने गांव के बाहर शादी करते हैं। बिरजिया जनजाति में 'कन्या मूल्य' का भी प्रचलन है। विवाह के अवसर पर युवकों को 'कन्या मूल्य' देना पड़ता है, जो एक सौ रुपये तक हो सकता है, और इस कारण से बहुत से युवकों का विवाह नहीं हो पाता है। कुछ परिवारों में भाई-बहन की शादी अदला-बदली कर बिना 'कन्या मूल्य' के ही हो जाती है। इनके समाज में विधवा-विवाह भी प्रचलित है तथा पंचायत की राय से तलाक भी हो सकता है। अगर किसी परिवार में संतान होती है तो छह दिन तक उस परिवार को अपवित्र माना जाता है। इस समय तक के लिए गांववाले उस परिवार में खाना-पीना बंद रखते हैं। छठे दिन स्नान के बाद परिवार पवित्र होता है।

वे शव को साधारणतः गाड़ते हैं। कुछ गांवों में शव जलाने की प्रथा भी है।

बिरजिया जनजाति पर उरांव तथा स्थानीय जाति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इनके गांव के बीच में एक झोंपड़ी होती है, जिसे 'काली मंडप' या 'देवी मंडप' कहा जाता है। इस झोंपड़ी के दोनों ओर दो ऊंचे झंडे लगे होते हैं, जो हिंदू मंदिरों में लगे झंडों का अनुकरणमात्र होता है। गांव में एक पुरोहित होता है, जिसे 'बैगा' कहते हैं, जो साधारणतः बिरजिया जनजाति का ही एक सदस्य होता है। 'बैगा' पूरे गांव का पुरोहित होता है। इनके मुख्य पर्व 'सरहूल' और 'करमा' हैं। 'सरहूल' पर्व मई या जून में 'बैगा' के नेतृत्व में चार दिनों तक मनाया जाता है। 'करमा' पर्व वे अगस्त या सितंबर में मनाते हैं। वे दशहरा भी मनाते हैं। इस अवसर पर बिरजिया हिंदू गांव में जाकर दुर्गा की मूर्ति के सामने नाचते-गाते हैं।

बिरहोर जनजाति : अधिकांश बिरहोर खानाबदोश होते हैं तथा इनका कोई स्थायी निवास नहीं होता। ये जीविका की खोज में जंगल-जंगल घूमा करते हैं। बिहार में इनकी जनसंख्या 2,438, मध्यप्रदेश में 513, महाराष्ट्र में 22, उड़ीसा में 283 तथा पश्चिमी बंगाल में 100 है। बिहार में ये छोटा नागपुर तथा पलामू जिले में पाये जाते हैं।

बिरहोर को दो श्रेणियों में बांटा गया है, जिन्हें 'उथलू' बिरहोर तथा 'जांघी' बिरहोर की संज्ञा दी गयी है। जो बिरहोर अपने थोड़े से सामान के साथ इधर-उधर घूमते रहते हैं, वे अपने को 'उथलू' बिरहोर कहते हैं तथा जो एक गांव में बस गये हैं, उन्हें 'जांघी' बिरहोर कहा जाता है। दोनों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ती जा रही है तथा उनमें परस्पर खाना-पीना अथवा शादी-विवाह धीरे-धीरे बंद होते जा रहे हैं। 'उथलू' बिरहोर नाना प्रकार के जंगली जीवों तथा देवताओं की पूजा करते हैं, लेकिन 'जांघी' बिरहोर ऐसा नहीं करते। इसी वजह से 'उथलू' बिरहोर 'जांघी' बिरहोर को नीची दृष्टि से देखते हैं। संख्या में 'उथलू' बिरहोर 'जांघी' बिरहोर से अधिक हैं।

'उथलू' बिरहोर छोटी-छोटी टोलियों में रहते हैं। इन टोलियों को बिरहोर भाषा में 'टांडा' कहते हैं। प्रत्येक 'टांडा' में छः या छः से अधिक झोंपड़ियां होती हैं। ये जंगलों से प्राप्त सामग्रियों से झोंपड़ियां बनाते हैं। पहले ये वृक्ष की पतली-पतली शाखाओं को बांधकर झोंपड़ी का ढांचा तैयार कर लेते हैं। उसके बाद उसको पत्तों से ढकते हैं। 'टांडा' साधारणतः पहाड़ों के किनारे स्थित होता है। 'टांडा' हाट के नजदीक होता है, जिससे वे 'हाट' पहुंचकर जंगली पदार्थों, रस्सी तथा काठ की बनी अन्य सामग्री बेच सकें। एक 'टांडा' में झोंपड़ियां अधिकतर दो कतारों में होती हैं, जिनके बीच आने-जाने की काफी जगह रहती है।

प्रत्येक झोंपड़ी में माता-पिता तथा उनके बच्चे रहते हैं। सिर्फ दस वर्ष तक के बच्चे ही अपने माता-पिता के साथ झोंपड़ी में सो सकते हैं। बड़ी आयु के बच्चे युवागृहों में सोते हैं, जिसे उनकी भाषा में 'गतिओड़ा' कहते हैं। लड़के तथा लड़कियों के लिए अलग-अलग 'गतिओड़ा' होता है, जिन्हें क्रमशः 'डींडा कोडा' तथा 'डींडा कुड्डी' कहते हैं। 'गतिओड़ा' में वे शादी करने के पूर्व तक ही सोते हैं। शादी के पश्चात्, वे अपनी पत्नी के साथ अलग झोंपड़ी बनाकर रहते हैं। इन झोंपड़ियों के अलावा एक या दो ऐसी भी झोंपड़ियां होती हैं, जहां सभी की मुर्गियां और बकरियां रहती हैं। 'गतिओड़ा' के पास का मैदान बड़ा होता है, जहां युवक-युवतियां इकट्ठे होकर नाचते-गाते हैं।

वे मिट्टी के बर्तन में खाना पकाते हैं तथा पत्ते में खाते हैं। ये ढोलक तथा मांदर का उपयोग करते हैं। अधिकांशतः उनके वाद्ययंत्र 'गतिओड़ा' में रखे जाते हैं। वे जमीन पर ही चटाई बिछाकर सोते हैं।

बिरहोर जानवर भी पालते हैं। कुत्ता उनका प्रिय जानवर होता है। कुत्ता रखवाली के अलावा शिकार में भी अपने मालिक की मदद करता है। कुत्ते के अलावा वे मुर्गियां तथा बकरियां भी पालते हैं। इसके अलावा कभी-कभी वे सूअर पालते भी देखे गये हैं।

वस्त्र के नाम पर बिरहोर पुरुष अपनी कमर में कपड़े का एक टुकड़ा बांधे रहता है, जिसे वह अपनी भाषा में 'करिया' कहता है। शरीर पर गमछे की तरह का एक दूसरा टुकड़ा भी रहता है। औरतें साड़ी तथा चोली पहनती हैं। नाचने के समय मर्द पैर में पैंजन पहनते हैं।

जीविका के लिए ये मुख्यतः जंगल पर ही आश्रित

रहते हैं। प्रातःकाल में वे समूहों में जंगल जाते हैं तथा शिकार करते हैं। औरतें घर का काम-काज देखती हैं। वे बंदर का मांस भी खाते हैं।

शिकार के अतिरिक्त बिरहोर जंगलों से कितनी तरह के फल-फूल, साग-भाजी तथा कंदमूल इकट्ठा करके लाते हैं। फलों में आम, इमली इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। फूलों में वे महुआ खाते हैं। बिरहोर की जीविका के मुख्य साधन रस्सी उद्योग है। रस्सी के अलावा वे लकड़ी के सामान भी बेचते हैं।

सामाजिक अपराधों का फैसला पंचायतों में होता है। पंचायत के सदस्य गांव के बड़े-बूढ़े होते हैं। अलग-अलग पंचायत के लिए अलग-अलग आदमी निर्वाचित किये जाते हैं। उनमें स्थायी पंचायत की प्रथा नहीं है।

लड़कों की शादी 20 से 24 वर्ष तथा लड़कियों की शादी 16 से 20 वर्ष के बीच हो जाती है। शादी के पश्चात् उनकी गिनती समाज के जिम्मेदार सदस्य के रूप में होने लगती है। इनमें साधारणतः एकपत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित है, परंतु एक से अधिक शादी करने पर कोई सामाजिक प्रतिबंध नहीं है।

बुआ अधिकार : मेलीनीशियन समाज में यह संबंध पुरुष और उसके पिता की बहन के पति (फूफा) के बीच प्रचलित है। रिवर्स के अनुसार इस प्रकार का अधिकार पैत्रिक समाजों का रक्षण है। लांवी मातुल अधिकारों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि इन संबंधों में कभी-कभी हंसी-मजाक के लक्षण भी पाये जाते हैं।

बुशमैन-हाटनटाट : बुशमैन दक्षिण अफ्रीका के कालाहारी नामक मरुस्थल में पाये जाते हैं, जबकि हाटनटाट दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका (भूतपूर्व केप कालोनी) में भी फैले हुए हैं। इस छोटी-सी मानव-जनसंख्या का असाधारण समूह एक ओर कांगो के पिग्मियों और अंडमानी नीग्रीटो के लक्षणों को दर्शाता है, तो दूसरी ओर इसी प्रकार अनेक मंगोलकल्प आवृत्तियों का प्रदर्शन करता है। बुशमैन-हाटनटाट द्वारा प्रदर्शित नीग्रीटो लक्षणों में विशेष रूप से देह-परिमाण, पेपर कार्न (चित्र 5) प्रकार के केश, मोटे और बहिर्वृत्त ओष्ठ, कर्ण आकार और 'स्टीटोपीजिया' है (जिस प्रकार कांगो के पिग्मी एवं अंडमानियों में है)। कद पिग्मियों से कुछ अधिक लंबा होता है। बुशमैन-हाटनटाट समूह अनेक मंगोलकल्प लक्षण दर्शाते हैं। जैसे अंतर अधिनेत्र कोणवलि (चित्र 6), संकीर्ण नेत्र दरी, चिपिट चौड़े नासामूल, कम ऊंचाई के अवतल नासावंश, पार्श्वीय और आगे की ओर प्रक्षेपी गंडास्थि जो मोटे पूर से ढकी होती है, पीले से पीले-भूरे चर्म वर्ण आदि बुशमैन-हाटनटाट के अनेक आकृतिक लक्षणों में तुलना करने पर यह ज्ञात हुआ है कि :

(क) हाटनटाट बहुधा 150 से० मी० से अधिक और बुशमैन बहुधा 150 से० मी० से कम लंबे होते हैं।

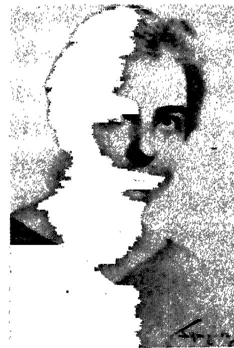
(ख) शीर्षरूप : शिरस्क सूचकांक सामान्यतः 75 अथवा उससे कम (हाटनटाट), शीर्ष संकीर्ण बुशमैन की अपेक्षा ऊंचा तथा प्रक्षेपी कपाल।

(ग) आनन रूप : बुशमैन की अपेक्षा अधिक दीर्घ और त्रिकोणीय।

(घ) चर्म वर्ण : बुशमैन की अपेक्षा अधिक पीला और संभवतः दिखने में अधिक मंगोलकल्प।

(ङ) स्टीटोपीजिया : हाटनटाट स्त्रियों में अधिक स्पष्ट। प्राच्य मानवविज्ञानी हाटनटाट को पैतृक परिवार और बुशमैन को उनकी संतान मानते हैं। किंतु गुस्टाव, फिटस, इ० टी० हैमी, ई० ए० हुटन और अन्य वैज्ञानिकों के अन्वेषणों से प्रतीत होता है कि हाटनटाट-बुशमैन, जो आद्य प्रजाति है, बांटू नीग्रो, और संभवतः कुछ हैमिटिक मैडीटरेनियन श्वेत के मध्य के संकरण के फलस्वरूप पैदा हुए।

बेनडिक्ट, रूथ एफ० (1887-1948) : अमेरिका की मानवविज्ञानी। इनका जन्म न्यूयार्क में हुआ। वास्सर, कोलंबिया विश्वविद्यालयों में इन्होंने शिक्षा पायी थी। वहां ये एफ० बोवाज की विद्यार्थिनी थीं। 1924 मे इन्होंने बोवाज की सहयोगिनी के रूप में कोलंबिया विश्वविद्यालय में प्राध्यापकी



आरंभ की थी। मानवशास्त्र के उद्देश्यों का विस्तार करने, संस्कृति की व्याख्या करने तथा व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति के महत्त्व पर प्रकाश डालने की दिशा में इन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ये अमरीकी सरकार की सलाहकार थीं। युद्ध के बाद इन्होंने यूरोप की सामयिक संस्कृति का अध्ययन किया था।

रूथ ने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें से कुछ हैं : 'कंसेप्ट आफ दि गार्डियन स्पिरिट इन नार्थ अमेरिका' (1923); 'पैट्र्न्स आफ कलचर' (1934); 'रेस : साइन्स एंड पालिटिक्स' (1943)।

बैडोइ, जान (1826–1911) : ब्रिटिश मानवविज्ञानी। उनकी शिक्षा एडिनबरा और लंदन विश्वविद्यालयों में हुई थी, जहां से उन्होंने चिकित्सा विज्ञान में उपाधि प्राप्त की। मानवविज्ञान पर उनका पहला ग्रंथ ('ए कंट्रीब्यूशन टू स्काटिश एथनोलाजी') 1853 में प्रकाशित हुआ। 1854 में उन्होंने क्रीमियन युद्ध के सैनिक चिकित्सा दल में नौकरी कर ली। युद्ध के दौरान अपना कर्त्तव्य-भार निभाते हुए उन्होंने पूर्वी यूरोप और पश्चिमी एशिया की अन्यान्य जातियों की भौतिक विशिष्टताओं का अध्ययन किया। 1856-57 में उन्होंने बृहत्तर यूरोप का दौरा कर अपने अध्ययन के लिए और सामग्री इकट्ठी की। 1857 में इंग्लैंड लौटने के बाद, बैडोइ ने ब्रिस्टल में अपनी डाक्टरी प्रेक्टिस शुरू कर दी। अपनी प्रेक्टिस के दौरान तथा 1891 में सेवानिवृत्त होने के बाद भी वे अपने जातिशास्त्रीय अध्ययनों में जुटे रहे। इस दौरान उन्होंने यूरोप का अनेक बार और आस्ट्रेलिया का एक बार दौरा किया।

जिन दिनों बैडोइ अपनी गवेषणाएं कर रहे थे, उन दिनों अनेक मानवविज्ञानी कपाल को मापने की नयी-नयी विधियां आविष्कृत कर रहे थे। डाक्टर होने के कारण बैडोइ ने कपाल को मापने की इन विधियों पर अधिक ध्यान न देकर विभिन्न प्रजातियों की भौतिक तथा मस्तिष्क संबंधी विशिष्टताओं पर अधिक ध्यान दिया। हालांकि उन्होंने ब्रिटेन के प्राचीन निवासियों के कपालमापन संबंधी अध्ययन भी किये, लेकिन उनका मुख्य योगदान प्रेक्षण-प्रधान मानवविज्ञान की दिशा में है। यूरोपवासियों के बालों और आंखों के रंगों से संबंधित आंकड़े इकट्ठे करनेवाले पहले व्यक्ति बैडोइ ही थे। शरीर-रचनाशास्त्र पर उन्होंने अपार सामग्री इकट्ठी की और भौतिक विशिष्टताओं के आधार पर ब्रिटिश द्वीप-समूह में जनसंख्या के वितरण का आधुनिक नक्शा उन्हीं के अध्ययनों पर आधारित है। 1891 में उन्होंने एडिनबर्ग में यूरोपीय भौतिक-मानवविज्ञान पर जो भाषण दिये थे, वे आज भी महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्राहुई प्रजाति : बलूचिस्तान (पाकिस्तान) में स्थित ब्राहुई नामक पहाड़ के आसपास के इलाकों में रहनेवाले मुस्लिम जातियों के लोगों में जो द्राविड भाषाएं बोलने-वाले हैं, वे ब्राहुई नाम से जाने जाते हैं। इन लोगों की संख्या दो या ढाई लाख के बीच है। आर्यों के आगमन से पहले वहां रहने वाले आदिम द्राविड़ लोगों में से ही ब्राहुई लोग भी हैं। आज भी उनके दैनंदिन जीवन में असंख्य प्राचीन लक्षण दिखायी देते हैं। ये लोग अधिकतर इस्लाम धर्मावलंबी हैं।

ब्राहुई जाति के लोग कपास और अनाज की खेती करते हैं तथा खजूर के बगीचे लगाते हैं। ये ऊंट और घोड़े पालते हैं, भेड़-बकरियां चराते हैं। ये लोग अपने पड़ोसी देशों के साथ व्यापार भी करते हैं। इन लोगों में जंगलों में रहनेवाले लोग भी हैं, भेड़-बकरियां पालनेवाले भी और राजवंश के भी। इस जाति के लोगों में समाज में प्राप्त प्रत्येक श्रेणी का प्रतिनिधित्व करनेवाले देखे जा सकते हैं। ब्राहुई जाति के लोगों का अधिकारी कलात का खान माना जाता है।

ब्राहुई अनेक वर्गों के लोगों के सम्मिश्रण द्वारा निर्मित संकर जाति है। यह जाति आदिवासियों, जाट, बलूच, पठान और परशियन लोगों का मिश्रित रूप है। ये बलिष्ठ शरीर और गोल मुखवाले होते हैं। इनमें जो लोग यायावर हैं, वे गेहुए रंग के होते हैं।

पठान जाति के लोगों की तरह ब्राहुई लोग युद्धप्रिय नहीं होते। इनके आचार-व्यवहार इस्लामी लक्षणों पर आधारित होते हैं। ब्राहुई भाषा यद्यपि द्राविड़ भाषा के मूल की है, फिर भी इसमें बलूच, सिंधी और ईरानी भाषा के शब्द बहुतायत में मिलते हैं।

आचार-व्यवहार : प्राकृतिक दृष्टि से ब्राहुई लोग लंबे

सिरवाले होते हैं। लेकिन शिशु के जन्म लेते ही ये लोग उसके सिर को कसकर बांध देते हैं और इस तरह शिशु का सिर गोल कर दिया जाता है। इस प्रकार करने के पीछे सौंदर्य की भावना है। माताओं द्वारा अपनी पुत्रियों के माथे पर लगी हुई बिंदी की पूजा की जाने की प्रथा इनमें पायी जाती है। विवाहित स्त्रियां चांदी का मंगल-सूत्र लाल धागे में बांधकर गले में पहनती हैं। विधवाएं लाल डोरी के स्थान पर काली या सफेद डोरी बांधती हैं।

सुन्नत करना, चाचा और ताया की लड़कियों से विवाह करना, अनेक पत्नियां रखना, विवाह के समय वर-वधू द्वारा मेहंदी रचाना, मुल्ला के द्वारा निकाह करवाना आदि इनकी प्रथाएं इस्लाम के आधार पर हैं। ये हंसमुख, आमोदप्रिय लोग हैं।

ब्रिटन, डेनियल गैरिसन (1837-99) : अमरीकी मानवविज्ञानी। 1887 में सेवा-निवृत्त होने से पहले, ब्रिटन की रुचि मुख्य रूप से चिकित्साविज्ञान में ही थी। 1874 में वे प्रमुख अमरीकी चिकित्सा-विज्ञान पत्रिका 'मेडिकल एंड सर्जीकल रिपोर्टर' के संपादक थे। चिकित्सा क्षेत्र से अवकाश प्राप्त करने के बाद ब्रिटन ने अपना ध्यान मानवविज्ञान संबंधी गवेषणाओं में लगा दिया।

वैसे तो मानवविज्ञान में ब्रिटन की रुचि शुरू से ही थी। 1859 में लिखित 'नोट्स आन द फ्लोरिडियन पेनिनसुला' उनका मानवविज्ञान संबंधी प्रथम ग्रंथ था। लेकिन उन्होंने अपना प्रमुख कार्य चिकित्सा-क्षेत्र से रिटायर होने के बाद ही किया और फिर मृत्यु-पर्यंत वे इस विषय पर लिखते रहे। अपने जीवनकाल में उन्होंने 23 महत्त्वपूर्ण ग्रंथ और लगभग 300 लेख लिखे। ब्रिटन अमरीकी मानवविज्ञान के संस्थापकों में से एक थे। 1886 में उन्हें पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान और पुरातत्व के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया गया। अमरीकी विश्वविद्यालयों में मानवविज्ञान-संबंधी यह दूसरी महत्त्वपूर्ण नियुक्ति थी। अमरीकी इंडियन के जातिशास्त्रीय अध्ययन के संस्थापकों में गैलेटिन और मोर्गन के साथ उनका भी एक विशिष्ट स्थान है।

ब्रिटन का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान धर्म और मिथक-विज्ञान के क्षेत्र में है। उन्होंने बहुत परिश्रम से इंडियन्स के लोकविश्वासों, कथाओं और साहित्य को इकट्ठा कर उनका अध्ययन किया। उन्होंने इस विषय पर अनेक पुस्तकों का संपादन किया। ब्रिटन के सिद्धांत के अनुसार, मानवजाति के मानसिक क्रियाकलापों का विकास समरूप रीति से हुआ है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए उन्होंने अनेक धर्मों और पुराकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया और पाया कि धार्मिक विश्वासों की एकरूपता का आधार एक ही है—मानसिक क्रियाकलाप का समरूप विकास।

ब्रोका, पाल (1824–80) : फ्रांस के महान मानव-विज्ञानी। सेइट-फोय-ल-ग्रेड में उनका जन्म हुआ था।



उन्होंने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और शल्यक शरीर-रचनाविज्ञान के प्राध्यापक बन गये। वे बुद्धि संबंधी अध्ययन में अत्यधिक तत्पर रहे और उसकी माप के लिए उन्होंने अनेक 'उप-स्करों का आविष्कार किया। पेरिस की मानवविज्ञान सोसाइटी की स्थापना में उनका मुख्य हाथ रहा था और वे आजीवन उसके सचिव रहे। तुलनात्मक शरीर-रचनाविज्ञान में उनकी बड़ी रुचि थी, जो इस विवाद से प्रेरित थी कि मानव की उत्पत्ति एक-पूर्वजी है या बहुपूर्वजी। सन् 1861 से 1865 तक मस्तिष्क में प्रतिक्रियाओं के स्थानीयकरण के संबंध में उन्होंने अनुसंधान किया और वाग्‌नियंत्रण-स्थान निर्धारित किया। मानव के स्वरूप और मानव-संस्कृति के पारस्परिक संबंध के अध्ययन पर ब्रोका ने बहुत बल दिया।

प्राध्यापक होने के बाद उन्होंने 'मानवविज्ञान-संस्थान' की स्थापना की, जहां नरवानरों के तुलनात्मक शरीर-रचनाविज्ञान पर अनुसंधान चलता रहा। उन्होंने मानवमिति के काम में आनेवाले उपस्करों को अधिक परिमार्जित करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण काम किया था।

ब्लूमेनबाख़, योहान्न फ्रीडरिख़ (1752–1840) : जर्मन प्रकृतिवादी और मानवविज्ञानी। गोटिनजेन में शरीर-शास्त्र और चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के बाद, ब्लूमेनबाख़ क्रिश्चियन बुएतनेर के संपर्क में आये, जिसने उनके वौद्धिक विकास को बहुत प्रभावित किया। बुएतनेर की मृत्यु के पश्चात् विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उन पर प्राकृतिक इतिहास से संबंधित संग्रह को पुनर्व्यवस्थित करने का दायित्व डाल दिया। इसका कारण यह था कि तब तक ब्लूमेनबाख़ प्रकृतिवादी के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे और 23 वर्ष की आयु में ही गोटिनजेन में उन्हें प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया जा चुका था। इस पद पर वे 1835 तक कार्य करते रहे। अपने लंबे अध्यापनकाल के दौरान उन्होंने छात्रों को प्राकृतिक इतिहास, शरीरशास्त्र, शरीर-रचनाशास्त्र और मानव-विज्ञान—सभी विषय पढ़ाये और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। प्रकृतिवादी के रूप में ब्लूमेनबाख़ का प्रमुख योगदान जर्मनी में तुलनात्मक शरीर-रचनाशास्त्र की शुरूआत करना तथा प्राणिशास्त्र को विज्ञान के स्तर पर मान्यता देना है। उन्होंने प्राइमेट्स (नर वानरों) को दो श्रेणियों में विभाजित किया—'बाइमाना' और 'क्वाड्रुमाना' (द्विपदीय और चतुष्पदीय)। इन दो श्रेणियों की मौलिक असमनाताओं पर उन्होंने विशेषरूप से बल दिया। कालांतर में, उनके तर्कों को आधार मानकर डार्विन के विरोधी डारविन के सिद्धांतों का विरोध करते रहे। अधिक आश्चर्य इस बात का है कि उनकी युक्तियां विकासवादी सिद्धांत के अधिक अनुकूल थीं।

1775 में ब्लूमेनबाख़ ने एक शोध-प्रबंध लिखा, जो गोटिनजेन से प्रकाशित हुआ। इस शोध-प्रबंध में तुलनात्मक भौतिक-मानवविज्ञान के बुनियादी सिद्धांतों का वर्णन है। इस विषय पर लिखा गया यह पहला व्यवस्थित प्रयास था, जिसमें उन्होंने कपालों और कंकालों के वास्तविक मापों द्वारा अपने शोध-परिणाम प्रस्तुत किये थे। इन नमूनों को इकट्ठा करने के लिए ब्लूमेनबाख़ ने सभी संग्रहालयों और संग्रहों से संपर्क स्थापित किया था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण उन्हें करोटिविज्ञान का पिता कहा जाता है। मानवजाति की प्रजातियों के वर्गीकरण में उन्होंने काकेशियाई, मंगोलियाई, इथियोपियाई, अमरीकी और मलयवासियों को विश्व की पांच प्रमुख प्रजातियां स्वीकार किया। उनके पश्चात् प्रस्तुत प्रजातियों के प्रत्येक वर्गीकरण में इन्हीं के वर्गीकरण को आधार माना गया। उन्होंने काकेशियाई प्रजाति को मौलिक प्रजाति के रूप में स्वीकारा, अमरीकी और मलयवासियों को संक्रामी जो पतनशील होती हुई मंगोलियाई और इथियोपियाई प्रजातियों में बदल गयीं। इस प्रजातिगत विकास को उन्होंने हर्डर के विकासवादी सिद्धांत के साथ समन्वित किया। इस सिद्धांत के अनुसार तत्कालीन सभ्य मानव एक ऐसे व्यवस्थित विकास का परिणाम है, जिस पर पर्यावरण, आनुवंशिकता और सामाजिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता रहा है।

भारत की जनजातियां : भारत में जनजातियों की संख्या 1961 की जनगणना के अनुसार लगभग 30 लाख थी, जो भारत की कुल जनसंख्या का 6.87 प्रतिशत है। इन जनजातियों की कुल संख्या 500 से अधिक है और यह 212 समुदायों में विभक्त हैं। इनकी अपनी अलग सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अपनी अर्थ व्यवस्था, अपनी उपासना पद्धति तथा अपनी भाषा है। इनकी अपनी सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था है, तथा अपना वंश-कुल भी है।

भौगोलिक वर्गीकरण : भारत की जनजातियां, स्थानीय रूप से केंद्रित होते हुए भी सारे देश में बिखरी हुई हैं। भौगोलिक अनुरूपता के आधार पर मजूमदार ने तीन प्रमुख जनजातीय क्षेत्रों का सीमांकन किया है।

(1) **उत्तर-उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र** : पश्चिम में शिमला तथा लेह और पूर्व में लुसाई की पहाड़ियों तथा मिशमी इस भूभाग में है। यह भूभाग दोनों सिरों की ओर चौड़ा तथा मध्य में संकीर्ण है। पूर्वी कश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तरप्रदेश, असम तथा सिक्किम इसी क्षेत्र में पड़ते हैं। इस क्षेत्र के जनजातीय निवासियों में गारो, खासी, अबोर, मीरी, मिकिर, नागा, भोटिया, लेपचा, डाफला इत्यादि हैं।

(2) **केंद्रीय क्षेत्र** : इसमें बंगाल, बिहार, दक्षिण उत्तरप्रदेश, दक्षिण राजस्थान, मध्य भारत, उत्तर महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा शामिल हैं। इस क्षेत्र में मुंडा, हो, कमार, मुरिया गोंड, मारियागोंड, बैगा, बोंदो, बिरहोर, उरांव, खोंड, पहाड़िया, संथाल आदि कुछ प्रमुख जनजातियां रहती हैं।

(3) **दक्षिण क्षेत्र** : इसमें हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग,


13


14


19

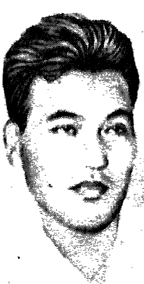

20


15

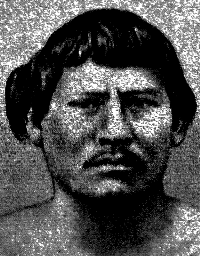

16


21


22


17


18


23


24

13 व 14. भारतीय पुरुष और स्त्री। 15. श्री लंका का तमिल पुरुष। 16. इंडो-चाइना की बर्मी स्त्री। 17 व 18. जापानी पुरुष और स्त्री।
19 व 20. एस्किमो पुरुष और स्त्री, बेहरिंग सागर,अलास्का। 21 व 22. मध्य अमरीका के भारतीय पुरुष और स्त्री। 23 व 24. पेतागोनियम पुरुष और स्त्री।

ट्रावनकोर, कोचीन, आंध्रप्रदेश तथा तमिलनाडु आते हैं।

भाषात्मक वर्गीकरण : भारत की जनजातियां अनेक प्रकार की भाषाएं एवं बोलियां बोलती हैं। उनकी भाषाओं को तीन भागों में बांटा गया है।

(1) **द्रविड़** : इस वर्ग में गोंड, खोंड, उरांव, मालेर इत्यादि भाषाएं आती हैं।

(2) **आस्ट्रियाई** : इस समूह के अंतर्गत संथाल, मुंडा, हो, खड़िया, निकोबारीस इत्यादि जनजातियों द्वारा बोली जानेवाली भाषाएं आती हैं।

(3) **तिब्बती-चीनी** : इस समूह के अंतर्गत मुख्यतः हिमालयीय भूभागों तथा असम के कुछ हिस्सों में रहनेवाली जनजातियों द्वारा बोली जानेवाली भाषाएं आती हैं।

प्रजातीय वर्गीकरण : बी० एस० गुहा ने भारत की जनजातियों को तीन प्रधान वर्गों में बांटा है।

(1) **मूल-आस्ट्रेलियाई** : इनके शरीर का रंग सांवला होता है। चपटी नाक तथा झुका हुआ ललाट इस वर्ग की विशेषता है। इस वर्ग के अंतर्गत मुंडा, उरांव, हो, गोंड, खोंड इत्यादि आते हैं।

(2) **मंगोलियाई** : उप-हिमालय क्षेत्र तथा भारत की पूर्वीसीमा की जनजातियां इस वर्ग के अंतर्गत आती हैं।

(3) **नीग्रोमूलक** : कोचीन के काडर तथा अंडमान द्वीप के निवासी इसके अंतर्गत आते हैं।

आर्थिक स्तर : भारतीय जनजातियों के प्रमुख आर्थिक स्तर निम्नलिखित है:

1. खाद्य-संग्राहक तथा शिकारी (बिरहोर आदि)
2. पशु-पालक (तोडा इत्यादि)
3. विवर्तन-कृषक (नागा आदि)
4. स्थिर कृषक (मुंडा, उरांव इत्यादि)
5. औद्योगिक श्रमिक (हो तथा अन्य)

विभिन्न राज्यों में जनजातियों की जनसंख्या 1961 की जनगणना के अनुसार निम्नलिखित थी:

राज्य	जनसंख्या
आंध्रप्रदेश	13,24,368
असम	20,64,816
बिहार	42,04,784
गुजरात	27,54,446
मध्यप्रदेश	66,78,410
तमिलनाडु	2,51,991
महाराष्ट्र	23,97,159
मैसूर	1,92,096
उड़ीसा	42,23,757
पंजाब और हरियाणा	14,139
राजस्थान	23,51,470
पश्चिमी बंगाल	20,54,081
अंडमान-निकोबार द्वीप	14,122
हिमाचलप्रदेश	1,08,194
मनीपुर	2,49,049
नागालैंड	3,43,697
त्रिपुरा	3,60,070
केरल	2,12,762

भारत में पाषाणकाल : भारत में प्राचीन-पाषाण काल, मध्य-पाषाणकाल तथा नव-पाषाणकाल–सभी के प्रमाण मिले हैं। ये प्रमाण 'प्लीस्टोसीन' समय के हैं। डि टैरा ने उत्तर भारत में एक नयी पाषाण संस्कृति का नाम दिया है। डि टैरा को पंजाब में चौंगा नामक स्थान पर भी पाषाण संस्कृति के अवशेष मिले हैं। डि टैरा के अनुसार भारत में उस समय दो प्रकार की पाषाण संस्कृतियां थीं: मद्रास की हस्त-कुल्हाड़ियोंवाली और सोहन घाटी की फ्लेक तथा गोल पत्थर की संस्कृति।

डि टैरा ने नर्मदा के क्षेत्रों में भी खोज की थी। यहां पर उसे 'प्लीस्टोसीन' काल के स्तनपायी पशुओं 'जुगुओं' तथा पाषाण अस्त्रों के अवशेष प्राप्त हुए। उसके मतानुसार हस्त-कुल्हाड़ियां प्रारंभिक पाषाणकाल की तथा फ्लेक अस्त्र 'प्लीस्टोसीन' काल के थे। गोयना के विचार से साबरमती घाटी की संस्कृति उत्तर सोहन तथा मध्य और उत्तर एशिलियन संस्कृति का ही मिश्रण है। मध्य भारत में डा० संखालिया ने नर्मदा के दोनों ओर प्राचीन पाषाण युग के विभिन्न स्थानों की खोज की। यहां की धरती का स्तर डि टैरा द्वारा खोजे गये होशंगाबाद की धरते के स्तर के समान ही है। दोनों स्थानों पर पाषाण अस्त्र मिले हैं। जायनर तथा कृष्णस्वामी को भी 1948 में ख्याड, एलूर, तथा सिनासदीर नामक स्थानों पर कुछ पाषाण अस्त्र मिले हैं। ये शस्त्र बिल्लौर के फ्लेक के बने हुए हैं।

भील जनजाति : ऐसा माना जाता है कि 'भील' शब्द की उत्पत्ति एक द्रविड़ शब्द 'बिल्लु' से हुई है, जिसका अर्थ धनुष होता है। धनुष इस जनजाति का मुख्य शस्त्र है। पहले ये लोग आबू और असीरगढ़ के पहाड़ी इलाकों में रहते थे, जहां से वे बाद में पश्चिम और दक्षिण की तरफ, गुजरात, उत्तरी दक्कन, और सिंध के समतल इलाकों में फैल गये। इनकी जनसंख्या 1961 की जनगणना के अनुसार निम्नलिखित थी:

मध्य प्रदेश	12,24,891	गुजरात	11,24,282
राजस्थान	9,06,705	महाराष्ट्र	5,75,022
मैसूर	217	दिल्ली	155
आंध्र प्रदेश	83	त्रिपुरा	69

इनकी भाषा 'भीली' है, जो बहुत-कुछ मारवाड़ी भाषा से प्रभावित है। मुंडारी भाषा के कुछ शब्द भी इनकी भाषा में पाये जाते हैं।

साधारणतः इनके गांव एक जगह न होकर बिखरे होते हैं और इनके घर अलग-अलग मैदानों में बसे होते हैं। भील पुरुषों का पहनावा 'फेंटी' (पगड़ी), 'पोटारियो' (धोती) और 'अंगी' (कमीज) है। औरतें, 'अंगी', 'कापरी', 'घागरा' और 'लुगरो' पहनती हैं।

ये मुख्यतः किसान, मजदूर, और चौकीदार का पेशा करते हैं। वे बहुत अच्छे शिकारी होते हैं।

भील जनजाति में दूसरे प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त अपहरण विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। साधारणतः जंगल में रहनेवाले भीलों का विवाह मैदानी क्षेत्र में रहनेवाले भीलों के साथ नहीं होता है। तलाक की प्रथा इन लोगों में काफी हद तक प्रचलित है।

अधिकतर भील हिंदू धर्म के अनुयायी हैं, लेकिन उनमें से कुछ लोगों ने ईसाई, इस्लाम और जैन धर्म को भी अपनाया है। 'शिव' को वे लोग सबसे बड़ा देवता मानते हैं और उनको 'भगवान' या 'महादेव' कहकर संबोधित करते हैं। वे सभी मुख्य हिंदू त्योहारों को मनाते हैं, खासकर होली तो वे बड़े उत्साह के साथ मनाते हैं। उनके प्रमुख त्योहार, 'आखा', 'तीज', 'दीयो', 'राखी', 'नव-रात्रि', 'दशहरा', 'दिवाली', 'काली चौदस', 'काली पूनम' इत्यादि हैं।

हिंदू धर्म में 'भील' को उच्च-स्थान प्राप्त नहीं है, लेकिन उनको अछूत भी कभी नहीं समझा गया। वैसे गुजरात में हिंदू उनके हाथ का पानी नहीं पीते थे।

इनकी अपनी परंपरानुगत पंचायतें होती हैं, जिसका एक मुखिया होता है, जो 'गेमेती' या 'तदवी' कहलाता है। कई विभिन्न गांवों के सम्मेलनों में हर गांव का एक प्रतिनिधि जाता है और साधारणतः उस गांव का 'लंबरदार' ही इस कर्तव्य को पूरा करता है। पंचायत का काम गांव के छोटे-मोटे झगड़ों का निपटारा करना होता है।

आजकल कुछ भीलों ने अपने-आपको अलग करने के लिए, अपने को 'मीना' या 'भील-मीना' कहना शुरू कर दिया है। कुछ लोगों ने अपने-आपको 'उजाला' या 'शुद्ध-भील' कहना भी शुरू कर दिया है।

मंगोलकल्प या मंगोलाइड प्रजाति : इसका अन्य नाम एशिया-अमरीका प्रजाति भी है। इस प्रजाति के अंतर्गत विश्व की आधी जनसंख्या (यानी 1 अरब 50 करोड़ लोग) को रखा जा सकता है। मंगोलकल्प से संबंधित अधिकांश जातियां एशिया के उत्तरी, मध्य, पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भागों में निवास करती हैं। मंगोलकल्प प्रजाति अमरीका और ओशीनिया महाद्वीप तक फैली हुई है।

सोवियत संघ के एशियाई भागों में अनेक मंगोलकल्प समुदाय पाये जाते हैं जैसे, 'याकूत', 'बुरयात', 'टुंगस' (इवेंकी), 'चुकची', 'तूविनियन', 'अल्टायन', 'जिलयाक', (निवहा), 'एलियूत', 'एशियावासी एस्किमो' आदि। सोवियत संघ के यूरोपीय भाग के 'बशकीर', 'तातार', 'चुवारा' आदि निवासियों में भी मंगोलकल्प-तत्व अंशतः विद्यमान हैं।

मंगोलकल्प प्रजाति की विशिष्टताएं इस प्रकार हैं:

वर्ण — हल्का या गहरा पीत।

बाल — काले, सीधे और सख्त। इनका वर्ण प्रायः काला होता है। दाढ़ी-मूंछें देर से आती हैं तथा बहुत हल्की होती हैं। शरीर के अन्य भागों पर प्रायः बाल नहीं होते।

मंगोलकल्प प्रजाति की अन्य विशिष्टताएं (विशेषतः उत्तरी मंगोलकल्प प्रजाति की) इस प्रकार हैं:

चेहरा — विशाल, गालों और जबड़े की हड्डियां उभरी हुई तथा सपाट व्यक्तित्व।

आंखें — भूरी तथा कम खुली तथा कहीं-कहीं चुंदी आंखें।

नाक — छोटी और सामान्य चौड़ाई की तथा दबी हुई नासिका-सेतु का उठाव बहुत कम होता है (अमरीकी इंडियन इसके अपवाद हैं। उनका नासिका-सेतु उठा हुआ तथा नाक भी लंबी होती है।)

ओठ — पतले या सामान्य। ऊपर का होठ अधिक उठा हुआ होता है।

ठोड़ी — उठाव सामान्य होता है।

सिर — गोल और छोटा।

कद — भौगोलिकता के अनुरूप।

मंगोलकल्प को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। 'उत्तरी मंगोलकल्प' या 'एशिया महाद्वीपीय', 'दक्षिणी मंगोलकल्प' या 'एशिया प्रशांत महासागरीय', और 'अमरीकी'।

उत्तरी मंगोलकल्प के प्रमुख प्रतिनिधि हैं: 'मंगोल' और 'बुरयात'। हालांकि शारीरिक लक्षणों के अनुसार ये कुछ भिन्न हैं, लेकिन दाढ़ी-मूंछ तथा ओठों की बनावट तथा विशाल और सपाट चेहरा इनका मंगोलकल्प मूल की ओर ही इशारा करता है।

दक्षिणी मंगोलकल्प के मुख्य प्रतिनिधि हैं: 'मलय', 'जावावासी' और 'सुंडा'। इनका वर्ण गहरा पीला, लंबूतरा तथा पतला चेहरा, मंझले तथा मोटे ओठ, चौड़ी नाक और आंखों का चुंदी न होना–ऐसी विशिष्टताएं हैं, जो इन्हें उत्तरी मंगोलकल्प से अलग करती हैं। इसके अलावा उत्तरी मंगोलकल्पवालों से ये कद में भी काफी छोटे होते हैं।

अमरीकी रेडइंडियन मंगोलकल्प के तीसरे प्रतिनिधि हैं, लेकिन इन्हें पूर्णतया मंगोलकल्प का नहीं माना जाता; क्योंकि इस उपवर्ग की कई विशिष्टताएं 'श्वेतकल्प' (यूरोपाइड) से भी मिलती हैं। अमरीकी रेडइंडियनों के सिर के बाल काले, सीधे और सख्त, वर्ण पीला-भूरा, आंखें गहरी भूरी और चेहरे अधिकांश विशाल और सपाट होते हैं।

ये विशिष्टताएं ऐसी हैं, जो इन्हें मंगोलकल्प वर्ग में रखती हैं।

प्रोफेसर एन० एन० चेबोक्सारोफ के अनुसार मंगोलकल्प का वर्गीकरण इस प्रकार है:

मुख्य वर्ग	वर्ग	उप वर्ग
मंगोलकल्प (एशिया-अमरीकी)	उत्तरी मंगोलकल्प (एशिया महाद्वीपीय,	यूराल (अंशतः) दक्षिणी साइबेरिया निवासी (अंशतः) मध्य एशियाई साइबेरियाई (बैकाल झील) आर्कटिक सुदूर पूर्व (पूर्वी एशिया)
	दक्षिणी मंगोलकल्प (एशिया-प्रशांतमहासागरीय)	दक्षिणी एशियाई पोलीनीशिय (अंशतः)
	अमरीकी मंगोलकल्प (अमरीकी इंडियन)	उत्तरी अमरीकी मध्य अमरीकी पेटागोनियन

मंगोल प्रजाति : मंगोल मुख्यतया मंगोलिया, चीन के उत्तर-पश्चिमी सीमांत तथा दक्षिणी साइबेरिया के भागों में रहते हैं। चीन की टोर्गुट, कालमुख और खालका जनजातियां भी मंगोल प्रजाति का ही अंग हैं। पश्चिम में तुर्की के साथ पूर्व में मांचू और टुंगस प्रजाति के साथ और दक्षिण में हान (चीनी) प्रजाति के साथ इनके वैवाहिक संबंध हैं।

इनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताएं इस प्रकार हैं: गोल और मध्यम आकार का सिर, काले बाल, श्वेत, पीत तथा भूरा वर्ण और स्त्रियों के गुलाबी गाल। 25 प्रतिशत मंगोलों की आंखें चुंदी होती हैं। शेष मंगोलों में आंखों की इस विशिष्टता का न पाया जाना इस बात का सूचक है कि प्रजातीय-सम्मिश्रण इनमें बहुत बड़े पैमाने पर होता रहा है। रक्त-वर्ग की दृष्टि से मंगोलों को अल्पाइन या आर्मेनायड मानव का संबंधी कहा जा सकता है।

मंगोलों का सामाजिक जीवन यायावरीय होने के कारण ये कैसी भी भौगोलिक और वातावरणजन्य

परिस्थितियों से समायोजन कर लेते हैं। ये शानदार घुड़सवार, लड़ाकू और मुख्यतया पशुपालक रहे हैं और अपनी घुमंतू प्रवृत्ति के कारण निरंतर स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं। मंगोलों की सामाजिक व्यवस्था में पशु-संपत्ति ही समृद्धि का प्रतीक है। मंगोल खेलकूद में बड़ी दिलचस्पी रखते हैं तथा घुड़दौड़, धनुषबाण, कुश्ती, बास्केट बाल और शूटिंग (कानूनी) इनके प्रिय खेल हैं।

मंत्र चिकित्सा : मंत्र-साधना में नाद और शब्द की साधना से दैवी शक्तियों को सिद्ध या अपने वश में किया जाता है। मंत्र की उत्पत्ति भय या विश्वास से हुई। आदिकाल में मंत्र और धर्म में गहरा संबंध था। प्रार्थना को एक प्रकार का मंत्र माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्रार्थना के उच्चारण से कार्यसिद्धि हो सकती है।

प्राचीन काल में वैद्य औषधि और मंत्र का साथ-साथ प्रयोग करता था। औषधि को अभिमंत्रित किया जाता था और विश्वास था कि ऐसा करने से वह अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है। कुछ मंत्रप्रयोगकर्ता (ओझा) केवल मंत्र द्वारा ही रोगों का उपचार करते थे। कालांतर में यह इनका व्यवसाय बन गया।

मंत्र का प्रयोग सारे संसार में किया जाता था और इसकी क्रियाएं मूलतः सर्वत्र एक-सी ही थीं। वैज्ञानिक युग से पूर्व विविध रोग विविध प्रकार के राक्षस, पिशाच, भूत या प्रेत माने जाते थे। अतः पिशाचों का शमन, मारण, निवारण या उच्चाटन किया जाता था। मंत्र-चिकित्सा में मंत्रों के साथ-साथ कुछ क्रियाएं भी प्रचलित थीं। मंत्रोच्चारण करते समय ओझा हाथ से, उंगलियों से, नेत्र से और मुख से विविध क्रियाएं करता था। इन क्रियाओं में त्रिशूल, झाड़ू, कटार, वृक्ष-विशेष की टहनियों और सूप तथा कलश आदि का भी प्रयोग किया जाता था। रोग की छोटी-सी प्रतिमा बनाकर उस पर प्रयोग किया जाता था। अगर रोगी को संयोगवश आराम आ गया तो ओझा में लोगों का विश्वास बढ़ जाता था और अगर मृत्यु हो जाये तो मंत्र-साधना में कोई त्रुटि मान ली जाती थी। चिकित्सा की वैज्ञानिक प्रणाली के प्रसार के कारण मंत्र-चिकित्सा या तो रूढ़िवादियों तक सीमित रह गयी है या जहां अभी वैज्ञानिक चिकित्सा प्रणाली के चरण नहीं पड़े हैं, वहां इसका अत्यधिक प्रचार है।

मजूमदार, (डा०) डी० एन० (1903-1960) : इनका जन्म 3 जून 1903 को हुआ था। इनकी शिक्षा 'ढाका गवर्नमेंट कालेज', 'युनिवर्सिटी कालेज', कलकत्ता, 'केंब्रिज विश्वविद्यालय', तथा 'गाल्टन लेबोरेटरी, लंदन, में हुई। ये एक बहुत ही मेधावी छात्र थे। इन्होंने मैट्रिक में प्रथम श्रेणी, इंटरमीडिएट में प्रथम श्रेणी, बी० ए० में विशेष योग्यता के साथ प्रथम श्रेणी तथा एम० ए० में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया था। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में (1927) प्रेमचंद रायचंद स्कालर भी रहे हैं तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय (1929) से ही इन्होंने 'माउंट स्वर्ण पदक' भी प्राप्त किया। इन्होंने केंब्रिज विश्वविद्यालय से 1935 में पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इंडियन साइंस कांग्रेस (1939) में ये 'मानवशास्त्र' तथा 'पुरातत्व-विज्ञान' के अध्यक्ष भी थे। ये नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंस (1940) के सदस्य भी रह चुके हैं। 'गुजरात अनुसंधान समिति, बंबई' ने इन्हें 1950 में 'अनुसंधान पदक' प्रदान किया। 1958 में उन्हें एशिया में एंथ्रोपोलोजी के अध्ययन में योगदान के लिए एशियाटिक सोसाइटी (बंगाल) ने 'अन्नाडेल मेमोरियल' स्वर्ण पदक प्रदान किया।

विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में वे 'कारनेल विश्वविद्यालय' में सन् 1952-53 तक रहे। लंदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ ओरियंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज़' में भी वे 1957-58 तक विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में रहे। रोम (1954) में हुई 'वर्ल्ड पोपुलेशन कांफ्रेन्स' में वे 'अनुसंधान कार्यक्रम समिति' के सदस्य थे। 'अमेरिकन एसोसिएशन आफ फिजिकल बायलोजिस्ट' के वे सदस्य थे। 'एसोसिएशन आफ ह्यूमन बायोलोजिस्ट' (लंदन) के भी वे सदस्य थे।

उन्होंने 200 से अधिक वैज्ञानिक लेख तथा रचनाएं लिखी हैं।

डा० मजूमदार की कुछ प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं:

1. 'ए ट्राइब इन ट्रानजिसन' लांगसैन्स ग्रीन एंड को०, (लंदन), 1937।
2. 'फारचून्स आफ प्रिमिटिव ट्राइब्स'—जनगणना विभाग, उत्तरप्रदेश सरकार, 1944।
3. 'रेसेस एंड कल्चरस आफ इंडिया'—एशिया पब्लिशर्स, 1958 तृतीय संस्करण।
4. 'मैट्रिक्स आफ इंडियन कल्चर'—नागपुर विश्वविद्यालय, 1948।

5. 'रेस रियलिटिग इन गुजरात'—गुजरात अनुसंधान समिति द्वारा प्रकाशित 1958।
6. 'दि अफेयर्स आफ ए ट्राइब'——यूनिवर्सल पब्लिशर्स 1952।
7. 'इंट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपोलोजी'—डा० टी० एन० मदन के साथ—एशिया पब्लिशिंग हाउस तृतीय संस्करण, 1958।
8. 'रेस प्राब्लम इन एशिया' (डा० आई० कर्वे के साथ) इंडियन्स काउंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स, 1952।
9. 'भारतीय संस्कृति के उपादान'——एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958।
10. 'कास्ट एंड कम्युनिकेशन इन एन इंडियन विलेज'——एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958।
11. 'सोशल कंटूर्स आफ एन इंडस्ट्रियल सिटी——कानपुर——एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1959।

इनके अलावा वे निम्नलिखित पत्रिकाओं के संपादक भी रह चुके है :

1. ईस्टर्न एंथ्रोपोलोजिस्ट
2. प्राच्य मानवविज्ञानी
3. इंटरनेशनल डायरेक्टरी आफ एंथ्रोपोलोजिस्ट
4. मैन इन इंडिया

लखनऊ विश्वविद्यालय में वे 1927 में व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुए, जहां बाद में उनकी पदोन्नति रीडर तथा प्रोफेसर के रूप में हुई। 1959-60 तक वे लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र के प्रोफेसर थे।

उनकी मृत्यु 31 मई, 1960 को लखनऊ में हुई।

मध्य-पाषाणयुग : इस युग की संस्कृति की खोज अधिकतर उत्तरी यूरोप में हुई है। इस काल में गर्मी के कारण बर्फ पिघलती रही। तापमान के बदलने के साथ-साथ पृथ्वी पर अन्य प्रकार के परिवर्तन भी हुए। समुद्र-तल ऊंचा हो गया। दूसरा परिवर्तन वनस्पति में हुआ। इसके बाद ऐसी जलवायु हो गयी, जिसमें चीड़ और विलो जैसे वृक्ष ही पैदा हो सकते थे। यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के मानव के जीवन पर भी इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। फ्रांस तथा मध्य यूरोप में उत्तर-पुरातन-पाषाणयुग के मानव टुंड्रा के जंगली जानवरों के शिकार पर निर्भर थे। वे जानवर बर्फ के बिना नहीं रह सकते थे। खाद्य की कमी के कारण आरिगनेशियन तथा मैगडालिनियन मानव की संतान उत्तर की ओर चली गयी तथा धीरे-धीरे अकाल के कारण उनकी संख्या और भी कम होने लगी।

संभवतः जलवायु में परिवर्तन बहुत तेजी से आया हो, परंतु नये पेड़-पौधों को उगने में काफी समय लगा होगा और इस तरह, उस समय के मानव को अपने-आपको नये जलवायु के अनुरूप ढालने में काफी समय लगा होगा। इस काल में भिन्न-भिन्न प्रकार की अस्त्र-संस्कृतियां मिलती हैं। जो जंगलों में शिकार करते थे, उनके भिन्न प्रकार के शस्त्र और संस्कृति थी तथा मछलियां पकड़नेवालों की भिन्न प्रकार की। जो शस्त्र उत्तरी डेनमार्कवाले प्रयोग में लाते थे, वे पश्चिमी फ्रांसवालों के लिए किसी काम के न थे।

इस युग में छोटे-छोटे फ्लिंट के बने अस्त्र पाये गये हैं। इन्हें सूक्ष्म पाषाण-शस्त्र कहा जाता है। इनके आकार कई तरह के होते हैं। विशेष रूप से त्रिभुजाकार, अर्धचंद्र आकार तथा चौकोर प्रकार के शस्त्र पाये गये हैं। वे अधिकतर नक्काशी करने के औजार हैं। उनमें से अधिकतर तो केवल आधा इंच ही लंबे हैं।

मध्य यूरोप में लौहयुग संस्कृति : मध्य यूरोप में लौहयुग संस्कृति के प्रमाण विशेष रूप से दो स्थानों पर मिले हैं : आस्ट्रिया के 'हालश्टाट' में तथा स्विटजरलैंड के 'लातिन' में। यूरोप में लोहे का काम 1,000 ई० पू० तक होने लगा था, परंतु सारे यूरोप में वह कुछ समय के पश्चात् ही फैला। 'हालश्टाट' संस्कृति लगभग 800 से 400 ई० पू० की है। 'हालश्टाट' संस्कृति के प्रमाण एक विशाल कब्रिस्तान में से मिले हैं। शुरू में 'हालश्टाट' संस्कृति में कांसे के बने हुए शस्त्र भी मिले थे। कई प्रकार की तलवारें भी मिली हैं। प्रारंभिक तलवारें लंबी, भारी और कांसे की बनी हुई हैं। इसके बाद लोहे की तलवारें बनायी गयीं। कुछ चाकू भी मिले हैं, बाल्टी भी मिली हैं, जिसे 'सिटुला' कहते हैं। चमकदार कांसे की बनी हुई चूड़ियां भी मिली हैं। इस काल में रथ प्रयोग में लाये जाते थे, जिसमें चार पहिये होते थे और लोहे का प्रयोग होता था। 'हालश्टाट' संस्कृति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) पहला प्रारंभिक, जब कांसे तथा

लोहे दोनों धातुओं का प्रयोग होता था और शस्त्र लंबे एवं भारी बनाये जाते थे। दूसरी में छोटे शस्त्र बनाये जाने लगे तथा रथ भी प्रयोग में लाया जाने लगा। उत्तरी यूरोप और इंगलैंड में लोहे का प्रयोग बहुत दिनों बाद आरंभ हुआ।

'लातिन' संस्कृति के प्रमाण स्विटज़रलैंड में मिले हैं। डा० पाल बोगा का कहना है कि यह स्थान एक किला था, जहां से व्यापार भी किया जाता था। प्रारंभिक शस्त्र 'हालश्टाट' की छोटी-छोटी तलवारों के समान थे। जहां कहीं भी 'लातिन' संस्कृति के प्रमाण मिले हैं, वहां लोहे की तलवारें, भाले, बर्छे इत्यादि अधिक मात्रा में मिले हैं। ढाल तथा लोहे की टोकरियां भी मिली हैं। चाकू, हथौड़ी, कुल्हाड़ियों के फल इत्यादि भी लोहे के बनाये जाते थे। लोहे के बने ताले-चाभियां भी मिली हैं। कान के कुंडल एवं गले के हार भी पाये गये हैं।

ममेरे-फुफेरे भाई-बहन में विवाह : आदिम काल में भाई-बहन की संतान में विवाह वांछित माना जाता है। भारत की गोंड़, नागा, उरांव, सरीया तथा अन्य कई आदिम-जातियों में ममेरे-फुफेरे भाई-बहन के साथ विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। इस तरह के विवाह में वर पक्ष को ज्यादा 'कन्यामूल्य' नहीं देना पड़ता।

कुछ मानवविज्ञानियों का विचार है कि कदाचित इस प्रकार के ममेरे-फुफेरे भाई-बहन में विवाह और मातुल-अधिकार में कार्य-कारण का संबंध होता है। इस प्रकार के विवाह द्वारा एक पुरुष का मामा उसका भावी ससुर भी होता है और इस प्रकार मामा के अधिकार दुगुने हो जाते हैं। मैसूर और महाराष्ट्र की कुछ जातियों में ऐसा नियम है कि यदि कोई पुरुष मामा की पुत्री से विवाह न करे, तो मामा को मुआवजा देना पड़ता है और यदि मामा भानजे के साथ पुत्री का विवाह न करे, तो प्राप्त 'कन्यामूल्य' में से एक बड़ा अंश उस कन्या के फुफेरे भाई को देना पड़ता है।

दक्षिण भारत की अधिकांश सामान्य जातियों में भी मामा की लड़की या बुआ के पुत्र से विवाह उत्तम माना जाता है।

सुजननशास्त्र के कई विद्वानों के मतानुसार इस प्रकार का विवाह वांछनीय नहीं है।

मवोरी जाति : न्यूजीलैंड में पोलिनीशिया के जो आदि-वासी लोग रहते हैं, वे मवोरी जाति के माने जाते हैं। इस जाति के पूर्वज 1350 के आसपास मध्य-पोलिनीशिया के पैसिफिक द्वीप-समूह के दक्षिण की ओर आकर बस गये थे। लेकिन, उससे पहले ही न्यूजीलैंड में, मोवा शिकारी के नाम से जाने जानेवाले पोलिनीशिया के लोग इधर-उधर आकर बस गये थे। इनके बाद आनेवाले लोगों ने न्यूजीलैंड के दो द्वीपों पर अधिकार जमा लिया। खासकर, थोड़े से गर्म मौसम तथा उर्वरा भूमिवाले उत्तरी द्वीप में ही ये लोग बस गये। यहां पर इन लोगों को मिलनेवाला मुख्य भोजन है—'कुमरा'। ये लोग मछली, घोंघे और जंगली पक्षी खाते हैं। विज्ञान की दिशा में इन लोगों की काफी रुचि है। इनके द्वारा बनाये जानेवाले मोम के कपड़े, लकड़ी के मकान इस बात का उदाहरण हैं। न्यूजीलैंड जैसे ठंडे इलाके में इस तरह के कपड़े और मकान बहुत उपयोगी होते हैं।

मवोरी जाति के लोगों पर उनके मुखिया का शासन होता है। किंतु इनमें राजा जैसे सर्वाधिकारी की व्यवस्था नहीं है। इनका जो मुखिया होता है, उसे नियमित और पवित्र जीवन बिताना होता है। इस जाति के लोग अक्सर दूसरे लोगों से युद्ध मोल लेते हैं। इसी कारण, शत्रुओं के हमलों से बचने के लिए ये लोग अपने गांव के अतराफ खंदक खोदते हैं, जिससे आसानी से शत्रु इन पर हमला न कर सके। अपनी रक्षा के लिए ये लोग अपने मकान भी पहाड़ों की ढलानों पर बनाते हैं या द्वीपों में।

यद्यपि 1769 में ही न्यूजीलैंड की खोज की जा चुकी थी, फिर भी 1840 तक यूरोप के देशों के लोग वहां स्थायी रूप से नहीं बसे थे। यूरोपीय लोगों द्वारा बंदूक आदि अस्त्रों का प्रयोग सिखाने के कारण मवोरी जाति के लोगों में युद्ध अधिक हो गये। यूरोप के लोगों के संपर्क के कारण इन लोगों में कुछ बीमारियां भी आ गयीं, जिससे कई लोग मरे। इसके अलावा मवोरी जाति के लोगों तथा यूरोपीय लोगों में भूमि-संबंधी जो झगड़ा शुरू हुआ था, वह 1860 के आसपास युद्ध के रूप में बदल गया। ये सारी बातें मवोरी जाति के लोगों के लिए बहुत घातक सिद्ध हुईं। परिणामस्वरूप मवोरियों की कुछ लाखों की जनसंख्या 1896 तक घटकर 40,000 रह गयी। इससे यह सोचा जाने लगा कि मवोरी जाति

पूर्ण रूप से मिट गयी है, लेकिन वे बहुत शक्तिशाली लोग थे। इसलिए वे धीरे-धीरे दुबारा उन्नति करते रहे और 1957 तक उनकी जनसंख्या दुबारा 1,45,000 हो गयी।

आचार-व्यवहार : मवोरी जाति के लोगों में खून के रिश्ते को बहुत प्रधानता दी जाती है। वंशावली का अध्ययन करते समय ये लोग स्त्री और पुरुष दोनों की वंश-परंपरा पर ध्यान देते हैं। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी मां के गांव की या बाप के गांव की जमीन का वारिस हो सकता है।

मवोरी जाति में असंख्य पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं। इन कथाओं के अनुसार धरती और आकाश के संयोग से विश्व की सृष्टि हुई है। मानवजीवन संबंधी व्यवस्थाओं को ठीक से चलानेवाले अनेक देवताओं का भी इसी तरह उद्भव माना जाता है।

न्यूजीलैंड में मवोरी जाति के लोगों के प्रति कानूनन किसी तरह का अलग व्यवहार नहीं किया गया है। ये लोग भी वर्तमान जीवन-पद्धतियों को पूर्ण रूप से अपने जीवन में अपनाने लगे हैं। इनमें से कई डाक्टर, नर्सें तथा प्राध्यापक पाये जाते हैं। ये लोग अंग्रेजी भाषा भी बोल सकते हैं। इनके बच्चे स्कूलों में शिक्षा पाने लगे हैं। ये लोग ईसाई हो गये हैं और यूरोप के लोगों के साथ सामाजिक जीवन में घुल-मिल रहे हैं।

यद्यपि मवोरी जाति के लोग आधुनिक जीवन-पद्धतियों को अपना रहे हैं, फिर भी इन्होंने अपने प्राचीन जीवन के आदर्शों को तथा संस्कृति-सभ्यता को बचाये रखने की पूरी कोशिश की है। इनकी भाषा न्यूजीलैंड के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में विशेष रूप में पढ़ायी जाती है। अपनी संस्कृति को प्रतिबिंबित करनेवाले गीतों, नृत्यों आदि की रक्षा करने के लिए मवोरी लोग आपस में मिलकर गाते-नाचते हैं। अपनी परंपरा के अनुसार ये लोग मिट्टी के चूल्हों पर खाना बनाते हैं। मित्रों और रिश्तेदारों के प्रति प्रेम, उदारता की भावना दिखाना, अतिथियों का सत्कार करना इनकी संस्कृति के प्रधान गुण हैं, जिनका ये पालन करते हैं।

मातंगी : पार्वती का ही एक नाम। वसिष्ठ की पत्नी का नाम भी मातंगी था। इसके अलावा अछूत जाति की वेश्या को भी मातंगी कहते हैं।

जब वेश्यावृत्ति की आवश्यकता तमाम जातियों को पड़ने लगी, तो समाज के अछूत वर्ग को भी इसकी आवश्यकता का अनुभव हुआ, लेकिन साधारण वेश्याएं भंगी, मोची, चमार आदि जातियों के लोगों को अपने पास नहीं आने देती थीं। इसी कारण इन अछूत जातियों के लोग राम और कृष्ण के मंदिरों में उनकी मूर्तियों के साथ अपनी जाति की कन्याओं का विवाह करने लगे और ऐसी कन्याओं को 'देवदासी' के नाम से पुकारने लगे। ये देवदासियां अपनी जाति के मंदिरों तक ही सीमित हुआ करती थी। उच्च जाति के मंदिरों में जाने की इन्हें अनुमति नहीं थी। इसीलिए इन अछूत जातियों की देवदासियां समय और आवश्यकता के अनुसार भगवान की दासी, नर्तकी और वेश्या के रूप में व्यवहृत होती थीं।

आंध्र प्रदेश में इस तरह की वेश्याओं को 'मालसानी' के नाम से भी पुकारते हैं। यद्यपि ये स्त्रियां जन्मतः अछूत मानी जाती हैं, तथापि उच्च वर्ग की वेश्याओं जैसे व्यवहार और आचार-विचार का पालन करते रहने की वजह से इन्हें अपने समाज में विशेष स्थान प्राप्त होता है। एक प्रचलित विश्वास के अनुसार विश्वामित्र ने मातंगी कन्याओं की सृष्टि की थी, जिन्हें हरिश्चंद्र ने अछूत करार दिया था। तभी से अछूत जाति की वेश्याओं के लिए यह शब्द प्रयुक्त होने लगा। इन जातियों के लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि मातंगी शब्द वस्तुतः इनकी वेश्याओं को दी गयी उपाधि है। इस शब्द को लेकर वे गौरव का अनुभव भी करते हैं।

मातुल अधिकार : अनेक ग्राम्य समाजों में माता के भाई अर्थात् मामा का अपनी बहन के बच्चों पर विशेष अधिकार माना जाता है। भारत के अधिकांश आदिवासी और ग्राम्य-समाजों में, जो पितृधारीय अथवा पितृस्थानिक हैं, मामा का समाज और परिवार में विशेष स्थान है। खासकर व्यक्ति के संस्कारों के अवसरों पर इनकी उपस्थिति आवश्यक मानी जाती है। मोर्गन और रिवर्स का मत है कि मातुल अधिकार मातृक-समाजों की विशेषता है।

मातृतंत्रीय : प्रत्येक व्यक्ति में जैविक रूप से दो विभिन्न धाराओं का मिश्रण होता है, उसके पिता की वंशधारा और उसकी माता की वंशधारा का। कुछ समाज पिता की वंश-धारा अथवा वंश-रेखा को अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ

समाजों में मातृधारा को सामाजिक संगठन का आधार माना जाता है। उत्तराधिकार, नामकरण, अधिकार का प्रयोग आदि इसी आधार पर निश्चित होते हैं। इन समाजों को एक-धारीय समाज कहते हैं। मातृ वंशरेखा को प्रधान माननेवाले समाजों को मातृवंशधारीय कहते हैं। मातृवंशीय समाजों के लिए स्विस मानवविज्ञानी बाखोफेन ने मातृतंत्रीय शब्द का प्रयोग किया है।

मानव का विकास : चार्ल्स डारविन से पूर्व साधारण धारणा यह थी कि सभी जीवधारियों को किसी दैवी शक्ति ने उत्पन्न किया है तथा उनकी संख्या, रूप और आकृति सदा से ही निश्चित रही है। परंतु 'ओरिजिन आफ स्पीशीज़' के प्रकाशन के बाद विकासवाद ने इस धारणा का स्थान ग्रहण कर लिया। मानवजातिविज्ञानियों और मानव-विज्ञानियों के सम्मुख अब प्रश्न यह था कि मनुष्य का विकास कब, किस जंतु अथवा जंतु-समूह से हुआ। इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा डारविन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'डिसेंट आफ मैन' में की। केवल वानर (विशेषतया नरवानर) ही मनुष्य के पूर्वजों के समीप आ सकते हैं। स्वाभाविक ही था कि धार्मिक संप्रदाय डारविन के इस सिद्धांत का विरोध करते और उन्होंने किया भी।

यद्यपि डारविन मानव-विकास के प्रश्न का समाधान नहीं कर पाये थे, तथापि उन्होंने दो गूढ़ तथ्यों की ओर प्राणि-विज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया: (1) नरवानर ही मनुष्य के पूर्वजों के संबंधी हो सकते हैं, और (2) नरवानर और मानव-विकास के बीच एक बहुत बड़ी खाई है, जिसे लुप्त जीवाश्मों की खोज करके ही कम किया जा सकता है।

विकासकाल का निर्धारण : डारविन ने भविष्यवाणी की थी कि भूगर्भ में छिपे जीवाश्म अवश्य उपलब्ध होंगे और कालांतर में हुए भी। मानव के विकास-काल के निर्धारण में यह बहुत आवश्यक भी है। जीवाश्म शैल-स्तरों के विभिन्न स्तरों में प्राप्त हुए हैं। ये स्तर पानी के बहाव द्वारा मिट्टी और बालू के एकत्र होने और दीर्घकाल बीतने पर शिलाभूत होने से बने हैं। इन स्तरों में जो भी जीव फंसे, शिलाभूत हो गये। ऐसे शिलाभूत अवशेषों को ही जीवाश्म कहते हैं। जीवाश्मों की आयु स्वयं उन स्तरों की आयु के बराबर होती है, जिनमें वे पाये जाते हैं। भूविज्ञानियों ने स्तरों की आयु का पता लगाकर एक मापसूचक सारणी तैयार की है, जिसके अनुसार शैल-समूहों को चार बड़े खंडों अथवा महाकल्पों में विभाजित किया गया है: (1) आद्य, (2) पुराजीवी, (3) मध्यजीवी, और (4) नूतनजीवी महायुग। इन महाकल्पों को कल्पों में विभाजित किया गया है तथा प्रत्येक कल्प एक कालविशेष में पाये जानेवाले स्तरों की आयु के बराबर होता है। कल्पों के आधार महाकल्पों की आयु इस प्रकार है:

(1) आद्य महाकल्प:
- (अ) कैंब्रियन पूर्व कल्प

(2) पुराजीवी महाकल्प :
- (अ) कैंब्रियन कल्प
- (आ) आर्डोविशन कल्प
- (इ) सिल्यूरियन कल्प
- (ई) डिवोनी कल्प
- (उ) कार्बोनी कल्प
- (ऊ) परमियन कल्प

(3) मध्यजीवी महाकल्प :
- (अ) ट्राइऐसिक कल्प
- (आ) जूरैसिक कल्प
- (इ) क्रिकेटशस कल्प

(4) नूतनजीवी महाकल्प:
- (अ) आदिनूतन कल्प
- (आ) अल्पनूतन कल्प
- (इ) मध्यनूतन कल्प
- (ई) अतिनूतन कल्प
- (उ) अत्यंतनूतन कल्प

जीवाश्म का आयु निर्धारण : शैल-समूहों से जीवाश्मों की केवल समीपवर्ती आयु का ही पता चल पाता है। अतएव उसकी आयु की सही जानकारी पाने के लिए अन्य साधनों का उपयोग किया जाता है। इसमें रेडियोसक्रिय कार्बन की विधि ($का^{14}$ की विधि) विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस विधि के अनुसार सभी जीवधारियों के शरीर में दो प्रकार के कार्बन-कण उपस्थित रहते हैं: एक साधारण कार्बन ($का^{12}$) और दूसरा रेडियोसक्रिय कार्बन ($का^{14}$)। इनका आपसी अनुपात सभी मृत या जीवित जीवों में स्थिर रहता है। $कार्बन^{14}$ वातावरण में उपस्थित $नाइट्रोजन^{14}$ के अंतरिक्ष किरणों द्वारा परिवर्तित होने से बनता है। यह $कार्बन^{14}$ वातावरण के आक्सीजन से मिलकर रेडियोसक्रिय कार्बन-

डायआक्साइड, (का^{14} ऑ$_2$) बनाता है, जो पृथ्वी पर पहुंचकर प्रकाश संश्लेषण द्वारा पौधों में अवशोषित हो जाता है और उन पर आश्रित जंतुओं में पहुंच जाता है। मृत्यु के बाद का^{14} का अवशोषण बंद हो जाता है तथा उपस्थित का^{14} पुनः नाइट्रोजन में परिवर्तित होकर वातावरण में लौटने लगता है। यह मालूम किया जा चुका है कि का^{14} का आधा भाग 5720 वर्षों में नाइट्रोजन^{14} में बदल जाता है। अतएव जीवाश्म में का^{14} की मात्रा मालूम करके किसी जीवाश्म की आयु का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि में कमी यह है कि इसके द्वारा केवल 50 हजार वर्ष तक की आयु जानी जा सकती है।

मनुष्य के जीवित संबंधी : मानव के पूर्वजों की कोई भी जाति अब जीवित नहीं है। वर्तमान जंतुओं में उनके निकटवर्ती होने का दावा केवल प्राइमेट (नरवानर गण) ही कर सकते हैं। यह स्तनपोषियों का समूह है। जीवाश्म-विज्ञानी जी० जी० सिंपसन के अनुसार नरवानर गणों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं:

प्राइमेट (नरवानर गण)

पूर्ववानर या प्रोसिमिया (टार्सियर, लीमर और लोरिस)	ऐंथ्रोपाइडिया
वानर	
मध्य संसार अर्थात मध्य और दक्षिणी अमरीका के वानर (मार्मोसेट सीबस और एलूएटा)	प्राचीन संसार अर्थात अफ्रीका और एशिया के वानर (मकाक तथा बैबून)
नरवानर गण (गिब्बन, ओरांग-उटांग, गोरिल्ला और चिंपांजी)	मानवगण जैसे, लुप्तमानव, वर्तमान मानव

जिन विशेष गुणों ने मानव-विकास को प्रोत्साहित किया, वे निम्नलिखित हैं :

1. **स्वाभाविक खड़े होकर चलना :** हालांकि कुछ नरवानर भी खड़े हो जाते हैं, लेकिन स्वाभाविक रूप से खड़े होकर चलने की क्षमता मनुष्य में ही है। खड़े होकर चलने के लिए उसकी अस्थियों की बनावट तथा आंतरिक अंगों में काफी परिवर्तन हुए। अंगूठा अन्य उंगलियों की सीध में आ गया तथा पैरों ने चापाकार होकर थल पर दौड़ने और चलने में विशेष क्षमता प्राप्त कर ली। ये गुण मनुष्य की सुरक्षा और भोजन-खोजने की क्षमता में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए।

त्रिविम दृष्टि : चेहरे पर आंखों का सामने की ओर उभरना टार्सियर जैसे पूर्व-वानरों में प्रारंभ हो चुका था, पर इसका पूर्ण विकास मनुष्य में ही हो पाया। इस प्रक्रिया द्वारा वह दोनों आंखों को एक वस्तु पर केंद्रित कर उसका एक प्रतिबिंब तो बना ही सकता था, साथ ही उसके त्रिविम आकार की विवेचना भी कर सकता था।

संमुख अंगुष्ठ : संमुख अंगुष्ठ का अर्थ है, अंगूठे को अन्य उंगलियों की प्रतिकूल स्थिति में लाया जा सकना। इस स्थिति में आकर अंगूठा अन्य उंगलियों के साथ मिलकर वस्तुओं को पकड़ सकने में सफल हो जाता है। ऐसे हाथ की सहायता से मानव अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को कार्य रूप देकर सृष्टि का सबसे प्रतिभाशाली प्राणी बन पाने में सफल हुआ है।

संक्षेप में, मानव-विकास में तीन मुख्य क्रम ये रहे होंगे : पैरों का, हाथों का, और मस्तिष्क का विकास।

मानव और नरवानर भेद : साधारणतया मानव और नरवानर अपनी शारीरिक रचनाओं में समान हैं: समान अस्थियां, अंग, मांसपेशियां और यहां तक कि रक्त-समूह भी। लेकिन मनुष्य खड़ा होकर दो पैरों पर चलता है, इसके कारण अनेक अंतर भी मिलते हैं, जैसे, नरवानर के प्रतिकूल मानव की टांगों का हाथों से अधिक लंबा होना, कूल्हे की अस्थि के आकार और स्थिति में परिवर्तन, पैरों के अंगूठों का अन्य उंगलियों की सीध में आ जाना और पैरों का चापाकार हो जाना आदि। इन गुणों के अतिरिक्त मनुष्य का मस्तिष्क अन्य कपियों से बड़ा है। जहां नरवानरों की कपालगुहा का आयतन 350-450 घन से० मी० है, मानव का 1200-1500 घन से० मी० तक है। उसका अपेक्षाकृत सपाट चेहरा, घटित तथा ठुड्डीयुक्त जबड़ा और प्रत्यक्ष नाक उसे मानवीय रूप प्रदान करती है। होठों के आंतरिक भाग का बाहर दिखायी पड़ना, कानों की बारियों

का मुड़ा होना, बालों का संपूर्ण शरीर पर न होना, रदनक दांत का होना—ऐसे अन्य गुण हैं, जो मानवों को नरवानरों से अलग करते हैं।

मानव-विकास के प्रमाण जीवाश्म : मानव-विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण केवल उसके जीवाश्मों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। डार्विन के समय से अब तक जो जीवाश्म प्राप्त हुए हैं, उन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है: अवानरीय और वानरीय।

प्रारंभिक नरवानरों को निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है:

1. पैरापिथीकस
2. प्रोप्लियोपिथीकस
3. ड्रायोपिथीकस
4. लिम्नोपिथीकस
5. प्रॉकान्सल
6. ओरियोपिथीकस
7. आस्ट्रैलोपिथीकस
8. होमोहैबिलस
9. पिथीकैंथ्रापस या जावा का मानव
10. साइनैंथ्रापस या चीन का मानव
11. हाइडैलबर्ग मानव
12. स्वांसकोंब मानव
13. स्टीनहाइम मानव
14. नियेंडरथल मानव
15. नियेंडरथल सदृश अन्य अफ्रीकी तथा एशियाई मानव
16. क्रोमैग्नान मानव या आधुनिक मानव

विकास क्रम : होमोहैबिलिस के सहआविष्कर्ता जान नेपियर के अनुसार मानव-विकास की पांच अवस्थाएं हैं: (1) प्रारंभिक पूर्वमानव की कीनियापिथीकस (अफ्रीका में प्राप्त) और रामापिथीकस (भारत में प्राप्त) के जीवाश्मों द्वारा जाना जाता है। (2) बाद के पूर्व-मानव का प्रतिनिधित्व अफ्रीका से प्राप्त आस्ट्रेलोपिथीकस करता है। (3) प्रारंभिक मनुष्य को अफ्रीका से ही प्राप्त होमो-हैबिलिस द्वारा जाना जाता है। (4) उत्तरकालीन मानव के अंतर्गत होमोइरेक्टस अर्थात् जावा और चीन के मानव आते हैं। (5) वर्तमान मानव का प्रथम उदाहरण क्रोमैग्नान मानव में प्राप्त होता है। होमोइरेक्टस के बाद विकास दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है। पहली शाखा का नियेंडरथल मानव में अंत हो गया और दूसरी अवस्था क्रोमैग्नान मानव अवस्था से गुजरकर आधुनिक मानव तक पहुंच पायी है। संपूर्ण मानव-विकास मनुष्य के मस्तिष्क पर ही केंद्रित है। यद्यपि मस्तिष्क की वृद्धि स्तनपायी वर्ग के अन्य प्राणी-समूहों में भी हुई, लेकिन कुछ अज्ञात कारणों से यह वृद्धि प्राइमेटों में सबसे अधिक हुई।

आद्य मानव उद्योग : जिस प्रकार जीवाश्मों द्वारा मानव-शरीर के विकास का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न मानवों द्वारा छोड़े औज़ारों द्वारा उनकी सभ्यता के विकास का भी अध्ययन किया जा सकता है। ये औजार मानव जीवाश्मों के साथ या आसपास पाये गये हैं और मानव मस्तिष्क के विकास के साथ इनमें भी विकास हुआ है। प्रारंभिक औजार भौंडे और पत्थर के टुकड़े मात्र थे, परंतु आगे चलकर सुदृढ़ और उपयोगी होते चले गये।

केवल अत्यंत नूतन युग में ही ये औजार मिलने के कारण हम इस युग को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं :

(1) पुराप्रस्तर काल :

(अ) प्रारंभिक काल के औजार
(आ) पूर्व-मध्यकाल के उद्योग
(क) ऐबिविलियन उद्योग
(ख) एक्युलियन उद्योग
(ग) लैवेलिओसियन उद्योग
(ये नाम प्रायः किसी यूरोपीय स्थान के नाम पर आधारित हैं।)
(इ) मध्यकाल :
(क) मूस्टीरियन उद्योग
(ई) उत्तरकाल
(क) आरिग्नेशियन उद्योग
(ख) सोलूट्रियन उद्योग
(ग) मैग्डेलिनियन उद्योग

(2) मध्यप्रस्तर काल : यह अल्पकालीन युग कहा जाता है। इस समय तक मनुष्य सभ्य हो चला था। कृषि तथा पशुपालन का प्रारंभ अभी नहीं हुआ था और मानव अब भी घूम-घूमकर पशुओं का शिकार करता था। अमरीका में आनेवाले प्रथम मानव इसी युग के थे।

(3) **नव-प्रस्तर काल** : यह अंतिम और वर्तमान युग है। इस युग की विशिष्ट घटनाएं कृषि और पशुपालन हैं। अनाज रखने के लिए मिट्टी के बरतन बनाये जाते थे। सूअर, गाय, भेड़ और बकरी का पालन प्रारंभ हो चुका था। इस युग के प्रारंभ काल का निश्चित रूप से पता नहीं चलता, परंतु यह निश्चित है कि 4000 वर्ष ई० पू० तक इस युग की स्थापना भली-भांति हो चुकी थी—इस बात का प्रमाण घाटी-सभ्यताओं से स्पष्ट प्राप्त होता है। कृषि और पशुपालन के पश्चात् मनुष्य का ध्यान खनिज पदार्थों के उपयोग की तरफ गया। सबसे पहले उसने तांबे का प्रयोग करना शुरू किया, फिर धीरे-धीरे लोहे का प्रयोग भी उसने सीख लिया। 1400 ई० पू० में सबसे पहले इस्पात के प्रयोग किये जाने के प्रमाण मिलते हैं।

मानवजातिविज्ञान : यह सांस्कृतिक-मानवविज्ञान की एक शाखा है, जो प्रत्येक संस्कृति विशेष रूप से मानव की संस्कृति के अध्ययन से संबंधित है।

मानवतावाद : वह विचारधारा, जो मानवीय प्रतिष्ठा, और मानवीय हित के सर्वतोमुखी विकास तथा सामाजिक जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण आदि सिद्धांतों को लेकर चलती है। मानवतावादी विचारों की उत्पत्ति शोषण तथा सामाजिक बुराइयों के विरोध में हुई। 14वीं से 16वीं शताब्दी तक के पुनर्जागरण काल में सामंतवाद और मध्ययुगीन धर्म के विरुद्ध मानवतावाद एक विशिष्ट वैचारिक आंदोलन के रूप में शुरू हुआ। मानवतावाद प्रगतिशील और भौतिकवादी दृष्टि से जुड़ी हुई विचारधारा है, जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थन और धार्मिक बंधनों का विरोध करती है। इसके अनुसार मनुष्य को भौतिक सुख-सुविधाएं हासिल करने और अपनी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करके आनंद प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। मानवतावाद के कुछ प्रमुख प्रतिष्ठापक हैं पैट्रार्क, दांते, बोकाशियो, लियोनार्दो-द-विंची, ब्रूनो, मातेन, कार्पनिकस, शेक्सपियर, फ्रांसिस बेकन आदि। इन्होंने सामाजिक विचारों को नयी दिशा तो दी, लेकिन इनके विचार मामूली आदमी से कटे हुए और क्रांतिकारी आंदोलनों के विरुद्ध थे। लेकिन मूर एवं कैंपेनेला जैसे मानवतावादियों ने श्रमिक वर्ग और पीड़ित-प्रताड़ित जनता के हितों को ध्यान, में रखकर आवाज उठायी। इस प्रकार मानवतावाद की दो शाखाएं हो गयीं—बूर्ज्वा मानवतावाद और समाजवादी मानवतावाद। बूर्ज्वा मानवतावाद सबसे अधिक विकसित हुआ 18वीं शताब्दी में, जब स्वतत्रता, समानता और भाईचारे के नारे दिये गये और घोषणाएं की गयीं कि मनुष्य को अपने प्राकृतिक तत्त्व का स्वतंत्र विकास करने का पूरा अधिकार है। लेकिन इन सब आकर्षक घोषणाओं के बावजूद बूर्ज्वा मानवतावाद में यह कमी रही कि उसने श्रमिक जनता के जीवन की परिस्थितियों को नज़रअंदाज किया और उसकी सच्ची स्वतंत्रता की उपेक्षा की; क्योंकि इसमें वैयक्तिक संपत्ति के अधिकार को मान्यता देकर ही सारी स्थापनाएं की गयी थीं। दूसरा बड़ा दोष यह रहा कि इसने व्यक्तिवाद को बहुत प्रश्रय दिया। इसलिए कालांतर में इसके मोहक नारों और उन नारों को जनजीवन में चरितार्थ करने में अंतर्विरोध उत्पन्न हो गया।

इसके बाद मानवतावाद की एक नयी शाखा खुली, जिसने पूंजीवाद की मानव-विरोधी प्रकृति को मानवीय दुखों का कारण मानकर पूंजीवाद की बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठायी और समाजवाद का नारा दिया, लेकिन इतिहास के नियमों का ज्ञान न होने के कारण यह काल्पनिक समाजवाद किसी न्यायपूर्ण समाज-रचना के कारगर तौर-तरीकों का पता नहीं लगा सके। इसलिए कालांतर में सही समाजवादी मानवतावाद की स्थापना हुई, जो मार्क्सवादी दर्शन को आधार मानता है। इसने वैज्ञानिक ढंग से मानवीय इतिहास और समाज का अध्ययन किया और मानवीय यातना को समाप्त करने के लिए क्रांति के द्वारा वैयक्तिक संपत्ति के अधिकार को समाप्त करने का रास्ता बताया। समाजवादी मानवतावाद सामाजिक असमानता को ही मानवीय यंत्रणा, बंधन और दुख का कारण मानता है और इस असमानता का कारण मानता है पूंजीवाद को, जो वैयक्तिक संपत्ति के अधिकार को सुरक्षित रखता है। इसके अनुसार व्यक्ति तभी स्वतंत्र होकर अपनी पूरी शक्तियों को सामाजिक हित में लगा सकता है, जबकि वह हर प्रकार की सामाजिक असमानता से मुक्त हो, हर प्रकार के शोषण और अत्याचार से मुक्त हो, युद्ध के आतंक से मुक्त हो और सारी दुनिया में शांति,

श्रम, स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा और सुख को सही अर्थों में प्रतिष्ठापित कर सके।

मानवमिति : मानवमिति का अर्थ मानव की माप है, जो जीवित मनुष्य की देहाकृति की अनेक माप (देहमिति) तथा साथ में कंकाल (अस्थिमिति) के लिए भी वैज्ञानिक विधियां और प्राविधि प्रदान करता है। मानवविज्ञान, भौतिकी मानवविज्ञान के प्रारूपिक और परंपरागत औजार का प्रतिनिधित्व करता है। समस्याओं की प्रकृति के साथ मापन की संख्या और प्रकार में परिवर्तन होते हैं। मानवमिति सुरक्षा सेनाओं में उपयोग में लाये जानेवाले अनेक उपकरणों के लिए सामान्य (मानक) आकार को बनाने में उपयुक्त माप और विधि प्रदान करती है तथा साथ में औद्योगिक माल के उत्पादन में भी सहायता प्रदान करती है। यह मानव के उद्विकास के अध्ययन में तथा मानव विकास में सहायक सिद्ध हुई है। विश्व के अनेक भागों में मनुष्य जाति के विभिन्न प्रकारों को समझने में भी यह सहायता प्रदान करती है। मानव के विकास और वृद्धि पर वातावरण तथा भोजन के प्रभाव की विवेचना में अनेक मानवमितीय माप योगदान कर चुकी हैं।

मानवमिति का उद्गम अत्यंत प्राचीन है। वैज्ञानिक मानवमिति जे० एफ० ब्लूमैनबाख के साथ (1752-1840) आरंभ हुई, जिसने करोटि विज्ञान की नींव डाली। ब्रोका (1875), फ्लावर और टर्नर ने तत्पश्चात् मानवमिति के अध्ययन का विकास किया। 1882 में फ्रेंकफुर्ट में जर्मन एंथ्रोपोलाजिकल सोसायटी का 13 वां अधिवेशन हुआ, जिसमें मानवमितीय प्रविधियों को मानकीकृत बनाने का काम किया गया। 1914 में रूडाल्फ मार्टिन ने जीवित और कंकाल पर अनेक मापों की परिभाषा, मानवविज्ञान पर अपनी पुस्तक में दी। उसके कार्य में न केवल अनेक नूतन सांख्यिकी उपकरण थे, किंतु विश्व के विभिन्न भागों में बसनेवाले विभिन्न मानव-समूहों के जीवित और कंकाल की माप पर समस्त उपलब्ध आंकड़े भी संकलित थे।

सैलर ने मार्टिन की पुस्तक के द्वितीय संस्करण में 1957 में संशोधन और विस्तार किया। मार्टिन की पाठ्यपुस्तक आज भी मानवविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए ज्ञान का भंडार है।

1918 में, वाइल्डर ने अंग्रेजी में एक पुस्तक 'लैबोरेटरी मैनुअल आफ फिजिकल एंथ्रोपालाजी' प्रकाशित की, जो मुख्यत: मार्टिन के प्रथम संस्करण पर आधारित थी। 1919 में हार्डलिका की मानवमिति पर तैयार की गयी पुस्तक का एक भाग प्रकाशित हुआ, जिसमें 36 दैहिक माप और सांख्यिकी सुझाव थे।

मालीसन (1938) और वैलाइस (1948) ने भी मानवमिति प्रविधियों का संशोधन किया तथा कम सांख्यिकी व मापन का सुझाव दिया। हार्डलिका की मानवमिति का भी संशोधन 1947 में स्टीवार्ट ने किया।

हूटन (1946) ने अपनी पुस्तक 'अप फ्राम दी ऐप' में मानवमिति पर एक भाग जोड़ा। मटिंगू (1960) ने मानवमिति पर एक पुस्तिका तैयार की। प्रथम विश्वयुद्ध से सुरक्षा सेनाओं और उद्योग में मानवमिति विभिन्न प्रकार के उपकरणों के लिए सामान्य आकार देने में सहायता कर रही है। वे विशेष रूप से वायुसेना द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं। विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए विशेष माप उपयुक्त होती हैं। इस संदर्भ में मोरेंट, हूटन, व्हाइट और हर्टजबर्ग का नाम दिया जा सकता है, जिन्होंने अन्य मानवविज्ञानियों के साथ मानवमिति में नूतन विधाओं को ही नहीं जोड़ा, अपितु मापों की परिभाषा दी, प्रविधि का संशोधन किया और नूतन उपकरणों का आविष्कार किया।

त्वचा वर्ण, केश, नेत्रों के आकार, कर्ण, नाक, आनन, शीर्ष, अंगुलियों और हाथों इत्यादि पर अवलोकनों को अनेक कार्यकर्ताओं ने सामान्य स्तर दिया, जो चित्रों और रेखाचित्रों के रूप में था।

मानवमिति निम्नलिखित भागों में विभाजित की जा सकती है:

(क) देहाकृति : जीवित शरीर की माप

(ख) अस्थिमिति : कंकाल, दीर्घ अस्थि और लघु अस्थियों की माप

(ग) करोटिविज्ञान : करोटि की माप

(घ) यूसिफैलोमीटरी : मस्तिष्क की माप

(ङ) आरगैनोमीटरी : अंगों की माप

(च) फिज़ियो और साइकोमीटरी : शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं की माप।

मानवविज्ञान की यह शाखा काफी विकसित है।

मानव में लिंग निर्धारण : यह दो प्रकार से होता है।

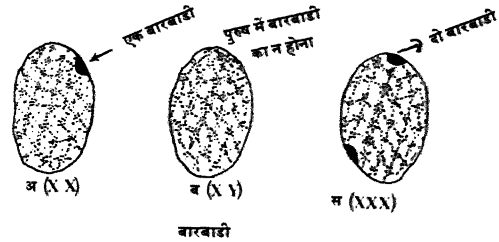
(1) गुणसूत्री क्रिया : लिंग निर्धारण का एक गुण-सूत्री आधार (ब्रिजेस 1916) होता है। एक स्त्री द्वारा उत्पादित समस्त परिपक्व अंडे एक गुणसूत्र 22 अलिंग सूत्र-23 गुणसूत्र के स्वामित्त्व में एक समान होते हैं। किंतु एक पुरुष दो प्रकार के शुक्राणु उत्पन्न करता—वे जिनके साथ एक×गुणसूत्र+22 अलिंगसूत्र होते हैं और वे जिनके साथ एक×गुणसूत्र+22 अलिंगसूत्र होते हैं। एक शुक्राणु द्वारा किसी भी अंडे का निषेचन एक xx—युग्मज बनाता है, जो एक स्त्री के विकसित होने का पूर्वनिर्देश है औरy— शुक्राणु द्वारा निषेचनxy—युग्मज बनाता है, जो एक पुरुष में विकसित होने का पूर्वनिर्देश है।

मानव में लिंग का निर्धारण निषेचन के क्षण में होता है और इस बात पर निर्भर करता है कि शुक्राणु अथवा y—शुक्राणु में से कौन अंडे के साथ मिलता है।

यद्यपि युग्मज के लिंग का निर्धारण गर्भधारण में ही हो जाता है, तथापि पुरुष तथा स्त्री भ्रूणों की लैंगिक संरचनाओं में स्पष्ट अंतर गर्भ-जीवन के सातवें सप्ताह तक ज्ञात नहीं होता। लगभग चतुर्थ सप्ताह में गोनेडल रिजेज दृष्टिगोचर होती है, दोनों लिंगों में आकृतिक रूप से (प्रभेदक) उल्लेखनीय हो जाती है (गिलमैन, 1948)।

Y—गुणसूत्र का पुरुष निश्चायक कार्यभाग : 1959 में यह मालूम किया गया कि एक निषेचित अंडे मेंy—गुणसूत्र की उपस्थिति एक पुरुष के विकास का कारण बनती है, जबकि y—गुणसूत्र की अनुपस्थिति एक स्त्री के विकास का। y—गुणसूत्र सामान्य रूप से x–y व्यक्तियों में पुरुषत्व का निर्धारण करता है तथा असामान्य रूप मेxxy में (उदाहरणत: क्लाइनाफैल्टस सिड्रोम 44+ xxy47) 1 औरy–गुणसूत्र की अनुपस्थिति सामान्य रूप से xx व्यक्तियों में स्त्रीलिंग का निर्धारण करता है, असामान्य रूप से xo व्यक्तियों में (44+xo=45 टर्नर्स सिड्रोम)।

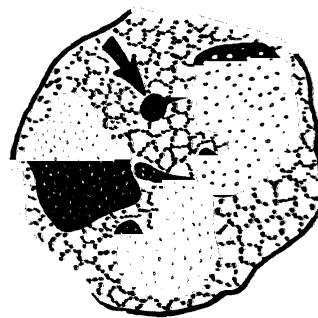
(2) लिंग क्रोमेटिन परीक्षा : 'लिंग क्रोमेटिन परी-क्षण' द्वारा मानवीय भ्रूण का लिंग पूर्व-अवस्था (गर्भजीवन के सातवें सप्ताह) में ही जाना जा सकता है (ग्लेनिस्टर 1956)। यह लिंग क्रोमेटिन रचना (बार बाडी) सामान्यत: केंद्रीय फिल्ली की अंत:सतह मे जुड़ी रहती है। यह सामान्य स्त्रियों में अनेक ऊतकों से कोशाओं में पाया जाता है तथा इसमें अन्य के साथ, अधिचर्म, मुख श्लेष्मक और स्त्री भ्रूण का उल्वतरल भी होता है।



बारबाडी

इस लिंग विभेदन की खोज बार (मूर, ग्राह्य और बार, 1949) ने की थी तथा इसमें लिंग क्रोमेटिन संहति व्यास में लगभग 1v होती है। स्त्रियों में अनेक ऊतकों के 40-60 प्रतिशत न्यूक्लाई में उपस्थित होता है (क्रोमेटिन धनात्मक) और पुरुषों में अनुपस्थित होता है (क्रोमेटिन ऋणात्मक)। लिंग क्रोमेटिन में डी० एन० ए० का अभिरंजन गुण होता है तथा कभी-कभी उसकी द्विशाली संरचना भी देखी जा सकती है।

लिंग क्रोमेटिन का एक परिवर्त, तथाकथित न्यूट्रोफिल श्वेत रुधिराणु में पाया जाता है (डेविडसन तथा स्मिथ, 1954)। यहां एक सहजन जिसमें एक सूक्ष्म अभिरंजक धागा और एक गोल अभिरंजक शीर्ष होता है, जो केंद्रकीय पालि से बाहर निकला होता है तथा स्त्री-कोशिकाओं में न्यून प्रतिशत में (1-10%) पाया जाता है, किंतु पुरुष कोशिकाओं में लगभग अनुपस्थित होता है (दे० चित्र)।



ड्रम स्टीक

लिंग निर्धारण का संतुलन : किसी व्यक्ति या तो केवल पुरुष अथवा केवल स्त्री, प्रवृत्तियों

नहीं होता (कर्टस्टर्न 1960)। किसी भी लिंग के विकास में पुरुष और स्त्री दोनों निर्धारक कार्य करते हैं—पुरुष की उत्पत्ति में स्त्रियों की अपेक्षा प्रभावशाली पुरुष होता है और स्त्री की उत्पत्ति में इसके विपरीत होता है।

लिंग निर्धारण का गुणसूत्रीय आधार होता है (ब्रिजेज़ 1916)। संदेहास्पद अवस्थाओं में अब यह पता लगाना संभव है कि जहां गौण लैंगिक लक्षणों का दुर्बल विकास हुआ हो, वहां कोई व्यक्ति गुणसूत्रीय पुरुष अथवा स्त्री है।

चार स्वीकृत शयनिक अवस्थाओं के साथ अपसामान्य लिंग गुणसूत्र पूरक पाये जा चुके हैं: (1) **टर्नर्स सिंड्रोम** (जनन ग्रंथीय अपसामान्यताएं): पृष्ठीय रूप से स्त्री समान, किंतु केवल एक x–गुणसूत्र होता है)। (2) **क्लाइनाफैल्टर्स सिंड्रोम** (रेतोनालिका अपसामान्यताएं): प्रत्यक्ष पुरुष y–गुणसूत्र के साथ स्त्री समान पाये जाते हैं। (3) समय-पूर्व रजोनिवृत्ति और (4) वास्तविक उभयलिंगता।

टर्नर्स सिंड्रोम : टर्नर्स सिंड्रोम, लघुदैहिक उच्चता, जालयुक्त ग्रीवा, प्रकोष्ठ का वर्धित वहनक्षमता-कोण और स्तनग्रंथियों के शिशु-विकास (लैंगिक चिरशैशव, टर्नर्स 1938) द्वारा पहचाना जाता है। अन्य जन्मजात असंगतियां बारंबार अधिक होती हैं, जैसे: बधिरता, मस्तिष्क हीनान्त्र रोग (अलरिच 1949, नेलसन तथा बेली 1956, हाफनबर्ग और जैक्सन 1957)। तथापि जनन-ग्रंथीय अपसामान्यताएं अपने विकासीय और अंत:स्रावविज्ञानीय प्रभावों के साथ अधिक स्थिर है और इसका अध्ययन भी अधिक किया गया है। जननग्रंथियां छोटी होती हैं और अंडाशय के सदृश होती हैं, किंतु विरलता से अंडाशायी पुटक रखती हैं।

जननग्रंथियों द्वारा उत्पादित स्त्रीमदजन हार्मोन की कमी गौण लैंगिक विकास की अनुपस्थिति का कारण बनती है। विरल रूप से अंडाशयी पुटक उपस्थित हो सकते हैं और ऋतुकालावर्तन पाये जा चुके हैं (हाफनबर्ग तथा जैक्सन 1957, ग्रीनकलाट 1958)।

इन रोगियों के $\frac{4}{5}$ भाग क्रोमेटिन ऋणात्मक होते हैं (पोलानी, हंटर और लेनाक्स 1954, ग्रमबाक, वान इक तथा विस्किन्स 1955, सीगेल और नेलसन 1957)।

टर्नर्स सिंड्रोम का प्रमुख कारण अपसामान्य लिंग गुणसूत्र पूरक हो सकते हैं। एक क्रोमेटिन ऋणात्मक स्त्री की कोशिका में इस सिंड्रोम के साथ, एक एकल गुणसूत्र और 22 जोड़े अलिंगसूत्र पाये गये थे। (फोर्ड, जोन्स, पोलानी, अलनीडा और ब्रिग्स 1959) (44+x=45)।

क्लाइनाफैल्टर्स सिंड्रोम (अपूर्ण विकसित पुरुष): क्लाइनोफैल्टर्स सिंड्रोम अपसामान्य रूप से छोटे वृषण और सामान्यत: परिपक्व शुक्राणु की अनुपस्थिति (शुक्रजनन की अनुपस्थिति) एवं वयस्क पुरुष में पुटक उद्दीपक हार्मोन के वर्धित उत्सर्जन द्वारा जाना जाता है (क्लाइनाफैल्टर्स, रीफैंसटीन और अलब्राइट 1942)।

क्लाइनाफैल्टर्स सिंड्रोमवाले मनुष्यों की बहुसंख्या क्रोमेटिन धनात्मक होती है (नेलसन 1956, ग्राम बैक और बर्र 1958) और समूह में मानसिक विमंदन बहुतायत से होता है (पैसक्वेलीनी, बीदल और बर्र 1957)।

इन क्रोमेटिन धनात्मक पुरुषों में आधारभूत त्रुटि एक अपसामान्य लिंग-गुणसूत्र पूरक होती है। यह सामान्यत: 47 गुण सूत्रों के साथ xxy (44+xxy=47) होता है (जेकब्स एवं स्टर्न 1959)।

पूर्व रजोनिवृत्ति : जेकब्स, बेकी, कोर्ट ब्राउन, मैक ग्रेगर, मेक्लीन और हार्न डैन (1959) द्वारा एक स्त्री का 3–x गुणसूत्रों (xxx) के साथ का प्रकरण प्रतिवेदित किया गया। इस रोगी के 14 वर्ष से 19 वर्ष तक अनियमित ऋतु काल रहे और इसके साथ रुद्धार्तव था। 28 वर्ष की आयु में शल्य क्रिया ने स्पष्ट रूप से प्रारूपिक नष्टार्तव अंडाशय प्रकट किया। अत्यधिक मात्रा (प्रतिशतता) में लिंग क्रोमेटिन द्रव्यमान उपस्थित पाये गये। गुणसूत्रों की संख्या प्रत्येक कोशिका में 3–x गुणसूत्रों के साथ 47 पायी गयी।

मानवविज्ञान : मानव का सर्वांगीण अध्ययन विज्ञान की जिस शाखा के अंतर्गत किया जाता है, उसे मानवविज्ञान कहते हैं। उसके पर्याय हैं: नृशास्त्र, मानवशास्त्र, नृतत्व-विज्ञान आदि।

मानव विज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। मानव शरीर-रचना, उसका उद्गम एवं विकास, प्राणी जगत में उसका स्थान, प्रारंभिक मानव के क्रिया-कलाप, जिनका आज हम सिर्फ अनुमान ही लगा सकते हैं—इन सब का विस्तृत रूप से अध्ययन मानवविज्ञान में किया जाता है।

इसमें मनुष्य का अध्ययन शारीरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से किया जाता है।



कज़ाक चरवाहा

कज़ाक बालक



अत: मानवविज्ञान की निम्नलिखित शाखाएं हैं:

1. शारीरिक मानवविज्ञान
2. प्रागैतिहासिक मानवविज्ञान
3. सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानवविज्ञान
4. प्रायोगिक मानवविज्ञान

मानव संस्कृति : इतिहास के अनवरत प्रवाह में समाज के द्वारा निर्मित उन सभी भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को तथा उन मूल्यों के सृजन, उपयोग और परित्याग के समस्त साधनों को संस्कृति कहते हैं। अधिक स्पष्टता के साथ समझने के लिए प्राय: भौतिक संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति से अलग करके देखा जाता है। भौतिक संस्कृति में यंत्र, उत्पादन के विभिन्न साधन, तथा भौतिक समृद्धि के साधनों के अनुभव आते हैं और आध्यात्मिक संस्कृति में विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन, नीतिशास्त्र, शिक्षा आदि के क्षेत्र में होनेवाली उपलब्धियां आती हैं। संस्कृति एक ऐतिहासिक घटना-प्रक्रिया है और इसका विकास सामाजिक-आर्थिक संघटनों के अनवरत क्रम से निश्चित होता है। प्रत्ययवादी दार्शनिक संस्कृति का आधार भौतिकता को नहीं मानते। वे यह मानते हैं कि संस्कृति मानव-जाति के कुछ विशिष्ट महापुरुषों की आध्यात्मिक चेतना से उत्पन्न होती है। लेकिन भौतिकतावादी दार्शनिकों का मत है कि ऐसा मानना गलत है; क्योंकि मानव का सांस्कृतिक विकास भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की विकसित विधियों के साथ होता है। इसका कारण यह है कि वे चेतना को पदार्थ से उद्भूत मानते हैं। इस प्रकार संस्कृति मानव-समाजों की गतिविधियों से उत्पन्न होती है।

मानव-संस्कृति मूलत: भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर होने के बावजूद भौतिकता से कुछ भिन्न और आध्यात्मिक प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि समाज में प्रचलित आध्यात्मिक मूल्य भौतिक परिवर्तनों के साथ-साथ अपने-आप नहीं बदल जाते। उन मूल्यों की सापेक्ष स्वतंत्रता, विकास का अनवरत क्रम, तथा अन्य समाजों का प्रभाव आदि कुछ ऐसी चीजें हैं, जो सांस्कृतिक परिवर्तनों की गति धीमी रखती हैं। लेकिन इतना निश्चित है कि किसी भी समाज में संस्कृति का एक वर्ग-चरित्र होता है, जो उसके सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को नियंत्रित करता है। इसीलिए पूंजीवादी व्यवस्था में संस्कृति के दो भेद देखने में आते हैं—एक उच्च वर्ग अथवा शासक वर्ग की संस्कृति और दूसरी निम्न वर्ग या शासित वर्ग की संस्कृति। उच्च वर्ग के पास भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के साधनों के अलावा अवकाश भी बहुत होता है, जिसमें वे कला, संगीत, साहित्य, वैज्ञानिक अध्ययन और आविष्कार आदि को काफी समय दे सकते हैं, कृषकों और श्रमिकों के पास न तो इस प्रकार के काम करने की सुविधाएं होती हैं, न इतना समय, इसलिए वे इन कामों में अधिक रुचि नहीं ले सकते। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था में इस सामाजिक अंतर की उपेक्षा करके उच्च और धनी वर्ग को सुसंस्कृत और निर्धन श्रमिक वर्ग को असंस्कृत कह दिया जाता है। लेकिन समाजवादी संस्कृति में यह बात नहीं होती। समाजवादी संस्कृति की धारणाएं ही भिन्न होती हैं। उसकी प्रमुख विशेषताएं हैं—आपसी भाईचारा, वर्गनिरपेक्षता, मानवीय समानता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, समाजवादी मानवतावाद (दे० मानवतावाद), समाजवादी देशभक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीयता। उसका उद्देश्य है विश्व-संस्कृति में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है, उसे ग्रहण करना और उसका विकास करना।

मानव-संस्कृति को समझने-समझाने के लिए दार्शनिकों ने कई पद्धतियां अपनायी हैं। उनमें से एक है तुलनात्मक पद्धति। इस पद्धति से रूपगत समानताओं के आधार पर मानव के समान उद्भव का या आनुवंशिक एकरूपता का पता लगाया जाता है। विल्हेल्म वान हुंबोल्ट और अगस्त काम्ते ने इस पद्धति का विकास किया था। इसके द्वारा भाषाविज्ञान और मानवजातिविज्ञान के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई और साथ ही मिथकों एवं जनश्रुतियों का अध्ययन एवं गंभीर विवेचन संभव हुआ। लेकिन तुलनात्मक अध्ययन की एक कमी यह रही कि इसने सांस्कृतिक समानताओं तथा वैचारिक रूपों का केवल बाह्य अध्ययन किया और उन भौतिक-सामाजिक संबंधों की, उपेक्षा की, जिनसे विभिन्न संस्कृतियां पनपती हैं। इसलिए मानव-संस्कृति से संबंधित कई गुत्थियों को सुलझाना इस पद्धति से असंभव हो गया।

तुलनात्मक पद्धति की इस समस्या को हल करना जरूरी था। इसलिए स्पेंग्लर तथा टायनबी ने सांस्कृतिक चक्रों का सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसके अनुसार इतिहास बार-बार अपने-आपको दोहराता है और मानव का

सांस्कृतिक विकास घूम-घूमकर उन्हीं रूपों में होता रहता है।

वास्तव में तुलनात्मक पद्धति के द्वारा ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाह्य रूपों पर तो ध्यान दिया जाता था, इतिहास की आंतरिक विकास-प्रक्रिया की तार्किक संगतियों की उपेक्षा कर दी जाती थी, जिसके कारण यह बताना कठिन हो जाता था कि इतिहास के प्रवाह में सांस्कृतिक रूपों की इस समानता के कारण क्या हैं। सांस्कृतिक चक्रों के सिद्धांत ने इस कठिनाई का एक कृत्रिम समाधान प्रस्तुत किया; क्योंकि इसके अनुसार ऐतिहासिक समानताएं स्वयंसिद्ध मान ली गयीं और कहा गया कि मनुष्य में अतीत का अनुकरण करने की एक सहजप्रवृत्ति होती है। इस सिद्धांत का व्यावहारिक पक्ष फासिस्तवाद के रूप में सामने आया, जिसने स्पेंग्लर के इतिहासवाद के मूल सिद्धांतों को सच मानकर अपना लिया था।

समाजवादी चिंतकों में मार्क्स और लेनिन ने मानव-संस्कृति पर नये सिरे से विचार किया और ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांतों के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया कि मानव-संस्कृति को समझने के लिए उन ऐतिहासिक शक्तियों को समझना आवश्यक है, जो एक समाज-व्यवस्था को दूसरी समाज-व्यवस्था में बदल देती हैं। इस विचारधारा के अनुसार सांस्कृतिक चक्रों का सिद्धांत गलत है। इतिहास ज्यों का त्यों कभी अपने-आपको नहीं दोहराता और संस्कृति भी घूम फिरकर पुन: एक जैसे रूप में सामने नहीं आती। मानव के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले साधनों तथा उत्पादक शक्तियों के आपसी संबंधों के बदल जाने से जब समाज-व्यवस्था बदलने लगती है, संस्कृति भी उस परिवर्तन से प्रभावित होकर बदलने लग जाती है। इतना ही नहीं, जिस प्रकार समाज-व्यवस्थाओं को बदलने के लिए के लिए क्रांति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नयी व्यवस्था के अनुरूप संस्कृति का विकास करने के लिए सांस्कृतिक क्रांति भी आवश्यक होती है।

माना : यह एक अलौकिक शक्ति का नाम है, जिसकी उपस्थिति किसी मनुष्य को साधारण श्रेणी से ऊपर उठा देती है। माना गुण से संपन्न व्यक्ति काफी शक्तिशाली तथा बुद्धिमान होता है। अगर किसी के खेत में ज्यादा अनाज उत्पन्न होता है, तो उसे 'माना' का प्रभाव मानते हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है कि नाव जल में तैर नहीं सकती, तथा जाल में मछली फंस नहीं सकती अगर उस पर माना का प्रभाव न हो।

भारत में भी ऐसा विश्वास जनजातियों के बीच प्रचलित है। नागा उसे 'अरेन' कहते हैं। मालेर, 'गोसाइयां', तथा 'हो', संथाल और मुंडा इसे 'बोंगा' के नाम से पुकारते हैं।

माप्पिला जाति : केरल राज्य की माप्पिला जाति व्यापारियों, कृषकों तथा कारीगरों का सम्मिलित रूप है।



समाजविज्ञान तथा मानवविज्ञान के विद्वानों का मत है कि यह जाति वस्तुत: अरब देशों से आये हुए सौदागरों तथा स्थानीय स्त्रियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न संकर जाति है। इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि 'चेरुमा', 'मुक्कुवा',

'नायडी' आदि निम्न जातियों के लोगों के सामूहिक धर्मपरिवर्तन के कारण माप्पिला जाति की जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। केरल प्रांत में पुराने जमाने के समाज में अनिवार्य रूप से जातिगत विषमताएं थीं। इसलिए इस प्रकार के जातिगत बंधनोंवाले समाज की जनता के लिए इस्लाम धर्म को स्वीकार करना एक प्रकार की राहत पाना था; क्योंकि इस्लाम में सर्वमानव समानता का सिद्धांत पाया जाता है। संभवतः 8वीं शताब्दी में उद्भूत यह समाज 15वीं शताब्दी तक पुर्तगालियों के समय में पूर्ण रूप से प्रबल हो गया था।

आचार-व्यवहार : मलयालम भाषा में 'माप्पिला' शब्द का अर्थ दूल्हा या दामाद होता है। पुराने जमाने में विदेशों से आये हुए लोग जब स्थानीय स्त्रियों से विवाह करते थे, तबसे सार्थक रूप में इस शब्द का प्रयोग होने लगा। सुन्नत, बहुविवाह, तलाक, विधवा-विवाह आदि इस्लाम की विशेषताएं हैं। मलबार के माप्पिला लोग इन सारे नियमों का पालन करते हैं। आम तौर पर माप्पिला जाति में मातृसत्तात्मक परिवार-व्यवस्था पायी जाती है, खासकर उत्तरी मलबार में विवाह के बाद भी माप्पिला लड़की ससुराल नहीं जाती है, बल्कि उसका पति उसके मायके में रहने लगता है।

माप्पिला जाति के लोगों ने अपनी धार्मिक संस्थाओं की परियोजना नंबूदिरी जाति की धार्मिक संस्थाओं के अनुसार की है। 'तिरुनावाय' नामक स्थान पर एक ऐसा धार्मिक केंद्र है, जहां माप्पिला जाति के धर्मगुरुओं को प्रत्येक प्रकार की धार्मिक शिक्षा दी जाती है। प्रेतात्माओं का साया स्त्रियों पर से हटाने के काम में माप्पिला जाति के पुरुष बहुत निपुण माने जाते हैं।

मारेट, आर० आर० (1868–1943) : ये आदर्शवान ब्रिटिश मानवविज्ञानी थे। इनका विचार था कि मानवविज्ञान मानवजाति का संपूर्ण शास्त्र है। इन्होंने मानवविज्ञान के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों के पठन-पाठन को परस्पर जोड़ा। आदिम धर्म को लेकर इन्होंने



महत्त्वपूर्ण काम किया था। मारेट ने पूर्वचेतना, अदृश्य शक्तियां तथा क्षुद्र प्राणियों का बहिष्कार आदि विषयों की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की थी। इन्होंने जिन बातों का अध्ययन प्रस्तुत किया था वह मानवविज्ञान में प्रामाणिक माना गया। इन्होंने कहा कि सभ्यता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक व्याप्त होनेवाला ज्ञान है। इनका यह भी मत था कि मानवविज्ञान का अध्ययन मानसिक विकास के लिए अत्यधिक सहायक होता है।

मारेट ने 'दि थ्रेसहोल्ड आफ रिलिजन' (1909), 'एंथ्रोपोलेजी' (1912), 'फेथ, होप एंड चेरिटी इन प्रिमिटीव रिलिजन' (1932), 'हेड, हार्ट एंड हैंड्स इन ह्यूमन एवोलूशन' (1935) आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

मार्टिन, रुडोल्फ (1864-1925) : जर्मन मानवविज्ञानी। फाइबर्ग विश्वविद्यालय में प्राकृतिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् 1899 में मार्टिन की नियुक्ति ज्यूरिख विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान विभाग में कर दी गयी। 1911 में, म्यूनिख में उन्हें मानवविज्ञान के प्रोफेसर के पद से सम्मानित किया गया। करोटिविज्ञान और मानवमिति उनकी रुचि के प्रमुख विषय थे। इस संबंध में अनेक मतों का तुलनात्मक अध्ययन और परीक्षण करने के पश्चात् मार्टिन ने 1914 में एक शोध-प्रबंध प्रकाशित किया। शरीर के अंगों और करोटि को मापने के उपकरणों तथा आंखों के रंगों की जिन सारणियों का प्रयोग उन्होंने अपने प्रयोगों तथा निष्कर्षों के लिए किया, बाद में अनेक मानवविज्ञानियों ने उनका अनुसरण किया। उन्होंने सेनोय और सेमांग जनजातियों को बेड्डा तथा नीग्रीटो प्रजातियों का ही एक विशिष्ट प्रकार माना। अपने अंतिम कार्य-काल में, मार्टिन ने अपवाद-स्वरूप सफलता के साथ स्कूली बच्चों की शारीरिक-माप की सारणियां तैयार की। मार्टिन जर्मनी की तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक मानवविज्ञान की क्लासिक शाखा के अंतिम विद्वान थे।

मालिनोवस्की, ब्रोनिस्लाव (1884-1942) : मानवविज्ञानी और समाजविज्ञानी मालिनोवस्की का जन्म और शिक्षा पोलैंड में हुई। उन्होंने 1908 में क्रांको विश्व-



विद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ली। इसके पश्चात् वे इंग्लैंड आ गये तथा ब्रिटिश म्यूज़ियम और 'लंदन स्कूल आफ इकानामिक्स' में कार्य करते रहै। 1914 में, उन्होंने राबर्ट मांड के मानव अभियान में भाग लिया और इस सिल-सिले में वे न्यूगिनी तथा मेलीनीशिया गये। इसके पश्चात् वे आस्ट्रेलिया चले गये। यूरोप में लौटने के बाद उनकी नियुक्ति लंदन स्कूल आफ इकानामिक्स में सामाजिक मानवविज्ञान के रीडर के पद पर हो गयी, जहां वे 1927 में प्रोफेसर भी बना दिये गये। उन्होंने अपने विषय का न सिर्फ अध्ययन किया, बल्कि इसका व्यापक अनुभव भी प्राप्त किया। वे गवेषणा की 'कार्यात्मक पद्धति' के प्रवर्तक थे। उनके मुख्य ग्रंथ इस प्रकार हैं: 'पश्चिमी प्रशांत तट के आर्गोनाट्स' (1922), 'बर्बर समाज में अपराध और रीति-रिवाज' (1926), 'बर्बर समाज में यौनाचार और दमन' (1927), 'बर्बर समाज में यौन जीवन' (1928)।

मालेर जनजाति : मालेर जनजाति विशेष रूप से बिहार राज्य के संथाल परगना जिले के गोड्डा, पाकुर, राजमहल, तथा साहेबगंज के पहाड़ी इलाकों में निवास करती है। इस जाति का दूसरा नाम है सांवरिया पहाड़िया। मालेर का अर्थ इनकी भाषा में 'पहाड़ी आदमी' होता है। इनकी जनसंख्या 1961 की जनगणना के अनुसार 58,654 थी।

इनका वस्त्र बहुत ही संक्षिप्त होता है। इनके शरीर का अधिकांश भाग नग्न होता है। मर्दों के शरीर पर एक लंगोटा जैसा कपड़ा होता है तथा औरतों के शरीर पर दो छोटे-छोटे टुकड़े रहते हैं। एक शरीर के निचले भाग को ढंकने के लिए कमर से बांधा जाता है, तथा दूसरा वक्षस्थल को ढंकने के लिए बांधा जाता है। इनका प्रधान भोजन मकई और बाजरा है, जिसे ये लोग जंगल को काटकर, जलाकर तथा उपजाऊ भूमि बनाकर पैदा करते हैं। लेकिन सिर्फ इतने से ही इनका काम नहीं चलता, बाकी दिनों के लिए इन्हें कंद, आलू, केला, तथा अन्य जंगली फलों एवं शिकार पर निर्भर रहना पड़ता है। शिकार के लिए लोग चार से दस तक के झुंड में जाते हैं, जो तलवार इत्यादि का उपयोग करते हैं। जंगली लकड़ी को काटकर और सुखाकर उसे ईंधन के लिए उपयोगी बनाकर वे बाजार के दिन पहाड़ के नीचे जाकर बेचते हैं और इससे जो पैसा प्राप्त होता है, उससे वे कुछ न कुछ सामान खरीदते हैं। इसके अलावा वे मछली का शिकार भी करते हैं। ये लोग मछली नहीं बेचते हैं; क्योंकि पहाड़ी झरनों में अधिक मछलियां प्राप्त नहीं होतीं।

बांस, खर इत्यादि के बने उनके घर बहुत ही साधारण होते हैं तथा घर बनाने की सामग्री भी उन्हें जंगलों से ही मिल जाती है। उनका घर सिर्फ एक ही कमरे का होता है। गांव के सारे घर दो या तीन सीधी कतारों में बने होते हैं। इन कतारों के बीच की जगह सड़क के काम में लायी जाती है। एक घर में दो दरवाजे होते हैं। सामने का दरवाजा सड़क की ओर तथा पिछला दरवाजा वीरान जंगल की ओर खुलता है। इनके घरों के आगे और पीछे, उनके पालतू जानवर दिखायी पड़ते हैं।

पिता का स्थान इनके समाज में भी महत्त्वपूर्ण है। परिवार में वही सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है और उसकी आज्ञा का पालन परिवार के सभी व्यक्तियों को करना पड़ता है। आज भी इनमें बहु-विवाह की प्रथा पायी जाती है। एक मर्द कई विवाह कर सकता है। शादी करने के समय वर को वधू के पिता को 'कन्या मूल्य' देना पड़ता है, जिसे वे लोग "पौन" कहते हैं। यह पौन दस रुपये से साठ रुपये तक दिया जाता है। रुपये के अलावा खाने-पीने के लिए एक सूअर, दो मुर्गे तथा एक रस्सी देने की भी प्रथा है। स्त्रियां यदि दूसरी शादी करना चाहें, तो इस 'पौन' की रकम को वापस करके फिर दूसरी शादी भी कर सकती हैं।

इनका अपना एक राजनैतिक संगठन होता है, जो असामाजिक कामों को रोकता है तथा ऐसा काम करनेवालों को दंड देता है। प्रत्येक गांव में एक प्रधान होता है, जिसे ये लोग 'मंझीये' कहते हैं। प्रधान के कामों में सहायता देनेवाला एक व्यक्ति होता है जिसे 'गुराइत' कहा जाता है। किसी भी मामले की सुनवाई पांच सदस्यों के द्वारा की जाती है, जिसमें मंझीये और गुराइत के अलावा गांव के तीन और अनुभवी व्यक्ति होते हैं। यदि अपराधी अपने अपराध को अस्वीकार करता है, तो उसे आग में लाल किया हुआ 'टंगिया' चाटना पड़ता है। उनका ऐसा विश्वास

है कि निरपराध व्यक्ति की जीभ गरम टांगी से नहीं जल सकती। इससे यह पता चलता है कि वे चमत्कारिक न्याय में अधिक विश्वास करते हैं।

मालेर देवी-देवता पहाड़ पर ही किसी खास वृक्ष तथा चट्टान में निवास करते हैं, और उनके 'कुल देवता' उनकी झोंपड़ी के किसी कोने में। अत: वे पहाड़ को किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि देवी-देवताओं को पहाड़ छोड़कर नीचे जाने से देवी-देवताओं का प्रकोप इतना बढ़ेगा कि वे सभी मार डाले जायेंगे।

मासई जनजाति : केन्या और टेंगानिका प्रदेशों में पायी जानेवाली जनजाति। इस जाति के लोग चरवाहे होते हैं और एक हद तक यायावर भी। पूर्वी अफ्रीका में स्थित 'रिफ्ट' नामक तराई में पायी जानेवाली हरी घास के प्रदेशों में और अकेशिया के पेड़ोंवाले प्रदेशों में 'ब्राल' नाम से जाने जानेवाले इनके गांव बिखरे हुए मिलते हैं। इनका निवास-स्थान आग्नेय दिशा से लेकर ईशान्य दिशा तक फैला हुआ है। इस प्रदेश का क्षेत्रफल 1,03,600 वर्ग किलोमीटर है, किंतु वर्षा और धरती के नीचे पानी न होने के कारण यहां की भूमि कृषि योग्य नहीं है। मासई जाति के लोगों की जीवन-पद्धति बहुत साधारण होती है। इनके गांव बहुत छोटे होते हैं और अस्थायी भी। इन गांवों में 30 से 60 तक के सदस्योंवाले कई परिवार होते हैं।

मासई जाति के विख्यात वयस्क योद्धाओं का शौर्य दूसरे लोगों को भयभीत करनेवाला होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकृत मासई जाति के लोगों में तथा उनके इलाकों के आसपास रहनेवाले बंटू जाति के किसानों में अंतर पाया जाता है। यद्यपि उनके पास बहुत अच्छा सेना-बल है, फिर भी इन्होंने कभी भी दूसरे देश को अपने अधीन नहीं किया है और न ही ये लोग अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र कहीं जाते हैं। इनके पास किसी प्रकार के राजकीय कानून भी नहीं हैं, जो इन्हें केंद्रीकृत करें।

मासई जाति का उद्भव उपर्युक्त प्रदेश के उत्तर में हुआ। ये लोग नाइलो-हेमेटिक भाषा बोलते हैं। बहुत समय पूर्व (1750 के आसपास) ये लोग पूर्वी अफ्रीका में आकर बस गये थे।

इन लोगों की आबादी एक लाख मानी जाती है। इनके पास दस लाख से अधिक बड़े पशु और इतनी ही संख्या में भेड़-बकरियां हैं।

आचार-व्यवहार : मासई जाति के लोगों में बहुत मजबूत गोत्र संबंधी रिश्तेदारी पायी जाती है। हर गांव में विभिन्न शाखाओं के लोग मेल-मिलाप के साथ रहते हैं। इस जाति में ऐसा कोई मुखिया या धर्मगुरु नहीं पाया जाता, जो सर्वाधिकारी हो। इन लोगों की अपनी कोई केंद्रीय व्यवस्था भी नहीं है।

मासई जाति में सुस्थिर सामाजिक व्यवस्था पायी जाती है। उनका समाज उम्र के आधार पर विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ होता है। एक ही समय जिन युवकों की सुन्नत की जाती है, वे सारे एक ही वर्ग के माने जाते हैं। इस प्रकार हर पंद्रह वर्ष बाद एक बार वयोवर्ग की स्थापना की जाती है। प्रत्येक वर्ग के लिए कुछ अधिकार और कर्तव्य निश्चित किये जाते हैं। इस प्रकार के निश्चित समूहों में एक योद्धा-वयोवर्ग होता है।

जब कभी इनमें पारिवारिक झगड़े होते हैं, तब एक गांव के या कुछ गांवों के लोग मिलकर आपसी सलाह-मशविरे के आधार पर या आदेश के आधार पर इनका निपटारा करते हैं। इनके यहां किसी मुखिया के न होने के कारण ऐतिहासिक न्यायशास्त्र के आधार पर फैसले किये जाते हैं और उनके बारे में लोगों की सम्मति प्राप्त करने के बाद उन्हें प्रचारित किया जाता है। कभी-कभी लोगों का विचार प्रतिकूल होने पर भी योद्धा-वयोवर्ग अपने दंड देने के अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

इनका धर्म अद्वैत है। प्रकृति को प्रधानता देना इनके जीवन का लक्ष्य है।

मासई जाति के लोगों की मुख्य जीविका पशुपालन ही है। ये लोग न शिकारी हैं और न ही किसान। संभवत: इसी कारण किसानों और शिकारियों के प्रति इनमें बहुत घृणा पायी जाती है। इनका भोजन दूध और मांस है। ये लोग खून से भरे हुए कच्चे मांस को खाते हैं। इनकी स्त्रियां पैरों और हाथों में अनेक वजनदार कड़े पहनती हैं।

इन्हीं सब कारणों से मासई जाति के लोग अफ्रीका की अन्य जातियों में विचित्र माने जाते हैं।

मिकिर जनजाति : मिकिर अपने-आपको 'आरलेंग' या 'करबी' कहते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार

इनकी जनसंख्या आसाम में 1,21,082, नागालैंड में 466 तथा नेफा में 21 थी। इनके पूर्वज पहाड़ की ढलानों पर घर बनाकर रहते थे। 'आरलेंग' अपने-आपको 'थोंग नोखा' राजा का वंशज कहते हैं। ये मिकिर की पहाड़ियों पर निवास करते हैं।

मिकिर जनजाति, चार उप-जनजातियों में बंटी हुई है: (1) चिंतांग, (2) रोंगहांग, (3) आमरी और (4) डुमराली। इनका समाज पितृसत्तात्मक है। पहाड़ों पर मिकिर, 'झूम' या 'चलन' प्रणाली से खेती-बारी करते हैं। ये चावल, सब्जी, कपास इत्यादि पैदा करते हैं। परिवार के सभी सदस्य एक ही घर में रहते हैं। पुरुष तथा स्त्री दोनों के वस्त्र साधारण होते हैं। मर्द अपनी कमर में कपड़े का एक टुकड़ा लपेटते हैं, जिसे वे लोग अपनी भाषा में 'रिखोंक्लांग' कहते हैं। औरतें पेटीकोट पहनती हैं, जिसे वे लोग 'पेनी' कहते हैं। यह कमर में बंधा रहता है। शरीर से ऊपरी हिस्सों को ढकने के लिए औरतें जिस कपड़े का उपयोग करती हैं, उसे ये 'केकोक' कहते हैं।

ये कई देवताओं को मानते हैं। देवताओं में 'बेरीये' देवता को ये सबसे अधिक शक्तिशाली मानते हैं। यह स्वर्ग का देवता होता है। इनमें शव जलाने की प्रथा है।

मित्रा, पंचानन (1891–1936) : डा० पंचानन मित्रा कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग के अध्यक्ष थे। उनका जन्म 1891 में हुआ, तथा इनकी मृत्यु कलकत्ता में 25 जुलाई 1936 में हुई। इनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं:

(1) प्रीहिस्टोरिक इंडिया
(2) एहिस्ट्री आफ अमेरिकन एंथ्रोपोलोजी
(3) इंडियन एलिमेंटस इन पोलिनेशियन कल्चर

मित्रा, प्रो० शरतचंद्र : प्रो० शरतचंद्र मित्रा का मुख्य व्यवसाय वकालत था। वकील होते हुए भी उन्होंने अपना खाली समय मानवविज्ञान के अध्ययन में बिताया। अनेक आदिवासियों के रीति-रिवाजों का उन्होंने विशेष अध्ययन किया। वे एक अच्छे लेखक भी थे तथा उन्होंने जनजातियों पर अनेक पुस्तकें लिखीं। 1921 से 1926 तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में लेक्चरर के पद पर रहे। इनकी मृत्यु 1938 में हुई।

मिनोवा सभ्यता : पश्चिमी भूमध्य सागरीय प्रांत में स्थित क्रीट द्वीप संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं का जन्म-स्थल रहा है। इस सभ्यता का 'क्नासस' नामक नगर में उद्भव हुआ था। पौराणिक कथाओं में आनेवाले मिनोस नामक राजा की राजधानी क्नासस नगर ही था। इसी कारण यह सभ्यता मिनोवा सभ्यता के नाम से जानी जाती है। संभवतः मिनोवा नाम से प्रख्यात इस राजा ने सचमुच क्रीट का पालन किया होगा। क्नासस में प्राप्त 'लाब्रिंत' (बहुत ही उलझे हुए रास्तों का भवन) नामक भवन उसका निवास-स्थान रहा होगा। ग्रीक पौराणिक कथाओं के अनुसार मिनोटार इसी भवन में थीसस के द्वारा मारा गया था। उसके बाद के समय में यूनान में 'एजियन' नाम से जो सभ्यता विकसित हुई, उसकी पूर्व दशा का समय ही मिनोवा सभ्यता का समय था। आर्थर इवान्स के द्वारा की गयी खोजों और खुदाइयों के आधार पर यह बात स्वीकार की गयी है कि तीन दशाओं में यह सभ्यता विकसित हुई थी। ई० पू० 2,800 से 2,100 तक पहली अवस्था, ई० पू० 2,100 से 1,580 तक बीच की दूसरी अवस्था, ई० पू० 1,580 से 1,100 तक अंतिम अवस्था मानी जाती है। पहली अवस्था में नवीन प्रस्तर युग की समाप्ति, धातुओं का इस्तेमाल, गूढ़ लिपि का प्रचार आदि बातें प्रधान रूप से अस्तित्व में थीं। मध्य अवस्था में अत्यंत विकसित भवनों का निर्माण हुआ। चित्रों से युक्त लिपि का प्रचार भी आरंभ हुआ। मिट्टी और चीनी के पात्रों का निर्माण, दांत की वस्तुओं तथा धातुओं की वस्तुओं पर नक्काशी का काम इसी अवस्था में होने लगा था। मध्य अवस्था के अंत में क्नासस नगर ध्वस्त हो गया। उसके बाद की अंतिम अवस्था में मिसोनियन ग्रीक लोगों के प्रवेश के साथ एक नयी लिपि प्रचार में आयी। इसी समय तरह-तरह की विलासताओं वाले राजमहल निर्मित होने लगे। करीब ई० पू० 1,400 के आसपास क्नासस पर माइसीनियन लोगों ने दुबारा चढ़ाई की और उसे ध्वस्त कर दिया। इसके बाद क्रमशः मिनोवा सभ्यता का ह्रास होने लगा।

मिरी जनजाति : ये मुख्यतः सिबसागर तथा लखीमपुर जिले में पाये जाते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या आसाम में 1,63,453 तथा नेफा में 2,817 थी।

मिरी जनजाति को दो भागों में विभक्त किया गया है: 'बारोगेम्स' तथा 'दोहगाम्स'। इन दो वर्गों को फिर कई छोटे समूहों में बांटा गया है। समतल भूमि पर वे हमेशा नदी, झरनों के नज़दीक रहते हैं। इनके घर ऊंची जगहों पर बने होते हैं तथा लंबाई में कभी-कभी 10 गज़ तक होते हैं। इनके मकान दो कतारों में बने होते हैं।

इनका प्रधान पेशा खेती है। ये चावल, सरसों, ज्वार, बाजरा, तथा दाल इत्यादि पैदा करते हैं। वे गोमांस तथा मुर्गियों का मांस खाते हैं। चावल की बनी शराब पीते हैं। शादी में ये खाने-पीने की वस्तुओं पर काफी खर्च करते हैं। साधारणतः ये शव को गाड़ देते हैं। किसी के मरने पर भोज देने की प्रथा है। ये अपने-आपको हिंदू कहते हैं।

मिल्स, जे० पी० (1890-1960) : मिल्स 'इंडियन सिविल सर्विस' से संबंद्ध रहे थे। ये 1916 में भारत में आये थे। जिस समय ये नागा प्रांतों के कमिशनर थे, तब नागा जाति के लोगों को निकट से देखने और समझने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ था। इन्होंने नागा जातियों का सिलसिलेवार अध्ययन किया था और इस संबंध में महत्त्व-पूर्ण पुस्तकों की रचना की थी। कुछ समय बाद ये इंग्लैंड की 'रायल एंथ्रोपोलोजिकल इंस्टिट्यूट' नामक संस्था के अध्यक्ष बन गये।

'दि लोटा नागाज़' (1922), 'दि आवो नागाज़' (1926), 'दि रेंग्बा नागाज़' (1932) इनके मुख्य ग्रंथों में से हैं।

मुंडा जनजाति : ये अपने को 'होरोको' कहते हैं, लेकिन हिंदी भाषी इन्हें 'मुंडा' कहकर पुकारते हैं। इनकी भाषा मुंडारी है। इस भाषा के अनुसार 'मुंडा' शब्द का अर्थ 'धनवान एवं सम्मानित' व्यक्ति होता है। रायबहादुर शरतचंद्र राय (एस० सी० राय) के अनुसार ये दक्षिण-पश्चिम भारत के रहनेवाले हैं। ये बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा एवं मध्यप्रदेश में रहते हैं। इनका मुख्य धंधा खेती करना है। ये कभी-कभी शिकार भी करते हैं।

1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या बिहार में 6,28,931, उड़ीसा में 2,21,399, पश्चिम बंगाल में 1,60,245, त्रिपुरा में 4,409 तथा मध्यप्रदेश में 4,414 थी।

मृताशौच (शुद्धि संस्कार) : परिवार के लोगों या ज्ञानियों के मरने पर जो अशौच होता है, उसे मृताशौच कहते हैं। आम तौर पर ब्राह्मणों में अशौचकाल दस दिन का होता है, क्षत्रियों में बारह दिन का, वैश्यों में पंद्रह दिन का और शूद्रों में तीस दिन का। किसी की मृत्यु पर मृतक के मां-बाप, भाई, पुत्र, अविवाहित पुत्रियां, बहुएं, नाती-पोते, अवि-वाहित नातिनी तथा उस कुनबे के अन्य सगोत्री लोग अशुद्ध माने जाते हैं। अशौच से प्रभावित होनेवाले संबंधियों को मृत्यु की सूचना दस दिन के अंदर मिल जाती है, तो उन्हें उस दिन से दस दिन तक के अशौच का पालन करना पड़ता है। यदि दस दिन के बाद सूचना मिलती है, तो केवल स्नान से ही शुद्धि हो जाती है। सात पीढ़ियों के बाद, यह माना जाता है कि सगोत्रियों को भी किसी प्रकार के अशौच का पालन करने की आवश्यकता नहीं होती। लड़कियों के या ऐसे लड़कों के, जिनका उपनयन संस्कार नहीं हुआ, मरने पर केवल स्नान से अशौच दूर कर दिया जाता है। यदि इस अशौचकाल के समाप्त होने के पूर्व ही दूसरा अशौचकाल शुरू हो जाये, तो इस दूसरे अशौचकाल को 'अशौच-संकर' कहते हैं।

जो लोग मृताशौच से प्रभावित होते हैं, उन्हें दूसरे लोग छूते नहीं हैं। ऐसे लोग दस दिन तक संध्या-वंदन आदि नैमित्तिक क्रियाएं नहीं करते हैं। दूसरे लोग इनके घर भोजन नहीं करते। अशौचकाल में सफेद कपड़े ही पहने जाते हैं। मीठी वस्तुएं खाना निषिद्ध होता है। स्त्रियां और पुरुष सिर में तेल नहीं डालते। स्त्रियां बिंदी नहीं लगा सकतीं। किसी प्रकार का अलंकरण नहीं किया जाता है। जमीन पर सोया जाता है।

कर्नाटक प्रांत के लिंगायतों में अशौच की परंपरा नहीं है। पाश्चात्य देशों के लोग निशानी के तौर पर कंधे पर काला कपड़ा धारण करते हैं। कहा जाता है कि प्राचीन यूनानियों में तीस दिन के मृताशौच का पालन किया जाता था।

मेक्लेनान, जान फर्गुसन (1817–81) : स्काटिश मानव-विज्ञानी। मेक्लेनान मूलतः विधिवेत्ता थे। 'एनसाइक्लो-पीडिया ब्रिटेनिका' के आठवें संस्करण (1857) में कानून की प्रविष्टि लिखते समय रोमनों और स्पार्टनों के विचित्र विवाह समारोह "कपट विवाह" (इन विवाह समारोहों

में कन्या-अपहरण का नाटक-सा किया जाता था) में उनकी रुचि बढ़ी। इस संबंध में उनका मत था कि इस प्रकार का प्रतीकात्मक व्यवहार प्रागैतिहासिक काल में पाये जानेवाले वास्तविक संबंधों का ही एक अवशेष है। आगे चलकर उन्होंने इस सिद्धांत को और भी विकसित किया। उनके मत के अनुसार आदिम समाजों में स्त्री-शिशु को जन्म लेते ही मार डालने की प्रथा थी, जिसके कारण समाज में स्त्रियों की कमी हो जाती थी। इस कमी को आदिम समाजों में अन्य जनजातियों की स्त्रियों से विवाह करके पूरा किया जाता था। इस प्रथा को मेक्लेनान ने 'बहिर्विवाह' का नाम दिया। उनके अनुसार स्त्रियों की कमी को बलात् अपहरण कर पूरा किया जाता था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जनजातियां राजनीतिक रूप से संगठित होकर रहने लगीं और इस विराट संगठन में अंत:जनजातीय विवाह स्वयं स्वीकृत हो गये। लेकिन इस स्वीकृति के बावजूद, यह प्रथा प्रतीकात्मक रूप में रोमनों और स्पार्टनों में चलती रही। मेक्लेनान के समय में ही, मोर्गन आदि मानवविज्ञानियों ने उनकी परिकल्पना का डटकर विरोध किया। उनकी परिकल्पना का प्रमुख दोष यह था कि यह तथ्यों से पुष्ट न होकर काल्पनिक तर्कों पर आधारित थी। कालांतर में हुई खोजों ने तो उनके मत को एकदम ही नकार दिया।

मेक्लेनान के सिद्धांत चाहे अमान्य ही सिद्ध हुए हों, लेकिन उनके विवादास्पद विचारों के कारण आदिम समाजों और संस्कृतियों के अध्ययन में बहुत गति आ गयी थी।

मेसन, ओटिस टुफ़टां (1838–1908) : अमरीकी मानवविज्ञानी। शिक्षा प्राप्त करने के बाद मेसन की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्र राष्ट्रीय संग्रहालय के अध्यक्ष के पद पर हुई। वह फील्ड-वर्क करनेवाले मानवविज्ञानियों में से नहीं थे। उन्होंने अनुभव किया कि मानवविज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए उसका स्पष्ट वर्गीकरण बहुत आवश्यक है और वे इस कार्य में जुट गये। इस सिलसिले में उन्होंने अन्य मानवविज्ञानियों द्वारा संग्रहीत विशाल सामग्री इकट्ठी की। मानवजाति का प्रजातीय वर्गीकरण करनेवालों में उनका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 1873 में, उन्होंने हजारों अमरीकी जनजातियों के नाम की एक लंबी सूची तैयार की। उन्होंने मूलनिवासियों की तकनीकी-पद्धति का भी विशद् अध्ययन किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मूलनिवासियों की तकनीक जानने के लिए प्रयुक्त-सामग्री और उत्पादन-पद्धति का समुचित ज्ञान आवश्यक है। उन्होंने आविष्कार की व्याख्या प्रयुक्त सामग्री तथा निर्मित वस्तु के परिवर्तनों, निर्माण-पद्धति और प्रयुक्त उपकरणों में परिवर्तनों तथा समाज तथा आविष्कारकों के मानस के परिवर्तनों के आधार पर की। उन्होंने इस पद्धति का प्रयोग न सिर्फ यांत्रिक उपकरणों के सिलसिले में किया, बल्कि सांस्कृतिक प्रक्रिया, भाषा, ललित कलाएं, सामाजिक पद्धति और कार्यप्रणाली, दर्शन और संप्रदायों की तर्क-संगत व्याख्या भी इन्हीं आधारों पर की। अमरीकी इंडियन्स जिस तकनीकी जानकारी से जानवरों को पकड़ने का जाल बिछाते हैं, उसके आधार पर उन्होंने उनके मानस की जटिल गहराइयों में पैठने की कोशिश की। उन्होंने पर्यावरण-जनक परिस्थितियों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि मानवीय उद्योगों तथा उनकी तकनीक पर उसका (पर्यावरण का) गहरा प्रभाव पड़ता है। उन्होंने विशिष्ट उद्योगों के आधार पर अमरीकी इंडियन्स के सांस्कृतिक क्षेत्रों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उनसे पूर्व मानवविज्ञानियों का विचार यह था कि आदिम संस्कृतियों में स्त्रियों का स्थान निम्न था। मेसन ने अपने अध्ययन के आधार पर इस सिद्धांत का विरोध किया और कहा कि आदिम संस्कृतियों में स्त्रियां दस्तकलाओं की विशेषज्ञ थीं, जबकि पुरुष युद्ध-कलाओं में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नारी की स्थिति पुरुष से किसी भी तरह हीन नहीं थी।

आगे चलकर मेसन के विचारों को मान्यता प्राप्त हुई हो या नहीं, उनके कार्य ने अनेक मानवविज्ञानियों को सही दिशा की ओर चलाने के लिए अवश्य उत्साहित किया।

मैगी, विलियम जॉन (1853–1912) : अमरीकी मानवविज्ञानी और भूविज्ञानी। मानवविज्ञान में मैगी का योगदान 'सेरी इंडियन्स' के जीवन का सर्वांगीण अध्ययन करना है। इसके साथ ही उन्होंने रेगिस्तानी पर्यावरण का भी अध्ययन प्रस्तुत किया। इन दोनों अध्ययनों के आधार पर उन्होंने किसी विशिष्ट भूमि पर पाये जानेवाले

प्राणी-जीवन तथा वनस्पति जीवन के सहसंबंध के आधार खोजे तथा इस परिप्रेक्ष्य में वहां के मानव-निवासियों का अध्ययन किया। मानव-परिस्थितिकी की कल्पना भी मैगी के ही अध्ययनों का परिणाम है।

मैलानीशियन : ये 'ओशनिक नीग्रोआइड' हैं और उनके कारण ही मैलानीशियन के भौगोलिक प्रदेश का नाम पड़ा। मैलानीशिया मध्य और पश्चिमी प्रशांत सागर के तीन बृहत् ओशनिक द्वीपों के संभागों में से एक है। इसमें न्यू ब्रिटिश द्वीपसमूह, उत्तरपूर्वीय न्यूगिनी, लाओसिडी, सालोमन, सांताक्रूज, न्यू हैबरडीज़, न्यू कैलीडोनिया, फीजी और इनके मध्य के छोटे समूह अंतर्निहित हैं।

आकार संबंधी विशेषताएं : कद 160 से० मी० तथा 165 से० मी० के मध्य, भरा हुआ शरीर और बलिष्ठ भुजाएं तथा टांगें, त्वचा गहरे वर्ण—लाल भूरे से गहरे चाकलेट वर्ण तक की होती है। केश सामान्यत: फ्रिजली, (जिस प्रकार अफ्रीकी नीग्रो में पाये जाते हैं) किंतु ये छोटे होने की अपेक्षा लंबे होते हैं, और कभी-कभी घुंघराले भी। शीर्ष अधिकतर दीर्घ आकार का होता है, किंतु भिन्नता के कारण कभी-कभी पृथुकपाली भी होता है। ऊंचा क्रेनियाल वाल्ट, तिरछा भुका हुआ ललाट, आनन थोड़ा लंबा तथा कुछ प्रोद्‌गत नासा, कभी चौड़ी और मूल के साथ धंसी हुई तथा कभी सीधी और प्रमुख मांसल छोर के साथ होती है।

कायिक विभिन्नताएं मैलानीशियन को दो उप-प्रकारों में विभाजित करती हैं।

(क) अधिक प्राचीन—कद में ठिगने, उत्तल नासा-वाले। न्यूगिनी और पड़ोसी द्वीपों (पापूआन) में वास करते हैं।

(ख) दूसरा प्रकार अधिक नवीन है। इनके लंबे, कम फ्रिजली केश और चपटी नासा होती है तथा ये मैलानीशिया के शेष द्वीप—पश्चिम में बिस्मार्क, आर्कीपिलागो से पूर्व में फीजी द्वीपों (पूर्वी मैलानीशियन) में वास करते हैं।

मैलानीशियन मानवजातिविज्ञान : मैलानीशियन प्रदेश की मानवजातिविज्ञान का सारा इतिहास अस्पष्ट है। किंतु विस्तृत अनुसंधानों के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट बातें सम्मुख आती हैं।

(1) सर्वप्रथम निवासी संभवत: काले, ऊनी केशवाली प्रजाति के थे, जो न्यूगिनी के पिग्मियों का प्रतिनिधित्व करते थे। ये पिग्मी भूतकाल में दूर-दूर तक फैले हुए नीग्रीटो जनसंख्या के अवशेष थे, जो अंडमान द्वीपों, मलाया प्रायद्वीप (सीमांग) और फिलीपींस (ऐटा) में रहते थे।

(2) ऊंचे कद का दूसरा प्रकार जो तस्मानिया में आगे बढ़ा तथा जिसने तस्मानिया समूह की रचना की, अब अप्रवृत्त है।

(3) अन्य दूसरे न्यूगिनी और पश्चिमी प्रशांत में पापूआन के रूप में फैल गये और उन्होंने मैलानीशियन जनसंख्या के आधार की रचना की।

(4) प्रोटोपालीनीशियन ने पूर्वी भारतीय आर्कीपलागो से पालीनीशिया की ओर स्थानांतरण में इस प्रदेश को पार किया। उन्होंने अपनी भाषा जनसंख्या पर आरोपित की और उसे परिवर्तित कर दिया।

(5) बाद में दूसरे स्थानांतरण में पश्चिम से इंडोनेशियाई आये। मैलानीशियन के कुछ भाग, पालीनीशियन प्रजातीय समूहों के स्थानांतरण से भी प्रभावित हुए।

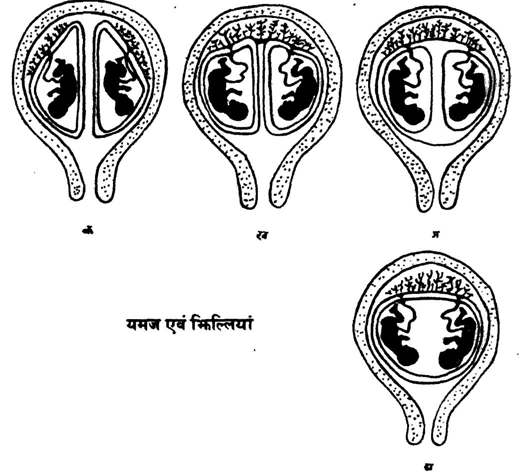
इन प्रभावों के परिणामस्वरूप ही मैलानीशिया के वर्तमान जन-समूह का निर्माण हुआ है।

मोनोग्राफिक पद्धति : किसी एक सरल समाज का, उसके अंत:संबंधित भागों को परस्पर संबद्ध करके अध्ययन करने की पद्धति का सूत्रपात सबसे पहले 1922 में मालिनोवस्की ने 'आर्गोनाट्स आफ दि वेस्टेर्न पेसिफिक' नामक ग्रंथ लिखकर किया था। उसी वर्ष राडक्लिफ ब्राउन द्वारा लिखित 'दि अंडमान आइलैंडर्स' नामक ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ। इन दोनों मानवविज्ञानियों ने मानवविज्ञान में 'मोनोग्राफ' नामक एक ऐसी विशिष्ट पद्धति को प्रविष्ट किया, जिसके अंतर्गत किसी एक जाति के परिवेशगत, भौतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक जीवन से संबंधित समस्त संस्थाओं को एक पूर्ण संस्कृति के अंत:संबंधित भागों के रूप में देखा जाता है। इस पद्धति को बाद के मानवविज्ञान के कार्यकर्ताओं ने प्रामाणिक रूप से स्वीकार कर लिया था। लेकिन इससे भी पहले इस नूतन पद्धति की पृष्ठभूमि के रूप में सेलिग्मन ने 1911 में 'दि वेड्डास आफ

सिलोन' नामक ग्रंथ की तथा रिवर्स ने 1906 में 'टोडा जाति' नामक ग्रंथ की रचना की थी। ये ग्रंथ कालांतर में होनेवाले असभ्य जातियों के मोनोग्राफिक पद्धति के अध्ययन में बहुत सहायक और मार्गदर्शक सिद्ध हुए। इस पद्धति के आंदोलनकारी आविष्कार के साथ ही मानवविज्ञान का अध्ययन यात्रियों, मिशीनरियों, भूगोल शास्त्रियों, व्यापारियों तथा साम्राज्य संस्थापकों द्वारा बतायी जानेवाली अर्धकाल्पनिक कथाओं और स्थितियों से अलग हो गया। इसके परिणामस्वरूप हाडन और उनके अनुयायियों ने टॉरस जल संधि यात्रा का श्रीगणेश किया, जिसके द्वारा किसी वर्ग और जाति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए उस वर्ग और जाति के निवास-स्थान पर जाकर प्रामाणिक अध्ययन करने की प्रथा चल पड़ी।

मोर्गन, लुई हेनरी (1818-81) : अमरीकी वैज्ञानिक, पुरातत्वविद् और मानवजातिविज्ञानी। मोर्गन ने अमरीकी रेड इंडियनों की जीवन-पद्धति का अध्ययन तथा आदिम समाज के इतिहास से संबंधित विशाल सामग्री का संकलन किया। उन्होंने इन तथ्यों के आधार पर अपने ग्रंथ 'प्राचीन समाज' (1877) में कुछ सामान्यताएं ढूंढ़ीं। उनके प्रयासों की मूल दिशा यही रही है कि आदिम समाज के इतिहास का आवधिकीकरण हो सके। इसके अतिरिक्त उन्होंने विकास की ऐतिहासिक अवस्थाओं को उत्पादन तकनीक के विकास से जोड़ने का प्रयत्न भी किया है। हालांकि मोर्गन के आवधिकीकरण का प्रयोग अब नहीं होता है, फिर भी इसके ऐतिहासिक महत्त्व को नहीं नकारा जा सकता। मोर्गन ने ही सबसे पहले इस तथ्य की स्थापना की थी कि परिवार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसमें समाज के विकास के साथ-साथ परिवर्तन आता जाता है। वैज्ञानिकसमाजवाद के जन्मदाता फ्रैडरिक एंगेल्स मोर्गन की गवेषणाओं से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने अपने ग्रंथ 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' का आधार मोर्गन की गवेषणाओं को ही बनाया है।

यमज : मानव जीवविज्ञान के विकास में यमज अनुसंधान (दे० चित्र) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्पाथ (1860). और गाल्टन (1875) पहले वैज्ञानिक थे, जिन्होंने प्रकृति और परिपोषण समस्या के मूल्यांकन में यमज अनुसंधान की महत्ता को स्वीकार किया। तभी से जीन-विज्ञान, मानव-जीनविज्ञान, शारीरिक-मानवविज्ञान, आयुर्विज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्रों में अनेक अनुसंधान-कर्ता, मानव की भौतिक और मानसिक विशेषताओं पर आनुवंशिकता तथा परिस्थिति के संबद्ध प्रभावों के मूल्यांकन करने में संलग्न हैं।



यमज एवं झिल्लियां

रोग की प्रवृत्ति में वंशागति का भाग=निर्धारण करने में यमज उपयोग किये जाते हैं।

यमज-अनुसंधान मुख्यतः आनुवंशिक अथवा आनुवंशिकताहीन घटकों द्वारा सामान्य अथवा विशेषतः व्याधिकीय विशेषताओं के नियंत्रण के निर्धारण के लिए उत्तरदायी है।

यमज के प्रकार : यमज मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं:

(अ) एकयुग्मज यमज (MZ) अथवा एक-अंडी अथवा एक रूप यमज।

(ब) द्वियुग्मज यमज (DZ) अथवा द्विअंडी अथवा भ्रात्रीय यमज।

एकयुग्मज यमज, एक निषेचित अंडाणु के दो स्वतंत्र भ्रूणीय संरचनाओं में विभाजन का परिणाम है। दोनों संरचनाएं, जीनविज्ञान के रूप में एक समान होती हैं। सूत्रीविभाजन द्वारा वे उन्हीं गुणसूत्रों के वंशजों को धारण करते हैं, जो केवल एक युग्मज में होता है। समरूप यमज सदैव एक ही लिंग के होते हैं, दोनों पुरुष होंगे या स्त्री।

द्वियुग्मज यमज दो पृथक् अंडों से जन्म लेते हैं, जो किसी भी स्त्री के एक अथवा दोनों अंडाशयों से लगभग एक-दूसरे के बाद परिपक्व और प्रदर्शित होते हैं। उनका एक ही समय में दो विभिन्न शुक्राणुओं द्वारा निषेचन होता है। जीन विशेषताओं के अन्य भाई अथवा बहिनों में युगलों से अधिक समान नहीं होते। विभिन्नता केवल यह है कि वे एक ही समय में जन्म लेते हैं। द्वियुग्मज यमज एक ही अथवा विरोधी लिंग के हो सकते हैं। समस्त यमज जो लिंग में एक समान नहीं होते, द्वियुग्मज होते हैं, किंतु वे यमज जो समान लिंग के होते हैं, समानुरूप अथवा भ्रात्रीय प्रकार के हो सकते हैं।

जन्म के पश्चात् गर्भ झिल्ली : विकासीय युग्मज स्वयं को दो झिल्लियों में विभाजित कर लेता है—अंदर की 'उल्व' चित्र) और बाहर की 'जरायु'। तब एक शिशु का उल्व के भीतर विकास होता है, जो जरायु से घिरा होता है तथा गर्भाशय से अपरा द्वारा जुड़ा होता है, अत: इन्हें जन्म के पश्चात् की वस्तुएं कहते हैं।

द्वियुग्मज यमज के मामले में प्रत्येक यमज पूर्ण रूप से पृथक् झिल्ली रखता है। DZ यमज इसी कारण से द्विजरायु-वाले होते हैं। यद्यपि जब गर्भाशय में दोनों भ्रूण पास-पास होते हैं, दोनों आपस में जुड़ सकते हैं। MZ यमज में पूर्वयमज भ्रूण के विभाजन का समय अंतिम रूप से अपरान्यास का और प्रत्येक यमज के साथ जुड़ी भ्रूण-कोश की संख्या का निर्धारण करता है। अत: यह देखा गया है कि एकयुग्मज यमज या तो एक अथवा द्विजरायु के हो सकते हैं; क्योंकि समानुरूप यमज (एकयुग्मज यमज) में समान आनुवंशिक विभव होते हैं, अतएव यह जैविक अनुसंधान कार्यों के लिए अति महत्त्वपूर्ण हैं। एक ही जीन लक्षण पर विभिन्न वातावरण के प्रभाव को मापने के लिए इनका प्रयोग किया जा सकता है।

दूसरी ओर द्वियुग्मज यमज जीनविज्ञान की दृष्टि में विभिन्न होते हैं और इस प्रकार एक ही वातावरण के अंतर्गत विभिन्न जीन-लक्षणों की अभिव्यक्ति के आकलन में सहायक होते हैं।

माता की आयु और युग्मज की बारंबारता : एक अंड तथा द्विअंड प्रकार के यमज जन्म की बारंबारता और माता की आयु के मध्य एक मनोरंजक संबंध का अस्तित्व होता है। 15-19 वर्ष और 35-39 वर्ष में माता की यमज के धारण की क्षमता में वृद्धि होती है, तथा एक-युग्मज यमज के लिए कम, किंतु द्वियुग्मज यमज के लिए अधिक तीव्र होती है। 40 वर्ष की आयु के पश्चात् एक-युग्मज यमज की बारंबारता में लगभग वृद्धि होती ही जाती है, किंतु द्वियुग्मज यमज में शीघ्र ही कम हो जाती है (एंडर्स और स्टर्न 1948)।

अनेक प्रकार के द्विगुणित जन्मों की बारंबारता : बहु-जन्म के अनेक सामान्य प्रकार वे हैं, जो दो शिशुओं के प्रतिवेदन से संबंधित हैं। किंतु एक मानव-गर्भावस्था भी तीन, चार और इससे अधिक शिशुओं को जन्म दे सकती है। विभिन्न गुणित जन्मों के मध्य एक विशिष्ट गणितीय संबंध है। हैलिन ने 1895 में देखा कि (हैलिन्स नियम) त्रिपद, चतुषद इत्यादि की बारंबारताएं लगभग निम्नलिखित सूत्र द्वारा दर्शायी जा सकती हैं:

$(ft)^2$ $(ft)^3$ इत्यादि, जहां ft जनसंख्या में यमज-जन्म की बारंबारता है।

हैलिन्स नियम द्वारा प्रतिवेदित संख्याएं एक अवलोकित बारंबारताओं में अत्यधिक समानता से पायी गयी हैं।

युग्मन प्रवृत्ति की वंशागति : अनेक लेखकों द्वारा प्राप्त परिणाम सदैव एक से नहीं होते, किंतु प्रमाण इस निष्कर्ष को प्रकट करते हैं कि एक युग्मज की उन वंशावलियों में दुबारा उपस्थिति की प्रवृत्ति में वृद्धि नहीं होती, जिनमें एक युग्मज यमज अथवा द्वियुग्मज यमज जन्म हो। किंतु, द्वियुग्मज यमज की प्रवृत्ति (ग्रेनलिच) की निश्चयपूर्वक वृद्धि होती है।

यमज निदान : अनेक वैज्ञानिकों जैसे सीमेन्स (1927), वान वर्सत्योर (1939, 1959), न्यूमैन (1930-31-40), कोमाई (1937), लुंड (1933), मैकआर्थर (1938), क्यूमिन्स (1934-36-43) तथा पेनरोज (1955), विचमैन (1952), सल्टन (1962) और शील्ड्स (1962) ने यमज निदान की विधियों का संस्थापन किया है और इस क्षेत्र में मूल्यवान योगदान दिया है।

यमज निदान की सर्वाधिक मान्यता प्राप्त क्रिया आधुनिक रूप से 'समानुरूपता विधि' है, जिसका विशेष रूप से सीमेन्स और वान वर्सत्योर ने वर्णन किया है। समानुरूपता विधि में निदान का सिद्धांत है, विभिन्न विशेषकों के प्रकार पर अवलोकनों का इकट्ठा करना। ये

विशेषक (क) मुख्य रूप से आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित स्थायी और एक-दूसरे से स्वतंत्र होने चाहिए (ख) ये लक्षण जनसंख्या, जो अनेक लोसाई पर आधारित होती है, अत्यंत विषमजातीय होनी चाहिए। लोसाई का संपूर्ण वेधन होना चाहिए और समस्त परिचित परिस्थितीय अवस्थाओं के अंतर्गत लाभांश अभिव्यंजकता होनी चाहिए।

यमज निदान के परीक्षण निम्नलिखित हैं:

(क) रक्तविशेषक परीक्षण : अनेक रुधिर वर्ग कारक जैसे 'ए$_1$ ए'$_2$, 'बी', 'ओ', 'एम एन', 'आर एच', 'एस एस' उप-प्रकार इत्यादि और सीरम प्रोटीन समूह का यमज व्यक्तियों के मध्य परीक्षण किया जाता है। एक या एक से अधिक रुधिर वर्ग इत्यादि कारक (घटक) के लिए विसंगति को द्वियुग्मज का पर्याप्त प्रमाण मान लिया जाता है। किंतु विभिन्न रुधिर-वर्गसमूहों में संपर्क इस बात को प्रमाणित नहीं करता है कि युगल एक युग्मज है। इस सत्यता को जानने के लिए इसकी तुलना अन्य दूसरे जीन-विज्ञानी विशेषकों की सहायता से की जाती है।

(ख) लार में ए० बी० एच० का स्रवण : स्रवण कर्ता (Se) और अस्रवण कर्ता पद (Se)।

(ग) पी० टी० सी० परीक्षण : फीनिल थायो कारबामाइड के स्वाद चखने की योग्यता 0-13 प्रतिशत घोल श्रेणीबद्ध तनुता पद्धति (हिरिस और कैलमस 1929)।

(घ) डरमेटोग्लिफिक्स (चर्मरेखाशास्त्र) परीक्षण : (कमिन्स और मिडलो 1943) अंगुलि-पोरों, मध्य और आधार अंगुलिपर्वीय विन्यास, करतल और पादांगुलि प्रतिमान की यमज व्यक्तियों में समपार्श्विक तथा विषम पार्श्विक तुलनाओं का परीक्षण किया गया है। यह पाया गया है कि एकयुग्मज यमज युगलों में, प्रत्येक डरमेटोग्लिफिक्स के प्रत्येक लक्षण में समपार्श्विक की अपेक्षा द्विपार्श्विक विभिन्नताएं अधिक हैं। किंतु द्वियुग्मज युगलों में ठीक इसके विपरीत परिस्थिति (मैकआर्थर 1938) पूर्ण अंगुलि कटक गणना (गेड्डा 1968) पायी गयी है।

(ङ) यमज व्यक्तियों में अनेक कामामिति और सोमेटोस्कोपिक विशेषताएं : अनेक विभिन्न विशेषकों में एकात्म्य अथवा निकट समानुरूपता, एकयुग्मजीय उत्पत्ति के पक्ष में उच्च प्रायिकता दिखाती है (न्यूमैन, फ्रीमैन और हालजिंगर)।

(च) यमज के ऊतक ग्राफ्ट्स : स्थायी और सफल कलम (ग्राफट्स) पायी जा सकती है, यदि दाता और प्रापक एकयुग्मज यमज हों।

यमज विधि की परिसीमाएं : यमज अनुसंधान हमें केवल यह बताता है कि कोई विशेषक वंशागत है या नहीं अथवा किसी विशिष्ट विशेषक की अभिव्यक्ति पर वातावरण का आनुवंशिकता-प्रभाव है या नहीं। किंतु यह विधि निम्नलिखित बातों का निर्देशन नहीं करती है:

(क) वंशागति की प्रणाली
(ख) कोई विशेष प्रभावी है या अप्रभावी
(ग) अलिंगसूत्री अथवा लिंग-सहलग्न
(घ) बहुजीनी अथवा एकजीनी।

युद्ध और झगड़े : आदिकाल में नातेदारी पर आधारित छोटे-छोटे कबीले होते थे, जिनमें भोजन, भूमि तथा स्त्रियों के लिए झगड़े हुआ करते थे। अपने कबीले की सुरक्षा तथा दूसरों पर आक्रमण करने की आकांक्षा ने कबीलों में संगठन की भावना को जन्म दिया। आज की जनजातियों में भी समूह नातेदारी पर आधारित होता है तथा जनजाति के सदस्य पारस्परिक सहायता एवं सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर संगठित होते हैं।

युद्ध के अवसर पर जो दल या व्यक्ति नेतृत्व करते हैं, वे साधारणतः लड़ाकू और युद्ध की कला के माहिर होते हैं। जिन समाजों में युद्ध सामाजिक संस्थाओं के अंग माने जाते हैं, उनमें बलवान एवं शक्तिशाली व्यक्ति ही समाज का नेतृत्व करते हैं। असम की कई लड़ाकू नागा जनजातियों में सैनिक नेता ही शांति के समय भी समाज के शासन का भार उठाते हैं।

युवागृह : भारत की जनजातियों में युवागृह की प्रथा पायी जाती है। प्रायः प्रत्येक गांव में अविवाहित युवा-समाज के लिए एक घर होता है। वहां वे एकत्र होकर मनोरंजन इत्यादि करते हैं। 'मुंडा' तथा 'हो' जनजाति में इसे 'गितिओड़ो' कहते हैं। उरांव इसे 'जोखेरषा' या 'धुमकुड़िया' कहते हैं। भुइयां इसको 'धांगरवासा' कहते हैं तथा गोंड 'घोटुल' कहते हैं। आवो 'लोठा', तथा सेमा नागा इसको 'मोरंग' कहते हैं तथा अंगामी नागा इसको 'किचुकी' के नाम से पुकारते हैं। तांगखुल नागा पुरुषों के युवा-गृह को 'मेयर लांग' तथा लड़कियों के युवा-गृह को 'नगला लांग' कहते हैं।

मालेर पहाड़िया इसे, 'कोट्टा' या 'कोडबासा' कहते हैं तथा उत्तरप्रदेश के भोटिया इसे 'रंग बंग' कहते हैं। कई जनजातियों में यह दूसरे रूप में भी देखने को मिलता है। जैसे संथाल में यह 'जोगमांझी' के घर के रूप में होता है, तथा जोगमांझी युवकों का नेता होता है। दक्षिणभारत की जनजातियों में भी, जैसे मुथावन, मंन्नन, पलियान, कनिकार इत्यादि में युवा-गृह की प्रथा पायी जाती है।

युवागृह में 4 से 5 वर्ष की उम्र से प्रवेश मिलता है। प्रवेश मिल जाने पर, नियमित रूप से उपस्थिति होना अनिवार्य हो जाता है। बिना समुचित कारण के अनुपस्थित होने पर दंड भी दिया जाता है। युवागृह की सदस्यता विवाह होने के पहले तक ही कायम रहती है। विवाह के बाद युवागृह की सदस्यता छिन जाती है।

युवागृह दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो सिर्फ लड़कों के लिए या सिर्फ लड़कियों के लिए होता है। दूसरा, वह जो लड़के तथा लड़कियों—दोनों के लिए होता है और जिसमें लड़के-लड़कियां दोनों आते हैं। नागा, उराव तथा बहुत-सी अन्य जनजातियों में लड़के तथा लड़कियों के लिए अलग-अलग युवागृह होते हैं। मध्यप्रदेश के गोंड तथा बिहार की मालेर जनजातियों में लड़के तथा लड़कियों के लिए एक ही युवागृह होता है, जिसमें लड़के और लड़कियां एक ही घर में साथ-साथ सोते हैं।

साधारणतः यह पाया गया है कि युवागृह गांव के बीच में होता है तथा नाच के मैदान के नजदीक ही होता है। युवागृह के सदस्य आयु के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बंटे होते हैं तथा सुविधा के लिए उन्हें वरिष्ठ (सीनियर) तथा कनिष्ठ (जूनियर) कहा जाता है। जो आयु में बड़े होते हैं, वे छोटों को नाच, गाना इत्यादि की शिक्षा देते हैं। कनिष्ठ सदस्यों का काम लकड़ियां इकट्ठा करना, जो युवागृह में जलाने के काम आती हैं, तथा बड़े सदस्यों की सेवा करना होता है। बड़े सदस्यों में से कुछ निर्वाचित सदस्य ही इस संस्था की देखभाल करते हैं तथा अनुशासन कायम रखते हैं।

युवागृह के सदस्यों का काम शादी इत्यादि के मौकों पर गांववालों की मदद करना, घर बनाने, खेती करने इत्यादि में मदद करना है।

युवागृह की उत्पत्ति : युवागृह की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मानवविज्ञानियों का अलग-अलग मत है।

ए० सी० होडसन का मत है कि मनुष्य जब आखेट-युग में था, तब वह समूह में इधर-उधर भोजन की खोज मे घूमा करता था तथा अपने रहने के लिए एक बड़ा झोपड़ा बनाया करता था, जिसमें पूरा समूह रह सके। युवागृह उसी सामुदायिक झोपड़े का बचा हुआ स्वरूप है।

ज० शेक्सपीयर के अनुसार इन संस्थाओं का उस समुदाय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जहां एक कमरे के मकान हुआ करते है। उस गांव में युवा-गृह सिर्फ अविवाहित युवक एवं युवतियों के सोने के घर के रूप में ही काम में नहीं आता है, बल्कि घर पर माता-पिता को यौन-क्रियाओं की छूट भी देता है; क्योंकि बच्चे युवागृह में सोते हैं। अगर गांव में युवागृह नहीं रहता, तो मां-बाप को बच्चों को अलग कमरा देना पड़ता, जो आर्थिक तथा अन्य कारणों से संभव नहीं।

डी० एन० मजूमदार का विचार है कि इन संस्थाओं की उत्पत्ति तब हुई, जब मनुष्य आखेटक युग में था तथा खानाबदोशों की तरह रहता था। युवा-गृह बनाने का मुख्य उद्देश्य एक समूह को, जिसमें औरतें तथा बच्चे भी शामिल रहते थे, दूसरे समूह तथा जंगली जानवरों से बचाना था। युवा-गृह की गतिविधियों के कारण समूह के युवा रात में काफी देर तक जागते रहते थे, जिससे गांव की रखवाली भी होती रहती थी।

इसी तरह कुछ समुदायों में यह प्रथा पायी जाती है कि जब पत्नी मासिक धर्म में होती या गर्भवती होती, तब घर में पुरुष नहीं सोते हैं तथा उनके लिए एक आम सार्वजनिक घर बना होता है। इसी से युवागृह बने।

जी० ए० ग्रियसन ने मध्यप्रदेश की हिलमारिया जनजाति का अध्ययन करते समय यह पाया कि घर के अंदर यौन-क्रियाएं वर्जित हैं तथा इस कार्य के लिए एक खास घर को उपयोग में लाया जाता है, जो सबके लिए होता है। इसीसे युवागृह की उत्पत्ति हुई। इस समुदाय में युवागृह लड़के तथा लड़कियों के लिए एक ही होता है।

यूरोप की प्रजातियां : यूरोपीय प्रजातियों में यूरोपाइड वर्ग की प्रजातियां मुख्य हैं। यूरोपाइड प्रजाति की विशिष्टताएं इस प्रकार हैं:

वर्ण	श्वेत, गुलाबी, हल्का भूरा और तांबई।

बाल और उनका वर्ण	मुलायम और लहरदार बालों का वर्ण हल्के बादामी रंग से लेकर लाल तथा श्याम तक पाया जाता है। दाढ़ी-मूंछ प्राय: घने होते हैं।
मस्तक	सपाट या थोड़ा-सा आगे की ओर झुका हुआ।
चेहरा	जबड़े और गालों की हड्डियां प्राय: दबी हुई, लेकिन चेहरे पर दृढ़ निश्चयशक्ति स्पष्ट झलकती है।
आंखें	लंबी खिंची हुई आंखें; चक्षु-कपाट पूरी तरह विकसित नहीं प्रतीत होते। पुतलियों का रंग प्राय: भूरा, लेकिन गहरे नीले रंग की पुतलियां भी पायी जाती हैं।
नाक	पतली तथा उठी हुई या लंबी दोनों तरह की। चपटी नाक इस वर्ग में लगभग नहीं पायी जाती।
ओंठ	खिंचे हुए पतले ओंठ। मोटे ओंठों का इस वर्ग में अभाव ही है।
ठुड्डी	मध्यम कोटि की या सशक्त रूप से विकसित।
सिर का आकार	गोल, लंबे या छोटे—तीनों आकार के सिर इस वर्ग में सामान्य हैं।

यूरोपाइड प्रजाति मुख्यतया दो उप-प्रजातियों में विभक्त है: दक्षिणी यूरोपाइड और उत्तरी यूरोपाइड या अटलांटो-बाल्टिक। प्रथम वर्ग के लोगों के शरीर, बालों व आंखों का वर्ण प्राय: गहरा होता है, तथा दूसरे वर्ग के लोगों का हल्का। प्रथम वर्ग की शाखाओं-प्रशाखाओं में ताजिक, आर्मेनियन, यूनानी, इटालियन, स्पेनी, भारतीय और अरब आते हैं और दूसरे वर्ग में रूसी, बायलोरूसी पोलिश, नार्वेवासी, जर्मन, अंग्रेज, फ्रैंच और अन्य यूरोपीय प्रजातियां। उत्तरी यूरोपाइड दक्षिणी यूरोपाइडों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक लंबे होते हैं।

भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणों से यूरोप की यूरोपाइड प्रजाति का मंगोलाइड प्रजाति के साथ पर्याप्त मात्रा में सम्मिश्रण हुआ है। 17वीं-18वीं शताब्दी के नीग्रो दासों के कारण यूरोप में कहीं-कहीं नीग्रो प्रजाति के अंश भी लक्षित होते हैं। लेकिन मुख्य रूप से वहां यूरोपाइड वर्ग का ही प्रभुत्व है। यूरोप की जातियों को निम्नलिखित शाखाओं-प्रशाखाओं में बांटा जा सकता है।

(1) लैप, (2) नार्डिक, (3) फिन, (4) एस्टोनियन, (5) लैट, (6) लिऊयानियन, (7) नार्डिक-अल्पाइन, (8) ऐंग्लो-सैक्सन (9) डेन, (10) एंडालुज़ियन, (11) भूमध्यसागरीय, (12) मूट, (13) अल्पाइन, (14) स्लाव, (15) तुर्क, (16) अल्बानियन, (17) व्लाश, (18) जर्मन (गॉथिक), (19) डेशियन, (20) दिनारिक, (21) मग्यास, (22) यूग्रियन आदि।

भौगोलिक क्षेत्रों के अनुसार इन उप-प्रजातियों का वितरण इस प्रकार है :

स्कैंडेनेविया : इस क्षेत्र के प्रमुख निवासी लैप हैं। शारीरिक संरचना, मुख संरचना और रक्त-वर्ण की दृष्टि से लैप जाति का अपना विशिष्ट स्थान है।

लौह युग और वाइकिंग युग से पहले ही नार्वे पूरी तरह आबाद हो चुका था। नार्वेवासी लंबे और हल्के भूरे वर्ण के होते हैं। पिछली दो शताब्दियों के दौरान स्वीडन की जनसंख्या में तीन गुणा वृद्धि हुई है। यहां के निवासी प्रमुख रूप से नार्डिक हैं, लेकिन उत्तरी भाग में लैप तथा दक्षिणी भाग में फिन उप-प्रजाति के साथ ये पर्याप्त रूप से सम्मिश्रित हुए हैं। डेनमार्क प्रागैतिहासिक काल से ही विभिन्न संस्कृतियों को आकर्षित करता रहा है। इसके दक्षिणी और पश्चिमी भागों से जर्मन उप-प्रजाति के अनेक दल आते रहे हैं।

पूर्वी बाल्टिक : इस क्षेत्र में दो भाषा-भाषी समूह प्रमुख हैं : फिन-यूग्रियन भाषा-भाषी फिन और एस्टोनियन, तथा बाल्टिक भाषा-भाषी लैट और लिथुयानियन। पूर्वी बाल्टिक क्षेत्र के प्रमुख प्रतिनिधि शायद फिन हैं। बाल्टिक भाषा-भाषी लोग भाषावैज्ञानिक दृष्टि से स्लावों के निकटवर्ती हैं और दोनों का मूलस्थान शायद दक्षिण-पूर्व रूस है। पहले लैट और फिर लिथुआनियन उत्तर की ओर आकर बसे होंगे। कालांतर में जर्मन और



ब्राजील के जंगलों में रहने वाली अमरीकन इंडियन युवती



बहिया राज्य की नीग्रो स्त्रियां



अमरीकन इंडियन जाति और गोरी जाति की संकर संतान



यूरोपीय मूल की स्त्री

तातार भी यहीं आकर बस गये होंगे, जिसके फलस्वरूप बाल्टिक भाषा-भाषी लोग फिन उप-प्रजाति की अपेक्षा अधिक गहरे वर्णवाले हैं।

ब्रिटिश द्वीपसमूह : प्रागैतिहासिक काल से ही इस द्वीपसमूह पर यूरोप महाद्वीप से लोगों का आना-जाना लगा रहा है, लेकिन मानवविज्ञानियों की धारणा है कि इससे द्वीपसमूह के निवासियों की मौलिक शारीरिक संरचना में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा। रोमनों के आक्रमण भी यहां कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सके। लेकिन कालांतर में नार्डिक और नार्डिक-आल्पाइन उप-प्रजाति के आगमन ने यहां के मूल निवासियों पर पर्याप्त प्रभाव डाला। लगभग यही प्रभाव लंबे-चौड़े, सशक्त और लंबूतरे चेहरेवाले ऐंग्लो-सैक्सनों का भी पड़ा। डेन जाति भी इंग्लैंड के तटीय भागों में आयी और इन क्षेत्रों में उसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। विद्वानों में यह अभी तक विवाद का विषय है कि नार्मन-विजय का इंग्लैंड पर कोई प्रभाव पड़ा या नहीं, लेकिन कहीं-कहीं यह प्रभाव निर्विवाद रूप से स्पष्ट है। जनसंख्या-परिवर्तन से आयरलैंड, स्काटलैंड और वेल्ज का कभी कोई विशेष संबंध नहीं रहा है तथा इसी कारण उनमें कोई विशेष अंतर आया भी नहीं है।

इबेरियन प्रायद्वीप : यह संभवतः यूरोपीय भूमध्य-सागर का सबसे विशिष्ट क्षेत्र है। दक्षिणी भाग के स्पेनी (एडालूज़ियन्स) और पुर्तगाली इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इस वर्ग पर मूरों का प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट है।

भूमध्यसागरीय द्वीपसमूह : पश्चिमी द्वीपों के निवासियों को दक्षिणी यूरोपाइड वर्ग के अंतर्गत रखा जा सकता है। बेलरिक द्वीपवासी औसत स्पेनी से कद में ऊंचे तथा समान सिरवाले होते हैं। इन्हें मूल भूमध्यसागरीय उप-प्रजाति का माना जा सकता है, लेकिन यूरोप में निरंतर होते रहे जनसंख्या-परिवर्तनों से इनमें भी थोड़ा-बहुत अंतर पड़ा।

इटली : अधिकांश शारीरिक लक्षणों के अनुसार दक्षिणवासी इटालियनों तथा सिसलीवासियों को भूमध्य-सागरीय वर्ग में रखा जा सकता है। लेकिन मध्य और उत्तरी इटली के निवासी दक्षिणवासी इटालियनों की तुलना में लंबे, और अधिक श्वेत वर्ण के तथा चौड़े सिरवाले हैं तथा इन्हें अल्पाइन वर्ग में रखा जा सकता है।

यूनान : आधुनिक यूनानी सम्मिश्रित वर्ग के हैं। इस प्रायद्वीप में स्लावों, तुर्कों, अल्बानियनों और व्लाशों के निरंतर आगमन के कारण पर्याप्त मात्रा में सम्मिश्रण हुआ है। इसलिए हम यूनान की जनसंख्या को मोटे रूप से दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : भूमध्यसागरीय वर्ग और अल्पाइन वर्ग। इन दोनों की सीमारेखा अत्यंत क्षीण है, अतः इसे सुविधानुकूल वर्गीकरण ही कहा जा जा सकता है।

फ्रांस : यूरोप के मध्य भाग में स्थित अन्य देशों की तरह यह भी प्रजाति-वर्गीकरण की दृष्टि से एक क्षेत्र है। प्रागैतिहासिक काल में फ्रांस एक पिछड़ा हुआ देश था, इस कारण नार्डिक और भूमध्यसागरीय वर्ग की गतिविधियों का शायद इस पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यहां प्रमुख रूप से अल्पाइन वर्ग की विशिष्टताएं पायी जाती हैं, लेकिन इंगलिश चैनल के निकटवर्ती क्षेत्रों में में कहीं-कहीं सुनहरा वर्ण दृष्टिगोचर होता है।

बेल्जियम : यह क्षेत्र उत्तरी जर्मनों तथा रोमनों की संस्कृति के संगमस्थल के रूप में महत्त्वपूर्ण है। उत्तरी भागों में बसे सुनहरी वर्ण की फ्लेमिंग उप-प्रजाति संभवतः नार्डिक की ही उप-शाखा है। दक्षिणी भाग के बालून अल्पाइन और नार्डिक वर्गों के सम्मिश्रित रूप हैं। लुकेज़म-बर्ग-वासी अल्पाइन वर्ग के अधिक निकट हैं।

नीदरलैंड्स : विभाजन की सुविधा के लिए यहां दो भाषा-भाषी वर्ग बनाये गये हैं : डच और फ्रीज़ियन। यहां के अधिकांश निवासी डच हैं और इन्हें पूर्णतः नार्डिक वर्ग में रखा जा सकता है। लेकिन दक्षिणी भागों के निवासी इतने साफ वर्ण के नहीं हैं, जितने उत्तरी भागों के।

स्विटज़रलैंड : इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थिति इस प्रकार की रही है कि सभी ओर से इस पर बाह्य प्रभाव पड़ता रहा है। फिर भी, इसके दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी भाग में बसे निवासियों को अल्पाइन वर्ग में रखा जा सकता है। उत्तरी भाग के निवासियों में अनेक वर्गों का सम्मिश्रण है।

जर्मनी : जनसंख्या के निरंतर चलायमान रहने के कारण जर्मनी में क्षेत्रीय विभिन्नताएं अपेक्षित ही हैं। उत्तरी भाग के निवासियों का वर्ण अपेक्षाकृत अधिक उजला है और दक्षिणवासियों का गहरा। जर्मनी का शायद ही कोई ऐसा भाग होगा, जो अल्पाइन तथा स्लाव

वर्ग से प्रभावित न हो। फिर भी, यहां के लोगों में नार्डिक वर्ग की विशिष्टताएं ही अधिक पायी जाती हैं।

रूमानिया : कुछ विद्वानों का कथन है कि रूमानियन रोमनीकृत डेशियन हैं। लेकिन अधिकांश विद्वान इन्हें दिनारिक मूल का मानते हैं।

अल्बानिया : अल्बानियन वर्ग को दो समूहों में बांटा जा सकता है : दक्षिणवासी टोस्क और उत्तरवासी गैग। प्रथम समूह को अल्बानियन वर्ग में और द्वितीय समूह को दिनारिक वर्ग में रखा जा सकता है।

आस्ट्रिया : इस क्षेत्र में अनेक उप-प्रजातियां पायी जाती हैं। यहां के निवासी मंझले कद के, भूरे बालोंवाले तथा नीली या सलेटी आंखोंवाले होते हैं। इनका सिर प्रायः छोटे आकार का होता है। शारीरिक विशिष्टताओं के अनुसार इनका वर्गीकरण अल्पाइन वर्ग में किया जाता है, लेकिन नार्डिक प्रभाव भी इन पर स्पष्टतः दिखायी देता है।

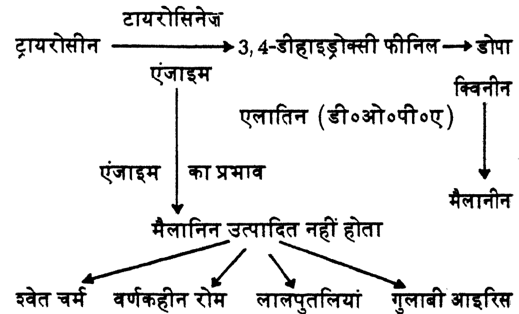
हंगरी : मूल यूग्रियन्स पश्चिमी एशिया से 9वीं शताब्दी में आकर यहां बस गये थे। कालांतर में मग्यार और तुर्की जनजातियां भी यहां आकर घुलमिल गयीं। इस सम्मिश्रित वर्ग ने स्लावों, हूणों और अवारों को अपने अधिकार में कर लिया। हंगरी की वर्तमान जनसंख्या अल्पाइन, दिनारिक और नार्डिक अंशों का सम्मिश्रण मानी जाती है।

स्लाव तथा अन्य जातियां : यह विभाजन मुख्यतया भाषा के आधार पर किया गया है। इसमें पोलैंड और पश्चिमी रूस के क्षेत्र आते हैं, लेकिन पोलैंडवासियों में स्लाव के अतिरिक्त नार्डिक अंश भी बहुत स्पष्ट दिखायी देता है। स्लावों की अधिकतर जनसंख्या रूसी क्षेत्र में है। इसके अतिरिक्त यूगोस्लाविया और बल्गारिया के निवासियों में भी स्लाव तत्वों का भान होता है। लेकिन मानवविज्ञानी अधिकतर यूगोस्लाविया के निवासियों को दिनारिक वर्ग में रखते हैं। यूरोप की सबसे लंबे कद की जनजाति मोंटेनेगेरिन है। यह मैगजनजाति के अधिक निकट है, लेकिन स्लाव भाषा-भाषी होने के कारण मानवविज्ञानी इन्हें स्लावीकृत अल्बानियन मानते हैं।

रंजकहीनता : पूर्ण रंजकहीनता एक आनुवंशिक अवस्था है, जो चर्म, नेत्रों और रोमों में वर्णक की पूर्ण अनुपस्थिति द्वारा दर्शायी जाती है। रंजकहीनता का एक दुर्लभ, अप्रभावी जीन पर आश्रित एक विशेषक के वंशागत अच्छा उदाहरण है। बड़ी संख्या में वंशावलियों के अध्ययन की सहायता से पियरसन ने इस रोग का अनुसंधान किया। रंजकहीन मनुष्य उन पदार्थों में अंतर कर सकने में असमर्थ होते हैं, जिनसे मैलानिन वर्ण का निर्माण होता है। फलस्वरूप रंजकहीन मनुष्य श्वेत चर्म और श्वेत रोमोंवाले होते हैं तथा उनके नेत्र लाल होते हैं; क्योंकि नेत्रों में रुधिर-वाहिकाओं में से परावर्तित प्रकाश पारित होता है। मुख्यतः रंजकहीन मनुष्य मानसिक और शारीरिक रूप से दुर्बल होते हैं।

आनुवंशिकता : यह अवस्था एक सरल अप्रभावी रूप में प्रेषित होती है। यह इस सत्य के द्वारा दर्शाया गया है कि 20-30 प्रतिशत रंजकहीनता प्रकरण संभ्राता-संभगिनी विवाहों के परिणाम हैं। रंजकहीन मनुष्यों के परस्पर विवाह द्वारा रंजकहीन शिशु ही उत्पन्न होते हैं।

उपापचयी अपसामान्यता : चर्म में मैलानिन उत्पादक कोशिकाओं में मैलेनोसाइट्स के भीतर टायरोसिनेज एंजाइम की अनुपस्थिति के कारण ही पूर्ण रंजकहीनता उत्पन्न होती है। फिट्जपैटरिक और उसके सहकर्मी दर्शा चुके हैं कि ये मैलानिन-उत्पादक कोशिकाएं सामान्य संख्या में इन व्यक्तियों में रहती है, किंतु उनमें एंजाइम उपस्थित नहीं होता अतः मैलानिन भी उत्पादित नहीं होता है।



अतः केवल एक एंजाइम की अनुपस्थिति के परिणाम-स्वरूप पूर्ण रंजकहीनता का प्रादुर्भाव होता है। इससे उपापचय के सामान्य पथ में अवरोध होता है। अतः रंजकहीनता उपापचय की सहजात त्रुटियों के उदाहरणों में से एक है।

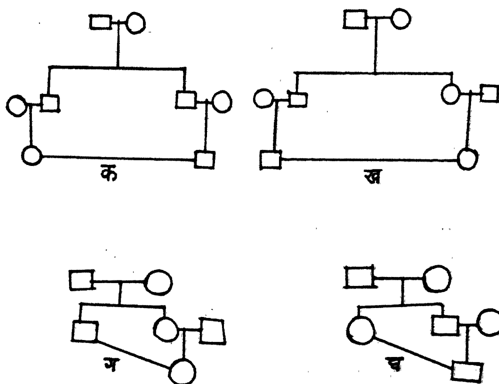
आंशिक रंजकहीनता : इस अवस्था की विशेषता है, शरीर के विशिष्ट भागों में वर्ण (मैलानिन) की जन्मजातीय अभाव। आंशिक रंजकहीनता के अनेक भेद होते हैं। उनमें से प्रत्येक संभवतः एक भिन्न उत्परिवर्तन के कारण होता है।

पीबाल्ड रंजकहीनता (चर्म पर श्वेत चिह्न) : सन् 1934 में कीलर ने सर्वप्रथम इस प्रकार का वर्णन किया। उसने इसको एक प्रभावी उत्परिवर्तन बताया।

श्वेत अग्रिम केश (व्हाइट फारलाक) : विश्वास किया जाता है कि यह अवस्था भी सरल प्रभावी रूप में प्रेषित होती है। श्वेत अग्रिम केशों का एक परिवार की वंशावली (फिच 1937) में क्रमिक रूप से पांच पीढ़ियों तक अवलोकन हुआ है। पुरुष और स्त्री दोनों ही समान रूप से प्रभावित होते हैं।

केवल नेत्र की रंजकहीनता : यह अवस्था एक लिंग-सहलग्न अप्रभावी रूप में प्रेषित होती है। माताएं वाहक और पुत्र प्रभावित होते हैं।

रक्तसंबद्ध विवाह (अंतःप्रजनन) : घनिष्ठ संबंधियों के मध्य विवहों को रक्तसंबद्ध विवाह अथवा अंतःप्रजनन कहते हैं। उन दो व्यक्तियों के मध्य विवाह को रक्तसंबद्ध विवाह कहते हैं, जिनके पूर्वज एक ही होते हैं। (चित्र क, ख, ग, घ)



मानव-जीनविज्ञान में अनुसंधानों के लिए ये रक्तसंबद्ध विवाह अत्यधिक रुचिपूर्ण उपलब्धियां कराते हैं। विषम-युग्मज वाहकों में उपस्थित अप्रभावी युग्मविकल्पी अंतः-प्रजनन द्वारा प्रकाश में आते हैं। कभी-कभी अंतःप्रजनन के कारण वे समलक्षिणी उत्पन्न होकर प्रकाश में आ जाते हैं, जिनके आने की आशा नहीं की जाती और कभी-कभी सामान्य अथवा पहले की अपेक्षा औसत रूप से अच्छे परिणाम देखने में आते हैं। इस प्रकार के विभिन्न परिणामों का कारण आंशिक रूप से प्रमुख युगलों में प्रारंभिक जीन-विभेद हैं। वे अनुकूल अथवा प्रतिकूल अप्रभावी जीन के वाहक हो सकते हैं।

चार्ल्स डारविन और उनकी पत्नी एम्मा वैड्जवुड के प्रथम संभ्राता थे। डारविन-वैड्जवुड वंश-परंपरा अत्यधिक अंतःप्रजनन का एक उदाहरण थी। विरल अप्रभावी विशेषकों को अंतःप्रजनन प्रकाश में लाया, अतः इस कारक के परिमाणों की विवेचना करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

रक्त-संबद्ध विवाहों और बच्चों में रोग के पाये जाने के संबंध दर्शाने के लिए जो अन्वेषण किये गये, उनकी सहायता से अप्रभावी वंशागति के बारे में कुछ सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

मृतजन्मों, नवजात मृत्यु की बारंबारताएं, रोग के पाये जाने की आशंकाओं में वृद्धि, संक्रामक रोगों के लिए ग्रहण-क्षमता, असामयिक मृत्यु, शारीरिक और मानसिक दोषों का सीधा संबंध रक्त-संबद्ध विवाहों की अनेक मात्राओं के साथ किया गया है। इस सत्य का पता लगाने के लिए रक्तसंबद्ध विवाह और रक्तसंबंधहीन विवाहों की तुलना करके विवेचना की जा सकती है (यू.एन. एस. सी.इ.ए.आर. सूचना 1962)।

किसी भी समूह के अंतःप्रजनन मालूम करने के लिए अंतःप्रजनन गुणांक (F) जानना आवश्यक है। वह (F) अंतःप्रजनन की सूचना देता है। $F=0$ हो, तो अंतःप्रजनन अनुपस्थित होता है और यदि $F=q$ हो, तो अंतःप्रजनन होता है।

किसी भी जनसंख्या पर अंतःप्रजनन का मुख्य प्रभाव इस प्रकार पड़ता है कि विषमयुग्मजों की संख्या में कमी हो जाती है और समयुग्मजों की संख्या में वृद्धि।

जीनी भार (मार्टन का सूत्र 1956) उत्परिवर्तन-

दर इत्यादि के आकलन में रक्तसंबद्ध विवाहों का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये विवाहों के ये अध्ययन इस समय जनसमूह के समाजशास्त्र, मानवविज्ञान, और जनांकिकी के समझने में सहायता प्रदान करते हैं।

भारत में अंत:प्रजनन चित्र : रक्तसंबद्ध विवाहों का अध्ययन भारत में थोड़ा किया गया है और वह भी अधिक व्यापक नहीं है। भारत के दक्षिण प्रदेशों की जनसंख्या (आंध्र, केरल, तमिलनाडु और महाराष्ट्र) में इस प्रकार के विवाह होते हैं। इसके साथ ही, मुसलमानों, मेमन, बोहरा, खोजा, पारसी, ईसाई और कुछ गौण समूहों में भी इस प्रकार का अंत:प्रजनन उपस्थित हैं।

समूह	रक्तसंबद्ध विवाहों की बारंबारता	लेखक
आंध्रप्रदेश	3.2 प्रतिशत	(द्रोणारामराजू 1960)
(विवाहों में 8 प्रतिशत विवाह मामा के साथ थे)		
आंध्रप्रदेश	33.3 प्रतिशत	(सांघवी 1966)
मेमन	27.1 प्रतिशत	(„ 1956-57)
बोहरा	26.0 प्रतिशत	(„ „)
खोजा	13.0 प्रतिशत	(„ „)
पारसी	18.0 प्रतिशत	(„ „)
केरल	20.0 प्रतिशत	(कुमार, पाई, स्वामी—नाथन् 1967)

बासु (1969-आई० सी० एम० आर० रिसर्च प्राजेक्ट) ने उत्तरी भारत के मुसलमानों में रक्तसंबद्ध विवाहों का अध्ययन किया। अभी तक जो आंकड़े इकट्ठा किये गये और जिनका विश्लेषण किया गया (बासु एवं रिजवी 1971), निम्नलिखित प्रकार से रक्तसंबद्ध विवाह-चित्र प्रदर्शित करते हैं :

(ख) लखनऊ के सैयद शिया कुल 1012 विवाहों का अध्ययन किया गया, जिनमें से :

रक्तसंबद्ध विवाह	42.88 प्रतिशत
प्रथम संभ्राता विवाह	25.28 प्रतिशत
द्वितीय संभ्राता विवाह	8.48 प्रतिशत
मामा-भांजी, चाचा-भतीजी विवाह	2.07 प्रतिशत
मामी-भांजा, चाची-भतीजा विवाह	0.78 प्रतिशत

समांतर संभ्राता-विवाहों की अधिक बारंबारता पायी गयी।

(ख) दिल्ली के शेख सुन्नी (जामा मस्जिद क्षेत्र) में 737 विवाहों का अध्ययन किया गया, जिनमें से :

रक्तसंबद्ध विवाह	24.42 प्रतिशत
प्रथम संभ्राता विवाह	13.96 प्रतिशत
द्वितीय संभ्राता विवाह	5.95 प्रतिशत
मामा-भांजी, चाचा-भतीजी विवाह	0.96 प्रतिशत
मामी-भांजा, चाची-भतीजा विवाह	1.22 प्रतिशत

समांतर संभ्राता विवाह (18.68 प्रतिशत) पूर्वापर संभ्राता विवाह (5.28 प्रतिशत) की अपेक्षा अधिक हैं।

(ग) दिल्ली के मुग़ल-सुन्नी (जामा मस्जिद क्षेत्र) में 253 विवाहों का अध्ययन किया गया, जिनमें से विभिन्न प्रकार के रक्तसंबद्ध विवाह और उनकी प्रतिशतता निम्नलिखित है :

रक्तसंबद्ध विवाह	22.13 प्रतिशत
प्रथम संभ्राता विवाह	15.01 प्रतिशत

(घ) दिल्ली के पठान-सुन्नी में 72 विवाहों का अध्ययन किया गया, जिसमें से रक्तसंबद्ध विवाह 23.61 प्रतिशत और प्रथम संभ्राता विवाह 13.88 प्रतिशत थे।

(ङ) दिल्ली के सैयद-शिया में 498 विवाहों का अध्ययन किया गया, जिसमें रक्तसंबद्ध विवाह 27.60 प्रतिशत और प्रथम संभ्राता विवाह 18.66 प्रतिशत थे।

राजनैतिक व्यवस्था : किसी भी समुदाय की राजनैतिक व्यवस्था उस समुदाय के रहन-सहन के तौर-तरीकों से मापी जाती है। ई० ए० होएबेल ने परंपरागत राजनीतिक व्यवस्था को मानव विकास के प्रत्येक स्तर को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करने की चेष्टा की। इसके लिए उन्होंने पांच समुदायों का अध्ययन किया।

(1) एस्किमो : एस्किमो का सांस्कृतिक स्तर बहुत

ही निम्न प्रकार का है। उनके दल साधारणतः सौ लोगों से अधिक के नहीं होते। इनके समूह का नेतृत्व एक मुखिया करता है। मुखिया शिकार करने में सबसे अधिक दक्ष होता है तथा दूसरों की पत्नियां चुराने में भी सबसे अधिक प्रवीण होता है और इसी गुण से वह एस्किमो समुदाय का मुखिया बनता है।

(2) **कीमांचे (उत्तरी अमेरिका)** : इनमें एक क्षेत्रीय प्रमुख होता है। इस प्रमुख को नागरिक तथा सैनिक— दोनों के अधिकार होते हैं। इन के समाज में संपत्ति तथा सामाजिक स्थान का निर्णय इस बात से होता है कि किसके पास कितने घोड़े हैं

(3) **इफुगाओ (उत्तरी अमेरिका)** : इनकी राजनैतिक व्यवस्था, कीमांचे लोगों से अधिक परिपक्व तथा संगठित होती है। इनकी राजनैतिक व्यवस्था 1,00,000 लोगों का नियंत्रण कर सकती है।

(4) **चिनी इंडियन** : इनकी राजनैतिक व्यवस्था इफुगाओ लोगों से अधिक संगठित एवं ज्यादा विकसित होती है। इन्होंने राज्य का संगठन किया है तथा इनके निर्वाचित प्रमुख होते हैं, जिनकी अवधि 10 साल की होती है।

(5) **अशांति (पश्चिमी अफ्रीका)** : इनकी राजनैतिक व्यवस्था, आधुनिक सभ्य राजनैतिक व्यवस्था के समान है। इनमें एक शक्तिशाली राजा होता है तथा अपराधियों को राजा की कचहरी में पेश किया जाता है।

रामापिथिकस : रामापिथिकस के अवशेष उत्तरी भारत के शिवालिक निक्षेपों में पाये गये। ये निक्षेप टैटरोट तथा चिंजी प्रदेश के उच्चतम भाग से भी प्राप्त हुए हैं। ये निक्षेप मध्य-अतिनूतन तथा निम्न-अतिनूतन युग के पिछले काल से संबंधित हैं (कोलबर्ट, 1935)। रामापिथिकस वंश का वर्णन ग्रेगरी, हैलमन और लैविस (1938) ने किया है। रामापिथिकस संभवतः मध्य-नूतन काल में ड्रायोपिथिसिनी वंशपरंपरा से अलग हुआ और अतिनूतन काल में पूर्ण रूप से भिन्न हो गया। अब यह होमोनिडी कुल से संबंधित है और अत्यंत-नूतन युग के होमोनिड (आस्ट्रेलोपिथिसिन्स और होमो) के पूर्वज का प्रकार माना जाता है। रामापिथिकस के दांतों का छोटा आकार और मोलर का सरल निर्माण पोंगिड वंशों की अपेक्षा होमोनिडी से अधिक निकटता दर्शाता है। नूतन जीवाश्म-अवशेष सूचित करते हैं कि वह (दांत) लगभग आधुनिक गिबन के दंताकार का था, जो आस्ट्रेलोपिथिसिन्स और ड्रायोपिथिसिनी के अधिकतर सदस्यों से छोटा है। अधोहनु कम गहरा होता है तथा आनन ड्रायोपिथिसिनी से छोटा होता है। मोलर की अपेक्षा, रदनक और कृंतक छोटे होते हैं, जैसा ड्रायोपिथिकस में पाया जाता है। मालेर दंताग्र प्रतिरूप ड्रायोपिथिकस के दांतों से विशेष रूप से भिन्न है।

रामापिथिकस का तालु चापित होता है। दंतक्रम धनुषाकार होता है और एक छोटा प्रोथ होता है।

रामापिथिकस में अग्रचर्वणक और मोलर का लगभग चपटा घिसाव, रदनक का छोटा आकार (उनकी गतिकाओं द्वारा अनुमान किया गया) और निम्न दंतविन्यास में मध्य स्थिति, जंभिका (मैक्सिला) में दंतक्रमों का परिमित मात्रा में अग्रसमवाय, निश्चित दंतावकाश की अनुपस्थिति और अपेक्षाकृत उद्हनुता की कम मात्रा—यह सब कदाचित होमोनिड प्रकार के दंतविन्यास की ओर की अंतर्वर्ती प्रावस्था का सुझाव देते हैं।

रामापिथिकस संभवतः सीधा और द्विपद था। अग्र दांतों के (रदनक और कृंतक) आकार में न्यूनता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अग्रपादों से वह काम लिया जाता था, जो पोंगिडी के मध्य आगे के दांतों से होता था।

राय, शरतचंद्र : रायबहादुर शरतचंद्र राय का जन्म 4 नवंबर 1870 को हुआ था। इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा सन् 1888 में कलकत्ता के सिटी कालेजियट स्कूल से पास की, बी०ए० इन्होंने अंग्रेजी में सम्मान-सहित "जेनरल इंस्टिट्यूट" से पास किया तथा इसी कालेज से 1893 में इन्होंने एम०ए० की डिग्री भी ली। कलकत्ता के रिपन कालेज से 1895 में इन्होंने बी0 एल0 की डिग्री प्राप्त की। बंगाल में अलीपुर में, इन्होंने 1897 में वकालत शुरू की। लेकिन एक साल बाद वे रांची (बिहार) चले आये तथा वहां पर उन्होंने वकालत शुरू की। रांची में रहकर उन्होंने मुंडा जाति की भाषा तथा उनके रहन-सहन के तरीके का गहन अध्ययन किया। उनकी साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओं के लिए सरकार की ओर से

उन्हें 1913 में केसरी-हिंद रजत पदक प्रदान किया गया तथा 1919 में रायबहादुर की पदवी प्रदान की गयी। 1920 में उन्हें लंदन की फोकलोर सोसायटी (लोक-गीत संस्था) की आनरेरी सदस्यता (मानद सदस्यता) प्रदान की गयी। वे बिहार तथा उड़ीसा से विधानसभा के सदस्य भी निर्वाचित हुए थे। साइमन कमीशन के भी वे सदस्य चुने गये थे।

इनकी प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं :

(1) दि मुंडाज एंड देयर कंट्रीज (1912)
(2) दि उरांव आफ छोटा नागपुर (1915)
(3) दि बिरहोर (1925)
(4) उरांव रिलिजन एंड कस्टम्स (1928)
(5) हिलभुंइया आफ उड़ीसा (1935)
(6) दि खड़िया (1937)

रिवर्स, विलियम हेल्स रिवर्स (1864-1922) : आंग्ल मानवविज्ञानी तथा मनोविज्ञानी। टोनब्रिज स्कूल और सेंट बार्थोलोम्यू अस्पताल में इनकी शिक्षा हुई। सन् 1897 में कैंब्रिज विश्वविद्यालय में शरीर विज्ञान तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के और 1907 में इंद्रियों के शरीर विज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इस पद पर रहकर उन्होंने ज्ञानेंद्रियों के संबंध में काफी महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया। इसके बाद वे आदिवासियों के सामजिक संगठनों और नातेदारी के पारस्परिक संबंध की खोज में लगे रहे। इस कार्य से संबंधित आंकड़े और जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्होंने वंशपरंपरा का अध्ययन प्रस्तुत किया और इसे एक नयी अध्ययन-प्रणाली का रूप दे दिया। दक्षिण भारत की टोडा जनजाति के अध्ययन के लिए उन्होंने उपर्युक्त प्रणाली का उपयोग किया। टोडा जनजाति के अत्याधिक जटिल सामाजिक संगठनों के विशद् अध्ययन के पश्चात् वे नातेदारी और तत्संबंधी शब्दावली के अध्ययन में लगे रहे। मार्गन के नातेदारी संबंधी सिद्धांत से पूर्णरूप से सहमत न होते हुए भी रिवर्स ने उनके इस मंतव्य का समर्थन किया कि नातेदारी की शब्दावली सामाजिक संगठनों के स्वरूप से साधारण तौर पर और विवाह-व्यवस्था से विशेषतया संबंधित है। नातेदारी से संबंधित विचार, सामाजिक व्यवस्थाएं और उसकी शब्दावली आदिम संस्कृति के बुनियादी तत्त्व हैं।

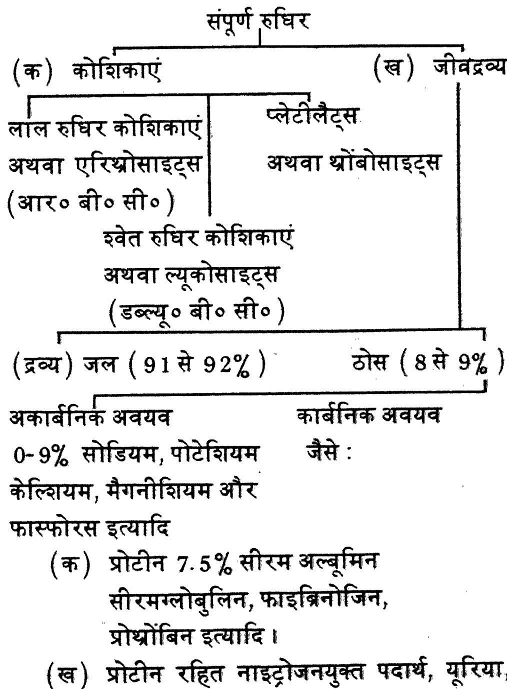
सन् 1908 में उन्होंने मलनेशिया की खोजयात्रा की और इसके फलस्वरूप 'हिस्ट्री आव मलनेशियन सोसायटी' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। आदिम संस्कृति के परिवर्तन, प्रसार और संक्रमण के संबंध में उन्होंने विशद् अध्ययन किया और इस सिद्धांत का तिरस्कार किया कि विभिन्न देशों में समान सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की सहज और स्वतंत्र उत्पत्ति होती है। सांस्कृतिक संक्रमण (दे० सांस्कृतिक प्रसार या सांस्कृतिक संक्रमण सिद्धांत—समाजविज्ञान खंड) को उन्होंने विकास की उत्तोलक शक्ति के रूप में माना और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अनुकूल परिस्थिति में प्रवासी, चाहे उनकी संख्या कम ही हो, संस्कृति का प्रसार करते हैं तथा समान सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रसार पारस्परिक लेन-देन से होता है। लेकिन इस सिद्धांत को व्यवस्थित रूप देने और ऐतिहासिक दृष्टांतों से पुष्ट करने में वे कुछ हद तक असफल ही रहे।

मनोविज्ञान में भी रिवर्स की गहरी पैठ थी। उन्होंने फ्रायड के स्वप्न-सिद्धांतों का तिरस्कार करते हुए इच्छा-पूर्ति के सिद्धांत के बदले संघर्ष के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। उनकी रचनाओं में 'टोडा जनजाति', 'नातेदारी और सामाजिक संगठन' 'सहजवृत्ति और अचेतन' 'मनोविज्ञान तथा मानवजातिविज्ञान' 'संघर्ष और स्वप्न' आदि मुख्य हैं।

रिसली, हरबर्ट (1851-1911) : रिसली ने 1891-92 में बंगाल की जन-जातियों का अध्ययन किया था। 1901 में, भारत में जो जनगणना हुई थी उसके ये 'सेंसस कमिश्नर' नियुक्त हुए थे। उसके बाद भारत के विविध प्रांतों में, मानवविज्ञान संबंधी अध्ययन के जो भी मुख्य कार्यक्रम हुए उनमें रिसली ने प्रधान भूमिका निभायी थी। 1901 में रिसली द्वारा की गयी जनगणना के परिणामस्वरूप उत्तर भारत के लोग 'इंडो आर्यन', पश्चिम भारत के लोग 'शथो-द्रविड़' पूर्वी भारत के लोग 'मंगोलाइड' वर्ग के तथा दक्षिण भारत के लोग 'द्रविड़' माने जाने लगे। रिसली के इस अध्ययन से पूर्व ऐसा वर्गीकरण नहीं था। इसके साथ ही, इन्होंने भारत में पायी जानेवाली जातियों के उद्भव को सूचित करनेवाले 'वर्ण-सिद्धांतों' की सृष्टि की।

रुधिर वर्ग : मानव में रुधिर-वर्ग-पद्धति की विवेचना से पहले रुधिर के संघटन के बारे में जान लेना चाहिए।

रुधिर : रुधिर एक अत्यंत विशिष्ट ऊतक है। यह आक्सीजन और भोजन का शरीर के अन्य ऊतकों तक परिवहन करता है। यह उन पदार्थों (तत्त्वों) का वहन करता है, जो रोगों के कारकों के विरुद्ध शरीर की रक्षात्मक प्रणाली के भाग हैं और रोगों के कारकों के साथ अन्य आक्रामक बाह्य पदार्थों के विरुद्ध भी शरीर की रक्षात्मक प्रणाली के भाग हैं। रुधिर अवशिष्ट-उत्पादों को वृक्क, आंत्र, फेफड़ों और त्वचा की ओर ले जाता है। यह उचित तरल, लवण और अम्ल-क्षार संतुलनों को बनाये रखने तथा शरीर के उचित तापक्रम को बनाये रखने में सहायता करता है। रुधिर दो प्रकार के पदार्थों से बना है: (क) निर्मित मूलतत्त्व और (ख) द्रव। निर्मित मूलतत्त्व हैं: लाल रुधिर-कोशिका (रक्ताणु) और श्वेत रुधिर कोशिका (श्वेताणु)। लाल रुधिर कोशिकाएं केंद्रकहीन होती हैं और इनमें लाल श्वसन प्रोटीन होता है, जिसे हीमोग्लोबिन कहते हैं। संक्षेप में रुधिर का संघटन इस प्रकार दर्शाया जा सकता है:



(क) प्रोटीन 7.5% सीरम अल्बूमिन सीरमग्लोबुलिन, फाइब्रिनोजिन, प्रोथ्रोंबिन इत्यादि।

(ख) प्रोटीन रहित नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ, यूरिया, यूरिक अम्ल, अमोनिया, अमीनो अम्ल इत्यादि।

(ग) वसा—कोलैसटीरोला, फोस-फोलीफिड

(घ) कार्बोहाइड्रेट—ग्लूकोज इत्यादि।

(ङ) अन्य पदार्थ—एंटीबाडीज और अनेक एंजाइम।

(च) कैरोटीन—जैथोफोलिन की कुछ मात्राओं के कारण प्लाज़्मा (जीवद्रव्य) का रंग पीला होता है।

प्रतिजन और प्रतिरक्षी : प्रतिजन अथवा एग्लूटिनोजिन, म्यूकोपालीसैकराइड्स बड़े प्रोटीन अणु होते हैं, जिनसे अनेक शर्करा अणु (सैकराइड्स) जुड़े होते हैं। लाल कोशिकाओं की सतह पर प्रतिजन उपस्थित होते हैं। प्रतिरक्षी अथवा एग्लूटिनिन बड़े प्रोटीन होते हैं।

रुधिर वर्ग वर्गीकृत-संवर्ग होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी एक व्यक्ति के रक्ताणुओं का वर्गीकरण रुधिर वर्ग 'ए' में किया जा सकता है; क्योंकि जब प्रतिरक्षी जिसे 'एंटी-ए' कहते हैं, के साथ क्रिया होती है, तो समूहन होता है और रक्ताणु संपुंजित हो जाते हैं। रक्ताणुओं का समूहन लाल कोशिकाओं पर एक प्रतिजन के साथ एक प्रतिरक्षी की क्रिया के कारण होता है। रुधिर वर्ग का अध्ययन सीरम विज्ञान कहलाता है, यह बहुधा सीरम में पाये जानेवाले विशिष्ट अभिकर्म की प्रतिसीरा का अध्ययन कहलाता है।

ए० बी० ओ० रुधिर वर्ग (ए० बी० ओ० और ए० बी०) : लैंडस्टीनर (1901) ने पाया कि मनुष्य की लाल रुधिर-कोशिकाओं में दो विशिष्ट प्रतिजन पाये जाते हैं, जो 'ए' और 'बी' होते हैं। जो मनुष्य 'ओ' प्रकार के रुधिरवाले होते हैं, उनमें दोनों प्रतिजन 'ए' और 'बी' अनुपस्थित होते हैं।

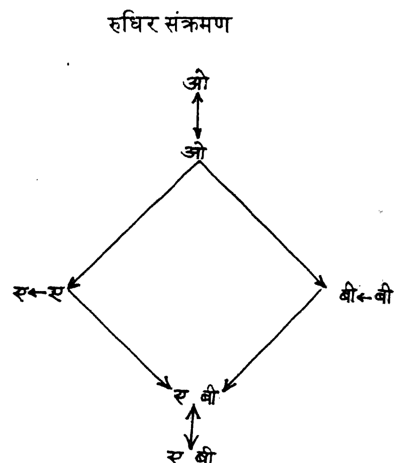
'ए' प्रकार के मनुष्यों में 'ए' प्रतिजन, 'बी' प्रकार के मनुष्यों में 'बी' प्रतिजन तथा 'ए० बी०' प्रकार के मनुष्यों में दोनों प्रतिजन 'ए' तथा 'बी' पाये जाते हैं। रुधिर वर्ग का चिकित्सा विज्ञान में अत्यधिक महत्त्व है; क्योंकि रुधिर जीवद्रव्य में प्रतिरक्षी पाये जाते हैं, जो लाल रुधिर कोशिकाओं में संपुंजन का कारण बनते हैं। इन लाल रुधिर-कोशिकाओं में उन्हीं से मिलता-जुलता अगला प्रतिजन भी पाया जाता है। यथार्थ में, किसी भी व्यक्ति में वह प्रतिरक्षी नहीं होगा, जो स्वयं के लालरुधिर-कोशिकाओं में उपस्थित प्रतिजन पर प्रभाव डाले।

यह रुधिर संक्रमण में महत्त्वपूर्ण है।

एक ही रुधिर वर्ग के मनुष्यों के मध्य संपूर्ण रुधिर का संक्रामण सुरक्षित है। ('O') 'ओ' रुधिर वर्गवाले मनुष्य किसी भी रुधिर वर्गवाले मनुष्य को अपना रक्तदान कर सकता है और 'ए० बी०' रुधिर वर्गवाले समस्त व्यक्ति किसी भी व्यक्ति से रक्तदान ले सकते हैं।

समूह (वर्ग)	लाल रुधिर कोशिकाओं में प्रतिजन	सीरम में उपस्थित प्रतिरक्षी
ओ	—	एंटी-ए एवं एंटी बी
ए	ए	एंटी-बी
बी	बी	एंटी-ए
ए बी	ए एवं बी	कोई नहीं।

रुधिर संक्रमण



ए०, बी०, ओ० रुधिर वर्ग का जीनविज्ञान : 1908 में एप्सटीन और आटेनबर्ग ने सुझाव दिया कि ए०, बी०, ओ० रुधिर वर्ग वंशागत है। यह 1910 में डनगर्न और हिर्सफील्ड द्वारा सिद्ध कर दिया गया। वंशागति की उपयुक्त और स्पष्ट क्रिया का निर्धारण 1924 में बर्नस्टीन द्वारा किया गया।

वंशावलियों के अध्ययन द्वारा ही ए० बी० ओ० रुधिर वर्गों का जीनविज्ञान अच्छी तरह समझा गया। बर्नस्टीन के द्विगुणित युग्मविकल्पीवाद के अनुसार ए० बी० ओ० रुधिर वर्गों का निर्धारण तीन युग्मविकल्पों द्वारा होता है। उनमें से दो 'ए' तथा 'बी' तीसरे 'ओ' पर प्रभावी होते हैं, जबकि 'ए' तथा 'बी' सहप्रभावी होते हैं।

इस परिकल्पना का परीक्षण वहीं किया जा सकता है, जहां वह ए०, बी०, ओ० रुधिर वर्ग की जीन की यथार्थ (अवलोकित) बारंबारताओं में होती है, यदि पद्धति में तीन युग्मविकल्पी हों।

किसी जनसंख्या में हार्डी बीन वर्ग-संतुलन में यदि p जीन 'ए' की बारंबारता हो, q जीन 'बी' की बारंबारता एवं r जीन 'ओ' की बारंबारता हो, तब $p+q+r=1$ होगा बर्नस्टीन दर्शा चुके हैं कि यह संबंध प्रतिचयन की त्रुटियों की सीमाओं के अंदर संतोषप्रद है।

$$p=1-\sqrt{\bar{O}+\bar{B}}$$
$$q=1-\sqrt{\bar{O}+\bar{A}}$$
$$r=\sqrt{\bar{O}}$$

$\bar{A}, \bar{B}$ अथवा $\bar{O}$ विभिन्न समूहों में जनसंख्या समानुपात दर्शाते हैं।

p = जीन 'ए' की बारंबारता।

q = जीन 'ब' की बारंबारता।

r = जीन 'ओ' की बारंबारता।

जीनी संरचना	समलक्षिणी
ओ-ओ	ओ
ए-ए-	ए
ए-ओ	ए
जी-बी	बी
बी-ओ	बी
ए-बी	एबी

'ए' के उपसंभाग : परीक्षणों ने इस बात का स्पष्टीकरण किया कि जो पहले प्रतिजन 'ए' कहलाता था, उसमें तीन पृथक् प्रतिजन 'ए'$_1$, 'ए'$_2$, 'ए'$_3$ पाये जाते हैं। एंटी-ए एंटी-सीरा (डालीकम बाइक्लोरस का निर्धारित भाग) प्रतिजन ए के ही साथ क्रिया करता है। ए$_2$ तथा ए$_3$ पर ए$_1$ प्रभावी है, ए$_2$, ए$_3$ पर प्रभावी है, वर्ग ए$_2$ एवं ए$_3$ बी बहुत कम होते हैं।

जीनी संरचना	समलक्षिणी
ओ ओ	ओ
ए$_1$, ए$_2$	
ए$_1$ ओ	ए$_1$
ए$_1$ ए$_2$	
ए$_2$ ए$_2$	
ए$_2$ ओ	ए$_2$
बी बी	
बी ओ	बी
ए$_1$ बी	ए$_1$ बी
ए$_2$ बी	ए$_2$ बी

1930 में थामसन, फ्रेडेनरिक और वारसी ने ए$_1$ए$_2$ उप वर्गों को मिलाने के लिए वंशागति का चार-युग्म विकल्पीवाद सामने रखा। इसने बर्नस्टीन के वाद का विस्तार किया। चार-युग्मविकल्पीवाद का समर्थन 103 परिवारों के परीक्षण द्वारा किया गया (फ्रेडेनरिक और जाको 1931)।

मानव रुधिर वर्गों की सूची

1. ए० बी० ओ० रुधिर वर्ग	लैंडस्टीनर (1900)
ए$_1$ ए$_2$ उप-वर्ग	वान डंगर्न और हिर्सफील्ड (1911)
लार मे ए०बी०-ओ० प्रतिजन की उपस्थिति	गिफ और ससाकी (1932)
2. एम०एन० रुधिर वर्ग	लैंडस्टीनर और लैविन (1927)
एम० एन० एस० एस० उप-समूह	वाल्श तथा मोंटगोमरी (1947)
3. पी रुधिर वर्ग	लैंडस्टीनर और लैविन (1927)
पी$_1$पी$_2$ उपसमूह	सैंगर (1955)
4. आर एच रुधिर-वर्ग	लैंडस्टीनर तथा वीनर (1940)
5. लूथरेन रुधिर वर्ग	कैलेंडर रेस और पेकाक (1945)
6. कैल रुधिरवर्ग	कूंबस, मौरेंट एवं रेस (1946)
7. लेविस रुधिरवर्ग	मौरेंट (1946)
लेविस लार वर्ग	ग्रब, ब्रेंडैमान (1948)
8. डफी रुधिरवर्ग	कट बुश, मीलिसन और पार्किन (1950)
9. किड रुधिरवर्ग	ऐलन, डायमंड तथा नीड जीला (1951)
10. हैप्टोग्लोबिन सीरम समूह	स्मीथिस और वाकर (1955)
11. डीगो रुधिरवर्ग (मंगोलियन एवं अमेरिकन इंडियन्स)	लेरिसी, एरेंड्स एवं डामिन-गंजिन (1955)
12. जी एम सीरम समूह	वैलर एवं वाघन (1956)
13. सटर रुधिर वर्ग (केवल नीग्रो)	गिब्लैट (1958)
14. आबर्गर रुधिरवर्ग	सालमन, सेंगर (1961)
15. ×ξ रुधिर वर्ग	मान कघान गैल्ब, रेस और सैंगर (1962)

रेड इंडियन : मंगोलकल्प वर्ग की अमरीकी शाखा। कुछ मानवविज्ञानी इन्हें श्वेतकल्प (यूरोपाइड) वर्ग की एक शाखा मानते हैं। वस्तुत: रेड इंडियनों में दोनों वर्ग की शारीरिक विशिष्टताएं सम्मिलित हैं। इनके बाल सीधे, सख्त और काले होते हैं। शरीर के अन्य भागों में बालों का विकास नहीं के बराबर ही होता है। इनका वर्ण भूरा-पीला, चेहरा विशाल, मस्तक सपाट, आंखें खिंची हुई और लंबी, नासिका सेतु उठा हुआ, ओंठ मध्यम आकार के

व मोटे भी तथा जबड़े की हड्डियां कम उठी हुई होती हैं। रेड इंडियनों में सभी तरह के कद पाये जाते हैं तथा इनके सिर के आकार भी सभी तरह के होते हैं।

ये अमरीका कब और कैसे पहुंचे, इसके विषय में विद्वानों की अनेक धारणाएं हैं। श्वेतकल्प वर्ग के अमरीका में पदार्पण करने से पूर्व पेरु, मेक्सिको और युकातान प्रदेशों में रेड इंडियनों ने सभ्यता का पर्याप्त रूप से विकास कर लिया था। शेष अन्य स्थानों में वे अधिकतर कबीलों में ही घूमते-फिरते थे। श्वेत जातियों के आगमन के पश्चात् उन्हें अमरीका के उपजाऊ भागों से या तो खदेड़ दिया गया, या नष्ट कर दिया गया। श्वेत मानवों के इस प्रकोप के फलस्वरूप रेड इंडियन उत्तरी अमरीका में नाम मात्र को ही बच सके। दक्षिणी अमरीका के रेड इंडियनों में भी स्पेनी तथा अन्य यूरोपीय जातियों का पर्याप्त सम्मिश्रण हुआ है। फिर भी दक्षिणी अमरीका के अविकसित भागों में रेड इंडियनों के कुछ प्रदेश अब भी ऐसे मिल जाते हैं, जो आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से अभी तक अछूते हैं।

रेडफील्ड, राबर्ट (1897–1958) : रेडफील्ड अमेरिका के प्रमुख मानवविज्ञानी थे। 1924 से ये चिकागो विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान तथा समाजविज्ञान का अध्यापन करने लगे थे। इससे पहले, ये वकालत करते थे। मानवविज्ञान संबंधी अपनी पहली खोज के रूप में इन्होंने सिसली और मेक्सिको वासियों पर काम आरंभ किया था। इसके बाद इन्होंने मेक्सिको और मध्य अमरीका की संस्कृतियों के आदिम और वर्तमान स्वरूप का परीक्षण किया। सभ्यता के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए इन्होंने कहा कि "सभ्यता वस्तुत: एक तरह का परंपरागत विवेक होती है।" इस व्याख्या ने रेडफील्ड को बहुत ख्याति दी।

रोडेशिया ब्रोकन-हिल मानव और नंगाडोग-सोलो मानव (नियेंडरथलाइड अवशेष) : उत्तरीय रोडेशिया के ब्रोकनहिल में 1921 में रोडेशियन जीवाश्म पाये गये। उनमें एक कपाल (केवल चिबुकास्थि को छोड़कर लगभग संपूर्ण), एक जंभिका खंड, एक सेकम, श्रोणि प्रदेश के भाग, ह्यूमेरस, फीमर और टिबिया (पायक्राफ्ट 1928) सम्मिलित थे।

कपाल असामान्य रूप से स्थूल आकार का, विशिष्ट रूप से चिपिट कपालिक, अधिनेत्रगुहा टोरस अत्यधिक विकसित और पीछे की ओर हटा हुआ ललाट है। बलिष्ठ आक्सीपिटल टोरस, एक बड़ा रदनक फासारहित मैक्जिला। तालु असामान्य रूप से बड़ा होता है।

मोरंट (1928) कपाल के मापीय लक्षणों में रोडेशियन मानव और होमो-नियेंडरथलैंसिस में तुलना करता है। वह निष्कर्ष निकालता है कि रोडेशियन मानव और होमो नियेंडरथलैंसिस होमोसैपियन्स की अपेक्षा एक-दूसरे से अधिक निकट रूप से संबंधित हैं।

वान बोनिन (1928-30) ने कपाल की मापीय तुलनाओं से भी निष्कर्ष निकाला है कि रोडेशियन मानव उद्विकासीय विकास की एक कला का प्रतिनिधित्व करता है, जो होमोनियेंडरथलैंसिस और होमोसैपियन्स के अवशोषण के सामान्य बिंदु के समीप है।

वैल्स (1950) द्वारा वर्णित पृथक् मैक्जिलरी खंड कपाल विभेद के उसी प्रदेश की अपेक्षा समुचित रूप से छोटा होता है। तालु के बिना आस्ट्रेलियन आदिवासी और अफ्रीकन नीग्रो के अधिकतम विमाओं के समीप आ जाते हैं।

श्रोणि प्रदेश, सेकम और पाद-अस्थियां होमोसैपियन्स की अस्थियों से पूर्ण रूप से समान होती हैं और यह होमो-नियेंडरथेलैंसिस की विशेषताओं में से एक को भी नहीं दर्शाता। ओकले (1950) ने समस्त अवशेषों के सीसा और जस्ते के स्पेक्ट्रम-विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि 1921-22 में गुफा से पायी गयी समस्त मानवीय अस्थियां एक समकालीन समूह की रचना करती हैं।

गांडोंग-सोलो मानव : जावा के नियेंडरथलाइड अवशेष सोलो नदी के उत्तल निक्षेपों में पाये गये थे (ओपेनूर्थ, 1932)। भू-वैज्ञानिक और जीवाश्मीय लक्षण प्रमाणित करते हैं कि वे उच्च-अत्यंत-नूतन युग के हैं और संभवत: अंतिम हिमनदन के हैं (वान कोंग्सवाल्ड 1949)। 1931 और 1941 के मध्य खोजे गये अवशेषों में 11 कपाल (सबमें आननी कंकाल न्यून) और अपरिपूर्ण टिबिया हैं। इस पदार्थ का विस्तृत और पूर्ण निर्दशित विवरण वीडैनरिच द्वारा सन् 1951 में प्रकाशित किया गया।

केवल कपाल आयतन (1150 सी0 सी0 से 1300 सी० सी० तक) और महारंध्र की कुछ विशेषताओं को छोड़कर, कपाल होमोनियेंडरथलैंसिस के लगभग अधिक निकट हैं। दूसरी ओर, दोनों टिबिया तनु हैं, सीधा अस्थि-दंड और होमोसैपियन्स की टिबिया से कोई विभिन्नता नहीं दर्शाते हैं।

जातीवृत्तीय स्थिति : तीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

(1) ओपेनूर्थ ने, जिसने सर्वप्रथम गांडोंग-कपाल की खोज की, उनको एक नये जीनस जावांथ्रोपस का नाम दिया। किंतु उसके पश्चात् उन्होंने अपना विचार बदल दिया एवं उनको होमो-सोलेनसिस का नाम दिया। वीडेनरिच ने इस विचार को माना कि सालोमन का पिथिकेंथ्रोपस से व्युत्पादन हुआ है। अपने निबंध में वह उस जीनस के साथ अनेक आकृतिक सादृश्य प्रदर्शित करते हैं।

(2) अन्य मानवविज्ञानी मान चुके हैं कि रोडेशियन और सोलोमानव हीमोनियेंडरथलैंसिस के किंचित अपगामी प्रकार जैसे हैं।

(3) एक अन्य विचार है कि ये नियेंडरथलाइड जनसंख्याएं आधुनिक काल की मानवजाति की कुछ प्रमुख प्रजातियों में स्वतंत्र उद्विकासी विभेदों के हेतु एक आधार प्रदान करती हैं। गांडोंग जनसंख्या उस पैतृक स्कंध का प्रतिनिधित्व करती है, जिनसे आस्ट्रेलाइड व्यक्ति उद्विकसित हुए थे। रोडेशियन मानव आधुनिक नीग्रोआइड प्रजातियों का पूर्वज हो सकता था। ली-ग्रास क्लार्क (1955) का मत है कि इस जैसी अभि-धारणा होमोसैपियन्स की एक बहुस्रोतोद्‌भवी उत्पत्ति को उपलक्षित करती होगी।

लंबाड़ी जाति : यह जाति 'ब्रिजारी', 'बनजारी', 'सुगाली' के नामों से भी जानी जाती है। लंबाड़ी शब्द 'लवण' शब्द से, सुगाली शब्द 'सुग्वाला' से, ब्रिजारी' शब्द 'बनिजर' से उत्पन्न हुआ है। ये लोग अपने आपको बाली-सुग्रीव की संतान कहते हैं। इनमें गोत्र संबंधी अंतर पाया जाता है।

मूलत: ये लोग उत्तर भारत के निवासी थे, किंतु मुगल सेना के साथ व्यापारियों के रूप में दक्षिण भारत पहुंचे। इनकी हैदराबाद (आंध्र प्रदेश) और मैसूर प्रांतों में अधिक संख्या पायी जाती है। आंध्र प्रदेश के रायलसीमा (कड़पा, कर्नूल, अनंतपुर, चित्तूर तथा नेल्लूर जिले) नामक क्षेत्र में लंबाड़ी जाति के लोग बहुत पाये जाते हैं। इनकी भाषा तेलुगु, कन्नड़ तथा तमिल की मिश्रित भाषा है।

आचार-व्यवहार : इस जाति के पुरुष आंध्र और मैसूर के पुरुषों जैसे ही कपड़े पहनते हैं। स्त्रियां सिर से लेकर पैर तक सींग के बने हुए कड़े, अंगूठियां, चूड़ियां, हार, नथ आदि आभूषण पहनती हैं। अनेक रंगों के कपड़ों से बनाये गये लहंगे तथा चोलियां पहनना इनका रिवाज है। इनके बाल दोनों तरफ लटके हुए होते हैं, जिनमें सीपियां पिरोयी जाती हैं, किंतु आम तौर पर इस जाति की स्त्रियों में सफाई की बेहद कमी पायी जाती है। मद्यपान का प्रचलन इनमें बहुत अधिक है।

विधवा विवाह की प्रथा इनमें नहीं है, लेकिन विधवा अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी पुरुष के साथ रह सकती है। लंबाड़ी जाति की स्त्रियां बहुत हिम्मतवर होती हैं और मेहनतकश भी। प्राय: ये मधुर स्वर में गा सकती हैं तथा आकर्षक ढंग से नाच सकती हैं। ये लोग अपने मुखिया को 'नायक' के नाम से पुकारते हैं। यह स्थान वंशपरंपरागत रूप से प्राप्त होता है।

लंबाड़ी जाति के लोग अपने मुर्दों को दफनाते नहीं, जला देते हैं। ये बालाजी, हनुमान, पोतरम्मा, अंकालम्मा, पेशम्मा, मारिम्मा आदि देवताओं की आराधना करते हैं। मैसूर राज्य में रहनेवाले लोग कृष्ण तथा बसवेश्वर की भी पूजा करते हैं। उत्तर भारतीयों की तरह इनमें भी होली मनाने की प्रथा भी पायी जाती है। ये लोग शरीर भर में गोदने गुदवाते हैं।

पुराने जमाने में लंबाड़ी जाति के लोग 'एरुकल' जाति के लोगों की तरह नमक और अनाज बैलों पर लादकर गांव-गांव घूमकर बेचा करते थे और इनमें से कई लोग संस्थानाधिपतियों के यहां सैनिक का काम भी किया करते थे। पहले ये लोग स्थायी रूप से किसी जगह टिकते नहीं थे, लेकिन अब ये लोग गांवों में बस गये हैं और खेती-बाड़ी करने लग गये हैं। इनमें पशुपालन के प्रति भी अभिरुचि पायी जाती है। ये बलशाली होते हैं। लंबाड़ी जाति में इधर शिक्षा के प्रति भी रुचि जाग्रत होने लगी है। समाज-सेवा की भावना से ओतप्रोत युवक भी इस जाति में तैयार हो रहे हैं।

लघुशीर्ष : छोटे आकार का सिर। लघुशीर्ष वाले लोगों में बुद्धिमंदता अधिक होती है। जन्म के समय ऐसे बच्चों के सिर का घेरा 33 से० मी० तक का होता है। एक साल के बाद यह घेरा 45.7 से० मी० तक ही पहुंच पाता है। लघुशीर्षवालों का ही नहीं, कुछ मानसिक विकलता वाले लोगों के सिर के घेरे का नाप भी आम नाप से कम होता है। लघुशीर्ष वाले लोगों का सिर आजीवन बढ़ नहीं पाता है और उसके घेरे का नाप 38.1-40.6 के आसपास ही स्थिर हो जाता है। ऐसे लोगों के सिर का पिछला भाग अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा होता है। चेहरा साधारण आकार का होने के कारण साफ तौर पर सिर छोटा नजर आता है। इन लोगों की आंखें भी एक-दूसरे के अधिक निकट नज़र आती हैं। इन लोगों के अंगों में भी एक प्रकार का तनाव देखा जा सकता है। इस प्रकार का शिशु जब मां के गर्भ में होता है, तभी अनेक कारणों के प्रभाव से वह लघुशीर्ष हो जाता है। ऐसे लोगों में, जिसका सिर जितना छोटा होता है, उसमें उतनी अधिक बुद्धिमंदता पायी जाती है।

लांग, एंड्रयू (1814-1912) : ब्रिटिश मानवविज्ञानी और लोकविश्वासों का अध्येता। हालांकि मानवविज्ञान के प्रणेताओं में लांग को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, लेकिन वैज्ञानिक होने से भी अधिक वे एक मानवतावादी थे। अकादमीय शिक्षा में लांग सदैव प्रथम रहे और चाहते तो सफल अकादमिक कैरियर भी चुन सकते थे, लेकिन पत्रकारिता में रुचि होने के कारण वे उसमें जुट गये। लांग प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे, इसी कारण पत्रकारिता में भी उन्हें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। गद्य तथा पद्य-दोनों में वे अपनी प्रतिभा को अभिव्यक्ति प्रदान करते रहे। आदिम संस्कृतियों का अध्ययन करते समय वे इनके उद्गम स्थान का मूल ढूंढ़ने में जुट गये। 1865 में मेक्लेनान और टायलर के ग्रंथ क्रमशः 'प्रिमिटिव मैरिज' और 'रिसर्चस् इनटू द अर्ली हिस्ट्री आफ मेनकाइंड' प्रकाशित हुए। इसी वर्ष लांग ने समाज के उद्गम के विषय में अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया। लांग के अनुसार सामाजिक विकास का पहला चरण बर्बर युग था। इसी आधार पर उन्होंने मिथकशास्त्र की भी पुनर्व्याख्या की और मिथकों को 'भाषा का रोग' कहने पर भाषाविज्ञानियों की खूब भर्त्सना की। 1884 में, उनका प्रसिद्ध शोध-लेख 'माइथोलोजी' प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने मिथकशास्त्र पर और भी अनेक ग्रंथ लिखे तथा संपादित किये।

लोक जीवन तथा विश्वासों में भी लांग की बहुत रुचि थी। 1878 में स्थापित 'फोक लोर सोसायटी' के संस्थापकों में उनका भी एक विशिष्ट स्थान है। इस सोसायटी से प्रकाशित लोक-कथाओं, गीतों और विश्वासों से संबंधित अनेक पुस्तकों का उन्होंने संपादन किया। 1900 से पूर्व, लांग टायलर के मानवविज्ञानी विचारों के समर्थक थे। 1900 में, टायलर का ग्रंथ 'मेकिंग आफ रिलीजन' प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने धर्म के विकास का सर्वात्मवादी सिद्धांत प्रतिपादित किया। लांग इस सिद्धांत के विरोधी थे। उनके अनुसार, टायलर ने निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा की थी। वे तथ्य थे: धर्म के उद्गम और विकास संबंधी मनोवैज्ञानिक तथ्य और दूसरा आदिम आस्थाओं का नैतिक रूप जिसका सर्वात्मवादी धारणा से कोई संबंध नहीं है। लांग के विचारों का मानवविज्ञानियों ने समर्थन तो नहीं किया, लेकिन उसने संशय के बीज अवश्य बो दिये। 1903 और 1905 में लांग की 'सोशल ओरिजिन' और 'सीक्रेट आफ द टोटम', क्रमशः दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों में उन्होंने बहिर्विवाह और टोटम-संबंधी प्रश्नों पर अपना मत प्रकट किया था, लेकिन समकालीन मानव-विज्ञानियों ने उसकी उपेक्षा कर दी। इस उपेक्षा के बावजूद लांग की आलोचनात्मक प्रतिभा मृत्यु-पर्यंत मुखर होती रही।

लाज, आलिवर जोसेफ (1851-1940) : ब्रिटिश शरीरविज्ञानी। लाज की शिक्षा बहुत अनियमित रूप से हुई, लेकिन अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल पर वे 1882 में लिवरपूल के यूनिवर्सिटी कालेज के भौतिक विज्ञान के विभाग में नियुक्त किये गये। 1900 में उनकी नियुक्ति बर्मिंघम यूनिवर्सिटी के प्रथम प्रिंसीपल के पद पर हुई, जहां वे 1919 तक काम करते रहे। 1919 में सेवानिवृत्त होने के बाद, वे लोक-सुलभ वैज्ञानिक साहित्य के सर्जन में व्यस्त हो गये। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं: 'पास्ट ईयर्स: एन आटोबायग्राफी' और 'माई फिलास्फी'।

लाफ जनजाति : लाफलैंड के जंगलों और सूखे मैदानों में रहनेवाली लाफ जाति के लोगों की जन्मभूमि लाफलैंड है, जो यूरोप महाद्वीप के उत्तरी छोर पर बसे हुए नार्वे, स्वीडन और फिनलैंड देशों से मिलकर बना है। इतिहासकारों के विश्वास के अनुसार प्राचीन काल में ये लोग मध्य एशिया में रहते थे, किंतु इन्हें फिन, गोथ और स्लाव लोगों ने क्रमशः इन प्रांतों से खदेड़ दिया था। अमरीका से संबद्ध अलास्का राज्य में भी इस जाति के लोगों का एक उपनिवेश है।

लाफ जाति के लोग प्राकृतिक रूप से नाटे होते हैं। इनके गालों की हड्डियां उभरी हुई और नाक चपटी होती है। इन लोगों की भाषा 'फिन्नो-उग्रियन' है। इनकी आबादी बहुत कम है।

इस जाति के लोग यायावर हैं। ये अपने रेंडियरों का रेवड़ लेकर सर्दी के मौसम में मैदानी इलाकों तथा गर्मी के मौसम में पहाड़ी इलाकों में रहते हैं, लेकिन आजकल इनकी घुमक्कड़ प्रवृत्ति में कमी होती जा रही है। इनमें से कुछ लोग समुद्र और नदियों में मछली पकड़ते हैं और कुछ लोग जंगलों में जानवरों का शिकार करते हैं।

यद्यपि लाफ जाति के लोग नार्वे, स्वीडन और फिनलैंड देशों के अधिकार में रहे हैं, फिर भी बहुत समय तक इन्होंने ईसाई धर्म के प्रचार का विरोध किया था। 18वीं शताब्दी में जाकर रूसी और स्कैंडिनेवियन मिशनरियों ने इन्हें ईसाई बनाया।

लारसीफार्मस : लारसीफार्मस जीवित नरवानर हैं। वे सहारा के दक्षिणी जंजीबार के द्वीप और संभवतः समस्त अफ्रीका तथा अफ्रीकी मुख्य भूमि से परे द्वीपों से अभिलेखित किये जा चुके हैं। ये एशिया के भागों मुख्यतः भारत, बर्मा, लंका और समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया में भी पाये जा चुके हैं।

समस्त लारसीफार्मस वृक्षवासी और रात्रिचर होते हैं। ये सामान्य रूप में अन्य रात्रिचर प्राणियों के साथ 'टपेटम' विकसित कर चुके हैं। टपेटम वह वर्णकवाला संवहनी तल हैं, जो रेटीना के बाद होती है और मंद प्रकाश को सकेंद्रित करती है।

वर्गिकी :

गण : प्राइमेट
उपगण : प्राजिमी
अधःगण : लारिसीफार्मस
कुल : लारिसीडी
उपकुल : लारिसिनी—लोरिस।
गेलागीनी—गेलागो।

लारिसीफार्मस सरलतापूर्वक दो उपकुलों में विभाजित किये जाते हैं:

(क) लारिसिनी : मंद आरोही तथा विसर्पी।

(ख) गैलागिनी : तीव्र 'हायर' (उछलते हुए चलना)।

दो चलन-समूहों के मध्य मुख्य अंतर पाद की संरचना में परिवर्तन है। ये वृक्षवासी जीवन के एक अत्यंत प्रकट विशिष्टीकरण के परिणाम हैं।

लारिसीनी : दो उपकुलों से लारिसीनी अधिक विस्तृत रूप से विस्तीर्ण है। पीरोडिक्टस जीनस (वंश) अफ्रीका में तथा वंशलारिस तथा निक्टीसेबस एशिया में पाया जाता है। दो अफ्रीकी लोरिसी होते हैं। पोटो (पेराडिक्टस पोटो) और अगवांतिबो (पेराडिक्टस कैलाब्रेनसिस)। पोटो की बहुत छोटी स्थूण, मूंछ होती है। यह काले-भूरे फर तथा छोटे रीछ-समान होते हैं। उनकी ग्रीवा-कशेरुक पर अनेक अनावरित शूल होते हैं। पश्चिम अफ्रीका के अगवांतिबों अथवा स्वर्णिम पोटो अत्यंत विरल हैं। यह पोटो की अपेक्षा छोटा है और इसके संबंध में अधिक जानकारी नहीं है।

दो एशियाटिक लारिस होते हैं: (क) तनु लारिस (लारिस टारडिग्रेडस) जो लंका और दक्षिण भारत में पाया जाता है। (ख) मंथर लारिस (निक्टीसेबस कूकैंग) जो समस्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाया जाता है। तनु लारिस के पूंछ नहीं होती और यह पूर्णतया वृक्षवासी तथा रात्रिचर होते हैं (चित्र 25)। मंथर लारिस गुलाबी तथा श्वेत पोटो के सदृश होते हैं, यद्यपि सामान्यतः एक अधिक स्थूण पूंछ के साथ लंबे होते हैं।

लारिस का दंतविन्यास प्रारूपिक प्राजीमियन जैसा होता है। दंत सूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ होता है। हाथ तथा पैर के अंगुलिपर्व अत्यंत विशिष्टीकृत होते हैं। तर्जनी-मात्र एक बगैर नख की गुलिका होती है। प्रत्येक पैर का द्वितीय अंगुलिपर्व एक प्रारूपिक प्राइमेट नख की अपेक्षा एक दीर्घ ग्रूमिंग

नखर होता है। 'ग्रूमिग नखर' वह नख है, जो शरीर को स्वच्छ करने में सहायक सिद्ध होता है।

लारिसी शाखाओं पर हाथों-हाथ चलते हैं। लारिसी के विशिष्टीकरणो में से एक पोटो में विशिष्ट रूप से पाया जाता है। वह है अत्यधिक बलशाली परिग्रहण। यह परिग्रहण निरंतर एक लंबे समय तक रह सकता है। लारिसी समस्त प्राइमेट समान अपने ऊर्ध्व धड़ के साथ बैठते हैं। वे अपने शीर्ष से अधिक ऊंची शाखा अथवा टहनी तक पहुंचने की चेष्ठा में अपने पश्चपादों पर उठते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लारिसीनी कीटाहारी है।

गैलागिनी : गैलागिनी केवल अफ्रीका में, सहारा मरुस्थल के दक्षिण और कुछ प्रतितट द्वीपों जैसे जंजीबार में पाया जाता है। गैलागोस बड़ी मूषिका से छोटे खरगोश के परिमाण में पाया जाता है। गैलागो दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) वह समूह जिसमें छोटे, अत्यंत क्रियाशील, विक्षुब्ध तीव्र प्राणी जैसे 'गैलागो डेमीडोवी' तथा 'गैलागों सीनेगालेनसिस' होते हैं।

(ख) दूसरा समूह जिसमें बड़े, अपेक्षाकृत मंद और अधिक मंदगामी प्राणी जैसे 'गैलागो क्रासीकाडेटस' होते हैं। समस्त प्राणियों की लंबी पूंछ होती है, जो बड़ी जातियों, उदाहरणार्थ 'गैलागो क्रासीडेटस' में अधिक सघन एवं मोटी होती है। छोटी जाति के जैसे, 'गैलागो सैनेगालेनसिस' कदाचित संकुलित रोमों की पतली पूंछवाले होते हैं।

समस्त गैलागो में पूर्ण विकसित पांच अंगुलिपर्वोंवाले परिग्राही हाथ और पैर होते हैं। प्रत्येक पैर के द्वितीय अंगुलिपर्व में एक 'ग्रूमिंग नखर' होता है, जो कदाचित विशेष रूप से अनुकूलित नख होता है। दंतविन्यास प्रारूपिक रूप से प्राजीमियन होता है।

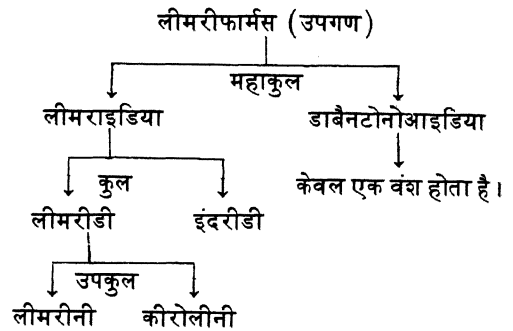
दंतसूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ होता है।

गैलागो वृक्षों के मध्य अधिक सुविधा के साथ चलते हैं। वे एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष की ओर अपेक्षाकृत लंबी दूरी पार करने के लिए आश्चर्यजनक रूप से कूदते हैं। गैलागो भूमि पर कंगारू के समान कूदकर चलते हैं। पूरा धड़ सीधा रहता है और एक स्थान से दूसरे के लिए वह भूमि पर कूद-कूदकर चलते हैं। गेलागिनी सर्वाहारी होता है।

लीमरीफार्मस : लीमराइड्स की अधिक संख्या अफ्रीका के उष्ण वनों और मैडागास्कर के द्वीपों में वास करती है। वे इंडोनेशियाई द्वीपों और फिलीपींस में भी पाये जाते हैं।

वर्गीकरण : लीमरीफार्मस दो महाकुलों में विभाजित किये जाते हैं: (क) लीमराइडिया और (ख) डाबैनटोनोआइडिया।

लीमराइडिया दो कुलों में उपविभाजित किये गये हैं: लीमरीडी और इंदरीडी। लीमरीडी फिर दो उपकुलों में विभाजित हैं: लीमरीनी और कीरोगेलीनी। डाबैनटोनोआइडिया में केवल एक वंश होता है।



सामान्य विशेषताएं : (क) वास्तविक लीमर (चित्र 24) के एक दीर्घित प्रोथ होता है और मुख की आकृति लोमड़ी जैसी होती है। उनके कर्ण सीधे और नोकदार होते हैं।

(ख) वे अत्यंत अधिदर्शनीय वृक्षवासी लीमर हैं, जो अत्यधिक सुविधापूर्वक वृक्षों के मध्य चलते हैं। जब शाखाओं पर चलते हैं, तो लीमर अपने सम्मुख अंगुष्ठ और पादांगुष्ठ को पकड़ने और लपेटने के काम में लाते हैं।

(ग) वे अधिकतर अपने भोजन में सर्वाहारी होते हैं तथा अपनी क्रियाओं में प्रायः रात्रिचर होते हैं। इनमें कुछ दिवाचर भी होते हैं।

(घ) मैडागास्कर के बड़े और व्यावहारिक रूप से पुच्छहीन इंदरी लीमर के बारे में कहा जाता है कि वह सीधा चलता है।

(ङ) लीमर के एक प्रकार, मूषं लीमर में ग्रीष्म-निष्क्रियता की आदत होती है अर्थात् ग्रीष्म अथवा शुष्ककाल में वे सोते हैं—प्राइमेट्स में स्पष्टतः अनन्य है। मूष लीमर में पूंछ के आधार पर चर्बी का एक पिंड होता है। सुषुप्त काल में वह आंशिक रूप से प्राण संचारण की अवस्था में निलंबित रहता है। पुच्छ की आरक्षित चर्बी पर ही वह अपना निर्वाह करता है।

(च) अत्यधिक चर्चित, असामान्य लीमर 'आई आई' है। यह प्राणी केवल मैडागास्कर के द्वीप में पाया जाता है। 'आई आई' रात्रिचर, वृक्षवासी और लगभग बिल्ली की-सी आकृति का होता है। उसके बड़े नग्न कर्ण, एक लंबी सघन पूंछ तथा बड़े नेत्र होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि वह तीक्ष्ण श्रवण शक्ति रखता है। 'आई आई' कृंतक-समान रीति में विशेष उपयुक्त हो चुका है। आगे के दांत कम होकर ऊपर केवल दो ही रह गये हैं। यह लंबे और टंकाकार (छेनी समान) होते हैं, जिस प्रकार कृंतक-प्राणी (रोडेंट) में होते हैं।

हाथ की अंगुलियां पतली और लंबी होती हैं, विशेष रूप से द्वितीय अंगुलि जो एक झुके हुए तार के सदृश होती है। 'आई आई' सूखे पत्तों पर जीवित रहता है। समान मध्य अंगुलियां और टंकाकार कृंतक कार्यात्मक अनुकूलन हैं।

(छ) लीमर में अस्थिल वलय नेत्र-गोलक (नेत्र कोटर) को घेरता है, जिसमें पश्च भित्ति नहीं होती। एक वलय में गोंद जैसी स्थिति से नेत्र की तुलना की जा सकती है। नेत्र बाहर की ओर दिष्ट होते हैं। प्रत्येक नेत्र के लिए दृष्टि का क्षेत्र भिन्न होता है।

(ज) लीमर में टीयरवाहिनी का मुख आननी तल पर नेत्र के अस्थिल कोटर के बाहर की ओर होता है।

(झ) लीमर का सामान्य दंतसूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ होता है।

(ञ) लीमर के मस्तिष्क सामान्यतः सरल होते हैं। प्रमस्तिष्क गोलार्द्ध पूर्ण विकसित नहीं होते। अग्रललाट पालियां बहुत छोटी होती हैं।

(ट) इसकी करोटि मेरुदंड पर संतुलित है, जिस प्रकार मानव में होती है। यह अनुकपाल अस्थि-कंटों पर आधारित होती है, जो करोटि के पीछे स्थित होते हैं।

(ठ) लीमर के पश्चपाद अनेक प्रकारों में अग्रपादों से कुछ लंबे होते हैं। प्राणी सामान्यतः दो हाथ और दो पैर—चारों पर चलता है।

(ड) हाथ और पैर में पांच अंगुलिपर्व होते हैं, जिनमें सम्मुख अंगुष्ठ और पादांगुष्ठ तथा नख होते हैं। पश्चपाद के तृतीय अंगुष्ठ में सामान्यतः नखर होते हैं। कुछ सोचते हैं कि ये नखर खरोंचने का काम करते हैं।

लुई, आर० एच० (1883-1957) : ये अमरीका के सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक मानवविज्ञानवेत्ता थे। इनका जन्म आस्ट्रिया के वियना नगर में हुआ था। इन्होंने अमरीका के बर्कले विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान का अध्यापन किया। इन्होंने उत्तरी अमरीका के इंडियन लोगों और खासकर मैदानी इलाकों के इंडियन लोगों पर महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किया। लुई इतिहास, दर्शन और यूरोप देशों की संस्कृति आदि विषयों के प्रकांड विद्वान थे। ये प्रतिभा संपन्न शिक्षाशास्त्री भी थे। इन्होंने अमरीका भूखंड की प्राचीन जंगली जातियों के बारे में तथा यूरोप के, और खासकर जर्मनी के, सभ्य लोगों के बारे में बहुत ही महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये थे।

लुई ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—'कल्चर एंड एथनालजी' (1917), 'प्रिमिटीव सोशियोलजी' (1920), 'प्रिमिटीव रिलिजन' (1924), 'दि जर्मन पीपुल' (1945), 'टुवर्डस अंडरस्टेंडिंग जर्मनी' (1954)।

लुशाई जनजाति : 1961 की जनगणना के अनुसार त्रिपुरा में इनकी जनसंख्या 2,988, असम में 2,14,721, नागालैंड में 163 तथा मनीपुर में 2,746 थी। लुशाई शब्द 'लुशेई' शब्द का बिगड़ा रूप है, जो गोत्र का नाम है। लुशाई को कहीं-कहीं 'दुलियन' के नाम से भी जाना जाता है तथा पहाड़ों पर रहनेवाले लुशाई को 'मीजो' कहा जाता है।

इनकी अपनी लुशाई भाषा है। इनके वस्त्र बर्मी लोगों के वस्त्रों से मिलते-जुलते हैं। काम के समय ये छोटी धोती पहनते हैं। उत्सव एवं त्योहार के मौके पर ये रंगीन 'लुंगी' पहनते हैं। औरतों का वस्त्र, पुरुषों के वस्त्र से अधिक रंगीन होता है। लुशाई मांस खाने के शौकीन होते हैं।

लुशेन, फेलिक्स वान (1854-1924) : जर्मन मानवविज्ञानी। लुशेन बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान थे। उन्होंने पुरातत्त्व, भौतिक मानवविज्ञान और तकनीकी पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1881 में लाइसिया में उन्होंने मानवमिति संबंधी गवेषणा प्रारंभ की, जिसे वे अगले 30 साल तक करते रहे। इस दौरान उन्होंने पश्चिमी एशिया में मानव जाति के प्राकृतिक इतिहास से संबंधित महत्त्वपूर्ण आंकड़े इकट्ठे किये। उन्होंने यहूदियों के शिरस्क-सूचकांकों को प्राप्त किया, जो 65 से 98 के बीच थे। यही शिरस्क-सूचकांक सामान्य मानवों का भी होता है। इन आंकड़ों के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यहूदी प्रजाति की स्वतंत्र रूप से कल्पना करना भ्रामक और गलत है। पश्चिम एशिया के मूल निवासियों के बारे में उनका यह मत था कि बहुत अधिक चौड़े सिरों और चोंच जैसी नाकवाले 'हिट्टाइट' ही इस प्रदेश के मूल निवासी हैं। 'कुर्द' जाति को वे नार्डिक प्रजाति का ही एक विसरित अंग मानते थे। उनके विचार से कुर्दों ने तीन हजार वर्षों से अपनी जातीय-शुद्धता को सुरक्षित रखा है। 1911 में, हक्सले भाषणमाला के अवसर पर बोलते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि "भाषा, धर्म, राष्ट्रीयता और प्रजाति एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न संकल्पनाएं हैं..."

उनकी विभिन्न प्रस्थापनाओं में एक यह भी है कि मिस्रवासियों को लोहे के महत्त्व का ज्ञान नीग्रो जनजातियों ने कराया था, नीग्रो जनजातियों को मिस्रवासियों ने नहीं, जैसा अक्सर माना जाता है। इस संबंध में उन्होंने 1918 में, मानव जाति के विभिन्न समूहों के एक-दूसरे के संपर्क में आने तथा आपस में घुल-मिल जाने से संबंधित भी एक सिद्धांत प्रतिपादित किया।

लोक देवी-देवता : दक्षिण भारत में अनादि काल से रहनेवाला जन-समूह 'द्राविड़' के नाम से जाना जाता है। पुराने जमाने में ये लोग प्रेतों की पूजा किया करते थे। कई प्रकार से इनकी प्रार्थनाएं की जाती थीं। आर्यों ने द्राविड़ों पर विजय प्राप्त करने के बाद वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत इन्हें शूद्रों के वर्ग में रखा था। यद्यपि इन दोनों जातियों (द्राविड़ और आर्य) के बीच धार्मिक विश्वासों संबंधी अंतर पाये जाते हैं, किंतु विश्वास और आराधना-पद्धति समान रूप से पायी जाती हैं। वर्तमान काल में ये अंतर बहुत अधिक घुल-मिल गये हैं। आर्यों के राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से द्राविड़ों पर विजय प्राप्त करने के बावजूद उनकी धार्मिक प्रतिबद्धता पर विजय प्राप्त नहीं कर सके। वर्तमान हिंदू धर्म में द्राविड़ देवताओं, क्रियाकांडों और विश्वासों को समुचित स्थान प्राप्त होने के कारण प्राचीन वैदिक धर्म का वास्तविक स्वरूप बहुत हद तक बदल गया है।

इस बात का अनुमान लगाया गया है कि दक्षिण भारत के 80 प्रतिशत लोग अब भी लोक-देवी-देवताओं की आराधना करते हैं। वस्तुतः यह आराधना हिंदू धर्म से संबद्ध नहीं है। द्राविड़ धर्म में लोक-आचारों और आराधना पद्धतियों से संबंधित व्यवस्थित नियम नहीं मिलते हैं। इस संबंध में उनका वाङ्मय लिखित रूप में संचित नहीं किया गया था। उनकी लोक-कथाएं मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती रहीं।

ब्राह्मण देवताओं (वैदिक देवताओं) और द्राविड़ देवताओं में एक मूलभूत अंतर पाया जाता है। वह यह है कि ब्राह्मण देवताओं का अपना दिव्य इतिहास है। वे देवलोक में जन्म पाते हैं और विविध अवतार ग्रहण करके धरती पर अवतरित होते हैं। द्राविड़ देवता इसके विपरीत धरती पर ही उत्पन्न माने जाते हैं। आम तौर पर इनका बहुत अधिक प्रभाव भी नहीं माना जाता है। इनमें अधिकतर स्त्रियां हैं।

दक्षिण भारत के प्रायः हर गांव में विष्णु के दशावतारों से संबंधित मंदिर पाये जाते हैं। यहां शैवालय भी बहुत हैं। शैव और वैष्णव मत के मंदिरों में ब्राह्मण ही पुजारी होते हैं। मंदिरों में निर्विघ्न रूप से पूजा चलाने के लिए हर मंदिर की अपनी जायदाद होती है। किंतु इन मंदिरों के अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक गांव में एक या एक से अधिक ऐसी शिलाएं भी धरती में गड़ी हुई मिलती हैं, जिनका कोई विशेष स्वरूप नहीं होता। ये शिलाएं लोक-देवी-देवता के रूप में पूजी जाती हैं। किन्हीं विशेष अवसरों पर कुछ तात्कालिक मूर्तियां भी बनाकर पूजी जाती हैं। किसी भी लोक-देवी-देवता का अपना कोई बड़ा सा मंदिर नहीं होता।

लोक-देवी-देवताओं की पूजा के पीछे सबसे मुख्य भावना होती है, उनकी सहायता से गांवों की रक्षा करना।

गांव के लोग उन देवी देवताओं से हमेशा भयभीत रहते हैं। गांवों में अनेक रूपों में पार्वती की आराधना होती है। काली, दुर्गा, देवी आदि रूप पार्वती के ही माने जाते हैं।

लोक देवी-देवताओं के उत्सवों में आम तौर पर निम्न जाति के लोग भाग लेते हैं। इसमें चमार, भंगी, नाई, कुम्हार आदि जातियों के लोग विशेष रूप से हिस्सा लेते हैं।

शक्ति, लोक देवी का एक बहुप्रचलित रूप है। लोक-विश्वास के अनुसार कुछ लोग मरने के बाद शक्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसी शक्तियों की गांवों के लोग बहुत विश्वास और भय के साथ पूजा करते हैं। गांवों में इस बात का भी विश्वास पाया जाता है कि ये शक्तियां निस्संतानों को संतान देती हैं और गांवों में बसी दुष्ट प्रेतात्माओं को बाहर खदेड़ती हैं। इन शक्तियों की पूजा में खून का उपहार अधिक दिया जाता है। इन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए बकरियों, मुर्गियों और भैंसों की बलि चढ़ायी जाती है।

गांवों में जो विविध प्रकार और रूपों के लोक देवी-देवताओं की आराधना होती है, उनके उद्भव को लेकर कोई निश्चित मत नहीं मिलता। हर गांव और जाति के लोग अपने देवी-देवताओं के संबंध में अलग विचार रखते हैं। यहां तक कि कुछ परिवार किसी विशेष देवी या देवता को केवल अपना मानते हैं। इधर शिक्षा के विकास के साथ-साथ लोक-देवी-देवताओं संबंधी विश्वास कुंठित होता जा रहा है।

लोहार जनजाति : ये खासकर बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में पाये जाते हैं। ये मुंडा, उरांव, अहीर इत्यादि अन्य जनजातियों के साथ रहते हैं। इनका पेशा लोहे के औजार और हथियार बनाना तथा मरम्मत करना है। इनकी अपनी खास भाषा नहीं है। अतः टूटी-फूटी हिंदी तथा आसपास की आदिम जातियों की भाषा ही बोलते हैं।

1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या बिहार में 92,609 तथा पश्चिम बंगाल में 2,031 थी।

लौकिकीकरण : लौकिकीकरण शब्द में विभेदीकरण की एक प्रक्रिया निहित है, जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक, कानूनी और नैतिक पक्ष एक-दूसरे के मामले में अधिकाधिक सावधान होते जाते हैं। धर्म और राज्य में अंतर, तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य की भारतीय अवधारणा, दोनों ही में ऐसे विभेदीकरण के अस्तित्व की स्वीकृति निहित है।

लौकिकीकरण का दूसरा आवश्यक तत्त्व बुद्धिवाद है। यह एक व्यापक शब्द है, जो उन विविध सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक प्रवृत्तियों के लिए प्रयुक्त होता है और जिसका लक्ष्य जगत की विशुद्ध चिंतन के रूप में व्याख्या करना है, जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को तर्कबुद्धि के सिद्धांत के अनुसार नियमित करना और समस्त तर्कहीन बातों को यथासंभव मिटाना अथवा पीछे धकेलना चाहती हैं।

लौकिकीकरण की प्रतिक्रिया से भारत के अन्य किसी धार्मिक समूह की अपेक्षा हिंदू ही अधिक प्रभावित हुए।

लौकिकीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित होनेवाला एक अन्य क्षेत्र है—कर्मकांड। जीवन में समय-समय पर होने वाले संस्कारों में कुछ कमी हुई है, साथ ही साथ उनके नितांत सामाजिक पक्षों ने पहले से ज्यादा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। कुछ ऐसे संस्कारों को जैसे नामकरण, उपाकर्म आदि को अब छोड़ने की प्रवृत्ति आरंभ हो चुकी है।

वंशीय : कभी-कभी एकधारी समाजों में एक विशेष प्रकार का संबंध पाया जाता है। ऐसे समाजों में एक ही पूर्वज की संतानों को वंश कहा जाता है। हर वंश के लोगों के अपने अलग आचार-व्यवहार होते हैं। लेकिन यह आवश्यक है कि कुल के सभी सदस्य अपने वंशानुक्रम संबंध से परिचित हों अन्यथा यह समूह गोत्र माना जाता है।

वंशागतित्व आकलन (H) : वंशागतित्व आकलन की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: यह किसी जनसंख्या में विविधता का वह प्रतिशत है, जिसे आनुवंशिकता से संबद्ध किया जा सकता है। इसे गुणात्मक और परिमाणात्मक रूपों में भी मापा जा सकता है। यह कार्य अनेक वैज्ञानिकों जैसे न्यूमैन, फ्रीमैन, हालजिंगर, राइफ इत्यादि द्वारा किया जा चुका है।

गुणात्मक रूप से यह निम्नलिखित सूत्र द्वारा मापा जा सकता है:

$$H = \frac{C_{M^2} - C_{D^2}}{100 - C_D^{\;2}}$$

जहां C_{M^2} = एक युग्मज यमज में संवादी

C_{D^2} = द्वियुग्मज यमज में संवादी

जब वातावरण का जीन संरचना पर प्रभाव होता है, तब एक युग्मज यमज में प्रत्याशित संवादी 100 प्रतिशत होगा और द्वियुग्मज यमज में कम मात्रा में। मान उन जीन-बारंबारताओं पर आश्रित होता है, जिसका अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार यदि वातावरण प्रमुख निर्धारक है, जिस प्रकार उस जगह हो सकता है, जहां जीनविज्ञानी रूप में कोई परिस्थिति-अवरोध न हो, इसकी संभावना है कि एक युग्मज यमज, द्वियुग्मज यमजों की अपेक्षा संवादी हो। इसका अर्थ है कि सीमा H_1O तक मान धारण करती है और मान दिये गये जीन संरचना और संबंधित अंशदानों के आकलन में उपयोग किया जा सकता है। उदाहरण :

स्पाइना बाइफीडा	H 0.583
मंगोलीय जड़ता	H 0.881
क्लब फूट	H 0.221

ये आंकड़े सुझाते हैं कि आनुवंशिकता स्पाइना-फोबिया अथवा क्लब-फूट की अपेक्षा मंगोलीय-जड़ता में अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भी संभव है कि यह परिकल्पना असत्य हो; क्योंकि यह उन आंकड़ों पर आधारित है, जो संवादी एकयुग्मज यमज के अधिमान्य प्रतिवेदन द्वारा उपस्थापित किये गये हैं। कोई भी इन यमज आंकड़ों से उपलब्ध परिणाम पर विश्वास नहीं कर पायेगा, जो एक युग्मज यमज क्रिया और मंगोलीय जड़ता दोनों की बारंबारता में वृद्धि के साथ पाये गये।

परिमाणात्मक विशेषक : हालजिगर (1929) का सुझाव है कि किसी भी परिमाणात्मक लक्षण की प्रकृति और परिपोषण अंत:क्रिया के मूल्यांकन के लिए उत्तम तुलना एकयुग्मज यमज के अंतर्कक्ष सहसंबंध गुणांक के साथ समान लैंगिक द्वियुग्मज यमज के गुणांक से की जाती है। यह उस परिकल्पना पर आधारित है कि इस प्रकार की तुलना, माता की आयु, जन्म पंक्ति और लिंग के कारण विभिन्नता को कम करती है। वंशागतित्व की माप इस प्रकार है :

$$H = \frac{r_{M^2} - r_{D^2}}{1 - r_{D_2}} \qquad r = \text{सहसंबंध गुणांक।}$$

$$\text{अथवा } H = \frac{V_{D^2} - V_{M^2}}{V_{D^2}} \qquad V = \text{प्रसरण}$$

$$1 - rMz = \frac{Vr^2}{V}$$

$$1 - rDz = \frac{V_{D^2}}{V}$$

H सीमाबद्ध है 0 और 1 के बीच।

जैसे अंतरायुग्म विभेद कम होता है, r की ओर प्रवृत्त होता है। न्यूमैन, फ्रीमैन और हालज़िगर ने इस क्रिया को यमज युग्मों के मध्य बुद्धिअंकों में अंतरों की परीक्षा के हेतु प्रयोग किया है।

एक साथ अभिपोषित एकयुग्मज यमज और द्वियुग्मज यमज की तुलना, समलक्षणी प्रसरण, जो आनुवंशिकता का कारण है, की प्रतिशतता के बारे में सूचनाएं प्रदान करती है।

एक युग्मज यमज के अस्तित्व, जो दूर रखकर अभि-पोषित किये गये हैं, उसी जीनी-संरचना पर दो विभिन्न वातावरणों की अंत:क्रिया के प्रवृत्ति-परिपोषण/ के इस अध्ययन के विस्तार की अनुमति देते हैं।

समलक्षणी विविधता की प्रतिशतता का आकलन, जो परिस्थिति (वातावरण) के कारण है, अर्थात् विभिन्न वातावरणों का उसी जीनी-संरचना पर प्रभाव निम्न-लिखित सूत्र द्वारा दिया गया है :

$$E = \frac{rMZT - rMZA}{1 - rMZA}$$

rMZT = अंत:कक्ष सहसंबंध उन एकयुग्मज यमजों का, जिनका अभिपोषण एक साथ किया गया हो।

rMZA = अंत:कक्ष सहसंबंध उन एक युग्मज यमजों का, जिनका अभिपोषण दूर-दूर रखकर किया हो।

रूढ़ पहुंच में जो हार्लजिगर की परिकल्पना की एक तर्कयुक्त व्याप्ति है, दूर-दूर अभिपोषित समरूप यमजों (MZA) की एक साथ अभिपोषित समरूप यमजों (MZT) से तुलना होती है। इस प्रकार की तुलनाएं प्रवणित विशेषताओं के साथ अधिक सामान्य हैं :

E=O एवं 1 के मध्य (बड़े प्रतिदर्श)।

वानर : वानर शब्द से प्राइमेट गण के जिन चार लांगूल-विहीन मानवसम नरवानरों का बोध होता है, वे हैं: चिंपैंजी, गोरिल्ला, ओरांगउटांग और गिब्बन।

इन चारों नरवानरों की शारीरिक संरचना बहुत-कुछ मनुष्यों के अनुरूप होती है, लेकिन इनके अवयवों का अनुपात मनुष्यों से मेल नहीं खाता। इनका मस्तिष्क मनुष्य के समान होने के बावजूद मानवों की भांति विकसित नहीं होता, बल्कि पशुओं की तरह अविकसित होता है। ये पृथ्वी पर अपनी पश्च-पादों के सहारे चल नहीं सकते। इनके हाथ काफी लंबे और मजबूत होते हैं। इस कारण ये पेड़ों पर आसानी से चढ़ सकते हैं। इनका अधिक समय पेड़ों पर ही बीतता है।

वनमानुषों में गोरिल्ला सबसे बड़ा ($6\frac{1}{2}$ फुट लंबा), फिर चिंपैंजी ($5\frac{1}{2}$ फुट लंबा), ओरांगउटांग ($4\frac{1}{2}$ फुट लंबा) और अंत में गिब्बन ($2\frac{1}{2}$ फुट लंबा) आता है।

इनमें गोरिल्ला सबसे अधिक बलवान, चिंपैंजी सबसे अधिक बुद्धिमान और गिब्बन सबसे अधिक ऊधमी वांनर है।

मुख्यतया ये सभी शाकाहारी जीव हैं। वैसे फल, फूल और पत्तियों के अतिरिक्त ये कीड़े-मकोड़े और अंडे भी बहुत स्वाद ले कर खाते हैं।

विनिमय : भारत की जनजातियां अधिकांश उत्पादन अपने ही उपयोग के लिए करती हैं, लेकिन थोड़ी-बहुत सामग्री जो उनके उपभोग के बाद भी बच जाती है, उसका वे विनिमय कर देती हैं, या उसे बेच देती हैं। आदिम समाजों में वस्तुओं का एक अन्य प्रकार से उपभोग किया जाता है। वे धार्मिक तथा सामाजिक त्योहारों पर भेंट देने के काम आती हैं। वे संबंधियों तथा मित्रों को भोज्य पदार्थ, वस्त्राभूषण तथा दस्तकारी के सामान भेंट में देते हैं। प्रत्येक समाज में विशेष अवसरों पर भेंट देने की प्रथा पायी जाती है। असम की नागा जाति में यदि किसी व्यक्ति को मकान बनवाना होता है, तो वह सामान जमा करने के पश्चात् अपने संबंधियों को निमंत्रित करता है। वे संबंधी मकान बनाने में सहायता करते हैं तथा वे गृह-निर्माता के अतिथि होते हैं। मकान बन जाने के पश्चात् गृह-निर्माता एक दावत देता है तथा अपने संबंधियों को उनके पदानुसार भेंट देकर विदा करता है। इससे यह पता चलता है कि आदिम समाजों में श्रम का मूल्य नहीं दिया जाता, बल्कि श्रम का विनिमय होता था। लेकिन इस प्रकार की भेंट से विनिमय में अदले-बदले के सिद्धांत का पालन किया जाता है, अर्थात् कोई व्यक्ति तभी भेंट देता है, जब उसको उस व्यक्ति से भेंट मिलने की आशा होती है।

वृद्धि एवं विकास : वृद्धि तथा विकास वे दो महत्त्वपूर्ण मौलिक सत्य हैं, जो शैशवकाल का विशिष्टीकरण करते हैं।

वृद्धि का अर्थ है—शरीर के विभिन्न भागों और अंगों का आकार बढ़ना। यह जन्म के पश्चात् के शरीर के आकार से जानी जाती हैं। यह वृद्धि संघटनात्मक आनुवंशिक कारकों पर आश्रित होती है और प्रजाति, जलवायु, भोजन, वातावरण इत्यादि कारकों पर भी आधारित होती है।

विकास जीवित पदार्थ का वह गुण है, जो उसे उन्नत विकास की क्रिया द्वारा एक उपयुक्त क्रिया की दशा तक ले जाता है। विकास का अवमूल्यन क्रियात्मक क्षमता से होता है और शैशवकाल के विभिन्न कालों के अनुसार सदैव क्रमात्मक, प्रगामी और अपसारित होता है।

नवजात शिशु तथा बच्चों के समस्त शारीरिक मापों में उपस्थित परिवर्तनशीलता (जो बहुत अधिक होती है) जीव का अनेक बाह्य तथा आंतरिक घटकों की वृद्धि की ओर जाना दर्शाती है।

शिशुवृद्धि की अवस्थाएं : वृद्धि की समस्या पर अनेक वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण करने की चेष्टा की है (क्लैपारिडी, स्केमान् इत्यादि)। वांडरवील (1943) ने निम्नलिखित वर्गीकरण स्वीकार किया

पूर्व शैशव — 2.5 वर्ष तक
मध्य शैशव — 2.5 से 7 वर्ष तक

उनारभावी शैशव — 7 वर्ष से 12 वर्ष (लड़कों के लिए) 7 वर्ष से 11 वर्ष (लड़कियों के लिए)

किशोरावस्था — 13 वर्ष से 17–18 वर्ष तक (लड़कों के लिए)
12 वर्ष से 15–18 वर्ष तक (लड़कियों के लिए)

वृद्धि का मापन : मानवविज्ञानी, मानवमितीय प्रविधियों की सहायता से वृद्धि की क्रिया के अध्ययन में जुटे हुए हैं।

वृद्धि के तीन प्रकार के माप माने जा सकते हैं।

(1) **रैखिक वृद्धि की माप** : यह बहुधा शरीर के संपूर्ण भागों (दैहिक उच्चता) अथवा शरीर-स्कंधों (धड़ की ऊंचाई, शीर्ष अथवा बैठने की स्थिति में ऊंचाई) की लंबाई अथवा ऊंचाई से संबंधित है। वृद्धि वक्र, चार निश्चित प्रावस्थाओं को दर्शाता है :

(क) नवजात शिशुकाल और शैशव में द्रुत वृद्धि का काल।

(ख) एक मध्यम काल जो 3 से लगभग 12 अथवा 13 वर्ष तक होता है, जिसमें वृद्धि धीमी होती है, किंतु स्थिर रूप में होती है।

(ग) 12 से 15 वर्ष के मध्य तारुण्य के आसपास गतिवृद्धि का काल।

(घ) और तत्पश्चात् अंतिम काल मंद वृद्धि का।

(2) **क्षेत्रीय वृद्धि की माप** : शरीर की क्षेत्रीय वृद्धि के आंकड़े उतने संतोषजनक नहीं हैं, जितने दैहिक उच्चता के; क्योंकि इसमें तकनीकी कठिनाइयां अधिक हैं। शरीर के पृष्ठ क्षेत्रफल के परिकलन में दो विधियां उपयोग में लायी जाती हैं: जिसमें प्रथम (क) वियरोर्ड्ट-मीह का सूत्र (1905) हैं :

पृष्ठ क्षेत्रफल (Cm^2)= $12.312\ \sqrt[3]{W^2}$ भार
W= (ग्राम में)

और दूसरा सूत्र है (ख) डी० डुबाइस तथा ई० एफ० डुबाइस (1916) का, जिसमें पृष्ठ क्षेत्रफल (Cm^2)
$W^{0.425} \times H^{0.725} \times 71.84$ W=भार (ग्राम में)
H= दैहिक उच्चता (से० मी० में)

(3) **पांडीरल वृद्धि की माप** : शरीर के भार में वृद्धि एफ० एच० लारेंट्ज़ (1929) ने दी गयी ऊंचाई के साथ भार की विवेचना पर अनेक प्रयोग किये। उसने आयु के अनुसार कद के प्रत्येक सेंटीमीटर के साथ भार का संबंध बनाने में सफलता प्राप्त की।

लीवी का भार-कद सांख्यिकी अथवा
पांडीरल सांख्यिकी

$$\frac{1000 \times \sqrt[3]{\text{भार (ग्राम)}}}{\text{कद (से० मी०)}}$$

अनुदैर्घ्य तथा अनुप्रस्थ परिच्छेदीय वृद्धि का अध्ययन : वृद्धि की क्रियाओं में व्यक्तिगत रूप से विभिन्नताओं के अध्ययन के लिए उसी व्यक्ति को एक निश्चित समय तक दुबारा नापना पड़ता है। इस प्रकार का वृद्धि-अध्ययन अनुदैर्घ्य कहलाता है। जबकि प्रत्येक व्यक्ति का एक ही परीक्षण द्वारा सर्वेक्षण अनुप्रस्थ परिच्छेदीय कहलाता है।

त्वचा स्तर मोटाई की माप (अधस्त्वचीय वसा की माप) : त्वचा स्तर मोटाई की माप शरीर में भेद का आकलन करने के लिए माध्य का पता लगाती है। वे शरीर के संघटन और पौष्टिक स्थिति की कैलोरिक पक्ष के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। त्वचा स्तर माप विभिन्न स्थानों से ली जा सकती है :

(क) ट्राइसैप्स अर्थात् ऊपरी भुजा के पीछे ट्राइसैप्स मांसपेशियों पर

(ख) बाइसैप्स (ऊपरी भुजा के पीछे) इत्यादि। (प्रयोग में लाया जाने वाला यंत्र : हारपैनडन अथवा लेंज स्किन फोल्ड मैजरिंग कैलिपर्स)

यह माप इस प्रकार ली जा सकती है : अंगूठे और तर्जनी से त्वचा के सार को अनुदैर्घ्य रूप से एक से० मी० ऊपर उठाकर माप लेते हैं।

वेड्डा जनजाति : आस्ट्रेलाइड वर्ग के पूरे लक्षणों से युक्त जाति के रूप में वेड्डा जाति मानी जाती है। लेकिन इस जाति के जन्म को लेकर परस्पर विरोधी विचार-धाराएं पायी जाती हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, प्रोटो-आस्ट्रेलाइड वर्ग, नीग्रिटो वर्ग का शेषांश तथा मेडिटेरेनियन उप वर्ग—इन तीनों वर्गों की मिश्रित जाति ही वेड्डा जाति है। लेकिन, हाल की खोजों के आधार पर, इस बात पर अधिक बल दिया जा रहा है कि वस्तुतः वेड्डा जाति मिश्रित जाति न होकर एक ही जाति का

समूह है। इन खोजों के आधार पर इस बात पर भी विश्वास किया जाने लगा है कि वेड्डा जाति के लोग श्रीलंका के आदिवासी न होकर श्रीलंका में बाहर से आकर बसे हुए लोगों में सबसे प्रथम थे।

वेड्डा जाति के लोगों तथा श्रीलंका के अन्य लोगों में काफी अंतर पाया जाता है। शारीरिक गठन के आधार पर यह अंतर साफ तौर पर देखा जा सकता है। नाटे से धड़, लंबी टांगें, काले केश, एकदम काला रंग, नाटा कद—ये इस जाति के लोगों की आकृति की विशिष्टताएं हैं।

इस बात के लिखित प्रमाण मिलते हैं कि वेड्डा जाति के लोग प्राचीन काल में श्रीलंका के विविध प्रदेशों में रहा करते थे, लेकिन कालांतर में, बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण या अपनी आर्थिक सुविधाओं के कारण वे अपने प्राचीन स्थानों को छोड़कर पीछे हट गये।

वेड्डा जाति की जनसंख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इसका एक कारण यह भी है कि ये लोग और जातियों में विलीन होते जा रहे हैं। 1964 में इन लोगों की संख्या केवल 750 थी। ये लोग 30-40 समूहों में बंटकर जीवन बिता रहे हैं।

आचार-व्यवहार : वेड्डा जाति की सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत, किसी समय, श्रेणीबद्ध समूह हुआ करते थे। उन सारे समूहों पर एक अभिजात समूह अधिकार चलाया करता था। ऐसी व्यवस्था के आधार पर ये लोग समाज में समरसता और स्थैर्य की रक्षा करते थे। इनमें विगोत्र विवाह की प्रथा प्रचलित थी। तलाक की प्रथा इनमें नहीं थी और व्यवहार की पवित्रता पर बहुत बल दिया जाता था। इनके 5-7 परिवार एक समूह में बंधे होते थे और इनका एक मुखिया होता था, जो पुरोहित भी हुआ करता था। भूत-प्रेतों के नाम बलि चढ़ाना, उन्हें उपहार देना इनके लिए प्रिय था—ऐसा करते हुए ये सोचते थे कि भूत-प्रेत पूर्णरूप से इनकी रक्षा करते हैं। मृतकों को ये अपने मकानों और खेतों के आस-पास दफनाते थे। शव के साथ, ये लोग पान की थैली और जीवन में उसके द्वारा बरते गये कुछ औजार गाड़ा करते थे। शव की कब्र बनाने की भी इनमें प्रथा थी। इधर, वेड्डा जाति के लोगों के दैनंदिन जीवन पर से उनकी प्राचीन संस्कृति का प्रभाव घटता जा रहा है। कई वेड्डा जाति के लोग श्रीलंका के शेष समाज के प्रभाव के कारण अपने आपको बौद्ध धर्म के अनुयायी मानने लगे हैं।

हर काम में वेड्डा जाति के लोग प्रवीण होते हैं। गीली राख से गुफाओं की दीवारों पर तरह-तरह के चित्र बनाने की कला भी इन्हें खूब आती है। इनकी स्त्रियां और पुरुष कुम्हारी करते हैं। घने जंगलों में पशुओं का पीछा करके शिकार करना और शहद जमा करने के काम में भी इन्हें महारत हासिल है।

वेस्टरमार्क, एडवर्ड अलेक्जेंडर (1862-1939) : फिनलैंडवासी मानवविज्ञानी। सन् 1862 में हेलसिंकी में उनका जन्म हुआ था। फिनलैंड विश्वविद्यालय में उनकी शिक्षा हुई। सन् 1907 से 1930 तक लंदन विश्वविद्यालय में समाजविज्ञान के प्रोफेसर रहे। नैतिकता के समाजविज्ञान में उनकी अत्यधिक रुचि थी। 'कंपेरेटिव स्टडी आफ मोरल्स' नामक ग्रंथ में इस विषय का विशद् अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनका विचार है कि आदिम जातियों के आचार-विचारों में अभिव्यक्त नैतिक नियम आधुनिक सभ्य समाज के नियमों से बहुत कुछ समान हैं। धर्म और नैतिकता का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके उन्होंने यह स्थापित किया कि असभ्य मानवों के नैतिक आदर्शों पर धर्म की अपेक्षा जादू-टोने का अधिक प्रभाव है। तुलनात्मक नीतिशास्त्र, मोरक्को के आदिवासियों के आचार-विचार, आदिवासियों के आभूषण, अगम्यगमन (दे० समाजविज्ञान खंड) आदि अनेक मानवविज्ञान संबंधी विषयों का उन्होंने विशद् अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं में 'हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरेज', 'ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ द मोरल आइडियाज', 'मैरेज सेरिमनीज इन मोरक्को', 'शार्ट हिस्ट्री आफ मैरेज', 'एथिकल रियलिटी' आदि मुख्य हैं।

शारीरिक मानवविज्ञान : मानवविज्ञान का अर्थ है मानव का अध्ययन। एंथ्रोपास शब्द का अर्थ मानव और लागेस शब्द का अर्थ ज्ञान है। शारीरिक मानवविज्ञान मानव के उद्भव और विकास का अध्ययन है तथा साथ में विश्व के विभिन्न भागों में पायी जानेवाली मनुष्यजाति की अनेक विविधताओं का भी अध्ययन है। शारीरिक मानवविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती

है : "यह समय तथा स्थान में मनुष्य के जैविकीय आचरण का अध्ययन करता है। शारीरिक मानवविज्ञान मनुष्य समान जीवाश्म और जीवाश्म-मनुष्य का भी अध्ययन करता है।" मनुष्य-समान प्रकारों की अनेक पुरातन अस्थियों के विविध प्रकारों की समुचित मात्रा अब मालूम हो चुकी है। इनका विस्तृत अध्ययन मानव विकास और जाति-वृत्तीय स्थिति का निर्धारण करने में समर्थ है।

शारीरिक मानवविज्ञान मनुष्यों के मध्य प्रजातीय भेदों का भी अध्ययन करता है। प्रजातीय मतभेदों और मनुष्यों के आचरण के कारणों की समस्याओं में मानव-विज्ञानी व्यस्त हैं।

मानवविज्ञानी के लिए अन्य समस्याएं हैं : मनुष्यों में आनुवंशिक विभिन्नताओं का स्वभाव तथा वे कारण जिन से इस प्रकार की विभिन्नताओं का जन्म होता है, मनुष्यों के विभिन्न समूहों में जीनी-परिवर्तनशीलता की मात्रा इत्यादि। इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, शारीरिक मानवविज्ञान मानव जीनविज्ञान की विधियों का अध्ययन करता है तथा विशेष रूप से सामान्य परिवर्त्तों, जैसे रुधिर वर्ग, का अध्ययन करता है। किंतु संभवत: शारीरिक जीनविज्ञानी का गहन संबंध मानव समूहों की मानवीय वंशागति, जनसंख्या या जीनविज्ञान, विविध कारक जो जीनी स्थायित्व अथवा विक्षोभों का कारण बनते हैं, जीन बारंबारता इत्यादि से है।

यह मानव वृद्धि और अनेक जनसंख्याओं में विकास का भी अध्ययन करता है। मनुष्य की वृद्धि एवं विकास पर वातावरण और पौष्टिक आहार का प्रभाव कितना पड़ता है, इसका भी अध्ययन भौतिकीय (शारीरिक) मानवविज्ञान के अंतर्गत होता है। यह अध्ययन मानवमिति, जो भौतिकीय मानवविज्ञान की एक शाखा है, में किया जाता है। विभिन्न शरीर रचनाओं और रोग के मध्य संबंध स्थापित किया जा चुका है।

शारीरिक मानवविज्ञान की नूतन प्रवृत्तियां : 19वीं शताब्दी के मध्य से शारीरिक मानवविज्ञान के अध्ययन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं।

(1) अनेक भ्रामक विचारों को निकाल फेंका गया। उदाहरण के लिए, विशुद्ध प्रजाति के विचार का खंडन किया गया। अब कोई विशुद्ध प्रजाति प्रकार नहीं है।

(2) अत्यधिक प्रक्रियात्मक और प्रविधिक प्रगतियों से उन प्रश्नों का उत्तर मालूम किया गया, जिनको पहले विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, कार्बन 14 द्वारा तिथि (काल) ज्ञात करने की क्रिया का परिचय कराया गया। शरीर की सूक्ष्म संरचनाओं की भौतिक और रासायनिक क्रियाओं के अध्ययन को विकसित किया गया। मानव शरीर तथा संघटन के परीक्षण के लिए फोटोग्राफिक और एक्स-रे प्रविधियां अपनायी गयीं।

(3) इस शताब्दी के मध्य से शारीरिक मानवविज्ञान का जीनविज्ञान तथा अन्य जैविकविज्ञानों और मानव संबंधी अन्य विज्ञानों के साथ भी संबंध हो गया। वे व्यक्ति जो शारीरिकविज्ञान में प्रशिक्षित थे, अब चिकित्साविज्ञान में मानव जीनविज्ञान विशेषज्ञों जैसे कार्य कर रहे हैं। शारीरिक मानवविज्ञान का प्रमुख-कार्य मानव की विविधताओं और विकास को समझने के लिए प्रयत्न करना है।

(4) युद्ध के पश्चात् की गयी प्रगति में प्रमाणित मानवविज्ञान प्रविधियों और उनके रूपांतरणों का प्रयोग व्यवहारिक आवश्यकताओं के लिए किया गया। शारीरिक मानवविज्ञान विशेषज्ञ मनुष्य के निकटतम भौतिक वातावरण के आकार, अनुपातों और विस्तारों का व्यापक अध्ययन करने लगे। उन्होंने औद्योगिक माल के उत्पादन और सुरक्षा सेनाओं के उपयोग में आनेवाले अनेक उपकरणों के प्रमाणिक आकार के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यह प्रामाणिक आकार मानवभिति की प्रविधियों की सहायता से बनाये गये। कुर्सी, वस्त्र, वायुयान अथवा मनुष्य के विभिन्न आकारों के सूट बनाने में भी प्रयस्त किये गये।

मृत व्यक्तियों की पहचान, अपराधियों की खोज, विवादास्पद पितृत्व के निर्णय इत्यादि जैसी समस्याओं में शारीरिक मानवविज्ञान विशेषज्ञों ने योगदान दिया। शारीरिक मानवविज्ञानी इन समस्त समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जीनशास्त्री, चिकित्सक, शरीरविज्ञानविद्, इतिहासविद्, जनांकिकी विशेषज्ञ, जीनविज्ञानी तथा मानवविज्ञानी, मनुष्य के विकास और उनकी सामान्य समस्याओं के हल ढूंढ़ने में प्रयत्नशील हैं। शारीरिक मानवविज्ञानी विविध प्रकार की समस्याओं के हल निकालने की कोशिश कर रहे हैं।

श्रम-विभाजन : अन्य लोगों की तरह भारत की जनजातियों



3. लूशिया जाति (कूके-त्रिपुरा)



1



2

ऊपर

1. संथाल युवतियां
2. खासी जाति की युवतियां



बाएँ

4. खासी युवतियां

के परिवारों में भी परिवार के प्रत्येक सदस्य को कुछ न कुछ काम करना पड़ता है। परिवार के आर्थिक जीवन में स्त्रियों का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। इन लोगों में श्रम का यह विभाजन आयु के आधार पर ही होता है।

स्त्रियों का काम खेतों में बीज बोना, निराई करना, पौधे लगाना, कुटाई करना, अनाज को सुखाना तथा उनको सुरक्षित रखना है। इन सब कामों में पुरुष भी स्त्रियों की सहायता करते हैं, लेकिन अनाज की कुटाई तथा अनाज से भूसा अलग करने का काम केवल स्त्रियां ही करती हैं। अनाज बेचने का काम भी स्त्रियां ही करती हैं।

जंगलों में जाकर फल-फूल तथा ईंधन के लिए लकड़ियां इत्यादि एकत्र करना भी औरतों का ही काम होता है। कुएं, तालाब से पानी भरकर स्त्रियां ही लाती हैं।

घर में स्त्रियों का काम, घर की सफाई करना, मवेशियों के रहने के स्थान को साफ करना, कपड़े तथा बरतन धोना, बच्चों की देखभाल तथा खाना बनाना इत्यादि होता है।

पुरुषों के जिम्मे हल जोतना तथा अन्य कठिन काम होते हैं। वह घर की मरम्मत, कुओं की खुदाई इत्यादि काम करता है। इसके अलावा शिकार करना, मछली मारना तथा लकड़ियां काटने का काम भी पुरुषों के जिम्मे ही होता है। गाय का दूध दुहना तथा उसे बेचने का काम भी पुरुष ही करते हैं।

खेत की रखवाली, अनाज की कटाई, लकड़ियां बेचना, फल-फूल एकत्र करना इत्यादि कुछ काम ऐसे भी हैं, जिन्हें पुरुष तथा औरतें दोनों मिलकर करते हैं।

बच्चों का काम अपने माता-पिता को सहयोग देना होता है। लड़के अधिकतर मवेशी चराने का काम करते हैं, लड़कियां घरेलू काम में अपनी मां का हाथ बंटाती हैं।

इस तरह हम यह पाते हैं कि आदिवासी समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां ज्यादा काम करती हैं तथा उनके ऊपर ज्यादा उत्तरदायित्व होता है।

संघ : जिन्सबर्ग के अनुसार 'संघ' का अर्थ एक ऐसे मानव समूह से है, जिसमें बहुत से लोग इकट्ठे होकर किसी खास काम को पूरा करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि यह शक्तियों के ऐसे समूह को सूचित करता है, जिसमें सभी मिलकर एक सम्मिलित उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा रखते हैं।

संथाल जनजाति : संताल उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध जनजाति मानी जाती है। इनकी जनसंख्या बिहार में 15,41,345, उड़ीसा में 4,11,181, पश्चिम बंगाल में 12,00,019 एवं त्रिपुरा में 1,562 थी। संथाल अपने-आपको होर भी कहते हैं। इनकी भाषा संथाली है, जो मुंडारी भाषा-समूह की एक शाखा है। लेकिन कुछ राज्यों में ये हिंदी, उड़िया, एवं बंगला भी बोलते हैं। संथालों का मुख्य पेशा खेतीबारी और मवेशियों का पालन है, पर इन दिनों वे उद्योग क्षेत्रों में मजदूरी तथा रोजगार भी करने लगे हैं।

संपत्ति : मनुष्य के उपयोग में आनेवाली उन वस्तुओं को, जिन पर उसका स्वामित्व हो, उस व्यक्ति की संपत्ति कहा जाता है। संपत्ति का दूसरा अर्थ मुद्रा कमाने का साधन है। इस तरह जमीन तथा मकान किसी की अपनी संपत्ति होते हैं। अपनी संपत्ति को अपने पास रखने या दूसरे को दे देने का या उसे बेच देने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को होता है।

संपत्ति के स्वामित्व के विषय में विभिन्न समाजों में अलग-अलग धारणाएं हैं। प्रत्येक समाज सांसारिक उपयोग की वस्तुओं को तीन श्रेणियों में बांटता है : (1) वे वस्तुएं जिन पर व्यक्ति-विशेष का स्वामित्व माना जाता है (2) वे वस्तुएं जिन पर एक व्यक्ति का नहीं, समूह का स्वामित्व माना जाता है और (3) वे नैसर्गिक वस्तुएं जिन पर किसी का आधिपत्य नहीं होता, परंतु जिनके उपयोग करने का सभी को पूर्ण अधिकार होता है।

भारत की अधिकांश आदिमजातियों में भूमि, नदी, नाला, पर्वत आदि प्राकृतिक वस्तुओं पर सामूहिक अधिकार माना जाता है। मध्यप्रदेश की गोंड जातियों और छोटा नागपुर की मुंडा भाषा-भाषी जनजातियों में युवागृह की प्रथा है। इन गृहों में कृषि के औजार, ढोर, बैल, ढोल-नगाड़े तथा अस्त्र-शस्त्र रखे रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर कोई भी व्यक्ति उनका उपयोग कर सकता है। परंतु उस पर स्वामित्व समुदाय का ही माना जाता है। इसी प्रकार भूमि, गृह आदि वस्तुएं समाज की मानी जाती हैं। इन जातियों में ऐसा नियम है कि गांव छोड़ने पर किसी व्यक्ति की भूमि तथा गृह ग्राम की संपत्ति हो जाती है और मुखिया को यह अधिकार रहता है कि वह पुनः

किसी अन्य व्यक्ति को दे सके। इन वस्तुओं पर व्यक्ति का अधिकार केवल उपयोग के लिए ही होता है, उसे बेचने अथवा नष्ट करने का नहीं।

संपत्ति-स्वामित्व : मनुष्य के व्यवहार में आनेवाली वस्तुएं, जिन पर उसका स्वामित्व हो, उस व्यक्ति की संपत्ति कही जाती हैं। उदाहरणत: घर, खेत, पशु इत्यादि वस्तुएं संपत्ति के अंतर्गत आती हैं।

संपत्तिके स्वामित्व के विषय में विभिन्न समाजों में अलग-अलग धारणाएं हैं। प्रत्येक समाज में सांसारिक उपयोग की वस्तुओं को तीन श्रेणियों में बांटा गया है : (1) वे वस्तुएं जिन पर मनुष्य-विशेष का अधिकार होता है (2) वे वस्तुएं जिन पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होता है और (3) प्राकृतिक वस्तुएं, जिन पर किसी का स्वामित्व नहीं होता, परंतु जिनका उपयोग करने का सभी को पूरा-पूरा अधिकार होता है। अधिकांश जनजातीय समाजों में संपत्ति का स्वामित्व सामुदायिक होता है। प्राकृतिक वस्तुएं जैसे भूमि, नदी, नाला, पर्वत, जंगल इत्यादि पर समुदाय का सम्मिलित अधिकार माना जाता है। बहुत-सी जनजातियों में युवागृह की प्रथा है। इन गृहों में कृषि के उपकरण, ढोर, वाद्य-यंत्र, तथा अस्त्र-शस्त्र रखे रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर कोई भी व्यक्ति इनका उपयोग कर सकता है। इन जातियों में ऐसा नियम है कि गांव छोड़ने पर उसकी भूमि तथा घर गांव की संपत्ति हो जाती है और मुखिया को यह अधिकार होता है कि वह उनको पुनः किसी अन्य व्यक्ति को दे सके। इन वस्तुओं पर व्यक्ति का अधिकार केवल उपयोग के लिए होता है। उसको बेचने या नष्ट करने का उसे कोई अधिकार नहीं होता।

संप्रदाय : जिन्सबर्ग के अनुसार संप्रदाय का अर्थ एक ऐसे मानव-समूह से होता है, जो एक ही स्थान पर रहते हैं और जिनके सभी सामाजिक नियम-बंधन एक समान होते हैं।

संस्कार : रीति-रिवाजों द्वारा निर्धारित व्यवहार को संस्कार कहते हैं। बहुत सी आदिम जातियों में ईश्वर की पूजा तथा अन्य धार्मिक कामों से ही संस्कार को संबंधित किया जाता है तथा जो निर्धारित संस्कारों का अनुगमन नहीं करते हैं, वे दंड के भागी होते हैं। सामाजिक उत्सवों में जैसे भोज, जन्म, मृत्यु इत्यादि अवसरों पर पूर्वजों द्वारा निर्धारित संस्कारों का पालन करना पड़ता है।

संस्कृति : संस्कृति शब्द की परिभाषा अनेक विद्वानों ने दी है। एडवर्ड बर्नेट टाइलर के अनुसार संस्कृति के अंतर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रीति-रिवाज तथा रहन-सहन के ढंग आते हैं, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में ग्रहण करता है। अमरीकी विद्वान लिंटन के अनुसार ज्ञान तथा रहन-सहन के तरीके, जो मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अपनाता है तथा जिसका प्रसार करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। विट्स के अनुसार संस्कृति परिवेश का वह अंग है, जो मानव से स्वयं निर्मित होता है।

संस्कृति के सार्वभौम तत्व : किसी संस्कृति के अध्ययन का अर्थ है, उन सभी संस्थाओं, रीति-रिवाजों, विश्वासों आदि का अध्ययन, जिनका पालन उस संस्कृति पर चलनेवाले व्यक्ति करते हैं। उन संस्थाओं में से सभी मानव-समाजों में किसी न किसी रूप में पायी जाती है और कुछ एक केवल विशिष्ट समाजों में ही पहली श्रेणी की संस्थाओं और रीति-रिवाजों को मानवविज्ञान में 'संस्कृति के सार्वभौम तत्व' कहा गया है।

संस्कृतीकरण : संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कोई निम्न स्तर की हिंदू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह, किसी उच्च और प्रायः, 'द्विज' जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकांड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलती है। आमतौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति, परंपरा से स्थानीय समाज में उसे जो स्थान मिला हुआ है, उससे ऊंचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों बाद. बल्कि वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक दावा किये जाने के बाद ही उसे मान्यता मिलती है। कभी-कभी कोई जाति ऐसे स्थान की मांग करने लगती है, जो उसके पड़ोसी मानने को तैयार नहीं होते।

सामान्यतः संस्कृतीकरण के साथ-साथ और प्रायः उसके परिणामस्वरूप संबद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती है। पर गतिशीलता संस्कृतीकरण के बिना अथवा गतिशीलता के बिना संस्कृतीकरण भी संभव है। किंतु संस्कृतीकरण से संबद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में पदमूलक परिवर्तन ही होते हैं। कोई संरचनामूलक परिवर्तन नहीं।

संस्कृतीकरण केवल हिंदू जातियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जनजाति और अर्ध-जनजाति समूहों में में भी होता है।

सजातीय : जब व्यक्तियों का एक समूह एक ही पूर्वज से संबंधित हो तब वे सजातीय कहलाते हैं अर्थात् जब किसी समूह के सभी व्यक्तियों का पूर्वज एक ही हो, तब वे सजातीय होते हैं।

सभ्यता : आदिम युग का मानव जंगलीपन की अवस्था में था। धीरे-धीरे उसमें विकास हुआ तथा वह रहन-सहन के तौर-तरीके इत्यादि सीखने लगा। इस तरह सभ्यता का विकास हुआ।

सभ्यता संस्कृति का ही एक अंग है; क्योंकि संस्कृति की तरह सभ्यता भी रहन-सहन के तौर-तरीकों का वर्णन करती है तथा मानव-विकास का एक स्तर बतलाती है। टायलर के अनुसार संस्कृति के अंतर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रीति-रिवाज तथा अन्य रहन-सहन के ढंग आते हैं। इन दोनों के अंतर को मैकआइवर ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है। मैकआइवर के अनुसार संस्कृति मनुष्य की आत्मिक, बौद्धिक एवं आचरण-संबंधी उपलब्धि को कहते हैं तथा सभ्यता के अंतर्गत मनुष्य की तकनीकी, सामाजिक संस्थाओं इत्यादि की उपलब्धियां आती हैं।

समाज और संस्कृति : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। शरीर-रचना के अनुसार मनुष्य एक पशु-मात्र है। पशुओं की भांति उसमें भी भूख, काम तथा अस्तित्व को अनुभव करने की प्रबल इच्छा होती है। परंतु एक विषय में मनुष्य पशुओं से सर्वथा भिन्न है, वह है संस्कृति। विकास की किसी भी अवस्था में मानव संस्कृतिहीन नहीं रहा है, सांस्कृतिक आधार पर ही मनुष्य, मनुष्य बन पाया है।

संस्कृति की परिभाषा अनेक विद्वानों ने दी है। एडवर्ड बर्नेट टायलर के अनुसार संस्कृति के अंतर्गत ज्ञान, विश्वास, विधि, रीति, कला तथा रहन-सहन के ढंग आते हैं, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में ग्रहण करता है। हरस्कोविट्स के अनुसार संस्कृति परिवेश का वह अंग है, जिसे मानव स्वयं निर्मित करता है।

जन्म के समय मनुष्य एक पशु मात्र होता है। धीरे-धीरे परिवार के सदस्यों के संपर्क में आकर वह एक सामाजिक तथा संस्कृत प्राणी बन जाता है। वह परिवार में ही सामाजिक नियमों को सीखता है।

किसी संस्कृति के अध्ययन में आज उन सभी रीति-रिवाजों, संस्थाओं आदि का अध्ययन आता है, जिनका पालन इस संस्कृति के अनुयायी करते हैं। उन संस्थाओं में से कुछ तो सभी समाजों में किसी न किसी रूप में पायी जाती हैं और कुछ केवल विशिष्ट समाजों में ही। क्लार्क विज़लर के अनुसार पहली श्रेणी की संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों को संस्कृति के सार्वभौम तत्व कहा गया है तथा दूसरे प्रकार की रीतियों को 'संस्कृति के विकल्प'।

अधिकांश समाजों में पाये जानेवाले संस्कृति के आवश्यक तत्त्व निम्नलिखित हैं :

1. भौतिक संस्कृति
2. आर्थिक संगठन
3. सामाजिक संगठन
4. सामाजिक नियंत्रण
5. भाषा
6. कला तथा मनोरंजन
7. शिक्षा
8. संसार के विषय में ज्ञान

उद्विकासवादियों के अनुसार संस्कृति-विकास के तीन स्तर हैं। सबसे निचले स्तर को जंगलीपन, मध्य स्तर को बर्बरता एवं उच्चतम स्तर को सभ्यता की संज्ञा दी गयी है। मोर्गन के अनुसार निम्न-जंगलीपन मानव संस्कृति का उदय-काल था। मध्य-जंगलीपन की अवस्था में मानव मछली पकड़ता था तथा अग्नि का उपयोग करता था। उपरि-जंगलीपन में उसने धनुष-बाण का निर्माण एवं उपयोग सीख लिया था। इसी प्रकार निम्न-बर्बरता के युग में उसने मिट्टी के बर्तन बनाने की विधि का आविष्कार किया। मध्य-बर्बरता युग में जंगली जानवरों को पालतू बनाने की कला सीखी तथा उपरि-बर्बरता युग में आने तक वह धातुओं को गलाना भी सीख चुका था। सभ्यता के युग का प्रारंभ लिपि-निर्माण के साथ ही माना जाता है।

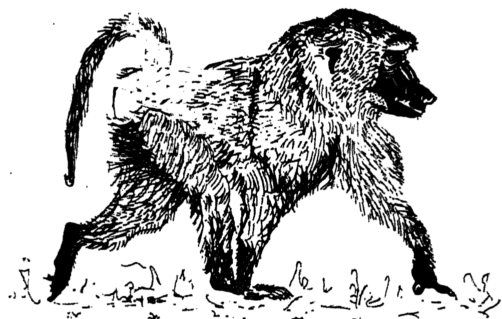
समाजीकरण : जब एक बढ़ता हुआ बालक, अपने ही समाज के रीति-रिवाजों एवं संस्कारों को सीखने की कोशिश करता है, तो उस क्रिया को समाजीकररण कहा जाता है।

सरकोपिथिक्वाइडिया (प्राचीन लोक वानर) : प्राचीन लोक वानर सरकोपिथिक्वाइडिया की संरचना करते हैं। वे दक्षिणी अफ्रीका के केप आफ गुडहोप से जापानी द्वीपों तक पाये जाते हैं। उनकी उत्तरी सीमाएं हिमालय पर्वत की श्रेणियों तक फैली हुई हैं।

विशेषताएं : सरकोपिथिक्वाइडिया में अनेक वंश (जीन्स) और जातियां (स्पीशी) निहित हैं। जातियों का व्यापक हिस्सा वृक्षवासी प्रकार के जीवन हेतु अनुकूलित किया गया है। इनकी विशाल संख्या स्थलचर प्रकार की है। सरकोपिथिक्वाइडिया का दंतसूत्र $\frac{2.9.2.3}{2.9.2.3}$ है।

सब में नितंबों पर, केशरहित किणक क्षेत्र होते हैं, जो श्रोणि कणि कहलाते हैं। आसनास्थि टांच अस्थि होती हैं, जिस पर शरीर विश्राम करता है। यद्यपि ऐसा जान पड़ता है कि ये क्षेत्र प्राथमिक रूप से बैठने हेतु होते हैं और क्रिया में संवेदक होते हैं, किंतु ऐसा जान पड़ता है कि इनमें से कुछ वानरों में वे द्वितीयक लैंगिक लक्षणों में परिवर्तित हो चुके हैं।

बैबून, मैंड्रिल, मेकाक और सरकोपिथिसिडी के अन्य प्रकारों में किण अत्यधिक वर्णित, गुलाबी, लाल अथवा जामुनी रंग के होते हैं। सरकोपिथिसिडी में सामान्यत: कपोल-कोष्ठ होते हैं, जिनमें अनुवर्ती समय के लिए भोजन रख लिया जाता है और अवकाश के समय ग्रहण किया जाता है। पश्चपाद की अपेक्षा अग्रपाद छोटे होते हैं। पाद का संपूर्ण भाग तली-भूमि पर प्रयुक्त किया जाता है। वुडजोन्स कहते हैं कि प्राचीन लोक वानरों में, नवलोक वानरों की अपेक्षा हाथ और पैरों में नख कम चापित होते हैं। पूर्वोक्त में उत्तरोक्त की अपेक्षा अंगुष्ठों और पादांगुष्ठों में अधिक चलिष्णुता होती है। सरकोपिथिसिडी में पूंछ छोटी अथवा बहुत लंबी हो सकती है। वह कभी परिग्राही नहीं होती। सरकोपिथिसिडी के दो उपकुल होते हैं। (क) सरकोपिथिसिनी, (ख) कोलेबिनी अथवा सैमनोसिपिथिसिनी। सरकोपिथिसिनी में संहित हैं : बैबून (दे० चित्र), मैंड्रिल, ड्रिल, तथाकथित सीबस के काले ऐप (विपुच्छ कपि), मैकाक, ग्वीनस, मगाबी और पातस वानर। इस उपकुल में पूंछ की लंबाई परिवर्ती होती है, कपाल कोष्ठ और श्रोणि-कणि सदैव उपस्थित रहती है। अंगुष्ठ पूर्ण विकसित होता है। ग्वीनन, दीर्घतम वंश भासुर वर्णित होता है, वृक्षवासी वानर अफ्रीका में होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सीबस का श्याम ऐप (विपुच्छ कपि) मैकाक और बैबून के मध्य का है।



उसमें एक चिह्नित, बाहर की ओर निकला हुआ प्रोथ होता है। परंतु उसके नासारंध्र छोर के पीछे की ओर कुछ दूरी से खुलते हैं, जो वास्तविक बैबून में अपनी स्थिति से बिल्कुल विपरीत हैं।

पूंछ केवल एक गुलिका समान रह गयी है। यह वानर फलाहारी और वृक्षवासी होते हुए मैकाक के सदृश होते हैं। मैकाक दक्षिण-पूर्वी एशिया और इंडो-मलायन आर्कीपिलागो का अत्यंत सामान्य वानर है। भैषजिक परीक्षणों के हेतु प्रयोगशाला के लिए यह प्राणी अत्यंत उपयुक्त है। स्पीशीज़ बहुत हैं और द्वीप-प्रकार स्पष्ट रूप से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। मैकाक सामान्यत: बलिष्ठ शरीरवा होते हैं तथा इनकी परिवर्ती लंबाई की पूंछ होती है अपेक्षाकृत छोटे पाद, पूर्ण-विकसित अंगुष्ठ और पादांगुष होते हैं। प्रोथ बाहर की ओर निकला हुआ तथा नासारं प्रोथ के छोर तक खुला हुआ होता है। कपोल कोष और दीर्घ श्रोणि कणि उपस्थित होते हैं। बैबून मैंड्रिल

और ड्रिल बड़े शक्तिशाली वानर होते हैं, जिनके लंबे प्रोथ और लंबे श्रोणि कणि होते हैं।

अनेक प्रकार के बैबून पूर्वी अफ्रीका और दक्षिणी अफ्रीका के चट्टानी तथा वृक्षहीन प्रदेशों में रहते हैं। कुछ अरब में भी पाये जाते हैं। बैबून बड़े दलों में रहते हैं और थलवासी हैं। उनके सामाजिक संगठन के बारे में एक लोककथा बन चुकी है। मैंड्रिल तथा ड्रिल पश्चिमी अफ्रीका में रहते हैं। मैंड्रिल तथा ड्रिल सामान्य बैबूनों से पूंछ में कम होकर एक निस्थूल रह जाने, और नासा के दोनों ओर अनुआयाम रूप से अस्थि-कूलन के द्वारा भिन्न किये जाते हैं। मैंड्रिल में ये तुंडास्थि-पक्ष, जो नासा को कश्य कर लेते हैं, चमकीले नीले बालों से ढके हुए होते हैं। नासा का उच्चतम भाग लाल होता है, नासा छोर शोण होता है और श्रोणि कणि जामुनी होती है। ड्रिल का आनन श्याम वर्ण होता है और उसके केवल किण लाल होते हैं। यह समस्त पशु अपनी हथेलियों और पादों के तलों के बल चिपिट रूप से चलते हैं। इनके पूर्ण विकसित अंगुष्ठ और पादांगुष्ठ होते हैं।

कोलोबिनी अथवा सैमनोपिथिसिनी में लंगूर, गुरेजा, प्राबोसिस वानर और 'स्नब' प्रकार की नासावाले वानर होते हैं। सामान्यतः इन वानरों में कपोल अनुपस्थित होता है। उनमें से अधिकांश का आहार पत्ते होते हैं और उनके अमाशय कोष्ठीय होते हैं। ये वृक्षवासी हैं और सामान्यतः लंबी पूंछवाले होते हैं। लंगूर दक्षिण-पूर्वी एशिया और पड़ोसी द्वीपों में रहते हैं, जबकि इनमें से कुछ वानर अत्यधिक वर्णित होते हैं। ग्वेरेज़ा अफ्रीकावासी हैं। बोर्नियो के प्राबोसिस वानर अत्यधिक वैसनर रंग के पशु होते हैं। इस नर-जीनस के नासा छोर लंबे होते हैं और ऊपरी ओष्ठ पर लटकते दिखायी पड़ते हैं।

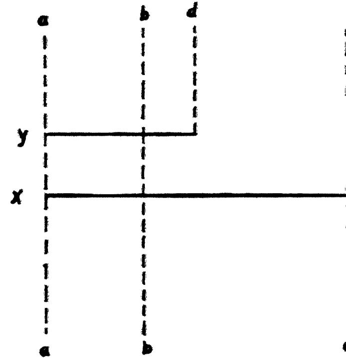
उत्तर-पश्चिमी चीन, टोंकिन तथा पूर्वी तिब्बत में दीर्घ प्रकार के चिपिट नासावाले वानर पाये जाते हैं, जो पर्वतों में रहते हैं और जहां वर्ष के अधिकतर काल में काई जमी रहती है।

सहलग्नता : जब जीन एक गुणसूत्र पर होते हैं और पर्याप्त रूप से एक-दूसरे के निकट होते हैं, तो वे वंशागति में एक साथ प्रवृत्त होते हैं। इस स्थिति को सहलग्नता कहते हैं। विभिन्न युग्मविकल्पी एक साथ पाये जाते हैं, तथा इकाई के समान संचरित होते हैं। जितने जीन एक-दूसरे के निकट होंगे, उतनी ही दृढ़ सहलग्नता होगी। सहलग्नता जीनविनिमय द्वारा भग्न हो जाती है। सहलग्नता दो प्रकार की होती है।

(क) लिंग सहलग्नता (ख) अलिंग सूत्रीय सहलग्नता।

लिंग सहलग्नता : लिंग-गुणसूत्रों पर होने के कारण इन गुणसूत्रों के जीन-लिंग सहलग्न जीन कहलाते हैं। वे लिंग सहलग्न-लक्षणों का निर्माण करते हैं और उनके संचरण की प्रणाली को लिंगसहलग्न वंशागति कहते हैं।

(1) **पूर्ण लिंग सहलग्नता** : वे जीन जो X -गुणसूत्र के उस भाग में होते हैं, जिसका Y-गुणसूत्र में समजातीय भाग नहीं होता, पूर्ण लिंग सहलग्नता के उत्तरदायी होते हैं। उदाहरणार्थ: हीमोफीलिया इत्यादि।



हीमोफीलिया : यह एक प्रकार का रक्त विकार है, जिसमें रक्त जमने में असमर्थ होता है। हीमोफीलिया (अधिरक्तस्राव) एक अप्रभावी लिंग सहलग्न जीन के कारण होता है। स्त्रियां प्रायः इस जीन की दृष्टि से विषमयुग्मजी होती हैं, अतः अप्रभावित रहती हैं; क्योंकि वे हीमोफीलिया जीन (h) का एक X-गुणसूत्र में वहन करती हैं और सामान्य युग्मविकल्पी जीन (H) का दूसरे में। स्त्री सामान्यतः इस रोग की वाहक होती है और पुरुष प्रव्यंजक। बहुत कम ही कोई भी स्त्री इन दो अप्रभावी जीन (hh) की वंशागति प्राप्त करती हैं और उनके प्रभाव का प्रव्यंजन करती है।

पूर्ण-सहलग्नता के अन्य उदाहरण हैं :

(क) रेड-ग्रीन कलर ब्लाइंडनैस (लाल-हरी वर्णांधता) : स्त्री वाहक होती है और पुरुष प्रभावित होते हैं।
(CC= सामान्य, cc= वर्णांध)

(ख) अप्रभावी लिंग सहलग्न जीन इस रोग का कारण है।

(ग) पेशी अपविकास (मस्कुलर डिस्ट्राफी) : यह एक अप्रभावी लिंगगुणसूत्री घातक जीन द्वारा होता है। जो भी पुरुष इस घातक जीन द्वारा प्रभावित होता है, वह धीरे-धीरे पेशियों के प्रयोग में असमर्थ हो जाता है और पूर्ण यौवन में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

(घ) आपरिक डिस्ट्राफी

(ङ) कुछ विशेष प्रकार की जन्मजातीय नाइट ब्लाईंडनैस।

(च) इक्थियोसिस (चर्म की एक शुष्क, शल्की अवस्था)

(छ) हाइयोगामा ग्लोब्यूलीनीमिया (शरीर द्वारा रक्त में पर्याप्त गामाग्लोब्युलिन के उत्पादन की अयोग्यता)।

(ज) बभ्रु दंत (ब्राउन टीथ)

(झ) विटामिन 'डी' प्रतिरोध के कारण बालवक्र।

(2) **आंशिक लिंग सहलग्नता** : X-और Y-गुणसूत्रों (a-b) के समजात भागों में उपस्थित जीन, साधारण लिंग सहलग्न प्ररूप से जननीय रूप में दो प्रकार से भिन्न होते हैं। प्रथम वे इन दो गुणसूत्रों (जीन विनिमय) के मध्य हस्तांतरित हो सकते हैं। द्वितीय, वे केवल स्त्री में पाये जाने की अपेक्षा दोनों लिंगों में युग्मविकल्पी होते हैं। उदाहरणार्थ :

(I) पूर्ण वर्णांधता, (II) जीरोडर्मा पिगमेंनटोसम (चर्म रोग, जिसमें शरीर पर वर्णक धब्बे और कैंसर जैसी वृद्धियां होती हैं), (III) रैटिनाइटिस पिगमैंनटोरम (रैटिना का बढ़ता हुआ ह्रास तथा नेत्र में वर्ण का निक्षेप), (IV) नैफराइटिस का एक प्रकार—एक वृक्क रोग।

(3) **Y-गुणसूत्र में पूर्ण लिंग-सहलग्नता** : मानवीय Y-गुणसूत्र का समजातहीन भाग अत्यधिक सूक्ष्म होता है। वह कुछ ही जीन (होलेंड्रिक जीन) का वहन करता है। इस प्रकार के जीन पिता से पुत्र में आते हैं।

उदाहरण : हाइपर ट्राइकोसिस (बालों की कानों की कुंडलिनी पर उपस्थिति) के लिए जीन। टोमस (1907), गेट्स (1957, 60, 61, 62), भादुरी (1961), सरकार (1961), द्रोनामराजू (1963), स्लाटिस और एथिल बोम (1963)—सब इस विचार का समर्थन करते हैं कि यह जीन Y-सहलग्न हैं।

अलिंग-सूत्री सहलग्नता : परिवारों के अध्ययन से तीन अलिंग-सूत्री सहलग्नता के उदाहरणों का बोध हुआ है। ये उदाहरण निम्नलिखित हैं:

(क) लूथरेन (सेक्रीटर सहलग्नता) : मोहर (1951) सर्वप्रथम था, जिसने लूथरेन (Lu) रुधिर वर्ग एंटीजीन और सेक्रीटर कारक (A,B और H पदार्थों की लार में उपस्थिति) के मध्य एक निश्चित अलिंगसूत्री सहलग्नता की खोज की। सेंगर और रेस (1958) तथा लालर और रेव रैनविक (1959) की खोजों से भी इसकी पुष्टि हुई है।

(ख) लिप्टोसायटोसिस (अंडाकार लाल रुधिर कोशिकाएं) : एक रीसस (रुधिर वर्गकारक) सहलग्नता। इस अलिंग-सूत्री सहलग्नता का भास लालर (1954) की खोज में हुआ।

(ग) एन० पी० एस० (नेल पटेला सिंड्रोम) और ए० बी० ओ० सहलग्नता : नेल पटेला सिंड्रोम (एन० पी० एस०), में अंगुलियों व पादांगुलियों के नख बहुत छोटे होते हैं। नख अनुपस्थित भी हो सकते हैं। जानुफलक (पटेला) लघु होता है। कोहिनी और श्रोणि में अस्थिल अपसामान्यताएं हो सकती हैं। जे० एच० रैनविक (1956) द्वारा इस सहलग्नता का प्रमाण दिया गया था।

सहारिया जनजाति : ये मुख्यतः बुंदेलखंड तथा उसके आस-पास के इलाकों में पाये जाते हैं। इसके अलावा मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश में भी ये निवास करते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार मध्यप्रदेश में इनकी जनसंख्या 1,74,320, राजस्थान में 23,299 तथा उत्तरप्रदेश में 11,786 थी। बुंदेलखंड में ये रावत के नाम से भी जाने जाते हैं। ललितपुर में रहनेवाले सहारिया बहुत से गोत्रों में बंटे हुए हैं, जैसे सिरानसिया, कोदोरिया, थेगोतिया, सनैरिया इत्यादि।

सहारिया जनजाति का प्रमुख पेशा, जंगलों से लकड़ियां

तथा घास इकट्ठा करना तथा उसे बेचना है। वे खेतीहरों के साथ खेतों में नौकरी भी करते हैं। वे मुख्यतः भवानी देवी की पूजा करते हैं। लेकिन इनके साथ इनके अन्य स्थानीय देवी-देवता भी हैं, जैसे गोर, संस्वार, गौरेय्या, कटिया, थोटिया सोमिया इत्यादि। उनका सामाजिक स्तर बहुत ही निम्न है। उत्तरप्रदेश में ये लोग करीब-करीब एक जाति के रूप में बदल चुके हैं तथा जनजाति के गुणों को त्याग चुके हैं। 1931 की जनगणना में टरनर के अनुसार, आज की सहारिया का वर्गीकरण एक निम्न कोटि की हिंदू जाति में होना चाहिए।

सांस्कृतिक क्षेत्र : सांस्कृतिक तत्व के बंटवारे के क्षेत्र को सांस्कृतिक क्षेत्र कहते हैं। एक ही संस्कृति के चिह्न जहां-जहां भी पाये जाते हैं, वे सभी स्थान एक ही सामाजिक क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं।

सांस्कृतिक मानवविज्ञान : मानवविज्ञान की एक शाखा सांस्कृतिक मानवविज्ञान है। इसमें आदिम मानव के रहन-सहन के तौर-तरीकों का अध्ययन होता है। अमरीकी मानवविज्ञानियों के अनुसार सांस्कृतिक मानव विज्ञान, मनुष्य का एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक मानव के रूप में अध्ययन प्रस्तुत करता है।

(दे० सामाजिक मानवविज्ञान तथा मानवविज्ञान)

सांस्कृतिक संरचना : जब अनेक सांस्कृतिक गुण एक साथ मिलकर संस्कृति के अंदर ही एक स्वतंत्र आकार का रूप धारण कर लेते हैं, तो इसे सांस्कृतिक संरचना के नाम से पुकारा जाता है। यह कोई एक संस्था नहीं है, बल्कि यह संस्थाओं के पारस्परिक प्रभाव से पैदा होती है।

साप्ताहिक बाजार (हाट) : स्थायी बाजारों की अपेक्षा भारत के जनजातीय क्षेत्रों में साप्ताहिक अथवा अर्ध साप्ताहिक हाट लगते हैं। यह हाट न केवल उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की, बल्कि उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जरूरतों की भी पूर्ति करते हैं। जहां तक आर्थिक आवश्यकताओं का सवाल है, हाट से उन्हें अपनी वस्तुओं को बेचने या किसी वस्तु से विनिमय की सुविधा प्राप्त होती है। जंगलों से प्राप्त हुई, खेतों से प्राप्त की गयी या हाथ से बनायी गयी वस्तुओं को ही वे साप्ताहिक या अर्ध-साप्ताहिक हाटों में बेचते हैं या किसी वस्तु से विनिमय करते हैं। इससे वे अपनी जरूरत की चीजें जैसे तेल, नमक, मसाले, कपड़े इत्यादि खरीदते हैं।

सामाजिक नियंत्रण : आधुनिक समाजों की तरह आदिम समाजों में भी सर्वमान्य नेता होते हैं, जो समाज के मामलों को नियंत्रित करते हैं, और व्यक्तियों के सामाजिक कार्यों की देख-रेख करते हैं। सामाजिक नियंत्रण नेताओं के हाथ में होता है। मलय द्वीप के नीग्रोटो जातियों में वही व्यक्ति मुखिया होता है, जो दल को जाति-संबंधी मामलों में मार्गदर्शन कराता है। एस्किमो जातियों में तथा अफ्रीका की कई जातियों में उसी व्यक्ति को मुखिया चुना जाता है, जो शूरवीर होता है। यह कहा जा सकता है कि नेता अकसर एक धार्मिक व्यक्ति होता है या कोई लौकिक व्यक्ति।

नेतृत्व वैयक्तिक भी होता है तथा सामूहिक भी। पोलिनेशियन द्वीप-समूह, जापान, और कुछ नागा जातियों में कुछ नेतृत्व वैयक्तिक होता है। इसके विपरीत मुंडा जातियों तथा आस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी के आदिवासियों में नेतृत्व को सामूहिक माना जाता है। इसी प्रकार नेतृत्व वंशानुगत होता है। समय-समय पर मतदान द्वारा भी नेता का चुनाव होता है। मुंडा जनजातियों में प्रतिवर्ष नेता का चुनाव होता है। यदि जनता किसी व्यक्ति से असंतुष्ट हो तो उसे हटाकर नया नेता चुन लेती है। संसार के सभी समाजों एवं जातियों में नेता पाये जाते हैं, जिनका काम समाज का नियंत्रण तथा रक्षा करना होता है और ये नेता अपराधियों को दंड देने के अधिकारी भी माने जाते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि सामाजिक नेतृत्व संभालने वाले व्यक्ति में अतिरिक्त त्यागशीलता पाई जाती है।

सामाजिक मानवविज्ञान : विज्ञान की जिस शाखा के अंतर्गत मानव का सर्वांगीण अध्ययन किया जाता है, उसे मानवविज्ञान कहते हैं। संपूर्ण सामाजिक स्थिति में मानव का अध्ययन सामाजिक मानवविज्ञान के अंतर्गत होता है। यानी मानव के सामाजिक स्तर तथा आपसी संबंधों का अध्ययन ही सामाजिक मानवविज्ञान है।

सामाजिक संगठन : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह किसी भी दशा में अकेले नहीं रहता है। उसके चारों तरफ संबंधियों, मित्रों, भाइयों आदि का ऐसा घेरा होता है कि उसके बाहर वह अपनी प्राकृतिक दशा में नहीं रह सकता। मानव समुदायों के अध्ययन से यह पता चलता है कि सांस्कृतिक विकास की किसी भी दशा में मनुष्य समाजहीन होकर नहीं रह पाया है।

प्रत्येक समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों के कार्य बंटे होते हैं। बच्चों की देखभाल तथा घरेलू कामों को करने की जिम्मेदारी प्रायः औरतों पर ही होती है। ऐसा विश्वास सर्वसाधारण में प्रचलित है कि स्त्री प्राकृतिक एवं जैविक रूप से बच्चों की देखभाल के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त है; क्योंकि वही गर्भ धारण करती है तथा कुछ समय तक बच्चा पूर्णतया अपनी माता के दूध पर ही जिंदा रहता है। स्त्रियों को भी आहार एवं सुरक्षा के लिए समर्थ पुरुषों का सहारा लेना पड़ता था। समाजशास्त्रियों के अनुसार परिवार की नींव इसी आधार पर पड़ी है।

साली अधिकार : एक व्यक्ति और उसकी पत्नी की बहनों के बीच हंसी-मजाक के संबंध अधिकतर प्राचीन समाजों और आधुनिक ग्राम्य-संस्कृतियों में पाये जाते हैं। इस सामाजिक नियम को साली अधिकार कहते हैं। छोटा नागपुर की अनेक जातियों में एक बहन से विवाह करनेवाले पुरुष का उस स्त्री की सभी छोटी बहनों पर अधिकार माना जाता है। उनके साथ भी पति जैसे व्यवहार का वह अधिकारी माना जाता है। उन लड़कियों के विवाह के समय इनके जीजा की अनुमति ली जाती है तथा प्राप्त 'कन्या धन' में से उसको भाग मिलता है। पत्नी के मरने के बाद साली के साथ विवाह होने की प्रथा इसके ही अंतर्गत आती है।

सावर जनजाति : सावर जनजाति की जनसंख्या 1961 की जनगणना के अनुसार आंध्रप्रदेश में 68,185, बिहार में 1,561, मध्यप्रदेश में 48,534, उड़ीसा में 3,11,614 तथा पश्चिमी बंगाल में 2,181 थी। कुछ मानवविज्ञानियों के मतानुसार ये कोल जनजाति समूह से संबंधित हैं तथा कुछ मानवविज्ञानियों के अनुसार ये द्रविड़ जनजाति समूह से संबंधित हैं। ये उड़ीसा राज्य के गंजाम जिले तथा आंध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम एवं विशाखपट्टणम जिले में अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

इनका पेशा खेती तथा मजदूरी है। ये जंगलों में ईंधन एकत्र करके पड़ोस के गांवों में बेचते हैं। पड़ोस के गांवों में ही मजदूरी भी करते हैं तथा आधे हिस्से के लाभ (बँटाईदारी) पर खेती भी करते हैं। वे गायें भी पालते हैं तथा उसका दूध बेचते हैं। खेत जोतने का काम ये बैलों से लेते हैं।

सिंधु घाटी की संस्कृति : उत्तर-पश्चिमी भारत में 1922 में पीतल-कांसा संस्कृति के प्रमाण सिंधु नदी की घाटी में मिले, जो 3000 ई० पू० के हैं। सिंध में मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा नामक स्थानों पर इस संस्कृति के अनेक प्रमाण मिले हैं। दोनों स्थानों में शहरी जीवन के भी प्रमाण मिले हैं। दोनों शहरों में पक्की ईंटों की बनी हुई सड़कों के साथ-साथ पानी और गंदगी के निकास के लिए नलियां बनी हुई थीं। यहां के लोग मेसोपोटामिया के लोगों के साथ व्यापार करते थे। उनकी लिपि चित्रलिपि थी, जिसको अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। सिंधु घाटी में 400 विभिन्न लिखाई के चित्र मिले हैं।

उनका खाद्य-पदार्थ प्रधानतः जौ था। जौ की बनी शराब भी वे पीते थे। गेहूं भी पैदा किया जाता था तथा उसको पीसकर रोटी बनायी जाती थी। कपास उपजा कर वे उसका कपड़ा भी बनाते थे। वे गाय, भैंस, बैल, भेड़, बकरी, सूअर, कुत्ते, घोड़े इत्यादि पालते थे।

मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा सभ्यता में मंदिर तथा कब्रिस्तान बहुत कम मिले हैं। मोहनजोदड़ो में एक बहुत बड़ा तैरने का तालाब भी मिला है। यह पक्की ईंटों का बना हुआ है तथा एक ओर से ऊंचा है। इसमें पानी के निकास के लिए एक छिद्र भी पाया गया है।

सिंधु घाटी की पीतलयुगीन संस्कृति आर्यों के आने से बहुत पूर्व की है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि हड़प्पा संस्कृति स्थानीय कारणों से ही नष्ट हो गयी तथा कुछ लोगों के विचार से इसे आर्य आक्रमणकारियों ने नष्ट किया।

सीबाइडिया (नवलोक वानर) : सीबाइडिया चिपिट नासा वानर हैं। उनकी चौड़ी नासा, सामान्यतः एक चौड़े पट द्वारा पृथक् किये हुए और बाहर की ओर निकले हुए नासारंध्रवाली होती है।

नवलोक वानरों के अत्यधिक विभेद होते हैं। नवलोक वानरों के कुछ मुख्य लक्षण होते हैं, जो प्राचीनलोक वानरों से भिन्न हैं। इनकी जातियों (स्पीशी) और वंशों (जीनस) के मध्य अधिक विभिन्नताएं हैं। नवलोक वानर एक मनोरंजक विकासीय परिवर्धन हैं। लीमर के समान ये प्राइमेट विकास में अनन्य हैं।

नवलोक वानर दक्षिणी अमरीका के वन-प्रदेशों और मध्य अमरीका में पाये जाते हैं। मुख्य रूप से अमेज़न क्षेत्र में केंद्रित हैं।

सीबाइडिया को दो कुलों में विभाजित किया जा चुका है:

(क) कैलीथ्रीसिडी अथवा हैपालिडी और (ख) सीबाइडी।

कैलीथ्रीसिडी (अथवा हैपालिडी) : कैलीथ्रीसिडी का दंत सूत्र 2.1.3.2. है। इस कुल में छोटे गिलहरी समान नखर कपि होते हैं। केवल पादांगुष्ठ को छोड़कर उनके समस्त अंगुलिपर्वों में नखर होते हैं। वे वृक्षों के स्तंभों पर, छालों को इन नखों से खोदते हुए ऊपर-नीचे कुंडलाकार दौड़ते हैं। अंगुष्ठ सम्मुख नहीं होता है। पूंछ अपरिग्राही होती है। नखर कपि दंत चाप के छोटे होने और तृतीय चर्वणक के विलोपन के कारण विशिष्ट होता है। हनु के ह्रासित-प्रक्षेप नखर कपि को एक ऋजु-परिच्छेदिका देता है।

सीबाइडी : सीबाइडी कुल में 6 उपकुल होते हैं—आओटीनी, पिथिसिनी, सीबाइनी, एटीलीनी, अलौटिनी, कैलीमीकोमिनी। सीबाइडी कुल में अनेक प्रकार के अमरीकी वानर होते हैं। दंतसूत्र $\frac{2.1.3.3}{2.1.3.3}$ हैं। मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़े और पूर्ण विकसित होते हैं। सीबाइडी की बहुधा परिग्राही पूंछ होती है, जो परिग्रहण के हेतु अनुकूलित की गयी है। ये पूंछ लंबी और वक्र होती है। सीबाइडी कुल में अत्यधिक प्रारूपिक हैं—कार्पूचिन अथवा सीबस (वानर)। प्रोथ छोटे होते हैं, उनके मस्तिष्क-कोष गोल तथा पूर्ण विकसित होते हैं। उनके सम्मुख-अंगुष्ठ और पादांगुष्ठ तथा ईषद् परिग्राही पूंछ होती है। उनके एक लंबा प्रक्षेपी, रदनक दंत होता है और अग्रपाद की अपेक्षा लंबे पश्चपाद होते हैं। स्पाइडर वानर (मर्कटिका) का शरीर तनु और पाद लंबे होते हैं। भुजाएं पादों की अपेक्षा अधिक लंबी होती हैं। वे अपनी भुजाओं द्वारा एक शाखा से दूसरी शाखा की ओर झूलकर पहुंचने की आदत विकसित कर चुके हैं। भुजाओं की लंबाई वृद्धि के इस प्रकार से संबंधित है। अंगुलियां लंबी और संकुश होती हैं तथा अंगुष्ठ अल्पवर्तित अथवा अनुपस्थित होता है। इन प्राणियों की अत्यधिक परिग्राही पूंछ होती है। ये इतनी प्रबल होती है कि इनके द्वारा समस्त शरीर वृक्ष से लटकाया जा सकता है।

हाओलर वानर : अमरीकी वानरों में हाओलर अत्यधिक भासुर वर्ण के और कोलाहल करनेवाले होते हैं। उनकी परिग्राही पूंछ होती है और उनके हनु मस्तिष्क कोषों के व्यय पर विकसित हो चुके हैं। गले का रूप गलागंड समान और सूजा हुआ होता है। यह कंठिकास्थि और कंठ के विस्तार के कारण होता है। हाओलर आतंकित करनेवाला कोलाहल करते हैं, किंतु बिल्कुल हानि नहीं पहुंचाते हैं। अन्य अमरीकी वानर रोमशी वानर, ऊनी वानर, टीटीज़ इत्यादि होते हैं। इनमें से अधिकतर दलों में रहते हैं और शाकाहारी होते हैं।

सुजननिकी : मानव प्रजाति की उन्नति के लिए जीन-विज्ञान के नियमों को प्रयोग में लाने को सुजननिकी कहते हैं। सर्वप्रथम सर फ्रांसिस गाल्टन ने सुजननिकी की स्थापना की। उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है: "यह सामाजिक नियंत्रण के अंतर्गत उन अभिकरणों का अध्ययन है, जो आनेवाली पीढ़ियों के मानसिक या शारीरिक प्रजातीय विशेषताओं को सुधार या बिगाड़ सकते हैं।"

सुजननिकी के क्षेत्र को बहुधा दो शाखाओं में विभाजित किया जाता है, जिनको ऋणात्मक और धनात्मक सुजननिकी कहते हैं।

ऋणात्मक सुजननिकी : ऋणात्मक सुजननिकी का मुख्य उद्देश्य दोषयुक्त व्यक्तियों के जन्मानुपात में कमी करके मानवजाति के ह्रास को रोकना है, ताकि वे समाज के सामान्य सदस्यों द्वारा उत्पन्न किये गये बच्चों की अपेक्षा अधिक बच्चे उत्पन्न न करें। उसकी विभिन्न विधियां इस प्रकार हैं:

(क) पृथक्करण : यह ऋणात्मक सुजननिकी की एक विधि है, जिसे अनेक वर्षों से प्रयोग में

लाया जाता रहा है। यह आनुवंशिक दोषों के लिए जीन के प्रजनन को रोकती है। किंतु यह क्रिया अधिक व्यावहारिक नहीं है।

(ख) **वंध्यकरण** : यह स्त्री और पुरुष दोनों में किया जा सकता है। वंध्यकरण की क्रिया एक पीढ़ी में मानसिक दोषवाले व्यक्तियों की संख्या को नष्ट करने अथवा कम करने में बेकार सिद्ध हुई। अनेक अप्रभावी जीन, जिनका हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति वहन करते हैं, भविष्य में दृष्टिगोचर हो सकते हैं। यदि समस्त मानसिक दोषवाले व्यक्तियों का वंध्यकरण कर भी दिया जाये, तभी यह हो सकता है कि वंध्यकरण का लगातार कार्यक्रम इसमें कुछ कमी करे। कुछ व्यक्ति वंध्यकरण को धार्मिक और नैतिक आधारों पर अच्छा नहीं समझते।

(ग) **रक्तसंबद्ध विवाह (अंत:प्रजनन)** : रक्तसंबद्ध विवाहों (अंत:प्रजनन) का निषेध एक ऋणात्मक सुजननिकी क्रिया है। यह उन व्यक्तियों के अनुपात को कम करती है, जो कुछ विशेष अवांछनीय विशेषकों को दर्शाते हैं। निकट संबंधियों के मध्य विवाह बहुधा दोषी बच्चों को जन्म देता है। अत्यधिक हानिकारक विशेषक अप्रभावी होते हैं। अत: निकट रूप से संबंधित माता-पिताओं के बच्चों में इनका पाया जाना संभव है।

जीनी समुपदेश : योग्य व्यक्तियों से उपयुक्त समुपदेश से उन युगलों को बच्चे पैदा करने पर रोका जा सकता है, जो गंभीर आनुवंशिक दोषों का वहन करते हैं। जब सूचनाएं उपलब्ध हों, तो स्वैच्छिक रोक अनेक आनुवंशिक उपसामान्यताओं के संचारण को कम करने में बहुत सहायक हो सकती हैं।

धनात्मक सुजननिकी : धनात्मक सुजननिकी जनसंख्या में उन व्यक्तियों के बच्चों के अनुपात का विस्तार करती है, जिनमें अत्यधिक वांछनीय आनुवंशिक विशेषताएं होती हैं। एच० जे० मुलर का कथन है कि कृत्रिम रेतोधान विधि द्वारा संतान हीन व्यक्ति अनेक बच्चों के पिता हो सकते हैं।

सेंबडवन जनजाति : 'सेम्' का अर्थ उत्तम तथा 'पडवन' का अर्थ नाविक होता है। सेंबडवन जाति के लोग अपने आपको पर्वतराज वंश के कहते हैं। 'सवलक्कारन', 'नट्टामैक्कारन', 'मूक्काली', 'पूजारी' आदि शाखाएं इस जाति में पायी जाती हैं। इन लोगों का कहना है कि गुह नामक राजा इनके पूर्वज थे।

सेंबडवन जाति के लोग तमिलनाडु के सभी जिलों में पाये जाते हैं। मुख्य रूप से उत्तर और दक्षिण आर्काट जिलों में इनकी संख्या अधिक है।

आचार-व्यवहार : इस जाति के अधिकतर लोग शैव हैं। कुछ प्रदेशों के लोग वैष्णव भी हैं। शैव लोग गले में शिवलिंग धारण करते हैं। इनके पुरोहित पंचांग ब्राह्मण होते हैं। विवाह के समय पुरोहित ही वधू के गले में मंगल-सूत्र बांधता है। इनमें 'पूजारी' शाखा के जो लोग हैं, वे ग्राम-देवताओं के अर्चकों के रूप में काम करते हैं। इनके वैष्णव परिवारों में, विवाह से पूर्व सोने के बिल्ले से लड़की की जीभ जलाकर उसे शुद्ध करने की प्रथा है। ये लोग अपने मुखिया को 'नाट्टन' या 'नाट्टमैक्कारन' कहते हैं। यही व्यक्ति इनके आपसी झगड़ों का निपटारा करता है। यह पद परंपरागत रूप से प्राप्त होता है।

चूंकि ये लोग नाविक हैं, इसलिए गंगा की आराधना करते हैं। भेड़ों की बलि भी चढ़ाते हैं। 'अंकालम्मन्' नामक देवी की भी ये आराधना करते हैं। दक्षिण आर्काट में मलयनूर नामक स्थान पर स्थित अंकालम्मन् का मंदिर प्रसिद्ध है। यहां हर वर्ष बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसे देखने हजारों लोग जाते हैं।

सेंबडवन जाति के वैष्णव लोग शवों का दाह-संस्कार करते हैं और शैव दफनाते हैं। इस बात का भी विश्वास पाया जाता है कि प्राचीन काल में ये लोग शव खाया करते थे। इन लोगों का विश्वास था कि शव के शरीर के कुछ भागों को खाने से मृत व्यक्ति के सुगुण उनमें आयेंगे। वे यह भी मानते थे कि ऐसा करना मृत लोगों के प्रति गौरव का प्रदर्शन है।

नदियों, नहरों और तालाबों में मछली पकड़ना इनका मुख्य पेशा है। ये लोग नावें भी चलाते हैं। इस जाति के सभी लोग निर्धन हैं। इधर, इनमें से कुछ लोग खेती का काम भी करने लगे हैं और समुद्र में मछली पकड़ने का भी। ये लोग मछलियों के जाल खुद ही बुनते हैं।

सेलिग्मन, सी० जी० (1873-1940) : सेलिग्मन ने 1898 में जो प्रसिद्ध मानववैज्ञानिक टोरिस जल संधि-यात्रा हुई थी, उसमें हिस्सा लिया था। केंब्रिज स्कूल से संबंधित हाडन, रिवर्स और सेलिग्मन—इन तीनों ने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में मानवविज्ञान को प्रकृति-विज्ञान के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया था। सेलिग्मन वैद्यशास्त्र में भी अत्यंत विख्यात थे। न्यूगिनी, श्रीलंका, और अफ्रीका में इन्होंने क्षेत्र कार्य किया था। मानवविज्ञान की प्रत्येक शाखा की इन्होंने पूर्ण जानकारी प्राप्त की थी। अपनी प्रखर बुद्धि और वैज्ञानिक विवेक के आधार पर सेलिग्मन ने इंगलैंड के 'एथनोग्राफिक म्यूजियम' को सुसंपन्न किया था। इन्होंने कई प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें से 'दि मेलिनीशियन्स आफ ब्रिटिश न्यूगिनी' (1910), 'दि वेड्डास आफ सिलोन' (1911), 'दि रेसस आफ अफ्रीका' (1930, 'दि पागन ट्राइब्स आफ सदर्न सुडान' (1932) आदि सर्वप्रसिद्ध हैं।

सोरोकिन, पी० ए० : रूसी समाजविज्ञानी। 1919 से 1922 तक सोरोकिन पेटोग्राड में समाजविज्ञान के प्रोफेसर के पद पर आसीन रहे। वहां उन्होंने ग्रामीण समाज की संरचना का विशिष्ट अध्ययन किया। इसके पश्चात् वे संयुक्त राष्ट्र अमरीका आ गये। उनका पहला कार्यक्षेत्र मिनीसोटा था, जहां वे 1923-1930 तक समाजविज्ञान के प्रोफेसर रहे। 1930 में वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में समाजविज्ञान विभाग के अध्यक्ष बने। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं : 'सोशलाजी आफ रेवोलूशन' (1925), ' 'कांटेंपोरेरी सोशलाजिकल थ्योरीज' (1928), 'प्रिंसीपल्स आफ रूरल-अरबन सोशलाजी' (1929), 'सोशल एंड कल्चरल डायनेमिक्स' (चार खंडों में, 1937-41)। 1936-37 में वह अंतर्राष्ट्रीय समाजविज्ञान संस्था के प्रधान थे।

हक्सले, टामस हेनरी (1825-95) : ब्रिटिश जीव-विज्ञानी और डारविन के सिद्धांतों के प्रबल समर्थक। चिकित्साविज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् उनकी रुचि प्रकृतिविज्ञान में हो गयी और वे उसके अध्ययन में जुट गये। यूरोप में लगभग एक शताब्दी से जैविक विकास की विभिन्न संभावनाओं पर काफी वाद-विवाद चल रहा था। हक्सले भी उसमें जुट गये और उन्होंने पाया कि कोई भी सिद्धांत जैविक विकास की प्रक्रिया के प्रश्न का संतोषजनक हल नहीं दे सकता। 1859 में डारविन का ग्रंथ 'ओरिजन आफ स्पीशीज' प्रकाशित हुआ। हक्सले पर इस ग्रंथ का जो प्रभाव पड़ा, उसके बारे में उन्होंने लिखा है, "इस ग्रंथ ने वह कामचलाऊ परिकल्पना प्रदान की, जिसकी हम खोज में थे।" हक्सले ने तत्काल इस परिकल्पना को पूर्ण रूप से आत्मसात कर लिया। कालांतर में हुए अनुसंधानों ने उनके इस विश्वास को और भी दृढ़ता प्रदान की। 1881 में उन्होंने कहा भी कि जैविक विकास की यह परिकल्पना न हुई होती, तो पुराजीवविदों को इसे आविष्कृत करना पड़ता।

वैज्ञानिक जगत में तो प्राकृतिक वरण के सिद्धांत को अधिकांश रूप से स्वीकार कर लिया गया, लेकिन आध्यात्मिक जगत का विश्वास मानव अस्तित्व की अद्वितीयता में होने के कारण विकासवादी सिद्धांत पर बहुत आपत्तियां उठायी गयीं। अध्यात्मवादियों का कहना था कि मानव मस्तिष्क के कुछ विशेष भाग ऐसे हैं, जो विकासक्रम में उसके तथाकथित प्रतिरूप नरवानरों में बिल्कुल नहीं पाये जाते, अतः नरवानर को मानव का पूर्वज मानना एकदम अनुचित है। लेकिन शीघ्र ही नियेंडरथल मानव के अवशेषों की खोज हुई और उस खोज के आधार पर हक्सले ने मानव और नरवानर की समानताओं को दर्शाया और विकासवाद के सिद्धांत पर उठायी गयी सभी आपत्तियों को निराधार सिद्ध कर दिया। उनका प्रमुख ग्रंथ है, 'मानव का प्रकृति में स्थान' (1863), जिसमें उन्होंने डारविन के सिद्धांतों की सोदाहरण व्याख्या की है।

हार्टलैंड, एडविन सिडनी (1848-1927) : ब्रिटिश मानवविज्ञानी। हलांकि हार्टलैंड एक व्यस्त वकील थे, लेकिन फिर भी उनकी गणना ब्रिटेन के प्रमुख मानव-विज्ञानियों में की जाती है। 1878 में इंग्लैंड में 'फोकलोर सोसाइटी' की स्थापना हुई। हार्टलैंड प्रारंभ से ही इस संस्था से संबंधित रहे तथा इसके मुखपत्र 'फोकलोर' (लोक-गाथा) में नियमित रूप से लिखते भी रहे। उन्होंने परीकथाओं और पुरा-देवकथाओं (मिथकविज्ञान)

पर भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। आदिम लोकविश्वासों पर लिखी 'लीजेंड आफ परसीयस' अपनी पुस्तक में उन्होंने लोक-कथाओं के विसरण पर प्रकाश डाला तथा साथ ही, प्रागैतिहासिक आदिम संस्कृतियों के काल में घटी संभाव्य घटनाओं के साथ उनका संबंध जोड़ने का प्रयास किया। उनके अन्य प्रमुख ग्रंथ हैं : 'प्रिमिटिव पैटरनिटी' और 'प्रिमिटिव सोसायटी'। इन ग्रंथों में हार्टलैंड ने आदिम समाजों का प्रारंभिक रूप मातृसत्तात्मक था—इस प्रस्थापना का समर्थन किया। विधिवेत्ता होने के कारण उन्होंने आदिम समाज के अधिनियमों पर भी एक ग्रंथ 'प्रिमिटिव लॉ' लिखा। उनके अनुसार आदिम अधिनियम कबीलों में प्रचलित प्रथाओं का ही सामान्यीकृत रूप थे।

हार्टलैंड स्वयं तो एक मेधावी अनुसंधानकर्त्ता थे ही, साथ ही अपने सहज और सरल व्यवहार से सह-अनुसंधानकर्त्ताओं को भी उत्साहित करते रहते थे। इसलिए वे एक व्यक्ति के रूप में भी उतने ही लोकप्रिय थे, जितने एक मानवविज्ञानी के रूप में।

हार्डी-वीनबर्ग नियम : 1908 में दो वैज्ञानिकों ने जन-सांख्यिक जीनविज्ञान के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अंग्रेज गणितज्ञ जी० एस० हार्डी० और जर्मन चिकित्सक विलहैम वीनबर्ग ने स्वतंत्र रूप से किसी भी जनसंख्या में युग्मविकल्पी की बारंबारताओं के विश्लेषण के लिए गणित की एक सरल विधि का विकास किया। यह विधि आज के युग में किसी भी जनसंख्या में जीन-वितरण के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है।

हार्डी-वीनबर्ग सिद्धांत यह है कि जनसंख्या में युग्म-विकल्पी एक दूसरे के संबंध में संतुलन की स्थापना करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी विलगित बड़ी जनसंख्या में दो युग्मविकल्पी समान अनुपात में होते हैं और किसी पर भी कोई वर्णात्मक लाभ न हो, और दूसरे की अपेक्षा अधिक बार-बार उत्परिवर्तन हो, तब उनसे यह आशा की जाती है कि वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सदैव व समान अनुपात में रहेंगे।

यदि कोई एक युग्मविकल्पी प्रभावी है और दूसरा अप्रभावी, तो उसका अंतर नहीं पड़ता।

यदि किसी विशेष जीन A की बारंबारता P हो और उसी लोकस पर दूसरे युग्मविकल्पी AAकी बारंबारता हो, तब जनसंख्या में जीनी संरचना AA,AB और BB का वितरण होगा :

$$(p+q)^2 = p^2 + q^2 + 2pq$$

यदि A को छोड़कर उसी लोकस पर B समस्त युग्म-विकल्पी का प्रतिनिधित्व करता है तब $p+q=1$ और $q^2=1-p$ । यदि $p+q=1$ हो तब $(p+q^2=)1$ होगा।

हार्डी-वीनबर्ग की सहायता से किसी भी जनसंख्या में किसी विशेष अप्रभावी युग्मविकल्पी की बारंबारता का निर्धारण करना संभव होगा और साथ में युग्मविकल्पी के विषय युग्मज-वाहकों की संख्या तथा समयुग्मजी प्रभावी व्यक्तियों की संख्या भी मालूम की जा सकती है। यानी :

: जीभ को मोड़कर घुमाने की क्षमता= प्रभावीजीन

जीभ को मोड़कर घुमाने की असमर्थता= अप्रभावीजीन

यदि a =प्रभावी जीन (R) की बारंबारता।

b =अप्रभावी जीन (r) की बारंबारता।

जबकि प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक लोकस के लिए उसकी जीनी संरचना में दो युग्म विकल्पी होते हैं, तो हम जनसंख्या में दोनों युग्मविकल्पी के वितरण, नीचे दिये गये सूत्र द्वारा दर्शा सकते हैं।

$$(a+b)^2 = a^2 + 2ab + b^2$$

b^2 = प्रतिदर्श का वह भाग जो अपनी जीभ मोड़कर नहीं घुमा सकता $=\frac{1}{16}$ हम b के मूल्य का निर्धारण निम्न प्रकार से कर सकते हैं :

$$b = \sqrt{b^2} = \sqrt{\tfrac{6}{16}} = \tfrac{1}{4}$$

जबकि जनसंख्या में जीन की युग्मविकल्पी या तोa अथवा b हैं तब $a = 1 - b$ अथवा $a - \frac{1}{4}$ अथवा $\frac{3}{4}$ 1। इसका अर्थ यह है कि जीन समुच्चय के $\frac{1}{4}$ में r युग्म-विकल्पी और $\frac{3}{4}$ में R युग्मविकल्पी हैं।

इन परिणामों के साथ हम नमूने में विषमयुग्मज (Rr) व्यक्तियों की बारंबारता निम्न प्रकार मालूम कर सकते हैं।

$$2ab = 2 \times \tfrac{3}{4} \times \tfrac{1}{4} = \tfrac{6}{16}$$

प्रभावी युग्मविकल्पी (RR) के लिए समयुग्मज व्यक्तियों की बारंबारता होगी $a^2 = (\frac{3}{4})^2 = \frac{9}{16}$ ।

हाविट, अल्फ्रेड विलियम (1830-1908) : आस्ट्रेलियन मानवविज्ञानी। हाविट का जन्म इंग्लैंड में हुआ था। इनके माता-पिता अपने समय के प्रसिद्ध लेखक थे। लंदन और जर्मनी में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् हाविट 1853 में आस्ट्रेलिया चले गये। आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में उनकी दिलचस्पी मोर्गन के लिखे हुए उस पत्र द्वारा बढ़ी, जिसमें उन्होंने आदिम समाजों की गोत्र-संबंधी शब्दावली के विषय में उनसे सहायता मांगी थी। लेकिन उनका पहला व्यवस्थित प्रयास लारीमेर फिसोन के साथ 1873 में शुरू हुआ। फिसोन के साथ मिलकर 1880 में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'कामीलारोई एंड कुर्नाई' प्रकाशित किया। इस ग्रंथ का 'कुर्नाई' वाला भाग हाविट का लिखा हुआ था। बहिर्विवाह के प्रश्न पर हाविट मोर्गन के समर्थक थे (दे० : फिसोन, लारीमेर)। आदिम संस्कृतियों की जो व्याख्या अध्यात्मवादियों ने प्रस्तुत की थी, हाविट ने उसका डटकर विरोध किया। फिसोन के विपरीत, हाविट मोर्गन के इस मत के भी समर्थक थे कि बर्बर समाजों में मुक्त-यौनाचार का प्रचलन था और सगोत्रीय यौन-संबंधों को रोकने के लिए ही इन समाजों में धीरे-धीरे बहिर्विवाह का प्रचलन बढ़ा। अपने ग्रंथों में हाविट ने विभिन्न समाजों के विकास पर पर्यावरण के प्रभाव को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया।

हीडलबर्ग हनु : 1907 में हीडलबर्ग (जर्मनी) के समीप मायर नामक स्थान में बालुगर्त से एक बड़ा अधो हनु (चिबुकास्थि) पाया गया था। यह निम्न प्लीस्टोसीन काल का था और संभवतः गूंज-मिंडल अंतर्हिमनदनीय काल का था।

चिबुकास्थि स्थूल और असामान्य रूप से बलिष्ठ देखी गयी। आधुनिक मानव में औसत 37 मि० मी० की तुलना में प्रशाखा (हनु) की प्रमुख चौड़ाई 60 मि० मी० होती है। प्रशाखा (हनु) की ऊंचाई व्यतिरेक में केवल 66 मि० मी० होती है, जो हनु को एक वर्ग स्वरूप देता है। अवग्रही खाच बहुत उथली होती है। कारोनाइड प्रासेस अधिकोण, गोल और तटस्थानी अस्थिकंद की अपेक्षा छोटा होता है।

अधोहनु शरीर ऊंचा और विषम होता है, तृतीय मोलर के तल पर मोटाई नापने पर 23 मि० मी० होती है और चिबुकरंध्र पर 12 मि० मी०, जबकि आधुनिक मानव की नाक केवल 14 मि० मी० होती है। संधान बहुत मोटा होता है।

ये आद्य विशेषताएं यद्यपि संपूर्ण एवं स्पष्टतः होमीनिड दंतविन्यास के साथ होती है। दंत चाप छोटा, चौड़ा एवं आगे की ओर समान रूप से गोल होता है। दांत निरंतर श्रेणियों में बगैर दूरी के स्थित होते हैं। दंतावकाश नहीं होता। दंत-चाप परिभ्रामी, पेषणी, गतिविधियों के हेतु विशिष्ट रूप से अनुकूलित होता है। रदनक छोटे, अप्रक्षेपी होते हैं। मोलर पंच दंताग्र होते हैं।

जातिवृत्तीय स्थिति : हीडलबर्ग हनु, यूरोप में पाये गये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होमोनिड जीवाश्म में से एक माने जाते हैं। यह न केवल अपने विशिष्ट लक्षणों में, किंतु भूवैज्ञानिक काल की महान प्राचीनता के कारण भी विशिष्ट है।

कुछ जीवाश्मविज्ञानी स्वीकार करते हैं कि यह एकलित, अनन्य नमूना है, जो विकास के अनुक्रम में नियेंडरथल मानव के पूर्वगत है; तथापि वर्गीकृत अभिधान पर सर्वसम्मति नहीं है।

कुछ लेखक उसे पूर्व-नियेंडरथल मानव कहते हैं। अन्य प्रोटो-नियेंडरथल (बीनर्ट), जबकि अन्य जैसे वैलाइस (1952) मानते हैं कि इस प्रकार का आवश्यक रूप से वर्गीकरण एक पृथक् जाति (होमोहीडिल बर्जिनसिस) के समान होना चाहिए, जो यद्यपि होमोनिड है, फिर भी अभी तक कपि-समान है।

हीमोग्लोबिन : हीमोग्लोबिन रुधिर के रक्ताणुओं में पाया जानेवाला लाल श्वसन प्रोटीन है। एक लाल कोशिका में वह प्रोटीन का 10 से 15 भाग होता है। एक सामान्य वयस्क के संपूर्ण रुधिर से तैयार किया गया हीमोग्लोबिन नमूना, वैद्युतकण-संचलन करने पर सिद्ध करता है (एक विद्युत-क्षेत्र में चार्ज युक्त कणों का संचलन) कि वह विभिन्न हीमोग्लोबिन का बना हुआ है। इनको आनुवंशिक नियंत्रण के अंतर्गत माना जाता है।

संरचना : हीमोग्लोबिन, ग्लोबिन और चार हीम समूहों से बने हैं। ग्लोबिन एक प्रोटीन होता है, जो 20 सामान्य अमीनो अम्लों की विभिन्न समाकल मात्राओं

से बना होता है। हीम एक बड़ा कार्बनिक अणु है, साथ में उसके केंद्र में लौह का एक परमाणु होता है। हीम समूह को आइरन प्रोटोपारफिरिन भी कहा जाता है। हीम समूहों का लौह, आक्सीजन के साथ क्रिया करता है और उसे फेफड़ों से ऊतकों की ओर ले जाता है। हीमोग्लोबिन का प्राथमिक और कदाचित एकमात्र कार्य आक्सीजन का परिवहन और ऊतकों से कार्बन डाइ-आक्साइड का निष्कासन करना है। सामान्य वयस्क मानवीय हीमोग्लोबिन यथार्थ में दो विभिन्न हीमोग्लोबिनों से बना होता है, जो वैद्युतकण-संचलन द्वारा सरलतापूर्वक पृथक् किये जा सकते हैं। हीमोग्लोबिन अणुओं का प्रधान भाग हीमोग्लोबिन 'ए' कहलाता है और गौण भाग हीमोग्लोबिन-ए 2। हीमोग्लोबिन-ए अणु में हीम समूह से अलग 574 अमीनो अम्ल होते हैं। यह अमीनो अम्ल पेप्टाइड बंधनों से जुड़े होते हैं और दो विभिन्न पालीपेप्टाइड श्रृंखलाओं के दो जोड़ों का निर्माण करते हैं जिन्हें और श्रृंखला कहते हैं। प्रत्येक अणु में दो श्रृंखलाएं होती हैं। प्रत्येक a श्रृंखला में 141 अमीनो अम्ल होते हैं और प्रत्येक b श्रृंखला में 146 अमीनो अम्ल होते हैं।

मानव के भ्रूण अथवा नवजात शिशु के हीमोग्लोबिन में एक विभिन्न हीमोग्लोबिन, जिसे फीटल हीमोग्लोबिन अथवा Hbf भी कहते हैं, पाया जाता है। हीमोग्लोबिन F मानव के भ्रूण की एक विशेषता है और जन्म के पश्चात् प्रथम दो महीनों में सामान्य व्यक्तियों में वयस्क हीमोग्लोबिन-ए द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है।

हीमोग्लोबिन F में दो α श्रृंखलाएं होती हैं, जिस प्रकार हीमोग्लोबिन-ए में पायी जाती हैं और दो अन्य श्रृंखलाएं होती हैं, जो भिन्न होती हैं और γ श्रृंखलाएं कहलाती हैं।

हूटन का प्रजातीय वर्गीकरण : 1931 में ई० ए० हूटन ने एक नूतन प्रजातीय वर्गीकरण का सुझाव दिया। इस वर्गीकरण में उसने मिश्र प्रजाति के विचार को प्रस्तुत किया। मिश्र प्रजातियां प्राथमिक प्रजातियों के संकर प्रजनन के परिणाम हैं। 1946 में उनके द्वारा वर्गीकरण का परिवर्तन किया गया जो इस प्रकार है :

प्राथमिक प्रजातियां : (1) श्वेत (यूरोपीयन, यूरो-आफ्रीकन, काकसाइड)।

प्राथमिक उप-प्रजातियां : (क) मैडीटेरेनियन (ख) आइनू (ग) सेल्टिक (घ) नार्डिक (ङ) अल्पाइन (च) पूर्वी बाल्टिक।

मिश्र उपजातियां : (क) अरमीनाइड (क्लासिक मैडीटेरेनियन+अल्पाइन+इंडो-अफगान) और (ख) डाइनेरिक (उच्चतर पुराप्रस्तर मानव+अल्पाइन अरमीनाइड+नार्डिक)।

(2) नीग्रोइड :

प्राथमिक उप-प्रजातियां : (क) अफ्रीकन नीग्रो (नैगरीटियन वन-नीग्रो), (ख) नीलोटिक नीग्रो और (ग) नीग्रोटो (पिग्मी)।

(3) मंगोलाइड :

प्राथमिक उप-प्रजातियां : (क) क्लासिक मंगोलाइड और (ख) आर्कीटिक मंगोलाइड (एस्कीमाइड)।

मिश्र प्रजातियां :

(क) प्रधानतः श्वेत (1) आस्ट्रेलियन (आर्मिक श्वेत+तस्मानियन +मैलेनेशियन-पापूआन का अभिनव सूक्ष्म प्रभाग), (2) इंडो-द्रावीडियन (क्लासिक मैडीटेरेनियन+आस्ट्रेलाइड+नीग्रोटो+अरमीनाइड, नारडिक एवं मंगोलाइड का सूक्ष्म प्रभाग) और (3) पालीनीशियन (इंडोनीशियन+मंगोलाइड+मैलानीशियन+पापूआन)।

(ख) प्रधानतः मंगोलाइड : (1) अमेरीकन इंडियन (मंगोलाइड+आरमीनाइड+आस्ट्रेलाइड+बहुत कम नीग्रोकल्प तत्व) और (2) इंडोनीशियन; मंगोलाइड अथवा इंदोनीशियन; मलय (मंगोलाइड+आदि-मैडेटेरेनियन+आइनू+नीग्रीटो)।

(ग) मुख्यतः नीग्रोइड : (1) मैलानीशियन पापूआन अथवा ओशेनिक नीग्रोआइड (नीग्रोटो+आस्ट्रेलाइड+उत्तल नासावाले मैडीटेरेनियन+मलय एवं पालीनीशियन का सूक्ष्म प्रयाग), (2) बुशमैन-हाटनटाट (नीग्रीटो+पुराप्रस्तर बोस्काप+हाटनटाट में बांटू नीग्रो तथा हैमिटिक मैडीटेगेनियन का सूक्ष्म प्रमाण) और (3) तस्मानियन (नीग्रीटो आस्ट्रेलियन)।

हैडन का प्रजातीय वर्गीकरण : ए० सी० हैडन ने 1925 में प्रजातीय वर्गीकरण पर एक ध्यानाकर्षक रचना प्रकाशित की। इस वर्गीकरण में जो मुख्य लक्षण उपयोग में लाये गये, वे हैं—केश वयन, कद, आननी सूचकांक तथा नासासूचकांक।

1. **यूलोट्रिकी :**

(क) पूर्वी यूलोट्रिकी :

अत्यधिक छोटा कद, मध्य अथवा पृथु कपालिक	नीग्रीटो।
छोटा अथवा ऊंचा कद, गहरा त्वचा वर्ण, दीर्घ कपाली	पापूआन मैलानीशियन

(ख) पश्चिमी अथवा अफ्रीकी यूलोट्रिकी :

अधिक दैहिक उच्चता, पीत बभ्रु त्वचा, मध्य कपालिक	नीग्रोलोज़
छोटा कद, पीत त्वचा, मध्य कपालिक	बुशमैन हाटनटाट
छोटा अथवा लंबा कद, गहरी त्वचा, दीर्घ कपाली	नीग्रो नीलोटिक बांटू

2. **साइमोट्रिकी :**

(क) दीर्घ कपालिक :

गहरी त्वचा, छोटी अथवा मध्यम दैहिक उच्चता, चिपिट नासा मध्यम अथवा तनु नासा	प्रीद्रावीडियन आस्ट्रेलियन द्रावीडियन हैमाइट्स
अंतःस्थ, त्वचावर्ण, दैहिक उच्चता, भिन्न-भिन्न काले केश	इंडो-अफगान इंडोनीशियन पेलियो-एयरिन्यियन
हल्की भूरी-श्वेत त्वचा, काले केश, मध्यम ऊंचाई	यूराफ्रिकन्स सीमाइट्स मैडीटेरेनियन

(ख) मध्य कपालिक :

श्वेत-भूरी त्वचा, गहरे केश, मध्यम ऊंचाई	पायरीनियन्स एटलास्टो-मैडीटेरेनियन
हल्की त्वचा और केश, नीले अथवा भूरे नेत्र, ऊंची दैहिक उच्चता	नार्डिक
भूरी-श्वेत त्वचा, काले केश, मध्यम दैहिक उच्चता	आइनू

(ग) पृथुकपालिक :

हल्की-भूरी त्वचा, भिन्न-भिन्न केश वर्ण, कद ऊंचा अथवा मध्यम ऊंचा	अल्पाइन आरमीनियन डाइनेरिक आरमीनाइड्स

3. **लीयोट्रिकी :**

दीर्घ कपालिक, पीली अथवा पीली-भूरी त्वचा, मध्यम दैहिक उच्चता	एस्कीमाइड्स
मध्यम कपालिक, पीली भूरी त्वचा, छोटा, मध्यम-अथवा लंबा कद, दैहिक उच्चता	पेलो-एशिया-टिक चीनी उत्तरीय अम-रिकी इंडियन (प्लेंस)
पृथुकपालिक, श्वेत-पीले से लाल-भूरे तक त्वचा वर्ण, मध्यम अथवा ऊंचा कद	तुर्क टुंगूस मंगोल पालिनीशियन (हालैंड के) अमेरेंडियन्स (उत्तरी-पश्चि-मी पैसिफिक तट के अमरेंडि-यन्स)।

हैप्टोग्लोबिन : हैप्टोग्लोबिन सीरम-प्रोटीन परिवार के α_2ग्लोबुलिन खंड के भाग होते हैं। वे सीरम में स्वतंत्र हीमोग्लोबिन को बांधने की क्षमता द्वारा पहचाने जाते हैं और यह उनकी एक विशेषता है। हैप्टोग्लोबिन्स का यह गुण वृक्क की नलिका में स्वतंत्र हीमोग्लोबिन के प्रवाह को संभवतः रोकता है। वृक्क-नलिका हीमोग्लोबिन जैसे बड़े प्रोटीन के प्रवेश द्वारा नष्ट भी हो सकती है। प्रयोगशाला में हैप्टोग्लोबिन समलक्षणी के निर्धारण के हेतु जो क्रिया अपनायी जाती है, उसमें वैद्युत कण-संचलन से पूर्व हीमोग्लोबिन की थोड़ी मात्रा सीरम में जाती है। स्मीथीज़ (1955) ने सूचना दी कि मानव

के सीरम का स्टार्च जल जैसे सहायक माध्यम में किया जाता है, तो हैप्टोग्लोबिन तीन विशेषकों में से एक में विभिन्न रूप से दिखायी पड़ते हैं। वे अपनी वैद्युत कण संचलन वेग द्वारा पहचाने जा सकते हैं। स्मीथीज़ और वाकर (1956) ने सुझाव दिया कि तीन समूह जो I,IIA और IIB कहलाते हैं, दो अलिंगसूत्री जीन Hp^1 और Hp^2 (बिना किसी प्रभाव के) द्वारा नियंत्रित हैं। इन समूहों को तत्पश्चात् Hp^{1-1} और Hp^{2-2} नाम दिया गया। Hp^1 तथा Hp^2 युग्मविकल्पी परिवारों में मैंडीलियन प्रकार से पृथक् होते हैं। इस परिकल्पना का अनुमोदन गेलेटियस, जैनसन (1958), हैरिस, एट एल (1959) और जिब्लैट (1959) तथा स्टैनबर्ग (1960 ने अपने अध्ययनों में किया। समयुग्मज Hp^1 व्यक्ति 1-1 प्रकार के होते हैं। समयुग्मज Hp^2 व्यक्ति 2-2 प्रकार के होते हैं तथा विषमयुग्मज व्यक्ति 2-1 प्रकार के होते हैं। Hp^{1-1} पर अभिरंजन के बाद एक गहरी पट्टी समान देखा जाता है। Hp^{2-2} में अनेक पट्टियां होती हैं, जो Hp^{1-1} पट्टी के समान अधिक गतिमान नहीं होती। Hp^{2-2} पट्टी चौड़ाई में परिवर्तनशील होती है तथा इसका संबंध अभिरंजन की मात्रा से होता है Hp^{2-1} में एक पट्टी होती है और Hp^{1-1} पट्टी के समान गतिशील होती है, किंतु इसमें अभिरंजन कम होता है। HP^{2-1} में अनेक पट्टियां होती हैं, जो Hp^{1-1} अवयव की अपेक्षा क्षीण गति रखती हैं।

कोनेल और स्मीथीज़ (1959) तथा गिब्लैट (1959) ने वर्णन किया कि HP^{2-1} प्रकार में एक परिवर्त होता है, जिसे Hp^{2-1} (रूपांतरित) कहते हैं। एलिस, ब्लूमबर्ग और एपरीस (1958) ने दर्शाया कि दक्षिण नाइजीरिया की जनसंख्या में लगभग तीस प्रतिशत में सीरम में हैप्टोग्लोबिन का पता नहीं लगाया जा सका (ए-हैप्टोग्लोबिनेमिक व्यक्ति)। बार्नीकाट, गार्लिक और राबर्टस (1960) ने इस समलक्षिणी की उच्च-बारंबारता उत्तरी नाइजीरियन में पायी। इस प्रकार को हैप्टोग्लोबिन-ऋणात्मक अथवा 0-0 कहा गया। अन्य जन समूहों में भी हैप्टोग्लोबिन-ऋणात्मक अथवा 0-0 पाया गया है।

हैप्टोग्लोबिन के लिए अनेक जनसमूहों का सर्वेक्षण किया गया। विभिन्न प्रकारों की बारंबारताओं ने सिद्ध कर दिया कि यह एक दूसरी मानव जीनी-बहुरूपता है। Hp^1 युग्मविकल्पी की निम्नतम बारंबारता का पता भारत में इरुला जनजाति के व्यक्तियों में लगाया गया, जहां $Hp^1 = 0.07$ है। उच्चतम बारंबारता मध्य और पश्चिम अफ्रीका तथा मध्य तथा दक्षिण अमेरिका के इंडियन्स में पायी गयी।

हैमिटिक नीग्रो : सैलिगमन के अनुसार इस समूह में नाइलोट्स, नाइलोहैमाइट्स (अथवा नीग्रो हैमाइट्स) और बांटू निहित हैं।

(क) नाईलोट्स : भौगोलिक रूप से ये नील घाटी और उसके आस-पास सीमित है। विशिष्ट नाइलोटिक्स हैं—टुकसा, शील्लुक, न्योरे, लौंगो, अछोली, बारी आदि।

आकृतिक लक्षण : नाइलोट्स अधिक लंबे (औसत 178 से० मी० अथवा अधिक), काले त्वचा वर्ण, दीर्घ कपाली (औसत 72), विशिष्ट मस्तिष्क, कम मोटे ओष्ठ, साधारण नीग्रो की अपेक्षा कम फूले हुए और उद्वृत, नासा में उच्च वंश साधारण नीग्रो प्रकार से, कम चौड़ी नासा, आनन लंबा और संकीर्ण तथा मध्यम उद्गति वाला। उनका ऊंचा कद विशेष रूप से लंबी टांगों के कारण है।

(ख) नाइलो-हैमाइट्स अथवा नीग्रो हैमाइट्स : ये पूर्वी केन्या के प्रदेश के अधिकांश भाग में रहते हैं। इस समूह में मसाई, नंदी, लुंबुआ, सुक, क्रिपसिगिस, टोपोसा, टीसो इत्यादि हैं। ये साधारण रूप से लंबे (168 से० मी० से 170 से० मी०), तनु, दीर्घ कपाली, किंतु नाइलोट्स से कम, त्वचा वर्ण लाल-भूरा, चिपिट नासावाले होते हैं।

(ग) बांटू : ये बांटू भाषा बोलनेवाली गौण जातियां हैं। उनकी केवल भाषा विज्ञान के आधार पर परिभाषा की जाती है। वे प्रधानतः मध्य और दक्षिण अफ्रीका में पाये जाते हैं। पूर्व और दक्षिण में इस पर हैमिटिक प्रभाव प्रबल और पश्चिम और उत्तर में दुर्बल है। बांटू निम्नलिखित समूहों में रखे जा सकते हैं :

(1) पूर्वी बांटू : क्षेत्र जो निहित है—यूगांडा, केन्या टांगानाइका, उत्तरी रोडशिया, न्यासालैंड।

बूगांडा, बुनियोरो, काराग्वी, रोवांडा, रूंडी, लुइया इत्यादि इस जनसमूह के मुख्य अंग हैं। इस सब में प्रत्यक्ष रूप से पूर्वी-हैमिटिक समूह के गल्ला तत्व के साथ संकरण

हुआ है। बूगांडा हृष्टपुष्ट, मध्यम ऊंचाई (औसत 166 से० मी०) एवं आननी सूचकांक 72 से 75 तक के होते हैं। ब्रिटिश पूर्वी-अफ्रीका के कांबा अत्यधिक दीर्घ शिरस्थ होते हैं तथा इनकी औसत लंबाई (165 से० मी०) होती है। इस समूह की अन्य गौण जातियां हैं—चागा, किकूभू इत्यादि।

(2) **पश्चिमी बांटू** : कैमरून्स, रियोमुनी प्रदेश, गैबन, फ्रांसीसी मध्यरेखीय अफ्रीका, बेल्जियम-कांगो, अंगोला एवं रोडेशिया में पाये जाते हैं।

कुछ प्रमुख गौण जातियां हैं : बासा, बेंबा, दुआला, फेंग, कूबा, लूबा, टेकी, टेटेला इत्यादि। सामान्य रूप से शीर्ष लंबा होता है। नासा चौड़ी तथा बहुधा चपटी होती है, सामान्यतः पर्याप्त उद्‌गति, ओष्ठ मोटे और टांगे पतली होती हैं। किंतु टीटोलाग जनजाति में गोल आननी (कपाल सूचकांक 81 से 84) अथवा मध्य आननी तत्त्व होते हैं

(3) **दक्षिणी बांटू** : क्षेत्र जो निहित हैं—दक्षिण रोडेशिया, मोजांबिक का आधा दक्षिणी भाग, दक्षिणी अफ्रीकी राज्य का पूर्वी और मध्य भाग, स्वाज़ीलैंड और दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जनजातियां हैं : शोना, सोंगा, जुलु अथवा काफिर, स्वाना, शोतो और हैरीरो।

भौतिक रूप से दक्षिणी बांटू कई प्रकारों में लक्षित होते हैं। समस्त निश्चित रूप से नीग्रो होते हैं, किंतु उनमें हैमिटिक सम्मिश्रण की भिन्न मात्रा भी होती है। औसत ऊंचाई लगभग 167 से० मी० होती है। त्वचा वर्ण स्वाज़ी के श्याम वर्ण से स्वाना के पीले-भूरे वर्ण तक का होता है। किंतु सबसे प्रमुख त्वचा वर्ण कुछ लालिमा लिये हुए गहरा चाकलेट जैसा होता है। केश छोटे और विशेष रूप से अंतःपाश कुंतल रूप में होते हैं। शीर्षाकारः दीर्घ शिरस्क, नेत्र सामान्यतः बडे काले और विशिष्ट। आनन : सामान्य उद्‌गत, ललाट विशिष्ट, गंडास्थि ऊंची ओष्ठ मोटे और मांसल। इससे स्पष्ट है कि दक्षिणी बांटू भौतिक रूप से परस्पर भिन्न हैं।

हो जनजाति : 'हो' बिहार के सिंहभूम जिले के अंतर्गत कोलहन नामक स्थान में मुख्य रूप से पाये जाते हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या बिहार में 4,54,846, उड़ीसा में 43,323 तथा पश्चिमी बंगाल में 1,075 थी।

इनका कद छोटा, नाक चपटी और शरीर का रंग काला होता है। इनकी आंखें छोटी तथा काली होती हैं। इनके बाल घुंघराले होते हैं। दाढ़ी और मूंछें नहीं के बराबर होती हैं। चिबुक संकीर्ण होता है तथा होठ मध्यमाकार के होते हैं। उनके दांत स्वस्थ तथा स्वच्छ होते हैं।

'हो' के गांव ऊंची जगहों पर होते हैं। अधिकांश गांव चौरस पर्वत-शिखा पर बसे हुए पाये जाते हैं। गांव की सीमांत-रेखा पर पत्थर के टुकड़े गड़े रहते हैं, उसके पास ही 'ससान' रहता है, जहां कबीले के मरे हुए लोगों को गाड़ा जाता है।

इनके घर मिट्टी के बने होते हैं, परंतु छत खप्परपोश होता है। इनके घरों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं : (1) दो अथवा अधिक कमरेवाले घर, (2) मध्यम आकार के घर, जो उतने बड़े न होते हुए भी भोजन तथा विश्राम के लिए अलग-अलग कमरों में विभक्त रहते हैं, (3) छोटे झोंपड़े, जो या तो विश्राम एवं भोजन के लिए व्यवहार किये जाते हैं अथवा पशुओं के रहने के काम में आते हैं। इनके घरों में खिड़कियां नहीं होतीं। भोजन-घर को ये लोग पवित्र मानते हैं। दीवार रंगीन होती है, जिस पर चित्र खींचे जाते हैं। ये कबूतर पालने के बड़े शौकीन होते हैं तथा प्रत्येक परिवार के पास कबूतर पालने के लिए लकड़ी के पिंजड़े होते हैं।

ये सूअर पालते हैं तथा उसका मांस भी खाते हैं। ये गोमांस भी खाते हैं। ये फूलों के भी बड़े शौकीन होते हैं। फूलों की माला तथा फूलों से बने आभूषणों से अपना श्रृंगार करते हैं। लकड़ी के बने नेकलेस, एक छोटा-सा इयर रिंग तथा बाले, युवकों के प्रिय आभूषण होते हैं। स्त्रियां सस्ती कांच की चूड़ियां, छोटे से कंठहार, प्लास्टिक के बाले, अंगूठी और कंघी से संतोष कर लेती हैं। स्त्रियां अपने शरीर को गोदने से भी सजाती हैं। शरीर पर गोदना नहीं रहने पर अशुभ माना जाता है।

कोई भी आदमी अपनी जमीन को स्वेच्छानुसार नहीं बेच सकता। जमीन खानदानी होती है, अतः किसी

व्यक्ति की जमीन उसके पुत्र तथा पौत्र की ही होती है। खेती में वे खाद का उपयोग भी करते हैं। खेत में पौधे जैसे ही 6-7 इंच के होते हैं, वैसे ही पहली बार हल के द्वारा तथा दूसरी बार हाथ से घास-पात की सफाई कर दी जाती है। इनके जीवन का मुख्य आधार खेती ही है। इसके अलावा ये शिकार करते हैं तथा मछली भी पकड़ते हैं। मछली पकड़ने का काम सामूहिक रूप से होता है। मर्द, स्त्री और बच्चे इसमें भाग लेते हैं। ये मछली को एकत्र करने तथा उसे सुखाकर सुरक्षित रखने का काम बड़ी सावधानी से करते हैं। सूखी मछलियां 'हो' की प्रिय खाद्य-वस्तु है।

'हो' जनजाति कई कबीलों में बंटी है। इन कबीलों का नाम किसी भौतिक वस्तु के नाम पर होता है। पशु-पक्षी तथा पौधों के नाम पर ही बहुधा इनका नामकरण होता है। इनमें शव को गाड़ने और जलाने की प्रथाएं प्रचलित हैं। उच्च श्रेणी के लोग शव को जलाते हैं तथा निम्न वर्ग के लोग शव को गाड़ते हैं। लेकिन जिसकी मृत्यु अप्राकृतिक रूप से होती है, उसका शव भी गाड़ा ही जाता है।

ह्विसलर, सी० (1870-1947) : ये अमरीका के मानवविज्ञान के प्रख्यात विद्वानों में से थे। इनका जन्म वेइनी में हुआ था। इन्होंने 'इंडियाना' तथा 'कोलंबिया' विश्वविद्यालयों में शिक्षा पायी थी और कोलंबिया विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्राध्यापक बन गये थे। कोलंबिया विश्वविद्यालय में प्राध्यापकी करते समय बोआज से प्रभावित होकर ह्विसलर मानवविज्ञान के अध्ययन की ओर उन्मुख हुए थे। जीवविज्ञान के इतिहास से संबंधित 'अमेरिकन म्यूजियम' से इनका संबंध स्थापित हुआ, तब से इन्होंने मानवविज्ञान संबंधी कई अनुसंधान-यात्राएं कीं और कई ग्रंथ लिखे। मानव-भौगोलिकविज्ञान में इनकी अत्यंत रुचि के परिणामस्वरूप प्रांतीय विभाजन, सांस्कृतिक प्रांत जैसे विचारों का उद्भव हुआ। ह्विसलर 1931 में येल विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान के प्रथम अध्यक्ष बने और 1940 तक ये उस पद पर कार्य करते रहे। इनके मुख्य ग्रंथों में से कुछ हैं—'नार्थ अमेरिकन इंडियन्स आफ दि प्लेइन्स' (1912), 'दि अमेरिकन इंडियन्स' (1917) आदि।

शिक्षा-विज्ञान

अंतर्मुखता : बाहर की दुनिया की बातों के प्रति कोई लगाव न दिखाकर व्यक्तिगत अंतरंग विषयों में डूबे रहने को अंतर्मुखता कहते हैं। अंतर्मुखी व्यक्ति के जीवन को चालित करनेवाला तत्त्व है आंतरंगिक आवश्यकता। ऐसे व्यक्ति को अन्य लोगों या वस्तुओं में विश्वास नहीं होता। वह लोगों से हिल-मिल नहीं सकता। किसी काम को पूर्ण करने की अपेक्षा किसी बात का चिंतन उसे प्रिय लगता है। बाहरी माहौल से बढ़कर उस माहौल के प्रति अपने मन में उद्भूत होनेवाले भाव ही उसके लिए प्रधान होते हैं। काल्पनिक विचार ऐसे आदमी के जीवन में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं। ऐसा नहीं कि वह बाहरी चीजों की तरफ ध्यान नहीं देता, लेकिन आंतरिक निर्णयों को ही वह प्रधानता देता है।

सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान खींचनेवाले थे कार्ल युंग। उन्होंने मानव-समुदाय को 'अंतर्मुखी' तथा 'बहिर्मुखी', नामक दो वर्गों में बांटा है। मैक्डूगल, मार्गन, काटिल आदि ने भी इस विचारधारा को स्थापित करने की दिशा में काफी कोशिश की।

मनुष्य के व्यवहार के विकास को ध्यान में रखकर एक मनोविज्ञानी ने अंतर्मुखता की व्याख्या प्रस्तुत की थी कि शैशवावस्था से ही लोगों में वस्तुओं और विषयों के प्रति विमुखता और सुमुखता नामक दो प्रकार की रुझानें दिखायी पड़ती हैं। विमुखता रुझान तीव्रतर तथा शक्तिशाली उद्दीपनों के कारण होती है। व्यक्ति ऐसे उद्दीपनों से बचने की कोशिश करता है। वस्तुओं के पास जाना, उनकी परीक्षा करना, उन्हें अपने कब्जे में कर लेना आदि सुमुखता रुझान के उदाहरण हैं। विमुखता रुझानवाले लोग अंतर्मुखी बन जाते हैं और सुमुखता-रुझानवाले बहिर्मुखी।

अलग-अलग लोगों में अंतर्मुखता अलग-अलग रूपों में व्यक्त होती है। मनुष्य में विमुखता पैदा करनेवाला उद्दीपन यदि माता-पिता की डांट-फटकार जैसा सामाजिक कर्म हो, तो ऐसा व्यक्ति सामाजिक कार्यों के प्रति विमुख हो जाता है। बड़ा होने के बाद समाज के साथ समन्वय करना उसके लिए कठिन हो जाता है।

किसी-किसी को सामाजिक संबंधों की अपेक्षा समाज से इतर माहौल से लगाव हो जाता है। यह भी एक प्रकार की अंतर्मुखता ही है। वैज्ञानिकों, नयी वस्तुओं के निर्माताओं, आविष्कारकों आदि में इस प्रकार की अंतर्मुखता देखी जा सकती है। लेकिन सामाजिक और समाजेतर माहौल परस्पर संबद्ध होने के कारण किसी भी तरह की विमुखता संपूर्ण परिवेशगत विमुखता के रूप में ही जानी जाती है।

खोज के आधार पर इस बात का पता चला है कि शारीरिक बीमारियों का अंतर्मुखता के साथ गहरा संबंध है। थोड़ा-सा ऊंचा सुननेवाले लोग साधारण लोगों से ज्यादा अंतर्मुखी होते हैं। शारीरिक दोष, न केवल परिवेशगत जानकारी प्राप्त करने की दिशा में बाधा उपस्थित करते हैं, बल्कि आदमी में एक विचित्र प्रकार की सामाजिक प्रवृत्ति को भी जन्म देते हैं। इसी कारण ऐसा व्यक्ति समस्याओं का वास्तविक समाधान न करके कल्पना लोक के निर्माण में रुचि लेने लग जाता है।

इस संबंध में की गयी गवेषणा के आधार पर इस बात का पता लगाया गया है कि स्त्रियां पुरुषों से अधिक अंतर्मुखी होती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री और पुरुषों में कोई प्राकृतिक भिन्नता है। इसका आशय केवल इतना है कि हमारी सभ्यता के अंतर्गत स्त्री-पुरुषों के पालन-पोषण में भिन्नता है। लड़कियों के लिए बंधन और मनाहियां अधिक होती हैं। इस प्रकार की बंदिशों के कारण स्त्रियां ज्यादातर अंतर्मुखी होती हैं।

अंतर्मुखता हमेशा वास्तविक संसार से विमुखता चाहती है। वास्तविक जीवन से अपेक्षाकृत कम संबंध रखनेवाली बातों में ही अंतर्मुखी व्यक्ति आसक्ति दिखाते हैं। कुछ नौकरी-पेशा लोगों को लेकर उनकी रुचियों और वृत्तियों पर किये गये अध्ययन के आधार पर यह बात स्पष्ट हुई है।

वैज्ञानिक विषयों के विद्यार्थियों की तुलना में साहित्य के विद्यार्थियों में अंतर्मुखता ज्यादा देखी गयी है। नौकरी-पेशावालों के अध्ययन से पता चला है कि क्लर्क, एकांउटेंट,

इंजीनियर, अध्यापक आदि लोगों में ज्यादा अंतर्मुखता होती है। कलाकार और दार्शनिक भी अंतर्मुख होते हैं। 'डेमेंशिया प्रेकाक्स' की बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति को घोर अंतर्मुखता के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

इस सिद्धांत की कमी यह है कि मन से संबंधित कई बातों को इस में लिया नहीं जाता है। कई लोग कुछ बातों में अंतर्मुखी तथा कुछ बातों में बहिर्मुखी हुआ करते हैं।

अग्रिकोला, रूडोल्फस (1443-1486) : रूडोल्फस अग्रिकोला जर्मनी के अधिगम के प्रथम विद्वान थे। उनका वास्तविक नाम रूडोल्फस हाइजमेन था। उनका जन्म बेफिल ग्रोनिनजिन (नीदरलैंड्स) में हुआ और इसीलिए उन्हें ग्रोनिनजिन का रूडोल्फ भी कहते थे। उन्होंने फ्रांस, इटली आदि में युग के प्रसिद्ध व्यक्तियों के भाषण सुने। यहां तक कि ग्रीक पर गाजा (1400-1478) का भी भाषण सुना। वामर्स के पादरी जान वान डेलबर्ग से उनकी मित्रता हो गयी थी। उन्हीं के निमंत्रण पर उन्होंने हिडलबर्ग विश्वविद्यालय में ग्रीक साहित्य के आचार्य का पद प्राप्त किया। क्लासिकी के अध्ययन से उन्हें ज्ञात हुआ कि 'स्कालास्टिकवाद' (पांडित्यवाद) में अनेक दोष हैं। पांडित्यवाद दर्शन को धर्म का एक अंग मानकर मानवीय तर्क-शक्ति को दैवी शक्ति के अधीन कर देता है। इसकी अमूर्त तर्कविद्या से न तो विज्ञान में कोई प्रगति हुई है और न मानविकी धारा और क्रिया में। अतः उन्होंने पांडित्यवाद का विरोध करके मानवतावादी प्रवृत्तियों की वकालत की। अपने ग्रंथ 'दे इनवेन्शन डाएलेक्टिका लिब्रीआई' में उन्होंने पांडित्यवादी दर्शन पर खुलकर आक्रमण किया। उन्होंने पश्चिमी यूरोप की पुनर्जागरण कालीन प्रवृत्तियों का समर्थन किया।

अधिगम (सीखना) : संपूर्ण मानव-व्यवहार के मूल में अधिगम (सीखने) का सिद्धांत निहित है। मनुष्य में जो आदतें या स्वभाव बन जाते हैं, वे भी सीखने का ही परिणाम हैं। बचपन में हम चलना, बोलना, भाषा तथा अन्य सामाजिक क्रियाएं और व्यवहार सीखते हैं और बाद में स्कूली वातावरण में जो जानकारी प्राप्त होती है, वह भी सीखने का ही फल है। संभवतः अधिगम की प्रक्रिया जीवन-पर्यंत चलनेवाली एक सतत् क्रिया है। प्राणी जन्म से सीखना आरंभ करता है और मरते दम तक सीखता ही रहता है। मनुष्य चाहे कुछ भी काम करे, सीखना उसके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण व्यवहार है।

अधिगम से विशिष्ट गतिविधि का जन्म होता है अथवा पहले से ही स्थित किसी गतिविधि में परिवर्तन या हेर-फेर होता है और यह सब प्रशिक्षण क्रिया-विधि के माध्यम से होता है। कुछ दक्षताएं परिपक्वता की प्रक्रिया में हासिल हो जाती हैं अथवा उनके परिवर्तन व्यक्ति की आयु-वृद्धि के साथ-साथ परिपक्वता के परिणामस्वरूप उसके वर्तमान क्रिया-कलापों में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। सीखने से या अधिगमविषयक विचार और अध्ययन करते समय उनसे हमारा कोई मतलब नहीं होता। हमारा संबंध उन परिवर्तनों से है, जो प्रत्यक्ष प्रशिक्षण देते समय व्यक्ति में व्यक्त होते हैं। परिपक्वता के कारण होनेवाले व्यवहार अभ्यास अथवा प्रशिक्षण क्रिया-विधि के बिना ही घटित होते हैं।

अधिगम का अनुशीलन प्रयोगशाला-क्रियाविधि के प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा भी किया गया है तथा प्रयोगशाला की तकनीकों के अप्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा भी। प्रयोगशाला-क्रियाविधि में पात्र के लिए अधिगम सामग्री दे दी जाती है और समय की सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है। फिर पात्र से उस सामग्री को दोहराने के लिए कहा जाता है। सामग्री के साथ किये गये अभ्यास के परिणामस्वरूप पात्र आंशिक रूप से अधिगम प्रदर्शन कर सकता है। दूसरी विधि के अंतर्गत किसी पात्र को एक काम दे दिया जाता है और उसे काम में पारगंत होने के लिए कहा जाता है और पर्याप्त लंबी अवधि के अनंतर उसकी निष्पत्ति का अध्ययन किया जाता है। इस विधि का अनुसरण करते समय जांच करनेवाला उस पात्र की द्रुतगति की ओर ध्यान रखता है और साथ में वह यह भी देखता है कि उस पात्र का अधिगम किस प्रकार का है।

जो पात्र कुछ काल तक अध्ययन कर लेते हैं, उनकी निष्पत्ति के माध्यम से ही उनके अधिगम का अध्ययन हो सकता है; अर्थात् अधिगम का निष्कर्ष अथवा परिणाम निष्पत्ति से निकाला जाता है। अवाप्ति तथा धारिता-शक्ति के निर्धारण से ही अधिगम का वास्तविक माप हो सकता है। अभ्यास अवधि के दौरान प्रगति व्यक्त होती है, अतः हम जान लेते हैं कि पात्र सीखने के दौरान नयी दक्षताएं प्राप्त कर रहा है।

यदि आवधिक प्रशिक्षण की आवृत्ति होती रहे, तो यह दिखायी देता है कि प्रारंभ में, सीखनेवाला पात्र कुछ भूलें करता है और धीरे-धीरे वे त्रुटियां कम होती जाती हैं और अंत में वह पात्र उस विषय में पारंगत हो जाता है।

विभिन्न मनोविज्ञानियों के मतानुसार विभिन्न व्यक्ति एक ही सामग्री को सीखने में विभिन्न परिणाम प्रकट करते हैं। इन विभेदों का कारण यह बताया जाता है कि तेजी से पढ़नेवालों को सीखने में अधिक सरलता होती है। अतः यह सुझाव दिया गया है कि पात्रों तथा सामग्री को कई बार पढ़ने दिया जाये और समय की कोई सीमा न बांधी जाये।

अधिगम को प्रभावित करनेवाले घटक निम्नलिखित हैं :

(1) बुद्धि : इसका प्रत्यक्ष प्रभाव अधिगम पर पड़ता है। तीव्र बुद्धिवाले बालक जल्दी याद करते हैं और मंद बुद्धिवाले बालक कम याद करते हैं।

(2) आयु : आयु बढ़ने के साथ-साथ परिपक्वता के आधार पर अधिगम शक्ति बढ़ती है, परंतु प्रौढ़ावस्था के बाद वृद्धावस्था के साथ-साथ अधिगम शक्ति का ह्रास होने लगता है।

(3) अधिगम संकल्प : दृढ़ संकल्प से अधिगम में वृद्धि होती है।

(4) मार्गदर्शन : अध्यापक के निर्देशन में बालकों को अधिक लाभ होता है।

अधिगम के नियम : अधिगम-विधि के लिए कुछ नियम आवश्यक हैं, जो प्रभावशाली अधिगम के लिए आवश्यक माने जाते हैं और इन सिद्धांतों या नियमों का अधिगम-प्रक्रिया पर नियंत्रण होता है। जो अध्यापक इन नियमों अथवा सिद्धांतों को जानता है, वह अपने विद्यार्थियों को किसी सामग्री के सीखने या याद करने में अधिक सहायता प्रदान कर सकता है। नियम ये हैं :

(1) **समीपता :** समीपता नियम के अनुसार जो घटनाएं काल की दृष्टि से और दूरी की दृष्टि से पास-पास होती हैं, उन्हें सरलता से सीखा जा सकता है और जो घटनाएं दूरी के कारण अलग-अलग होती हैं, उन्हें सीखने में अधिक देर लगती है। पावलोव ने इसका परीक्षण कुत्तों पर किया। उन्होंने कुत्तों के सम्मुख असंबद्ध उद्दीपन रखे और उनका संतोषजनक परिणाम निकाला। इसी क्रम को बार-बार दोहराने से पता लगा कि असंबद्ध उद्दीपन तथा उपयुक्त उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया के बीच एक संबंध होता है। अपने परीक्षण में पावलोव ने यह किया कि वह घंटी बजाते और कुत्तों के सामने आहार रखते, जिसे देखते ही उनके मुंह में लार आ जाती, बार-बार ऐसा करते-करते कुत्तों के सामने केवल घंटी बजाने से ही उनके मुंह में लार आने लगी।

(2) **अभ्यास :** अभ्यास-नियम इस बात पर जोर देता है कि जो अधिगम-परिस्थिति बार-बार दोहरायी जाती है, वह आसानी से याद हो जाती है, बजाय उस अधिगम परिस्थिति के, जो विलंब से अथवा अंतरालों से दोहरायी जाये। दक्षता या कुशलता के सीखने के लिए एक बार के ही अभ्यास से अप्रत्याशित परिणाम निकलता देखा गया है। व्यक्ति को किसी दक्षता का जितनी बार अभ्यास कराया जायेगा, उतना ही अच्छा उसका अधिगम-परिणाम होगा। परंतु यह आवश्यक नहीं कि दोहरायी हुई अनुक्रियाएं ही मस्तिष्क में अच्छी तरह धारित की जा सकती हैं। अर्थात् अनुक्रिया का अंतिम परिणाम धारिता के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(3) **प्रभाव :** थार्नडाइक ने अभ्यास-नियम के पूरक के रूप में प्रभाव सिद्धांत (नियम) का विकास किया। इस नियम से उनका अभिप्राय यह है कि जो अनुक्रियाएं किसी जीव की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली होती हैं, वे ही मस्तिष्क में धारित की जा सकती हैं और जिनसे आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, वे लुप्त हो जाती हैं। प्रत्येक प्रकार के अधिगम में इस सिद्धांत के लागू होने का प्रमाण मिलता है। अभिप्रेरणापेक्ष्य अधिगम में व्यक्ति को संतोष तभी मिलता है, जब वह अभीष्ट कुशलता प्राप्त कर लेता है। अनुकूलित अधिगम के मामलों में भी सही अनुक्रियाएं संतोषजनक परिस्थितियों से संबंधित होती हैं और इसलिए उनको प्रोत्साहित तथा याद किया जाता है।

(4) **संबद्धता :** थार्नडाइक ने एक और अधिगम-नियम का उल्लेख किया है, जिसका नाम 'बिलोंगिगनेस' है। उन्होंने पात्रों के सामने एक पैरा पढ़ा और उनसे कहा कि उसे वे एक व्याख्यान के रूप में सुनें। दस बार पढ़ने के बाद उन्होंने उस पैरे के विषय में प्रश्न पूछे। प्रश्नों में पात्रों से पूछा गया कि अमुक शब्द के पहले या बाद में

कौन-सा शब्द है। इस प्रयोग के दौरान उन्हें पता लगा कि यदि शब्द वस्तुतः परस्पर संबद्ध हों, तो शब्दों का सही संबंध स्थापित करना सरल है। यदि किसी व्यक्ति के नाम का अंतिम भाग बोला जाये, तो उसके नाम का प्रथम भाग आसानी से याद आ जाता है।

(5) **अभिप्रेरण** : अभिप्रेरण या अन्य अवस्था की गहनता एक और घटक है, जिसका अधिगम पर प्रभाव पड़ता है। जब सुखद ढंग के संवेगों को अनुभव से संयोजित किया जाये, तो अनुक्रियाएं मस्तिष्क में स्थिर रहनेवाली होती हैं और वे जम जाती हैं। इसके विपरीत संवेगों के दबाव में की जानेवाली बातों में अधिक त्रुटियां होने की संभावना रहती है।

(6) **प्राथमिकता** : अधिगम से संबंधित अंतिम शर्त अनुभवों की प्राथमिकता है; क्योंकि प्रथम अनुभवों की ओर व्यक्ति अधिक ध्यान देता है। अनर्थक शब्दों को याद करते समय व्यक्ति प्रथम शब्द को पहले याद कर लेता है।

इन अधिगम नियमों को हम अंतिम नहीं कह सकते। इन नियमों में से कोई एक ही अधिगम के लिए पर्याप्त नहीं होता। इन नियमों का एक साथ होना ही वांछित है।

अध्यापक : सामान्य भाषा में अध्यापक वह व्यक्ति है, जो शिक्षण-कार्य करता है। सभी व्यक्ति अध्यापन-कार्य नहीं कर सकते। इसके लिए प्रशिक्षण लेना पड़ता है। अतः शिक्षण-कार्य में प्रशिक्षित व्यक्ति ही अध्यापक है। अध्यापक समाज का आदर्श होता है। यदि अध्यापक योग्य हो, तो अच्छी शिक्षा को बढ़ावा मिलता है। सुयोग्य अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव बालकों पर पड़ता है। इसलिए अध्यापक के शारीरिक, मानसिक और नैतिक व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाना चाहिए। शारीरिक रूप से अविकसित व्यक्ति खेल, व्यायाम आदि क्रियाओं में योगदान नहीं दे सकता। अध्यापक का मानसिक विकास साधारण जनता से अधिक ही होना चाहिए। तीसरी बात अध्यापक का नैतिक विकास है। नैतिकता का अर्थ है मनुष्योचित व्यवहार। अध्यापक में नैतिक गुणों का होना अनिवार्य है, नहीं तो वह विद्यार्थियों का नैतिक विकास नहीं कर सकता।

अध्यापक विद्यालय में मुख्याध्यापक के सहयोगी के रूप में कार्य करता है। इसलिए अध्यापक के चयन में मुख्य-अध्यापक की राय मुख्य होनी चाहिए। लेकिन बहुधा ऐसा होता नहीं है। सरकारी स्कूलों में अध्यापकों की नियुक्ति राज्य-सरकारों के लोक सेवा आयोग के द्वारा होती है, जिसकी चयन पद्धति मनोवैज्ञानिक नहीं होती। जन-संस्थानों के स्कूलों में स्कूल की प्रबंधक समिति ही अध्यापकों की नियुक्ति करती है। होना तो यह चाहिए कि मुख्य-अध्यापक की राय से ही अध्यापक की नियुक्ति हो। नियुक्ति के अच्छे या बुरे के निर्णय के लिए अवधि, जो एक वर्ष ठीक है, निश्चित होनी चाहिए। इस काल में अध्यापक और मुख्य-अध्यापक एक-दूसरे के विचारों को भली-भांति समझ लेते हैं। अध्यापक का कार्य ठीक चल रहा है या नहीं, इसकी जांच मुख्य-अध्यापक द्वारा होती है। यह तभी संभव है, जब अध्यापक और मुख्य-अध्यापक के बीच विचार सामंजस्य हो, और संबंध भी उचित बने हों। अध्यापक के कार्य की रूपरेखा तो मुख्य-अध्यापक ही निर्धारित करता है और वही उसे शिक्षण-संबंधी सुझाव देता है।

अध्यापक प्रशिक्षण : शिक्षक को शिक्षा देने योग्य तभी समझा जाता है, जब वह अध्यापन का प्रशिक्षण प्राप्त करे। लेकिन कई बार प्रशिक्षित शिक्षक भी अपने कार्य में असफल हो सकता है, जबकि प्रशिक्षणविहीन अध्यापक बड़ा नाम पैदा कर लेता है। इस बात की गारंटी तो शिक्षक को प्रशिक्षण देनेवाले आचार्य भी नहीं ले सकते हैं कि प्रशिक्षण पानेवाला शिक्षक एक आदर्श शिक्षक बनेगा ही। वे अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि मनोविज्ञान, स्कूल-प्रबंध, पाठ्य-विधि का ज्ञान देकर उसका इस दिशा में संस्कार कर दें। शिक्षक को वस्तुतः अध्यापन-कौशल अपने काम में अभिरुचि, व्यवहार-कौशल और अनुभव से ही प्राप्त होता है। प्रशिक्षण तो एक साधन है, साध्य नहीं। भारत में शिक्षक-प्रशिक्षण का वैसे तो मद्रास में डाक्टर एंड्यू वैक्ट के प्रयासों से 1789 में ही आरंभ हो गया था, किंतु इसकी व्यवस्थित योजना वुड डिस्पैच (1754) के बाद से शुरू हुई। प्रारंभ में नार्मल प्रशिक्षण स्कूल वेलौर, मंगलौर, बहरामपुर, एलोट आदि में खुले। मद्रास और लाहौर में माध्यमिक स्कूल प्रशिक्षण केंद्र खुले। 1884 के भारतीय शिक्षा आयोग ने माध्यमिक स्कूलों में स्थायी नौकरी के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण

की अनिवार्यता को प्रस्तावित किया। 1904 से 1921 तक इस दिशा में द्रुत विकास हुआ। विश्वविद्यालयों में शिक्षक-प्रशिक्षण विभाग खुल गये। केंद्रीय सलाहकार बोर्ड की युद्धोत्तर-कालीन योजना में शिक्षक-प्रशिक्षण पर पूरा ध्यान दिया गया। इसमें सुझाव दिया गया था कि प्रशिक्षण-कालेज और विश्वविद्यालय के प्रशिक्षण के अतिरिक्त तीन प्रकार की और प्रशिक्षण संस्थाएं भी होनी चाहिए। (1) पूर्व प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों के लिए (2) बेसिक स्कूलों के शिक्षकों के लिए (3) हाई स्कूल के स्नातक शिक्षकों के लिए। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षित अध्यापकों के लिए पुनश्चः पाठ्यक्रम भी होना चाहिए और यह शिक्षण निःशुल्क होना चाहिए।

अध्यापक संघ : संप्रति संसार के सभी देश शिक्षा के सर्वतोमुखी प्रसार की दिशा में प्रयत्नशील हैं। विद्यार्थियों की संख्या के साथ-साथ अध्यापकों की संख्या भी बढ़ रही है। इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़नेवाले अध्यापक-समूह को अपने पेशे से संबंधित कई प्रकार की अच्छाई-बुराइयों का सामना करना पड़ रहा है। इसी तरह की सुविधाओं पर विचार-विनिमय करने के लिए अध्यापक संघ अस्तित्व में आये हैं। अध्यापक संघों पर बातचीत करते समय ऐसे संघों की आवश्यकता, विशिष्टता, उनके जन्म से संबंधित बातें तथा उनके प्रधान गुणों और कर्तव्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेना जरूरी होता है।

एक सर्वप्रचलित मान्यता है कि 'अध्यापक लोक और परलोक से संबंधित ज्ञान प्रदान करनेवाला होता है।' पहले जमाने में, बेबिलोनिया, असीरिया, चीन, भारत जैसे सभ्य देशों में अध्यापक सर्वज्ञान-संपन्न माना जाता था और देवता के समान उसकी पूजा होती थी। इसी कारण उस समय के समाज में अध्यापक को एक विशेष प्रकार का गौरव प्राप्त था। ऐतिहासिक कारणों से खोयी हुई मान-मर्यादा को दुबारा स्थापित करने के सिलसिले में आस्ट्रेलिया, अमरीका, कनाडा, इंग्लैंड, भारत आदि देश पहल कर रहे हैं। अध्यापकों को दिये जानेवाले वेतन तथा सेवा-प्रतिबंध को ध्यान में रखकर आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अध्यापकीय पेशे को ऊपर उठाने के लिए संसार भर में अनेक अध्यापक संघ और सम्मेलन अस्तित्व में आये हैं।

सन् 1912 में, इंग्लैंड में 'टीचर्स रजिस्ट्रेशन कांउसिल' नाम से एक अध्यापक संघ की स्थापना हुई। पहले-पहल यह संघ अध्यापकीय पेशे से संबद्ध 44 सदस्यों के आधार पर आरंभ किया गया। उसके बाद 1926 में उसका और अधिक विकास हुआ। सदस्यों की संख्या 50 तक बढ़ी। एक-एक शाखा से 12 सदस्यों के हिसाब से विश्व-विद्यालयों, प्राइमरी स्कूलों तथा तकनीकी शिक्षा-संस्थाओं से अध्यापक चुने गये। उस समय वहां जो 12 विश्व-विद्यालय थे, उनमें से 12 सदस्य चुने गये। ये सारे सदस्य समय-समय पर मिलकर शिक्षा-संबंधी समस्याओं का समाधान करके शिक्षा के विकास के लिए आवश्यक सुविधाओं की सूचना शिक्षा-अधिकारियों को दिया करते थे। इंग्लैंड में आजकल जितने भी अध्यापक संघ काम कर रहे हैं, उन सबका मूल यही 'टीचर्स रजिस्ट्रेशन काउंसिल' ही है।

सन् 1916 में 'अमेरिकन टीचर्स यूनियन' नाम से संयुक्त राज्य अमेरिका में इसी तरह का एक अध्यापक संघ स्थापित हुआ। उसका प्रधान कार्यलय शिकागो में था। उसका निर्वहण 'अमेरिकन फेडरेशन आफ लेबर' नामक एक बहुत बड़ी संस्था के आधीन था। संयुक्त राज्य अमरीका की 400 स्थानीय संस्थाओं में काम करनेवाले 4,500 से ज्यादा अध्यापक उसके सदस्य थे। इसका मुख्य उद्देश्य देश के बच्चों के लिए उत्तम शिक्षा-सुविधाओं को जुटाना तथा अध्यापकों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाकर उनके काम-काज के मामले में सुख-सुविधाएं प्रदान करना था।

इसी प्रकार के सौ से अधिक अध्यापक संघ संसार के सारे देशों में काम कर रहे हैं। ये सारे संघ 'वर्ल्ड कानफेड-रेशन आफ आर्गनाइजेशन्स आफ द टीचिंग प्रोफेशन' नामक एक अंतर्राष्ट्रीय संघ से संबद्ध हैं और हर साल उस संघ द्वारा बुलायी जानेवाली बैठकों में भाग लेते हैं। भारत में 'आल इंडिया काउंसिल फार सेकंडरी एजुकेशन', तथा 'आल इंडिया फेडरेशन आफ एजुकेशनल एसोसिए-शन्ज' नामक अखिल भारतीय स्तर के संघ हैं, जो अन्य राष्ट्रों के संघों से संबद्ध हैं। इसी प्रकार भारत के हर प्रांत में अलग-अलग नाम के अध्यापक संघ काम कर रहे हैं। साल में एक बार अंतर्राष्ट्रीय स्तर के तथा प्रांतीय स्तर के अध्यापक संघों की मिली-जुली बैठकें होती हैं।

ऐसी बैठकों में देश के विविध संघों के प्रतिनिधि-अध्यापक एकत्र होकर अध्यापन क्षेत्र से संबंधित सभी समस्याओं पर खुलकर विचार-विनिमय किया करते हैं।

अब यहां पर यह भी देखना जरूरी है कि अध्यापकों के उद्देश्य (लक्ष्य) और कार्यक्रम क्या हैं। सरकार द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-विधियों के गुण-दोषों का अध्ययन कर, शिक्षा-संबंधी सुझावों को सरकार तक पहुंचाना ऐसे संघों का मुख्य उद्देश्य होता है। वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में विद्यार्थी सफलतापूर्वक अपना जीवन बिता सके, इसके लिए उचित और आवश्यक शिक्षा-व्यवस्था के उपाय बताना, संसार के अन्य राष्ट्रों की शिक्षा-पद्धतियों का परीक्षात्मक अध्ययन कर भारतीय शिक्षा-पद्धति को भी ऊपर उठाने की दिशा में पहल करना, विभिन्न शिक्षा-केंद्रों से संबद्ध अध्यापकों की समस्याओं का अध्ययन कर उनके समाधान के मार्ग सुझाना, समाज में अध्यापक के स्थान तथा वेतन-स्तर को उन्नत करने के उपाय बताना आदि काम अध्यापक संघों के प्रधान कर्तव्य हैं। इन्ही कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अध्यापक समय-समय पर मिलकर अपनी समस्याओं पर खुलकर विचार करते हैं।

अपने संपूर्ण प्रयत्नों, कार्यकलापों और गोष्ठी-प्रसंगों का परिचय देते रहने के लिए अध्यापक संघ कुछ पत्रिकाओं का भी प्रकाशन करते हैं। जैसे, 'आल इंडिया काउंसिल फार सेकंडरी एजुकेशन' द्वारा प्रकाशित मासिक 'टीचर एजुकेशन', भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक, 'एजुकेशन क्वार्टर्ली,' 'साउथ इंडियन टीचर्स यूनियन' द्वारा प्रकाशित मासिक 'द साउथ इंडियन टीचर,' आदि पत्रिकाएं हैं। इनके अतिरिक्त 'सेकंडरी एजुकेशन,' 'टीचिंग,' 'टीचर्स वर्ल्ड', 'टीचर एजुकेशन,' 'क्रिश्चियन एजुकेशन,' 'न्यू एजुकेशन' आदि पत्रिकाएं भी अध्यापक-अध्यापन संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं।

अनिर्देशात्मक परामर्श : स्कूल की निर्देशन सेवा के अंतर्गत उपबोधन सेवा का अधिक महत्त्व है। इसमें उपबोधक शिष्य से साक्षात्कार एवं वार्तालाप करके उसकी शैक्षिक और व्यावसायिक समस्याओं की पड़ताल करता है। वह साक्षात्कार के समय उसकी क्षमता एवं देयताओं की जानकारी प्राप्त करता है। व्यवसाय के आंकड़े तथा शिक्षा की आवश्यकताओं को अभिरुचियों के फोकस में लाता है। यह साक्षात्कार स्कूल की पढ़ाई के अंत में ही नहीं, बल्कि समूचे स्कूल जीवन में अनेक बार होता है। इसका उद्देश्य शिष्य से उसकी व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त करना, शैक्षिक परामर्श देना तथा व्यावसायिक उपबोधन होता है। ऐसे साक्षात्कार की सबसे बड़ी विशेषता यह समझी जाती है कि इसमें शिष्य को ऐसा प्रोत्साहन दिया जाये कि वह इस दौरान स्वतंत्रता का अनुभव करे और उपबोधक से आश्वस्त रह सके। इसमें साक्षात्कारकर्ता की अपनी दृष्टि, अनुभव, ज्ञान एवं आंकड़ों को अर्थ देने की योग्यता ही महत्त्वपूर्ण होती है। वह अपने उपबोधक को आगे न रखे। यदि किसी विकल्प का भविष्य अच्छा नहीं है और उसमें असफलता की संभावना है, तो उसे सूचना संकेत भर दे देना चाहिए। उसे चाहिए कि शिष्य को किसी अन्य स्थान पर स्थापित करने का यत्न करे। पर अंतिम विकल्प शिष्य के हाथ में रहना चाहिए।

सच्चे अर्थ में यह उपबोधन शिष्य के स्कूली जीवन में ही समाप्त नहीं हो जाता। परीक्षा पास कर लेने मात्र से वह अपने जीवन को दिशा देने में समर्थ नहीं हो जाता है। वह चाहे किसी व्यवसाय में चला जाये, या पढ़ाई जारी रखे, उसे उपबोधन की फिर भी आवश्यकता रहती है। क्या पता, वह अपनी असफलता के कारण ही पढ़ाई छोड़ गया हो। अत: ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वह स्नातक हो जाने पर भी परामर्श एवं सहायता के लिए स्कूल में आ सके। संचयीवृत्त में अनुवर्ती आंकड़ों को दर्ज करने का भी स्थान होना चाहिए। उसमें पेशे का विवरण, अवधि और मालिक का मूल्यांकन भी दर्ज होना उपबोधन में सहायक होता है।

अनुशासन : स्कूल में अनुशासन की अनिवार्यता असंदिग्ध है। नियम और व्यवस्था की जितनी आवश्यकता राज्य-प्रशासन के लिए होती है, उतनी ही स्कूल-संचालन में भी। टी० परसी नन के मतानुसार व्यक्ति के आवेगों तथा शक्तियों को नियंत्रण के अधीन करना अनुशासन है, जिससे अव्यवस्था के स्थान पर कार्यदक्षता तथा बुद्धिसंगत सिद्धांत को व्यवस्थित आकार दिया जा सके, अन्यथा

उसकी शक्तियां या तो प्रभावहीन हो जायेंगी या उनका अपव्यय होगा। यद्यपि मानव स्वभाव इस नियंत्रण का प्रतिरोध करेगा, तथापि इसको संपूर्ण रूप से संकल्पपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। अतः अनुशासन का उद्देश्य व्यक्ति को ज्ञान, आदतों, अभिरुचियों तथा आदर्शों की प्राप्ति में सहायता देना है, जिससे उसका, उसके साथियों का और समस्त समाज का कल्याण हो।

पहले के जमाने में अनुशासन का अर्थ अबूझ समर्पण तथा निःशंक आज्ञा-पालन समझा जाता था। तथा उस समय "छड़ी को दूर रखना बालक को बिगाड़ना है" वाली कहावत चरितार्थ होती थी। शिक्षक के हथियारों में किताब और छड़ी का समान महत्त्व था। किंतु बीसवीं शताब्दी में छड़ी शैक्षिक सत्ता का प्रतीक नहीं रही। जब अनुशासन को बालक के अनुरूप ढलना होता है, न कि बालक को अनुशासन के अनुरूप। इसलिए अब शिक्षक का काम एक पुलिसमैन के स्थान पर एक इंजीनियर का हो गया है। उसका काम स्कूली परिवेश का ऐसा उपयोग करना है, जिससे शिष्य का अनुभूत संसार दिन-ब-दिन संपन्न होता जाये। उसका काम स्कूल में ऐसी भौतिक एवं सामाजिक स्थितियां जुटाना है, जिनसे बालक के क्रियाकलापों को ठीक-ठीक दिशा मिल सके। वास्तव में, न तो बालक के स्वतः फलने-फूलनेवाले अपने निश्चित प्रयोजन होते हैं और न ही ऐसे निश्चित सिद्धांत बन पाते हैं, जिनके प्रति किसी प्रकार की वफादारी वांछनीय हो। ऐसी स्थिति में शिक्षक का काम ऐसी स्थितियां जुटाना रह जाता है, जिनकी सहायता से बालक को विभिन्न परिस्थितियों के मध्य अध्यापन से संबंधित व्यक्तियों के समुचित आदर एवं मान के अनुसार समुचित सफल आचार की दिशा मिल सके। अतः स्कूल के सामाजिक जीवन के मध्य अनुशासन का मूल उद्देश्य छात्र में अभिवृद्धि, आदत तथा आचरण के आदर्शों का विकास करना है। इस कार्य में पाठ्योत्तर क्रियाकलाप विशेष सहायक होते हैं। अतः अच्छे अनुशासन का मूल उसके सृजनात्मक होने में है। सृजनात्मक होने के लिए अनुशासन नकारात्मक न होकर सकारात्मक होना चाहिए। बालक को डराने के बजाय स्नेह से अनुशासित करना चाहिए। उसे 'ऐसा मत करो' कहने की बजाय कहना चाहिए कि 'ऐसा करो'। बालक का सहयोग भी अनुशासन के लिए जरूरी है। सबसे बड़ी बात यह है कि अनुशासन बालक में सुरक्षा की भावना भरनेवाला और उसमें सामाजिक प्रतिमानों के प्रति उसकी आस्था को जगानेवाला होना चाहिए।

अरस्तू (384-322 ई० पू०) : अरस्तू यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे। अरस्तू के पिता सिकंदर के चिकित्सक थे। इसलिए अरस्तू ने भी चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया, लेकिन अरस्तू ने विज्ञान का अध्ययन भी किया। उनके अनुसार नागरिकों को शिक्षित, सुसंस्कृत तथा सभ्य होना अनिवार्य है, अन्यथा राज्य शासन की सुंदरता में बाधा आ जाती है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा का मुख्य सिद्धांत सुख की प्राप्ति है। यह सुख मनुष्य को अपने कर्तव्यों को सम्यक् रूप से निभाने में ही प्राप्त होता है। मनुष्य को अपने कर्तव्य को समझने और सम्यक् रूप से निभाने की प्रेरणा देना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य है, जिसमें उसका विकास निहित है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति को विचार द्वारा ठीक दिशा में लाना और ऐसे मार्ग को निकालना, जिसका अनुकरण करके उसे सुखानुभूति हो।

मानव की समस्त क्रियाएं सुख-प्राप्ति के लिए होती हैं। इसी प्रकार एक बालक की भी। बालक में इंद्रिय-संवेदना तथा भावना की प्रधानता होती है। उसमें जिज्ञासा, अनुकरण, स्पर्द्धा, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियां भी होती हैं। शिक्षा का उद्देश्य है इन प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का विकास इस प्रकार से करना कि बालक में अच्छी आदतों का संचार हो और वह सही ढंग से कार्य करें।

शासन में पक्षपात तथा राजनीतिक कारणों से इस शिक्षा का प्रभाव तत्कालीन समाज पर न पड़ सका। लेकिन कालांतर में उनकी रचनाएं अन्य देशों में गयीं, जहां उनका अनुवाद हुआ तथा उनके महत्त्व को समझा गया और विश्व में विज्ञान का प्रसार हुआ।

अलेक्जेंडर डफ : स्काट मिशनरी सोसायटी के तीन प्रमुख मिशनरियों (जान विलसन, अलेक्जेंडर डफ और जान एंडरसन) में सबसे प्रसिद्ध। इन व्यक्तियों ने अपने प्रारंभिक स्कूल निम्न वर्ग के लोगों के लिए खोले और उनकी ही मातृभाषा का प्रयोग किया। किंतु शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि उच्च वर्ग में धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन

के लिए अंग्रेजी स्कूल अनिवार्य हैं। फिर भारतीयों को अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान का परिचय देने के लिए भी अंग्रेजी अनिवार्य थी। अत: अंग्रेजी स्कूलों की आवश्यकता अनुभव हुई। इस दिशा में डफ ने पहल की और स्वयं कलकत्ते में 1830 में एक अंग्रेजी स्कूल खोला। अन्य मिशनरियों ने भी उनका अनुसरण किया और अंग्रेजी स्कूलों में वृद्धि होती चली गयी। ये स्कूल और अच्छी तरह फल-फूल सकते थे यदि उन्हें सरकार की ओर से अनुदान मिलता। 'बुड डिस्पेच 1854' में शिक्षा-प्रसार के लिए देशी-विदेशी स्कूलों को सरकारी अनुदान देने की जो सिफारिश की गयी थी, डफ चाहते थे कि उसे कानूनी स्वीकृति प्राप्त हो जाये। इस चर्चा के समय वे इंग्लैंड में ही थे। सरकार ने भी भारतीय मामलों में उन्हें विशेष मान लिया था और उनसे परामर्श भी लिया। अत: उन्होंने बुड डिस्पैच के प्रस्तावों को मान्यता प्राप्त कराने में अपना पूरा प्रभाव डाला। स्वाभाविक था कि अनुदान नीति में सबसे अधिक लाभ मिशनरियों को होता है।

आधुनिक शिक्षा की प्रवृत्तियां : आधुनिक शिक्षा का अर्थ नयी प्रवृत्ति को व्यावहारिक रूप देना है। दूसरे शब्दों में आधुनिक शिक्षा नयी प्रवृत्तियों का ही पर्याय है। इसकी सर्वप्रथम विशेषता 'पेडोसेंट्रिसिज्म' है। इसका अभिप्राय यह है कि बालक की समस्त शिक्षा-प्रक्रिया तभी पूरी हो सकती है, जब उसके अपने क्रियाकलापों को प्रोत्साहन दिया जाये और प्रशिक्षण-विधि तथा सामग्री उसकी आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुसार ढाली जाये। नयी शिक्षा की दूसरी विशेषता क्रिया पर बल देना है। यह भी पहले सिद्धांत में ही सन्निहित है। क्रियात्मक होने से ही बालक सीखता है। वह सदा मानसिक, शारीरिक तथा संवेगात्मक कार्य-कलापों में ही व्यस्त रहता है। अत: अर्थपूर्ण स्वक्रिया ही अधिगम को और अधिक प्रभावशाली बनाती है। किंतु इसमें यह ध्यान रखने की बात है कि क्रियाकलापों पर इतना बल न हो कि क्रिया का पिष्टपेषण ही होता रहे और अधिगम की मात्रा घट जाये।

नयी शिक्षा की तीसरी विशेषता उसका समाज-सापेक्ष होना है। उसे समाज के हितों को सदा ध्यान में रखना होता है। इसमें स्कूल, घर और समाज का परस्पर सहयोग वांछनीय समझा जाता है। अभिभावक-शिक्षक सभाएं आयोजित करना एवं अभिभावकों का स्कूल के कार्यक्रमों में भाग लेना आज इसीलिए आवश्यक समझा जाता है। चौथी विशेषता सहकारी सामूहिक क्रियाकलापों को बल देने की है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बालक के व्यक्तित्व-विकास के लिए उचित सामाजिक परिवेश परम आवश्यक होता है। जहां वह समान अभिरुचियों और समान क्रियाओं द्वारा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए भोजन प्राप्त कर सके। दरअसल स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक चेतना तथा सामाजिक समायोजन में ही होता है। पांचवीं विशेषता यह है कि नयी शिक्षा किसी भी प्रकार के सैनिकीकरण के विरुद्ध है। प्रत्येक प्रगामी स्कूल में प्रजातंत्रीय पद्धति के अनुरूप ही वातावरण होना चाहिए, जिससे बालक मुक्त वातावरण में अपनी सृजनात्मक भावना को अभिव्यक्ति दे सके।

इसके अतिरिक्त नयी शिक्षा ने शिक्षक की पदवी में भी हेर-फेर किया है। वह अब अधिनायक न होकर बालक का मित्र, भाई और मार्गदर्शक समझा जाता है। इस शिक्षा की एक और विशेषता यह है कि इसमें शिष्य और शिक्षक, दोनों जीवन और शिक्षा के प्रति एक प्रयोगात्मक दृष्टि रखते हैं। दोनों एक ही राह के अन्वेषी हैं। एक आत्मान्वेषण करता है, तो दूसरा बालक की क्षमता के अनुरूप अपनी प्रशिक्षण विधि का। इस प्रकार इन नयी प्रवृत्तियों ने शिक्षा की परिभाषा ही बदल दी। यह अब समूचे व्यक्तित्व का विकास अथवा परिवर्तन है। यह भविष्य में जीवन की तैयारियां मात्र न होकर, उसकी परिवृद्धि है। इसमें बालक के शिक्षित होने की सृजनात्मक प्रवृत्ति को सुनियोजित किया जाता है।

आयोग, कोठारी : भारत सरकार ने जुलाई, 1964 में एक भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की थी, जिसके अध्यक्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष प्रो० डी० एस० कोठारी थे। इसीलिए यह आयोग 'कोठारी आयोग' के नाम से भी पुकारा जाता है। इस आयोग का काम भारत सरकार को राष्ट्रीय शिक्षा के एक प्रतिरूप के संबंध में परामर्श देना और उन सब सिद्धांतों और नीतियों को निर्धारित करना था, जिनके आधार पर शिक्षा के सभी स्तरों और पहलुओं में सुधार किया जा सके। इस आयोग ने अपना काम 2 अक्तूबर, 1964 में आरंभ

किया था और 9 जून, 1966 को अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को सौंप दी थी। इस आयोग की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार हैं :

(1) नयी समाज-व्यवस्था के लिए शिक्षा विज्ञान, तकनीक और भारतीय संस्कृति पर आधारित हो।

(2) शिक्षा-पुनरुद्धार के लिए प्राइमरी शिक्षा में सुधार, साधारण शिक्षा में कार्य-अनुभव का प्रवेश, माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक करने, शिक्षक में गुणात्मक सुधार करने, निरक्षरता को दूर करने, उच्च शिक्षा के स्तर को बढ़ाने, शोध और अध्यापन पर बल देने और कृषि-अनुसंधान तथा तत्संबंधी विषयों पर ध्यान दिया जाये।

(3) कृषि-शिक्षा को प्राथमिकता दी जाये।

(4) शिक्षा और उद्योग का घनिष्ठ संबंध हो।

(5) विज्ञान-शिक्षा को कृषि, तकनीक और उद्योग के सब स्तरों पर संबद्ध किया जाये।

(6) 20 : 50 : 30 के अनुपात से लोअर माध्यमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालयों की शिक्षा में व्यावसायिक पाठ्यक्रम पर बल दिया जाये।

(7) योग्य शिक्षकों को व्यवसाय में प्रवेश के लिए पर्याप्त वेतन तथा काम करने की सुविधाएं दी जायें तथा उनके प्रशिक्षण कार्यक्रम में सुधार किया जाये।

(8) दस वर्ष में 10 प्रतिशत शिक्षण-संस्थाएं हर स्तर पर सुधार की चोटी पर हों।

(9) वर्तमान सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करने के लिए घंटे बढ़ाये जायें, प्रादेशिक भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाये तथा पाठ्य-पुस्तकों की वृद्धि की जाये।

(10) विभिन्न शिक्षा-स्तरों का पुन: नामकरण किया जाये।

(11) त्रिभाषी फार्मूला को लागू किया जाये—पहली से चौथी कक्षा तक मातृभाषा पढ़ायी जाये; पांचवीं से सातवीं कक्षा तक मातृभाषा, हिंदी और अंग्रेजी पढ़ायी जाये; आठवीं से दसवीं कक्षा तक तीन भाषाएं पढ़ायी जायें, एक सरकारी भाषा हो। इसके बाद कोई भाषा अनिवार्य नहीं हो।

(12) शिक्षकों के वेतन और पद में सुधार किये जायें और उन्हें अन्य सेवा-लाभ दिये जायें।

(13) शिक्षकों को कार्य और वेतन दोनों दृष्टियों से प्राइमरी से विश्वविद्यालय तक जाने एवं पदोन्नति की सुविधाएं दी जायें।

(14) पठन-पाठन के लिए अच्छी सामग्री का उत्पादन किया जाये।

(15) परीक्षण-विधि में सुधार किया जाये।

(16) सृजनात्मक और प्रयोगात्मक दृष्टि से शिक्षा में सुधार किये जायें।

(17) प्राइमरी से हाई स्कूल तक के बीच पारस्परिक सद्भाव और साहचर्य स्थापित किया जाये।

(18) शिक्षा-सुधार के लिए बस्ती और संस्थान में फंड के लिए सहायता दी जाये।

(19) कृषि, उद्योग एवं राष्ट्रीय जीवन के लिए प्रशिक्षित जन-शक्ति देने हेतु शिक्षा-सुविधाओं का विस्तार किया जाये।

(20) पूर्णकालिक शिक्षा के बोझ को कम करने के लिए अंशकालिक शिक्षा का हर स्तर और क्षेत्र पर प्रबंध किया जाये।

(21) प्रतिभाओं की खोज की जाये और उनका पोषण किया जाये।

(22) माध्यमिक और उच्च शिक्षा के स्तर को बनाये रखने के लिए प्रवेश में कड़ाई बरती जाये।

(23) जन्म-दर कम करने की योजना से प्रत्येक के लिए काम और तत्संबंधी शिक्षा की व्यवस्था की जाये।

(24) नि:शुल्क शिक्षा अच्छी और प्रत्येक के लिए अनिवार्य हो तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जाये।

(25) पिछड़ी जातियों और स्त्रियों की शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन दिया जाये।

(26) प्रशासकीय सुधार किये जायें।

(27) एक राष्ट्रीय शिक्षा अधिनियम बनाया जाये।

(28) स्कूली शिक्षा के लिए राष्ट्रीय बोर्ड बनाया जाये।

(29) शिक्षा को समवर्ती सूची में ही रखा जाये।

(30) प्रत्येक राज्य में कृषि-विश्वविद्यालय हो।

(31) प्रत्येक कालेज स्वायत्त संस्था बने।

(32) रूसी भाषा के अध्ययन पर बल दिया जाये।

(33) लैंगिक आधार पर पाठ्यचर्या का विरोध किया जाये।

(34) पाठ्यपुस्तकों के लिए स्वायत्त निकाय की व्यवस्था की जाये।

(35) शिक्षा-व्यय साढ़े चार गुना बढ़ा दिया जाये।

आयोग, मुदालियर : माध्यमिक शिक्षा प्रणाली की जाँच, सुसंगठन और सुधार करने की दृष्टि से भारत सरकार ने 1952 में मद्रास विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा आयोग नियुक्त किया था। इसीलिए इस आयोग का नाम मुदालियर आयोग है। इसने समस्त भारत का दौरा करके जून, 1953 में अपनी रिर्पोट पेश की। इसकी निम्नलिखित सिफारिशें हैं:

(1) माध्यमिक शिक्षा चार या पांच वर्ष की प्रारंभिक अथवा जूनियर बेसिक के बाद आरंभ हो। इसमें तीन साल मिडिल या सीनियर बेसिक या जूनियर माध्यमिक के बाद चार साला उच्चतर माध्यमिक स्तर हो।

(2) वर्तमान इंटरमीडियेट को हटाकर उसके एक वर्ष को चार साला उच्चतर माध्यमिक में मिला दिया जाये।

(3) इंटरमीडियेट का दूसरा वर्ष तीन साला डिग्री कोर्स में रख दिया जाये।

(4) जो विद्यार्थी हाई स्कूल पास करके आयें, उनके लिए एक साला पूर्व-विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम हो।

(5) व्यावसायिक कालेजों में उच्चतर माध्यमिक अथवा पूर्व-विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम के बाद ही प्रवेश हो।

(6) विभिन्न योग्यता एवं अभिरुचियोंवाले छात्रों के लिए बहुउद्देश्यीय स्कूल स्थापित किये जायें।

(7) बहुउद्देश्यीय स्कूलों के अंग बनकर या अलग से तकनीकी स्कूलों का आरंभ हो। ये उद्योगों के समीप तथा उनके निकट सहयोग से स्थापित हों।

(8) भाषा: (क). शिक्षा का माध्यम माध्यमिक स्तर पर मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा हो। (ख) माध्यमिक श्रेणी का छात्र दो भाषाएं पढ़ें: अंग्रेजी और हिंदी। हिंदी जूनियर बेसिक से पढ़ायी जाये। (ग) उच्च और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर कम से कम दो भाषाएं हों जिनमें से एक मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा हो।

(9) पाठ्यचर्या के अंतर्गत माध्यमिक में ये विषय रखे जायें: भाषा, सामाजिक ज्ञान, सामान्य विज्ञान, गणित, कला, संगीत, हस्तकला, और शारीरिक शिक्षा। उच्च तथा उच्चतर माध्यमिक के लिए सात वर्ष निश्चित किये जायें और ये विषय रखे जायें: मनोविज्ञान, प्रविधि, व्यावसायिक विषय, कृषि, कला तथा गृहकला आदि।

इसके अतिरिक्त मुदालियर आयोग ने अनुदेश, शैक्षिक अनुदेश तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्न-प्रणाली की ओर भी ध्यान दिलाया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस आयोग के सभी सुझावों को आंशिक रूप से कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया गया।

आयोग, विश्वविद्यालय शिक्षा : यह आयोग भारत सरकार द्वारा नवंबर, 1948 में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया था। इसके दस सदस्यों में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, चिकित्साशास्त्री तथा इंजीनियरों के अतिरिक्त तीन विदेशी विशेषज्ञ भी सम्मिलित थे। इस आयोग को देश की वर्तमान स्थिति और भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय विश्वविद्यालीय शिक्षा की वृद्धि एवं सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत करने का काम सौंपा गया था। इस प्रकार इस आयोग का काम विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रत्येक पहलू की परीक्षा करना था। इसने अपनी रिपोर्ट 1949 में प्रस्तुत की और विश्वविद्यालय शिक्षा के दोषों की ओर संकेत करते हुए उनमें सुधार के जो सुझाव दिये, वे इस प्रकार हैं:

(1) जीवन-स्तर को उन्नत करने और देश के आंतरिक जीवन को समृद्ध करने के लिए विश्वविद्यालय शिक्षा द्वारा आमूल परिवर्तन किये जायें।

(2) इंटरमीडियेट के बाद विश्वविद्यालय में प्रवेश किया जा सके।

(3) 10वीं और 12वीं कक्षा के बाद के व्यावसायिक शिक्षा-संस्थानों की वृद्धि की जाये।

(4) शिक्षकों में पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का प्रयोग किया जाये।

(5) पढ़ाई के समय में वृद्धि की जाये।

(6) सुनियोजित भाषण एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जायें।

(7) पाठ्यपुस्तकों का प्रयोग न किया जाये।

(8) सायंकालीन कालेज खोलें और चलाये जायें।

(9) प्रयोगशालाओं में सुधार किये जायें।

(10) अनुशासन दंड के स्थान पर सहानुभूति एवं शिक्षक-शिष्य के सहयोग पर आधारित हो और शिक्षा राजनीति से दूर रहे।

(11) आनर्स के पश्चात् दो वर्षों में एम० ए० में प्रवेश हो।

(12) शोध-कार्य को प्रोत्साहन दिया जाये और पीएच० डी० के पश्चात् ही फेलोशिप में प्रवेश मिले और छात्रवृत्तियों की व्यवस्था हो।

(13) व्यावसायिक शिक्षा के लिए अभ्यास-कार्य की व्यवस्था हो।

(14) परीक्षा में 33 प्रतिशत अंक कक्षा-कार्य के लिए सुरक्षित रहें तथा स्नातकोत्तर परीक्षाओं के लिए मौखिक परीक्षा भी हो।

(15) उच्च-माध्यमिक और विश्वविद्यालय सोपान के लिए तीन भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य हो। उच्च-शिक्षा के लिए प्रादेशिक भाषा अथवा संघीय भाषा (समस्त विषयों अथवा कुछ विषयों के लिए) काम में लायी जाये।

(16) ग्रामीण शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की जाये : 8 साल बुनियादी शिक्षा, 3 या 4 साल माध्यमिक शिक्षा, 3 साल कालेज और 2 साल स्नातकोत्तर शिक्षा। (कालेज शिक्षा का आशय माध्यमिक से आगे किसी भी शिक्षा-व्यवस्था से है।)

(17) ग्रामीण-संस्थान ऐसे संस्थान हों, जिनमें विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा का प्रबंध हो। किंतु इसमें परंपरागत विश्वविद्यालय शिक्षण के स्थान पर ग्रामोपयोगी शिक्षा दी जाये, जिसका अपना विकसित विशिष्ट स्वरूप एवं ढांचा हो।

(18) कृषि-नीति संस्थान की स्थापना की जाये, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और कृषि अनुसंधान परिषद् से संबंधित हो और जो कृषि संबंधी नीति को सुनियोजित करे।

(19) स्त्री शिक्षा का उद्देश्य ऐसी शिक्षा देना हो, जो व्यावहारिक तथा स्त्रियों को पूर्ण एवं पर्याप्त जीवन-यापन की दिशा में अग्रसर करे। स्त्री शिक्षकों की वृद्धि की जाये। 13 से 14 वर्ष तक की आयु के लिए लड़के-लड़कियों के विद्यालय अलग ही हों।

(20) अध्यापकों के चारों वर्गों—प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर और इंसट्रक्टर—के अलग-अलग वेतनमानों के साथ भविष्य-निर्वाह निधि की सुविधाएं भी हों।

(21) प्राइवेट कालेजों को वेतन का 50 प्रतिशत और स्वीकृत व्यय का $\frac{1}{3}$ भाग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त हो।

इस प्रकार इस आयोग ने बड़ी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं और इनमें से अधिकांश को केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने स्वीकार भी किया है।

आयोग, साडलर : लीड्स विश्वविद्यालय के चेयरमैन डा० माइकेल साडलर को भारत सरकार ने 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन का अध्यक्ष नियुक्त किया था, इसीलिए यह कमीशन साडलर आयोग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सर आशुतोष मुखर्जी और डा० जियाउद्दीन इसके भारतीय सदस्य थे। इस कमीशन ने विश्वविद्यालय के सभी केंद्रों को देखा और सत्रह मासों के कठिन परिश्रम से बंगाल की शिक्षा-समस्याओं का विस्तृत अध्ययन करके 13 जिल्दों में अपनी रिपोर्ट दी। इसके कुछ सुझाव अखिल भारतीय महत्त्व के हैं। इसके सुझाव इस प्रकार के थे :

(1) विश्वविद्यालयीय शिक्षा के सुसंघटन के लिए माध्यमिक शिक्षा में सुधार करना आवश्यक है, अतः इंटरमीडियेट स्तर को विश्वविद्यालय से निकाला जाये और इसके लिए माध्यमिक तथा इंटरमीडियेट के बोर्ड बनें। यह गैर-सरकारी संस्था हो, जिसमें जनता के प्रतिनिधि भी हों।

(2) विश्वविद्यालय स्तर पर प्रवेश मैट्रिक परीक्षा के बाद न होकर इंटरमीडियेट के बाद हो।

(3) शिक्षा का माध्यम हाई स्कूल में अंग्रेजी और गणित को छोड़कर मातृभाषा हो। विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी हो।

(4) विश्वविद्यालय में छात्रों के बोझ को कम करने के लिए ढाका आवासीय विश्वविद्यालय हो और कलकत्ता विश्वविद्यालय शैक्षिक विश्वविद्यालय रहे, जिसके मुफस्सिल में कालिजों की संख्या बढ़े।

(5) विश्वविद्यालय राज्य-विभाग के अंतर्गत न होकर उसका अपना न्यायालय और कार्यकारिणी हो। उसका उपकुलपति सवैतनिक हो।

और खेल-कूद को बढ़ावा देकर शरारती लड़कों की यातनाओं से दुखी रहनेवाले लड़कों को मुक्ति दिलायी। इस प्रकार टाम ब्राउन के स्कूली दिनों का अंत हुआ। इन्होंने कई विख्यात पुस्तकों की रचना भी की, जिनमें से कुछ है: 'रोमन हिस्टरी' (असंपूर्ण), 'सेर्मन्स', 'आक्सफर्ड लेक्चर्स आन माडर्न हिस्टरी' आदि।

आलक्विन (735-804) : महान् अंग्रेज शिक्षाशास्त्री। उनकी ख्याति के तीन कारण थे। वे इंग्लिश ज्ञान को फ्रांस ले गये, जहां उन्होंने चार्लीमायन के पैलेस स्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य किया। इस स्कूल में सम्राट् ही नहीं पढ़ता था, वरन् उसके परिवार के सदस्य, मित्र, मित्रों के लड़के एक बड़े घरेलू और सजीव वातावरण में अध्ययन करते थे। दूसरे, उन्होंने चार्लीमायन का दरबारी होने के लिए पुरानी धार्मिक मान्यताओं से टक्कर ली और रोमन कैथोलिक मिशन की स्थापना की। तीसरे, उन्होंने लैटिन में अनेकानेक चिट्ठियां छोड़ीं, जिनसे तत्कालीन इतिहास की बड़ी जानकारी प्राप्त होती है।

उनका जीवन तीन कालों में विभक्त किया जाता है। उन्होंने अपने जीवन के 50 वर्ष आर्क में बिताये, जहां उन्होंने अध्ययन किया और आर्चबिशप एगबर्ट की मृत्यु पर वे उस स्कूल के प्रधानाध्यापक हो गये। उसके तीन वर्ष बाद वे इटली की यात्रा पर गये और रोमन सम्राट् के मुख्य शिक्षक बने। सन् 796 में उन्होंने वहां से भी इस्तीफा दे दिया और तर्स के मठाधीश बन गये। वहां उन्होंने अपने शिष्यों से कैरोलिन मिनिस्क्यूल लिपि पर काम करवाया। यही लिपि आगे चलकर वर्तमान रोमन लिपि की पूर्वज सिद्ध हुई। उनका समस्त जीवन विरोधाभासों में ही बीता। यह संघर्ष उनके दिली जोश और अनिश्चितता और संकोचशीलता के कारण ही बतलाया जाता है। वैसे तो वे धर्म और राज्य दोनों के नेता रहे, किंतु मध्यकाल में सभी उनसे प्रभावित एवं परिचित रहे हैं। इटली जाने से पहले उन्होंने जो कविता लिखी है, उससे यार्क के संबंध में पता चलता है। वे इंग्लैंड से प्रेम करते थे, किंतु स्थायी तौर पर परदेश में रहने के लिए चले गये थे। वे चार्लीमायन को प्यार करते थे। पर उसका भय भी बड़ा था। उदार कलाओं के लिए मध्यकाल उत्तम रहा है। साक्षरता पर उन्होंने जो कार्य किया, उसने रोमन कैथोलिक कार्य पद्धति पर बड़ा प्रभाव डाला। इसी से उनकी गणना चाहे ईसाई संतों में न हुई हो, पर उनका सदा आदर किया जाता रहा है।

आलटेनस्टाइन, कार्ल (1770-1840) : प्रशिया के शिक्षा-सचिव आलटेनस्टाइन पर स्यूवेन के शिक्षा-सिद्धांतों का गहरा प्रभाव था। लेकिन व्यावहारिक कुशलता के अभाव के कारण इन सिद्धांतों को अमल में लाने में वे असफल रहे। शिक्षा-सचिव के रूप में उनके सेवाकाल में, जो 1838 तक रहा, विद्यालय एक राजनैतिक अभिकरण बन गये। अध्यापकों और विद्यार्थियों की वैचारिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया गया। इसके पीछे हीगेल का प्रभाव भी रहा होगा, जो 1818 में बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हो गये थे। आलटेनस्टाइन ने यथार्थवादी और क्रांतिकारी विचारधारा को पनपने नहीं दिया और अध्यापकों को स्वतंत्र रूप से अपने राजनैतिक विचार प्रकट करने से रोका। उन्होंने माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा में धर्म और व्यायाम को अनिवार्य अंग बनाया। प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों के प्रशिक्षण में कुछ प्रगति हुई भी; क्योंकि इन विद्यालयों के कार्यक्रमों में किसी प्रकार की रोक नहीं लगायी गयी थी। प्राथमिक शिक्षा के संबंध में ये फ्रेडरिक विल्हेल्म तृतीय के विचार से प्रभावित थे कि वह लोगों को ईश्वर और समाज से निर्धारित कार्यक्षेत्र से ऊपर न उठाये।

आसन : विद्यार्थियों में साधारणतया यह दोष देखा जाता है कि वे सही आसन से नहीं बैठते। इसीलिए उनमें उद्वेष्ट वक्ष, मेरुदंड-वक्रता आदि दोष देखने में आते हैं। ठीक आसन से बैठने की ओर ध्यान दिलाना बड़ा आवश्यक होता है। गलत आसन से बैठने पर थकान होती है। आसन और विकृत होता जाता है। फिर यही चक्र-प्रतिचक्र चलता रहता है। सही आसन से थोड़ी शक्ति के व्यय से ही बड़ी मात्रा में कुशलता प्राप्त होती है। कूमर का कहना है, हमारा शरीर ऐसे जोड़ों का ढांचा है कि अगर इसके अवयव सुगठित हों, तो थोड़ी शक्ति से ही हम इसे खड़ा कर सकते हैं। मांसपेशियां अस्थियों को तभी चला सकती हैं, जब उनका संतुलन बना रहे। आसन सामान्यतया दो प्रकार के होते हैं: खड़े और बैठे। बैठने का आसन

अधिक ध्यान देने योग्य है, जिससे रीढ़ की हड्डी का झुकाव तथा अन्य अंगों में दोष न पैदा हो। डेस्क पर एक ओर झुकना अथवा शरीर का समस्त भार डेस्क पर डाल देना आदि बुरी आदतें हैं। इनसे आसन-दोष उत्पन्न होते हैं। छात्रों को एक ही कक्षा में कई घंटे तक बैठे रहना, पढ़ना तथा लेखन आदि कार्य में व्यस्त रहना पड़ता है। ग्रीवा सीधी करके तथा मेरुदंड को उत्तान रखते हुए बैठना सही आसन है और जब लिखना हो, तो गर्दन और सिर को कम ही झुकाना चाहिए।

यदि शरीर का कोई अंग दूसरे से प्राकृतिक संबंध में स्थिर नहीं है, तो शरीर की आसन-स्थिति को बनाये रखने के लिए अधिक मांसपेशी-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, जबकि शरीर का बोझ अस्थियों को सहन करना होता है, न कि मांसपेशियों को।

अतः शिक्षक को आसन को ठीक करने का हर संभव प्रयत्न करना चाहिए। शारीरिक शिक्षा के अध्यापक द्वारा इस संबंध में रोजाना अभ्यास कराना अच्छा रहता है। व्यक्तिगत सुधारात्मक व्यायाम, कंधों को बराबर रखना और पार्श्व-झुकाव को ठीक रखने के लिए उपयुक्त होता है।

भारतीय व्यायाम-शास्त्र की परंपरा के अनुसार शरीर को निरोग और हृष्ट-पुष्ट बनाये रखने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित दस आसन बहुत महत्त्वपूर्ण माने गये हैं :

(1) पद्मासन (2) धनुषासन (3) हलासन (4) सिद्धासन (5) मत्स्येंद्रासन (6) पश्चिमोत्तासन (7) मयूरासन (8) शीर्षासन (9) सर्वांगासन (10) भुजंगासन।

इन आसनों का वैज्ञानिक और वास्तविक परिचय देना विद्यार्थियों के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए उपयोगी माना जाता रहा है।

आस्कम, रोजर (1515-68) : अंग्रेज विद्वान और अपने युग के महान मानवतावादी। उनका जन्म यार्क के समीप विस्की में हुआ। उनके पिता जान आस्कम वोल्टन के लार्ड स्ट्रोप के स्ट्युवर्ड थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा सर हंफ्री विंगफील्ड नामक एक वकील के परिवार में हुई। उस वकील को अपने परिवार में अनेक बच्चों का पालन-पोषण करने का शौक था। उसी ने आस्कम को 1530 में केंब्रिज में पढ़ने के लिए भेजा।

विश्वविद्यालय में एम० ए० पास करने के पश्चात् वे वहीं ग्रीक भाषा पढ़ाने के लिए केवल चार पौंड के वेतन पर काम करने लगे। किंतु उनकी अभी और आगे पढ़ने की इच्छा थी और वे इससे ऊंचा पद चाहते थे। इसके लिए उन्होंने यार्क के आर्चबिशप को लैटिन अनुवाद के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कीं और अपनी मौलिक कृति 'टाक्सोफिलस' (कमान का प्रेमी) सम्राट् हेनरी को समर्पित की। इससे उनका वार्षिक वेतन चार से दस पौंड हो गया। इसके बाद उनका राजघराने में प्रवेश हुआ। उन्हें राजकुमारी एलिजाबेथ के शिक्षक का काम मिल गया। फिर वे चार्ल्स पंचम के अंग्रेजी राजदूत सर रिचर्ड मेरीसन के सचिव बने। वहां उनका काम राजदूत की ग्रीक भाषा की चिट्ठियां पढ़ना और पत्र लिखना था। फिर वे एडवर्ड छठे के लैटिन सचिव बने। महारानी एलिजाबेथ ने भी उन्हें कायम रखा और विश्वविद्यालय से संबंध तोड़ने पर भी मृत्युपर्यंत वे इसी पद पर बने रहे। 39 वर्ष की आयु में उनका विवाह हुआ और उनके तीन पुत्र हुए।

किंतु शिक्षा के क्षेत्र में उनका आदर 'दि स्कूल मास्टर' के कारण ही है। इसमें उन्होंने लैटिन प्रशिक्षण की विधि बतायी है। इस कृति का अधिकतर भाग अधिगम के मनोविज्ञान से संबंधित है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी के वांछनीय गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। शारीरिक दंड की बड़ी निंदा की गयी है। उनकी कृति से यह स्पष्ट होता है कि उनके सामने संपूर्ण व्यक्ति की शिक्षा का प्रश्न था और संपूर्ण व्यक्ति को शिक्षित करने के लिए उन्होंने सदाचार और सभ्य व्यवहार की शिक्षा को प्रस्तावित किया है। इस पुस्तक का मूल स्वर मानसिक और नैतिक आदतों की ऐसी लयात्मक अभिव्यक्ति है, जिनका होना एक शिष्ट व्यक्ति के लिए वांछनीय है। संक्षेप में इस पुस्तक में अभिव्यक्त मानवता उन्हें अपने युग की एक श्रेष्ठ साहित्यिक प्रतिभा होने का गौरव देती है। वे अंग्रेजी-गद्य के प्रतिभाशाली और चित्ताकर्षक लेखक थे।

एंजेल जेम्स रोलैंड (1869-1949) : इस अमरीकी शिक्षाशास्त्री और मनोविज्ञानी का जन्म बरलिंगटन करमौंट में 8 मई, 1866 को हुआ। मिशिगन, हार्वर्ड

और येल विश्वविद्यालयों के अपने अध्ययनकाल में जान डयूई के दर्शन और मनोविज्ञान का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद वे जर्मनी, आस्ट्रिया और फ्रांस में अध्ययन के लिए चले गये। वहां से लौटने पर वे मिनेसोटा विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रशिक्षक बन गये। इसके बाद शिकागो विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्रोफेसर बने। अपने कार्यकाल में उन्होंने वहां मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में ऐसे सुधार किये कि उस प्रयोगशाला को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हो गयी। शिकागो छोड़ने के पश्चात् उन्होंने कारनेगी कारपोरेशन, न्यूयार्क में कुछ दिन काम किया। उसके पश्चात् 1931 में वे येल विश्वविद्यालय के अध्यक्ष बन गये। यहीं वे पहले व्यक्ति थे, जो येल का विद्यार्थी न होने पर भी इस पदवी पर पहुंचे। वहां उनके पद की सार्थकता यह है कि उन्होंने येल को सामाजिक, बौद्धिक, आदि सभी दृष्टियों से ऊंचा उठाया एवं अनुशासन के स्थान पर ज्ञान के प्रति जिज्ञासा को जगाया, जिससे सभी संस्थाओं का ही स्तर ऊंचा हो गया। वहां से अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्होंने अपने समय की नेशनल ब्राडकास्टिंग कंपनी के जनसंपर्क विभाग में परामर्शदाता के रूप में कार्य करना आरंभ किया। उनके लिखे प्रमुख ग्रंथ हैं— (1) साइकोलोजी (1908) (2) इंट्रोडक्शन टु साइकोलोजी (1913) (3) अमेरिकन एजुकेशन (1937)।

एनीबेसेंट (1847-1933) : इनका जन्म लंदन में सन् 1847 में हुआ। निरंतर अनुशीलन और मनन के बाद ही किसी बात पर विश्वास करने की आदत इनकी प्रकृति में थी। एनीबेसेंट सर्वप्रथम 1893 में भारत आयीं। तत्कालीन भारतीय शिक्षा-पद्धति ने उनके मन में एक तरह की हलचल मचा दी। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग भारत की संस्कृति और शिक्षा का विस्तार करने में लगा दिया। वे चाहती थीं कि भारतीय युवक अपनी भाषा और संस्कृति के साथ-साथ पश्चिम के ज्ञान और दर्शन का भी अध्ययन करें। अपनी इसी इच्छा को साकार करने के लिए उन्होंने सेंट्रल हिंदू कालेज की स्थापना की। इस तरह उन्होंने पूर्व-पश्चिम की विचार-धारा, ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शन का समन्वय किया। नैतिक पक्ष पर उन्होंने अधिक बल दिया। उनका विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने हिंदू संस्कृति के मूल सिद्धांतों को शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान देने का प्रयास किया। एनीबेसेंट ने भारत की राजनीति में भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया और इस दिशा में भी उनकी सेवाएं बहुमूल्य हैं।

एबिंगहाउस, हरमन (1850-1909) : जर्मनी के विख्यात मनोविज्ञानी और शिक्षाशास्त्री। इनका जन्म जर्मनी के बास्मन में हुआ था। युवावस्था में ये इतिहास, भाषाविज्ञान और दर्शन में रुचि रखते थे। जर्मनी और फ्रांस के बीच की लड़ाई में भाग लेने के बाद ये अनुभववादी बन गये और इन्होंने जटिल मानसिक प्रवृत्तियों के अध्ययन का एक सच्चा प्रयोगात्मक विधितंत्र बनाया। फेशनर के सिद्धांतों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इन्होंने स्मृति को अपना अध्ययन क्षेत्र चुना और इस सिद्धांत का खंडन किया कि मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का उद्देश्य ज्ञान के अपरिवर्तनीय तत्वों और स्वरूपों को प्रकाश में लाना है, जो आजकल मान्य है। इनके मतानुसार उन प्रयोगों का ध्येय मानसिक क्रियाओं के स्वरूप, उपाधियों तथा नियंत्रित परिवर्तनों से उनमें आनेवाले रूपांतरों का अध्ययन करना है। सन् 1894 में ये बेसलो में प्रोफेसर बन गये और इसके तीन साल बाद छात्रों की बुद्धि पर अपना अनन्य अध्ययन समाप्त किया। स्मृति के क्षेत्र में किये गये अनन्य प्रयोगों के कारण इनकी बड़ी ख्याति हुई। इन्होंने तथाकथित संयोजन परीक्षण का भी आविष्कार किया, जिसमें परीक्ष्य को खाली जगहों को कुछ अक्षरों या शब्दों से भरना पड़ता है। एबिंगहाउस ने उस क्षेत्र में भी महान काम किया था, जो आगे चलकर सामाजिक विज्ञान के नाम से अभिहित किया गया। मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने मनोविज्ञान संबंधी अनेक पत्रिकाओं के संपादन का काम भी अपना लिया था।

'एमाइल' : सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्री रूसो द्वारा लिखित उपदेशात्मक उपन्यास। यह पुस्तक 1762 में प्रकाशित हुई और तुरंत बाद फ्रांस और स्विट्जरलैंड में इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

नृत्य, लातिन व्याकरण, शब्दज्ञान तथा कंठस्थ करके सीखने की विधि तक सीमित शिक्षा-पद्धति का खंडन कर,

सहज और स्वैच्छिक शिक्षा की आवश्यकता पर इस पुस्तक में रूसो ने बल दिया है। 'एमाइल' नामक उपन्यास में रूसो ने शिक्षा संबंधी जिन बातों को प्रतिपादित किया है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

'बालकपन' में बच्चों को पुस्तकों से दूर रखना चाहिए, पुस्तकें पढ़नेवाला बालक सोचता नहीं है, केवल बातें सीखता है, जीवन से संबंधित आरंभिक बातों की जानकारी अनुभव के आधार पर बच्चों को प्राप्त करनी चाहिए। गठीली देह और सुविकसित अंगों के विकास के लिए उपयोगी शारीरिक शिक्षा ही बालकों को 12 वर्ष की अवस्था तक मिलनी चाहिए। 12 साल की उम्र में भी, जब बालक की बौद्धिक शिक्षा आरंभ होती है, अध्यापक को चाहिए कि वह पुस्तकों का उपयोग न करके बालक की चिंतनशीलता को बढ़ाने मात्र का प्रयत्न करे। बालक में जब उद्वेगों का जन्म होने लगता है, और जब वह समाज में अपनी स्थिति को लेकर सोचने लगता है, तब उसे धार्मिक शिक्षा देकर उसके चाल-चलन को संयमित करना चाहिए। प्रकृति-धर्म (नैचुरल-रिलीजन) का ही बालक को बोध कराना चाहिए और उसे इस बात की आजादी मिलनी चाहिए कि वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म का चयन कर सके। यह शिक्षा-प्रणाली बालकों तक ही सीमित होनी चाहिए। अच्छी गृहिणी तथा मां बनने के लिए आवश्यक शिक्षा ही लड़कियों को दी जानी चाहिए।

मुख्य रूप से दो काल्पनिक बातों के आधार पर रूसो का सिद्धांत टिका है। वे दो बातें हैं—'स्वभाव से मानव अच्छा होता है, तथा 'समाज और सभ्यता की वजह से उसकी अच्छाई बिगड़ती है।' हालांकि इस दृष्टिकोण के बारे में असहमति हो सकती है, फिर भी, आधुनिक शिक्षा-प्रणाली पर रूसो के विचारों का बहुत प्रभाव है। जॉन ड्यूई तथा उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित 'प्रगतिशील शिक्षा' (प्रोग्रेसिव एजुकेशन)' पर भी 'एमाइल' का काफी प्रभाव है।

एलफिंसटन, माउंट स्टुर्ट (1779-1849) :ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में लेखन कार्य के लिए इनकी नियुक्ति हुई थी। 1818 किरकी के युद्ध के बाद उन्हें बंबई का गवर्नर (1819-1837) नियुक्त किया गया। वे अंग्रेजी के कट्टर समर्थक थे, किंतु राजनीति के वशीभूत उन्होंने पूना संस्कृत कालेज की स्थापना की और पेशवा के दक्षिणा-फंड से इस कालेज के खर्च को पूरा किया। उससे उन्होंने जनता की सहानुभूति को अपनी ओर कर लिया। वे बंबई आदिवासी शिक्षा सोसाइटी के पहले प्रधान चुने गये। इस सोसाइटी ने बंबई प्रेसीडेंसी में शिक्षा-व्यवस्था की जानकारी करने के लिए एक क्रम-समिति नियुक्त की। उन्होंने 1823 की अपनी रिपोर्ट में अंग्रेजी स्कूल की स्थापना का प्रयत्न किया। इस पर एलफिंसटन ने अपने निर्देश-पत्र तैयार करके डायरेक्टर की कोर्ट में पेश किये। इसके फलस्वरूप सरकार ने सोसाइटी को मासिक अनुदान देना निश्चित किया। इस प्रकार एलफिंसटन की सहायता से सोसाइटी अपने शिक्षा जगत को और अधिक विस्तृत कर पायी। एलफिंसटन हाई स्कूल और एलफिंसटन कालेज उनके स्मृति-चिन्ह के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

एलफिंसटन मिनिट्स : एलफिंसटन बंबई प्रेसीडेंसी में अंग्रेजी शिक्षा प्रसार के लिए बहुत इच्छुक थे। अपने निर्देश-पत्र में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व कंपनी पर है और उस पर ही जनता की खुशहाली निर्भर करती है। उन्होंने मिशनरियों का विरोध किया, क्योंकि वे मानते थे कि मिशनरी संभवत: जनता का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकते। उन्होंने अपने निर्देश-पत्र में ये सुझाव दिये :

(1) देशी स्कूलों की शिक्षण-विधि में सुधार किये जायें और स्कूलों की संख्या बढ़ायी जाये।

(2) उन्हें पाठ्यपुस्तकें दी जायें।

(3) निम्न वर्ग की जनता को शिक्षा-सुविधाओं से लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाये।

(4) यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा के लिए स्कूल खोले जायें और उच्च शिक्षा के स्तर में सुधार किये जायें।

(5) नैतिक और भौतिक विज्ञान की पुस्तकें देशी भाषाओं में तैयार करके प्रकाशित की जायें।

(6) क्लासिकी भाषा के रूप में अंग्रेजी के अध्ययन के लिए स्कूल स्थापित किये जायें, जिससे कि यूरोपीय खोजों का ज्ञान प्राप्त हो।

(7) भारतीयों को ज्ञानार्जन के लिए अवसर दियें जायें।

एलफिंसटन मातृभाषा के माध्यम से जनशिक्षा के पक्ष

में थे। दूसरे, वे अंग्रेजी माध्यम के विरोधी तो नहीं थे, किंतु अंग्रेजी को क्लासिकी भाषा के रूप में पढ़ाने पर बल दे रहे थे। किंतु गवर्नर की कौंसिल ने इसका विरोध किया और एलफिंसटन को निराश होना पड़ा। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने बंबई नेटिव एजुकेशन सोसाइटी को केवल छः सौ रुपये मासिक अनुदान देना स्वीकार किया।

ओलिंपिक खेल : प्रजातंत्र का यदि कोई जीता-जागता नमूना है, तो वह ओलिंपिक खेल है। यहां न कोई रंगभेद है, न जातिभेद और न वर्गभेद। दुनिया का गरीब से गरीब खिलाड़ी भी इनमें भाग लेकर अपने कौशल के आधार पर आदर पा सकता है। आधुनिक ओलिंपिक खेलों की यही सबसे बड़ी विशेषता है। इन खेलों का समारंभ आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुआ था। किंतु इनका मूल अब भी रहस्य की वस्तु बना हुआ है। इतना निश्चित है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व प्राचीन एथेंस के ओलिंपिया नामक स्थान पर कोई त्योहार मनाया जाता था। इतिहास से इतना ही पता चलता है कि 776 ई० पू० वहां कोई बावर्ची (कुक) विजेता रहा था और उससे आगे 384 ई० तक फिर विजेताओं की एक क्रमबद्ध सूची प्राप्त होती है। इसी वर्ष थियोडोसियस नामक रोमन सम्राट् ने उन्हें बंद करा दिया था। तब से 1500 वर्ष बाद फ्रांस के एक मामूली से आदमी बैरन पिरे दा कुबरटिन ने पुनः ओलिंपिक खेलों का स्वप्न संजोया और 1894 में इन प्राचीन प्रेरणाप्रद खेलों का पुनरुद्धार किया।

कुबरटीन पादरी स्कूल में पढ़कर सेंट सिर की सैनिक अकादमी में प्रशिक्षण के लिए गये थे। परंतु उन्हें फौजी जीवन पसंद नहीं आया और उन्होंने राजनीति में भाग लेना चाहा। वहां भी उन्हें रस नहीं आया। उन्होंने देखा कि 1870 में फ्रांस के जमर्नी से हार जाने का मुख्य कारण फ्रांसिसी युवकों का पिछड़ा होना है। अतः उन्होंने युवकों में साहसिकता, शारीरिक कुशलता, मानसिक फुर्ती और अच्छे खिलाड़ीपन और स्वस्थ जीवन की प्रेरणा पैदा करने का फैसला किया। 1875-81 तक जर्मन पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा ओलिंपिया में की गयी खुदाई से खेलों की प्राचीनता के प्रति उनकी रुचि जागृत हुई। उनका मन ओलिंपिक के प्राचीन सांस्कृतिक, धार्मिक और एथलीटिक मेलों के ज्ञान से अभिभूत हो गया। उन्होंने ओलिंपिक खेलों के पुनरुद्धार की कल्पना की। उन्होंने अनुभव किया कि किसी बड़ी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में भाग लेने के लिए ओलिंपिकों का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य उनके देश के ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के युवकों में उत्साह भर देगा। वे निस्संदेह ओलिंपिक आदर्शों को ग्रहण करेंगे। इससे समस्त मानव जाति का कल्याण होगा। अपने इस विचार को उन्होंने 1892 में, जब उनकी आयु 30 वर्ष की थी, फ्रांस के कुछ खिलाड़ियों के सन्मुख रखा। कोई प्रोत्साहन न मिलने पर उन्होंने एक मासिक पत्रिका निकालना शुरू किया और उसके द्वारा अमरीका के विलियम स्लोव, इंग्लैंड के चार्ल्स हरबर्ट, रूस के बोन्तोवस्की, स्वीडन के विक्टरवाल्क और हंगरी के फ्रांस फ्राज आर० किमेनी में वार्तालाप प्रारंभ हो गया। इसके फलस्वरूप 16 जून, 1894 में पेरिस में ओलिंपिक कांग्रेस हुई, जिसमें संसार की विभिन्न खेलकूद समितियों ने भाग लिया। 1896 में पहला आधुनिक ओलिंपिक खेल समारोह मनाने का फैसला किया गया और उसके लिए पंद्रह सदस्यों की अंतर्राष्ट्रीय ओलिंपिक समिति बनायी गयी। वे चाहते थे कि ओलिंपिया में ही पहले ओलिंपिक खेल हों, किंतु वहां के प्राचीन स्टेडियम में बाढ़ का पानी भर जाने से ग्रीस की राजधानी एथेंस को ही सर्वसम्मति से इसके आयोजन के लिए चुना गया। इस काम के लिए एथेंस में अनेक स्टेडियमों में से हिरोटिस को ही छांटा गया। बुधवार 6 अप्रेल, 1896 को यूनान के पचहत्तरवें स्वतंत्रता-दिवस के दिन ठीक तीन बजे यूनान के सम्राट् और साम्राज्ञी ने स्टेडियम में प्रवेश किया और पहले अंतर्राष्ट्रीय ओलिंपिक खेलों का उद्घाटन किया। इसी प्रकार 15 अप्रेल को ओलिंपिक ओड के बाद उसका समापन किया। इसमें भाग लेने वाले खिलाड़ियों की संख्या उस समय 350 थी और आस्ट्रेलिया, डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, ग्रीस, हंगरी, स्वीडन, स्विट्जरलैंड और अमेरिका ने ही इसमें भाग लिया था और ग्रीस ने फीटीज, मोज, टार्चें लाइट जलूसों आदि द्वारा अपने अतिथियों का स्वागत किया था। खेलों की संख्या भी केवल आठ थी—ट्रेक एंड फील्ड, निशानेबाजी, तलवार-बाजी, तैराकी, टेनिस, साइकिल, कुश्ती और जिमनास्टिक। प्राचीन ओलिंपिक खेलों की तुलना में इस पहले ओलिंपिक को कहीं अधिक सफल मानना चाहिए। कहा जाता है कि तब वहां केवल दौड़ की ही प्रतियोगता होती थी। तेरहवें

ओलिंपिक में जाकर कहीं दूसरी लंबी दौड़ की प्रतियोगता जोड़ी गयी थी और तब जैतून की माला के अतिरिक्त कोई पारितोषिक भी नहीं था। हां, दूसरी बार विजय प्राप्त करने पर ओलिंपिया में विजेता की मूर्ति जरूर लग जाती थी। और आज तो ओलाइब्राज के साथ उपाधि-पत्र और मैडल आदि भी दिये जाते हैं।

ओलिंपिक खेल पहले भी हर चार साल के बाद होते थे। खेलों से प्रारंभ होने वाले समय को ओलिंपियड कहते थे और एक ओलिंपियड चार साल का होता था। आज भी यह हर चार साल के बाद मनाये जाते हैं। केवल 1916, 1940 और 1944 में ये समारोह न हो सके; क्योंकि नियम ऐसा है कि खेलों से ओलिंपियड का आरंभ होना चाहिए और उपर्युक्त वर्षों में युद्ध हो रहा था, अतः उन्हें स्थगित करना पड़ा। इसलिए 1948 में लंदन में होने वाले ओलिंपिक खेलों का समय चौदहवां ओलिंपियड कहलाया और पंद्रहवीं ओलिंपिक खेल प्रतियोगता 1952 में फिनलैंड में हुई। इसमें भारत हाकी में दूसरी बार विजेता रहा था। पहली बार वह 1936 में बर्लिन ओलिंपिक में जीता था।

यह बात आज भी खोज का विषय बनी हुई है कि ग्रीक लोगों ने खेलों को धार्मिक मेले-तमाशों से कैसे जोड़ा था। वास्तव में उनके यहां खिलाड़ी होना शालीनता तथा सौंदर्य का आदर्श था। इससे वह उनके धर्म का अंग बन गया। उनके सौंदर्यबोध ने अच्छे एथलीट बनने के लिए प्रतिस्पर्धा को आवश्यक समझा और उसे धार्मिक समारोहों का अंग बना दिया। आज इन खेलों के महत्त्व को पूरी-पूरी मात्रा में समझ लिया गया है। इन वर्षों में इसका गौरव इतना बढ़ा है कि इसमें सम्मिलित किये जाने वाले खेलों की संख्या 25 के आसपास पहुंच गयी है। और भी कई दृष्टियों से इसके महत्त्व को आंका जाता है। इसका महत्त्व इसके संस्थापक कुबरटीन ने बतलाया था। उनका विचार था कि इसमें भाग लेने वाले एथलीट को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। वह किस देश का है, यह बात गौण ही रहनी चाहिए, अन्यथा यदि किसी देश के अधिक खिलाड़ी भाग लेकर अधिक अंक पाते हैं, तो देशों की राष्ट्रीय होड़ बढ़ चलेगी। उसमें व्यक्ति के गुणों का ह्रास होने की संभावना है। उनका उद्देश्य था कि अंतर्राष्ट्रीय ओलिंपिक समिति के सदस्य ओलिंपिक के आदर्शों को वहन करने वाले ओलिंपिक के राजदूत समझे जाने चाहिए, न कि किसी देश के प्रतिनिधि। इन खेलों ने आदमी के शरीरविज्ञान में भी अधिक रुचि जगायी है। किस जाति और किन वंशानुक्रमों का व्यक्ति किस खेल में अधिक पारंगत होता है, इससे उसके परिवेश और परिवेश के पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन की ओर भी अध्येताओं की दृष्टि गयी है। उदाहरणतः बंबई, कलकत्ता और मद्रास के खिलाड़ी स्प्रिंटर्स और हर्डल में विशेष योग्यता रखते हैं और पटियाला तथा मैसूर के खिलाड़ी मध्यम और लंबी दौड़ों में। शरीर विज्ञान के आधार पर भी इन योग्यताओं का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ अफ्रीकी खिलाड़ी अपने पैरों की लंबी शिराओं के कारण स्प्रिंट और कूद में विशेष योग्यता रखते हैं। फलस्वरूप आधुनिक ओलिंपिक खेलों में एथलीट गुणों की महत्ता को ही प्रदर्शित नहीं किया है, वरन् अंतर्राष्ट्रीय शैली को भी बढ़ावा दिया है और मनुष्य के सर्वांगीण अध्ययन और उसके प्रशिक्षण के भी नये आयाम खोले हैं। शिक्षा के क्षेत्र में इनका और भी विशेष महत्त्व है। इन खेलों के महत्त्व और पृष्ठभूमि में बालक की संपूर्ण शारीरिक और मानसिक क्षमता के समुचित विकास की ओर शिक्षक का ध्यान निश्चित रूप से आकृष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्कूल का काम प्रतिभासंपन्न बालक की खोज करना ही नहीं रह जाता, वरन् उनको ओलिंपिक आदर्शों की भावना से संपन्न करना भी है।

कक्षा अध्यापन : पुरातन काल से ही एक शिक्षक द्वारा बालकों की एक कक्षा को पढ़ाने की परंपरा है। आज भी अनेक स्थानों में 70 से 100 तक बच्चों को एक कक्षा में रखने की अनिवार्यता बनी हुई है। ऐसी स्थिति में शिक्षक के लिए सबसे पहली समस्या अनुशासन की होती है। शिक्षक कोई भी अभ्यास कराता है, तो उसे प्रत्येक बालक की गति को ध्यान में रखना होता है। सबसे धीमी चाल से चलने वाले ऊंट की गति ही काफिले की गति बन जाती है। इसकी वजह से पाठ्य विषय बहुत कम पढ़ाया जाता है। इसका एक यह भी परिणाम होता है कि प्रत्येक छात्र की क्षमताओं के विकास वाला शिक्षा का उद्देश्य भी पूर्ण नहीं हो पाता है। इन सभी सीमाओं के बावजूद, कक्षा-शिक्षण शिक्षा का बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन है। यह नये कौशल, नये आंकड़े देने में भी सहायक होता है और

सामान्य त्रुटियों और भ्रांत संप्रत्ययों को हटाने में भी, सामान्य सौंदर्यबोध देने और बच्चों में समूह-बोध कराने में सबसे अधिक सहायक भी होता है। यद्यपि आज अनेक पुरानी शिक्षणविधियों का लोप हो रहा है, फिर भी कक्षा, संस्था की एक इकाई के रूप में अपना लचीलापन रखती है। कक्षा-प्रशिक्षण अब कम औपचारिक तकनीक से चालित होता है और उसमें सदा दलीय क्रियाकलापों द्वारा प्रशिक्षण-विधि की श्रृंखला में संशोधन होता रहता है।

कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या : चाहे प्राथमिक विद्यालय हो, या माध्यमिक विद्यालय; एक कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या की सीमितता का बड़ा महत्त्व है। विद्यार्थियों की संख्या जितनी कम होगी, अध्यापन उतना ही प्रभावकारी होगा। विद्यार्थियों की बड़ी संख्या वाली कक्षा में एक तो अनुशासन की कमी हो जाती है, दूसरे अध्यापक भी प्रत्येक विद्यार्थी की ओर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दे सकता। अभिभावक भी यह नहीं चाहता कि उसका बालक अधिक विद्यार्थियों के साथ रखा जाये, और कोई ही शिक्षक अपनी कक्षा में अधिक विद्यार्थी रखना चाहेगा।

प्राथमिक कक्षाओं में एक कक्षा में अधिक से अधिक 25 छात्र होने चाहिए। इस दशा में अध्यापक के लिए कक्षा का उत्तरदायित्व संभालना कठिन नहीं होगा। यदि मितव्ययिता की दृष्टि से कक्षा के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ानी हो, तो ऊपर की कक्षाओं में ऐसा किया जा सकता है। बालकों की छोटी कक्षाओं में अध्यापक को बहुत कार्य करना पड़ता है; क्योंकि छोटे विद्यार्थी प्रायः अध्यापक पर ही निर्भर रहते हैं। अतः चौथी कक्षा से नीचे की कक्षाओं में तो छात्रों की संख्या प्रति कक्षा अथवा प्रति अनुभाग 25 से अधिक नहीं होनी चाहिए। माध्यमिक स्कूलों में यह प्रश्न बड़ा जटिल होता है। कुछ विषय तो ऐसे होते हैं, जिनके लिए पर्याप्त संख्या में उपकरण उपलब्ध नहीं किये जा सकते। अतः उन विषयों के लिये तो कक्षा का आकार बढ़ाना ही पड़ेगा। हां, अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषा अथवा कला की कक्षाओं में, क्योंकि लेखन-कार्य अधिक रहता है और अध्यापक को प्रत्येक छात्र की कापियां ठीक करनी पड़ती हैं, इसलिए कक्षा का आकार सीमित ही होना चाहिए।

सामाजिक ज्ञान विषयक कक्षाओं में भी चूंकि वाद-विवाद, परिचर्चा तथा विचार-विनिमय आदि की अपेक्षा करनी पड़ती है, इसलिए यहां भी विद्यार्थियों की संख्या प्रति कक्षा अथवा प्रति अनुभाग सीमित ही रहनी चाहिए। इससे अध्यापक-कार्य सुगम तथा प्रभावकारी हो जाता है। यही सिद्धांत औद्योगिक कला कक्षाओं, व्यावसायिक शिक्षा कक्षाओं तथा वाणिज्य शिक्षा कक्षाओं के लिए भी माना जाना चाहिए। विज्ञान की कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या सीमित होनी चाहिए; क्योंकि विज्ञान के छात्रों के लिये प्रयोगशाला तथा प्रयोगार्थ उपकरणों की आवश्यकता होती है, जिनकी उपलब्धि भी सीमित ही होती है। हां, शरीर-शिक्षा की कक्षाओं के लिए किसी नियम की आवश्यकता नहीं होती। एक साथ कई वर्गों को शरीर-शिक्षा का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। परंतु इनमें भी छात्रों का व्यक्तिगत अंतर ध्यान में रखना चाहिए। तभी अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। वृहदाकार कक्षाओं के कुछ दोष निम्नलिखित हैं:

(1) प्रशिक्षण का व्यक्तिकरण सीमित रहता है।

(2) कक्षा में विद्यार्थियों के बीच तथा विद्यार्थियों और अध्यापक के बीच परस्पर मौखिक वार्तालाप तथा विचार-विनिमय कम हो जाता है।

(3) लेखन कार्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सकता।

(4) अध्यापक को पढ़ाने की तैयारी का समय नहीं मिल पाता।

(5) छात्रों का अध्यापक से व्यक्तिगत संपर्क ठीक से नहीं हो पाता।

(6) विद्यार्थियों की विशिष्ट समस्याएं बिना सुलझी ही रह जाती हैं।

(7) विद्यार्थी के अभिभावकों के साथ समयाभाव के कारण, मिलन अथवा संपर्क होना कठिन हो जाता है जिसके कारण उन्हें विद्यार्थी-संबंधी जानकारी नहीं मिलती।

(8) पाठ्यचर्या का विकास तथा प्रशिक्षण-प्रगति ठीक से नहीं हो पाती; क्योंकि अध्यापक का समय अन्य उत्तरदायित्वों में ही उलझा रहता है।

अतः कक्षा का आकार निर्धारित करने से पहले ऊपर लिखी कठिनाइयों की ओर ध्यान देना चाहिए, ताकि अध्यापन-कार्य और प्रशिक्षण-प्रगति में बाधा उपस्थित न हो।

कन्फ्युशियस (551-479 ई० पू०) : चीन के सबसे प्रसिद्ध शिक्षक, दार्शनिक और राजनीतिवेत्ता थे, जिन्होंने पूर्वी एशिया की सभ्यता पर अपना बहुत बड़ा असर डाला। चीन की परंपरागत सभ्यता को समझने से पहले उनके बारे में जानना आवश्यक है। उनका वास्तविक जीवन तो दंतकथाओं में खो गया था, फिर भी बहुत-सी बातें उनके विषय में खोज निकाली गयी हैं। वे कुंग परिवार से संबंध रखते थे, लेकिन चीनी भाषा में कुंग फुत्सु (नृपति) से कन्फ्युशियस बना है। वे एक गरीब आदमी थे और बहीखाते लिखकर उन्होंने एक बार अपनी आजीविका चलायी थी। स्वाध्याय से ही वे इतना पढ़-लिख गये कि अपने समय के सबसे बड़े विद्वान हो गये। किंतु विद्यालाभ उनका लक्ष्य नहीं था। वे अपने देश के लोगों की गरीबी से सदा दुखी रहते थे। देश में राजा तो नाम मात्र को होता था। सारी सत्ता सामंतों के हाथ में होती थी। युद्ध उनका मनोरंजन था। इसके लिए वे जनता को युद्ध में झोंककर उसे तंग करते और जबरन मेहनत करवाते थे। अकाल एक साधारण सी घटना होती थी। कन्फ्युशियस ने जनता को इन दुखों से छुटकारा दिलाने के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया। उनका विश्वास था कि अगर राज्य सत्ता जनता के कल्याण को अपना लक्ष्य बना ले, तो समस्या सुलझ सकती है। इसके लिए उन्होंने राज्य सत्ता को समझाया कि दंड-व्यवस्था का उन्मूलन और युद्धों की समाप्ति हो। लू के शासकों ने इस पर ध्यान नहीं दिया। कन्फ्युशियस सोचते थे कि यदि वे प्रशासन में उच्च स्थान प्राप्त कर लें, तो ये सब सुधार कर सकते हैं। किंतु ऐसा संभव नहीं था। अतः उन्होंने नौजवानों को अपना उद्देश्य समझाना शुरू किया, जिससे कि अवसर आने पर वे उन्हें सरकारी पदों पर पहुंचा सकें। अनेक शिष्य उनके चारों तरफ जमा होते चले गये। वे उन्हें ऊंचे पदों पर पहुंचा भी सके, पर वे समझौता-परस्त हो गये। उन्हें एक बार राज्य में ऊंचा पद भी मिला, पर इससे भी कुछ हुआ नहीं और उन्होंने अपना पद त्याग दिया। उन्होंने फिर विभिन्न राज्यों की यात्रा आरंभ की, जिससे कोई अपने राज्य का प्रशासन उन्हें सौंप दे। इससे भी कुछ न हुआ, तो उनके शिष्यों ने 67 वर्ष की अवस्था में उन्हें पुनः लू वापस बुला लिया जहां उन्होंने मृत्युपर्यंत अपने शिक्षा संबंधी कार्य को जारी रखा।

चीन में पहले सामंतों के अफसर ही अपने मातहतों को काम-काज की शिक्षा दिया करते थे। कन्फ्युशियस ही ऐसा पहला व्यक्ति था, जिसने वैयक्तिक अध्यापन का काम संभाला और उसको सुधार का साधन बनाया। उन की शिक्षा-विधि बड़ी अनौपचारिक थी। उनके भाषणों का भी उल्लेख नहीं मिलता है। वे या तो अकेले या फिर समूहों में वार्तालाप ही किया करता था। वे अपने शिष्य के पूरे चरित्र का अध्ययन कर उसके समस्त व्यक्तित्व को ही विकसित करने में अपनी शक्ति लगाते थे। उनकी समस्त शिक्षा नैतिकता पर आधारित थी।

कन्फ्युशियस शासनतंत्र को व्यावहारिक नैतिकता समझते थे। किंतु आचार-शास्त्र की गहरी पैठ के लिए वे इतिहास, काव्य और संगीत का अध्ययन करने को कहते थे। संसार में सफलता प्राप्त करने के लिए वे अपने शिष्यों को मानव-संबंधों का बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान देते थे और विभिन्न परिस्थितियों में समस्या समाधान के लिए मानव व्यवहार की रीतियों से परिचित कराते थे। वे कट्टरपंथी नहीं थे और शिष्यों के राजी न होने पर उनसे रुष्ट नहीं होते थे। वे तो उन्हें प्रश्नों के उत्तर स्वयं ढूंढ़ने को कहते थे और कभी-कभी उनकी बात मान ली जाती थी। इस प्रकार उनका लक्ष्य समाज-क्रांति का उद्बोधन नहीं था। हां, उनके शैक्षिक कार्यकलाप अवश्य क्रांतिकारी थे। प्रत्येक व्यक्ति में निर्णय लेने के अपने अधिकार और कर्त्तव्य की चेतना जगाकर उन्होंने अधिनायकवाद की नींव को अवश्य हिला दिया। दूसरे, उन्होंने गरीब किंतु कुशाग्रबुद्धि बालकों को अपना शिष्य बनाकर शिक्षा पर अभिजातवर्ग के एकाधिकार को भी नष्ट कर दिया। उनके संबंध में निश्चित नहीं कि उन्होंने किसी ग्रंथ या पुस्तक की रचना की। उनकी प्रवृत्ति पुस्तक लेखन से कहीं अधिक सामाजिक सुधार की ओर थी। इस दृष्टि से उनकी गिनती अत्याधुनिक शिक्षाविदों में की जा सकती है।

कर्वे, डा० ढोंढो केशव : ये पूना के फरगुसन कालेज में प्रोफेसर थे। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में उनका अपरिमित योगदान है। उनका हृदय हिंदू-समाज में जवान विधवाओं, परित्यक्ता महिलाओं तथा असहाय लड़कियों की दुर्दशा से द्रवित हो गया। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में ऐसी स्त्रियों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना गर्हित कार्य समझा जाता था और उस समय उन्हें पुनर्विवाह की भी छूट नहीं



कज़ाक नृत्य

थी। उनकी इस दयनीय दशा से प्रभावित होकर कर्वे के मन में हिंग्नी, पूना में एक ऐसा आश्रम स्थापित करने की बात आयी, जहां स्त्रियां शिक्षा प्राप्त करते हुए सुख का जीवन बितायें। यह आश्रम 1900 में स्थापित हुआ। यह एक निवासीय और आत्मनिर्भर संस्था थी। कर्वे का उद्देश्य दलित स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाना था। अत: उन्होंने पुर्नविवाह का द्वार भी उनके लिए खोल दिया। इसके लिए 1893 में उन्होंने स्वयं एक विधवा से विवाह करके एक उदाहरण उपस्थित किया। नतीजा यह हुआ कि समाज ने उनका बहिष्कार कर दिया। तब से उन्होंने अपने जीवन को स्त्री-शिक्षा के निमित्त अर्पित कर दिया। धीरे-धीरे उनका आश्रम एक स्कूल में बदल गया। उन्होंने उसके लिए स्वयं ही स्त्रियोचित पाठ्यक्रम तैयार किया। 1916 में यही स्कूल महिला विश्वविद्यालय की कोटि तक पहुंच गया। इस प्रकार शिक्षा जगत में नये प्रयोग करनेवालों में उनका नाम अमर है।

कला-शिक्षण : 'चाइल्ड आर्ट' की भूमिका में प्रो० के० जी० सैयदैन ने कहा है कि बालक की शिक्षा में कला एक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है; क्योंकि यह अभिव्यक्ति का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण माध्यम है। अत: बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए कला-शिक्षण का महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इससे बालक की सौंदर्यबोधात्मक शक्ति का विकास और सौंदर्य के गुणदोष-विवेचन की क्षमता की अभिवृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञानियों का यह भी कहना है कि बालक के दमित संवेगों तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रदर्शन द्वारा होती है, और साथ ही साथ कला-शिक्षक को भी बालक के चित्रों तथा ड्राइंग के द्वारा उसकी मानसिकता का ज्ञान हो जाता है। भाषा में तो बहुत-सी बातें खो जाती हैं या उलझकर रह जाती हैं, परंतु बालक द्वारा खींची गयी रेखाओं द्वारा सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। चित्रण के लिए विषय का चुनाव करने से बालक की स्वतंत्र वृत्ति की रुझान एवं मौलिक योग्यता का पता चल जाता है और कभी-कभी तो ड्राइंग के द्वारा उसमें निहित तथा अप्रत्याशित अभिक्षमताओं का भी ज्ञान हो जाता है।

कला-शिक्षण की दो पद्धतियां मानी गयी हैं: (1) बालक की आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक इच्छा पर आधारित उसके मनोभावों तथा अभिरुचियों को अभिप्रेरित करना, और (2) बालक को तकनीकी दक्षता प्राप्त कराने के लिए उसे विशेष अभ्यास कराना। कलात्मक अभिव्यक्ति में तकनीकी दक्षता अपेक्षित है, परंतु इसे कला का निचोड़ नहीं माना जा सकता। यदि बालक छात्र पेंसिल या तूलिका के इस्तेमाल में दक्षता प्राप्त कर ले और अच्छे से अच्छा चित्र तैयार कर ले, परंतु सुंदर वस्तु के प्रति उसमें प्रेम न हो और न ही वह सौंदर्य का गुण-दोष-विवेचन कर सके, तो उसकी कला-शिक्षा अधूरी ही समझी जायेगी।

कला-शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालने के साथ-साथ यह बात भी हमारे सामने आती है कि विद्यालयों में कला-शिक्षण के प्रवेश ने अनेक समस्याएं उपस्थित कर दी हैं। सबसे पहली समस्या तो योग्य तथा प्रशिक्षण प्राप्त कला-शिक्षकों की है। कुछ विश्वविद्यालयों में स्नातक स्तर पर कला (ड्राइंग) को पाठ्यचर्या में रखा गया है, जिससे यह समस्या कुछ सुलझती है, परंतु फिर भी योग्यता प्राप्त प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी है। जब तक प्रशिक्षित कला-शिक्षकों की कमी रहेगी, विद्यालयों में कला-शिक्षा की कमी ही रहेगी। दूसरी समस्या यह है कि बड़ी-बड़ी कक्षाओं में कला-शिक्षक 45-50 विद्यार्थियों की कक्षा को समुचित रूप से कला की शिक्षा नहीं दे सकता। इस समस्या का समाधान समूह-पद्धति से हो सकता है। एक समूह या टोली में बारह या कुछ अधिक छात्र रखे जा सकते हैं। कला में प्रशिक्षण को भी अनिवार्य मानना चाहिए। इसके लिए कला पाठ्यचर्या में शिल्पों और मूर्तिकला तथा व्यापारिक कला का भी समावेश होना चाहिए।

कला-शिक्षण की दृष्टि से प्राचीन तथा नवीन शैली के बीच के मार्ग को ही अपनाना श्रेयस्कर होगा, ताकि बालक को तकनीकी दक्षता प्राप्त हो जाये और उसकी मौलिक प्रतिभा तथा दक्षता का भी विकास हो जाये।

कार्नेट जेम्स ब्रायंट (1893-) : अमरीकी शिक्षा-विद् और रसायनशास्त्री। इनका जन्म डोरकेस्टर में हुआ था। इनकी शिक्षा हारवर्ड विश्वविद्यालय में हुई। सन् 1933 में ये इस विश्वविद्यालय के सभापति बन गये। जैव रसायनशास्त्र के क्षेत्र में इनका कार्य अत्यंत स्तुत्य है। इनको 1932 में कोलंबिया विश्वविद्यालय से जांदलर

पदक और निकालास पदक प्राप्त हुए थे। हारवर्ड विश्वविद्यालय में इन्होंने 1933 से 1953 तक अध्यापन कार्य किया। गरीब और असमर्थ विद्यार्थियों को शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करने के लिए इन्होंने खूब प्रयत्न किया। पाठ्य-सामग्री में संशोधन लाने की अनिवार्यता पर इन्होंने बल दिया और इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया। उच्च विद्यालयों का शिक्षा-स्तर बढ़ाने की ओर भी इन्होंने खूब प्रयत्न किया था। ये 1953 में जर्मनी में अमरीका के उच्चायुक्त और 1955 में राजदूत नियुक्त हुए।

कान्वेंट स्कूल : रोमन कैथोलिक धर्मावलंबियों में से कुछ युवक-युवतियां विवाह आदि सांसारिक सुखों का त्याग करके अपने संपूर्ण जीवन को शिक्षा और समाज की सेवा में लगा देते हैं। ऐसे ही त्यागशील लोगों द्वारा चलाये जानेवाले कान्वेंट स्कूल अत्यंत प्रसिद्ध हैं। कई श्रेणियों में विभक्त इस प्रकार की शिक्षा-संस्थाएं 'कैथोलिक चर्च' से संबद्ध मठवासिनियों द्वारा चलायी जाती हैं। कान्वेंट स्कूल ऐसे शिक्षा-केंद्र होते हैं, जो स्वयंपोषक होते हैं। ऐसे स्कूलों में अध्यापन का कार्य करने की समस्त योग्यताएं मठवासिनियों के पास होती हैं। इनकी सभी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति चर्च ही किया करते हैं। कान्वेंट केवल लड़कियों के स्कूल होते हैं। छोटी कक्षाओं में लड़कों को भी प्रवेश दिया जाता है। इस तरह के स्कूल भारत के नगरों तथा कस्बों में काम कर रहे हैं।

कालेज : रोमन कानून में 'कोलिजियम' शब्द का अर्थ निगम अथवा व्यक्तियों का संगठन था। राजनीति के क्षेत्र में 'इलेक्टोरल कालेज' का प्रयोग हुआ। धार्मिक क्षेत्र में 'कालिजियेट चर्च' प्रयुक्त हुआ। मध्यकाल में व्यापार में 'कोलिजिया' का अर्थ 'गिल्ड' भी लिया जाने लगा था। आधुनिक युग में इसका प्रयोग कालेज आफ कारडिनल्स तथा इलेक्टोरल कालेज के साथ उस शिक्षा के लिए भी होने लगा है, जो अनिवार्य शिक्षा से आगे का हो। मध्य युग में पेरिस, आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में विद्वान लोग मठों, किराये के मकानों अथवा उपहारस्वरूप दिये हुए घरों में संयुक्त रूप से रहते थे। इस प्रकार के आवास-गृह विद्वानों के आवास गृह अथवा कालेज कहलाने लगे थे। इंग्लैंड में 13वीं शताब्दी में ये होस्टल, कालेज (शिक्षा-गृहों) में बदल गये। उदाहरणतः 'हाउस ऑफ स्कालर्स ऑफ मर्टन कालेज' आक्सफोर्ड हो गया। ये कालेज धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित होते गये।

भारत में अंग्रेजों के आगमन के बाद ही कालेज व्यवस्था विकसित हुई। अंग्रेजों के आगमन से लेकर 1857 (विश्वविद्यालयों की स्थापना) तक का काल कालेज-युग ही कहलाता है। इस अवधि में यहां अनेक इंग्लिश और ओरियेंटल कालेज स्थापित हुए। किंतु ये कालेज आज के कालेजों से भिन्न होते थे। उनमें स्कूल से आगे का पाठ्यक्रम अवश्य होता था, किंतु स्कूल और कालेज साथ-साथ एक ही स्थान पर हुआ करते थे। उस समय के कुछ प्रसिद्ध कालेज ये थे :

(1) कलकत्ता मदरसा, (2) बनारस संस्कृत कालेज, (3) हिंदू कालेज, कलकत्ता, (4) स्काटिश चर्च कालेज, कलकत्ता, (5) श्रीरामपुर कालेज, (6) क्रिश्चियन कालेज, मद्रास, (7) आगरा कालेज, (8) कलकत्ता मेडिकल कालेज, (9) बंबई मेडिकल कालेज, (10) रुड़की इंजीनियरिंग कालेज आदि।

1857 में वुड डिस्पैच की सिफारिश के आधार पर बबंई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना के समय भारत में कालेजों की संख्या इस प्रकार थी :

(1) बंगाल में 7 सरकारी कालेज, 7 मिश्नरी कालेज और 1 मेडिकल कालेज, (2) बंबई में 2 सरकारी कालेज और 1 मेडिकल कालेज, (3) उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत में 4 सरकारी कालेज और 1 इंजीनियरिंग कालेज, (4) मद्रास में 1 सरकारी और 2 मिश्नरी कालेज तथा 1 मेडिकल कालेज था।

इस कालेज-व्यवस्था के समान प्राचीन भारत में गुरुकुल और आश्रम हुआ करते थे। ये आचार्यों की व्यक्तिगत देखरेख में चलते थे। राज्य पर उनके व्यय का उत्तरदायित्व होता था। इनमें से कुछ विश्वविद्यालय स्तर के भी थे, जैसे तक्षशिला। बौद्ध काल में इनकी जगह बिहार और मठों ने ले ली। इनमें से पुरुषपुर, विक्रमशिला, नालंदा, कांची, वल्लभी आदि अनेक उच्च शिक्षा-केंद्र थे। इनमें धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। मुसलिम

शासन काल में इन सबका ह्रास हो गया। 19वीं शताब्दी में कुछ टोल या पाठशालाएं रह गयी। मुसलमानों ने मसजिदों में मदरसे स्थापित किये। वे भी दिल्ली, आगरा, अजमेर, जयपुर जैसे प्रसिद्ध नगरों तक ही सीमित रहे। आज कालेज और विश्वविद्यालय शिक्षा के अनिवार्य अंग हैं। प्रत्येक कालेज किसी न किसी विश्वविद्यालय से संबंधित होता है। माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के बाद ही इनमें प्रवेश होता है और विश्वविद्यालय की ओर से ही इनकी पाठविधि निर्धारित होती है।

कालेज, जनता : भारत के स्वतंत्र होने पर प्रौढ़-शिक्षा सामाजिक शिक्षा में बदल गयी। इसका क्षेत्र साक्षरता, स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान, आर्थिक स्तर में सुधार, नागरिकता का ज्ञान, स्वस्थ मनोरंजन आदि तक फैल गया। इसके लिए प्रत्येक राज्य ने अपनी योजनाएं लागू की हैं। भारत सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता लाने के लिए दिल्ली में एक जनता कालेज खोला। यह साधारण उच्च शिक्षा देनेवाली संस्था नहीं है, वरन् यह एक प्रशिक्षण केंद्र है। इसमें ग्रामीण जनता को विशेषत: स्थानीय नेतृत्व का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसका पाठ्यक्रय चार मास का होता है, जिसके अंतर्गत हस्तशिल्प, खेती के नये साधनों, पशु पालन, स्वास्थ्य और सफाई, सहकार और पंचायत की शिक्षा की व्यवस्था है। वहां से प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी सामाजिक शिक्षा के लिए अपने-अपने गांव वापस चले जाते हैं। सामुदायिक विकास-केंद्र और गांव स्तर के कार्यकर्त्ता इसमें प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। दिल्ली के अतिरिक्त मैसूर, भोपाल और हैदराबाद में भी ऐसे ही जनता-कालेज खोले गये हैं।

कालेज द फ्रांस : यह कालेज 11, प्लेस मार्सलीन वाथी, लाट, पेरिस, फ्रांस में स्थित है। इसकी स्थापना सन् 1530 में फ्रांसिस द्वारा हुई थी। इसका प्रबंध एक स्थायी आयोग द्वारा प्रशासकीय कौंसिल करती है, जिसमें एक प्रशासक और पांच सदस्य होते हैं। राज्य की ओर से इसमें 42 प्रध्यापकों की पीठिकाएं होती हैं। बाकी पीठिकाएं व्यक्तिगत उपहार के रूप में स्थापित की जाती हैं। इसकी विशेषताएं ये हैं कि इसमें न प्रवेश की अपेक्षा होती है, न फीस की, और न ही विद्यार्थी को मैट्रिक कराया जाता है, न डिप्लोमा दिया जाता है, न परीक्षाएं होती हैं। इसके लिए प्राध्यापक को उसके विषय में अनुसंधान और मौलिक कृतित्व पर ही छांटा जाता है। पीठिकाएं भी स्थायी नहीं होती हैं। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुदेश की व्यवस्था की भाषा फ्रांसीसी है। पाठ्यक्रम को (1) गणित, भौतिक और प्राकृतिक विज्ञान, (2) दर्शन और समाजविज्ञान, (3) इतिहास, भाषा-विज्ञान और पुरातत्व विज्ञान आदि तीन विभागों में बांटा गया है। अध्ययन का शायद ही कोई विषय इसमें छूटा हो।

केरे-रेवरैंड, डा० विलियम (1761-1804) : ये 1793 में भारत आये और कलकत्ता के समीप इन्होंने एक मिशनरी बस्ती बसायी, जो आगे चलकर एक सुदृढ़ डेनिश बस्ती बन गयी। कुछ समय बाद वार्ड और मार्शमेन दो मिशनरी भी केरे के साथ सम्मिलित हो गये। इन तीनों ने शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनमें केरे प्रचारक थे, वार्ड मुद्रक और मार्शमेन अध्यापक। उन्होंने वहां एक छापाखाना स्थापित किया और बहुत बड़ी संख्या में पुस्तकें प्रकाशित कीं। उन्होंने लगभग बारह भाषाओं में तो बाइबिल ही छापी, किंतु रामायण और महाभारत को भी अंग्रेजी में अनुवाद करके प्रकाशित किया। उन्होंने कंपनी-विरोधी आलोचना से हिंदू और मुसलमान दोनों को उत्तेजित किया, जिसके कारण उनके विरुद्ध आंदोलन भी उठ खड़ा हुआ और सरकार ने उनके विरुद्ध कड़े कदम उठाकर जनता को शांत किया। इस पर भी केरे का शिक्षा के लिए उत्साह कम न हुआ। उन्होंने श्रीरामपुर के अतिरिक्त बैसोर और दीनाजपुर में भी स्कूल खोले। लार्ड विलियम बैंटिंग की शिक्षा-नीति को निर्धारित करने में भी उनका हाथ रहा। मराठी और हिंदी में उन्होंने पुस्तकें लिखी। इसके अतिरिक्त फोर्ट विलियम कालेज में भी उन्होंने मराठी, बंगाली, और संस्कृति के अध्यापन का काम किया।

केलर, हेलन आदम्स : अमरीका की इस प्रसिद्ध लेखिका एवं उपदेशिका का जन्म 1880 में तुस्कंबिया में हुआ। उन्नीस मास की अवस्था में ही 'ब्रेन फीवर' से उनकी दृष्टि एवं घ्राण-शक्ति जाती रही। सात वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अंधों के पार्किंसन इंस्टिट्यूट की मिस अन्ना मेन्सफील्ड

सुलीवान की मदद से ब्रेल लिपि से पढ़ना और टंकन-मशीन पर लिखना सीख लिया। फिर उन्होंने बोस्टन में बहरों के एक स्कूल की मिस सारा फुल्लर की सहायता से बोलना सीखा। किंतु उन्होंने अपनी शिक्षा को यहीं तक सीमित नहीं रखा। बोस्टन और न्यूयार्क स्थित बहरों के स्कूल में भर्ती होकर उन्होंने स्नातक परीक्षा पास की। जहां वे जातीं, मिस सुलीवान उनके साथ रहतीं। उनकी पाठ्य-पुस्तक ब्रेल में छपती और टंकन से वे परीक्षा देती थीं। स्नातक देने के बाद उन्होंने पुस्तक-लेखन और भाषण-यात्राएं आरंभ कीं। उनकी जीवनी पर एक चल-चित्र भी बना। उनके भाषणों का सार विकलांगों की समस्या के प्रति जनरुचि जागृत करना था। इसके लिए उन्होंने एशिया, अफ्रीका आदि देशों की भी यात्रा की। उनकी इन सेवाओं के फलस्वरूप अमरीका में उनके नाम से एक दान-निधि संस्था की भी स्थापना हुई। उनका संपूर्ण जीवन विकलांगों की सेवा में ही अर्पित रहा। उनके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं: (1) द स्टोरी ऑफ माइ लाइफ, 1903, (2) दी वर्ल्ड आइ लिव इन, 1908, (3) माई रिलिजन, 1927, (4) पीस एट ईविनटाइड, 1932, (5) हेलन केलर इन स्काटलैंड, 1938, (6) लेट अस हेव फैथ, 1940।

कोमेनियस, जान अमोस (1592-1671) : प्रसिद्ध चैक शिक्षाशास्त्री, समाजसुधारक और राजनीतिज्ञ। उनका जन्म 28 मार्च, 1592 को हंगरी की सीमा पर बोहीमिया के एक गांव में, एक निर्धन परिवार में हुआ था। वे बचपन में ही अनाथ हो गये थे, इसलिए उनकी शिक्षा 16 वर्ष की आयु के बाद ही शुरू हो पायी। अपनी शिक्षा-प्राप्ति में उन्हें जो प्रयत्न करने पड़े, उनसे उनका ध्यान शिक्षा एवं अध्यापन विधियों की ओर गया। उन्होंने हेरबोर्न (नसायु) और हेडिलबर्ग के विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया और फुलनैक आकर 1614 में एक स्कूल के प्रधानाध्यापक और 1618 में वहीं के मोराविया-समुदाय के धर्मगुरु बन गये। उन्होंने वहां के स्कूलों को पुनर्गठित किया; क्योंकि वहां के स्कूल कठोर और अमानवीय थे। 1620 में धार्मिक कारणों से हुए विद्रोह के कारण हेप्सबर्ग की शाही सेनाओं ने फुलनैक को ध्वस्त कर दिया, तो कोमेनियस भूमिगत होकर लेखनकार्य करने लगे। पहले उन्होंने कुछ रहस्यवादी देशभक्तिपूर्ण रचनाएं कीं, लेकिन फिर वे शिक्षा-सिद्धातों के प्रतिपादन में लग गये और उन्होंने 'ग्रेट डिडेक्टिक' नामक ग्रंथ की रचना की, यद्यपि उसका प्रकाशन 1657 में जाकर हुआ। 1628 में जब चैक लोगों पर अत्याचार बहुत बढ़ गये, तो कोमेनियस भागकर पोलैंड चले गये, जहां लैस्ज़नों में उन्होंने स्कूलों का सुधार किया और शिक्षकों की सहायता के लिए पुस्तकें तैयार कीं, जैसे, 'ए गाइड फार इन्फेंट स्कूल्स' (1629) तथा 'दि गेट आफ टंग्स अनलाक्ड एंड ओपन्ड' (1631) इसके बाद उन्होंने एक सचिव पुस्तक तैयार की, जिसमें 100 पाठ थे और उन पाठों में विभिन्न विषयों तथा वस्तुओं की जानकारी दी गयी थी। यह पुस्तक उन्होंने जेसुइट बर्टियस की एक पुस्तक के आधार पर तैयार की थी, लेकिन इसके बाद उन्होंने 'दि पोर्टा सेपिएंटिया रेसराटा' (1637) नामक पुस्तक तैयार की, जो एक विश्वकोश की प्रारंभिक रूपरेखा थी।

कोमेनियस के शिक्षा-संबंधी विचारों की ख्याति दूर-दूर तक फैली और 1641 में इंग्लैंड की पार्लियामेंट के सदस्यों ने उन्हें इंग्लैंड के स्कूलों और कालेजों का सुधार करने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने इंग्लैंड आकर भी पुस्तकों के लेखन और संकलन का काम जारी रखा और उनकी कृति 'इनविजीबल कालेज' के आधार पर रायल सोसाइटी की स्थापना हुई तथा 'पैन्सोफिया' के आधार पर अंततः 'चैम्बर्स एन्साइक्लोपीडिया' तथा 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' का प्रकाशन हुआ।

कोमेनियस एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनके लिए मानव अस्तित्व का उद्देश्य ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर स्वर्गीय आनंद प्राप्त करना था। शिक्षा को उन्होंने इस उद्देश्य की प्राप्त का साधन बताया। इसके लिए उन्होंने 'पेनसोफिज्म' के सूत्र की रचना की, जिसका अर्थ है सब मनुष्यों को सब प्रकार का ज्ञान देना। दार्शनिक रूप से उन्हें ज्ञानमार्गी कहा जायेगा, किंतु शिक्षा-जगत् में उनकी ख्याति प्रशिक्षण विधि के आविष्कार के कारण ही हुई। अपनी विधि में उन्होंने दो सिद्धांतों की स्थापना की (1) समस्त ज्ञान प्रकृति की क्रमव्यवस्था के अनुरूप ही दिया जाये, (2) प्रत्येक प्रकार का ज्ञान इंद्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर हो। इसमें प्रतीकों का प्रयोग विषय को सुबोध बनाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ अन्य सिद्धांत और प्रशिक्षण-विधियां भी स्थिर कीं, जैसे शिक्षा

का माध्यम मातृभाषा हो। शिक्षक पढ़ाते समय सामान्य से विशेष की ओर बढ़े। इस प्रशिक्षण विधि के जिन सिद्धांतों का विकास उनके सौ वर्ष बाद स्वतंत्र रूप से हुआ, उनकी महत्ता उन्होंने पहले ही स्थापित कर दी थी।

क्रिकेट : 'खेलों का राजा' के नाम से जाना जानेवाले खेल क्रिकेट को आजकल विश्व भर में लोकप्रियता मिल रही है। इस खेल की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत प्रचलित हैं। यह खेल पहले बालकों में आरंभ हुआ और फिर प्रौढ़ों ने इसे अपनाया। इसके लोकप्रिय होने के बाद इंग्लैंड तथा आस्ट्रेलिया के बीच टेस्ट मैचों का आरंभ 1880 में हुआ।

इंग्लैंड तथा आस्ट्रेलिया में यह खेल सार्वजनिक है। विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति भी इसे खेलते हैं। जिस प्रकार अमेरिका में बेसबाल तथा फुटबाल के रिकार्ड रखे जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रमंडल के देशों में क्रिकेट के।

निःसंदेह क्रिकेट का जन्म इंग्लैंड में हुआ और कुछ इतिहासकार यह भी कहते हैं कि 'क्रिकेट' शब्द की उत्पत्ति फ्रांस में प्रचलित 'बुकेट' खेल से हुई है। कदाचित फ्रांसीसियों ने ही इस खेल को क्रिकेट के किसी रूप में आरंभ किया होगा और फिर अंग्रेजों ने इसको ग्रहण करके इसका परिष्कार कर लिया होगा। दूसरे विद्वानों का यह मत है कि फ्रांस का एक शब्द 'किन्कों' है, जिसका उच्चारण 'क्रिक के' है। अतः उनके मतानुसार क्रिकेट खेल का जन्म फ्रांस में हुआ। इसी प्रकार विद्वानों के मतभेद के कारण इसकी उत्पत्ति तथा नामकरण के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी लंदन की 'किंग्ज लाइब्रेरी' में 1344 का एक रेखाचित्र है, जिसमें क्रिकेट बाउलर का चित्र दिया हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि बारवीं या तेरहवीं शताब्दी में इस खेल का उदय हुआ। सन् 1365 में इस खेल से राजघराना अप्रसन्न हो गया और चतुर्थ एडवर्ड ने इस खेल पर प्रतिबंध लगा दिया। प्रतिबंध तोड़नेवाले पर 100 पौंड के जुर्माने की तथा 3 वर्ष के कारावास की घोषणा की। यहां तक कि आलिवर क्रामवेल की भी क्रिकेट खेलने के कारण निंदा की गयी। परंतु इसके बाद यह प्रतिबंध कभी उठा लिया जाता, कभी पुनः लगा दिया जाता। धीरे-धीरे यह खेल लोकप्रिय होने लगा और खुले आम खेला जाने लगा।

प्राचीनतम क्रिकेट में विकेट नहीं हुआ करते थे। खिलाड़ी घास के मैदान में ही गोल सूराख बना लेते थे और किसी एक सूराख में गेंद गिर जाने पर बेट्समैन आउट हो जाता था। इन सूराखों के सामने क्रीज रेखा 46 इंच की होती थी। फिर विकेटों का आविष्कार सन् 1700 ई० में हुआ।

जिस पहले क्रिकेट मैच का उल्लेख मिलता है, वह 1728 में केंट और सरे के बीच हुआ। फिर 1729 में ग्लाउसेस्टशायर में एक महत्त्वपूर्ण खेल हुआ। 1744 में खेल के नियमों में संशोधन किया गया और ये परिवर्तन लंदन क्रिकेट क्लब के तत्वावधान में किये गये। 1775 में तीन स्टंपों को खेल में लगाना आरंभ किया गया। माप था 22 फुट 6 इंच, जिसे 1788 में बढ़ाकर 24 फुट 7 इंच कर दिया गया और 1876 में 26 फुट 7 इंच तथा 1877 में 27 फुट 8 इंच कर दिया गया। इसके साथ दो बेल्जे भी लगा दिये गये। यही लंबाई-चौड़ाई होना उचित भी है।

मैलबोर्न में आने के बाद यह खेल बहुत लोकप्रिय बना। यह क्लब पहले 'आर्टलरी ग्राउंड क्लब' के नाम से प्रसिद्ध था, फिर 1780 में इसका नाम 'व्हाइट क्रिकेट क्लब' हो गया और 1787 में इसका वर्तमान नाम 'मेलबोर्न क्रिकेट क्लब' हुआ तथा यह एम० सी० सी० के नाम से विख्यात है।

इंग्लैंड में क्रिकेट ने 1748 में बहुत बड़ी विजय प्राप्त की। न्यायालय के निर्णयानुसार क्रिकेट एक मर्दाना खेल मान लिया गया और कहा गया कि इसमें कोई बुराई नहीं है, परंतु इस पर शर्त लगाना या जुआ खेलना बुरा है; क्योंकि न्याय इसकी अनुमति नहीं देता। यह थी क्रिकेट की विजय।

1753 में क्रिकेट के नियमों में फिर परिवर्तन किया गया और 1774 में नये संशोधन किये गये। इंग्लैंड के मेलबोर्न क्रिकेट क्लब ने 1788 में इन नियमों में आमूल परिवर्तन किये और ये ही नियम आज तक चालू हैं। क्रिकेट की गेंद का भार 1774 में $5\frac{1}{2}$ तथा $5\frac{1}{2}$ औंस के बीच रखा गया। अधिकतम चौड़ाई के भाग पर बल्ली की चौड़ाई $4\frac{1}{4}$ इंच रखी गयी और अब तक वही है।

विभिन्न देशों ने अनेक अवसरों पर जो क्रिकेट मैच खेले, उनके रिकार्ड आज भी उपलब्ध हैं। वस्तुतः क्रिकेट का

इतिहास तथा इसका विकास बड़ा ही रोचक रहा है।

क्रिकेट के बुनियादी नियम : क्रिकेट की टीम में 11 खिलाड़ी होते हैं, जिनमें एक-एक बाउलर, पाइंट, कवर पाइंट, मिड शाक, मिड आन, शोर्ट स्लिथ, थडमैन, स्कवेयरलेन, डीप मिड शाक, डीप मिड आन और विकेट कीपर होता है।

चैंपियनशिप मैच में दो पूरी इनिंग्स होती हैं और दोनों टीमों के प्रत्येक खिलाड़ी को इनिंग में बल्लेबाजी करने की एक पारी मिलती है। खिलाड़ी जब तक आउट नहीं कर दिया जाता, तब तक बल्लेबाजी करता है। कुछ बड़े-बड़े बल्लेबाज अपनी पारी में 100 और उससे अधिक रनों तक बना डालते हैं और एक-एक मैच छह-छह दिनों तक चलता रहता है।

अधिकतम बड़े-बड़े खेलों में खेल का प्रारंभ प्रायः 11-30 बजे होता है या मध्याह्न में, तथा समाप्ति प्रायः 6 या 6-30 बजे होती है। इसकी बाबत कैप्टनों के बीच समझौता होता है।

इस खेल में फाउल बालें नहीं हुआ करती। खिलाड़ी अपने बल्ले से गेंद पर सामने से, किसी भी बाजू से, या पिछली तरफ लेकर हिट मार सकता है।

जब तक कोई खिलाड़ी आहत न हो जाये, इस खेल में स्थानापन्न खिलाड़ी को अनुमति नहीं दी जा सकती। इस्तेमाल में लायी जाने वाली गेंद का वजन $5\frac{1}{2}$ औंस से $5\frac{1}{4}$ औंस तक का होता है, अर्थात् बेसबाल की गेंद से कुछ कम, परंतु इसके ऊपरी खोल का चमड़ा बहुत मोटा तथा मजबूत होता है। क्रिकेट के बल्ले की मूठ बेंत की होती है और इसका आकार भी बेसबाल के बल्ले जैसा ही होता है, परंतु इसकी चौड़ाई $4\frac{1}{2}$ इंच तथा लंबाई 38 इंच से अधिक नहीं होनी चाहिए।

दस्तानों का इस्तेमाल केवल विकेट कीपर ही कर सकता है, ताकि वह दोनों हाथों से गेंद को पकड़ सके और उसे तेज रफ्तार से आती हुई गेंद से चोट न लगे।

क्रिकेट के मैदान की कम से कम लंबाई 500 तथा चौड़ाई 450 फुट की होनी चाहिए, परंतु 550 तथा 525 फुट की लंबाई-चौड़ाई अधिक अच्छी मानी जाती है, ताकि सख्त गेंदों पर अधिकतम दूरी रखी जा सके। इस खेल में 27 इंच से 29 इंच तक ऊंचे तीन स्टंपों से बने दो विकेटों का इस्तेमाल किया जाता है। दोनों विकेटों के बीच की दूरी अधिक से अधिक 9 इंच की होती है। विकेटों के ऊपर लकड़ी की टुकड़ियां रखी जाती हैं, जिन्हें बेल्ज कहते हैं, जो 4 या साढ़े चार इंच लंबी होती हैं।

विकेटों के बीच की दूरी 22 गज की होती है। एक विकेट पर बाउलर (गेंदबाज) रहता है और दूसरे पर बल्लेबाज। प्रत्येक विकेट पर एक-एक अम्पायर भी होता है। खेल का आरंभ कोई सिक्का उछालकर (टास) निर्णय करने के बाद होता है और बल्लेबाजी की प्रथम पारी का निर्णय 'टास' से ही होता है। बचाव पक्ष की ओर से बाउलिंग होती है। गेंद फेंकते समय बाउलर अपना हाथ झुका नहीं सकता, लेकिन गेंद फेंकने से पहले वह दौड़ सकता है, ताकि गेंद तेजी के साथ फेंकी जा सके। बाउलर का ध्येय यह रहता है कि फेंकी हुई गेंद बल्लेबाज से बचकर विकेट को छूकर बेल्ज गिरा दे। ऐसी हालत में बल्लेबाज को आउट समझा जाता है। बल्लेबाज विकेट का बचाव करता है और इसी उद्देश्य से वह गेंद पर बल्ले से हिट मारता है, ताकि गेंद अधिक से अधिक दूर जाये और इस दौरान में वह रन बना लेता है। बाउलिंग में एक प्रसिद्ध शब्द 'हैट ट्रिक' कहलाता है। पुराने जमाने में जो बाउलर तीन या चार विकेटों को लगातार गिरा देता था या लपके लेता था, उसे एक हैट का पुरस्कार दिया जाता था। अतः इसे 'हैट ट्रिक' कहते हैं।

प्रत्येक 'फेयर बोल्ज' (6 या 8 गेंद फेंकने) के बाद अम्पायर 'ओवर' की घोषणा करता है और 'फील्ड' बदल जाता है, अर्थात् खिलाड़ी टीमों की जगहें बदल जाती हैं तथा प्रत्येक टीम में खेलने वालों की स्थितियां भी बदल जाती हैं।

प्रत्येक हिट पर बल्लेबाज रन बनाने की कोशिश करता है। दो रनों पर तो बल्लेबाज की स्थिति वैसी ही रहती है, परंतु विषम संख्या में रन बनाने पर बल्लेबाज की स्थिति बदल जाती है। गेंद हिट लगाकर खेल-प्रांगण की सीमा से बाहर चली जाये, तो यथाप्रसंग वह 4 या 6 रनों की 'बाउंड्री' कहलाती है। बल्लेबाज आउट होने पर वापस चला जाता है और उसकी जगह दूसरा बल्लेबाज आ जाता है। सबसे अंत में आउट होनेवाले खिलाड़ी का साथी या साझी 'नॉट आउट' कहलाता है।

'आउट' भी कई प्रकार के होते हैं जैसे 'बोल्ड आउट', 'क्री आउट', 'कैच आउट' आदि।

क्रीड़ांगण : (दे० स्टेडियम)

क्रीड़ाएं : प्राचीन काल से ही विश्व के समस्त देशों में खेलों तथा क्रीड़ाओं का प्रचलन रहा है। आदिम लोगों के खेल आज के खेलों की अपेक्षा बहुत सरल तथा सीधे-सादे थे, परंतु इन्हीं खेलों से उन्होंने जीवन की बहुत सी बातें सीखीं, जिनसे उनके विकास को बल मिला।

उनके खेल तथा क्रीड़ाओं का आरंभ प्राकृतिक वस्तुओं से हुआ और इन्ही के साथ-साथ उनकी तर्कशक्ति, शारीरिक वृद्धि तथा सामाजिक व्यवहार में विकास होता गया। फिर इन सीधे-सादे खेलों से ऊबकर उन्होंने दौड़, कुश्ती आदि शक्तिप्रधान खेल-कूद आरंभ कर दिये। इसके बाद मानव ने क्लब, पतंग, गेंद, गुड़िया तथा वाद्य-यंत्रों का आविष्कार किया। खेलों के साथ-साथ इनके माध्यम से मानव के हाथों अनेक मनोवैज्ञानिक आविष्कार भी हुए हैं। बच्चों के खेल-खिलौने तथा प्रौढ़ों के खेल, क्रीड़ाओं के विभिन्न उपकरण आदि इस बात के साक्षी हैं कि मानव खेल-साधनों के आविष्कारों की अपेक्षा वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर अधिक प्रवृत्त था।

खेलों में गेंद संबंधी क्रीड़ाएं प्राचीनतम और अधिकतम सर्वव्यापक रही हैं। अनेक जीवविज्ञानियों के मतानुसार खेलों की विभिन्न देशों में समानता के कारण यह कहा जा सकता है कि सारी मानव जाति बंधुत्व के सूत्र में बंधी हुई है और इस मत से विश्व-बंधुत्व की भावना को बल मिलता है। जिन खेलों में देशगत विभिन्नताएं हैं उनका कारण सामाजिक एवं परिवेशात्मक विविधता है। किसी भी जाति की शक्ति एवं दक्षता के विकास की योग्यता के वंशानुगतता की अभिव्यक्ति उस राष्ट्र के क्रीड़ा-प्रतिरूपों में दृष्टिगोचर होती है।

खेलों की उत्पत्ति के बारे में यही कहा जाता है कि बहुत-से खेलों के उद्गम की जानकारी नहीं है, फिर भी कुछ खेलों का उद्गम घटना विशेष, पुराण कथाएं, लोकाचार तथा प्राकृतिक घटनाएं हैं। यह माना जाता है कि 'ब्लैक एंड काइट', 'डे एंड नाइट', 'आस्टर शेल,' 'नार्थ एंड साउथ' जैसे लोकप्रिय खेल राजनीति के व्यवहारिक रूप से निकले हैं। डन जाति के खेल 'रोबिनना एलाइव' मे प्रगट होता है कि कुछ खेलों का उद्गम लोककथाओं में है। कुछ खेल ऐसे हैं, जिनका उदय उन देशों के सामान्य व्यवसायों से हुआ है, जैसे, फ्रांसीसी खेल 'बलो दि हान', जर्मन खेल 'बार्ले ब्रेक', चीनी खेल 'फिशिज बाई हैंड' और अंग्रेजी खेल 'स्टूल बाल' आदि।

खेलों से केवल मनोविनोद ही नहीं होता, बल्कि शारीरिक व्यायाम भी होता है। इसका लाभ यह भी है कि इससे व्यक्तियों में सामाजिक कार्य के लिए पारस्परिक सद्‌भावना एवं भ्रातृभाव, सहअस्तित्व, स्वस्थ, मानसिक विकास, उदारता, संघर्षप्रियता आदि अनेक गुणों का विकास होता है।

विभिन्न देशों में सर्व सामान्य खेलों के अतिरिक्त उन-उन देशों के खेल भी खेले जाते हैं। उन सबों के नाम जानना कठिन है, परंतु कुछ आधारों पर उनका वर्गीकरण निम्नलिखित है :

आयु-स्तर के हिसाब से खेल तीन प्रकार के होते हैं : (1) प्रारंभिक दर्जों के खेल, (2) इंटरमीडियेट दर्जों के खेल, तथा (3) जूनियर हाई स्कूल के खेल।

खेलों की गतिविधि की दृष्टि से खेल फिर तीन प्रकार के होते हैं : (1) फुर्ती तथा शक्ति के खेल, (2) संप्रत या मृदु खेल, तथा (3) बिल्कुल शांत खेल, जिनमें बोलने अथवा कोलाहल करने की आवश्यकता नहीं होती।

स्वरूप की दृष्टि से खेलों के निम्नलिखित प्रकार होते हैं : (1) एथेलीटिक खेल, (2) प्रतिस्पर्धात्मक खेल, जिनमें होड़ से बलपरीक्षा होती है, (3) खोज या आखेट के खेल, (4) मनोरंजन के खेल, (5) टोलियां बनाकर खेले जानेवाले खेल, (6) रोध (राक) खेल।

स्थान की दृष्टि से भी खेल तीन प्रकार के होते हैं : (1) व्यायामशाला के खेल, (2) क्रीड़ांगण (मैदान) के खेल, तथा (3) स्कूल कक्षा के खेल (बंद कमरे के खेल)।

क्रेश (नर्सरी) : इसमें जन्म से लेकर दो-चार वर्ष तक के शिशु की शिक्षा का प्रबंध होता है। रूस में इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था है। वहां राज्य की ओर से प्रत्येक फैक्टरी, व्यवसाय, प्रशासन, प्रबंध और सामूहिक तथा सरकारी फार्म का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपने कामगारों के बच्चों के लिए क्रेश (नर्सरी) का प्रबंध करे। रूस में प्रायः सभी स्त्रियां घर से बाहर किसी न किसी रूप में काम करती हैं, अतः उनके शिशुओं की देखभाल की आवश्यकता हो जाती है। पूंजीवादी देशों

में इस काम के लिए बेबी-सिटर को नियुक्त किया जाता है, किंतु रूस में इसके लिए क्रेश की व्यवस्था है। इनमें मां की अनुपस्थिति में नन्हें शिशुओं के शारीरिक, संवेगात्मक, मानसिक एवं नैतिक सभी प्रकार के विकास पर ध्यान रखा जाता है।

इनमें काम करने के लिए समर्थ मां को प्रशिक्षित किया जाता है। नगर की एक नर्सरी में 46 से 90 तक बच्चे होते हैं। यह नर्सरी मां के काम करने के स्थान के समीप होती है। प्रत्येक क्रेश में एक प्रधान, एक डाक्टर, दो परिचारिकाओं (नर्स) और दो अध्यापिकाओं के अतिरिक्त घरेलू काम करनेवालों में एक बरसर, एक रसोइया, एक नौकरानी और एक ऊपर का काम करनेवाला आदमी होता है। मां के काम से लौटने के समय तक यह नर्सरी खुली रहती है। जो माताएं शाम को पढ़ने भी जाती हैं, उनके लिए और भी देर तक। रात की पारी में काम करने वालों के लिए भी इसकी व्यवस्था होती है। इसमें कर्मचारियों की ड्यूटी आठ घंटे और अध्यापिकाओं की छह घंटे होती है। डाक्टर सुबह-सुबह बच्चों की जांच-पड़ताल कर जाते हैं।

क्रेश में हर आयु-वर्ग के शिशुओं का एक कमरा होता है। कक्ष से लगा बरामदा भी होता है, जहां बच्चे दोपहर में सो भी सकते हैं। इनमें शिशुओं की इंद्रियों के विकास और शारीरिक वृद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। विशेषतया सौंदर्यबोध और लयबोध के प्रशिक्षणानुकूल ही साज-सामान भी रखा जाता है। साधारण खिलौने तथा शिक्षा-खिलौने जुटाये जाते हैं। फर्नीचर भी उनकी आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही जुटाया जाता है। दराजें इस प्रकार की होती हैं कि दो साल का बच्चा भी खोल सकता है। प्राकृतिक रूप से शिशुओं के विकास एवं शक्ति की वृद्धि के लिए क्रेश-प्रणाली सहायक होती है। डाक्टर के परामर्श से परिचारिका चार महीने की उम्र से ही बच्चे को व्यायाम कराना शुरू कर देती है। 18 महीने की उम्र से आदतें सिखाने का कार्य प्रारंभ हो जाता है। नियमित रूप से स्टाफ मीटिंग होती रहती है, जिससे बालक के साथ समान व्यवहार हो सके।

ये नर्सरियां अभिभावकों के प्रशिक्षण-केंद्र भी हैं। उनसे समय-समय पर व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से विचार-विनिमय होता रहता है। इनमें बालक की संवेगात्मक आवश्यकताओं पर इतना अधिक ध्यान रखा जाता है कि उसके जीवन की निरंतरता को किसी प्रकार से टूटने नहीं दिया जाता है। नर्सरी से किंडर गार्टन में जानेवालों के साथ-साथ उनकी अध्यापिकाएं भी दो-तीन दिन तक या पूरे सप्ताह जाती रहती हैं। इन क्रेशों के व्यय का उत्तरदायित्व उन फैक्टरियों या अन्य संस्थानों पर होता है, जहां माताएं काम करती हैं। किंतु अंतिम रूप से इनकी देखभाल स्वास्थ्य मंत्रालय करता है। माता-पिता तो अपने शिशु के भोजन का खर्च मात्र देते हैं। वह उनकी आय और बच्चों की संख्या पर निर्भर रहता है। चार से अधिक बच्चों के परिवार को कुछ नहीं देना पड़ता है। गांवों में 1941 तक क्रेश मौसमी अथवा अस्थायी हुआ करती थी; क्योंकि मां ग्रीष्म में ही काम पर होती थी और जाड़ों में बच्चा मां के साथ होता था। पर 1945 में ये स्थायी हो गयीं। इनका खर्च सामुदायिक फार्म द्वारा वहन किया जाता है। अब तो मोहल्लों में भी लोग मिलजुलकर उसी प्रकार के क्रेश चला लेते हैं। नये ब्लाकों में तो उनके लिए पहले से ही व्यवस्था रखी जाती है।

क्विंटीलियन (30-96 ई०) : एक योग्य शिक्षक होने के नाते क्विंटीलियन ने अपने कार्य-काल में अनेक प्रयोग किये और उनसे अनुभव प्राप्त किये। 53 वर्ष की आयु में उन्होंने शिक्षण-कार्य छोड़ दिया और लेखन-कार्य प्रारंभ किया। उनके विचार मौलिक थे। क्विंटीलियन की कृति 'इंस्टीट्यूट ऑफ ओरेटरी' जगत प्रसिद्ध है। उनके अनुसार शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास और चरित्र निर्माण है; क्योंकि उस समय लोग चरित्र पर ध्यान कम ही देते थे और आपसी संबंधों की अवहेलना करते थे। उनके अनुसार पाठशाला में विद्यार्थी के साथ स्नेह का व्यवहार होना चाहिए। शारीरिक दंड के वे विरोधी थे; क्योंकि उनके काल में विद्यार्थियों को निर्भयता से दंड दिया जाता था। शिक्षण-पद्धति को मनोरंजन और रुचिपूर्ण बनाना उनका ध्येय था। उनके समय में इस शिक्षण-पद्धति का अनुसरण हुआ और नैतिकता, चरित्र निर्माण आदि पर भी ध्यान दिया गया। क्विंटीलियन दूरदर्शी थे। वे भविष्य को भली प्रकार से समझते थे। इसलिए उनके सिद्धांत कई शताब्दियों तक प्रचलित

रहे। पंद्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक क्विंटीलियन के शिक्षा-सिद्धांतों की धूम रही। अतः बालक को महत्त्वपूर्ण समझा गया और मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी प्रारंभ हुआ। उनके अनुसार विद्यार्थी को एक साथ कई विषयों का ज्ञान कराया जाना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्विंटीलियन के विचारों ने न केवल अपने युग को ही प्रभावित किया, अपितु भविष्य में भी सिद्धांत बनाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। शिक्षण में मनोविज्ञान का महत्त्व भी क्विंटीलियन के सिद्धांतों के आधार पर ही स्वीकार किया गया। शिक्षण की नयी शैलियों का विकास भी इसी आधार पर हुआ, जो समाज-निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध हुई।

गोखले, गोपालकृष्ण (1866-1915) : आप सरवेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी के संस्थापक, कांग्रेस के अध्यक्ष (1905) और फरगुसन कालिज, पूना के प्रिंसीपल थे। शिक्षा के क्षेत्र में गोखले ने प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य करवाने का बीड़ा उठाया। इसके लिए उन्होंने इंपीरियल विधान सभा में 1910 में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, किंतु सरकार के यह आश्वासन देने पर कि वह इस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार कर रही है, प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। गोखले ने जब यह देखा कि सरकार के सब आश्वासन व्यर्थ हैं, तो उन्होंने 1912 में कौंसिल में एक विधेयक पेश किया। यह विधेयक स्वीकृत हुआ, किंतु सरकार ने देश में प्राथमिक शिक्षा का विस्तार करने का वचन दिया और उसके आवर्ती और अनावर्ती अनुदान भी मंजूर कर लिये। केंद्रीय सरकार ने प्रांतों को भी इस काम को गंभीरता से हाथ में लेने का आदेश दिया। इस प्रकार गोखले ने सारे देश में शिक्षा के लिए जागृति पैदा की। फलतः उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत, असम, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में प्राइमरी शिक्षा की धारा और तेज गति से प्रवाहित हुई।

ग्रांट, सर चार्ल्स (1746-1823) : अंग्रेजी शिक्षा के बड़े कट्टर समर्थक थे। उनका विचार था कि अंग्रेजी से मिशनरियों का काम आसान हो जायेगा। उनका कहना था कि अंग्रेजी हिंदुओं के लिए नये विचारों का द्वार खोल देगी। दूसरे शासकों की भाषा सीखना हिंदुओं की परंपरा रही है, इसलिए उनको इसमें कोई कष्ट नहीं होगा। उन्होंने अपने एक मित्र के द्वारा संसद् में एक विधेयक भी प्रस्तुत करवाया था, पर उसका बड़ा विरोध हुआ वहां एक सदस्य ने यह बात कही थी कि हमने अपनी शिक्षा का आयात करके अमरीका में एक उपनिवेश खो दिया है, वैसी ही गलती हमें भारत में नहीं करनी चाहिए। किंतु ग्रांट इससे दबनेवाले नहीं थे। आखिरकार वे कंपनी के चार्टर में इस आशय की एक धारा रखवाने में सफल हो गये कि कंपनी एक लाख रुपया (उससे कम नहीं) भारत में पश्चिमी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ कृषि और मिकेनिक्स के प्रशिक्षण पर खर्च करेगी। सर चार्ल्स ग्रांट के कार्य से मेकाले के मिनिट को स्वीकृति मिलने में बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी।

चल पाठशालाएं : ये पाठशालाएं शिष्यों के साथ-साथ चलती रहती हैं। इस प्रकार के स्कूलों का काम भी मुख्य रूप से विद्यादान ही है और इसीलिए इनका नाम चल पाठशालाएं रखा गया है। भारत में कुछ ऐसी खानाबदोश जातियां रहती हैं, जिनका कोई स्थायी घर नहीं होता। वे लोग आजीविका की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह पर विचरते रहते हैं। इसलिए इनके बच्चों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं होती है। अब इस समस्या पर काफी गंभीरता के साथ ध्यान दिया जा रहा है। ऐसे ही लोगों के लिए चल पाठशालाओं की स्थापना की गयी है।

चल पाठशालाओं की भारत में बहुत पुरानी परंपरा मिलती है। आर्यों के समय में भी इस प्रकार की पाठशालाएं होती थीं, जिन्हें 'चरण' के नाम से पुकारा जाता था। आर्यों ने 'चरणों' का देश भर में प्रचलन किया था। भारत में ही नहीं, विदेशों में भी चल पाठशालाओं के होने की बात मिलती है। करीब 2400 साल पहले यूनान में चल पाठशालाएं हुआ करती थीं। प्राचीन भारत में कृष्ण-द्वैपायन ने संपूर्ण देश में प्रत्येक नगर और गांव में घूमकर शिक्षा देनेवाली पाठशालाओं तथा अध्यापकों की नियुक्ति की थी। इस बात को स्वीकार करने के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं कि परशुराम एवं राम-कृष्ण के युग में भी जगह-जगह का भ्रमण करनेवाली पाठशालाओं का अस्तित्व था। आचार्य अपने शिष्यों के साथ हर गांव का भ्रमण किया करते थे और नये शिष्य बनाया करते थे। उनकी

हर रात एक नये गांव में बीतती थी। केवल वर्षाकाल में वे एक ही स्थान पर स्थायी रूप मे रहते थे। इन पाठशालाओं का निश्चित और अत्यंत उपयोगी कार्यक्रम होता था। सबेरे चार बजे उठकर विद्यार्थी अपने पाठ कंठस्थ करते तथा चर्चा करते हुए यात्रा शुरू करते थे। दोपहर को वे लोग किसी एक गांव में डेरा डालते और भोजन के बाद दुबारा पढ़ने-लिखने का कार्यक्रम शुरू होता। प्रायोगिक पाठ-प्रवचन, शाम को व्यायाम और रात को सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ करते थे। फिर सबेरे उन लोगों की यात्रा आरंभ हो जाती थी।

इस प्रकार की चल पाठशालाएं अपने काम-काज के रूप और उद्देश्यों के अनुसार कई शाखाओं में बंटी हुई थीं। प्रायोगिक पाठशालाएं (बढ़ईगिरी, कुम्हारी, राज-गिरी आदि का काम सिखानेवाली), वैद्यशास्त्र, ललित कलाओं का संचार करनेवाली पाठशालाएं, प्रौढ़-शिक्षा का प्रचार करनेवाली पाठशालाएं आदि अनेक वर्गों में विभक्त पाठशालाएं होती थीं। ये पाठशालाएं भी और पाठशालाओं की तरह बच्चों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का वास्तविक बोध कराती थीं। अर्थात् इनके द्वारा बच्चों में शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करने के सारे प्रयत्न किये जाते थे।

बुद्धकाल में भी बौद्धधर्म के प्रचारक इस तरह की चल पाठशालाओं का उपयोग करते थे। श्री शंकराचार्य ने भी ऐसी पाठशालाओं के विकास के लिए प्रयत्न किया था। श्री रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने भी चल पाठशालाओं के विकास में सहयोग दिया था। यद्यपि आगे चलकर इस प्रकार की पाठशालाओं का विकास और प्रचलन मंद पड़ गया, लेकिन अब भी किसी न किसी रूप में चल पाठशालाएं मिलती हैं।

भारत के बाहर, यूरोप के कुछ देशों में, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा आदि देशों में भी चल पाठशालाओं का प्रचलन जोरों पर है। कुछ देशों में रेल-पाठशालाएं तथा कुछ देशों में बस-पाठशालाएं गांव-गांव घूमकर शिक्षा का प्रसार करती हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में उत्तर-प्रत्युत्तर विधि के द्वारा बच्चों को विद्यादान दिया जाता है। भारत भी वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप चल-पाठशालाओं के विकास में पूर्ण रूप मे प्रयत्नशील है।

जनसंपर्क : स्कूल और जनता तथा जनता और स्कूल के मध्य सूचनाओं और विचारों के आदान-प्रदान को शिक्षाशास्त्र में जनसंपर्क कहते हैं। इसके अंतर्गत आनेवाले कार्यक्रम में दोनों के बीच सामंजस्यपूर्ण परस्पर बोध करवाना निहित है। जनसंपर्क के कार्यक्रमों में सबसे अच्छा काम जनसेवा का होता है। जनता और स्कूल को सूचित करना इसी के अंतर्गत आता है। विद्यार्थी, शिक्षक, प्रशासक, अभिभावक, करदाता और कर न देनेवाला सभी इसमें शामिल किये जाते हैं। इसके निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं :

(1) स्कूल का उद्देश्य और लक्ष्य समय-समय पर समाज को बताते रहना, (2) स्कूली कार्यक्रम के प्रति जनता की इच्छाएं एवं प्रतिक्रियाएं भी स्कूल को प्राप्त होते रहना, (3) स्कूल की आर्थिक आवश्यकताएं भी जनता को बताते रहना, जिससे जनता उनकी पूर्ति में अपना योग दे सके, (4) बालक के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षक और अभिभावक के संबंध को सुदृढ़ करते रहना, (5) स्थानीय युवकों की शैक्षिक आवश्यकताओं को स्कूल और सामुदायिक संस्थाएं अपने परस्पर हितों के लिए स्वीकार करती रहें।

जनसंपर्क के इस कार्य के लिए एक स्कूली क्षेत्र में एक जनसंपर्क विशेषज्ञ की नियुक्ति आवश्यक होती है। यह काम एक शिक्षक, प्रशासक अथवा किसी ऐसे नागरिक द्वारा किया जा सकता है, जिसकी शिक्षा में पूरी रुचि हो और वह शिक्षा को समझता हो। वैसे तो यह काम स्कूली क्षेत्र के सवैतनिक विशेषज्ञों द्वारा होता आया है, किंतु यह काम ऐसा व्यक्ति भी कर सकता है, जिसमें उत्साह और रुचि हो और साथ-साथ वह जनता का विश्वास भी प्राप्त कर सके। इसके अलावा उसमें लेखन-क्षमता, रेडियो, टेलीविजन, पत्रकारिता आदि का अनुभव होना चाहिए। वह व्यक्ति ऐसा भी हो, जिसे जनता के साथ-साथ स्कूल का भी विश्वास प्राप्त हो।

जनसेवा के इस कार्य को आरंभ करने के लिए उसे स्कूल बोर्ड तथा प्रशासन की सीमा के अंतर्गत ही कार्य करना पड़ता है और सरकारी नीतियों की जानकारी समय-समय पर उसे दे दी जाती है। स्कूल के अधिकारी भी उसको आवश्यक जानकारी देते रहते हैं। इस कार्य को पूरा करने के लिए जनसंपर्क अधिकारी का पहला

कार्य यह होता है कि वह स्कूल की आवश्यकताओं का निरीक्षण करे और उसी आधार पर वह प्रशासक को अपनी योजना लागू करने का सुझाव दे। जब प्रशासक और जनसंपर्क अधिकारी इस बात पर एकमत हो जाते हैं कि क्या कार्यक्रम आरंभ हो और किन-किन संस्थाओं द्वारा यह कार्यक्रम चले, तभी उन एजेंसियों के पास जाया जाता है और उनका कार्य निर्धारित होता है।

जनसंपर्क के काम में जिनको शामिल किया जाना आवश्यक होता है, उनमें (1) विद्यार्थी, (2) संकाय, (3) अभिभावक, (4) नागरिक, और (5) संगठित तथा सामाजिक संस्थाएं होती हैं। विद्यार्थी भी जनता ही होता है। यदि स्कूल उसे प्रभावित कर पाता है, तो जनता स्वतः ही प्रभावित हो जाती है। जहां छात्र का स्कूल में विश्वास न हो और वह शिक्षकों का आदर न कर पाये, वहां वह जनसंपर्क का प्रतिनिधि नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त संकाय के अपने दृष्टिकोण, प्रभाव और प्रयत्न भी इस कार्य को सफल बनाते हैं। इसी के द्वारा स्कूल में अच्छा वातावरण पैदा होता है और उसी के आधार पर जनता से संपर्क होता है। इसमें अभिभावकों की सहमति भी वांछनीय होती है। अभिभावकों के अतिरिक्त शेष जनता भी जनसंपर्क-कार्यक्रम की जानकारी की इच्छुक होती है।

जनसंपर्क के कार्यक्रम में अनेक एजेंसियां बड़ी लाभदायक सिद्ध होती हैं। स्कूल बुलेटिन, स्कूल अधिकारियों के पत्र-व्यवहार, विद्यार्थियों के प्रकाशन, अखबार, व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक सभाएं, रेडियो और टेलीविजन, स्कूल के कार्य-कलापों की प्रदर्शनी, पी० टी० ए० आदि के द्वारा प्रदर्शन—ये सभी जनसंपर्क की ऐसी एजेंसियां हैं, जिनसे स्कूल और समाज समीप आते हैं। जब स्कूल सामुदायिक केंद्र बन जाते हैं, तब भी स्कूल और समाज का परस्पर आदान-प्रदान होने लगता है। इसके अतिरिक्त जब कभी नागरिक और शिक्षक स्कूल के प्रशिक्षण कार्य को बढ़ावा देने के लिए मिलकर काम करते हैं, तब जनसंपर्क के कार्यक्रम में वृद्धि होती है। उनमें कुछ कार्यकलाप निम्नलिखित हैं :

(1) सलाहकार समिति
(2) बालक अध्ययन टोलियां
(3) नागरिक समिति
(4) गृह-मुलाकात
(5) अभिभावक-शिक्षक सम्मेलन
(6) अभिभावक-शिक्षक संघ

संक्षेप में स्कूल ही जनसंपर्क में किसी न किसी प्रकार आबद्ध रहता है। वास्तव में सबसे बड़ा जनसंपर्क यह है कि स्कूल उपलब्ध साधनों और सुविधाओं में ही अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करके दिखा सके।

जिमनाजियम (व्यायामशाला) : 'जिमनाजियम' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा से हुई है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'नग्न व्यायाम-केंद्र'। प्राचीन ग्रीस में, भारत के तालिमखानों जैसे स्थान निश्चित होते थे, जो सभी लोगों के लिए सुविधाजनक हों। तत्कालीन रिवाज के अनुसार बालक और युवक नग्न रूप में क्रीड़ाओं में हिस्सा लेते थे। ऐसा करने में उन लोगों का यह विश्वास था कि नग्न रहने पर अंग-संचालन में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा रहती है, जिससे अधिक अच्छे ढंग से व्यायाम किया जा सकता है।

आजकल जिमनाजियम, स्कूलों तथा अन्य शिक्षा-केंद्रों से संबद्ध व्यायामशालाओं के रूप में जाने जाते हैं। इनका होना प्रत्येक स्कूल के लिए आवश्यक होता है। यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर-शिक्षा संपूर्ण शिक्षा का एक अंग है, उसी प्रकार व्यायामशाला स्कूल-भवन का एक अंग है। इन व्यायामशालाओं में विविध प्रकार के खेल संबंधी सारी वस्तुएं एकत्रित रहती हैं। सभी प्रकार के व्यायाम-साधन यहां मिलते हैं। इनके अलावा तरह-तरह की गेंदें, बल्ले आदि खेलने की चीजें भी यहां प्राप्त होती हैं।

टेबल तथा बोर्ड के खेल : कमरे में बैठकर खेले जानेवाले जितने भी खेल हैं, उनसे टेबल तथा बोर्ड के खेल सबसे अधिक विकसित हुए हैं। ताशों के खेल जैसे, पोकर, रमी तथा अन्य पारिवारिक खेल, ड्राट तथा शतरंज, कई प्रकार के डोमिनो, बैक गेमन तथा अन्य प्रकार के खेल संख्या में अनगिनत हैं। इन खेलों के तीन भेद हैं : (1) ताशों के खेल (2) चाल के खेल और (3) पासों के खेल।

ताशों के प्रमुख खेल 11 होते हैं : (1)ओस्हैल (2) डांकी, (3) कंसेंट्रेशन, (4) मिनेजरी, (5) ओथर्स (6) गोफिशिग, (7) ओल्ड, (8) बाइल्ड एट्स, (9)

न्यू मार्कर, (10) आर डाउट इट, (11) ट्वेंटी नाइन।

चाल के खेल 9 होते हैं : (1) टिक-टैक-टो, (2) मेकिंग स्क्वेयर्स, (3) नाइन मैन्स मौरिस, (4) बेटलशिप, (5) पिरामिड, (6) टेक दी लास्ट, (7) मेक हिम टेक इट, (8) ओडमेच, (9) वर्डस्क्वेयर गेम।

पासों के खेल भी 9 प्रकार के होते हैं : (1) सेंटेनियल, (2) एवरेस्ट, (3) एस इन दी पौट, (4) क्रैफ्स, (5) गोइंग टु बोस्टन, (6) पोकर डाइस, (7) बीटल, (8) यारव्ट, (9) हार्ट्स डाइस।

इनमें प्रमुख खेलों का वर्णन निम्नलिखित है :

(1) ओस्हैल : यह खेल कांट्रेक्ट ब्रिज जैसा ही है, परंतु इस खेल के लिए ब्रिज खेल की जानकारी आवश्यक नहीं है। यदि किसी ने ब्रिज क्रिस्टकर नाम तक भी नहीं सुना है, तो भी वह इस खेल को कुछ मिनटों में सीख सकता है। इस खेल को एक साथ 2 से लेकर 20 आदमी तक खेल सकते हैं, परंतु तीन से लेकर नौ आदमी यदि एक साथ खेलें, तो अच्छा है और सबसे अच्छा खेल तो चार से लेकर नौ खिलाड़ियों के मध्य होता है। सामान्यतया 52 पत्तों की ताशों की जोड़ी से यह खेल खेला जाता है। मेज के चारों ओर खेलनेवाले बैठ जाते हैं और ताशों को फेंट, काटकर दक्षिणावर्त दिशा से ताश बांटे जाते हैं, अर्थात् ताश बांटनेवाला पहले अपने बायें हाथवाले खिलाड़ी को ताश देता है। ताश इसी क्रम से बंटते जायेंगे, जब तक बांटनेवाले के हाथ में इतने ताश न रह जायें, जिनसे अगली बांट पूरी न हो सके। फिर बचे हुए ताश औंधे, मेज पर रख दिये जाते हैं। इस तरह नौ खिलाड़ियों के बीच प्रत्येक को पांच ताश मिलेंगे, आठ खिलाड़ियों में प्रत्येक को छह, और पांच खिलाड़ियों में प्रत्येक को नौ। अब बांटनेवाला खिलाड़ी, हाथ में बचे ताशों में से ऊपर का पत्ता सीधा करके मेज पर रख देता है, ताकि सब देख लें। यही पत्ता इस बाजी का तुरुप का पत्ता होता है।

अब बांटनेवाले से शुरू होकर दक्षिणावर्त दिशा से प्रत्येक खिलाड़ी हाथ (ट्रिक्स) बोलता है, जो उसे इस बाजी में बनाने हैं। स्कोरकीपर इन हाथों की संख्या लिख लेता है। अब उसी दक्षिणावर्त क्रम में पहला खिलाड़ी अपनी बाजी में से एक पत्ता सीधा करके मेज पर फेंकता है और फिर अन्य खिलाड़ी इसी प्रकार अपनी-अपनी पारी पर पत्ते सीधा करके फेंकते हैं। इन सब ताशों से मिलकर एक हाथ (ट्रिक) होता है। ब्रिज खेल का भी यही आधारभूत नियम है। (वस्तुतः ये ह्वीस्ट के नियम हैं, जिससे सब प्रकार के ब्रिजों का जन्म हुआ है।) इस हाथ पर हर एक को उसी रंग का पत्ता फेंकना पड़ता है। यदि रंग का पत्ता नहीं है, तो तुरुप का पत्ता फेंका जायेगा। प्रत्येक खिलाड़ी को अपने-अपने बोले हुए हाथ बनाने पड़ते हैं। यदि किसी हाथ (ट्रिक) में एक से अधिक तुरुप के पत्ते आ जायें, तो बड़ी तुरुपवाला पत्ता जीतेगा। ताशों का बड़ापन इस क्रम से है—इक्का, बादशाह, बेगम, गुलाम, 10, 9, 8, 7, 6, 5, 4, 3, 2, अर्थात् सबसे बड़ा इक्का और सबसे छोटी दुग्गी। पहली बाजी के बाद दूसरी बाजी बांटनेवाला पहले के बायें ओर बैठा हुआ दूसरा खिलाड़ी होता है। इसी क्रम से बाजी बंटती जायेगी।

(2) डोंकी : इसे कितने ही आदमी एक साथ खेल सकते हैं। 12 खिलाड़ियों में चारों दुग्गियां निकाल देनी पड़ेंगी, 11 में चारों दुग्गियां और चारों तिग्गियां निकाल दी जायेंगी, ताकि ताशों की बांट बराबर रहे। ताश एक दफा एक-एक ही बंटेगा और ताश बंटने पर बांटनेवाला कहेगा 'गो' और फिर खिलाड़ी अपने दाहिने वाले से पत्ता लेगा और अपने बायीं ओर के खिलाड़ी को देगा। इसी तरह ताश चलते रहेंगे। प्रत्येक खिलाड़ी अपने पास चारों एक ही दर्जे के ताश रख लेगा, चारों दुग्गियां, या चारों बेगम और इसी प्रकार जिस खिलाड़ी के पास चारों ताश इकट्ठे हो जायें, वह अपने पत्ते चुपचाप मेज पर फेंककर अपनी नाक पर उंगली रख लेगा, दूसरा खिलाड़ी भी इसे जानकर ऐसा ही करेगा और जो खिलाड़ी इस प्रक्रिया को सबसे बाद में करेगा, वही डोंकी (गधा) कहलायेगा। इसी प्रकार ताश के अन्य खेलों की अपनी विधि है।

चालों के खेलों में से कुछ के खेलने की विधि इस प्रकार है :

नाट्स एंड क्रोसिन, टिट्-टेट-टो, टिक-टेक-टो, ओक्सो (तीन नामों का यह खेल है) : इसे खेलनेवाले दो व्यक्ति होते हैं। खिलाड़ी कागज पर नौ खानों में बारी-बारी से गुणा का चिह्न या शून्य का चिह्न लगाते हैं और एक सीध में तीनों एक जैसे चिह्न लगानेवाला खिलाड़ी जीत जाता है। इसी प्रकार कागज पर वर्ग बनाकर बिंदुओं को पेंसिल से मिलाने का खेल मेंकिंग स्क्वेयर्स कहलाता है। इन दोनों ही खेलों को प्रायः सभी व्यक्ति जानते हैं। 'नाइन मैन्स

मौरिस' भी एक प्राचीन खेल है। इसका प्रारंभ एलिजाबेथ के समय में इंग्लैंड में हुआ था। कभी इसका नाम 'नाइन पैनी मौरिस' था। इसके प्रभेद हैं—फाइव पेनी मौरिस तथा हिल्मेन्स मौरिस। 'बेटल शिप' दो खिलाड़ियों का अच्छा खेल है। इसमें 'चांस' का अवकाश बहुत रहता है, परंतु शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार चाल के अन्य खेल भी रोचक होते हैं।

पासों का प्रमुख खेल है—सेंटेनियल। दो व्यक्तियों के इस खेल में तीन मानक पासों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक पासा वर्ग घन होता है और उसके प्रत्येक पार्श्व पर एक से लेकर छः तक बिंदु होते हैं। खिलाड़ी तीनों पासों को एक साथ फेंकता है और पड़े हुए पासों पर जितने बिंदु हों, उन्हें गिन लिया जाता है। 12 बिंदु एक क्रम से आने चाहिए और फिर इसी प्रकार 12 से वापस एक तक। जब तक खिलाड़ी एक नहीं फेंक लेता, वह नहीं जीतता। यदि पहली फेंक में उसे एक नहीं मिलता, तो दूसरा खिलाड़ी पासे फेंकता है। जब उसकी फेंक में एक आ जायेगा, तभी उसके एक की गिनती होगी। यदि एक फेंक में दो एक, और एक पांच आ जाये, तो उसका 'एक' 'एक' गिना जायेगा और फिर उनमें से दो जोड़ा जायेगा, 'पांच' का कोई मूल्य नहीं। जब खिलाड़ी एक से लेकर 12 तक का टिप कर लेता है और फिर 12 से वापस एक तक, तो वह जीत जाता है।

डेविस सारा, एमिली (1830-1921) : सारा एमिली इंग्लैंड में स्त्रियों को विश्वविद्यालय की शिक्षा का अधिकार दिलानेवाली पहली महिला थीं। उनकी शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई। वहीं से उन्होंने महिला अधिकारों के लिए आंदोलन आरंभ किया। 'स्कूल इन्क्वायरी कमीशन' के सामने उन्होंने गवाही दी। उनका आग्रह था कि पुरुष के समान ही स्त्रियों को भी विश्वविद्यालय प्रवेश का अधिकार होना चाहिए। उनके प्रयत्नों से 1870 में यूनिवर्सिटी कालेज, लंदन ने औरतों को प्रवेश दिया। अन्य मित्रों की सहायता से उन्होंने हिचिन में एक महिला कालेज खोला। गरटन कालेज, कैंब्रिज की तो वे संस्थापिका थीं और वहीं 1873-75 तक वे अध्यापिका के पद पर काम करती रहीं। इसके अतिरिक्त, कालेज की कोषाध्यक्षा एवं सचिव के पदों पर भी वे काम करती रहीं। उनके प्रमुख ग्रंथों के नाम हैं : (1) 'द हायर एजूकेशन आफ वीमेन' (1866) और 'थाट्स आन सम क्वेस्ट्यंस रिलेटिंग टु वीमेन' (1860-1908) इस प्रकार एमिली ने स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

ड्यूई, जान (1859-1952) : इस अमरीकी शिक्षा-शास्त्री का जन्म बर्लिगटन में हुआ। बीस वर्ष की आयु में बरमोंट विश्वविद्यालय से स्नातक होकर उन्होंने एक अध्यापक के रूप में अपना जीवन आरंभ किया। इसके बाद जोहन्स होपकिन्स विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में पी-एच० डी० प्राप्त करके मिनेसोटा, मिशिगन और शिकागो विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राचार्य के रूप में कार्य करने लगे। 1904 में वे कोलंबिया, न्यूयार्क में शिक्षा और दर्शन विभाग के अध्यक्ष हो गये और जीवन-पर्यंत वहीं रहे। सन् 1896 में उन्होंने शिकागो में यूनिवर्सिटी लेबोरेटरी स्कूल स्थापित किया। यह एक प्रयोगात्मक स्कूल था, जिसके माध्यम से वे अपने शिक्षा-सिद्धांतों को लागू करके उनके वास्तविक मूल्यों की परख कर सकते थे। वस्तुओं एवं मूल्यों की गतिशीलता में विश्वास करते हुए वे विलियम्स जेम्स के व्यवहारवाद के पोषक बने। उनकी सम्मति में मूल्यों की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। मनुष्य अपने अनुभव के आधार पर उनका सृजन करता है। इस प्रकार शिक्षा, अनुभवों का पुनर्निर्माण सिद्ध होती है। उसमें ज्ञान और कर्म का पूर्वापर संबंध होता है। इसलिए हर अनुभव एक साधन है, साध्य नहीं। इसे बाद में 'साधनवाद' कहा गया और यही फिर 'प्रयोगवाद' के नाम से जाना गया। आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में इस दर्शन को अधिक प्रसिद्धि मिली है, और यह प्रगतिशील शिक्षा के नाम से जाना जाता है। ड्यूई के प्रसिद्ध ग्रंथ 'डिमोक्रेसी एंड एजुकेशन' में इन सिद्धांतों को प्रतिपादित किया गया है। संक्षेप में, ड्यूई के अनुसार शिक्षा, जीवन की तैयारी नहीं, अपितु वह जीवन है। उनका कहना है कि शिक्षा जीवन की एक प्रक्रिया है। वह व्यक्ति के आगामी जीवनयापन का कोई उपक्रम नहीं है। इस महान् शिक्षाविद् के ग्रंथ इतनी अधिक संख्या में हैं कि इनकी सम्पूर्ण सूची 56 पृष्ठों में है, किंतु उनमें 'स्कूल एंड सोसायटी', फ्रीडम एंड एजूकेशन', 'फ्रीडम एंड कल्चर' आदि विशेष उल्लेखनीय पुस्तकें मानी जाती हैं।

तक्षशिला : भारत के उत्तर-पश्चिम सीमांत पर वैदिक शिक्षा का प्रसिद्ध विद्यानगर था। कहा जाता है कि इसे भरत के पुत्र तक्ष ने बसाया था। यह गंधार राज्य की राजधानी था। यहीं जनमेजय ने प्रसिद्ध नागयज्ञ भी किया था। वर्तमान रावलपिंडी के पास आज भी उसके भग्नावेष प्राप्त होते हैं। यहां पर कोई सुसंगठित विद्यालय तो न था, किंतु आचार्य लोग पारिवारिक प्रणाली से छात्रों को शिक्षा दिया करते थे। एक-एक आचार्य के पास पांच-पांच सौ छात्र तक होते थे। आचार्य ही उनके भोजन और निवास का प्रबंध करते थे। कुछ विद्यार्थी तो अपने गुरुओं के घर पर रहकर ही पढ़ते थे। कुछ धनी छात्र किराये पर भवन लेकर वहां रहते थे। विक्रम संवत् से सात सौ वर्ष पूर्व से लेकर तीसरी विक्रमी शताब्दी तक यह शिक्षा-प्रणाली विद्यमान रही। यहां चारों ओर दिन-रात पठन-पाठन का वातावरण रहता था। छात्रों के समूह के समूह अध्ययन करते, परस्पर पाठ पढ़ते और शास्त्रार्थ करते दिखायी देते थे। यहां के आचार्य अपनी योग्यता एवं विद्वता के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। भारत के कोने-कोने तथा विदेशों तक से छात्र यहां विद्या ग्रहण के लिए आते थे। महावैयाकरण पाणिनि, महान राजनीतिज्ञ चाणक्य (विष्णुगुप्त), भगवान बुद्ध के व्यक्तिगत चिकित्सक जीवक और सम्राट् चंद्रगुप्त आदि यहीं के छात्र थे।

यहां पर सोलह वर्ष की आयु में छात्र प्रवेश पाते थे। शिक्षा-शुल्क के विषय में दो प्रकार की व्यवस्था थी। एक तो यह कि छात्रों को एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राएं देनी पड़ती थीं। यदि प्रवेश के समय ऐसा संभव न हो, तो छात्र शिक्षा-समाप्ति के बाद कमाकर देने का वचन दे सकता था। और दूसरे, छात्र दिन में सेवा-कार्य करते और उसके बदले रात्रि को गुरुओं से पढ़ते थे। परिणामस्वरूप कोई भी योग्य विद्यार्थी निराश नहीं लौटता था। पाठ्य विषयों में वेद, व्याकरण, शल्यशास्त्र, धनुर्विद्या, युद्धविद्या, ज्योतिष, गणित, वाणिज्य, कृषि, यानविद्या, तंत्र मंत्र (जादू), गारुड़ी विद्या, संगीत, नृत्य तथा चित्रकला यहां सिखाये जाते थे। किंतु दर्शन और आयुर्वेद के लिए तक्षशिला की विशेष प्रसिद्धि थी। धीरे-धीरे यहां बौद्धों के विहार बनने लगे। पांचवीं शताब्दी में हूणों के सरदार तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने अपने आक्रमण से इस विद्याकेंद्र को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

तर्कण (तर्क करना) : 'तर्कण' तथा 'चिंतन' (सोच-विचार करना) के स्वरूपों में बहुत अंतर है। फिर भी 'तर्कण' पर विचार करने से पहले 'चिंतन' प्रक्रिया को समझ लेना अच्छा है। 'चिंतन' प्रतीकात्मक मानसिक प्रक्रिया है। अनुक्रम से विशिष्ट प्रतीकों के उद्बोधन अथवा उत्तेजन को 'चिंतन' का नाम दिया जाता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मस्तिष्क में विचारों के केवल पारगमन को 'चिंतन' कहते हैं। इसके विपरीत 'तर्कण' विचारों के अधिक निश्चित रूप से नियंत्रित पारगमन को कहते हैं। किसी समस्या के समाधान के लिए हमें तर्कण करना पड़ता है, केवल चिंतन या सोच-विचार करने से काम नहीं चल सकता। अतः नियंत्रित और निश्चित दिशा में विवेकपूर्ण चिंतन करने को तर्कण कहा जाता है। वैसे, संवेदन, अवगम या प्रत्यक्ष ज्ञान, संकल्पना तथा रचना जैसी कुछ मानसिक प्रक्रियाओं के लिए चिंतन तथा तर्कण दोनों का ही सहारा लेना पड़ता है, तथापि तर्कण का क्षेत्र चिंतन के क्षेत्र से नितांत भिन्न है।

अनुसंधान एवं प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि विकास-क्रम में तर्कण का प्रथम प्रादुर्भाव चूहों जैसे निम्न श्रेणी के प्राणियों में होता है। विकास-क्रम में ज्यों-ज्यों हम ऊपर के सोपानों की ओर बढ़ते हैं, तर्कण का स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है और मानव में तर्कण-शक्ति अधिकतम विकसित एवं व्यापक रूप में होती है। मानव-स्तर पर आकर तर्कण-शक्ति किसी भी व्यक्ति के बाल्यकाल से ही आरंभ एवं प्रकट हो जाती है। परंतु हम यह कैसे समझें कि अमुक व्यक्ति में तर्कण की क्षमता है अथवा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए तीन बातों की जांच करनी होगी।

(1) किसी समस्यामूलक परिस्थिति के उपस्थित होने पर विगत अनुभवों का उपयोग करने की क्षमता।

(2) साधारणीकरण करने की योग्यता, जिसके लिए व्यक्ति में विभिन्न वस्तुओं तथा परिस्थितियों के मध्य कुछ संबंधों तथा साहचर्यों का प्रत्यक्ष अनुभव करने की योग्यता का होना अनिवार्य है।

(3) विशिष्ट कालक्रम के बाद होनेवाली प्रतिक्रियायों के बीच विभेद करने की योग्यता।

किसी भी परिस्थिति में की जानेवाली तर्कण प्रक्रिया के विश्लेषण से यही मालूम होगा कि किसी भी समस्या

का समाधान करने में पिछले अनुभवों का उपयोग करना ही तर्कण है; क्योंकि पिछले अनुभवों को काम में लाये बिना कोई भी समस्या सुलझ नहीं सकती। अतः किसी भी व्यक्ति की, विगत अनुभवों को काम में लाने की योग्यता ही उसकी तर्कण-योग्यता की कसौटी समझी जाती है।

साथ ही, केवल विगत अनुभवों का उपयोग ही समस्त समस्याओं को, सुलझाने के लिए पर्याप्त नहीं होता है। जटिल समस्यामूलक परिस्थितियों में समाधान के सुझाव के लिए, विगत अनुभवों के उपयोग के साथ-साथ साधारणीकरण करने की क्षमता होना भी आवश्यक है।

यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि तर्कण प्रबल प्रतीकात्मक क्रिया है। इसलिए तर्कण-शक्ति का वास्तविक परीक्षण तभी होता है, जब किसी व्यक्ति में बाह्य अथवा आंतरिक संवेदिक संकेतों के बिना प्रतीकों की व्याख्या करने की योग्यता हो। अज्ञात क्षेत्र में जाते समय इस प्रकार की तर्कण-शक्ति का सामान्यतः प्रदर्शन किया जाता है। पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में यह योग्यता ज्यादा होती है; क्योंकि अनुक्रम को याद रखने के लिए भाषा मनुष्य की सहायता करती है।

यह तर्कण-शक्ति उसी समय अपना कार्य करती है, जब कोई समस्यामूलक परिस्थिति उपस्थित हो। तर्कण करनेवाले व्यक्ति के लिहाज से समस्याओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। सामान्य व्यक्ति की समस्या से, वैज्ञानिक की समस्या नितांत भिन्न होगी, फिर भी सोचना तो दोनों को ही पड़ता है। समस्या की उपस्थिति समाधान चाहती है और यहीं से तर्कण का आरंभ होता है।

नयी तालीम : वर्तमान शिक्षा-पद्धति 1835 में, मैकाले द्वारा की गयी सिफारिशों के आधार पर विलियम बेंटिक द्वारा लिये गये निर्णयों के अनुसार अस्तित्व में आयी है। अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रविष्ट यह शिक्षा भारत के शिक्षित वर्ग में पश्चिमी संस्कृति को बढ़ावा दे रही है। मनुष्य का सर्वांगीण विकास करके जीवन की प्रत्येक कठिनाई का बहादुरी के साथ सामना करने के लिए आवश्यक दृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण करने की अपेक्षा यह शिक्षा केवल दफ्तर या कारखानों में काम करनेवाले बाबुओं का उत्पादन कर रही है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के अनुसार शिक्षित व्यक्ति अपने गांव-कस्बे में काम पा सकने की कोई संभावना न होने के कारण शहरों की तरफ भागने पर विवश हो रहा है। गांवों की समस्याओं का सामना कर पाने की सामर्थ्य न जुटा पाने के साथ-साथ उसमें ग्रामीण जीवन के प्रति एक तरह की हिकारत और शहरी जीवन के प्रति लगाव बढ़ता जा रहा है। यही परिस्थितियां हैं, जिनके चलते गांवों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति कुंठित हो रही है। ऐसी त्रुटिपूर्ण शिक्षा-पद्धति को बदलकर राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप एक नयी शिक्षा को प्रविष्ट करने की जरूरत को महसूस करते हुए गांधीजी ने नयी तालीम नामक शिक्षा-पद्धति प्रचलित की थी।

गांधीजी ने 1904 में अपने दक्षिण अफ्रीका के प्रवास-काल में 'फोनिक्स सेटिलमेंट' में तीस विद्यार्थियों को शिक्षा दी थी। उस समय उन्होंने जिस तरह की शिक्षा दी, वह परंपरागत पद्धति पर आधारित न होकर विद्यार्थियों की आवश्यकता पर आधारित नयी पद्धति के अनुसार थी। उन्हीं अनुभवों को ध्यान में रखकर 1908 में उन्होंने 'हिंद स्वराज' नामक जो पुस्तक लिखी, उसमें इस बात पर विस्तार से विचार किया कि स्वतंत्र भारत में किस प्रकार की शिक्षा होनी चाहिए। उसके बाद, 1911 में दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने जो 'तालस्ताय फोरम' चलाया, उसमें उन विचारों को कार्यरूप दिया। इस प्रयोग के अंतर्गत परिश्रम के महत्त्व को जानकर विद्यार्थियों को मेहनती नागरिक बनने का अवसर मिलता है। प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के बाद, 1914 में भारत लौटने पर गांधीजी ने अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के किनारे 25 मई, 1915, को एक आश्रम की स्थापना की, जिससे संबद्ध एक स्कूल भी खोला गया। उस स्कूल की स्थापना के पीछे सबसे प्रधान कारण यही था कि गांधीजी को तत्कालीन शिक्षा-पद्धति पसंद नहीं थी। उन सारे अनुभवों को दृष्टि में रखकर, उन्होंने 1932 में, जब वे जेल में थे, तब 27 शिक्षा-सूत्रों का उद्घाटन किया। उसके बाद सेवाग्राम में एक आश्रम और स्कूल की स्थापना की तथा अपने आदर्श शिक्षा-सूत्रों को बराबर प्रचारित करते रहे। 22-23 अक्तूबर, 1937 को वर्धा में उन्होंने भारत भर के शिक्षाशास्त्रियों को आमंत्रित किया और शिक्षा-संबंधी अपने विचारों पर चर्चा करने को कहा।

उस वर्धा शिक्षा-गोष्ठी ने गांधीजी के शिक्षा-सूत्रों को स्वीकार किया। उस निर्णय के अनुसार, सात साल की प्राथमिक शिक्षा देश भर में निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए; मातृभाषा के माध्यम से ही शिक्षा दी जानी चाहिए; दस्तकारी के द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए; विद्यार्थियों की दस्तकारी की आय को आधार बना कर अध्यापकों का वेतन देने आदि सभी व्ययों में स्कूलों को स्वावलंबी होना चाहिए।

इस बृहद् योजना के निर्माण के लिए जाकिर हुसेन के नेतृत्व में एक समिति की स्थापना की गयी। 1938 में हरिपुर में हुई कांग्रेस की बैठक ने वर्धा गोष्ठी के निर्णयों तथा जाकिर हुसेन समिति की सिफारिशों को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया। उस समिति की सलाह के अनुसार हरिपुर कांग्रेस ने 'हिंदुस्तानी तालीमी संघ' की स्थापना की। 1937 में बनी हुई कांग्रेस सरकारों ने वर्धा शिक्षा-सूत्रों को अंग्रेजी हुकूमतवाले सारे प्रांतों में प्रविष्ट किया। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के कारण, ये शिक्षा-सिद्धांत एक हद तक उपेक्षित ही रह गये। 1947 में देश के स्वतंत्र होने के बाद से, दुबारा गांधीजी के शिक्षा-सिद्धांतों को पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत स्थान देकर देश भर में प्रचारित किया जा रहा है।

नयी तालीम के सिद्धांत : इस शिक्षा पद्धति के अनुसार 6 से 14 वर्षों की उम्र के सभी बालक-बालिकाओं को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। यह शिक्षा गांवों तक ही सीमित न रहकर शहरों में भी वहां की आवश्यकताओं के अनुरूप थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रचलित की जानी चाहिए। इसके द्वारा जाति, धर्म, उच्च-नीच, धनी और दरिद्र आदि हर तरह के भेदभाव को समाप्त कर सर्वोदय समाज की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, हर स्कूल का कार्यक्रम समाज-सेवा की भावना से चालित होना चाहिए। सत्य, अहिंसा और संयम जैसे आदर्शों का पालन कर व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए इस शिक्षा-पद्धति का उपयोग होना चाहिए। विद्यार्थियों में अच्छे नागरिक और परोपकारी व्यक्ति बनने योग्य विचारों को भरने के लिए आवश्यक कार्यक्रमों को हर स्कूल में चलाना चाहिए।

कमियों से भरी हुई वर्तमान शिक्षा-पद्धति के बदले में भारत की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली एकमात्र पद्धति नयी तालीम ही है। यद्यपि इसमें भी कुछ प्रायोगिक त्रुटियां हैं, फिर भी उन्हें सुधारकर अमल में लाने से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य निस्संदेह पूर्ण हो सकता है।

नालंदा : सम्राट् अशोक ने नालंदा में विहार की स्थापना की। धीरे-धीरे नालंदा का विकास होता गया। सातवीं शताब्दी में आनेवाले चीनी यात्री ह्यूनसांग ने नालंदा की महत्ता तथा वैभव का वर्णन किया है, जो इस बात का प्रमाण है कि नालंदा उस समय उन्नति के शिखर पर था। गुप्त वंश ने इस शिक्षा-केंद्र का विकास किया। इन सम्राटों द्वारा बनवाये गये मठ ही विश्वविद्यालय के भवन थे। चहारदीवारी से घिरे हुए इस विश्वविद्यालय भवन में 8 बड़े-बड़े सभा-मंडप तथा 300 अध्ययन-कक्ष थे। इस भवन की निर्माण-कला के ध्वंसावशेष देखने से ऐसा अनुभव होता है कि उस समय स्थापत्य कला चरम शिखर पर थी। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय नौ मंजिला था, जिसमें सभी धर्मों, विषयों, कलाओं एवं विज्ञान के दुर्लभ एवं मूल्यवान ग्रंथ उपलब्ध थे। छात्रों के लिए आवास व भोजन का प्रबंध निःशुल्क था। शिक्षा भी निःशुल्क थी। विद्यार्थियों के रहने के लिए मठ थे, जो छात्रावास कहलाते थे। इसमें करीब 10,000 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। विश्वविद्यालय के खर्च के लिए 200 ग्रामों का दान मिलता था तथा राज्य की ओर से भी अनुदान प्राप्त होता था। 1,500 विद्वान शिक्षण-कार्य करते थे और समय-समय पर विशेषज्ञों को भाषण करने के लिए आमंत्रित किया जाता था। नालंदा विश्वविद्यालय की मूल शिक्षा-पद्धति वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ द्वारा शिक्षा देने की थी। यद्यपि यह बौद्ध शिक्षा का प्रधान केंद्र था फिर भी यहां पर वैदिक तथा जैन धर्म के सिद्धातों का अध्ययन कराया जाता था। वेद, वेदांग, ज्योतिष तथा दर्शनशास्त्र शिक्षा के मुख्य विषय थे।

इस प्रकार, 800 वर्षों तक यह विश्वविद्यालय शिक्षण-कार्य करता रहा। देश-विदेश के विद्यार्थी यहां पर ज्ञान प्राप्त करने आते थे। चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, कोरिया, लंका आदि देशों के असंख्य विद्यार्थियों ने यहां शिक्षा प्राप्त की।

बारहवीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी ने बर्बरता से इस विश्वविद्यालय का ध्वंस कर दिया। पुस्तकालय में

रखी पुस्तकों को जला दिया गया। भिक्षुओं और विद्यार्थियों को मार दिया गया। इस प्रकार यह विश्वविद्यालय सदा के लिए धराशायी हो गया और अब केवल इसके ध्वंसावशेष ही देखने को मिलते हैं।

निरक्षरता : जीवनयापन के साधन के रूप में पढ़ना-लिखना कुछ समय से ही आवश्यक समझा जाने लगा है। आज संसार के प्रत्येक नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह लिखे या छपे शब्दों द्वारा संप्रेषण कर सके। प्रो० विलियम एस० ग्रे ने साक्षर की परिभाषा इस प्रकार की है कि "वह व्यक्ति ही व्यावहारिक रूप से साक्षर कहला सकता है, जो अपने कार्यकलाप के अनुरूप पठन और लेखन का ज्ञान और कौशल प्राप्त कर ले।" यह कुशलता उसमें उतनी अवश्य होनी चाहिए, जितनी उस कार्य में उसके साथियों अथवा उसकी संस्कृति में साधारण रूप से आवश्यक समझी जाती है। जिस व्यक्ति में लेखन-पठन का इतना कौशल नहीं है, वह निरक्षर माना जाता है। इस दृष्टि से अभी संसार की जनसंख्या का 2/5 भाग निरक्षर ही है। 1967 के इन आंकड़ों में यह मान दिया गया है कि सभी बच्चे स्कूल जानेवाले हैं और पंद्रह वर्ष की आयु से ऊपर निरक्षर हैं। इसके अतिरिक्त, अनपढ़ व्यक्ति संसार के सब देशों में समान अनुपात में नहीं फैले हुए हैं। यूनेस्को के अनुसार अमरीका, रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों में इनकी संख्या नहीं के बराबर है, जबकि अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमरीकी देशों में से किसी में आधे और किसी में तीन-चौथाई अनपढ़ हैं। उन्नत देश भी इससे अछूते नहीं हैं। 1966 में लंदन में 20 प्रतिशत और अमरीका में 1964 में 10 प्रतिशत ऐसे व्यक्ति थे, जो बोतलों के लेबिल तक नहीं पढ़ सकते थे। इसका मुख्य कारण विकलांग होना या समय से पहले सामान्य पढ़ाई छोड़ बैठना है। इससे सिद्ध होता है कि संसार में निरक्षरता की समस्या बड़ी भयानक है। इस समस्या को सुलझाने के लिए शिक्षा-व्यवस्था की स्थापना तक नहीं हुई है। इस बात को ध्यान में रखकर सोवियत रूस ने इसके लिए आंदोलन चलाना अनिवार्य समझा। 1860 में वहां 80 प्रतिशत अनपढ़ थे। आंदोलन चलाने से यह दर इतनी घट गयी कि 1959 में साक्षरों की संख्या 98.5 हो गयी। जिन देशों ने उपनिवेशीय शासन से मुक्ति प्राप्त कर ली है, उनके लिए निरक्षरता की यह समस्या कहीं अधिक जटिल है।

भारत में निरक्षरता की ओर ध्यान प्रथम महायुद्ध के बाद गया। समाज-सेवी संस्थाओं ने ही इस क्षेत्र में अधिक काम किया। 1937 में प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल आ जाने से इस ओर सरकार का ध्यान अभी गया ही था कि द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इसलिए इस दिशा में बड़े पैमाने पर काम स्वतंत्रता के पश्चात् ही प्रारंभ हुआ। प्रौढ़ शिक्षा का संप्रत्यय सामाजिक शिक्षा में बदल गया। भारत के प्रथम शिक्षामंत्री मौलाना आजाद ने कहा कि प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य साक्षर बनाना ही नहीं, वरन् प्रत्येक नागरिक को लोकतंत्रीय समाज-व्यवस्था में अपने योगदान करने के लिए समर्थ बनाना भी है। समाज-शिक्षा के अंतर्गत साक्षरता, स्वास्थ्य-शिक्षा, आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए प्रशिक्षण, नागरिकता की शिक्षा और स्वस्थ मनोरंजन के कार्यक्रम को रखा गया। इस शिक्षा के लिए केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय में एक अलग विभाग खोला गया। श्रम मंत्रालय ने कामगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की। रक्षा मंत्रालय ने जवानों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया और सामुदायिक विकास मंत्रालय ने सामाजिक शिक्षा को अपनी योजना का एक अभिन्न अंग स्वीकार किया। 1953 में समाज कल्याण की विभिन्न संस्थाओं में परस्पर सहयोग स्थापित करने के लिए केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना हुई। भारत सरकार का काम अब विभिन्न सामाजिक शिक्षा योजनाओं में परस्पर समन्वय स्थापित करना, निर्देश देना और आर्थिक सहायता प्रदान करना है। राज्य, प्रदेश, नगर और जिला स्तर पर ही उनके कार्यान्वित करने का भार है। विभिन्न क्षेत्रों में समाज शिक्षा केंद्रों की स्थापना की जाती है। इन केंद्रों में निम्नलिखित कार्यक्रम रहता है:

(1) साक्षरता-कक्षाएं, वाचनालय, पुस्तकालय, वाक् प्रतियोगिता, प्रदर्शनी और रेडियो आदि की व्यवस्था,

(2) सांस्कृतिक सहभोज का आयोजन,

(3) मनोरंजन के लिए इनडोर और आउटडोर खेलों और यात्राओं की व्यवस्था,

(4) कला और शिल्प में सीना-पिरोना, कातना, बुनना, धुलाई-रंगाई तथा पाक-विज्ञान का प्रशिक्षण,

(5) समाज सेवाओं के अंतर्गत नगर की सफाई आदि के कार्यक्रम।

इन केंद्रों में काम करनेवाले शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी समुचित व्यवस्था की गयी है। (दे० जनता० कालेज)

निस्यंदन सिद्धांत : इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि शिक्षा, समाज के उच्च वर्ग को दी जाये और फिर इस वर्ग से होता हुआ शिक्षा का प्रभाव जन-साधारण तक पहुंचे।

ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए अपने प्रयास प्रारंभ किये। उनकी मान्यता थी कि भारत में यदि उच्च जातिवाले सवर्ण हिंदुओं को ईसाई बना लिया जाये, तो निम्न वर्ग के व्यक्ति ईसाई बनने में संकोच नहीं करेंगे; क्योंकि बड़े आदमियों के आचरण के अनुसार ही इनका आचरण होता है। 23 दिसंबर, 1823 को बंबई के गवर्नर की कौंसिल के सदस्य वार्डन ने अपने विभाग-पत्र में इस सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए यह लिखा कि जन-साधारण को थोड़ी-थोड़ी शिक्षा देने की अपेक्षा उच्च वर्ग के कुछ ही व्यक्तियों को अधिक शिक्षा देना लाभदायक होगा। कंपनी के संचालकों ने 29 सितंबर, 1870 के अपने आदेश-पत्र में मद्रास सरकार को यह लिखकर भेजा कि शिक्षा की प्रगति तभी हो सकती है, जब उच्च वर्गों के उन व्यक्तियों को शिक्षा दी जाये, जिनके पास अवकाश है और जिनका अपने देशवासियों पर प्रभाव है। फिर मैकाले ने भी इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए लिखा था कि हमारी इस शिक्षा द्वारा एक ऐसे वर्ग की सृष्टि होगी, जो रक्त एवं वर्ण से तो भारतीय रहेगा, परंतु विचार, रुचि, आचरण एवं शिक्षा की दृष्टि से अंग्रेज होगा। बंगाल की लोक-शिक्षा-समिति ने 1839 में मैकाले के इस विचार का अनुमोदन किया। और फिर लार्ड आकलैंड ने भी इस सिद्धांत को अपनाया और इसे सरकारी नीति के रूप में घोषित करते हुए लिखा: सरकार को चाहिए कि शिक्षा समाज के उच्चवर्गीय व्यक्तियों को दे, ताकि सभ्यता छन-छनकर जनसाधारण में पहुंचे। उस समय से लेकर 1870 तक भारतीय शिक्षा में इस सिद्धांत का प्रभाव रहा। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इस सिद्धांत के कुप्रभाव दृष्टिगोचर हुए, जब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अनेक व्यक्ति जो भारत में ब्रिटिश राज्य के स्तंभ थे, इस राष्ट्रीय आंदोलन का प्रबल विरोध करने लगे। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि कुछ अंग्रेजी पद्धति से शिक्षित व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन्होंने देश-प्रेम की ज्योति प्रज्वलित की और अपने देशवासियों के दिलों में स्वतंत्रता की भावना कूट-कूटकर भरी, जिसके परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय जागरण प्रारंभ हुआ।

न्यूमन जान हेनरी (1801-90) : इंगलिश धर्म-वैज्ञानिक और ट्रकटेरियन आंदोलन के जन्मदाता न्यूमन का जन्म 21 फरवरी, 1801 को लंदन में हुआ। उनके पिता जॉन न्यूमन राम्सबोह्म न्यूमन कंपनी के बैंकर थे। उनकी माता, काल्विन विचारों की समर्थक एक महिला थीं। कहते हैं कि 15 वर्ष की अवस्था में ही उनमें आंतरिक परिवर्तन हो गया था। वे 1826 में आक्सफोर्ड से मैट्रिक और स्नातक होने के बाद 'विकार' हो गये। किंतु वहां 'प्रोवोस्ट' से मतैक्य न होने पर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और अपने पिता के साथ भूमध्य सागर की यात्रा पर चले गये। वहां उन्होंने 'लीड काइंडली लाइट' नामक प्रसिद्ध कविता लिखी। वहां से लौटने पर उन्होंने इंग्लैंड के चर्च में अनेक सैद्धांतिक और अनुशासन-संबंधी सुधार लाने की चेष्टाएं कीं, किंतु वे सफल नहीं हुए। फिर भी वे अपनी तपस्या में लगे रहे और अपने कुछ साथियों सहित लिटिलमा में मठीय जीवनयापन करने लगे। उन्होंने अपने शिष्यों को अंग्रेज साधुओं की जीवनी लिखने का काम सौंपा और स्वयं ईसाई सिद्धांतों पर काम करने लगे। इससे उनका मान बढ़ा और उन्हें रोमन कैथोलिक चर्च में शामिल कर लिया गया। रोम में पांच वर्ष रहने के बाद, वे फिर इंग्लैंड वापस आ गये और एकांतवास का जीवन बिताने लगे। इस काल में प्रोटेस्टेंट मत के विरुद्ध भाषण देने पर उन पर मुकदमा चला और जुरमाना भी हुआ। फिर वे आयरिश बिशप के निमंत्रण पर डबलिन गये, पर वातावरण अनुकूल न होने के कारण उन्हें वहां से लौटना पड़ा। अपने इस प्रवास काल में उन्होंने 'आइडिया आफ यूनिवर्सिटी' की रचना की। इस कृति ने उन्हें अमर कर दिया। धर्मविज्ञानी होने के कारण उनका झुकाव शिक्षा की ओर भी था। आक्सफोर्ड की आरेटरी

में वे छोटी पाठशाला खोलना चाहते थे। इसकी उन्हें आज्ञा नहीं मिली, तो उन्होंने बरमिंघम में अंग्रेजी पब्लिक स्कूलों की पद्धति पर एक स्कूल खोला।

वे एक महान प्रतिभाशाली धार्मिक व्यक्ति थे। उन्हें मनुष्य और ईश्वर के परस्पर संबंध की प्रगाढ़ जानकारी थी। इस संबंध को उन्होंने 'एलोन विन द एलोन' कहकर अभिव्यक्त किया है। उनकी विद्वता, सच्ची धर्मभावना एवं शिक्षा-प्रेम के कारण ही रोम न रहने पर भी उन्हें 'कार्डिनल' की उपाधि से विभूषित किया गया। आज भी उनके कृतित्व का पहले जैसा ही प्रभाव है। उनके गद्य की शैली में ताजगी एवं ओज है। उनकी अनेक रचनाओं को विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए आज भी उचित माना जाता है।

पठन-कौशल : पठन किसी भाषा के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण चरण है। इसके द्वारा अपार ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। थके और चिंताशील मन के लिए यह मनोविनोद का भी काम करता है। किंतु पठन-कौशल प्राप्त करना सरल नहीं है। पठन की प्रक्रिया में ध्वनि दृष्टि साहचर्य, शब्द-अर्थ, नेत्र-पेशी-नियंत्रण, वाक्-पेशी-नियंत्रण, प्रत्यभिज्ञान, धारण, मनन, स्मरण, ज्ञान और पठन-सामग्री प्रयोग आदि का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त बुद्धि और पठन-कौशल का घनिष्ट संबंध होता है। पठन-कौशल प्राप्त करने के लिए ध्वनि, दृष्टि, साहचर्य एवं शब्द-अर्थ के सहारे निरंतर अभ्यास की आवश्यकता होती है। चूंकि ज्ञात शब्दावली के पठन में प्रवीणता शीघ्र प्राप्त होती है, अतः तर्क-शब्दावली का प्रस्तुतीकरण संदर्भ द्वारा ही होना चाहिए। छात्रों को शब्दकोष के प्रयोग के लिए उत्साहित करना ही हितकर होता है। मौन, मौखिक तथा धीमे—तीनों प्रकार के पठन की प्रगति एक व्यक्तिगत परिवृद्धि है। मौखिक पठन में अशुद्ध उच्चारण, पुनरावृति और स्थानांतरण जैसे दोष आ जाते हैं। इनको दूर करने के लिए सुधारार्थ पठन की आवश्यकता होती है। इस के लिए छात्र के परिवेश से परिचित होना भी आवश्यक होता है। घर की परिस्थिति, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, काम और खेल में अभिरुचि आदि भी पठन-कौशल को प्रभावित करते हैं।

पथ और क्षेत्र (ट्रैक एंड फील्ड) संबंधी खेल : आदि मानव के पास खेल के लिए कोई उपकरण नहीं थे, अतः पथ और क्षेत्र-संबंधी क्रीड़ाएं जो आजकल हैं, वे ही पहले भी थीं। अर्थात् दौड़ना, कूदना, फेंकना आदि खेल पहले भी थे और आज भी हैं। आदि मानव को शिकार आदि के लिए दौड़ना, कूदना भी पड़ता था, और अपने शिकार पर भारी-भारी पत्थर भी फेंकने पड़ते थे। पहले तो प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता के रूप में इन सब बातों का अभ्यास करना पड़ता था, परंतु आगे चलकर खाने-पीने आदि के सुरक्षित साधन मिलने पर ये सब बातें क्रीड़ा मात्र बनकर रह गयीं। कुश्ती की कला भी आदि मानव को अपने शिकार से द्वंद्व युद्ध करने के लिए सीखनी पड़ती थी, जो बाद में एक शारीरिक कला मात्र बनकर रह गयी है।

आदि मानव के ये क्रियाकलाप उसके दैनिक जीवन में उपयोगी थे। ये ही युगों से परंपरागत रूप में प्राचीन यूनान के निवासियों तक पहुंचे। उस युग में यूनानी युवक इन कलाओं में निष्णात होकर नाम कमाते थे। सबसे तेज दौड़ना, सबसे आगे भाला फेंकना, सबसे अधिक ऊंचाई तक और अधिकतम लंबाई तक कूदना आदि गुणों से युक्त होकर उस काल का यूनानी युवक अपने-आपको गौरवान्वित अनुभव करता था। अत्युत्तम मल्लविद्या तथा सबसे अधिक भारी वजन उठाना—उस समय के युवक की विशेषताएं मानी जाती थीं।

प्राचीन यूनान में समस्त खिलाड़ियों में चक्का (डिस्कस) फेंकनेवाला ही चैंपियन माना जाता था। जो सबसे अधिक दूरी पर चक्का फेंकता था, उसे खिलाड़ियों में श्रेष्ठ माना जाता था और दौड़ने, कूदने, फेंकने आदि खेलों के अन्य चैंपियन उससे छोटे माने जाते थे।

प्राचीन यूनान में प्रतियोगी खेल उसी प्रकार जीवन के अंग बन गये थे, जैसे वे आजकल अमरीका में हैं। जब रोमवालों ने यूनान पर विजय प्राप्त की, उस समय रोम-निवासी खेलों में इतनी रुचि नहीं रखते थे, परंतु जब उन्होंने यूनान-निवासियों को ये खेल खेलते देखा और समझा कि वे इन खेलों को यूनानियों की अपेक्षा अधिक कुशलता से खेल सकते हैं, तो रोम-निवासियों ने भी ओलिंपिक खेल अपनाये। पहले ये खेल रोमवालों तथा यूनानवालों के बीच प्रतिस्पर्धात्मक रूप में खेले

जाते थे। फिर सन् 392 में एक रोमन सम्राट ने इन्हें समाप्त कर दिया। उस समय से लेकर 12वीं शताब्दी तक ट्रैक एंड फील्ड खेलों का कोई रिकार्ड नहीं है। 12वीं शताब्दी में अंग्रजों ने दौड़ने, कूदने तथा फेंकने के अभ्यासों को पुनर्जीवित किया। राष्ट्रीय प्रतियोगिता की दृष्टि से तो चक्का फेंकना भी बंद हो गया था, कदाचित सैनिक ही निजी तौर पर ऐसी प्रतियोगिता करते रहे हों। 'घुड़साल' से कुछ इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्राचीन समय के आदमी कुछ खेल अवश्य खेला करते थे। कैंप लगानेवालों ने ऐसी घुड़साल को चक्के के आकार में ढालकर इस्तेमाल किया। इसी प्रकार से अन्य खेलों का भी हाल रहा।

सर्वप्रथम 13वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने इन खेलों के लिए अलग मैदान बनाया और फिर लगभग 700 वर्षों तक अंग्रेज लोग दौड़ने, कूदने, फेंकने के खेलों में लगे रहे। सन् 1834 में कुछ नियम भी बनाये गये, जिनके आधार पर किसी व्यक्ति को प्रतियोगिता के लिए सक्षम बनाने में किसी मात्रा तक उन खेलों का अभ्यास होना आवश्यक माना गया।

सर्वप्रथम कालेज-ट्रैक एंड फील्ड प्रतियोगिता 1864 में हुई, जिसमें आक्सफोर्ड और कैंब्रिज कालेज के विद्यार्थियों ने भाग लिया। सुव्यवस्थित प्रतिद्वंद्विता का वास्तविक प्रारंभ यहीं से होता है। दो वर्ष बाद प्रथम राष्ट्रीय मैच लंदन में हुआ और इसमें इंग्लैंड के चैंपियनों के चयन का निर्णय हुआ। इसके बाद केनेडावालों ने भी इंग्लैंडवालों से खेल-प्रतियोगिता के विचार को ग्रहण किया और फिर अमरीकावालों ने भी आक्सफोर्ड और कैंब्रिजवालों के बीच हुए मैच की ओर ध्यान दिया। इसके बाद 1838 में न्यूयार्क एथलिटिक क्लब (एन० वाई० ए० सी०) की स्थापना हुई और अपने राष्ट्रीय इतिहास में इसने प्रथम बार शौकीनों के लिए ट्रैक एंड फील्ड खेलों के मैचों की व्यवस्था की। और फिर इसके बाद इन खेलों के लिए अनेक संस्थाएं स्थापित की गयीं।

आजकल ट्रैक एंड फील्ड खेल सभी देशों के स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी खेलते हैं। इनमें बड़ी-बड़ी दौड़ें, ऊंची-ऊंची उछाल और कूदें, डिस्कस थ्रो, हैमर थ्रो आदि खेल शामिल किये जाते हैं। पुरुष ही नहीं, महिलाएं भी इन खेलों में भाग लेती हैं और उन्होंने भी अपनी निष्पत्तियों के रिकार्ड स्थापित किये हैं।

परिपक्वन : संपूर्ण मानसिक और शारीरिक परिवृद्धि अथवा विकास को परिपक्वन कहते हैं। गेसेल आरनोल्ड जैसे मनोविज्ञानियों का विश्वास है कि यह परिपक्वन अंतःस्थ तंत्रिकीय वृद्धि पर आधारित होता है। इसे किसी बाह्य उद्दीपन की आवश्यकता नहीं होती है, जैसे चलना सीखना या सीढ़ी चढ़ना आंतरिक वृद्धि-प्रक्रिया का ही अंग है। परिवेश उसमें झुकाव, संशोधन तथा विशिष्टता को पैदा कर सकता है, किंतु व्यक्ति-विकास के संघटित अनुक्रम को घटा-बढ़ा नहीं सकता। फिर भी इतना निश्चित है कि सामान्य वृद्धि-सीमा के अंतर्गत ही जीव के परिपक्वन को पोषण तत्त्वों एवं उद्दीपनकारी परिस्थितियों की आवश्यकता पड़ती है। अतः परिपक्वन वह मानसिक और शारीरिक परिवृद्धि है, जो सुचारु रूप से परिवेश की विभिन्नता में भी निरंतर विकसित होती रहती है।

परीक्षा : व्यक्ति की किसी विषय-संबंधी जानकारी या सामर्थ्य का पता लगाना ही परीक्षा है। लेकिन, आमतौर पर यह शब्द शिक्षा-संबंधी वृद्धि की जानकारी प्राप्त करनेवाले माध्यम के रूप में ही प्रयुक्त होता है। विद्यार्थियों की विषय-संबंधी जानकारी या मेधाशक्ति की पहचान की यह विधि हर स्तर की शिक्षा में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रयुक्त होती है।

शिक्षा के क्षेत्र में 'परीक्षा यानी योग्यता-निर्णय' वाली बात बहुत महत्त्व रखती है। अभिभावकों तथा अध्यापकों के लिए बीच-बीच में इस बात की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है कि विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र में कुशलता से आगे बढ़ रहा है या नहीं; पाठशालाएं अपने कर्तव्य का ठीक निर्वहण कर रही हैं कि नहीं; विद्यार्थियों को उचित ढंग से शिक्षा दी जा रही है कि नहीं; वे निर्णीत स्तर को छू पा रहे हैं या नहीं आदि बातों का ज्ञान प्राप्त करना समाज का भी कर्त्तव्य है। इस प्रकार शिक्षा-संबंधी कार्यपद्धति तथा परिणामों की बार-बार जानकारी प्राप्त करना उस हर व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है, जो उससे संबद्ध है। इसी उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में 'परीक्षा' एक सहज-स्वीकृत साधन है।

परीक्षा, प्रारंभिक दशा में, मौखिक प्रश्न पूछकर उत्तर पाने या तर्क करने की रूप में थी। 1702 में कैंब्रिज

में स्थित ट्रिनिटी कालेज में बेंट्ले ने सर्वप्रथम लिखित-परीक्षा को प्रारंभ किया था। उसके पूर्व लिखित परीक्षा के होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है।

मध्यकालीन विश्वविद्यालयों में चिकित्सा जैसे विषयों में प्रायोगिक परीक्षाएं होती थीं। लेकिन, आधुनिक युग की परीक्षाएं 18वीं शताब्दी में प्रचलित परीक्षा-पद्धति से विकसित हुई हैं। सन् 1747 में स्थापित 'गणित-शास्त्र टिपोस' नामक आनर्स परीक्षाएं ही वास्तविक अर्थ में पहली परीक्षाएं थीं।

किसी नौकरी-पेशे में प्रवेश पाने के लिए आवश्यक शक्ति तथा सामर्थ्य का परिशीलन करने के लिए चलायी जानेवाली परीक्षाएं, परीक्षा के क्षेत्र में आया हुआ दूसरा परिवर्तन है। 19वीं शताब्दी तक, किसी काम में प्रविष्ट होने से पहले, उस काम के पूर्ण-ज्ञाता के पास काम करना तथा उस काम में वास्तविक योग्यता प्राप्त करना आवश्यक माना जाता था।

पाठ-योजना बनाना : अब यह बात अनुभव की जा चुकी है कि शिक्षा का अर्थ केवल कुछ पढ़ना ही नहीं है, और न ही विद्यालय वह स्थान है, जहां कुछ पाठ सिखाये जाते हों। पाठ का उद्देश्य केवल कुछ बातें बता देना ही नहीं है, अपितु सीखने, विचारने या समझने की क्षमता देना भी है। इसका उद्देश्य विद्यार्थियों को अध्यापक के निर्देशन, मार्गदर्शन और प्रेरणा द्वारा स्वयं क्रिया करने को प्रेरित करना है। इस प्रकार के पाठों की योजना पहले ही बनायी जानी चाहिए। पाठ-योजना से अध्यापक को अपने अध्यापन-कार्य में सुगमता होती है। जैसे-(1) पाठ-योजना से नित्य के कार्य की निश्चित रूपरेखा प्राप्त होती है, (2) इससे एक ही एकक के विभिन्न पाठों के संबंध का ज्ञान होता है, (3) इसके द्वारा अध्यापक को अध्यापन-प्रणाली को समझने और उसमें अपेक्षित लाभ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होती है, (4) पाठ-योजना द्वारा समय का अपव्यय नहीं होता; क्योंकि अध्यापक को क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित कार्य करने में इससे सहायता मिलती है, (5) एक ही एकक के विभिन्न पाठों के बीच संबंध का ज्ञान होने के कारण पाठों की योजना क्रमबद्ध रहती है, (6) पाठ-योजना बनाने से अध्यापक को बीच में उठनेवाले जिज्ञासा-प्रश्नों को जानने में सहायता मिल जाती है, (7) इसके द्वारा पाठों का सारांश और कक्षा के विद्यार्थियों को कार्य देने की रूपरेखा बन जाती है, तथा (8) पाठ-योजना द्वारा अध्यापक को अध्यापन में अधिक आत्मविश्वास और स्वतंत्रता का अनुभव होता है और वह बिना झिझके अच्छे ढंग से कक्षा को पढ़ा सकता है।

पाठ-योजना की पूर्वापेक्षा : कुछ तथ्य ऐसे हैं, जिनका पाठ-योजना बनाते समय ध्यान में रखना आवश्यक है :

(1) सर्वप्रथम अध्यापक को विषय की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए और इसके लिए समुचित प्रशिक्षण भी होना चाहिए, (2) संपर्क द्वारा या बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा अध्यापक को बालकों के पूर्वज्ञान के बारे में जानकारी होनी चाहिए, (3) सफल पाठ-योजना के लिए अध्यापन के सिद्धांतों का ज्ञान होना नितांत आवश्यक है, (4) कक्षा के विद्यार्थी-वर्ग के अंतर को भी अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए, (5) शिक्षा के उद्देश्य का भी ज्ञान होना आवश्यक है, इससे अध्यापक को शिक्षा की समस्याओं में दृष्टिकोण की विशालता का ज्ञान हो जाता है, और (6) पाठयोजना बनाते समय बालकों के तत्काल ज्ञान की सही स्थिति जान लेनी चाहिए।

अच्छी पाठ-योजना के लक्षण : अच्छी पाठ-योजना के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए :

(1) पाठ-योजना लिखित होनी चाहिए, (2) सामान्य तथा विशिष्ट उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए, (3) पाठ-योजना पूर्वभूमिका के आधार पर बनी होनी चाहिए, (4) पाठ-योजना में अध्यापक द्वारा पुस्तक-शिक्षण-प्रणाली का जिक्र होना चाहिए, जैसे, किस प्रकार पाठ शुरू करना है, किस प्रकार के प्रश्न करने हैं, किस प्रकार के उदाहरण देने हैं इत्यादि, (5) पाठ-योजना में अध्यापक द्वारा प्रयुक्त अन्य साधन जैसे, चित्र, मानचित्र आदि का वर्णन होना चाहिए, (6) पाठ-योजना में विद्यार्थियों के करने के लिए कुछ अभ्यास अवश्य होने चाहिए, जिससे उन्हें आगे के पाठ में पदार्पण करने में सुविधा रहे, (7) पाठ-योजना में समस्त पाठ का संक्षिप्त रूप होना चाहिए, (8) पाठ-योजना में कुछ अभ्यास-प्रश्न होने चाहिए, जो समस्त पाठ की पुनरावृत्ति कर दें, (9) समय, विद्यार्थियों की पूर्वभूमिका आदि का वर्णन भी इसमें अनिवार्य है, और

(10) अध्यापक को पाठ-योजना तैयार करने के बाद स्वयं ही उसकी समीक्षा करनी चाहिए और भविष्य में अधिक सुधार के लिए उन चरणों पर ध्यान देना चाहिए, जिनमें सुधार की आवश्यकता है।

पाठ-योजना तैयार करने के पश्चात् अध्यापक को निम्न प्रश्नों के अनुसार समालोचना करनी चाहिये :

(1) क्या पाठ-योजना पाठ्यक्रम के अनुसार है ?

(2) क्या पाठ का उद्देश्य समझा दिया गया है ?

(3) विद्यार्थी की पूर्वभूमिका क्या है ?

(4) पाठ में कहां त्रुटि रह गयी है और क्यों ?

(5) अगर कोई भाग सुंदर या सफल बन गया है, तो उसके क्या कारण हैं ?

(6) क्या विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया का ध्यान रखा गया है और उनकी शंका का समाधान उसमें निहित है ?

(7) प्रश्न किस प्रकार के हैं ? क्या वे स्पष्ट भाषा में हैं या उलझी हुई भाषा में हैं ?

(8) अन्य साधनों का प्रयोग कैसा रहेगा ?

(9) क्या कोई विषय इसमें अछूता रह गया है ?

(10) क्या इसमें परिवर्तन अपेक्षित है, जो भविष्य में सफल बनाने में सहायक हो ?

(11) कोई अन्य कठिनाई ?

पाठ्यचर्या : सीमित अर्थ में शिष्य अथवा शिष्य-समूह की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्धारित पाठ्यक्रमों को ही पाठ्यचर्या कहते हैं। विस्तृत अर्थ में इसके अंतर्गत स्कूल का वह समस्त परिवेश आता है, जिसमें पाठ्यक्रम, कक्षा-शिक्षण तथा पाठ्येतर क्रियाएं और साहचर्य-जीवन के सभी क्रियाकलापों का समावेश होता है। स्कूल द्वारा सुनियोजित ये स्थितियां शिष्य के व्यक्तित्व-विकास में सहायक होती हुई शिक्षा के मूल उद्देश्यों को पूरा करती हैं। पाठ्यचर्या बनाने में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है :

(1) शिक्षा का उद्देश्य,

(2) बालक की सामाजिक परिस्थितियां,

(3) परिस्थिति के अनुरूप लाभकारी और सुखमय जीवनयापन योग्य होना,

(4) बालक की बहुमुखी अभिरुचियों और विभिन्न सोपानों पर उसकी आवश्यकताएं,

(5) शारीरिक एवं मानसिक विकास तथा क्षमता,

(6) स्कूली जीवन की अवधि,

(7) वैयक्तिक तथा सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए व्यावसायिक-कौशल की प्राप्ति, और

(8) स्कूली अनुदेश और सामान्य जीवन का सह-संबंध।

इन बातों के अतिरिक्त कुछ ऐसी शक्तियां एवं माध्यम होते हैं, जिनका पाठ्यचर्या-निर्माण में बड़ा प्रभाव रहता है, जैसे :

(1) ऐसी परंपराएं, जो पहले से चली आती हैं, जैसे, व्याकरण तथा संस्कृत विषयों की अनिवार्यता। किंतु शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए वर्तमान कालिक आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए।

(2) बाह्य प्रभाव, जो अभिभावकों अथवा जन-सामान्य की परंपरागत धारणाओं के कारण पाठ्चर्या पर पड़ते हैं। अभिभावक यदि धर्म-शिक्षा के प्रति आस्था रखते हों, तो वे चाहेंगे कि नृत्य को हटाकर धर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए। कुछ लोग चाहेंगे कि ड्राइवरी सिखायी जाये, कुछ चाहेंगे न सिखायी जाये। ये प्रभाव पाठ्यचर्या पर व्यक्तिगत रूप से भी डाले जाते हैं और सामूहिक रूप से भी। इसके अतिरिक्त, समाजशास्त्री, मानवविज्ञानी, अर्थशास्त्री, शासनतंत्र राज्य प्रशासन, रक्षा-विभाग आदि सभी अपना-अपना प्रभाव डालते हैं। ये प्रभाव सीमित सभी अपना-अपना प्रभाव डालते हैं। ये प्रभाव सीमित अर्थ में हितकर भी होते हैं, पर इनको संपूर्ण पाठ्चर्या को ध्यान में रखकर ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

(3) प्रशासन की ओर से भी कभी-कभी कुछ विषयों पर रोक अथवा कुछ विषयों का समावेश करने की छूट दी जाती है।

(4) प्रौढ़ अभिरुचियां भी पाठ्चर्या को प्रभावित करती हैं। कुछ प्रौढ़ लोग यह समझते हैं कि उनके पढ़े विषयों से किशोर अवश्य लाभान्वित होंगे। अतः इसका भी ध्यान रखना अनिवार्य है।

(5) सामान्य भ्रांतियों का भी प्रभाव पड़ता है। जो लोग किशोरों की मूल आवश्यकताओं को नहीं जानते, उनका विश्वास है कि कंठस्थ करने से विचार-क्षमता बढ़ती है। इससे रटंत को बल मिलता है। अतः इस प्रकार की भ्रांतियों से बचना आवश्यक है।

पाठ्यचर्या का निर्माण जीवन के विस्तृत क्षेत्र को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए। दूसरे, वह इतनी लचीली हो कि सामान्य सीमाओं के अंदर रहकर भी उसे स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित किया जा सके। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पाठ्चर्या के क्रियाकलापों की छांट पूरी तरह प्रौढ़ों द्वारा ही हो। इसका निर्माण जीवन के विस्तृत क्षेत्र को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। इसमें विषय एवं परिस्थितियों का चुनाव करते समय युवा वर्ग की आवश्यकताओं, क्षमताओं और अभिरुचियों का ध्यान इस तरह रखा जाता है कि उनकी सामाजिक और आर्थिक उपयोगिता तथा वर्तमान एवं भविष्य की आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो।

पाठ्य पुस्तकें : विद्यालयों में एक निश्चित पाठ्यचर्या को ध्यान में रखकर पढ़ायी जानेवाली पुस्तकें चिरकाल से शिक्षा का आवश्यक अंग रही हैं। प्राचीन काल में पुस्तकें बालकों तथा प्रौढ़ों के लिए समान रूप से उपयोगी हुआ करती थीं, लेकिन अब यह बात नहीं रही। किंतु यह मानना भी अनुचित है कि पाठ्य पुस्तकें शिक्षक का स्थान ले सकती हैं। कारण यह है कि शिक्षक का अनुगमन न कर पानेवालों के लिए पाठ्य पुस्तक सहायक होती है। दूसरे, अन्य शिक्षा-साधनों की तुलना में पाठ्य पुस्तक सस्ती होती है। तीसरे, पाठ्य पुस्तक बालक के हाथ में सदा रहनेवाली सहायक सामग्री होती है।

पाठ्य पुस्तकों की बढ़ती हुई उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए एक अच्छी पाठ्य पुस्तक में निम्नलिखित गुणों का होना अनिवार्य है :

(1) प्रत्येक आयु के बालक के मानसिक विकास के अनुरूप ही उसका विषय-प्रतिपादन होना चाहिए।

(2) अच्छी छपाई, रेखाचित्र, सचित्र उदाहरण, क्रियात्मक प्रश्न आदि भी आवश्यकतानुसार दिये जायें।

(3) पाठ्य पुस्तक भारी और बोझिल न हो।

(4) कथन की प्रामाणिकता हो।

(5) भाषा सरल एवं साहित्यिक हो।

(6) विषय सुव्यवस्थित, वर्गीकृत तथा सुचारु रूप से निबद्ध हो।

(7) अपेक्षित सारिणी का भी ध्यान रखा गया हो।

(8) उत्थान तथा पतन का लेखा चित्रात्मक हो।

(9) अनुरूप तथा सरल उद्‌गम हो।

(10) राज्यों के विस्तार तथा विजयदर्शी मानचित्र हों।

(11) सुवर्गीकृत अभ्यास हों, जिनमें क्रियात्मक प्रश्न हों।

पाठ्य विवरण : उप-अध्ययन की सुविधा के लिए बनाया गया एक प्रकार का पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम पाठ्य विवरण कहलाता है। इसमें प्रत्येक विषय की मात्रा को कक्षानुसार पहले से ही क्रमानुसार बांट लिया जाता है। पाठ्यक्रम साधारणतया शिक्षा विभाग द्वारा तैयार किया जाता है। उसमें प्राइमरी, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर के लिए निर्धारित विषयों की मात्रा विस्तारपूर्वक निश्चित की जाती है। प्रत्येक विषय को पढ़ाये जाने का ब्योरेवार क्रमानुसार कार्यक्रम प्रत्येक कक्षा के लिए प्रत्येक स्कूल अपनी सुविधानुसार बांटकर रखता है। इससे विद्यार्थियों और शिक्षकों को विषय की मात्रा और विस्तार की जानकारी पहले से ही हो जाती है। पाठ्य विवरण तैयार करने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता है :

(1) विषय को हृदयंगम करने के लिए छात्रों का मानसिक विकास, क्षमताएं तथा अभिरुचियां,

(2) स्तर अथवा आयु, जहां से किसी विषय का अध्यापन प्रारंभ किया जा सकता है,

(3) स्कूल-जीवन के वर्ष, जिनमें विषय को बांटा जाना है, और

(4) प्रत्येक वर्ष के लिए पाठों एवं विषयों का क्रम।

पाठ्येतर कार्यकलाप : आधुनिक शिक्षाविदों का दृष्टि-कोण पाठ्येतर क्रियाकलापों के प्रति आज बदल गया है। यह समझा जा रहा है कि स्कूल का काम केवल पढ़ने, लिखने, और गणित के अनुदेश देना ही नहीं, वरन् कल के नागरिक तैयार करना होता है। बालक के संपूर्ण मन, शरीर और आत्मा के समन्वित विकास पर ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है। पाठ्यचर्या का काम अभी तक एकांगी रहा है। इस कमी को समय-विभाग (टाइम टेबल) के अंतर्गत न किये जानेवाले सभी पाठ्येतर क्रिया कलापों के द्वारा दूर किया जा सकता है, जैसे, विद्यार्थी-परिषद,

स्कूल-सभा, शैक्षिक भ्रमण, हाबी, स्कूल-प्रकाशन, स्कूल-पत्रिका, क्लब और सोसाइटी, खेल और एथलेटिक्स, बालचर, गर्ल गाइड्स, वाक् प्रतियोगिता, संगीत आदि।

इन क्रियाकलापों से छात्रों में अच्छी आदतों, उच्च आदर्शों और सच्चरित्रता का उद्भव और विकास होता है। उसे सामाजिक सामंजस्य, नागरिक प्रशिक्षण, नैतिक प्रशिक्षण, अवकाश का सदुपयोग, नेतृत्व, स्कूल हित, सक्षमता एवं अभिरुचि-अन्वेषण, किशोर कालीन अभिरुचियों एवं सहज प्रवृत्तियों के स्वस्थ विकास के अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। छात्र के सामाजिक जीवन के विकास और नियंत्रण का इनसे अधिक अच्छा और कोई माध्यम नहीं हो सकता है। इन कार्यकलापों के द्वारा आत्माभिव्यक्ति, आत्म-बोध और वास्तविक शिक्षा का मार्ग खुलता है। ये कार्यकलाप छात्रों की स्वतःस्फूर्त अभिरुचियों से उत्पन्न होने के कारण स्कूल की पाठ्यचर्या को समृद्ध करते हैं और उन्हें शक्ति देते हैं।

स्थिर पाठ्यचर्या में प्रज्ञात्मक अभ्यास पर ही बल दिया जाता है और संवेगात्मक दिशा की उपेक्षा होती है, अतः सहयोग, बलिदान, सामाजिक स्वनियंत्रण और नागरिक आदर्शों जैसे नैतिक गुणों का विकास नहीं हो सकता। इससे यह बात सिद्ध होती है कि ये कार्यकलाप किसी प्रकार की सनक नहीं हैं, वरन् स्कूली कार्यक्रम के आधारभूत अंग हैं। इनको पाठ्येतर कहा जाता है, किंतु वास्तव में ये निस्संदेह सह-पाठ्यचर्यात्मक हैं। फिर भी इन्हें पाठ्येतर कहने का एक कारण यह है कि इन क्रियाकलापों की उपलब्धियों की नाप-जोख ठीक-ठीक नहीं की जा सकती। दूसरे, अध्यापकों का दृष्टिकोण भी इस संबंध में शैक्षिक ही रहता है, वे परीक्षा पर ही बल देते हैं। तीसरे, अभिभावक भी इन्हें निरर्थक समझते हैं। उनके लिए पढ़ने, लिखने तथा गणित का ही महत्त्व सर्वोपरि है। फिर भी पाठ्येतर और सह-पाठ्यचर्यात्मक क्रियाकलापों का अंतर धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। आज स्कूल के कार्यक्रम में छात्रों के प्रज्ञात्मक, सामाजिक, नैतिक, संवेगात्मक तथा शारीरिक विकास पर ही जोर दिया जाता है।

पियर्सन, चार्ल्स हेनरी (1830-94) : इंगलैंड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और इतिहासकार। उनकी शिक्षा ओक्सफोर्ड में हुई थी। वे लंदन के किंग्स कालेज में इतिहास के अध्यापक रहे और उस समय फ्रेडरिक डेनिसन मौरिस का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् 1867 से 1871 तक कैंब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में वे आधुनिक इतिहास के प्राध्यापक रहे।

सन् 1871 में स्वास्थ्य बिगड़ जाने की वजह से वे आस्ट्रेलिया चले गये। वहां उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। वे विक्टोरिया-राज्य में 1878 से 1892 तक संसद-सदस्य और 1886 से 1890 तक शिक्षा सचिव रहे। सन् 1878 में उन्होंने विक्टोरिया राज्य की प्राथमिक शिक्षा पर एक विशद् रिपोर्ट तैयार की और शिक्षा-सचिव के रूप में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के प्रचार प्रसार में अत्यंत महत्त्वपूर्ण काम किया। उन्होंने तकनीकी विद्यालयों की स्थापना की दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया और अनेक शिक्षा-सुधारकों की आवश्यकता पर जोर दिया, जो आगे चलकर इंग्लैंड में अमल में लाये गये। सन् 1892 में वे इंग्लैंड लौट गये और वहां उन्होंने अपनी विख्यात पुस्तक 'राष्ट्रीय जीवन तथा स्वभाव' का प्रकाशन किया। यह पुस्तक आस्ट्रेलिया के उनके अनुभवों पर आधारित थी और इसमें समाजवाद, समाज-व्यवस्था का तिरोधान, मौलिक प्रतिभा का अभाव तथा एशिया और अफ्रीका की बढ़ती हुई आबादी से उत्पन्न दुर्दशा आदि का विशद् अध्ययन प्रस्तुत किया गया था।

पुनःस्मरण : स्मरण-शक्ति का तीसरा घटक पुनःस्मरण होता है। अर्थात् एक विद्यार्थी पूर्व-अधिगम को, स्थिति पहचानकर पुनः प्रस्तुत कर देता है। एक बालक को, जो पहली कक्षा में ही पढ़ता है, अगर अंग्रेजी की गिनती बीस तक पूरी तरह से याद करा दी जाये, तो उसी वक्त, वह बीस की गिनती को सरलता से सुना सकता है। लेकिन यदि यही बीस तक की गिनती चार या पांच दिन बाद, बिना लगातार अभ्यास के पूछी जाये तो वह सभी अंकों को अंग्रेजी में न बता सकेगा। यदि उसने 15 तक गिनती सुना दी, तो उसका पुनःस्मरण 0 प्रतिशत नहीं होगा। इसलिए कि उन संख्याओं का अभिज्ञान उसे अवश्य है। इसी प्रकार हर किसी शब्द के अर्थ का अभिज्ञान तो वह कर लेता है, परंतु पुनःस्मरण नहीं कर पाता। अतः अभिज्ञान सदा ही पुनःस्मरण से अधिक होता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पुनःस्मरण नवीन कल्पनाओं को भी जन्म दे सकता है। प्रत्येक प्रकार की भाषा तथा ज्ञान के सीखने में पुनःस्मरण का योगदान बहुत अधिक होता है। यह पुनःस्मरण-शक्ति प्रत्येक बालक में भिन्न-भिन्न होती है। अभ्यास से इस शक्ति को परिपुष्ट एवं दृढ़ किया जा सकता है।

पुराकथा : पुराकथा को प्रतीकोपाख्यान, देवकथा या मिथकशास्त्र भी कहते हैं। यह लोककथा तथा वीरगाथा मे भिन्नहोती है। यह धार्मिक चमत्कारपूर्ण कृत्यों से किसी न किसी रूप में संबंधित होती है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के उद्धरण के अनुसार, "पुराकथा एक सच्ची कहानी है; क्योंकि यह एक पवित्र कहानी होती है, अपने विषय के गुणों के कारण नहीं, वरन् इसलिए कि यह स्थूल दैवी शक्तियों को काम पर स्थिर करती है।" वस्तुओं की उत्पत्ति की पुराकथाओं का पाठ संप्रदाय या पंथ का अभिन्न अंग होता है; क्योंकि यह स्वयं एक पंथ होता है और उन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक बनाता है, जिनके लिए यह पंथ चलाया जाता है, जैसे जीवन-रक्षा और उसकी वृद्धि। इसका पाठ वर्ष के निश्चित दिनों एवं घड़ियों में होता है, जिससे नवयुवकों में सृष्टि की उत्पत्ति का ज्ञान हो सके और दूसरे, वे यह भी जान सकें कि सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में उनकी जाति के लोगों की क्या धारणा थी। सांस्कृतिक दृष्टि से पुराकथाओं के आधार पर ही एक संस्कृति अपने को दूसरे से बढ़ा-चढ़ाकर सिद्ध करती है। शैक्षिक दृष्टि से पुराकथा एक ऐसी कहानी है, जिसका नायक पशु, मनुष्य तथा ईश्वर होता है। उसका नायकत्व इस बात से सिद्ध होता है कि वह जीवनयापन की कला का ज्ञान मनुष्य को देता है। पुराकथाओं के स्रोत का कोई पता नहीं है। ये मौतिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती हैं।

पुस्तकालय : बालकों के ज्ञानवर्धन की दिशा में जिन उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है, उनमें पुस्तकालय का प्रमुख स्थान है। पुस्तकालय में पढ़ने का उद्देश्य केवल परीक्षा की तैयारी ही नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य तो बालकों में अध्ययन की रुचि उत्पन्न करना है। वही अच्छा विद्यालय और वही अच्छा अध्यापक समझा जाता है, जो विद्यार्थियों को उत्तम पुस्तकें चुनने तथा उन्हें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे। इन पुस्तकों को पढ़ने से विद्यार्थी में न केवल सामान्य ज्ञान की वृद्धि होती है, अपितु उनका दृष्टिकोण भी व्यापक, विस्तृत तथा सुलझा हुआ हो जाता है। स्कूल के पुस्तकालय में सब प्रकार के संदर्भ-ग्रंथ तथा सामान्य रुचि की पुस्तकें ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि विभिन्न आयु-वर्ग के छात्रों के लिए उचित रूप मे चुनी हुई पुस्तकें भी होनी चाहिए। इसमे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि पुस्तकालय को आकर्षक बनाने के लिए प्रशिक्षित और पूर्णकालिक पुस्तकाध्यक्ष तथा सुखपूर्वक एवं सुविधापूर्वक बैठने के लिए स्थान भी होने चाहिए। पुस्तकाध्यक्ष विद्यार्थियों को पुस्तकें छांटने तथा देने में सहायक होता है तथा शांत वातावरण और सुविधापूर्ण उपवेश-स्थान से विद्यार्थियों में बैठकर पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है। यदि पुस्तकालय के लिए प्रशिक्षित पुस्तकाध्यक्ष न मिल सके, तो यह कार्य किसी योग्य अध्यापक को भी सौंपा जा सकता है, जिसके पास पर्याप्त अवकाश हो और जो पुस्तकालय का उत्तरदायित्व अच्छी तरह से अपने ऊपर ले सके।

पुस्तकालय में विविध पुस्तकों के नवीनतम संस्करण, उनकी पर्याप्त प्रतियां, यात्रा-संबंधी पुस्तकें, गल्प-कथाएं, काव्य-ग्रंथ, नाटक की पुस्तकें, भूगोल की पुस्तकें, इतिहास-ग्रंथ, मनोहर कहानियां, पुराण कथाएं, धार्मिक पुस्तकें, संदर्भ-ग्रंथ, शब्दकोश, दैनिक समाचारपत्र, साप्ताहिक एवं मासिक पत्रिकाएं, विज्ञान-संबंधी पत्रिकाएं एवं पुस्तकें. कला, शिल्प तथा अन्य व्यवसाय-संबंधी पुस्तकें तथा पत्रिकाएं भी होनी चाहिए।

पुस्तकालय के लिए पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं छांटते समय उनकी बालकोपयोगिता को अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए। विद्यार्थियों को स्कूल के पुस्तकालय का उपयोग सिखाते समय उन्हें 'ओपन शैल्फ लाइब्रेरी' का इस्तेमाल भी सिखा देना चाहिए। 'ओपन शैल्फ लाइब्रेरी' स्कूल-पुस्तकालय का ही भाग होता है, जिसमें विद्यार्थी अपनी रुचि से पुस्तकें छांट सकते हैं तथा संदर्भ आदि देख सकते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट प्रबंध से पुस्तकालय में आनेवाले छात्रों को प्रोत्साहन मिलता है कि वे अपने स्थान पर बैठें, शैल्फ में से कोई भी पुस्तक निकालें और स्वयं पढ़ने लगें। पुस्तकालय का शांत वातावरण पढ़ने

तथा सोचने में बहुत सहायक सिद्ध होता है और प्रशिक्षित पुस्तकाध्यक्ष या योग्य शिक्षक की देखरेख में विद्यार्थियों की पठन-संबंधी कठिनाई दूर हो जाती है। पुस्तकालय के साथ वाचनालय की भी व्यवस्था अनिवार्य है, ताकि विद्यार्थी बैठकर अनेक प्रकार के समाचारपत्र, अधुनातन पत्रिकाएं आदि पढ़ सकें। पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने से विद्यार्थियों को देश-विदेश के प्राचीन तथा आधुनिक इतिहास की जानकारी और उनकी भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जानकारी प्राप्त होती है, जो आज की परिस्थिति में प्रत्येक प्रबुद्ध छात्र के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

पुस्तकालय के लिए पुस्तकों, समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओं का चुनाव एक व्यक्ति के उत्तरदायित्व पर नहीं छोड़ना चाहिए, अपितु इसके लिए एक चुनाव-समिति का गठन होना चाहिए, जिसमें विविध विषयों के अध्यापक हों, जो पुस्तकालय के लिए खरीदी जानेवाली पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का चुनाव करें और साथ ही जो ऐसी विभिन्न प्रकाशन-संस्थाओं से संपर्क स्थापित कर सकें, जो स्कूल-पुस्तकालयों के लिए छात्रोपयोगी पुस्तकों के नवीनतम संस्करण निकालती रहती हैं। बालकों में पुस्तक-पठन के प्रति प्रेम एवं रुचि और पढ़ने की आदत केवल पुस्तकालय बना देने से तथा चुनी हुई पुस्तकों का संपन्न संग्रह करके नहीं डाली जा सकती, बल्कि कक्षा-अध्यापक ही विद्यार्थियों में इन भावनाओं को जागृत कर सकता है। इसलिए यह वांछनीय है कि प्रत्येक अध्यापक अध्ययन करने तथा पुस्तकें पढ़ने का शौकीन हो। उसी को पहले नवीनतम छात्रोपयोगी पुस्तकें पढ़नी चाहिए और फिर बालकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके लिए शिक्षक को विभिन्न आयु-वर्ग तथा कक्षा-वर्ग के विद्यार्थियों की रुचि एवं हितों की जानकारी रखनी चाहिए। इसके लिए मनोविज्ञान एवं समाज की वर्तमान आवश्यकताओं का ज्ञान अनिवार्य है, तभी वह उचित एवं ठीक प्रकार की पुस्तक को पढ़ने का सुझाव दे सकता है।

तस्वीरों वाली पुस्तकें, पशुओं की कहानियां, मनोहर कहानियां तथा नर्सरी पद्य पुस्तकें प्रारंभिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को बहुत अच्छी लगती हैं। लंबी-लंबी मनोहर कहानियां, अद्भुत घटनाओं से भरी हुई कहानियां, साहसिक कार्यों से संबंधित विविरण, यात्रा-विविरण, काव्य तथा धार्मिक कहानियां मिडिल कक्षा के विद्यार्थियों के लिए होती हैं। उच्चतर कक्षाओं के विद्यार्थियों की रुचि साहसिक कहानियों, रोमांचक कहानियों, जीवनियों, इतिहास, विज्ञान तथा वैज्ञानिक आविष्कार-संबंधी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों, निबंध-पुस्तकों तथा सामान्य ज्ञान की पुस्तकों की ओर होती है। इतना होने पर भी ऐसा कोई कठोर नियम नहीं, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक आयु-वर्ग के छात्रों के लिए अमुक प्रकार की पठन-सामग्री अनिवार्य है; क्योंकि प्रत्येक छात्र की रुचि किंहीं विशिष्ट प्रकार की पुस्तकों की ओर जन्मजात एवं व्यक्तिगत कारणों से हो सकती है और उसकी इस रुचि को रोका नहीं जा सकता। हां, उसमें परिष्कार की गुंजाइश जरूर होती है।

पुस्तकालय में विभिन्न विषयों पर अलग-अलग विभाग होने चाहिए और उन विषयों की पुस्तकों का सूची अंकन (कैटेलोगिंग) भी ठीक तरह होना चाहिए, ताकि पुस्तकों के चयन एवं प्राप्त करने में सुविधा हो। एक प्रशिक्षित पुस्तकाध्यक्ष को इस विषय की समुचित जानकारी होती है, फिर भी इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

पुस्तकालय का इस्तेमाल : पुस्तकालय में पुस्तकों की बड़ी संख्या होना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना वह तरीका, जिसकी सहायता से छात्रों में पढ़ने की आदत डाली जा सके। एक तरीका यह है कि अध्यापक किसी कक्षा को पुस्तकालय में ले आये। पुस्तकों की दराजें विद्यार्थियों के लिए खुली छोड़ दी जायें और कुछ पुस्तकें मेज पर भी रख दी जायें। विद्यार्थी दराजों तथा मेज पर रखी पुस्तकों को देखें, कुछ पढ़ें और स्वतंत्रतापूर्वक उन पर सोचें और अपने अध्यापक से उन पुस्तकों के बारे में, जो उन्हें अच्छी लगें, प्रश्न पूछें। इसे बौद्धिक पठन-बहलाव (इंटेलेक्चुअल ब्राउजिंग) कहते हैं। इस प्रकार विद्यार्थी पर्याप्त संख्या में पुस्तकों के संपर्क में आता है। उसकी उत्सुकता एवं रुचि जागृत होती है तथा देखी हुई पुस्तकों में से कुछ पुस्तकों का चुनाव वह अपने पढ़ने के लिए कर सकता है। विद्यार्थियों को पुस्तकें पढ़ने की शिक्षा में प्रवृत्त करने का एक और भी उपाय है कि अध्यापक विद्यार्थियों को कक्षा में कहानियों की रूपरेखा बतायें, इससे उन्हें

पूर्ण कहानी को पढ़ने की उत्सुकता एवं प्रेरणा मिलेगी। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि पुस्तकालय में एक ही पुस्तक की कई प्रतियां होनी चाहिए। विद्यार्थियों में पढ़ने की रुचि जागृत करने के लिए अध्यापक और भी बहुत से उपाय निकाल सकता है। यहां इस प्रसंग में यह सुझाव भी वांछनीय है कि प्रत्येक स्कूल अपने दैनिक कार्यक्रम में पुस्तकालय का घंटा जरूर रखें। मिडिल तथा उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए सप्ताह में कम से कम दो पीरियड 40 से 50 मिनट तक के होने चाहिए, जिनमें वे पुस्तकालय में जाकर अनिवार्य रूप से पढ़ सकें।

इस पीरियड के दौरान अध्यापक अपने छात्रों को पुस्तकालय में ले जायें और पहले से छांटी हुई पुस्तकों में से प्रत्येक विद्यार्थी को एक-एक पुस्तक दें, विद्यार्थी बैठकर चुपचाप उन पुस्तकों को पढ़ें और अध्यापक से अपनी कठिनाइयों का समाधान प्राप्त करें। मिडिल तथा उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ी हुई पुस्तक से टिप्पणियां लिखनी चाहिए। कुछ विद्यालयों और कालेजों में प्रत्येक विद्यार्थी को सत्र के आरंभ में एक पुस्तक दी जाती है, जिसका शीर्षक होता है--'मैंने क्या-क्या पढ़ा'। इसमें विद्यार्थी को पुस्तक तथा लेखक का नाम तथा संक्षिप्त रूप में पठित विषय की रूपरेखा का उल्लेख करना पड़ता है। इस प्रकार जो-जो पुस्तक वह पढ़ता है, उसका ब्योरा उसके पास लिखा हुआ रहता है। सत्र के अंत में प्रत्येक विद्यार्थी के पास अपनी पठित-सामग्री का सार तैयार हो जाता है। विद्यार्थी एक-दूसरे की पठित सामग्री के स्तर की जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं। इस तुलनात्मक पठन-पद्धति से छात्रों को अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़ने का उत्साह मिलता है।

विविध प्रकार की पुस्तकों की तुलना से बालकों में पढ़ने का उत्साह बढ़ता है। इसके लिए पहले से ही नये ढंग की प्रश्नावलियां तैयार कर ली जानी चाहिए। इनमें पुस्तकों के शीर्षक, लेखक तथा पठित विषय-सामग्री के संबंध में विभिन्न प्रकार के प्रश्न होते हैं। इससे विद्यार्थी को अनेक पुस्तकों के विषय में जानकारी मिलती है। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को संदर्भ-ग्रंथों तथा शब्दकोषों का अधिक से अधिक लाभ उठाने की दिशा में प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था से ही विद्यार्थी को पुस्तकों का भरपूर लाभ मिल सकेगा।

पेस्टालोजी, हेनरीख (1746-1827) : स्विटजरलैंड के इस प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री का जन्म सन् 1746 में ज़ूरिख में हुआ था। वे शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के जन्मदाता और स्कूल और घर के परस्पर संबंध की अनिवार्यता के आदर्श को प्रस्तुत करनेवाले के रूप में जाने जाते हैं। स्कूल और घर के संबंध की अनिवार्यता पर बल देने का कारण कदाचित् यह रहा कि पांच वर्ष की अवस्था में उनके पिता का निधन हो गया था, जिससे मां के दुलार में ही उनका पालन-पोषण हुआ। इससे उनमें दया, क्षमता जैसे गुणों का तो विकास हुआ पर पुरुष-भावना का ह्रास हो गया। इस त्रुटि को उन्होंने देश-विदेश के भ्रमण से पूरा कर लिया। अपने स्कूल-जीवन में अपनी आत्मत्याग की प्रवृत्ति के कारण वे अपने शिक्षकों के स्नेहभाजन बने, किंतु सहपाठी उन्हें 'हेरी ओडिटी' नाम से पुकारा करते थे।

स्विटजरलैंड विश्वविद्यालय में पहुंचकर वे सुधारवादियों में सम्मिलित हो गये और मेमोरियल पत्रिका के लिए लेख लिखने लगे। इसके लिए उन्हें कारावास की सजा भी भुगतनी पड़ी। अत: किसी सरकारी नौकरी के लोभ को छोड़कर उन्होंने बर्न में खेती का काम शुरू कर दिया। वे प्रकृतवादी जीवन व्यतीत करना चाहते थे। इसमें उन्हें चाहे सफलता न मिली हो, पर फार्म पर बने अपने घर 'न्यू होफ' में किसानों के चौबीस बच्चों की देखभाल के लिए एक संस्थान स्थापित करने में वे अवश्य सफल हुए। यहां उन्हें रूसो की प्राकृतिक शिक्षा के सिद्धांत की अनेक त्रुटियां अनुभव हुईं, जिन्हें दूर करने के लिए उन्होंने बच्चों में कातने, बुनने, खेती करने और अन्य गृह-कार्यों की शिक्षा देने का कार्यक्रम चलाया। बाद में, धन के अभाव में उन्हें यह संस्था बंद कर देनी पड़ी। आगे के अठारह वर्ष उन्होंने बड़ी गरीबी में बिताये। उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और अवकाश के समय सामाजिक सुधार अथवा शिक्षा पर साहित्य-सृजन किया।

1798 में स्विटजरलैंड पर अधिकार करके फ्रांसीसी अफसरों ने उन्हें 'डाइरेक्टर' नामक पत्रिका चलाने का आदेश दिया और स्टाज में अनाथ बालकों के लिए एक स्कूल खोलने की भी आज्ञा दे दी। अब पेस्टालोजी को अपने शिक्षा-सिद्धांतों के प्रयोग का अवसर प्राप्त हुआ।

वहां से अलग होने के बाद उन्होंने 'बुर दोर्फ' के एक स्कूल में नौकरी कर ली। इस स्कूल में उन्हें शिक्षा के मनोविज्ञानीकरण का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। फिर उन्होंने नौकरी छोड़कर बर्न में अपना स्कूल चलाया, परंतु सरकार बदल जाने से वह भी उनसे छिन गया और वे स्थायी रूप से यरदन आ गये। यहां हरबर्ट और फ्राबेल भी उनकी शिक्षा-प्रणाली से आकर्षित होकर उनके पास आ गये। उन्होंने शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए एक संस्थान खोला और वहां अनेक प्रयोग किये। दूसरे देशों से भी विद्यार्थी यहां प्रशिक्षण के लिए आने लगे। किंतु उनकी प्रसिद्धि के दिन अधिक नहीं रहे। वहां शिक्षकों तथा सहकारियों में परस्पर असंतोष और मनमुटाव बढ़ने लगा और 1824 में उन्हें यह संस्थान भी बंद कर देनी पड़ी। अपने जीवन के शेष तीन वर्ष उन्होंने न्यूहोफ में काटे।

पेस्टालोजी के शिक्षा-सिद्धांत रूसो के प्रकृतवादी दर्शन पर आधारित हैं। वे भी बालक की सहज क्षमता और सहज अभिरुचियों पर बल देते हैं, परंतु स्कूल और शिक्षक को उसका बोध कराकर प्रशिक्षण में वस्तुनिष्ठ विधि का सूत्रपात उन्होंने ही किया। वे रूसो की प्रकृतिवादी दृष्टि और आदर्शवाद में यह और जोड़ देते हैं कि मनुष्य को पशुप्रकृति के साथ-साथ मानसिक और नैतिक शक्तियां भी ईश्वर से प्राप्त हुई हैं। अत: ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का समुचित उपयोग और विकास ही उसके व्यक्तित्व का विकास है। भूल-सुधार विधि पर सब कुछ छोड़ देने से सरकंडे ही उगते हैं। अत: मनुष्य जाति को सुसंस्कृत बनाने का काम प्रकृति के हाथों में न होकर प्रशिक्षण-कला के द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा का लक्ष्य, संपूर्ण मनुष्य की शक्तियों का प्राकृतिक, सामंजस्यपूर्ण और प्रगतिशील विकास है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं :

(1),दि ईवनिंग आवर आफ ए हरमिट (1780),

(2) लियोनार्ड एंड गरट्यूड (1781-87),

(3) रिसर्च इनटु दि कोर्स आफ नेचर इन दि डेवेलपमेंट आफ ह्यूमन रेस (1797), तथा

(4) हाउ गरट्यूड टीचेज हर चिल्ड्रन (1801)।

प्रकृति-अध्ययन : आजकल जिस भौतिक पर्यावरण के अध्ययन की चर्चा की जाती है, उससे पहले प्रकृति-अध्ययन की संकल्पना का प्रचार था, जिसमें क्षेत्र-यात्राएं, प्रकृति के बीच परिभ्रमण आदि कार्यक्रम होते थे। इन यात्राओं तथा परिभ्रणों से बालकों को प्राकृतिक दृश्यों तथा वस्तुओं के पर्यवेक्षण का अवसर मिलता था, जिससे उनमें सौंदर्यबोधात्मक भावना का जन्म होता था और ऐसा समझा जाता था कि प्राथमिक विद्यालय के बालक इस योग्य होते हैं कि उनमें सौंदर्य के गुण-दोष विवेचन की क्षमता का जन्म तथा विकास हो सकता है। परंतु वैज्ञानिकों का यह विश्वास था कि बालक किसी वैज्ञानिक तथ्य अथवा विषय को समझाने में असमर्थ होते हैं और कदाचित यही एक मुख्य कारण है, जिससे पाठ्यचर्या में प्रकृति अध्ययन के विषय का समावेश संतोषजनक रूप से नहीं हो सका; क्योंकि स्कूल के अध्यापक इस कार्य को अपने हाथ में लेने को तैयार नहीं थे।

विभिन्न पृष्ठभूमियों में पले बालकों के साथ काम करनेवाले अध्यापकों के मार्ग में जो समस्याएं तथा कठिनाइयां उपस्थित हुईं, उनके परिणामस्वरूप प्रकृति-अध्ययन के मूलभूत कार्यक्रम में कुछ हेरफेर हुए। पहले अमूर्त रूप से प्रकृति का अध्ययन किया जाता था, अब उसकी जगह विशिष्ट प्राकृतिक पदार्थ को अध्ययन का विषय बनाया जाने लगा। और परिवर्तन के परिणामस्वरूप इसे वस्तुनिष्ठ पाठ की संज्ञा दी गयी, जिससे बालकों में पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण की योग्यता तथा कुशलता का विकास हो सके। पुष्प जैसे प्राकृतिक पदार्थों के प्रत्येक सूक्ष्म खंड को काट-काटकर उनका अध्ययन किया जाता था।

आजकल के प्राथमिक विद्यालय में भौतिक पर्यावरण को समझने के लिए एक समन्वयात्मक तथा कार्यात्मक उपगम का अभ्यास कराया जाता है। बालक तथा बालिकाओं को यह समझने में सहायता दी जाती है कि उनके संबंध में उनके भौतिक पर्यावरण की कार्य-प्रणाली किस प्रकार की होती है; क्योंकि भौतिक पर्यावरण के अपने तत्त्व ऐसे होते हैं, जिनका अध्ययन नहीं किया जा सकता, परंतु मानव के साथ उनके संबंधों की दृष्टि से उनका अध्ययन सरलता से किया जा सकता है। बालकों से निम्नलिखित प्रश्नों के अनुभवात्मक उत्तर प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे अभ्यास के कारण बालक में व्यवच्छेद बुद्धि का उदय होकर उसमें सौंदर्य के गुण-दोष-विवेचन या प्रशंसा की योग्यता का विकास हो जाता है:

(1) हमारे इधर-उधर फैली हुई पृथ्वी पर क्या-क्या होता है?
(2) मौसम किस तरह का है?
(3) आकाश में हमें क्या दिखायी देता है?
(4) पशु तथा वनस्पतियों का आपस में क्या संबंध है?
(5) पौधे कैसे जीवित रहते हैं?
(6) पशु जैसे जीवधारी कैसे जीते हैं?

ये या ऐसे ही और प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ते समय बालकों में वैज्ञानिक बुद्धि का उदय होता है और उनमें अंततः शोध-बुद्धि, परिकल्पना बनाने की योग्यता, प्रयोगात्मक क्रियाविधि की योजना बनाने की योग्यता, समस्या की पहचान तथा उसकी स्थापना करने की क्षमता, परिणाम निकालने की योग्यता, नियम-विनियोग की योग्यता, पर्यवेक्षण के विषय में लिखना तथा रिपोर्ट तैयार करना आदि अनेक बौद्धिक गुणों का प्रकाशन होता है।

प्रत्यक्ष शिक्षण-विधि : यह प्रत्यक्ष अनुवाद-विधि से भिन्न है। यह विदेशी भाषा के पढ़ाने में बड़ी लाभदायक और प्रभावशाली सिद्ध हुई है। इसमें बोलने और वार्तालाप का प्रयोग किया जाता है। यह विधि अनुवाद-विधि की प्रतिक्रियास्वरूप प्रयोग में आयी है और अंग्रेजी पढ़ाने में इसका बहुत सफल प्रयोग रहा है। युवा वर्ग नयी भाषा बोलने में बड़ी रुचि लेता है। इस स्वाभाविक अभिरुचि का ही इस विधि में लाभ उठाया जाता है और किसी भाषा को सीखने का सबसे अच्छा तरीका भी यही है कि उसे सुना और लगातार बोला जाये। प्रत्यक्ष शब्द स्वयं इस मूल सिद्धांत का द्योतक है कि प्रयुक्त किये जानेवाले शब्दों और वाक्यांशों का वस्तु, क्रिया और विचार से, जिनकी ओर वे संकेत करते हैं, सीधा संबंध होना चाहिए। इन दोनों के बीच में मातृभाषा का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इस प्रकार बोलने और सुनने के बीच वस्तु, क्रिया और विचार के प्रत्यक्ष सामने होने से एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है कि अध्येता उस नयी भाषा में सोचने की ओर बढ़ता है। इस प्रकार जब अध्येता किसी भाषा के सीखने में रुचि लेने लगता है, तो शिक्षक का आधा काम पूरा हो जाता है। अच्छे अभ्यास के द्वारा विद्यार्थी निश्चित समयावधि में ही आवश्यक व्याकरण भी प्रसंगवश ग्रहण कर लेता है। इस विधि की कुछ सीमाएं भी हैं। अमूर्त विचार और व्याकरण की अनियमितताएं मातृभाषा के प्रयोग के बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। दूसरे, जो इस विधि में पारंगत न हों, उनके लिए यह असफल विधि सिद्ध होगी। तीसरे, एक सुव्यवस्थित पाठ-योजना की तैयारी और अध्यापन के उपयुक्त साधन इस विधि की सफलता के लिए नितांत आवश्यक हैं।

प्रबंध समिति : विद्यालय की स्थापना तथा उसके कार्य को सुचारु रूप से चलाने तथा अन्य साधन जुटाने में प्रबंध समिति का हाथ सबसे अधिक होता है। प्रबंध समिति विद्यालय के लिए भवन बनवाने, कर्मचारियों, शिक्षकों तथा मुख्याध्यपकों की नियुक्ति करने तथा धन जुटाने के लिए उत्तरदायी होती है। यदि प्रबंध समिति योग्य न हो, तो विद्यालय का कामकाज ठीक तरह से नहीं चल सकता।

प्रबंध समिति में एक मुख्य प्रबंधक (मैनेजर) होता है। विद्यालय-व्यवस्था के कार्य जैसे भवन-निर्माण, कर्मचारियों की नियुक्ति आदि उसी की राय के अनुसार होते हैं, अर्थात् प्रबंधक साधन जुटाता है तथा मुख्याध्यापक उसको साकार रूप देता है। यह कहना ठीक होगा कि मुख्याध्यापक आंतरिक व्यवस्था को चलाता है और प्रबंधक बाह्य व्यवस्था को।

इस महत्त्वपूर्ण पद पर हर किसी को नहीं बिठा देना चाहिए। चयन करने में यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रबंधक किसी स्थानीय राजनीतिक गुट का न हो, अन्यथा वह विद्यालय को टुच्ची राजनीति का अड्डा बना देगा और शिक्षण का कार्य ठीक से नहीं चल पायेगा। अनपढ़ या गंवार व्यक्ति को केवल धन के लालच में अथवा किसी स्वार्थवश प्रबंध-समिति का प्रबंधक नहीं बना देना चाहिए। ऐसा व्यक्ति शिक्षा और शिक्षक के मूल्य को समझ नहीं पायेगा। प्रबंधक अनुभवी तथा शैक्षिक विकास में रुचि लेनेवाले व्यक्ति को ही बनाना चाहिए, जो विद्यालय के कार्यों में अधिक समय दे सके।

निजी विद्यालयों की प्रबंध समितियों का रूप आजकल काफी विकृत हो चुका है। बेरोजगारी, जातिवाद, आदि के कारण प्रबंधक लोग अपने संबंधी तथा मित्रों को स्कूलों में नियुक्त कर लेते हैं, चाहे वे अयोग्य ही क्यों न हों। वे विद्यालय को धनोपार्जन का साधन समझते हैं

और प्रायः अध्यापकों से समय-समय पर रूपया ऐंठते रहते हैं। विरोध करने पर वे उस अध्यापक को नौकरी मे निकाल देते हैं। प्रबंध समिति में आपस में मनमुटाव नहीं होना चाहिए। इससे विद्यालय पर दुष्प्रभाव पड़ता है और शिक्षणकार्य सुचारु रूप से नहीं चल पाता।

प्रोजेक्ट विधि : यह एक नवीन अमरीकी अध्यापन-विधि है। डाक्टर क्लिपेट्रिक, मिस वेल्स, डा० कोलिन्स और प्रो० स्टीवेंसन ने इसका विकास किया है। प्रो० स्टीवेंसन के शब्दों में, प्रोजेक्ट एक समस्यापूर्ण कार्य है, जो अपने स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण किया जाता है। समस्यापूर्ण का अर्थ है उद्देश्यपूर्ण क्रियाशीलता। यह विधि शिक्षा के नये आयामों के अनुरूप है। इसमें बच्चों की अनुकरण प्रकृति समाज और स्कूल के बीच की खाई पाट सकती है। उदाहरण के लिए, डाकखाने का खेल डाकखाना प्रोजेक्ट के लिए चुन लिया जाता है। यह चुनाव बालकों के बहुमत से ही होता है। यह एक समस्या है। बालक समस्या की पूर्ति के लिए तत्परता से संलग्न हो जाते हैं। रचनात्मक कार्य के लिए सामग्री जुटाते हैं। डाकखाने का इतिहास, उसका कार्य, मनीआर्डर, वी० पी० पी०, रजिस्ट्री बीमा आदि के फार्मों की बातें खोजी और पढ़ी जाती हैं। वे ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करना सीख जाते हैं। प्रोजेक्ट संबंधी जो बातें वे देखते और करते हैं, उन्हें अपनी सादा नोट-बुक और प्रोजेक्ट-पुस्तिका में लिखते जाते हैं। इस कार्य में सप्ताह, मास और यहां तक कि पूरा वर्ष भी लग जाता है। शिक्षक केवल उनका सहायक मात्र होता है। इस विधि की उपयोगिता के बारे में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं:

(1) इसमें प्रत्येक भागीदार होता है,

(2) सत्य की खोज में उसकी बुद्धि के साथ-साथ तर्क-शक्ति का भी विकास होता है,

(3) विद्यालय में ही वह वास्तविक जीवन का भी अनुभव कर लेता है,

(4) पाठ स्वाभाविक और प्राकृतिक रीति से उसके सम्मुख उपस्थित होता है,

(5) समस्यापूर्ति की तत्परता से ज्ञानोपार्जन की गति भी तीव्र होती है, और

(6) रटने की प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं मिलता।

इस विधि के इन दोषों को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता:

(1) शिक्षण कक्षा के बाहर दिये जाने से विद्यालय की नियमानुसार कार्यशैली स्थिर नहीं रह पाती है,

(2) कोई पाठ्य विषय आवश्यकता से अधिक स्थान प्राप्त करता है और कोई अत्यधिक बोझिल हो जाता है,

(3) सब विषय इस विधि से नहीं पढ़ाये जा सकते,

(4) इसमें अभ्यास का स्थान नहीं रहता,

(5) शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बनी रहती है, और

(6) समय भी अधिक लगता है।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए दूसरी विधियां भी काम में लायी जा सकती हैं। डा० आदम्स ने इन दोषों को दूर करने के लिए केवल कुछ ही प्रोजेक्ट बनाने का सुझाव दिया है। अधिक लाभकारी यह है कि प्रत्येक विषय के कुछ प्रोजेक्टों पर काम अवश्य हो। स्कूल पत्रिका, देश का प्राकृतिक मानचित्र, भूगोल-कक्षा का निर्माण, उद्यान, खेल का मैदान एवं संग्रहालय का निर्माण तथा कक्षा के कमरे की सफाई आदि ऐसे ही कुछ प्रोजेक्ट हो सकते हैं।

प्लेटो (428-384 ई० पू०) : प्लेटो का जन्म 428 ई० पू० यूनान के एक धनी परिवार में हुआ था। उन्हें बाल्या-वस्था से ही सभी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं। उन्होंने सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी और यूनान के श्रेष्ठ सैनिकों में उनकी गिनती थी। सुकरात के संपर्क में आने के बाद उनके जीवन में एक महान परिवर्तन आया। सुकरात से वार्तालाप का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे सुकरात के भक्त बन गये। एक स्थान पर प्लेटो ने कहा भी है, "मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूं कि उसने मुझे यूनान में जन्म दिया, दास न बनाकर स्वतंत्र बनाया, स्त्री न बनाकर पुरुष बनाया, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुझे सुकरात के युग में पैदा किया। जब वे 28 वर्ष के थे, तब सुकरात को मृत्युदंड दिया गया। इसका उन्हें बड़ा विषाद हुआ और उन्होंने लोकतंत्र को बकवास समझा। उनके अनुसार जब तक मनुष्य शिक्षा प्राप्त करके हर बात को सही ढंग से नहीं समझेगा, तब तक लोकतंत्र

असफल ही रहेगा। उन्होंने नये मार्ग ढूंढ़कर आदर्श समाज के निर्माण की सिफारिश की। धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज, राजनीति आदि पर उनके विचार उसकी पुस्तक 'रिपब्लिक' में मिलते हैं। यह पुस्तक वार्तालाप की शैली में लिखी हुई है। प्लेटो के अनुसार आदर्श व्यक्ति का होना आदर्श समाज में अनिवार्य है। व्यक्ति के अनुरूप ही शासन होता है। व्यक्ति के चरित्र-परिवर्तन के साथ शासन भी परिवर्तित हो जाता है। अतः शासन में सुधार करने के लिए व्यक्ति का सुधार अपेक्षित है।

प्लेटो के अनुसार व्यवहार के तीन स्रोत हैं—इच्छा, भावना और ज्ञान। इनका संतुलित विकास किस प्रकार से हो, यह प्रश्न टेढ़ा है किंतु इसे हल करना आवश्यक है; क्योंकि किसी भी एक की कमी होने से संतुलित विकास संभव नहीं है।

प्लेटो के शिक्षा-सिद्धांत आदर्श समाज का निर्माण करने के लिए हैं। उनके अनुसार मनुष्य का विकास विवेक के लिए होना चाहिए और लोकतंत्र का अर्थ सबकी उन्नति और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा शासन है। बहुमत को वे व्यर्थ मानते थे। उन्होंने व्यायाम और संगीत में संतुलन स्थापित करके शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाया। उन्होंने मनोविज्ञान को दर्शन से बिल्कुल अलग बताया। वे गणित को दर्शन का एक अंग मानते थे। उनके अनुसार व्यक्ति गणित के द्वारा अपने व्यवहार में ठीक रह सकता है। दर्शन के अध्ययन द्वारा उन्होंने व्यक्ति को विवेकशील बनाया।

फुकुजावा, युकिची (1834-1900) : युकिची फुकुजावा एक जापानी अध्यापक, लेखक एवं प्रकाशक थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी में जापान के आधुनिकीकरण के अग्रगण्य समर्थकों में से एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। 15 दिसंबर, 1834 को ओसाका के एक सैनिक परिवार में उनका जन्म हुआ था। उनका घर निम्न कोटि का था। कुछ विद्वानों के मत में उनकी जन्मतिथि 10 जनवरी 1835 है। वे ओसाका के एक विद्यालय में उच्च तौर-तरीके तथा उच्च भाषा सीखने के लिए भर्ती हुए और उन्होंने औषधविज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की। इसी दौरान उनका परिचय पश्चिमी सभ्यता से हुआ और वे आधुनिकीकरण के पक्के हिमायती बन गये। उन्होंने 1860, 1861 और 1863 में तीन बार अमरीका तथा यूरोपीय देशों की यात्रा की। जापान लौटकर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें उन्होंने पश्चिमी तौर-तरीकों तथा संस्थानों का वर्णन किया।

अपनी सीधी तथा जोरदार भाषा में फुकुजावा ने जापानी लोगों से कहा कि वे अपनी राजनीति तथा समाज को आधुनिक ढांचे में ढालें। उन्होंने लगभग 100 पुस्तकें लिखीं, जिनमें उन्होंने अपने देश के लोगों से अपील की कि वे सरकार में संसदीय प्रणाली चलायें, लोकप्रिय शिक्षा को प्रोत्साहन दें, अपनी भाषा में सुधार करें तथा स्त्रियों को मौलिक अधिकार दिलाने का प्रयत्न करें। उन पुस्तकों में उन्होंने अन्य मामलों पर भी पर्याप्त रूप से चर्चा की। 1871 में उन्होंने कीयो विश्वविद्यालय की स्थापना की, जहां छात्रों के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी, जिसके वे स्वयं समर्थक थे और जहां सरकार का प्रभुत्व नहीं था। 1882 में उनका समाचारपत्र "जिजि शिंपू" प्रकाशित हुआ। सरल भाषा में छपनेवाला तथा अपने देश के लोगों को प्रबुद्ध करनेवाला यह समाचारपत्र कई वर्षों तक बहुत प्रभावकारी रहा। अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे निजी प्रयत्नों द्वारा अपनी आस्थाओं तथा मान्यताओं की उन्नति तथा प्रगति पर बल देते रहे। अपने जीवन-काल में उन्होंने कोई सरकारी पद स्वीकार नहीं किया। फुकुजावा के प्रयत्नों से अनेक देशों के भावी नेताओं के विचार अपने देशों को आधुनिक बनाने की दिशा में प्रभावित हुए।

फुटबाल : इस खेल का आदि स्वरूप सासर का था, जिसका जन्म 11वीं शताब्दी में इंग्लैंड में हुआ था। कुछ इतिहासज्ञ ऐसा भी मानते हैं कि इसका जन्म स्पार्टा (यूनान) में हुआ। स्पार्टा नगर से इस खेल को रोम-निवासियों ने ग्रहण किया, परंतु ईसवी सन् के प्रारंभ में ही रोम के एक शासक ने इस खेल पर प्रतिबंध लगा दिया था।

पहले यूनानवालों ने फिर रोम तथा यूनानवासियों ने ओलिंपक खेल आरंभ किये, परंतु उन खेलों में फुटबाल का नाम नहीं है। अतः यह अनुमान लगाया गया कि इस खेल पर बाद में प्रतिबंध लगा दिया गया होगा। एक इतिहासकार की मान्यता के अनुसार यह खेल पहले चीन में खेला जाता था। इस मान्यता का आधार शब्द

की व्युत्पत्ति है। परंतु चीनी कला तथा साहित्य से इस मत की पुष्टि नहीं होती। इस खेल का जन्म अंग्रेज जाति में हुआ। 12वीं शताब्दी में इसका नाम फुटबाल रखा गया। हेनरी द्वितीय ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया और यह प्रतिबंध लगभग 400 वर्षों तक रहा। फिर भी लोग लुका-छिपी यह खेल खेलते थे। इसी प्रकार यह खेल पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहा। लेकिन जब बंदूकों और तमंचों का आविष्कार हुआ और धनुर्विद्या का लोप हुआ, तो प्रजा को फुरसत मिली और जेम्स ने इस पर से प्रतिबंध हटा दिया। फिर तो द्वीपों में, नगरों में तथा कस्बों में फुटबाल की टीमें बन गयीं।

11वीं शताब्दी के आरंभ से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक फुटबाल ठोकर मारने का ही खेल रहा। पहले गेंद को सिर्फ गोल-रेखा के उस पार पहुंचाना ही मुख्य काम होता था, बाद में 'गोल पोस्ट्स' तथा 'क्रास बार्स' भी अस्तित्व में आये, लेकिन गेंद को उठाकर भागने पर प्रतिबंध लगा दिया गया।.

अंग्रेजों द्वारा खेले जानेवाले फुटबाल खेल को आयरलैंड-वालों ने अच्छा नहीं समझा और इसकी शैली में कुछ परिवर्तन करके इसको ग्रहण किया, जिसे गैलिक फुटबाल के नाम से पुकारा जाता है। संभवतः यह फुटबाल का सबसे बेढंगा रूप है।

फुटबाल की दूसरी शैली का उदय तब हुआ, जब अमरीका के कालेज के विद्यार्थियों ने सासर को रगबी के साथ मिलाया और इसका एक भिन्न ही स्वरूप बन गया।

फुटबाल की तीसरी शैली का विकास 1923 में विलियम एलिस ने इंग्लैंड में किया। पहले वहां गेंद को उठाकर भागने पर प्रतिबंध था, एलिस के आगमन पर यह प्रतिबंध हटा लिया गया।

कैनेडावाले भी 'सासर और रगबी' खेलते हैं, परंतु उन्होंने अपना अलग खेल बना लिया, जो सासर और रगबी से भिन्न है और जो 'कैनेडियन फुटबाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार आस्ट्रेलियावालों ने भी इस खेल की एक नयी शैली का आविष्कार किया।

अभी कुछ वर्ष पूर्व अमरीका के युवा-समुदाय में फुटबाल के एक नये ही स्वरूप का उदय हुआ है। इसमें फुटबाल की टीम में 11 की बजाय 6 खिलाड़ी होते हैं और खेल कुछ प्रतिबंध-नियमों के अंतर्गत खेला जाता है।

इस प्रकार प्रारंभिक खेल की शाखाओं के रूप में, जो 900 वर्ष पहले इंग्लैंड में खेला जाता था, आजकल इस खेल की निम्नलिखित शैलियां प्रचलित हैं:

अमरीकी फुटबाल, छह खिलाड़ियोंवाली अमरीकी फुटबाल, आस्ट्रेलियाई फुटबाल, कैनेडियन फुटबाल, गैलिक फुटबाल, रगबी फुटबाल और सासर फुटबाल। इन सात प्रकार की फुटबाल-शैलियों में सबका अपना-अपना महत्त्व है।

भारत में भी फुटबाल काफी लोकप्रिय है, लेकिन आजादी के बाद से भारत एक ही बार ओलिंपिक खेलों में चौथा स्थान पा सका। सन् 1956 में मेलबोर्न (आस्ट्रे-लिया) में जो ओलिंपिक खेल खेले गये, उनमें भारत सेमी-फाइनल्स तक पहुंचा था।

भारत में फुटबाल खेल की शुरुआत अंग्रेजों द्वारा की गयी। सबसे पहले 1924 में भारतीय दल ने विदेश जाकर जापान में फुटबाल खेला। 28 जून 1937 को अखिल भारतीय फुटबाल एसोसिएशन की स्थापना हुई। भारत में सर्वप्रथम 1948 में ओलिंपिक्स में हिस्सा लिया। 1954-55 में यहां कानूनन जूतों के साथ फुटबाल खेलने की प्रथा प्रचलित हुई।

फ्रांसिस बेकन : प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बेकन का जन्म 1561 में इंग्लैंड में हुआ था। उनकी विचारधारा ने शिक्षा तथा स्कूलों को बहुत प्रभावित किया। बेकन के शिक्षा-संबंधी विचार 'एडवांसमेंट आफ लर्निंग' तथा 'दि न्यू एटलांटिस' नामक पुस्तकों में उपलब्ध हैं। शिक्षाजगत में आगमन प्रणाली के प्रवर्तन का श्रेय बेकन को ही है। उनकी इच्छा थी कि शिक्षा की प्रगति तीव्र गति से हो, ताकि लोग इस बात के महत्त्व को समझ सकें कि ज्ञान ही शक्ति है। उनके मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह व्यक्ति को प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करने में सक्षम बनाये, अर्थात् व्यक्ति के बौद्धिक जीवन को उपयोगी बनाये। इस प्रकार उन्होंने अध्यात्म के स्थान पर बुद्धि की प्रतिष्ठा की तथा प्रकृति को उचित स्थान दिया। बेकन की आगमन पद्धति शिक्षा-जगत के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है। आगमन पद्धति में निम्नलिखित पांच बातें होती हैं:

(1) बालक नियमों का विकास करता है (2) आगमन पद्धति द्वारा प्राप्त ज्ञान में नूतनता होती है (3) इस

पद्धति में अनुसंधान आवश्यक है (4) अनुसंधान के बाद ही नियम का ज्ञान होता है, तथा (5) इस पद्धति में बालक पूर्णतः क्रियाशील और कार्य-व्यस्त रहता है।

फ्राबेल, फ्रेडरिक विलहेल्म आगस्ट (1782-1852) : जर्मन शिक्षाशास्त्री फ्राबेल का जन्म तुरिंगिया के ओबर-वीसबेच में हुआ था। उनके शिक्षा-संबंधी सिद्धांतों और कार्यक्रमों पर अपने वैयक्तिक जीवन का बहुत प्रभाव था। ईसाई धर्म और प्रकृति के प्रभाव से उनकी रुचि आत्मसाक्षात्कार की ओर रही। वे 1805 में अध्यापक बन गये। पेस्टालोजी के शिक्षा-सिद्धांतों से प्रभावित होकर उन्होंने संश्लिष्ट जानकारी की अनुपयोगिता पर जोर दिया। ब्रह्मांड उनकी दृष्टि में एक दिव्य शिक्षा-संस्था था और प्रकृति तथा ब्रह्मांड के अनुक्रम में उनका अटूट विश्वास था। उन्होंने 1817 में कोलहो में कामगारों के लिए एक पाठशाला की स्थापना की और अपने शिक्षा-सिद्धांतों को कार्यान्वित करने का स्तुत्य प्रयास किया। अनेक राजनैतिक दलों के द्वारा अपने शिक्षा-सिद्धांतों का दुरुपयोग होते देखकर वे बहुत दुखी हो गये और बाद में उन्होंने शिशु-शिक्षा के क्षेत्र को अपनाया।

फ्राबेल के मतानुसार शिक्षा का मुख्य आधार पुस्तक या शब्द नहीं, बल्कि क्रिया है। इसलिए शिक्षा-संस्था का कर्तव्य यह है कि वह बच्चों को ऐसा वातावरण प्रदान करे, जिसमें एक बगीचे में पौधों की तरह उनकी सहज शक्तियों का विकास हो सके। किंडरगार्टन प्रणाली का आधार-तत्त्व भी यही है। बच्चों की शिक्षा में सामूहिक खेलों के महत्त्व पर उन्होंने बल दिया। चूंकि बच्चा अनुकरण से सीखता है, इसलिए उसकी शिक्षा में सामूहिक खेलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपयोगिता, सौंदर्य और अधिगम के अनेक प्रकारों को बच्चा अनुकरण से ही आत्मसात करता है। इस प्रकार बच्चों में निहित जिज्ञासा और संवेदनाओं को जाग्रत करना ही एक सच्चे अध्यापक का फर्ज है। बच्चे की भावनाओं और विचारों को शब्द देना ही अध्यापक का मुख्य काम है। किंडरगार्टन प्रणाली फ्राबेल के शिक्षा सिद्धांतों का साकार रूप है, जहां बच्चों के सहज विकास में कोई अड़चन नहीं होती।

समाज और व्यक्ति के पारस्परिक संबंध के बारे में उनकी मान्यताएं अत्यंत स्पष्ट हैं। उनके मतानुसार समाज का विकास व्यक्ति के विकास के साथ-साथ ही होता है और अगर विकास के इस प्रक्रम में व्यक्ति पीछे रह जाता है, तो समाज का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। मानव के सहज गुणों पर फ्राबेल का अटूट विश्वास था। फ्राबेल के शिक्षा-सिद्धांतों की मुख्य विशेषता यह थी कि वे उनके अनुभव पर आधारित थे। जर्मनी और अमरीका में उनके शिक्षा-संबंधी विचारों का खूब प्रचार हुआ है।

फ्री मैसनरी (गुप्त संसद) : अंतर्राष्ट्रीय भाई-चारा, परस्पर सहायता एवं भ्रातृभाव पैदा करने के उद्देश्य से 1717 में 'ग्रांड लार्ड्स आफ इंग्लैंड' की स्थापना हुई और उन्होंने एक गुप्त संस्था बनायी, जिसके सदस्य 'फ्री मेसन' कहलाते हैं। इसके अपने विस्तृत धार्मिक रिवाज और गुप्त संकेत होते हैं। इसीलिए कैथोलिक ईसाइयों का प्रवेश इस संस्था में निषिद्ध माना जाता है। पोप की ओर से भी यह कहकर इसकी भर्त्सना की गयी है कि इस मत की अपनी कोई धर्मसम्मत मान्यताएं नहीं हैं। यह तो प्रकृति-धर्म का प्रचारक है। इसके अनेक सदस्य नीति-हीन रहने के लिए बदनाम भी हुए हैं। पोप लियो ने बतलाया है कि फ्री मैसनरी का अंतिम लक्ष्य ईसाई संस्थाओं पर आधारित धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को उतार फेंकना है। यूरोप के इटली, फ्रांस आदि देशों में तो यह आरोप सही साबित हुआ, किंतु इंग्लैंड में एक परोपकारी एवं खुशहाल समाज के रूप में यह संस्था खूब फूली-फली है। मध्यवर्गीय समाज का मनोरंजन स्थल होने से यह अत्यंत समादृत भी हुई है। परंतु इसका एक दोष यह रहा है कि इसमें संभ्रांत एवं ऊंचे पदवाले व्यक्तियों को ही स्थान प्राप्त होता है, इसलिए नहीं कि वे उसके योग्य होते हैं, वरन् मित्रता और बड़ों का आश्रय ही उन्हें वहां तक ले जाता है। गुप्त संस्था होने से इसमें शरारत की संभावनाएं तो अवश्य पायी जाती हैं, किंतु ऐसा बहुत कम होता है। भारत में इस समाज ने भ्रातृभाव और परस्पर सहायता की भावना को ही बढ़ावा दिया है।

फ्रेड्रिक, हरबर्ट जान (1776-1841) : आधुनिक शिक्षा को एक सुदृढ़ आधार प्रदान करने का काम हरबर्ट जान

फ्रेड्रिक का है। वे एक मनीषी परंपरा में पैदा हुए थे। उनके दादा जर्मनी के प्रसिद्ध जिमनेजियम स्कूल के रेक्टर थे और पिता एक वकील और प्रीवी कौंसिल के सदस्य थे। उनकी मां भी उनकी ग्रीक और गणित की शिक्षा में अपूर्व सहायक बनी। जैना विश्वविद्यालय में पढ़ते समय ही उनमें फिख्ते और शिलिंग के दार्शनिक विचारों की समीक्षा लिखने का उत्साह उत्पन्न हो गया था। स्नातक बनने से पूर्व ही वे स्विट्जरलैंड के गर्वनर के पुत्र के शिक्षक हो गये। इससे उन्हें वैज्ञानिक आधार पर अपनी शिक्षा-पद्धति निर्मित करने का अवसर प्राप्त हुआ। वहां वे पेस्टालोजी से मिलकर अत्यंत प्रभावित हुए। उसके बाद वे कोनिसबर्ग में दर्शन के आचार्य हो गये। वहां उन्होंने एक प्रयोगात्मक स्कूल स्थापित करके अपने शिक्षा-सिद्धांतों के विकास का अवसर पाया। पच्चीस वर्ष तक निरंतर कार्य करने के पश्चात् वे गोरिनजिन में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर बन गये। यहां उन्होंने अपने शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-पद्धति को अंतिम रूप दिया। पेस्टालोजी के शिक्षा-सिद्धांतों की फ्राबेल ने अंतिम व्याख्या की, तो हरबर्ट ने उसके बाह्य रूप को विकसित किया। उन्होंने एक शिक्षक की दृष्टि से विचार किया और अध्यापन के लिए एक नयी शब्दावली निर्मित कर निश्चित क्रियाविधि का सूत्रपात किया। ये सूत्र हरबर्टियन स्टेप्स के नाम से प्रसिद्ध हैं। हरबर्ट निस्संदेह शिक्षा-जगत में मनोवैज्ञानिक दार्शनिक की बेजोड़ मिसाल हैं। उनका कहना है कि शिक्षा की एकमात्र संपूर्ण समस्या नैतिकता के संप्रत्यय में निहित है।

बटेविया प्रणाली : शिक्षण की इस प्रणाली में एक कक्षा को दो समूहों में बांटकर एक समूह को एक अध्यापक पढ़ाता है और उसी समय दूसरा अध्यापक दूसरे समूह की व्यक्तिगत कठिनाइयां दूर करता है। इस प्रणाली का समारंभ जान कैनेडी ने किया था। सर्वप्रथम इस प्रणाली का प्रयोग बटेविया नामक स्थान पर किया गया। इसी कारण इस प्रणाली को बटेविया प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली से कमजोर विद्यार्थियों को स्वाध्याय का तो पूरा अवसर मिलता ही है, व्यक्तिगत कार्य के अतिरिक्त विद्यार्थियों को समूह में काम करने का अवसर भी मिलता है। शिक्षक का कार्य विद्यार्थियों की कमजोरी को समझकर उसका निराकरण करना और उन्हें कक्षा के सामान्य विद्यार्थी के स्तर तक लाना होता है। कैनेडी ने इस प्रणाली को लोकप्रिय बनाने के लिए कुछ सुझाव रखे। वे इस प्रकार हैं :

(1) व्यक्तिगत शिक्षण पठित पाठ का ही हो, (2) व्यक्तिगत शिक्षण में अध्यापक कठिनाइयां स्वयं हल न करके विद्यार्थियों से ही करायें, और (3) अध्यापक इस बात को भी देखें कि विद्यार्थी स्वाध्याय के समय को नष्ट न करें।

बर्ट, सर सिरिल लुडविक : इंग्लैंड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एवं मनोविज्ञानी सिरिल लुडविक का जन्म 1883 में हुआ। मैक्डूगल ने उनमें मनोविज्ञान के प्रति रुचि पैदा की। वर्जुवर्ग, जर्मनी और आक्सफोर्ड में मनोविज्ञान का अध्ययन करने के बाद उन्होंने लिवरपूल विश्वविद्यालय, कैंब्रिज और लंदन काउंटी कौंसिल में मनोविज्ञानी के पद पर काम किया। इसके बाद वे 1931 में लंदन विश्वविद्यालय में शिक्षा के प्रोफेसर नियुक्त हुए। बुद्धि की नापतौल में उन्होंने बिने के काम को आगे बढ़ाया। मानसिक परीक्षण, किशोरों के उपचार और सांख्यिकी के प्रयोग के क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिकता प्रदर्शित करके शिक्षा-जगत को बहुत प्रभावित किया। बिने-परीक्षण को अंग्रेज बालकों के अनुरूप ढालने का उनका काम विशेष महत्त्व रखता है। इसके अतिरिक्त बिने के आयुवर्ग से भिन्न वर्गों के लिए भी उन्होंने परीक्षण-विधि निश्चित की। स्वप्न, दिवास्वप्न, मानसिक द्वंद्व और मानसिक माप में उन्होंने उच्च कोटि का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। उनके ग्रंथ हैं :

(1) मेंटल स्कोलिस्टिक टेस्ट (1921),

(2) द यंग डिलिक्वेंट (1925),

(3) द मेजरमेंट आफ मेंटल केपेसिटीज़ (1927) और

(4) फैक्टर्स आफ द माइंड (1940)

बागले, विलियम जांदलर (1872-1946) : प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षाविद, कोलंबिया विश्वविद्यालय के आचार्य, स्कूल और समाज' नामक पत्रिका के संपादक और शिक्षा की अनेक पुस्तकों के लेखक। 1930 में प्रगतिशील

शिक्षा का विरोध करनेवाले तत्त्ववादियों (एसेंशियलिस्ट्स) के नेता बने। तत्त्व से उसका अभिप्राय भूत और वर्तमान के उस मूल अनुभव से है, जो वर्तमान में जीवित रहने के लिए अनिवार्य होता है। उनका प्रश्न है कि क्या स्कूल के काम में छात्र को व्यस्त बनाने के लिए पठन, लेखन, गणित, इतिहास और अंग्रेजी के साथ अनुशासन और आज्ञापालन की शिक्षा देना अनिवार्य नहीं है? वे वास्तव में यथार्थवादी थे। आदर्शवादियों के सर्वातिशायी विवेचन का विरोध करते हुए वे मनुष्य मात्र की संरचना को संपूर्ण जीवन-क्रम से जोड़कर विकासशील परिकल्पना को स्थिर करते हुए मनुष्य में शक्तिमान शील की कल्पना करते हैं, पर वे किसी भी तत्त्व-विवेचन से बचते हैं। इससे वे आदर्शवाद और प्रकृतिवाद के संघर्ष को पाटते हुए उद्‌गमित विकास की स्थापना करते हैं। इस प्रकार सामाजिक विकास पर बल देते हुए वे सामाजिक विरासत और नवयुवकों में अनिवार्य मूल्यों के संचारण अथवा पारगमन को जरूरी बताते हैं।

जांदलर के ग्रंथों में से कुछ हैं :

(1) द एजुकेटिव प्रोसिस (1905)
(2) द क्लास-कम-मैनेजमेंट (1907)
(3) एजुकेशनल वैल्यूज़ (1911)

बालचर (स्काउट) : लड़कों को सच्चे नागरिक बनाने के उद्देश्य से स्थापित एक संगठन। सन् 1908 में बेडन पावेल के द्वारा इसकी स्थापना हुई। लड़कों में समाज-सेवा करने की शक्ति तथा इच्छा उत्पन्न करके उन्हें आत्मनिर्भर बनाना और चारित्रिक गुणों का विकास करके उनमें विश्वस्तता, निष्ठा, सेवाभाव, बंधुत्व, दया, आज्ञाकारिता, प्रसन्नता तथा चिंतन, कथन और क्रिया में शुद्धता आदि गुण लाना इसका ध्येय है।

लड़कों को सच्चे नागरिक और समाजोपयोगी बनाने में कुछ नये कार्यक्रमों की आवश्यकता महसूस करते हुए बेडन पावेल ने 1907 में समाज के विभिन्न स्तरों के 20 लड़कों को एकत्र किया और एक सत्र चलाया। व्यवहारिक दृष्टि से यह सत्र बहुत ही सफल सिद्ध हुआ। सन् 1908 में पावेल ने अपना 'स्काउटिंग फार बायज' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। उस समय तक पावेल का विचार कोई पृथक संगठन बनाने का नहीं था। उन्होंने इसी विचार से अपनी पुस्तक का प्रकाशन किया था कि बायज ब्रिगेड, वाई० एम० सी० ए० आदि संगठनों के कार्यक्रमों को अधिक विस्तृत और व्यावहारिक बनाने में उनके विचार सहायक सिद्ध होंगे। लेकिन पुस्तक का प्रकाशन होते ही इंग्लैंड के लड़कों ने पावेल के विचारों को व्यावहारिक रूप देते हुए कई पेट्रोल स्थापित किये और स्वयं को बालचर कहने लगे। सन् 1910 में पावेल ने सेना से अवकाश ग्रहण कर लिया और इस आंदोलन को, जिसका तब तक इंग्लैंड तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों में खूब प्रचार हो चुका था, नयी स्फूर्ति देने में लग गये।

इस संगठन के अंतर्गत लड़कों को समाज की सेवा के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अलावा अनेक सत्र भी चलाये जाते हैं, जिनके जरिए उनका मानसिक तथा शारीरिक विकास हो जाता है। इस संगठन के चार विभाग हैं—(1) वोल्फ क्लब् (8 से 11 वर्ष तक के लड़कों के लिए), (2) बॉय स्काउट्स (11 से 15 वर्ष तक के लड़कों के लिए), (3) सीनियर स्काउट्स (15 से 18 वर्ष तक के लड़कों के लिए) और (4) रोवर स्काउट्स (18 से 24 वर्ष तक के युवकों के लिए)। सन् 1939 के एक सर्वेक्षण के अनुसार स्काउट्स इंटरनेशनल ब्यूरो की 47 पंजीकृत शाखाओं में कुल 3,250,000 सदस्य थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यह संगठन कई यूरोपीय देशों में दमित किया गया था। फिर भी 1946 तक इस संगठन की सदस्य-संख्या में दस लाख की वृद्धि हुई थी। आजकल यह 100 से अधिक देशों में प्रचलित है और इसकी 75 से अधिक शाखाएं पंजीकृत हो चुकी हैं। 1961 में इसके कुल सदस्यों की संख्या 9,000,000 से भी ज्यादा थी।

बास्केट बाल : इसका आविष्कार तथा प्रथम चलन 1892 में डाक्टर जेम्स ए० एन० स्मिथ ने किया। मुख्य रूप से इसे वाई० एम० सी० ए० में ही खेला जाता था। उस समय सामान्य बास्केट बाल का खिलाड़ी सर्वथा प्रवीण एथेलीट होता था; क्योंकि उसका प्रशिक्षण अनुशासन-बद्ध रहता था।

प्रत्येक खेल की भांति बास्केट बाल भी दो टीमों के बीच खेला जाता है। प्रत्येक टीम में 5 खिलाड़ी होते हैं।

दोनों ओर के खिलाड़ी गेंद को बास्केट में फेंकने की कोशिश करते हैं तथा यह भी देखते हैं कि गेंद दूसरी टीम के खिलाड़ियों के हाथ न पड़ने पाये। इस खेल के नियम ये हैं :

(1) खेल का मैदान आयताकार तथा बाधा-रहित होना चाहिए। इसकी औसत लंबाई 85 फुट तथा चौड़ाई 46 फुट होनी चाहिए। लंबाई में 6 फुट तथा चौड़ाई में 3 फुट कम या अधिक किये जा सकते हैं। खेल के मैदान में घास उगी हुई नहीं होनी चाहिए।

(2) खेल का मैदान 2 इंच चौड़ी स्पष्ट रेखाओं से चिह्नित होना चाहिए और रेखाओं से कम से कम 3 फुट की दूरी पर कोई रुकावट नहीं रहनी चाहिए। लंबाई की रेखा को पार्श्व रेखा तथा चौड़ाई की रेखा को सिरे की रेखाएं कहते हैं। इन रेखाओं तथा दर्शकों के मध्य की दूरी कम से कम 6 फुट होनी चाहिए।

(3) केंद्रवृत्त का व्यासार्ध जो खेल-प्रांगण के बीच में होता है, 2 फुट होना चाहिए। इस वृत्त में सिरे की रेखाओं के समानांतर एक व्यास रेखा खींची हुई होनी चाहिए। इस केंद्रवृत्त के चारों ओर 6 फुट की त्रिज्या का एक और वृत्त होना चाहिए, जो 2 इंच चौड़ी रेखा से चिह्नित हो।

(4) केंद्रवृत्त के व्यास को बढ़ाकर दोनों ओर सिरे की रेखाओं तक खींचना चाहिए। यह खेल-प्रांगण की विभाजक रेखा कहलाती है।

(5) सिरे की रेखाओं से दोनों ओर 6 फुट की दूरी पर सिरे की रेखाओं पर लंब रूप से रेखाएं बनाकर मुक्त प्रक्षेप गलियारे (फ्री थ्रो लैंस) की रचना होती है।

(6) मुक्त प्रक्षेप गलियारे के प्रत्येक वृत्त पर 2 इंच चौड़ी प्रक्षेप रेखाएं होती हैं।

(7) सिरे की रेखाओं के समानांतर फर्श पर 90 का कोण बनाते हुए दो पृष्ठ पट (बैक बोर्ड) लगाये जाते हैं, जिनकी लंबाई 6 फुट और चौड़ाई 4 फुट रखी जाती है।

(8) बास्केट को बैक बोर्ड से सटाकर लगाया जाता है। यह बास्केट लोहे के 18 इंच व्यास के छल्लों पर जालों से बने तथा सफेद डोरियों के सहारे लटकाये हुए होते हैं, इनका रंग काला होता है। इन्हीं जालों में गेंद पड़कर अटक जाती है।

(9) मुख्य उपकरण गेंद होती है। इसका ब्लैडर रबड़ का और ऊपरी खोल चमड़े का होता है। गेंद की परिधि 29 इंच और 31 इंच के बीच होती है और वजन कम से कम 18 औंस तथा अधिक से अधिक 20 औंस होना चाहिए।

खेल का आरंभ रेफरी तथा अंपायर की देखरेख में होता है, जो खेल के दौरान अपने विशिष्ट अधिकारों का उपयोग करते हैं तथा नियमानुसार खेल का संचालन करते हैं। ये अधिकारी नियमविरुद्ध आचरण पर खिलाड़ी को दंडित करके हटा देते हैं या टाइम-आउट का आदेश देते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रत्येक टीम में 5 खिलाड़ी होते हैं और इन्हीं में से एक कैप्टन होता है। दूसरी टीम के पांचों खिलाड़ी जब तक तैयार होकर मैदान में न आ जायें, खेल आरंभ नहीं हो सकता। यदि दूसरी टीम आरंभ काल से 15 मिनट तक मैदान में नहीं आये, तो पहली टीम जब्ती द्वारा खेल जीत जाता है। प्रत्येक टीम को स्थानापन्न खिलाड़ी रखने का अधिकार होता है। ये स्थानापन्न खिलाड़ी सीमा-रेखा से बाहर रहते हैं। कोई भी खिलाड़ी अधिकारी की आज्ञा के बिना खेल-प्रांगण से बाहर नहीं जा सकता। प्रत्येक खिलाड़ी के शरीर पर आगे तथा पीछे उसका नंबर लिखा होता है।

खेल आरंभ होने से पहले रेफरी को सारे उपकरणों तथा प्रांगण का निरीक्षण कर लेना चाहिए।

बीटा परीक्षण : इस परीक्षण का प्रारंभ मुख्य रूप से एल्फा परीक्षण की कमियों को दूर करने के लिए हुआ था। एल्फा परीक्षण किसी बड़े समूह के परीक्षण के लिए बने थे। उनका प्रयोग अमरीकी सेना में भर्ती होनेवाले सैनिकों की सापेक्ष मानसिक क्षमता की जांच के लिए किया गया था। उनमें गणित की समस्याएं, विपरीतार्थक शब्द, अव्यवस्थित वाक्य, सादृश्य, सूचना आदि को संघटित किया गया था। इसलिए उनमें साक्षरता एवं अंग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती थी। अनपढ़ और अंग्रेजी का मामूली ज्ञान रखनेवालों की मानसिक क्षमता की जांच एल्फा परीक्षण से नहीं हो सकती थी, इसलिए उनके लिए बीटा परीक्षण बने। ये दरअसल कार्यात्मक परीक्षण थे, जिनके लिए संकेतों द्वारा अनुदेश दिये जा सकते थे। इनकी सामग्री मुख्यतया चित्रात्मक होती थी।

बुद्धि-लब्धि (इंटेलिजेंस क्वोशेंट या आई० क्यू०) : मानसिक आयु और वास्तविक आयु के औसत को 100 से गुणा करने पर व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि मालूम की जा सकती है। बुद्धि के परिमाणात्मक परीक्षण के लिए मनोविज्ञानियों ने अनेक उपाय निकाले हैं, जिनमें से एक है फ्रांसीसी मनोविज्ञानी अल्फ्रेड बिने द्वारा विकसित बुद्धि-लब्धि का सूत्र, जो इस प्रकार है :

$$\frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times 100 = \text{बुद्धि-लब्धि}$$

अर्थात् किसी की मानसिक आयु को उसकी वास्तविक (कालिक) आयु से भाग देने पर और उसमें सौ से गुणा करने पर यह मालूम किया जा सकता है कि उसमें कितने प्रतिशत बुद्धि है। मानसिक आयु ज्ञात करने के लिए बिने ने कुछ प्रश्न तैयार किये थे, जिन्हें विभिन्न आयु-वर्गों के बालकों से पूछा जाता था। यदि दस वर्ष की आयु-वर्ग के प्रश्नों का उत्तर कोई सात वर्षीय बालक सही-सही बता सके, तो उसकी वास्तविक आयु सात वर्ष होते हुए भी मानसिक आयु दस वर्ष मानी जायेगी। समझने की सुविधा के लिए औसत व्यक्ति की मानसिक आयु 100 मानकर बुद्धि-लब्धि को प्रतिशत में बताया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी पांच वर्षीय बालक की मानसिक आयु चार साल हो, तो उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{4}{5} \times 100 = 80$ होगी। इस प्रकार औसत बच्चे की तुलना में वह केवल 80 प्रतिशत बुद्धिवाला होगा। बुद्धि-लब्धि की यह नापतोल केवल सोलह वर्ष तक ही हो पाती है; क्योंकि इसके बाद बुद्धि में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती है। जिस बालक की बुद्धि-लब्धि 140 से अधिक होती है, वह प्रतिभाशाली और जिसकी बुद्धि-लब्धि 25 से नीचे होती है, वह जड़बुद्धि होता है।

बेतेस्के, इवान इवानोविच (1704-95) : रूसी शिक्षा-शास्त्री। उनका जन्म रूस के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनका यौवन कोपनहेगन और पेरिस में बीता। साठ वर्ष की आयु में उन्होंने रूस की तत्कालीन सम्राज्ञी के आदेशानुसार वहां के शैक्षिक कार्यक्रमों का भार ले लिया। वे मोनटेन, लॉक, जान और रूसो के शिक्षा-सिद्धांतों के समर्थक थे। सेंट पीट्सबर्ग के दो आवासीय स्कूलों में, जो कुलीन परिवार के लड़के-लड़कियों के लिए थे, उन्होंने अपने शिक्षा-सिद्धांतों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि विद्यार्थियों को शिक्षा की पूरी अवधि तक अपने घर के जटिल वातावरण से अलग रखकर और अध्ययन-शास्त्र के नये सिद्धांतों का प्रयोग करके वे विद्यार्थियों की एक नयी पीढ़ी को जन्म देंगे और इस प्रकार धीरे-धीरे समाज का नैतिक पुनर्निर्माण कर सकेंगे। उन्होंने बौद्धिक निर्देशन के स्थान पर भावात्मक और नैतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक विद्यार्थी की रुचि को ध्यान में रखते हुए अध्ययन-सामग्री का चयन करना चाहिए और विद्यार्थी पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर बेतेस्के ने मास्को में तिरस्कृत, अनाथ और जारज लड़के-लड़कियों के लिए शिक्षा-भवन चलाया। बाद में, यह ऐसी शिक्षासंस्थाओं के लिए एक नमूना हो गया। व्यावहारिक दृष्टि से सफल न होने के बावजूद उनके कार्य इसलिए महान हैं कि उन्होंने शैक्षिक-निर्देशन को कुछ हद तक वैयक्तिक बनाया तथा लड़के-लड़कियों की पाठ्य-सामग्री में समानता लाने का प्रयत्न किया।

बेसदो, जोहन बनहार्ड (1724-1790) : जर्मनी की शिक्षा-पद्धति में सुधार करनेवाले बेसदो ने अपने पिता के व्यवसाय को छोड़कर 'हेनिस' अकादमी में दर्शनशास्त्र के अध्यापक का कार्य-भार ग्रहण किया। किंतु प्रतिभाशाली व्यक्ति होने के कारण वे अपने जीवन में स्वतंत्र, रूढ़िमुक्त, छलरहित तथा अनियमित विचारोंवाले व्यक्ति रहे। अतः उन्हें अधार्मिक विचारों के कारण वहां से हटा दिया गया। ऐसा ही उनके साथ अल्तोना में भी हुआ। अतः वे धर्मशास्त्र से हट गये और रूसो के 'एमाइल' से प्रभावित होकर शिक्षा-सुधार की ओर प्रवृत्त हुए।

1768 में उन्होंने 'एन एड्रेस टु फिलांथ्राफिस्ट' नामक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने एक पाठ्यपुस्तक निकालने और एक माडल स्कूल खोलने के लिए चंदे की मांग की। बेसदो को इसमें सफलता मिली और उन्होंने दिसाऊ में 'फिलांथ्रोफ्लिनम' नामक एक माडल स्कूल की स्थापना की, जहां बालक के साथ बालक के समान ही बर्ताव किया जाता था, न कि प्रौढ़ के समान। यहां शारीरिक

शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण पर ध्यान दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, मातृभाषा, अंकगणित, रेखागणित तथा भूगोल आदि विषयों के पढ़ाने में भी इसी विधि को अपनाया गया।

उनकी यह संस्था समस्त यूरोप में प्रसिद्ध हो गयी, जिसके कारण इसी प्रकार के अनुदान-पोषित विद्यालयों की स्थापना का प्रचार हुआ। कांट और गेटे जैसे विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया। कुछ लोगों का कहना है कि पेस्टालोजी भी बेसदो के ऋणी थे। उनकी इस संस्था से अनेक योग्य शिक्षक आकर्षित हुए, किंतु उनके उग्र और अस्थिर स्वभाव के साथ उनका निर्वाह न हो सका और 1784 में उन्होंने स्वयं ही इस संस्था से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। परिणामत: 1790 में उनकी मृत्यु होने के बाद केवल 4 वर्ष तक ही यह संस्था चल सकी। बेसदो मौलिक विचारक भी थे। कोमिनियस, लाक और रूसो का जिक्र उनकी किताब 'बुक्स आफ मेथड' और 'फ़ादर्स एंड मदर्स आफ फेमिलीज एंड नेशन्स' (1771) में मिलता है। अपनी 'एलिमेंटरी वर्क' नामक पुस्तक में उन्होंने अध्यापन-विषयक सचित्र उदाहरण पर बल दिया है। जर्मनी में रूसो के प्रकृतिवाद के महत्त्वपूर्ण पक्षों को कार्यान्वित करने का श्रेय बेसदो को ही जाता है।

बैडमिंटन : प्रांगण-खेलों के समर्थकों की मान्यता है कि बैडमिंटन खेल का उदय भारत में हुआ था। यहां से यह खेल 1873 में इंग्लैंड गया और वहां से समस्त विश्व में फैल गया।

बैडमिंटन का प्रांगण टेनिस के प्रांगण की तरह 44 फुट लंबा और 20 फुट चौड़ा होता है और इसकी हदबंदी डेढ़ इंच चौड़ी सफेद, काली या किसी और रंग की रेखाओं से की जाती है। इस प्रांगण को दो बराबर भागों में बांट लिया जाता है। 'शार्ट सर्विस लाइन' तथा 'लांग सर्विस लाइन' और अन्य सीमा रेखाओं की डेढ़ इंच की चौड़ाई सर्विस-प्रांगण की कुल लंबाई के अंतर्गत ही रहनी चाहिए। जब प्रांगण में डबल्स के लिए चिह्न लगाने की गुंजाइश नहीं हो, तो प्रांगण को सिंगल्स के लिए चिह्नित करा लेना चाहिए।

प्रांगण के बीच में स्तंभों की ऊंचाई भूमि-तल से 5 फुट की होनी चाहिए। इन्हें काफी मजबूती से लगाया जाना चाहिए ताकि ये जाल (नेट) को ठीक से संभाल सकें। इन्हीं पर जाल लगाया जाता है। जाल का ऊपरी सिरा धरती से 5 फुट ऊंचा रहना चाहिए तथा स्तंभों पर 5 फुट 1 इंच की ऊंचाई पर। इसके किनारों पर 3 इंच चौड़ी पट्टी रहनी चाहिए।

तीसरी वस्तु, जो इस खेल में आवश्यक है, 'शटल' है। शटल का वजन 73 और 85 ग्रेन के बीच में होना चाहिए और इसमें एक कार्क में लगे हुए 14 से 16 तक पर (फेदर्स) होने चाहिए। कार्क का व्यास 1 से 1 इंच तक का होना चाहिए तथा परों की लंबाई कार्क की तली से ढाई से पौने तीन इंच तक की होनी चाहिए। औसत दर्जे की शक्ति से फेंका हुआ शटल पिछली सीमा रेखा से तथा पार्श्व रेखा से कम से कम 1 फुट इधर की ओर तथा अधिक से अधिक 2 फुट 6 इंच दूसरी ओर पड़ना चाहिए।

खेल में भाग लेनेवाले सभी खिलाड़ी होते हैं। 'डबल्स' में दोनों ओर दो-दो खिलाड़ी होते हैं तथा सिंगल्स में दोनों ओर एक-एक खिलाड़ी। सर्व करनेवाला (शुरूआत करनेवाला) खिलाड़ी 'इन' कहलाता है तथा सर्विस लेनेवाला (शटल को झेलकर वापस मारनेवाला) विपक्षी खिलाड़ी 'आउट' कहलाता है। खेल आरंभ होने से पहले टास किया जाता है और टास को जीतनेवाला खिलाड़ी अपनी इच्छा से अपने लिए कोई सिरा चुन सकता है और चाहे तो पहले या बाद में सर्व कर सकता है।

डबल्स तथा सिंगल्स खेलों में 15 अथवा 21 प्वाइंट्स (जैसी भी व्यवस्था कर ली जाये) होते हैं। शर्त यह है कि 15 प्वाइंट्स के खेल में जबकि स्कोर 13 बाल हो, तो जो टीम पहले 13 प्वाइंट्स बना ले, वह खेल को 5 पर सेट कर सकती है, तथा जब स्कोर 14 हो, तो जो टीम पहले 14 प्वाइंट्स बना ले, वह खेल को तीन पर सेट कर सकती है। गेम के सेट हो जाने पर स्कोर को 'लव आल' कहा जाता है तथा जो टीम पहले 5 या 3 प्वाइंट्स स्कोर कर ले, (13 आल या 14 आल के अनुसार) तो वह जीत जाती है। दोनों ही अवस्थाओं में खेल को सेट करने की मांग, स्कोर के 13 आल या 14 आल तक पहुंचने के बाद दूसरी सर्विस आरंभ करने से पहले ही कर देनी चाहिए। 21 प्वाइंट्स के गेम में स्कोरिंग की यही पद्धति अपनायी जाती है, केवल 13 या 14 के स्थान पर 19 या 20 ले लिए

जाते हैं। महिला सिंगल्स खेल में 11 प्वाइंट्स होते हैं और जब स्कोर 9 आल होता है, तो जो खिलाड़ी 9 पर पहुंचता है, उसे खेल को 3 पर सेट करने का विकल्प होता है तथा जब स्कोर 10 आल हो, तो जो टीम 10 पर पहले पहुंचती है, उसे खेल को 2 पर सेट करने का विकल्प मिलता है। दूसरे तथा तीसरे खेल के आरंभ में खिलाड़ी सिरे (एंड्स) बदल लेते हैं।

इस खेल में शटल को रेकेट से फेंकने तथा दूसरी टीम द्वारा इसकी प्रतिक्रिया करने के नियम भी विशेष प्रकार के होते हैं। सर्विस करने के नियम भी विशिष्ट सीमा में बंधे हुए होते हैं। इन नियमों में विपर्यास होने पर फाल्ट या लेट होता है, जिसकी घोषणा अंपायर को करनी पड़ती है। अंपायर को सभी संदेहास्पद बातों का निर्णय करना पड़ता है।

ब्रेल, लुई (1809-1852) : अंधों की वर्णमाला के इस आविष्कारक का जन्म कुप्रेव, फ्रांस में हुआ। तीन वर्ष की आयु में अपने पिता की दुकान में चमड़ा काटते समय हाथ का चाकू उलटकर उनकी आंख में लगा, जिसके फलस्वरूप वे अंधे हो गये। 1819 में वे ज्यूनिस एवेंजिल्स के अंधों के स्कूल में पढ़ने गये। स्कूल संस्थापक वेलेंटाइन हेली ने अंधों के लिए उभरे हुए रोमन अक्षरों का आविष्कार किया था। आगे चलकर 1821 में चार्ल्स वर्वीयर ने रोमन अक्षरों को छोड़कर योजक और बिंदु को गत्ते पर उभारकर अंधों के पढ़ने की नयी प्रणाली चालू की। ब्रेल ने उसी में सुधार किया और 1828 और 1837 में संगीत के छह बिंदुवाले सूत्र को अपनाकर ब्रेल पद्धति का आविष्कार किया। आगे चलकर वे अपने ही स्कूल में एक प्रतिभाशाली आर्गन-वादक के रूप में कार्य करते रहे। अपने जीवन के अंतिम 17 वर्षों में वे क्षय से पीड़ित रहे और कुप्रेव में ही उन्हें दफनाया गया।

भारोत्तोलन : भारोत्तोलन का किसी खेल के रूप में आरंभ नहीं हुआ। आधुनिक युग के व्यक्ति भी इसे कोई खेल नहीं मानते। आदमी मार्गों से बड़े-बड़े पत्थर उठाकर एक ओर रख देते हैं, भारी-भारी बोझों को भी किसी ऊंचाई तक उठाकर रख देते हैं, फिर भी इसे खेल का रूप प्राप्त नहीं हुआ।

प्राचीनतम काल का मानव तो आवश्यकता के वशीभूत होकर बोझा उठाया करता था। कदाचित मीनारों को बनानेवाले मजदूरों का समुदाय भारी वजन उठानेवाला था, जिन्होंने बड़े-बड़े वजनी पत्थरों को इतनी ऊंचाई तक पहुंचाया।

भारोत्तोलन को खेल का रूप देनेवाले सबसे पहले यूरोपीय ही थे। ग्रामीण लोग भारी-भारी वजन उठाने में अपना गौरव समझते थे और इसकी प्रतियोगिता भी होती थी। खेल के रूप में इस क्रिया का प्रचलन जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड और स्केंडेनेविया के देशों में हुआ। तुर्की और जापान में भी इसे लोकप्रियता मिली। कदाचित् शक्ति-प्रदर्शन के लिए ही प्राचीन काल के मनुष्य इस प्रतियोगिता में भाग लेते थे।

लगभग एक शताब्दी से पहले अनेक विदेशी राष्ट्रों के प्रवासी भारोत्तोलन खेल को दक्षिण अमरीका महाद्वीप में लाये। ये लोग आस्ट्रिया, जर्मनी, फ्रांस और स्विट्जरलैंड के थे। अंग्रेजों और आयरलैंडवालों ने इसे खेल के रूप में स्वीकार नहीं किया और अमरीका में होनेवाली प्रारंभिक प्रतियोगिताओं में उन्होंने भाग भी नहीं लिया।

एक या डेढ़ शताब्दी पूर्व शक्तिशाली मनुष्य अपने तथा अपने मित्रों के विनोदार्थ भार उठाने की क्रीड़ा का प्रदर्शन करते थे, या वे कार्निवालों में शामिल होते थे और वहां भी वे इसी क्रिया का प्रदर्शन करते थे। लुई साइर की, जो व्यावसायिक भार उठाने वाले थे, बहुत प्रसिद्ध हुई। साइर से पहले 20 दिसंबर 1829 में डब्ल्यू० वी० कर्टिस ने न्यूयार्क में 3239 पाउंड का भार रोधक उपाय से उठा लिया था। परंतु माना यह गया कि कर्टिस ने भार उठाने में किसी चातुरी का सहारा लिया था। प्लेटफार्म पर खड़े होकर उन्होंने हार्नेस के सहारे 3500 पाउंड का भार कई बार उठाया। उनकी छाती पर एक बड़ी रोधक मेज रख दी जाती थी। मेज रखने के बाद इस पर 20 आदमी चढ़ जाते, जिनमें प्रत्येक का औसत भार 150 पाउंड होता। और फिर साइर अपने-आप मेज को तथा सब आदमियों को उठा लेते। साइर के बारे में एक और बात प्रसिद्ध है कि वे अपनी अंगुली के सहारे 545 पाउंड का भार उठा लेते थे, परंतु इस तथ्य की प्रमाणिकता सिद्ध नहीं है। कैनाडा के क्वैबेक नगर में प्रसिद्ध भारोत्तोलक आर्थर गिरो ने दोनों हाथों से 684

पाउंड का भार उठाया था, परंतु इस रिकार्ड का भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। इसके बाद अनेक उपायों से भार उठाने की प्रक्रिया का चलन होता रहा।

परंतु सच्चा भार उठानेवाला किसी प्रकार के रोधक का सहारा नहीं लेता। उसका खेल तो वैज्ञानिक माना जाता है और इसका निर्णय वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जो भार उठाने की सारी पेचीदगियों की जानकारी रखते हों। इस प्रकार के भार उठानेवाले अनेक सर्कसों में देखने को मिलते हैं। फिर भी भारोत्तोलन को खेल का दर्जा कभी नहीं मिला। अधिकतर मानव समाज ने इसे कभी रुचिपूर्वक ग्रहण नहीं किया। तमाशे की दृष्टि से इसे आश्चर्य के रूप में तो देखा ही जाता है, परंतु इसकी प्रशंसा और मूल्यांकन तो वही व्यक्ति कर सकता है, जिसके पास भारोत्तोलन का ज्ञान हो।

आजकल भारोत्तोलन की तीन प्रणालियां प्रचलित हैं, जो निम्नलिखित हैं:

(1) टू हैंड्स (या मिलिट्री) प्रेस: जमीन से भार उठाना, छाती तक, गर्दन तक या सिर तक लाकर रुकना और फिर हाथों की ऊंचाई तक उठा ले जाना। इसमें अपने स्थान से हिलना या झुकना निषिद्ध है।

(2) क्लीन एंड जर्क: इसमें एक हाथ या दोनों हाथों का प्रयोग किया जाता है। जमीन से भार उठाना, छाती तक ले जाकर रुकना और फिर रेफरी जितना कहे, उतनी यथासंभव ऊंचाई तक उठाना।

(3) स्नैच: इसमें कोई भी हाथ उपयोग में लाया जा सकता है और भारोत्तोलन भार को उठाकर एक ही सपाटे में यथासंभव ऊंचाई तक ले जाता है।

मंदित बालक : इसके लिए आजकल मंदितमना, न्यून-बुद्धि, मनोविकलांग, मंद-अध्येता, पिछड़ा हुआ और सामान्य रूप से मंद आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतः मंदित बालक की पहचान यह है: (1) वाक्-शक्ति का धीमा विकास, (2) सामाजिक रूप में कम अनुक्रियाशील, (3) शब्दों और अंकों का धीमा परिज्ञान, (4) मंद वाचन, और (5) असफलता के कारण स्कूल-भय। सांख्यिकीय शब्दावली में प्रसामान्य मानक वितरण में माध्य विचलन से $2\frac{1}{2}$ और 3 मानक विचलन होते हैं। इनमें भी 0 से 50 तक की बुद्धि-लब्धिवालों को शिक्षित नहीं किया जा सकता है। अतः 50 से 89 तक बुद्धि-लब्धि-वाले को पिछड़ा बालक समझना चाहिए। इसमें भी 50 से 69 तक की बुद्धि-लब्धिवालों को अकुशल श्रमिक की कोटि तक ही शिक्षित किया जा सकता है।

इनके पिछड़ेपन के निम्नलिखित कारण होते हैं:

(1) शारीरिक एवं मानसिक दोष, (2) गरीबी और अज्ञान के कारण हुआ कुपोषण, (3) विवेकहीन कक्षोन्नति, (4) शिक्षक से सहानुभूति प्राप्त न होना, और (5) माता-पिता का सहयोग न मिलना आदि।

ऐसे बालकों को किसी तरह भी निरुत्साहित नहीं करना चाहिए। प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत रूप से अध्ययन और उपचार होना चाहिए। इसके लिए विशेषज्ञों की सहायता अनिवार्य होती है।

मदनमोहन मालवीय (1861-1946) : हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के अनन्य उपासक मदनमोहन मालवीय अपने युग के प्रमुख नेता थे। हिंदी को उन्नत दिशा की ओर ले जाने के लिए उन्होंने हिंदी पत्रकारिता को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। उन्होंने 'दैनिक हिंदुस्तान', 'विश्वबंधु', 'अभ्युदय', 'भारत', 'सनातन धर्म' आदि पत्रों की स्थापना एंव संरक्षण की और समय-समय पर उनका संपादन भार भी संभाला। इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में अपना पूरा सहयोग दिया और हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसी साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना की। पत्र-संपादन से वे हिंदू-संस्कृति के अभ्युदय की ओर बढ़े। इसके लिए उन्होंने विविध सम्मेलनों और सार्वजनिक सभाओं में भाग लिया। उनका लक्ष्य तत्त्वों को प्रोत्साहन देना था। उनके प्रयत्नों से भारत धर्म महामंडल और बाद में अखिल भारतीय धर्म सभा की नींव पड़ी।

हिंदी के लिए उनकी सबसे बड़ी सेवा यह थी कि उन्होंने उत्तरप्रदेश की अदालतों और दफ्तरों में हिंदी को व्यवहार की भाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने के लिए आंदोलन छेड़ा, जिसके फलस्वरूप हिंदी को उर्दू के साथ सरकारी काम काज में स्थान मिला। इससे वे राजनीति के क्षेत्र में आ गये और अखिल भारतीय कांग्रेस के चार बार (1909, 1916, 1932, 1933) अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस पर भी सभी राजनीतिक दल उनका आदर करते थे। शायद ही कोई उनका शत्रु रहा हो। किंतु

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के समर्थन में सामान्य हिंदू भावना को साकार रूप देने के लिए मालवीयजी ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनकी अक्षय कीर्ति का यह अमिट शिलालेख सन 1915 के अधिनियम द्वारा स्थापित हुआ और 1917 से इसका कार्य आरंभ हो गया। कालांतर में यह एशिया का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय बन गया। इसमें उन्होंने प्राचीन संस्कृति के अध्ययन के साथ-साथ आधुनिक विज्ञानों के पठन-पाठन की भी व्यवस्था की थी।

आज यह उच्च शिक्षा एवं शोध के लिए देश में प्रमुख केंद्र बना हुआ है। मालवीयजी मूलतः आदर्शवादी थे, किंतु वे शिक्षा को आध्यात्मिक उन्नति का साधन मानते थे। उनकी दृष्टि में शिक्षा का काम व्यक्ति को समकालीन समाज का उपयोगी सदस्य बनाना है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना के एक अवसर पर उन्होंने कहा कि प्रकाश और जीवन का यह केंद्र, जो अस्तित्व धारण करने जा रहा है, ऐसे विद्यार्थी उत्पन्न करेगा, जो न केवल बौद्धिक दृष्टि से संसार के अन्य लोगों में सर्वोत्तम विद्यार्थियों के समान होंगे, अपितु सौम्य, ईश्वरभक्त, देशभक्त और धर्मपरायण रहने के लिए भी प्रशिक्षित होंगे। शिक्षा के क्षेत्र में भाषा के माध्यम की उन्हें अंत तक चिंता रही। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था––"भारतीय विद्यार्थी के मार्ग मे आनेवाली वर्तमान कठिनाइयों का कोई अंत नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा न होकर एक अत्यंत दुरूट विदेशी भाषा है। समस्त संसार के किसी भी अन्य भाग में जन-समुदाय की शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा नहीं है। इस प्रकार मालवीय जी हिंदी के प्रबल समर्थक रहे। व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति एवं अभिवृद्धि का लक्ष्य सदा उनके सामने रहा।

मनरो, सर टामस (1761-1827) : मद्रास के गर्वनर की हैसियत से वहां शिक्षा-प्रसार के कार्य को नयी दिशा देने वाले सर टामस मनरो ने 1826 के अपने मिनट में कहा था कि पांच और आठ साल के बीच की आयु के बच्चों में से केवल एक तिहाई ही शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं, और लड़कियों की संख्या तो और भी कम है। उस पर भी जितना उन्हें पढ़ाया जाता है, वे उतना भी नहीं समझ पाती हैं। स्मृति पर ही अधिक बल दिया जाता है। पाठ्य-पुस्तकें भी आम बालक की भाषा से मेल नहीं खाती हैं। और इस स्थिति में सुधार लाने के लिए ये प्रस्ताव रखें :

(1) पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन किया जाये।

(2) शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए स्कूल खोला जाये।

(3) अच्छे शिक्षकों को पर्याप्त वेतन प्राप्त हो।

(4) हिंदू और मुसलमानों के लिए हर तहसील में एक-एक उच्च शिक्षा का स्कूल खोला जाये।

(5) शिक्षा का प्रसार साधारण और व्यापक रूप मे हो। वह किसी एक वर्ग के एकाधिकार में न हो।

मनरो के ये सभी सुझाव कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने स्वीकार कर लिये थे, किंतु दुर्भाग्यवश 1827 में मनरो का निधन हो जाने के कारण ये प्रस्ताव पूरी तरह लागू नहीं किये जा सके। उसके बाद जो लोग आये, उनमें न तो जन-शिक्षा से कोई सहानुभूति ही थी और न ही उन जैसी व्यापक दृष्टि। अतः उदासीनता से काम हुआ और उस प्रयोग से कोई सफलता न मिल सकी। इसे संयोग ही कहा जायेगा कि मनरो के शिक्षा संबंधी ये विचार बंबई के एलफिंसटन के विचारों से बहुत मेल खानेवाले थे। हो सकता है कि मनरो को वहीं से प्रेरणा मिली हो। यह भी हो सकता है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने दोनों को अलग-अलग ढंग से ही सही, एक ही निष्कर्ष पर पहुंचाया हो।

माता-पिता और अध्यापकों के संबंध : साधारणतया यह समझा जाता है कि घर का काम बालक की देखभाल करना, उसे नैतिक शिक्षा देना और उसका चरित्र-निर्माण करना है, जबकि स्कूल का काम विभिन्न विषयों का ज्ञान कराना मात्र है। किंतु वर्तमान शिक्षा-विषयक धारणाओं और मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर यह मान्यता बदल गयी है। आज घर और स्कूल, साहचर्य भाव के ऐसे अंग हैं, जिनका एक ही लक्ष्य है। बालक के प्रकृति-प्रदत्त व्यक्तित्व के समुचित विकास में सहायक होकर उसके व्यक्तित्व-निर्माण में योगदान के लिए दोनों के परस्पर सहयोग, साहचर्य और पारस्परिक समझौते की परम आवश्यकता होती है। न तो अभिभावक को ही बालक को स्कूल भेजकर, लेटरबाक्स में पत्र डालने की भांति संतुष्ट हो जाना चाहिए और न ही शिक्षक को बालक को गृहनिरपेक्ष रूप से ग्रहण करना चाहिए।

बालक का घर उसका सबसे प्यारा परिवेश होता है। माता-पिता के संसर्ग से उसकी आदतें और प्रकृतियां जन्म लेती हैं। इसलिए शिक्षक के लिए बालक के गृह-परिवेश को समझना भी आवश्यक होता है। अभिभावकों के लिए यह आवश्यक है कि वे स्कूल की सीमाओं को समझें और स्कूल-स्तर पर बालक की प्रगति की भी जानकारी रखें। इन दोनों के परस्पर सहयोग के लिए अनेक विधियों को अपनाया जा सकता है, जैसे:

(1) शिक्षक का बालक के घर जाना।

(2) अभिभावक का स्कूल में जाना।

(3) अभिभावकों द्वारा स्कूल के कार्यक्रम का प्रेक्षण।

(4) स्कूल में अभिभावकों के लिए सामूहिक कार्य जैसे, प्राथमिक उपचार और नर्सिंग कक्षाएं, फोटोग्राफी-क्लब आदि।

(5) अभिभावकों को बालक और शिक्षक दोनों की ओर से पत्र-व्यवहार द्वारा स्कूल की गतिविधियों से परिचित कराते रहना।

(6) बालक का प्रगति-पत्र अभिभावकों को भेजते रहना।

(7) शिक्षक-अभिभावक सम्मेलन बुलाना।

(8) शिक्षक-अभिभावक समिति स्थापित करना आदि।

मिल्टन, जोन (1608-1674) : अपने समय के महान कवि औल शिक्षाशास्त्री। शिक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्वयं एक बोर्डिंग स्कूल चलाया था। उनकी पुस्तक 'ट्रेक्टेट आफ एजुकेशन' मानवतावाद का अच्छा उदाहरण है, जिसे उन्होंने एक शिक्षक के निजी अनुभव से खोजा है। उनकी गिनती रिबेलियस और मोनटेन जैसे उन विचारकों में होती है, जिन्होंने क्लासिक्स में निहित मानवतावादी, यथार्थवादी एवं सामाजिक यथार्थवादी आदर्श को सराहा है। इसीलिए उनकी पाठ्यचर्या कहीं अधिक विस्तृत है। मिल्टन ने स्पष्ट किया है, "मैं इसीलिए ऐसी संपूर्ण और उदार शिक्षा को ही शिक्षा कहता हूं, जो आदमी को व्यक्तिगत और सार्वजनिक तथा युद्ध और शांति के सभी कामों को कुशलता और उदात्तभाव से संपन्न करने योग्य बनाती है। इसीलिए उन्होंने माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए अकादमी भी खोली थी। उनकी देखादेखी इंग्लैंड और अमरीका में ऐसी अनेक अकादमियां खुल गयीं।

मेरिया मौंटेसरी, डा० (1870-1952) : इटली की प्रसिद्ध महिला-चिकित्सक और शिक्षा के क्षेत्र में मौंटेसरी-प्रणाली की संस्थापिका। 1894 में वे एम० डी० की उपाधि लेकर एक मनश्चिकित्सा-केंद्र में सहायक चिकित्सक हो गयीं। वहां उनकी रुचि मंदबुद्धि लोगों के उपचार में हो गयी। 1898 में उन्होंने टूरिन की शिक्षा-कांग्रेस में इस विषय पर अपना भाषण पढ़ा, जिसके आधार पर उन्हें ऐसे अनेक भाषण देने का प्रोत्साहन मिला और वे दोषयुक्त या मंदबुद्धिवाले बालकों के एक स्कूल की निदेशिका हो गयीं। वहां उन्होंने बुद्धि-त्रुटिवाले बालकों की शिक्षा पर लिखे गये सिगाइन (1812-88) के ग्रंथ का अध्ययन किया और अपने स्कूल में भी उसकी विधियों का प्रयोग किया। उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। इसमें उन्होंने देखा कि उपचार से कहीं अधिक शिक्षा-विधि के द्वारा इन बालकों में सुधार लाया जा सकता है। तब उन्हें इस क्षेत्र में अपनी प्रणाली का भी प्रयोग करने का प्रोत्साहन मिला। उनका विश्वास तब बढ़ता गया, जब उन्होंने देखा कि मूढ़ बालक भी उसी परीक्षा में पास हो जाते हैं, जिसमें सामान्य बुद्धिवाले बालक।

अपनी खोज को और आगे बढ़ाने के लिए वे सन् 1900 में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए विश्वविद्यालय में चली गयीं। वहां उन्होंने सभी शिक्षा-विधियों की परीक्षा की और इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि स्वशिक्षा ही समस्त शिक्षा-पद्धतियों का मूल सिद्धांत होना चाहिए। छह वर्ष बाद उन्हें एक समाजसेवी संस्था के अध्यक्ष इडोआरडोपलामों द्वारा रोम के एक स्कूल का कार्यभार सौंपा गया। मौंटेसरी ने 3 से 7 वर्ष तक के बच्चों के इस स्कूल को 'द चिल्ड्रन होम' (बालगृह) का नाम दिया। इन प्रयोगों की सफलता ने 1910-21 के वर्षों में सारे संसार का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। आज भी इसकी सर्वमान्यता बढ़ती जा रही है। मौंटेसरी शिक्षा-क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रतिनिधि हैं। उनके मत में शिक्षा का उद्देश्य बालक की अज्ञात शक्तियों अथवा उसमें व्यक्तित्व के प्रस्फुटन में सहायता देना है। इनके लिखे हुए ग्रंथ हैं:

(1) दि मौंटेसरी मेथड,
(2) दि एडवांस मौंटेसरी मेथड, तथा
(3) दि डाइडेक्टिक मेटीरियल फार दि चिल्ड्रन फ्राम 8–11 इयर्स

(दे० शिक्षा-प्रणाली, मौंटेसरी)

मैकाले, टामस बैबिंग्टन (1800-1859) : अंग्रेज इतिहासकार और शिक्षाविद मैकाले 1834 में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के चौथे स्थान पर विधि सदस्य के रूप में भारत आये थे। उनके आते ही लार्ड विलियम ने उन्हें लोक-शिक्षा-समिति का प्रधान बना दिया। समिति के प्रधान की हैसियत से उन्हें कंपनी की शिक्षा-नीति के संबंध में आंग्लवादियों और प्राच्यविद्यावादियों के परस्पर कलह से निबटना पड़ा। समिति के कुल दस सदस्यों में से पांच आंग्लवादी इस पक्ष में थे कि यूरोपीय विज्ञान को संस्कृत और अरबी के माध्यम से प्रकाशित और प्रचारित करने के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को ही अपनाया जाये, जिससे व्यर्थ का व्यय न हो। दूसरी ओर पांच प्राच्य-विद्यावादी सदस्यों का आग्रह था कि भारत के साहित्य को प्रोत्साहन दिया जाये और यूरोपीय विज्ञान को संस्कृत और अरबी के अनुवाद द्वारा ही लोगों तक पहुंचाया जाये। किंतु समिति के प्रधान की हैसियत से वे इस झगड़े में नहीं पड़े। वे जानते थे कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी की विधि की हैसियत से यह मामला अंत में उन्हीं के पास आना है। अतः उस विवाद से संबंधित पत्रों को कार्यकारिणी के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैकाले ने 2 फरवरी, 1935 को नयी शिक्षा-नीति के संबंध में अपना प्रसिद्ध विवरण-पत्र (मिनिट) प्रस्तुत किया। मैकाले ने प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा-विवाद को सदा के लिए समाप्त करते हुए अपने विवरण-पत्र में अंग्रेजी के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किये, वे इस प्रकार हैं:

(1) अंग्रेजी ज्ञान की कुंजी है, (2) शासकों की भाषा है, (3) पश्चिम की समस्त भाषाओं में पूर्व-प्रसिद्ध है, (4) जनता इसको सीखने की इच्छुक है, (5) इससे वे पूर्णतः अंग्रेजी के विद्वान बन सकते हैं, (6) इससे एक ऐसे वर्ग की उत्पत्ति होगी, जो रक्त और रंग से भारतीय होकर भी अभिरुचि, मत, नैतिकता एवं बौद्धिकता की दृष्टि से अंग्रेज होगा।

लार्ड बैंटिक ने उसी वर्ष मार्च में इसको स्वीकृति देकर अपनी नयी शिक्षा-नीति की इस प्रकार घोषणा की, "प्राच्य शिक्षा के लिए जो कुछ किया जा चुका है, वह जैसा का तैसा बना रहे, परंतु आगे से संपूर्ण अनुदान अंग्रेजी माध्यम द्वारा दी जानेवाली अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च किया जायेगा।"

मैकाले का विवरण-पत्र यद्यपि भारतीय शिक्षा का महा-धिकार-पत्र माना गया है, किंतु एक विकृत प्रतिमा की अभिव्यक्ति मानकर उनकी आलोचना इस प्रकार की जाती रही है: (1) उन्होंने भारतीय भावनाओं का तिरस्कार किया, (2) भारतीय भाषाओं के माध्यम को कुचलकर रख दिया, और (3) उनका यह विचार गलत सिद्ध हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय अंग्रेज हो जायेंगे। कुछ भी हो, उस विवरण-पत्र ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भारत में अंग्रेजी शिक्षा के उद्देश्यों को परिभाषित किया।

योजना, गारी : इस शिक्षा-योजना को विलियम विर्ट (1875-1938) ने 1908 में इंडियाना में स्थित गारी के एक स्कूल में लागू किया और तब से यह अमरीका में प्लाटून स्कूल आंदोलन के रूप में प्रचलित हो गयी। विर्ट का विश्वास था कि स्कूल का लक्ष्य मानसिक रूप से ही नहीं, वरन् शारीरिक, वैज्ञानिक और कलात्मक रूप से भी बालक को शिक्षित करना है। किंतु उसके लिए खेल का मैदान, बाग, तैराकी-जलाशय, प्रयोगशाला, मशीन-शाला, संगीत और ड्राइंग के स्टूडियो की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए उन्होंने अनुभव किया कि स्कूल में खेल, पी० टी० या छुट्टी आदि के समय अनेक कमरे खाली रहते हैं। अतः अपने प्रयोग के लिए उन्होंने विद्यालय के थोड़े-से कमरों के बहुरूपीय प्रयोग से स्कूल की संरचना में नवीनता पैदा की। उन्होंने देखा कि किसी भी कक्षा को एक कमरा दो-तीन घंटे से अधिक समय के लिए नहीं चाहिए। अतः इन कमरों का प्रयोग दूसरे वर्गों के विद्यार्थी भी कर सकते हैं। उन्होंने उन ग्रुपों को बाद में 'प्लाटून' नाम दिया। दूसरे कमरों के खर्च को बचाकर खेल के मैदान, बाग, जिमनेज़ियम, तैराकी आदि की सुविधाएं भी उपलब्ध की जा सकती हैं। अतः अपने स्कूल की संरचना में उन्होंने इन बातों को निश्चित किया:

(1) कक्षा-कक्ष कम करके खेलने के मैदान, तैराकी-जलाशय, प्रयोगशाला, मनोरंजन-कक्ष, छायागृह तथा वर्कशाप आदि का प्रबंध किया जाये।

(2) खेल, काम और अध्ययन की सुविधाएं प्रदान करके बालक के बहुमुखी विकास में सहयोग दिया जाये।

(3) स्कूल का समय बढ़ाया जाये।

(4) अभिभावकों को मनोरंजन-कक्ष की सुविधा प्रदान करके उनका सहयोग प्राप्त किया जाये।

(5) ड्यूई के मतानुसार अर्थपूर्ण कार्य की स्वतंत्रता प्रदान की जाये।

(6) पिछड़े बालक की सहायता के लिए अनुप्रयोग-शिक्षकों की नियुक्ति की जाये।

इस प्रकार गारी स्कूल ही एक ऐसा संपूर्ण स्कूल है, जहां बालक किंडरगार्टन से हाई स्कूल तक एक ही कक्ष में विद्यालाभ करते हैं।

योजना, डाल्टन : मिस हेलन पार्कहर्स्ट ने नौ-दस वर्षों के सोचविचार के बाद इस नयी शिक्षा-पद्धति को 1920 में डाल्टन (मेसाच्युसेट्स) के एक हाई स्कूल में पहली बार लागू किया। इस योजना के मुख्य तत्त्व ये हैं :

(1) अध्ययन पूरा करने में बालक को पूर्ण स्वतंत्रता है। इससे प्रत्येक छात्र अपनी भलाई के लिए कार्य को समय पर समाप्त करने का उत्तरदायित्व अनुभव करता है।

(2) अध्ययन टोलियों में समूची कक्षा एक सामाजिक पुनर्गठन के रूप में सामने आती है।

(3) बालक अपनी रुचि के अनुसार काम कर सकता है। इससे उस पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना संभव होता है।

(4) अध्यापन-इकाई के रूप में कक्षा का कोई स्थान नहीं है। कक्षा के स्थान पर विषय-कक्ष होते हैं, जिन्हें प्रयोगशाला का नाम दिया जाता है। ये अध्यापन-सामग्री से युक्त होते हैं। छात्रों की सहायतार्थ एक विषय-अध्यापक वहां होता है।

(5) एक विशेष कार्य को पूरा करने के बाद ही बालक को आगामी मास का कार्य सौंपा जाता है, इससे पूर्व नहीं।

(6) शिक्षक प्रत्येक छात्र की प्रगति का लेखा-जोखा रखता है।

(7) आवश्यकतानुसार शिक्षक किसी भी समय बालकों की सभा बुलाता है और उनकी कठिनाइयां दूर करता है।

(8) छात्र अपनी दैनिक प्रगति से ही आगे बढ़ता है, परीक्षा का कोई भय उसे नहीं होता।

(9) स्कूल की दिनचर्या में प्रातःकाल का समय बच्चों के स्वाध्याय के लिए होता है। सायंकाल को खेलकूद तथा कक्षा-सभाएं होती हैं।

इस योजना में कुछ दोष भी हैं, जैसे बालक के कंधों पर उत्तरदायित्व का अधिक भार, सब छात्रों के सब विषयों का लेखा रखने की कठिनाई और मौलिक उद्भावना के लिए स्थानाभाव। फिर भी यदि इस योजना की मूल आत्मा को भलीभांति समझ लिया जाये, तो इतिहास भूगोल, गणित आदि विषयों में इससे बड़ी सफलता प्राप्त हो सकती है।

योजना, डेकरोली : इस नयी शिक्षा योजना को सर्वप्रथम इटली के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री ओवाईड डेकरोली (1871-1932) ने सदोषमनस्क बालकों के लिए 'इकोल द ला अरमितेज' नामक स्कूल खोलकर लागू किया। उन्हें किन्ही नये सिद्धांतों का जनक तो नहीं माना जाता, किंतु उन्होंने उच्च शिक्षा-सिद्धांतों को व्यवहारिक रूप अवश्य दिया। उनका प्रसिद्ध सूत्र था—"शिक्षा जीवनयापन द्वारा जीवन के लिए है।" उनकी शिक्षा-योजना के मूल में ये पांच सिद्धांत काम करते हैं:

(1) बालक ऐसा सक्रिय जीव है, जिसको सामाजिक जीवन के लिए तैयार करना है।

(2) वह जीवंत एवं प्रतिक्षण बढ़नेवाला है।

(3) प्रत्येक बालक अपने साथियों से भिन्न है।

(4) हर आयु के बालक की अलग-अलग अभिरुचि होती है।

(5) बालक की पेशीय-क्रिया सबसे अधिक शक्ति-शाली होती है।

इन सिद्धांतों के आधार पर डेकरोली की योजना के अनुसार एक अच्छे स्कूल की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं:

(1) स्कूल प्राकृतिक परिवेश में स्थित होता है।

(2) उसमें 4 से 19 वर्ष तक के बालक (और बालिकाएं भी) शिक्षण-पाते हैं, किंतु उनकी संख्या अधिक

नहीं होती है। एक कक्षा में समान आयु के बालक होते हैं।

(3) कक्षा का कमरा ऐसा स्टूडियो अथवा प्रयोग-शाला होता है, जहां पेशीय क्रियाओं आदि के लिए मेज, काम करने की बैंचें या ढीये, बहता पानी, गर्मी, प्रकाश, अलमारी तथा प्रदर्शित वस्तुओं और संग्रहों आदि के लिए काउंटर बने होते हैं।

(4) शिक्षक अध्यापक न होकर शिक्षाविद् होते हैं।

(5) प्रातःकालीन बैठक में अंक-पठन, वाचन, लेखन और उच्चारण आदि की शिक्षा खेल के माध्यम से दी जाती है। इसके अतिरिक्त निरीक्षण, तुलना और सहयोग के साथ-साथ ड्राइंग, गायन और व्यायाम आदि के अभ्यास होते हैं।

(6) तीसरे पहर विदेशी भाषा और हस्त-श्रम का कार्य चलता है।

(7) प्रातःकाल कभी-कभी मछली का शिकार करना, खटमल पकड़ना, कीड़े इकट्ठा करना, फैक्टरी और अजायबघर देखने जाना आदि कार्यक्रम होते हैं।

(8) अभिभावकों से विशेष संपर्क रहता है।

(9) व्यवस्था स्कूल की मुख्य विशेषता होती है, जिससे अनुशासन और आत्मनियंत्रण सीखा जाता है।

(10) पहल और आत्मविश्वास के लिए बालक स्वयं कभी-कभी निरीक्षण और सहयोग के पाठों पर अपने साथियों को भाषण भी देते हैं।

(11) व्यक्तिगत और सामूहिक कृत्यों पर समान बल होता है।

प्रयोजना-प्रणाली के अनुरूप डेकरोली-प्रणाली का भी सारा कार्यक्रम विषय वस्तु पर केंद्रित न होकर भोजन, प्रतिस्पर्द्धा, आत्मरक्षा और कर्म की अभिरुचियों पर केंद्रित होता है। चार अभिरुचियों पर निर्भर चार वर्ष का कार्यक्रम चलता है। इन अभिरुचियों पर निर्भर ऐसी समस्याओं पर कार्य होता है, जिनके द्वारा भाषा, गणित, इतिहास और भूगोल का ज्ञान प्राप्त होता है। स्कूल के इतने विस्तृत कार्यक्रम में सेवक बहुत कम होते हैं। स्कूल की सफाई-सुथराई का काम अधिकतर विद्यार्थी ही करते हैं।

योजना, बेल-लेंकास्टर : इस योजना को मद्रास मिलिटरी एसाइलम के सुपरिंटेंडेंट डा० एंड्रयू बेल ने अपनाया था। यह उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भारत में प्रचलित शिक्षक-प्रशिक्षण जैसी शिष्य-शिक्षक विधि ही थी, जिसके अनुसार एक स्कूल या एक कक्षा को कई छोटे शिष्य-समूहों में बांट दिया जाता था और एक-एक कुशाग्रबुद्धि छात्र, जिसे आज मानीटर कहते हैं, प्रत्येक समूह की देखभाल करता था। उसका काम अपने समूह को पाठ पढ़ाना और उनके व्यवहार और उपलब्धि की सूचना अपने शिक्षक को देना था। इस प्रकार वह शिक्षक की ही नहीं, छात्रों की भी सहायता किया करता था। इसी योजना को बेल ने अपनाया और अपनी पुस्तक 'एन एक्सपेरीमेंट इन एजुकेशन मेड एट द मेल एसाइलम एट मद्रास' में इसका समर्थन किया। इस पुस्तक ने अंग्रेज शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर खींचा और उन्होंने इसको लेंकास्ट्रियन योजना के नाम से पुकारा।

यह योजना इस विश्वास पर आधारित है कि यदि बालकों को अधिक पढ़े-लिखे बालकों द्वारा पढ़ाया जाये, तो उनकी शिक्षा अधिक सरल हो जाती है। वास्तव में यह मानीटर अथवा पारस्परिक शिक्षण-प्रणाली उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुई थी। इसके विकास में लेंकास्टर, एंड्रयू बेल तथा जीन बेप्टिस्ट गिराई का हाथ था, और इस प्रणाली का उस समय बहुत प्रचार तथा प्रसार हुआ था। इंग्लैंड, अमरीका तथा यूरोप महाद्वीप में बालकों को शिक्षा के मूलभूत सिद्धांत पढ़ाने में यह प्रणाली बहुत सहायक सिद्ध हुई तथा उस सार्वजनिक शिक्षा का कार्य प्रशस्त करने में भी इसने सहायता की, जिसका नियंत्रण तथा पोषण राज्य किया करता था।

लेंकास्टर ने जेम्स मनरो तथा अन्य अधिकारियों को भी लिखा कि उनकी यह शिक्षा-पद्धति प्रारंभिक तथा उच्चतर अध्ययन में इस्तेमाल की जाये तथा भारत में भी इस पद्धति का उपयोग लाभदायक सिद्ध होगा। बालकों द्वारा बालकों का पढ़ाया जाना कोई नयी बात नहीं थी, उसका प्रचार तो पहले से ही था, परंतु लेंकास्टर ने इसे एक व्यवस्थित रूप दिया। इस पद्धति के अनुसार 200 से लेकर 300 बालकों तक को एक कमरे में बिठा लिया जाता था। बालक एक पंक्ति के हिसाब से बैठ जाते थे। प्रौढ़ अध्यापक मानीटरों को पढ़ाता था। पढ़ाई में वाचन, लेखन, गणित, वर्ण-विन्यास और ऊंचे विषय तक होते थे। पढ़ानेवाले मानीटरों के अतिरिक्त और मानीटर भी होते थे, जो बालकों की उपस्थिति लेते थे, उनकी

परीक्षा लेते थे और जो बालकों की पुस्तकों, कापियों आदि का भी ध्यान रखते थे। इन सब मानीटरों पर एक महामानीटर होता था। स्कूल की गतिविधियां सैनिक नियमों से नियंत्रित होती थीं। इन नियमों का विवरण लेंकास्टर स्वयं तैयार करते थे।

इस पद्धति में जब लेंकास्टर ने अधिक विस्तार किया, तो इसकी रूपरेखा विकृत हो गयी और बालकों की सृजनात्मक विचार-शक्ति, व्यक्तिगत पहल, तथा सहकारी सामाजिक शिक्षा प्राप्ति का अभाव हो गया। फिर भी इस योजना से शैक्षिक प्रगति को एक नयी दिशा मिली। इससे शिक्षा तथा अध्यापन विषयों के प्रति सार्वजनिक रुचि जागृत हुई और इससे सार्वजनिक शिक्षा का मार्ग खुल गया।

योजना, विद्यामंदिर : यह योजना मध्यप्रदेश सरकार ने 1928 में लागू की थी। इसका लक्ष्य ग्रामीण शिक्षा और सर्वजन शिक्षा की समस्या को हल करना था। इसके अनुसार प्रत्येक गांव में एक स्कूल होना था और इन स्कूलों के व्यय का भार ऐच्छिक रूप से दिये भूमिदान से पूरा होना था। भूमिदान का अर्थ यह माना गया था कि प्रत्येक स्कूल को इतनी खेतिहर भूमि दे दी जाये कि उससे दो सौ रुपये वार्षिक की आय हो सके। इस आय से शिक्षक का वेतन निकल सकता था। इसके अतिरिक्त सरकार की ओर से भी प्रत्येक स्कूल को भवन तथा स्कूल सामग्री आदि के लिए एक निश्चित राशि देनी थी। विद्यामंदिर जनता द्वारा जनता के लिए ही खोला जानेवाला था। यह एक ऐसा स्कूल बननेवाला था, जिसमें आवश्यकता पड़ने पर शिष्य-शिक्षक परंपरा (मोनीटोरीयल शिक्षा) का भी प्रयोग किया जा सके। दूसरे इस स्कूल को ग्राम के समस्त क्रियाकलापों का केंद्र होना था। इसके लिए वर्धा योजना पर पाठ्यचर्या का निर्माण हो गया और एक प्रशिक्षण स्कूल की भी योजना इसके अंतर्गत बनायी गयी, किंतु 1939 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने सरकार से इस्तीफा दे दिया और यह योजना कार्यरूप में परिणत नहीं की जा सकी।

योजना, विन्नेटिका : इस नयी शिक्षा-योजना में व्यक्तिगत प्रशिक्षण को महत्त्व दिया जाता है। कार्लेटन वाशबर्न और फ्रेड्रिक बर्क ने इसका आरंभ 1919 में किया था। इसमें समस्त सामग्री अध्यापक द्वारा विभाजित कर दी जाती है। पूर्वप्राप्त अनुदेशों की सहायता से छात्र को स्वयं ही उन उद्देश्यों को पूरा करना होता है। उक्त कार्य को पूरा करके छात्र निजी परीक्षण द्वारा अपने अधिगम की जांच करता है कि जो उसे सीखना था, उसने सीख लिया है या नहीं, और अब वह अध्यापक की परीक्षा में बैठ सकता है या नहीं। इस प्रकार विषय के एक लक्ष्य को पूरा करके वह उसी विषय के दूसरे लक्ष्य का अधिगम आरंभ करता है। इसमें वह अपने सहपाठियों तथा अन्य विषयों को छोड़कर कक्षोन्नति के स्थान पर विषयोन्नति पाता जाता है। उदाहरणार्थ, एक छात्र यदि पठन में एक वर्ष एक मास आगे होता है, तो अंकगणित में एक वर्ष छह मास और भाषा में दो वर्ष दो मास आगे हो जाता है। इस विधि की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता स्वाध्याय पुस्तिका है, जिसमें अनेकानेक अभ्यास-उपाय होते हैं, जिनकी शिक्षक द्वारा जांच की जाती है। इस विधि से समय की बचत होती है और हाई स्कूल में छात्र एक वर्ष पहले ही पहुंच जाता है। दूसरे, सामाजिक क्रियाकलापों के लिए भी उसे समय मिल जाता है। विन्नेटिका स्कूलों में प्रातःकालीन और सायंकालीन—दोनों अधिवेशनों का आधा समय व्यक्तिगत कार्य पर लगाया जाता है और शेष समय खेल, सभा, सैर, स्कूल-पत्रिका, संगीत, कला आदि कार्यों को दिया जाता है। इन स्कूलों में न कक्षा-सभाएं होती हैं और न सामूहिक सहयोग। प्रत्येक विषय का अधिगम व्यक्तिगत रूप से होता है। यह योजना व्यक्तिगत भेद के आधार पर अधिगम प्रगति को बढ़ावा देती है, किंतु सामूहिक जीवन की कार्यविधि को इसमें स्थान नहीं है।

रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) : भारत के राष्ट्र-कवि और विश्वभारती के संस्थापक रवींद्रनाथ ठाकुर का जन्म कलकत्ता के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। उनके दादा एक जमींदार थे। और पिता एक चरित्रवान पुरुष। बालक रवींद्र की स्कूली शिक्षा अधिक नहीं हुई। ओरियेंटल सेमिनरी से उन्हें नार्मल स्कूल में भेजा गया, परंतु शारीरिक दंड के भय से उन्होंने स्कूल छोड़ दिया और घर पर ही संस्कृत, अंग्रेजी, विज्ञान और ड्राइंग का अध्ययन किया। 1878 में उन्हें पढ़ने के लिए इंग्लैंड

भेजा गया पर वे दो वर्ष बाद वहां से भी लौट आये और फिर आगे औपचारिक रूप से नहीं पढ़ पाये। उन्होंने आठ वर्ष की आयु में ही कविता लिखनी आरंभ कर दी थी। बीस वर्ष की आयु में ही उनका पहला कविता-संग्रह 'सांध्य संगीत' (1882) प्रकाशित हुआ। 1913 में 'गीतांजलि' पर उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। अपने जीवन-दर्शन में वे विश्वबंधुत्व, ईश्वर, पितृत्व और प्रेम तथा सर्वहितवाद के समर्थक थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी उनका योगदान कम नहीं रहा है। वे पश्चिम के शिक्षा-आदर्शों के साथ भारत में प्राचीन तपोवन का सामंजस्य चाहते थे। उनके लिए शिक्षा सर्वहितवाद का साधन होने के साथ-साथ बालक की अधिकतम स्वतंत्रता की पोषक थी। मन की स्वतंत्रता ही उनके लिए शिक्षा का उद्देश्य थी। रूसो की तरह वे भी प्रकृति-प्रेमी थे और प्रकृति के साथ मानव-मन का सामंजस्य चाहते थे। इसके लिए प्रकृति या अनुकूल वातावरण को ही वे उपयुक्त समझते थे। इन आदर्शों की पूर्ति के लिए उन्होंने, जहां उनके पिता महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने अपना आश्रम खोला था, वहीं 1901 में अपना ब्रह्मचर्य आश्रम खोला और उसे शांतिनिकेतन की संज्ञा दी। इस आश्रम का घरेलू वातावरण ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। (दे० शांतिनिकेतन)

रसेल, बर्ट्रेंड (1872-1970) : प्रसिद्ध दार्शनिक, गणितज्ञ एवं शिक्षाशास्त्री बर्ट्रेंड रसेल का जन्म ब्रिटेन के उस ऐतिहासिक परिवार में हुआ था, जो राजनीति में सदा उग्रपंथी रहा है। इस परिवार के एक सदस्य लार्ड विलियम रसेल को चार्ल्स द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। इसी प्रकार बर्ट्रेंड रसेल के पितामह महारानी विक्टोरिया के प्रधानमंत्री रह चुके थे और वे सुधारवादी विधेयक पारित करवाने में बड़े सहायक हुए थे। किंतु जितनी विश्वव्यापी ख्याति बर्ट्रेंड रसेल को प्राप्त हुई, उतनी किसी और को नहीं हुई।

तीन वर्ष की आयु में ही उनके माता-पिता का देहांत हो गया था। पितामह ने ही उन्हें पाला। ट्रिनिटी कालेज, कैंब्रिज की छात्रवृत्ति प्राप्त करके वे गणित और नैतिक विज्ञान में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इसके बाद वे व्याख्याता हो गये और 36 वर्ष की आयु में ये एफ० आर० एस० (फैलो आफ रायल सोसाइटी) भी हो गये। इसी समय राजनीति से भी उन्होंने अपना नाता जोड़ा। वे फेबियन सोसायटी के मुक्त व्यापार आंदोलन तथा महिला महाधिकार आंदोलन से संबद्ध हुए। शांतिवादी विचारों के लिए उन्हें कारावास भी भुगतना पड़ा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वे लेबर पार्टी के सदस्य बन गये। लेबर प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य के रूप में उन्होंने रूस की यात्रा की और 'दि प्रेक्टिस एंड थ्योरी आफ बोल्शेविज्म' नामक पुस्तक लिखी। 1920 में उन्होंने पीकिंग विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिए चीन की भी यात्रा की। वहां से लौटकर 'दि प्रोबलम आफ चाइना' नामक पुस्तक लिखी।

रसेल ने अनेक जन-आंदोलनों का नेतृत्व किया, जिनमें परमाणु-विरोधी आंदोलन का नेतृत्व प्रमुख था। शिक्षा-जगत से उनका अटूट नाता रहा। गणित और दर्शनशास्त्र पर उन्होंने 50 से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। शिक्षा में उनकी बड़ी गहन रुचि थी। पीटर्सफील्ड, हैंपशायर के निकट उन्होंने अपनी दूसरी पत्नी डोरा रसेल के साथ लड़के-लड़कियों के लिए एक स्कूल चलाया। उसमें बच्चों को पढ़ने और खेलने की सच्चे अर्थों में बड़ी स्वतंत्रता थी। दरअसल रसेल मानव-स्वतंत्रता के बड़े प्रेमी थे। वे किसी भी प्रकार का उत्पीड़न सहन नहीं कर सकते थे। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भी उन्हें बड़ी रुचि थी। अपनी सहानुभूति के कारण ही वे इंडिया लीग के अध्यक्ष बनाये गये। द्वितीय महायुद्ध के कुछ पहले उन्होंने पुनः अपनी व्याख्यान यात्रा का आरंभ किया। उसके लिए वे शिकागो, लास एंजिल्स और केलिफोर्निया विश्व-विद्यालयों में गये। 1940 में वे न्यूयार्क सिटी कालेज में प्रोफेसर हो गये। उनकी युद्धोतरकालीन रचनाओं में 'हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलासफी' एक अत्यंत प्रामाणिक रचना सिद्ध हुई है। 'पोर्ट्रेट्स फ्राम मेमरी' उनकी आत्मकथा है।

रसेल आधुनिक शिक्षा-जगत की ऐसी महान विभूति थे, जिन्होंने अपने-आप को शिक्षा और लेखन तक ही सीमित न रखकर विश्वशांति और मानवीय स्वतंत्रता के लिए अपने जीवन को लगाया और सक्रिय होकर उसके लिए अनेक आंदोलन किये। 1950 में उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए कलिंग पुरस्कार तथा यूरोपीय संस्कृति के प्रति विशिष्ट सेवाओं के लिए डेनिस शोनिंग पुरस्कार मिला।

राजा राममोहन राय (1774-1833) : भारत में सती-प्रथा के उन्मूलन के संदर्भ में राजा राममोहन राय का नाम सर्वप्रथम आता है। भारत में यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में भी उनका नाम सर्वोपरि है। उन्होंने अनुभव किया कि विश्व में भारत को उचित स्थान दिलाने के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान में रुचि लेना अनिवार्य है। संस्कृत के प्रकांड विद्वान होने पर भी उन्होंने संस्कृत का खुला विरोध किया; क्योंकि वे अनुभव कर चुके थे कि केवल संस्कृत और अरबी के ज्ञान के आधार पर भारत अत्यंत पिछड़ा हुआ देश रह जायेगा। इस बात को देखते हुए उन्होंने अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के लिए आंदोलन चलाया। भारत में फैली कई सामाजिक बुराइयों का भी उन्होंने उन्मूलन किया। नारी को उन्होंने बराबरी का दर्जा दिलाया। धार्मिक संकीर्णता दूर करने के लिए उन्होंने ब्रह्मसमाज नामक संस्था की स्थापना की। उनकी इस संस्था का दृष्टिकोण बहुत उदार था। इसमें उन्होंने समाज में फैली अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया था।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद : इस परिषद की स्थापना भारत सरकार द्वारा 1 सितंबर, 1961 को हुई। यह एक स्वायत्त संगठन है। इसका उद्देश्य देश में शिक्षा-अनुसंधान को सुसंगठित रूप में बढ़ावा देना, स्वयं शोध करना, शोधकर्ताओं को प्रशिक्षण देना और क्षेत्रीय सेवा-कार्य करना है। यह परिषद विश्व-विद्यालय और कालेजों को भी शोध के लिए अनुदान देती है तथा शोध-ग्रंथों का प्रकाशन भी करती है। शिक्षा-अनुसंधान में दूसरे राष्ट्रों से सहयोग करके भी यह शोधकार्य को बढ़ावा देती है। 1963 में इसने अमरीका के शिक्षा-विभाग से सहयोग करके अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये। आदर्श पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का काम भी यह परिषद करती है। परिषद अपने कार्य को राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान और क्षेत्रीय शिक्षा कालेजों द्वारा पूरा करती है। केंद्रीय शिक्षा संस्थान में सेंट्रल ब्यूरो आफ द टेक्स्ट बुक रिसर्च, सेंट्रल ब्यूरो आफ एजुकेशन एंड वोकेशनल गाइडेन्स, केंद्रीय बेसिक शिक्षा संस्थान, राष्ट्रीय मूल शिक्षा केंद्र, राष्ट्रीय दृश्य-श्रव्य संस्थान और माध्यमिक विद्यालय स्तर की सेवाएं सम्मिलित हैं।

इसके अतिरिक्त शिक्षा से संबंधित अनेक नये विभाग इसके अंतर्गत कार्य करते हैं। कुछ प्रमुख विभाग ये हैं: (1) पाठ्यचर्या पाठ्यपुस्तक एवं पाठ्यविधि (2) शैक्षिक प्रशासन (3) शिक्षा-मनोविज्ञान, इसके अंतर्गत व्याव-सायिक निर्देश, केंद्रीय शिक्षा संस्थान का मनोविज्ञान-विभाग, बालक अध्ययन यूनिट और साइकोमीटरिक यूनिट काम करते हैं (4) तुलनात्मक शिक्षा तथा सामाजिक एवं दार्शनिक शिक्षा (5) शिक्षा-प्रशिक्षण (6) विज्ञान-शिक्षा (7) बुनियादी और प्राथमिक शिक्षा (8) दृश्य-श्रव्य (9) मूल शिक्षा तथा (10) अनुदेश।

इन सभी विभागों का कार्य शोध, प्रशिक्षण एवं विस्तार, और क्षेत्र सेवाएं है। शोध का काम एम० ए०, पी-एच० डी० विद्यार्थी एवं अध्यापक वर्ग के व्यक्ति एवं समूह, विभाग एवं अंतर्विभाग सभी स्तरों पर होता है। शोध के कार्यों को सुसंगठित करने के लिए इसकी दो स्थायी समितियां हैं, जो परिषद की योजना, अनुदान, कार्य-समन्वय आदि सभी की देखभाल करती हैं और अनुसंधान को प्रोत्साहन देती हैं।

परिषद की दूसरी एजेंसी क्षेत्रीय शिक्षा कालेज है। ये अजमेर भुवनेश्वर, भोपाल एवं मैसूर में स्थापित किये गये हैं। इनमें चार वर्षीय संकलित पाठ्यक्रम के माध्यम से शिक्षक-प्रशिक्षण के साथ-साथ शोध-कार्य भी संपन्न होता है। इन कालेजों का लक्ष्य बहुउद्देश्यीय स्कूलों के लिए शिक्षक तैयार करना है।

रिपोर्ट, जाकिरहुसैन : डा० जाकिर हुसैन एक महान शिक्षाशास्त्री थे। भारत के राष्ट्रपति होने से पूर्व वे दिल्ली स्थित जामिया मिलिया के प्रिंसीपल थे। 22 और 23 अक्टूबर, 1937 को वर्धा में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन ने बेसिक शिक्षा की विस्तृत योजना तैयार करने के लिए जो कमेटी नियुक्त की, जाकिर हुसैन उसके अध्यक्ष थे। महात्मा गांधी के शिक्षा-सिद्धांतों पर आधारित जो रिपोर्ट इस कमेटी ने तैयार की, वह वर्धा स्कीम के नाम से प्रसिद्ध है और राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1938 में उसे स्वीकृति प्रदान की थी। योजना मुख्य रूप से इस सिद्धांत पर आधारित है कि स्कूल ऐसी स्थितियां उत्पन्न करें कि वहां सामाजिक और सहकारी जीवनयापन का निरंतर अभ्यास होता

रहे। वहां प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग हो, जिससे वास्तविक सहकारी समाज का उदय हो सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस रिपोर्ट में बेसिक शिक्षा की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। इसमें 7 से 14 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए ऐसी शिक्षा का पाठ्यक्रम है, जिससे वे सामाजिक और नागरिक प्रशिक्षण का अनिवार्य औसत प्राप्त कर सकें। स्कूल से अलग नर्सरी शिक्षा का इसमें विधान नहीं है। इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि अनिवार्य शिक्षा की अवधि 14 से 16 वर्ष तक भी बढ़ायी जा सकती है। इसके पाठ्यक्रम की मुख्य बातें ये हैं :

(1) 7 से 14 वर्ष तक का शिक्षा-कार्य ऐसे शिल्प के माध्यम से होना चाहिए, जो उस क्षेत्र में मुख्य रूप से प्रचलित हो। परंतु वह शिल्प व्यावसायिक शिल्प के रूप में न होकर शिक्षा का ऐसा साधन हो, जिसके संदर्भ में गणित, भूगोल, कृषि आदि विषयों का ज्ञान सुगमता से दिया जा सके। शिल्प की आय से ही स्कूल के तात्कालिक व्यय की पूर्ति की जाये। इससे स्कूल का खर्च तो निकलेगा ही, साथ ही विषय का संपूर्ण ज्ञान और कौशल प्राप्त करने में भी सहायता मिलेगी।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए जो एक सांस्कृतिक संस्था है। लोगों की आकांक्षाएं उनकी भाषा में ही निहित रहती हैं, अतः किसी शिक्षा-पद्धति में उसे दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता है। इसीलिए अंग्रेजी को इस योजना में स्थान नहीं दिया गया है।

(3) शिल्प की कुशलता प्राप्त करने के लिए गणित भी अनिवार्य है। इसके लिए, अतिरिक्त व्यायाम और बही-खाते का ज्ञान कराना भी आवश्यक है।

(4) सामाजिक ज्ञान में इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र जैसे सभी विषयों की शिक्षा होनी चाहिए, ताकि बालक अपने सामाजिक तथा राजनैतिक परिवेश में पूर्णतया परिचित हो सके और अपने भविष्य को सुव्यस्थित कर सके। धार्मिक शिक्षा को इस रिपोर्ट में कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

(5) विज्ञान की शिक्षा को इस रिपोर्ट में मानव-सेवा के साधन के रूप में स्थान दिया गया है।

(6) संगीत में राष्ट्र-गीत तथा समूह-गान को भी स्थान दिया गया है और ड्राइंग की शिक्षा पर भी बल दिया गया है, जिससे बालक अपने दैनिक जीवन में उसका उपयोग करके अपने वातावरण को सुंदर बना सके।

इस प्रकार वर्धा योजना के अनुसार शिक्षा की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है, उसमें सामाजिक अभिविन्यास के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन की शिक्षा पर भी बल दिया गया है और राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने की ओर भी उसकी दृष्टि रही है। इस योजना में काम करते हुए सीखना, पूर्ण आत्माभिव्यक्ति, शिल्प के माध्यम से प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से सामंजस्य, सहकारिता के द्वारा सामाजिक प्रशिक्षण आदि मूल्यवान शिक्षा-सिद्धांतों का समावेश हुआ है।

मगर वर्धा-योजना में कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) यह योजना शिल्प केंद्रित है, बालक-केंद्रित नहीं, इसलिए इसमें मनोवैज्ञानिक विधि से बालक की अभिज्ञता की खोज नहीं हो पाती।

(2) तीन या चार घंटे का एकरस शिल्प मनोवैज्ञानिक विधि के अनुकूल नहीं है।

(3) छोटी आयु में शिक्षा का व्यावसायिक होना मनोवैज्ञानिक नहीं है।

(4) उत्पादन-कार्य और सृजन-कार्य में अंतर नहीं किया गया है।

(5) बनाने और तोड़ने, अर्थात् प्रयोग करने को भी इसमें कोई स्थान नहीं है।

(6) शिल्प से शिक्षक का वेतन निकालना भी तर्कयुक्त नहीं है।

(7) समस्त विषय एक शिल्प द्वारा नहीं पढ़ाये जा सकते।

फिर भी इस योजना पर सफलतापूर्वक प्रयोग करने की गुंजाइश है।

रिपोर्ट, वुड-एबट : सन् 1935 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने प्रस्तावित किया था कि शिक्षा पुनर्गठन के लिए विशेषज्ञों के परामर्श की आवश्यकता है। अतः भारत सरकार ने इंग्लैंड के बोर्ड आफ एजुकेशन के दो विशेषज्ञों, एस० एच० वुड और ए० एबट, को 1936 में आवश्यक सुझाव देने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने 1936-37 में देश का दौरा किया और सामान्य शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा पर अलग-अलग सुझाव दिये। सामान्य शिक्षा के लिए उनके सुझाव ये हैं :

(1) शिशु-कक्षाएं प्रशिक्षित अध्यापकों के हाथों में होनी चाहिए। इसके लिए स्त्री-शिक्षा का अत्यंत महत्त्व है।

(2) प्रारंभिक शिक्षा पुस्तक पर आधारित न होकर बालक की प्राकृतिक रुचि और क्रिया पर आधारित होनी चाहिए।

(3) मध्यवर्ती शिक्षा (मिडिल) भी बालक के परिवेश से संबंधित होनी चाहिए। अंग्रेजी यदि पढ़ायी भी जाये, तो उस पर अधिक जोर न दिया जाये।

(4) हाई स्कूल में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। अंग्रेजी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ायी जाये, किंतु उसे यथासंभव घरेलू रूप में रखा जाये।

(5) ललित कलाओं की शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाये, किंतु इसके लिए प्रशिक्षित शिक्षक हों।

व्यावसायिक शिक्षा-संबंधी सुझाव ये हैं :

(1) व्यावसायिक शिक्षा औद्योगिक विकास को पीछे न छोड़े।

(2) साधारण और व्यावसायिक शिक्षा मूलतः भिन्न नहीं है। प्रत्येक विषय का उद्‌गम अव्यावसायिक ही होता है।

(3) व्यावसायिक शिक्षा साधारण शिक्षा पर ही निर्भर होती है। इसलिए आठवीं कक्षा के बाद ही छात्र जूनियर व्यावसायिक स्कूल में भरती किये जायें।

(4) तीन वर्षीय जूनियर व्यावसायिक स्कूलों में छात्रों को आठवीं कक्षा के बाद भरती किया जाये और दो वर्षीय सीनियर स्कूलों में हाई स्कूल के बाद। इस प्रकार ये स्कूल उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के समानांतर ही होंगे।

(5) जो लोग काम पर लगे हैं, उनके लिए भी अंश-कालिक शिक्षा का प्रबंध होना चाहिए।

(6) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में कृषि-शिक्षा दी जानी चाहिए।

योग्य शिक्षाशास्त्रियों ने ये सुझाव भारतीय परिवेश को ध्यान में रखकर ही दिये थे। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् ही इन दिशाओं में कार्य आरंभ हुआ है, किंतु वह अभी पर्याप्त नहीं है।

रिपोर्ट, सारजेंट : बीसवीं सदी के पांचवें दशक में भारत के प्रमुख शिक्षाविदों का ध्यान इस ओर गया कि अल्प विकसित देशों के समान ही भारत में भी एक सुसंगठित शिक्षा-पद्धति का होना आवश्यक है। इसके लिए 1943 में वायसराय की कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई।

रिकमेंडेशन्स कमेटी ने भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार सर जोन सारजेंट को भारत में युद्धोत्तर काल के शिक्षा-विकास पर एक स्मरण-पत्र तैयार करने को कहा था। इसके फलस्वरूप जो स्मरण-पत्र स्वीकार होकर प्रकाशित हुआ, वह सारजेंट रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें पहले की सभी रिपोर्टों को जोड़कर एक सुव्यवस्थित शिक्षा-योजना प्रस्तुत की गयी है। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार है :

(1) 3 से 6 वर्ष तक के 1,000,000 बालकों के लिए पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(2) सर्वव्यापी अनिवार्य तथा निःशुल्क प्रारंभिक अथवा बुनियादी शिक्षा को दो भागों में बांटा जाये : (क) 6 से 14 वर्ष तक जूनियर बेसिक, और (ख) 11 से 14 वर्ष तक सीनियर बेसिक स्कूल। जूनियर बेसिक शिक्षा सबके लिए रहे और सीनियर बेसिक उनके लिए, जो हाई स्कूल में न जायें।

(3) छह वर्षीय (11 से 17 तक के) माध्यमिक स्कूलों में जूनियर बेसिक से केवल 20 प्रतिशत होनहार विद्यार्थी ही छांटकर लिए जायें। ये हाई स्कूल भी दो प्रकार के हों : (क) अकादमिक हाई स्कूल और (ख) तकनीकी हाई स्कूल। अकादमिक हाई स्कूल में कला और विशुद्ध विज्ञान के विषय पढ़ाये जायें और तकनीकी हाई स्कूल में उद्योग, व्यवसाय और व्यावहारिक विज्ञान के विषय। लड़कियों के लिए गृह-विज्ञान अलग से पढ़ाया जाये और शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(4) विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध-सुविधाएं दस में से एक को चुनकर दी जायें। विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम तीन साल का हो। इंटरमीडियेट कक्षाओं को हटाकर उसका पहला वर्ष हाई स्कूल में मिला दिया जाये और दूसरा वर्ष विश्वविद्यालयों में। देश के समस्त विश्वविद्यालयों से संपर्क स्थापित करने के लिए विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति के समान ही एक अखिल भारतीय संस्था हो।

(5) तकनीकी, व्यावसायिक और कला-शिक्षा की मात्रा, प्रकार और स्थान उद्योग और व्यापार को ध्यान

में रखकर निर्धारित किया जाये। इसके लिए चार प्रकार के स्कूलों की व्यवस्था होनी चाहिए: (क) जूनियर तकनीकी और औद्योगिक संस्थान अथवा व्यापार स्कूल, जिसमें सीनियर बेसिक के बाद दो साल का पाठ्यक्रम रहे (ख) तकनीकी हाई स्कूल, जिसमें जूनियर बेसिक के बाद छह साल का पाठ्यक्रम रहे (ग) सीनियर तकनीकी संस्थान, जिसका समय नियोक्ता के परामर्श से निश्चित हो तथा (घ) विश्वविद्यालय तकनीकी विभाग, जिसमें शोध की सुविधाएं एवं अंशकालिक स्कूल हों।

(6) 20 से 40 वर्ष तक की आयुवालों की प्रौढ़ शिक्षा व्यावसायिक और अव्यवसायिक—दोनों प्रकार की होनी चाहिए।

(7) शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण कालेजों और विश्वविद्यालय के शिक्षा-विभाग के स्नातक प्रशिक्षण के अतिरिक्त तीन प्रकार के प्रशिक्षण स्कूल और होने चाहिए: (क) पूर्व प्राथमिक (ख) बुनियादी शिक्षक और (ग) हाई स्कूल के अस्नातक शिक्षक। प्रशिक्षित अध्यापकों के लिए पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम की व्यवस्था होनी चाहिए।

(8) बालकों के स्वास्थ्य की देखरेख के लिए कुशल चिकित्सा सेवा हो।

(9) मानसिक और शारीरिक विकलांगों के लिए विशेष स्कूल हों।

(10) रोजगार ब्यूरो बनाये जायें।

(11) बड़े पैमाने पर सामाजिक मनोरंजन के कार्य-कलाप हों।

(12) प्रशासन के लिए केंद्र में एक सुदृढ़ शिक्षा-विभाग हो, किंतु उच्च तकनीकी शिक्षा और विश्व-विद्यालयों को छोड़कर राज्यों के हाथ में ही शिक्षा-प्रशासन की व्यवस्था हो तथा उनमें परस्पर अखिल भारतीय संपर्क रहे। स्थानीय संस्थाओं को सौंपा गया शिक्षा-प्रशासन सरकार पुन: अपने हाथों में ले ले।

इस रिपोर्ट की आलोचना इस आधार पर की गयी कि इस सारी योजना को लागू करने के लिए चालीस वर्ष का समय अपेक्षित था और आर्थिक कठिनाइयों में भी यह योजना रुक सकती थी। जो योजना इतने लंबे समय और धन की अपेक्षा करती है उसकी सार्थकता असंदिग्ध नहीं हो सकती। फिर भी, यह विस्तृत, विवेकपूर्ण और सुझावपूर्ण है।

रिपोर्ट, स्पेंस : 'द एजुकेशन ऐक्ट आफ 1944' के अनुसार इंग्लैंड में नि:शुल्क माध्यमिक शिक्षा तीन भागों में बांटी गयी थी: (1) ग्रामर स्कूल (2) माडर्न और (3) तकनीकी स्कूल। ग्रामर स्कूल में सामान्य शिक्षा की व्यवस्था है। मार्डन स्कूल के पहले दो वर्ष का कार्यक्रम तो ग्रामर स्कूल जैसा ही है, किंतु बाद के दो वर्षों में पाठ्यक्रम में स्कूल और व्यवसाय के बीच की खाई को पाटने के लिए छात्र की रुचि के अनुसार व्यावहारिक विषयों की शिक्षा दी जाती है। तकनीकी स्कूल की शिक्षा उद्योग, कृषि और व्यापार से संबंधित है, किंतु इस तकनीकी शिक्षा की आवश्यकताओं को छह वर्ष पहले स्पेंस रिपोर्ट (1938) में ही प्रस्तावित कर दिया था। इस रिपोर्ट में ऐसे तकनीकी हाई स्कूलों की व्यवस्था का सुझाव दिया गया था, जो तत्कालीन जूनियर तकनीकी स्कूलों पर निर्भर हों। इन स्कूलों में प्रारंभिक स्कूलों की शिक्षा पूरी करने वाले विद्यार्थियों के लिए दो अथवा तीन साल का पाठ्यक्रम था। इसी से आगे की व्यवस्था स्पेंस रिपोर्ट में की गयी थी।

रिपोर्ट, हारटोग आयोग : मई 1926 में साइमन कमीशन (भारत की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उन्नति की जांच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त एक भारतीय वैधानिक आयोग) ने सर फिलिप हारटोग की अध्यक्षता में ब्रिटिश भारत के शिक्षा-विकास की जांच करने के लिए एक उप-समिति बनायी थी। इस समिति ने सितंबर, 1929 में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसमें यह स्वीकार किया गया कि शिक्षा के सभी क्षेत्रों में बहुत तेजी से प्रगति हुई है, जनता ने भी उसमें बड़ी रुचि दिखायी है, किंतु साक्षरता की स्थिति असंतोषजनक रही है। प्रारंभिक शिक्षा की उपेक्षा से अपव्यय भी हुआ है और शिक्षा में गतिरोध भी आया है। कारण यह है कि बालक स्कूल को किसी भी कक्षा से छोड़ जाता है या वह कई वर्ष तक एक ही कक्षा में रह जाता है। रिपोर्ट में कुछ और कारण भी गिनाये गये, जैसे: (1) प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था न होना (2) 500 की आबादी पर स्कूल का न होना, (3) स्कूलों का असमान वितरण—बड़े क्षेत्रों में कम स्कूल और छोटे क्षेत्रों में अधिक (4) बच्चों का स्कूल न जाना (5) अरोचक अध्यापन—सारे स्कूल में एक ही शिक्षक होना तथा अध्यापक का कई कक्षाएं एक साथ पढ़ाना (6) अरोचक

पाठ्यक्रम, और (7) अनिवार्य शिक्षा की असंतोषजनक व्यवस्था।

हारटोग आयोग ने इसमें सुधार के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाये :

(1) स्कूलों की काटछांट की जाये।

(2) चार वर्षीय प्रारंभिक शिक्षा का पाठ्यक्रम चलाया जाये तथा स्कूल का समय और अवकाश मौसम के अनुसार रखा जाये।

(3) शिक्षकों को पर्याप्त वेतन तथा प्रशिक्षण।

(4) बरबादी और गतिरोध पर निगाह रखी जाये।

(5) निरीक्षकों की व्यवस्था की जाये।

(6) शिक्षा की अनिवार्यता को लागू किया जाये।

इस रिपोर्ट में माध्यमिक शिक्षा पर संतोष प्रकट किया गया था, परंतु मैट्रिक परीक्षा में असफल विद्यार्थियों के बढ़े हुए प्रतिशत पर खेद प्रकट किया गया। इसका मुख्य कारण यह बताया गया कि प्रत्येक छात्र का ध्येय विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना होता है। विश्वविद्यालय की शिक्षा में वृद्धि तो हुई है, किंतु उसका स्तर नहीं उठा है। अधिकतर विश्वविद्यालय ऐसे छात्रों से भरे रहते हैं, जो मानसिक स्तर से उच्च शिक्षा के योग्य नहीं हैं। अतः इसमें अयोग्य विद्यार्थियों के प्रवेश पर सख्ती से काम लेने का सुझाव दिया गया। आनर्स पाठ्यक्रम और अनुशिक्षण कक्षाओं पर बल दिया गया तथा पुस्तकालयों को समृद्ध करने की बात कही गयी। स्त्री-शिक्षा के विषय में लड़कियों की असमानता पर भी ध्यान दिलाया गया। कहा गया कि स्कूलों में लड़कियों की संख्या लड़कों से बहुत कम होती है। गांवों में यह और भी कम है। इसका कारण स्त्री-शिक्षक का न होना भी है। इसके लिए लड़कियों की आवश्यकता के अनुरूप स्कूलों में पाठ्यक्रम होना चाहिए तभी शिक्षकों और स्त्री-निरीक्षकों की संख्या बढ़ सकती है। धीरे-धीरे बालिग शिक्षा की अनिवार्यता को लागू किया जाये। रिपोर्ट में इस ओर भी ध्यान दिलाया गया कि शिक्षा का केंद्र से प्रांतों की ओर स्थानांतरण अचानक हुआ है। अतः एक केंद्रीय शिक्षा-समिति की आवश्यकता है। प्रारंभिक शिक्षा का भार स्थानीय संस्थानों को सौंपना भी ठीक नहीं है। अच्छा यह होगा कि डी० पी० आई० के कार्य को सीमित न रख कर स्थानीय संस्थाओं तक विस्तृत किया जाये।

रुझान-परीक्षण : रुझान का अर्थ है विशेष कौशल, ज्ञान और अभिरुचियों की ओर मानसिक झुकाव। रुझान के परीक्षण से इन विशिष्ट योग्यताओं की क्षमता को नापने का यत्न किया जाता है। रुझान-परीक्षण से निश्चित सफलता की पूर्वसूचना दी जा सकती है। रुझान-परीक्षण कई प्रकार के होते हैं और ये पात्र की योग्यता अथवा अभियोग्यता की उपस्थिति का संकेत कर देते हैं। इनकी मदद से उन क्षमताओं को प्रोत्साहित और विकसित किया जा सकता है। प्रारंभिक रुझान-परीक्षण के द्वारा बोध, काल्पनिक मानसदर्शन, शारीरिक दक्षता और लिपिकीय विशुद्धता को नापा गया। 1940 और 1950 के मध्य वैयक्तिक अंतर प्रकाश में आये। इस काल में जो परीक्षण विकसित किये गये, वे संपूर्ण बुद्धि को ही नापनेवाले नहीं थे, वरन् विभिन्न रुझानों को भी नापनेवाले थे। इनके प्रयोग से व्यक्तिगत शक्ति और दुर्बलताओं का रेखाचित्र सम्मुख उभरा, जिससे शिक्षक एवं उपबोधक को विद्यार्थी को परामर्श देते समय बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

अच्छे स्कूलों में अपने शिष्यों की अभिक्षमता अथवा रुझान की जांच के लिए सदा प्रयत्न किया जाता है। उसके लिए वे अनेक साधनों को उपयोग में लाते हैं। उदाहरणार्थ, नेतृत्व की जांच के लिए समूह में छात्रों का निरीक्षण किया जा सकता है। अनुमान-परीक्षण से इसकी जांच की जा सकती है। ऐसे ही सृजनात्मक लेखन की जांच के लिए शिक्षक अपनी डायरी में उन विद्यार्थियों के नाम नोट कर सकता है, जो किसी कथा और विचार को एक नया मोड़ देते हैं। ऐसे ही शिष्यों के प्रश्नों से उनकी वैज्ञानिक अभिक्षमता का पता लग जाता है। इस सामान्य परीक्षण-विधि के अतिरिक्त अमरीका के वैज्ञानिक निगम ने आठ प्रकार के रुझान-परीक्षण विकसित किये। वे इस प्रकार हैं: मौखिक तर्कना, संख्या-विषयक योग्यता, अमूर्त तर्कना, दूरी-संबंध, यांत्रिक तर्कना, लिपिकीय वेग तथा विशुद्धता, वर्ण-विन्यास, और भाषा-प्रयोग।

रूसो (1712-1778) : जनसाधारण में अपने स्वामियों के विरुद्ध क्रांति की चेतना जगानेवाले क्रांतिकारी विचारक ज्यां जेक्वेस् रूसो का जन्म जेनेवा के एक निर्धन घड़ीसाज के घर सन् 1712 में हुआ। बचपन से ही दुर्बल होने के कारण वे अनेक रोगों से ग्रस्त रहते थे। उनके घर का

वातावरण भी अनुकूल नहीं था। उन्हें एक मुलम्मेसाज के पास काम सीखने के लिए भेजा गया, लेकिन उसने दुर्व्यवहार किया और रूसो लड़झगड़कर वापस आ गये। 1728 में उन्होंने सदा के लिए घर छोड़ दिया और 1741 तक इधर-उधर घूमते रहे। इस अवधि में उन्होंने अनेक स्थानों की सैर की और भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से मिले। उन्होंने समाज के परंपरागत नियमों को तोड़कर अनैतिकता और अनिष्ठापूर्ण समाज की सभी बातों को जान लिया। इसी समय पेरिस की एक अकादमी ने निबंध प्रतियोगिता रखी थी और रूसो ने भी उसमें भाग लिया था और पुरस्कार प्राप्त किया। इससे उनका उत्साह बढ़ा और उन्होंने लेखनवृति को ग्रहण किया और अपने ग्रंथ 'सोशल कांट्रेक्ट' के द्वारा समस्त यूरोप की जड़ों को हिला दिया। उन्होंने दलित वर्ग का पक्ष लेकर राजा के दैवी अधिकार की अलोचना की। इसके लिए उनकी गिरफ्तारी के वारंट जारी हो गये और उन्होंने भागकर जर्मनी में शरण ली। कुछ दिनों के लिए वे ह्यूम के निमंत्रण पर इंग्लैंड भी गये, पर जल्दी ही वहां से लड़झगड़कर आ गये। 1770 में वे पेरिस लौटे, लेकिन तब तक लोग उन्हें भूल चुके थे। अपने जीवन के अंतिम आठ वर्ष उन्होंने दरिद्रता और एकांत में व्यतीत किये। संगीत की प्रतिलिपियां तैयार करके उन्होंने अपना जीवन-यापन किया। 1778 में उनकी मृत्यु हो गयी।

रूसो के प्रसिद्ध ग्रंथ है:

(1) दि प्रोग्रेस आफ आर्टस एंड साइन्स (1750)

(2) दि ओरिजिन आफ इनइक्वेलिटी एमंग मैन (1753)

(3) सोशल कांट्रेक्ट (1762)

(4) एमाइल (1762)

शिक्षा के क्षेत्र में उनके 'एमाइल' नामक उपन्यास का बड़ा महत्त्व है। एमाइल एक काल्पनिक लड़का है, जिसकी शिक्षा प्रकृति के मध्य उसकी देखरेख में होती है। एमाइल की शिक्षा के माध्यम से रूसो शिक्षा के क्षेत्र में अपने प्रकृतिवाद के सिद्धांत को लागू करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति के हाथों निर्मित होने के कारण प्रत्येक वस्तु अच्छी है, किंतु मनुष्य के हाथों प्रत्येक वस्तु का अधःपतन होता है। मनुष्य की तो सांस भी उसके साथियों के लिए घातक है। उनका विश्वास है कि शिक्षा के स्रोत प्रकृति, मनुष्य और वस्तुएं हैं। प्रकृति से उनका अभिप्राय सहज प्रवृति से है, मनुष्य से अभिप्राय है सामाजिक परिवेश और वस्तुओं से उनका अभिप्राय प्रकृति से है। इन तीनों की सामंजस्यपूर्ण अंतरप्रक्रिया ही पूर्ण और आदर्श शिक्षा की जननी है। यदि किसी प्रकार इन तीनों की समरसता अपूर्ण रह जाती है, तो समझना चाहिए कि शिक्षा भी अपूर्ण है। इस प्रकार यद्यपि रूसो का लेखन भावनाओं से परिपूर्ण है और उसमें अनेक विसंगतियां पायी जाती हैं, फिर भी वे पेस्टोलोजी, फ्राबेल और हरबर्ट जैसे शिक्षा-शास्त्रियों के बौद्धिक जन्मादाता माने जाते हैं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का बीजारोपण उन्हीं के द्वारा हुआ है।

लयोला इग्नेशियस (1491-1556) : जेस्युइट संगठन का संस्थापक। सन् 1521 में पांपलीना की लड़ाई में एक सैनिक के रूप में उन्होंने भाग लिया था। इस लड़ाई में दुर्भाग्य से उनके पैर में गहरी चोट लग गयी। स्वास्थ्यलाभ की लंबी अवधि में उन्होंने अनेक संतों की जीवनियां पढ़ीं और इनसे प्रभावित होकर 'ईशु का योद्धा' बनने का निश्चय किया। प्रार्थना, व्रत, आत्मपीड़न आदि से अपने को अनुशासित करने के बाद उन्होंने जेरूसलम की तीर्थयात्रा की। लेकिन वहां के मुसलमान निवासियों को प्रभावित करने में असफल रहने पर उन्होंने महसूस किया कि उनमें अपने काम के लिए अपेक्षित शिक्षा का नितांत अभाव है। इसलिए वे स्पेन तथा पेरिस विश्वविद्यालय में विद्यार्थी रहे। वहीं उन्होंने अपने छह सह-विद्यार्थियों के साथ 'सोसाइटी आफ जीसस' (जेस्युइट) की स्थापना की। इनके सदस्यों को सैनिकों के समान सुव्यवस्थित प्रशिक्षण दिया गया। धर्मशास्त्रीय अध्ययन, लड़कों का शिक्षण, ईसाई सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार आदि इनके कार्यक्रम के अनिवार्य अंग थे।

लयोला अपने सहयोगियों के साथ रोम चले गये और 1540 में 'सोसाइटी आफ जीसस' को तत्कालीन पोप ने स्वीकृति दी। अगले साल, लयोला इस सोसाइटी के प्रथम जनरल चुने गये। अपने जीवन का शेष भाग उन्होंने रोम में ही बिताया और अपनी संस्था के संविधान को रूप-आकार देने में लगे रहे। पोप ग्रिगरी पंद्रहवां ने उनको 1622 में संत घोषित किया।

शिक्षा के क्षेत्र में लयोला और जेस्युइटों का योगदान

अत्यंत उल्लेखनीय है। शिक्षकों के रूप में जेस्युइटों ने पुनर्जागरण की प्रेरक-शक्तियों को नियंत्रित करने और प्राचीन संस्कृति की गरिमा की ओर विद्यार्थियों को सचेत करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने दंडात्मक शिक्षा प्रणाली को तिलांजलि देकर विद्यार्थियों में प्रतियोगिता की स्वस्थ भावना को जगाया। सोलहवीं और सत्रहवीं शती में यूरोपीय शिक्षा के क्षेत्र में लयोला के शिक्षा-सिद्धांतों का अत्यधिक प्रभाव था।

लाइसियम : एथेन्स में अपोलो लाइसियस के मंदिर के पास, छतदार मार्गवाले व्यायामशाला तथा उद्यान को 'लाइसियम' कहते थे। चूंकि अरस्तू यहां अपने शिष्यों को पढ़ाया करते थे, अत: इस शब्द का अर्थ अरस्तू का दार्शनिक स्कूल हो गया। कई भाषाओं में इस शब्द का प्रयोग प्रशिक्षण स्थान के अर्थ में होता है। फ्रांस में 'साइली' शब्द उन बड़े माध्यमिक विद्यालयों के लिए प्रयुक्त होता है, जिनकी प्रशासन-व्यवस्था राज्य के हाथ में होती है।

1826 के प्रारंभिक दिनों में डर्बी के जोसिया हाल ब्रुक ने शिक्षा की प्रगति के लिए एक विश्वव्यापी संघ (फेडरेशन) की रूपरेखा तैयार की। अरस्तू की उस शिक्षण-स्थली के आधार पर, जहां वे यूनान के जवानों को भाषण दिया करते थे, इसका नाम लाइसियम रखा गया। समूह या वर्ग से लेकर अंतर्राष्ट्रीय लाइसियम तक तरतीबवार व्यवस्था इस योजना में रखी गयी थी। अंतर्राष्ट्रीयता तक तो इसकी पहुंच नहीं हो सकी, हां, 1831 में न्यूयार्क में एक अमरीकी लाइसियम का गठन अवश्य किया गया और 8 वर्षों तक संस्था फूलती-फलती रही। इसमें कम से कम आठ राज्यों के लाइसियमों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, जिनका संपर्क बीसियों उपनगरीय तथा स्थानीय लाइसियमों से था। लाइसियमों की स्थानीय शाखाओं के प्रचार एवं प्रसार से ज्ञात होता है कि इससे वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति भलीभांति होती थी। 'मिलबरी, मास शाखा' का गठन नवंबर, 1826 में हुआ था और दो ही वर्षों में इसकी 100 शाखाएं तथा 1834 तक 300 शाखाएं संघ के प्रत्येक राज्य में खुल गयीं। ये स्थानीय लाइसियम स्वेच्छिक संस्थाएं थीं, जहां स्व-संस्कृति, सामुदायिक प्रशिक्षण तथा सार्वजनिक प्रश्नों पर वाद-विवाद आदि का आयोजन किया जाता था। साप्ताहिक सभाओं में निबंध पढ़ने, वाद-विवाद एवं परिचर्चाएं करने तथा व्याख्यानों की व्यवस्था की जाती थी। लगभग दस वर्ष के बाद बाहर से व्याख्याताओं को बुलाने का भी प्रबंध किया गया, जिन्हें शुल्क दिया जाता था। लोवेल, थोरियो बीचर, ग्रीले होंस तथा अन्य व्याख्याताओं ने समय-समय पर इन लाइसियमों में व्याख्यान दिये। एमर्सन के अनेक निबंध इन्ही लाइसियमों के लिए व्याख्यानों के रूप में लिखे गये थे।

लॉक, जान (1632-1704) : अंग्रेज दार्शनिक जान लॉक ने अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय बुद्धिजीवियों को बहुत प्रभावित किया। धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में उनके विचार आज भी बड़े महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। जब वे हालैंड में रह रहे थे, उन्होंने अपने मित्र एडवर्ड क्लार्क के पुत्र की शिक्षा के संबंध में कुछ पत्र क्लार्क को लिखे थे। उन पत्रों के आधार पर आगे चलकर उन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम था 'थाट्स आन एजूकेशन'। यह पुस्तक 1693 में प्रकाशित हुई थी और इसका प्रभाव तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था पर तो पड़ा ही, आज भी यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

लॉक के अनुसार शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह विद्यार्थी में सद्गुण, ज्ञान, आचार, व्यवहार और अधिगम का विकास करे। इसके द्वारा शारीरिक विकास से शरीर पुष्ट शक्तिमान बनता है। नैतिक विकास द्वारा गुण उत्पन्न होते हैं। मानसिक विकास बुद्धि के लिए अनिवार्य है। मस्तिष्क के विकास के लिए उन्होंने इतिहास, भूगोल, कानून, रेखागणित आदि विषयों को पाठ्यक्रम में रखने पर जोर दिया। स्कूलों में व्यायाम की व्यवस्था की गयी, जिससे शारीरिक विकास होता है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—"हालांकि मस्तिष्क को शिक्षित करना शिक्षा का परमोद्देश्य है, परंतु शारीरिक विकास की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।" इस प्रकार लॉक की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिवादी है, लेकिन उन्होंने समाज की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने शिक्षा के विषयों में आपसी संबंधों को स्वीकार किया है और यह भी माना है कि विद्यार्थियों को उनके बीच सामंजस्य समझाया जाये। शारीरिक दंड का उन्होंने भी विरोध किया है। उन्होंने शिक्षा की पद्धति को मनोरंजक बनाने का समर्थन किया।

लीज हरमान (1868-1918) : आधुनिक युग में नये शिक्षा-सिद्धांतों एवं अभ्यासों को पुनर्गठित करने की प्रवृति कभी एकदेशीय नहीं रही। इंग्लैंड में इस ओर जो पहला प्रगामी शिक्षा का प्रयोग 1889 में सिसिड रेडी द्वारा डरबीशायर के प्रसिद्ध होम स्कूल में किया गया था, उसी को हरमान लीज ने इलजेनबर्ग, जर्मनी में 1898 में लागू किया। एबटहोम परंपरा के गांवघर स्कूल को उन्होंने अपने देश में 'लैंडरजिइंगशिमी' नाम दिया। उन्होंने इसी प्रकार छह और स्कूल स्थापित किये। लीज बाल्यकाल में अपने पिता के साथ खेत पर अबाध स्वतंत्रता का अनुभव करते थे। इसी स्वतंत्रता को उन्होंने गांव का महत्त्व बढ़ाने के लिए प्रशिक्षात्मक शक्ति में बदल दिया। उनके स्कूलों में छात्रों को नगर की गंदगी से दूर प्रकृति के समीप जाना होता था। उन्हें किसानों के सरल जीवन, उनके उद्योग और किफायतसारी को हृदयंगम करना होता था और अपने जीवन और श्रम से उसमें भागीदार होना था। उनकी पाठ्यपुस्तक गांव का परिवेश ही थी। कक्षा के कार्य से छुट्टी पाकर वे खेतों और बागों में काम करते थे। उनका सारा दिन मानसिक, शारीरिक और व्यावहारिक कार्यों में बंटा रहता था। छात्र 9-12, 12-16 और 16-18 वर्ष तक के तीन वर्गों में बंटे होते थे। उनके लिए व्यक्तिगत और सामाजिक, अलग-अलग प्रकार के कार्य होते थे। इन स्कूलों का आधार बालक की मूल आवश्यकताएं और अभिरुचियां थीं। ये प्रयोगात्मक स्कूल निजी साहस पर निर्भर थे। इनका केवल यही दोष था कि इनमें अनुदेश को अनावश्यक समझने की भूल की गयी। संभव है, तीसरे रीख के राष्ट्रीय समाजवाद की धारा से प्रभावित होने के कारण ऐसा हुआ हो।

लोकाचार : लोकाचार आदिम समाज के उन रीति-रिवाजों को कहते हैं, जिन पर किसी एक सामाजिक समूह की समृद्धि निर्भर रहती है। आज सामाजिक समूह का विस्तार तथा नये रीति-रिवाजों से आदर्श का उन्नयन हो जाने से लोकाचार का अर्थ भाईचारे का आदर्श हो गया है। किंतु अब भी लोकाचार को सामाजिक संदर्भ में लिया जाता है। वस्तुतः लोकाचार का नैतिकता से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। आदि समाज की नैतिकता लोकाचार में सीमित थी। आज भी नैतिकता चाहे लोकाचार तक सीमित न रह गयी हो, किंतु उसका समाज से सीधा संबंध है। नैतिकता को समाज से हटाने पर उसका संबंध व्यक्ति के आध्यात्मिक मूल्यों से हो जाता है। अतः शिक्षा जगत में नैतिकता का आदिम समाज के लोकाचार की भांति समाज से सीधा संबंध माना जाता है। धर्म से उसका कोई संबंध नहीं है।

वनस्थली विद्यापीठ : इस विद्यापीठ की स्थापना समाज-सेवी हीरालाल शास्त्री ने सन् 1935 में अपनी पुत्री की समृति में की थी। पहले यहां पर एक छोटी-सी पाठशाला थी। बाद में सन् 1953 में वनस्थली विद्यापीठ के नाम से यह विख्यात हुई। यह राजस्थान में है।

सभी जातियों, वर्गों, धर्मों तथा भारत के विभिन्न भागों की लगभग 1,000 लड़कियां यहां पर अध्ययन कर रही हैं। यह संस्था पूर्णतः महिलाओं की है। यहां पर प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा का प्रबंध है। इस संस्था में भारतीय आदर्शों के आधार पर शिक्षा दी जाती है। यहां एक हाई स्कूल है तथा एक बहुउद्देशीय विद्यालय। इस संस्था का मुख्य लक्ष्य है बालिकाओं के चरित्र, मन और शरीर का विकास करना। उन्हें गृह-कार्य में भी दक्ष बनाया जाता है। खेलकूद, लाठी और तलवार चलाना, घुड़सवारी आदि का प्रशिक्षण इस संस्था की विशेषता है। बालिकाओं को समाजसेवा, देशप्रेम, स्वावलंबन आदि भावनाओं की ओर प्रेरित किया जाता है। विभिन्न प्रकार की कलाएं भी यहां सिखायी जाती हैं। बालिकाओं का छात्रावास भी है, जिसका प्रबंध वे स्वयं करती हैं। पूर्णतः स्त्री-संस्था होने पर भी यहां पर अधिकतर शिक्षणकार्य पुरुष ही करते हैं, क्योंकि अध्यापिकाओं का अभाव है।

वर्ग-अध्यापन-विधि : कक्षा-प्रशिक्षण में प्रतिक्रिया और परिवर्तन दोनों का महत्त्व होता है। हर शिक्षक जानता है कि बड़ी कक्षा के बच्चों को उनकी अधिगम-गति, परिज्ञान-क्षमता तथा नये आंकड़े को आत्मसात् करने की गति के आधार पर चार पांच टोलियों में बांटना सरल होता है। इससे वह व्यक्तिगत भेदों पर पूरा ध्यान दे सकता है। प्रत्येक टोली ऐसे छात्रों को लेकर बनायी जाती है, जिनकी योग्यताएं लगभग समान होती हैं। ये टोलियां एक-दूसरी

से प्रतिस्पर्द्धा करती हैं, इसलिए प्रत्येक टोली के सामने चुनौती का अवसर आ जाने से उसके लिए अपने काम में अधिक सतर्कता बरतना अनिवार्य हो जाता है। हां, इसमें यह बात भी विशेष ध्यान रखने की होती है कि सफल विद्यार्थी को एक टोली से दूसरी टोली में शामिल होने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

वर्षांतिकी गतिविधियां : वर्ष के अंत में किसी भी शिक्षा-संस्था की शैक्षणिक प्रगति तभी सफल समझी जायेगी, जब सभी कक्षाओं के लिए बनायी गयी योजना के अनुसार सारा कार्य संपन्न हो जाये तथा विद्यालय के समस्त क्रियाकलाप सुव्यवस्थित हो जायें। इसलिए वर्ष के अंतिम सप्ताह में दो बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए, एक तो प्रशासन का और दूसरे शिक्षा का। पहले तो प्रशासनिक कार्यों को बड़ी सावधानी से संपन्न कर लेना चाहिए। इनको तीन वर्गों में बांटा जा सकता है:

(1) ध्यानापेक्षी समस्त आवश्यक मामलों का निर्धारण।

(2) बेकार की बातों का उन्मूलन तथा निरर्थक कार्यों से बचना।

(3) अपेक्षित कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का संतोष-जनक परिपालन। समस्त आवश्यक मामलों की सूची तो बनाना कठिन है, क्योंकि प्रत्येक विद्यालय की अपनी-अपनी परिस्थितियां होती हैं, फिर भी निम्नलिखित कुछ बातें उल्लेखनीय हैं।

(क) निर्णीत विद्यार्थियों की कक्षोन्नति तथा उसी कक्षा में रोक रखना (ख) पाठ्यपुस्तकों की पड़ताल करना, मूल्यांकन करना, उनकी तालिका बनाना तथा उन्हें एकत्र करना (ग) मरम्मत-योग्य सामान की सूची बनाकर उपयुक्त अधिकारी को भिजवा देना (घ) पूर्ति तथा उपकरणों की मांग तैयार करके मुख्य कार्यालय में भेज देना (ड़) समाप्ति के लिए उपस्थिति रजिस्टर तैयार कर लेना (च) पुस्तकालय की समस्त पुस्तकों की जांच-पड़ताल कर लेना और दी हुई पुस्तकों को लौटा लेना (छ) जो विद्यार्थी विद्यालय छोड़ना चाहें, उनकी रिपोर्ट तैयार करके दे देना।

इसी संदर्भ में अध्यापक से निम्नलिखित रिपोर्ट ले लेनी चाहिए:

(1) छात्रों की उपस्थिति रिपोर्ट।

(2) उसी कक्षा में रोके गये छात्रों का लिखित मूल्यांकन।

(3) फर्नीचर, उपकरण पाठ्य-पुस्तकों तथा आपूर्ति की लिखित रिपोर्ट।

(4) विभाग-विषयक प्रगति तथा भावी समस्याओं के बारे में रिपोर्ट।

(5) उत्तीर्ण तथा अनुत्तीर्ण छात्रों की संख्या, परीक्षा-परिणाम सूचना, अभिभावक सम्मेलनों तथा प्रशासन द्वारा अपेक्षित अन्य बातों की एक सांख्यिकीय रिपोर्ट।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्यापक से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि उसको दिया गया प्रशासनिक कार्यभार उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से संपन्न हो। छात्रों की प्रगति-रिपोर्ट का स्थायी रिकार्ड बड़ी सावधानी से तैयार किया जाना चाहिए। यदि किसी अध्यापक को अपने पद से किसी कारणवश इस्तीफा देना है, तो मुख्य प्रशासक को इसकी सूचना प्राप्त हो जानी चाहिए, ताकि वह स्थानापन्न के लिए व्यवस्था कर सके।

दूसरी बात शैक्षिक उत्तरदायित्व की है और यही अध्यापक का मुख्य कर्तव्य है। इसके लिए अध्यापकों को प्रत्येक प्रकार की सूचनाएं तथा भावी कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करके उपस्थित करनी चाहिए। माता-पिताओं से संपर्क-व्यवस्था के विषय में पूर्ण रिपोर्ट और भावी योजना बना लेनी चाहिए। ससम्मान उत्तीर्ण विद्यार्थियों को बधाई का संदेश भी भिजवाना चाहिए, ताकि उनको तथा अन्य छात्रों को प्रोत्साहन मिले।

वालीबाल : वालीबाल का आविष्कार यंगमेन क्रिश्चियन एसोसिएशन के तत्कालीन शारीरिक शिक्षा-निदेशक, विलियम जी० मोर्गन ने 1895 में किया। इसका मूल नाम मिनोनेट था। बास्केट बाल के जाल को टेनिस के जाल की तरह प्रांगण में लगाकर और बास्केट में डाली जानेवाली गेंद को हाथों से मारकर जाल के दूसरी ओर फेकने पर मोर्गन ने देखा कि इस तरह हाथों को कोई चोट भी नहीं लगती और गेंद किसी निश्चित लक्ष्य की ओर फेंकी जा सकती है।

मोर्गन व्यायामशाला के अधीक्षक थे, इसलिए उन्होंने इस खेल को पहले व्यायामशाला तक ही सीमित रखा।

देखनेवाले कुछ समय तक खेल देखते रहे, परंतु उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखलायी। हां, व्यायामशाला के सदस्यों ने यह अनुभव किया कि गेंद चाहे बास्केट में डाली जाये, या हत्थी मारकर जाल के दूसरी ओर फेंकी जाये, इससे खेल में उनके लिए कोई अंतर नहीं पड़ता। समय बीतते-बीतते इस खेल की लोकप्रियता बढ़ती गयी। आखिरकार खेलने-वालों ने जाल को कमरे के अंदर लगाने के बजाय खेल के मैदान में लगा दिया और वालीबाल मैदान का खेल बन गया। 'पब्लिक प्लेग्राउंड आंदोलन' आरंभ होने के समय तक इस खेल की महत्ता काफी बढ़ चुकी थी और वालीबाल-प्रांगण के बिना कोई भी क्रीड़ा मैदान पूरा नहीं समझा जाता था। धीरे-धीरे यह खेल स्कूलों, कालेजों, नगर-पालिकाओं और नगर के अन्य प्रमुख स्थानों पर खेला जाने लगा। यहां तक कि वाइ० एम० सी० ए० को भी राष्ट्रीय चैंपियनशिप के लिए टूर्नामेंट का आयोजन करना पड़ा। इस समय अमरीका के लगभग 1,000 नगरों में वालीबाल के प्रांगण हैं तथा कई हजार वालीबाल-प्रांगण अन्य स्थानों पर हैं और जगह-जगह इसकी प्रतियोगताएं आयोजित की जाती हैं।

वालीबाल के बुनियादी सिद्धांत : वालीबाल की एक टीम 6 खिलाड़ियों की होती है। एक अच्छा कक्षाभ्यंतर (इनडोर) प्रांगण 60×30 फुट का होता है तथा मैदानी प्रांगण 80×40 फुट का। यह आदमियों के खेल का प्रांगण है। महिलाओं का खेल-प्रांगण प्रायः छोटा होता है, इनडोर 40×20 का तथा मैदानी 60×30 फुट का। जाल की लंबाई 32 फुट तथा चौड़ाई 3 फुट होनी चाहिए। गेंद की परिधि 26 या 27 इंच की होती है तथा गेंद का वजन 8 से 10 औंस तक होता है।

गेंद को दूसरी ओर फेंकने के लिए इस खेल में किसी उपकरण का प्रयोग नहीं किया जाता। हथेली की चोट देकर गेंद को दूसरी तरफ उछाल दिया जाता है, मुष्टिका प्रहार नहीं किया जाता। शरीर के किसी ऊपरी अंग (जैसे सिर या कंधे) से भी इस पर प्रहार किया जा सकता है।

यदि विरोधी पक्ष को दो या अधिक अंकों से हरा दिया जाये, तो एक खेल 15 अंकों का होता है। यदि स्कोर 14-14 का हो, तो खेल तब तक जारी रहता है, जब तक इस पक्ष को 2 अंकों का लाभ न मिल जाये। इसके लिये प्रायः समय का प्रतिबंध नहीं होता।

विद्यालय के लिए आवश्यक सामग्री : जिस प्रकार किसी भी वस्तु को गढ़ने के लिए इमारत और आवश्यक सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही स्कूलों को भी। सामग्री इस प्रकार है :

(1) स्थान और इमारत (2) फर्नीचर (3) फिटिंग्स (4) पुस्तकालय (5) खेल का मैदान तथा (6) छात्रावास।

स्थान की गिनती सामग्री में नहीं है, किंतु यहां स्कूल की इमारत खड़ी की जाती है, इसलिए वह आवश्यक तो है ही। स्कूल हर कहीं स्थापित नहीं किया जा सकता। एक स्वस्थ और उपयुक्त स्थान चुनने के लिए इन बातों का ध्यान रखना परम आवश्यक होता है:

(1) कीटाणुरहित सख्त और सूखी जमीन ली जाये।

(2) विद्यालय नगर के कोलाहल से दूर खुले वातावरण में ऊंची इमारतों और दीवारों से हटकर बनाया जाये।

(3) विद्यालय की इमारत सड़क से थोड़ी दूरी पर बनवायी जाये। भवन-निर्माण में इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है:

(1) जमीन साफ, और सूखी हो।

(2) दीवारों पर सीलन न हो।

(3) दो प्रवेश-द्वारोंवाला दुमंजिला भवन बनवाया जाये (डब्ल्यू० एम० राइबर्न के विचार से एक मंजिला भवन ही होना चाहिए)।

(4) उपयुक्त रंग-रोगन और कलई की जाये।

(5) भीड़ और दुर्घटना से बचने के लिए 6 फुट चौड़े जीनें बनाये जाये।

(6) कक्षों के एक ओर 8 फुट चौड़ा बरामदा रखा जाये।

(7) कक्षा-कक्ष इस प्रकार बनें हों कि प्रत्येक छात्र को 12 वर्गफुट भूमि और 150 घन फुट वायु प्राप्त हो सके।

(8) विद्यालय-भवन में हवा और रोशनी के लिए वातायन और रोशनदान हों, जिनसे पर्याप्त वायु और प्राकृतिक प्रकाश आ सके।

(9) वांछित दूरी पर स्वास्थ्य-प्रबंध (सेनिटरी व्यवस्था) होना भी आवश्यक है।

फर्नीचर में बैंच, इकहरे और दोहरे डेक्स, श्यामपट्ट और सूचना-पट्ट, मेज और कुर्सियां, वाश-स्टैंड और मैप-स्टैंड, प्रदर्शन-अल्मारियों, अल्मारियों और दराजों

आदि की गिनती होती है। इसके अतिरिक्त भूगोल, विज्ञान, कला और पुस्तकालय-कक्षों के लिए विशेष नाप की मेजों, दराजों और अल्मारियों की भी आवश्यकता होती है। फर्नीचर ऐसा होना चाहिए, जिससे छात्र और अध्यापक किसी प्रकार की असुविधा अनुभव न करें।

उपकरण, संयंत्र और सहायक सामग्री भी विद्यालय के लिए आवश्यक होती है। इसके अंतर्गत वे सब चीजें आती हैं, जिनकी पढ़ाई में आवश्यकता होती है, जैसे, भूगोल के लिए नक्शे, ग्लोब, मेरीनर कंपास, प्रोजेक्टर आदि, विज्ञान के लिए विभिन्न यंत्र, रसायन-सामग्री तथा अन्य वस्तुएं, ड्राइंग के लिए प्रदर्शन-सामग्री, शीशे की अल्मारियां, विशेष माडल, उपस्कर तथा खेल की सामग्री आदि।

पुस्तकालय ऐसा होना चाहिए, जो आकर्षक और सभी आयु-वर्ग के छात्रों की आवश्यकताओं को पूरा करने-वाला हो। इसमें सब विषयों की पुस्तकें होनी चाहिए और उनका सूचि-लेखन अच्छे ढंग से किया हुआ होना चाहिए, जिससे पुस्तक लेने में सुविधा रहे। वाचनालय की भी सुविधा अनिवार्य है।

खेल के मैदान के लिए साफ-सुथरी, चौरस और खुली हुई जमीन होनी चाहिए। खेल-सामग्री अच्छे ढंग की और पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए। खेल के मैदान की रक्षा भी कक्षा-कक्ष के समान ही अनिवार्य रूप से की जानी चाहिए।

छात्रावास की गिनती भी विद्यालय की आवश्यक वस्तुओं में की जाती है। उत्तम शिक्षा के लिए विद्यालय का अपना छात्रावास होना अनिवार्य है। विद्यार्थी के लिए घर की अपेक्षा छात्रावास अधिक आकर्षक होता है। यहां घर के काम-काज और अतिथियों की भीड़ से उसका समय नष्ट नहीं होता। अध्ययन के लिए छात्रावास आदर्श स्थान होता है।

विद्यालय-प्रबंध : किसी समाज की उन्नति या अवनति बहुत कुछ उस समाज के विद्यालयों पर निर्भर होती है। जिस संस्था का इतना महत्त्व हो, उसका गठन भलीभांति होना ही चाहिए। शिक्षा-संबंधी कुछ कार्य सरकार भी करती है। सरकार के अंतर्गत एक शिक्षा मंत्रालय होता है, और इस मंत्रालय में एक शिक्षा-विभाग होता है। इसका प्रबंध एक निदेशक करता है। प्रत्येक राज्य चार खंडों में बंटा होता है और प्रत्येक खंड का एक उपनिदेशक होता है। प्रत्येक खंड कई जिलों में बंटा होता है। उन जिलों के प्रबंधक जिला-शिक्षा-अधिकारी होते हैं। जिला भी कई प्रखंडों में बंटा होता है, प्रत्येक प्रखंड का एक उप-जिला-शिक्षा-अधिकारी होता है और एक प्रखंड अधिकारी। इसके बाद उनके सचिव, इंस्पेक्टर आदि होते हैं। ये सब अधिकारी विद्यालय के प्रबंध की देखभाल करते हैं, लेकिन वास्तविक प्रबंध तो विद्यालय के अध्यापकों और प्रधानाध्यापक को ही करना होता है। हां, उत्तम प्रबंध के लिए चार बातों को ध्यान में रखना होगा : स्कूल का वातावरण, विद्यार्थी की रुचि, पाठ्य विषय और शिक्षक। विद्यालय का प्रबंध इन चारों के सहयोग से ही सुचारु रूप से चल सकता है।

(1) **विद्यालय का वातावरण** : मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य का विकास आनुवंशिकता और वातावरण के अनुसार होता है। आनुवंशिकता का प्रभाव तो केवल जन्म तक ही होता है। बाद में तो उसका परिवेश और वातावरण ही व्यक्ति को प्रभावित करता है। जब बालक विद्यालय में जाता है, जो वह चाहता है कि विद्यालय में मेरे साथ घर का सा व्यवहार हो। इसलिए विद्यालय का वातावरण स्नेहपूर्ण होना चाहिए।

(2) **विद्यार्थियों की रुचि** : शिक्षण में रुचि विद्यालय का महत्त्वपूर्ण अंग है। शिक्षण-कार्य के अंतर्गत बालकों की रुचि का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। उन्हें पठन सामग्री कुछ मनोरंजक रूप में दी जाये, तो पाठ्य-विषय रुचिकर होगा और परिणाम भी अच्छे होंगे।

(3) **पाठ्य विषय** : विद्यालय में पाठ्य-विषयों की अनेकता को एकता में लाना आवश्यक है। यह बात भी ध्यान देने की है कि पाठ्य-विषयों के लिए कब और कितना समय दिया जाये। उदाहरण के लिए, गणित के लिए विद्यालय में शुरू के घंटे रखे जायें, तो अच्छा रहता है। वैसे सभी पाठ्य-विषय अपने-आप में विशिष्ट और प्रत्यक्षतः अलग होते हैं। अतः अनेकता में एकता स्थापित करना अनिवार्य हो जाता है।

(4) **शिक्षक** : विद्यालय में शिक्षक का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। विद्यालय की सुंदरता और श्रेष्ठता अध्यापक पर निर्भर है। बालकों को शिक्षक से माता-पिता जैसा स्नेह और सुख मिलना आवश्यक होता है।

प्रबंध तभी श्रेष्ठ हो सकता है, जब विद्यालय बालकों के वैयक्तिक और सामाजिक विकास के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत करे और बालकों के स्वस्थ विकास की ओर ध्यान दे।

विद्यालयी संचयी रिकार्ड : विद्यालय संचयी रिकार्ड स्कूल के शैक्षिक रिकार्ड में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह बालक से संबंधित समस्त महत्त्वपूर्ण आंकड़ों का संचयन और रिकार्ड है। यह रिकार्ड उसके विद्यालय-प्रवेश के दिन से लेकर कक्षा-दर-कक्षा संचित होता रहता है। इसमें स्कूल द्वारा संचालित व्यक्तिगत कार्यक्रमों के समन्वित अभिलेख के साथ-साथ बालक की वृद्धि और विकास का भी पूरा विवरण होता है। इसमें निम्नलिखित सूचनाएं होती हैं :

(1) नाम और जन्म-तिथि (जन्म-स्थान, माता-पिता का निवास स्थान आदि) (2) धर्म तथा जाति (3) छात्रवृत्ति (4) परीक्षण स्कोर तथा मूल्यांकन (5) स्कूल में उपस्थिति तथा (6) स्वास्थ्य।

इस रिकार्ड में ऐसी किसी चीज का संचय नहीं किया जाना चाहिए, जिसका स्कूल में उपयोग न किया जा सके। इसमें विभिन्न स्कूलों द्वारा अपनी रुचि के अनुरूप शामिल की गयी अन्य बातें एक-दूसरे से भिन्न हो सकती हैं, किंतु एक अच्छे संचयी रिकार्ड में ये गुण होने आवश्यक हैं :

(1) रिकार्ड का आरंभ स्कूल में छात्र के प्रवेश से होना चाहिए।

(2) एक कक्षा अथवा स्कूल में और अगली कक्षा अथवा स्कूल में की गयी प्रगति का संक्षिप्त विवरण दिया जाना चाहिए।

(3) विस्तृत अनौपचारिक तथा वास्तविक आंकड़े बालक की वृद्धि और विकास का विस्तृत चित्र प्रस्तुत करें।

(4) आंकड़े कम से कम और ऐसे होने चाहिए, जो कालक्रमानुसार हों और छात्र के विकास तथा उसकी कमियों एवं मूल आवश्यकताओं का उद्घाटन करें।

(5) यह रिकार्ड सुरक्षित रहना चाहिए, उसमें विश्वसनीय तथ्य रहने चाहिए, और शिक्षक की पहुंच उस तक होनी चाहिए।

(6) रिकार्ड सही, पूरा और आवधिक होना चाहिए।

(7) वस्तुनिष्ठ तथ्य शिक्षक की व्यक्तिगत सम्मति से विभेदित हो।

संपूर्ण संचयी रिकार्ड का शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इसमें एक अवधि के भीतर किसी एक या एक से अधिक विशेष क्रमिक उपायों, मूल्यांकनों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातों का विस्तृत लेखा-जोखा होता है। यह शिक्षक, शिष्य, माता-पिता, चिकित्सक तथा विशेषज्ञ शोध-कर्ता आदि सभी के लिए उपयोगी है। इसके अनेक लाभ हैं :

(1) इससे बालक की वृद्धि एवं विकास की जानकारी एवं उसका अध्ययन किया जा सकता है।

(2) व्यवहार प्रतिरूप का ज्ञान हो सकता है।

(3) प्रतिभाशाली एवं परिश्रमी अध्येता की खोज की जा सकती है।

(4) क्षमता और अक्षमता का पता लगाया जा सकता है।

(5) कक्षोन्नति में समानता रखी जा सकती है।

(6) प्रगति का निश्चित अनुमान लगाया जा सकता है।

(7) स्कूल के कार्यक्रम में सुधार किया जा सकता है।

(8) यह रिकार्ड शिक्षक के अध्यापन में सहायक हो सकता है।

(9) प्रशिक्षण और अनुगमन में सहायक हो सकता है।

संक्षेप में संचयी रिकार्ड का काम बालक के संपूर्ण शैक्षिक इतिहास को प्रस्तुत करना है।

विश्वविद्यालय, कलकत्ता : इंग्लैंड की कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के 1854 के डिस्पेच में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय खोलने के सुझाव दिये गये थे, जिनके आधार पर 1857 में वैधानिक अधिनियम द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इसका अधिकार-क्षेत्र संपूर्ण पश्चिमी बंगाल है और 179 कालेज इससे संबंधित हैं। कला, विज्ञान, व्यवसाय, कानून, इंजीनियरी, चिकित्सा, तकनीक पुस्तकालय विज्ञान, शिक्षा, अनुसंधान आदि मिलाकर इसके 55 शिक्षा-विभाग हैं। इसमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी और बी० ए० तक प्रादेशिक भाषा (बंगला) है। इसके पुस्तकालय में चार लाख पुस्तकें हैं। विश्वविद्यालय कई प्रकार की अनुसंधान-वृत्तियां भी देता है। इस समय इस विश्वविद्यालय में सैकड़ों अनुसंधाता हैं।

प्राइवेट छात्रों को भी इसमें परीक्षा देने की सुविधाएं हैं। यहां अपराह्न-कक्षाओं का भी प्रबंध है। इसके अतिरिक्त विस्तार-व्याख्यान और शिक्षण-पद्धति इस विश्वविद्यालय की मुख्यविशेषताएं हैं। इस विश्वविद्यालय में छात्रावास हैं, जिनमें अनेक प्रकार की सुविधाएं हैं। वस्तुतः इसका गठन लंदन विश्वविद्यालय की शैली पर हुआ है। यह संसार के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में से एक है। यहां प्रत्येक वर्ष डेढ़ लाख विद्यार्थी विद्या प्राप्त करते हैं।

विश्वविद्यालय, कैंब्रिज : इस विश्वविद्यालय की स्थापना कैंब्रिज (इंग्लैंड) में 12वीं शताब्दी में एलिजाबैथ के शासन काल में हुई थी। 1914 से इसको राज्य-अनुदान प्राप्त हो गया। 1926 से स्त्रियों को विश्वविद्यालय की सदस्या होने का अधिकार प्राप्त हुआ और 1948 से स्नातक होने का। इससे संबद्ध कालेजों में क्लेयर (1326) सबसे पुराना है। इसके सभी कालेज स्वायत्त संस्थाएं हैं, अर्थात् संपूर्ण प्रबंध अपना होता है। विश्वविद्यालय का काम केवल व्याख्यान देना, प्रदर्शन करना तथा परीक्षा एवं शोध की सुविधाएं प्रदान करना है। इसमें लगभग 19 संकाय हैं और पांच सौ से अधिक अध्यापक काम करते हैं। छात्रवृत्तियों की भी यहां व्यवस्था है। विदेशों से सैंकड़ों विद्यार्थी यहां विद्या प्राप्त करने आते हैं। इसके पुस्तकालय में लगभग 5 लाख पुस्तकें, 10,000 पांडुलिपियां, और 2,50,000 मानचित्र हैं। इसका अपना संग्रहालय है। यह इंग्लैंड के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में से एक है।

विश्वविद्यालय, बंबई : इसकी स्थापना सन् 1857 में हुई थी। पहले-पहल इसका काम केवल पाठ्यक्रम निर्धारित करना और परीक्षा चला कर डिग्री देना ही था। 1904 से इसमें शिक्षा देने का भी प्रबंध हो गया। 1928 के अधिनियम से स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध-कार्य भी आरंभ हुआ। स्नातकपूर्व की शिक्षा संबद्ध कालेज तक ही सीमित रही। बंबई विश्वविद्यालय अधिनियम (1953) से कालेज संघटक कालेज हो गया। इसका कार्य-क्षेत्र बृहत् बंबई तक फैला हुआ है। गोआ के 9 कालेज भी इससे संबद्ध हैं। इस समय इसके अंतर्गत 16 विभाग, 50 संघटक कालेज और 16 मान्यताप्राप्त स्नातकोत्तर संस्थाएं हैं। इसमें लगभग 77 हजार विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं, जिन में 25,000 महिलाएं हैं। इसके पुस्तकालय में इस समय 3 लाख पुस्तकें हैं। व्यावहारिक मनोविज्ञान, सांख्यिकी, रसायन, एवं तकनीकी प्रयोगशालाएं अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इसके अतिरिक्त गणित, अर्थशास्त्र, रसायन आदि में उच्च अध्ययन की विशेष सुविधाएं हैं। छात्रवृत्तियों की भी यहां व्यवस्था है। इसमें प्राइवेट परीक्षाओं की कोई व्यवस्था नहीं है, पर संबद्ध कालेजों में बी० ए० तक की परीक्षाओं के लिए प्रातः और सायं शिक्षा की व्यवस्था है। यहां शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है।

विश्वविद्यालय, बनारस : बनारस में एक हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना का पहला प्रस्ताव 1904 में बनारस के महाराजा प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में हुई एक सभा में हुआ। मुख्य प्रस्तावक पं० मदन मोहन मालवीय थे। उनकी देखरेख में एक विवरणिका का निर्माण हुआ। 1907 में मालवीयजी ने डा० ऐनी बेसेंट से (जो बनारस में केंद्रीय हिंदू कालेज स्थापित कर चुकी थीं और उसे विश्वविद्यालय का रूप देना चाहती थीं) प्रार्थना की कि वे अपनी योजना छोड़कर उनका सहयोग करें। अतः 1911 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय सोसायटी का पंजीकरण हो गया और इसे केंद्रीय कालेज सोसायटी को सौंप दिया गया। चार वर्ष बाद 1915 में हिंदू विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन 4 फरवरी, 1916 को भारत के गवर्नर जनरल ने विश्वविद्यालय की नींव डाली।

1917 से विश्वविद्यालय ने काम करना प्रारंभ किया। इसका अधिकार-क्षेत्र विश्वविद्यालय के केंद्रीय भाग के 15 मील के व्यास के अंतर्गत है। मानविकी, विज्ञान, तकनीकी शिक्षा, औषधविज्ञान आदि के लिए अपने-अपने विशेष केंद्र एवं शोध-कक्ष मिलाकर विश्वविद्यालय के कुल 11 विभाग हैं। इस समय विश्वविद्यालय के 14 अपने और 5 संबद्ध कालेज हैं। इसके अतिरिक्त इसका अपना स्कूलबोर्ड है, जो तीन स्कूलों की देखभाल करता है। ये स्कूल मैट्रिक और प्रवेशिका परीक्षा की तैयारी कराते हैं। इसमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी और हिंदी दोनों है। केवल विज्ञान, इंजीनियरी, तकनीकी, चिकित्सा और कृषि विज्ञान के लिए अंग्रेजी माध्यम है। इसके पुस्तकालय में चार लाख पुस्तकें हैं। इसकी सभी प्रयोगशालाएं सुसज्जित हैं। उनमें जीवविज्ञान की प्रयोगशाला

अत्यंत सुसज्जित है। यहां नाभिकीय भेषज की भी व्यवस्था है और भारतीय और यूरोपीय दर्शन में शोध-कार्य की विशेष सुविधाएं हैं। विभिन्न छात्रवृत्तियों का भी यहां प्रबंध है। स्त्रियों और शिक्षकों को प्राइवेट परीक्षा देने की सुविधा है। छात्रावास में 50 प्रतिशत छात्रों के रहने का प्रबंध होता है। इसका अपना भारत-कला-केंद्र नामक एक संग्रहालय भी है। सन् 1964 से चिकित्सकों और शिक्षकों की, परीक्षाओं को छोड़कर अन्य परीक्षाओं में सेमिस्टर पद्धति को लागू कर दिया गया है। इस समय इस विश्वविद्यालय में सहस्रों विद्यार्थी अध्ययन करते हैं।

विश्वविद्यालय, मद्रास : इसकी स्थापना सन् 1857 में हुई। 1923 के मद्रास विश्वविद्यालय अधिनियम ने 1904 के अधिनियम का अतिक्रमण किया। इसके अंतर्गत मद्रास में शैक्षिक और सनिवास विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इससे उसे संबद्ध कालेजों के प्रबंध का अधिकार प्राप्त हो गया। इस अधिनियम में आगे चलकर लगातार 1966 तक संशोधन होते रहे। इसका कार्यक्षेत्र अन्नामलाई और मदुराई विश्वविद्यालयों के क्षेत्र को छोड़कर समस्त तमिलनाडु और पांडिचेरी है। इसके अंतर्गत 105 कालेज और 18 प्राच्य विद्या संस्थान हैं। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है, किंतु बी० ए० तक मानविकी विषयों को कुछ शर्तों पर प्रादेशिक भाषा तमिल में पढ़ाने की छूट है। यहां के पुस्तकालय में दो लाख पुस्तकें हैं। विज्ञान के लिए प्रयोगशालाओं की सुविधा है। शोध और उच्च अध्ययन की सुविधाएं भी हैं। शोधकर्ताओं को छात्रवृत्ति देने की भी व्यवस्था है। शिक्षकों तथा पुस्तकाध्यक्षों को प्राइवेट परीक्षा देने की छूट है। इसके कुछ कालेजों में प्रातः और सांय कक्षाओं की भी सुविधा है।

विश्वविद्यालय, विक्रमशिला : यह आठवीं शताब्दी में सम्राट् धर्मपाल द्वारा बनवाया हुआ विहार था, जो गंगा नदी के किनारे मगध में बसा हुआ था। इसके बनवाये विशाल कक्षों में शिक्षण-कार्य होता था। इस विद्यालय में शिक्षक उच्च कोटि के दार्शनिक थे। इसलिए कई शताब्दियों तक तिब्बत और कुछ अन्य देशों के बहुत से विद्यार्थी विद्योपार्जन के लिए यहां आते थे।

इस विश्वविद्यालय में उच्च कोटि का प्रबंध था। यहां प्रवेश-द्वारों पर प्रवेश-परीक्षा ली जाती थी। उसके पश्चात् ही विद्यार्थी को प्रवेश दिया जाता था। व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, सांसारिक क्रियाएं आदि यहां के प्रमुख विषय थे। पाठ्यक्रम की समाप्ति पर परीक्षा होती थी और उत्तीर्ण विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र दिये जाते थे।

इस विश्वविद्यालय का काफी समय तक नाम रहा। बख्तियार खिलजी ने तेरहवीं शताब्दी में नालंदा विश्वविद्यालय की तरह इसका भी अंत कर दिया। उसने यहां की पुस्तकों को जला दिया और भिक्षुओं तथा ब्राह्मणों का वध करवा दिया। इस प्रकार इस प्रमुख विद्या-केंद्र का भी अंत हो गया।

विस्तार सेवाएं : विस्तार सेवाओं के अंतर्गत वे सब संस्थापनीय संपर्क अथवा शैक्षिक कार्यकलाप आते हैं, जो प्रत्यक्ष छात्र-समूह से बाहर के समाज की ओर निर्दिष्ट होते हैं, जैसे, ग्रामीण जीवन से संबंधित ज्ञान के लिए प्रदर्शन, अतिरिक्त भाषण, टोली-अध्ययन या टोली वाद-विवाद के कार्यक्रम आदि। विश्वविद्यालयों में भी ऐसा होता है। वे अपने अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार करते हैं। वहां शैक्षिक और अशैक्षिक वर्गों के लिए शिक्षा-सेवा का विस्तार किया जाता है। उदाहरणार्थ विश्वविद्यालय में उन लोगों के लिए, जो विश्वविद्यालय के दैनिक कार्यक्रम में भाग नहीं ले सकते हैं, विश्वविद्यालय-परिसर में और उसके बाहर भी शिक्षा-कार्य चलता रहता है—कक्षा के रूप में भी (सायंकालीन कक्षाएं) और पत्राचार के द्वारा भी। इसके अतिरिक्त भाषण-सेवा, पुस्तकालय, दृश्य-श्रव्य सामग्री, स्कूल प्रतियोगिताएं, सम्मेलन, संस्थान-स्थापन, लघु पाठ्यक्रम, उद्‌बोध सेवाएं, प्रकाशन, रेडियो और विश्वविद्यालय की ओर से रेडियो और टेलीविजन प्रसारण आदि सब विस्तार सेवाओं के ही अंतर्गत आते हैं।

संक्षेप में विस्तार सेवाएं वे कहलाती हैं, जो पूर्वनिर्धारित स्थान और दैनिक कार्यक्रम के बाहर होती हैं। ये आधुनिक समाज की प्रतिदिन बढ़नेवाली शैक्षिक मांग की उपज हैं। इन सेवाओं को किसी संस्था को दैनिक कार्य से अलग हटकर अतिरिक्त रूप से प्रस्तुत करना पड़ता है, जिससे थोड़े समय में अधिक से अधिक लोग उसका लाभ उठा सकें। जो विद्यालय अत्याधुनिक होते हैं उन में इस प्रकार की सेवाओं की व्यवस्था है।

वुड डिस्पैच : मैकाले ने जो शिक्षा-पद्धति चलायी थी, उसका ध्येय सरकारी नौकरी प्राप्त करने से आगे नहीं गया। इससे तत्कालीन भारतीय शिक्षा-जगत में जो समस्याएं पैदा हो गयी थीं, उनकी जांच पड़ताल और समाधान करते समय बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने जो नयी शिक्षा-योजना प्रस्तावित की (1854) उसे वुड डिस्पैच के नाम से जाना जाता है। इसमें ये सिफारिशें की गयी थीं :

(1) प्रत्येक सूबे में अपने कार्य के लिए उत्तरदायी डायरेक्टर के अधीन एक अलग जन-शिक्षण विभाग की रचना।

(2) प्रेसीडेंसी नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना।

(3) प्रारंभिक, माध्यमिक और उच्चतम शिक्षा की एक विस्तृत योजना।

(4) वृत्तिका युक्त शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना।

(5) धर्मनिरपेक्ष शिक्षा।

(6) विश्वविद्यालयों द्वारा कानून, चिकित्साशास्त्र तथा सिविल इंजीनियरी का व्यावसायिक प्रशिक्षण।

(7) स्त्री-शिक्षा पर ध्यान।

(8) फिल्ट्रेशन थ्योरी की भर्त्सना और जन-शिक्षा के लिए विभिन्न उपायों का सुझाव।

इस योजना की आलोचना इस बात पर की गयी कि इसमें भारतीय संस्कृति की पूर्वपीठिका को ध्यान में नहीं रखा गया और न धर्म को ही कोई स्थान दिया गया। फिर भी यह आलेख सद्भावना और ईमानदारी से भरा हुआ था। आधुनिक शिक्षा का श्रीगणेश इसी से होता है। इसीलिए इसे भारतीय शिक्षा का 'मेग्नाकार्टा' (महाधिकार पत्र) कहा गया है।

शांतिनिकेतन : रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने बोलपुर में एक छोटा-सा आश्रम स्थापित किया था। 1901 में रवींद्रनाथ ने इंग्लैंड से लौटकर उसी स्थान पर 'शांतिनिकेतन' नाम से अपना शिक्षा-संस्थान स्थापित किया। पांच विद्यार्थियों से उसका समारंभ हुआ। इसका लक्ष्य प्राचीन भारत के ब्रह्मचर्य आश्रम अथवा तपोवन के समान ही विद्यार्थियों को ऐसा घरेलू वातावरण प्रदान करना था, जो आध्यात्मिक आभा से परिवेष्टित हो। नंदलाल बोस, द्विजेंद्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एंड्रयूज और विलियम पियर्सन जैसे प्रसिद्ध शिक्षक यहां रहे हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएं ये हैं :

(1) सभी विद्यार्थी जाति और धर्म के भेदभाव भूलकर खान-पान, शयन, पठन-पाठन आदि में सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं। लड़कों और लड़कियों के लिए छात्रावास की व्यवस्था है।

(2) वृक्षों की सघन छाया और खुले मैदान में विभिन्न वस्तुओं की प्राकृतिक छटा शिष्यों के मन और आत्मा को ऊंचा उठाने में सहायक होती है। सारा आश्रम उदार प्रवृत्तियों से भरा रहता है।

(3) आश्रम के सारे लोग पांच बजे जाग उठते हैं तथा प्रार्थना एवं प्रभातफेरियों से वातावरण गूंज उठता है। छह-साढ़े छह बजे नहाने-धोने से निवृत्त होकर चिड़ियों की चहचहाट के मध्य वृक्षों के नीचे कक्षाएं लग जाती हैं। तीसरे पहर पाठ्येतर चित्रकला, नृत्य-संगीत, व्यायाम, खेल आदि का आरंभ होता है। विद्यार्थी निशा-पाठशालाएं चलाने के लिए समीप के गांवों में भी जाते हैं।

(4) शिक्षा में मातृभाषा को विशेष स्थान प्राप्त है।

(5) कक्षा-कार्य के मध्य कोई चिड़िया चहचहाती है, तो सब उसी को सुनने लगते हैं, इससे विद्यार्थीगण, वातावरण से समरस होकर अपूर्व आनंद का अनुभव करते हैं। यह उनके स्वतंत्र विकास में सहायक होता है।

(6) कला और साहित्य में सृजन प्रवृत्ति के विकास पर भी विशेष बल दिया जाता है।

(7) शिक्षकों के प्रति विद्यार्थियों के मन में अपार श्रद्धा होती है। शिक्षकों का उन पर अपार स्नेह होता है। शिक्षक और शिष्यों में घनिष्ठ संबंध होता है। अनुशासन का अर्थ सद्व्यवहार, आदर, नम्रता, नियमितता, स्वच्छता तथा पठन-पाठन योग्यता आदि है। दंड-व्यवस्था भी घरेलू वातावरण जैसी ही होती है। उद्दंड प्रकृतिवाले विद्यार्थी को अपराध स्वीकार करके सुधार का वचन देने पर क्षमा मिल जाती है। बाल-न्यायालयों में बाल-न्यायाधीशों द्वारा ही दंड दिया जाता है।

22 दिसंबर, 1918 से रवींद्रनाथ ने इसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उठाकर 'विश्वभारती' नाम दिया और यह एक सार्वजनिक संस्था बन गया। इसमें स्नातकोत्तर शिक्षा और अनुसंधान के लिए विद्या-भवन, चीन-भारत अध्ययन

के लिए चीन-भवन, स्नातक शिक्षा के लिए शिक्षा-भवन, ललित कलाओं की शिक्षा के लिए कला-भवन, संगीत-शिक्षा के लिए संगीत-भवन, ग्रामोद्योग के विकास के लिए शिल्प-भवन आदि नये विभाग खोले गये। सन् 1951 में भारतीय संसद ने एक विशेष अधिनियम द्वारा इसे चौथा केंद्रीय विश्वविद्यालय बना दिया। उसमें गुरु देव द्वारा स्थापित सभी आदर्श सुरक्षित हैं। जैसे :

(1) मातृभाषा का प्रयोग,

(2) प्रकृति और कला के माध्यम से संस्कृति का समुद्भव,

(3) किशोर मन में सौंदर्यबोध की चेतना को प्रोत्साहन, तथा

(4) मनुष्य जाति की एकता।

(दे० रवींद्रनाथ ठाकुर)

शिक्षण-पद्धतियां (विधियां) : अध्यापन के लिए यह आवश्यक है कि उसमें कोई क्रम, नियमबद्ध तरीका, कोई तर्कसंगत अथवा मनोवैज्ञानिक अनुक्रम हो। ये सब बातें पद्धतियों अथवा विधियों में ही सन्निहित होती हैं। वस्तुतः क्रमानुगत प्रगति ही विधि का मूल है, यही उसका प्रारंभिक बिंदु, गंतव्य एवं यात्रा-पथ है। अध्यापन के लिए विभिन्न विधियां प्रयोग में लायी जाती हैं और ये सभी मनोवैज्ञानिक आधारों पर विकसित की जाती हैं। इनमें मौंटेसरी, वस्तुनिष्ठ, अभिकथन, आगमनात्मक, निगमनात्मक, निदर्शनात्मक, प्रश्नोत्तरात्मक, गतिक, तथा प्राजेक्ट आदि विधियां हैं। यहां इस संदर्भ में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि शिक्षण-विधियां, शिक्षण उपायों (साधनों) से भिन्न होती हैं। ये विधियां संक्षिप्त विवरण के साथ निम्नलिखित हैं :

(1) मौंटेसरी विधि : (दे० शिक्षा प्रणाली, मौंटेसरी)

(2) वस्तुनिष्ठ विधि : इसके अनुसार वस्तुओं की सहायता से बालकों के सामने विचार उपस्थित किये जाते हैं। इस विधि के मूल में यह भावना निहित है कि वस्तु संबंधी प्रारंभिक विचार बालकों के मन में वस्तुओं के साक्षात् संपर्क से विभिन्न ज्ञानेंद्रियों द्वारा आना चाहिए। अजायबघर, उद्यान आदि स्थान पाठ याद करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करते हैं। शैक्षिक यात्राएं इस विधि में बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। यह विधि किशोरावस्था से पहले की अवस्था में विशेषतः उपयोगी होती है।

(3) अभिकथनक विधि : इस विधि का प्रयोग प्रायः अनुभवहीन अध्यापक करते हैं। इस विधि में विद्यार्थी निष्क्रिय श्रोता के रूप में बैठा रहता है और अध्यापक इस बात का उत्तरदायित्व नहीं समझता कि छात्र सावधान भी है या नहीं। अतः इस विधि को निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु यह भी सत्य है कि अध्यापन प्रक्रिया में अभिकथन का भी स्थान होता है। अतः बहुत आवश्यक होने पर ही इस विधि का सहारा लेना चाहिए। इस विधि में अध्यापक छात्रों को वह बताते हैं जो वे नहीं जानते, परंतु जानना चाहते हैं और उसी का अभिकथन करते हैं? दूसरे, विषय को रुचिकर बनाकर बताने से छात्रों को विषय के प्रति आकृष्ट भी किया जा सकता है। तीसरे, अध्यापक की भाषा विद्यार्थियों को बोधगम्य होनी चाहिए। चौथे, इतिहास तथा भाषा संबंधी पाठों में यह विधि प्रेरणाप्रद सिद्ध होती है।

(4) आगमनात्मक विधि : इस विधि के अंतर्गत यह आवश्यक है कि विशिष्ट तथ्यों तथा उदाहरणों का सावधानी से अध्ययन तथा उनकी जांच की जाये, ताकि कोई सामान्य सिद्धांत, नियम या परिभाषा बनायी जा सके। यह विधि विज्ञान तथा गणित पढ़ाने में उपयोगी होती है। छात्र स्वयं सोचते हैं, विचारते हैं और स्वयं कोई सामान्य तत्त्व निकालने में आनंद अनुभव करते हैं।

(5) निगमनात्मक विधि : यह विधि आगमनात्मक विधि से बिल्कुल उलटी है, क्योंकि इसमें पहले से ज्ञात सामान्य सिद्धांत, नियम अथवा परिभाषा का स्थापन करना पड़ता है। हरबर्ट का शिक्षण सिद्धांत इसी विधि पर आधारित है; क्योंकि इसमें पूर्णतः ज्ञात सिद्धांत का व्यावहारिक रूप ही देखना पड़ता है। इस विधि का महत्त्व इसी में है कि इसमें पूर्व ज्ञान का उपयोग किया जाता है।

(6) निदर्शनात्मक विधि : किसी भी बात अथवा ज्ञान को अधिक स्पष्ट करने के लिए इस विधि का उपयोग किया जाता है। निदर्शनों का सचित्र उदाहरणों से प्रस्तुत विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, जिससे विषय को समझने में बड़ी सरलता होती है। उदाहरण, कहानियां तथा सादृश्य प्रस्तुत करना आदि इस विधि के विशिष्ट पहलू हैं। छात्रों की वय तथा विषय का स्वरूप देखकर ही

इस विधि का उपयोग किया जाता है। एक बात ध्यान देने की है कि उदाहरण, कहानी आदि प्रसंगानुकूल, सादा तथा रुचिपूर्ण होने चाहिए।

(7) **प्रश्नोत्तरात्मक विधि** : इसमें विभिन्न उद्देश्यों से छात्रों से प्रश्न पूछे जाते हैं। ये प्रश्न विषय को प्रारंभ करने, उसका विकास करने तथा संक्षेप में दोहराने के लिए होते हैं। केवल 'बतलाने' की अपेक्षा यह विधि अधिक सुधारात्मक है। इस विधि में छात्रों को प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने में सोचना पड़ता है और उनकी विचार-शक्ति को प्रेरणा मिलती है।

(8) **गतिकविधि** : इसके अनुसार बालकों पर जोर दिया जाता है कि वे विचार करें। सोचने में बालक की मांसपेशियां काम करती हैं तथा प्रत्येक विचार का एक प्रेरक पहलू भी होता है। इन बातों से यही सिद्ध होता है कि बालक को प्रेरणा रूप में सोचना चाहिए; क्योंकि बालक पहले कोई काम कर लेता है और फिर सोचता हैं, अर्थात् उसके चिंतन को क्रिया से प्रेरणा मिलती है। वास्तव में समस्त अधिगम (सीखना) क्रिया के द्वारा होता है और यही सिद्धांत इस विधि की आत्मा है। अतः बालकों को पढ़ाने में इस विधि का उपयोग अध्यापक को अवश्य करना चाहिए।

(9) **स्वतः शोध विधि** : इसके अनुसार बालकों को विचार करने में व्यस्त किया जाता है। अर्थात् विषय के बारे में थोड़ी-सी जानकारी करायी जाती है। इसके बाद बालक स्वयं ही अन्य स्रोतों से उसके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करते हैं। उनको एक मूल अनुसंधानकर्ता की अवस्था में रखा जाता है। इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने की है कि बालक कोई अनुसंधानकर्ता नहीं होता। वस्तुतः वह पुनरनुसंधानकर्ता ही होता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि सभी बालकों की बुद्धि का विकास एक-सा नहीं होता। अतः वे मूल शोधकर्ता के वर्ग में नहीं आ सकते। इस विधि के विषय में एक आपत्ति यह भी है कि बालकों को जब पूर्ण शोधों की कुछ जानकारी हो ही गयी है, तो वे स्वतः शोध में दिमाग क्यों खपायें? अगर शोधकार्य का या बुद्धि का अभ्यास कराया ही जाये, तो उन्हें नये मौलिक प्रश्न ही क्यों न दिये जायें? इसमें वे स्वयं रुचि लेंगे। इसलिए यह विधि अधिक लोकप्रिय न हो सकी।

(10) **प्रोजेक्ट विधि** : अमरीका की आधुनिक शिक्षण पद्धतियों में से यह एक है। डा० किल्पैट्रिक के अनुसार प्रोजेक्ट का अर्थ सामाजिक पर्यावरण में हार्दिक तथा सोद्देश्य प्रयास है। डा० स्टीवेंसन के अनुसार यह समस्यात्मक विधि है। ये दो परिभाषाएं प्रोजेक्ट का सही अर्थ प्रस्तुत करती हैं। इस विधि का लक्ष्य स्कूल तथा बाहरी वातावरण के बीच की खाई को पाटना है। यदि प्रयोजना बहुमुखी हो, तो बालकों को कार्य की ओर प्रेरित करेगीं; क्योंकि विषयों के बीच के वास्तविक संबंधों को समझाना अनिवार्य है। यह तो लाभ हुआ, लेकिन इसकी कुछ कमियां भी हैं। इसमें ड्रिल आदि के लिए कोई समय नहीं रहता, स्कूल का कार्यक्रम अस्तव्यस्त हो जाता है और बालकों के ज्ञान में बहुत अंतर आ जाते हैं। इनको दूर करने के लिए इनके बीच की खाई को पाटना आवश्यक है। डा० आदम्स के अनुसार संक्षिप्ततः इस विधि के अंतर्गत एक विशाल प्रयोजना बनायी जाये, तो उससे सभी इच्छित लाभ प्राप्त हो जायें। सभी विषयों में इसी प्रकार की विशाल प्रायोजनाएं बनायी जायें और उनके हाथ में सौंप दी जायें। स्कूल-पत्रिका का संचालन करना, अपने देश का उभरा मानचित्र बनाना, भौगोलिक कक्षा बनाना, बाग और अजायबघर बनाना, सफाई करना आदि कुछ ऐसी प्रायोजनाएं हैं।

शिक्षण-सूत्र : शिक्षण कार्य को यदि सुरुचिपूर्ण और सरल बना दिया जाये, तो इससे परिणाम अधिक सुंदर प्राप्त होंगे। प्रत्येक अध्यापक को इस प्रकार का परिणाम प्राप्त करने के लिए सामान्य नियम तो अपनाने ही होते हैं। यदि निम्नलिखित सूत्रों को ही उपयोग में लाया जाये, तो शिक्षण-कार्य अधिक सरल तथा रुचिकर हो जायेगा :

(1) बालक को अपने दैनिक जीवन, घर, खेलकूद आदि के आधार पर काफी ज्ञान और अनुभव होता है। पठन के विषय में भी उसे कुछ न कुछ ज्ञान होता ही है। यदि इस पूर्वज्ञान को शिक्षा संबंधी नया ज्ञान देने में उपयोगी बनाया जाये, तो विषय बालक के लिए सुरुचिपूर्ण और समझने में सरल हो जाता है और उसकी उत्सुकता भी बनी रहती है।

(2) बालक अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में प्रत्येक वस्तु के संबंध में अपनी एक धारणा बना लेता

है। यह धारणा अनिश्चित ही होती है, जैसे, बालक यह तो समझता है कि यह कुर्सी है, पर यह कुर्सी कैसी है, इसका ज्ञान उसे नहीं होता। अत: अध्यापक को इस धारणा को समझकर बालक को अनिश्चित से निश्चित धारणा की ओर अग्रसर करना चाहिए। इसके लिए चित्र आदि की सहायता भी लेनी चाहिए।

(3) बालक को वर्तमान ज्ञान के आधार पर ही भूत, भविष्य का ज्ञान कराया जाना चाहिए। जो वस्तुएं बालक के सम्मुख होती हैं, उनका ज्ञान वह सरलता और शीघ्रता से प्राप्त करता है। अत: इसको आधार मानकर भूत और भविष्य का ज्ञान कराया जाना चाहिए, अर्थात् प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष ज्ञान की ओर जाना चाहिए। शिक्षण में केवल प्रत्यक्ष बातों के ही उदाहरण दिये जाने चाहिए।

(4) बालक को प्रारंभ में जो भी ज्ञान होता है, वह स्थूल रूप में ही होता है। शिक्षा का प्रारंभ ऐसी वस्तुओं से होना चाहिए, जिनका बालक की रुचि, विचारों तथा भावनाओं से संबंध हो। उदाहरण के लिए, सत्य और असत्य को समझाने में पहले तो कहानी के रूप में दृष्टांत दिये जायें और फिर सूक्ष्म सत्य और असत्य की तुलना करके समझाया जाये। इस प्रकार बालक शीघ्र ग्रहण कर सकेगा।

(5) बालकों को पढ़ाते समय सबसे पहले यह आवश्यक है कि उन्हें सरल बातें ही बतायी जायें, अर्थात् ऐसी ही बातें बतायी जायें, जो उसके मानसिक स्तर के अनुकूल हों। इस प्रकार सरल तत्त्वों को पढ़ाते-पढ़ाते ही कठिन तत्त्वों तक पहुंचाया जाये। तभी बालक को नये ज्ञान और पूर्ववर्ती ज्ञान के बीच सामंजस्य दिखायी देगा।

(6) आगमन विधि अपनाकर भी कोई ज्ञान बहुत सरलता से दिया जा सकता है, अर्थात् पहले नियम न बताकर कुछ उदाहरण दिये जायें और उन उदाहरणों के आधार पर नये सामान्य सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाये। उदाहरण के लिए, किसी शब्द की परिभाषा करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण घटकों को लिया जाये और उनके आधार पर ही परिभाषा निकाली जाये। यह बात ठीक है कि इस प्रकार से बनी हुई परिभाषा की भाषा टूटी-फूटी रहेगी, लेकिन इससे बालक को अधिक सरलता से ज्ञान प्राप्त होगा। यह ज्ञान स्थायी होगा और इस प्रकार विचार व तर्क-शक्ति का विकास भी होगा। व्याकरण, विज्ञान और गणित में यह विधि बहुत उपयोगी होती है।

(7) मनोवैज्ञानिक विधि भी बालक को ज्ञान देने में बहुत सहायक होती है। पाठ्यक्रम का प्रस्तुतीकरण बालकों के मानसिक विकास के अनुकूल होना चाहिए। छोटे बालकों में अनुभव, ज्ञान एवं तर्कशक्ति बड़ों की अपेक्षा कम होती है, अत: छोटे बालकों को उच्च कोटि की बातें बताना निरर्थक ही होता है। शिक्षक को शिक्षण के अंतर्गत ही यह नहीं सोचना चाहिए कि वह स्वयं क्या और कितना जानता और समझता है। उसे यह देखना चाहिए कि बालकों का मानसिक स्तर क्या है। हां, स्थूल रूप से उच्च कोटि का ज्ञान देकर बालकों को तर्क-शक्ति के उपयोग के लिए प्रेरित करना श्रेयस्कर होगा।

शिक्षा : शिक्षा उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिसमे मनुष्य में ऐसी योग्यता का विकास होता है कि वह समाज का उपयोगी प्राणी बन सके। इस विषय में अरस्तू का कहना है कि "शिक्षित व्यक्ति अशिक्षित से उतना ही श्रेष्ठ है जितना जीवित मृतक से।" प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पेस्टालोजी शिक्षा को मनुष्य की समस्त शक्तियों का स्वाभाविक, समरस तथा प्रगतिशील विकास कहते हैं। टी० रेमंट के कथनानुसार शिक्षा विकास का वह क्रम है, जिसके द्वारा मनुष्य स्वयं को विभिन्न रूपों से आवश्यकतानुसार भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल बनाता है।

साधारण मनुष्य शिक्षा को संकुचित अर्थ में लेते हैं। वे कहते हैं कि बालक पाठशाला में जिस ज्ञान को निश्चित पाठ्यक्रम, समय तथा विधि से ग्रहण करते हैं, वही शिक्षा है। परंतु शिक्षा का अर्थ बहुत व्यापक है। जो ज्ञान हम जन्म से मृत्यु तक विभिन्न वस्तुओं एवं व्यक्तियों के संपर्क में आकर प्राप्त करते हैं, उस सभी को शिक्षा कहते हैं। शिक्षा के अंग्रेजी पर्याय एड्यूकेशन का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है अग्रगति देना। अत: शब्द के विश्लेषण से यह बात प्रकट होती है कि शिक्षा का अर्थ संचित ज्ञान-कोष को केवल स्थानांतरित करना ही नहीं, अपितु बालक की आंतरिक शक्तियों को अग्रगति देना एवं विकसित करना है।

शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति 'शिक्ष्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है विद्या प्राप्त करना। इसलिए शिक्षा का अर्थ

विद्योपार्जन है, जिसे व्यवस्थित रूप से पाठशालाओं में प्राप्त किया जाता है। एडिसन का कहना है, "शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य को स्वयं में निहित उन शक्तियों एवं गुणों का दिग्दर्शन होता है, जिनका शिक्षा के बिना प्रकाश में आना असंभव होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा एक चेतन शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य की सुषुप्त शक्तियां जागृत होती हैं। शिक्षाशास्त्री आदम्स के अनुसार "शिक्षा द्विमुखी प्रतिक्रिया है, जिसका उद्देश्य एक व्यक्तित्व का दूसरे व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देना है।" जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार शिक्षा के दो व्यापक एवं संकुचित अर्थ हैं। व्यापक अर्थ की दृष्टि से मिल का कहना है कि हम अपने स्वभाव को पूर्णता के निकट लाने के लिए जो कुछ करते हैं तथा जो कुछ दूसरों के द्वारा हमारे लिए किया जाता है, वह सब तो शिक्षा के अंतर्गत आता ही है, लेकिन अपने व्यापक अर्थ में मनुष्य के चरित्र एवं विभिन्न मानवीय शक्तियों पर अप्रत्यक्ष वस्तुओं, विषयों, सरकारों, औद्योगिक कलाओं, सामाजिक जीवन, यहां तक कि भौतिक तथ्यों (जो मानव की इच्छा पर आधारित नहीं हैं), जलवायु एवं स्थानीय स्थिति का प्रभाव भी शिक्षा के अंतर्गत आता है। सीमित अर्थ की दृष्टि से शिक्षा संस्कृति है, जिसे प्रत्येक पीढ़ी सप्रयोजन अपनी भावी पीढ़ी को प्रदान करती है, जिससे वह उसका संरक्षण एवं यथासंभव सुधार कर सके।

नियंत्रित, संगठित तथा सोद्देश्य बनाने के लिए ही पाठशालाएं, विद्यालय आदि होते हैं। इस नियमित, संगठित तथा सोद्देश्य शिक्षा के अंतर्गत बालक का विधिवत् संस्कार किया जाता है और एक विशिष्ट प्रणाली एवं वातावरण में बालक का विकास होता है।

पाठशालाओं में वयस्क और बालक शिक्षक एवं शिक्षार्थी के रूप में नियमित रूप से एकत्र होते हैं। शिक्षक यहां ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है, जिससे बालक अपनी क्रियाओं एवं व्यवहारों को सुधारता है। पाठशालाओं में विभिन्न मत, जाति, स्वभाव तथा आयुवाले बालक विभिन्न स्थानों से एकत्र होते हैं, परंतु शिक्षा उनको सहजीवन की क्षमता प्रदान करती है।

आधुनिक विचार के अनुसार .शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। विद्यालय सामाजिक केंद्र हैं, जहां बालकों को विधिवत् समुचित विकास का अवसर प्रदान किया जाता है। शिक्षक केवल परिस्थिति नियंता एवं मार्गदर्शक होता है। शिक्षा बालकों की क्रियाओं और उनके अनुभव के आधार पर उनके व्यवहार में परिवर्तन करती है और उन्हें अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायता देती है।

शिक्षा, अंधों की : प्रायः यह समझा जाता है कि जिसे बिल्कुल दिखायी न दे, वही व्यक्ति अंधा है, परंतु 'दि वर्ल्ड काउंसिल फार दि वेलफेयर आफ दि ब्लाइंड' ने 'अंधा' शब्द की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार जो व्यक्ति कुछ धुंधला-सा देखे या जिसकी दृष्टि इतनी दोषपूर्ण रह गयी हो कि वह प्रकाश की झांकी मात्र देख सके, वह अंधा है। इस परिभाषा के अनुसार 1931 की जनगणना के अनुसार अंधों की संख्या 6,01,370 थी। इसमें कुछ त्रुटि हो सकती है; क्योंकि फिर 1944 की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार यह संख्या 20,00,000 थी। आंशिक अंधता के एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में अंधों की कुल संख्या 40,39,000 है।

भारत में अंधों के कल्याण की दिशा में सुसंगठित कार्य वस्तुतः 1887 में आरंभ हुआ। मिस ऐनी शार्प ने अमृतसर में अंधों के लिए एक विद्यालय खोला। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक दो और विद्यालय खोले गये। एक पालायमकोट में है और दूसरा कलकत्ता में। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में नेत्रहीनों के लिए कई स्कूल थे। कलकत्ता में दो स्कूल थे। इनमें से एक में प्राथमिक कक्षाओं से लेकर उच्च स्तर तक सनिवास शिक्षा उपलब्ध थी। यहां पर बुनाई, बढ़ईगिरी, टोकरी बुनना आदि का व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता था। असम के बच्चों के लिए 24 स्थान सुरक्षित थे। इसी प्रकार का एक स्कूल कलिपौंग में अवकाशप्राप्त सैनिकों के बच्चों के लिए था। बिहार में दो स्कूल, रांची और पटना में थे। पटना के स्कूल में तो विद्यार्थियों को टाइपराइटिंग, संगीत, हस्तकला और बागवानी का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। अंधों के लिए बंबई में 4, मध्य प्रदेश में 1, मद्रास में 9, पंजाब में 2 तथा उत्तर प्रदेश में 6 स्कूल थे। और भी अनेक विद्यालय खोले गये, जिनकी संख्या 1946 तक 33 थी। इनमें अधिकतम विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी—अर्थात् पढ़ना, लिखना तथा गणित और

साथ में कुछ दस्तकारी का काम भी, जैसे, कपड़ा बुनना, तथा बेंत का काम करना, सिखाया जाता था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तो कई संस्थाएं आगे आयीं तथा अंधों के कल्याणार्थ गतिविधि में पर्याप्त प्रगति हुई। समस्त भारतीय भाषाओं के लिए ब्रेल लिपि को ही स्वीकार कर लिया गया है। इससे पूर्व भारत में आठ कोड प्रयोग में लाये जाते थे। इस समय भारतवर्ष में लगभग 110 ऐसी संस्थाएं तथा संगठन हैं, जहां अंधों के लिए शिक्षा की व्यवस्था है। अंधों के लिए मोटे तौर पर दो प्रकार की शिक्षा संस्थाएं हैं, एक तो वे जहां उन्हें अकादमीय शिक्षा दी जाती है, और दूसरी वे जहां उन्हें व्यावसायिक शिक्षा देने की व्यवस्था है।

शैक्षिक संस्थाएं : इस संदर्भ में देहरादून में नेत्रहीनों के राष्ट्रीय केंद्र की स्थापना महत्त्वपूर्ण है। सेंट डंसटन हास्टल के नाम से 1943 में द्वितीय विश्वयुद्ध में हुए अंधे सैनिकों के लिए यह प्रशिक्षण केंद्र स्थापित किया गया था। 1 जनवरी, 1950 से इस संस्था को केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय ने अपने अधीन ले लिया और इसका नाम 'वयस्क नेत्रहीनों का प्रशिक्षण केंद्र' रखा और सभी नेत्रहीनों के लिए इसके द्वार खोल दिये गये। इस केंद्र की शाखाएं निम्नलिखित हैं :

(1) नेत्रहीनों के लिए प्रशिक्षण केंद्र,
(2) ब्रेल प्रेस,
(3) छोटी वर्कशाप,
(4) नेत्रहीनों के लिए एक आदर्श स्कूल, तथा
(5) नेत्रहीनों के लिए राष्ट्रीय पुस्तकालय।

इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि पद्धति तथा माध्यमों को छोड़कर अंधों की शिक्षा मूल रूप से उस शिक्षा से भिन्न नहीं है, जो दृष्टिसंपन्न छात्रों के लिए है। अतः दोनों प्रकार के छात्रों के लिए एक ही सी पाठ्चर्या है। यह भेद अवश्य रखा गया है कि अंधों के लिए स्कूलों में अधिक ध्यान संगीत-शिक्षा तथा दस्तकारी-प्रशिक्षण पर दिया जाता है। अंधों के विद्यालयों में जो विशेष उपकरण तथा साधन काम में लाये जाते हैं, उनमें बीज-गणित तथा अंकगणित के लिए टेलर्स अरिथमेटिक फ्रेम है, आरेखन (ड्राइंग रेखागणित या उभरी हुई आकृतियों-वाला एक विशेष माध्यम) इस्तेमाल किया जाता है, जिसे स्पर्श द्वारा समझा जा सकता है।

भारत में अंधों के स्कूल मुख्यतः अंग्रेजी ढांचे पर ही आधारित हैं। परिणामस्वरूप सब के सब विद्यालय आवासीय विद्यालय हैं। अंधे छात्रों को वहां निःशुल्क भोजन तथा आवास मिलता है। विद्यालय में जाने की आयुवाले विद्यार्थियों की संख्या तो 4,00,000 है, परंतु इनमें से 5,000 अंधे बालक ही स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर पा रहे हैं; क्योंकि हमारे देश की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं है कि इतने अधिक अंधों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जा सके। अतः विकल्प रूप से दृष्टिसंपन्न विद्यार्थियों के स्कूलों में ही अंधों की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। शिक्षा के ऐसे रूप को प्रायः संकलित शिक्षा अथवा खुली शिक्षा का नाम दिया जाता है।

संकलित शिक्षा की संकल्पना का उदय अमरीका में हुआ। सन् 1900 से अमरीका में अंधे बालकों की शिक्षा की व्यवस्था दृष्टिसंपन्न बालकों के साथ ही होती रहती है, ताकि वे दृष्टिसंपन्न व्यक्तियों के समाज के साथ मिल-जुल सकें और दृष्टिसंपन्न बालक अपने अंधे भाइयों को अच्छी तरह और घनिष्ठतापूर्वक जान सकें और इस प्रकार अंधों के बारे में जो गलत धारणा बन गयी है, वह हटायी जा सके। अब इस प्रकार की शिक्षा भारत में, विशेषतः बंबई में, दोनों प्रकार के छात्रों को साथ-साथ दी जाने लगी है। दोनों प्रकार के छात्र एक ही अध्यापक से साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं। प्रशिक्षण मौखिक ही होता है। अतः इतिहास, नागरिकशास्त्र, तथा भाषाओं के पढ़ाने में कोई कठिनाई नहीं होती। हां, गणित तथा भूगोल आदि विषयों में अंधे छात्रों को अवश्य कठिनाई का सामना करना पड़ता है; क्योंकि इनके पढ़ाने में श्यामपट्ट, मानचित्र तथा अन्य दृश्य सामग्री का सहारा लेना पड़ता है। ऐसी अवस्था में या तो अध्यापक को स्वयं ही अंधे छात्र की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है या विशेष प्रशिक्षित अध्यापक की व्यवस्था की जाती है। ऐसे प्रशिक्षित अध्यापकों को अंधे छात्रों को ऐसे विषय पढ़ाने में इस्तेमाल किये जानेवाले उपकरणों, साधनों तथा ब्रेल पद्धति की पूर्ण जानकारी होती है। परीक्षा देते समय अंधे विद्यार्थी के लिए लेखक की व्यवस्था कर दी जाती है और उसकी उत्तर-पुस्तिका अन्य सामान्य परीक्षार्थियों की उत्तर पुस्तिकाओं के साथ ही जांची जाती है।

कुछ अंधे विद्यार्थी विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा तक भी पहुंच जाते हैं। ऐसे युवक प्रायः कलाविषयक पाठ्यक्रमों से संबंधित रहते हैं। कुछ कानून की ओर भी आते हैं और कुछ कला-विषयों में एम० ए० कर लेते हैं। विश्वविद्यालय-स्तर की बहुत-सी पुस्तकें ब्रेल पद्धति में न होने के कारण अंधे छात्र को वाचक का आश्रय लेना पड़ता है और फिर वह 'ब्रेलराइटर' की सहायता से ब्रेल में विस्तृत टिप्पणियां (नोट्स) उतार लेता है।

उच्च शिक्षा चलाने के लिए अंधे छात्रों के लिए भारत सरकार तथा नेशनल एसोसियेशन फार दि ब्लाइंड ने छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की है।

सिद्धांततः समस्त शिक्षा का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अंधा हो या दृष्टिसंपन्न, उसे आजीविका चलाने के लिए कोई नौकरी अवश्य मिले। अतः अंधों के लिए प्रारंभ से ही ऐसे स्कूलों की व्यवस्था होती रही है, जहां उन्हें कोई दस्तकारी कारीगरी, दर्जीगिरी, बढ़ईगिरी, बुनाई, ब्रश बनाना आदि काम सिखाये जाते हैं, और उन्हें उद्योग-गृह कहा जाता है। अब वहां प्लास्टिक का सामान बनाने का भी प्रशिक्षण दिया जाता है, जो अधिक लाभकारी है। इन व्यावसायिक संस्थाओं में अंधों को केवल काम ही नहीं दिया जाता, अपितु उन्हें मुफ्त भोजन तथा आवास भी दिया जाता है।

अब तो शिक्षित अंधे युवकों को उन पदों पर नियुक्त करने की भी व्यवस्था की जाती है, जिन पर दृष्टिसंपन्न व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं और इसे खुली नियुक्ति कहा जाता है। वास्तव में यही आदर्श खुली नियुक्ति का स्वरूप है; क्योंकि इससे उन समस्याओं का निपटारा हो जाता है, जो व्यक्ति के संस्थानीयकरण से उत्पन्न होती हैं। नेशनल एसोसियेशन फार दि ब्लाइंड नामक संस्था ने इस दिशा में बंबई में इस काम का सूत्रपात किया है और भारत सरकार ने भी शारीरिक दृष्टि से बाधित व्यक्तियों के लिए, दिल्ली, मद्रास, हैदराबाद, वंबई, अहमदाबाद, बंगलौर तथा चंडीगढ़ में रोजगार दफ्तरों की स्थापना कर दी है। अब उद्योग के विस्तार के साथ-साथ बाधितों के लिए धंधों के अवसर बहुत बढ़ गये हैं। अंधों की नियुक्ति के लिए कपड़ा उद्योग, फार्मेसी उद्योग तथा कारखानों में भरती की गुंजाइश निकाली जा सकती है। उद्योगों की अन्य शाखाओं में भी अंधे कर्मचारी लगे हुए हैं। अब कुछ अंधे व्यक्ति तो विश्वविद्यालय-व्याख्याता, बीमा एजेंट तथा व्यापार व्यवसायी के रूप में भी काम करते हुए मिल सकते हैं।

अंधे व्यक्तियों के लिए अब कृषि प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है और इसके लिए नेशनल एसोसियेशन फार दि ब्लाइंड ने एक कृषि-केंद्र खोला है, जिसका नाम अंधों के लिए टाटा कृषि तथा ग्रामीण प्रशिक्षण केंद्र है। यह गुजरात में बलसाड़ा जिले के फांसा ग्राम में स्थित है और इसके पास 250 एकड़ जमीन है।

अंधों की दशा सुधारने की दिशा में भारत सरकार तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाएं अनेक सम्मेलन तथा विचार-गोष्ठियां समय-समय पर आयोजित करती रहती हैं।

शिक्षा, अनौपचारिक : अनजाने में ही मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक बहुत-सी बातें सीखता रहता है। यह एक प्रकार की शिक्षा है, जिसका कोई विधिवत् स्वरूप नहीं होता। इसे अनौपचारिक शिक्षा कहते हैं। व्यक्ति अपने साथियों के क्रिया-कलापों को देखता है और उनका अनुकरण करता है, कई प्रकार की संस्थाओं की सदस्यता ग्रहण करता है, जहां उसे किसी प्रकार का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता, फिर भी वहां से वह कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य प्राप्त करता है। इस प्रकार की शिक्षा के काम सभी सामाजिक संगठन करते हैं और इनसे आकस्मिक, अनियंत्रित, अनियमित शिक्षा प्राप्त होती है। निम्नलिखित साधनों से प्रमुखतः अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती है।

(1) **परिवार** : अनौपचारिक शिक्षा का सर्वप्रथम साधन परिवार है और यही व्यक्ति की प्रथम पाठशाला होता है। परिवार में बालक अपने माता, पिता, भाई, बहन आदि संबंधियों के संपर्क में आता और इनसे वह खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना आदि विभिन्न प्रकार की बातें और शिष्टाचार सीखता है। परिवार के सदस्यों में आपस में सहयोग, प्रेम एवं सहानुभूति की भावनाएं होती हैं और बालक इन भावनाओं को ग्रहण करता है। परिवार के छोटे सदस्य बड़ों का आदर-मान तथा आज्ञापालन करते हैं और इनसे वह ज्ञात या अज्ञातरूप में सहयोग, सहानुभूति, प्रेम, आदर, आज्ञापालन और शिष्टाचार आदि विविध गुणों को ग्रहण करता है।

(2) **धार्मिक संस्थाएं** : मनुष्य व्यवहार के परिवर्तन

में तथा अनौपचारिक शिक्षा प्रदान करने में धार्मिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि धार्मिक संस्थाओं के संपर्क में आकर विभिन्न प्रकार के विचार ग्रहण करता है। विद्वानों के जीवन तथा उनकी शिक्षाओं, उनके कार्यों आदि का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता है और व्यक्ति में नैतिकता की भावना उत्पन्न होती है।

(3) **नाटक और सिनेमा :** अनौपचारिक शिक्षा प्रदान करने में नाटक और सिनेमा आदि का भी बड़ा हाथ होता है। इन माध्यमों से विभिन्न प्रकार का वास्तविक और मर्मस्पर्शी ज्ञान प्रदान किया जा सकता है। रंगमंच के अभिनेता दर्शकों को विभिन्न प्रकार के गुणों को सीखने में सहायता कर सकते हैं। आजकल रंगमंच का स्थान चलचित्रों ने ले लिया है। इनके प्रदर्शन से दैनिक जीवन में होनेवाली विभिन्न घटनाओं की अनुभूति होती है। सिनेमा द्वारा सामाजिक और राजनैतिक बातों के अतिरिक्त अन्य विविध विषयों का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

(4) **रेडियो और टेलीविजन :** आज के युग में अनौपचारिक शिक्षा प्रदान करने में रेडियो और टेलीविजन का स्थान महत्त्वपूर्ण है। रेडियो से प्रसारित सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक वार्ताओं को हम घर पर ही सुगमता से सुन लेते हैं और राजनीतिज्ञों, शिक्षा-शास्त्रियों, वैज्ञानिकों आदि के विचारों से भी लाभ उठा सकते हैं। अब तो आकाशवाणी से विभिन्न विषयों की शिक्षा का प्रसारण भी प्रारंभ हो गया है और छात्रों को औपचारिक शिक्षा से भी लाभ मिल सकता है।

(5) **पुस्तकालय :** पुस्तकालय औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा के प्रसार में सहायक है। आज के युग में शिक्षा-संस्थाओं का कार्य पुस्तकालय के बिना चल ही नहीं सकता। शिक्षण-संस्था के पुस्तकालयों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के पुस्तकालय भी होते हैं, जैसे, सूचना पुस्तकालय, सार्वजनिक पुस्तकालय, राजकीय पुस्तकालय आदि। कुछ चल-पुस्तकालय भी होते हैं, जो मोटर में बने होते हैं और एक जगह से दूसरी जगह लोगों को विभिन्न प्रकार की पठन सामग्री प्रदान करते हैं।

शिक्षा, अमरीकी : पहले अमरीका पर ब्रिटेन का प्रभाव रहा था, परंतु बाद में, वहां राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ, जिसके फलस्वरूप अमरीका की शिक्षा-प्रणाली भी ब्रिटेन की शिक्षा-प्रणाली से बिलकुल भिन्न हो गयी। वहां के प्रसिद्ध नेता बेंजामिन फ्रेंकलिन की यह मांग थी कि अमरीका की शिक्षा-प्रणाली केवल सैद्धांतिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक हो, ताकि शिक्षा प्राप्त युवक सफल व्यावहारिक जीवन बिता सके और जीवन यापन के लिए उचित व्यवस्था या धंधा कर सके।

'नागरिकों की उन्नति ही राष्ट्र की उन्नति' के सिद्धांत के अनुसार नागरिकों की उन्नति के प्रमुख साधन शिक्षा की ओर अमरीका में विशेष ध्यान दिया जाता है और शिक्षा-कार्य में जनता तथा सरकार दोनों का सहयोग रहता है।

अमरीका में शिक्षा संस्थाएं सरकारी नियंत्रण से मुक्त हैं। वहां शिक्षा मंत्रालय अलग नहीं है। एक राज्य अपने में स्वतंत्र है और सभी राज्यों को अपने प्रदेश की शिक्षा-प्रणाली निर्धारित करने की स्वतंत्रता है। केंद्रीय सरकार का शिक्षा में कोई हस्तक्षेप नहीं होता। सभी राज्यों की शिक्षा संस्थाएं अपने निजी मामलों में पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं और वे स्थानीय स्कूल बोर्ड के अधीन रहती हैं। उनके प्रबंधक अधिकारी भी स्थानीय होते हैं।

विद्यालय के पाठ्य विषयों का निर्धारण स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है जैसे, कृषि प्रदेश में कृषि संबंधी शिक्षा अधिक दी जाती है तथा औद्योगिक प्रदेश में उद्योग संबंधी शिक्षा की व्यवस्था अधिक होती है।

संभवतः इसलिए वहां बेकारी अधिक नहीं फैलती और प्रदेश का विकास भी होता रहता है। अमरीकी विद्यालयों में किसी प्रकार का वर्ग भेद नहीं है। हां, उच्च वर्ग के लोगों के बालक निजी विद्यालयों में पढ़ते हैं। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या लगभग दस प्रतिशत है। वहां दिवसीय स्कूल भी हैं और बोर्डिंग स्कूल भी। गैर सरकारी स्कूलों की आमदनी अधिकतर विद्यार्थियों की फीस से होती है। बाकी खर्च दान और दान की संपत्ति की आय से पूरा किया जाता है।

अमरीका के सब राज्यों में स्टेट बोर्ड आफ एजूकेशन नामक संस्था होती है। राज्य की विधानसभा अथवा राज्यपाल इसके सदस्यों की नियुक्ति करता है। इसके अतिरिक्त, प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षा, शिक्षक प्रशिक्षण तथा विश्वविद्यालय शिक्षा आदि के लिए भी

अलग-अलग समितियां होती हैं। शिक्षा का सर्वोच्च अधिकारी 'स्टेट सुपरिंटेंडेंट आफ पब्लिक इंस्ट्रकशन' अथवा 'कमिश्नर आफ ऐजूकेशन' होता है। यहां की सभी शिक्षा-संस्थाओं के प्रिंसिपल या कुलपति को 'प्रेसीडेंट' कहते हैं। ये अध्यापन कार्य कम और प्रशासन का काम अधिक करते हैं।

पूर्व प्राथमिक शिक्षा : नर्सरी और किंडरगार्टन स्कूलों में 6 वर्ष तक के बालकों को शिक्षा दी जाती है। बड़े-बड़े नगरों में पूर्व प्राथमिक शिक्षा की संस्थाएं पर्याप्त संख्या में हैं। पूर्व प्राथमिक शिक्षा भावी जीवन का आधार है, इसलिए इस ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

प्राथमिक शिक्षा : छह से बारह वर्ष तक के बालकों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था है। इसके द्वारा बालकों को कुशल नागरिक बनाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त उनके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास की ओर भी ध्यान दिया जाता है।

जूनियर हाई स्कूल : प्राथमिक शिक्षा के पश्चात् बालक की शिक्षा की व्यवस्था जूनियर हाई स्कूल में की जाती है। यहां उसे अपने विचार प्रकट करने की पर्याप्त शिक्षा दी जाती है। पढ़ाये जानेवाले विषयों में अमरीका तथा विश्व के अन्य देशों का भूगोल तथा इतिहास और प्रारंभिक विज्ञान मुख्य विषय होते हैं। शरीर वृद्धि के लिए प्रतिदिन व्यायाम तथा समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षा की भी व्यवस्था रहती है।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा : इस तरह के विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या प्रति दस वर्ष बाद दुगुनी होती जा रही है। इस स्तर की शिक्षा का उद्देश्य भी संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करते हुए कुशल नागरिकों का निर्माण करना है।

उच्च शिक्षा : उच्च शिक्षा के लिए 'लिबरल आर्ट्स कालेज' और विश्वविद्यालय हैं। जो विषय भारत में आर्ट्स, या कलाओं के अंतर्गत आते हैं, उन विषयों की शिक्षा अमरीका में लिबरल आर्ट्स कालेजों में दी जाती है। स्नातकोत्तर शिक्षा तथा शोध कार्यों की व्यवस्था विश्वविद्यालय में होती है। लिबरल आर्ट्स कालेज के छात्रों का पाठ्यक्रम दो भागों में विभक्त होता है: (1) साधारण शिक्षा, जो विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है और (2) विशेष शिक्षा जो प्रत्येक विद्यार्थी की रुचि के अनुसार निर्धारण की जाती है। साधारण शिक्षा के अंतर्गत साहित्य, समाजशास्त्र तथा साधारण विज्ञान का अध्ययन आता है और विशेष शिक्षा में विद्यार्थियों के भावी जीवन का ध्यान रखा जाता है।

अध्यापक प्रशिक्षण : अमरीका में स्कूलों में अध्यापन का कार्य करनेवाली स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या से चौगुनी है। अर्थात् स्त्रियां ही विशेष रूप से अध्यापन का कार्य करती हैं। आजकल अमरीका में प्रति वर्ष दो लाख व्यक्ति शिक्षण कार्य में प्रशिक्षित किये जाते हैं। यह प्रशिक्षण-काल चार वर्ष का होता है। हाई स्कूलों के पश्चात् टीचर्स कालेज में चार वर्ष तक शिक्षा पाने पर बी० ए० की डिग्री दी जाती है, जिसके आधार पर अध्यापन कार्य किया जा सकता है।

शिक्षा, अरविंद की : यह शिक्षा दिव्य वास्तविकता से संबंधित है। इसका लक्ष्य विद्यार्थी में स्व-केंद्रित दैवी सत्य के साधन के रूप में उसके मस्तिष्क, जीवन और शरीर के सर्वांगीण विकास में सहायक होना है, जिससे वह अपने सच्चे 'स्व' के चारों ओर अपने अस्तित्व को विकसित कर सके और समस्त विश्व का, जो आत्मकेंद्रित 'एको-ब्रह्म की बैविध्यपूर्ण अभिव्यक्ति है, एकात्मक भाग हो सके। इसके लिए अरविंद ने 1943 में पांडिचेरी के अपने आश्रम में एक स्कूल स्थापित किया। 1952 में उसने इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी सेंटर का रूप धारण कर लिया। इस सेंटर के तीन विभाग हैं: प्राइमरी, माध्यमिक और उच्च। जाति, राष्ट्र, वंश, लिंग अथवा मत के भेदभाव के बिना ही इसमें विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं। शिक्षा निःशुल्क है और आचार्यों को भी मामूली पारिश्रमिक मिलता है। अध्यापक और उसके परिवार के निवास एवं भोजन की मूल आवश्यकताओं का स्तर वही है, जो श्री अरविंद आश्रम के अन्य सदस्यों का होता है। इस विश्वविद्यालय का लक्ष्य अन्य विश्वविद्यालयों से होड़ लेना नहीं है। इसका लक्ष्य तो एक ऐसी एकात्मक शिक्षा देना है, जो अरविंद के दर्शन के अनुरूप हो। इसमें धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि अरविंद का दर्शन किसी धर्म से संबंधित नहीं है। इस विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम इस प्रकार है:

(1) शिशु-पाठ्यक्रम : 4 वर्ष के बच्चों से प्रारंभ

करके 7 वर्ष तक के बालकों के लिए शैक्षिक खेलों एवं क्रिया-कलापों द्वारा अरविंद-शिक्षा दी जाती है।

(2) **प्राइमरी :** मातृभाषा, फ्रेंच और अंग्रेजी के साथ प्रारंभिक विज्ञान, गणित, सामाजिक ज्ञान और ड्राइंग की शिक्षा दी जाती है।

(3) **माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक :** यह सात वर्षीय पाठ्यक्रम होता है, जिसमें प्राइमरी की तीनों भाषाओं सहित गणित, भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, ड्राइंग और एक तकनीकी विषय पढ़ाया जाता है।

(4) **विश्वविद्यालय :** 3 साल डिग्री के बाद दो वर्ष का उच्चतर अध्ययन, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय संबंध, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सभ्यता का इतिहास, अंग्रेजी साहित्य आदि अंग्रेजी माध्यम से और भौतिकी, रसायन, विज्ञान का इतिहास तथा फ्रेंच साहित्य फ्रेंच के माध्यम से पढ़ाया जाता है।

(5) **तकनीकी प्रशिक्षण पाठ्यक्रम :** बढ़ईगीरी प्रारंभिक यांत्रिकी और विद्युत इंजीनियरी, फोटोग्राफी, चित्रकारी, संकेत-लिपि और टंकण, हिसाब-किताब तथा वाणिज्य पत्राचार, कसीदाकारी, कुटीर उद्योग, सिलाई, वास्तुकला विषयक ड्राइंग और नक्शानवीसी, कंठ्य तथा वाद्य संगीत (भारतीय तथा यूरोपीय), नृत्य और परिचर्या।

(6) **प्रौढ़ों के लिए भाषा-कक्षाएं :** अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, हिंदी, तमिल और संस्कृत।

शिक्षा, आदर्शवादी : प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्लेटो, कामेनियस, पेस्टालोजी तथा फ्राबेल की प्रत्ययवादी विचारधारा का प्रभाव शिक्षा-जगत में, किसी न किसी रूप में आधुनिक युग तक रहा है। इन शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा संबंधी अनेक उच्च आदर्शों एवं उद्देश्यों का प्रतिपादन किया है, लेकिन प्रत्ययवाद ने शिक्षणपद्धति को इतना प्रभावित नहीं किया, जितना शिक्षण के उद्देश्यों को। प्रत्ययवाद मानवीय विषयों को शिक्षा का उत्तम साधन मानता है। अत: इसमें भौतिक विज्ञान के स्थान पर मानवीय विषयों का अधिक महत्त्व है।

प्लेटो के मतानुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आदर्श समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना है, जो प्रत्येक कार्य को सहृदयता से करें। अत: शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण तैयार करना है, जो 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की प्राप्ति में सहायक हो। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति निहित है, अत: शिक्षा द्वारा इन शक्तियों को विकास का पूर्ण अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। आदर्शवादी शिक्षा पर आदम्स का कथन है कि संसार में समन्वय तथा समरसता उत्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। अत: शिक्षा का उद्देश्य बालक के जीवन में भी एकता का समावेश करना होना चाहिए। इसके विरोध में आदर्शवादी शिक्षा के समालोचकों का कथन है कि इस शिक्षा के उद्देश्य अत्यंत व्यापक तथा अमूर्त दिखायी देते हैं। आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री वर्तमान की अपेक्षा भविष्य पर अधिक बल देते हैं और बालक भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिक समझता है। उसके लिए वर्तमान की समस्याएं अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव तथा भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाएं इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकतीं। आज के इस भौतिकवादी युग में आध्यात्मिक आनंद की अपेक्षा भौतिक सुख-समृद्धि और वैभव अधिक आवश्यक है और इसलिए आदर्शवादी लोग शिक्षा के जो उद्देश्य निर्धारित करते हैं, उनकी घोर आलोचना की जाती है और फिर आदर्शवादी शैक्षिक प्रक्रिया में बालक की अपेक्षा अध्यापक को अधिक महत्त्व दिया गया है। शिक्षा में बालक का महत्त्व अधिक होना चाहिए; क्योंकि शिक्षा बालक के लिए ही होती है।

आदर्शवादी शिक्षा में अध्यापन-विधियों पर कम बल दिया जाता है। अत: इसमें शैक्षिक प्रयोगों का अवसर नहीं मिलता और विज्ञान तथा तकनीकी विद्या का कोई स्थान नहीं है।

शिक्षा, आदिम : आदि मानव की मूल आवश्यकताएं बहुत कम थीं। उसकी पहली आवश्यकता आत्मसुरक्षा थी। यही उसके लिए सबसे बड़ा काम भी था। इसको वह काम करके अथवा प्रार्थना से पूरा करता था। जो व्यक्ति इससे कतराता था, उसे बाल्यकाल में ही मरने दिया जाता था। इस पृष्ठभूमि में आदि मानव की शिक्षा के दो रूप थे:

(1) प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक, और (2) अप्रत्यक्ष अथवा अदृश्य। प्रत्यक्ष का संबंध व्यावहारिक ज्ञान से था, जैसे, व्यवसाय, गृह-कार्य, सैनिक कार्य और सैनिक प्रशिक्षण आदि। अप्रत्यक्ष के अंतर्गत वह सब आता था,

जिसका सीधा संबंध प्रार्थना से होता था। आज की शब्दावली में इसे धर्म, चिकित्सा, कला, संगीत और साहित्यिक प्रशिक्षण कहा जाता है। किंतु इन दोनों प्रकार की शिक्षा का स्थान परिवार ही होता था। माता लड़कियों को प्रशिक्षण देती थी, तो पिता लड़कों को। इसके अतिरिक्त कबीले के अन्य सदस्यों के कुछ और अधिक काम हुआ करते थे। उस काल के प्रशिक्षण की विधि बहुत सादी और व्यावहारिक थी। समस्त शिक्षा-प्रक्रिया में आदि मानव का यदि कोई उल्लेखनीय कदम माना जाये, तो वह किशोर का पूर्ण पुरुष होने के लिए किया गया संस्कार है। इसके बाद ही वह अपने कबीले का पूरा सदस्य समझा जाता था।

शिक्षा, आदिम तथा पिछड़ी जातियों की : अभिजात वर्ग एवं सवर्ण जाति के बालकों के लिए तो शिक्षा का प्रबंध यथासमय शताब्दियों से चलता आ रहा है, परंतु वर्तमान युग में सरकार ने पिछड़ी जातियों तथा आदिम जातियों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था की है। सरकार की ओर से सभी जातियों के बालकों के लिए स्कूलों के द्वार खुले हुए हैं और कानूनन कोई इसका विरोध नहीं कर सकता है।

1882 से 1902 तक के समय में हरिजनों एवं पिछड़ी जातियों की शिक्षा में आशातीत प्रगति हुई थी। 1893 में मद्रास सरकार ने हरिजनों की शिक्षा के लिए एक व्यापक प्रस्ताव पास किया, जिसे 'पंचम शिक्षा का महाधिकारपत्र' (मैगनाकार्टा आफ पंचम एजूकेशन) माना गया है। इसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं:

(1) प्रशिक्षण विद्यालयों में पढ़नेवाले पंचम छात्रों को अन्य छात्रों की अपेक्षा 2 रुपये मासिक वृत्ति अधिक दी जाये।

(2) उन गैर सरकारी विद्यालयों को अधिक सहायता अनुदान दिया जाये, जिनमें पंचम छात्र प्रवेश लें।

(3) स्थानीय संस्थाओं एवं नगरपालिकाओं द्वारा सभी बड़े पंचम ग्रामों तथा नगरों में पंचम छात्रों के लिए विशिष्ट स्कूल खोले जायें।

(4) सरकारी बंजर भूमि को पंचम विद्यालयों के निर्माणार्थ बिना मूल्य दे दिया जाये।

(5) पंचम वर्ग के लिए निशा-पाठशालाएं खोली जायें; क्योंकि उससे इस वर्ग को बहुत लाभ होगा।

इन रियायतों के अतिरिक्त हरिजनों एवं पिछड़ी जातियों के छात्रों को छात्रवृत्ति भी दी गयी और हरिजन शिक्षकों के लिए मद्रास नगर में प्रशिक्षण विद्यालय खोला गया।

इससे पिछड़ी जातियों की शिक्षा में बड़ी क्रांति हुई। 1902 में 3,000 विद्यालय केवल हरिजन छात्रों के लिए ही थे, जिनमें 14 माध्यमिक विद्यालय भी शामिल थे। हरिजनों में शिक्षा के प्रसार में राजकीय प्रयासों के अतिरिक्त आर्यसमाज तथा महात्मा गांधी के हरिजन आंदोलन तथा डा० अंबेदकर के प्रयासों का योगदान भी सराहनीय रहा।

भारतीय शिक्षा आयोग की जांच के आधार पर पिछड़ी जातियों की शिक्षा के साथ आदिवासियों एवं पहाड़ी जातियों की शिक्षा में भी उन्नति हुई और इसके लिए निम्नलिखित छह सूत्रों को स्वीकार किया गया:

(1) विशिष्ट विद्यालयों का निर्माण,

(2) निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था,

(3) छात्रवृत्तियां देना,

(4) अध्यापक-प्रशिक्षण के लिए विशेष सुविधाएं,

(5) इन शिक्षा-कार्यों के प्रसार में लगे हुए गैर-सरकारी विद्यालयों को उदार आर्थिक सहायता, और

(6) पाठ्य पुस्तकों का बिना मूल्य वितरण।

सरकारी प्रयत्नों की अपेक्षा मिशनरी प्रयासों के कारण आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा के प्रसार में अधिक सफलता मिली। फिर भी इन जातियों में शिक्षा का अधिक प्रसार नहीं हो सका। 1902 में इन जातियों में शिक्षित पुरुषों का अनुपात इस प्रकार था: मद्रास में प्रति दस हजार 47, बंबई में 105, बंगाल और असम में 89, बरार में 18, तथा मध्य प्रदेश में 401। शिक्षित स्त्रियों का अनुपात तो इससे भी कम था। असम में प्रति दस हजार 13, बंगाल में 4, तथा अन्य प्रांतों में 2 से भी कम।

इसके साथ ही अपराधी जातियों को शिक्षित बनाने के लिए भी इस अवधि में प्रयत्न किये गये। मद्रास प्रांत में 1937 में 1103 बालक और बालिका अनिवार्य शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। बंबई प्रांत में इनकी शिक्षा के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की गयी थी। बंगाल में मिशनरियों ने इनके लिए स्कूलों तथा छात्रावासों का

निर्माण किया। बिहार और उड़ीसा में भी अपराधी जातियों के बालकों एवं बालिकाओं के लिए विशेष विद्यालय खोले गये। 1947 तथा 1968 के बीच अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों की शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये। इनके लिए व्यावसायिक तथा तकनीकी (प्राविधिक) प्रशिक्षण पर भी अधिक जोर दिया जा रहा है। अनुसूचित जातियों के छात्रों को छात्रवृत्तियां देने की एक योजना भारत सरकार ने 1944-45 में आरंभ की। 1948-49 से यह लाभ अनुसूचित आदिम जातियों के विद्यार्थियों को तथा 1949-50 से पिछड़े वर्ग के विद्यार्थियों को भी दिया जाने लगा है। 1959-60 से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देने में सरकार पर्याप्त धन व्यय कर रही है।

शिक्षा, इस्लामी : इस्लामी शिक्षा का प्रसार मुख्य रूप से मुस्लिम बादशाहों के संरक्षण के कारण हुआ था। इस क्षेत्र में मुहम्मद गौरी, बलबन, मुहम्मद तुगलक, बाबर, हुमायूं तथा अकबर के कार्य सराहनीय हैं। इनमें अकबर के कार्य तो सबसे अधिक सराहनीय हैं। उनके काल में भारतीय संस्कृति और साहित्य, ललित कला आदि की बहुत उन्नति हुई। उन्होंने संस्कृत के ग्रंथों का अरबी-फारसी में अनुवाद कराया। इन्हीं कारणों से हिंदुओं ने भी फारसी का अध्ययन किया। लेकिन औरंगजेब ने हिंदू शिक्षा को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया और इस्लामी शिक्षा को ही बढ़ावा दिया।

उस युग में इस्लामी शिक्षा दो प्रकार की होती थी—प्राथमिक और उच्च शिक्षा। चार वर्ष की आयु के बाद 'विस्मिल्लाह' की रस्म होने के बाद बालक विद्यारंभ करता था। मकतबों में प्रारंभ में आंख तथा कान के माध्यम से फारसी का ज्ञान कराया जाता था। लिपि के ज्ञान के बाद कुरान की शिक्षा दी जाती थी। इसमें प्रार्थना, नमाज आदि होती थी। इसके पश्चात् रोज चार-पांच घंटे लिखने का अभ्यास कराया जाता था। बाद में बालकों को करीमा, खालिकबारी, गुलिस्तां, बोस्तां आदि पुस्तकों की शिक्षा दी जाती थी। फारसी काव्य भी पढ़ाया जाता था। और अंत में हिसाब, वार्तालाप, पत्र-लेखन आदि सिखाये जाते थे।

उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी, जिनका संचालन राज्य द्वारा होता था। यह शिक्षा दो प्रकार की होती थी—लौकिक एवं धार्मिक। लौकिक शिक्षा में अरबी, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, गणित चिकित्सा आदि विषय होते थे। धार्मिक शिक्षा में कुरान तथा हजरत मुहम्मद साहब के सिद्धांतों का अध्ययन होता था और इसका माध्यम फारसी था। लेखन का विकास हो चुका था, इसलिए शिक्षण दोनों प्रकार से होता था—मौखिक रूप से भी और पुस्तकों के पठन-पाठन द्वारा भी। मदरसों में विद्यार्थियों को संगीत, कला, चिकित्सा आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

इस काल में शिक्षक विद्यार्थियों को अनुशासन भंग करने पर मनमाने ढंग से दंड दिया करते थे। उन्हें कोड़ों तथा बेंतों से निर्दयता से पीटा जाता था। इसके साथ-साथ अच्छे विद्यार्थियों को पुरस्कार, पदक, उच्च पद आदि पुरुस्कारस्वरूप दिये जाते थे। छात्रवृत्तियां भी दी जाती थीं।

स्त्री-शिक्षा इस युग में नहीं के बराबर थी। पर्दा प्रथा के कारण साधारण घरों की लड़कियां कदाचित ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। केवल ऊंचे घरों की स्त्रियों को ही शिक्षा देने का प्रबंध था। स्त्रियों को धर्म एवं गृहशास्त्र का अध्ययन कराया जाता था।

मुसलमान बादशाह रंगीले और कलाप्रिय थे। इसलिए इनके काल में ललित कलाओं और हस्तकला का खूब विकास हुआ। राजदरबारों में संगीत, नृत्य चित्रकला आदि को खूब प्रोत्साहन मिला।

शिक्षा, उत्तर वैदिक कालीन : वैदिक काल में यज्ञ संबंधी ज्ञान पर विशेष जोर दिया गया था। उस समय में ऐसे लोग भी थे, जो तत्त्व, जीव, आत्मा, सृष्टि आदि विषयों पर चिंतन करने लगे थे। अतः उत्तर वैदिक काल में स्वाध्याय के विचार ने जोर पकड़ा और उपनिषद् तथा ब्राह्मण जैसे महान ग्रंथों की रचना हुई। शाखा, कुल, गोत्र, आदि संस्थाओं ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वैदिक पाठशालाओं की स्थापना विशेषतः वनों में प्रारंभ हुई। उत्तर वैदिक काल की शिक्षा केवल धार्मिक न होकर जीवन के विविध रूपों का यथार्थ ज्ञान देती थी। स्वाध्याय की प्रमुखता थी। उत्तर वैदिक युग में विद्यार्थी का महत्त्वपूर्ण स्थान था, लेकिन गुरु को भी अनिवार्य माना जाता था। उपनयन संस्कार के पश्चात्

जो कि 12 वर्ष की अवस्था में हो जाता था, विद्यार्थी गुरु के पास ही रहते थे और 22 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरु उनको यथार्थ और आध्यात्मिक ज्ञान देते थे। गुरु का समाज में बहुत अधिक सम्मान होता था। विद्यार्थी गुरु के पास रहकर भिक्षाटन के लिए भी जाता था। वह गुरु के लिए ईंधन एकत्र करता, गायें चराता और गुरु की सेवा करता था। गुरु विद्यार्थियों के सामने समस्याएं रखते तथा शिष्य उनका समाधान करते। इसी प्रकार वे एक-दूसरे से वाद-विवाद करके विभिन्न विषयों के ज्ञान को मौखिक रूप से प्राप्त करते थे। अध्ययन की समाप्ति पर गुरु शिष्य को सत्याचरण करने, बड़ों की सेवा करने तथा अन्य प्रकार के उपदेश और आशीर्वाद देते थे। कालांतर में लेखन-प्रणाली भी बढ़ने लगी। शिक्षा-प्रणाली के रूप में प्रश्नोत्तर, सूक्ति तथा कथाओं का प्रयोग मूल रूप से किया जाता था। तर्क-शास्त्र का विकास भी इसी काल में हुआ।

शिक्षा, उदार : दार्शनिक दृष्टि से उदार शिक्षा मनुष्य के संपूर्ण एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती है। अरस्तू के मत में उदार शिक्षा वह शिक्षा है, जो आत्मा को वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्य के स्वतंत्र चिंतन के लिए प्रशिक्षित करती है। इसी बात को ड्यूई अधिक व्यावहारिक रूप से कहते हैं। उनके मतानुसार उदार शिक्षा का तात्पर्य बुद्धि के ऐसे प्रशिक्षण से है कि वह अपने निश्चित स्थान को प्राप्त कर सके, अर्थात् पराज्ञान की शक्ति उसे मिल जाये। इस ज्ञान को पाठ्य विषयों की तात्कालिक उपयोगिता से नहीं, बल्कि व्यक्ति को भविष्य में होनेवाले अनुभवों के गुणों के आधार पर जाना जा सकता है।

साधारण अर्थ में उदार शिक्षा जीवन की तैयारी है, आजीविका का साधन नहीं। मध्यकाल में उदार शिक्षा में ललित कलाओं का बड़ा महत्त्व था और इसे कुशाग्र बुद्धिवाले बालकों और अभिजात पुरुषों तक ही सीमित रखा जाता था, किंतु प्रजातंत्र के युग में उदार शिक्षा का अर्थ सामान्य शिक्षा है। इसका काम व्यक्ति में ऐसे कौशल योग्यता, अभिवृत्ति और मूल्यों को विकसित कर देना है, जिनकी सहायता से वह अपनी और अपने परिवार की भलाई के साथ-साथ समाज और राज्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वहण करे। ऐसे में उदार शिक्षा उस सामान्य शिक्षा का पर्याय है जो अकादमिक उच्च स्कूलों और कालेजों में प्राप्त होती है। यह विशिष्ट और व्यावसायिक शिक्षा से भिन्न है।

शिक्षा, औपचारिक : केवल सीखने-सीखाने के लिए ही निर्मित संस्थाओं से बालक जो कुछ ग्रहण करता है, उसे औपचारिक शिक्षा कहते हैं। शिक्षा को नियमित, नियंत्रित, संगठित तथा सोद्देश्य बनाने के लिए ही पाठशालाएं, विद्यालय आदि होते हैं। इस नियमित तथा सोद्देश्य संगठित शिक्षा के अंतर्गत बालक का विधिवत् संस्कार किया जाता है तथा विशिष्ट प्रणाली एवं वातावरण में बालक का विकास होता है।

पाठशालाओं में समाज के बालक एवं प्रौढ़, शिक्षक एवं शिक्षार्थी के रूप में नियमित रूप से एकत्रित होते हैं। शिक्षक यहां एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है जिससे बालक अपनी क्रियाओं एवं व्यवहारों को सुधारता है। पाठशालाओं में विभिन्न मत, जाति, स्वभाव, तथा आयु एवं स्थानों से बालक एकत्रित होते हैं। परंतु शिक्षा उनमें सहजीवन की योग्यता प्रदान करती है। परिणामस्वरूप वे शिक्षित होकर एक साथ रह सकते हैं।

आधुनिक विचार के अनुसार शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और विद्यालय सामाजिक केंद्र है, जहां बालकों को विधिवत् समुचित विकास का अवसर प्रदान किया जाता है। शिक्षक केवल परिस्थिति-नियंता एवं मार्गदर्शक है। शिक्षा बालकों की क्रियाओं और उनके अनुभव के आधार पर उनके व्यवहार में परिवर्तन करती है और उन्हें स्वयं को अपने वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायक होती है।

शिक्षा, कला : 'कला' का सामान्य अर्थ है ऐसा कौशल, जिससे मनुष्य अपनी सृजनात्मक भावना को अभिव्यक्ति देता है और उससे सृजन की सहज रुचि भी तुष्ट होती है। इस अभिव्यक्ति में वह जिस प्रकार के बाह्य उपकरणों या साधनों का प्रयोग करता है, उनके अनुसार ही कला का वर्गीकरण किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं के दो वर्ग माने गये हैं––ललित कला और उपयोगी कला। ललित कलाओं में चित्र, काव्य, संगीत, मूर्ति और

स्थापत्य को रखा गया है और उपयोगी कलाओं में दैनिक जीवन से घनिष्ठ संबंध रखनेवाली दस्तकारी, जैसे, काष्ठकला, लोहारगिरी, सुनारगिरी, कुम्हारगिरी, जुलाहागिरी आदि।

कला-शिक्षा का महत्त्व अभी पूरी तरह आंका नहीं गया है। कला को शिक्षा के स्थान पर एक कौशल अथवा शिल्प के रूप में ही समझा जाता है और कला की व्यावसायिक शिक्षा या तो उपेक्षित है या पूरी तरह व्यवस्थित नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य जीवन-यापन की तैयारी के साथ-साथ जीवित रहने के लिए व्यक्ति की विभिन्न क्षमताओं का ऐसा विकास एवं प्रशिक्षण है, जिससे ऐसे संपूर्ण तथा अखंड व्यक्तित्व का निर्माण हो सके, जो व्यक्ति के अंतःकरण और बाह्य दोनों में सामंजस्य स्थापित कर सके। अतः कला शिक्षा का उद्देश्य भी संपूर्ण शिक्षा-प्रक्रिया में अपने योगदान को पूरा करता है और पाठ्यचर्या में उसका स्थान इसी बात से निर्धारित होगा कि वह बालक के मानसिक, भावनात्मक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास में ऐसा योग दे, ताकि वह एक अच्छा व्यक्ति एवं नागरिक बन सके।

कला-प्रशिक्षण बालक के संपूर्ण विकास के लिए अनिवार्य है। इससे उसमें सौंदर्यबोध जाग्रत होता है, कुरुचि दब जाती है और रसिक भावनाओं को भी कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से अपने विकास का मार्ग मिलता है। प्रो० के० जी० सैयदेन के शब्दों में, "कला शिक्षा का एक अनिवार्य तत्त्व है, क्योंकि यह आत्माभिव्यक्ति का अनिवार्य साधन है।" इसलिए कला-शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना अनिवार्य है :

(1) ललित और उपयोगी कलाओं में 'आर्ट' और 'क्राफ्ट' का जो अंतर किया गया है, वह मिटना चाहिए; क्योंकि दोनों ही सर्जनात्मक क्रिया के अंग हैं। यहां तक कि औद्योगिक कलाओं का भी वही स्थान होना चाहिए, जो कलात्मक सुंदरता से संबंधित कला का होता है। इसके साथ रंगमंच-कला, नृत्य और चित्रपट को भी उसमें जगह दी जानी चाहिए। 13 वर्ष तक कला-शिक्षा अनिवार्य और हाई स्कूल सोपान में ऐच्छिक विषय के रूप में रहनी चाहिए। कालेज-स्तर पर भी इसकी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(2) प्रतिभासंपन्न छात्रों को प्रोत्साहन और उच्च शिक्षा की सुविधा दी जानी चाहिए।

(3) कला-शिक्षक के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(4) कला-शिक्षा की संस्थाओं की वृद्धि होनी चाहिए।

सामान्य शिक्षा का उद्देश्य स्वस्थ एवं संतुलित व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का पोषण करना भी है। बालक के स्वरूप एवं संतुलित व्यक्तित्व के विकास में उसके जन्मजात सौंदर्यबोध एवं कलात्मक अभिरुचि का विशेष योगदान होता है। इसके अंतर्गत चित्रकला एवं स्थापत्य के नमूने देखना, संगीत और कविता के अंतर को पहचानना, कल्पना करना और किसी कला के माध्यम से अपने विचारों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति करना भी आता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए शब्द तो सबसे सशक्त माध्यम है ही, किंतु अन्य माध्यम भी कुछ कम नहीं हैं। छह: सात वर्ष की आयु से ही यह कलात्मक अभिव्यक्ति अधिक सक्रिय, चुस्त, संवेदनशील एवं उत्सुकतापूर्ण दिखायी देने लगती है। इसके अतिरिक्त मानव सभ्यता का ज्ञान भी कलाओं के माध्यम से आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। चाक्षुष कलाएं विभिन्न कालों की सांस्कृतिक परंपरा को समझने में अधिक सहायक होती हैं। कलाओं के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न युगों के लोग कैसे रहते और क्या सोचते थे। धर्म, नैतिकता, जीवनयापन की विधियां, नायक-नायिकाओं की कल्पना उनके मूल्य आदि सभी कुछ कलाओं के माध्यम से जाने जा सकते हैं।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यचर्या के निर्माण में बालक की आयु, उसकी बोधगम्यता, अभिक्षमता तथा स्थानीय एवं आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना पड़ता है। इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी अवस्था में कला का कितना अंश अधिगम के उपयुक्त होगा। कला-शिक्षा का विषय जितना विस्तृत एवं व्यापक है, आज तकनीकी विकास से उसके प्रशिक्षण की उतनी ही सुविधाएं भी उपलब्ध हो गयी हैं। कला-प्रशिक्षण के लिए फोनोग्राफ रिकार्ड, रंगीन फिल्म, रंगीन चित्रों की प्रतिलिपियां आदि अनेक साधन लाभदायक सिद्ध होते हैं।

कला-शिक्षा की साधारणतया तीन रीतियां होती हैं :

(1) **अभ्यास** : चित्रलेखन अथवा वाद्य-वृंद बजाना,

(2) **कालक्रमिक रीति** : किसी एक कला के काल-क्रमिक विकास का अध्ययन, और

(3) **सैद्धांतिक शिक्षा** : समीक्षा, सिद्धांत और सौंदर्यबोध की दार्शनिक विवेचना। कला-शिक्षा में इन तीनों रीतियों की समायोजना ही सामान्य शिक्षा के लक्ष्य को पूरा करती है। कालक्रमिक रीति से कला-प्रशिक्षण में चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य के साथ-साथ सजावट की कला, वेशभूषा, फर्नीचर आदि सभी का मिला-जुला रूप सामने आता है। उदाहरणार्थ, यदि कुर्सी के इतिहास को देखें, तो संगीत, साहित्य रंगमंच सभी एक साथ सामने आते हैं। सभ्यता का पूरा इतिहास ही उभरकर स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण में बालक की सर्जनात्मक शक्ति का तनिक भी ह्रास नहीं होता है। बच्चों की कला सदा सृजनात्मक ही होती है।

कलाओं की संयुक्त समायोजना का दूसरा मार्ग यह है कि चाक्षुष माध्यम की अभिव्यक्ति में यदि किसी कहानी, नाटक अथवा कविता का सहारा लिया जाये, तो बालक में कला की मूल चेतना जाग्रत हुए बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार संगीत की धुन भी चित्रकला के लिए प्रेरणा बन सकती है। कला-प्रशिक्षण में यदि किसी सामूहिक प्रोजेक्ट का आधार ग्रहण किया जाये, तो उससे भी सभी कलाओं का एक संयुक्त क्रम-प्रशिक्षण सुगम होता है। ओपेरा या बैले की समायोजना में नृत्य, रंग, साज-सज्जा, वेषभूषा, संगीत आदि की विभिन्नता में भी बालक कला की एकता का अनुभव प्राप्त कर सकता है। इससे चाहे सभी को एक जैसा कौशल प्राप्त न हो, फिर भी कला की मूलभूत एकता से सबका परिचय अवश्य हो जाता है।

कला-प्रशिक्षण की इस संयुक्त रीति के अलावा एक अधिक प्रचलित रीति विशिष्ट प्रशिक्षण की है। इस रीति से एक ही प्रकार की कला के निरंतर अभ्यास से उसमें कौशल आता है और बालक सफलता की ओर शीघ्र ही बढ़ सकता है, किंतु विशिष्टीकरण केवल माध्यमिक सोपान के लिए ही हितकर होता है। छोटी कक्षाओं में बालकों की शक्ति किसी एक कला की ओर पूरी तरह उन्मुख नहीं हो पाती है। दूसरे, छोटी आयु में ही विशिष्टीकरण को बढ़ावा देना उसकी बहुमुखी प्रतिमा के विकास को रोकने के बराबर है। तीसरे, कला का विस्तृत परिचय आगे चलकर उसके विकल्प में भी सहायक होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि छोटी आयु में बालक के अनुभव को जितना विस्तृत किया जा सके उतना ही अच्छा होता है। यह दरअसल कला प्रशिक्षण न होकर कलाओं से खेलना ही है, जिनके मध्य उसकी क्षमता स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है। अतः विशिष्टीकरण को माध्यमिक सोपान के लिए ही सुरक्षित रखा जाना चाहिए। प्राथमिक सोपान में कला स्वतः स्फूर्त क्रीड़ा तथा अभिव्यक्ति का साधन ही रहे और उच्च स्तर पर कला का अध्ययन अधिक सूक्ष्म तथा व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाये, तो अधिक लाभ हो सकता है।

विशिष्ट अध्ययन की दृष्टि से प्रत्येक कला का अपना-अपना महत्त्व और शैक्षिक उपयोगिता है। साधारण पाठ्यक्रम में काव्य को कला से अलग रखा जाता है। कविता का अध्ययन भाषा के अंतर्गत आता है। नाट्य कला भी इसी का अंग है। शेष ललित एवं उपयोगी कलाओं को ही कला के अंतर्गत रखा जाता है। लेकिन कविता एक कला है और इसके अध्ययन से छात्र में सौंदर्यबोध एवं सौंदर्य-प्रियता के विकास के साथ-साथ रागात्मक सत्ता का भी परिष्कार होता है। कविता से वाणी, विचार और कर्म-सम्मत दिशाओं में उसकी सौंदर्यानुभूति का विकास होता है। पाठ्यक्रम में कविता को सम्मिलित करने का सबसे बड़ा कारण यह है कि विद्यार्थी मनसा, वाचा, कर्मणा, सौंदर्य के अनुभव का ज्ञान प्राप्त करके सौंदर्य को अपने जीवन का अंग बना लें।

कविता की शिक्षा एक पृथक् कला के रूप में देने से बालक में सतोगुणी प्रवृत्ति का विकास होता है। उसकी कल्पनाशक्ति बढ़ती है। शुष्क एवं नीरस उपदेश तक कविता के माध्यम में उसके लिए सरस और बोधगम्य बन जाते हैं। काव्य के आदर्श चरित्र उसके चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं। रसास्वादन के साथ-साथ उसकी आलोचनात्मक बुद्धि का भी विकास होता है। नीति, धर्म एवं आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करने का यह सबसे मनोरम साधन है। किंतु कविता को बच्चों तक पहुंचाने के लिए पाठ्यक्रम में काव्य-चयन करते समय भाषा, भाव, छंद, संगीत एवं नाद आदि सभी दृष्टियों से बालकों की आयु और उनके मानसिक स्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है। शारीरिक व मानसिक स्तर के साथ ही

बालक का बौद्धिक व भावात्मक विकास भी होता है।

प्राथमिक सोपान में दोहों और छंदों को पढ़ना उपयुक्त होता है। नीति के दोहों में बालकों की बड़ी रुचि होती है। बारह वर्ष की आयु के पश्चात् उनमें श्रृंगार तथा प्रेम की भावनाओं का विकास होता है। लड़के वीर रस की कविताएं पसंद करते हैं। लड़कियों को करुण रस तथा कोमल भावों से युक्त कविताएं अधिक प्रिय होती हैं। कविता-चयन में नीति, रस, देशप्रेम तथा निकटतम वातावरण संबंधी कविताएं ही उनकी रुचि के अनुकूल होती हैं। भाषा और शैली की सरलता तथा कविता की लय एवं संगीत भी बालकों को प्रिय होता है। कविता-शिक्षण में भी अन्य विषयों की भांति शिक्षण विधि का महत्त्व है। इसमें पाठ के समय वातावरण की सृष्टि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इस संबंध में हैडो का कथन है कि "कविता-शिक्षण प्रेम करने के समान है, जिसे प्रत्येक शिक्षक को अपने निजी ढंग से करना चाहिए।"

नाटक वैसे तो, काव्य का अंग समझा जाता है और इसी रूप में विद्यालयों में इसका पठन-पाठन भी होता है, किंतु यह अपने में एक ऐसी अखंड तथा संपूर्ण कला है, जिसमें काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य, मूर्ति एवं शिल्प सभी का सामंजस्य पाया जाता है। इस सामंजस्य को प्रस्तुत करने की इसकी अपनी तकनीक है। यह तकनीक अभिनयशीलता में निहित है। अभिनय नाटक का अनिवार्य अंग है। अभिनय से ही नाटक का उदय हुआ है और उसी दृष्टि से इसकी सफलता नापी जानी चाहिए। नाटक का अध्ययन करते समय छह तत्त्वों पर ध्यान देना आवश्यक माना जाता है—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, भाषा-शैली और उद्देश्य। किंतु रंगमंचीय दृष्टि से इनका समाहार कथावस्तु (पात्र और उद्देश्य), संवाद (भाषा और शैली) और उद्देश्य-विधान (देश-काल) में हो जाता है।

स्कूलों में नाटक-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य यह है कि इससे छात्रों को बातचीत करने का ढंग आ जाता है, उनकी लज्जाशीलता दूर हो जाती है और वे व्यावहारिक, लौकिक एवं घरेलू आचार-व्यवहार की शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। साथ ही नाटक की शिक्षा के दौरान उन्हें मानव-स्वभाव एवं मनुष्य के चरित्र के अध्ययन का पूर्ण अवसर मिलता है, मनुष्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की क्षमता प्राप्त होती है, और सबसे बड़ी बात यह है कि विभिन्न परिस्थितियों में जीवन के उद्देश्य को समझने की शक्ति भी उनमें विकसित होती है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नाटक-शिक्षण के लिए चार प्रणालियां अपनायी जाती हैं : (1) प्रयोग प्रणाली, (2) कक्षाभिनय प्रणाली, (3) आदर्श पाठ प्रणाली, तथा (4) व्याख्या प्रणाली। इनमें प्रयोग प्रणाली नाटक-शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है। इस विधि में रंगमंच पर नाटक के नियमानुसार नाटक का अभिनय किया जाता है। इस विधि के शिक्षण से छात्र नाटक के उद्देश्य को तो समझते ही हैं, अभिनय द्वारा कला की आत्मा में प्रवेश करना भी सीखते हैं। रंगमंच पर उन्हें अभिव्यक्ति का पूरा अवसर प्राप्त होता है। संगीत और नृत्य से उनका परिचय हो जाता है। वेशभूषा, साज-सज्जा तथा रंग-निर्देशन आदि की व्यवस्था करने में उनका सक्रिय योगदान रहता है। इसलिए नाटक में उन्हें अपनी रुचि को पहचानने और स्वतंत्र रूप से उसे अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। नाट्याभिनय 'करके सीखने' का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसमें छात्रों का सर्वाधिक मनोरंजन होता है और सब कलाओं का सम्मिश्रण होने के कारण विभिन्न कलाओं में उनकी रुचि जाग्रत होती है तथा साथ ही उनकी रुचि का परिष्कार भी होता है।

नाटक-शिक्षण में सबसे मुख्य बात नाटक के चुनाव की होती है। छात्रों की आयु को ध्यान में रखकर नाटक का चुनाव करना चाहिए। उसकी भाषा और भाव छात्रों के मानसिक एवं भावात्मक विकास के उपयुक्त होने चाहिए।

शिक्षा, कामगारों की : बढ़ते हुए यंत्रीकरण और औद्योगिक प्रगति के कारण कामगारों की शिक्षा का महत्त्व बढ़ गया है। यंत्रीकरण के फलस्वरूप काम के घंटे कम हुए हैं और अवकाश के समय में वृद्धि हुई है। इससे व्यावसायिक शिक्षा की संभावना के साथ उसकी आवश्यकता भी बढ़ गयी है। औद्योगीकरण के संदर्भ में कामगार शब्द किसी उद्यम में काम करनेवाले मजदूर के लिए प्रयुक्त होता है, जो खेतों पर या गांव में काम करनेवाले श्रमिक से अलग समझा जाता है। इस दृष्टि से कामगार की शिक्षा का प्रश्न भिन्न हो गया है। यह ट्रेड यूनियनवाद से लेकर उदार

शिक्षा प्रणाली की प्रौढ़ शिक्षा तक का प्रश्न हो जाता है। इसके लिए यूनेस्को ने सांस्कृतिक, सौंदर्यपरक अध्ययन और मानविकी अध्ययन की सीमा निर्धारित की है। यह प्रौढ़ कामगारों की शिक्षा ही है, इसका अर्थ तकनीकी काम का प्रशिक्षण नहीं है।

यूनेस्को ने सारे विश्व के लिए इसकी एक योजना निर्धारित की है। बीसवीं शताब्दी में कामगारों की शिक्षा का प्रश्न स्थिर-सा हो गया है। यह शिक्षा अब केवल रोटी-पानी के लिए मालिक से संघर्ष करने की शिक्षा लेना मात्र नहीं रह गयी है। अब मजदूर भी कारीगर से अधिक समझा जाता है और काम देनेवाला भी ऐसा आदमी होता है, जिसके अपने अधिकार हैं तो कर्तव्य भी हैं। अत: कामगारों की शिक्षा के दो भाग हो गये हैं :

(1) श्रमिक आंदोलन के इतिहास को समझना, उसके लक्ष्य को समझना, भाषण, अधिनियम, आवास और सामूहिक सेवा की जानकारी प्राप्त करना।

(2) सांस्कृतिक अध्ययन और मनोवैज्ञानिक क्रिया-कलापों में भाग लेना, जिससे वह अपने सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश समझ सके। हमारे देश में नागरिक की हैसियत से भी यह सब आवश्यक है। देश में नागरिक की हैसियत को देखते हुए भारत जैसे अर्ध-विकसित देश के लिए इस प्रकार की शिक्षा विकसित देशों की भांति विकसित रूप में देना सम्भव नहीं है। यहां तो अभी असाक्षरों को साक्षर बनाना ही एक बड़ी समस्या है। साक्षरता-कार्यक्रम के अंतर्गत भाषण, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि की शिक्षा आवश्यक है, अर्थात् यह कार्यक्रम चार साला प्राइमरी पाठ्यक्रम के बराबर हो और लगभग एक वर्ष में समाप्त हो जाये। इसके साथ-साथ नागरिकशास्त्र, स्वास्थ्य, सहकारिता, परिवार नियोजन आदि की समानांतर शिक्षा भी अनिवार्य है। इसका माध्यम भाषा, वादविवाद, साहित्य अध्ययन और पुस्तकालय हो सकता है। दृश्य-श्रव्य साधनों का भी खुलकर प्रयोग वांछनीय है। कमरे के अंदर खेले जाने वाले तथा मैदानी खेल, नाटक, संगीत, नृत्य आदि मनोरंजन के कार्यक्रमों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे कामगारों की कार्य-कुशलता बढ़ती है।

शिक्षा, गांधीजी की : (दे० रिपोर्ट, ज़ाकिर हुसैन)

शिक्षा, चीन की : चीन में शिक्षा का कार्य संसार में सबसे विशाल ही नहीं, वरन् देश की अद्भुत ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से जटिल भी है। निरंतर बीस शताब्दियों तक चीन की परंपरागत शिक्षा-पद्धति ने ऐसे अभिजात विद्वान प्रशासक निर्मित किये, जो चीनी लिपि में पारंगत हुए और समूचे देश पर उन्होंने सामंतीय कन्फ्यूशियन सूत्रों के आधार पर शासन किया। परंतु वहां के शिक्षा-जगत में सामान्य जनता की कोई पहुंच नहीं थी।

उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति पर यह शिक्षा-पद्धति पश्चिम के सैनिक, राजनैतिक एवं आर्थिक दबाव का सामना न कर सकी। 1906 में कन्फ्यूशियन क्लासिकी शिक्षा समाप्त हो गयी और उसके स्थान पर पश्चिमी शिक्षा-पद्धति लागू हुई। किंतु ऐसा किन्हीं मूल्यवान सामूहिक परिवर्तनों के कारण नहीं, वरन् उपयोगिता-मूल्यांकन के कारण ही हुआ। प्रोटेस्टेंट मिशनरी स्कूलों-कालिजों में पश्चिमी पाठ्य पुस्तकें अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ायी जाने लगीं।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीन जापानी आक्रमण, गृह-युद्ध और क्रांति के दौर से गुजरता हुआ 1949 में कम्युनिस्ट नेतृत्व में स्वतंत्र हुआ और आधुनिक शिक्षा वहां धीरे-धीरे विकसित होती चली गयी। तब से वहां जनतंत्र की स्थापना के कारण शिक्षा अपवाद के स्थान पर अनिवार्य हो गयी है। इस नयी पीढ़ी में चीन एक शिक्षित समाज में परिवर्तित हो रहा है। पहले के लाखों अनपढ़ किसान उद्योगों में कुशल कारीगरों की तरह काम करने लगे हैं। ग्रामीण जनता कम्यून में शामिल हो रही है और वहां कृषि उद्योग को बढ़ा रही है। वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग हो रहा है और जन-स्तर पर प्रयोग और अनुसंधानात्मक कार्य भी बहुत हुआ है। इसमें सबसे बड़ी बात यह रही है कि वहां शिक्षा ने श्रम से बचनेवाले अभिजात वर्ग की उत्पत्ति नहीं की है। वहां शारीरिक श्रम से बचनेवाले विद्वान की भर्त्सना की जाती है।

चीन में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश 1920 और 30 के दौरान उस समय हुआ, जब माओ-त्से-तुंग ने ग्रामीण क्षेत्रों में जन-क्रांति का झंडा फहराया था और वहां मानसिक और शारीरिक श्रम के अंतर को निरंतर

कम किया जा रहा था। उससे जिस शिक्षा-पद्धति का विकास हुआ, वह इस प्रकार है :

वैसे तो चीन में 6 साला प्राइमरी शिक्षा का प्रारंभ हुआ, किंतु अवकाश के समय में प्रौढ़ों के लिए गांव, कस्बों और नगरों में बड़े पैमाने पर प्राइमरी स्कूलों की व्यवस्था की गयी। इसके बाद सेकेंडरी सोपान से प्राइमरी पास करनेवालों में से केवल 10 प्रतिशत के लिए पूरे समय की 6 साला शिक्षा रखी गयी; क्योंकि बहुसंख्यक ग्रामीणों के लिए ऋतु-अनुकूल 'पार्ट-फार्म, पार्ट-स्टडी' स्कूलों की स्थापना की गयी, जिनमें लोग पढ़ाई के साथ-साथ काम भी सीखते और करते हैं।

माध्यमिक और कालेज स्तर पर सभी विद्यार्थी और युवा लोग अपना बहुत-सा समय खेत और फैक्टरी में बिताते हैं, ताकि वे मानसिक और शारीरिक रूप से कृषक और कामगार के साथ तालमेल कर सकें। 1965 की समाप्ति पर दस लाख विद्यार्थी माध्यमिक स्कूलों और कालेजों से गांवों में स्थायी रूप से बसने के लिए गये। वहां उनका कार्य-कौशल नगर और गांव के अंतर को पाटनेवाला सिद्ध हुआ है। इसका नतीजा यह हुआ कि 1949 से 1958 तक के समय में प्राइमरी स्कूलों में पढ़नेवालों की संख्या 230 लाख से 860 लाख हो गयी और माध्यमिक स्कूली छात्रों की संख्या 20 लाख से 100 लाख हो गयी। उच्च शिक्षा में 1,55,000 की वृद्धि हुई। इस प्रकार 1949 में 80-85 प्रतिशत निरक्षरता को दूर कर दिया गया।

1966 की सांस्कृतिक क्रांति के दौरान साक्षरता की इस गति को और तेज कर दिया गया। इस बार क्रांति के अगुआ हुए स्वयं विद्यार्थी। उनकी शिकायत थी कि पढ़ाई के घंटे अधिक हैं, प्राइमरी से कालेज तक बहुत समय लगता है, समाजवाद के निर्माण में लगे देश की यह शिक्षा अधिक अकादमीय है तथा श्रमिक और कृषक बच्चों में इससे भेदभाव पैदा होता है। इस प्रकार 1966 के ग्रीष्म से माध्यमिक और उच्च शिक्षा का स्थगन चीन की शिक्षा संबंधी परंपरा को स्पष्ट रूप से उद्घटित करता है। लाखों नौजवानों ने इस दौरान देश के भीतरी भाग की यात्रा की है और अपने देश की बाबत उतना जान लिया है, जितना वे कक्षा में बैठकर वर्षों में भी नहीं जान सकते थे। इस सांस्कृतिक क्रांति के परिणाम द्रष्टव्य हैं।

चीनी शिक्षा-पद्धति की कुछ अन्य विशेषताएं ये हैं कि वहां लिखित परीक्षा को कम महत्त्व दिया जाता है। पुस्तक-रहित परीक्षा का प्रारंभ वहां विशेष रूप से हो रहा है। दूसरे, उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी की छांट अकादमीय योग्यता पर न होकर समाज सेवा की मात्रा पर निर्भर है। इस नीति की सफलता पर अभी पूरी तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता है किंतु इतना निश्चय है कि वहां की पाठ्यचर्या में उत्पादक श्रम को सदा उच्च स्थान मिलता रहेगा, जिसमें विज्ञान का शीर्ष स्थान होगा और इसका नेतृत्व राजसत्ता के हाथ में होगा।

शिक्षा, तकनीकी : यह शिक्षा सामान्य अथवा उदार शिक्षा से भिन्न है। इसमें औजारों और उपकरणों के प्रयोग का प्रशिक्षण दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रशिक्षण में तकनीकी प्रविधि अथवा विभिन्न प्रकार के कौशल के अधिगम पर बल दिया जाता है, जिससे विद्यार्थी एक कुशल शिल्पी और मशीन का कारीगर बन सके। यह प्रशिक्षण विशिष्ट तकनीकी स्कूलों में ही दिया जा सकता है।

इस संबंध में यह विवाद रहा है कि तकनीकी शिक्षा सामान्य शिक्षा की पढ़ाई के समाप्त होने पर दी जाये या उसके साथ-साथ ही चलती रहे। यह विवाद बहुत पहले से चला आ रहा है। यूरोप तक में यह शिक्षा पिछड़ी रही। कार्डिनल न्यूमैन ने तो यहां तक कहा है कि विश्वविद्यालय-शिक्षा मूलतः अव्यावसायिक होनी चाहिए। किंतु आज ऐसी कोई सीमा नहीं रह गयी है। यहां तक कि प्राइमरी शिक्षा का मूलाधार ही शिल्प हो गया है। तकनीकी शिक्षा का बीजारोपण प्रारंभ से ही कर दिया जाता है। बीसवीं शताब्दी की संभावनाओं, मशीन, गति और ऊर्जा की प्रगति की वजह से तकनीकी शिक्षा का महत्त्व बढ़ गया है। देश की खनिज संपत्ति और कृषि-क्षमता को काम में लाने के लिए यह बहुत जरूरी हो गया है कि देश में तकनीकी शिक्षा की वृद्धि हो।

अंग्रेजों के शासन-काल में राष्ट्रीय शिक्षा के भावी रूप से उसकी कोई सुनियोजित व्यवस्था नहीं थी। प्रशासकीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसकी व्यवस्था की गयी थी। सर्वप्रथम रुड़की (1847) मद्रास (1856) और कलकत्ता (1857) में इंजीनियरिंग

कालेज खोले गये। फिर पूना (1866) और बंबई (1887) में ऐसे ही अन्य तकनीकी संस्थान खुले। उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति पर भारत में केवल 80 तकनीकी विद्यालय थे।

1904 में बंगाल में वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के लिए एक समिति की स्थापना हुई, जिसने जादवपुर कालेज आफ इंजीनियरिंग एंड टेकनालाजी की स्थापना की। 1921 तक इसमें यांत्रिक तथा रासायनिक एवं विद्युत इंजीनियरी के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गयी। इसी प्रकार 1911 में बंगलौर में जमशेदजी टाटा ने इंजीनियरिंग तथा टेक्नोलोजी के अध्ययन के लिए स्नातकोत्तर कालेज खोला। 1919 में बनारस विश्वविद्यालय ही ऐसी संस्था थी जिसमें स्नातक कक्षाओं में यांत्रिक, विद्युत तथा धातु-विज्ञान की कक्षाएं आरंभ की गयीं। ऐसे ही 1921 से 1931 तक धनबाद, कानपुर और बंबई में भी तकनीकी संस्थाओं का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने भी इस ओर रुचि ली, जिसके फलस्वरूप निम्नलिखित संस्थाओं का जन्म हुआ :

(1) बोर्ड आफ साइंटिफिक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च (1940)
(2) दिल्ली पोलिटेकनिक (1941)
(3) तकनीकी शिक्षा परामर्श के हेतु तदर्थ सरकारी कमेटी (1945)
(4) आल इंडिया काउंसिल फार टेक्निकल एजूकेशन (1945)
(5) साइंटिफिक मैन पावर कमेटी (1947)

इनमें से आल इंडिया काउंसिल फार टेक्निकल एजूकेशन का कार्य, इस क्षेत्र में सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा रहा है। इसने सात तकनीकी अध्ययन बोर्ड स्थापित किये और इनकी सहायता से सिविल, इलेक्ट्रिकल तथा मेकेनिकल इंजीनियरिंग, टेकनोलाजी, वाणिज्य तथा व्यावहारिक क्रिया-कलापों में नेशनल डिप्लोमा और सर्टिफिकेट के पाठ्यक्रम तैयार किये। अंशकालिक पाठ्यक्रमों की भी व्यवस्था की और इसी काउंसिल ने तकनीकी उच्च विद्यालयों के लिए पाठ्यक्रमों और पाठ्य विवरणों की सिफारिशें कीं। इस समय भारत में तकनीकी शिक्षा में चार स्तरों की प्रणाली है :

(1) स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम तथा शोध,
(2) स्नातक पाठ्यक्रम,
(3) डिप्लोमा पाठ्यक्रम और,
(4) व्यावसायिक अथवा औद्योगिक शिक्षण।

इनकी विशेषता यह है कि प्रत्येक स्तर स्वत: पूर्ण है और उसका एक निश्चित उद्देश्य है। नये स्तर के लिए न तो डिप्लोमा पाठ्यक्रम में कोई तैयारी करायी जाती है, न ही औद्योगिक पाठ्यक्रम में।

काउंसिल की सिफारिश पर स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के लिए इस समय 34 संस्थाओं को छांटा गया है। उनका स्तर भी ऊंचा किया गया है और उन्हें अनुदान भी उदारता से दिया जाता है। स्नातक पाठ्यक्रम के लिए काउंसिल ने तीन या चार साला पाठ्क्रम को बढ़ाकर पांच साला कर दिया है। इसमें हायर सेकेंडरी पास करने के बाद ही प्रवेश प्राप्त किया जा सकता है। देश के कई संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों ने इस पांच साला पाठ्यक्रम को चालू कर रखा है।

डिप्लोमा पाठ्यक्रम के अंतर्गत अनेक संस्थाएं स्थापित हुई हैं, जिन्हें 'पोलिटेकनीक्स' कहते हैं। इनका काम तकनीकी विशेषज्ञों को प्रशिक्षण देना है। ये उद्योग तथा अन्य तकनीकी संस्थाओं में जाकर फोरमेन और ओवरसियर जैसे सुपरवाइजरी पदों पर काम करते हैं। इस तीन साला पाठ्यक्रम में हाई स्कूल के बाद प्रवेश लिया जा सकता है और यह पाठ्यक्रम काफी व्यावहारिक होता है। कुछ पोलिटेक्नीक्स में सिविल, यांत्रिक तथा विद्युत इंजीनियरी के अतिरिक्त टैक्सटाइल, चमड़ा, उत्खनन और दूसरे क्षेत्रों के लिए भी तकनीकी विशेषज्ञ तैयार किये जाते हैं। हाल में लड़कियों के लिए भी पोलिटेकनिक्स स्थापित किये गये हैं।

व्यावसायिक और औद्योगिक प्रशिक्षण का लक्ष्य अर्ध कुशल और कुशल कामगार तैयार करना है। इन्हें दो प्रकार के स्कूलों में प्रशिक्षण दिया जाता है। एक प्रकार के स्कूल हैं कला तथा शिल्प विद्यालय, जिनमें लघु कुटीर उद्योगों, जैसे, बुनाई, रंगाई, छपाई, कढ़ाई, चमड़ा-कमाई, चमड़े का काम, लोहारगिरी, बढ़ईगिरी, कुम्हारगिरी तथा बेंत के काम आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। दूसरे प्रकार के स्कूलों में युवकों को कुशल कामगार की तरह आजीविका कमाने के लिए विभिन्न व्यापार तथा हस्तकला सिखायी जाती है। ये स्कूल भी दो प्रकार के हैं : (1) नि-

रक्षर अथवा प्राइमरी स्कूल के बच्चों के लिए शिल्प कक्षाएं, (2) मिडिल पास छात्रों के लिए जूनियर तकनीकी स्कूल, जिनमें उद्योग और तकनीकी धंधे अपनाने की तैयारी के लिए तीन साला पाठ्यक्रम की व्यवस्था है।

इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में तकनीकी प्रशिक्षण की अत्यधिक उन्नति हुई है। इधर भारत सरकार ने तकनीकी शिक्षा की वृद्धि के लिए कई प्रकार की योजनाओं का काम हाथ में लिया है। उनमें से प्रमुख हैं : (1) भारतीय विज्ञान संस्थान का विस्तार, (2) उच्चतर तकनीकी संस्थानों की स्थापना, (3) तकनीकी शिक्षा के क्षेत्रों का प्रारंभ, (4) छात्रवृत्ति और सदस्यता, (5) विज्ञान मंदिरों की स्थापना, और (6) वैज्ञानिक शोध।

शिक्षा, दृश्य-श्रव्य : दृश्य-श्रव्य विधि से प्रशिक्षण देने का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि नूतन। नील, टिग्रीस और सिंधु घाटी सभ्यताओं के चित्र, भाषा एवं प्राप्य वस्तुएं उनकी जाति के विकास का परिचय देती हैं। शिक्षा के इतिहास के अध्ययन से यह प्रतीत हो हो जाता है कि समय-समय पर अध्यापक शिक्षण कार्य में किसी न किसी रूप में इसका उपयोग करते ही थे। अजंता, एलोरा आदि गुफाओं पर बने चित्रों में तत्कालीन महान नेताओं के उपदेश उत्कीर्ण हैं।

मानव की ज्ञान-तृष्णा सभ्यता के उद्भव से ही प्रारंभ हो गयी थी। समय बीतते-बीतते यह ज्ञान वर्गीकृत और सुव्यवस्थित रूप में उभरता गया। ज्ञान का धीरे-धीरे प्रसार होने लगा। शताब्दियों से दृश्य उपकरण का प्रयोग होता रहा। आधुनिक श्यामपट्ट के स्थान पर रेत के पट्ट का प्रयोग होता था। यूनानी और रोमन लोग शब्दों में ही अपने विचार व्यक्त करते थे। चित्र और प्रतीकों का प्रयोग तो केवल सजावट या स्मारक के रूप में होता था।

दृश्य-श्रव्य शिक्षण भारत में अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। उस समय जब यूरोप शिक्षा के क्षेत्र में बिलकुल अंधकार में था, भारत उस क्षेत्र में विश्व में अग्रणी था। अत: यह देश विश्व के सभी देशों का आध्यात्मिक गुरू था और वे सभी भारत का आदर करते थे। शिल्प, चित्रकारी, नाटक, नृत्य, रास-लीला आदि से, जो कि शिक्षण के महत्त्वपूर्ण घटक हैं, भारत समृद्ध था। भोजपत्र पर लिखित अमूल्य ग्रंथ तथा गुफाओं में बनी सुंदर चित्रकारियां बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। लेकिन विदेशी शासकों के प्रभाव के काररण ये सभी वस्तुएं या तो जला दी गयीं या उनको नष्ट कर दिया गया। परिणामस्वरूप यह समस्त ज्ञान लोगों की जबान तक ही सीमित रह गया।

आधुनिक युग में दृश्य-श्रव्य शिक्षा का प्रारंभ भारत में बंबई राज्य द्वारा सन् 1920 में किया गया और 1947 तक यह विभाग पूर्ण समृद्ध हो गया था। 1940-45 के दौरान भारत सरकार ने कुछ युद्ध प्रचारक फिल्में बनायीं। 1942 में भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने दृश्य-श्रव्य विभाग का समारंभ किया। प्रारंभ में इसके पास केवल 44 मूक फिल्में तथा मूक फिल्म प्रोजेक्टर थे, जिनका प्रयोग यदा-कदा ही किया जाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने फिल्मों के महत्त्व का अनुभव किया और इसी संदर्भ में कई सम्मेलन और सेमिनार आयोजित किये गये। 1948-49 में भारत सरकार ने एक लाख से अधिक रुपये का अनुदान स्वीकार किया, जिसमें 80,000 रुपये तो फिल्म खरीदने में, 12,000 रुपये फिल्म-उपकरणों के लिए तथा 15,000 रुपये इस यूनिट के प्रसार के लिए व्यय किये गये।

अक्तूबर, 1951 में भारत सरकार द्वारा आमंत्रित प्रो० टी० एल० ग्रीन, की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें भारत के सभी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दृश्य-श्रव्य शिक्षा के विषय की कई समस्याओं पर विचार-विमर्श किया गया तथा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये गये :

(1) दृश्य-श्रव्य शिक्षा मंडल की स्थापना हो, जिसमें शिक्षा-शास्त्रियों, अध्यापकों, तकनीशियनों आदि के प्रतिनिधि नीति तथा कर्त्तव्य निर्धारित करें।

(2) हर राज्य में दृश्य-श्रव्य शिक्षा के प्रसार के लिए राज्य शिक्षा अधिकारी की नियुक्ति की जाये।

(3) दृश्य-शिक्षा के प्रसार के लिए कई स्थानों पर प्रदर्शनी का आयोजन किया जाये।

(4) प्रशिक्षण कालेजों में दृश्य-श्रव्य शिक्षा का प्रशिक्षण दिया जाये।

(5) अध्यापक एवं शिक्षाशास्त्री व्यापारिक प्रतिष्ठानों के बीच दृश्य-श्रव्य साधनों के सहयोग की स्थापना करें।

(6) प्रशिक्षण कालेजों के विद्यार्थियों तथा स्टाफ की मदद से दृश्य-श्रव्य उपकरणों का निर्माण किया जाये।

(7) उत्पादन के मानक, स्तर गुण आदि के परिवर्तन के लिए कुशल मार्गदर्शन की अनिवार्यता।

(8) प्रत्येक राज्य में समृद्ध संग्रहालय की स्थापना।

(9) शिक्षा प्रसारण की दिशा में उचित सहयोग।

(10) आयातित दृश्य-श्रव्य प्रसाधनों पर से कर मुक्ति।

राज्य सरकारों का ध्यान इन सिफारिशों की ओर दिलाया गया और इसका परिणाम भी अच्छा रहा। पहली सिफारिश के प्रत्युत्तर में शिक्षा मंत्रालय ने राष्ट्रीय दृश्य-श्रव्य शिक्षा मंडल की स्थापना की, जिसका उद्देश्य केंद्र तथा राज्य सरकारों को दृश्य-,श्रव्य शिक्षा के क्षेत्र में उचित परामर्श देना था। इसकी पहली सभा 1953 में हुई। इन प्रसाधनों पर एक त्रैमासिक पत्रिका का भी समारंभ किया गया।

शिक्षा, धार्मिक : धर्म की परिभाषा अनेक प्रकार से की गयी है। कुछ लेखक पद्धतिबद्ध मताग्रह और संस्कारों से बंधे प्रतीकों आदि के भावनात्मक संबंध को ही धर्म कहते हैं और कुछ इसे ऐसी अद्‌भुत अनुभूति की संज्ञा देते हैं, जो बालक के जीवन में एक विशेष अनुभूति के रूप में प्रवेश करती है। किशोरावस्था में इसी प्रकार की अस्पष्ट चेतना के संकेत पाये जाते हैं। बुवेचर धर्म की नैतिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ईश्वर के बिना नैतिकता सुविधाग्रस्त होकर पतित हो जाती है। कुछ लोग धर्म और नैतिकता को अलग-अलग मानते हैं। उनका कहना है कि धर्म के बिना भी आदमी चरित्रवान हो सकता है। यदि धर्म के व्यापक अर्थ लिये जायें, तो यह मतांतर समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से धर्म हमारे क्षुद्र अहं को संपूर्ण जीवन के उस योग से जोड़ता है, जो समग्र प्राणतत्त्व का स्रोत है। यह संबंध जीवन के संपूर्ण होने की आध्यात्मिक लालसा है। इसी लालसा से नैतिकता का जन्म हुआ है। अतः धर्म समग्र नैतिकता का स्रोत है, वह कोई राजनैतिक-अथवा सांप्रदायिक मान्यता का पर्याय नहीं है। धर्म एक ऐसा विश्वास है, जिसमें सत्य, प्रेम, सौंदर्य और जीवन की सर्वोत्तम वस्तुएं समाहित हैं। इससे धर्म और शिक्षा का दृढ़ संबंध स्थिर होता है।

शिक्षा का लक्ष्य मानव व्यवहार को किन्ही मूल्यों में ढालता है और ये मूल्य धर्म से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार धर्म शिक्षा का एक अनिवार्य अंग या तत्त्व है। किंतु क्या धार्मिक शिक्षा का अध्यापन संभव है? इस संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। धार्मिक शिक्षा उपदेश से नहीं, शिक्षक के व्यक्तिगत आचरण द्वारा ही दी जा सकती है। कारलाइल के मतानुसार धार्मिक शिक्षा ज्योति से ज्योति जगाने जैसी ही है, पर इसके लिए योग्य शिक्षकों का सदा अभाव रहता है। गांधीजी के विचार से धार्मिक शिक्षा सांप्रदायिकतारहित होनी चाहिए। सब धर्मों के नैतिक सिद्धांत एक जैसे होते हैं। अतः उन्हीं को पढ़ाने से धार्मिक शिक्षा पूर्ण हो जाती है। यह आदर्श तो है, परंतु व्यवहार में ऐसा संभव नहीं है। विभिन्न धर्मों की ईश्वरपरक धारणाएं इसमें बाधाएं उत्पन्न करती हैं। इसके निदान में स्कूल सहायक मात्र हो सकता है। स्कूल में धार्मिक शिक्षा एक पाठ्य-विषय के रूप में नहीं दी जा सकती।

धर्म उपदेश का विषय नहीं है। वह तो जीवन का गुण है, मानव हृदय का उदात्त संस्कार है। इस संस्कार में घर का ही बालक के मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सामाजिक परिवेश एवं जनमत भी उस पर अपना प्रभाव छोड़ता है। शिक्षकों का व्यवहार और स्कूल समुदाय का जीवन भी इसमें सहायक होता है। अनुदेश के रूप में स्कूल में धार्मिक शिक्षा की विषयवस्तु शिष्य के मानसिक विकास के अनुरूप ही प्रस्तुत की जा सकती है। प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं में धार्मिक कहानियों जीवन-चरित्रों आदि का प्रयोग किया जा सकता है। इस काम में, चित्र, मानचित्र, गीत, नाटक आदि की सहायता ली जा सकती है। किशोरावस्था में धार्मिक शिक्षा का आधार तथ्यात्मक हो सकता है। मताग्रह तथा स्वीकृत धारणाओं को वहां भी स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसा करने से किशोर के संवेगात्मक जीवन में संघर्ष उत्पन्न हो सकता है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर माध्यमिक शिक्षा आयोग (1932-33) की रिपोर्ट में धार्मिक शिक्षा की इस विधि की ओर संकेत किया गया है कि स्कूलों में दैनिक कार्य ऐसी प्रार्थना से शुरू होता है, जो सांप्रदायिक भावना से रहित होती है। इस अवसर पर योग्य व्यक्ति द्वारा महान चरित्रों का उल्लेख करते हुए नैतिक अनुदेश संबंधी नैतिक प्रवचन अवश्य ही सहायक सिद्ध होंगे। भारत

के संविधान के अनुसार स्कूलों में धार्मिक अनुदेश नहीं दिये जा सकते। ऐच्छिक रूप में स्कूल के समय के बाद ही ऐसा किया जा सकता है और ऐसे अनुदेश भी अभिभावक और प्रबंध कर्ताओं की सम्मति से ही दिये जाने चाहिए। इसका मूल्य लक्ष्य यही है कि अविकसित काल में बालक को किसी धार्मिक ऊहापोह में न डाला जाये।

शिक्षा, नागरिकता : करशीन स्टैनर (1854-1932) के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता की शिक्षा देना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बालक को जीवन संबंधी कार्यों की ओर लगाना, समाज सेवा के लिए प्रत्येक व्यवसाय की महत्ता बताना, और व्यवसाय द्वारा उसके एक बृहत् समाज के निर्माण में अपने योगदान की सार्थकता को स्थिर करना है। इसके लिए करशीन स्टैनर ने क्रिया सिद्धांत को प्रस्तावित कर म्यूनिख पब्लिक स्कूलों में उसे बड़े पैमाने पर लागू किया। मालिक, शिक्षक, छात्रों आदि सभी के सहयोग से यह कार्यक्रम संपन्न हुआ। इसमें छात्र का व्यवसाय ही सामान्य विषयों का केंद्र बन गया। यदि किसी को नाई बनाना है, तो उसे तीन घंटे के व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ धर्म, प्रस्ताव-लेखन, अंकगणित, हिसाब-किताब और नागरिकशास्त्र की शिक्षा दी जाती है।

इन स्कूलों में उद्योग, व्यापार और सामान्य विषय की कक्षाएं लगती हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत और पेशे से संबंधित सफाई, अर्थशास्त्र और उद्योग-इतिहास तथा नागरिकशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार इस शिक्षा-पद्धति में स्कूल व्यक्तिगत आकांक्षाओं के केंद्र-स्थल से सामाजिक सहयोग की कर्म-भूमि बन जाता है। यहां स्कूल, ज्ञानार्जन का केंद्र न होकर ज्ञान के प्रयोग करने का ऐसा स्थान बन जाता है, जहां एकपक्षीय सैद्धांतिक विवेचन के स्थान पर मनुष्य के बहुमुखी व्यवहार का प्रशिक्षण होता है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए स्कूल में स्वायत्त शासन को लागू करना इसके लिए अत्यधिक सहायक होता है।

शिक्षा, नैतिक : नैतिक शिक्षा का प्रश्न बड़ा उलझा हुआ है। कुछ विचारकों का कहना है कि बालक के लिए प्रत्यक्ष और नित्य पाठ्यक्रम से युक्त नैतिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी ओर स्वतंत्रता के समर्थकों का कहना है कि बच्चे नैसर्गिक रूप से ही अच्छे होते हैं। यदि उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया जाये, तो नैतिक सौंदर्य का स्वतः ही उनके जीवन में प्रादुर्भाव होगा। लेकिन यह तर्क उचित नहीं है; क्योंकि नैतिकता का सीधा संबंध प्रत्येक युग की समाज व्यवस्था और तदनुसार अपनायी जानेवाली शासन-प्रणाली से होता है तथा इसका उपयोग एक खास तरह के सामाजिक अनुशासन के लिए किया जाता है। लोगों को स्वतंत्र रूप से नैतिकता सीखने के लिए छोड़ देने पर बहुत संभव है कि वे अनैतिक और अनुशासनहीन बन जायें।

नैतिकता विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार से संबंधित होती है। इसके लिए उसे शैशव काल से ही प्रशिक्षित करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए उत्तम उपाय ये हैं कि नैतिक व्यवहार की शिक्षा घटनात्मक हो और अप्रत्यक्ष रूप से इतिहास और साहित्य आदि के द्वारा दी जाये। शिष्यों द्वारा समादृत योग्य शिक्षक ही नैतिक शिक्षा की समस्या को आकस्मिक घटनाओं के मध्य ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से छू सकते हैं। नैतिक शिक्षा आकस्मिक और अप्रत्यक्ष रूप से ही सबसे अधिक प्रभावशाली होती है।

सबसे बड़ी बात यह है कि उपदेश देने की अपेक्षा किसी भी नैतिक मूल्य का स्वयं उदाहरण बनना कहीं अच्छा होता है। इसमें यह भी ध्यान रखना होता है कि समाज की प्रगति एवं विकास के साथ-साथ उसके नैतिक मानदंड भी बदलते रहते हैं। अतः परंपरावादियों की तरह नैतिक मूल्यों को सख्ती से बालक पर नहीं लादना चाहिए। आवश्यकता इस बात की होती है कि बालक उन मूल्यों को अपने दैनिक सामाजिक अनुभव से प्राप्त करें और वे मूल्य उसकी व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में सहायक हों।

शिक्षा, प्रगामी : प्रगामी शिक्षा बंधे-बंधाये ढर्रे के पाठ्यक्रम, कठोर अनुशासन और विषय-केंद्रित पुरानी रूढ़िवादी शिक्षा-पद्धति के विपरीत बालक की स्वतंत्रता और सृजनशील-आत्माभिव्यक्ति पर बल देनेवाली नयी प्रगतिशील शिक्षा-प्रणाली है। इस नयी शिक्षा-पद्धति की मुख्य विशेषताएं हैं:

(1) शिक्षार्थी स्वतंत्रतापूर्वक कक्षा में मनचाहे ढंग से बैठ या घूम सकता है, अपनी रुचि के साथी तलाश करके उनके साथ विषय का चयन कर सकता है, वस्तुओं का निरीक्षण और उपयोग कर सकता है तथा स्कूल के सभी मामलों में हिस्सा ले सकता है।

(2) तथ्य-संग्रह के स्थान पर 'करके देखने और सीखने' की विधि अपनायी जाती है।

(3) पाठ्यचर्या का आधार अनुभव अर्थात् उद्देश्यपूर्ण क्रियाशीलता है, जिसमें एक समस्यापूर्ण कार्य की पूर्ति में छात्र अनुराग सहित संलग्न रहते हैं।

(4) समाजीकरण में समाज की समस्त गतिविधियां-फैक्टरी, बैंक, डाकघर, क्लब आदि-प्रस्तुत होकर छात्रों को उनका भागीदार बनाती हैं।

(5) लेखन, संगीत, नाटक, नृत्य आदि के द्वारा छात्र की सृजनशील शक्ति का पोषण किया जाता है।

(6) प्रत्येक बालक पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देकर पाठ्यक्रम को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

(7) संपूर्ण बालक के अध्ययन पर बल देकर प्रत्येक बालक के सर्वतोमुखी विकास पर ध्यान दिया जाता है।

(8) शिक्षक तथा अभिभावक का परस्पर सक्रिय सहयोग आवश्यक माना जाता है।

शिक्षा के इन प्रगतिशील विचारों का समावेश मौंटेसरी विधि, प्रोजेक्ट-विधि और डाल्टन परियोजना में हुआ है। किंतु बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रूढ़िवादी शिक्षा-पद्धति के विरोध में एक आंदोलन के रूप में इसका समारंभ क्लिपेट्रिक और जान ड्यूई आदि के प्रयासों द्वारा हुआ। उन्होंने इन प्रगतिशील सिद्धांतों को लागू करने के लिए अमरीका में कई स्कूल खोले और प्रगामी शिक्षा समिति की स्थापना की।

शिक्षा, प्राचीन यूनानी : यूनानी शिक्षा का प्रारंभ होमर-युग से माना जाता है। इस युग के बाद का समय प्राचीन काल कहलाता है। प्राचीन काल के प्रारंभ से तात्पर्य उस समय से है, जब यूनान में नगर राज्यों का संगठन-कार्य हो गया था। होमर-युग में ऐसा नहीं था। लेकिन प्राचीन काल में नगर-विकास पूर्णरूपेण हो गया था। स्पार्टा तथा एथेंस में नगर-राज्य पूर्ण विकसित थे। ये नगर क्रमशः यूनानी संस्कृति और शिक्षा के प्रतीक थे और इनमें यूनानियों को कुशल नागरिक बनाने की ओर ध्यान दिया गया तथा इस दृष्टि से शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किये गये। यदि नगर-राज्यों का संगठन न होता, तो शिक्षा में नागरिकता को स्थान भी न दिया जाता।

शिक्षा के विकास के साथ शिक्षा के मूल उद्देश्यों का विकास भी होता रहता है। अतः यूनानी शिक्षा में प्राचीन काल में नागरिकता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। नागरिकता के अंतर्गत नगर-रक्षा-कार्य का स्थान महत्त्व-पूर्ण था। धीरे-धीरे यूनान में नागरिकता की कल्पना के साथ-साथ कुलीनता का प्रश्न भी उभर आया। इसके अनुसार यूनानियों में एक अभिजात वर्ग का जन्म हुआ, जो दर्शन और विज्ञान के अध्ययन की ओर ध्यान देता था। अभिजात वर्ग में असभ्य और निम्न कोटि की जातियों के प्रति तिरस्कार की भावना घर कर रही थी। अपने को सभ्य सिद्ध करने के लिए अभिजात वर्ग ने अवकाश की व्यवस्था की और दर्शन तथा विज्ञान का अध्ययन प्रारंभ किया। नागरिकता के उद्देश्य और अभिजात वर्ग के आदर्शों की दृष्टि से स्पार्टा और एथेंस में शिक्षा का स्वरूप महत्त्वपूर्ण था। स्पार्टा में नागरिकता की ओर तथा एथेंस में अभिजात वर्ग की ओर विशेष ध्यान दिया गया। अतः स्वार्टा में सैनिक शिक्षा और एथेंस में दर्शन, विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा की महत्ता थी।

शिक्षा, प्राथमिक : शिक्षा के क्षेत्र में नर्सरी शिक्षा के बाद दूसरी सीढ़ी प्राथमिक शिक्षा की है। हमारे देश में इस स्तर पर प्राइमरी शिक्षा और बेसिक शिक्षा की व्यवस्था है। इसमें बालक अपनी प्राथमिक शिक्षा अपनी आयु के नवें या दसवें वर्ष में समाप्त कर लेते हैं और इसके बाद या तो माध्यमिक स्कूलों में जाते हैं या अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुसार ऐसे किसी स्कूल में भर्ती होते हैं, जहां व्यावसायिक अथवा तकनीकी शिक्षा दी जाती है। स्पष्ट है कि प्राइमरी स्कूलों का काम पढ़ने, लिखने और गणित की शिक्षा के साथ-साथ भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र, ड्राइंग, रेखागणित, संगीत और शिल्प आदि का प्रारंभिक ज्ञान देना है।

भारत में प्राथमिक शिक्षा का इतिहास ब्रिटिश शासन से भी पुराना है। प्राचीन काल से यह शिक्षा पाठशालाओं

(मंदिरों से संबद्ध) में, मुस्लिम काल में मदरसों और मकतबों (मस्जिदों से संबद्ध) और हाल में गुरुद्वारों में भी दी जाती रही है। यह शिक्षा तथाकथित शूद्रों और स्त्रियों के लिए नहीं थी। जनसाधारण को भी इसका कोई लाभ नहीं था। अंग्रेजों ने इस शिक्षा-पद्धति को कोई बढ़ावा नहीं दिया और धीरे-धीरे इसका ह्रास हो गया।

वर्तमान प्राइमरी शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात ईसाई मिशनरियों और ईस्ट-इंडिया कंपनी ने किया, किंतु इसकी ठीक-ठीक व्यवस्था 1835 में हुई, जब मैकाले ने अपना कार्य-विवरण प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी को बढ़ावा देने के लिए सारे देश में चार प्राइमरी स्कूल खोले गये। 1854 में वुड ने अपने डिस्पैच में देशीय शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने का सुझाव दिया था। 1855 में जन-प्रशिक्षण विभाग के खुलने से नगरों और ग्रामों में अनेक प्राइमरी स्कूलों के साथ-साथ शिक्षकों के लिए वर्नाक्यूलर प्रशिक्षण स्कूल भी खोले गये। 1919 के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के अनुसार शिक्षा का विषय प्रांतों में भारतीय मंत्रियों को सौंपा गया और निरक्षरता को दूर करने के लिए प्राइमरी शिक्षा को अनिवार्य बनाने का प्रश्न उठा। 1926 में यह प्राइमरी शिक्षा स्थानीय संस्थाओं को सौंप दी गयी और अनेक स्थानों पर इसे अनिवार्य घोषित कर दिया गया।

इन स्कूलों की वर्तमान स्थिति कुछ ज्यादा अच्छी नहीं है। इन्हें जितना अधिक कुशल और आकर्षक होना चाहिए, उतने ही ये पिछड़े हुए हैं। ये स्कूल अपव्यय, गतिरोध और एक-अध्यापकीय प्रणाली के शिकार हैं। यहां से 50 प्रतिशत छात्र ही छठी कक्षा में आ पाते हैं और बहुत-से बीच में ही विद्यालय छोड़ जाते हैं। इसका कारण छोटी कक्षाओं में फेल होना है। यह दोष अब दूर किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त एक शिक्षक का तीन-चार कक्षाओं को पढ़ा पाना सरल कार्य नहीं होता है। इसके अतिरिक्त अनिवार्य शिक्षा अधिनियम अनेक राज्यों में पूरी तरह लागू भी नहीं हुआ है। देश की निरक्षरता को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि सफल साधनों को पूरी तरह लागू किया जाये, ताकि निरक्षरता शीघ्र ही दूर हो। इस सब के लिये आवश्यक है कि सरकार प्राथमिक शिक्षा संबंधी अपनी नीति में प्रगतिशील परिवर्तन लाये।

शिक्षा, फासिस्ट : जिस प्रकार इटली के राजा विक्टर इमानुअल ने प्रथम महायुद्ध के कारण देश की बिगड़ती हुई दशा को सुधारने के लिए मुसोलिनी को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया था, उसी प्रकार मुसोलिनी ने शिक्षा में सुधार लाने के लिए गिवानी जैनराइल को जन-अनुदेश मंत्री नियुक्त किया। 1923 में गिवानी द्वारा किये गये शिक्षा-सुधारों से ही फासिस्ट शिक्षा-पद्धति का जन्म हुआ। उसका आदर्श नेशनल स्टेट था और वह राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्कूलों का उपयोग करना चाहता था। उसने कहा कि माध्यमिक शिक्षा थोड़े लोगों के लिए ही है और थोड़े लोगों को ही दी जानी चाहिए।

उसका मत था कि अमूर्त या एब्स्ट्रैक्ट और अपार ज्ञान प्राप्त करना सच्ची शिक्षा नहीं है। अपने इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए उसने पाठ्य विवरण से लेकर पाठ्य पुस्तकों तक सभी में आमूल परिवर्तन किया। देश की सारी शिक्षा के प्रबंध के लिए उसने 19 स्थानीय समितियां नियुक्त कीं और शिक्षा में बौद्धिकता को समाप्त करके स्वास्थ्य, शारीरिक शिक्षा और धार्मिक शिक्षा को बढ़ावा दिया।

1939 तक इटली में प्राइमरी शिक्षा 3 से 14 वर्ष तक के बालकों के लिए प्रीपरेटरी (3-6), लोअर (6-10) और हायर (10-14) तीन सोपानों में बंटी थी। इसमें तीन से छह वर्ष तक के बालकों की शिक्षा यद्यपि प्राइवेट लोगों के हाथ में थी, पर उस पर सरकार का कड़ा नियंत्रण था। प्रीपरेटरी में देशभक्ति के गीत, प्रार्थना आदि और जिमनास्टिक एवं शारीरिक क्रियाकलाप होते थे। लोअर में धार्मिक शिक्षा के साथ पठन, लेखन, गणित, प्रादेशिक भाषा का इटली में अनुवाद, भूगोल, उद्योग और कृषि का ज्ञान तथा इमारतों एवं कला का ज्ञान शामिल था। हायर में इन्हीं विषयों को और अधिक गंभीरता से पढ़ाया जाता था। उसके साथ-साथ इतिहास, रेखागणित प्रारंभिक विज्ञान और शारीरिक शिक्षा के विषय थे।

प्राइमरी सोपान के पांच वर्षों से आगे बहुत कम छात्र जा पाते थे। जो आगे जाते भी थे, उनमें से कुछ तो प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात् किसी व्यवसाय संबंधी तकनीकी (ट्रेड) स्कूलों में चले जाते, और कुछ पूरा समय देनेवाले इसके पूरक स्कूल में प्रवेश लेते। ये स्कूल एक प्रकार के

तकनीकी स्कूल ही थे। उससे आगे जो पढ़ना चाहते थे, उनके लिए माध्यमिक स्कूल थे। दरअसल लोअर मिडिल के बाद तकनीकी स्कूल ही थे, किंतु इन पूरक स्कूलों को माध्यमिक स्कूलों के समान ही मान्यता प्राप्त थी। इनसे आगे उच्चतर शिक्षा की दिशा बंद थी। 1929 में इस पद्धति में कुछ सुधार हुए।

प्राथमिकोत्तर स्कूल और ट्रेड स्कूल व्यावसायिक माध्यमिक स्कूलों में मिला दिये गये। इससे यह लाभ हुआ कि इनमें शिक्षा पाये हुए छात्र आठ साला तकनीकी संस्थाओं में जा सकते थे। 1930 में दो या तीन साला तकनीकी स्कूल इसमें और जुड़ गये और इटली निवासियों की माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा पूर्ण हुई, क्योंकि प्रारंभिक शिक्षा योजना विकसित होकर माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक पहुंच गयी थी। किंतु इटली के शासकों को यह चीज पसंद नहीं आयी। वे तो स्कूल को फासिस्टवाद के प्रचार का साधन बनाना चाहते थे। अतः 1939 में ऐजूकेशन चार्टर पास हुआ और 'बोलाई सुधार' किये गये। 1940 में इटली के दूसरे महायुद्ध में कूदने पर ये सुधार पूरे तो लागू न हो सके, किंतु उनकी प्रमुख बातें ये थीं :

(1) सारे प्रारंभिक स्कूलों के लिए एक ही प्रकार की पाठ्य पुस्तकें, (2) कुल दस पाठ्य पुस्तकें, (3) पहली पाठ्य पुस्तक के अंत में ही गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, धर्म और विज्ञान, (4) पाठ्य पुस्तकों में भी फासिस्ट सिद्धांतों का प्रचार, (5) प्राइमरी शिक्षा पांच साला हो गयी और उसके बाद तकनीकी स्कूल तीन साला माध्यमिक स्कूलों में बदल दिये गये और अब चौदह साल से पहले तकनीकी शिक्षा कोई ग्रहण नहीं कर सकता था, (6) जो छात्र माध्यमिक स्कूलों का खर्च नहीं उठा सकते थे, उनमें से गांव में रहनेवालों के लिए तीन साला शिल्प-कला स्कूल खुल गये और शहरवालों के लिए तीन साला व्यावसायिक स्कूल या दो साला तकनीकी स्कूल।

गांववालों के लिए ईमानदारी से घरेलू दस्तकारी करने और शहरवालों के लिए उद्योग के लिए कुशल कामगार तैयार करने को ही शिक्षा का आदर्श माना गया। कुशाग्र बुद्धिवालों के लिए निःशुल्क फौजी ढंग के कालेज थे। इस प्रकार गांव का निवासी गांव में ही बंद हो गया और शहरी आदमी व्यवसाय और तकनीक में फंस गया। आगे अपनी उन्नति की राहें उनके लिए बंद हो गयीं। इस प्रकार फासिस्ट इटली के स्कूल फासिस्ट आदर्शों के लिए थे। उनका प्रयोग सरकार अपने उद्देश्यों के लिए जब चाहे कर सकती थी। इतना ही नहीं, फासिस्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए स्कूलों के अतिरिक्त एक युवक आंदोलन भी आरंभ किया गया। इसका नाम ओ० बी० एन० (ओपेरा नाजीनल बेलीला) रखा गया। इसमें 6 से 17 साल तक के लड़के-लड़कियां भर्ती होते थे। लड़के 'सन आफ वोल्व्स' (6 से 8) 'बेलीला' (8 से 14) और 'आवांगा-दस्ती' (14 से 17) तीन वर्गों में बंटे थे। इसी प्रकार लड़कियां 'पिकोली' 'इटालियन्स', और 'गियोबानी इटा-लियाना' नामक तीन वर्गों में बंटी थीं। इसके बाद 21 वर्ष तक के लड़के यंग फासिस्ट होते थे। यही आगे जाकर फासिस्ट पार्टी के सदस्य बन सकते थे। लड़कों की वर्दी काली कमीज, हरी पतलून और काली झब्बेदार टोपी थी। लड़कियों की वर्दी सफेद ब्लाउज, काला स्कर्ट, सफेद मोजे और काले बैरेट थे। ये कंपनी ओ० एन० बी० के सदस्य दस्ता, शतक कोईट, और लीजन में बंटे होते थे। इन्हें खेलकूद, व्यायाम और एथलेटिक्स के अलावा धीरे-धीरे पूरी फौजी तालीम दी जाती थी।

फासिस्ट शिक्षा की विशेषताएं इस प्रकार थीं :

(1) शिक्षा प्रचार का साधन, (2) राज्य के प्रति समर्पण यानी विश्वास करो, आज्ञा मानो और लड़ो, (3) केंद्रीयकरण, (4) औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा का भेद समाप्त, (5) बुद्धि के स्थान पर भावना को अपील, (6) पाठ्येतर क्रियाकलापों का बाहुल्य, (7) राष्ट्रप्रेम-फौजी और विस्तारवादी, (8) कक्षाओं में नेताओं का मूर्ति-पूजन, (9) शिक्षक उग्रतावाद का प्रचारक, (10) अकादमीय स्वतंत्रता का अभाव, और (11) पाठ्य पुस्तकें फासिस्ट दर्शन पर आधारित।

फासिस्ट शिक्षा की कट्टरता निम्नलिखित दो उद्धरणों की तुलना करने पर अपने आप स्पष्ट हो जाती है :

"धार्मिक सिद्धांत वाद-विवाद के लिए नहीं है; क्योंकि वे ऐसे सत्य हैं, जिन्हें ईश्वर ने प्रकट किया है।" और

"फासिस्ट सिद्धांत वाद-विवाद के विषय नहीं हैं, क्योंकि वे एक प्रतिमान बेनीता मुसोलिनी के मस्तिष्क से निकले हुए हैं।"

यह पद्धति अब सवर्त्र आमान्य है।

शिक्षा, फ्रांसीसी : यूरोप के अन्य प्रमुख देशों की भांति फ्रांस में भी उन्नीसवीं शताब्दी तक क्लासिक से प्रभावित शिक्षा का प्रचार रहा, परंतु औद्योगिक विकास के साथ वहां की शिक्षा-प्रणाली में भारी परिवर्तन हुआ और अब वहां की शिक्षा आधुनिक समाज के अनुकूल है।

इस समय फ्रांस में चौदह वर्ष तक के बालक-बालिकाओं को अनिवार्य शिक्षा दी जाती है और सब वर्गों के बालकों को पढ़ाने की व्यवस्था है। निर्धन छात्रों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। सन् 1792 तक प्राथमिक शिक्षा का भार धार्मिक संस्थाओं के ऊपर था, सन् 1833 में राज्य की ओर से प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन मिला और उसके बाद 1881-82 में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया।

प्राथमिक शिक्षा : आजकल फ्रांस के प्राथमिक विद्यालयों में नवीन शिक्षा प्रणालियां लागू हैं। शिक्षा का स्वरूप ऐसा है, जिससे बालक को चेतनता तथा क्रियाशीलता प्राप्त हो सके। विद्यार्थी ही स्कूल की सफाई और सजावट का कार्य करते हैं।

माध्यमिक शिक्षा : इसके लिए फ्रांस में दो प्रकार के महाविद्यालय हैं—एक 'क्लासिकी कालेज', और दूसरे 'माडर्न कालेज'। पहले में ग्रीक, लैटिन तथा आधुनिक भाषाओं के अध्ययन की प्रधानता है तथा दूसरे प्रकार के कालेजों में समाजविज्ञान, गणित आदि उपयोगी विषय पढ़ाये जाते हैं। अध्यापक और विद्यार्थी आपसी संबंध बढ़ाने के प्रति सजग रहते हैं और इसके लिए ट्यूटोरियल पद्धति की व्यवस्था है। इन कक्षाओं में केवल 12 छात्र होते हैं, इसलिए विद्यार्थी तथा अध्यापक एक-दूसरे को भली भांति जान लेते हैं। फलस्वरूप किशोरों का विकास समुचित ढंग से हो पाता है।

उच्च शिक्षा : फ्रांस में उच्च शिक्षा से युवकों में अनुसंधान की योग्यता, समालोचनात्मक अध्ययन के प्रति अभिरुचि और वैज्ञानिक आविष्कार करने की योग्यता आदि गुण उत्पन्न होते हैं। उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्राध्यापकों की नियुक्ति सरकारी देखरेख में होती है।

तकनीकी शिक्षा : सन् 1892 में तकनीकी शिक्षा का आरंभ हुआ, परंतु इसे राजकीय सहायता तथा मान्यता 1919 में मिली। अर्थात् फ्रांस में तकनीकी शिक्षा अभी हाल में ही प्रचलित हुई है। इन स्कूलों में विद्यार्थियों को तेरह वर्ष की आयु में प्रवेश की अनुमति मिल जाती है। तकनीकी शिक्षा में सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों ही बातें होती हैं। सैद्धांतिक शिक्षा कक्षा में और व्यावहारिक शिक्षा कारखानों में दी जाती है, जिसके लिए विद्यार्थी को किसी कारखाने में शिक्षु (एपरेंटिस) के रूप में कार्य करना पड़ता है।

1944 में फ्रांस में एक शिक्षा सुधार आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की थीं :

(1) सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के उन्नति करने का समान अवसर मिले, (2) शिक्षा की रूपरेखा वर्तमान समाज के अनुरूप हो, (3) फ्रांस के भावी युवा नागरिक अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को विवेक, सहानुभूति तथा निष्पक्षता से समझें, और (4) विद्यालय देश की सांस्कृतिक प्रगति की इकाई हो।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आयोग की ओर से निम्नलिखित बातें आवश्यक बतायीं गयीं : (1) अठारह वर्ष तक के बालकों तथा बालिकाओं के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा हो, (2) उच्च शिक्षा भी निःशुल्क हो, (3) 6 से 11 वर्ष तक के शिक्षार्थियों को प्राकृतिक तथा सामाजिक विषय पढ़ाये जायें, (4) 11 से 15 वर्ष की आयुवाले विद्यार्थियों को रुचिकर विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करनी चाहिए, (5) 15 से 18 वर्ष तक की आयुवालों को सामान्य शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाये, (6) प्रतिभाशाली छात्रों को अपने प्रिय विषय में अधिकतम योग्यता प्राप्त करने की सुविधाएं दी जायें, और (7) प्रत्येक विषय में उच्च अध्ययन की समुचित व्यवस्था तथा सुविधा प्रदान की जाये।

फ्रांस के शिक्षाशास्त्री तथा विद्वान यह कहना चाहते हैं कि सामाजिक विज्ञान का अध्ययन इस प्रकार किया जाये कि समाज में मानवता का विकास हो।

शिक्षा, बुनियादी : जाकिर हुसैन कमेटी की रिपोर्ट में वर्धा स्कीम के नाम से जो नयी शिक्षा योजना प्रस्तुत की गयी, उसी को बुनियादी शिक्षा कहते हैं। इसका नाम बुनियादी (बेसिक) होने का कारण यह है कि यह शिक्षा बुनियादी शिल्प-केंद्रित शिक्षा है। बुनियादी शिल्प वह है, जो क्षेत्र विशेष में मुख्यतया प्रचलित हो, जैसे, रुई

उगानेवाले क्षेत्र में कताई शिल्प, फल और सब्जी उगानेवाले क्षेत्र में बागवानी, चिकनी मिट्टी के क्षेत्र में बर्तन बनाना तथा जंगली प्रदेश में बढ़ईगिरी। इस शिक्षा के मूल सिद्धांत हैं :

(1) संपूर्ण शिक्षा का शिल्प-केंद्रित होना, ताकि शिक्षा जीवन के अधिक समीप हो।

(2) मानसिक श्रम के साथ शारीरिक श्रम का योग, जिससे काम द्वारा सीखना हो।

(3) गणित, भूगोल इतिहास जैसे विषय शिल्प संदर्भ से पढ़ाये जायें।

(4) उत्पादन की बिक्री से स्कूल का खर्च निकले।

सन् 1938-39 में केंद्रीय सलाहकार शिक्षा बोर्ड ने वर्धा स्कीम की परीक्षा के लिए जो दो कमेटियां नियुक्त कीं, उन्होंने बेसिक शिक्षा का निम्नलिखित ब्यौरा प्रस्तुत किया :

(1) यह शिक्षा 6 से 14 साल के बालकों के लिए गांवों में लागू हो, जिसमें 6 से 11 वर्ष तक जूनियर बेसिक और 11 से 14 वर्ष तक सीनियर बेसिक के पाठ्यक्रम रहें।

(2) जूनियर स्तर पर शिल्प अनिवार्य हो और सीनियर बेसिक केवल उनके लिए हो, जो हाई स्कूल में न जाना चाहें और अपने को व्यवसाय के लिए तैयार करें। लड़कियों के लिए सीनियर में पाक विज्ञान, सीना-पिरोना, शिशुपालन, प्राथमिक उपचार, गृह-कला आदि विषय हों।

(3) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(4) बेसिक शिल्प के उत्पादन का विक्रय हो।

(5) शिक्षकों का वेतन बीस रुपये से कम न हो और उनका स्तर ऊंचा किया जाये।

(6) यह शिक्षा प्रशिक्षित अध्यापकों के होने पर ही लागू हो।

(7) पाठ्यचर्या में निरंतर विकास हो और सांस्कृतिक विषयों की शिक्षा में शिल्प का आग्रह न हो।

(8) अंग्रेजी ऐच्छिक विषय के रूप में न हो।

(9) यदि कोई समुदाय चाहे, तो धर्म-शिक्षा को भी जगह दी जाये।

(10) बाहरी परीक्षा के स्थान पर आंतरिक परीक्षा हो।

(11) दूसरे स्कूल में जानेवालों को पांचवीं कक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद विद्यालय छोड़ने पर प्रमाणपत्र दिया जाये।

1938 में महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और मद्रास में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बन जाने पर इस योजना को लागू किया गया। स्कूल खोले गये और पाठ्यपुस्तकें लिखी गयीं। 1941 में हुए दूसरे बेसिक शिक्षा सम्मेलन में इन स्कूलों की प्रगति की सराहना की गयी, लेकिन 1942 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पदत्याग और द्वितीय महायुद्ध के कारण इस शिक्षा की गति धीमी पड़ गयी। 1945 में जो सम्मेलन हुआ, उसमें बेसिक शिक्षा पर विस्तार से विचार किया गया और उसको पूर्व बेसिक, उत्तर बेसिक और प्रौढ़ शिक्षा के स्तरों में बांटा गया। उत्तर बेसिक में उच्चतर माध्यमिक और कालेज शिक्षा की योजना थी। भारत के स्वतंत्र होने पर इस नयी तालीम पर काम करने के लिए सेवाग्राम को चुना गया। केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के परामर्श पर भारत सरकार ने वर्तमान प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक स्कूलों में बदलने का प्रयत्न किया। देशव्यापी स्तर पर इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। देश की प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में इस पर काफी धन राशि व्यय की गयी। अनेक प्रयोगात्मक बेसिक संस्थान, स्नातकोत्तर प्रशिक्षीय कालेज, जूनियर स्कूलों के लिए बेसिक प्रशिक्षण कालेज और सभी राज्यों में इसी प्रकार के प्रशिक्षण संस्थान खोले गये हैं। नये बेसिक स्कूलों के साथ-साथ पुराने प्राथमिक स्कूलों को बढ़ाकर बेसिक स्कूलों में बदलने का काम जारी है।

शिक्षा, बौद्धकालीन : महात्मा बुद्ध के आगमन से पूर्व हिंदू धर्म में कर्मकांड की प्रमुखता थी। तपस्या के नाम पर गृह-त्याग और यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का प्रचलन था। ब्राह्मण धर्म में मूल सिद्धांतों का लोप भी होने लगा था। बुद्ध ने इन बातों को व्यर्थ बताया और धर्म के नये सिद्धांत बनाये। परिस्थितिवश बौद्ध धर्म निस्संदेह ब्राह्मण धर्म के सिद्धांतों पर ही आधारित था। अतः बौद्ध शिक्षा-प्रणाली भी पूर्वविधियों पर आधारित थी। लेकिन ब्राह्मण शिक्षा-प्रणाली सुगठित, सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप में सामने आयी। इस प्रणाली के अंतर्गत प्रारंभिक

दीक्षा में प्रव्रज्या तथा अंत में उपसंपदा—ये दो संस्कार होते थे। आठ-वर्ष की आयु में प्रव्रज्या संस्कार के पश्चात् बालक का संघ में प्रवेश होता था। इस पर वह बुद्ध धर्म तथा संघ की शरण में आने की शपथ लिया करता था। उपसंपदा बौद्ध पद्धति का द्वितीय और अंतिम संस्कार होता था। इस संस्कार के उपरांत ही विद्यार्थी भिक्षु हो सकता था।

गुरु-शिष्य के मध्य पिता-पुत्र का संबंध होता था। गुरु के साथ वह भी भिक्षावृत्ति के लिए जाता था। शिष्य अपने गुरु की, जिसे उपाध्याय कहा जाता था, सेवा-शुश्रूषा किया करते थे। गुरु लोग सादा जीवन बिताया करते थे और वे शिष्यों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते थे। बौद्ध धर्म में शिक्षा का प्रबंध संघों और मठों में होता था। उपर्युक्त संस्कारों के बाद विद्यार्थी भिक्षु के रूप में मठ या विहार में ही निवास करते थे। ये विहार ही बौद्धकालीन शिक्षा के केंद्र होते थे। नालंदा उस समय का विश्वप्रसिद्ध शिक्षा-केंद्र था, जहां विदेशी विद्यार्थी भी ज्ञानोपार्जन के लिए जाते थे।

बौद्धकाल में शिक्षा धर्मप्रधान थी और निर्वाण-प्राप्ति ही उसका मूल लक्ष्य था, लेकिन जीवनोपयोगी शिक्षा के विषय और व्याकरण, शिल्पकला, दर्शन, चिकित्सा आदि का अध्ययन भी कराया जाता था। यह शिक्षा भी दो प्रकार की होती थी। प्रारंभिक शिक्षा में लेखन, पठन और साधारण गणित का ज्ञान कराया जाता था। उच्च शिक्षा के अंतर्गत दर्शन, आयुर्विज्ञान, सैनिक शिक्षा, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, योग आदि अनेक विषय आते थे। शिक्षा का प्रबंध बौद्ध विहारों में ही होता था।

इस काल में औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा की भी काफी प्रगति हुई। भिक्षु कई प्रकार के हस्तशिल्प भी सीखते थे। चिकित्साशास्त्र की प्रगति इस काल की महत्त्वपूर्ण घटना थी। शिक्षा प्राय: मौखिक ही थी और उसमें तर्क प्रणाली का अधिक महत्त्व था। मठों में विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद हुआ करते थे। भाषण देने के लिए विशेषज्ञों को विशेष तौर से आमंत्रित किया जाता था। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी देशाटन करता हुआ ज्ञान का प्रसार करता था।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक दिनों में स्त्री-शिक्षा को भी काफी प्रोत्साहन मिला। स्त्रियों के लिए अलग मठों की स्थापना की गयी। लेकिन कालांतर में स्त्री-शिक्षा का ह्रास होने लगा; क्योंकि शिक्षा का प्रचार केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित रहा।

बौद्ध शिक्षा पहले तो धर्म प्रधान ही थी, लेकिन बाद में स्वाध्याय को प्रधानता दी जाने लगी और कला-कौशल को हेय समझा जाने लगा। अत: कलाप्रिय लोगों ने इसको त्याग दिया। सर्वसाधारण के लिए सीमित साधन होने के कारण इस शिक्षा का ह्रास होने लगा। महात्मा बुद्ध के बाद संघीय नियंत्रण में शिथिलता आ गयी तथा स्वेच्छाचार बढ़ने लगा। अत: बौद्ध धर्म का भी पतन होने लगा। इस काल में युद्ध-विद्या की शिक्षा का विकास भी कम होता गया।

अब यह कहना गलत न होगा कि बौद्ध शिक्षा ने भारतीय उच्च संस्कृति को पोषित किया। इसने तत्कालीन आर्य जीवन में एक नवीन जीवन धारा बहा दी। इसमें लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान के बीच संबंध स्थापित करके जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया गया।

शिक्षा, भारत में इंजीनियरी : बंबई में सन् 1824 में 'बाम्बे नेटिव एजूकेशन सोसाइटी' ने इंजीनियरी की कक्षाएं प्रारंभ कीं। इन कक्षाओं में मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम थी। सन् 1854 में पूना में इंजीनियरी की कक्षाएं खोली गयीं। उधर मद्रास में 1793 से ही पैमाइश स्कूल में इस प्रकार की शिक्षा चल रही थी, जिसे 1858 में मद्रास विश्वविद्यालय से संबंधित कर दिया गया। 1847 में रुड़की इंजीनियरी कालेज की स्थापना की गयी। 1857 के स्वाधीनता-संग्राम के बाद देश में रेलों, सड़कों और नहरों का निर्माण-कार्य आरंभ किया गया, मिलों की स्थापना होने लगी और औद्योगिक विकास की ओर ध्यान दिया जाने लगा। अत: इंजीनियरों की आवश्यकता थी, लेकिन इस प्रकार की शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाओं की संख्या सीमित थी और यह शिक्षा महंगी भी होती थी। इसलिए केवल उच्च वर्ग और धनी परिवारों के व्यक्ति ही यह शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। शिक्षा समाप्ति के बाद उनको बड़े अच्छे-अच्छे पद मिल जाते थे।

1902 तक भारत में 4 इंजीनियरी कालेज रुड़की, शिवपुर, पूना तथा मद्रास में खुल गये थे। तदुपरांत इस

क्षेत्र में और अधिक विकास हुआ। जादवपुर, पटना, बनारस, कराची तथा लाहौर में इंजीनियरी कालेजों की स्थापना की गयी। इस तरह बढ़ते-बढ़ते स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक भारत में इंजीनियरी कालेजों की संख्या 17 हो गयी। भारत में पंचवर्षीय योजनाएं प्रारंभ की गयीं, तो इंजीनियरी की शिक्षा को और भी बढ़ावा दिया गया। अनेक नयी संस्थाएं खोली गयीं। 1955 में 18 इंजीनियरी कालेजों तथा 62 पोलिटेकनिकों की स्थापना की सिफारिश की गयी। तृतीय पंचवर्षीय योजना-काल में इंजीनियरी शिक्षा पर 142 करोड़ रुपया खर्च किया गया। चंडीगढ़ में कालेज आफ आर्किटेक्टर खोला गया और अहमदाबाद में इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट की स्थापना की गयी।

इन प्रयासों के कारण भारत में इंजीनियरों की संख्या बहुत बढ़ गयी है और अब निर्माण-कार्यों की उचित योजना न होने के कारण बहुत-से इंजीनियर वेकार हैं। यद्यपि हमारे देश की विशालता को देखते हुए इंजीनियरों की संख्या बहुत कम है, फिर भी उन्हें काम में लगाने की कोई उपयुक्त योजना न होने के कारण उनकी वेकारी का प्रश्न भी बहुत जटिल है।

शिक्षा, भारत में कानून की : उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में कुछ ही स्थानों पर कानून की शिक्षा का प्रबंध था। जब कंपनी सरकार को न्यायालयों के लिए न्यायाधीशों और वकीलों की आवश्यकता हुई, तो उसने कलकत्ता तथा बनारस में इसकी शिक्षा आरंभ की। यहां पर हिंदू और मुस्लिम कानूनों का ही अध्ययन कराया जाता था। 1842 में हिंदू कालेज में कानून की शिक्षा का प्रबंध किया गया। कलकत्ता, मद्रास तथा बंबई में विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद कानून की नियमित शिक्षा की व्यवस्था प्रारंभ हुई।

1854 में एक घोषणापत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें कानून की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। वकील तथा न्यायाधीश का व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद था। अत: उच्च वर्ग के लोगों में यह शिक्षा बहुत लोकप्रिय हुई। यों यह शिक्षा आम कालेजों में दी जाती थी, लेकिन बंबई, मद्रास तथा पंजाब में कानून के विशेष कालेजों में यह शिक्षा दी जाती थी। कानून की शिक्षा का नियंत्रण शिक्षा-विभाग, विश्वविद्यालयों तथा न्यायालयों के आधीन था। विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम निर्धारित करके परीक्षा लेते थे। शिक्षा-विभाग उनकी देखरेख करता। कानून के व्यवसाय को अपनानेवाले को न्यायालय की शर्त पूरी करनी पड़ती थी तथा उच्च न्यायालय की परीक्षा देनी होती थी। एल-एल० बी० का पाठ्यक्रम कहीं पांच वर्ष का था और कहीं तीन वर्ष का। कुछ प्रादेशिक सरकारें हाई स्कूल पास करनेवालों के लिए प्लीडर तथा मुख्तार की परीक्षाओं का भी आयोजन करती थीं।

लाभप्रद होने से कानून की शिक्षा बड़ी लोकप्रिय हुई। इसके फलस्वरूप सन् 1902 में कानून के स्नातकों की संख्या में बड़ी वृद्धि हो गयी। अत: वकीलों में भ्रष्टाचार फैल गया। बाद में विद्यार्थियों की संख्या कम हो गयी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कानून के कालेजों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अत: अब विधि-व्यवसाय पर अंकुश की आवश्यकता है।

शिक्षा, भारत में कृषि की : कृषिप्रधान देश होते हुए भी भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक कृषि के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। दुर्भिक्ष आयोग ने सन् 1880 में कृषि-शिक्षा के प्रसार के लिए सिफारिश की, परंतु इस सिफारिश पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। दस वर्ष पश्चात् डा० पाइलकर के सहयोग से भारत सरकार ने कृषि-शिक्षा के लिए निर्णय लिया। उसमें यह तय किया गया कि कला, विज्ञान आदि विषयों की तरह कृषि का भी एक पाठ्यक्रम होना चाहिए, डिग्री स्तर तक शिक्षा का प्रबंध होना चाहिए और अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए कृषि की व्यावहारिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। बंबई, कलकत्ता, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश में कृषि संस्थाओं की स्थापना के लिए निर्णय लिया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक पूना, शिवपुर, कानपुर, नागपुर तथा सैयदापेठ में कृषि संस्थाओं की स्थापना हो गयी, परंतु अनुसंधान और व्यावहारिक शिक्षा का अभाव रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में सरकार ने इस दिशा में ध्यान देना प्रारंभ किया। सरकार ने 1905 से 20 लाख रूपये वार्षिक कृषि-अनुदान देना शुरू किया और यह धन अनुसंधान तथा प्रयोग के काम में लाया जाता था। पूसा, कोयंबतूर, लायलपुर और कानपुर में कृषि कालेज खोले

गये। नैनी में अमरीकी मिशन ने कृषि-कालेज का समारंभ किया। 1928 में एक कृषि आयोग की नियुक्ति हुई और उसने गांव तथा कृषि की अवस्था में सुधार के लिए सिफारिश की। इन सिफारिशों के आधार पर 'इंपीरियल काउंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च' की स्थापना हुई। प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी कृषि-पाठ्यक्रम शुरू किया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषि-शिक्षा में काफी उन्नति हुई है। प्रत्येक राज्य में प्राथमिक से उच्च स्तर तक कृषि शिक्षा दी जाती है। कृषि-कालेजों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। पंचवर्षीय योजनाओं में भी कृषि को काफी महत्त्व दिया गया है।

शिक्षा, भारत में चिकित्सा की : भारत में बहुत पहले से ही आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा पद्तियां प्रचलित थीं। अंग्रेजों ने यूरोपीय चिकित्सा पद्धति का सूत्रपात अंग्रेजी माध्यम से किया, जिसे एलोपैथिक औषधि-विज्ञान कहा जाता है। बाद में मैकाले तथा विलियम बैंटिक ने इसके विकास के लिए प्रयत्न किया और कलकत्ता, मद्रास तथा बंबई में सर्वप्रथम इस दिशा में काम शुरू हुआ। सन् 1882 में कलकत्ता में देशी चिकित्सा संस्था की स्थापना हुई। कालांतर में कलकत्ता संस्कृत कालेज तथा कलकत्ता मदरसा में चिकित्सा की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। आरंभ में तो इन कालेजों में आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा की शिक्षा भी दी जाती थी, परंतु 1835 के उपरांत इनका शिक्षण समाप्त कर दिया गया।

सन् 1826 में बंबई में नेटिव मेडिकल स्कूल और 1836 में पूना कालेज में चिकित्सा कक्षा की स्थापना की गयी। 1845 में जनता के सहयोग से ग्रांड मेडिकल कालेज की स्थापना गवर्नर राबर्ट के नाम पर की गयी, जिसे 1855 में इंग्लैंड के रायल कालेज आफ सर्जन्स ने मान्यता प्रदान की। इस कालेज में अंग्रेजी और प्रांतीय भाषा में शिक्षा दी जाती थी। इस कालेज को आगे चल कर बंबई विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। मद्रास में सबसे पहले 1835 में मेडिकल कालेज स्थापित हुआ। कालांतर में इसे भी मद्रास विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। यहां शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था।

सन् 1858 से 1902 के बीच चिकित्सा की शिक्षा में विकास हुआ। इस दौरान पशु-चिकित्सा की ओर भी लोगों का ध्यान गया। चिकित्सा-शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को सरकारी तथा स्थानीय सरकारों के अस्पतालों तथा कारखानों में नौकरी मिल जाती थी। कुछ लोगों ने चिकित्सा को अपना व्यक्तिगत व्यवसाय भी बनाया। लाहौर में सन् 1860 में एक मेडिकल कालेज तथा सरकारी तथा गैर सरकारी मिलाकर 22 मेडिकल स्कूल थे। 1902 में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करनेवाले 4,200 विद्यार्थी थे, जिनमें 242 महिलाएं थीं। 1903 से 1947 तक की अवधि में न केवल मेडिकल कालेजों की संख्या में वृद्धि हुई, अपितु आयुर्वेदिक, होम्योपैथी तथा यूनानी चिकित्सा के कालेजों की भी स्थापना की गयी।

सन् 1913 में मेडिकल काउंसिल कानून पास हुआ और उसके अनुसार भारतीय मेडिकल काउंसिल की स्थापना हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप 1947 तक संपूर्ण भारत में 26 मेडिकल कालेज तथा 25 मेडिकल स्कूल बने। इसी दौरान मद्रास, पटना तथा जबलपुर में पशु चिकित्सा कालेज खोले गये। 1948 के उपरांत तो चिकित्सा की शिक्षा में बहुत ही प्रगति हुई। अब मेडिकल कालेजों की संख्या प्रतिवर्ष प्रत्येक राज्य में बढ़ती जा रही है। प्रतिवर्ष विद्यार्थियों को विशेष प्रशिक्षण के लिए विदेश भी भेजा जाता है। इंडियन काउंसिल आफ मेडिकल रिसर्च चिकित्सा विज्ञान की प्रगति के लिए लगातार अनुसंधान कर रही है।

शिक्षा, भारत में स्त्री : प्राचीन भारत में स्त्री जाति के लिए सबसे बड़े गौरव की बात यह थी कि उसे भी पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार प्राप्त थे। वैदिक काल में वह धार्मिक और दार्शनिक शास्त्रार्थ में भाग लेती थी। वेदों में भी उसकी पूरी पहुंच थी। यहां तक कि स्त्रियों ने अनेक वैदिक मंत्रों की रचना भी की। गार्गी तथा मैत्रेयी ऐसी ही नारियां थीं। किंतु भारतीय समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ धीरे-धीरे उसका गौरव घटता चला गया। उससे शिक्षा का अधिकार छीन लिया गया। पर्दा, बाल-विवाह, वैधव्य, सती जैसी कुरीतियों का उसके जीवन में प्रवेश हुआ। कालांतर में उसके आचरण के लिए ऐसे सामाजिक नियमों की रचना हुई कि संपत्ति, विवाह और

तलाक तक के अधिकार उससे छीन लिये गये। इसके फलस्वरूप 18 वीं शताब्दी के अंत में ही स्त्री का कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी के भीतर सीमित हो गया। संपन्न परिवारों की ही लड़कियां घर में थोड़ा-बहुत पढ़-लिख लेतीं थीं। घर से बाहर उनकी शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में सरकार भी एक हद तक निष्क्रिय रहना चाहती थी।

आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ 1813 के ईस्ट इंडिया कंपनी चार्टर एक्ट से हुआ। इसी एक्ट में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीयों की शिक्षा के उत्तरदायित्व को ग्रहण किया, किंतु कंपनी भी स्त्री-शिक्षा के दायित्व से दूर ही रही। इस कमी को विदेशी मिशनरियों, आध्यात्मिक नेताओं और समाज-सुधारकों ने पूरा किया। लड़कियों के लिए सबसे पहले स्कूल मिशनरियों ने ही चलाये। ये स्कूल उन लड़कियों के लिए होते थे जिन्हें वे अपने धर्म में परिवर्तित कर लेते थे। इसमें सफलता प्राप्त होने के बाद उन्होंने गैरईसाई लड़कियों के लिए भी स्कूल खोले, किंतु भारतीय अपनी लड़कियों को वहां भेजना निषिद्ध मानते थे। इस क्षेत्र में अंग्रेजों ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। डेविड हेर ने कलकत्ता में लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला। एलफिंस्टन कालेज के प्रोफेसर पेटन ने भी अपने खर्च से 1848 में बंबई में कुछ स्कूल खोले। ऐसा ही प्रयास गवर्नर जरनल की कौंसिल के एक सदस्य जे. ई. डी. मैथ्यू ने 1851 में कलकत्ता में एक स्कूल की स्थापना द्वारा किया। बाद में इसको अपने ही व्यय पर लार्ड डलहौजी ने चलाया।

स्त्री-शिक्षा के विरूद्ध सामाजिक प्रतिरोध को तोड़ने का काम, सती प्रथा को समाप्त करानेवाले, अपने युग के महान समाज-सुधारक, राजा राममोहन राय ने किया। यही काम ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बंगाल में लड़कियों के लिए कई स्कूलों की स्थापना करके किया। 1854 में वुड-डिस्पेच तक लड़कियों के स्कूलों की संख्या मद्रास में 254, बंबई में 65, बंगाल में 388 और उत्तर भारत में 17 हो गयी थी। यह देखकर सरकार ने अपने उत्तर-दायित्व को समझकर अनुदान देने का वचन दिया। फिर भी 1882 के भारतीय शिक्षा आयोग के अनुसार स्त्री-शिक्षा पिछड़ी हुई थी और उसके प्रोत्साहन की बड़ी आवश्यकता थी; क्योंकि वह अभी तक पारसी, ईसाई और ब्रह्मसमाज जैसे पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित समूहों तक ही सीमित थी। 1901 और 1902 में सारे देश में लड़कियों के 12 कालेज, 467 माध्यमिक स्कूल और 5,628 प्राइमरी स्कूल थे, जिनमें 44,74,770 लड़कियां भी विद्यालय कर पाती थीं।

बीसवीं शताब्दी के पहले के दो दशकों में समाज-सुधार के कार्यक्रमों से स्त्री-शिक्षा का विस्तार हुआ। अभिभावक लड़कियों की शिक्षा की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। पढ़ी-लिखी पत्नियों की मांग बढ़ने लगी थी। शिक्षा-विभाग ने भी इसमें रूचि ली। लड़कियों के लिए अलग स्कूल खोले गये। उन्हें स्कूल लाने और ले जाने का प्रबंध किया जाने लगा, महिला इंस्पेक्टरों की नियुक्तियां की गयीं, पारितोषिक दिये जाने लगे, फीस माफी की व्यवस्था हुई, प्राइवेट स्कूलों को अनुदान दिया गया और लड़कों के स्कूलों में लड़कियों को लाने के लिए इनाम दिया जाने लगा। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया गया। शिक्षा कमेटियों में महिलाओं को स्थान मिला। शिक्षा के स्तर में भी वृद्धि हुई। बनारस में एनी बेसेंट केंद्रीय हिंदू कन्या विद्यालय खोला गया। 1916 में दिल्ली में लेडी हार्डिंग मेडिकल कालेज की स्थापना हुई और बंबई में लड़कियों का विश्वविद्यालय (एस.एन.डी.टी.) स्थापित हो गया।

संक्षेप में स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व सारे देश में जो आर्थिक और सामाजिक जागृति फैली, उसका प्रभाव स्त्री-शिक्षा पर भी पड़ा। दोनों महायुद्धों का भी प्रभाव इस पर पड़ा। यूरोप और अमेरिका में जो नारी-आंदोलन चले, उन्होंने भी भारतीय नारी को प्रभावित किया। 'वीमेन्स इंडियन एसोसियेशन (1917) और नेशनल काउंसिल आफ वीमेन (1926) जैसी संस्थाएं स्त्रियों में चेतना भरने और अपनी पिछड़ी सामाजिक दशा के सुधार के लिए स्थापित की गयीं। स्त्रियों में जागृति लाने का सबसे बड़ा काम महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन ने किया। हजारों स्त्रियां पर्दे से बाहर आयीं, पुरुषों की तरह उन्होंने पुलिस के अत्याचार को सहन किया और जेल भी गयीं। बाल-विवाह को रोकने के लिए शारदा अधिनियम बना। इन कार्यों ने स्त्री-शिक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

स्वतंत्रता के बाद स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में बहुत विकास

हुआ। आज विश्वविद्यालय स्तर पर स्त्रियों के लिए शोध, स्नातकोत्तर, स्नातक, पेशे की माध्यमिक, प्राइमरी, व्यावसायिक एवं विशेष शिक्षा आदि सभी स्तरों पर अत्याधिक प्रगति हुई है। फिर भी लड़कियों की शिक्षा पिछड़ी हुई है। प्राइमरी स्तर पर 40 प्रतिशत लड़कों की तुलना में लड़कियां 17 प्रतिशत ही हैं। माध्यमिक स्तर पर 1901 में लड़कियों की संख्या दो लाख थी। 1961 में यह संख्या बढ़कर 55.2 लाख हो गयी। लेकिन अनुपात की दृष्टि से लड़कियों की यह संख्या लड़कों के मुकाबले केवल पांचवां भाग ही रही। तीसरी पंचवर्षीय योजना के अंत में लड़कों की 24 प्रतिशत संख्या की तुलना में लड़कियां केवल 7 प्रतिशत ही रहीं। इस प्रकार लड़के-लड़कियों की भरती की यह असमानता शिक्षक नर्स, ग्राम सेविका, समाज सेविका जैसे अन्य व्यवसायों में भी पुरुषों के अनुपात पर असर डालती है। इस कमी को दूर करने के लिए शिक्षामंत्रियों के सम्मेलन में निम्नलिखित सुझाव दिये गये :

(1) स्त्री-शिक्षकों के लिए निवास क्वार्टरों का निर्माण, (2) प्रशिक्षण सुविधाओं में सुधार, (3) स्त्री शिक्षकों की भरती, (4) गांव में लड़कियों के लिए छात्रावास, (5) प्रौढ़ स्त्रियों की पार्ट टाइम सेवाओं का उपयोग, (6) माध्यमिक स्तर पर लड़कियों की निःशुल्क शिक्षा, और (7) विद्यार्थियों को उपयुक्त प्रेरणा।

स्त्री-शिक्षा में गतिरोध आने का एक कारण शिक्षा-प्रशासन की त्रुटियां भी हैं। सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि पुरुष ही इन योजनाओं को बनाते हैं और उनके ही हाथ में उसका प्रशासन भी होता है। इस त्रुटि को दूर करने के नेशनल कौंसिल फार वीमेन्स ऐजूकेशन (1958) की स्थापना हुई। हर राज्य में इसकी शाखाएं हैं और इसका काम लड़कियों की शिक्षा के कार्यक्रम को कार्यान्वित करना है। दूसरी त्रुटि यह है कि अभिभावक लड़कियों की शिक्षा को महत्त्व नहीं देते हैं। तीसरे, लड़कियां पूरे समय स्कूल में नहीं ठहर पाती हैं। अभी भी घर के अंदर उन्हें उपयोगी समझा जाता है। अधिकतर लड़कियां लड़कों के साथ ही पढ़ रही हैं। यद्यपि उनके स्कूल अलग खुल रहे हैं। उनका पाठ्यक्रम उस स्तर पर लड़कों के समान ही होता है, परंतु संगीत, चित्रकला, सीना-पिरोना, पाकविज्ञान आदि को भी उसमें स्थान दिया जा रहा है। माध्यमिक स्तर पर स्कूलों में लड़कियों की तादाद बढ़ी है, किंतु वे अधिकतर मिडिल से आगे नहीं आती हैं अतः आवश्यक है कि उनके पाठ्यक्रम में गृह-विज्ञान के अतिरिक्त व्यवसाय संबंधी विषय भी ऐच्छिक विषयों के रूप में शामिल किये जायें, जिससे वे ग्रामसेविका, बालसेविका, समाज-सेविका, दाई, स्वास्थ्य निरीक्षक, शिल्प शिक्षक आदि कार्यों को अपना सकें। मिडिल स्कूल पाठ्यचर्या में गृह-शिल्प शिक्षक आदि के साथ-साथ व्यवसायपूर्व का पाठ्यक्रम भी होना चाहिए। उच्च माध्यमिक स्तर पर भी ऐसे ही शिक्षा-उद्योग आदि क्षेत्रों में जाने के लिए उपयोगी व्यवसाय के ऐच्छिक विषय शामिल किये जायें। कालेज स्तर पर स्त्रियों की भरती 17.6 प्रतिशत है, किंतु पाठ्यचर्या अभी भी लड़कों के समान ही है। एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, प्रयाग महिला विद्यापीठ और आर्य कन्या महाविद्यालय ही ऐसी संस्थाएं हैं, जिनमें स्त्रियों की आवश्यकता के अनुसार ही पाठ्यचर्या भी गठित है। चौबीस विश्वविद्यालयों में गृह विज्ञान का पाठ्यक्रम है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अकादमीय अभिरुचियों और व्यवसाय एवं अधिकारों की रक्षा के लिए 'इंडियन फेडरेशन आफ यूनिवर्सिटी वीमेन' की भी स्थापना हुई है।

व्यवसाय और तकनीकी शिक्षा में स्त्रियों को अनेक सुविधाएं प्राप्त हैं, किंतु कृषि, वाणिज्य, इंजीनियरी, तकनीकी एवं औद्योगिक, कला तथा शिल्प, पशु चिकित्सा आदि के प्रशिक्षण में अभी उनके लिए वांछनीय सुविधाएं नहीं हैं। रोगी की परिचर्या में (नर्सिंग) स्त्रियों का अवश्य एकाधिकार है। दिल्ली में इसके लिए स्नातकोत्तर कालेज है। देश के बंटवारे के बाद विधवाओं, विस्थापित एवं अनाथ स्त्रियों के लिए भी सरकार ने हर राज्य में सीना-पिरोना और बुनाई के उत्पादन एवं प्रशिक्षण केंद्र स्थापित किये। इनमें से कुछ केंद्रों में प्रशिक्षण स्कूलों की सुविधाएं उपलब्ध हैं और इनमें सार्टिफिकेट पाठ्यक्रम की सुविधाएं भी होती हैं। इसी प्रकार मद्रास के स्त्री सुधार विभाग द्वारा विधवाओं एवं दलित स्त्रियों को आठवीं कक्षा तक सामान्य शिक्षा के साथ-साथ कातने, बुनने, सीने-पिरोने, जिल्दसाजी और दफ्तर के काम का प्रशिक्षण दिया जाता है। कस्तूरबा गांधी ट्रस्ट में भी सामुदायिक विकास केंद्रों

के लिए प्रशिक्षण का प्रबंध है। केंद्रीय श्रम और रोजगार मंत्रालय की प्रशिक्षण संस्थाओं में स्त्रियों को कातना, कपड़े सीना, कसीदाकारी आदि कामों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

भारत सरकार द्वारा स्थापित पोलिटेकनीक स्त्री-शिक्षा के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। ऐसे संस्थानों में मैट्रिक या हायर सेकेंडरी पास करने के बाद प्रवेश प्राप्त किया जाता है। इनमें इलेक्ट्रोनिक्स, फार्मेसी, आशुलिपि और व्यावसायिक अभ्यास, वास्तुकला, नक्शानवीसी सिविल इंजीनियरिंग, वाणिज्य, कलाएं, औषध प्रयोगशाला तकनीक, संस्थान प्रबंध, आंतरिक सज्जा, पुस्तकालय विज्ञान आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। ऐसा पहला पोलीटेक्नीक दिल्ली में खुला है। सामुदायिक विकास केंद्रों में भी स्त्रियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। प्रत्येक ब्लाक में मुख्य सेविका, ग्राम सेविका, और दाइयों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इस समय देश में लगभग ऐसे दस प्रशिक्षण केंद्र हैं। केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय की योजना है कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रबंध व्यवस्था और प्रशासन संस्थान खोले जायें। स्त्रियों के लिए प्रौढ़ शिक्षा केंद्रों की स्थापना भी हुई है। आज लगभग देश में ऐसे 13 हजार प्रौढ़ शिक्षा के केंद्र हैं, जिनमें दो लाख स्त्रियां शिक्षा प्राप्त करती हैं।

इस प्रकार पिछली अर्ध शताब्दी में भारत में स्त्री-शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ है। इससे नारी जाति में चेतना फैली है। वह अंतर्राष्ट्रीय मामलों तक में अपना प्रभाव डाल रही है। फिर भी पुरुषों की तुलना में उसकी शिक्षा अब भी पिछड़ी हुई है। पुरुष निर्मित आदर्शों एवं सभ्यता के भीतर ही उसके जीवन की परिणति है। आवश्यक है कि वह अपने प्रभाव से भारत के घरों को सुधारे और भारत के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के ताने-बाने को सुदृढ़ नींव पर स्थिर करे।

शिक्षा, माध्यमिक : यह बताना कठिन है कि माध्यमिक शिक्षा कहां से प्रारंभ होती है, पांच साला प्रारंभिक शिक्षा के बाद अथवा सातवीं और आठवीं कक्षा के बाद। संक्षेप में, यह वह शिक्षा है, जो आठ साला प्रारंभिक शिक्षा से अठारह साल तक की आयु के लिए होती है। इसके बाद विद्यार्थी उच्च शिक्षा में प्रवेश के योग्य हो जाता है। भारत में स्वतंत्रता मे पूर्व माध्यमिक शिक्षा दसवीं कक्षा तक थी, किंतु स्वतंत्रता के बाद उसमें एक कक्षा और जोड़कर इसे उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का नाम दिया गया। आम तौर पर यह देखा गया है कि अधिकांश विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा से आगे नहीं पढ़ते हैं। इसलिए यह आवश्यक समझा जाता है कि विद्यार्थी को संसार का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाये और अध्ययन की विभिन्न शाखाओं की भी जानकारी उसे मिले। इस दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा की पाठ्यचर्या को विस्तृत रखा जाता है। इसके अतिरिक्त सत्रह या अठारह वर्ष के आसपास उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास अवरुद्ध-सा हो जाता है। अतः माध्यमिक स्तर का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि उसे विकसित बालक की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

शिक्षा, मूल : प्रौढ़ शिक्षा, समूह शिक्षा एवं सामुदायिक विकास आदि को मूल शिक्षा कहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद यूनेस्को ने निरक्षरता की समस्या को उठाया, तो उसके सामने यह प्रश्न था कि इनमें से किस शब्दावली को चुना जाये। मित्र देशों में प्रौढ़ शिक्षा के लिए अलग-अलग शब्दावली का प्रयोग होता रहा है और उसके कार्य भी भिन्न रहे हैं। आवश्यकता ऐसे शब्द की थी, जो अन्य क्रियाओं से संबंधित न होकर केवल निरक्षरता से संबंधित हो। इसके लिए 'फंडामेंटल ऐजूकेशन' की परिभाषा इस प्रकार की गयी—"उन लोगों के लिए हितकर ज्ञान और बुनियादी प्रशिक्षण, जिन्हें स्कूल जाने की सुविधा प्राप्त नहीं हुई है।" बाद में इस मूल शिक्षा को सामुदायिक विकास का अंग समझा गया, किंतु 1950 के बाद इन दोनों की दिशाएं भिन्न हो गयीं और 'मूल शिक्षा' शब्द को छोड़कर पुनः 'प्रौढ़ शिक्षा' शब्द को ही अपना लिया गया, जिसके अंतर्गत निरक्षरों की शिक्षा से लेकर उन लोगों की उच्च और उदार शिक्षा को भी सम्मिलित किया गया, जो पहले भी स्कूल गये हों।

शिक्षा, यथार्थवादी : यूनानी दर्शन ने यथार्थवाद को जन्म दिया। यूनानी दार्शनिकों ने जिन तत्त्वों की प्रशंसा की, यथार्थवाद उन्हीं तत्त्वों की उपेक्षा करता है। यथार्थवाद ऐतिहासिक दृष्टि से पुनरुत्थान की प्रतिक्रिया है। यथार्थवाद

ने साहित्य और कला जैसे विषयों की प्रधानता का विरोध किया। इसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। फलस्वरूप लेटिन भाषा, इतिहास, गणित, और विज्ञान इत्यादि विषयों की शिक्षा भी जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से प्रदान की जाने लगी। आगे चलकर यथार्थवाद के प्रभाव से शिक्षा में अनुभव से सीखने की पद्धति को स्वीकार किया गया। यहां तक कि भाषा का पठन-पाठन भी वार्तालाप एवं रचना की सहायता से किया जाने लगा। इस प्रकार यथार्थवाद के प्रभाव के कारण सैद्धांतिकता के स्थान पर व्यावहारिकता लाने का प्रयत्न किया गया।

यथार्थवादी शिक्षा का प्रयोजन यह था कि व्यक्ति का ऐसा विकास हो, जिससे उसका व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन सफल हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि उसे उसके वातावरण से परिचित कराया जाये; क्योंकि स्कूल में प्राप्त किया गया पुस्तकीय ज्ञान वास्तविक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायक नहीं हो सकता। यथार्थवादियों के अनुसार स्कूलों में साहित्यिक एवं कलात्मक ज्ञान के स्थान पर व्यावसायिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। डेवनपोर्ट महोदय का कथन है कि किसी भी व्यक्ति को बिना व्यवसाय के शिक्षा तथा बिना शिक्षा के व्यवसाय चुनने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए स्कूल शिक्षा के साथ व्यावसायिक ज्ञान भी प्रदान किया जाना चाहिए, ताकि बालक जीविकोपार्जन करता हुआ अपने सामाजिक जीवन को सफल बना सके। यथार्थवादी शिक्षा का विकास तीन रूपों में हुआ और इन तीनों धाराओं के माननेवाले विद्वानों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार यथार्थवाद की प्रत्येक धारा का पाठ्यक्रम तीन रूपों में निर्धारित किया है : (1) मानवतावादी यथार्थवाद, (2) सामाजिक यथार्थवाद, और (3) ज्ञानेंद्रीय यथार्थवाद। यथार्थवादी शिक्षा ने विभिन्न देशों की शिक्षा-प्रणालियों को भी प्रभावित किया।

शिक्षा, लोकतंत्रीय : इसमें व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंध पर बल दिया जाता है। ड्यूई ने इस संबंध को पूरी तरह स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार लोकतंत्रीय शिक्षा का लक्ष्य केवल व्यक्ति को अपने निकटतम समूह के जीवन में पूरी होशियारी से भागीदार होने के लिए विकसित करना ही नहीं है, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों को इस प्रकार परस्पर क्रियाशील बनाना है, जिसमे कोई व्यक्ति या कोई आर्थिक वर्ग दूसरे व्यक्ति या वर्ग पर आश्रित न रहे। लोकतंत्रीय शिक्षाशास्त्रियों के दो मत हैं। एक वर्ग का कहना है कि स्कूल में लोकतंत्र की विषयवस्तु और लक्ष्यों पर ही बल दिया जाना चाहिए। दूसरा वर्ग इस बात के पक्ष में है कि स्कूल में लोकतंत्र के आदर्शों के प्राप्त करने की विधि और सोच-विचार के तरीकों पर ही जोर दिया जाये। वस्तुत: लोकतंत्र की धारणा हमारे लिए ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करती है, जिसने परंपरागत शिक्षा-मूल्यों को उलट दिया है। व्यक्ति की पूर्वनिश्चित सामाजिक व्यवस्था से तालमेल बैठाने के स्थान पर अब शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया हो गयी है, जिसमें स्वाभाविक व्यवस्था को व्यक्ति की क्षमता को मुक्त करने, अग्रसर होने अथवा प्रवाहशील बनाने के लिए ढलना होता है। इस प्रकार लोकतंत्रीय शिक्षा की विषयवस्तु और विधि दोनों में आमूल परिवर्तन हुआ है। इतना ही नहीं, समस्त शिक्षा-प्रणाली का ही लोकतंत्रीकरण हो गया है। अब शिक्षा की सुविधा का प्रसार वर्ग, जाति तथा स्तर—सभी प्रकार के भेदभावों को छोड़कर समस्त जनता तक हो गया है। इससे सब प्रकार और सब आयु के लोगों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पाठ्यचर्या और स्कूल के कार्यक्रम में भी विस्तार हो गया है। अब शिक्षा-सुविधा की संभावना बढ़ गयी है, इसलिए विभिन्न प्रदेशों की आर्थिक विषमता इसके आड़े नहीं आती है।

शिक्षा, विकलांगों की : विकलांग बालक असाधारण बालक की कोटि में आता है। असाधारण बालक वह है, जो मानसिक, शारीरिक, सामाजिक एवं संवेगात्मक रूप से सामान्य रूप में विकसित एवं संवर्द्धित नहीं होता है। उसमें कुछ विशिष्टता होती है। सांख्यिकीय शब्दावली में असाधारण बालक प्रसामान्य वितरण में माध्य विचलन से $2\frac{1}{2}$ और 3 का मानक विचलन होता है। इसमें एक ओर प्रतिभाशाली बालक होते हैं और दूसरी ओर मंद अध्येता, मंदितमना, विकलांग और न्यून बुद्धिवाले बालक होते हैं। मानसिक विकास की दृष्टि से ये विकलांग ही हैं। किंतु विकलांगों की कोई सीमा नहीं है। जो सामाजिक और संवेगात्मक रूप से पिछड़े या विच्छिन्न हैं, वे भी

विकलांग हैं और सबसे बड़े विकलांग वे बालक हैं, जो शरीर से विकलांग होते हैं। इनमें दृष्टिह्रास, श्रवणह्रास, वाक्शक्ति से विकलांग अथवा स्नायु रोग से बाधित होते हैं। कुछ बालक मिरगी और पक्षाघात आदि मानसिक रोगों से पीड़ित होने से विकलांग होते हैं। इस प्रकार विकलांग तीन प्रकार के होते हैं: मानसिक, शारीरिक और सामाजिक। इन सभी प्रकार के विकलांगो को शिक्षित करना बहुत बड़ी समस्या होती है।

मानसिक विकलांगों को मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहले वर्ग की बुद्धि-लब्धि 25 से नीचे होती है। इनके लिए विशेष देखभाल की आवश्यकता पड़ती है। ये सदा दूसरों पर निर्भर रहते हैं, इसलिए शिक्षित नहीं किये जा सकते। इनकी शिक्षा के लिए अलग संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे वर्ग की बुद्धि-लब्धि 25 से 50 तक होती है। इनको भी शिक्षित तो नहीं किया जा सकता, किंतु भोजन, सफाई, शौच, कपड़े पहनने आदि का प्रशिक्षण अवश्य दिया जा सकता है। इन्हें निजी देखभाल तथा साधारण कार्यों की शिक्षा दी जा सकती है। इनके लिए नर्सरी शिक्षा आवश्यक है और प्राथमिक शिक्षा-काल में इन्हें उपचारी अनुदेश की आवश्यकता पड़ती है। ये मामूली लिखना-पढ़ना सीख सकते हैं। बाद में ये अकुशल श्रमिक की कोटि के रह जाते हैं। चौथे वर्ग की बुद्धि-लब्धि 70 से 79 तक होती है। ये मंदितमना होते हैं। इनमें अधिगम की गति मंद होती है। स्कूल इनके लिए एक कठिन समस्या होता है। इन्हीं के आसपास 80 से 89 तक बुद्धि-लब्धिवाले होते हैं, जो प्रसामान्य से कुछ नीचे रह जाते हैं।

साधारण तथा मंदबुद्धि और धीमे-अभिगम वाले बालक ही स्कूल में सबसे अधिक परेशानी पैदा करनेवाले होते हैं। वे प्रसामान्य बालकों के साथ नहीं चल पाते हैं और पीछे रह जाने के कारण उनमें हीन भावना आती है। अतः उन्हें स्नेह और सुरक्षा दी जानी चाहिए। इसके लिए अभिभावक और शिक्षक दोनों का ही कर्तव्य है कि वे पूर्ण सहानुभूति से उनकी ओर ध्यान दें और आवश्यकता के समय उनकी सहायता भी करें। डांट-डपट का तरीका उनके लिए श्रेयस्कर नहीं होता।

इस प्रकार मानसिक रूप से पिछड़े 50 से 70 तक बुद्धि-लब्धि के बीच के बालक ही वास्तव में विकलांग होते हैं। उनकी शिक्षा संभव होती है। उनके लिए या तो स्कूल-काल से ही अथवा सामान्य स्कूलों में उनके लिए विशेष कक्षाएं लगायी जायें और ये कक्षाएं स्कूल कार्यक्रम का ही भाग बनी रहें, जिनमें विकलांगों का प्रसामान्य बालकों से संपर्क बना रहे और वे समाज से अपने आपको कटा हुआ न समझें।

कोठारी आयोग के अनुसार शारीरिक विकलांग बालकों में अंधे, बहरे और विकल अंगोंवाले बालक आते हैं। ऐसे बालकों की संख्या भारत में ग्यारह लाख है। इनको शिक्षा देना देश के लिए एक समस्या है, किंतु यह काम मानवता के आधार पर न होकर उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता है। विकलांगों की समुचित शिक्षा उन्हें अपने दोषों पर काबू पाने में सहायता देकर उन्हें एक उपयोगी नागरिक बनाती है। सामाजिक व्यय की भी यही मांग है।

स्वतंत्रता से पूर्व विकलांगों की शिक्षा का देश में कोई विशेष प्रबंध नहीं था। इस दिशा में सबसे पहले मिस ऐनी शार्प नामक एक प्रोटेस्टेंट मिशनरी महिला ने कार्य किया। उन्होंने 1883 में अमृतसर में अंधों के लिए एक स्कूल खोला। ऐसा ही एक स्कूल पालायामकोटाई में 1890 में मिस आस्कविद ने खोला। 1889 में श्री लालबिहारी शाह ने भी बंबई में अंधों का एक स्कूल खोला। पचास वर्ष बाद भारत सरकार का ध्यान इस ओर गया और 1943 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने एक कमेटी नियुक्त करके अंधों की शिक्षा संबंधी समस्या का अध्ययन किया और उसे सामाजिक सुरक्षा विभाग से संबद्ध कर दिया। इससे विकलांगों की शिक्षा को बढ़ावा मिला और 1948 में अंधों के स्कूलों में ब्रेल विधि का प्रयोग शुरू हुआ। दिल्ली में गूंगे-बहरों के लिए एक स्कूल खोला गया और देहरादून में भी वयस्क अंधों के प्रशिक्षण के लिए एक केंद्र खोला गया। इस समय देश में अंधों की शिक्षा के 115, बहरों के 70 और अन्य अंगविहीनों के 25 केंद्र हैं। इसके अतिरिक्त लखनऊ और कलकत्ता में गूंगे-बहरों के शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी है। अंधों की विभिन्न संस्थाएं प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ प्रारंभिक शिल्प और संगीत आदि की शिक्षा भी देती हैं। इसके साथ-साथ अंधों को शिक्षित करने के तीन प्रशिक्षण केंद्र

भारत सरकार ने स्थापित किये हैं। तमिलनाडु और आंध्र में भी ऐसे ही प्रशिक्षण केंद्र खोले गये हैं।

गूंगे बच्चों की संख्या इस समय देश में लगभग चार लाख है। इनके लिए सारे देश में 70 स्कूल हैं, जिनमें केवल चार हजार बालक ही शिक्षा पाते हैं। इनके लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए देश में 6 प्रशिक्षण केंद्र हैं। गूंगे अंधों की तुलना में कुछ कम असहाय होते हैं। वे कम से कम अपने अंगों को तो स्वेच्छा से काम में ला सकते हैं। इसलिए उनका पाठ्यक्रम अंधों से भिन्न प्रकार का होता है। अंधों की तुलना में ये स्कूल-विशेष द्वारा अधिक उपयोगी नागरिक बनाये जा सकते हैं।

शारीरिक विकलांगों की संख्या भी देश में अंधों के बराबर ही है, किंतु अंधों या बहरों की भांति उनकी शिक्षा की समस्या अधिक जटिल नहीं है। उन्हें अलग स्कूलों की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल शिक्षक का उत्तर-दायित्व उनके प्रति बढ़ जाता है। शिक्षक को हमेशा उनका ध्यान रखना पड़ता है। वात, ज्वर, अधरंग, मिरगी, रिकेट, पोलियोमिलाइटिस, क्षय आदि अनेक ऐसे रोग होते हैं, जो शरीर की सामान्य गति में बाधक होते हैं। शारीरिक रूप से विकलांग बालक को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह अपने को निरीह पाता है। ऐसी दशा में अपराध भावना से बचाकर उसे सहानुभूति प्रदान करके सुरक्षा दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट विकलांग वर्गों के लिए, जैसे, दृष्टि-दोषवाले, मस्तिष्क की चोटवाले अथवा मानसिक विकारवालों के लिए अलग स्कूल होना हितकर होगा। इसके साथ-साथ इस क्षेत्र के लिए शिक्षक प्रशिक्षण और अनुसंधान भी अनिवार्य है।

सामाजिक दृष्टि से बाधित की कोटि में वे बालक आते हैं, जो शर्मीले और आत्मकेंद्रित होने के कारण अपने साथियों के साथ मिलना-जुलना पसंद नहीं करते। इसका सबसे बड़ा कारण शीघ्र या मंद गति से अथवा देर में होनेवाला शारीरिक विकास है। इसके लिए अभिभावक और शिक्षक को ध्यान रखना होता है कि ऐसी प्रति-योगिताओं में न रखा जाये, जिनमें विकसित बालक भाग लेते हों। इसी प्रकार लड़कियों का उम्र से पहले जवान हो जाना उन्हें सामाजिक दृष्टि से विकलांग बना देता है। गरीब, अनाथ, बौना, अधिक लंबा, मोटा, दुबला-पतला, काला, ऐंची और दोषपूर्ण आंखोंवाला होना भी बालक को सामाजिक रूप से बाधित बनाता है। ऐसा होना सामाजिक कुसमायोजन की वृद्धि करता है। ऐसे बालकों का स्कूल के परिवेश में तथा अपने साथियों के साथ समायोजन नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त असंतुष्ट, झगड़ों से भरे, निर्धन एवं अपराधी परिवार भी बालक की सामाजिक परिपक्वता में बाधक होते हैं। उनके पिछड़ेपन को दूर करने में शिक्षक अत्यधिक सहायक हो सकता है। यदि वह सहानुभूतिपूर्वक उनकी समस्याओं पर ध्यान देकर उनके साथ व्यवहार करे, तो समस्याएं दुर्जेय नहीं रह जाती हैं। स्कूल की ओर से ही समय-समय पर ऐसे बालकों की समस्याओं पर विचार किया जाना बालक के हित में होता है।

शिक्षा, वेदकालीन : वेदकालीन शिक्षा प्रधानतः धर्मप्रधान थी। उसमें भौतिक समृद्धि सन्निहित थी। उसका आधार वैदिक साहित्य था, अर्थात् यह शिक्षा ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद पर आधारित थी। ऋग्वेद ज्ञान का एक महान भंडार है। इसमें 1028 सूत्रों या ऋचाओं का समूह है, जिसे संहिता कहते हैं। इसमें जो मंत्र हैं, वे साहित्य, धर्म, संस्कार, यज्ञविधि, सृष्टि, दर्शन, आदि विषयों के हैं। वेद का मुख्य उद्देश्य सत्यानुभूति का संपूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना था।

सामवेद में अधिकांश मंत्र ऋग्वेद के ही हैं। यह दो भागों में विभक्त है, जिन्हें अर्चिका कहते हैं। इसका उद्देश्य संगीत का ज्ञान कराना है। अतः इसे संगीत का पाठ्यग्रंथ कह सकते हैं।

अथर्ववेद चिकित्सा विषय का सर्वप्रथम ग्रंथ है। इसमें ज्योतिष तथा संस्कार भी वर्णित हैं। सांसारिक ज्ञान-विज्ञानों का यह मौलिक ग्रंथ है। यजुर्वेद प्रार्थना-ग्रंथ है। भारत का प्रारंभिक गद्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में इस ग्रंथ में मिलता है। यजुर्वेद प्राचीन साहित्य की एक अनोखी देन है। इसमें भारत की धार्मिक और भौतिक जीवन की झांकी देखने को मिलती है। संपूर्ण मंत्र संग्रह के दो भाग हैं—कृष्ण और शुक्ल।

वेदों में शिक्षा के विभिन्न अंग समाहित हैं और उनका मूल उद्देश्य ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति है। किंतु इस का अर्थ यह नहीं व्यक्ति इसमें गौण था। इस युग में व्यक्ति

को अपने विकास का पूरा अवसर दिया जाता था। उस समय तक लेखन कार्य का विकास नहीं हुआ था। इसलिए समस्त शिक्षण मौखिक होता था। शिष्य उस श्रुतज्ञान को कंठस्थ कर लेता था और वह ज्ञान परिवार की वंशागत संपत्ति हो जाता था। गुरुगृह ही विद्यालय होते थे। गुरु अपने शिष्यों को अपनी संतान की भांति रखते थे। शिष्य ब्रह्मचर्य और गुरु-सेवा को प्रथम कर्तव्य मानते थे। गुरु-शिष्य सात्विक और संयमित जीवन बिताते थे। शिक्षा-पद्धति ही इस प्रकार की थी, जो शिष्य को त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य और मानवोचित गुणों से भरपूर कर देती थी, जीवन को पूर्ण और संयमित बनाने के योग्य बनाती थी और जीवन के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों के विकास पर पूरा ध्यान देती थी।

शिक्षा, व्यावसायिक : स्कूल की पाठ्यचर्या के विभिन्न विषय दैनिक जीवन में ही उपयोगी नहीं होते, वरन् व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाते हैं और उसमें व्यावसायिक कौशल भी पैदा करते हैं। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या सामाजिक तथा उपयोगितावादी मूल्यों पर आधारित होती है। पाठ्यचर्या विभिन्न व्यवसायों के लिए एक उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार करती है और विद्यार्थी को अपनी अभि-रुचियों और योग्यता के अन्वेषण में भी सहायता देती है। इस प्रकार समस्त पाठ्यक्रमों का व्यावसायिक मूल्य होता है। अतः व्यावसायिक शिक्षा को सीमित और विस्तृत दोनों ही रूपों में पारिभाषित किया जाता है। विस्तृत अर्थ में इसके अंतर्गत सभी अनुभव अथवा कार्य-कलाप आते हैं। इनमें छात्र की व्यस्तता उसे किसी भी व्यवसाय के लिए अधिकाधिक कौशल प्राप्त करने में सहायक होती है। सीमित अर्थ में किसी विशेष व्यवसाय में विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करना ही व्यावसायिक शिक्षा कहलाता है।

स्कूल में इस प्रकार की शिक्षा देने का कार्य विवाद का विषय बना हुआ है। आज स्कूलों में व्यावसायिक शिक्षा दी तो जाती है, पर इससे तीन प्रश्नों का समाधान नहीं होता कि इसके लिए अलग स्कूल खोले जायें या वह सामान्य शिक्षा के ही एक अंग के रूप में रहे? दूसरे, उसकी मात्रा कितनी हो? इससे अधिक उलझन का प्रश्न यह है कि व्यावसायिक शिक्षा को किस कक्षा से लागू किया जाये? इस संबंध में हमारे देश में अभी तक कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं हुआ है। फिर भी सभी वर्तमान पद्धति की आलोचना करते हैं। अब यह निश्चित रूप से मान्य हो गया है कि स्कूल में व्यावसायिक शिक्षा को सामान्य शिक्षा के अंतर्गत अनुदेश की उपेक्षा किये बिना ही स्थान प्राप्त हो, जिससे भविष्य में कौशल प्राप्त व्यावसायिक कार्यकर्ता प्राप्त हो सकें और विद्यार्थी भी स्कूल के बाद आगे जाकर किसी भी व्यावसायिक ज्ञान की प्रारंभिक जानकारी लेने में समायोजित हो सकें।

इस पृष्ठभूमि में स्कूल के लिए व्यावसायिक शिक्षा के कुछ सिद्धांत स्थिर किये जा सकते हैं, जिनके आधार पर स्कूल में व्यावसायिक शिक्षा का कार्यक्रम लागू किया जा सके :

(1) पाठ्यक्रम ऐच्छिक और अनिवार्य दो वर्गों में विभाजित हो, जिसमें $\frac{2}{3}$ समय अनिवार्य विषय और शेष ऐच्छिक विषयों के लिए हो,

(2) ऐच्छिक विषय के अंतर्गत व्यावसायिक विषय हो,

(3) व्यवसाय में प्रवेश से पूर्व का प्रशिक्षण पाठ्यचर्या के अंतिम वर्ष में हो,

(4) व्यावसायिक शिक्षा द्वारा व्यवसाय कौशल के स्थान पर व्यवसाय ज्ञान और निर्णय क्षमता को ही महत्त्व दिया जाये, जिससे छात्र ऐसे गुणों को प्राप्त करें, जो विभिन्न व्यवसायों के लिए समान रूप से उपयोगी हों, और

(5) इसमें कृषि, गृह-कला, उद्योग कला, व्यवसाय शिक्षा जैसे ऐच्छिक विषयों का समावेश संभव हो।

विषयों के इस प्रकार के चयन से शिक्षा का व्यावसायिक मूल्य होने के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक मूल्य भी होगा, जिससे सामान्य शिक्षा के उद्देश्य की भी पूर्ति हो सकेगी।

शिक्षा, शारीरिक : यह शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है। इसे शिक्षाशास्त्र का एक विषय न मानकर शिक्षा का विस्तृत क्षेत्र कहना ही ठीक होगा। यह मांसपेशियों और संवेगों के तथ्यात्मक ज्ञान के सहारे शिक्षा देने की एक निश्चित विधि है। अतः इसे एक शिक्षा-प्रणाली मात्र ही नहीं कहा जा सकता। मनुष्य को शिक्षित करने अथवा

बालक को मनुष्य बनाने के प्रयत्न में उसके संपूर्ण मन और शरीर को ही लिया जाना चाहिए। किसी भी शिक्षा-पद्धति में जीवन के शारीरिक पक्ष को बौद्धिक अथवा नैतिक पक्ष से अलग नहीं किया जा सकता। यह कहावत कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रह सकता है, आज भी उतनी ही सच है, जितनी हजारों वर्ष पहले थी।

वास्तव में मनुष्य एक ऐसी इकाई है, जिसे खंडों में बांटकर शिक्षित नहीं किया जा सकता। उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्तियों का विकास उसके शारीरिक स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए पौष्टिक भोजन, डाक्टरी जांच और उपचार तथा स्वास्थ्यप्रद वातावरण की आवश्यकता तो है ही, साथ ही साथ शरीर को सुदृढ़ एवं स्वस्थ बनाये रखना भी आवश्यक है। इसके लिए नियमित शारीरिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। अतः शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य कोई पहलवान बनाना, सिपाही बनाना, 'उद्दंडता निरोधन अथवा खेल तथा व्यायाम की क्रियाओं में पारंगत बनाना ही नहीं है, बल्कि सुसंगठित तथा सुसंगत रूप से विकसित व्यक्तित्व के निर्माण में अपना योगदान देना भी है।

शारीरिक शिक्षा का काम ऐसे शरीर का निर्माण करना है, जिसके बिना व्यक्तित्व बौना और प्रभावहीन हो जाता है। शारीरिक शिक्षा के अंतर्गत वे सब क्रियाकलाप आते हैं, जिनसे शारीरिक स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। इसमें जिमनास्टिक, खेल, तैरना, नाचना आदि ही नहीं, अपितु स्वतंत्र खेल, भ्रमण, यात्राएं, स्कूल-यात्रा शिविर और अन्य प्रकार के वे सभी क्रियाकलाप आते हैं, जिनमें खुली हवा के प्रति एक लगाव पैदा होता है तथा जीवन प्रक्रिया का एक स्वास्थ्यप्रद मार्ग सामने आता है।

शारीरिक प्रशिक्षण का कार्य उसी दिन से प्रारंभ हो जाता है, जिस दिन बालक स्कूल में पहली बार प्रवेश पाता है और यह कार्य उस के विकास की सारी अवधि में जारी रहता है।

शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम का लक्ष्य नर्सरी, प्रारंभिक और माध्यमिक अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। नर्सरी अवस्था में इसके लक्ष्य ये होते हैं : (1) अप्रत्याशित दिशाओं में तात्कालिक अनुक्रिया, सजगता, चुस्ती एवं स्वतंत्र कार्य के प्रति अभिरुचि जगाना, (2) शरीर में लोच को बनाये रखना, जिससे भविष्य में उपचारात्मक अभ्यास को कम किया जा सके, (3) शरीर में लचीलापन तथा हल्कापन लाना, और (4) रक्तसंचार और श्वसन प्रक्रिया को स्वतंत्र कार्यों द्वारा बढ़ावा देना। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शिशु की गतिविधियों के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रशिक्षण, सुव्यवस्थित प्रारंभिक क्रीड़ाएं और स्वतंत्र खेलकूद आते हैं। लय प्रशिक्षण के अंतर्गत नाट्यात्मक गीत और संगीत अथवा लय पर आधारित खेल-कूद आते हैं। इसमें संगीत का इतना महत्त्व नहीं होता, जितना अभिव्यक्ति और लय का होता है। इसके अंतर्गत गेंद, घेरे और रेखाओं के खेल आते हैं। अक्षर-ज्ञान भी ऐसे खेलों के द्वारा आसानी से कराया जा सकता है। नियमित जिमनास्टिक का इस आयु में कोई स्थान नहीं होता। स्वतंत्र खेलों के अंतर्गत दौड़, कूद तथा उछलना आते हैं। इस प्रकार दौड़ना तथा भागना दर्शकों के लिए चाहे व्यर्थ की चीज हो, पर बालक के लिए इनका बड़ा महत्त्व होता है।

प्रारंभिक स्कूलों में शारीरिक शिक्षा का लक्ष्य बालकों के लिए ऐसे क्रियाकलापों को जुटाना है, जिनका मनोवैज्ञानिक परिणाम निकले, जो आत्माभिव्यक्ति का अवसर जुटायें और सामाजिक भावना के विकास का भी अवसर प्रदान करें। इसमें क्रीड़ाएं, सामूहिक खेल, तैरना, तथा खेलकूद आते हैं। भारत के प्रारंभिक स्कूलों में तैरने के साधन नहीं होते हैं, इसलिए तैरने के बदले टैग क्रीड़ाएं, गेंद क्रीड़ाएं, फालो द लीडर आदि के खेल आते हैं, जिनमें पानी का भय भी नहीं रहता और आत्मविश्वास भी बढ़ता है। इन क्रियाकलापों के कुछ रूप ये हैं:

(1) खेलों में बाधा-दौड़, अंडा तथा चम्मच दौड़ आदि। इनसे शक्तिवर्द्धन, लोच, तंत्रि-पेशी समन्वय, सामाजिक भावना और आत्मविश्वास को बढ़ावा मिलता है।

(2) नाचना, झांकी प्रदर्शन और रूप रचना। इनके अंतर्गत लोकनृत्य, खेलते समय गाना, पशुओं की बोली की नकल, दौड़ना, उछलना और संगीत के साथ कूदना तथा व्याख्यात्मक गतिविधियां आती हैं।

(3) लुढ़कना, किसी चीज का सहारा लेकर कूदना तथा जिमनास्टिक। इनमें बच्चों की विशेष रुचि होती है तथा इनसे मनोरंजन के साथ-साथ शरीर-नियंत्रण, दक्षता और उत्साह की प्राप्ति होती है।

(4) प्राकृतिक क्रियाकलाप, जैसे दौड़ना, चढ़ना, फेंकना, संतुलन और कूदना। प्राकृतिक क्रियाकलापों में बच्चे अपनी शारीरिक क्षमता के अनुसार ही दौड़ते भागते हैं। इसके अंतर्गत दौड़ने-भागने का नियमित प्रशिक्षण आता है।

(5) शारीरिक त्रुटियों को दूर करने के लिए व्यक्तिगत उपचारात्मक उपाय। इसके अंतर्गत किसी चिकित्सा-अधिकारी की सलाह से उपचारात्मक जिमनास्टिक की शिक्षा दी जाती है।

माध्यमिक स्तर पर शारीरिक शिक्षा का लक्ष्य ऐसे क्रियाकलाप जुटाना है, जो आंगिक तथा संघटनात्मक विकास में सहायक हों, आत्माभिव्यक्ति में सहयोग दें, विद्यार्थी का मनोरंजन करें तथा सामाजिक भावना का विकास करें। इसके अंतर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं:

(1) स्वतंत्र खेल : इसमें माध्यमिक स्तर पर खेलों का आधार दक्षता तथा तकनीक है।

(2) सामूहिक खेल : इनके अंतर्गत टेंग क्रीड़ाएं, रिले क्रीड़ाएं, बास्केटबाल, क्रिकेट, फुटबाल, हाकी, टेनिस और वालीबाल आते हैं। इनसे उत्तम नागरिकता का प्रशिक्षण भी मिलता है।

(3) परीक्षात्मक क्रीड़ाएं : इनके अंतर्गत गोता लगाना, सीमित दौड़, मैदानी खेल आते हैं, जिनमें हार-जीत, सफलता-असफलता आदि प्राप्त होती है।

(4) नृत्य तथा संगीत : नृत्य द्वारा तंत्रि-पेशी समन्वय होता है, सामाजिक भावना का विकास होता है और आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से आत्मसंतोष की भावना भी दृढ़ होती है।

(5) आधारभूत दक्षता : इसका विकास निरंतर अभ्यास से होता है।

(6) खेल-कूद : माध्यमिक स्तर पर इनका सैद्धांतिक प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

(7) व्यक्तिगत उपचारात्मक व्यायाम : आसन-त्रुटि के अंतर्गत संकुचित छाती, झुकी कमर आदि बैठने की बेढंगी आदतें आती हैं, जिनसे अनावश्यक थकान होती है और शक्ति का अपव्यय होता है। इन्हें सुधारने के लिए उपचारात्मक व्यायाम आवश्यक हैं।

इस सबके लिए प्रत्येक स्कूल में शारीरिक शिक्षा में प्रशिक्षित अध्यापक की आवश्यकता होती है।

शिक्षा, संगीत : समकालीन शिक्षाशास्त्री शिक्षा में संगीत के स्थान और उद्देश्य के विषय में एकमत नहीं हैं। एक ओर सेयमूर और सुरते जैसे शिक्षाशास्त्री संगीत को कला का एक अंग मानते हुए अभिव्यक्ति और अनुभूति का विषय न मानकर उसे प्रशंसा तक ही सीमित रखते हैं और दूसरी ओर पोट्टर, चर्च और कोलमेन संगीत-शिक्षा में बालक के सृजनात्मक पक्ष पर जोर देते हैं। इस आंदोलन की नेत्री मिस कोलमेन का कहना है कि किशोरों को संगीत की प्रारंभिक जानकारी से जटिल रूप तक का अनुभव कराना चाहिए। उनका कहना है कि संगीत के प्रति बालक के प्राकृतिक उत्साह को उसके शब्द-भंडार और मांस पेशियों के विकास के अनुरूप ही बढ़ाना चाहिए। संगीत उसके लिए इतना स्वाभाविक हो कि वह उसमें जी सके। प्रत्येक कक्षा में संगीत का ऐसा वर्गीकृत पाठ्यक्रम हो कि बालक संगीत के संपूर्ण ज्ञान को अपनी अवस्थानुसार सीढ़ी-दर सीढ़ी प्राप्त करता जाये। उसके अंतर्गत गायन, नृत्य नाटक, लय एवं वाद्य यंत्र आदि सभी का ज्ञान होना चाहिए। इसमें उसके सृजनात्मक और निर्माणात्मक कार्य को बढ़ावा देना चाहिए। सृजनात्मक कार्य विभिन्न जीवनानुभवों से संबंधित है। वह उसके लयात्मक अनुभवों तथा अन्य क्रियाकलापों से संबंधित होना चाहिए।

कोलमेन ने तो अपने स्टूडियो में बालकों को गान और नृत्य की शिक्षा देने के साथ-साथ वाद्य यंत्रों के निर्माण और नयी-नयी धुनें निर्मित करने तक का अवसर दिया। प्रगतिशील शिक्षा के क्षेत्र में कोलमेन के इस प्रारंभिक प्रयास का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। जर्मनी में पाल गिहीब ने ओडनवाल्ड के अपने प्रयोगात्मक स्कूल में नाटक और संगीत को बालकों के जीवन का अंग बनाया है। वहां प्रत्येक बालक अपनी-अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुसार किसी न किसी वाद्य यंत्र को सीख लेता है। गिहीब के इस स्कूल का अपराह्न जीवन संगीत की स्वर-लहरी में डूबा रहता है। इसमें संदेह नहीं कि संगीत जीवन का अनिवार्य अंग है और आज के व्यावसायिक जीवन में इसको प्रमुख स्थान देना तो और भी आवश्यक है।

शिक्षा, साम्यवादी : 1870 में कार्ल मार्क्स ने अपनी युगप्रवर्तक कृति 'पूंजी' में भावी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। यह काम पहले भी कई युग द्रष्टाओं ने किया था,

किंतु मार्क्स ने इस समाज को मूर्त रूप देने के लिए युद्धस्तरीय नीति तथा पद्धति का भी सूत्रपात किया। मार्क्स ने अपने ग्रंथ में ऐसे वर्गहीन समाज की कल्पना की थी, जिसमें राज्य का अस्तित्व ही न रहे। उनके मत में यह लक्ष्य सहज स्फूर्त क्रांति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है तथा इस क्रांति का नेतृत्व श्रमिकों अर्थात् सर्वहारा की अनुशासनबद्ध पांतें करेंगी। रूस में लेनिन ने 1917 में मार्क्स के स्वप्न को साकार किया और श्रमिकों के हाथ में सत्ता आ गयी। वे मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार रूसी जीवन को साम्यवादी जीवन बनाने की दिशा में अग्रसर हुए। लेनिन जिन मान्यताओं को लेकर चले, वे निम्नलिखित हैं:

(1) बहुदलीय प्रणाली का बहिष्कार और श्रमिक वर्ग या सर्वहारा का अधिनायकत्व,

(2) श्रम का उच्च स्थान,

(3) सर्व साधारण के हित में प्रत्येक साम्यवादी की सक्रियता,

(4) वर्गहीन समाज के लिए वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता और पूंजीपति, व्यापारी, पादरी आदि (इन्हें साम्यवादी शब्दावली में 'बुर्जुवा' कहा जाता है) का विरोध,

(5) सारे विश्व में साम्यवादी समाज की स्थापना होने तक सतत संघर्ष,

(6) व्यक्तिवाद के स्थान पर समूहवाद,

(7) अंतर्राष्ट्रीयता,

(8) लैंगिक समानता,

(9) नास्तिकता आदि।

साम्यवादी समाज की स्थापना के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा सबसे बड़ा साधन सिद्ध हुई। राज्य का उद्देश्य शिक्षा का भी उद्देश्य हो गया। अत: रूस, चीन या पौलेंड कोई भी साम्यवादी देश हो, उसकी शिक्षा का उद्देश्य साम्यवादी समाज की रचना में योगदान करना है। किंतु इससे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि साम्यवादी शिक्षा के लक्ष्य सर्वमान्य शिक्षा के लक्ष्यों से मूलतः भिन्न हैं। जहां तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न है, उसके संबंध में साम्यवादी की यह मान्यता है कि अबाध स्वतंत्रता का पतन अंततः व्यक्तिगत स्वार्थ एवं शोषण में होता है। अत: अबाध स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए साम्यवादी शिक्षा का मूल उद्देश्य राजनैतिक है। शिक्षा, शिक्षा के द्वारा और शिक्षा के लिए का सिद्धांत साम्यवाद को मान्य नहीं है। साम्यवादी शिक्षा तो सामाजिक व्यवस्था के लिए होती है। अत: प्रत्येक स्तर पर उसका लक्ष्य प्रचार और सामाजिक शिक्षा होती है। फिर भी यदि रूस की शिक्षा-प्रणाली का उदाहरण लें, तो पता चलता है कि वह पूर्णतः शिक्षा-सिद्धांतों की विरोधी नहीं है। बालक के समुचित विकास के लिए वहां भी कारगर उपाय किये जाते हैं। लेकिन ये उपाय साम्यवादी जीवन दर्शन की ओर उन्मुख होते हैं। रूसी शिक्षा-पद्धति के उदाहरण से साम्यवादी शिक्षा की विशेषताएं और भी स्पष्ट हो जाती हैं। रूस में 1917 की राज्य क्रांति के बाद स्कूलों को राज्य की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला गया। उसके लक्ष्य थे:

(1) निरक्षरता का उन्मूलन,

(2) स्वतंत्रता, व्यापक धर्म-निरपेक्षता और नास्तिकता तथा अनिवार्य स्कूली शिक्षा,

(3) शिक्षा के लिए पर्याप्त सहायता,

(4) सबके लिए अधिकतम शिक्षा-सुविधाएं और,

(5) शिक्षक-प्रशिक्षण।

आज वहां शिक्षा-सोपान इस प्रकार है:

(1) तीन वर्ष तक नर्सरी स्कूल,

(2) 3 से 7 वर्ष तक के बालकों के लिए किंडरगार्टन स्कूल तथा अन्य स्कूल पूर्व के संस्थान, जिनमें बालक भोजन, स्वास्थ्य तथा सृजनात्मक क्रियाकलापों द्वारा अपने वातावरण से परिचित होता हुआ स्कूल के प्रति रुचि पैदा कर लेता है,

(3) आठ साला स्कूल की परीक्षा के बाद छात्र काम करने लगते हैं अथवा सामान्य स्कूलों में अथवा श्रमिक और किसान सायंकालीन व्यावसायिक या विशेष माध्यमिक स्कूलों में अध्ययन जारी रखते हैं।

(4) दस साला माध्यमिक स्कूल, जिनमें उच्च शिक्षा के लिए जानेवाले छात्र पढ़ते हैं। इनकी पाठ्यचर्या में साहित्य, इतिहास, सामाजिक ज्ञान, विज्ञान, शारीरिक शिक्षा आदि का प्रबंध होता है।

(5) अंत में विश्वविद्यालय तथा उच्च विशिष्ट शिक्षा का प्रबंध है।

संक्षेप में रूसी शिक्षा का प्रारंभ नयी भूमि पर प्रगामी दिशा में होता है, जिसका अर्थ है : (1) जीवन निर्माण की गतिविधि में सक्रिय भाग लेना, (2) श्रम के महत्त्व को

पहचानना, (3) समकालीन जीवन से निकट संपर्क स्थापित करना, और (4) प्रकृति के अध्ययन के साथ- साथ भौतिकवादी जीवन-दर्शन को विकसित करना। इस शिक्षा का मूलाधार क्रियाशीलता है। इसमें कांप्लेक्स विधि एवं प्रोजेक्ट विधि का भी प्रयोग होता है। अनेक स्थानों पर डाल्टन परियोजना को भी काम में लिया जाता है। अत: स्कूली परिवेश में साम्यवादी जीवन-प्रणाली को प्रचारित करने की भी कम गुंजाइश रहती है। इस कमी को पूरा करने के लिए भविष्य में कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता के प्रशिक्षण की किशोर एवं युवा स्तर पर भी व्यवस्था है। 6 से 10 वर्ष तक के बालकों के लिए 'ओक्टोवरिस्ट', 10 से 15 वर्ष के लिए 'पायनियर्स' और 15 से 25 वर्ष तक के छात्रों के लिए 'यंग कम्युनिस्ट' संस्थाएं हैं। युवा लोगों का लगभग $\frac{1}{5}$ भाग इन तीन संस्थाओं का सदस्य होता है। ये कम्युनिस्ट पार्टी के प्रारंभिक स्कूल हैं। इनमें उन्हें वर्ग-संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद का प्रशिक्षण देकर साम्यवाद की शिक्षा पूरी की जाती है।

बालक के सर्वांगीण विकास के लिए संगीत की महत्ता सर्वमान्य है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के सामंजस्य-पूर्ण विकास के लिए कलात्मकता को स्वीकार किया गया है, किंतु उस युग में इस प्रकार की शिक्षा केवल उच्च वर्ग के व्यक्तियों तक ही सीमित हुआ करती थी। आज शिक्षा के लोकतंत्रीय हो जाने पर भी सामान्य शिक्षा में संगीत और नृत्य एक ऐच्छिक विषय के रूप में ही स्वीकृत हैं। उन पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता है।

संगीत की शिक्षा बालक की रुझान, सौंदर्यानुभूति तथा इंद्रियग्राह्यता को जाग्रत करने पर आसानी से दी जा सकती है। सबसे पहले उसकी मानसिक, शारीरिक और संवेगात्मक क्षमताओं को मुक्त करने की आवश्यकता होती है। संगीत-शिक्षा में उसके स्वाभाविक उत्साह को बनाये रखने के लिए यह भी जरूरी होता है कि उसके विकास के साथ ही संगीत-सोपानों को भी धीरे-धीरे बढ़ाया जाये। प्रारंभिक कार्यों में संगीत, नृत्य आदि में अंतर न करते हुए लयात्मक क्रियाकलापों का ऐसा समानीकृत पाठ्य विवरण रखने की आवश्यकता होती है, जिसकी विषय-वस्तु समृद्ध और व्यापक हो। इसके अंतर्गत संगीत, नृत्य, नाटक, लयात्मक कार्य एवं वाद्य यंत्रों का बजाना एवं बनाना आदि सभी कुछ सम्मिलित किया जा सकता है। माध्यमिक स्तर पर ही इनके विशेषीकरण का अंगीकार करना सुगम होता है। संगीत-शिक्षा में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह जीवन के अनुभवों से जुड़ी रहे।

कला-शिक्षा का मानव जीवन के साथ इतना महत्त्वपूर्ण संबंध होते हुए भी अब तक कला का महत्त्व उतना नहीं रहा है जितना महत्त्व कौशलात्मक कला को व्यावसायिक शिक्षा के रूप में दिया जाता रहा है। कला-शिक्षण या तो उपेक्षित रहा, या अपर्याप्त उपकरणों तथा प्राचीन तरीकों के कारण अच्छी तरह व्यवस्थित नहीं किया जा सका। अत: इस विषय का पुनरभिविन्यास होना चाहिए। इसके लिए कला-शिक्षा-संगोष्ठी ने 1956 में जो सिफारिशें प्रस्तुत की थीं, उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशें निम्न-लिखित हैं:

(1) शिक्षा के प्रारंभिक स्तर पर कला-शिक्षा तथा दस्तकारी-प्रशिक्षण आदि का कार्य-क्रम बना दिया जाये।

(2) कला तथा शिल्प-कला (दस्तकारी) के बनावटी भेद को समाप्त कर दिया जाये।

(3) उच्च विद्यालय पाठ्यचर्या में कला तथा शिल्प कलाओं का समावेश होना चाहिए, ताकि बालक की क्षमताओं तथा अभिरुचियों को जाग्रत एवं उद्‌बुद्ध किया जा सके। इन कला विषयों को ऐच्छिक करार दिया जाये और इनका मार्ग विश्वविद्यालय शिक्षा तक प्रशस्त बना दिया जाये।

(4) योग्य विद्यार्थियों को उपयुक्त साधन तथा सुविधा प्रदान की जाये।

उपर्युक्त बातों के साथ-साथ कला के प्रति सामाजिक अभिरुचि तथा सम्मान को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। जब तक जन-मानस में कलात्मक एवं सौंदर्यबोधात्मक मूल्यांकन की प्रवृत्ति एवं योग्यता का विकास नहीं हो जाता, कला-शिक्षा के महत्त्व को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

शिक्षा, स्वास्थ्य : स्कूल जानेवाले बालक के व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास में स्वास्थ्य शिक्षा का बड़ा महत्त्व है। अस्वस्थ रहने के कारण बच्चा स्कूल में अधिक अनुपस्थित रहता है, जिसका नतीजा यह होता है कि वह अपनी पढ़ाई में पिछड़ जाता है। आगे चलकर उससे संवेगात्मक असंगतियां पैदा होती हैं और बालक में अपकार की स्थिति पैदा हो जाती है। अत: बालक को स्वस्थ रखने के लिए

स्वास्थ्य शिक्षा परम आवश्यक है। इसका लक्ष्य विद्यार्थी को स्वास्थ्य के नियमों से अवगत कराना और सामान्य शारीरिक विकारों से सूचित करना है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वास्थ्य-शिक्षा का उद्देश्य बालक को अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने का प्रशिक्षण देना है। उसमें स्वस्थ जीवन-यापन के सिद्धांत एवं आदेशों का बीजारोपण करना और स्वास्थ्य शिक्षा परियोजनाओं द्वारा अभिभावकों एवं वयस्कों को प्रभावित करके आगे आनेवाली नयी पीढ़ी के जीवन को सुधारना है। इसके लिए शिक्षा विभाग की और से एक स्वास्थ्य अधिकारी की नियुक्ति होनी चाहिए। उसका कर्त्तव्य है कि स्वयं जाकर स्कूलों को देखे। क्षेत्रविशेष के कई स्कूलों के लिए एक डाक्टर की भी नियुक्ति होनी चाहिए। स्कूल स्तर पर प्रत्येक स्कूल में एक स्कूल-स्वास्थ्य समिति संगठित की जा सकती है, जिसमें प्रधानाध्यापक, व्यायाम अनुदेशक, स्वास्थ्य शिक्षक, स्कूल के डाक्टर और नर्स सम्मिलित हों। इसमें कक्षा-अध्यापक और कक्षा-मानीटरों को भी रखा जा सकता है। इस संगठन से स्कूल में स्वास्थ्य सुधार की योजनाओं को लागू किया जा सकता है। इस योजना के अंतर्गत तीन बातें आती हैं: (1) स्वास्थ्य रक्षण, (2) स्वास्थ्य उपचार, और (3) स्वास्थ्य उन्नति।

(1) रक्षण के अंतर्गत स्कूल के डाक्टर द्वारा बालकों के स्वास्थ्य की जांच-पड़ताल करना, कक्षा अध्यापक की सहायता से उनके स्वास्थ्य संबंधी चार्ट तैयार करना, अभिभावकों को उसकी सूचना देना और छूत की बीमारियों को फैलने से रोकने के काम आते हैं। स्कूल की सफाई भी स्वास्थ्य का ही अंग है।

(2) उपचार यद्यपि उपचार-शिक्षा का अंग नहीं है, फिर भी स्कूल अभिभावकों को सूचित करना स्कूल का धर्म है। दूसरे, बारंबार होने वाले छोटे-छोटे रोगों (जैसे, आंख, नाक, कान के रोग) का उपचार चोट अथवा कुपोषण आदि की रोकथाम करके किया जा सकता है। विशेष भोजन और विशिष्ट रुग्ण वर्ग में आराम की भी व्यवस्था की जा सकती है। मध्याह्न भोजन की व्यवस्था का सुझाव भी इसी के अंतर्गत आता है। विशेष उपचार की व्यवस्था के लिए क्लिनिक की स्थापना भी जरूरी है।

(3) जहां तक स्वास्थ्य का संबंध है, शिक्षाशास्त्री एकमत नहीं हैं, किंतु जिस स्थान पर जन-स्वास्थ्य का स्तर नीचा हो, वहां स्वास्थ्य अनुदेश से बचा नहीं जा सकता। इसके लिए स्कूल में पाठ्यक्रम निर्धारित करना आवश्यक हो जाता है। इसमें व्यक्तिगत सफाई के व्यावहारिक पाठ से लेकर शरीर-विज्ञान, हवा, पानी, संतुलित भोजन, विटामिन, व्यायाम, सामान्य रोग और उनके उपचार, घरों और नालियों की सफाई आदि के ज्ञान को सम्मिलित किया जाता है। प्रथम उपचार-प्रशिक्षण, रेडक्रास और स्काउटिंग के पाठ भी इसके अंतर्गत आते हैं।

शिक्षा, हायर सेकेंडरी : चार या पांच साल की प्राइमरी या जूनियर बेसिक के बाद दो सोपान आते हैं। एक तो तीन साला मिडिल या जूनियर सेकेंडरी या सीनियर बेसिक का सोपान, और दूसरा, चार साला हायर सेकेंडरी। इस योजना को माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने प्रस्तावित किया था। इस हायर सेकेंडरी सोपान की स्थापना के लिए देश में प्रचलित इंटरमीडियेट सोपान को समाप्त करने का सुझाव दिया गया था। भारत सरकार ने 1955 में इस पर विचार किया और निम्नलिखित ढांचा स्वीकार किया:

(1) 6 से 14 वर्ष तक प्रारंभिक बेसिक शिक्षा।

(2) 14 से 17 वर्ष तक तीन साला हायर सेकेंडरी शिक्षा। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें तकनीकी शिक्षा पर जोर दिया गया है, ताकि यह शिक्षा में एक ऐसा विराम-स्थल हो, जहां से विद्यार्थी जीवन में प्रवेश पाने के लिए समर्थ हो सके।

(3) हायर सेकेंडरी के बाद तीन साला डिग्री पाठ्यक्रम।

इसी ढांचे के अनुसार हायर सेकेंडरी के लिए पाठ्यक्रम भी निर्धारित किया गया। लोअर सेकेंडरी सोपान के लिए ये विषय हैं: (1) संघीय भाषा, मातृभाषा, तथा अंग्रेजी या अन्य कोई भाषा, (2) सामाजिक ज्ञान, (3) सामान्य विज्ञान, (4) गणित, (5) कला, (6) शिल्प, और (7) शारीरिक शिक्षा। हायर सेकेंडरी सोपान के पाठ्यक्रम को ऐच्छिक और अनिवार्य विषयों में बांटा गया है। अनिवार्य विषय ये हैं। (1) तीन भाषाएं, (2) सामाजिक ज्ञान, (3) सामान्य विज्ञान (गणित सहित) और (4) कातना और बुनना, लकड़ी का काम, धातु का काम, बागवानी, दरजी का काम और माडल बनाने में से कोई

एक। ऐच्छिक विषयों में सात वर्ग हैं: (1) मानविकी, (2) विज्ञान, (3) प्रविधि (4) हिसाब-किताब (5) कृषि, (6) ललित कला और (7) गृहविज्ञान। इनमें से प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य विषयों में से तीन भाषाएं और एक शिल्प तथा ऐच्छिक विषयों में से तीन विषयों का अध्ययन अनिवार्य है।

इसके अतिरिक्त इसमें शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है और इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाठ्यक्रम स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर छांटा जाये और उसमें छात्र को व्यावसायिक दिशा देने की पूरी गुंजाइश हो। पर यह योजना अभी समस्त भारत में लागू नहीं हुई है। गुजरात, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश ने इसे लागू नहीं किया है।

शिक्षा और राष्ट्रीयता : किसी देश की शिक्षा-प्रणाली उस देश के जन-जीवन को प्रभावित करनेवाले अनेक तत्त्वों से विकसित होती है, जैसे जाति, धर्म, संस्कृति, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थितियां आदि। इनके अतिरिक्त एक तत्त्व और भी है, वह है राष्ट्रीयता। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता शिक्षा पर इस प्रकार हावी हो गयी है कि शिक्षा को राष्ट्रीयता का ही एक उपकरण माना जाने लगा है, जिसके द्वारा किसी जनसमुदाय के सांस्कृतिक स्वरूप को सुरक्षित रखा जा सके तथा उसकी राष्ट्रीय नियति का निर्धारण किया जा सके।

राष्ट्र ऐतिहासिक रूप से निर्मित एक जनसमुदाय होता है। किसी राष्ट्र को सर्वप्रथम उसकी भौतिक परिस्थितियों से जाना जा सकता है, जैसे भौगोलिक सीमाएं, आर्थिक जीवन, भाषा या भाषाएं, जनता का एक विशिष्ट मनो-वैज्ञानिक ढांचा और उसके चरित्र की प्रमुख विशेषताएं आदि। राष्ट्रों के रूप में मानव-समुदायों का विकास विश्व में पूंजीवादी व्यवस्था के साथ शुरू हुआ। पूंजीवाद ने सामंती बिखराव को समेटकर एक देश के विभिन्न क्षेत्रों को एक प्रकार का साझा बाजार बनाकर आर्थिक एकता के सूत्र में बांधा, जिससे स्थानीय अर्थव्यवस्थाएं मिलकर एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के रूप में सामने आयीं और पूरे देश को एक राष्ट्र माना जाने लगा। इस व्यवस्था का प्रभाव जनजीवन के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक पक्षों पर भी पड़ा।

पूंजीवाद को अपने प्रसार के लिए दूर-दूर तक जाने और उपनिवेश बनाने की आवश्यकता होती है, और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे युद्ध अनिवार्यतः करने होते हैं तथा युद्ध में विजयी होने के बाद विजित प्रदेश को अपने हितों के लिए इस्तेमाल करने के लिए उस पर अपना दमनकारी शासन भी करना होता है। इस काम के लिए उसे ऐसे सैनिकों और प्रशासकों की आवश्यकता होती है, जो दूसरे देशों से लड़ भी सकें और उन देशों में जाकर शासन भी कर सकें। इसलिए पूंजीवादी व्यवस्थावाले देशों के शासक अपनी जनता में ऐसी भावनाएं भरते हैं कि लोग तनिक भी उत्तेजित किये जाने पर मानवीयता और विश्वबंधुत्व की भावनाओं को भूलकर युद्ध और अन्य देशों पर बर्बर शासन करने को तैयार हो जायें।

राष्ट्रवाद पर लिखते हुए आई० एल० कैंडल ने कहा है कि राष्ट्रीयता का अर्थ है—एक ही स्थान या भू-भाग तथा एक ही राजनीतिक आदर्श या संगठन के प्रति सामूहिक निष्ठा। किसी भी जनसमुदाय को अपने अस्तित्व तथा सुरक्षा के लिए कुछ विचारों, आदर्शों और विश्वासों में सामूहिक आस्था रखना अनिवार्य होता है, और इस सामूहिक आस्था को घृणा और वैमनस्य का स्रोत न बनाकर अंतर्राष्ट्रीयता, मानवीयता और विश्वबंधुत्व की ओर भी ले जाया जा सकता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता के उदय के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीयता की भावना भी विकसित हुई। यदि राष्ट्रीयता को एक व्यापक आंदोलन के रूप में देखें, तो इसकी उत्पत्ति 1789 में फ्रांस की क्रांति से हुई। यह राष्ट्रीयता मानवतावादी थी और इसने पीड़ित तथा पराधीन जनसाधारण के हितों का बीड़ा उठाया था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45) तक एक ऐसी राष्ट्रीयता दिखायी दी, जो अतिराष्ट्रवादी थी और जिसने एक अवरोधक तथा आक्रामक रूप ग्रहण किया। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रों के बीच घृणा तथा प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी। यह राष्ट्रीयता कुछ देशों में सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना से उत्पन्न हुई थी और वे देश स्वयं को श्रेष्ठ मानकर अपने निर्बल पड़ोसी देशों पर सांस्कृतिक (प्रच्छन्न रूप से आर्थिक एवं राजनैतिक) प्रभुता प्राप्त करना चाहते थे। परिणामस्वरूप दुनियां ने दो-दो महायुद्ध देखे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीयता के इतिहास में एक नये चरण का प्रारंभ हुआ माना जाता है, जिसे अंतरर्राष्ट्रीयता कहते हैं। तीसरे विश्वयुद्ध की आशंका ने सभी देशों को राष्ट्रीयता के संकुचित और स्वार्थी दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया और संयुक्त राष्ट्र संघ नामक विश्व-संस्था की स्थापना करके सैद्धांतिक रूप से यह मान लिया गया कि प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों को क्षति पहुंचाये बिना समृद्ध हो सकता है।

शिक्षा पर राष्ट्रीयता का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के पूर्व शिक्षा पर केवल कुलीन वर्ग का एकाधिकार था और जनसाधारण को शिक्षा प्राप्त करने के योग्य नहीं समझा जाता था। किंतु राष्ट्रीय विचारधारा जनसाधारण के हितों को ध्यान में रखकर चली और अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी दार्शनिक कानडार्सेट ने घोषणा की कि राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमतानुसार उस सामाजिक कार्य को करने की दक्षता को पूर्ण करने का अवसर प्रदान करना है, जिन पर उसका अधिकार है, उसकी उन सभी शक्तियों का अधिकतम विकास करना है, जो कि उसे प्रकृति ने प्रदान की हैं, ताकि सभी नागरिकों के बीच समानता स्थापित हो सके और कानून द्वारा मान्य समानता वास्तविकता का रूप धारण कर सके। लेकिन अठाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही राष्ट्रीयता का समग्रवादी रूप जर्मनी में नाजीवाद और इटली में फासिस्तवाद के प्रभाव से विकसित हुआ, जिसके अनुसार व्यक्ति को राष्ट्र के हितों के अधीन समझा जाता है। राष्ट्रीयता की यह विचारधारा हीगेल और फिख्ते के प्रत्ययवादी दर्शन से उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार की राष्ट्रीयता पर आधारित शिक्षा-प्रणाली संकीर्ण, राष्ट्रीय स्वार्थों को तथा महायुद्धों को जन्म देनेवाली सिद्ध हुई है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद तथा विश्व में लगभग एक तिहाई हिस्से में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद अतिराष्ट्रीयता के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीयता का प्रारंभ हुआ है और आज के शिक्षा-शास्त्री व्यापक मानवीय मान्यताओं पर अधिक बल दे रहे हैं, जिनके द्वारा विश्वशांति और विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहअस्तित्व संभव हो सके।

शिक्षा के उद्देश्य : कहा गया है कि शिक्षा व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए होती है; क्योंकि संपूर्ण रूप से विकसित मनुष्य ही अपना तथा समाज का विकास कर सकता है। फिर भी अनुभवी तथा विद्वान व्यक्तियों ने शिक्षा के कुछ उद्देश्य निर्धारित किये हैं, जिनको दृष्टि में रखकर ही शिक्षा प्राप्ति का कार्य श्रेयस्कर होता है। इनमें सबसे प्रमुख उद्देश्य जीविकोपार्जन है। इसे व्यावसायिक उद्देश्य भी कहा जाता है। इस मत के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिए तैयार करे; क्योंकि बेकारी एवं भुखमरी की समस्या का समाधान केवल व्यावसायिक शिक्षा से ही हो सकता है। व्यावसायिक शिक्षा के बिना देश के उत्थान एवं विकास के लिए विभिन्न व्यवसायों तथा कामों के लिए कुशल व्यक्ति नहीं मिल सकते। इस प्रकार की शिक्षा से देश में कला-कौशल की वृद्धि होती है और समृद्धि आती है। इसलिए शिक्षा का जीविकोपार्जन संबंधी होना व्यक्ति एवं राष्ट्र, दोनों के लिए लाभकारी है। व्यावसायिक दृष्टि से योग्य होने पर व्यक्ति उस व्यवसाय से संबंधित कार्य को सुगमतापूर्वक कर सकता है और उससे प्राप्त आय के द्वारा अपने जीवन को सुखी एवं समृद्ध बना सकता है। आज के युग में विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहे हैं, जिनके परिणामस्वरूप विभिन्न व्यवसाय भी बढ़ रहे हैं। अतः शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य दिन-ब-दिन महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है।

यद्यपि आज के युग में शिक्षा के व्यावसायिक उद्देश्य का प्रभाव बढ़ रहा है, फिर भी इसी को शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि मनुष्य जीवन का उद्देश्य केवल पेट भरना नहीं, अपितु संस्कृति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के विकास एवं उत्थान में सहयोग देना भी है। इसके साथ ही व्यक्ति में अनेक प्रकार के मानवीय गुणों का होना भी जरूरी है। शिक्षा का दूसरा उद्देश्य अच्छा नागरिक बनाना है; क्योंकि संसार के अनेक देशों में शासन की प्रजातंत्रीय प्रणाली प्रचलित है, जिसमें प्रत्येक नागरिक को अपना सहयोग देना होता है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों के प्रति सावधान होना आवश्यक है। इसलिए नागरिक को अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान प्रदान करने के लिए नागरिकता का विकास करना भी शिक्षा का एक उद्देश्य माना जाता है। शिक्षा द्वारा

बालक में नागरिक के विभिन्न गुणों का समावेश करने के संबंध में माध्यमिक शिक्षा की रिपोर्ट में कहा गया है कि शिक्षा द्वारा बालकों में अच्छी आदतों तथा चरित्र की अच्छाइयों का समावेश करना चाहिए, ताकि वे प्रजातंत्रीय प्रणाली के योग्य नागरिक के उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकें और उनकी उन सभी भावनाओं का अंत हो जाये, जो उदार राष्ट्रीय और निष्पक्ष भावनाओं के विकास में बाधक हों।

यदि कोई नागरिक अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति उदासीन रहता है, तो वह देश के विकास में कोई योग नहीं दे सकता। एक-एक व्यक्ति द्वारा ही राष्ट्र का स्वरूप बनता है। अतः राष्ट्र का विकास व्यक्ति के विकास पर आधारित है। सुयोग्य एवं सुशिक्षित व्यक्ति ही राष्ट्र का विकास भली प्रकार कर सकते हैं। आज संसार में अनेक प्रकार के राजनैतिक सिद्धांतों पर आधारित शासन-प्रणालियां प्रचलित हैं, इसलिए प्रत्येक राष्ट्र अपने राजनैतिक सिद्धांत के अनुसार ही शिक्षा का स्वरूप निश्चित करता है, जैसे, रूस और चीन साम्यवादी राष्ट्र हैं, इसलिए वहां के नागरिकों को साम्यवादी सिद्धांतों के आधार पर ही शिक्षा दी जाती है। रूस में राष्ट्र के सामने व्यक्ति का महत्त्व कम है। इसके विपरीत अमरीका में व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत विकास का अधिक महत्त्व है। इसलिए विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की नागरिकता की शिक्षा देने का प्रबंध किया जाता है।

वर्तमान युग में व्यक्ति से अधिक महत्त्व समाज को प्राप्त हो चुका है। इसका कारण वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनैतिक परिस्थितियां हैं। इसलिए शिक्षा का सामाजिक होना शिक्षा का तीसरा उद्देश्य बन गया है। शिक्षा में इस विचारधारा का प्रवर्तन प्रमुख शिक्षाशास्त्री हरबर्ट स्पेंसर ने किया है। हरबर्ट ने पूर्ण जीवन को शिक्षा का उद्देश्य मानकर समाजशास्त्रीय भूमिका पर बल दिया है। समाजवाद के अनुसार व्यक्ति से अधिक महत्त्व समाज का है। समाज के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। रेमंट महोदय ने कहा है कि समाज के बिना व्यक्ति कोरी कल्पनामात्र है; क्योंकि समाज ही व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उसे अपनी शक्तियों के विकास का अवसर देता है। व्यक्ति के विकास में समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, इसलिए शिक्षा का आयोजन ऐसा होना चाहिए कि उससे बालक में सामाजिक भावना का विकास हो। शिक्षा के इस सामाजिक उद्देश्य के कई दार्शनिक आधार भी हैं। पहली बात तो यह है कि जिन जीवनमूल्यों का अवतरण व्यक्ति के जीवन में किया जाता है, उनका ज्ञान समाज को अवश्य होना चाहिए। वह समाज के जीवन-मूल्यों को ही धारण करता है, अतः व्यक्ति तथा समाज अभिन्न हैं। एक के विकास से दूसरे का विकास स्वयं होता है।

शिक्षा के इस सामाजिक उद्देश्य के साथ ही राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद के दो स्पष्ट रूप दिखायी देते हैं : राष्ट्रीय समाजवाद तथा प्रजातंत्रीय समाजवाद। राष्ट्रीय समाजवाद में व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। राष्ट्रीय समाजवाद के अनुसार शिक्षा-प्रणाली में व्यक्ति को राज्य के लिए तैयार करना मुख्य कार्य माना गया है। प्राचीन काल में स्पार्टा में इसी प्रकार की शिक्षा थी। बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे सैनिक बनकर राजाज्ञा का पालन करते हुए विजय प्राप्त कर सकें। हिटलर तथा मुसोलिनी ने भी इसी प्रकार की शिक्षा का प्रचार किया था। राष्ट्रीय समाजवाद के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र के लिए है। राष्ट्रहित के लिए राज्य किसी भी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था कर सकता है, इसलिए अध्ययन समाप्त करने पर सभी छात्र देश की आवश्यकता की पूर्ति के लिए तैयार रहते हैं।

समाजवाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्वरूप प्रजातंत्रीय समाजवाद है। विश्व के विभिन्न देशों में प्रजातंत्रीय समाजवाद का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसके दर्शन हमें अमरीका, इंग्लैंड, भारत आदि देशों में होते हैं। प्रजातंत्र जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन होता है। इसलिए इसकी सफलता-विफलता का उत्तरदायित्व राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक पर होता है। इस प्रकार के समाजवाद में प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का अवसर मिलता है। पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ शिक्षा को व्यावहारिक स्वरूप भी प्रदान किया जाता है, जिसके लिए पाठ्यक्रम में सिलाई, बुनाई, धुलाई तथा अन्य हस्तकलाओं को रखा गया है, ताकि विद्यालय प्रमुख सामुदायिक केंद्र बन जाये। शिक्षकों का कार्य अध्यापन के साथ-साथ प्रदर्शन करना भी है।

शिक्षा का चौथा उद्देश्य विद्यार्थी को स्वकेंद्रित बनाना माना गया है। प्राचीन भारत में इसी उद्देश्य का महत्त्व था, जिसके परिणामस्वरूप आत्म-साक्षात्कार के विचार का विकास हुआ। उस युग में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति करना था। यूनानी सोफिस्टों ने भी शिक्षा में वैयक्तिक उद्देश्य का अनुमोदन किया है। इस मत के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का समावेश करना है। इस उद्देश्य को प्रकृतिवादी तथा मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं से अधिक बल प्राप्त हुआ; क्योंकि इन विचारधाराओं के समर्थकों ने व्यक्ति की विभिन्न शक्तियों के विकास का समर्थन किया है। इस उद्देश्य के प्रमुख समर्थक शिक्षाशास्त्री रूसो, पेस्टालोजी और फ्राबेल थे। बीसवीं सदी में इस उद्देश्य के प्रमुख समर्थक टी० पी० नन हैं। उनका कहना है कि संसार में जो भी अच्छी वस्तुएं हैं, वे किसी न किसी व्यक्ति के प्रयत्न से आती हैं। शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य के आधार पर होनी चाहिए। जब तक प्रत्येक स्त्री-पुरुष को स्वतंत्र क्रियाओं का अवसर नहीं मिलता, मानव-समाज में कोई सद्गुण नहीं आ सकता है। शिक्षा के वैयक्तिक पक्ष का लक्ष्य व्यक्ति का पूर्ण विकास है।

शिक्षा के उपर्युक्त उद्देश्यों के विवेचन से पता चलता है कि वैयक्तिक और सामाजिक दोनों उद्देश्यों में अंतर है। एक के अनुसार व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है, तो दूसरे के अनुसार समाज। एक आत्म-साक्षात्कार के लिए है और दूसरा समाजीकरण के लिए। दोनों में ही शिक्षा को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया है, परंतु वस्तुतः देखा जाये तो व्यक्ति समाज का आधार है और समाज में ही व्यक्ति का अभ्युदय होता है। रास के कथनानुसार जिस समाज में रहकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकता है, उसी से विलग होने पर वह मूल्यहीन हो जाता है तथा व्यक्तित्व एक निरर्थक शब्द मात्र रह जाता है। केवल समाज से ही आत्म-साधना हो सकती है। जिन व्यक्तियों के व्यक्तित्व का ठीक विकास होता है, वे आदर्श सामाजिक भावनाओं का संचार कर सकते हैं। व्यक्ति एवं समाज का विकास अन्योन्यापेक्षी है।

शिक्षा के उपकरण, दृश्य-श्रव्य : किसी विषय के बारे में केवल कक्षा में कुछ बातें बताना उतना सफल नहीं होता, जितना उस विषय पर कुछ अन्य प्रकार की रोचक सामग्री देना। वरना परिणाम कुछ प्रतिशत ही प्राप्त होगा और वह भी केवल अस्थायी। दृश्य-श्रव्य के कुछ उपकरण निम्नलिखित हैं :

(1) **क्षेत्र-भ्रमण** : इसके द्वारा विद्यार्थी वर्ग वास्तविक स्थिति के संपर्क में सरलता से आ जाता है। इतिहास, भूगोल, प्राकृतिक अध्ययन, वनस्पतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कृषि आदि कुछ विषय ऐसे हैं, जिनके बारे में क्षेत्र-भ्रमण द्वारा अध्ययन अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। इस विधि से अध्ययन करने से विद्यार्थी के विचार-क्षेत्र का बाह्य विस्तार भी हो जाता है और अध्ययन-विषय में सामंजस्य स्थापित करना भी सरल हो जाता है। अधिगम में रुचि भी बढ़ती है और विद्यार्थी में आत्मविश्वास भी बढ़ता है।

(2) **ग्रामोफोन** : ग्रामोफोन कई प्रकार से उपयोगी होता है। इससे बालकों में संगीत प्रेम का उदय होता है और वे गीत, प्रार्थना, राष्ट्रगीत, आदि को ठीक ढंग से गाने का अभ्यास भली प्रकार कर सकते हैं। ड्रिल कराते समय यदि कोई सुंदर धुन बजायी जाये, तो ड्रिल में बालकों की रुचि स्वतः हो जाती है। अंग्रेजी शब्दों के सही उच्चारण सिखाने के लिए बालकों के सामने यदि 'लिंग्वाफोन' के रिकार्ड बजाये जायें, तो अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं।

(3) **चित्रदर्शी (प्रोजेक्टर)** : शिक्षा में इसकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं कर सकता। यद्यपि यह सही है कि इस समय सभी स्कूल प्रोजेक्टर और इसके साथ की स्लाइडें जुटाने में समर्थ नहीं हैं, फिर भी यदि कहीं प्रबंध हो सके तो विद्यार्थियों को वहां ले जाकर इससे अवश्य ज्ञान कराना चाहिए। मुगलकालीन कला, भारत में कृषि, मधुमक्खी पालन आदि के विषय में बनायी गयी स्लाइडें ऐसी हैं, जो बच्चों को अवश्य दिखायी जानी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र के स्कूलों में मलेरिया, तपेदिक, पशु-रोग, वन-संरक्षण आदि के विषय में उपलब्ध स्लाइडें भी अवश्य दिखायी जानी चाहिए। इस प्रकार से स्लाइडें दिखाने से पहले दर्शकों को इस प्रकार से सीखने के वातावरण के अनुकूल बना देना चाहिए।

(4) **फिल्में** : फिल्में शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक सफल हो सकती हैं। यदि विद्यार्थियों को पाठ्यक्रम के अनुरूप फिल्में दिखलायी जायें, तो विद्यार्थियों में सीखने की

अभिरुचि तथा जिज्ञासा बढ़ेगी। यह साधना पाठ्यक्रम के अनुरूप कई प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके लिए भी वातावरण को अनुकूल बनाने का कार्य आवश्यक और उपयोगी है।

(5) **रेडियो :** यदि सही ढंग से इसका उपयोग किया जाये, तो परिणाम बहुत ही सुंदर निकलता है। वैसे आकाशवाणी से विद्यार्थियों के लिए कई कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। प्रत्येक स्कूल में यदि अपने टाइमटेबल में इन प्रसारणों के लिए कुछ समय निश्चित कर लिया जाये, तो परिणाम अधिक अच्छे होंगे। आकाशवाणी से अंग्रेजी, बंगला, तमिल तथा संस्कृत सिखाने के पाठ नियमित रूप से प्रसारित होते रहते हैं, उनका उपयोग करना विद्यार्थियों के लिए लाभदायक होगा।

(6) **टेलिविजन :** टेलिविजन रेडियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। आकाशवाणी का टेलिविजन विभाग प्रति-दिन विद्यार्थियों के लिए पाठ प्रसारित करता है, जिन्हें प्रत्येक स्कूल में दिखाया जाना चाहिए। खेद की बात यह है कि सभी स्कूलों में टेलिविजन नहीं है। टेलिविजन का कार्यक्षेत्र भी बहुत सीमित है और वह भारत के एक हिस्से की भी आवश्यकता पूरी करने में असमर्थ है।

इनके अतिरिक्त, चार्ट, कलैंडर, ग्लोब, मानचित्र, माडल आदि उपकरण भी दृश्य-श्रव्य साधनों की श्रेणी में आ जाते हैं, जो शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

शिक्षा-प्रणाली, मौंटेसरी : मौंटेसरी शिक्षा-प्रणाली बालक के आत्मविकास के साथ-साथ स्वशिक्षा, स्वतंत्रता, व्यक्तित्व निर्माण और ज्ञानेंद्रिय प्रशिक्षण के सिद्धांतों पर आधारित है। इस प्रणाली का नामकरण डाक्टर मेरिया मौंटेसरी के नाम पर हुआ है। वे शिक्षा जगत में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रतिनिधि समझी जाती हैं। उनके मतानुसार बालक के स्वाभाविक विकास में सक्रिय सहायता देना ही शिक्षा है। यह सहायता उन्हीं क्षणों में दी जानी चाहिए, जब बालक को उसकी आवश्यकता महसूस हो। शेष समय में बालक को स्वतंत्र छोड़ देने से वह स्वयं ही स्वशिक्षा की प्रक्रिया से गुजरता हुआ आत्मनिर्माण की दिशा में क्रियाशील हो जाता है। उसकी स्वतंत्रता पर केवल परिस्थिति और परिवेश का ही नियंत्रण होता है। सिलेंडर, छोटी-छोटी मेजें, कुर्सियां, लंबी सीढ़ियां, छुरी-कांटे, चम्मच, प्लेटें आदि का ही नियंत्रण उसके लिए पर्याप्त है। उनके मध्य बालक की स्वतंत्रता असीम है। इन्हीं के मध्य उसके व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है।

इस प्रणाली में ज्ञानेंद्रिय प्रशिक्षण अत्यंत सहायक सिद्ध होता है। दोषपूर्ण बालक के मानसिक विकास में स्पर्श, ज्ञान और मांसपेशियों के इस्तेमाल करने का अभ्यास ही उसका सबसे बड़ा उपयोग है। इस पद्धति के स्कूल में न कक्षाएं होती हैं और न घंटे। बच्चे उछलते-कूदते रहते हैं, खेलते-कूदते रहते हैं तथा जो चाहें करते रहते हैं। कोई फर्श पर लेटा है, कोई रेत में घरोंदे बना रहा है, तो कोई प्रशिक्षण प्रसाधनों में जूझ रहा है। वैसे, दिन का काम इस क्रम से होता है कि बच्चे पहले टायलेट के कमरे में जाते हैं, जहां उनके अपने-अपने शेल्फ, अपने-अपने साबुन और तौलिये होते हैं। वहां से वे स्कूल के अन्य कमरों के निरीक्षण के लिए निकल जाते हैं। वहां बच्चे स्वयं अपने-अपने अनुभव सुनाते हैं। स्कूल का शेष समय खेलने-कूदने में ही व्यतीत होता है। दोपहर में भोजन का समय होता है। इसके पश्चात् कुछ बच्चे अपने-अपने बिस्तरों पर आराम करते, सोते या खेलते हैं।

इस शिक्षा-प्रणाली में दो प्रकार के अभ्यास काम में लाये जाते हैं : (1) व्यावहारिक जीवन के लिए, और (2) ज्ञानेंद्रिय प्रशिक्षण के लिए। हाथ धोना, ब्रश करना, फर्नीचर का प्रयोग आदि अभ्यास व्यावहारिक जीवन के लिए हैं। ठंडे तथा गर्म पानी का प्रयोग तथा हल्की-भारी गोलियों का स्पर्श, विभिन्न पत्थरों, बेलनाकार बक्सों तथा रेत आदि से ज्ञानेंद्रियों के प्रशिक्षण का काम लिया जाता है। इसके अतिरिक्त लिखने, पढ़ने और गणित के प्रशिक्षण में भी इसी पद्धति के उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रणाली में शिक्षक का कार्य केवल सहायक मात्र होना है। उसे प्रत्येक बालक पर अलग-अलग दृष्टि रखनी होती है। समूह-शिक्षा को वहां स्थान नहीं है और न किंडरगार्टन के समान यहां संगीत, कविता, कथा-कहानी आदि का महत्त्व है। इसके कुछ दोष भी हैं, जैसे, इसमें अंतरंग प्रशिक्षण और इंद्रिय प्रशिक्षण की दोषयुक्त मानी गयी प्रणालियों को अपनाया गया है। व्यक्ति पर बल दिये जाने के कारण इसमें सामाजिक शिक्षा का अभाव है। दूसरे, भारत में ऐसी लगनवाले प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव भी इस पद्धति को अपनाने में बाधक है।

शिक्षा-मनोविज्ञान : इसमें मनोविज्ञान के उन तथ्यों का अध्ययन होता है, जो वयस्क से कहीं ज्यादा बालक के अधिगम तथा शारीरिक एवं बौद्धिक विकास से संबंधित होते हैं। यह मनोविज्ञान से भिन्न होकर व्यवहार और आदतों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए संवेगात्मक, बौद्धिक और नैतिक विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करता है। इसके अंतर्गत इन बातों का अध्ययन होता है : (1) अनुवंश तथा पर्यावरण, (2) शारीरिक संघटन, (3) वृद्धि, (4) व्यवहार-प्रक्रिया, (5) अधिगम के लक्षण, प्रतिबंध और नियम, (6) प्रज्ञा तथा उपलब्धि का स्वरूप और भाव, (7) चरित्र-विकास, (8) मानसिक स्वास्थ्य तथा अपसामान्यता, और (9) व्यक्तिगत विभिन्नताओं समेत आकारिक ज्ञान की अव्याप्ति और स्कूली विषयों के मनोविज्ञान का अध्ययन।

इस सामग्री को व्यवहार, अधिगम और वैयक्तिक विभिन्नताओं की समस्याओं के अंतर्गत बांटा जा सकता है। व्यवहार में समस्त मानव उपकरण, जैसे, सहज प्रवृत्ति, प्रतिवर्त चित्तप्रकृति, अभिप्रेरण, व्यवहार, नियंत्रण, अनुराग, मन:शारीरिक संघटन और मन:स्थितियां आती हैं। अधिगम परिस्थिति के मध्य बालक की अनुक्रिया, अभ्यास और आवृत्ति, अभिप्रेरण, अधिगम प्रणालियां, अधिगम योग्यता के घटक तथा सीमाएं, अधिगम अंतरण, मनोविज्ञान और बौद्धिक साहचर्य तथा वृद्धि की प्रक्रिया का निरूपण होता है। वैयक्तिक विभिन्नताओं में बालक की वृद्धि के प्रकार, स्तर और दर का विचार किया जाता है। उसके व्यक्तिगत लक्षणों का वर्गीकरण, विभेद आवश्यकताओं का विवेचन और सांख्यिकीय प्रविधि की समस्याओं पर भी विचार होता है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान की प्रयोगात्मक खोजें भी शिक्षा-मनोविज्ञान के लिए सर्वाधिक महत्त्व की होती हैं।

शिक्षा-मनोविज्ञान के सिद्धांत शिक्षक के लिए बड़े काम के होते हैं। ये शिक्षक को निम्नलिखित कामों में दिशा-निर्देश देने में सहायक होते हैं : (1) भिन्न-भिन्न आयु-वर्गों के लिए उपयुक्त पाठ्य-विवरण तैयार करना, (2) बालक की विभिन्न अवस्थाओं के विकासानुरूप उसकी मूलभूत आवश्यकताओं का अध्ययन और उनकी पूर्ति के लिए साधन जुटाना, (3) उसके सामर्थ्य, उत्साह तथा व्यक्तित्व का पोषण, और चरित्र-निर्माण।

शिक्षा में अनुसंधान : अनुसंधान उन्नति का एक अनिवार्य एवं शक्तिशाली साधन है। मनुष्य अनुसंधान के द्वारा नये सत्यों को पाकर अंधकार से प्रकाश में जाता है और अपने जीवन को अधिक सुगम बनाता है। यह अनुसंधान कार्य आज भौतिक, नैतिक, सामाजिक, एवं मनोवैज्ञानिक—सभी क्षेत्रों तक फैला हुआ है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इसका उतना ही महत्त्व है, जितना कृषि अथवा उद्योग में। व्यक्ति और समाज के विकास का मूल आधार शिक्षा ही है। अत: शिक्षा कार्य एवं नीति में सतत सुधार लाने के लिए अनुसंधान अनिवार्य है। आज शिक्षाविद् अनुदेश की कारगर विधियों, मूल्यांकन की नयी पद्धतियों, मूल्यवान अधिगम सामग्री, शैक्षिक कार्य को सुगम बनाने के भौतिक साधनों तथा प्रशासन व्यवस्था को अधिक कुशल बनाने के नये-नये तरीकों को ढूंढ़ निकालने में व्यस्त हैं। सारे संसार के शिक्षा-प्रसार और लोकतंत्रीय शिक्षा-व्यवस्था के कारण शिक्षा में अनुसंधान की अनिवार्यता और अधिक बढ़ गयी है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि कम समय में अधिक से अधिक लोगों को कैसे शिक्षित किया जाये। इसके अतिरिक्त शिक्षा के नये आदर्शों एवं लक्ष्यों को लागू करने की समस्या भी कम विकट नहीं है। अत: शिक्षा में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा-अनुसंधान की समस्या अत्यंत तीव्र हो गयी है। इसके अतिरिक्त सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में यह कार्य और भी जटिल हो जाता है।

शिक्षा-अनुसंधान अन्य वैज्ञानिक अनुसंधानों से कई प्रकार से भिन्न है। इसमें केवल ज्ञान संचय नहीं होता, वरन् शैक्षिक परिवेश में मानव व्यवहार की जांच-पड़ताल भी की जाती है। इसमें शिक्षक, प्रशासक, बालक और समाज—सभी के परस्पर व्यवहार की विधिवत् खोज होती है। उसी तरह शिक्षा-अनुसंधान मूलत: व्यावहारिक अनुसंधान है, किंतु इसमें कुछ सैद्धांतिक खोज का भी स्थान है। अभिप्रेरणा से प्रत्यय निर्माण और अधिगम में सामाजिक परिवेश जैसे मूल प्रश्नों का समाधान भी इसमें ढूंढ़ा जा सकता है। अत: मूल और व्यावहारिक का विवाद शिक्षा में व्यर्थ है। शिक्षा-अनुसंधान के विषय के अंतर्गत व्यक्ति और संगठन आते हैं। व्यक्ति के अंतर्गत छात्र, शिक्षक, शोधकर्ता, स्कूल और प्रशासक होते हैं। संगठन के अंतर्गत कक्षा-कक्ष, स्कूल, समाज और राज्य हैं। इनके अध्ययन का

ाक्ष्य सेवा-सुधार तथा ज्ञान-वृद्धि में सहायक होना है। ;ससे अध्यापन और प्रशासन में ही सुधार नहीं होता, वरन् ाान की तुलनात्मक, विकासात्मक, ऐतिहासिक वृद्धि के साथ ार्शनिक, समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक आधार भी ृढ़ होता है। शिक्षा-अनुसंधान का कार्य विश्वविद्यालय, ारकारी और स्वायत्त जनसंस्थाएं, स्वैच्छिक व्यावसायिक पंगठन तथा निजी कारोबार करने वालों (जैसे प्रकाशक) द्वारा होता है। भारत में यह कार्य निम्नलिखित संस्थाओं द्वारा संपन्न होता है : (1) केंद्रीय प्रयोगात्मक नर्सरी स्कूल और प्रयोगात्मक बेसिक स्कूल (सेंट्रल ब्यूरो आफ एजूकेशनल एंड वोकेशनल गाइडेंस इसी का अंग है), (2) राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा संस्थान, (3) राष्ट्रीय मूल शिक्षा केंद्र (प्रौढ़ शिक्षा संबंधी), (4) राष्ट्रीय दृश्य-श्रव्य संस्थान, (5) नेशनल कौंसिल आफ एजूकेशनल रिसर्च एंड ट्रेनिंग, (6) केंद्रीय अंग्रेजी संस्थान, हैदराबाद, (7) निर्देशन मनोवैज्ञानिक शोध रक्षा मंत्रालय, (8) केंद्रीय पेडेगोजिकल संस्थान, इलाहाबाद, (9) भारतीय शिक्षा संस्थान, बंबई, (10) विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभाग, (11) राज्य सरकारों के शिक्षा विभाग, (12) व्यावसायिक संगठन, (13) शिक्षकों की संस्थाएं, आदि।

शिक्षा में निर्देशन (निर्देशन सेवा) : आज स्कूल ने अपने ऊपर विभिन्न कार्यकलापों के अधीक्षण अथवा अनुदेश के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट सेवाओं का उत्तर-दायित्व भी ले लिया है। इन विशिष्ट सेवाओं में स्वास्थ्य, भोजन, परिवहन, पुस्तकालय तथा निर्देशन आदि का सर्वाधिक महत्त्व है। निर्देशन सेवा के अंतर्गत स्कूल अपने छात्रों की अभिरुचियों, क्षमताओं और शैक्षिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं की जांच-पड़ताल करता है और उसी के अनुसार उसे जीवन का दिशा-संकेत देता है। निर्देशन सेवा की आवश्यकता के कई कारण हैं : (1) स्कूलों में पाठ्यक्रम का विस्तार, (2) पाठ्यक्रम विशेष के प्रति अरुचि, (3) कालेज में समायोजन की कमी, (4) परीक्षा में असफलता, (5) व्यवसाय में अक्षम होना आदि। ये ऐसे कारण हैं, जिनसे स्कूल में निर्देश कार्यक्रम का होना जरूरी हो जाता है।

यह काम वैसे तो प्रत्येक छात्र को स्वयं ही करना होता है, लेकिन स्कूल और व्यवसाय के बीच में यह काम अभिभावक तथा कुछ अन्य लोग भी किया करते हैं। मगर यह काम जितना अच्छा एक स्कूल के निर्देशन में हो सकता है, उतना किसी अन्य माध्यम से संभव नहीं है। यह स्कूली सेवा का स्वाभाविक एवं वैध अंग है। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्कूल को छात्र के अध्ययन, पर्यवेक्षण और जांच-पड़ताल का पर्याप्त अवसर मिलता है और विद्यार्थी की अभिरुचि में उसकी हार्दिक लगन भी होती है। और फिर, दिशा-निर्देश वैसे भी स्कूल में शिक्षकों द्वारा किसी न किसी रूप में दिया ही जाता है। वे शिष्य को पाठ्यक्रम का चयन, विभिन्न अध्ययन संस्थाओं और व्यावसायिक संसार संबंधी जानकारी अप्रच्छन्न रूप से देते ही रहते हैं। अतः निर्देश का व्यवस्थित कार्यक्रम स्कूल का अविभाज्य अंग बन गया है। वह अपने प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं के द्वारा यह कार्य सुचारु रूप से करता है।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत ये बातें आती हैं : (1) अध्यापकों का सहयोग, (2) छात्रों की क्षमता और अधिगम-योग्यता का अध्ययन तथा उनके संचयीवृत्त तैयार करना, (3) संचयी वृत्तों का समुचित उपयोग, (4) इस कार्य के लिए शिक्षक-प्रशिक्षण, (5) पाठ्यचर्या को व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार करना, (6) व्यावसायिक जानकारी एकत्र करके छात्रों को देना और उनके विकल्प एवं परख में सहायक होना, (7) प्रत्येक छात्र के साथ परामर्श तथा उपबोधन करते रहना, और (8) छात्रों को अपने अध्ययन में उचित स्थान प्राप्त करने में सहायक होना।

निर्देशन की सुविधा के लिए इस कार्यक्रम को तीन भागों में आसानी से बांटा जा सकता है : (1) व्यक्तिगत निर्देशन, (2) शैक्षिक निर्देशन, और (3) व्यावसायिक निर्देशन। निर्देशन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें अंतिम विकल्प विद्यार्थी का ही होता है। शिक्षक को तो उसमें सहायक मात्र होना होता है।

शिक्षा में प्रयोजन : प्रयोजन का आशय व्यक्ति की आंतरिक रुचि, इच्छा, कामना, लक्ष्य एवं उद्देश्य सभी कुछ होता है। अर्थात् जो कुछ उसकी चाह होती है, जिसका वह आनंद लेना चाहता है, वह उसका प्रयोजन कहलाता है। किंतु व्यवहार अथवा क्रिया के द्वारा ही हम उसके प्रयोजन जान सकते हैं। प्रयोजन को व्यवहार में बदलने

के लिए अथवा प्रयोजन की सिद्धि में स्वतंत्रता वांछनीय होती है। ह्वाइटहैड के शब्दों में "स्वतंत्रता का मूल ही प्रयोजन की व्यावहारिकता है।" ड्यूई का कहना है कि "हम उसी दरजे तक स्वतंत्र हैं, जहां तक हम यह जानते हुए काम करते हैं कि हम किसलिए ऐसा कर रहे हैं।" इस प्रकार प्रयोजन और आचरण अन्योन्याश्रित हैं।

शिक्षा की दृष्टि से अध्येता में प्रयोजन की क्रियाशीलता ही उसके अधिगम को प्रभावशाली बनाती है। इसके लिए स्कूल में बालक को प्रयोजन का अभ्यास करने का अवसर एवं प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए उसके व्यक्तित्व का आदर करना होता है। यह सफल अधिगम की कुंजी है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जीव अपनी आवश्यकताओं की सेवा में पूरी तत्परता से क्रियाशील होता है। किंतु क्लिपेट्रिक ने मनुष्य की इस जीववैज्ञानिक तत्पर क्रियाशीलता को बिल्ली के अपने शिकार पर झपटने की तत्परता से अलग करते हुए स्पष्ट किया है कि मनुष्य इस मामले में पशु से श्रेष्ठ है। वह बुद्धि के प्रयोग से अपनी कामना का चयन करके उसकी प्राप्ति के लिए कैसे और कितना निश्चित करता है। अतः स्कूल में छात्र जब अपना कोई उद्देश्य स्वतः निश्चित कर लेता है, तो उसका अनुराग सहित पूरी तत्परता से उसमें संलग्न हो जाना स्वाभाविक ही होता है। स्कूल का काम उसकी इस उद्देश्यपूर्ण क्रियाशीलता में सहायक होना है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में प्रयोजन का यही महत्त्व है।

शिक्षा संस्थाएं, आर्य समाज की : 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने जिन धार्मिक और सामाजिक सिद्धातां के आधार पर आर्य समाज की स्थापना की, उनके निरंतर प्रसार और प्रचार में इस संस्था ने काम किया है। इसके दस सिद्धांतों में से आठवें सिद्धांत का सार यह है कि "अज्ञानता दूर हो।" इसी आशय को ध्यान में रखते हुए आर्य समाज के सदस्यों ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम किया है। लड़के-लड़कियों के लिए इतने विद्यालय और किसी संस्था ने नहीं खोले, जितने आर्य समाज ने खोले हैं। आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं में सबसे प्रमुख दयानंद एंग्लोवैदिक (डी० ए० वी०) कालेज संस्थाएं और गुरुकुल हैं।

इन कालेजों के उद्देश्यों को स्थिर रखते हुए इनके संस्थापकों के सम्मुख यह बात स्पष्ट थी कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ने शिक्षितों का ऐसा वर्ग खड़ा कर दिया है, जिसका देश के दूसरे वर्ग से कोई तालमेल नहीं है। अतः इसका मुख्य लक्ष्य राष्ट्र भाषा और वर्नाक्यूलरों के द्वारा शिक्षित और अशिक्षित के बीच की खाई को पाटना, क्लासिकी संस्कृत के अध्ययन से नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि करना और संयम के जीवन से ऐसे स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण करना माना गया, जो अंग्रेजी का परिचय प्राप्त कर देश के भौतिक विकास में अपना योगदान कर सकें। इसकी पूर्ति के लिए 1886 में डी० ए० वी० कालेज का पौधा एक स्कूल के रूप में लाहौर में लगाया गया। धीरे-धीरे यह बड़ा हुआ और 1914 में उत्तरी भारत का सबसे बड़ा शिक्षा संस्थान बन गया। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें केवल भारतीय ही प्राध्यापक होते थे। प्रबंध में अहिंदू को स्थान नहीं होता था। शुल्क भी नाममात्र को ही होता था। लक्ष्य तो यह था कि सारी शिक्षा निःशुल्क हो, किंतु सरकारी नियमों के कारण ऐसा नहीं हो सका। फिर भी यहां सरकारी स्कूलों और कालेजों से फीस कम ही होती थी और इसके पहले प्रिंसीपल लाला हंसराज तो 24 वर्ष तक अवैतनिक ही काम करते रहे। लाहौर का यह डी० ए० वी० कालेज 1947 तक अपने को किसी न किसी प्रकार बचाकर जीवित रह गया और तब डी० ए० वी० कालेज ट्रस्ट और प्रबंध सोसाइटी ने अपना मुख्य केंद्र दिल्ली में स्थापित किया। आज इसके अंतर्गत 17 कालेज, 3 पोलीटेक्निक, और 80 से अधिक उच्चतर माध्यमिक और हाई स्कूल चल रहे हैं। शिक्षा ट्रस्टों में यह भारत की सबसे बड़ी संस्था है।

आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं का दूसरा प्रकार गुरुकुल है। डी० ए० वी० कालेज के प्रारंभिक वर्षों में ही उसके संस्थापकों ने समझ लिया था कि विश्वविद्यालय के ढंग की शिक्षा से उनके शिक्षा-आदर्शों की पूर्ति नहीं हो सकती और उसमें कुछ सुधार करने से भी यह संभव नहीं होगा। अतः उससे निराश होकर श्री मुंशीराम के प्रयत्नों से आर्य समाज ने 1902 में हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना की। इसकी स्थापना में उनके सम्मुख तक्षशिला का आदर्श था। इसके संबंध में एक अमरीकी पर्यटक का मत है कि गुरुकुल का समस्त वातावरण परस्पर जान-पहचान और विश्वास से भरा दिखायी देता है और आचार्यों के परस्पर संबंध आस्था और आदर पर

निर्भर हैं। यहां सब विद्यार्थी सवेरे चार बजे उठते हैं। नित्यकर्म के पश्चात् व्यायाम और स्वास्थ्य तथा आनंद के लिए शारीरिक श्रम (लालित्यवर्द्धक व्यायाम) होता है। उसके बाद स्नान होता है और सब प्रार्थना करते हैं। संस्था की प्रार्थना वैयक्तिक रूप से होती है और हवन सामूहिक रूप में फिर गवर्नर का भाषण होता और अंत में हल्का भोजन, साधारणतया दूध या गिरी का नाश्ता, होता है। इसके बाद दो घंटे स्वाध्याय के होते हैं। पौने नौ बजे सब लोग दिन का भोजन कर लेते हैं। भोजन के बाद आधा घंटा सब विश्राम करते हैं। पौने दस बजे से सवा चार बजे तक स्कूल का कार्यक्रम चलता है। 4-15 से 4-55 तक छात्र मुक्त रहते हैं। फिर 5-30 तक पुनः हवन होता है। फिर सब लोग रात्रि-भोजन करते हैं और 9 बजे शयन का समय हो जाता है। कालेज के छात्रों के लिए बत्ती दस बजे तक जलती रहती है। छुट्टियां साल में चार बार होती हैं।

इस संस्था में धार्मिक और नैतिक शिक्षा पर बल दिया जाता है। उसमें संस्कृत साहित्य ही मुख्य विषय होता है। पाठ्य पुस्तकें गुरुकुल की अपनी होती हैं। अंग्रेजी की शिक्षा छठे वर्ष से आरंभ होकर 18 वर्ष तक रहती है। वैसे शिक्षा का माध्यम हिंदी है, किंतु दसवीं तक आते-आते सब छात्र संस्कृत पढ़, लिख और बोल सकते हैं। इसमें सात या आठ वर्ष के बालक प्रवेश पाते हैं। वे इस शर्त पर लिये जाते हैं कि 16 वर्ष तक उन्हें वहां रहने दिया जायेगा। यहां वे ब्रह्मचर्य और आज्ञापालन का व्रत लेते हैं। इस समय लगभग 300 विद्यार्थी हैं। 1913 में लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल का निरीक्षण किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह शिक्षा के क्षेत्र में एक भौतिक एवं रोचक प्रयोग है। इसमें ऋषियों का जीवन बितानेवाले कर्मतत्पर साधुओं ने अपने को आधुनिक वैज्ञानिक विधियों से संयुक्त कर रखा है। ये बलिष्ठ शरीर, आज्ञापालक, राजभक्त, विचारशील, वफादार, प्रसन्न और पौष्टिक आहार से संपन्न छात्र हैं। इनसे कोई खतरा नहीं है।

इसका नतीजा यह हुआ कि सर जेम्स मेस्टन ने फिर गुरुकुल का दौरा किया और मथुरा में इसी प्रकार के दूसरे गुरुकुल का शिलान्यास किया। इससे प्रोत्साहन पाकर श्री मुंशीराम ने कांगड़ी में ऐसा ही एक और गुरुकुल स्थापित किया। हरिद्वार का गुरुकुल एक स्वायत्त कालेज के रूप में मान्य हो गया है। इसकी अपनी उपाधि होती है और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से इसको अनुदान भी प्राप्त होता है।

इन दो प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त आर्य समाज ने लड़के-लड़कियों के लिए अन्य शिक्षा संस्थाएं भी स्थापित कीं।

शिक्षा संस्थाएँ, ग्रामीण : इसके अंतर्गत ग्रामीण स्कूल, प्रौढ़ शिक्षा संस्थाएँ तथा ग्रामीण उच्च शिक्षा समिति एवं संस्थान आते हैं। ग्रामीण स्कूलों की समस्या शहरी स्कूलों से भिन्न है। वहां शिक्षकों का अभाव, कक्षाओं में विद्यार्थियों की अधिक संख्या, एकशिक्षक स्कूल, स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्यचर्या का न होना, शिक्षा-साधनों का अभाव तथा अनेक स्थानीय समस्याएं हैं। प्रौढ़ शिक्षा का आरंभ 1921 में शिक्षा विषय के भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ जाने से हुआ, किंतु यह कार्य अधिकतर ऐच्छिक संस्थाओं और सरकारी अनुदान तक ही सीमित रहा। कुछ राज्यों में इसके लिए अलग विभाग खोले गये; किंतु देश के स्वतंत्र हो जाने से प्रौढ़ शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और इसे सामाजिक शिक्षा का नाम दिया गया। इसका लक्ष्य साक्षरता, स्वास्थ्य ज्ञान, आर्थिक स्थिति में सुधार, नागरिकता एवं स्वस्थ मनोरंजन हो गया। इसके प्रसार के लिए भारत सरकार ने दिल्ली, मैसूर तथा हैदराबाद में जनता कालेज खोले (देखिये जनता कालेज)। इसके अतिरिक्त नयी दिल्ली में मूल शिक्षा के लिए राष्ट्रीय केंद्र की स्थापना हुई। इसका काम सामाजिक शिक्षा के लिए उच्चस्तरीय कार्यकर्ताओं को तैयार करना है। ऐसे ही नेशनल बुक ट्रस्ट सामाजिक शिक्षा के लिए सस्ता साहित्य प्रकाशित करता है। एक पुस्तकालय संस्थान भी दिल्ली में स्थापित हुआ। इसका काम केंद्रीय, राज्य और जिला स्तर पर पुस्तकाध्यक्षों को प्रशिक्षण देना है। अक्टूबर, 1954 में भारत सरकार ने ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना के संबंध में सुझाव दिया था। इसके लिए उसने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया, वह इस प्रकार है:

(1) ग्राम सेवा में तीन साला डिप्लोमा, (2) एक साला अध्यापक डिप्लोमा, (3) एक साला अध्यापन सर्टिफिकेट, (4) ग्राम स्वास्थ्य कार्यकर्ता (स्त्री) के

लिए दो साला सर्टिफिकेट, (5) दो साला ओवरसीयर सर्टिफिकेट, और (6) दो साला कृषि विज्ञान पाठ्यक्रम सर्टिफिकेट। इसके अतिरिक्त इस समिति ने केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधीन ग्रामीण राष्ट्रीय परिषद् तथा ग्रामीण क्षेत्रीय उच्चतर शिक्षा विभाग की स्थापना का भी सुझाव दिया था। इसके अनुसार सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों के लिए उच्च शिक्षा हेतु राष्ट्रीय परिषद् की स्थापना की। इस परिषद् ने दस संस्थानों को ग्रामीण संस्थाओं के लिए चुना और उन्हें अनुदान देना स्वीकार किया। ये सभी संस्थान जुलाई, 1956 से कार्य करते चले आ रहे हैं।

गुरुकुल : स्वदेशी आंदोलन के फलस्वरूप देश के नेताओं का ध्यान शिक्षा सुधार की ओर भी गया। बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् की स्थापना हुई। इसके नेता सर गुरुदास बनर्जी, रासबिहारी बोस, रवींद्रनाथ ठाकुर और श्री अरविंद आदि थे। यह थी शैक्षिक चेतना जो साधारण स्कूल और कालेज खोलने से भिन्न दिशा की ओर भी मुड़ी। इसके अंतर्गत रवींद्रनाथ ठाकुर ने बोलपुर में अपना ब्रह्मचर्य आश्रम खोला और आर्य प्रतिनिधि सभा ने वृंदावन और हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना की। इनका स्थान वही है, जो दिल्ली के जामिया मिलिया का है। महर्षि दयानंद के धार्मिक पुनरुत्थान आंदोलन के फलस्वरूप भी गुरुकुल कांगड़ी आदि अनेक संस्थाएं संस्कृत की शिक्षा देने के लिए खोली गयीं, जिनमें अब अंग्रेजी तथा आधुनिक काल में उपयोगी अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती है और इनके प्रमाणपत्रों को अब भारत सरकार ने भी मान्यता दे दी है।

शिक्षा संस्थाएँ, जीसुइट : 1540 में लायोला ने नौ मठवासी संन्यासियों को आंतरिक प्रकाश की शिक्षा देकर पोप की सेवा में समर्पित किया। इन्हीं से 'सोसायटी आफ जीसस' की स्थापना हुई। इसके सदस्य जीसुइट कहलाते हैं। ये साधारण मौंकों जैसे होते थे। न उनकी कोई विशेष वर्दी होती थी और न घर, और न ही भिन्न प्रकार का धार्मिक कृत्य। यहां तक कि व्रत को भी बढ़ावा नहीं दिया जाता था। आध्यात्मिक अभ्यास की एक बार शिक्षा प्राप्त कर लेने पर फिर ये उसकी आवश्यकता नहीं समझते थे। सेवा-कुशलता ही उनके लिए सब कुछ थी। आज्ञापालन कुशलता की मूल कुंजी समझा जाता था। इसका प्रधान 'ब्लैक पोप' वास्तविक पोप की सेवा के लिए रोम में ही रहता था।

जीसुइट ने शिक्षा के क्षेत्र में अपनी महत्ता प्रकट की। वे शीघ्र ही यूरोप में सबसे अच्छे अध्यापक समझे जाने लगे। लोग अपने बच्चों को उनके स्कूलों में भेजना पसंद करते थे; क्योंकि उनके स्कूल सबसे उत्तम थे और वहां से बालक प्रति-विप्लव (काउंटर रिवोल्यूशन) का उत्साह मन में भर कर घर लौटते थे। उन्होंने परीक्षा में अंक देने की पद्धति निकालकर होड़ की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। गणित और विज्ञान के अध्यापन में सुधार किया। अपने अध्यापकों को वे प्रशिक्षित करके ही स्कूल में पढ़ाने भेजते थे। बेकन चाहे जीसुइट्स को पसंद नहीं करते थे, किंतु उनकी प्रशंसा में उन्होंने लिखा है कि शिक्षाशास्त्र के लिए सबसे छोटा रास्ता यह है कि जीसुइटों से परामर्श लो।

जर्मनी में उन्होंने 'इन्गोतसटाज' नामक विश्वविख्यात विश्वविद्यालय स्थापित किया और दुई विश्वविद्यालय में अंग्रेजों को प्रशिक्षित करके प्रोटेस्टेंट धर्मावलंबियों को विजित करने के लिए भेजा। अट्ठारहवीं शताब्दी में जब जीसुइट अध्यापकों और पादरियों में छोटी-छोटी बातों पर वाद-विवाद और मनोमालिन्य बढ़ने लगा, तो पोप ने उनके शिक्षकों के विरुद्ध कार्रवाई की और 'सोसाइटी आफ जीसस' को भंग कर दिया, किंतु जनता में इनका आदर कम न हुआ। यह मांग होने लगी कि जीसुइट विशेषतया शिक्षा और मिशन के क्षेत्र का अपना काम पुनः संभालें। 1814 में पोप पायस सप्तम ने इस संस्था को पुनः स्थापित किया, और यह सारे संसार में फैल गयी। यूरोप के अनेक देशों से इसका विरोध होने पर भी शिक्षा मिशन और 'स्पिरिच्वल रिट्रीट' (धार्मिक पुनरावर्तन) के क्षेत्र में जीसुइटों ने पहले की तरह अपना महत्त्व स्थापित कर लिया।

भारत में पुर्तगालियों को आधुनिक शिक्षा का प्रवर्तक माना जाता है; क्योंकि उनके शासनकाल में अनेक रोमन कैथोलिक मिशनरी आये और अनेक आधुनिक प्रकार के शिक्षा संस्थान खोले गये। इनमें सबसे पहले मिशनरी फ्रांसिस जेवियर और राबर्ट दि नोबिली थे, इनमें नोबिली तो भारतीयों को ईसाई बनाकर ही रह गये, किंतु जेवियर ने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व काम किया। वे भी एक जीसुइट थे।

जीसुइटों का पहला कालेज चाल, गोआ में 1575 में स्थापित हुआ। उसमें 300 विद्यार्थी पढ़ते थे। दूसरा कालेज बंदोरा, सल्सिती में सेंटेआना के नाम से स्थापित हुआ। आगे चलकर इसने 1620 में विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया, किंतु 1739 में पुर्तगालियों ने इस भवन को मरहठा प्रवेश से बचने के लिए नष्ट कर दिया और विद्यालय भी समाप्त हो गया। कुछ और जीसुइट कालेज गोआ में भी स्थापित किये गये। कलकत्ता में भी सेंट जेवियर कालेज की स्थापना हुई, किंतु पुर्तगाली शासन की समाप्ति पर वे शिक्षा संस्थाएँ भी उनके हाथ से निकल गयीं। इन विद्यालयों की शिक्षा का काम बाद में भारतीय ईसाइयों ने निजी निधि से जारी रखा।

शैक्षिक निर्देशन (निर्देश पाठशालाएँ) : निर्देशन मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है: (1) शैक्षिक निर्देशन, (2) व्यावसायिक निर्देशन, और (3) व्यक्तिगत निर्देशन अथवा उपबोधन। शैक्षिक निर्देशन स्कूल के पाठ्यक्रम, पाठ्यचर्या तथा स्कूल के जीवन से संबंधित होता है। इसका उद्देश्य बालक की शिक्षा संबंधी कठिनाइयों को दूर करना होता है। शिक्षा का पाठ्यक्रम यदि बालक की रुचि के अनुकूल नहीं होता है, तो उसे अधिगम में बड़ी होती है। शैक्षिक निर्देशन का काम पाठ्यक्रम और बालक की क्षमता के बीच की विषमता को दूर करना है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी बालक विद्यालय के वातावरण से अपने को समायोजित नहीं कर पाता है। शैक्षिक निर्देशन में उसकी इस कठिनाई को भी दूर किया जाता है। इसके लिए अच्छा है कि यह कार्य किसी विशेषज्ञ द्वारा ही संपन्न हो। शैक्षिक निर्देशन बालकों की आयु के अनुसार भिन्न प्रकार का होता है।

प्राथमिक सोपान में बालकों की आयु प्राय: 6 से 11 वर्ष की होती है। इनके शैक्षिक निर्देशन में निम्नलिखित कार्य आवश्यक होते हैं: (1) बालकों के परिवार, शारीरिक विकास तथा अभिरुचियों की जानकारी, (2) माता-पिता और अध्यापक में संपर्क बढ़ाना, (3) बालक संबंधी सूचनाओं के प्रकाशन में समस्याओं का विश्लेषण, (4) अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक की असफलता की दशा में निर्देशन विशेषज्ञ की सहायता लेना, और (5) आवश्यकता पड़ने पर निर्देशन-प्रणाली में सुधार करना।

द्वितीय सोपान में विद्यार्थियों की आयु 12 से 14 वर्ष होती है। किशोर काल का उदय होने लगता है। शारीरिक क्षमता की वृद्धि के साथ-साथ नवीन रुचियों का विकास भी होता है, इसलिए उनकी समस्याएं जटिल होती हैं। यहां नये पाठ्यक्रम और नयी पाठ्य पुस्तकों के कारण उनमें कुछ चिंता उत्पन्न होने लगती है। उनके वाचन और लेखन में भी अतिरिक्त सुधार की अपेक्षा की जाती है। इस साधन में इन्हीं बातों को सामने रखकर शैक्षिक निर्देशन होता है।

माध्यमिक सोपान में किशोरों की समस्याएं होती हैं। इस अवस्था में शैक्षिक निर्देशन की परिधि विस्तृत हो जाती है। इसमें निम्नलिखित समस्याओं को सुलझाना होता है: (1) विद्यार्थी को भावी शिक्षा संबंधी सूचनाएं उपलब्ध कराना और उसकी उपयोगिता से अवगत कराना, (2) विभिन्न प्रकार के विद्यालयों के उद्देश्यों और कार्यक्रमों से परिचित कराना, (3) वर्तमान विद्यालय में पढ़ाये जानेवाले विषयों की पूर्ण जानकारी देना, विषयों के उद्देश्यों से अवगत कराना और भावी विद्यालयों में पढ़ाये जानेवाले विषयों की सूचना देना, (4) भावी पाठ्यक्रम तथा विद्यालय को अपने अनुमत और बुद्धि के अनुसार चुन सकने का अवसर प्रदान करना, (5) भावी विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए उसकी शैक्षिक योग्यता का पता लगाना, (6) विद्यार्थी की योग्यता का पता लगाने में सहायक होना और विषय निर्वाचन के लिए उसकी रुचियों को जानना, और (7) पाठ्यक्रम, विद्यालय तथा सामाजिक जीवन में समायोजन के लिए विद्यार्थी की सहायता करना।

शैक्षिक प्रशासन : किसी भी शिक्षा संस्था अथवा शैक्षिक प्रतिष्ठान का कुशलतापूर्वक प्रबंध शैक्षिक प्रशासन कहलाता है। शैक्षिक प्रशासन का महत्त्वपूर्ण कार्य अध्यापन तथा शिक्षा प्राप्ति के कार्य को सुविधापूर्ण बनाना होता है। परंतु अध्यापन तथा अधिगम की सुविधाओं का विश्लेषण करते समय हमारे सामने अनेक प्रकार की संस्थाएं तथा संगठन आते हैं। एक ओर तो हमारे आगे निजी तथा धार्मिक संस्थाएं आती हैं और दूसरी ओर राज्य तथा संपूर्ण राष्ट्र आता है। राज्य और राष्ट्र ने भी औपचारिक शिक्षा प्राप्ति तथा अध्यापन के लिए संस्थाएं खोली हैं।

शैक्षिक प्रशासन के क्षेत्र में ये ही संस्थाएं सामने आती हैं। शैक्षिक प्रशासन समाज, राज्य अथवा राष्ट्र में ही होता है। अर्थात् समाज तथा राज्य की शिक्षा-संस्थाओं के लिए ही शैक्षिक प्रशासन होता है, अतः समाज के सदस्य, राष्ट्र एवं राज्य के अधिकारी, बालकों के माता-पिता तथा अभिभावक, अध्यापक तथा विद्यार्थी—इन सबका इनसे घनिष्ठ तथा निकट संबंध रहता है।

शैक्षिक उद्यम की किसी भी संस्था में विद्यालय तथा अन्य शैक्षिक संस्थाएं होनी चाहिए और इन संस्थाओं का बाह्य तथा आंतरिक नियंत्रण होता है। आंतरिक नियंत्रण का संबंध संस्था के दैनिक कार्य से होता है। विद्यालय के श्रेणी, कक्षा व क्रीड़ांगण तथा कार्यालय का नियंत्रण आंतरिक नियंत्रण होता है तथा इन संस्थाओं पर राज्य तथा इनके अनुरक्षण के उत्तरदायी अन्य संगठनों का जो नियंत्रण होता है, वह बाह्य नियंत्रण कहलाता है। शैक्षिक संस्थाओं में बाह्य तथा आंतरिक दोनों ही नियंत्रण होते हैं। ये दोनों ही प्रकार के नियंत्रण किन्हीं नियत नीतियों तथा कार्यक्रमों के आधार पर होते हैं। अनेक प्रकार की तकनीकों तथा कार्यविधियों का इस्तेमाल किया जाता है, ताकि शैक्षिक संस्थाएं इन नियत तथा प्रतिपादित नीतियों के अनुसार ही कार्य कर सकें। अतः गुड महोदय का कहना है कि सुव्यवस्थित रीतियों के अनुसार, शैक्षिक संस्थाओं में इस्तेमाल की जानेवाली सभी तकनीकों तथा कार्यविधियों को प्रशासन का नाम दिया जाता है।

शैक्षिक प्रशासन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

(1) सुव्यवस्थित नीतियां तथा कार्यक्रम तैयार करना, ताकि अध्यापन एवं शिक्षा प्राप्ति के परिणामस्वरूप बालक का परिपूर्ण विकास हो सके।

(2) उपयुक्त सामग्री का इस्तेमाल करना, ताकि मानवोचित गुणों का प्रभावकारी तथा अभीष्ट विकास हो सके।

(3) संस्था के कार्यक्रमों तथा क्रियाकलापों का गतिशीलतापूर्वक निष्पादन, ताकि उद्देश्य की प्राप्ति सुनिश्चित हो सके।

(4) केवल बालकों को ही नहीं, अपितु प्रौढ़ों के के विकास को भी सुनिश्चित करना।

(5) संस्थाओं के प्रबंध में सम्मिलित सभी कार्मिकों की अभिवृद्धि।

शैक्षिक प्रशासन की संकल्पना में परिवर्तन होते-होते यह अनुभव किया जाने लगा कि शैक्षिक प्रशासन एक विशिष्ट प्रकार की क्रियाविधि है अतः इसके लिए प्रशिक्षित कर्मचारी होने चाहिए। इसे वैज्ञानिक प्रशासन कहा गया तथा ऐसा समझा गया कि प्रशासन व्यक्तिनिष्ठ नहीं होना चाहिए, अपितु वैज्ञानिक तरीकों से प्राप्त वस्तुनिष्ठ आंकड़ों पर आधारित होना चाहिए। बाद में अनेक अनुशीलनों के अनंतर इस वैज्ञानिक प्रशासन की व्यर्थता अनुभव की गयी; क्योंकि मानव तत्त्व की अवहेलना करने पर (यदि मानव संबंधों की खोज न की जाये) केवल तकनीकी ज्ञान से पूर्ण प्रशासन कभी सफल नहीं हो सकता है और इस तथ्य को मान्यता देने से शैक्षिक प्रशासन की संकल्पना में बिल्कुल ही परिवर्तन आ गया है।

शैक्षिक प्रशासन का संबंध मानव से है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा संस्थाएं विद्यार्थियों के लिए होती है। अतः इनके क्रियाकलापों तथा नीतियों से विद्यार्थियों को लाभ होना चाहिए और विद्यार्थियों के लाभ का संबंध अध्यापकों के लाभ से है। यदि अध्यापक संतुष्ट होंगे, तो वे अच्छी तरह अपना कार्य करेंगे। अतः शैक्षिक प्रशासन में मानव-संबंध का ध्यान रखना आवश्यक है।

शैक्षिक प्रशासन के अंतर्गत निम्नलिखित क्रियाकलाप आते हैं :

(1) योजना बनाना, (2) संगठन, (3) कर्मचारियों की नियुक्ति, (4) निर्देशन, (5) समन्वयन, (6) रिपोर्ट तैयार करना, और (7) बजट तैयार करना।

प्रशासन के अंतर्गत किये जानेवाले कार्य निम्नलिखित हैं : (1) स्कूल का बजट तैयार करना तथा विद्यालय के लिए धन-प्राप्ति के स्रोत जुटाना, (2) स्कूल का धन मितव्ययिता से खर्च करना तथा प्रत्येक खर्च का ठीक हिसाब-किताब रखना, (3) विद्यालय निर्माण के लिए जगह का चुनाव करना, (4) स्कूल भवन की योजना बनाना, भवन तैयार करवाना, सारा भुगतान करना, उपयुक्त और पर्याप्त सामग्री तथा उपकरणों से विद्यालय को सुसज्जित करना, (5) विद्यालय के लिए अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों का चुनाव करना, उन्हें वेतन तथा तरक्की देना, (6) अध्यापक वर्ग के लिए नौकरी में रहते हुए शिक्षा प्राप्ति तथा पुनश्चर्या पाठ्यक्रम की व्यवस्था

करना, (7) पाठ्य पुस्तकों का चुनाव तथा उनकी व्यवस्था करना, (8) पाठ्यचर्या की योजना बनाने में सहायता करना, (9) बालकों तथा कर्मचारियों के स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं का प्रबंध करना, (10) पाठ्येतर क्रियाकलापों की व्यवस्था करना, (11) प्रशासन की ओर से सब छात्रों की नियमित उपस्थिति की व्यवस्था करना, (12) अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों की कार्यक्षमता तथा योग्यता का निर्धारण मानक तैयार करना, (13) छात्रों के मार्गदर्शन की व्यवस्था करना, (14) सामाजिक संबंधों को बनाये रखना तथा विद्यार्थियों के माता-पिताओं अथवा अभिभावकों से संपर्क स्थापित करना, (15) स्कूल का रिकार्ड तथा हिसाब-किताब तैयार करना।

संग्रहालय : केवल पुस्तकीय ज्ञान से शिक्षा सार्थक नहीं होता। विद्यालय और पुस्तकों से उपार्जित ज्ञान, चाहे उसकी गरिमा कितनी ही हो, अधूरा ही रहता है। विद्यार्थियों के ज्ञान को समग्रता प्रदान करने और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को परितृप्त करने में संग्रहालयों की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संग्रहालयों का अविच्छिन्न इतिहास पंद्रहवीं शती से मिलता है। इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि इसके पहले कोई भी संग्रहालय वर्तमान नहीं था। यत्र-तत्र एकाध संग्रहालयों का जिक्र मिलता है। उदाहरण के लिए, सिकंदर ने अपने आक्रमणों के दौरान शिक्षा और कला से संबंधित अनेक सामग्री संग्रहित करके अपने शिक्षक अरस्तू को भिजवायी थी। ऐसा माना जाता है कि इस सामग्री को व्यवस्थित करते हुए टोलमी सोटर ने अलक्जेंड्रिया के संग्रहालय की स्थापना की थी।

ज्ञान की दृष्टि से पंद्रहवीं शती एक नये युग का उद्घाटन करती है। अमरीका की खोज तथा प्राचीन यूनान तथा रोम की संस्कृति के अध्ययन से पश्चिम यूरोप के लोगों की बौद्धिक जिज्ञासा जाग्रत हुई और कई राजाओं ने खोजयात्रा, खुदाई, पुस्तक-संग्रहण आदि को प्रोत्साहित किया। सारे यूरोप में यह प्रवृत्ति फैल गयी और फलस्वरूप सिक्का, पुस्तक, पदक, चित्र आदि का संग्रहण और परिरक्षण होता रहा। इन चीजों को कुछ शिक्षा-संस्थाओं को दिया गया, जहां ये वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधान का आधार बन गयीं। सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में 'अकाडेमिया नेचुरे कूरियोसोरम', 'अकाडेमिया डल सिमेंटो', लंदन की 'रॉयल सोसाइटी' आदि संस्थाओं की स्थापना हुई, जिन्होंने उपयुक्त प्रवृत्ति को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों में अनेक संग्रहालय स्थापित हुए, जिनमें 1683 में इंग्लैंड में स्थापित 'अषमोलियन म्यूज़ियम' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके पश्चात् विश्व के सभी देशों में संग्रहालय स्थापित होने लगे। आज सारी दुनिया में करीब 7000 से ज्यादा संग्रहालय हैं। आज-कल शिक्षा के क्षेत्र में संग्रहालयों का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गया है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, पुरातत्त्वविज्ञान, प्राणिविज्ञान, इतिहास आदि अनेक विषयों से संबंधित सामग्री संग्रहालयों में संग्रहित होती है, जो विद्यार्थियों के ज्ञान के क्षितिजों को विकसित करते हुए उनकी बौद्धिक जिज्ञासा को कुछ हद तक तृप्त करती है।

भारत में उन्नीसवीं शती से संग्रहालयों की स्थापना प्रारंभ हुई और कई राजा-महाराजाओं ने इसको प्रोत्साहित किया। बेरोड़ा का संग्रहालय इस संदर्भ में विशेष रूप से स्मर्तव्य है, जिसमें भारतीय मूर्तिकला के ज्वलंत नमूने मिलते हैं। आजकल भारत में करीब 90 संग्रहालय हैं।

संस्मृति : किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति के तुरंत बाद विद्यार्थी की उस विषय में जो दक्षता होती है, उसकी अपेक्षा उस अध्ययन के बाद में किन्हीं अवस्थाओं में उसकी दक्षता कहीं अधिक देखी जाती है और दक्षता का लेखाचित्र ह्रास दिखाने की अपेक्षा उन्नति दिखाता है। इस क्रिया को संस्मृति कहते हैं। इसे अध्ययन के बाद की अभिवर्द्धित पारंगति या दक्षता भी कह सकते हैं। संस्कृति प्रायः दो प्रकार की होती है। किसी अर्थपूर्ण सामग्री को अपूर्ण रूप से याद करने के बाद भी संस्मृति घटित होती है। उदाहरणार्थ कुछ विद्यार्थी एक कविता याद करते हैं, जिसका अर्थ वे भली प्रकार समझते हैं, परंतु उसमें वे पारंगत होते हुए नहीं देखे जाते। दो-तीन दिन के बाद वे उस कविता की बाबत अच्छी जानकारी रखे हुए देखे जाते हैं।

कुछ सामग्री ऐसी होती है, जिसकी संस्मृति का लाभ

अनिश्चित काल तक रहता है। और प्रयोगों से देखा गया है कि कुछ अत्यंत अर्थपूर्ण विचार वर्षों तक वैसे के वैसे ही मस्तिष्क में रहते हैं।

कुछ परिस्थितियों में संस्मृति के बाद विस्मृति का समय भी आ जाता है। जैसे, इतिहास याद करते समय बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, परंतु यह संभव नहीं कि बिना अभ्यास के उसमें पारंगति का स्तर ऊंचा बना रहे। ऐसी अवस्था में संस्मृति के पश्चात् ह्रास-काल आता है।

एक दूसरे प्रकार की संस्मृति बिल्कुल ही भिन्न परिस्थितियों में घटित होती है। उदाहरणार्थ, विद्यार्थियों को अर्थविहीन सामग्री याद करने को दी जाती है। जांचों के बीच विद्यार्थियों को कुछ विश्राम देने के बजाय हम उनसे वह सामग्री समूह-अभ्यास की विपरीत परिस्थिति में याद करवाते हैं। अंतिम जांच की समाप्ति के तुरंत बाद हम उनकी परीक्षा लेते हैं और फिर कुछ देर उनको विश्राम देते हैं। इस उत्तरवर्ती जांच पर हमें विद्यार्थियों की संस्मृति में निश्चित सुधार की प्रवृत्ति दिखलायी देगी। यह संस्मृति अध्यापक के लिए कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रखती है; क्योंकि इसका संबंध कंठस्थ याद करने से है। यह उत्तरवर्ती प्रकार की संस्मृति शिक्षा प्राप्ति के मूलभूत सिद्धांतों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

समय विभाग : समय विभाग को स्कूल की ऐसी घड़ी कहा जाता है, जिसमें दिन के घंटे प्रत्येक कक्षा में होने वाले पाठ, अवकाश का समय, सभा और छुट्टी के क्षण अंकित रहते हैं। इसमें स्कूल के अध्ययन-अध्यापन की पूर्वनिर्धारित योजना होती है और स्कूल का समस्त दैनिक कार्य इसी के अनुसार चलता है। इसके बनाने में निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है :

(1) थकान के तत्त्व को ध्यान में रखना, अर्थात् बालक से कौन समय कितना काम करने को कहा जाता है, (2) पीरियडों के जोड़ को विभिन्न विषयों में उनके महत्त्व के अनुसार बांटना, (3) पूर्व के घंटों को तुलनात्मक रूप से उन विषयों को देना, जो कठिन होते हैं और बालक से अधिक दिमागी श्रम की मांग करते हैं। उदाहरणार्थ, कठिन पाठ के बाद सरल को रखना, जिससे बालक पर अतिरिक्त बोझ न पड़े, (4) पाठ की अवधि : यह बालक की आयु और पाठ की प्रवृत्ति पर निर्भर है, (5) दो अथवा तीन पीरियडों के बाद छोटे-छोटे दस-पांच मिनट के अवकाश (कोई-कोई शिक्षाशास्त्री लंबे मध्यांतर को ही पर्याप्त समझते हैं।), (6) एकरसता से बचने के लिए विषयों की विभिन्नता, (7) मध्यांतर के बाद हल्के विषय हों।

समय विभाग को सख्ती से लागू करने से क्रमबद्धता, नियमितता और तरीके से काम करने की आदत का निर्माण होता है। समय विभाग के निर्माण में यह बात भी विशेष ध्यान रखने योग्य होती है कि इसमें जहां तक संभव हो सके, शिक्षक की सुविधा और सुझावों को भी स्थान दिया जाना चाहिए।

समय विभाग भी कई प्रकार के होते हैं। एक ही समय विभाग को कई रूपों में अंकित किया जाता है, जैसे, (1) कक्षा वार : इसकी एक प्रति कक्षा में लटकी होती है और दूसरी मुख्याध्यापक के पास, (2) शिक्षक का व्यक्तिगत समय विभाग : इसकी भी प्रति मुख्याध्यापक के पास होती है, (3) शिक्षकों के खाली घंटों का समय विभाग : इससे छुट्टी पर रहनेवाले शिक्षक के स्थान पर प्रबंध किया जाता है, (4) विषयानुसार काम विभाग, (5) गृह कार्य समय विभाग, और (6) यदि किसी स्कूल में भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि के अलग कमरे हैं, तो वहां भी उस कमरे में समय विभाग की आवश्यकता होती है, जिससे चालू हो रहे या होनेवाले कार्यक्रम की तत्काल जानकारी प्राप्त हो सके।

सर परसी नन (1870-1944) : प्रसिद्ध अंग्रेज शिक्षाशास्त्री। वे 1913 में लंदन विश्वविद्यालय में शिक्षा के प्रोफेसर के रूप में नियुक्त हुए। 1936 तक वे लंदन शिक्षा संस्था (इंस्टिट्यूट) के अध्यक्ष भी रहे। 'एजूकेशन, इट्स डाटा एंड फर्स्ट प्रिंसिपल' (1920) उनकी प्रसिद्ध रचना है। इसमें उन्होंने अपनी शिक्षा संबंधी थीसिस को स्थापित किया है। उनके विचार में समस्त शिक्षा यत्नों का प्राथमिक उद्देश्य लड़कों और लड़कियों से जन सेवा और समाज सेवा की मांग किये बिना उनकी रुचि और योग्यता के अनुसार काम करते हुए, उनके संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायक होना है। शिक्षा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की एक प्रक्रिया मात्र है। आधुनिक शिक्षण विधियां और विकास नन की इस

मान्यता के अनुकूल हैं। बुद्धिलब्धि को भी नन ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। शिक्षा-जगत् की ऐसी शायद ही कोई समस्या हो, जिस पर नन ने मौलिक रूप से विचार न किया हो।

सर सैयद अहमद खां (1817–1893) : भारतवासी अहमद खां को सर सैयद के नाम से जानते हैं। मुसलमानों में जागृति पैदा करके उनकी पश्चिमी तालीम के प्रति उन्मुख करने का श्रेय उनको ही है। उन्होंने देखा कि भारत में मुसलमान जाति इसलिए पिछड़ी हुई है कि वह पश्चिमी शिक्षा को अवहेलना की दृष्टि से देखती है। उनका कहना था कि शिक्षा हमें उन सभी रोगों से मुक्त करेगी, जिनसे हम ग्रस्त हैं। इसके लिए उन्होंने अलीगढ़ में एक आंदोलन चलाया, जिसका मुख्य लक्ष्य मुसलमानों को यह विश्वास दिलाना था कि पश्चिमी शिक्षा इस्लाम धर्म के विरुद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त वे दोनों संस्कृतियों के उत्तम अंशों के बीच सामंजस्य पैदा करना चाहते थे। अतः इन नये विचारों एवं आदर्शों का मुसलमान-समाज में बीजारोपण करना उनके जीवन का लक्ष्य हो गया। इसके लिए उन्हें कट्टरपंथियों का सामना करते समय अपनी जान पर भी खेलना पड़ा, पर वे टस से मस नहीं हुए और 1875 में उन्होंने अलीगढ़ मोहम्मडन एंग्लो-ओरियेंटल कालेज की नींव डाली। यही आगे चलकर अलीगढ़ विश्वविद्यालय हो गया। इस प्रकार वे उन्नीसवीं शताब्दी के पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने तन-मन-धन से मुसलमानों में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया। अलीगढ़ में प्रत्येक विद्यार्थी को तालीम बड़े अच्छे ढंग से दी जाती है और वहां केवल मुसलमान छात्र ही शिक्षा ग्रहण करने नहीं आते हैं, बल्कि हिंदू छात्र भी पढ़ते हैं।

सहशिक्षा : लड़के और लड़कियों को एक ही कक्षा और एक ही स्कूल में शिक्षा देना सहशिक्षा कहलाता है। इनको एक ही रूपाकार के समान सिक्के मानकर सहशिक्षा की परिभाषा यह की गयी थी कि लड़के और लड़कियां एक समय एक कक्षा में, एक ही संस्था द्वारा एक ही विधि से समान विषय पढ़ें। उन दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्तियां एवं आवश्यकताएं एक दूसरे से भिन्न हैं, पर उनकी मूलभूत समानता सर्वोपरि है। इसलिए उनकी शिक्षा तो साझी होनी चाहिए; कक्षा, खेल तथा सामाजिक कार्यकलापों में उनका मेल होना चाहिए, किंतु उनके विशिष्ट अंतर को ध्यान में रखते हुए उनमें आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन भी किया जाना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से यह परंपरा अति प्राचीन है। 1665 ई० पू० में पतंजलि ने स्त्रियों के वेदपाठ का उल्लेख किया है। पाणिनि ने भी छात्रशाला का संकेत किया है। गार्गी, लोपामुद्रा, अपाला और सरस्वती आदि स्त्रियों ने तो वेद की ऋचाओं की रचना भी की है। किंतु गुह्यसूत्रों की रचना तक आकर यह परंपरा समाप्त हो गयी। मनु ने स्त्रियों के अलग स्कूलों का विधान प्रस्तुत किया। मुसलमानी युग में पर्दे के आ जाने से तथा कट्टरपंथियों के कारण स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता कम समझी गयी थी और उनके लिए अलग स्कूलों की स्थापना पर बल दिया गया। अंग्रेजी शासनकाल में स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा मिला और सहशिक्षा का चलन होने लगा। इसका प्रधान कारण आर्थिक ही था। लड़कियों को लड़कों के स्कूलों में भर्ती करने से अलग स्कूल खोलने का व्यय बच जाता है। आज यह प्रश्न उतना आर्थिक नहीं है, जितना सैद्धांतिक है।

स्काटलैंड में सहशिक्षा की स्थापना प्राथमिक स्कूलों में 17वीं शताब्दी में हुई। इंग्लैंड में इसका आरंभ 19वीं शताब्दी में हुआ। अमरीका के स्कूलों और कालेजों में सहशिक्षा को 1943 में इस आधार पर बंद कर दिया गया कि इससे शिक्षा-कार्य में बाधा पड़ती है। दोनों में मानसिक और शारीरिक विभिन्नता होने से उनकी अनुक्रिया असमान होती है तथा व्यवहार और कामकाज का स्तर भी गिरता है। किंतु इस प्रयोग से न तो काम का स्तर ही बढ़ा और न अनुशासन में ही सुधार हुआ, बल्कि लड़कों में अनभीष्ट अभिरुचि की ही वृद्धि हुई। अतः 1954 में वहां सहशिक्षा फिर से शुरू हो गयी। यूगोस्लाविया में तो प्राइमरी से विश्वविद्यालय तक सहशिक्षा के अतिरिक्त पाठ्यक्रम भी एक ही होता है। फ्रांस, जर्मनी और इटली में भी ऐसे स्कूलों की कमी नहीं है। जापान में सहशिक्षा प्राइमरी कक्षाओं में ही है। हाई स्कूल में 12 वर्ष से ऊपर इसको अलग कर दिया गया है।

सहशिक्षा का इतना विस्तार होने पर भी यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। इसके समर्थकों का कहना है कि (1) बालक तथा बालिका के परस्पर

सहयोग और साहचर्य से स्वस्थ संबंधों की वृद्धि होती है और शिक्षा के स्तर में भी गुणात्मक सुधार होता है, (2) नैतिक स्तर बढ़ता है, (3) यह अध्ययन के लिए उद्दीपन का काम करती है, (4) इससे परस्पर मूल्यांकन में सहायता मिलती है, (5) यह प्रकृति के अनुकूल सुधार है और इसमें खर्च भी कम होता है।

सहशिक्षा के आलोचकों की प्रमुख आपत्तियां ये हैं: (1) शारीरिक बनावट की विभिन्नता और शरीर क्रिया का विकासक्रम भिन्न होने से उनकी मूल आवश्यकताएं भी अलग-अलग हैं, जिनके लिए अलग पाठ्यचर्या होनी चाहिए, (2) इससे नैतिक आचरण में गिरावट आती है, (3) इससे लड़कियों में पुरुषत्व और लड़कों में स्त्रैण भावना आती है, और (4) इससे प्रशिक्षण विधि में बाधा पड़ती है।

कुछ भी हो, इन आक्षेपों का कोई अंत नहीं है। सहशिक्षा का विषय आज भी विवादग्रस्त बना हुआ है। इसके लिए मध्यममार्ग को अपनाना ही समीचीन है। आधुनिक औद्योगिक समाज की यह आवश्यकता है कि लड़के तथा लड़कियों में परस्पर सहयोग और साहचर्य हो और उन्हें समान अवसर प्राप्त हों। इसके लिए यह ठीक है कि प्राथमिक और कालेज स्तर पर सहशिक्षा को स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं है। माध्यमिक स्तर पर इसे अलग करना सुविधाजनक होगा, किंतु भारत में सहशिक्षा पर आर्थिक दृष्टि से विचार करना आवश्यक समझा गया है। इस दृष्टि से अधिकतर विद्वानों का मत सहशिक्षा के पक्ष में ही है। इसके लिए कोठारी आयोग ने सहशिक्षा संस्थाओं में शिक्षक एवं पाठ्यचर्या आदि की अनेक सुविधाएं जुटाये जाने की सिफारिश की है।

सांस्कृतिक विषय : स्कूल में पढ़ाये जानेवाले विषयों को दो भागों में बांटा जा सकता है : (1) वे विषय, जिनका उपयोग दैनिक जीवन में होता है, जैसे, पठन, लेखन, अंकगणित, भूगोल, टंकन, पत्र-व्यवहार आदि, और (2) वे विषय, जिनका सांस्कृतिक मूल्य है, जैसे, इतिहास, साहित्य, कला, दर्शनशास्त्र आदि।

यह बात तो सही है कि सांस्कृतिक विषयों का दैनिक जीवन में कोई विशेष महत्व नहीं है, परंतु यह कहना सही नहीं है कि इन विषयों का शिक्षा में भी कोई महत्त्व नहीं है। शिक्षा के प्रति उदार विचारोंवाले लोग इन विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की सलाह देते हैं, क्योंकि इनके अध्ययन से मानसिक विकास होता है। अत: इनको पाठ्यक्रम में अवश्य रखना चाहिए।

सुकरात : सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात का जन्म एथेंस में एक गरीब परिवार में हुआ। शिक्षा का प्रबंध न होने के कारण उन्हें मूर्तिकार का व्यवसाय अपनाना पड़ा। उसमें उन्हें कोई विशिष्टता भी हासिल न थी, लेकिन उनमें ज्ञान-प्राप्ति की लगन थी। कई बच्चों के पिता बनने पर भी वे अपने व्यवसाय में तथा बच्चों में रुचि नहीं लेते थे। वे विद्वानों से मिलते और अपने को पूर्ण अज्ञानी मानकर प्रश्न करते और उनका निराकरण कराते थे। इसी के आधार पर सुकराती प्रणाली का विकास हुआ।

सुकराती प्रणाली में बालकों को निष्कर्ष न देकर वाद-विवाद और तर्क से निष्कर्ष प्राप्त करवाया जाता था। सुकरात अपने शिष्यों से प्रश्न करते और उस विषय पर वाद-विवाद और तर्क करके उनको निष्कर्ष निकालने की प्रेरणा देते थे। अपनी इस विचारधारा के द्वारा पहले तो वे लोगों के भ्रम को दूर करते, फिर विचारों द्वारा वे निष्कर्ष पर पहुंचते। उनकी इस प्रणाली में भाषण का कोई स्थान न था। पुराने विचारों के लोग उनकी प्रणाली का विरोध करते थे। उन्होंने यह भ्रांति फैला दी कि सुकरात नवयुवकों को गुमराह कर रहा है। इस प्रकार उन्होंने राज्य की ओर से सुकरात को अपराधी घोषित कराया। इसके फलस्वरूप सुकरात को मृत्युदंड दिया गया। मृत्यु के समय उनकी आयु सत्तर वर्ष की थी। उनका शिष्य प्लेटो उस समय अट्ठाईस वर्ष का था। प्लेटो को इस घटना से बहुत दुख हुआ। उन्होंने सोफिस्टों के कारण उत्पन्न नैतिक पतन को रोकने का प्रयास किया।

सुधारात्मक कक्षाएं तथा अध्यापन : जब स्कूल का कोई बालक अथवा छात्र किसी विषय में पिछड़ जाता है, तो उसके लिए सुधारात्मक कक्षा तथा अध्यापन की व्यवस्था की जाती है, ताकि उस छात्र की कमी पूरी हो जाये और वह पाठ्यचर्या के सामान्य स्तर तक पहुंचकर कक्षा के अन्य छात्रों के साथ चल सके। अत: ऐसी कक्षाओं तथा अध्यापन का बहुत महत्त्व है। ये कक्षाएं उन विशेष

कक्षाओं से भिन्न होती हैं, जो उन बालकों के लिए होती हैं, जिनकी ग्रहण-क्षमता मंद होती है और जो पढ़ाई में धीरे चलते हैं, उनके लिए विशेष कक्षाएं तथा अध्यापन निरंतर ही चलता रहता है।

इस प्रकार की कक्षाओं के लिए सुधारात्मक समूह बना लिये जाते हैं। बालकों को उनकी कक्षाओं से निकालकर सुधारात्मक कक्षाओं में सम्मिलित कर लिया जाता है और उन्हें नियमपूर्वक सुधारात्मक शिक्षा दी जाती है। कभी-कभी ये सुधारात्मक कक्षाएं बाल-निर्देशन-रुग्णालय (क्लिनिक) में लगायी जाती हैं। या किसी अन्य स्थान पर। कभी-कभी बालकों को सुधारात्मक कक्षाओं में काफी दिनों तक जाना पड़ता है और फिर वे अपनी सामान्य कक्षा में वापस आकर अन्य बच्चों के साथ पढ़ाई करने लगते हैं। परंतु सुधारात्मक अध्यापनकार्य तथा सामान्य कक्षा अध्यापन में संपर्क स्थापित करने की सुविधा के लिए ये कक्षाएं विद्यालय के अंदर ही लगायी जानी चाहिए। इसी प्रकार सुधारात्मक अध्यापन भी विशेष अध्यापन से भिन्न होता है, जिसे अतिरिक्त शिक्षण कहा जा सकता है। सुधारात्मक अध्यापन के लिए कुछ सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

(1) सुधारात्मक अध्यापन कार्य आरंभ करने मे पहले बालक के पिछड़ेपन या असफलता के कारणों की जांच करनी चाहिए, जैसे, पढ़ने में देखना चाहिए कि बालक की दक्षता में कहां कमी है और गणित में बालक को गणित की आधारभूत संकल्पना अथवा मूलभूत सिद्धांतों का ही ज्ञान है या नहीं। अत: इस प्रकार की जांच करने के पश्चात् छात्र की ग्रहण तथा धारण क्षमता और मानसिक दुर्बलता को ध्यान में रखकर ही उसे पढ़ाना चाहिए। ऐसी अवस्था में बालक की घरेलू परिस्थिति तथा शिक्षा की पृष्ठभूमि का भी अनुशीलन कर लेना चाहिए।

(2) अंतिम उद्देश्य तथा योजनाएं बना लेनी चाहिए और इनमें यथासमय आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी करते रहना चाहिए।

(3) अध्यापक तथा छात्र के बीच अच्छे संबंध होने चाहिए, ताकि अध्यापन का प्रभावशाली परिणाम निकले।

(4) सुधारात्मक अध्यापन के लिए जो कार्य किया जाये, वह ऐसा हो कि बालक के मन से असफलता की भावना दूर हटे और उसे मौलिक सफलता प्राप्त हो। कुछ बालक ऐसे होते हैं कि उन्हें व्यक्तिगत अध्यापन की, उत्साहवर्धन की तथा समालोचनाहीन वातावरण की आवश्यकता होती है। कुछ बालकों के पिछड़ने अथवा असफलता का कारण संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं होती हैं। उन्हें अधिक अनौपचारिक तथा अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए।

अत: सुधारात्मक प्रशिक्षण के लिए यह आवश्यक है कि बालक की व्यक्तिगत कठिनाई का अनुशीलन किया जाये और उसके अनुसार अध्यापन-विधि तैयार की जाये। इसमें कोई कठिनाई भी नहीं होती है। अपने छात्रों को समझनेवाले पर्यवेक्षणशील तथा संवेदनशील अध्यापक अध्यापकीय विषय को अच्छी तरह जानते हैं और वे सुधारात्मक अध्यापन का कार्य कुशलतापूर्वक कर सकते हैं। फिर भी रुग्णालय (क्लिनिक) में सुधारात्मक अध्यापन के लिए प्रशिक्षण ग्रहण करना अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

स्कूल, किंडरगार्टन : किंडरगार्टन खेल का यह विधिशास्त्र है, जिसे फ्राबेल ने विकसित किया। किंडरगार्टन का अर्थ बाग है, ऐसा बाग जिसमें पेड़-पौधों के स्थान पर 3 से 7 साल तक के बच्चे फूलते-फलते हैं। फ्राबेल छोटे-छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए किसी संस्थान को स्कूल का नाम नहीं देना चाहते थे। अत: ऐसे स्कूल को उन्होंने यूरिका किंडरगार्टन (1940) का नाम दिया। फ्राबेल के मतानुसार किंडरगार्टन (बालोद्यान) एक ऐसी शिक्षा संस्था है, जहां बालक की क्रिया-कलाप, खोज तथा निर्माण संबंधी सहज वृत्तियों को सुधारकर उसमें मानव जीवन तथा राष्ट्र के परिवारिक जीवन का विकास किया जा सके, क्योंकि बालक मानवता तथा राष्ट्र के पारिवारिक जीवन का एक सदस्य है। यहां स्वयं-प्रशिक्षण, स्वयं-शिक्षण, मानव जाति का स्वयं-सुधार तथा व्यक्ति का बहुमुखी विकास खेल के माध्यम से कराया जाता है।

इस परिभाषा में फ्राबेल के वे सब शिक्षा-सिद्धांत काम करते दिखायी देते हैं, जिनका चिंतन-मनन उन्होंने एक वनरक्षक (फारेस्टर) का शागिर्द बनकर किया था। इस जीवन-काल में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करके वे इस तथ्य पर पहुंचे कि जड़-चेतन, सभी तत्त्वों में एक

शाश्वत एकता है। रंग और आकार की विभिन्नता में ही वह दैवी एकता दर्शित है और प्राकृतिक वस्तुओं का सतत विकास ही उस दैवी एकता तक पहुंचने के लिए होता है। अतः वस्तुओं की यह आंतरिक प्रवृत्ति ही वह स्फुलिंग है, जो दैवी प्रकृति के साथ अपना योग ढूंढ़ती है। यह उसकी स्व-क्रिया है। शिक्षा का लक्ष्य उस आंतरिक प्रकृति की स्व-क्रिया के लिए अवसर प्रदान करना है, जिससे बालक की आत्माभिव्यक्ति हो सके। यह आत्माभिव्यक्ति एक बालक के स्वतः स्फूर्त क्रिया-कलापों से भिन्न नहीं है। यह स्वतः स्फूर्त क्रिया अत्यधिक शैक्षिक भी होती है। शैक्षिक होने के लिए इसे हितकारी और सृजनात्मक धाराओं की ओर मोड़ना चाहिए। इसे निग्रहहीन धाराओं में बहने देकर बालक के मन, शरीर और आत्मा को, बीज के अति उत्तम अंग के समान ही सामंजस्यपूर्ण रीति से संपूर्ण रूप में विकसित होने दिया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए बच्चों की व्यस्तता खेल से भिन्न और कुछ नहीं है। इन खेलों के मूल में यह सिद्धांत कार्य करता है कि वे बालकों के विस्मय और अभिरुचि को जगानेवाले हों और उनका अनुकरण करने की इच्छा रखता हुआ वह, याद भी कर सके। इसके लिए हाव-भाव, गायन और भाषा मुख्य साधन हैं।

किंडरगार्टन की सभी क्रियाओं में इन साधनों का प्रयोग होता है : **(1) तोहफा (उपहार)** : इसमें क्रिस्टल, ट्यूब और सिलेंडर आदे हैं। इनको प्रस्तुत करते समय गायन होता है और बच्चा सुगमता से बड़ा-छोटा, सच-झूठ कड़ा-मुलायम आदि गुणों की बाबत जान लेता है। **(2) गत्यात्मक खेल** : इनमें घेरे और रेखाओं के सामूहिक खेल आते हैं। खेल में निहित कहानी, उसकी लय और लक्ष्य निश्चित होते हैं। **(3) क्रियात्मक गीत** : ये समूह या कोरस में गाये जाते हैं और ये भी तोहफे या कहानी से संबंधित होते हैं। **(4) कार्यकलाप** : ये कार्य दूसरे वर्ष से आरंभ होते हैं। इनमें चटाई बुनना, कागज मोड़ना या मिट्टी के माडल बनाना आदि आते हैं। इनसे भी रंग और आकार का ज्ञान, सामान्य ज्ञान, शारीरिक कार्यकुशलता तथा सुंदरता और स्वच्छता की भावना का विकास होता है। **(5) क्रियात्मक कथाएं** : यह प्रशिक्षण का शक्तिशाली माध्यम है। कहानी सुनकर बालक बोलना ही नहीं सीखता, अपितु तत्संबंधी कार्य से भी अपने को संलग्न कर लेता है और उसके अंतर्निहित मूल्य का भी उसे बोध होता है। इस प्रकार किंडरगार्टन में बच्चों के खेल संबंधी कार्य को नियंत्रित धारा में ढालकर, उनके महत्त्व को अत्यंत बढ़ाकर शिक्षा के कार्य को बहुत सुगम बना दिया गया है।

किंडर गार्टन प्रणाली के अपने कुछ दोष भी हैं :

(1) इस विधि के लिए फ्राबेल ने जिन सिद्धांतों का सहारा लिया है, उनमें अनेक विसंगतियां हैं। आज यह समझा जाता है कि विकास, विकल्प के आधार पर नहीं, वरन् संरचना के शनैः-शनैः विभेदन और सुपरिवर्तन से होता है।

(2) वृद्धि और विकास अभ्यंतर के बहिरंग होने से नहीं, दोनों के परस्पर संसर्ग से होता है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।

(3) फ्राबेल के खेल और गाने भी आज पुराने पड़ गये हैं।

(4) किंडरगार्टन स्कूल के बच्चे असावधान और बेचैन रहते हैं।

(5) शिक्षक का कार्य मशीनी ढंग से होता है। तीन घंटे का समय भी बहुत है। इसके बीच में स्वतंत्र खेलकूद भी आवश्यक है।

(6) तोहफा के प्रस्तुतीकरण में भी दोष है। मनोवैज्ञानिक क्रम से यह ठीक प्रतीत नहीं होता है।

(7) इसमें विषयों का परस्पर कोई संबंध नहीं होता। एक प्रोजेक्ट के रूप में इसमें यह संबंध आवश्यक है।

स्कूल, नर्सरी : नर्सरी एक ऐसी भूमि या स्थान को कहते हैं, जहां शिशु पौधों को उगाया, सींचा और देखा-भाला जाता है, जिससे वे कल के स्वस्थ वृक्ष के रूप में बढ़ सकें। जो पौधों के लिए सच है, वही छोटे बच्चों के लिए भी सच है। नर्सरी में पौधों की देखभाल होती है, तो नर्सरी स्कूल में छोटे-छोटे बच्चों की। वैसे तो नर्सरी शिक्षा गर्भाधान के समय से ही आरंभ हो जाती है, जिसे 'भ्रूण शिक्षा' कहते हैं। भ्रूण शिक्षा वास्तव में गर्भिणी की ही शिक्षा होती है। नर्सरी शिक्षा की दूसरी अवस्था शिशु के जन्म से लेकर दो वर्ष तक की समझी जानी चाहिए, जब बालक माता-पिता की गोद से बाहर आता है। दो वर्ष से पांच-छह वर्ष तक नर्सरी स्कूल की आवश्यकता पड़ती है।

अतः नर्सरी स्कूल पांच वर्ष से पूर्व की शिक्षा के लिए ही होते हैं।

इन स्कूलों के लक्ष्य पर प्रकाश डालते हुए केमिनियस ने बालक के भोजन, निद्रा, ताजी हवा और व्यायाम को ही विशेष महत्त्व दिया है। फ्राबेल ने तो नर्सरी स्कूल को 'बालकोद्यान' ही कहा है और स्वकार्य तथा व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को ही महत्त्व दिया है। मारिया मोंटेसरी ने बालक के इंद्रिय-बोध और विचार की स्वतंत्रता पर बल दिया है, किंतु आस्टिन ए डिसूजा के मतानुसार नर्सरी स्कूल बालक का ऐसा संसार है, जहां वह जो देखता है, उसका स्वामी होता है और अपनी सृजनशील शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त परिवेश प्राप्त करता है।

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नर्सरी स्कूल में ऐसी स्नेहशील शिक्षिकाओं की आवश्यकता होती है, जो मां के समान हों। इसके अतिरिक्त उन्हें बालमनोविज्ञान का ज्ञान हो तथा बालक की वृद्धि एवं विकास और उसकी संवेगात्मक आवश्यकताओं की भी पूर्ण जानकारी हो। साथ-साथ नर्सरी स्कूल के लिए हवादार इमारत, बाग, खेल-खिलौने, खेल की सामग्री, संतुलित भोजन और रोचक ढंग का निर्धारित दैनिक कार्यक्रम भी हो। इस प्रकार नर्सरी स्कूल छोटे बालकों की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करनेवाला होना चाहिए।

नर्सरी स्कूल की पाठ्यचर्या को निर्धारित करने में मारिया मौंटेसरी का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, किंतु श्रीमती शांता नरूलकर ने इसे पांच विभिन्न क्षेत्रों में निश्चित किया है : (1) स्वास्थ्य और सफाई, (2) भोजन, (3) पानी, (4) फूलों और जानवरों की देखभाल, और (5) चित्र-रचना (ड्राइंग) और वस्तु-निर्माण। कुछ मिलाकर खेल और स्नेह इस अवस्था के बालकों की मूल आवश्यकता है। उसी की पूर्ति ये स्कूल करते हैं। पढ़ाई-लिखाई और गणित की शिक्षा देना इन स्कूलों का लक्ष्य नहीं होता है।

भारत में इन स्कूलों की स्थापना की ओर सबसे पहले ईसाई मिशनरियों का ध्यान गया। सरकार की ओर से इस विषय पर सबसे पहले सारजेंट रिपोर्ट (1944) में ध्यान दिया गया। कोठारी आयोग ने भी नर्सरी स्कूलों की स्थापना पर बहुत जोर दिया है, किंतु अब भी सारे देश में लगभग 3,000 ही नर्सरी स्कूल हैं, जिनमें केवल दो लाख शिशु ही शिक्षा पाते हैं। इसके अतिरिक्त नर्सरी शिक्षा को धनी वर्ग ही अधिक प्राप्त कर पाता है; क्योंकि इस पर व्यय बहुत आता है, जबकि इस शिक्षा की आवश्यकता श्रमिक वर्ग को सबसे अधिक होती है। इस वर्ग में माता-पिता दोनों काम पर जाते हैं और उनके घर भी इतने अच्छे नहीं होते हैं कि बालक घर पर ही शिक्षा पा सके।

स्कूल, पब्लिक : इन स्कूलों में शिक्षाशास्त्रियों को अपने स्वप्न पूरे होते दिखायी देते हैं। नवीनतम शिक्षा साधनों एवं उपकरणों से सुसज्जित इन स्कूलों में शिक्षा सिद्धांतों तथा विधियों का उपयोग करने की पूरी सुविधा होने के कारण बालक के शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास की समुचित व्यवस्था होती है। यहां योग्यतम शिक्षकों को विद्यार्थी की व्यक्तिगत जानकारी रहती है और उसके विकास पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाता है। स्कूल के अधिकारी पूर्णतया स्वायत्त एवं स्वतंत्र होते हैं। इमारत, शिक्षा उपकरण, खेल के मैदान, पुस्तकालय, प्रयोगशाला आदि किसी चीज का भी अभाव नहीं होता है। फिर भी इन स्कूलों का जैसा नाम है, वैसा स्वरूप नहीं है। ये केवल धनिक वर्गों के लिए ही होते हैं। इनका व्यय इतना होता है कि निर्धन छात्र तो इनमें प्रवेश पा ही नहीं सकता। यहां प्रश्न योग्यता का नहीं, खर्च उठाने की क्षमता का होता है।

इन स्कूलों का इतिहास विभिन्न समयों में स्थापित इंग्लैंड के किनचेस्टर पब्लिक स्कूल (1387), ईटन (1441), ब्रूसवरी (1552), वेस्ट मिनिस्टर (1560), रगबी (1567) और हैरो (1571) से आरंभ होता है और भारत में इन्हीं स्कूलों का अनुकरण हुआ। जब अंग्रेज शासक भारत में दीर्घकाल तक रहने लगे, तो उनके बच्चों की शिक्षा का प्रश्न उत्पन्न हुआ। उनके लिए सबसे पहले 1849 में शिमला में और 1859 में लवडेल (नीलगिरी) में दो पब्लिक स्कूल स्थापित हुए। इन्हीं की देखादेखी भारत के रजवाड़ों ने भी अपने बच्चों के लिए मसूरी में एक स्कूल खोला। फिर धीरे-धीरे राजकुमार कालेज (राजकोट), मेयो कालेज (अजमेर), एचीसन कालेज (लाहौर) आदि खोले गये। ऐसे ही अन्य विद्यालय लाहौर, ग्वालियर, पूना और

बेलगाम में खुले। 1930 के आसपास देश में उत्पन्न राजनैतिक परिस्थितियों के कारण ग्वालियर का सिंधिया स्कूल जनसाधारण के लिए भी खोल दिया गया। ऐसे ही अन्य विद्यालय भी पब्लिक स्कूलों में बदल गये। देहरादून, पिलानी, नैनीताल, पटियाला, दिल्ली और रांची में भी पब्लिक स्कूल खुले।

मुदलियार की माध्यमिक शिक्षा संबंधी सिफारिशों पर इन स्कूलों को सरकारी सहायता बंद कर दी गयी; क्योंकि इनसे वर्ग-भेद की वृद्धि होती थी। दूसरे, इनमें से लारेंस स्कूल और किंगजार्ज मिलिटरी कालेजों को शिक्षा मंत्रालय ने अपने हाथ में ले लिया। केंद्रीय कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा-सुविधा के लिए सारे देश में लगभग 54 केंद्रीय स्कूल खुले। आज पब्लिक स्कूलों की पहले से अधिक भर्त्सना की जाने लगी है। कहा जाता है कि ये स्कूल अभारतीय ही नहीं, भारत-विरोधी भी हैं। इनके पाठ्यक्रम, विधि पाठ्यचर्या, उद्देश्य और स्तर सभी कुछ विदेशी होते हैं। प्रजातंत्र के युग में ये स्कूल वर्ग-भेद को बढ़ावा देते हैं। ये देशप्रेम, मातृभाषा और भारतीय संस्कृति से प्रेम करना नहीं सिखाते हैं। इसी आधार पर कोठारी आयोग ने भी अपने निष्कर्ष में इन स्कूलों को वर्ग-भेद की खाई को अधिक बढ़ानेवाला बताया है। सब बालकों को अच्छी शिक्षा देने के स्थान पर यह शिक्षा धन के आधार पर चलती है। इसलिए देश के कुछ ही अल्पसंख्यक इससे लाभ उठा सकते हैं। दूसरी ओर, पब्लिक स्कूलों के समर्थकों का कहना है कि यदि कोई महंगे दाम पर अच्छी शिक्षा खरीद सकता है, तो इसमें क्या हर्ज है ?

दोनों विचारधाराओं को सामने रखते हुए माध्यमिक शिक्षा आयोग ने इन स्कूलों को बनाये रखने की कुछ शर्तें निश्चित की हैं: (1) इन स्कूलों की जड़ भारत की धरती में हो और उनमें दी जानेवाली शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा मानक से मेल खाये, इनमें खेलकूद पर भी ध्यान दिया जाये, (3) सिद्धांत रूप में खर्चीले होने से ये धनिक वर्ग के लिए ही हैं अतः राज्य अनुदान पर उनका अधिकार नहीं है। राज्य सरकार या केंद्रीय सरकार इन स्कूलों में पढ़ने के लिए कोई छात्रवृत्तियां भी प्रदान न करें। किंतु कोठारी आयोग का इस संबंध में अंतिम निर्णय यही है कि देश की शिक्षा-प्रणाली इस दोष से जितनी जल्दी मुक्त हो जाये, उतना ही अच्छा है।

स्कूल, बहूद्देश्यीय : भारत में बहूद्देश्यीय स्कूलों की स्थापना अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा आयोग (1953) की सिफारिशों के आधार पर हुई। ये स्कूल एक प्रकार से उत्तर बुनियादी के ही समकक्ष हैं। 1945 में सेवाग्राम की एक कान्फ्रेंस में यह निर्णय किया गया था कि उत्तर बुनियादी शिक्षा भी उत्पादक क्रिया के माध्यम से ही हो। इसमें चौदह अन्य विषय जोड़े गये, जो कृषि, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, यांत्रिकी, वाणिज्य, शिल्प, विद्युत प्रशिक्षण पत्रकारिता, मुद्रण, ललित कला, घरेलू अर्थ-व्यवस्था, धातु विज्ञान और उद्योग हैं। यह तीन साला पाठ्यक्रम सीनियर बेसिक के बाद जोड़ा गया, किंतु इन्हें तकनीकी स्कूलों से अलग रखा गया; क्योंकि इनमें व्यावसायिक विषयों के अतिरिक्त साहित्य, भाषा, सामाजिक ज्ञान आदि भी सम्मिलित किये गये। चंपारन और सेवाग्राम में ऐसे स्कूल शुरू भी हुए, किंतु बहूद्देश्यीय स्कूल योजना में यह समझा गया कि देश में मिडिल स्कूलों की संख्या सीनियर बेसिक से अधिक होने पर उन्हें बेसिक में परिवर्तित करने से कहीं अच्छा यह होगा कि बहूद्देश्यीय शिक्षा को राज्यों के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के द्वारा सीधा ही लागू किया जाये और उत्तर बेसिक स्कूलों की शिक्षा को इसके समकक्ष समझा जाये और वे भी धीरे-धीरे इन्हीं के स्तर पर आ जायें।

इन स्कूलों के लिए निम्नलिखित पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया: (1) अनिवार्य विषयों में भाषा, सामाजिक ज्ञान, सामान्य विज्ञान, तकनीकी विषय, कृषि विषय, वाणिज्य, ललित कला और गृहविज्ञान। ऐसे स्कूलों की संख्या देश में केवल 1,145 है, जबकि माध्यमिक स्कूल 14,000 के लगभग हैं। इस स्कूल योजना का आगे चलकर अधिक विकास हुआ है। इसका कारण यह भी रहा कि इन स्कूलों की योजना में उत्तर बेसिक स्कूलों का समावर्तन ही किया गया।

स्कूल, रगबी : इंग्लैंड के बारविक शायर नगर के रगबी नामक स्थान के नाम पर रगबी स्कूल की स्थापना 1567 में वहां के लारेंस शेरिफ की वसीयत के अनुसार हुई थी। यह इंग्लैंड के प्रसिद्ध पब्लिक स्कूलों में से एक है। इसकी विशेष ख्याति का श्रेय इसके प्रसिद्ध हेडमास्टर थामस आरनाल्ड (1828-42) को जाता है (दे० आरनाल्ड,

थामस)। रगबी फुटबाल की उत्पत्ति भी इसी स्कूल से हुई है, जिसके अनुसार फुटबाल को हाथ से भी छुआ और ले जाया जा सकता है। उस स्कूल के प्रसिद्ध खिलाड़ी विलियम बैइलिस ने 1823 में फुटबाल को हाथ से न छूने का नियम तोड़ा था, तब से इस दोष को मान्यता देकर नया नियम बन गया और रगबी फुटबाल का नया खेल ही आविष्कृत हो गया। इस स्कूल की अनेक विशिष्ट बातें 'टाम ब्राउन्स स्कूल डेज' में थामस ह्यूज ने बड़ी खूबी से अंकित की हैं।

स्कूल, वर्गर : गिल्ड स्कूलों की स्थापना व्यावसायिक विकास के साथ-साथ हुई थी। व्यावसायिक विकास के परिणामस्वरूप जनजीवन का विस्तार हुआ और नये-नये नगरों का निर्माण हुआ। तब ऐसे अनेक अवसर उपस्थित हुए, जिनसे लाभान्वित होने की योग्यता गिल्ड स्कूलों की शिक्षा से प्राप्त नहीं हो सकती थी। अतः उस समय ऐसे स्कूल खोले गये, जहां बहीखाता, पत्रलेखन कार्य और मुनीमी जैसे विषयों को पढ़ाने की व्यवस्था की गयी थी। इन स्कूलों को वर्गर स्कूल कहा जाने लगा। इसके बाद अनुवर्ती काल में इन दोनों प्रकार के स्कूलों में सहयोग बढ़ा और फिर गिल्ड तथा वर्गर स्कूल ऐसे घुल-मिल गये कि इनको अलग रखना कठिन हो गया। चूंकि अधिकतर वर्गर स्कूलों में लैटिन भाषा की प्रधानता थी, अतः ये लैटिन वर्गर स्कूल भी कहलाते थे।

स्कूल, संस्कृत : संस्कृत स्कूल भारत की शिक्षा-पद्धति के ह्रासोन्मुख स्कूलों में थे। इन स्कूलों की खोज स्काटलैंड के एक मिशनरी विलियम आदम ने की थी। उसने लार्ड विलियम बैंटिक से स्वीकृति लेकर 1835 से 1838 तक के तीन वर्षों में बंगाल के अनेक जिलों की छानबीन करने के पश्चात तीन रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। उसकी तीसरी रिपोर्ट के अनुसार बंगाल में संस्कृत स्कूलों की संख्या इस प्रकार थी : मुर्शिदाबाद में 24, वीरभूम में 56, बर्दवान में 190, दक्षिण बिहार में 27 और तिरहुत में 56। ये स्कूल देहातों में स्थित थे। जितने स्कूल थे, उतने ही आचार्य भी होते थे, किंतु विद्यार्थियों की संख्या अधिक नहीं थी। बर्दवान के 190 स्कूलों में केवल 1358 छात्र थे। उनमें दूसरे गांवों के छात्र भी शामिल थे। आचार्यों के वेतन की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। गांवों से मिलनेवाला उपहार ही उनका वेतन था। उनकी अपनी खेती होती थी और उनमें से कुछ चिकित्सक भी होते थे। स्कूल की इमारत आचार्य की होती थी या गांव में संपन्न व्यक्तियों की सहायता से निर्मित होती थी। इमारत न होने पर आचार्य का बैठकखाना ही पाठशाला का स्थान ग्रहण कर लेता था। इन स्कूलों के सभी आचार्य अपने-अपने विषय के पंडित होते थे। पाठ्य विषयों में व्याकरण, शब्दकोश विज्ञान, साहित्य, अलंकारशास्त्र, न्याय, वेदांत, चिकित्साशास्त्र, पुराण, ज्योतिष, तंत्र आदि थे। किंतु धीरे-धीरे इन स्कूलों का ह्रास होता चला गया। इसका एक कारण यह था कि आचार्यों का वेतन कम था और उन्होंने दूसरा काम संभाल लिया था। दूसरे, अभिभावक भी अपने बच्चों की शिक्षा के व्यय को वहन करने में असमर्थ हो गये थे।

स्कूल, स्पेशल (विशेष) : जो बालक मानसिक, शारीरिक, भावात्मक और सामाजिक दृष्टि से अपने सजातीय वर्गों और तथाकथित सामान्य छात्रों से निम्न स्तर के होते हैं, उनके लिए स्पेशल स्कूलों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे बालकों में अंधे, अल्प दृष्टिवाले, बहरे, मानसिक दृष्टि से अपसामान्य, मंदबुद्धि, तीव्रबुद्धि, दिव्यबुद्धि तथा दोषपूर्ण वाक्शक्ति, दुर्व्यवहार और शारीरिक दुर्बलतावाले बालक आते हैं। सामान्य स्कूलों की पाठ्यचर्या तथा क्षैक्षिक आवश्यकताओं से भिन्न प्रकार की पाठ्यचर्या इनके लिए वांछनीय होती है या उसमें कुछ फेर-बदल करना पड़ता है, ताकि उन्हें भी उनकी सीमा के भीतर अधिकतम शिक्षित किया जा सके। अंधे, बहरे, दुर्व्यवहारशील, अपंग और मंदबुद्धि बालकों के लिए, जो सदा दूसरों पर निर्भर रहते हैं, अलग सनिवास स्कूल अनिवार्य होते हैं। कम सुननेवाले, दोषपूर्ण वाक्शक्तिवाले, मिर्गी के रोगी तथा दुर्बल एवं मंदगति से याद करनेवाले बालकों के लिए सामान्य स्कूलों में ही विशेष कक्षाएं लगायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग होता है, जिस पर कक्षा में ही व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाता है। इसमें तीव्रबुद्धि, शारीरिक रूप से बाधित अथवा धीमे अधिगमवाले विद्यार्थी आते हैं। ऐसा न करने पर अध्यापन का जो सामान्य प्रभाव पूरी कक्षा पर अपेक्षित है वह संभव नहीं होगा।

स्टेडियम (क्रीडांगण) : 'स्टेडियम' शब्द की व्युत्पति यूनानी भाषा के 'स्टेड' शब्द से हुई है। 'स्टेड' लंबाई बतानेवाला शब्द है, जो 600 ओलिंपिक (यूनानी) फुट तथा 606 आधुनिक (अंग्रेजी) फुट के बराबर होता है। ओलिंपिया में प्रारंभ में जो दौड़ें होती थीं, वे 'स्टेड' अर्थात् 600 यूनानी या ओलिंपिक फुट की लंबाई की होती थीं। अब इस शब्द का अर्थ बदल गया है। अब 'स्टेडियम' का अर्थ है वह विशाल संरचना, जहां खेल-आदि क्रीड़ाएं होती हैं तथा जहां दर्शकों के बैठने की भी व्यवस्था होती है।

स्टेडियम का आकार प्रायः अंग्रेजी के U (यू) वर्ण जैसा होता है और यह 'वक्र' आरंभ स्थल के बिल्कुल सामने होता है। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं, जहां यह वक्र ढलवां होता है और वहीं बैठने की जगहें होती हैं। रोम के निवासी इस प्रकार की अनेक संरचनाएं बनाते थे, जिन्हें सर्कस तथा अखाड़ा कहते थे और रोम का 'कोलोसियम' अत्यंत प्रसिद्ध दर्शक-स्थल था। मध्यकाल में भी अस्थायी ढंग के दर्शक-स्थल बना लिये जाते थे, जैसा कि पेरिस में 'प्लेस डेस बोसोस' था।

नियमित शारीरिक व्यायाम का पुनरुद्धार उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इससे व्यवस्थित 'एथलेटिक' व्यायाम का प्रचलन हुआ। यह शारीरिक व्यायाम अब उतना ही लोकप्रिय हो गया है, जितना प्राचीन यूनान में था। एथलेटिक खेलों में अभिरुचि की वृद्धि के साथ-साथ ही ऐसी इमारतों का बनाना भी आरंभ हुआ, जहां सहस्रों दर्शकों के बैठने की व्यवस्था हो सकती थी।

आधुनिक स्टेडियम सर्वप्रथम एथेंस में एक पुराने स्टेडियम का पुनर्निर्माण करके 1896 में बनाया गया। इसमें 66,000 दर्शकों के बैठने की जगह थी तथा आधुनिक ओलिंपिक क्रीड़ामाला का प्रथम खेल यहीं हुआ था। इसके साथ-साथ यह भी कहा जायेगा कि सन् 1900 से पहले भी कुछ ऐसे अखाड़ेनुमा स्थान थे, जहां सांडों की लड़ाई की व्यवस्था की जाती थी। अमरीका में ही 1930 तक 100 से अधिक बड़े-बड़े स्टेडियम बनाकर दर्शकों तथा खेलों के लिए तैयार कर लिये गये थे।

1920 से 1930 के दशक की अवधि के दौरान 18 विशाल स्टेडियम तैयार कर लिये गये, जिनसे प्रत्येक में 50,000 से अधिक दर्शकों के बैठने की व्यवस्था थी। इनमें से बहुत-से तो केवल फुटबाल के लिए कालेजों की एथलेटिक टीमों के मैच के लिए बनाये गये थे। दुनिया के चार विशालतम स्टेडियम अमरीका में बनाये गये। 1923 में बने लोस एंजिलिस के स्टेडियम को 1932 में बढ़ाकर इतना बड़ा कर लिया गया कि इसमें अब 1,05,000 से 1,25,000 तक दर्शक बैठ सकते हैं। फिलेडिल्फिया के नगरपालिका स्टेडियम में 1,02,000 व्यक्तियों के बैठने की गुंजाइश रखी गयी। इसे 1926 में तैयार किया गया। 1926 में खोले गये शिकागो के सोलजर फील्ड में 1,00,000 से अधिक दर्शकों के बैठने की व्यवस्था रखी गयी है। ऐन आर्बर के मिचिगन विश्वविद्यालय के स्टेडियम में 70,000 दर्शकों के बैठने की गुंजाइश है। यह 1927 में बनाया गया था। बाद में इस स्थान को बढ़ाकर 87,000 व्यक्तियों के बैठने की क्षमता प्रदान की गयी। 1949 में यह क्षमता 97,000 तक तथा 1956 में 1,01,000 तक पहुंचा दी गयी।

संसार में, इस समय सबसे बड़ा तथा प्रसिद्धतम खेल का मैदान रियोडिजेनीरो, ब्राज में नगरपालिका स्टेडियम है। इसमें 1,55,000 दर्शक बैठ सकते हैं। इसकी परिधि आधे मील की है, जिसके चारों ओर 9 फुट चौड़ी और 9 फुट गहरी खाई है। 1950 के वर्ल्ड कप सासर के मैचों को देखने के लिए यहां सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार 1,99,854 दर्शक एकत्र हुए थे। बीसवीं शताब्दी में भी स्टेडियमों के निर्माण-कार्य में भारी विकास हुआ, जो आधुनिक तकनीकी आधार पर बनाये गये हैं और जिन्हें सारे वर्ष के दौरान रात-दिन खेलों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इनमें सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण स्टेडियम 1890 में न्यूयार्क नगर में बनाया गया, जिसे ओल्डमेडिसन स्कवेयर गार्डन कहते हैं।

शिकागो स्टेडियम संसार में सबसे बड़ा 'इनडोर' स्टेडियम है। इसे बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बनाया गया था। इस प्रकार के स्टेडियम प्रायः सभी प्रांगण (कोर्ट) क्रीड़ाओं के लिए, यहां तक कि बर्फ पर खेले जानेवाले खेलों के लिए भी इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इनमें सार्वजनिक सभाएं, गोष्ठियां तथा संगीत-सभाएं भी जमायी जा सकती हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अनुवर्ती वर्षों में बास्केटबाल के खेलों के लिए अपेक्षित बड़े-बड़े इनडोर स्टेडियमों

का निर्माण हुआ तथा समस्त अमरीकी राज्यों में बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों की परिसीमा में 'क्षेत्र गृहों' का निर्माण कर दिया गया, जहां 15,000 से अधिक दर्शक बैठ सकते हैं।

ओलिंपिक खेल जिन-जिन देशों में खेले जाते रहे हैं; वहां-वहां प्रतियोगिताओं के लिए अपेक्षित विशाल तथा स्थायी स्टेडियम बनाये जाते रहे हैं और अधिकतर स्टेडियम ओलिंपिक खेलों के दर्शकों के लिए ही बनाये गये हैं। 1960 में रोम में ओलिंपिक क्रीड़ाओं का अतिथि सत्कार्य था। वहां ओलिंपिक स्टेडियमों का पुनर्निर्माण किया गया, जिनमें 1,00,000 दर्शकों को बिठाने की व्यवस्था की गयी। ओलिंपिक प्रतियोगिताओं के पूर्ण प्रसार के लिए अपेक्षित प्रथम आधुनिक प्रकार का स्टेडियम 1908 में लंदन में बनाया गया। अन्य ओलिंपिक स्टेडियम 1912 में स्टाकहोम में, 1927 में पेरिस के निकट कोलंबेस में, 1925 में एम्स्टर्डम में तथा 1936 में बर्लिन में बनाये गये। हेलसिंकी स्टेडियम को 1940 में बारहवीं ओलिंपिक क्रीड़ा प्रतिद्वंद्विता के लिए बनाया गया था, परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण यह प्रतिद्वंद्विता उस समय स्थगित होकर 1950 में हुई।

इन स्टेडियमों में से कुछ की आकृति U के आकर की और कुछ की ऐसी होती है कि क्रीड़ा मैदान भूमि-तल से नीचा होता है और दर्शकगण भी खोदी हुई जमीन के भीतर ही रहते हैं। इस प्रकार समस्त स्टेडियम भूमितल से नीचे ही झील जैसी जगह में बना रहता है। येल बाडक न्यूटेवेन का स्टेडियम, जो फुटबाल के लिए 1914 में गया था, बंद U के आकार का है। कैम्ब्रिज का हार्वर्ड स्टेडियम भी, जिसे 1912 में बनाया गया, U आकार का है, परंतु यह एक ओर खुला हुआ है और इसमें फुटबाल का खेल तथा पथ-खेल (ट्रेक इंवेट्स) आसानी से खेले जा सकते हैं। कुछ ऐसे भी स्टेडियम हैं, जहां बेसबाल भी खेली जाती है। 1922 में ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी, कोलंबस में अश्व खुराकार स्टेडियम का प्रयोग किया गया। विशेष प्रयोजनों के लिए अन्य प्रकार के स्टेडियम भी बनाये गये हैं।

स्टेडियमों के निर्माण में अब तक प्रायः बुनर्बुलिन कंकरी का उपयोग किया जाता रहा है, लेकिन अब निर्माण-सामग्री तथा तकनीक संबंधी निरंतर अनुसंधान एवं खोज के कारण स्टेडियम के विकास में नवीन संभावनाएं हमारे सम्मुख हैं। विशेष रूप से इस प्रकार के स्टेडियम बनाने की दिशा में प्रयत्न किया जा रहा है, जो तमाम ऋतुओं में इस्तेमाल किये जा सकें और जिनके लिए खंभों आदि के किसी सहारे की आवश्यकता न हो; क्योंकि खंभे खेलों के खेलने तथा देखने में रुकावट पैदा करते हैं।

स्पेंसर, हरबर्ट (1820-1903) : हरबर्ट स्पेंसर का जन्म सन् 1820 में इंग्लैंड में डरबी नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता विज्ञान के प्रकांड पंडित थे तथा अध्यापन कार्य करते थे। प्रारंभ में हरबर्ट ने औपचारिक शिक्षा भी प्राप्त की, लेकिन उन्होंने स्वाध्याय से बहुत ज्ञान प्राप्त किया। वे दार्शनिकों की भांति चिंतन में मग्न रहते थे।

शिक्षा के उद्देश्य के संबंध में स्पेंसर ने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को संपूर्ण जीवन के लिए तैयार करना है। विषयों का चयन उद्देश्यपूर्ति की दृष्टि से ही करना चाहिए। वे ऐसी शिक्षा चाहते थे, जिससे जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये। स्पेंसर द्वारा प्रयुक्त 'जीवन' शब्द में व्यक्ति का संपूर्ण विकास निहित है। वे शिक्षा के द्वारा मानसिक, शारीरिक, तथा नैतिक विकास करना चाहते थे। उनके अनुसार मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक विकास के बिना व्यक्ति को पूर्ण जीवन के लिए तैयार नहीं किया जा सकता है। इसके लिए वे विज्ञान के ज्ञान का भी समर्थन करते थे; क्योंकि विज्ञान के अध्ययन द्वारा ही मनुष्य को जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न बातों एवं व्यवसायों का ज्ञान प्राप्त होता है।

स्वामी विवेकानंद (1863–1902) : उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय संस्कृति की ह्रासोन्मुख प्रकृति को रोकनेवाले सेनानी स्वामी विवेकानंद ही थे। उस समय भारतीय अपने अतीत के गौरव को भूलते जा रहे थे। एक ओर अंग्रेजी शिक्षा भारतवासियों को आचार-विचार से अंग्रेजों के अनुकूल बनाती जा रही थी और उनमें अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा कम होने लगी थी, और दूसरी ओर वे यूरोपीय संस्कृति की ओर आकर्षित होते जा रहे थे। स्वामी विवेकानंद ने अनुभव किया कि ये दोनों प्रवृत्तिया देश के लिए घातक हैं और इनको

रोकने के लिए एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे भारतवासी अपने वास्तविक स्वरूप और समस्त सांस्कृतिक परंपरा का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

विवेकानंद की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण है। सारे प्रशिक्षणों का अंतिम लक्ष्य मनुष्य का विकास करना है। इससे उसकी इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बनता है। किंतु विवेकानंद की शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक विकास का माध्यम मात्र होना नहीं है। वे जनसमूह की शिक्षा पर भी बल देते हैं। उनका कथन है कि "भारत के गरीबों और निम्न वर्ग के लोगों की दशा का स्मरण कर मेरा हृदय फटा जाता है। वे दिन-ब-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं। निर्दय समाज द्वारा अपने ऊपर होनेवाले आघातों का वे अनुभव तो करते हैं, पर वे जानते नहीं कि ये आघात कहां से आ रहे हैं। वे यह भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। मेरा अंतःकरण इतना भरा हुआ है कि अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकता। जब तक करोड़ों मनुष्य भूख और अज्ञान में जीवन बिता रहे हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक मनुष्य को देशद्रोही मानता हूं, जो उनके व्यय से शिक्षित हुआ है और अब उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। हमारा महज राष्ट्रीय पाप है जन-समुदाय की अवहेलना करना, और यही हमारे अधःपतन का कारण है। राजनीति चाहे जितनी अधिक मात्रा में रहे, पर उससे तब तक कोई लाभ नहीं होगा, जब तक जन-समुदाय को पेट भर भोजन न मिले और हर प्रकार से उसकी सुख-सुविधा की ओर ध्यान न दिया जाये।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद शिक्षा का समाजोपयोगी होना अनिवार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा भारतीय संस्कृति, सभ्यता धर्म और दर्शन के संरक्षण के लिए ही आवश्यक नहीं है, वरन् सामाजिक परिवर्तन में भी वह सहायक होती है।

हाकी : इसके खेल के दो प्रकार प्रचलित हैं : (1) फील्ड हाकी तथा (2) आइस हाकी। आइस हाकी तो केवल बर्फीले मैदान पर ही खेली जाती है, परंतु फील्ड हाकी सभी जगह, मैदान में खेली जाती है।

इस खेल का उद्‌गम चाहे कैसे भी हुआ हो, लेकिन फील्ड हाकी के सिद्धांतों की जानकारी आज से 2,500 वर्ष पहले प्राचीन जातियों को थी। कुछ शताब्दियों बाद इसके दर्शन फ्रांस में 'बोकेट' के नाम से होते हैं। अंग्रेजों ने यह खेल देखा और इसे 'होके' का नाम दिया और फिर इसका उच्चारण 'हाकी' हो गया।

'आइस हाकी' के जन्म से पहले इसे केवल हाकी का नाम दिया जाता रहा और इसके बाद इसे 'फील्ड हाकी' का नाम दिया गया।

1875 में इस खेल के कुछ नये सिद्धांत बनाये गये और यह खेल कुछ कदम आगे बढ़ा। परंतु वस्तुतः 1889 में संस्थापित बिंबल्डन हाकी क्लब ने कुछ पुराने नियम हटाये और नये जोड़े और फिर यह खेल समस्त यूरोप में लोकप्रिय हो गया।

1887 तक फील्ड हाकी पर पुरुषों का ही एकाधिकार रहा। लड़कियों के लिए इसे अनुपयुक्त ठहराया गया। परंतु 1887 में लड़कियों ने इसे खेलने का प्रयत्न किया, इसे पसंद किया और अपनाया। फिर से समस्त दुनिया में यह खेल महिलाओं में लोकप्रिय हो गया। परंतु इंग्लैंड, फ्रांस तथा दूसरे समुद्रपारीय देशों में यह खेल पुरुषों द्वारा अधिक पसंद किया गया है।

19वीं सदी के अंतिम 20 वर्षों में अमरीका में फील्ड हाकी कभी-कभी खेली जाती थी, परंतु इसका कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं है। पुरुषों ने इसमें कब रुचि ली, इसका पता नहीं, परंतु महिलाओं ने जो पहले इंग्लैंड में रह चुकी थीं, लिविंगटन हाकी एसोसिएशन की स्थापना की और इस खेल का प्रथम नामोल्लेख इसके द्वारा खेले गये खेल में मिलता है। परंतु यह संस्था अधिक दिनों तक चली नहीं। इसके बाद भी इस खेल का पुनरुद्धार महिलाओं ने ही किया। अतः महिलाओं के प्रयत्न से फील्ड हाकी टीमों का प्रथम संगठन किया गया। 21 जनवरी, 1922 में यूनाइटेड स्टेट्स फील्ड हाकी एसोसिएशन की स्थापना फिलडेल्फिया में हुई, जो स्त्रियों में इस खेल को व्यवस्थित करने के लिए थी। फिर कालेज की लड़कियों में इसकी ओर इतनी रुचि बढ़ी कि कुछ वर्षों के बाद 1947 में इस एसोसिएशन से संबंधित 85 सक्रिय क्लब तथा 285 स्कूल तथा कालेज हो गये।

इंग्लैंड ने भी अमरीका में अपनी टीमें 1921 तथा 1928 में भेजी थीं। 1925 में एक टीम आयरलैंड से गयी थी और 1931 में एक टीम स्काटलैंड से गयी।

अमरीकी खिलाड़ी लड़कियों ने समस्त महाद्वीप की यात्रा 1933 में की और यह अमरीकी टीम कहीं भी नहीं हारी। ब्रिटिश द्वीपों में इस टीम ने 23 खेल खेले और 11 खेल जीते।

अमरीका में पुरुष भी फील्ड हाकी के खिलाड़ी हैं। 'फील्ड हाकी एसोसिएशन आफ अमेरिका' पुरुषों की संस्था है, परंतु इस खेल पर एकाधिकार, लड़कियों का ही है।

फील्ड हाकी के बुनियादी सिद्धांत इस प्रकार हैं: खेल के मैदान की लंबाई 90 से 100 गज तक की होती है और चौड़ाई 50 से 60 गज तक की। इससे छोटा मैदान छोटे खेल के लिए होता है। गेंद सफेद चमड़े से मढ़ी हुई होती है। इसका वजन $5\frac{1}{2}$ तथा $5\frac{3}{4}$ औंस के बीच और इसका घेरा $8\frac{3}{4}$ तथा $8\frac{1}{4}$ इंच के बीच। विशेष प्रकार से बनी स्टिक का वजन 18 और 22 औंस के बीच होना चाहिए। वामहस्तीय (लेफ्ट हैंडेड) स्टिकों का प्रयोग निषिद्ध है। प्रत्येक टीम में 11 खिलाड़ी होते हैं। पांच फारवर्ड, तीन हाफ बैक, दो फुल और एक गोलकीपर। परंतु केप्टेन की इच्छा के अनुसार इस रचना में फेर-बदल भी किया जा सकता है।

इस खेल में दो अंपायर होते हैं, दो लाइनमैन तथा दो स्कोर कीपर। गोल के अपराइट्स की ऊंचाई 9 फुट की होती है तथा क्रासबार की चौड़ाई 12 फुट। 1 गोल करने के लिए गेंद अपराइट्स के बीच में से तथा क्रासबार के नीचे से होती हुई जानी चाहिए।

हेनरी, बर्नार्ड (1811-1900) : अमरीकी शिक्षा-शास्त्री बर्नार्ड हेनरी का जन्म हार्टफोर्ड में हुआ था। उनकी शिक्षा येल महाविद्यालय में हुई। रोड आइलैंड में सामान्य विद्यालयों के आयुक्त और विसकोनसिन विश्वविद्यालय के कुलपति के पद पर रहकर उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम किया। 1867 में वे अमरीका के प्रथम शिक्षा-आयुक्त नियुक्त हुए। होरसमान की तरह उन्होंने भी अमरीकी सामान्य विद्यालयों के सुधार में महत्त्वपूर्ण काम किया। पाठशालाओं के कार्य-संचालन में अत्याधिक विकेंद्रीकरण से जो दोष उत्पन्न होता है, उसका उन्होंने खूब विरोध किया और अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया। उन्होंने शिक्षा के संबंध में अध्ययन करना विश्वविद्यालयों का अनिवार्य कार्यक्रम बनाया। उनके 'यूरोप में राष्ट्रीय शिक्षा' तथा 'पेस्टालोजी और पेस्टालोजीवाद' नामक ग्रंथों ने शिक्षा-शास्त्रियों को अमरीकी शिक्षा-समस्याओं का विशद अध्ययन करने को बाध्य कर दिया। यूरोपीय शिक्षा-सिद्धांतों का उन पर गहरा प्रभाव था और उन्होंने इन्हीं के आधार पर अमरीकी शिक्षा को नया रूप दिया।

अनुक्रमणिका

मनोविज्ञान

समाजविज्ञान

मानवविज्ञान

शिक्षाविज्ञान

संदर्भ ग्रंथ

मनोविज्ञान (Psychology)

(1) अकोलकर, वसंत विनायक
(अ) सामाजिक मनोविज्ञान

(2) Anastasi
A. *Differential Psychology*

(3) Baldwin, J.M.
A. *History of Psychology*

(4) Boaz, G.D.
A. *General Psychology (Rev. ed.)*—1964

(5) Boring, E.G.
A. *Introduction to Psychology*
B. *A History of Experimental Psychology*

(6) Brett, G.S.
A. *A History of Psychology (3 vol.)*

(7) Bridges, J.W.
A. *Psychology, Normal & Abnormal*

(8) Brook, F.D.
A. *A Text Book on Child Psychology*

(9) Cartwright & Zander
A. *Group Dynamic*—1960

(10) Colbin & Drever
A. *Experimental Psychology*

(11) कार्लिस, मेरी और ड्रीवर जेम्स
(अ) प्रयोगात्मक मनोविज्ञान

(12) Dashiell, J.F.
A. *Fundamentals of General Psychology*—1949

(13) David Krech
A. *Individual in Society*—1962

(14) Dewey, J. & Boston, D.G.
A. *How we Think*—1910

(15) Dockeray
A. *Psychology*

(16) Dorcens & Schafer
A. *A Text Book of Abonormal Psychology*

(17) Driesch, Hans
A. *The Crisis in Psychology*

(18) द्वारका प्रसाद
(अ) मानव मन
(आ) मानव मनोविज्ञान

(19) Eysench, H.J.
A. *Uses & Abuses of Psychology*—1953

(20) Floyd, L. Ruch
A. *Psychology & Life*

(21) Flugal, J.C.
A. *A Hundred Years of Psychology*—1953

(22) Ford, Adelbert
A. *The Story of Scientific Psychology*

(23) Freeman, G.L.
A. *Introduction to Psychological Psychology*—1924

(24) Frida, E.G.
A. *An Introduction to Jung's Psychology*

(25) Gardner, Murphy
A. *An Historical Introduction to Modern Psychology*

(26) Garrett, Henry. E.
A. *Great Experiments in Psychology*

(27) हाल, कैल्विन एस०
(अ) फ्रायड मनोविज्ञान : प्रवेशिका

(28) Harriman
A. *Encyclopaedia of Psychology*
B. *The New Dictionary of Psychology*

(29) Hall, G.S.
A. *Founders of Modern Psychology*

(30) Heidbreder, E.F.
A. *Seven Psychologies*

(31) Helson, H.
A. *Theoretical Foundations of Psychology*

(32) ह्यूम, डेविस
(अ) मानव-वृद्धि संबंधी विवेचन
(33) Kock
A. *Psychology (7 Vols.)*
(34) Koline
A. *Abnormal Psychology*
(35) मसीह, डा० या०
(अ) मनोविश्लेषण और फ्रायडवाद की रूपरेखा
(36) Morgan, J.B.
A. *Psychology of Abnormal People*
(37) Murchison
A. *Hand Book of Child Psychology*
(38) Murphy, G.
A. *Historical Introduction to Modern Psychology*
(39) Murchison, Karl. (Ed.)
A. *A History of Psychology in Autobiography (2 Vol.)*
B. *The Foundations of Experimental Psychology*
(40) Norman, L. Munn
A. *The Fundamentals of Human Adjustments*
(41) Pillsbury, W.P.
A. *The History of Psychology*
(42) *Psychological Abstracts*
(43) *Psychological Bulletins*
(44) Stanger & Karwoski
A. *Psychology*—1952
(45) Stout, G.F.
A. *Manual of Psychology*
(46) Warren, H.C.
A. *A History of the Association Psychology*
(47) Woodworth, R.S.
A. *Psychology, Contemporary School of Psychology*—1931

समाजविज्ञान (Sociology)

(1) अग्रवाल, गोपालकृष्ण
(अ) मानवशास्त्र
(2) अग्रवाल, गो० कृ० एवं मुखर्जी, रवींद्रनाथ
(अ) भारतीय सामाजिक संगठन
(3) चौहान, शिवदानसिंह
(अ) कश्मीर देश व संस्कृति
(4) भारत की राष्ट्रीय परिषद
(अ) जाति-सिद्धांत
(5) Davis, K.,
A. *Human Society*—1969
(6) दुबे, सत्यमित्र
(अ) मनु की समाज-व्यवस्था
(7) दोषी, एस० एल०
(अ) समाजशास्त्र—1964
(8) गिंसबर्ग, मारिस
(अ) समाजशास्त्र
(9) Goode, W.J.
A. *The Family*—1965
(10) गोयल, धर्मेंद्र
(अ) संक्रांति युग के समाजदर्शन
(11) हेलन, जी० सी०
(अ) समाजशास्त्र के मूलसिद्धांत
(12) Herskovits, M.J.
A. *Cultural Anthropology*—1969
(13) Hoebel, E.A.
A. *Man in Primitive World*—1968
(14) इंद्रदेव, डा०
(अ) भारतीय समाज
(15) जैन, डा० कैलाशचंद्र
(अ) प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं
(16) Johnson, H.M.
A. *Sociology : A Systematic Analysis*—1960
(17) केला, भगवानदास
(अ) भारतीय जागृति (1801-1948)
(18) Klostermair, K.
A. *Masters of Social Thought*—1966
(19) लावनिया, एम० एम०
(अ) समाजशास्त्र के सिद्धांत—1970
(20) Malinowaski, Bronislav
A. *Crime & Custom in Savage Society*
(21) McKee, J.B.
A. *Introduction to Sociology*—1968

(22) मेकेंजी, जे० एस०
(अ) समाजदर्शन की रूपरेखा
(23) MacIver, R.M.
A. *Society : An Introductory Analysis*—1964
(24) प्रसाद, महादेव
(अ) समाज दर्शन
(25) रसेल, बर्ट्रेंड
सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धांत
(26) रूसो
(अ) सामाजिक पोषण
(27) रेड्डी, सुंदरम प्रताप
(अ) आंध्र का सामाजिक इतिहास
(28) सहाय, एस० एस०
(अ) हिंदू सामाजिक संस्थान—1964
(29) सक्सेना, एम० एम०
(क) सामाजिक विघटन—1963
(30) सांकृत्यायन, राहुल
(अ) घुमक्कड़ शास्त्र
(आ) मानव समाज
(31) शल्य, यशदेव
(अ) सामाजिक परिवर्तन
(आ) संस्कृति (मानव कर्त्तव्य की व्याख्या)
(32) शेपीरो, हैरी एल० (सं०)
(अ) मानव, संस्कृति और समाज
(33) Smelser, N.J.
A. *Sociology : An Introduction*—1967
(34) Sorokin, P.A.
A. *Social Philosophies of an age of Crisis*
(35) Sumner, W.G.
A. *Folkways*—1906
(36) तोमर, आचार्य रामबिहारी सिंह
(अ) समाजशास्त्र की रूपरेखा
(आ) पारिवारिक समाजशास्त्र
(37) त्रुएलसन, रिचर्ड
(अ) मन की यात्राएं
(38) Tumin, M.M.
A. *Social Stratification*—1969
(39) Wells, A.
A. *Social Institutions*—1970
(40) Unnithan T.K.N.
A. *Towards a Sociology of Culture*—1965
(41) उप्रेती, हरिश्चंद्र
(अ) समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम
(आ) समाजशास्त्र
(इ) भारतीय जनजातियां

मानवविज्ञान (Anthropology)

(1) *Anthropology*—1881
(2) *Anthropology of Syrian Christians*—1928
(3) *A Preliminary Appraisal of the Scheduled Tribes of India*—1960
(4) Ashley Montagu
A. *Man's First Million Years*
B. *An Introduction to Physical Anthropology*
(5) Barnes & Howard Becker
A. *Social Thought from Lore to Science* (2 *vol.*)—1952
(6) Barnet
A. *Innovation—the Basis of Cultural Change*—1958
(7) Beals & Hoifer
A. *Introduction to Anthropology*—1953
(8) Bierstadt
A. *The Social Order* (*2nd Edition*)
(9) Bogardus
A. *Development of Social Thought* (*Revised*)—1960
(10) *Book of Knowledge*
(11) *Castes and Tribes of Cochin*—1908-1912
(12) Clyde Kluckhon
A. *Mirror for Man*—1949
(13) Coon
A. *The Origin of Races*—1962
B. *Story of Man*—1954
(14) *Cultural Contours of Tribal Bihar*—1964
(15) *Dictionary of Philosophy* (*Moscow Publication*)

(16) Ehrenfels
A. *Kadars of Cochin*
(17) Fairchild, H.P.
A. *Dictionary of Sociology & Related Sciences (ed.)*—1966
(18) Frang Steiner
A. *Taboo*—1956
(19) Frazer
A. *The Golden Bough*
(20) Fried (ed.)
A. *Readings in Anthropology* (2 *Vol.*) —1959
(21) Garn (ed.)
A. *Reading on Race*—1960
(22) Garth
A. *Race Psychology*—1931
(23) Goodenough
A. *Explorations in Cultural Anthropology*—1964
(24) Green
A. *Sociology*—1964
(25) Gurdon, London
A. *The Khasis*—1914
(26) हिंदी विश्वकोश
(अ) नागरी प्रचारिणी सभा (वाराणसी संपादन)
(27) Korsokovits
A. *Cultural Anthropology*—1955
B. *Acculturation*—1958
(28) Hoebel
A. *Man in the Primitive World*—1958
(29) Houigmann
A. *The World of Man*—1959
(30) Hoyt
A. *Man and Earth*—1951
(31) Hutton
A. *Castes in India*—1951
(32) Keesing
A. *Cultural Anthropology*—1959
(33) Kroeber
A. *Anthropology*—1948
(34) Kroeber & Kluckhon
A. *Culture: A Critical Review of Concepts & definitions*—1952
(35) *Lectures on Ethnography*—1925
(36) Liuton
A. *Tree of Culture*—1955
(37) Mazumdar, Dr. S.N.
A. *Races & Culture of India*—1958
(38) Margaret Mead & Bunzel (ed.)
A. *The Golden Age of American Anthropology*—1960
B. *Cultural patterns & Technical Change*—1955
C. *Male & Female*
(39) Mazumdar & Madan
A. *Introduction to Anthropology*
(40) McIver, R.M.
A. *Society*—1937
(41) Mckim Marriott (ed.)
A. *Village in India*—1955
(42) *Mysore Castes & Tribes*—1928-1931
(43) *Notes & Querries on Anthropology*—1874, 1892
(44) Oliver & Boyd
A. *Closed Systems & Open Minds (Edited)*—1964
(45) Opler
A. *Culture & Mental Health*—1959
(46) *Primitive Culture*—1871
(47) *Province of Madras—Report on the Socio-economic conditions of the Aboriginal Tribes of Madras*—1948
(48) *Races of Mankind (M. Nesturkh)*—1966 *(Rev. ed.)*
(49) Risley
A. *The Ethnographic Survey of Bengal* —1891
(50) Robinson & Wilson
A. *Myths & Legends of All Nations*—1950
(51) Ruth Benedict
A. *Patterns of Culture*—1934
B. *Race, Science & Politics (Rev. Ed.)*—1943
(52) Sahai, Dr. B.N.
A. *Pragmatism in Development—Application of Anthropology*—1969

(53) Sarkar, Dr. S.N.
A. *Psycho-Dynamics of Tribal Behaviour*—1965
(54) Seligman
A. *Encyclopaedia of Social Sciences* (15 *Vol.*)—1935
(55) शर्मा, राजीवलोचन
(अ) जनजातीय जीवन और संस्कृति
(56) Singer Etal
A. *A History of Technology*—1954
(57) सिंह, माथुर, विद्यार्थी
(अ) मानवशास्त्र की रूपरेखा—1963
(58) Sorokin
A. *Contemporary Socialogical Theories*—1928
(59) Srinivas
A. *Indian Village*
(60) *The Aboriginal Problem in the Central Provinces & Berar*—1944
(61) *The Maria Gonds of Bastar*—1938
(62) Thompson
A. *Suttee*—1928
(63) Thurston
A. *Castes & Tribes of South India* (7 *Vol.*)—1909
(64) Titiev
A. *Introduction to Cultural Anthropology*—1959
(65) U N E S C O
A. *The Race Concept*—1952
(66) Vidyarthi, V.P.
A. *Applied Anthropology in India* (*Edited*)—1968
(67) विद्यार्थी, डा० ललितप्रसाद
(अ) बिहार के आदिवासी—1960
(आ) भारतीय नगर—1966
(68) Wright Mills
A. *Images of Man*—1960

शिक्षाविज्ञान (Education)

(1) Adolf. E. Meyer
A. *Development of Education In Twentieth Century*
(2) Aggarwal, J.C.
A. *Educational Research*
(3) अग्रवाल, रौनकीराम
(अ) शरीर शिक्षा (दो खंड)
(4) Altokar, A.S.
A. *Education In Ancient India*
(5) *An American Encyclopaedia*
(6) *Annual Report*—1967-68 (*Ministry of Education, Govt. of India*)
(7) बंसीधर, एम० ए० बी० टी०
(अ) स्वतंत्र भारत में शिक्षा की प्रगति
(ब) शिक्षा : सिद्धांत और पद्धतियां
(8) Bhalla, Prof. C.L.
A. *Audio-visual Aids In Education*
(9) Bhatia, H.R.
A. *What Basic Education Means?*
(10) Brubacher
A. *Modern Philosphies of Education*—1962
(11) बुनियादी शिक्षा गाइड
शिक्षा और वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्रालय
(12) Butts
A. *A Cultural History of Western Education* (*2nd Ed.*)—1955
(13) Byrne Herbert F.
A. *Primary Teacher Training*
(14) *Chamber's Encyclopaedia*
(15) Chaube, Dr. P.S.
A. *Secondary Education For India*
(16) चौबे, सूर्यप्रसाद
(अ) भारतीय शिक्षा का इतिहास
(17) चौधरी, रामखेलावन एम० एड०
(अ) शिक्षा की प्राचीन विधियां
(18) चौहान, नरेंद्र सिंह
(अ) सोवियत जन शिक्षा का स्वरूप
(19) *Collier's Encyclopaedia*
(20) Cox & Mercer
A. *Education in Democracy*—1961
(21) Cremin
A. *The Transformation of the School*—1961

(22) Curtis, S.J.
A. *History of Education In Great Britain*
(23) Curtis & Bonltwood
A. *A Short History of Educational Ideas*—1952
(24) Darwin A. Hindman Ph.D.
A. *Hand Book of Indoor Games & Contents*
(25) *Directory Of The Educational Institutions*—1953
(26) द्वारका प्रसाद
(अ) शिक्षण विधि
(27) *Encyclopaedia Britanica etc.*
(28) *Encyclopaedia of Education*
(29) Frank G. Menke
A. *The Encyclopaedia of Sports—III Rev. Ed.*
(30) Gilbert Highet
A. *Art Of Teaching*
(31) Gondholekar, S.B.
A. *Synoptical Glossary On Education*
(32) Good, C.V.
A. *Dictionary of Education*—1959
(33) Harold Abrahams
A. *The Olympic Games Book*
(34) Harold Rugg & Ann Shumaker
A. *The Child Centered School*—1928
(35) Hodenfield, G.K. & Stinnet, T.M.
A. *Education of Teachers*
(36) जाकिर हुसैन
(अ) शिक्षा
(37) जायसवाल, डा० सीताराम
(अ) शिक्षाविज्ञान कोश
(38) John Dewey
A. *The School of Tomorrow*
B. *Democracy & Education*
(39) जौहरी, वी० पी०
(अ) भारतीय शिक्षा का इतिहास
(40) कबिर, हुमायूं
(अ) भारतीय शिक्षा दर्शन
(आ) स्वतंत्र भारत में शिक्षा
(41) Meyer
A. *The Development of Education In 20th Century*—1939
(42) Mock (Rooth)
A. *Principles Of Art Teaching.*
(43) Mookerji, R.K.
A. *Ancient Indian Education*
(44) Mukherjee, S.N.
A. *An Introduction to Indian Education*—1958
B. *Higher Education & Rural India*
C. *Administration of Education in India*
(45) Munroe
A. *Encyclopaedia of Educational Research*—1960
(46) Patel, M.S.
A. *Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*
(47) Rama Krishna
A. *For Thinkers On Education*
(48) Rawat, D.S.
A. *Educational Psychology (a new concept)*
(49) Report 1967-68
A. *Ministry of Education*
(50) रसेल, बर्ट्रेंड
(अ) शिक्षा की रूपरेखा
(51) राजेंद्रप्रसाद
(अ) भारतीय शिक्षा
(52) Safaya, R.S. & Shada
A. *Development of Educational Theory & Practice*
(53) Shrimali, K.L.
A. *Problem of Education in India*
B. *Vardha Scheme*
(54) Singh Prof. M.D., M.A. B.Sc. (Hons)
A. *A Students' History Of Educational Thought*
(55) Sorenson
A. *Psychology in Education (4th ed.)*—1964
(56) Shukla, Dr. D.N.
A. *Royal Arts*

(57) सैयदैन, के० जी०
(अ) शिक्षाशास्त्र

(58) *The Indian Year Book of Education (N.C.R.T.)*—1961

(59) Whitehead, A.N.
A. *Aims of Education and Other* Essays.



पारिभाषिक शब्दावली

(क)

अंत:स्त्रावी ग्रंथि .. Endocrine gland
अंतर .. Difference
अंतरिम .. Interim
अंतर्जातीय संघर्ष .. Intercaste conflict
अंतर्दृष्टि .. Insight
अंतर्नर .. Animus
अंतर्नारी .. Anima
अंतर्निरीक्षण .. Introspection
अंतर्नोद .. Drive
अंतर्मुखता .. Introversion
अंतर्राष्ट्रीय .. International
अंतर्विवाह .. Endogamy
अंधता .. Blindness
अंध बिंदु .. Blind spot
अंधविश्वास .. Superstition
अकर्मण्य .. Indolent
अकादमी .. Academy
अकाल .. Famine
अकाल मनोह्रास .. Dementia praecox
अक्ष .. Axis
अगम्यगमन .. Incest
अग्नाशय .. Pancreas
अग्रपालि .. Anterior lobe
अघ्राणता .. Anosmia
अचर .. Invariable
अचेतन .. Unconscious
अज्ञातजनभीति .. Xenophobia
अतिमूर्च्छा .. Coma
अतिरुधिर तनाव .. Hypertention
अतिसक्रिय .. Hyperactive
अधिगम .. Learning
अधिगम का नियम .. Law of learning
अधिवृक्क ग्रंथि .. Adrenal gland
अध्यापक .. Teacher
अनभिविन्यास .. Disorientation
अनाथालय .. Orphanage
अनावर्ती .. Non-recurring
अनिद्रा .. Insomnia
अनुकंपी तंत्रिकातंत्र .. Sympathetic nervous system
अनुकपाल .. Occipital
अनुकरण .. Imitation
अनुकूलन .. Adaptation
अनुकूलन क्षमता .. Adaptability
अनुक्रिया .. Response
अनुचित .. Illicit
अनुत्तेजन काल .. Refractory period
अनुदान .. Grant
अनुदेशक .. Instructor
अनुपस्थिति .. Absence
अनुपात .. Proportion
अनुप्रयोग .. Application
अनुबंधन .. Conditioning
अनुबंधित अनुक्रिया .. Conditioned response
अनुबंधित संवेग .. Conditioned emotion
अनुभव .. Experience
अनुभवातीतवाद .. Transcendentalism
अनुमस्तिष्क .. Cerebellum
अनुमान .. Inference
अनुवंश .. Descent
अनुशासन .. Discipline
अनुशास्ति .. Sanction
अनुसंधान .. Research
अनुसूची .. Schedule
अनुस्मरण .. Anamenesis
अनृतदर्शी .. Lie-detector
अनेकार्थक .. Ambiguous
अनैतिकता .. Immorality
अन्यमनस्क .. Perfunctory
अन्वेषण .. Investigation
अन्वेषी .. Exploratory
अपमिश्रण .. Adulteration
अपराध .. Crime
अपराध विज्ञान .. Criminology
अपवाद .. Exception
अपवर्तन .. Refraction
अपसामान्य .. Abnormal
अपस्मार .. Epilepsy
अपूर्ण रोजगार .. Under-employment

अप्रचलित	.. Obsolete
अप्रतिमानता	.. Anomic
अभिक्षमता	.. Aptitude
अभिजात	.. Noble
अभिजातवर्गीय	.. Aristocratic
अभिज्ञान	.. Indentification
अभिप्रेरक	.. Motive
अभिप्रेरण	.. Motivation
अभिभावक	.. Guardian
अभिरुचि	.. Interest
अभिलेख	.. Record
अभिवाही तंत्रिका	.. Afferent nerve
अभिविन्यास	.. Orientation
अभिवृत्ति	.. Attitude
अभिवृत्ति परीक्षण	.. Attitude-test
अभिवृत्ति मापनी	.. Attitude-scale
अभिव्यक्ति	.. Expression
अमूर्त	.. Abstract
अयस्क	.. Ore
अरस्तूवाद	.. Aristotalianism
अराजकता	.. Anarchy
अर्थशास्त्र	.. Economics
अर्धांश	.. Moiety
अर्बुद	.. Tumer
अलिंग गुणसूत्र	.. Autosomal chromosome
अलिंगी	.. Asexual
अल्पनूतनकाल	.. Miocene
अल्पाइन प्रजातियां	.. Alpine races
अवटु ग्रंथि	.. Thyroid gland
अवतार	.. Incarnation
अवधान	.. Attention
अवशेष	.. Relic
अवसाद	.. Depression
अवसामान्य	.. Subnormal
अवियोजन	.. Non-disjunction
अव्यक्त काल	.. Latency period
अशुद्धि	.. Impurity
आगमनात्मक	.. Inductive
आघात	.. Shock
आघातज मनस्ताप	.. Traumatic psychosis
आचरण	.. Conduct
आतिथ्य	.. Hospitality
आत्मनिषेध	.. Self-negation
आत्मप्रत्याख्यान	.. Self repudiation
आत्मरति	.. Self-love
आत्म-संसूचना	.. Auto-suggestion
आत्महत्या	.. Suicide
आत्मा	.. Soul
आत्मावाद	.. Animism
आदत	.. Habit
आदर्श	.. Ideal
आदिमकालीन	.. Primitive
आद्यप्ररूप	.. Archetype
आधिक्य	.. Excess
आध्यात्मिक	.. Spiritual
आनुवंशिकता	.. Heredity
आपात	.. Contingency
आपात-कर्त्तव्य	.. Prima facie duty
अभिनति	.. Bias
आभूषण	.. Ornament
अश्लीलता	.. Obscenity
असंगतियां	.. Anomalies
असंतोष	.. Discontent
असहिष्णुता	.. Intolerance
अस्तित्व	.. Existence
अस्तित्ववाद	.. Existentialism
अस्पृश्यता	.. Untouchability
अस्वाद	.. Agensia
अहं	.. Ego
अहंमन्यता	.. Egotism
अहंवाद	.. Egoism
आंगिक	.. Organic
आंगिक चिकित्सा	.. Organic therapy
आंगिक मनस्ताप	.. Organic psychosis
आइडेटिक प्रतिमा	.. Eidetic image
आइनू	.. Ainu
आकर्षण	.. Attraction
आकलन	.. Estimation
आकृति	.. Figure
आकृति भूमि संबंध	.. Figure-ground relation
आकृतिविज्ञान	.. Morphology
आक्रामक	.. Aggressive
आयु	.. Age
आयुमानक	.. Age norm
आयु मापनी	.. Age scale
आरेखण	.. Drawing
आलस्य	.. Idleness
आलोचना	.. Criticism

आवारा .. Vagabond
आवास .. Residence
आवासगृह .. Dwellings
आविष्कार .. Invention
आवृत्ति .. Frequency
आवृत्ति बंटन .. Frequency distribution
आवेग .. Impulse
आवेदनपत्र .. Application
आस्था .. Faith
इंद्रिय .. Sense, organ
इंद्रियानुभववाद .. Empiricism
इकाई .. Unit
इच्छा .. Desire, wish
इच्छापूर्ति .. Wishfulfilment
इड .. Id
इन्सुलिन .. Insulin
उच्चतम सीमा .. Ceiling
उच्चतर माध्यमिक विद्यालय .. Higher Secondary School
उच्चतर माध्यमिक शिक्षा .. Higher secondary education
उच्चारण .. Articulation
उत्तरजीविता .. Survival
उत्तर प्रतिमा .. After-image
उत्तर संवेदन .. After-sensation
उत्तेजन .. Excitation
उत्परिवर्तन .. Mutation
उत्पादन .. Production
उत्पीड़न Persecution
उत्पीड़न हठभ्रम .. Delusion of persecution
उत्सुकता .. Curiosity
उत्साह .. Enthusiasm
उत्सव .. Festival
उदात्तीकरण .. Sublimation
उदार .. Liberal
उदासीनता .. Apathy
उद्दीपन .. Stimulus
उद्देश्य .. Purpose
उद्यम .. Enterprise
उद्योग .. Industry
उद्विकास .. Evolution
उद्विकासवाद .. Evolutionism
उद्विकास सिद्धांत .. Theory of evolution
उन्माद .. Mania
उन्मूलन .. Abolition
उपजाति .. Sub-caste
उपनगर .. Suburb
उपनिवेश .. Colony
उपभोग .. Consumption
उपयोगिता .. Utility
उपलब्धि .. Achievement
उपलब्धि परीक्षण .. Achievement test
उपवर्ग .. Sub-class
उपशिष्ट उत्पाद .. Waste product
उपस्थिति .. Attendance
उपांत दल .. Marginal group
उपाख्यान-प्रणाली .. Anecdotal method
उपागम .. Approach
उपापचय .. Metabolism
उपापचयी मनस्ताप .. Metabolic psychosis
उपार्जित .. Acquired
उपासना .. Worship
उपेक्षा .. Negligence
उभयमुखता .. Ambiversion
उभयमुखी .. Ambivert
उभयलिंगिता .. Hermaphroditism
उम्मीदवार .. Candidate
उर्वरता संस्कार .. Fertility rites
उल्लंघन .. Violation
उल्लास .. Elation
ऊतक .. Tissues
ऊब .. Boredom
ऊर्जा .. Energy
एकपक्षीय .. Unilateral
एकरूपता .. Uniformity
एकल समूह .. Allopatric species
एक विवाह .. Monogamy
एकाग्रता .. Concentration
एकाधिकार .. Monopoly
एक्जोन .. Axon
एलकैप्टोनूरिया .. Alkaptonuria
ऐच्छिक .. Optional
ऐड्रिनलिन .. Adrenalin
ऐलर्जी .. Allergy
औद्योगिक क्रांति .. Industrial revolution
औषधि व्यसन .. Drug-addiction
कंपन .. Vibration
कक्षा .. Class
कक्षा अध्यापन .. Class teaching
कक्षा-दैनिकी .. Class diary

कक्षा-प्रशासन .. Class room administration
कक्षावार .. Class wise
कड़ी .. Link
कणिका .. Corpuscle
कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण .. Thematic apperception test
कन्यामूल्य .. Bride price
कपालमिति .. Cephalometry, craniometry
कपि मानव .. Ape man
करोटि .. Skull
कर्णावर्त .. Cochlea
कर्मकांडवाद .. Ritualism
कर्मचारी .. Employee
कला .. Art
कला वीथिकाएं .. Art galleries
कल्याण .. Welfare
कसौटी .. Criterion
कामुकता .. Eroticism
काय-द्रव्य .. Somatoplasm
कायविज्ञान .. Somatology
कायिक .. Soma
कारक .. Factor
कारक सिद्धांत .. Factor theory
कारण .. Cause
कार्य .. Function
कार्यक्रम .. Programme
कार्यसाधक .. Expedient
कार्यान्वयन .. Execution
कालक्रम-विपर्यय .. Anachronism
किंडरगार्टन .. Kindergarten
किचनमिडन .. Kitchenmidden
किशोरावस्था .. Adolescence
कीलाक्षर (लिपि) .. Cuneiform
कुंठा .. Frustration
कुटीर उद्योग .. Cottage industries
कुदृष्टि .. Evil Eye, Jettatura
कुपोषण .. Mal nutrition
कुलाधिपति .. Chancellor
कुसमंजन .. Mal adjustment
कू क्लक्स क्लान .. Ku Klux Klan
केंद्रक .. Nucleus
कैटाटोनीय मनोविदलता .. Catetonic schizophrenia
कोमल तालु .. Soft palate
कोशद्रव्य .. Cytoplasm
कोशिका .. Cell
कोशिकाविज्ञान .. Cytology
कौमार्य भंग .. Defloration
कौशल .. Skill
क्रांति .. Revolution
क्रियावाद .. Functionalism
क्रियाविधि मानवविज्ञान .. Action anthropology
क्रीड़ांगण ... Stadium
क्रीड़ा स्थल .. Play ground
क्रेश .. Creche
क्रोध .. Anger
क्रोमोसोम .. Chromosome
क्लीवाणु .. Neutron
क्षतिपूरक .. Compensatory
क्षयोन्मुख .. Decadent
क्षुधा .. Appetite
क्षुधा-अभाव .. Anorexia
क्षेत्र .. Area, field
क्षेत्र-कार्य .. Field work
क्षोमित अवमन्दन .. Agitated depression
खगोलविज्ञान .. Astronomy
खप्पर .. Skull cap
खांचा .. Groove
खोज .. Discovery
गंध .. Odour, smell
गति .. Motion
गति-तंत्रिका .. Motor nerve
गत्यात्मक .. Dynamic
गमन .. Migration
गर्भनिरोधन .. Contraception
गर्भपात .. Abortion
गर्व .. Pride
गुच्छिका .. Ganglion
गुट .. Clique
गुण .. Quality
गुणसूत्र .. Chromosome
गुणांक .. Co-efficient
गुणात्मक .. Qualitative
गुप्त समितियां .. Secret societies
गूंगा .. Dumb
गृहकार्य .. Home work
गृहविज्ञान .. Domestic science
गेस्टाल्ट .. Gestalt
गेस्टाल्ट मानवविज्ञान .. Gestalt anthropology
गीशा .. Geisha

गोत्र .. Clan
गोत्रचिह्न .. Totem
गोदना .. Tattooing
गोद लेना .. Adoption
गोरिल्ला .. Gorilla
गौरव .. Dignity
ग्रंथि .. Gland
ग्रामीण समाज .. Rural society
ग्राहक .. Receptor
घटक .. Component
घटनाविज्ञान .. Phenomenology
घूर्णन .. Rotation
घेट्टो .. Ghetto
चर .. Variable
चरित्र .. Character
चर्मरेखाशास्त्र .. Dermatoglyphics
चर्मरोग .. Skin Disease
चल पाठशाला .. Mobile school
चल पुस्तकालय .. Mobile library
चारा .. Bait
चितन .. Thinking
चिंताएं .. Worries
चिड़िया घर .. Zoo
चित्त प्रकृति .. Temperament
चित्रलिपि .. Hieroglyphics
चिरकुमारी .. Spinster
चीरना .. Slash
चेतना .. Consciousness
चौर्योन्माद .. Kleptomania
छटा .. Tint
छात्रवृत्ति .. Scholarship
छुआछूत .. Untouchability
छुट्टी .. Leave
जटिल .. Complicate
जड़त्व .. Inertia
जड़बुद्धिता .. Idiocy
जड़मति .. Idiot
जड़वामनता .. Cretinism
जनगणना .. Census
जनजाति .. Tribe
जनन-ग्रंथि .. Gonad
जनमत .. Public opinion
जनवादी गणराज्य .. People's republic
जनश्रुति .. Rumour
जनसंख्या .. Population
जन सांख्यिकी .. Demography
जन्मजात .. Congenital
जन्माघात .. Birth trauma
जरा .. Senility
जलकपाल .. Hydrocephalics
जलभीति .. Hydrophobia
जलवायु .. Climate
जाति .. Caste
जाति बहिष्कार .. Excommunication
जाति मनोविज्ञान .. Caste psychology
जातिवाद .. Casteism
जातीय गतिशीलता .. Caste mobilisation
जातीय पृथग्वासन .. Apartheid
जादूटोना .. Witchcraft, magic
जारज .. Illegitimate
जिजीविषा .. Eros
जिप्सी .. Gypsy
जिमनाजियम .. Gymanasium
जिला .. District
जीन .. Gene
जीन आवर्तन .. Gene frequency
जीन कोड .. Genetic code
जीन विनिमय .. Crossing over
जीन व्यापन .. Penetrance
जीवदयावाद .. Humanitarianism
जीवद्रव्य .. Protoplasm
जीवमिति .. Biometry
जीवविज्ञान .. Biology
जीवाश्म .. Fossil
जुगुप्सा .. Repugnance
ज्योतिष .. Astrology
झिल्ली .. Membrane
झूम कृषि .. Brand tillage
टंकन .. Typing
टिंबर .. Timbre
टैबू .. Taboo
टोटम .. Totem
तंत्रिका .. Nerve
तंत्रिका आवेग .. Nerve impulse
तंत्रिका जाल .. Nerve net
तंत्रिकातंत्र .. Nervous system
तंत्रिकाताप .. Neurosis
तंत्रिकातापी .. Neurotic

तंत्रिकातापी दुश्चिंता .. Neurotic anxiety
तंत्रिका-मनश्चिकित्सा .. Neuropsychiatry
तंत्रिकारोग .. Nervous disease
तंत्रिकाविज्ञान .. Neurology
तकनीकी स्कूल .. Technical school
तटस्थवाद .. Neutralism
तत्व .. Element
तथ्य .. Fact
तदर्थ .. Ad-hoc
तदात्मीकरण .. Identification
तनाव .. Tension
तनुनासा .. Leptorrhine
तपस्या .. Penance
तर्कण .. Reasoning
तर्कशास्त्र .. Logic
तानिक .. Tonic
तानिका शोथ रोग .. Meningitis disease
तारत्व .. Pitch
तावीज .. Talisman
तीव्रता .. Intensity
तुलनात्मक शरीर-रचना विज्ञान .. Comparative anatomy
तृप्ति .. Satisfaction
त्याग .. Renunciation
त्याग पत्र .. Resignation
त्वचीय बोध .. Cutaneous sensation
त्वरण .. Acceleration
त्साइगार्निक प्रभाव .. Zeigarnic effect
थकान .. Fatigue
थैलेमस .. Thalamus
दंड .. Punishment
दंड-संहिता .. Penal code
दंतविन्यास .. Dentition
दक्षता .. Efficiency
दमन .. Repression
दमित इच्छा .. Suppressed desire
दया .. Mercy
दर्प .. Arrogance
दर्पण-आरेखन .. Mirror drawing
दल .. Gang
दहेज .. Dowry
दार्शनिक .. Philosopher
दासप्रथा .. Slavery
दाह-संस्कार .. Cremation
दिवास्वप्न .. Day-dream
दीप्ति .. Brightness
दीर्घकपालिक .. Macrocephalic
दीर्घकालिक .. Chronic
दीर्घ शिरस्क .. Dolichocephalic
दुःस्वप्न .. Nightmare
दुर्गुण .. Vice
दुर्घटना-प्रवणता .. Accident proneness
दुर्भीति .. Phobia
दुश्चिंता .. Anxiety
दुश्चिंता मनस्ताप .. Anxiety neurosis
दृक्-तंत्रिका .. Optic nerve
दृढ़ .. Rigid
दृढ़ विश्वास .. Conviction
दृश्य-श्रव्य-साधन .. Audio-visual aid
दृष्टांत .. Example
दृष्टिपटल .. Retina
देवर संबंध .. Levirate
देशभक्ति .. Patriotism
देहली .. Threshold
दोष .. Error
दौरा .. Fits
द्रुत भाषण .. Agitolatia
द्विकारक सिद्धांत .. Two-factor theory
द्विपक्षीय संक्रमण .. Bilateral transference
द्विपादगमन .. Bipedalism
द्विभाषीयता .. Bilingualism
द्विलिंगिता .. Bisexuality
द्विविभाजन .. Bifurcation
द्विविवाह .. Bigamy
द्वैध प्रशासन .. Dual type of administration
धनुर्विद्या .. Archery
धर्म .. Religion
धर्म निरपेक्ष .. Secular
धर्म निरपेक्ष समितियां .. Secular societies
धर्मांधता .. Fanaticism
धातु .. Metal
धार्मिक कृत्य .. Rite
धूसर द्रव्य .. Grey matter
ध्वनि .. Sound
ध्वनिक .. Accoustics
ध्वनिमापी .. Phonometer
नगर समाज .. Urban society
नगरीकरण .. Urbanisation

नग्नतावाद .. Nudism
नरभक्षिता .. Cannibalism
नरवानरगण .. Primates
नलिकाहीन ग्रंथि .. Ductless gland
नव-साक्षर .. Neo-literate
नष्टावर्तकालीन विषण्णता .. Involutional melancholia
नातेदारी .. Kinship
नाम-पद्धति .. Nomenclature
नारीकामोन्माद .. Nymphomania
नारीस्वरति .. Lesbianism
नार्डिक प्रजाति .. Nordic race
नार्सीयता .. Narcissism
नार्सीसस अवस्था .. Narcissist stage
निगमन .. Deduction
नित्यता .. Eternity
निदर्शन .. Demonstration
निदेशन .. Direction
निद्राचारिता .. Somnambulism
निधन .. Demise
नियंत्रण .. Control
नियति .. Destiny
निरक्षरता .. Illiteracy
निरपेक्ष मूल्य .. Absolute value
निरायोजित व्यक्तित्व .. Disassociated personality
निराशा .. Disappointment
निराशावाद .. Pessimism
निरास .. Elimination
निरीक्षण .. Inspection
निरीश्वरवाद .. Atheism
निर्धारण .. Assessment
निर्माण .. Construction
निष्कर्ष .. Conclusion
निष्क्रिय साहस .. Passive courage
निष्ठा .. Loyalty
निष्पादन परीक्षण .. Performance test
निस्यंदन सिद्धांत .. Filtration theory
निहित हित .. Vested interest
नीग्रोकल्प प्रजाति .. Negroid race
नीति .. Policy
नीतिशास्त्र .. Ethics
नेतृत्व .. Leadership
नेत्र गोलक .. Eye ball
नैतिक .. Moral, ethical
नैतिकता .. Morality
नैतिक दुश्चिंता .. Moral anxiety
नैदानिक .. Clinical
न्याय .. Justice
न्यूट्रान .. Neutron
न्यूनता .. Deficiency
न्यूरोन .. Neuron
न्यूरोन सामीप्य .. Synapse
पंजीकरण .. Registration
पक्षाघात .. Paralysis
पठन .. Reading
पठार Plateau
पत्राचार पाठ्यक्रम .. Correspondence course
पदनाम .. Designation
परंपरा .. Tradition
परजीविता .. Parasitism
परपीड़न रति .. Sadism
परमाणु .. Atom
परहितवाद .. Altruism
परामर्श .. Consultation
परामानसिकी .. Parapsychology
परावटुग्रंथि .. Parathyroid gland
परिकलन .. Computation
परिचर्चा .. Discussion
परिपक्वता .. Maturity
परिप्रेक्ष्य .. Perspective
परिभाषा .. Definition
परिमाण .. Quantity
परिरक्षण .. Preservation
परिवर्तन हिस्टीरिया .. Conversion hysteria
परिवर्त्य .. Variable
परिवहन .. Transportation
परिवार .. Family
परिवार नियोजन .. Family planning
परिवार संगठन .. Family organisation
परिवीक्षा .. Probation
परिस्थिति अनुकूलन .. Acclimatisation
परिस्थितिकी .. Ecology
परीक्षक .. Examiner
परीक्षण .. Test
परीक्षण विवाह .. Trial marriage
परीक्षार्थी .. Examinee
परोपकार .. Benevolence
पर्यवेक्षण .. Supervision
पर्यावरण .. Environment

पर्वतारोहण	.. Mountaineering
पर्सोना	.. Persona
पलायन	.. Escape
पलायन युक्ति	.. Escape mechanism
पवित्रीकरण	.. Sanctification
पशुचिकित्सा	.. Veterinary
पशु-समाज	.. Animal societies
पहल	.. Initiative
पागलपन	.. Lunacy
पाठ	.. Lesson
पाठ्यक्रम	.. Course
पाठ्यचर्या	.. Curriculum
पाठ्य पुस्तक	.. Text book
पाठ्य विवरण	.. Syllabus
पाठ्येतर कार्यकलाप	.. Extra curricular activities
पाप	.. Sin
पारस्परिक	.. Mutual
पारी	.. Shift
पालतू पशु	.. Domestic animals
पालि	.. Lobe
पितृतंत्री	.. Patriarchal
पितृदाय	.. Patrimony
पितृहत्या	.. Patricide
पित्त	.. Bile
पित्तप्रकृति	.. Choleric
पिथिकैंथ्रोपस	.. Pithecanthropus
पीढ़ी	.. Generation
पीयूष-ग्रंथि	.. Pituitary gland
पीलिया	.. Jaundice
पुंस्पृहा	.. Masculine protest
पुतला	.. Effigy
पुन: समायोजन	.. Readjustment
पुन: स्मरण	.. Recall
पुनरनुबंधन	.. Reconditioning
पुनरभिविन्यास	.. Reorientation
पुनरावृत्ति	.. Replication
पुनर्जागरण	.. Renaissance
पुनश्चर्या पाठ्यक्रम	.. Refresher courses
पुनीत समाज	.. Sacred society
पुरस्कार	.. Reward
पुरातत्व	.. Archaeology
पुरातन	.. Archaic
पुस्तकालय	.. Library
पूंजीवादी व्यवस्था	.. Capitalistic system
पूरक वर्ण	.. Complementary colour
पूर्वग्रह	.. Prejudice
पूर्वज पूजा	.. Ancestor worship
पूर्व निर्धारण	.. Predetermination
पूर्वलक्षी प्रावरोध	.. Retroactive inhibition
पूर्ववर्ती	.. Precedent
पृथकत्व	.. Alienation
पृथक्करण	.. Segregation
पेशी	.. Muscle
पेशीय समायोजन	.. Muscular adjustment
पैतृक	.. Paternal
पैरोल पद्धति	.. Parole system
पोशाक	.. Dress
प्रकट	.. Overt
प्रकाशभीति	.. Photophobia
प्रकाशमापी	.. Photometer
प्रकाशानुवर्तन	.. Phototropism
प्रक्रम	.. Process
प्रक्षेपण	.. Projection
प्रक्षेपी प्रविधियां	.. Projective techniques
प्रगति	.. Progress
प्रगामी	.. Progressive
प्रच्छन्न मनोविदलता	.. Latent schizophrenia
प्रजनन	.. Procreation, breeding
प्रजाति	.. Race
प्रजाति मनोविज्ञान	.. Race psychology
प्रजाति मिश्रण	.. Miscegenation
प्रजाति संबोध	.. Race concept
प्रजातीय विभेद	.. Racial segregation
प्रणाली	.. Method
प्रतिगमन	.. Regression
प्रतिजन	.. Antigen
प्रतिदर्श	.. Pattern
प्रतिध्वनि	.. Echo
प्रतिनिधान	.. Representation
प्रतिबल	.. Stress
प्रतिभा	.. Genius
प्रतिमा	.. Image
प्रतियोगिता	.. Competition
प्रतिरक्षी	.. Antibodies
प्रतिवर्त	.. Reflex
प्रतिवर्त क्रिया	.. Reflex action
प्रतिवर्त चक्र	.. Circular reflex
प्रतिवर्त चाप	.. Reflex arc

प्रतिवर्त-वृत्त .. Reflex circle
प्रतिवर्त श्रृंखला .. Reflex chain
प्रतिशोध .. Revenge, vendetta
प्रतिष्ठा .. Prestige
प्रतीक .. Symbol
प्रतीकोपाख्यान .. Myth
प्रत्यक्ष .. Perception
प्रत्याशा .. Expectation, anticipation
प्रथा .. Custom
प्रबंध समिति .. Managing committee
प्रबुद्ध वर्ग .. Intelligentsia
प्रभाव .. Influence
प्रभावक .. Effector
प्रभाव का नियम .. Law of effect
प्रभावी .. Dominant
प्रमस्तिष्क .. Cerebrum
प्रमाण .. Proof, evidence
प्रमाण पत्र .. Certificate
प्रयत्न और त्रुटि .. Trial and error
प्रयोग .. Experiment
प्रयोगशाला .. Laboratory
प्ररूप .. Type
प्रलाप .. Delirium
प्रलोभन .. Temptation
प्रविधि .. Technique
प्रवीणता .. Proficiency
प्रवेश .. Admission
प्रशासन .. Administration
प्रशिक्षण .. Training
प्रश्नावली .. Questionnaire
प्रश्नोत्तरी .. Catechism
प्रसंग .. Context
प्राकृतिक वरण .. Natural selection
प्राक्तन .. Primordial
प्राथमिक मनोविज्ञान .. Elementary psychology
प्राप्तांक .. Score
प्रामाणिकता .. Authenticity
प्रायश्चित .. Atonement
प्रायोगिक मनोविज्ञान .. Experimental-psychology
प्रारंभिक .. Rudimentary
प्रावरोध .. Inhibition
प्रावरोधी प्रतिक्रियाएं .. Inhibitory reactions
प्रेक्षक .. Observer
प्रेक्षण .. Observation
प्रेक्षणप्रधान मानवविज्ञान .. Observational anthropology
प्रेरणा .. Inspiration
प्रेरणा-क्रियाएं .. Activity drives
प्रोत्साहन .. Incentive
प्रौढ़ .. Adult
प्रौढ़ता .. Adulthood
प्लीस्टोसीन .. Pleistocene
फंदा .. Noose
फिरंग का रोग .. Syphilis
फीटिश परायणता .. Fetishism
फैशन .. Fashion
फ्यूग .. Fugue
बंध .. Bondage
बंधुता .. Affinity
बंधुपक्षपात .. Nepotism
बचकानी .. Infantile
बचकानी प्रतिक्रियाएं .. Infantile reactions
बढ़ईगिरी .. Carpentry
बधिरता .. Deafness
बलात् अपहरण .. Kidnap
बलिदान .. Sacrifice
बहिर्मुखता .. Extroversion (Extraversion)
बहिर्मुखी .. Extrovert (Extravert)
बहिष्कार .. Boycott
बहुअंगुलिता .. Polydactyly
बहुअंशक समाज .. Phratry
बहुपतित्व .. Polyandry
बहुपत्नीत्व .. Polygyny
बहुमुखी व्यक्तित्व .. Multiple personality
बहुविवाह .. Polygamy
बहुसमाज .. Plural society
बाधित .. Handicapped
बाध्यक्रिया .. Compulsion
बाल-अपराध .. Juvenile delinquency
बाल अपराधी न्यायालय .. Juvenile delinquent court
बालिश .. Imbecile
बाह्य .. Extrinsic
बीजगणित .. Algebra
बीटा परीक्षण .. Beta test
बुद्धि .. Intelligence
बुद्धि-अनुपात .. Intelligence ratio
बुद्धि-परीक्षण .. Intelligence test
बुद्धि-मापनी .. Intelligence scale
बुद्धिलब्धि .. Intelligence quotient (I.Q.)

बुनना	.. Weaving	मनस्ताप	.. Psychosis.
बुर्जुआ	.. Bourgeois	मनोगतिकी	.. Psycho-dynamics
बेरोजगारी	.. Un-employment	मनोग्रंथि	.. Complex
बैंगनी	Purple	मनोग्रस्त मनस्ताप	.. Obsessional neurosis
बोली	.. Dialect	मनोग्रस्ति	.. Obsession
ब्रह्मचर्य	.. Celibacy	मनोजन्य	.. Psychogenic
ब्रेल लिपि	.. Braille alphabet	मनोबल	.. Morale
भय	.. Fear	मनोमिति	.. Psychometry
भावदशा	.. Mood	मनोरंजन	.. Recreation
भाषाविज्ञान	.. Linguistics	मनोलैंगिक	.. Psychosexual
भीड़	.. Crowd	मनोविज्ञान	.. Psychology
भूगोल	.. Geography	मनोविज्ञानी	.. Psychologist
भूधारण	.. Land tenure	मनोविश्लेषण	.. Psycho-analysis
भूमध्यसागरीय प्रजाति	.. Mediterranean race	मनोविश्लेषणात्मक मानव-विज्ञान	.. Psycho-analytic anthropology
भूमिका	.. Introduction	मनोह्रास	.. Dementia
भूलना	.. Forgetting	मयूरवृत्ति	.. Exhibitionism
भूविज्ञान	.. Geology	मेसाकीयता	.. Masochism
भेदक अनुक्रिया	.. Differential responses	मस्तिष्क	.. Brain
भौतिकवाद	.. Materialism	मस्तिष्क का आयतन	.. Brain volume
भौतिकी	.. Physics	मस्तिष्क तरंगें	.. Brain waves
भ्रम	.. Illusion	महत्वाकांक्षा	.. Ambition
भ्रांति	.. Delusion	महानता हठभ्रम	.. Delusion of grandeur
भ्रातृक	.. Fraternal	मातुल अधिकार	.. Avunculate
भ्रूण	.. Foetur	मातृतंत्रीय	.. Matriarchal
भ्रूणविज्ञान	.. Embryology	मातृ भाषा	.. Mother tongue
मंगोलकल्प प्रजाति	.. Mongoloid race	मादक व्यसन	.. Addiction
मंगोलीयता	.. Mongolism	माध्य	.. Mean
मंत्र	.. Incantation	माध्यम	.. Medium
मंदन	.. Retardation	माध्य विचलन	.. Mean deviation
मजदूर संघ	.. Labour union	मानक	.. Standard, norm
मजदूरी	.. Wage	मानक विचलन	.. Standard deviation
मत	.. Opinion	मानकीकरण	.. Standardization
मताग्रह	.. Dogma	मानचित्र	.. Map
मतिभ्रम	.. Hallucination	मानवजातिविज्ञान	.. Ethnology
मध्यकपालिक	.. Mesocephalic	मानवतावाद	.. Humanism
मध्य कर्ण	.. Middle ear	मानव-प्रेम	.. Philanthropy
मध्य पाषाण युग	.. Mesolithic period	मानवमिति	.. Anthropometry
मध्य मस्तिष्क	.. Midbrain	मानवविज्ञान	.. Anthropology
मध्य वर्ग	.. Middle class	मानविकी	.. Humanities
मध्यावकाश	.. Interval	मानसिक	.. Mental
मनः शारीरिक	.. Psychosomatic	मानसिक आयु	.. Mental age
मन	.. Mind	मानसिक गतिविधियां	.. Mental activities
मनश्चिकित्सा	.. Psychiatry	मानसिक तनाव	.. Psychic tension
मनस्तंत्रिकाताप	.. Psychoneurosis		

मानसिक रोग .. Mental disease
मानसिक स्वास्थ्य .. Mental hygiene
माना .. Mana
मानीटर .. Monitor
मापनी .. Scale
मासिकधर्म .. Menses
मिलनशीलता .. Sociability
मुख्याध्यापक .. Headmaster
मुमूर्षा .. Death instinct
मूक-बधिर .. Deaf-mute
मूढ़ .. Moron
मूर्ति पूजा .. Idolatory
मूल्य .. Value
मूल्यांकन .. Evaluation
मेंडलवाद .. Mendalism
मेरुरज्जुशीर्ष .. Medulla oblongata
मेस्मरवाद .. Mesmerism
मैथुन .. Mating
मोचन .. Liberation
मोनोग्राफिक पद्धति .. Monographic method
मौखिक अवस्था .. Oral stage
मौलिक अधिकार .. Fundamental rights
यांत्रिकीकरण .. Machanization
यायावर .. Nomad
युक्ति .. Argument
युग्मज .. Zygote
यूथ .. Herd
यूथचारिता .. Gregariousness
योगदान .. Contribution
योग्यता .. Ability
योजना .. Plan
यौगिक .. Compound
यौन शिक्षा .. Sex education
यौवनारंभ .. Puberty
यौवनारंभ संस्कार .. Puberty rites
रंग .. Hue
रंजकहीनता .. Albinism
रक्तचाप .. Blood pressure
रक्त प्रकृति .. Sanguine
रक्तसंबद्ध विवाह .. Consanguinity
रक्षा युक्ति .. Defence-mechanism
रचनात्मक .. Constructive
रजोनिवृत्ति .. Menopause
रति-संप्रदाय .. Eros-cult
रहस्यावादी .. Mystic
राजनीति .. Politics
राष्ट्र .. Nation
राष्ट्रवाद .. Nationalism
राष्ट्रीय .. National
राष्ट्रीकरण .. Nationalisation
राष्ट्रीय पुरस्कार .. National awards
राष्ट्रीय सुजननिकी .. National eugenics
रिर्पोट .. Report
रुधिर .. Blood
रुधिर वर्ग .. Blood group
रूढ़िवादिता .. Conservatism
रूपरेखा .. Outline
रूपांतरण .. Transformation
रोक .. Restriction
लंबकाय .. Asthenic
लक्षण .. Trait, symptom
लय .. Rhythm
ललित कलाएं .. Fine arts
लाइजियम .. Lyceum
लिबिडो .. Libido
लेखाचित्र .. Graph
लोकगाथा .. Folk lore
लोकगीत .. Folk song
लोककला .. Folk arts
लोकक्रीड़ाएं .. Folk games
लोकतंत्र .. Democracy
लोकनृत्य .. Folk dance
लोकरीति .. Folk way
लोकविश्वास .. Folk belief
लोकसंस्कृति .. Folk culture
लौह युग .. Iron age
वंध्य .. Sterile
वंध्यकरण .. Sterilisation
वंश .. Dynasty
वंशागतित्व आकलन .. Heritability estimate
वनविज्ञान .. Forestry
वरण .. Selection
वर शुल्क .. Bridegroom price
वर्ग-चेतना .. Class consciousness
वर्ग-संप्रत्यय .. Class concept
वर्गहित .. Class interest
वर्गीकरण .. Classification
वर्जना .. Taboo

वर्ण .. Colour
वर्ण चक्र .. Colour wheel
वर्ण मिश्रण .. Colour mixing
वर्ण विपथन .. Chromatic aberration
वर्ण विरोध .. Colour contrast
वर्णांधता .. Colour blindness,
.. achromatism
वर्तनी .. Spelling
वस्तु .. Object
वस्तुनिष्ठ .. Objective
वाक्य विन्यास .. Syntax
वाग्दान .. Affiliated affiance
वाचाघात .. Aphasia
वाचिक .. Verbal
वाणिज्य .. Commerce
वाणिज्य मंडल .. Chamber of commerce
वाणिज्य शिक्षा .. Commercial education
वात प्रकृति .. Melancholic
वातावरण .. Milieu
वादविवाद .. Debate
वामनता .. Dwarfism
विकलांगों की शिक्षा .. Education of handicapped
विकास .. Development
विघटन .. Disintegration
विचलन .. Deviation
विचार .. Thought
विचारधारा .. Ideology
विजातीय .. Heterogeneous
विजातीय विवाह .. Exogamy
विज्ञान .. Science
वितरण .. Distribution
वितरित सीखना .. Distributed learning
विद्यार्थी .. Student
विद्वेष .. Antipathy
विधवा .. Widow
विधायक .. Affirmative
विधि .. Law
विधुर .. Widower
शिरोबिंदु .. Zenith
शिल्पी .. Artisan
शिशु .. Child
शिष्टाचार .. Manners
शिष्य .. Educand
शीत निष्क्रियता .. Hibernation
शुक्र .. Semen
शुक्राणु .. Sperm
शैक्षिक .. Academic
शैक्षिक निदेशन .. Educational guidance
शैक्षिक प्रशासन .. Educational administration
शैक्षिक योग्यता .. Academic qualification
शैशव .. Infancy
शोध-निबंध .. Dissertation
शोषण .. Exploitation
श्यामपट्ट .. Blackboard
श्रम कल्याण .. Labour welfare
श्रव्य .. Audible
श्रेणीकरण .. Gradation
श्रोता .. Audience
श्लेष्म झिल्ली .. Mucous membrane
विपथन .. Aberration
विपरीत .. Contrary
विपर्यास .. Perversion
विभक्त मनस्कता .. Schizophrenia
विभाग .. Department
विभेददर्शी मनोविज्ञान .. Differential psychology
विभेदीकरण .. Differentiation
विमा .. Dimension
विरेचन .. Catharsis
विरोध का नियम .. Law of contrast
विरोधाभास .. Paradox
विलिंग सहोदरज संतति .. Cross cousin
विवाद .. Dispute
विवाह विच्छेद .. Divorce
विवेक .. Discretion
विशिष्ट शिक्षा .. Special education
विशेष .. Particular
विशेषाधिकार .. Privilege
विश्रांति .. Relaxation
विश्लेषण .. Analysis
विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान .. Analytical psychology
विश्वविद्यालय .. University
विश्वसनीयता .. Reliability
विश्वास .. Confidence, belief
विषजन्य मनस्ताप .. Toxic psychosis
विषम उत्तर प्रतिमा .. After-image, negative
विषम उत्तर संवेदन .. After-sensation, negative
विषय-निर्देश .. Objective reference
विषयनिष्ठता .. Objectivity

विसंगठन .. Disorganization
विसरण .. Diffusion
विस्तार .. Extension
विस्तार-सेवाएं .. Extension services
विस्थापन .. Displacement
वृक्कीय .. Renal
वृद्ध तंत्र .. Gerontocracy
वृद्धि .. Growth
वेतन .. Pay
वेश्यावृत्ति .. Prostitution
वेषभूषा .. Costume
वैचारिक .. Ideological
वैधता .. Validity
व्यक्त .. Explicit
व्यक्ति .. Person
व्यक्ति अध्ययन .. Case study
व्यक्तिगत .. Individual
व्यक्तित्व .. Personality
व्यक्तित्व-अप्रतीति .. Depersonalization
व्यक्तिनिष्ठावाद .. Subjectivism
व्यवहार .. Behaviour
व्यवहारवाद .. Behaviourism
व्यष्टिवाद .. Individualism
व्यसनी .. Addict
व्याकरण .. Grammar
व्याख्यान .. Lecture
व्यामोह .. Paranoia
व्यामोहाभ मनोविदलता .. Paranoid schizophrenia
व्यामोहाभ व्यक्तित्व .. Paranoid personality
व्यायाम .. Physical exercise
व्यावसायिक निदेशन .. Vocational guidance
व्यावसायिक मनोविज्ञान .. Vocational psychology
व्युत्पति .. Etymology
शंकु .. Cone
शकुन .. Omen
शकुनविचार .. Divination
शक्ति .. Power
शक्ति मनोविज्ञान .. Faculty psychology
शब्द-भंडार .. Vocabulary
शब्दावली .. Glossary, terminology
शमनीवाद .. Shamanism
शयनशाला .. Dormitory
शरण गृह .. Shelter home
शर्म .. Shame
शलाका .. Rod
शवाधान .. Burial, inhumation
शाप .. Curse
शारीरिक मानवविज्ञान .. Physical anthropology
शासक वर्ग .. Ruling class
शिकायत .. Grievance
शिक्षा .. Education
शिक्षा-दर्शन .. Educational philosophy
शिक्षा नीति .. Education policy
शिक्षा योजना .. Education plan
शिक्षा शास्त्री .. Educationist
शिक्षा समाजविज्ञान .. Educational sociology
शिक्षा समिति .. Education committee
शिक्षा-सामग्री .. Education material
शिक्षा सेवा .. Education service
शिक्षु .. Apprentice
श्लैष्मिक .. Phlegmatic
श्वसन-तंत्र .. Respiratory system
संकट .. Crisis
संकर .. Hydrid
संकरण .. Hybridization
संकलित सीखना .. Mass learning
संकल्प .. Vow, will
संकाय .. Faculty
संकुचन .. Contraction
संक्रमण .. Transference
संक्रामक .. Contagious
संक्रामक मनस्ताप .. Infectious psychosis
संगठन .. Organisation
संघ .. Union, gasellschaft
संघर्ष .. Conflict, struggle
संचयी रिकार्ड .. Cumulative record
संतुलित भोजन .. Balanced diet
संतृप्ति .. Saturation
संदर्भ ग्रंथसूची .. Bibliography
संपत्ति .. Property, wealth
संपर्क .. Contact
संपुष्टि .. Confirmation
संपूर्ण समाज .. Whole society
संप्रत्यक्ष .. Apperception
संप्रत्यय .. Concept
संभाव्यता .. Possibility
संरचनावाद .. Structuralism
संवलन .. Convolution

संविधान	.. Constitution
संवृत-स्थान-भीति	.. Claustrophobia
संवेग	.. Emotion
संवेदना-हरण	.. Anaesthesia
संवेदी	.. Sensory
संवेदी अंतर्नोद	.. Sensory drive
संशोधन	.. Correction
संसूचन	.. Suggestion
संस्कार	.. Ceremony
संस्कृति	.. Culture
संस्कृति-ग्रहण	.. Acculturation
संस्कृति संकुल	.. Culture complex
संस्था	.. Institution
संस्मृति	.. Reminiscence
सजातीय	.. Homogeneous
सदृशता के नियम	.. Laws of analogy
सनक	.. Craziness
सभाभवन	.. Auditorium
सभ्यता	.. Civilization
सम उत्तर प्रतिमा	.. Positive after-image
सम उत्तर संवेदन	.. Positive after-sensation
समकालीन	.. Contemporary
समझौता	.. Compromise
सममिति	.. Symmetry
समय विभाग	.. Time-table
समरसता	.. Harmony
समरूप यमज	.. Identical twins
समर्पण करना	.. Dedicate
समलिंगी कामुकता	.. Homosexuality
समस्या	.. Problem
समांतरवाद	.. Parallelism
समाज	.. Society
समाज कल्याण	.. Social welfare
समाजमिति	.. Sociometry
समाजविज्ञान	.. Sociology
समाजीकरण	.. Socialisation
समायोजन	.. Accommodation
समीक्षा	.. Review
समीपता का नियम	.. Law of proximity
समुदाय	.. Community
समूह	.. Group
समूह-कारक-सिद्धांत	.. Group factor theory
समूह-मन	.. Group mind
समूह व्यवहार	Mass behaviour
सम्मेलन	.. Conference
सरल	.. Simple
सर्वेक्षण	.. Survey
सर्वेश्वरवाद	.. Pantheism
सलाहकार	.. Adviser
सलाहकार-परिषद	.. Advisory council
सलाहकार-समिति	.. Advisory committee
संश्लेषात्मक	.. Synthetic
सह-अस्तित्व	.. Co-existence
सहकष्टी प्रथा	.. Couvade
सहकारिता	.. Co-operation
सहज वृत्ति	.. Instinct
सहजात	.. Connate
सहपलायन	.. Elopement
सहलग्नता	.. Linkage
सहशिक्षा	.. Co-education
सहसंबंध	.. Correlation
सहायक	.. Assistant
सहायता	.. Assistance, aid
सहोदर	.. Sibling
सांख्यिकीय प्रणाली	.. Statistical method
सांप्रदायिकता	.. Communalism
सांस्कृतिक गुत्थी	.. Cultural complex
सांस्कृतिक प्रतिमान	.. Cultural pattern
सांस्कृतिक मानवविज्ञान	.. Cultural anthropology
सांस्कृतिक लक्षण	.. Cultural traits
सांस्कृतिक लय	.. Cultural theme
सांस्कृतिक विलंबन	.. Cultural lag
सांस्कृतिक समरूपता	.. Cultural parallelism
सांस्कृतिक समाज	.. Cultural societies
साक्षरता	.. Literacy
साक्ष्य	.. Testimony
सादीयता	.. Sadism
सादृश्य	.. Analogy
साधन	.. Means
साप्ताहिक बाजार	.. Weekly market
सामंतवाद	.. Feudalism
सामाजिक अनुकूलन	.. Social adaptation
सामाजिक उद्विकास	.. Social evolution
सामाजिक नियंत्रण	.. Social control
सामाजिक मानवविज्ञान	.. Social anthropology
सामाजिक व्यवस्था	.. Social order
सामाजिक श्रेणीकरण	.. Social gradation
सामाजिक संगठन	.. Social organisation

सामाजिक संतुलन .. Social equilibrium
सामाजिक संविदा .. Social contract
सामान्य .. Normal
सामान्य मनोविज्ञान .. General psychology
सामान्य वितरण चक्र .. Normal distribution curve
सामान्य शिक्षा .. General education
सामान्यीकरण .. Generalization
सामुदायिक स्वामित्व .. Communal ownership
सामूहिक प्रतिनिधित्व .. Collective representation
साम्य .. Resemblance
साम्यवाद .. Communism
सारिणी .. Table
सारांश .. Quintessense
सार्वजनिक .. Public
साली अधिकार .. Sororate
साहचर्य .. Association
साहचर्य क्षेत्र .. Association area
साहचर्यवाद .. Associationism
सिद्धांत .. Theory, doctrine
सिनेंथ्रोपस .. Sinanthropus
सिफलिस .. Syphilis
सिफारिश .. Recommendation
सीखने का संक्रमण .. Transfer of learning
सुख .. Pleasure
सुखेप्सा-सिद्धांत .. Pleasure principle
सुजनन शास्त्र .. Eugenics
सुजननिकी .. Eugenics
सुधार .. Reform
सुधारातीत .. Incorrigible
सुधारात्मक कक्षाएं .. Remedial classes
सुन्नत .. Circumcision
सुरक्षा .. Security
सुविधा .. Facility
सूची .. Index
सूत्र .. Formula
सृजनात्मक .. Creative
सौंदर्य .. Beauty
सौंदर्यबोध मनोविज्ञान .. Aesthetic, psychology
सौंदर्यशास्त्र .. Aesthetics
स्तर .. Level
स्तरण .. Stratification
स्थानीय .. Local
स्थानीकरण .. Localization
स्थायीभाव .. Sentiment
स्थिर .. Static
स्थिरण .. Fixation
स्नातक .. Graduate
स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम .. Postgraduate course
स्पीशीज .. Species
स्फटिक दृष्टि .. Clairvoyance
स्मृति .. Memory
स्मृति प्रतिमा .. Memory image
स्मृतिलोप .. Amnesia
स्रोत .. Sources
स्वकाय दुश्चिता .. Hypochondria
स्वचालन .. Automation
स्वचालित तंत्रिकातंत्र .. Automatic nervous system
स्वजातिवाद .. Ethnocentricism
स्वत:स्फूर्त .. Spontaneous
स्वप्न .. Dream
स्वप्न विश्लेषण .. Dream analysis
स्वयंमेवक .. Volunteer
स्वरति .. Auto-eroticism
स्वरमापी .. Sonometer
स्वसंदर्भ हठभ्रम .. Delusion of reference
स्वाद .. Taste
स्वापक औपधि .. Narcotic drug
स्वामित्व .. Ownership
स्वायत्त .. Autonomic
स्वायत्त तंत्रिका .. Autonomic nerve
स्वार्थी .. Selfish
स्वैच्छिक .. Voluntary
हकलाना .. Stuttering
हठभ्रम .. Delusion
हड़ताल .. Strike
हनु .. Jaw
हन्वस्थि .. Jaw bone
हल .. Solution
हस्तकला .. Handicraft
हाइपोथैलेमस .. Hypothalamus
हाई स्कूल .. High school
हाजिरी .. Attendance
हार्मोन .. Hormone
हिस्टीरिया .. Hysteria
हीबीफ्रीनीय मनोविदलता .. Hebephrenic schizophrenia
हेत्वाभास .. Fallacy
हेत्वाश्रित सौपाधिक .. Hypothetical proposition
होमोसेपियन .. Homosapien

पारिभाषिक शब्दावली

(ख)

Aberration .. विपथन
Aberration, chromatic .. वर्ण विपथन
Ability .. योग्यता
Abnormal .. अपसामान्य
Abnormal psychology .. अपसामान्य मनोविज्ञान
Abolition .. उन्मूलन
Abortion .. गर्भपात
Absence .. अनुपस्थिति
Absent mindedness .. अन्यमनस्कता
Absolute .. निरपेक्ष, परम
Absolute ego .. पराहम
Abstract .. अमूर्त
Academic .. शैक्षिक
Academic qualification .. शैक्षिक योग्यता
Academy .. अकादमी
Acceleration .. त्वरण
Accident proneness .. दुर्घटना-प्रवणता
Acclimatisation .. परिस्थिति अनुकूलन
Accommodation .. समायोजन, समंजन
Accoustics .. ध्वनिक
Acculturation संस्कृति-ग्रहण, पर-संस्कृतीकरण
Achievement .. उपलब्धि
Achievement test .. उपलब्धि परीक्षण
Achromatism .. वर्णांधता
Acquired .. उपार्जित, अर्जित
Action anthropology .. क्रियाविधि मानवविज्ञान
Activity .. क्रियाशीलता
Activity drives .. प्रेरण-क्रियाएं
Act-psychology .. कर्म मनोविज्ञान
Adaptability .. अनुकूलन क्षमता
Adaptation .. अनुकूलन
Addict .. व्यसनी
Addiction .. मादक व्यसन
Ad-hoc .. तदर्थ
Adjudication .. अधिनिर्णय
Adjustment .. अनुकूलन
Administration .. प्रशासन
Administration, class room .. कक्षा-प्रशासन
Administration, dual type of .. द्वैध प्रशासन
Administration, educational .. शैक्षिक प्रशासन
Admission .. प्रवेश
Adolescence .. किशोरावस्था
Adoption .. दत्तक ग्रहण, गोद लेना
Adrenal gland .. अधिवृक्क ग्रंथि
Adrenalin .. ऐड्रिनलिन
Adult .. प्रौढ़, वयस्क
Adult education .. प्रौढ़ शिक्षा
Adulteration .. अपमिश्रण
Adviser .. सलाहकार
Advisory committee .. सलाहकार-समिति
Aesthenic .. लंबकाय
Aesthetics .. सौंदर्यशास्त्र
Affect .. भाव, प्रभाव
Afferent nerve .. अभिवाही तंत्रिका
Affinity .. बंधुता
Affirmative .. विधायक
After-image .. उत्तर प्रतिमा
After-image, negative .. विषम उत्तर प्रतिमा
After-image, positive .. सम उत्तर प्रतिमा
After-sensation .. उत्तर संवेदन
After-sensation, negative .. विषम उत्तर संवेदन
After-sensation, positive .. सम उत्तर संवेदन
Age .. आयु
Age, mental .. मानसिक आयु
Age, norm .. आयु मानक
Agensia .. अस्वाद
Age scale .. आयु मापनी
Aggressive .. आक्रामक
Agitated depression .. क्षोभित अवमन्दन
Agitolatia .. द्रुत भाषण
Aid .. सहायता
Aid, audio-visual .. दृश्य-श्रव्य-साधन
Ainu .. आइनू
Albinism .. रंजकहीनता
Alcoholism .. मद्यपता, अतिपायिता

Algebra .. बीजगणित
Alienation .. पृथकत्व, इतरीभवन
Alkaptonuria .. एलकैप्टोनूरिया
Allergy .. ऐलर्जी
Allopatric species .. एकल समूह
Alpine races .. अल्पाइन प्रजातियां
Alternative .. वैकल्पिक, विकल्प
Altruism .. परहितवाद
Ambiguous .. अनेकार्थक
Ambition .. महत्त्वाकांक्षा
Ambiversion .. उभयमुखिता
Ambivert .. उभयमुखी
Amenities .. सुविधाएं
Amnesia .. स्मृतिलोप
Anachronism .. कालक्रम-विपर्यय
Anaesthesia .. संवेदना-हरण
Analogy .. सादृश्य, सदृशता
Analogy, laws of .. सदृशता के नियम
Analysis .. विश्लेषण
Analytical psychology .. विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान
Anamenesis .. अनुस्मरण
Anarchy .. अराजकता
Anatomy .. शरीर-रचना-विज्ञान
Ancestor worship .. पूर्वज पूजा
Anecdotal-method .. उपाख्यान-प्रणाली
Anger .. क्रोध
Angel .. देवदूत, फरिश्ता
Anima .. अंतर्नारी, एनिमा
Animal psychology .. पशु-मनोविज्ञान
Animal societies .. पशु-समाज
Animism .. आत्मावाद, जीववाद
Animus .. अंतर्नर, एनिमस
Anomalies .. असंगतियां
Anomie .. अप्रतिमानता
Anorexia .. क्षुधा-अभाव
Anosmia .. अघ्राणता, गंधअग्राहिता
Antecedent .. पूर्ववर्ती
Anterior lobe .. अग्रपालि
Anthropology .. मानवविज्ञान
Anthropometry .. मानवमिति
Antibodies .. प्रतिरक्षी
Anticipation .. प्रत्याशा
Antigen .. प्रतिजन
Antipathy .. विद्वेष
Anxiety .. दुश्चिता
Anxiety neurosis .. दुश्चिता, मनस्ताप
Apartheid .. जातीय पृथग्वासन
Apathy .. उदासीनता
Ape man .. कपि मानव
Aphasia .. वाचाघात
Apperception .. संप्रत्यक्ष
Appetite .. क्षुधा
Application .. अनुप्रयोग, आवेदन-पत्र
Applied psychology .. अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान
Apprentice .. शिक्षु
Approach .. उपागम
Aptitude .. अभिक्षमता
Aptitude test अभिक्षमता परीक्षण, रुझान परख
Archaeology .. पुराविद्या, पुरातत्त्व
Archaic .. पुरातन
Archery .. धनुर्विद्या
Archetype .. आद्यप्ररूप
Area .. क्षेत्र
Argument .. युक्ति
Aristocratic .. अभिजातवर्गीय
Aristotalianism .. अरस्तूवाद
Arrogance .. दर्प
Art .. कला
Art galleries .. कलावीथिकाएं
Articulation .. उच्चारण
Artisan .. शिल्पी
Asexual .. अलिंगी
Assessment .. निर्धारण
Assistant .. सहायक
Assistance .. सहायता
Association .. साहचर्य, समिति
Association area .. साहचर्य क्षेत्र
Associationism .. साहचर्यवाद
Astrology .. ज्योतिष
Astronomy .. खगोलविज्ञान
Atheism .. निरीश्वरवाद
Atom .. परमाणु
Atonement .. प्रायश्चित
Attendance .. उपस्थिति, हाज़िरी
Attention .. अवधान
Attitude .. अभिवृत्ति
Attitude-scale .. अभिवृत्ति मापनी

Attitude-test	.. अभिवृत्ति परीक्षण
Attraction	.. आकर्षण
Audience	.. श्रोता
Audible	.. श्रव्य
Auditorium	.. सभाभवन
Authenticity	.. प्रामाणिकता
Auto-eroticism	.. स्व रति
Automatic nervous system	.. स्वचालित तंत्रिकातंत्र
Automation	.. स्वचालन
Autonomic	.. स्वायत्त
Autonomous nervous system	.. स्वायत्त तंत्रिकातंत्र
Autosomal chromosome	.. अलिंग गुणसूत्र
Auto-suggestion	.. आत्म-संसूचन
Average deviation	.. माध्य विचलन
Avunculate	.. मातुल अधिकार
Axis	.. अक्ष
Axon	.. एक्जोन
Bait	.. चारा
Balanced diet	.. संतुलित भोजन
Beauty	.. सौंदर्य
Behaviour	.. व्यवहार
Behaviourism	... व्यवहारवाद
Belief	.. विश्वास
Benevolence	.. परोपकार
Beta test	.. बीटा परीक्षण
Bias	.. अभिनति
Bibliography	.. संदर्भ ग्रंथ सूची
Bifurcation	.. द्विविभाजन
Bigamy	.. द्विविवाह
Bilateral transference	.. द्विपक्षीय संक्रमण
Bile	.. पित्त
Bilingualism	.. द्विभाषीयता
Biology	.. जीवविज्ञान
Biometry	.. जीवमिति
Bipedalism	.. द्विपादगमन
Birth trauma	.. जन्माघात
Bisexuality	.. द्विलिंगिता, उभयलिंगिता
Blackboard	.. श्यामपट्ट
Blindness	.. अंधता
Blind spot	.. अंध बिंदु
Blood	.. रुधिर, रक्त
Blood group	.. रुधिर वर्ग
Blood pressure	.. रक्तचाप
Bondage	.. बंध
Boredom	.. ऊब
Bourgeois	.. बुर्जुआ
Boycott	.. बहिष्कार
Brachy cephalic	.. लघुशिरस्क
Braille alphabet	.. ब्रेल लिपि
Brain	.. मस्तिष्क
Brain volume	.. मस्तिष्क का आयतन
Brain waves	.. मस्तिष्क तरंगें
Brand tillage	.. झूम कृषि
Breeding	.. प्रजनन
Bridegroom price	.. वर शुल्क
Bride price	.. कन्यामूल्य
Brightness	.. दीप्ति
Burial	.. शवाधान
Canine	.. रदनक
Cannibalism	.. नरभक्षिता
Capability	.. क्षमता
Capitalistic system	.. पूंजीवादी व्यवस्था
Carpentry	.. बढ़ईगिरी
Caste	.. जाति
Casteism	.. जातिवाद
Caste mobilisation	.. जातीय गतिशीलता
Caste psychology	.. जाति मनोविज्ञान
Castration complex	.. शिश्न लोप मनोग्रंथि
Catetonic schizophrenia	.. कैटाटोनीय मनोविदलता या विभक्त मनस्कता
Catechism	.. प्रश्नोत्तरी
Catharsis	.. विरेचन
Cause	.. कारण
Ceiling	.. उच्चतम सीमा
Celibacy	.. ब्रह्मचर्य
Cell	.. कोशिका
Census	.. जनगणना
Central nervous system	.. केंद्रीय तंत्रिका तंत्र
Cephalometry	.. कपालमिति
Cerebellum	.. अनुमस्तिष्क
Cerebrum	.. प्रमस्तिष्क
Ceremony	.. संस्कार
Certificate	.. प्रमाण पत्र
Chain-reflex	.. प्रतिवर्त शृंखला
Chamber of commerce	.. वाणिज्य मंडल
Chancellor	.. कुलाधिपति (पहले कुलपति)

Character .. चरित्र, स्वभाव
Child .. शिशु, बालक
Child psychology .. बाल मनोविज्ञान
Choleric .. पित्त प्रकृति
Chromosome .. गुणसूत्र, क्रोमोसोम
Chronic .. दीर्घकालिक
Circular reflex .. प्रतिवर्त चक्र
Circumcision .. सुन्नत
Civilization .. सभ्यता
Clairvoyance .. स्फटिक दृष्टि,
Clan .. कुल, गोत्र
Class .. वर्ग, कक्षा
Class concept .. वर्ग-संप्रत्यय
Class consciousness .. वर्ग-चेतना
Class diary .. कक्षा-दैनिकी
Class teaching .. कक्षा अध्यापन
Classwise .. कक्षावार
Classification .. वर्गीकरण
Class interest .. वर्गहित
Claustrophobia .. संवृत-स्थान-भीति
Climate .. जलवायु
Clinical .. नैदानिक
Clinical psychology .. नैदानिक मनोविज्ञान
Clique .. गुट
Cochlea .. कर्णावर्त
Co-education .. सहशिक्षा
Co-efficient .. गुणांक
Co-efficient of correlation .. सहसंबंध गुणांक
Co-existence .. सह-अस्तित्व
Cognate .. सजातीय
Collective representation .. सामूहिक प्रतिनिधित्व
College .. कालेज, महाविद्यालय
Colony .. उपनिवेश
Colour .. वर्ण, रंग
Colour blindness .. वर्णांधता
Colour contrast .. वर्ण विरोध
Colour mixing ... वर्ण मिश्रण
Colour wheel .. वर्ण चक्र
Coma .. निश्चेतना, अतिमूर्च्छा
Commerce .. वाणिज्य
Commercial education .. वाणिज्य शिक्षा
Communalism .. सांप्रदायिकता
Communal ownership .. सामुदायिक स्वामित्व
Communism .. साम्यवाद
Community .. समुदाय
Comparative anatomy .. तुलनात्मक शरीर-रचना विज्ञान
Comparative psychology .. तुलनात्मक मनोविज्ञान
Compensation .. क्षतिपूर्ति
Competition .. प्रतियोगिता
Complementary colour .. पूरक वर्ण
Complex .. मनोग्रंथि
Complicate .. जटिल
Component .. घटक
Compound .. यौगिक
Compromise .. समझौता
Compulsion .. बाध्य क्रिया
Computation .. परिकलन
Concentration .. एकाग्रता
Concept .. संप्रत्यय, संकल्पना
Conclusion .. निष्कर्ष, उपसंहार
Conditioned reflex .. अनुबंधित प्रतिवर्त
Conditioned response .. अनुबंधित अनुक्रिया
Conditioning ... अनुबंधन
Conduct .. आचरण
Cone .. शंकु
Conference .. सम्मेलन
Confidence .. विश्वास
Confirmation .. संपुष्टि
Conflict .. द्वंद्व, अंतर्द्वन्द्व
Congenital .. जन्मजात
Connate .. सहजात
Consanguinity .. रक्तसंबद्ध विवाह, अंतः-प्रजनन
Consciousness .. चेतना
Conservatism .. रूढ़िवादिता
Conspiracy .. षड्यंत्र
Constitution .. संविधान, संघटन
Construction .. निर्माण, रचना
Constructive .. रचनात्मक
Consultation .. परामर्श
Consumption .. उपभोग
Contact .. संपर्क
Contagious .. संक्रामक
Contemporary .. समकालीन
Content .. सार, अंतर्वस्तु
Context .. प्रसंग, संदर्भ
Contingency .. आपात

Contraception	.. गर्भनिरोधन
Contraction	.. संकुचन
Contrary	.. विपरीत
Contribution	.. योगदान
Control	.. नियंत्रण
Controversy	.. विवाद
Convention	.. रूढ़ि, परिपाटी
Conversion hysteria	.. परिवर्तन हिस्टीरिया
Conviction	.. दृढ़ विश्वास
Convolution	.. संवलन
Co-operation	.. सहयोग
Corpuscle	.. कणिका
Correction	.. संशोधन
Correlation	.. सहसंबंध
Correspondence course	.. पत्राचार पाठ्यक्रम
Costume	.. वेषभूषा
Cottage industries	.. कुटीर उद्योग
Course	.. पाठ्यक्रम
Couvade	.. कुवाड, सहकष्टी प्रथा
Cowardice	.. भीरुता
Cranial nerves	.. कपाल-तंत्रिकाएं
Craniometry	.. कपालमिति
Craziness	.. सनक
Creative	.. सृजनात्मक
Creche	.. क्रेश, नर्सरी
Creed	.. मत
Cremation	.. दाह-संस्कार
Cretinism	.. जड़वामनता
Crime	.. अपराध
Criminal psychology	.. अपराध मनोविज्ञान
Criminology	.. अपराध विज्ञान
Crisis	.. संकट
Criterion	.. निकष, कसौटी
Criticism	.. आलोचना
Cross cousin	.. विलिंग सहोदर संतति
Cross cultural survey	.. अंत: संस्कृति सर्वेक्षण
Crossing over	.. जीन विनिमय
Crowd	.. भीड़
Cultural Anthropology	.. सांस्कृतिक मानवविज्ञान
Cultural diffusion	.. सांस्कृतिक गुत्थी
Cultural Complex	.. सांस्कृतिक प्रसार, सांस्कृतिक संक्रमण, सांस्कृतिक विसरण
Cultural lag	.. सांस्कृतिक विलंबन
Cultural parallelism	.. सांस्कृतिक समांतरता
Cultural pattern	.. सांस्कृतिक प्रतिमान
Cultural societies	.. सांस्कृतिक समाज
Cultural theme	.. सांस्कृतिक लय
Cultural traits	.. सांस्कृतिक लक्षण
Culture	.. संस्कृति
Culture Complex	.. संस्कृति संकुल
Cumulative record	.. संचयी रिकार्ड
Cuneiform	.. कीलाक्षर (लिपि)
Curiosity	.. उत्सुकता
Curriculum	.. पाठ्यचर्या
Curse	.. शाप
Custom	.. प्रथा, रूढ़ि
Cutaneous sensation	.. त्वचीय बोध
Cytology	.. कोशिकाविज्ञान
Cytoplasm	.. कोशिकाद्रव्य, कोशद्रव्य
Day-dream	.. दिवास्वप्न
Deaf-mute	.. मूक-बधिर
Deafness	.. बधिरता
Death instinct	.. मुमूर्षा
Debate	.. वादविवाद, बहस
Decadent	.. क्षयोन्मुख
Dedicate	.. समर्पण करना
Deduction	.. निगमन
Defence-mechanism	.. रक्षा युक्ति
Deficiency	.. न्यूनता
Definition	.. परिभाषा
Defloration	.. कौमार्य भंग
Delinquency	.. अपराध, अपचार
Delirium	.. प्रलाप
Deluge	.. जलप्लावन, महाप्रलय
Delusion	.. हठभ्रम, भ्रांति
Delusion of grandeur	.. महानता हठभ्रम
Delusion of persecution	.. उत्पीड़न भ्रांति, उत्पीड़न हठभ्रम
Delusion of reference	स्वसंदर्भ हठभ्रम
Dementia	.. मनोह्रास
Dementia praecox	.. अकाल मनोह्रास
Demócracy	.. लोकतंत्र, जनतंत्र
Demography	.. जन सांख्यिकी
Demonstration	.. निदर्शन
Demonstration Class	.. निदर्शन कक्षा
Dentition	.. दंतविन्यास, दंतसूत्र
Department	.. विभाग
Depersonalization	.. व्यक्तित्व-अप्रतीति

Depression	.. अवसाद
Dermatoglyphics	.. चर्मरेखा शास्त्र
Descent	.. अनुवंश
Designation	.. पदनाम, अभिधान
Desire	.. इच्छा
Destiny	.. नियति
Development	.. विकास, परिवर्तन
Deviation	.. विचलन
Device	.. युक्ति, साधन
Devotion	.. निष्ठा, भक्ति
Dialect	.. बोली
Diary	.. दैनिकी, डायरी
Difference	.. अंतर
Differential psychology	.. विभेददर्शी मनोविज्ञान
Differential response	.. भेदक अनुक्रिया
Differentiation	.. विभेदन, विभेदीकरण
Diffusion	.. विसरण
Dignity	.. गौरव
Dimension	.. विमा
Diploma	.. डिप्लोमा, उपाधिपत्र
Direction	.. निदेशन
Disappointment	.. निराशा
Disassociated personality	.. निरायोजित व्यक्तित्व
Discipline	.. अनुशासन
Discontent	.. असंतोष
Discovery	.. खोज
Discretion	.. विवेक
Discussion	.. परिचर्चा, बहस
Disintegration	.. विघटन
Disorganization	.. विसंगठन
Disorientation	.. अनभिविन्यास
Displacement	.. विस्थापन
Dispute	.. विवाद
Dissertation	.. शोध-निबंध
Dissociation	.. विघटन
Distributed learning	.. वितरित सीखना
Distribution	.. वितरण
District	.. जिला
Divination	.. शकुनविचार
Divorce	.. विवाह विच्छेद, तलाक
Disygotic	.. द्वियुग्मज
Doctrine	.. सिद्धांत
Dogma	.. मताग्रह
Dolichocephalic	.. दीर्घ शिरस्क
Domestic animals	.. पालतू पशु
Domestic science	.. गृहविज्ञान
Dominent	.. प्रभावी
Dormitory	.. शयनशाला
Dowry	.. दहेज
Drawing	.. चित्रांकन, आरेखण
Dream	.. स्वप्न
Dream analysis	.. स्वप्न विश्लेषण
Dress	.. पोशाक
Drive	.. अंतर्नोद
Drug-addiction	.. औषधि व्यसन
Ductless gland	.. नलिकाहीन ग्रंथि
Dumb	.. गूंगा
Dwarfism	.. वामनता, बौनापन
Dwelling	.. आवासगृह
Dynamic	.. गत्यात्मक
Dynasty	.. वंश
Echo	.. प्रतिध्वनि
Ecology	.. परिस्थितिकी
Economics	.. अर्थशास्त्र
Educand	.. शिष्य
Education	.. शिक्षा
Educational administration	.. शैक्षिक प्रशासन
Educational guidance	.. शैक्षिक निदेशन
Educational philosophy	.. शिक्षा दर्शन
Educational psychology	.. शिक्षा मनोविज्ञान
Educational sociology	.. शिक्षा समाजविज्ञान
Education committee	.. शिक्षा समिति
Education of handicapped	.. विकलांगों की शिक्षा
Education material	.. शिक्षा-सामग्री
Education plan	.. शिक्षा योजना
Education policy	.. शिक्षा नीति
Education service	.. शिक्षा सेवा
Effector	.. प्रभावक
Efficiency	.. दक्षता
Effigy	.. पुतला
Effort	.. प्रयास, कार्य
Ego	.. अहम
Egoism	.. अहंवाद
Egotism	.. अहंमन्यता
Eidetic image	.. आइडेटिक प्रतिमा
Elation	.. उल्लास
Electra complex	.. इलेक्ट्रा मनोग्रंथि
Electricity	.. बिजली, विद्युत

Element .. तत्व
Elementary psychology .. प्राथमिक मनोविज्ञान
Elimination .. निरास
Elopement .. सहपलायन
Embryology .. भ्रूणविज्ञान
Emotion .. संवेग
Emotion, conditioned .. अनुबंधित संवेग
Empiricism .. इंद्रियानुभववाद
Employee .. कर्मचारी
End .. उद्देश्य, साध्य, अंत
Endocranium .. अंत:कपाल
Endocrine gland .. अंत:स्रावी ग्रंथि
Endogamy .. अंतर्विवाह
Energy .. ऊर्जा
Enterprise .. उद्यम
Enthusiam .. उत्साह
Environment .. पर्यावरण
Epilepsy .. अपस्मार, मिर्गी
Equivocal .. अनेकार्थक
Eros .. जिजीविषा
Eros-cult .. रति-संप्रदाय
Eroticism .. कामुकता
Error .. दोष, त्रुटि
Escape .. पलायन
Escape mechanism .. पलायन युक्ति
Essence .. तत्व, सार
Estimation .. आकलन
Eternity .. नित्यता
Ethical .. नैतिक
Ethics .. नीतिशास्त्र
Ethnocentricism .. स्वजातिवाद
Ethnology .. मानवजातिविज्ञान
Ethnopsychology .. जाति मनोविज्ञान
Etymology .. व्युत्पत्ति
Eugenics .. सुजननिकी, सुजननशास्त्र
Evaluation .. मूल्यांकन
Evening class .. सायं कक्षा
Event .. घटना
Evidence .. प्रमाण, साक्ष्य
Evil eye .. कुदृष्टि
Evolution .. विकास, उद्विकास
Evolutionism .. विकासवाद
Examination .. परीक्षा
Examinee .. परीक्षार्थी
Examiner .. परीक्षक
Example .. दृष्टांत, उदाहरण
Exception .. अपवाद
Excess .. आधिक्य
Exchange .. विनिमय
Excitation .. उत्तेजन
Excommunication .. जाति बहिष्कार
Execution .. कार्यन्वयन
Exemplification .. निदर्शन, दृष्टांतीकरण
Exercise .. अभ्यास
Exhibitionism .. मयूरवृत्ति, प्रदर्शनवृत्ति
Existence .. अस्तित्व
Existentialism .. अस्तित्ववाद
Exogamy .. बहिर्विवाह
Expectation .. प्रत्याशा
Expedient .. कार्यसाधक
Experience .. अनुभव
Experiment .. प्रयोग
Experimental-psychology .. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान
Exiation .. प्रायश्चित
Exploitation .. शोषण
Exploration .. खोजयात्रा
Expression .. अभिव्यक्ति
Extension .. विस्तार
Extension service .. विस्तार-सेवाएं
Extra-curricular activities .. पाठ्येतर कार्यकलाप
Extrinsic .. बाह्य
Extroversion (Extraversion) .. बहिर्मुखता
Extrovert (Extravert) .. बहिर्मुखी
Eye ball .. नेत्र गोलक
Facility .. सुविधा
Fact .. तथ्य
Factor .. कारक
Factor theory .. कारक सिद्धांत
Faculty .. शक्ति, संकाय
Faculty psychology .. शक्ति मनोविज्ञान
Faith .. आस्था
Fallacy .. हेत्वाभास, तर्कदोष
Family .. परिवार
Family organisation .. परिवार संगठन
Family planning .. परिवार नियोजन
Famine .. अकाल, दुर्भिक्ष
Fanaticism .. धर्मांधता
Fashion .. फैशन

Fatigue .. थकान
Fear .. भय
Feeling .. भाव, विकार, अनुभूति
Fertility rites .. उर्वरता संस्कार
Festival उत्सव
Fetishism .. फीटिश परायणता, फीटिश-वाद
Feudalism .. सामंतवाद
Fibre .. तंतु, रेशा
Field .. क्षेत्र
Field work .. क्षेत्र-कार्य
Figure .. आकृति
Figure-ground relation .. आकृति भूमि संबंध
Filtration theory .. निस्यंदन सिद्धांत
Fine arts .. ललित कलाएं
Fits .. दौरा
Fixation .. स्थिरण
Foetus .. भ्रूण
Folk art .. लोक कला
Folk belief .. लोक विश्वास
Folk culture .. लोक संस्कृति
Folk dance .. लोक नृत्य
Folk games .. लोक क्रीड़ाएं
Folk lore .. लोकगाथा
Folk song .. लोकगीत
Folk way .. लोकरीति
Forestry .. वनविज्ञान
Forgetting .. भूलना, विस्मरण
Formula .. सूत्र
Fossil .. जीवाश्म, फासिल
Fraternal .. भ्रातृक
Free association .. मुक्त साहचर्य
Frequency .. आवृत्ति, बारंबारता
Frequency distribution .. आवृत्ति बंटन
Frustration .. कुंठा
Fugue .. फ्यूग
Function .. कार्य, क्रिया
Functionalism .. क्रियावाद
Fundamental rights .. मौलिक अधिकार
Gang .. दल, टोली
Ganglion .. गुच्छिका
Gasellschaft .. संघ, गैजलशाफ्ट
Geishas .. गैशा, गीशा
Genaelogy .. वंशावली
Gene .. जीन
Gene frequency .. जीन बारंबारता
General education .. सामान्य शिक्षा
Generalization .. सामान्यीकरण
General psychology .. सामान्य मनोविज्ञान
Generation .. पीढ़ी
Generosity .. औदार्य, उदारता
Genetic code .. जीन कोड
Genius .. प्रतिभा
Genus .. जाति
Geography .. भूगोल
Geology .. भौमिकी, भूविज्ञान
Gerontocracy .. वृद्ध तंत्र
Gestalt .. गेस्टाल्ट
Gestalt anthropology .. गेस्टाल्ट मानवविज्ञान
Gestalt psychology .. गेस्टाल्ट मनोविज्ञान
Ghetto .. घेट्टो
Gland .. ग्रंथि
Glossary .. शब्दावली
Goal .. लक्ष्य
Gonad .. जनन-ग्रंथि, गोनड
Gorilla .. गोरिल्ला
Gradation .. श्रेणीकरण
Grade .. श्रेणी
Graduate .. स्नातक
Grammar .. व्याकरण
Grant .. अनुदान
Graph .. लेखाचित्र, ग्राफ
Gregariousness .. यूथचारिता
Grey matter .. धूसर द्रव्य
Grief .. परिताप
Grievance .. शिकायत
Groove .. खांचा
Group .. समूह, टोली
Group factor theory .. समूहकारक-सिद्धांत
Group mind .. समूह-मन
Growth .. वृद्धि
Guardian .. अभिभावक
Guidance .. मार्गदर्शन, निर्देशन
Gymanasium .. व्यायामशाला, जिमनाजियम
Gypsy .. खानाबदोश, जिप्सी
Habit .. आदत, स्वभाव
Hair cells .. लोम कोशिकाएं
Hallucination .. मतिभ्रम, विभ्रम

Handicapped .. बाधित
Handicraft .. हस्तकला
Harmony .. समरसता, तालमेल
Headmaster .. मुख्याध्यापक
Health education .. स्वास्थ्य शिक्षा
Herd .. यूथ,
Hereditary .. अनुवंशिक
Hebephrenic schizophrenia .. हीबीफ्रीनीय मनोविदलता
Heredity .. आनुवंशिकता
Heritability estimate .. वंशागतित्व आकलन
Hermaphroditism .. उभयलिंगिता
Heterogeneous .. विजातीय, विषम जातीय
Hibernation .. शीत निष्क्रियता, शीत निद्रा
Hierglyphics .. चित्रलिपि , बीजाक्षरविद्या
Higher secondary education .. उच्चतर माध्यमिक शिक्षा
Higher secondary school .. उच्चतर माध्यमिक विद्यालय
High school .. हाई स्कूल
Home work .. गृह कार्य
Homogeneous .. सजातीय
Homosapien .. होमो सेपियन
Homosexuality .. समलिंगी कामुकता, सम-लिंगी रति
Hormic psychology .. हार्मिक मनोविज्ञान
Hormone .. हार्मोन
Hospitality .. आतिथ्य
Hue .. रंग
Human ecology .. मानव परिस्थितिकी
Humanism .. मानवतावाद
Humanitarianism .. जीवदयावाद
Humanities .. मानविकी
Hybrid .. संकर
Hybridization .. संकरण
Hydrocephalics .. जल कपाल
Hydrophobia .. जलभीति
Hyperactive .. अति सक्रिय
Hypertention .. अति रुधिर तनाव
Hypnotism .. सम्मोहन
Hypochondria .. स्वकाय दुश्चिन्ता
Hypothesis .. प्राक्कल्पना, परिकल्पना
Hysteria .. हिस्टीरिया
Id .. इड
Ideal .. आदर्श
Identical twins .. समरूप यमज,
Identification .. तदात्मीकरण,

Ideology .. विचारधारा,
Idiot .. जड़मति
Idleness .. आलस्य
Idolatory .. मूर्ति पूजा
Illegitimate .. जारज
Illicit .. अनुचित
Illiteracy .. निरक्षरता
Illusion .. भ्रम
Image .. प्रतिमा, बिंब
Imagination .. कल्पना
Imbecile .. बालिश
Imitation .. अनुकरण
Immorality .. अनैतिकता
Impulse .. आवेग
Impurity .. अशुद्धि
Inborn .. सहज
Inbreeding .. अंत:प्रजनन
Incantation .. मंत्र
Incarnation .. अवतार
Incentive .. प्रोत्साहन
Incest .. अगम्यगमन
Incisor .. कृतक
Incorrigible .. सुधारातीत, लाइलाज
Index .. सूचकांक, सूची
Individual .. व्यक्ति, व्यक्तिगत
Individualism .. व्यष्टिवाद, व्यक्तिवाद
Individuality .. व्यक्तित्व
Individual psychology .. व्यक्तिपरक मनोविज्ञान
Indolent .. अकर्मण्य
Inductive .. आगमनात्मक
Industry .. उद्योग
Industrial psychology .. औद्योगिक मनोविज्ञान
Industrial revolution .. औद्योगिक क्रांति
Inequality .. असमानता
Inertia .. जड़त्व
Infancy .. शैशव
Infantile reactions .. बचकानी प्रतिक्रियाएं
Infectious psychosis .. संक्रामक मनस्ताप
Inference .. अनुमान
Inferiority complex .. हीनता मनोग्रंथि
Influence .. प्रभाव
Inheritance .. वंशागति, दाय
Inhibition .. प्रावरोध, रोक
Inhibitory reactions .. प्रावरोधी प्रतिक्रियाएं

Inhumation	.. शवाधान
Initiative	.. पहल
Insight	.. अंतर्दृष्टि
Insomnia	.. अनिद्रा
Inspection	.. निरीक्षण
Inspiration	.. प्रेरणा
Instinct	.. सहज वृत्ति, मूल प्रवृत्ति
Institute	.. संस्थान
Institution	.. संस्था
Instructor	.. अनुदेशक
Insulin	.. इन्सुलिन
Intelligence	.. बुद्धि
Intelligence quotient (I.Q.)	.. बुद्धिलब्धि
Intelligence ratio	.. बुद्धि-अनुपात
Intelligence scale	.. बुद्धि-मापनी
Intelligence test	.. बुद्धि-परीक्षण
Intelligentsia	.. प्रबुद्ध वर्ग
Intensity	.. तीव्रता
Intercaste conflict	.. अंतर्जातीय संघर्ष
Interest	.. अभिरुचि, हित
Interim	.. अंतरिम
Interval	.. मध्यावकाश, अंतराल
International	.. अंतर्राष्ट्रीय
Intolerance	.. असहिष्णुता
Introduction	.. भूमिका, विषय-प्रवेश
Introjection	.. अंत:क्षेपण
Introspection	.. अंतर्निरीक्षण
Introversion	.. अंतर्मुखता
Invariable	.. अचर, अपरिवर्तनीय
Invention	.. आविष्कार
Investigation	.. अन्वेषण
Involutional melancholia	.. प्रत्यावर्तन कालीन विषण्णता
Iron age	.. लौह युग
Isolation	.. विलगाव, पृथक्करण
Jail	.. कारागार
James-Lange theory	.. जेम्स लांगे सिद्धांत
Jaundice	.. पीलिया
Jaw	.. हनु
Jaw Bone	.. हन्वस्थि
Jettatura	.. कुदृष्टि
Jocking relationship	.. परिहास संबंध, हंसी मजाक के संबंध
Justice	.. न्याय
Juvenile delinquency	.. बाल-अपराध
Juvenile delinquent court	.. बाल-अपराध न्यायालय
Kidnap	.. बलात् अपहरण
Kinder garten	.. किंडर गार्टन
Kinship	.. नातेदारी, बंधुत्व
Kitchenmidden	.. किचन मिडन
Kleptomania	.. चौर्योन्माद
Knowledge	.. ज्ञान
Ku Klux Klan	.. कू क्लक्स क्लान
Law of contrast	.. विरोध का नियम
Law of effect	.. प्रभाव का नियम
Law of learning	.. अधिगम का नियम
Law of proximity	.. समीपता का नियम
Law of similarity	.. सदृशता का नियम
Layman	.. सामान्य जन
Leadership	.. नेतृत्व
Learning	.. अधिगम, सीखना
Leave	.. छुट्टी
Lecture	.. व्याख्यान
Laboratory	.. प्रयोगशाला
Labour union	.. मजदूर संघ
Labour welfare	.. श्रम कल्याण
Land tenure	.. भूधारण
Latency period	.. अव्यक्ति काल
Latent schizophrenia	.. प्रछन्न मनोविदलता
Law	.. विधि, नियम
Leptorrhini	.. तनुनासा
Lesbianism	.. नारीस्वरति
Lesson	.. पाठ
Level	.. स्तर
Levirate	.. देवर संबंध
Liberal	.. उदार
Liberation	.. मोचन
Libido	.. लिबिडो
Library	.. पुस्तकालय
Lie-detector	.. अनृतदर्शी
Linguistics	.. भाषाविज्ञान
Link	.. कड़ी
Linkage	.. सहलग्नता
Literacy	.. साक्षरता
Lobe	.. पालि
Local	.. स्थानीय
Localization	.. स्थानीकरण, स्थान-निर्धारण
Logic	.. तर्कशास्त्र
Love	.. प्रेम, स्नेह

Loyalty .. निष्ठा
Lunacy .. उन्माद, पागलपन
Lust .. कामुकता, स्पृहा
Lustre .. कांति
Lyceum .. लाइजियम
Macrocephalic .. दीर्घकपालिक, बृहत्कपालिक
Magic .. जादू, जादूटोना
Mal adjustment .. कुसमायोजन, कुसमंजन
Mal nutrition .. कुपोषण
Mana .. माना
Managing committee .. प्रबंध समिति
Mania .. उन्माद
Manners .. शिष्टाचार
Map .. मानचित्र
Marginal group .. उपांत दल
Mark .. अंक, चिह्न
Marriage .. विवाह
Masculine protest .. पुंस्पृहा
Masochism .. मैमोकीयता
Mass behaviour .. समूह व्यवहार
Mass learning .. सामूहिक सीखना
Materialism .. भौतिकवाद
Mating .. समागम, मैथुन
Matriarchal .. मातृतंत्रीय, मातृसत्तात्मक
Maturity .. परिपक्वता
Mean deviation .. माध्य विचलन
Means .. साधन, उपाय
Mechanization .. यंत्रीकरण
Mediterranean race .. भूमध्य सागरीय प्रजाति
Medium .. माध्यम
Medulla oblongata .. मेरुरज्जुशीर्ष
Melancholic .. वात प्रकृति
Membrane .. झिल्ली
Memory .. स्मृति
Memory image .. स्मृति प्रतिमा
Mendalism .. मेंडलवाद
Meningitis disease .. तानिकाशोथ रोग
Menopause .. रजोनिवृत्ति
Menses .. ऋतुस्राव, मासिक धर्म
Mental .. मानसिक
Mental activities .. मानसिक गतिविधियां
Mental age .. मानसिक आयु
Mental disease .. मानसिक रोग
Mental hygiene .. मानसिक स्वास्थ्य
Mercy .. दया
Mesmerism .. मेस्मरवाद
Mesocephalics .. मध्य कपालिक
Mesolithic period .. मध्य पाषाण युग
Metabolic .. उपापचयी
Metabolism .. उपापचय
Metal .. धातु
Method .. प्रणाली, विधि
Microcephalic .. लघु शिरस्क
Midbrain .. मध्य मस्तिष्क
Middle class .. मध्य वर्ग
Middle ear .. मध्य कर्ण
Middle school .. मिडिल स्कूल
Migration .. गमन, प्रवसन
Milieu .. वातावरण
Mind .. मन
Miocene .. अल्पनूतनकाल
Mirror drawing .. दर्पण-आरेखन
Miscegenation .. प्रजाति मिश्रण
Mobile library .. चल पुस्तकालय
Mobile school .. चल पाठशाला
Moiety .. अर्धांश
Molar .. चर्वणक
Mongolism .. मंगोलीयता
Mongoloid race .. मंगोलकल्प प्रजाति
Monitor .. मानीटर
Monogamy .. एक विवाह
Monographic method .. मोनोग्राफिक पद्धति
Monopoly .. एकाधिकार
Montessori system .. मौंटेसरी पद्धति
Mood .. भावदशा
Moral .. नैतिक
Moral anxiety .. नैतिक दुश्चिंता
Morale .. मनोबल
Morality .. नैतिकता
Mores .. रूढ़ि, लोकप्रथा
Moron .. मूढ़, क्षीण बुद्धि
Morphology .. आकृतिविज्ञान
Mosaic .. मोजेक
Mother tongue .. मातृभाषा
Motion .. गति
Motivation .. अभिप्रेरण
Motive .. अभिप्रेरक
Mountaineering .. पर्वतारोहण

Mucous membrane .. श्लेष्म झिल्ली
Multiple personality .. बहुमुखी व्यक्तित्व
Muscle .. पेशी
Muscular adjustment .. पेशीय समायोजन
Musical instruments संगीत उपकरण
Music education .. संगीत शिक्षा
Music school .. संगीत विद्यालय
Mutation .. उत्परिवर्तन
Mutual .. पारस्परिक
Mystic .. रहस्यवादी
Myth .. प्रतीकोपाख्यान, मिथक
Narcissist stage .. नार्सीसस अवस्था
Narcissism .. नार्सीयता, स्वरति
Narcotic drug .. स्वापक औषधि
Nation .. राष्ट्र
National .. राष्ट्रीय
National award .. राष्ट्रीय पुरस्कार
National Education Institute .. राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
National eugenics .. राष्ट्रीय सुजननिकी
Nationalisation .. राष्ट्रीकरण
Nationalism .. राष्ट्रवाद
Natural selection .. प्राकृतिक वरण
Nature .. प्रकृति
Negative reactions .. ऋणात्मक प्रतिक्रियाएं
Negligence .. उपेक्षा, लापरवाही
Negrito .. नीग्रीटो
Negroid race .. नीग्रोकल्प प्रजाति
Neo-literate .. नव-साक्षर
Nepotism .. बंधुपक्षपात
Nerve .. तंत्रिका, नाड़ी
Nerve, motor .. गति- तंत्रिका
Nerve impulse .. तंत्रिका आवेग
Nerve net .. तंत्रिका जाल
Nervous disease .. तंत्रिका रोग
Nervous system .. तंत्रिकातंत्र
Neurology .. तंत्रिकाविज्ञान
Neuron .. न्यूरोन
Neuropsychiatry .. तंत्रिका-मनश्चिकित्सा
Neurosis .. तंत्रिकाताप, मनस्ताप
Neurotic .. तंत्रिकातापी
Neurotic anxiety .. तंत्रिकातापी दुश्चिंता
Neutralism .. तटस्थवाद
Neutron .. न्यूट्रान, क्लीवाणु
New stone age .. नव पाषाण युग
Nightmare .. दुःस्वप्न
Noble .. अभिजात
Nomad .. यायावर, खानाबदोश
Nomenclature .. नाम-पद्धति
Non-disjunction .. अवियोजन
Non-recurring .. अनावर्ती
Noose .. फंदा
Nordic race .. नार्डिक प्रजाति
Norm .. मानक
Normal .. सामान्य
Normal distribution curve .. सामान्य वितरण वक्र
Nucleus .. केंद्रक
Nudism .. नग्नतावाद
Nursery school .. नर्सरी स्कूल
Nurture .. पोषण
Nymphomania .. नारीकामोन्माद
Object .. वस्तु, विषय
Objective .. वस्तुनिष्ठ, विषयनिष्ठ
Objectivity .. विषयनिष्ठता
Obscenity .. अश्लीलता
Observation .. प्रेक्षण
Observational anthropology .. प्रेक्षणप्रधान मानवविज्ञान
Observer .. प्रेक्षक
Obsession .. मनोग्रस्ति
Obsessional neurosis .. मनोग्रस्त मनस्ताप
Obsolete .. अप्रचलित
Occipital .. अनुकपाल
Odour .. गंध
Oedipus complex .. इडिपस मनोग्रंथि
Omen .. शकुन
Opinion .. मत
Opposition .. विरोध
Optic nerve .. दृक्-तंत्रिका
Optional .. ऐच्छिक
Oral stage .. मौखिक अवस्था
Ore .. अयस्क
Organ .. अंग, इंद्रिय
Organic .. आंगिक
Organic psychosis .. आंगिक मनस्ताप
Organic therapy .. आंगिक चिकित्सा
Organisation .. संगठन, व्यवस्था
Orientation .. अभिविन्यास
Ornament .. आभूषण

Orphanage .. अनाथालय
Outline .. रूपरेखा
Ovary .. अंडाशय
Overt .. प्रकट
Ovum .. अंडाणु
Ownership .. स्वामित्व
Paleolithic age .. पुराप्रस्तर युग
Pancreas .. अग्न्याशय
Pantheism .. सर्वेश्वरवाद
Paradox .. विरोधाभास
Parallelism .. समांतरवाद
Paralysis .. अंगघात
Paranoia .. व्यामोह, विभ्रांति
Paranoid personality .. व्यामोहाभ व्यक्तित्व
Paranoid schizophrenia .. व्यामोहाभ मनोविदलता
Parapsychic .. परामानसिकीय
Parapsychology .. परामानसिकी
Parasitism .. परजीविता
Parathyroid gland .. परावटुग्रंथि
Parole system .. पैरोल पद्धति
Particular .. विशेष
Pass course .. सामान्य पाठ्यक्रम
Passion .. भावावेश
Passive courage .. निष्क्रिय साहस
Paternal .. पैतृक
Patriarchal .. पितृतंत्री
Patricide .. पितृहत्या
Patrimony .. पितृदाय
Patriotism .. देशभक्ति
Pattern .. प्रतिदर्श, प्रतिरूप
Pay .. वेतन
Penal code .. दंड-संहिता
Penance .. तपस्या
Penetrance .. जीन व्यापन
People's republic .. जनवादी गणराज्य
Perception .. प्रत्यक्ष
Performance test .. निष्पादन परीक्षण
Perfunctory .. अन्यमनस्क
Peripheral nervous system .. परिधीय तंत्रिकातंत्र
Persecution .. उत्पीड़न
Person .. व्यक्ति
Persona .. पर्सोना
Personality .. व्यक्तित्व
Prespective .. परिप्रेक्ष्य
Perversion .. विपर्यास
Pessimism .. निराशावाद
Phenomenology .. घटनाविज्ञान
Philanthropy .. मानव-प्रेम
Philosopher .. दार्शनिक
Philosophy .. दर्शन
Phi-phenomenon .. फाई-घटना
Phlegmatic .. श्लैष्मिक
Phobia .. दुर्भीति
Phonometer .. ध्वनिमापी
Photometer .. प्रकाशमापी
Photophobia .. प्रकाशभीति
Phototropism .. प्रकाशानुवर्तन
Phratry .. बहुअंशक समाज
Physical anthropology .. शारीरिक मानवविज्ञान
Physical exercise .. व्यायाम
Physics .. भौतिकी
Physiological psychology .. शरीरक्रिया मनोविज्ञान
Physique .. शरीर-गठन
Pigment .. वर्णक
Pitch .. तारत्व
Pithecanthropus .. पिथिकैंथ्रोपस
Pituitary gland .. पीयूष-ग्रंथि
Plan .. योजना
Plateau .. पठार
Platonism .. प्लेटोवाद
Play .. क्रीड़ा, खेल
Play ground .. क्रीड़ा स्थल
Pleasure .. सुख
Pleasure principle .. सुखेप्सा-सिद्धांत
Pleistocene .. प्लीस्टोसीन
Plural society .. बहुसमाज
Policy .. नीति
Politics .. राजनीति
Polyandry .. बहुपतित्व
Polydactyly .. बहुअंगुलिता
Polygamy .. बहुविवाह
Polygyny .. बहुपत्नीत्व
Population .. जनसंख्या, आबादी
Post graduate course .. स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम
Possibility .. संभाव्यता
Potency .. शक्ति
Power .. शक्ति
Precedent .. पूर्ववर्ती

Predetermination .. पूर्वनिर्धारण
Pregnancy impurity .. जाताशौच
Prejudice .. पूर्वग्रह
Premolar .. अग्र-चर्वणक
Presentation .. प्रस्तुति
Preservation .. परिरक्षण
Prestige .. प्रतिष्ठा
Pride .. गर्व
Prima facie duty .. आपात-कर्त्तव्य
Primates .. नरवानरगण, प्राइमेट्स
Primitive .. आदिमकालीन, आदिम
Primordial .. प्राक्तन
Principle .. सिद्धांत, नियम, तत्व
Privilege .. विशेषाधिकार
Probability .. प्रायिकता
Probation .. परिवीक्षा, प्रोबेशन
Problem .. समस्या
Problem-box .. समस्या-पेटी
Process .. प्रक्रम, प्रक्रिया
Procreation .. प्रजनन
Production .. उत्पादन
Profession .. पेशा, वृत्ति
Proficiency .. प्रवीणता
Programme .. कार्यक्रम
Progress .. प्रगति
Progressive .. प्रगामी, प्रगतिशील
Projection .. प्रक्षेपण
Projective techniques .. प्रक्षेपी प्रविधियां
Proof .. प्रमाण, उपपत्ति
Propaganda .. प्रचार
Property .. संपत्ति
Proportion .. अनुपात
Protoplasm .. जीव द्रव्य, प्रोटोप्लाज्म
Prostitution .. वेश्या वृत्ति
Proto-australoid .. प्रोटो आस्ट्रेलाइड
Psyche .. चित्त, मन
Psychiatry .. मनश्चिकित्सा
Psychic tension .. मानसिक तनाव
Psycho-analysis .. मनोविश्लेषण
Psycho-analytic anthropology .. मनोविश्लेषणात्मक मानव-विज्ञान
Psycho-dynamics .. मनोगतिकी
Psychogenic .. मनोजन्य
Psychologist .. मनोविज्ञानी
Psychology .. मनोविज्ञान
Psychometry .. मनोमिति
Psychoneurosis .. मनस्तंत्रिकाताप
Psychopathology .. मनोविकृतिविज्ञान
Psychosexual .. मनोलैंगिक
Psychosis .. मनस्ताप, मनोविक्षिप्ति
Psychosomatic .. मनःशारीरिक
Psychotherapy .. मानसोपचार, मनश्चिकित्सा
Puberty .. यौवनारंभ
Puberty rites .. यौवनारंभ संस्कार
Public .. सार्वजनिक
Public opinion .. जनमत
Punishment .. दंड
Purple .. बैंगनी
Purpose .. उद्देश्य
Qualitative .. गुणात्मक
Quality .. गुण
Quantitative .. परिमाणात्मक
Quantity .. परिमाण
Questionnaire .. प्रश्नावली
Quintessense .. सारांश
Race .. प्रजाति
Race concept .. प्रजाति संबोध
Race psychology .. प्रजाति मनोविज्ञान
Racial segregation .. प्रजातीय विभेद
Reaction time .. प्रतिक्रिया समय
Reading .. पठन
Readjustment .. पुनः समायोजन
Reality anxiety .. वास्तविकता दुश्चिता
Reality principle .. वास्तविकता सिद्धांत
Reason .. हेतु, तर्कबुद्धि
Reasoning .. तर्क करना, तर्कना
Recall .. पुनःस्मरण, प्रत्यास्मरण
Receptor .. ग्राहक
Recommendation .. सिफारिश
Reconditioning .. पुनरनुबंधन
Record .. अभिलेख
Reflex .. प्रतिवर्त
Reflex action .. प्रतिवर्त क्रिया
Reflex arc .. प्रतिवर्त चाप
Reflex chain .. प्रतिवर्त शृंखला
Reflex circle .. प्रतिवर्त-वृत्त
Reform .. सुधार
Refraction .. अपवर्तन

Refractory period .. अनुत्तेजन काल
Refresher courses .. पुनश्चर्या पाठ्यक्रम
Registration .. पंजीकरण
Regression .. प्रतिगमन
Relation .. संबंध
Relativity .. सापेक्षता
Reliability .. विश्वसनीयता
Relic .. अवशेष
Relief .. सहायता
Religion .. धर्म
Remedial classes .. सुधारात्मक कक्षाएं
Reminiscence .. संस्मृति, अनुस्मरण
Renaissance .. पुनर्जागरण
Renal .. वृक्कीय
Renunciation .. त्याग
Reorientation .. पुनरभिविन्यास
Replication .. पुनरावृत्ति
Report .. रिपोर्ट
Representation .. प्रतिनिधान
Repression .. दमन
Repugnance .. जुगुप्सा
Research .. अनुसंधान
Resemblance .. साम्य
Residence .. आवास
Resignation .. त्यागपत्र
Resistance .. प्रतिरोध
Respiratory system .. श्वसन-तंत्र
Response .. अनुक्रिया
Retardation .. मंदन
Retina .. दृष्टिपटल
Retroactive inhibition .. पूर्वलक्षी प्रावरोध
Retrospective .. पुरालक्षी
Revenge .. प्रतिशोध, बदला
Reverence .. श्रद्धा
Review .. समीक्षा
Revolution .. क्रांति
Reward .. पुरस्कार
Rhythm .. लय
Rigid .. दृढ़
Rite .. धार्मिक कृत्य, संस्कार
Ritualism .. कर्मकांडवाद
Rod .. शलाका
Rotation .. घूर्णन
Rule .. नियम
Ruling class .. शासक वर्ग
Rumour .. जनश्रुति
Rural society .. ग्रामीण समाज
Sacred society .. पुनीत समाज
Sacrifice .. बलिदान, त्याग
Sadism .. सादीयता, परपीड़न रति
Sanctification .. पवित्रीकरण
Sanction .. अनुशास्ति
Sanguine .. रक्तप्रकृति, उत्साही
Satisfaction .. तृप्ति, संतोष
Saturation .. संतृप्ति
Saving method .. बचत प्रणाली
Scale .. मापनी
Schedule .. अनुसूची
Schizophrenia .. मनोविदलता, विभक्त मनस्कता
Scholarship .. छात्रवृत्ति
Science .. विज्ञान
Sclera .. दृष्टिपटल
Scout .. बालचर
Secret societies .. गुप्त संस्थाएं, गुप्त समितियां
Secular .. धर्म निरपेक्ष
Secular societies .. धर्म निरपेक्ष समितियां
Security .. सुरक्षा
Segregation .. पृथक्करण
Selection .. वरण, निर्वाचन
Self-love .. आत्म रति
Self-negation .. आत्म निषेध
Selfish .. स्वार्थी
Self repudiation .. आत्म प्रत्याख्यान
Semen .. वीर्य, शुक्र
Senility .. जरा
Sensation .. संवेदन
Sense .. इंद्रिय
Sensory .. संवेदी
Sensory drive .. संवेदी अंतर्नोद
Sentiment .. स्थायीभाव
Separation .. पृथक्करण
Sex .. लिंग, काम
Sex education .. यौन शिक्षा
Shamanism .. शमनीवाद
Shame .. शर्म, लज्जा
Shelter home .. शरण गृह
Shift .. पारी

Shock .. आघात
Sibling .. सहोदर
Simple .. सरल
Sin .. पाप
Sinanthropus .. सिनेंथ्रोपस
Skill .. कौशल
Skin disease .. चर्मरोग
Skull .. करोटि, कपाल, खोपड़ी
Skull cap .. खप्पर
Slavery .. दासप्रथा
Smell .. गंध
Sociability .. मिलनशीलता
Social adaptation .. सामाजिक अनुकूलन
Social anthropology .. सामाजिक मानवविज्ञान
Social conflict .. सामाजिक संघर्ष
Social contract .. सामाजिक संविदा
Social control .. सामाजिक नियंत्रण
Social equilibrium .. सामाजिक संतुलन
Social evolution .. सामाजिक उद्विकास
Social gradation .. सामाजिक श्रेणीकरण
Socialisation .. समाजीकरण
Socialism .. समाजवाद
Social order .. सामाजिक व्यवस्था
Social organisation .. सामाजिक संगठन
Social psychology .. समाज मनोविज्ञान
Social welfare .. समाज कल्याण
Society .. समाज
Sociology .. समाजविज्ञान
Sociometry .. समाजमिति
Soft palate .. कोमल तालु
Solution .. हल, समाधान
Somatic .. कायिक, दैहिक
Somatology .. कायविज्ञान
Somatoplasm .. काय-द्रव्य
Somnambulism .. निद्राचारिता
Sonometer .. स्वरमापी
Sororate .. साली अधिकार
Soul .. आत्मा
Sound .. ध्वनि
Sources .. स्रोत
Special education .. विशिष्ट शिक्षा
Species .. स्पीशीज
Spelling .. वर्तनी
Sperm .. शुक्राणु
Spinal cord .. मेरुरज्जु
Spinster .. चिरकुमारी
Spirit .. आत्मा
Spiritual .. आध्यात्मिक
Spontaneous .. स्वतःस्फूर्त
Stadium .. क्रीडांगण
Stage .. अवस्था, रंगमंच
Standard .. मानक, प्रामाणिक
Standard deviation .. मानक विचलन
Standardization .. मानकीकरण
Static .. स्थिर
Statistical method .. सांख्यिकीय प्रणाली
Sterile .. वंध्य
Sterilisation .. वंध्यकरण
Stimulus .. उद्दीपन
Stratification .. स्तरण
Stress .. प्रतिबल
Strike .. हड़ताल
Structuralism .. संरचनावाद
Structure .. संरचना
Struggle .. संघर्ष
Student .. विद्यार्थी, छात्र
Stuttering .. हकलाना
Sub-caste .. उपजाति
Sub-class .. उपवर्ग
Subject .. विषय
Subjectivism .. व्यक्तिनिष्ठावाद
Sublimation .. उदात्तीकरण
Subnormal .. अवसामान्य
Suburb .. उपनगर
Suggestion .. संसूचन, सुझाव
Suicide आत्महत्या
Super ego .. पराहम्
Superstition .. अंधविश्वास
Supervision .. पर्यवेक्षण
Suppressed desire .. दमित इच्छा
Survey .. सर्वेक्षण
Survival .. उत्तरजीविता
Syllabus .. पाठ्यविवरण
Symbol .. प्रतीक
Symmetry .. सममिति
Sympathetic nervous system .. अनुकंपी तंत्रिकातंत्र
Symptom .. लक्षण
Synapse .. न्यूरोनीय सामीप्य

Syntax .. वाक्य विन्यास
Syphilis .. सिफलिस, फिरंग का रोग
Table .. सारिणी, तालिका
Taboo .. टैबू, वर्जना
Talisman .. ताबीज
Taste .. स्वाद, रुचि
Tattooing .. गोदना
Teacher .. अध्यापक, शिक्षक
Technical education .. तकनीकी शिक्षा
Technique .. तकनीकी स्कूल
Technique .. प्रविधि
Temperament .. स्वभाव, चित्त प्रकृति
Temptation .. प्रलोभन
Tendency .. प्रवृत्ति
Tension .. तनाव
Terminology .. शब्दावली
Test .. परीक्षण
Testimony .. साक्ष्य
Text book .. पाठ्य पुस्तक
Thalamus .. थैलेमस
Thanatos .. मुमूर्षा
Theory .. सिद्धांत
Thematic apperception test .. कथानक संप्रत्यक्ष परीक्षण
Thinking .. चिंतन
Thought .. विचार
Threshold .. देहली
Thyroid gland .. अवटु ग्रंथि
Timbre .. टिंबर
Time-table .. समय सारिणी
Tissue .. ऊतक
Tonic .. तानिक
Totem .. गोत्रचिह्न, टोटम
Toxic psychosis .. विषयजन्य मनस्ताप
Trace .. चिह्न, अवशेष
Tradition .. परंपरा
Training .. प्रशिक्षण
Trait .. लक्षण
Transference .. अन्यारोपण, संक्रमण, स्थानांतरण
Transfer of learning .. सीखने का संक्रमण
Transformation .. रूपांतरण
Transportation .. परिवहन
Trumatic psychosis .. आघातज मनस्ताप
Trend .. प्रवृति
Trial-and-error .. प्रयत्न और त्रुटि
Trial marriage .. परीक्षण विवाह
Tribe .. जनजाति
Tumer .. अर्बुद
Twin .. यमज
Two-factor theory .. द्विकारक सिद्धांत
Type .. प्ररूप
Unconscious .. अचेतन
Under-employment .. अपूर्ण रोजगार
Un-employment .. बेरोजगारी, बेकारी
Uniformity .. एकरूपता
Unilateral .. एकपक्षीय
Union .. संघ
Unit .. इकाई
University .. विश्वविद्यालय
Untouchability .. अस्पृश्यता, छुआछूत
Urbanisation .. नगरीकरण
Urban society .. नगरसमाज, नागरिक समुदाय
Urge .. अंतःप्रेरणा
Utility .. उपयोगिता
Vagabond .. आवारा
Validity .. वैधता
Valuation .. मूल्यांकन
value .. मूल्य
Variable .. चर, परिवर्त्य
Vector .. सदिश
Vendetta .. प्रतिशोध
Verbal .. शाब्दिक, वाचिक
Vested interest .. निहित हित
Veterinary .. शालिहोत्री, पशुचिकित्सा
Vibration .. कंपन
Vice .. दुर्गुण
Vice-chancellor .. कुलपति
Violation .. उल्लंघन
Vocabulary .. शब्द-भंडार
Vocational guidance .. व्यावसायिक निदेशन
Vocational psychology .. व्यावसायिक मनोविज्ञान
Voluntary .. स्वैच्छिक, ऐच्छिक
Volunteer .. स्वयंसेवक
Vow .. संकल्प, प्रतिज्ञा
Wage .. मजदूरी
Waste product .. उपशिष्ट उत्पादन
Wealth .. संपत्ति

Weaving	.. बुनना	Witch craft	.. जादूटोना
Welfare	.. कल्याण	Worries	.. चिंताएं
Weekly market	.. साप्ताहिक बाजार, हाट	Worship	.. उपासना, पूजा
Whole society	.. संपूर्ण समाज	Xenophobia	.. अज्ञातजनभीति
Widow	.. विधवा	Zeigarnik effect	.. त्साइगार्निक प्रभाव
Widower	.. विधुर	Zoo	.. चिड़ियाघर
Wish	.. इच्छा	Zygote	.. युग्मज



अनुबंध

1971 की जनगणना के अनुसार भारत के राज्यों तथा केंद्र शासित प्रदेशों की अनुसूचित जातियों के आंकड़े

भारत/राज्य/ केंद्र शासित प्रदेश	कुल ग्रामीण शहरी	जनसंख्या लोग	जनसंख्या पुरुष	जनसंख्या स्त्रियां	अनुसूचित जातियों की जनसंख्या	अनुसूचित जन-जातियों की जनसंख्या
1	2	3	4	5	6	7
भारत	कुल	547,949,809	283,936,614	264,013,195	79,995,896	38,015,162
	ग्रामीण	438,855,500	225,218,984	213,636,516	70,441,388	36,720,681
	शहरी	109,094,309	58,717,630	50,376,679	9,554,508	1,294,481
राज्य						
1 आंध्र प्रदेश	कुल	43,502,708	22,008,663	21,494,045	5,774,548	1,657,657
	ग्रामीण	35,100,181	17,698,347	17,401,934	5,092,130	1,572,627
	शहरी	8,402,527	4,310,416	4,092,111	682,418	85,030
2 असम (मिजोराम सहित)	कुल	14,957,542	7,885,064	7,072,478	912,639	1,919,947
	ग्रामीण	13,630,561	7,126,453	6,504,108	826,911	1,870,683
	शहरी	1,326,981	758,611	568,370	85,728	49,264
3 बिहार	कुल	56,353,369	28,846,944	27,506,425	7,950,652	4,932,767
	ग्रामीण	50,719,403	25,728,987	24,990,416	7,436,573	4,725,693
	शहरी	5,633,966	3,117,957	2,516,009	514,079	207,074
4 गुजरात	कुल	26,697,475	13,802,494	12,894,981	1,825,432	3,734,422
	ग्रामीण	19,200,975	9,842,483	9,358,492	1,328,000	3,507,152
	शहरी	7,496,500	3,960,011	3,536,489	497,432	227,270
5 हरियाणा	कुल	10,036,808	5,377,258	4,659,550	1,895,933	—
	ग्रामीण	8,263,849	4,420,225	3,843,624	1,698,626	—
	शहरी	1,772,959	957,033	815,926	197,307	—

भारत/राज्य/ केंद्र शासित प्रदेश	कुल ग्रामीण शहरी	जनसंख्या लोग	पुरुष	स्त्रियां	अनुसूचित जातियों की जनसंख्या	अनुसूचित जन-जातियों की जनसंख्या
1	2	3	4	5	6	7
6 हिमांचल प्रदेश	कुल	3,460,434	1,766,957	1,693,477	769,572	141,610
	ग्रामीण	3,218,544	1,628,623	1,589,921	734,080	141,055
	शहरी	241,890	138,334	103,556	35,492	555
7 जम्मू और कश्मीर	कुल	4,616,632	2,458,315	2,158,317	381,277	—
	ग्रामीण	3,758,411	1,996,864	1,761,547	349,684	—
	शहरी	858,221	461,451	396,770	31,593	—
8 केरल	कुल	21,347,375	10,587,851	10,759,524	1,772,168	269,356
	ग्रामीण	17,880,926	8,852,350	9,028,576	1,600,645	258,480
	शहरी	3,466,449	1,735,501	1,730,948	171,523	10,876
9 मध्य प्रदेश	कुल	41,654,119	21,455,334	20,198,785	5,453,690	8,387,403
	ग्रामीण	34,869,352	17,823,411	17,045,941	4,769,158	8,244,072
	शहरी	6,784,767	3,631,923	3,152,844	684,532	143,331
10 महाराष्ट्र	कुल	50,412,235	26,116,351	24,295,884	3,025,761	2,954,249
	ग्रामीण	34,701,024	17,482,020	17,219,004	2,279,026	2,825,955
	शहरी	15,711,211	8,634,331	7,076,880	746,735	128,294
11 मणिपुर	कुल	1,072,753	541,675	531,078	16,376	334,466
	ग्रामीण	931,261	470,231	461,030	15,802	319,516
	शहरी	141,492	71,444	70,048	574	14,950
12 मेघालय	कुल	1,011,699	520,967	490,732	3,887	814,230
	ग्रामीण	864,529	441,533	422,996	1,673	747,113
	शहरी	147,170	79,434	67,736	2,214	67,117
13 मैसूर	कुल	29,299,014	14,971,900	14,327,114	3,850,034	231,268
	ग्रामीण	22,176,921	11,249,209	10,927,712	3,202,756	206,067
	शहरी	7,122,093	3,722,691	3,399,402	647,278	25,201
14 नगालैंड	कुल	516,449	276,084	240,365	—	457,602
	ग्रामीण	465,055	241,171	223,884	—	438,218
	शहरी	51,394	34,913	16,481	—	19,384

भारत/राज्य/ केंद्र शासित प्रदेश	कुल ग्रामीण शहरी	जनसंख्या लोग	पुरुष	स्त्रियां	अनुसूचित जातियों की जनसंख्या	अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या
1	2	3	4	5	6	7
15 उड़ीसा	कुल	21,944,615	11,041,083	10,903,532	3,310,854	5,071,937
	ग्रामीण	20,099,220	10,041,023	10,058,197	3,103,244	4,924,582
	शहरी	1,845,395	1,000,060	845,335	207,610	147,355
16 पंजाब	कुल	13,551,060	7,266,515	6,284,545	3,348,217	—
	ग्रामीण	10,334,881	5,533,475	4,801,406	2,856,046	—
	शहरी	3,216,179	1,733,040	1,483,139	492,171	—
17 राजस्थान	कुल	25,765,806	13,484,383	12,281,423	4,075,580	3,125,506
	ग्रामीण	21,222,045	11,060,995	10,161,050	3,493,437	3,057,790
	शहरी	4,543,761	2,423,388	2,120,373	582,143	67,716
18 तमिलनाडु	कुल	41,199,168	20,828,021	20,371,147	7,315,595	311,515
	ग्रामीण	28,734,334	14,438,727	14,295,607	6,050,302	294,379
	शहरी	12,464,834	6,389,294	6,075,540	1,265,293	17,136
19 त्रिपुरा	कुल	1,556,342	801,126	755,216	192,860	450,544
	ग्रामीण	1,393,982	717,227	676,755	182,667	445,059
	शहरी	162,360	83,899	78,461	10,193	5,485
20 उत्तर प्रदेश	कुल	88,341,144	47,016,421	41,324,723	18,548,916	198,565
	ग्रामीण	75,952,548	40,214,012	35,738,536	17,147,032	182,768
	शहरी	12,388,596	6,802,409	5,586,187	1,401,884	15,797
21 पश्चिमी बंगाल	कुल	44,312,011	23,435,987	20,876,024	8,816,028	2,532,969
	ग्रामीण	33,344,978	17,173,552	16,171,426	8,093,232	2,475,625
	शहरी	10,967,033	6,262,435	4,704,598	722,796	57,344
केंद्र शासित राज्य						
1 अंडमान और निकोबार द्वीप	कुल	115,133	70,027	45,106	—	18,102
	ग्रामीण	88,915	53,195	35,720	—	18,099
	शहरी	26,218	16,832	9,386	—	3
2 अरुणांचल प्रदेश	कुल	467,511	251,231	216,280	339	369,408
	ग्रामीण	450,223	239,369	210,854	335	365,939
	शहरी	17,288	11,862	5,426	4	3,469

भारत/राज्य/ केंद्र शासित प्रदेश	कुल ग्रामीण शहरी	जनसंख्या लोग	पुरुष	स्त्रियां	अनुसूचित जातियों की जनसंख्या	अनुसूचित जन-जातियों की जनसंख्या
1	2	3	4	5	6	7
3 चंडीगढ़	कुल	257,251	147,080	110,171	29,073	—
	ग्रामीण	24,311	14,444	9,867	5,273	—
	शहरी	232,940	132,636	100,304	23,800	—
4 दादर और नागर हवेली	कुल	74,170	36,964	37,206	1,332	64,445
	ग्रामीण	74,170	36,964	37,206	1,332	64,445
	शहरी	—	—	—	—	—
5 दिल्ली	कुल	4,065,698	2,257,515	1,808,183	635,698	—
	ग्रामीण	418,675	229,424	189,251	104,999	—
	शहरी	3,647,023	2,028,091	1,618,932	530,699	—
6 गोवा, दमन और दीव	कुल	857,771	431,214	426,557	16,514	7,654
	ग्रामीण	630,997	310,909	320,088	10,809	5,824
	शहरी	226,774	120,305	106,469	5,705	1,830
7 लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीवि द्वीप समूह	कुल	31,810	16,078	15,732	—	29,540
	ग्रामीण	31,810	16,078	15,732	—	29,540
	शहरी	—	—	—	—	—
8 पांडिचेरी	कुल	471,707	237,112	234,595	72,921	—
	ग्रामीण	273,419	137,783	135,636	57,616	—
	शहरी	198,288	99,329	98,959	15,305	—